CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

△:3mN 2958
152G5.10.4
Kalyan: yogank.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

△:3m N
152G5.10.4
2958 3513

SHRI JAGADGURU VISHWARADHYA JNANAMANDIR
(LIBRARY)
JANGAMAWADIMATH, VARANASI

❁ ❁ ❁ ❁ ❁

Please return this volume on or before the date last stamped
Overdue volume will be charged 1/- per day.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ३४०००]

Δ:3mN
152G5.10.4

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASA ... ANAMANDIR
LIBRARY.
Jangamwadi Math, VARANASI,
Acc. No. ~~3563~~ 2958

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥=)
(१० शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति
भारतमें ।)
विदेशमें ।≡)
(८ पेंस)

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur U.P. (India

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

॥ श्रीहरिः ॥

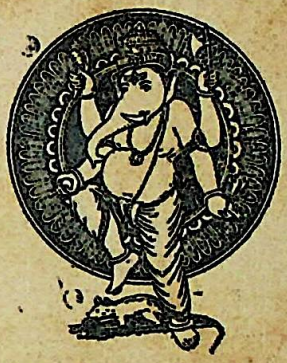

कल्याण

[भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और सदाचार-सम्बन्धी सचित्र मासिक पत्र]

वर्ष १०

सं० १९९२—९३ की

निबन्ध-सूची,

कविता-सूची

तथा

चित्र-सूची

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार

प्रकाशक—घनश्यामदास जालान

कल्याण-कार्यालय

गीताप्रेस,

गोरखपुर।

वार्षिक मूल्य ४≡)
विदेशोंके लिये ६॥=)

प्रति संख्या ।)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कल्याणके आगामी विशेषाङ्क

वेदान्ताङ्क

के

एक चित्रका नमूना

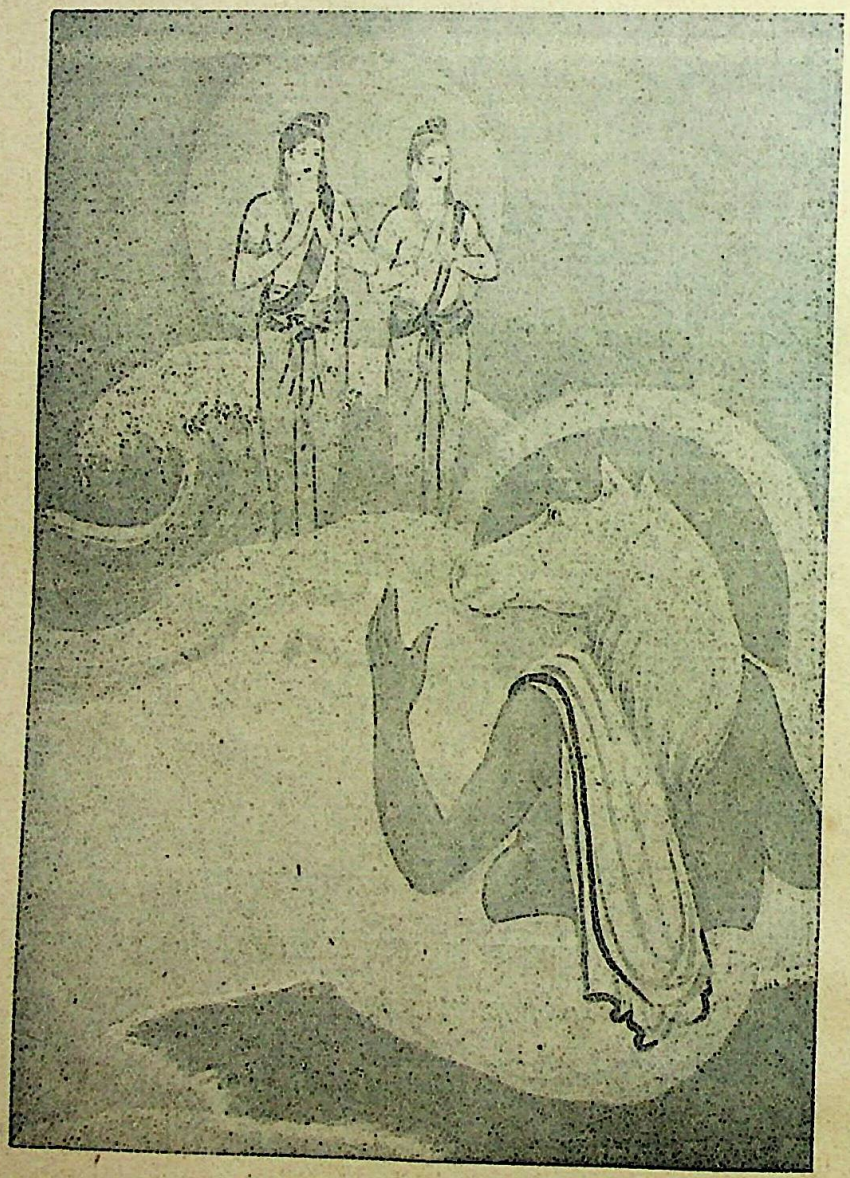

घोड़ेके शिरसे उपदेश

इसमें रंगीन-सादे सैकड़ों चित्र और संत-महात्माओंके अनुभवपूर्ण लेख होंगे। यह सैकड़ों पृष्ठोंका अङ्क रोचक, सुपाठ्य और संग्रहणीय होगा। वेदान्ताङ्कसहित पूरे सालका वार्षिक मूल्य केवल ४≡)। आप ग्राहक बनिये, अपने मित्रोंको बनाइये। चन्दा मनीआर्डरसे भेजिये।

"कल्याण"—गोरखपुर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याणके दसवें वर्षकी लेख-सूची

क्रम-संख्या	विषय	लेखक	पृष्ठ-संख्या
१	अ-क-थ चक्र, सहस्रार, युक्तत्रिवेणी, मुद्रादिका रहस्य	पं० श्रीशिवनारायणजी शर्मा सेंगई	६४७
२	अक्रूरजीका भावुक हृदय	पं० श्रीमथुरानाथजी शर्मा, भट्ट, शास्त्री	१३१७, १४०४
३	अनन्ययोग (भक्तियोग)	पं०श्रीकलाधरजी त्रिपाठी	६०१
४	अनुष्ठानकी उपयोगिता	श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी	१५११
५	अब न द्रवहु केहि लेखे !	'माधव'	१०३७
६	अमूल्य वचन	श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके व्याख्यानोंसे संकलित	१२८७
७	अष्टाङ्गयोग	श्रीजयदयालजी गोयन्दका	४३
८	अष्टाङ्गयोग	श्रीरामचन्द्रजी रघुवंशी 'अखण्डानन्द'	४४१
९	अष्टाङ्गयोग	पं० श्रीसीतारामजी मिश्र, साहित्याचार्य, काव्य-व्याकरण-सांख्यतीर्थ	४३५
१०	अस्पर्शयोग	पं० श्रीनरदेवजी शास्त्री, वेदतीर्थ	१७८
११	आचरण करने योग्य बातें	श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानसे	१०५४
१२	आचार्य श्रीकृष्णदासजी स्वामी पुजारी और उनके कुछ संस्मरण	श्रीरामदासजी गौड़ एम० ए०	१३९८
१३	आज तो हमने तुम्हें पर्दानशीं देख लिया	श्रीगोपीनाथजी	१२६२
१४	आत्मज्ञान प्राप्त करनेका सरल उपाय—योग	ब्रह्मचारी श्रीगोपालचैतन्यदेवजी महाराज	१६३
१५	आत्मार्पण		१५२३
१६	आसनोंसे लाभ	स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी	५२७
१७	आसामके भक्तयोगी	बाबा श्रीराघवदासजी	
	(१) शङ्करदेव		७९४
	(२) श्रीमाधवदेव		७९५
१८	आज्ञापालन और प्रणाम	श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके व्याख्यानका एक अंश	९००
१९	ईश्वरका अस्तित्व	श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती	१३१४
२०	ईश्वरमें विश्वास	म० श्रीबालकराम विनायकजी	१०८९
२१	ईश्वर है ? हाँ है	महात्मा गान्धीजी	१०७५
२२	ईसाई-धर्ममें योगका स्थान	रे० एड्विन ग्रीव्ज, मैलवार्न, इङ्गलैण्ड	२९५
२३	ईश्वरविषयक चार प्रश्न	श्रीरामदासजी गौड़ एम० ए०	१५७३
२४	ईश्वरमें विश्वास	श्रीसबनाराइन चित्रगुप्त	१५९०
२५	उत्कलके भक्तयोगी	बाबा श्रीराघवदासजी	
	(१) महाभागवत श्रीजगन्नाथदासजी		७९७
	(२) महात्मा श्रीबलरामदासजी		७९८
	(३) महाभागवत श्रीअच्युतानन्द-दासजी		७९९

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

२६ उदरसम्बन्धी यौगिक व्यायाम	राजरत्न प्रो० श्रीमाणिकरावजी, बड़ोदा	६७०
२७ उपनिषदोंमें योग	जगद्गुरु भगवत्पाद श्रीरामानन्दसम्प्रदायाचार्य श्री-रघुवराचार्यजी महाराज	१०१
२८ उपनिषदोंमें योगचर्चा	पं० श्रीबटुकनाथजी शर्मा, एम० ए०, साहित्याचार्य	९२
२९ ऋजुयोग	श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी	३२२
३० एक बड़ा पाप	हनुमानप्रसाद पोद्दार	१३५५
३१ एक भक्तके उद्गार	श्रीमुरलीधरजी श्रीवास्तव, बी० ए०, एल-एल० बी०, साहित्यरत्न	१४७६
३२ एक सिद्ध महापुरुषके दर्शन	चतुर्वेदी पं० श्रीद्वारकाप्रसादजी शर्मा	८७५
३३ एक वयोवृद्ध विरक्त महात्माके उपदेश		१२८६
३४ एकान्त शान्ति	एक भावुक सज्जन	९४२
३५ ऐतरेय आरण्यकमें प्राणविद्या	पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय एम० ए०, साहित्याचार्य	८७
३६ कबीरका योग	श्रीक्षितिमोहन सेन, शान्तिनिकेतन	२९८
३७ कर्नल ऑलकॉट		८६७
३८ कर्म और यज्ञ	श्रीअरविन्द	१२२५
३९ कल्याण	'शिव' ६६, ८९२, ९७५, १०५२, ११३८, १५३४	
४० कल्याणप्राप्तिकी कुछ युक्तियाँ	श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानका अंश	९७७
४१ कल्याणयोग	श्रीरुलिया रामजी कश्यप, एम० एस० सी०	११५६
४२ काशीके प्रसिद्ध महात्मा	श्रीहरिहरबाबाजी महाराजके उपदेश प्रे०—भक्त रामशरणदासजी पिलखुवा	१५२६
४३ कामना	श्रीदेवीलालजी सामर बी० ए०	१५६५
४४ कीर्तन और उसका प्रभाव	श्रीसद्गुरुभक्तिसम्पन्न नरहर शास्त्री खरशीकर, पांचगणी	११०८
४५ कुछ योगियोंके विषयमें मेरी व्यक्तिगत अभिज्ञता	श्रीउपेन्द्रचन्द्र दत्त	८७२
४६ कृत्रिम सभ्यता	श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी, एम० ए०, डिप्टी कलेक्टर	१५१५
४७ कृपालु सन्त, महात्मा, भक्त और विद्वान् लेखकोंसे प्रार्थना	हनुमानप्रसाद पोद्दार	१३५९
४८ कृष्णकन्हैया	श्रीदिनेशनन्दिनी चोरड्या	१५८२
४९ क्लेशोंका स्वरूप और निवृत्ति	सेठ श्रीकन्हैयालालजी पोद्दार	३४७
५० कौन गली गये श्याम ?	'माधव'	१४३०
५१ क्या जीवन दुःखान्त है ?	श्रीब्रह्मानन्दजी	१४२०
५२ गीताका अभ्यासक्रम और रहस्य	श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका व्याख्यान	१३६७
५३ गीताका कर्मयोग	श्रीयुत वसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, एम० ए०	५३४
५४ गीताका योग	श्रीगीतानन्दजी शर्मा	६४
५५ गीताका योग	श्रीमतिलालराय, प्रतिष्ठाता प्रवर्तकसंघ	१३७
५६ गीताका योग	स्वामी श्रीसहजानन्दजी सरस्वती	४३०
५७ गीतान्तर्गत अष्टादशाङ्गयोग	पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे	७०७
५८ गीताप्रेमियोंसे नम्र निवेदन		८८४
५९ गीतामें केवल प्रपत्तियोग है	पं० श्रीकिशोरीदासजी वाजपेयी	१४५
६० गीतामें योगका उल्लेख	श्रीरामप्रसादजी पाण्डेय, एम० ए०	६५८

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

६१ गीतामें योगका स्वरूप	श्रीकृष्णप्रेमभिखारीजी	...	१२२
६२ गीतामें योगके अनेक अर्थ	दीवान बहादुर, के० एस० रामस्वामी शास्त्री, बी० ए०, बी० एल०	...	१२७
६३ गीतामें योग, योगी और युक्त शब्दोंके विभिन्न अर्थ	श्रीजयदयालजी गोयन्दका	...	५९४
६४ गीता योगशास्त्र है	एक 'दीन'	...	१४१
६५ गीतोक्त भक्तियोग वा प्रेमलक्षणा भक्ति	म० म० पं० श्रीप्रमथनाथ तर्कभूषण	...	१३०
६६ गीतोक्त दिव्यदृष्टि	श्रीजयदयालजी गोयन्दका	...	१५३५
६७ गुजरातके तीन योगी	साधु श्रीगोमतीदासजी		
(१) योगिराज श्रीनत्थूरामजी		...	८३८
(२) योगीन्द्र श्रीत्रिकमाचार्यजी		...	८३८
(३) जैन योगीन्द्र श्रीराजचन्द्रजी		...	८३८
६८ गुरुतत्त्व	पं० श्रीकेशवदेवजी शर्मा	...	५४५
६९ गुरुतत्त्व	पं० श्रीरामनारायणजी झा, ज्योतिषाचार्य, ज्योतिषतीर्थ, साहित्यकेसरी, साहित्यशास्त्री	...	५४९
७० गुरुतत्त्व		...	५५१
७१ गुरुतत्त्व और कबीर साहब	पं० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी	...	११०१
७२ गुरु नानकदेवजी		...	७७७
७३ गोरखपुरके खाकी बाबा	म० श्रीबालकराम विनायकजी	...	८०७
७४ गोस्वामी तुलसीदासजी		...	८००
७५ गोस्वामी तुलसीदासजीका एक दार्शनिक दोहा	पं० श्रीकलाधरजी त्रिपाठी	...	१४६७, १५५२
७६ ग्रन्थिभेद	विद्यालंकार पं० श्रीशिवनारायणजी शर्मा	...	२५६
७७ घेरण्ड ऋषि		...	७६९
७८ चार स्मरणीय महात्मा		...	११९८
७९ चित्तकी दशाएँ	विद्यामार्तण्ड पं० श्रीसीतारामजी शास्त्री	...	५३२
८० चित्रपरिचय		...	८८०
८१ चौरासी सिद्ध तथा नाथसम्प्रदाय	श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम० ए०, डिप्टी कलेक्टर	...	४६८
८२ जडयोग	श्री 'माधव'	...	६२२
८३ जपयोग	बालयोगी श्रीबालस्वामीजी महाराज श्री० न० रा० निगुडकरके अनुभवयुक्त विचार प्रेषक—श्रीराजाराम नारायण वरुलेकर	...	३२५
८४ ज़रथोस्ती धर्ममें तीन मार्ग	श्रीएरच जहाँगीर तारापोरवाला बी० ए०, पी०-एच० डी० बार-एट-ला	...	२९२
८५ जीवनरास	पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव', एम० ए०	...	१११८
८६ जैनधर्ममें योगविद्या	मुनि श्रीहिमांशुविजयजी न्याय-साहित्य-तीर्थ	...	२९०
८७ जैनयोगी आनन्दघनजी	श्रीअनेकान्तीजी	...	७८१
८८ तन्त्रमें योग	श्रीअटलविहारी घोष एम० ए०, बी० एल०	...	१०५
८९ तलाक सभ्यताका चिह्न है ?	श्रीमती रूपरानी 'श्यामा' बी० ए०	...	१२८०

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

९० तारकयोग	... श्रीमन्निजानन्दसम्प्रदायके आदिपीठस्थ आचार्य श्रीधनीदासजी	३२०
९१ तिब्बतके लामा योगी	... श्रीविश्वामित्रजी वर्मा	८६४
९२ तिब्बतके संत योगी		
१—डॉन-टॉन-पा Don-ton-pa	... ...	८६६
२—पो-टो-पा Po-to-pa	... ...	८६६
९३ त्याग और लोक-सेवारूप योग	... २० आर्थर ई० मैस्सी, इंगलैंड	३५५
९४ त्रिविध योग	... श्रीनकुलेश्वर मजूमदार, विद्यानिधि, बी० ए०, ए० टी० सी०	६४०
९५ दरिया साहब (बिहारवाले)	... ...	७९६
९६ दरिया साहब (मारवाड़वाले)	... ...	८१६
९७ दूलनदासजी	... ...	८०३
९८ दीक्षातत्त्व	... गोस्वामी श्रीलक्ष्मणाचार्यजी	५५२
९९ धन्य हैं व गोपाल !	... श्रीदामोदर व्यं० कै० रायतुरकर	९३१
१०० धर्म और भगवान्के विरुद्ध आन्दोलन	... श्रीरामदासजी गौड़, एम० ए०	९४
१०१ धर्मसूत्र	... योगिराज श्रीगम्भीरनाथजी	१३३१
१०२ धरनीदासजी	... ...	७९६
१०३ ध्यानयोग	... साहित्यरत्न पं० श्रीयमुनाप्रसादजी शास्त्री, पालीवाल ...	४५१
१०४ ध्यानयोग	... हनुमानप्रसाद पोद्दार	४५३
१०५ नमः प्राणाय यस्य सर्वमिदं वशे	... श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम० ए०, एल-एल० बी०	६५५
१०६ नाथपन्थमें योग	... श्रीपीताम्बरदत्तजी बड़थ्वाल, एम० ए०, एल-एल० बी०, डी० लिट्	७०१
१०७ नादानुसन्धान	... स्वामीजी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती महाराज ...	२७१
१०८ नामजपका महत्त्व	... श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानसे ...	११३४
१०९ नामसंकीर्तनयोग	... श्रीश्रीधर विनायक माण्डवगणे ...	६०१
११० निन्दाकी स्तुति	... श्रीनारायणदासजी बाजोरिया, बी० ए० ...	११९
१११ निष्काम कर्मयोगको कब समझेंगे ?	... श्रीभगवानदासजी केला	११६
११२ निष्काम कर्मयोगी	... ...	२६
११३ नेक कमाईकी बरकत	... श्रीनारायणदासजी बाजोरिया, बी० ए० ...	१३४०
११४ न्यासयोग	... श्रीयशोदानन्दजी अखौरी	१२४७
११५ पतितपावन राम और भक्त सुतीक्ष्ण	... महाराज श्रीकृष्णसिंहजी	१०२८
११६ परत्वादिपञ्चक	... श्रीयशोदानन्दजी अखौरी	९५१
११७ परमहंस रामदासजी	... श्रीकेशरीनन्दनप्रसादजी	८११
११८ परमहंस-विवेकमाला	... स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी ९८९, १०६९, ११४९, १२३७, १३०८, १३८१, १४६१, १५४१	
११९ परमहंस श्रीरामकृष्ण	... ...	१३५१
१२० परमहंस श्रीरामकृष्णदेव	... ...	७८०
१२१ पर मेरी कौन सुनेगा ?	... श्रीरूपरानी 'श्यामा' बी० ए०	१५०१

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१२२ पवित्र जीवनका रहस्य	पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट	...	१३३४
१२३ पहेली	श्रीनोखेरामजी शर्मा, बी० ए०, काव्यतीर्थ	...	१४२३
१२४ पागल बाबा	...	...	७८९
१२५ पातञ्जल योगदर्शनकी प्राचीनता	श्रीमद्योगाचार्य श्रीमन्मौक्तिकनाथजी नैरञ्जन	...	२४८
१२६ पातिव्रतयोग	पं० श्रीप्रेमवल्लभजी त्रिपाठी, शास्त्री, धर्माचार्य	...	७४०
१२७ पादुकापञ्चक	पं० श्रीरामदयालजी मजूमदार, एम० ए०, सं० 'उत्सव'		५८९
१२८ पाप-पुण्यकी परिभाषा	पं० श्रीरामावतारजी शास्त्री, विद्याभास्कर	...	१४२८
१२९ पाशुपतयोगका प्रारम्भिक इतिहास	श्री० बी० आर० रामचन्द्र दीक्षितार एम० ए०	...	२३७
१३० पिपीलिकामार्ग और विहङ्गममार्ग	गङ्गोत्तरीनिवासी परमहंस परिव्राजकाचार्य दण्डि-स्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती	...	६३
१३१ पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश	प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी	...	९६६, ११२६, १३६६
१३२ पूर्णयोग	स्वामी श्रीमित्रसेनजी महाराज	...	५९५
१३३ पूर्वजन्मकी प्रत्यक्ष सिद्धि	...	...	११२३
१३४ पेटके आसन	...	...	६८२
१३५ पञ्चवटी	अवधवासी लाला श्रीसीतारामजी, बी० ए०	...	१०२९
१३६ पञ्चसकार	हनुमानप्रसाद पोद्दार	९०१, ९८०, १०५६, ११३९, १२३०	
१३७ प्रकृति पुजारिन	श्री 'अनूप' जी	...	१४२४
१३८ प्रज्ञावाणी	साधु श्रीप्रज्ञानाथजी	...	१४७८
१३९ प्रणवोपासना	सरदार श्रीमन्त रामराव कृष्ण जटार, मुमताजुद्दौला बहादुर	...	७३९, ९३७, १०७७
१४० प्रभु जगद्बन्धु	...	...	७९०
१४१ प्राणब्रह्म	योगी श्रीनारायणस्वामीजी महाराज	...	७४३
१४२ प्राणायामका शरीरपर प्रभाव	स्वामी श्रीकुवलयानन्दजी, कैवल्यधाम	...	५६१
१४३ प्राणायामविषयक मेरा अनुभव	स्वामी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज	...	५५४
१४४ प्रार्थना	सोलन-नरेशाश्रित मार्तण्डपञ्चाङ्गकर्ता	...	६१८
१४५ प्रार्थना	...	...	१०४०
१४६ प्रेमकी भीख	श्रीभोलानाथजी	...	१४२०
१४७ प्रेमयोग	...	...	५००
१४८ प्रेमयोगकी कुछ अवस्थाएँ	पं० श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी	...	४८७
१४९ प्रेमयोगिनी मीरा	पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम० ए०	...	४९४
१५० बरारके कुछ योगी	श्री ए० गो० सप्रे०		
(१) उमरदेव	...	...	८४२
(२) सुपेनाथ बुवा	...	...	८४२
(३) फतेपुरी बुवा	...	...	८४२
(४) महासिद्ध बुवा	...	...	८४२
(५) लोकेबा	...	...	८४२
(६) आवंजी बुवा	...	...	८४२
(७) बालगोविन्द बुवा	...	...	८४३

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(८) सावंजी बुवा ८४३
(९) छोटे महासिद्ध बुवा ८४३
(१०) वीरोबा ८४३
(११) सोनाजी बुवा ८४३
(१२) नरसिंगदास बाबा ८४३
(१३) देवनाथ ८४३
(१४) दयालनाथ ८४३
(१५) झिंगरा ८४३
(१६) खटिया बुवा ८४३
(१७) गुलाबराव महाराज ८४३
(१८) आप्पाजी महाराज (स्थान वणी) ८४४
(१९) रामकृष्ण बुवा (स्थान वाशिन) ८४४
(२०) विष्णुदास (स्थान माहुरगड) ८४४
(२१) सखाराम महाराज (लोणी) ८४४
(२२) गोसावीनन्दन (सिंदखेड) ८४४
(२३) रंगनाथ महाराज(सिंदखेड) ८४४
(२४) स्वामी अवधूतानन्द (चाङ्गेफल) ८४४
(२५) बालाभाऊ महाराज (मेहेकर) ८४५
(२६) शिवचरणगीर महाराज(अकोला) ८४५
(२७) नर्मदागीर बुवा ८४५
(२८) गोविन्द बुवा (वार्शीटाकली) ८४५
(२९) गजानन महाराज (शेगाँव) ८४५
(३०) गोमाजी महाराज (नागझरी) ८४६
(३१) सैयद अम्मा साहिबा(अकोला) ८४६
(३२) सादवल वली (सादवल) ८४६
(३३) अमृतराय ८४६

१५१ बाबाके वचनामृत ... सं० तथा प्रेषक—श्रीनकुलेश्वर मजूमदार 'विद्यानिधि' बी० ए० ... ... १०९
१५२ बाबा भगवान् नारायणजी ... श्रीजिज्ञासानन्दजी शर्मा ८३६
१५३ बाबा मलूकदासजी ८०४
१५४ बाबा श्रीरामनाथजी ... श्रीयुगलकिशोरजी बिड़ला ८२५
१५५ बुद्धियोग ही सबसे उत्तम और अन्तिम साधन है ... श्रीतपोवनस्वामीजी महाराज ४०७
१५६ बुल्लासाहब ८०३
१५७ बौद्धधर्ममें तन्त्रयोग ... श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम० ए०, डिप्टी कलेक्टर २८४
१५८ बौद्धधर्ममें योग ... डॉ श्रीविनयतोष भट्टाचार्य एम० ए०, पी०-एच० डी० २८०
१५९ बौद्धयोगी
(१) अवलोकितेश्वर ८६६
(२) भव्य ८६६

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(३) अर्हत सुभूति	...	...	... ८६६
(४) रत्नाकर शान्ति	...	...	... ८६६
(५) मंजु श्रीकीर्ति	...	...	... ८६६
१६० ब्रह्मचर्य और योग	... ॐ विश्वात्मा	...	... २६८
१६१ ब्रह्मविद्याका महत्त्व	... गोस्वामी श्रीगणेशदत्तजी	...	... १२०२
१६२ ब्राह्मणका महत्त्व	... हनुमानप्रसाद पोद्दार	...	... ११७६
१६३ ब्राह्मणसेवासे फल	...	...	... ११२२
१६४ भक्त उपमन्यु	...	...	... १०६४
१६५ भक्तगाथा (भक्त पुण्डरीक)	...	...	... १०३१
१६६ भक्तगाथा (दो मित्र भक्त)	...	...	... १२३३
१६७ भक्तगाथा (भक्त मार्कण्डेय मुनि)	...	...	... १३५६
१६८ भक्तगाथा (ब्राह्मण देवमाली)	...	...	... १४३६
१६९ भक्त तहसीलदारजी	... श्रीसबनाराइन चित्रगुप्त	...	... १४२१
१७० भक्त ध्रुव	...	...	... ७७१
१७१ भक्त नरसी मेहता	...	...	... ८३७
१७२ भक्त नामदेवजी	...	...	... ८५१
१७३ भक्त प्रह्लाद	...	...	... ७७०
१७४ भक्तराज महर्षि अगस्त्य और राजा शंख	...	...	... ११८५
१७५ भक्त विजय	... श्रीचन्द्रकान्तजी शाण्डिल्य, शास्त्री, 'मधुर'	...	... १२४२
१७६ भक्त सूरदासजी	...	...	... ८००
१७७ भक्ति	... श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव	...	... १००७
१७८ भक्ति और प्रपत्तिका स्वरूपगत भेद	... देवर्षि पं० श्रीरमानाथजी शास्त्री	...	... १९२
१७९ भक्तिके दो रूप—रागानुगा और वैधी	... डॉ० श्रीप्रभातचन्द्र चक्रवर्ती, एम० ए०, पी० आर० एस०, पी-एच० डी०	...	३७५
१८० भक्तियोग	... पण्डितशिरोमणि श्रीनरसिंहाचार्यजी वरखेडकर-	...	१८६
१८१ भक्तियोग	... आचार्य श्रीबालकृष्णजी गोस्वामी	...	१९०
१८२ भक्तियोग और शरणागतियोगका वैलक्षण्य	... श्रीकाञ्चीप्रतिवादिभयङ्करमठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीभगवद्-रामानुजसम्प्रदायाचार्य श्री ११०८ श्रीअनन्ताचार्य स्वामीजी महाराज	...	... १४
१८३ भक्त-गाथा	... तदीयैकशेष यशोदानन्दन अखौरी		... १५८३
१८४ भक्तियोग तथा उसकी सर्वव्यापकता और उत्कृष्टता	... साहित्याचार्य पं० श्रीमथुरानाथजी भट्ट शास्त्री, कविरत्न	...	... १७९
१८५ भगतके वशमें हैं भगवान	... श्रीपारसचन्दजी	...	... १३४२
१८६ भगत मनसूर	... श्रीसबनाराइन चित्रगुप्त	...	... ११०४
१८७ भगवद्दर्शनकी चाह	... श्रीजयदयालजी गोयन्दका	...	... १४४२
१८८ भगवान्‌का स्मरण कैसे करे ?	...	...	... १०३९
१८९ भगवान् दत्तात्रेय	...	...	... ७६८

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१९० भगवान् हिरण्यगर्भ	...	...	... ७६८
१९१ भगवान् अवतार कब लेते हैं ?	... श्रीजयदयालजी गोयन्दका	...	... १५२६
१९२ भगवन्नाम ही सुलभ साधन है	... कानपुरसंकीर्तनमहोत्सवमें ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्तजीका लिखित भाषण	...	... १५४७
१९३ भक्त रहीम	... मास्टर श्रीपारसचन्दजी	...	... १६००
१९४ भागवतयोगी बालशास्त्री दातार	...	...	... ८५६
१९५ भारतीय प्रस्तरकला और योग	... पं० श्रीवासुदेवजी उपाध्याय एम० ए०		... ७३४
१९६ भृगुयोग	... एक सेवक	...	... ३१५
१९७ भोगमें योग	... काव्यतीर्थ पं० श्रीकृष्णदत्तजी शास्त्री, साहित्यायुर्वेदाचार्य		३४५
१९८ मन्त्रयोगके अङ्ग	... श्रीरामेश्वरप्रसादजी वकील	...	... ३३४
१९९ मनका स्वरूप और उसका निग्रह करनेके अनुभूत साधन	... स्वामी श्रीपद्मारण्यजी	...	... १००३
२०० मनको वशमें करनेके उपाय	... हनुमानप्रसाद पोद्दार	...	... ३६५
२०१ मनोनिग्रहकी आवश्यकता और साधन	... श्रीस्वामी समाधिनाथ ब्रह्मर्षि श्रीरामबहालजी		... १५४७
२०२ मनुष्यजन्मकी सफलता	... पूज्यपाद श्रीब्रह्मचैतन्यपुरीजी महाराजके उपदेश		... १५०५
२०३ मसखरी	... मास्टर श्रीपारसचन्दजी	...	... १५२०
२०४ महर्षि पतञ्जलि और योग	... महात्मा श्रीनारायणस्वामीजी महाराज		... ५०९
२०५ महात्मा ईसा	...	...	... ७८२
२०६ महात्मा कबीरजी	...	...	... ७७६
२०७ महात्मा गरीबदासजी	...	...	... ८३१
२०८ महात्मा गान्धीका सन्देश	...	...	... २६
२०९ महात्मा चरनदासजी	...	...	... ८१६
२१० महात्मा जगजीवनजी	...	...	... ८०२
२११ महात्मा ज़रथुस्त्र	...	...	... ७८२
२१२ महात्मा तैलंग स्वामी	...	...	... ८६०
२१३ महात्मा दादूजी	...	...	... ८१८
२१४ महात्मा धर्मदासजी	...	...	... ८०४
२१५ महात्मा पं० गणेशजी	...	...	... ८२४
२१६ महात्मा ब्रह्मप्रकाशजी	... एक महात्मासे प्राप्त	...	... ८३३
२१७ महात्मा भीखाजी	...	...	... ८०२
२१८ महात्मा मथुरादासजी	... पं० श्रीहरिदत्तजी शास्त्री, पञ्चतीर्थ		... ८३१
२१९ महात्मा रामालिङ्गम्	... श्री स्वामी शुद्धानन्दजी भारती, पाण्डीचेरी		१०१५, १११९
२२० महात्मा श्रीरूपकलाजी	...	...	... ८१५
२२१ महात्मा सुन्दरदासजी	...	...	... ८१९
२२२ महात्मा सुन्दरदासजीकी अनन्यता	... पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव', एम० ए०		... १३२९
२२३ महापुरुष कौन है ?	... श्रीपरिपूर्णानन्दजी वर्मा	...	... ११६९
२२४ महायोग	... श्रीरमणमहर्षिके एक भक्त	...	... ३०७
२२५ महाराज गुलालजी	...	...	... ८०३
२२६ मानवजीवनकी विशालता	... श्रीसीतारामीय श्रीमथुरादासजी महाराज		... ९१८

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

२२७	मानसशङ्कासमाधान	श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी	९९८
२२८	मृत्युञ्जययोग		५९३
२२९	मृत्युका चिन्तन	अ०—श्रीमुरलीधरजी श्रीवास्तव, बी० ए०, एल-एल० बी०, साहित्यरत्न	१५३९
२३०	मेस्मेरिज़्म और हिप्नॉटिज़्म	डॉ० श्रीदुर्गाशङ्करजी नागर	५३८
२३१	मैडम ब्लैवैत्स्की		८६८
२३२	यज्ञका मर्म	श्रीअरविन्द	१३४४
२३३	यारी साहब		८३१
२३४	योग	एक जीवसेवक प्रतिष्ठात्यागी महात्मा	३७
२३५	योग	श्रीभारतधर्ममहामण्डलके एक महात्मा	१४७
२३६	योग	योगाचार्य श्रीमदवधूत ज्ञानानन्ददेवजीके उपदेश, प्रे०—श्रीउपेन्द्रचन्द्र दत्त	२७४
२३७	योग	स्वामीजी श्रीअसंगानन्दजी	३७९
२३८	योग और उसके फल	स्वामी श्रीशिवानन्दजी सरस्वती	४२५
२३९	योग और कुण्डलिनी	श्रीहीरेन्द्रनाथ दत्त एम० ए०, बी० एल०, वेदान्तरत्न	४०३
२४०	योग और योगी	श्रीतारकनाथ सान्याल, एम० ए०	६२९
२४१	योगः कर्मसु कौशलम्	म० म० डॉ० श्रीगङ्गानाथजी झा, एम० ए०, डी० लिट्, एल-एल० डी०	४८
२४२	योग क्या है ?	स्वामी श्रीअभेदानन्दजी पी-एच० डी०	७६
२४३	योग क्या है ?	श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल	७१८
२४४	योगका प्रयोग	काका कालेलकरजी	७३७
२४५	योगका मार्ग	डॉ० श्रीभगवानदासजी, एम० ए०, डी० लिट्	६८
२४६	योगका विषयपरिचय	म० म० आचार्य पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०, प्रिंसिपल गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस	५१
२४७	योगकी कुछ आवश्यक बातें		६१
२४८	योगकी प्राचीनता	पं० श्रीविधुशेखर भट्टाचार्य एम० ए०	४२४
२४९	योगकी विभिन्न सिद्धियाँ	वेदान्तभूषण पं० श्रीबद्रीदासजी पुरोहित	२१८
२५०	योगकी शक्ति	श्रीचिन्ताहरण चक्रवर्ती एम० ए०, काव्यतीर्थ	५९९
२५१	योगतत्त्व	श्रीज्वालाप्रसादजी कानोडिया	७१३
२५२	योगतत्त्वम्	श्रीमन्मध्वसम्प्रदायाचार्य दार्शनिक-सार्वभौम-साहित्य-दर्शनाद्याचार्य तर्करत्न-न्यायरत्न गोस्वामी श्रीदामोदरजी शास्त्री	३३
२५३	योगतत्त्वमीमांसा	श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य मण्डलेश्वर श्रीश्रीजयेन्द्र-पुरीजी महाराज	१४९
२५४	योग तथा योगविभूति	म० म० पं०श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए०, प्रिंसिपल गवर्नमेंट संस्कृत कालेज, बनारस	७२३
२५५	योगद रहस्यवु (कर्नाटकी भाषा)	श्रीरङ्गनाथ रामचन्द्र दिवाकर एम० ए०	६९९
२५६	योगनिरूपण	पं० श्रीमदनमोहनजी शास्त्री, प्रिंसिपल मारवाड़ी संस्कृत कालेज, काशी	६११

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

२५७ योगप्रेमी महाराजा मानसिंहजी	साहित्याचार्य पं० श्रीविश्वेश्वरनाथजी रेऊ	...	८१९
२५८ योगबल	पूज्य स्वामीजी श्रीश्रीविद्यानन्दजी महाराज	...	३७१
२५९ योगमार्गके विघ्न	वैद्यशास्त्री पं० श्रीकमलाकान्तजी त्रिवेदी	...	३८५
२६० योगमाया	पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, आचार्य, एम०ए०, शास्त्री		३५४
२६१ योग, योगवित् और योगवित्तम	हरिभक्तिपरायण पं० श्रीरामचन्द्र कृष्ण कामत	...	५१३
२६२ योगवाशिष्ठसार	मास्टर श्रीकन्हैयालालजी	... १४१०, १४९७,	१५९३
२६३ योगविज्ञान	श्रीताराचन्द्रजी पाण्ड्या	... ...	२३०
२६४ योगविद्या	पं० श्रीहनूमान्‌जी शर्मा	... ...	६६३
२६५ योगशब्द	पण्डितप्रवर श्रीपञ्चाननजी तर्करत्न	... ...	३५८
२६६ योगशास्त्रके कुछ दार्शनिक सिद्धान्त	स्वामी श्रीनित्यानन्दजी भारती	... ...	२३९
२६७ योगशिक्षाका महत्त्व	डॉ० श्री० आर० शाम शास्त्री, बी० ए०, पी-एच० डी०		६१४
२६८ योगस्वरूपदिग्दर्शन	श्रीआनन्दघनरामजी	... ...	५२५
२६९ योग-साधन-रहस्य	स्वामी श्रीदयानन्दजी	... ...	१६०
२७० योगसिद्धिका रहस्य	श्रीनागेन्द्रनाथजी शर्मा, साहित्यालङ्कार, एम० आर० ए० एस०	... ...	२११
२७१ योगसे भगवत्प्राप्ति	श्रीमाधव बालशास्त्री दातार	... ...	५९२
२७२ योगाचार्य पतञ्जलि		... ...	७६९
२७३ योगिनी मोतीबाई	पु० श्रीहरिनारायणजी, बी० ए०	... ...	८२१
२७४ योगिराज श्रीगोरखनाथ		... ...	७८३
२७५ योगिराज श्रीश्रीचन्द्रजी		... ...	७७७
२७६ योगिराज स्वामी देवचन्द्रजी और योगिवर श्रीप्राणनाथजी महाराज	श्रीरणछोड़वीरजी	... ...	७८१
२७७ योगिवर श्रीकुशलानन्दजी उर्फ मौनीजी	श्रीयुगलकिशोरजी अग्रवाल	... ...	८२६
२७८ योगिवर श्यामाचरण लाहिड़ी	पं० श्रीभूपेन्द्रनाथ सान्याल	... ...	७८७
२७९ योगी गोरखनाथजी (कहानी)	श्रीसबनाराइन चित्रगुप्त	... ...	७८४
२८० योगी टी० सुब्बाराव	पं० श्रीभवानीशंकरजी महाराज	... ...	८६९
२८१ योगीन्द्र श्रीशीलनाथ महाराज	श्रीबालमुकुन्दजी व्यास, उज्जैन	... ...	८२८
२८२ योगी नारद		... ...	७६९
२८३ योगी पलटूजी		... ...	८०१
२८४ योगी भर्तृहरि		... ...	७८६
२८५ योगी महाराज चतुरसिंहजी	श्रीनाथूलाल भागीरथजी व्यास, अजमेर	...	८२७
२८६ योगी मावजी	श्रीभवानीशंकरजी उपाध्याय	... ...	८१७
२८७ योगी याज्ञवल्क्य		... ...	७६९
२८८ योगी सोहिरोबानाथ आंबिये		... ...	८५२
२८९ योगेश्वरेश्वरका रासलीला-महायोग	श्रीसुरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय, बी० ए०, बी० एल०		४७२
२९० राजयोग	डॉ० श्रीबालकृष्णजी कौल	... ...	४९
२९१ राजयोगी श्रीटीकाराम नाथ महाराज	ज्योतिःकाव्यालङ्कारभूषण पं० श्रीविष्णु बालकृष्णजी जोशी कनडकर	... ...	८५९
२९२ राजर्षि जनक		... ...	७७०

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

२९३ लययोग	...	श्रीसुन्दरलाल नाथालाल जोशी, विद्यावारिधि, एम० आर० ए० एस० ...	... ६१९
२९४ वर्तमान कालमें किस योगका आश्रय लेना चाहिये ?	...	परमपूज्यपाद श्रीउड़ियास्वामीजी महाराजके विचार, प्रेषक—श्रीमुनिलालजी ...	... २७
२९५ वर्तमान शिक्षा	...	हनुमानप्रसाद पोद्दार ...	१२८९, १४३३
२९६ वाम कौल-तान्त्रिक योग	...	पं० श्रीगुलाबसिंहजी शर्मा ...	... १७४
२९७ वियोग	...	आचार्य श्रीअनन्तलालजी गोस्वामी	... ५०४
२९८ विरहयोग	...	पं० श्रीतुलसीरामजी शर्मा 'दिनेश' ...	... ५०५
२९९ विवेक-वाटिका	...	... ...	... ९६४
३०० विश्व-कल्याणयोग	...	श्रीअनन्तशंकरजी कोल्हटकर बी० ए०	... २७७
३०१ विषय-वासना और मुमुक्षु जीवका प्रश्नोत्तर	...		... १०५३
३०२ विश्वगुरु श्रीकृष्ण	...	श्रीअक्षयकुमार	... १५६५
३०३ वेदान्त और योग	...	डा० श्रीमहेन्द्रनाथ सरकार, एम० ए०, पी-एच० डी०	... ७२
३०४ वेदोंमें योग	...	उदासीन परिव्राजकाचार्य, वेददर्शनाचार्य मण्डलेश्वर स्वामी श्रीगंगेश्वरानन्दजी महाराज ...	... ८१
३०५ व्यक्तियोग	...	एक 'दूरस्थ'	... ६२६
३०६ व्रजगोपियोंकी योगधारणा	...	पं० श्रीप्रेमनारायणजी त्रिपाठी 'प्रेम' ...	... ५०८
३०७ शत्रु और मित्र	...	बहिन श्रीजयदेवीजी ...	... ९५४
३०८ शरणागतियोग	...	... ...	... २
३०९ शिवयोग	...	पण्डितवर्य श्रीकाशीनाथजी शास्त्री, मैसूर	... २३४
३१० शिवयोग	...	श्रीचिद्घन शिवाचार्यजी ...	... ६६१
३११ शिक्षक और छात्रसुधार	...	चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी ...	... १०४३
३१२ श्रावणशुक्ला सप्तमी तुलसी-जयन्ती क्यों है ?	...	श्रीजयरामदासजी 'दीन', रामायणी ...	... १३९६
३१३ श्रीअरविन्दका योग	...	श्रीनलिनीकान्त गुप्त, पाण्डीचेरी ...	... ३०९
३१४ श्रीअरविन्दका पूर्णयोग	...	श्रीअनिलवरण राय, पाण्डीचेरी ...	... ३१२
३१५ श्रीएकनाथ महाराज	...	... ...	... ८४९
३१६ श्रीकुण्डलिनी-शक्तियोग	...	श्रीत्र्यम्बक भास्कर शास्त्री खरे ...	... ३८७
३१७ श्रीकैकेयी और सुमित्रा माताके चरित्रसे शिक्षा		श्रीजयरामदासजी 'दीन', रामायणी ...	... १३२४
३१८ श्रीकैवल्यधाम	...	... ...	... ६६९
३१९ श्रीकौशल्या माताके चरित्रसे शिक्षा	...	श्रीजयरामदासजी 'दीन', रामायणी	... १२६४
३२० श्रीगीता-जयन्ती	...	... ...	... ९८८
३२१ श्रीचांगदेव महाराज	...	पं० श्रीनरहरशास्त्रीजी खरशीकर ...	... ८४६
३२२ श्रीजटायुजीकी भक्ति	...	श्रीजयरामदासजी 'दीन', रामायणी ...	... १४९०
३२३ श्रीजनकजीकी भक्ति	...	श्रीजयरामदासजी 'दीन', रामायणी ...	... १०८२
३२४ श्रीजाम्भोजी महाराज	...	श्रीसदासुखजी विशनोई ...	... ८१७
३२५ श्रीजालन्धरनाथ	...	... ...	... ७८३
३२६ श्रीतुकाराम महाराज	...	... ...	... ८५०
३२७ श्रीदूल्हेबाबाजी	...	मुंशी लालताप्रसादजी ...	... ८१२

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

३२८ श्रीनर्मदातटके कुछ महात्मा			
(१) श्रीरामजी बाबा	...	...	८४०
(२) श्रीकमलभारतीजी	...	...	८४०
(३) श्रीगौरीशंकरजी महाराज	...	...	८४०
(४) श्रीनर्मदानन्दजी	...	...	८४०
(५) श्रीकृष्णानन्दजी	...	...	८४०
(६) श्रीमौनी महाराज	...	...	८४१
(७) श्रीमती रमाबाई	...	...	८४१
(८) चन्द्रशेखरानन्दजी महाराज	...	...	८४१
(९) श्रीब्रह्मानन्दजी महाराज	...	...	८४१
३२९ श्रीनारायण स्वामीजी	...	...	८१३
३३० श्रीपवहारी बाबा	...	...	८०५
३३१ श्रीफूलनारायण-आश्रमके स्वामीजी	... कुँवर श्रीअमृतलालजी अवस्थी	...	८२१
३३२ श्रीभगवन्नाम	... नाम-जप-विभाग, कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर	...	१०६७
३३३ श्रीभगवन्नाम	... हनुमानप्रसाद पोद्दारके एक व्याख्यानसे	...	१३७६
३३४ श्रीभगवन्नाममहिमा	... पूज्य पं० श्रीमदनमोहन मालवीयजी महाराजके व्याख्यानका सारांश	...	८९५
३३५ श्रीमच्छङ्कराचार्य और योग	... श्रीसुब्रह्मण्य शर्मा, सम्पादक 'अध्यात्मप्रकाश'	...	२७८
३३६ श्रीमत्परमहंस वासुदेवानन्द सरस्वती	... डॉ० श्री० म० वैद्य, एल० एम० एस०	...	८५३
३३७ श्रीमत्परमहंस स्वामी श्रीनारायणानन्दजी सरस्वती	... श्रीकेशवसुतजी, काशी	...	८५६
३३८ श्रीमत्स्येन्द्रनाथ	... ...	...	७८३
३३९ श्रीमद्भगवद्गीता और योगतत्त्वसमन्वय-मीमांसा	... श्रीगोवर्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री ११०८ श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज	...	३, ८८६, ९६८, १०४७, ११२८, १२०८
३४० श्रीमद्भागवतमें योगचर्चा	... पं० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम०ए०, साहित्याचार्य	...	१०१
३४१ श्रीमद्विद्यारण्य महामुनि	... ...	...	७७५
३४२ श्रीमनमनबाईजी	... ...	...	८३६
३४३ श्रीमहानन्दगिरिजी (पिताजी महाराज)	... श्रीभवानन्दगिरिजी पिताजी तथा मातृशरणजी	...	७९१
३४४ श्रीमाणिक्य प्रभु	... ...	...	८५३
३४५ श्रीमाधवजी महाराज	... श्रीरामचन्द्रजी रघुवंशी 'अखण्डानन्द'	...	८३८
३४६ श्रीयोगवासिष्ठमें योग	... प्रो० डा० भीखनलाल आत्रेय, एम०, ए०, डी० लिट्	...	११७
३४७ श्रीयोगानन्द मानपुरी बाबा	... ज्योतिःकाव्यालंकारभूषण श्रीविष्णु बालकृष्णजी जोशी, कन्नडकर	...	८५८
३४८ श्रीरामचरितमानसमें गुरुवन्दनाका महत्त्व	... श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी	...	९११
३४९ श्रीरामचरितमानसमें भक्तियोग	... श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी	...	३६९
३५० श्रीरासलीलारहस्य	... एक परमहंस महात्माका उपदेश	११६०, १२५७, १३०१, १३९०, १४८३, १५६१	
३५१ श्रीविजयकृष्ण गोस्वामी	... ...	...	७९१

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

३५२ श्रीशुकदेव मुनि	...	...	... ७७०
३५३ श्रीशेषाद्रिस्वामी	... श्री 'मातृशरण'	...	... ८६२
३५४ श्रीशंकराचार्यकृत चर्पटपञ्जरिका	... अनुवादक—श्रीविनायकरावजी भट्ट		... १४३९
३५५ श्रीश्रीकृष्णचैतन्यदेव	...	...	... ७७५
३५६ श्रीश्रीनिम्बार्काचार्य	...	...	... ७७४
३५७ श्रीश्रीमध्वाचार्य	...	...	... ७७४
३५८ श्रीश्रीरामानुजाचार्य	...	...	... ७७२
३५९ श्रीश्रीवल्लभाचार्य	...	...	... ७७३
३६० श्रीश्रीशरणागतियोग	... अनन्त श्रीस्वामी पं०श्रीरामवल्लभाशरणजी महाराज, अयोध्या		३४
३६१ श्रीश्रीशंकराचार्य	...	...	... ७७२
३६२ श्रीसिद्धारूढ़ स्वामी महाराज	...	...	... ८५५
३६३ श्रीहँडियाबाबा	... श्री'मातृशरण'जी	...	... ८३५
३६४ श्रीहनुमान्‌जीकी उपासना कब करनी चाहिये?	... श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी	...	... ११५८
३६५ श्रीज्ञानेश्वर महाराज	...	...	... ८४८
३६६ षट्‌कर्म	... श्रीकमलाप्रसादसिंहजी	...	... ५८१
३६७ षट्‌समाधिका अभ्यास	... श्रीशिवपुत्रस्वामी, श्रीसिद्धारूढ़मठ, हुबली		५२३
३६८ सत्संगयोग	... महात्मा श्रीबालकराम विनायकजी	...	... ७६०
३६९ सद्गुरु परमहंस अनन्त महाप्रभुजी महाराज	... बाबा श्रीराघवदासजी	...	... ८०६
३७० सन्त रैदासजी	...	...	... ८०१
३७१ सन्त सियारामजी महाराज	...	...	... ८३६
३७२ सप्तज्ञानभूमिका	... श्रीहरिलाल भोगीलाल त्रिवेदी, वैद्य	...	... ३४२
३७३ सम्पूर्ण योग	... पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर	...	... २०६
३७४ समर्थ गुरु रामदास	...	...	... ८४९
३७५ समाधि और संयमतत्त्वसार	... श्रीश्रीभार्गव श्रीशिवरामकिंकर स्वामी श्रीयोगत्रयानन्दजीके उपदेश	६९१, ९९५, ११४५, १२३६, १३८७,	१५०७
३७६ समाधियोग	... श्रीजयदयालजी गोयन्दका	...	... २८
३७७ समाधियोग	... श्रीश्रीधर मजूमदार, एम० ए०	...	... ४२०
३७८ समाधियोग	... बाबा श्रीराघवदासजी	...	... ७११
३७९ सम्राट् पञ्चम जार्ज	...	...	... १३५८
३८० सर्वसमर्थ श्रीरामका स्वभाव	... श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव	...	... ९२१
३८१ सहजोका स्मरण	... श्री 'माधव'	...	... ११९१
३८२ सहजोबाई और दयाबाई	...	...	... ८१६
३८३ साधनकी आवश्यकता	... श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानके आधारपर	...	१२१९
३८४ साम्यवाद और अधिकारभेद	... श्रीनलिनीकान्त गुप्त	...	... १०२५
३८५ सांख्ययोग	... प्रो० श्रीलौटूसिंहजी गौतम, एम० ए०, एल० टी०, काव्यतीर्थ, एम० आर० ए० एस०		... ६०५
३८६ सांख्ययोग	... पं० श्रीछज्जूरामजी शास्त्री, विद्यासागर		... ६०८
३८७ सांख्ययोगी	...	...	... ४२
३८८ सिद्धयोग	... परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीश्रीशंकरपुरुषोत्तमतीर्थस्वामीजी		१७२

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

३८९ सिन्धु प्रदेशके प्रसिद्ध योगिराज (श्रीवनखण्डीजी उदासीन)	...	श्रीमान् परमहंस परिव्राजकाचार्य हिन्दूधर्मरक्षक श्रीस्वामी हरिनामदासजी उदासीन	८३०
३९० सुखीकी खोजमें	...	श्रीमंगलजी उद्धवजी पुरोहित	१०९६
३९१ सुरत-शब्द-योग	...	श्रीआनन्दस्वरूपजी (साहेबजी महाराज) दयालबाग, आगर	७९
३९२ सूर्यविज्ञान	...	म० म० पं० श्रीगोपीनाथजी कविराज, एम० ए० ...	७४७
३९३ संसारयोग	...	पं० श्रीलक्ष्मण नारायणजी गर्दे	५९७
३९४ स्वतन्त्रताका मूल्य	...	श्रीसुरेशचन्द्र चक्रवर्ती, पाण्डीचेरी	९६०
३९५ स्वरविज्ञान और बिना औषध रोगनाशके उपाय	...	परिव्राजकाचार्य परमहंस श्रीमत्स्वामी श्रीनिगमानन्दजी सरस्वती	५७१
३९६ स्नायुबलसंवर्धन	...	... ...	६८६
३९७ स्वामो गोमतीदासजी	...	... ...	८१४
३९८ स्वामीजी श्रीहीरादासजी	...	भक्त श्रीरामशरणदासजी	८१२
३९९ स्वामिनारायणसम्प्रदायमें योग	...	दार्शनिकपञ्चाननषड्दर्शनाचार्य, सांख्ययोगतीर्थ, नव्यन्यायाचार्य पं० श्रीकृष्णवल्लभाचार्य स्वामिनारायण	३०३
४०० स्वामी भास्करानन्दजी सरस्वती	...	... ...	८०५
४०१ स्वामी भोलानाथजी महाराजके उपदेश	...	प्रेषक—भक्त रामशरणदासजी	१०४६
४०२ स्वामी रामतीर्थजी	...	श्री 'माधव'	८३४
४०३ स्वामी श्रीआत्मस्वरूपजी	...	... ...	८३३
४०४ स्वामी श्रीनित्यानन्दजी महाराज	...	श्रीमोतीलाल जे० मेहता	८३९
४०५ स्वामी श्रीमस्तरामदेव उत्तराखण्डी	...	स्वामी श्रीपरमानन्दजी	७९६
४०६ स्वामी श्रीरामदास काठियाबाबाजी	...	स्वामी श्रीसन्तदासबाबाजीकी पुस्तकसे ...	८३२
४०७ स्वामी श्रीरामानन्दजी	...	... ...	७७५
४०८ स्वामी श्रीहरिपुरुषजी महाराज	...	वैष्णव साधु श्रीदेवादासजी	८१७
४०९ हठयोग और प्राचीन राजविद्या अथवा राजयोग	...	एक 'दीन'	४१३
४१० हमारा लक्ष्य	...	श्रीअरविन्द	२२
४११ हिन्दू और बौद्धधर्ममें सिद्धियोंका स्थान	...	डा० एफ० ऑटो श्राडर, पी-एच० डी०, विद्यासागर, कील विश्वविद्यालय, जर्मनी	२२७
४१२ हिमालयके महापुरुष	...	... ...	८६३
४१३ हुजूर पुरनूर	...	श्रीअब्दुल गफ्फार	७९२

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पद्य-सूची

क्रम-संख्या		लेखक	पृष्ठ-संख्या
१	अद्भुत झाँकी	... पं० श्रीसत्यनारायणजी पाण्डेय, एम० ए०	... ९७४
२	अन्तर्नाद	... कुँअर श्रीराजेन्द्रसिंहजी एम० ए०, एल-एल० बी०	... ११९६
३	अन्तर्वेदना	... श्रीचन्द्रनाथजी मालवीय 'वारीश'	... ५७०
४	अनासक्तियोग	... पं० श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय व्याकरण-साहित्य-शास्त्री	५१२
५	अमर भये	... स्व०योगिवर्य श्रीआनन्दघनजी 'यति' प्रेषक—श्रीपन्यास-जी महाराज रेवैरेण्ड ...	... २१०
६	अमीवर्षा (सं०)	... दादू ...	... २८९
७	आत्मदर्शन (सं०)	... सुन्दरदास ...	... ६८१
८	आर्तपुकार	... श्रीसुदर्शनदासीजी ...	... ८९४
९	आमन्त्रण	... 'माधव' ...	... ९४१
१०	आवेदन	... श्रीचन्द्रनाथजी मालवीय 'वारीश' ...	... १०४४
११	ईशस्तवन	... महात्मा श्रीजयगौरीशंकर सीतारामजी	... १२०७
१२	उपदेश	... कबीर ...	... ९५९
१३	उसके प्रति	... डी० आर० गुप्त, एम० ए०	... १२६३
१४	कर्मयोग	... कविसम्राट् पं० श्रीअयोध्यासिंहजी उपाध्याय 'हरिऔध'	६१६
१५	कान्ह सबसे न्यारा	... अ० सौ० इन्दुमती देसाई ...	... १४४४
१६	कृपायाचना	... पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस', साहित्यरत्न	... १०३६
१७	कृष्णसे	... कुमार श्रीकाशीप्रसादसिंहजी 'प्रभाकर'	... १२४६
१८	क्रन्दनयोग	... एक 'प्रेमी भक्त' ...	... १००२
१९	गीता	... पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री	... ११८४
२०	गूँगेका गुड़	... गदाधर भट्ट ...	... १५०८
२१	गंगा-महिमा	... बीकानेर नरेश महाराजा श्रीरायसिंहजीके भ्राता इतिहास-प्रसिद्ध महाराजा श्रीपृथ्वीराजसिंहजीकृत, संग्रहकार और सम्पादक पं०श्रीमुरलीधरजी व्यास लालाणी एवं पं० फकीरचन्दजी पुरोहित	... १२७९
२२	चन्द्रदर्शन	... सूरदास ...	... १३६५
२३	जागो ! (सं०)	धरनीदास ...	... २९४
२४	जागो	... तुलसीदास ...	... ९६५
२५	जीवन	... मोक्षाकर विश्वबन्धु ...	... १४६६
२६	झाँकी	... महाकवि देव ...	... ९६३
२७	ध्रुवको मन्त्रदान	... सूरदास ...	... १२२५
२८	ध्यान (सं०)	... श्रीनारायणस्वामीजी ...	... २७३
२९	नीको	... श्रीललितकिशोरीजी ...	... १३२३
३०	पथिक	... श्रीमुरलीधरजी दीक्षित 'भ्रान्त' ...	... १२३५
३१	पिताकी गोदमें	... गोस्वामी तुलसीदासजी ...	... १५२५
३२	प्रभुकी साहिबी समुझि संकोच	... साहित्यरत्न पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस'	... १०८१
३३	प्रभु-विनय	... महात्मा शाहन्शाहजी ...	... १४२७
३४	प्रयाणकी बात	... श्री'सुदर्शन'जी ...	... १४७७
३५	प्राणप्यारे !	... श्रीमान् महाराज राणा राजेन्द्रसिंहजू देव बहादुर 'सुधाकर', झालावाड़ नरेश ...	... १४०
३६	प्रार्थना (सं०)	... ऋग्वेदसे ...	... १
३७	प्रार्थना	... श्रीमती सुदर्शनदासीजी ...	... ८०
३८	प्रार्थना	... श्रीशंकराचार्यजी ...	... ८८५

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

३९ प्रार्थना (सं०)	...	...	... ६१७
४० प्रेम	...	...	... १४५१
४१ प्रेमयोग	... श्रीगो० हितपरमानन्दजी	...	... ८८३
४२ प्रेमयोगी	... श्रीरघुवीरशरणजी जौहरी	...	... २३६
४३ प्रेम-सन्देश	... श्रीगोविन्दरामजी अग्रवाल	...	... ५४४
४४ बटोहीसे	... पं० श्रीपद्मकान्तजी मालवीय	...	... ६६८
४५ बन्दी	... पं० श्रीसत्यव्रतजी शर्मा 'सुजन', बी० ए०, शास्त्री		... ११९५
४६ बिरले योगी	... स्व० योगिवर्य श्रीमहात्मा चिदानन्दजी यति		... २४७
४७ बुझाने दो	... श्रीभोलादत्त देवरानी	...	... १२०४
४८ भगवान्	... पं० श्रीउमापतिजी शर्मा द्विवेदी, 'कविपति'		... १०३८
४९ भगवान्से	... पं० श्रीउमापतिजी शर्मा द्विवेदी, 'कविपति'		... ११८९
५० मा दुर्गाके प्रति	... पं० श्रीपद्मकान्तजी मालवीय		... ११००
५१ मायानगरी	... श्रीसत्यव्रतजी शर्मा 'सुजन', बी० ए०, शास्त्री		... १४८२
५२ मीराको दर्शन	... मीराबाई	...	... १२०५
५३ मुरली-तान	... 'अज्ञात'	...	... ११५५
५४ मुरलीकी तान	... श्रीमदनगोपालजी	...	... १०२४
५५ मेरा उलाहना	... श्री'नयन'जी	...	... १४०९
५६ योगका योग	... म० पुरोहित श्रीप्रतापनारायणजी, ताजीमी सरदार		... ७४६
५७ योगमठ	... श्रीनरसिंहरामजी पाण्डेय 'पथिक'		... ११६
५८ योगमें नौ रस	... पं० श्रीशिवधनीरामजी मिश्र, 'साहित्यविशारद'		... ६२७
५९ योगवीणा	... पं० श्रीसत्यनारायणजी पाण्डेय, 'सत्य'		... ४६७
६० योगाष्टक	... 'प्रेमयोगी मान'	...	... ६३८
६१ योगिराजके प्रति	... पं० श्रीसरयूप्रसादजी शास्त्री 'द्विजेन्द्र'		... १४६
६२ विदा	... श्री 'सुदर्शन' जी	...	... १४३५
६३ विनय	... गो०तुलसीदास	...	... १२८५
६४ विरक्त	... श्रीपन्यासजी महाराज विजयमाणिक्यरुचिजी यति 'मानिक'		१४८
६५ वेदान्तका सिद्धान्त	... पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम० ए०, आचार्य, शास्त्री		११९०
६६ व्याधकी विनय	...	...	... १०४५
६७ शिवरात्रि-अनुभव	... श्रीब्रह्मदत्तजी शर्मा, 'शिशु'	...	... १२८४
६८ शुद्धस्वरूप (सं०)	... भीखा साहब	...	... २८३
६९ श्यामद्दगकी चोट	... श्रीनारायणस्वामीजी	...	... १४९६
७० श्रीकृष्णदशावतार	... श्रीविनायकरावजी भट्ट	...	... ११३३
७१ श्रीकृष्णावतार	... श्रीनोखेलालजी शर्मा, बी० ए०, शास्त्री, काव्यतीर्थ		... १०४२
७२ श्रीरामनाम	... गो० तुलसीदासजी	...	... ८९९
७३ श्रीसीतारामसमीपता	... साहित्यरत्न पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस'		... ११४८
७४ सरकार तुम्हारे चरणोंमें	... श्रीरामेश्वरप्रसादसिंहजी	...	... १४०३
७५ सरयूतटपर	... गो० तुलसीदासजी	...	... १४४५
७६ सन्तमहिमा (सं०)	... गुलाल साहब	...	... ६१०
७७ साध	... पं० श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय, शास्त्री		... १३८६
७८ सांख्ययोग	... (मेवाड़ी भाषामें) स्व० महाराज साहब श्रीचतुरसिंहजीरचित, प्रे०—जगदीशजी	...	... २६७
७९ सिद्धयोगी	... पं० श्रीजगदीशजी झा 'विमल'	...	... ५३७
८० संवाद	... स्वामी श्रीसर्वजीतपुरीजी	...	... ७२२
८१ संसारकी नश्वरता (सं०)	... दयाबाई	...	... ५०

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चित्र-सूची

तिरंगे

पृष्ठ-संख्या

१–अनन्ययोग [श्रीराधाकृष्ण] (श्रीविनयकुमार मित्र) ... ४८४
२–अनाहतचक्र (श्रीधनुषराम) ... ३८९
३–अवलोकितेश्वर (पटना म्यूजियमसे प्राप्त) ... ८६६
४–अष्टाङ्गयोग (श्रीविनयकुमार मित्र) ... ४८
५–आधारचक्र (श्रीधनुषराम) ... ३८८
६–आज्ञाचक्र (,,) ... ३९२
७–गोपियोंकी योगधारणा (श्रीविनयकुमार मित्र) ४६७
८–गोलोकमें नरसी मेहता (श्रीसोमालाल शाह) ४२०
९–चाँदखिलौना (श्रीजगन्नाथ) ... १३६५
१०–जडयोग (,,) ... ६२२
११–जाग्रदवस्था चित्र नं १ (,,) ... ५३२
१२–तपस्विनी (श्रीसोमालाल शाह) ... ६५०
१३–तुरीयावस्था चित्र नं० ४ (श्रीविनयकुमार मित्र) ... ५३२
१४–त्रिभुवनमोहन राम (श्रीजगन्नाथ) ... १२८५
१५–देवताओंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति (श्रीविनयकुमार मित्र) ... ९६५
१६–ध्यानमग्न भरत (श्रीजगन्नाथ) ... ३२८
१७–ध्यानमग्ना सीता (,,) ... २४
१८–ध्यानयोगी ध्रुव (श्रीविनयकुमार मित्र) टाइटिल परिशिष्टांक नं० २ (आश्विनकी संख्या)
१९–ध्यानस्थ भगवान् बुद्धदेव (श्रीसोमालाल शाह) २८०
२०–ध्रुव-नारद (श्रीजगन्नाथ) ... ११२५
२१–नवधाभक्ति (श्रीविनयकुमार मित्र) ... १८८
२२–नित्ययोग (सहस्रारमें शिवशक्ति) (मियाँ बसन्तसिंहजी जागीरदारसे प्राप्त) ६४७
२३–पिताकी गोदमें (श्रीधनुषराम) ... १५२५
२४–प्रणवयोग (मियाँ बसन्तसिंहजी जागीरदारसे प्राप्त) ... ७३९
२५–प्रेमयोगिनी मीरा (श्रीसोमालाल शाह) ... ४९७
२६–प्रेमयोगी नारद (श्रीविनयकुमार मित्र) ... ६३९

पृष्ठ-संख्या

२७–प्रेमी भक्त सूरदासजी (प्राचीन चित्र) ... ७६७
२८–भक्तियोग चित्र नं० ५ (श्रीविनयकुमार मित्र) ५३३
२९–भव्य (पटना म्यूजियमसे प्राप्त) ... ८६६
३०–मणिपूरकचक्र (श्रीधनुषराम) ... ३८९
३१–मर्यादायोग [श्रीसीताराम] (श्रीप्रेमचन्द्र, झालरा पाटन) ... ३६४
३२–महायोग [श्रीलक्ष्मीनारायण] (मियाँ बसन्तसिंहजी जागीरदारसे प्राप्त) ... २३३
३३–मीरा–आजु मैं देख्यो गिरधारी (श्रीविनयकुमार मित्र) ... १२०५
३४–योग (श्रीविनयकुमार मित्र) ... मुखपृष्ठ
३५–योगमाया (श्रीउपेन्द्रकुमार मित्र) ... ७६०
३६–योगाग्नि (श्रीजगन्नाथ) ... ७२३
३७–योगाश्रम (श्रीहकीम) ... १६०
३८–योगीश्वर शिव (श्रीविनयकुमार मित्र) ... १
३९–योगेश्वरका योगधारणासे परमप्रयाण (श्रीजगन्नाथ) ... ११२
४०–विविध योग (श्रीविनयकुमार मित्र) ... २०८
४१–विशुद्धाख्यचक्र (श्रीधनुषराम) ... ३९२
४२–व्याधकी क्षमाप्रार्थना (श्रीविनयकुमार मित्र) १०४५
४३–शून्यचक्र (श्रीधनुषराम) ... ३९३
४४–श्रीविष्णुभगवान् (श्रीविनयकुमार मित्र) ... ८८५
४५–श्रीश्रीशङ्कराचार्य (श्रीदत्तात्रेय दामोदर देवलालीकर) ... ७६७
४६–षट्चक्रमूर्ति (श्रीधनुषराम) ... ३९३
४७–सप्तज्ञानभूमिका (श्रीविनयकुमार मित्र) ... ३४४
४८–सरयूतटपर (श्रीधनुषराम) ... १४४५
४९–सुषुप्ति अवस्था नं० ३ (श्रीजगन्नाथ) ... ५३२
५०–संकीर्तनयोगी श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु (श्रीधनुषराम) ... ६०९
५१–स्वप्नावस्था चित्र नं० २ (श्रीजगन्नाथ) ... ५३२
५२–स्वाधिष्ठानचक्र (श्रीधनुषराम) ... ३८८
५३–ज्ञानयोगी जनक (श्रीहकीम) ... ८८
५४–ज्ञानयोगी शुकदेव (श्रीविनयकुमार मित्र) ७२

दुरङ्गे

५५–योगेश्वरेश्वर श्रीकृष्ण (श्रीकनू देसाई) ... ३०४
५६–समाधिस्थ शिव (श्रीकनू देसाई) ... ३६०

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सादे चित्र

५७–अजन्ता गुफा नं० १९ का सामनेका दृश्य ४७३
५८–अजन्ता गुफा मन्दिरोंकी गुफा नं० २६ का सामनेका दृश्य ... ४७३
५९–अर्हत सुभूति ... ८६७
६०–आरोग्य तेजस् ... ५४०
६१–ऑडिलिक फोर्स ... ५४०
६२–इच्छाशक्ति और सूचनाका प्रयोग ... ५४०
६३–उदरसम्बन्धी आसनके ६८ चित्र ... ६८२
६४–उदरसम्बन्धी व्यायामके १८ चित्र ... ६७२
६५–उदासीनाचार्य स्वामी आत्मस्वरूपजी ... ८३२
६६–ॐकारमहिमा ... ९
६७–ॐ मणिपद्मे हुं ... २८९
६८–कर्नल हेनरी स्टील ऑलकट ... ८७१
६९–कैवल्यधाम–कनकेश्वर शाखा ... ६६९
७०–कैवल्यधाम—बम्बई शाखा, प्रधान कुटीर ६६८
७१–कैवल्यधाम—बम्बई शाखा, बगीचा ... ६६९
७२–कैवल्यधाम—लोनावला ... ६६८
७३–कैवल्यधाम—विहङ्गम दृश्य ... ६६८
७४–गुरु नानकदेवजी ... ७७६
७५–गो० ठाकुर भक्तिविनोदजी ... ७८६
७६–गोस्वामी श्रीचन्दूलालजी महाराज ... ८१२
७७–गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी ... ८५४
७८–गोस्वामी श्रीहितहरिवंशजी महाराज ... ८१२
७९–चौरासी सिद्धोंके ८३ चित्र ... ४७२
८०–डा० एनी बेसेंट ... ८७१
८१–डाक्टर ब्रेडका हिप्नॉटिज़्मका तरीका ... ५४०
८२–डॉन-टॉन-पा ... ८६७
८३–तकलकोटके राजमार्गका दृश्य ... २८८
८४–तिगरानेवाले महात्मा ... ८२५
८५–तिब्बतका विहङ्गम दृश्य ... २८८
८६–तिब्बतके ताशीलामा ... २८६
८७–तिब्बतके दलाईलामा ... २८६
८८–तैलङ्ग स्वामी ... ७८९
८९–दलाईलामाका पोटाला राजमहल ... २८८
९०–दीपङ्कर श्रीज्ञान (अतिशा) ... २८६
९१–परमहंस बखन्नाथजी ... ८२४
९२–पो-टो-पा ... ८६७
९३–पं० श्रीबालशास्त्रीजी दातार ... ८५५
९४–प्रभु जगद्बन्धु ... ७८८
९५–प्राणायामका चार्ट ... ५६०
९६–बसवलिङ्ग स्वामीजी एलन्दूर ... ६६१
९७–बाबा श्रीगोमतीदासजी ... ८१५
९८–भजनानन्दी रामबाईजी ... ८४१
९९–भक्तवर श्रीहरिदासजी महाराज ... ८१२
१००–मलसरके श्रीमाधवदासजी महाराज ... ६६९
१०१–महन्त स्वामीजी, इलकल ... ६६१
१०२–महर्षि पतञ्जलिका योगोपदेश भाद्रपदका मुखपृष्ठ
१०३–महात्मा मगनीरामजी ... ७८९
१०४–महात्मा वामा क्षेपा ... ७८६
१०५–महात्मा विजयकृष्ण गोस्वामी ... ७८६
१०६–महात्मा श्रीगणेशजी ... ८२५
१०७–महात्मा श्रीचन्द्रजी ... ७७६
१०८–महात्मा श्रीनत्थूरामजी शर्मा ... ८३९
१०९–महात्मा श्रीरामनाथजी ... ८२५
११०–महाराज श्रीत्रिकमाचार्यजी ... ८३९
१११–महाराज श्रीनृसिंहस्वामीजी ... ८३९
११२–महाराजा श्रीमानसिंहजी, जोधपुर ... ८२८
११३–मूल, उड्डीयान और जालन्धरबन्ध ... ५६८
११४–मैडम एच० पी० ब्लैवेत्स्की ... ८७१
११५–मंजु श्रीकीर्ति ... ८६७
११६–योगदर्शन मूल ... ८
११७–योगाचार्य भगवान् दत्तात्रेय और अलर्क ७६८
११८–योगाचार्य महर्षि याज्ञवल्क्य ... ७६९
११९–योगाचार्य श्रीटोकरास्वामीजी ... ८३८
१२०–योगासनके २८ चित्र ... ६७४
१२१–योगिराज योगानन्दजी ... ७८७
१२२–योगिराज वनखण्डीजी (नेपालवाले) ... ८३३
१२३–योगिराज श्यामाचरण लाहिड़ी ... ७८६
१२४–योगिराज श्री १०८ श्रीगोरखनाथजी ... ७८३
१२५–योगिराज श्री १०८ श्रीमत्स्येन्द्रनाथजो ... ७८२
१२६–योगीन्द्र श्रीशीलनाथजी महाराज ... ८२८
१२७–योगी श्रीराजचन्द्रजी ... ८३९
१२८–रत्नाकर शान्ति ... ८६७
१२९–राजयोगी श्रीटीकारामजी महाराज ... ८५८
१३०–रामकृष्ण परमहंस ... ७८८
१३१–लामा मन्त्रजपकी चर्खी घुमा रहे हैं ... २८९
१३२–वेदभाष्यकार श्रीश्रीविद्यारण्य मुनि ... ७७५
१३३–शिवयोगमन्दिर ... ६६०
१३४–शूलीपर ईसा ... ८७०
१३५–श्रीअनन्त महाप्रभुजी महाराज ... ८१५
१३६–श्रीआत्मस्वरूपजी ब्रह्मचारी ... ८३८
१३७–श्रीएकनाथ महाराज ... ७७७
१३८–श्रीकबीरजी ... ७७६

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१३९–श्रीकुशलानन्दजी ... ८२८
१४०–श्रीगुलाबराव महाराज ... ८५९
१४१–श्रीगोपालभट्ट गोस्वामीजी महाराज ... ८१२
१४२–श्रीगोरक्षनाथमन्दिर, गोरखपुर ... ७८३
१४३–श्रीजनार्दनस्वामी देवगिरि, दौलताबाद ... ८५८
१४४–श्रीजरथोस्त्र ... ८७०
१४५–श्रीजाम्भोजी महाराज ... ८५४
१४६–श्री टी० सुब्बाराव ... ८७१
१४७–श्रीदूल्हेबाबाजी ... ८१३
१४८–श्रीनरोत्तमबाबाजीके गुरुदेव ... ७८७
१४९–श्रीनारायण नृसिंहजी सरस्वती ... ८५५
१५०–श्रीनिम्बार्काचार्य ... ७७४
१५१–श्रीपरमहंस रामदासजी ... ८१५
१५२–श्रीवनखण्डीजी महाराज, उदासीन ... ८३०
१५३–श्रीभगवन्नारायणजी ... ८३३
१५४–श्रीमत्पूर्णानन्दस्वामी ... ७८७
१५५–श्रीमध्वाचार्य ... ७७४
१५६–श्रीमनमनबाईजी उपनाम माजी महाराज ८३८
१५७–श्रीमस्तरामदेव उत्तराखण्डीजी ... ८२९
१५८–श्रीमाणिक्यप्रभु ... ८५९
१५९–श्रीमान् माधवजी महाराज, रूपाल ... ८२९
१६०–श्रीमौनी स्वामीजी ... ८४०
१६१–श्रीयोगानन्द मानपुरी बाबा ... ८५९
१६२–श्रीरामदासजी (काठियाबाबाजी महाराज) ८३२
१६३–श्रीरामानुजाचार्य ... ७७४
१६४–श्रीरूपकलाजी ... ८१५
१६५–श्रीरेवाशङ्करजी ... ८३८
१६६–श्रीवल्लभाचार्य ... ७७४
१६७–श्रीशेषाद्रिस्वामी ... ८५९
१६८–श्रीस्वामी हरिपुरुषजी महाराज ... ८२८
१६९–श्रीसिद्धारूढ़ स्वामीजी ... ८५५
१७०–श्रीहँडियाबाबाजी ... ८३२
१७१–श्रीज्ञानेश्वर महाराज ... ७७७
१७२–षट्चक्र चित्र नं० १ ... ३९०
१७३–षट्चक्र चित्र नं० २ ... ३९०
१७४–समर्थ गुरु रामदास ... ७७७
१७५–सवितर्क और सविचार समाधिकी अवस्था ६९६
१७६–सस्मितावस्थासे असम्प्रज्ञात अवस्थामें जा रहे हैं ६९६
१७७–सानन्द अवस्थाका द्योतक, शङ्करभाव ... ६९६
१७८–सानन्द और सस्मितावस्था ... ६९६
१७९–सारनाथकी बुद्ध-प्रतिमा ... २८६
१८०–संत तुकाराम महाराज ... ७७७
१८१–स्नायुबलसंवर्धन व्यायामके ६८ चित्र ... ६९०
१८२–स्वामी उत्तमनाथजी ... ८२४
१८३–स्वामी कमलभारतीजी ... ८४०
१८४–स्वामी कृष्णानन्दजी विमलेश्वर ... ८४१
१८५–स्वामी गौरीशङ्करजी ... ८४०
१८६–स्वामी चन्द्रशेखरानन्दजी ... ८४१
१८७–स्वामी चिद्घनानन्दजी ... ८५४
१८८–स्वामी नर्मदानन्दजी ... ८४०
१८९–स्वामी नारायणजी ... ८५४
१९०–स्वामी ब्रह्मप्रकाशजी ... ८३२
१९१–स्वामी ब्रह्मानन्दजी ... ८४१
१९२–स्वामी भास्करानन्दजी ... ७८९
१९३–स्वामी महानन्दगिरि पिताजी महाराज ... ७८७
१९४–स्वामी मुक्तानन्दजी ... ८२९
१९५–स्वामी मंगलनाथजी ... ८२४
१९६–स्वामी रामतीर्थजी ... ८३३
१९७–स्वामी विवेकानन्द ... ७८८
१९८–स्वामी विशुद्धानन्द ... ७८९
१९९–स्वामी शारदानन्द ... ७८८
२००–स्वामी शिवसागरपुरीजी ... ८२९
२०१–स्वामी श्रीअमृतनाथजी ... ८२४
२०२–स्वामी श्रीउग्रानन्दजी ... ८१३
२०३–स्वामी श्रीगम्भीरनाथजी ... ७८३
२०४–स्वामी श्रीजानकीवरशरणजी ... ८१४
२०५–स्वामी श्रीनित्यानन्दजी ... ८१३
२०६–स्वामी श्रीयुगलानन्यशरणजी ... ८१४
२०७–स्वामी श्रीरामवल्लभाशरणजी ... ८१४
२०८–स्वामी श्रीरामानन्दजी ... ७७६
२०९–स्वामी श्रीवासुदेवानन्दजी सरस्वती ... ८५५
२१०–स्वामी श्रीसीतारामशरणजी ... ८१४
२११–स्वामी श्रीहीरादासजी ... ८१३
२१२–स्वामी सियारामजी ... ८३३
२१३–हानगल्ल श्रीकुमार शिवयोगीजी ... ६६१

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कल्याणके नियम

उद्देश्य

भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, धर्म और सदाचारसमन्वित लेखोंद्वारा जनताको कल्याणके पथपर पहुँचानेका प्रयत्न करना इसका उद्देश्य है।

प्रबन्ध-सम्बन्धी नियम

(१) हर महीनेकी किसी भी तिथिको प्रकाशित होता है।

(२) इसका डाकव्यय और विशेषांकसहित अग्रिम वार्षिक मूल्य भारतवर्षमें ४≡) और भारतवर्षसे बाहरके लिये ६॥≡) नियत है। एक संख्याका मूल्य ।) है। बिना अग्रिम मूल्य प्राप्त हुए, पत्र प्रायः नहीं भेजा जाता। नमूना ।) मिलनेपर भेजा जाता है।

(३) एक वर्षसे कमके ग्राहक नहीं बनाये जाते। ग्राहक प्रथम अङ्कसे १२ वें अङ्कतकके ही बनाये जाते हैं। एक सालके बीचके किसी अङ्कसे दूसरी सालके उस अङ्क-तक नहीं बनाये जाते। कल्याणका वर्ष श्रावणसे आरम्भ होकर आषाढ़में समाप्त होता है।

(४) इसमें व्यवसायियोंके विज्ञापन किसी भी दरमें स्वीकारकर प्रकाशित नहीं किये जाते।

(५) कार्यालयसे 'कल्याण' दो-तीन बार जाँच करके प्रत्येक ग्राहकके नामसे भेजा जाता है। यदि किसी मासका 'कल्याण' न पहुँचे तो अपने डाकघरसे लिखा-पढ़ी करनी चाहिये। वहाँसे जो उत्तर मिले, वह हमें भेज देना चाहिये। डाकघरका जवाब शिकायती पत्रके साथ न आनेसे दूसरी प्रति बिना मूल्य मिलनेमें बड़ी अड़चन होगी।

(६) पता बदलनेकी सूचना (हिन्दी) महीनेकी कृष्ण प्रतिपदाके पहले-पहले कार्यालयमें पहुँच जानी चाहिये। **लिखते समय ग्राहक-संख्या, पुराना और नया नाम, पता साफ-साफ लिखना चाहिये।** महीने-दो-महीनोंके लिये बदलवाना हो तो अपने पोस्टमास्टरको ही लिखकर प्रबन्ध कर लेना चाहिये।

लेख-सम्बन्धी नियम

भगवद्भक्ति, भक्तचरित, ज्ञान, वैराग्यादि ईश्वरपरक कल्याणमार्गमें सहायक, अध्यात्मविषयक, व्यक्तिगत आक्षेप रहित लेखोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंके लेख भेजनेका कोई सज्जन कष्ट न करें। लेखोंको घटाने-बढ़ाने और छापने अथवा न छापनेका अधिकार सम्पादकको है। अमुद्रित लेख बिना माँगे लौटाये नहीं जाते। **लेखोंमें प्रकाशित मतके लिये सम्पादक उत्तरदाता नहीं हैं।**

आवश्यक सूचनाएँ

(१) ग्राहकोंको अपना नाम-पता स्पष्ट लिखनेके साथ-साथ **ग्राहक-संख्या** अवश्य लिखनी चाहिये।

(२) पत्रके उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट भेजना आवश्यक है।

(३) ग्राहकोंको चन्दा मनिआर्डरद्वारा भेजना चाहिये क्योंकि वी० पी०के रुपये प्रायः देरीसे पहुँचते हैं, कभी-कभी तो डेढ़-दो महीनोंतक नहीं मिलते। इससे निश्चय नहीं होता कि वी० पी० छूटी या नहीं। रुपये न मिलनेतक ग्राहकोंमें नाम नहीं लिखा जाता, मिलनेपर ही आगेके अङ्क भेजे जाते हैं। खर्च दोनोंमें एक ही है परन्तु पहला अत्यन्त सुविधाजनक और दूसरा असुविधाका है। जिनका रुपया आता है उन्हींको कल्याण पहले भेजा जाता है।

(४) प्रेस-विभाग और कल्याण-विभाग अलग-अलग समझकर अलग-अलग पत्र-व्यवहार करना और रुपया आदि भेजना चाहिये। कल्याणके मूल्यके साथ पुस्तकों या चित्रोंका मूल्य या अधिक पैसे नहीं भेजने चाहिये।

(५) सादी चिट्ठीमें टिकट कभी नहीं भेजना चाहिये।

(६) मनिआर्डरके कूपनपर रुपयोंकी तादाद, रुपये भेजनेका मतलब, ग्राहक-नम्बर, पूरा पता आदि सब बातें साफ-साफ लिखनी चाहिये।

(७) प्रबन्ध-सम्बन्धी पत्र, ग्राहक होनेकी सूचना, मनिआर्डर आदि **'व्यवस्थापक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे और सम्पादकसे सम्बन्ध रखनेवाले पत्रादि **'सम्पादक "कल्याण" गोरखपुर'** के नामसे भेजने चाहिये।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीहरिः

कल्याण कार्तिक संवत् १९९२ की

विषय-सूची

१–प्रार्थना (श्रीशंकराचार्यजी)··· ··· ८८५

२–श्रीमद्भगवद्गीता और योगतत्त्वसमन्वयमीमांसा (श्रीगोवर्धनपीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री ११०८ श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज) ··· ··· ··· ८८६

३–कल्याण ('शिव') ··· ··· ८९२

४–आर्त-पुकार [कविता] (सुदर्शनदासी) ··· ८९४

५–श्रीभगवन्नाममहिमा (पूज्य पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीय महाराजके व्याख्यानका सारांश) ८९५

६–श्रीरामनाम [कविता] (तुलसीदासजी) ··· ८९९

७–आज्ञापालन और प्रणाम (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके व्याख्यानका एक अंश) ··· ९००

८–पञ्च-सकार (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ··· ९०१

९–बाबाके वचनामृत (सं० और प्रे०—श्रीनकुलेश्वर मजूमदार 'विद्यानिधि,' बी० ए०) ··· ९०९

१०–श्रीरामचरितमानसमें गुरुवन्दनाका महत्त्व (श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी) ··· ९१३

११–मानवजीवनकी विशालता (श्रीसीतारामीय श्रीमथुरादासजी महाराज) ··· ··· ९१८

१२–सर्वसमर्थ श्रीरामका स्वभाव (श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव) ··· ··· ९२१

१३–धन्य हैं वे गोपाल! (श्रीदामोदर व्यं० कै० रायतुरकर) ··· ··· ··· ९३१

१४–प्रणवोपासना (सरदार श्रीमन्त रामराव जटार) ९३७

१५–आमन्त्रण [कविता] ('माधव') ··· ९४१

१६–एकान्त शान्ति (एक भावुक सज्जन) ··· ९४२

१७–धर्म और भगवान्‌के विरुद्ध आन्दोलन (श्रीरामदासजी गौड़, एम० ए०) ··· ९४५

१८–परत्वादिपञ्चक (श्रीयशोदानन्दजी अखौरी) ९५१

१९–शत्रु और मित्र (बहिन श्रीजयदेवीजी) ··· ९५४

२०–उपदेश [कविता] (कबीरजी) ··· ९५९

२१–स्वतन्त्रताका मूल्य (श्रीसुरेशचन्द्र चक्रवर्ती, पाण्डीचेरी) ··· ··· ··· ९६०

२२–झाँकी [कविता] (महाकवि देव) ··· ९६३

२३–विवेक-वाटिका ··· ··· ९६४

भूल-सुधार

१ योगाङ्क पृष्ठ ८३८ में प्रकाशित श्रीमनमनबाईजीके परिचयमें लिखा है कि 'विलखा आश्रमके स्थापनकर्ता गुजरातके प्रसिद्ध योगी श्रीनत्थूरामजी आपके ही शिष्य थे' इसपर आश्रमका पत्र आया है जिसमें लिखा है कि 'महात्मा नाथूरामजी श्रीमनमनबाईजीके शिष्य नहीं थे। कुछ महीने उनके पास रहे थे और तीर्थयात्रामें उनके साथ गये थे।' पाठक इस भूलको सुधार लें।

२ योगाङ्क पृष्ठ ७७७ में प्रकाशित गुरु नानकदेवजीके परिचयमें लिखा है कि 'कहते हैं, इन्हें नारदमुनिने उपदेश दिया था' इसपर कल्याणके ग्राहक एक सिख सज्जन आपत्ति करते हुए लिखते हैं, 'गुरु नानकदेवके गुरु नारदमुनि नहीं थे, खुद परमात्मा अकालपुरुष थे।' हमने जैसा पढ़ा था वैसा लिख दिया था। हमारा और कोई हेतु नहीं था। पाठकगण इस भूलको सुधार लें।

३ योगाङ्क पृष्ठ ८३८ में 'गुजरातके तीन योगी' शीर्षक एक लेख छपा है। एक महानुभाव लिखते हैं कि 'ये तीनों योगी गुजरातके नहीं काठियावाड़के थे।' पाठकगण इस भूलको भी सुधार लें।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कल्याण-प्रेमी नये ग्राहक

ध्यान दें !

पुरानी फाइलें और विशेषांक मिलने दुर्लभ हैं !

थोड़े-से बाकी बचे हैं, चाहें वे मँगा लें !!

भक्तांक—पृष्ठ २४६, चित्र ५५, मूल्य १॥) सजिल्द .... १॥।≡)
भक्तांक—तीसरे वर्षकी पूरी फाइलसहित, मूल्य ४≡), सजिल्द .... ४॥।≡)
रामायणांक (दूसरा संस्करण)—पृष्ठ ५१२, तिरंगे-इकरंगे १६७ चित्र मूल्य २॥≡), सजिल्द ३≡)
शिवांक सपरिशिष्टांक (दूसरा संस्करण)—पृष्ठ ६६६, चित्र २८७, मूल्य ३), सजिल्द.... ३॥)
" " आठवें वर्षकी पूरी फाइलसहित, मूल्य ४≡), सजिल्द .... ५।-)
श्रीयोगांक सपरिशिष्टांक—पृष्ठ ८८४, चित्र ४७०, मूल्य ३॥), सजिल्द .... ४)

दूसरे, चौथे, सातवें वर्षके केवल कुछ फुटकर अंक बचे हैं, जिन्हें चाहिये वे मँगा सकते हैं, मूल्य प्रति अंक ।) शक्तिअंक अब नहीं मिलता ।

नोट—हिन्दीके गीताङ्क और ईश्वराङ्क एकदम नहीं रहे, जिनको ज्यादा जरूरत हो, वे चाहें तो निम्नलिखित अंग्रेजी संस्करण मँगा सकते हैं ।

व्यवस्थापक—**कल्याण, गोरखपुर** ।

अंग्रेजीमें 'कल्याण'

'कल्याण-कल्पतरु'के नामसे निकल रहा है । जो हिन्दीमें इसका आनन्द न ले सकें, उनके सुभीतेके लिये निकाला गया है । ऐसे लोगोंमें इसके विशेष प्रचारकी चेष्टा करनी चाहिये । वार्षिक मूल्य ४॥) कागज बढ़िया ।

* OM *

The Kalyana-Kalpataru or the Bliss.

English Edition of the Kalyan. (Sub. Inland Rs. 4/8/- Foreign 10 Shillings.)

Old Specials and Issues ready for Sale.

I. God-Number the special of 1st year. Illustrations 41, pp. 302, unbound Rs. 2/8/- Cloth bound Rs. 3/-

II. Full first year file including God-Number Illustrations 63, pp. 840, unbound Rs. 4/8/- Cloth bound Rs. 5/4/-

III. Gita-Number Illustrated pp. 251. Rs. 2/8- Cloth bound Rs. 3/-

Manager
Kalyana-Kalpataru,
Gorakhpur.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(भगवान् श्रीकृष्ण)

वर्ष १० | गोरखपुर, कार्तिक १९९२, नवम्बर १९३५ | संख्या ४ पूर्ण संख्या ११२

प्रार्थना

अविनयमपनय विष्णो दमय मनः शमय विषयमृगतृष्णाम् । भूतदयां विस्तारय तारय संसारसागरतः ॥
दिव्यधुनीमकरन्दे परिमलपरिभोगसच्चिदानन्दे । श्रीपतिपदारविन्दे भवभयखेदच्छिदे वन्दे ॥
(श्रीशङ्कराचार्य)

हे विष्णु भगवान् ! मेरा अविनय दूर कीजिये, मेरे मनका दमन कीजिये और विषयोंकी मृगतृष्णाको शान्त कीजिये । दुखी प्राणियोंके प्रति दयाका विस्तार कीजिये और संसार-सागरसे तारिये। मैं भगवान् लक्ष्मीपतिके उन पादारविन्दोंकी वन्दना करता हूँ जिनका मकरन्द गंगा और सौरभ सच्चिदानन्द है तथा जो संसारके भय और खेदका उच्छेद करनेवाले हैं ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीमद्भगवद्गीता और योगतत्त्वसमन्वयमीमांसा

(लेखक—श्रीगोवर्द्धनपीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री ११०८ श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज)

[पृष्ठ १३ से आगे]

योगारम्भकी दूसरी सीढ़ी—अर्जुनविषादयोग

व प्रश्न यह है कि श्रीमद्भगवद्गीताके उपर्युक्त अठारह अध्यायोंके नामोंको सुनकर ही जिज्ञासुओंके मनमें यह जिज्ञासा अवश्य उत्पन्न होगी कि और सब योगोंकी बात तो ठीक है, परन्तु यह कैसा खेल या गोलमाल है कि गीतामें बताये हुए अठारह योगोंमेंसे पहले योगका नाम 'अर्जुनविषादयोग' (अर्थात् नरके रोनेका योग) है। हाँ, गीतारूपी योगोपदेशकी ऐतिहासिक भूमिका, प्रस्तावना या उपोद्घातरूपसे अर्जुनके दुःखका (जिसका ही यह गीतारूपी परिणाम हुआ) पहले अध्यायमें वर्णन हो, यह ठीक है, परन्तु उसका भी नाम केवल 'अर्जुनविषाद' (नरका रोना) न होकर उसे भी एक योगकी गिनतीमें ले आनेवाला अर्जुनविषादयोग क्यों हुआ, इत्यादि। इस प्रश्नका उत्तर यह है कि जबतक कोई नर भूख लगनेपर खाते हुए, प्यास लगनेपर पीते हुए और अन्य विषय-वासनाके उठनेपर उनको पूर्ण करते हुए निश्चिन्त रहता हो वह जीव शरीरसे नररूपमें रहते हुए भी यथार्थमें मन-बुद्धि आदिकी योग्यतासे पशु-पक्षी, कृमि-कीट आदिके समान जानवर ही रह जाता है। प्रसिद्ध अंग्रेज कवि रोबर्ट ब्राउनिंग (Robert Browning) ने अपने Rabbi Ben Ezra नामके अत्युत्तम काव्यमें लिखा है—

"Irks care the cropful bird?
Irks care the maw—crammed beast?"

(अर्थात् जिस पक्षी या पशुने उदरादिको भर लिया हो उसे किस बातकी चिन्ता है?) इत्यादि। इसी प्रकारकी चित्तवृत्तिमें रहनेवाला नर भी यथार्थमें द्विपाद पशु ही कहलाने योग्य है। किन्तु जब जानवरकी श्रेणीमें रहनेवाले नरके मन, बुद्धि, एवं हृदयके अन्दर यह विचार प्रवेश करता है कि 'खाने, पीने और मौज उड़ाते रहनेसे ही हम कृतार्थ नहीं हो जाते, इन सब चीजोंके रहते हुए भी परमार्थकी दृष्टिसे हमारे आनन्दमें अमुक-अमुक भयंकर त्रुटियाँ और कमियाँ हैं, स्वार्थके लिये ही यदि हम हो चिन्तित रहें तो हममें और जानवरोंमें भेद ही क्या है, ऐसे सुखोंकी कोई जरूरत नहीं,' इत्यादि, अर्थात् अर्जुनकी भाँति नर रोते हुए कहने लगता है—

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।

तभी वह नर अपने नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सच्चिदा घनस्वरूपी मूलस्वरूपका विचार करने लगता है, अ नारायणस्वरूपकी प्राप्ति करानेवाले योगके रास्तेपर निकलता है। इसलिये अर्जुनका विषाद (रो भगवद्गीताके Mere historical setting (भूमिका जन्मकारणरूपी केवल ऐतिहासिक प्रसंग) की हैसि ही नहीं है, बल्कि भगवद्गीतामें बताये हुए योग नरके प्रविष्ट होनेके लिये जो spiritual ladder staircase (आध्यात्मिकसीढ़ी या सोपान) है, उसमें प सीढ़ीका काम देता है। अतएव उसका नाम सिर्फ 'अ विषादो नाम भूमिका वा प्रस्तावना वा उपोद्घाताध्याय न होकर 'अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः' इस वह योगके गौरवान्वित नामसे निर्देश करने योग्य हु

द्वितीयाध्यायसंगति

अतएव श्रीगीताजीके दूसरे अध्यायका आरम्भ निम्नलिखित श्लोकसे होता है—

तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः॥

और श्रीभगवान्के उपदेशारम्भकी अवतरणिका इस प्रकार होती है—

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः॥
(२।१

तात्पर्य यह है कि प्रत्येक साधकको, अपने तात्का नर-रूपके अन्तर्गत पाशवी योग्यता और दैवी यो इन दोनोंमेंसे पशुलक्षणवाली योग्यतासे निकलकर प परमात्मस्वरूप योग्यताकी ओर दृष्टि लगाते हुए

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मूलस्वरूपमें पहुँचानेवाली साधनसामग्रीरूपी योगके मार्गपर आरूढ़ होनेके लिये 'अर्जुनविषादयोग' रूपी पहली सीढ़ीपर सर्वप्रथम चढ़ना ही होगा, उसके बाद अगली सीढ़ियोंका विचार हो सकेगा। अर्थात् चूँकि भगवद्-रूपी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये अर्जुन (अर्थात् नर) का विषाद ही पहली सीढ़ी है और क्योंकि सब साधनसामग्री योग कहलाती है, इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीताके प्रथमाध्यायका नाम 'अर्जुनविषादयोग' रक्खा गया है और यही मुनासिब भी है; क्योंकि यह विषाद राज्यादिके लोभको लेकर पाशवी चित्तवृत्तिके कारण नहीं है, अपितु सर्वत्याग-की इच्छाके आधारपर उत्पन्न हुआ विषाद है।

तीसरी सीढ़ी—शिष्यता और शरणागति

इस प्रकार अत्यन्त दुःखी होकर, अपना सारा दुःख कहकर, खूब रोते हुए, शास्त्रसिद्धान्तके विरुद्ध खूब शास्त्रार्थ करके भी अर्जुन जब इस बातका अनुभव करता है कि—

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्या-
द्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम् ॥
(२।८)

'मेरी समझमें नहीं आता कि मेरे मन, इन्द्रियों, बुद्धि और हृदयको सुखा देनेवाले इस दुःखको दूर कर सकनेवाला साधन क्या है', तब उस हालतमें अर्जुन साधनकी तीसरी सीढ़ीपर पहुँच जाता है और श्रीभगवान्-से कहता है—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।
(२।७)

—'मैं तेरा शिष्य हूँ और तेरे प्रपन्न अर्थात् शरणागत हूँ, इसलिये मेरे श्रेयका जो साधन है उसका तू ही निश्चय करके मुझे आज्ञा कर।' इससे स्पष्ट है कि यदि हम नरोंको नरकी स्वाभाविक अशान्ति और दुःखसे बचकर श्रीनारायणकी शान्ति एवं आनन्दमें पहुँचानेवाले साधनको जानना हो तो हमें अर्जुनके दृष्टान्तसे शिक्षा ग्रहणकर श्रीभगवान्के साथ वही सम्बन्ध स्थापित करना होगा, जो अर्जुनरूपी नरने श्रीकृष्णरूपी नारायणके साथ श्रीगीताजीके प्रसंगपर किया था। अर्थात् हम नरोंका भी नारायणके साथ वही सम्बन्ध होना चाहिये जो रथीका सारथीके साथ हुआ करता है और भगवान्को अपने रथ-का सारथी बनानेका काम तभी यथार्थमें सिद्ध हो सकता है जब हम भी—

शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।

—इस चित्तवृत्तिको वास्तवमें ग्रहण कर लेंगे।

'शिष्य' शब्द और 'प्रपन्न' शब्दका अर्थ

परन्तु इस प्रसंगमें हमें पहले आये हुए 'शिष्य' शब्द और आगे आये हुए 'प्रपन्न' शब्दके अर्थको अच्छी तरह समझ लेना चाहिये, ताकि हम धोखा खाकर पश्चात्तापके भागी न बनें। 'शिष्य' शब्दका अर्थ है शासनमें रहनेवाला अर्थात् आज्ञापालन करनेवाला। और हम 'प्रपन्न' और 'शरणागत' तभी कहला सकेंगे जब हम अपने मन एवं हृदयसे एक स्वरसे कहने लगे हों कि—

बुद्धिर्मे कुण्ठिता देव समाप्ता मम युक्तयः।
नान्यत् किञ्चिद्विजानामि त्वमेव शरणं मम ॥

'हे भगवन्! मेरी बुद्धि कुण्ठित हो गयी है और मेरी सब युक्तियाँ समाप्त हो गयी हैं, मैं दूसरी किसी सहायक या रक्षक वस्तुको नहीं जानता, तू ही मेरे लिये एकमात्र शरण है।' मतलब यह है कि सहायता लेनेके लिये श्रीभगवान्के चरणोंमें गिरकर शरणागत होने या शिष्य बननेके दिखावेसे काम नहीं बनेगा। आवश्यकता तो इस बातकी है कि हम 'शिष्य' शब्द और 'प्रपन्न' शब्दके यथार्थ अर्थोंका अनुसन्धान करते हुए पहले-पहल श्रीभगवान्की आज्ञाके अनुसार चलनेके लिये बिल्कुल तैयार होकर अर्थात् सच्चे शिष्य बनकर उसके बाद श्रद्धा-भक्ति-प्रेमभावसे और सच्चे मनसे श्रीभगवान्के श्रीचरणोंमें शरणागत या प्रपन्न होकर, उन्हींकी आज्ञारूपी शास्त्रोंसे अपने श्रेयके रास्तेका पता लगाकर उसीपर हमेशा चलें। यह है सब साधकोंके लिये तीसरी सीढ़ी, जिसका श्रीमद्-भगवद्गीताके द्वितीयाध्यायकी प्रस्तावनामें ही पता लग जाता है।

चौथी सीढ़ी—नित्यानित्यविवेक

जब हम पहले इस प्रकारसे भगवान्के सच्चे आज्ञा-पालक बनकर, पश्चात् इसी हैसियतसे उसके शरणागत होकर, उससे अपने यथार्थ एवं शाश्वत श्रेय अर्थात् नारायणस्वरूपरूपी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये आवश्यक साधकका ज्ञान माँगते हैं तब वे हमारी अशान्ति और

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दुःखके मूल कारणको ही पकड़कर उसे जड़से काटनेकी दृष्टिसे हमको नित्यानित्यवस्तुविवेचनका उपदेश देकर श्रेयके रास्तेपर चलाने लगते हैं। क्योंकि हमारी खास और असली बीमारी तो यही है कि जैसे भीष्म-द्रोणादिके बारेमें उनके अनित्य शरीर और नित्य आत्माका विवेचन न करते हुए अर्जुन रोता रहा, वैसे ही हम भी शरीरको ही आत्मा समझकर नित्यानित्यवस्तुविवेकके अभावसे या कमीसे ही दुःखी होते रहते हैं। इसलिये श्रीभगवान्‌रूपी भवरोगवैद्य चमड़ेके ऊपर लगाये जानेवाली मरहम आदि औषधोंसे (जो तत्काल फल देनेवाली हैं) काम न लेकर, हमारे भीतरकी बीमारीको जड़से काट डालनेके अभिप्रायसे, सब अनर्थोंके मूल कारण उसी नित्यानित्यवस्तुविवेकाभावको सीधे पकड़कर उसीको मारने लगते हैं और अपने उपदेशका आरम्भ करते हुए ही कहने लगते हैं—

(१) एक ओर तो जिनके लिये रोना नहीं चाहिये उनके लिये तुम रोते हो और दूसरी ओर बड़े ज्ञानकी बातें करते हो (जो यथार्थमें अज्ञानकी ही बातें हैं)। मरे हुए या जीते हुएके बारेमें ज्ञानी रोते नहीं। (२। ११)

(२) हम, तुम और ये सब राजालोग भी पहले भी थे। और आगे भी रहनेवाले हैं। (२। १२)

(३) इस शरीरमें जैसे लड़कपन, जवानी और बुढ़ापा आता है वैसे ही इस शरीरमें रहनेवाला आत्मा दूसरे शरीरमें चला जाता है। इसपर धीर (ज्ञानी) दुःखी नहीं होते। (२। १३)

(४) उसे नाशरहित जानो जो इन सब शरीरोंमें ओतप्रोत रहता है। उस निर्विकार आत्माका कोई नाश नहीं कर सकता। (२। १७)।

(५) उसी नित्य, अविनाशी और अप्रमेय आत्माके ये सब विनाशवाले शरीर हैं। इसलिये युद्ध करो। (२। १८)

(६) आत्माको जो मारनेवाला मानता है और जो उसे मारे जानेवाला मानता है, वे दोनों ही अज्ञानी हैं। आत्मा न तो मारता है और न मारा जाता है। (२। १९)

(७) यह न तो कभी जन्म लेता है, न मरता है, अज (अनादि) है, अनन्त है, शाश्वत है, पुरातन है और शरीरके मारे जानेपर मरता नहीं। (२। २०)

(८) जो इस अनादि और निर्विकार आत्मा अविनाशी और शाश्वत जानता है वह पुरुष न तो किसको मारता है और न मरवाता है। (२। २१)

(९) जैसे मनुष्य फटे हुए पुराने कपड़ोंको त्यागकर अच्छे नवीन वस्त्रोंको धारण करता है, वैसे ही आत्मा जीर्ण हुए पुराने शरीरको त्यागकर नये शरीरमें चला जाता है। (२। २२)

(१०) इसे शास्त्र काटते नहीं, आग जलाती नहीं, पानी भिगोता नहीं, वायु सुखाता नहीं। (२। २३)

(११) यह तो अकाट्य, अदाह्य, अक्लेद्य, अशोष्य, नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अटल और सनातन है। (२। २४)

(१२) यह अव्यक्त, अचिन्त्य और निर्विकार है। अतः इसे इस प्रकार जानकर दुःखको छोड़ दो। (२। २५)

(१३) क्योंकि जो उत्पन्न होता है उसकी मृत्यु निश्चित है और जो मरता है उसका जन्म निश्चित है। इसलिये इस अनिवार्य (जिससे बचना नहीं हो सकता) विषयपर दुःख न करो। (२। २७)

(१४) सब पदार्थ पहले अव्यक्त, बीचमें व्यक्त, और अन्तमें फिर अव्यक्त होते हैं। इसमें दुःखकी क्या बात है। (२। २८)

(१५) सबके शरीरमें जो आत्मा है वह कदापि मारा नहीं जा सकता। इसलिये तुमको किसीके बारेमें दुःख नहीं होना चाहिये। (२। ३०)

और आगे त्रयोदशाध्यायमें भी ज्ञानके स्वरूपका वर्णन करते हुए श्रीभगवान्‌ने फिर भी—

'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम्।'

—कहकर शरीरकी अनित्यतापर जोर देते हुए नित्यानित्यवस्तुविवेचनकी (जो ज्ञानीके लिये प्रारम्भिक साधन है) आवश्यकता बतलायी है। इसलिये शरीरकी नश्वरता और आत्माके नित्यत्वका विचारके द्वारा विवेचन करना ही साधकोंकी दृष्टिसे चौथी सीढ़ी है।

पाँचवीं सीढ़ी—तितिक्षा

जब साधक नर अपने नरत्वसे उठकर नारायणत्वरूप अपने लक्ष्यकी ओर निकलकर नित्यानित्यवस्तुविवेचनरूपी चौथी सीढ़ीपर कदम रख लेता है तब उसके लिये पाँचवीं सीढ़ी अपने-आप स्पष्ट हो जाती है और वह सोचने

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लगता है कि मुझे अब अनित्य पदार्थोंकी गुलामीमें रहना और ऐसी नश्वर वस्तुओंके लालनार्थ अपने नित्य श्रेयको नहीं बिगाड़ना चाहिये, बल्कि अपने अनित्य शरीर, इन्द्रियों और मनको शाश्वत आत्म-कल्याणके लिये अपने वशमें रखना चाहिये। क्योंकि—

अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन्
विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्।

—इस न्यायके अनुसार महान् लाभके लिये छोटी वस्तुका त्याग उचित होता है, किन्तु अल्प एवं क्षणिक पदार्थके लिये महान् एवं शाश्वत वस्तुका खोना विचारशून्यताका चिह्न है। अतः उपर्युक्त नित्यानित्यवस्तुविवेचनरूपी चौथी सीढ़ीसे आगे बढ़कर साधकको पाँचवीं सीढ़ीमें, जो तितिक्षा की है, पहुँचना चाहिये। अतएव श्रीभगवान्ने दूसरे अध्यायमें अपने उपदेशके आरम्भमें, सर्वप्रथम आत्माके नित्यत्व और शरीरादिकी नश्वरताको बताते हुए, उसके बीच-बीचमें ही तितिक्षा (अर्थात् शरीर, इन्द्रियों और मनके निग्रह) का भी साथ-साथ उपदेश दिया है। वे कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
(२।१४)

'शीतोष्ण सुख-दुःख देनेवाले इन्द्रियसंयोग आते-जाते रहनेवाले हैं, क्षणिक हैं, उनको सहो।'

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥
(२।१५)

'जिस धीर पुरुषके लिये सुख और दुःख समान हैं, अतएव जिसको इन्द्रियसंयोगोंसे कोई सुख-दुःख नहीं होता वह मोक्षका अधिकारी होता है।'

चूँकि तितिक्षाका यह उपदेश श्रीभगवान्के गीतावाले उपदेशके आरम्भमें ही आ जाता है, इसलिये हम सबको नित्यानित्य अर्थात् आत्म एवं अनात्म पदार्थोंके विवेचनके साथ-साथ उसीके फलस्वरूप तितिक्षाको सीखना और उसका अभ्यास करना चाहिये।

स्थितप्रज्ञ और तितिक्षा

इस तितिक्षारूपी महान् साधनकी आवश्यकता और मुख्यता इससे भी स्पष्ट हो जाती है कि इसी दूसरे अध्यायमें स्थितप्रज्ञ अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञानीके लक्षण बताते हुए, उन लक्षणोंके बीच-बीचमें श्रीभगवान्ने तितिक्षाका बारंबार सन्निवेश किया है और कहा है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
(२।५६)

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥
(२।५७)

जिसका मन दुःखोंसे उद्विग्न न होता हो और सुखोंको न चाहता हो और इच्छा, भय और क्रोधसे मुक्त रहता हो, वही स्थितप्रज्ञ और मुनि है।

जो किसीके मोहपाशमें नहीं रहता, किसी सुखके आनेपर प्रसन्न नहीं होता और दुःखके आनेपर दुःखी नहीं होता, वही स्थितप्रज्ञ है।

त्रिगुणातीत और तितिक्षा

इसी प्रकारसे चतुर्दशाध्यायमें गुणत्रयविभाग-योगके वर्णनमें त्रिगुणातीत अर्थात् जीवन्मुक्तके लक्षण बताते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—

न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।
(१४।२२)

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
(१४।२४)

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
(१४।२५)

'जो आये हुए [प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह] का द्वेष नहीं करता और गये हुएकी इच्छा नहीं करता।'

'जिसे सुख और दुःख, मिट्टीका पिण्ड, पत्थर और सोना, प्रिय और अप्रिय, निन्दा और स्तुति, मान और अपमान एवं मित्र और शत्रु समान हैं, जो धीर हैं और हमेशा अपने आनन्दमें मस्त रहते हैं।'

ज्ञान और तितिक्षा

त्रयोदशाध्यायमें तो क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोगके प्रसंगमें ज्ञानका स्वरूप बतलाते हुए श्रीभगवान्ने ज्ञानकी लक्षण-कोटि या निर्वचनके अन्दर ही—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥

'क्षान्तिः', 'आत्मविनिग्रहः', 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' इत्यादि पदोंको प्रयुक्तकर तथा—

एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥२॥

—यह कहकर इस बातको स्पष्ट किया है कि तितिक्षा ज्ञानके स्वरूपके अन्तर्गत ही है, अर्थात् तितिक्षाके बिना ज्ञानका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। इत्यादि।

लक्ष्यप्राप्ति और तितिक्षा

फिर पञ्चदशाध्यायमें इस बातका वर्णन करते हुए कि अव्यय (अर्थात् एकाकार, निर्विकार, शान्ति एवं अखण्ड आनन्दके भण्डाररूपी) परम पदवीमें पहुँचनेवाले कौन हैं, भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—

द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।
(१५।५)

'जो सुख और दुःखके नामसे प्रसिद्ध द्वन्द्वोंसे रहित अर्थात् तितिक्षु या सहनशील हैं, वे ही उस अव्यय पदवीपर पहुँचते हैं।'

संन्यासी और तितिक्षा

सच्चे संन्यासीका निर्वचन करते हुए पञ्चमाध्यायमें भी श्रीभगवान्ने यही कहा है—

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात् प्रमुच्यते॥
(५।३)

अर्थात् वही सच्चा संन्यासी है जो किसी वस्तुसे द्वेष नहीं रखता और न किसीकी इच्छा ही करता है; क्योंकि जो द्वन्द्वोंसे मुक्त है वही बन्धनसे मुक्त होता है।

दैवी सम्पत्ति और तितिक्षा

षोडशाध्यायमें दैवी और आसुरी सम्पत्तिका वर्णन करते हुए भी श्रीभगवान्ने दम, तप, अक्रोध, शान्ति, मार्दव, क्षमा, अद्रोह आदि शब्दोंसे दैवी सम्पत्तिका और 'उग्रकर्माणः', 'कामक्रोधपरायणाः'—

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥
(१६।१८)

—इत्यादि शब्दोंसे आसुरी सम्पत्तिका वर्णन करके तथा—

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
(१६।५)

—यह कहकर इस बातको स्पष्ट किया है कि तितिक्षा-रूप गुणसम्पत्ति मोक्षका खास साधन है और उसका अभाव बन्धनका कारण है।

तपस्या और तितिक्षा

आगे सप्तदशाध्यायमें श्रद्धात्रयविभागयोगके प्रसंगमें शरीर, वाणी और मनकी तपस्याका विवेचन करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने अहिंसा, अनुद्वेगकर वाक्य, मनःप्रसाद, सौम्यत्व, मौन, आत्मविनिग्रह इत्यादि शब्दोंसे पुनः इसी बातपर जोर दिया है कि तितिक्षा तीनों प्रकारकी तपस्याके अन्तर्गत और उसका आधार भी है, क्योंकि उसके बिना तपस्यारूपी पदार्थका मूल लक्षण ही बिगड़ जाता है।

योगी और तितिक्षा

यदि कोई इसपर यह समझ ले कि तितिक्षा आदिका यह सब झंझट तो स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत, जीवन्मुक्त, ज्ञाननिष्ठ, संन्यासी, तपस्वी, दैवी सम्पत्सम्पन्न आदि पुरुषोंके लिये है, योगीके लिये नहीं; तो इस भ्रमके निवारणके लिये षष्ठाध्यायमें (जिसका नाम ही आत्मसंयम-योग है और जो गीताजीके अन्दर योगका खास अध्याय है), योगीका भी इसी प्रकारसे निर्वचन किया है कि—

(१) शीतोष्ण, सुख-दुःख एवं मान-अपमानमें समाहित (शान्त और सन्तुष्ट), (६।७)

(२) जिसकी दृष्टिमें मिट्टीका पिण्ड, पत्थर और सुवर्ण समान हों वही योगी युक्त कहलाता है। (६।८)

(३) सखा, मित्र, उदासीन, मध्यस्थ, शत्रु एवं बन्धुओंमें (समान बुद्धिवाला)—(६।९)

(४) जिसमें स्थित हुआ बड़ेसे-भी-बड़े दुःखसे विचलित नहीं होता उसी सर्वथा दुःखाभावकी अवस्थाका नाम योग है। इसी योगका अनिर्विण्ण चित्तसे अभ्यास करना चाहिये। (६।२२, २३)

(५) इन्द्रियोंकी समष्टिको मनके द्वारा चारों ओरसे निगृहीत करके (६।२४)

(६) सुखमें या दुःखमें जो हमेशा समान दृष्टि रखता है, वही योगी श्रेष्ठ है। (६।३२)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(७) जिसने अपने शरीरादिका निग्रह नहीं किया उसे योगकी प्राप्ति नहीं होती। शरीरादिको वशमें रखकर जो प्रयत्न करता है उसे उपायसे योगकी प्राप्ति हो सकती है। (६ । ३६)

भक्त और तितिक्षा

इसपर 'योगी' शब्दसे डरकर कोई कहे कि यदि योगी-के लिये भी यह झंझट मौजूद ही है तो हम इन सब बातोंको छोड़कर केवल भगवद्भक्तिको ग्रहणकर उसीसे अपने अभीष्टको सिद्ध कर लेंगे, क्योंकि भक्ति तो अपने वशकी चीज है और त्रिगुणातीत अवस्था, जीवन्मुक्ति, ज्ञाननिष्ठा, संन्यास, तपस्या, योग आदिकी भाँति तितिक्षा आदिके झंझटोंसे भरी हुई नहीं है इत्यादि, तो भक्तके लक्षणोंको बतानेवाले द्वादशाध्यायको खोलकर देखनेपर साधक देखेंगे कि वहाँ भी श्रीभगवान्‌ने यही कहा है—

(१) किसीसे द्वेष न करनेवाला, सबके साथ प्रेम और सबपर दया करनेवाला ममतारहित, अहङ्काररहित, सुख-दुःखोंमें समान और तितिक्षु (१२ । १३)।

(२) सदा सन्तुष्ट, योगी, जितेन्द्रिय और दृढ़ निश्चयवाला (१२ । १४)।

(३) जिसके कारण लोग दुःखी न हों और जो स्वयं दूसरोंके कारण दुःखी न हो, जो हर्ष, द्वेष, भय और दुःखसे मुक्त हो, वह मुझे प्यारा है। (१२ । १५)

(४) इच्छारहित, पवित्र, समर्थ सर्वसहिष्णु और दुःखरहित (१२ । १६)।

(५) जो हर्षित नहीं होता, द्वेष नहीं करता, दुःखी नहीं होता, इच्छा नहीं करता, शुभ तथा अशुभको भी छोड़े हुए है, वह भक्त मुझे प्यारा है। (१२ । १७)

(६) शत्रु एवं मित्रमें, मान-अपमानमें, शीत-उष्ण एवं सुख-दुःखमें समान और आसक्तिरहित (१२ । १८)

(७) निन्दा और स्तुतिमें समान, मननशील और जो-जो कुछ प्राप्त हो (सुख हो या दुःख हो) उससे सन्तुष्ट (१२ । १९)।

तितिक्षाकी विधि

जब इतने विस्तारके साथ, इतने-इतने दृष्टिकोणोंसे यह निरूपण हुआ कि तितिक्षारूपी पाँचवीं सीढ़ीकी कितनी अधिक आवश्यकता है, जिसके कारण वह प्रत्येक मार्गमें साधनरूपसे मिलती है और उसे हमें अवश्य प्राप्त करना चाहिये, तब यह भी स्वाभाविक और उचित ही है कि उसका केवल उस-उस अधिकारीके लक्षणोंमें ही वर्णन नहीं होना चाहिये जिससे उसकी आवश्यकताका ऊहापोह विचक्षण बुद्धिमान् पुरुषोंको अनुमानसे पता चल सके, बल्कि उसकी अत्यन्त और अनिवार्य साधनरूपसे साक्षात् एवं स्पष्ट विधि भी होनी चाहिये, जिससे अति मन्द बुद्धि-वाला जिज्ञासु भी समझ सके कि तितिक्षाकी हर एक प्रकारके योगमें अत्यन्त आवश्यकता होती है। अतएव दूसरे अध्यायमें अपने उपदेशके प्रारम्भसे ही लेकर श्री-भगवान्‌ने तितिक्षाकी स्थान-स्थानमें विधि भी बतायी है—

(१) इन्द्रियोंके संयोग शीतोष्णादि सुख-दुःखोंके कारण हैं, आते-जाते रहनेवाले हैं, अनित्य हैं, उन्हें सहन करो। (२ । १४)।

(२) इस बातको जानकर दुःखको छोड़ो। (२।२५)

(३) तो भी दुःखी नहीं होना चाहिये। (२ । २६)

(४) जिसका परिहार (इलाज) न हो सके उसके विषयमें दुःख नहीं करना चाहिये। (२ । २७)

(५) किसीके बारेमें दुःखी नहीं होना चाहिये। (२ । २८)

(६) सुख-दुःख, हानि-लाभ और जय-पराजयको समान मानकर। (२ । ३८)

(७) अत्यन्त बुद्धिमान् और (इन्द्रियनिग्रहके लिये) अत्यन्त प्रयत्नशील पुरुषके मनको भी इन्द्रियाँ जबर्दस्ती खींच लेती हैं। (२ । ६०)

(८) उन सबका निग्रह करके मेरे परायण होकर युक्त रहो (योगी बनकर रहो)। (२ । ६१)

तितिक्षाका पर्यवसितार्थ सिद्धान्त

इन सब विचारोंसे सिद्ध होता है कि दूसरे अध्यायमें—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥

—इस उपदेशारम्भसे ही लेकर जिस तितिक्षारूपी पाँचवीं सीढ़ीका वर्णन मिलता है, वह किसी एक ही प्रकारके साधक या अधिकारीकी दृष्टिसे नहीं, बल्कि श्रीमद्भगवद्गीतामें स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत, जीवन्मुक्त, ज्ञान-निष्ठ, भगवत्प्राप्तिके अधिकारी, संन्यासी, तपस्वी, योगी, भक्त, कर्मयोगी, दैवी सम्पत्ति और आसुरी सम्पत्ति आदि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जिस-जिस दृष्टिकोणसे विचार हुआ हो उन सब दृष्टियोंसे भी तितिक्षा अत्यन्त आवश्यक साधन है, जिसके बिना इन सब मार्गोंमेंसे किसी मार्गमें भी साधकका नारायणरूपी लक्ष्यकी प्राप्तिका प्रयत्न सफल नहीं हो सकता।

आनुषंगिक फलितार्थ

इस विचारसे आनुषंगिक अनुमानरूपसे यह भी असली और सच्चा सिद्धान्त सिद्ध होता है कि चूँकि स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत, जीवन्मुक्त, संन्यासी, तपस्वी, योगी, दैवी-सम्पत्सम्पन्न और भगवद्भक्तके श्रीमद्भगवद्गीतामें बताये हुए लक्षणोंमें शब्दका ही भेद है, अर्थमें तो कोई भेद नहीं है इसलिये अधिकारियोंकी चित्तवृत्तिकी भिन्नताके कारण केवल दृष्टिकोणमें और रूपमें भेद है; परन्तु कर्म, भक्ति और ज्ञानके यथार्थ स्वरूप एवं लक्षणोंमें और अन्तिम परिणामरूपी यथार्थ लक्ष्यमें तो किञ्चित् भी भेद नहीं है। अर्थात् तीनों काण्डों और सब मार्गोंका यथार्थमें विरोध नहीं है, किन्तु अविरोध एवं समन्वय ही है। (क्रमशः)

कल्याण

महात्माओंकी, साधु-संन्यासियोंकी, गुरुओंकी सेवा-पूजा श्रद्धाभक्तिपूर्वक करो, परन्तु करो उनके स्वरूपके अनुरूप ही। जो जिस स्थितिमें है, उसकी सेवा-पूजा उसी स्थितिके अनुसार करनी पड़ती है। संन्यासीके सिरपर राजमुकुट और राजाकी कमरमें कौपीन अस्थानीय और अशोभनीय होते हैं। यथायोग्य सेवा-पूजासे ही मर्यादा रहती है और उसीसे दोनों ओर कल्याण है। ऐसी सेवा-पूजा न करो जिससे उनके महत्त्वपूर्ण स्वरूपका अपमान हो, उनके त्यागमय वेषपर कलंक लगे, उनकी साधन-सम्पत्ति नष्ट होनेका डर हो, उच्च स्थितिसे गिरनेकी आशङ्का हो, अथवा उनकी देखा-देखी करनेवाले दूसरे लोगोंके पतनकी सम्भावना हो।

× × × ×

पितामह भीष्म शरशय्यापर पड़े थे। तमाम शरीरमें बाण बिंधे थे, परन्तु उनके मस्तकमें बाण न लगनेसे सिर नीचे लटक रहा था। भीष्मने तकिया माँगा। लोग दौड़े और नरम-नरम रुईसे भरे कोमल तकिये ला-लाकर उनके सिरके नीचे रखने लगे। भीष्मने उन सबको लौटा दिया, कहा—अर्जुनको बुलाओ। अर्जुन आये, भीष्मने कहा,—'बेटा! सिर नीचे लटक रहा है, तकलीफ हो रही है, तकिया दो।' चतुर अर्जुनने तुरन्त तीन बाण मस्तकमें मारकर वीरवर भीष्मकी स्थितिके अनुकूल तकिया दे दिया। पितामहने प्रसन्न होकर आशीर्वाद दिया! क्योंकि अर्जुनने जैसी शय्या थी वैसा ही तकिया दिया। उस समय महावीर भीष्मको आराम पहुँचानेकी इच्छासे उन्हें रुईका तकिया देना उन्हें कष्ट पहुँचाना था, उनके स्वरूपका अपमान था, उनके शूरत्वका उपहास था। और था उनकी महिमाके प्रति अपना मोह—अज्ञान।

× × × ×

इसी प्रकार साधु-महात्मा और विरक्त संन्यासियोंको उनके स्वरूप, धर्म, निष्ठा और साधनाके प्रतिकूल उन्हें आराम पहुँचानेके मोहसे, भोग-पदार्थोंको अर्पण करनेमें उनकी सेवा समझना उनका तिरस्कार करना है, उन्हें कष्ट पहुँचाना है। 'शिव' से एक बार एक महात्माने कहा था कि हम गृहस्थोंके घर इसलिये जाना पसंद नहीं करते कि वे अपनी स्थितिके साथ हमारी तुलना करके अपनी दृष्टिसे हमें आराम पहुँचानेकी चेष्टा करते हैं, जो हमारे लिये कष्टदायक होनेके साथ ही हमारे आदर्शके नष्ट होनेमें कारण होती है।

तितिक्षा, तप, त्याग, वैराग्य और ज्ञानमें ही उन आत्माराम महात्माओंके लिये सबसे बड़ा आराम है। आत्मसन्तुष्टि ही उनके लिये परम सुख और आत्मतृप्ति ही परम तृप्ति है। ऐसे लोगोंके सामने भोग-सामग्री

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रखकर उसकी ओर उनका मन खींचनेकी चेष्टा करना उनके स्वरूपको न समझकर उनका उपहास करना है।

× × × ×

यद्यपि सिद्ध महात्माओंके लिये भोग और त्याग समान ही हैं; क्योंकि वे तो नित्य अखण्ड समतामें स्थित हैं। तथापि संन्यासका आदर्श स्वरूप तो वैराग्य और त्याग ही है। सेवकोंकी इस आदर्श स्वरूपकी रक्षामें सहायक होकर उनकी यथार्थ सेवा करनी चाहिये। ऐसा न करनेसे आदर्श नष्ट होगा। दूसरे, साधारण लोग बड़ोंकी ही नकल किया करते हैं। संन्यासाश्रमी विरक्त महात्मा लोग प्रकट या अप्रकटरूपसे स्वच्छन्दतापूर्वक, (सेवकोंको प्रसन्न करनेके लिये ही) विषयी पुरुषोंकी भाँति भोग भोगने लगें तो यद्यपि अहङ्कार और आसक्तिका अभाव होनेसे सिद्ध महात्माओंकी कोई हानि नहीं होती, तथापि त्यागमय संन्यासका आदर्श तो बिगड़ता ही है। इसका परिणाम यह होगा कि अपरिपक्व स्थितिके सरल साधक विरक्त महात्माओंका अनुकरण कर अपने साधन-पथमें भोगासक्तिका एक प्रबल प्रतिबन्धक खड़ा कर लेंगे, जिससे उनकी प्रगति रुक जायगी। और भोगासक्त ढोंगी लोगोंको तो अपने स्वार्थ-साधनका सुअवसर ही मिल जायगा। वे तो उन महात्माओंका नाम ले-लेकर अपने दोषोंका समर्थन करने लगेंगे। जिसका परिणाम उनका और उनके संगी-साथी सभीका अकल्याण होगा।

× × × ×

लड़ाईके मैदानमें रणोन्मत्तता उत्पन्न करनेवाले जुझाऊ बाजोंकी जगह सितारका सुर निकाला जाय या मुरलीकी मधुर तान छेड़ी जाय, सोहनी या बिहागका राग अलापा जाय, नाना प्रकारके शरीर-सुखके पदार्थोंको उपस्थित करके चित्तको विचलित किया जाय अथवा मरवालोंकी दुर्दशाका चित्र खींचकर उनमें ममता जागृत की जाय तो इससे जैसे रणबाँकुरे वीरका भी युद्धसे विमुख होना सम्भव है, वैसे ही त्यागके मार्गपर चलनेवाले त्यागी साधकोंके सामने उन्हें आराम पहुँचानेके खयालसे बार-बार भोगमय प्रपञ्चकी चर्चा करना, और भोग-आरामकी चीजें दे-देकर उनके चित्तको लुभाना, उन्हें त्यागके पवित्र पथसे गिरानेमें सहायक होता है।

× × × ×

'शिव' को ऐसे कई साधकोंका पता है, जो पहले बड़े त्यागी थे परन्तु शिष्यों और सेवकोंने मोहवश उनके त्यागके आदर्शको नष्ट कर उन्हें अपूज्य बना दिया। जिन महानुभावोंको किसी दिन कुछ भी संग्रह रखना अखरता था वे ही एक दिन शरीरके आरामके लिये तुच्छ भोग-सामग्रियोंके संग्रहके लिये चिन्तित हो गये। यहाँतक हुआ, आदत यहाँतक बिगड़ी कि अब भोग-सामग्री न मिलनेपर उनके चित्तमें क्षोभ होने लगा और वे शिष्यों और सेवकोंसे उनके लिये ताकीद करने लगे। शिष्य और सेवक भी तभीतक श्रद्धापूर्वक देते हैं, जबतक लेनेसे नफरत की जाती है। जो निःस्पृही पुरुष लेनेसे मुँह मोड़े रहते हैं, उन्हींको देनेके लिये दुनिया पीछे-पीछे फिरा करती है। जहाँ हाथ फैलाया, वहीं देनेवालोंकी भी पीठ दिखायी देती है। फिर तो याचना करनी पड़ती है, अपना दुःख सुनाकर, अपना अभाव बताकर दाताके मनमें दया उत्पन्न करनी पड़ती है। श्रद्धासे दया आती है, परन्तु दया भी अधिक दिन नहीं ठहर पाती। अतएव फिर यदि कुछ दिया जाता है तो वह अश्रद्धासे, भार समझकर, आफत मानकर, मनमें दुःख पाकर, जो सर्वथा राजस दान होता है, इसके बाद तो वह तामसिकतामें परिणत हो जाता है जिससे सेव्य और सेवक—दाता और गृहीता दोनोंकी अधोगति होती है—'अधो गच्छन्ति तामसाः।'

× × × ×

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

'शिव' यह नहीं कहता कि सेवा न करो, सेवा अवश्य करो, भक्तिपूर्वक करो, योग्य अवसर प्राप्त होनेपर सर्वस्व अर्पण करनेके लिये भी तैयार रहो। उत्तम-से-उत्तम वस्तुको उनकी एक जबानपर लुटा दो। परन्तु अपने अज्ञानसे, मोहसे, सच्चे साधुओंको आराम पहुँचानेके नामपर उन्हें तंग न करो, उन्हें कष्ट मत पहुँचाओ, उनके आदर्शको नष्ट करनेका प्रयास मत करो। उनमें त्यागका जो परम आकर्षण है, जिससे खिंचकर सहस्रों नर-नारी उनकी सेवामें आते हैं और अपने कल्याणका पथ प्राप्त करते हैं, उस त्यागके आकर्षणको नष्ट न करो।

× × × ×

इसी प्रकार तुम्हारा कोई भी सम्बन्धी, भाई, पुत्र, मित्र यदि संयमका आदर्श ग्रहण करे तो मोहवश, उसे आराम पहुँचानेकी चेष्टासे संयमके पवित्र पथसे लौटाकर भोगके नरकप्रद पथपर मत लाओ। भोग आरम्भमें सुख दीखता है परन्तु उसका परिणाम बहुत ही भयानक है, और त्याग यद्यपि पहले भीषण लगता है परन्तु उसका फल बहुत ही मीठा है। असली भोग—सच्चे सुखका भोग, दिव्य जीवनका भोग तो इस त्यागसे ही मिलता है। इन्द्रियोंके तुच्छ विषय-भोगोंके त्यागसे वह दुर्लभ भोग मिलता है, वह परमानन्द मिलता है, जिसमें कहीं कोई विकार, अभाव, अपूर्णता या विनाश नहीं है। जो नित्य है, सत्य है, सनातन है, ध्रुव है, अपरिणामी है, अनन्त है, असीम है, अकल है, अनिर्देश्य है, अनिर्वचनीय है। यह भोग प्राप्त होनेपर फिर भोग और भगवान्‌में भेद नहीं रहता। वस्तुतः ये एक ही वस्तुके दो नाम हैं।

'शिव'

आर्त्त-पुकार

नमो नमो श्रीनारायण अच्युत अविनाशी हो!
प्रभो! लक्ष्मी-उरवासी हो!
कलिका कष्ट हरो रघुनन्दन, निज-जन दुःख हरो यदुनन्दन।
सुनो सुनो प्रभुजी! मेरा यह करुणाक्रन्दन हो॥
तुम सम कौन दीन-उपकारी, वत्सलता जनपर अति भारी।
मैं अनाथ आतुर शरणागत कहूँ पुकारी हो॥
मात-पिताकी शरण छुड़ाई, निजपदकमलन्हि खींच लगाई।
हरि! दासीको धन्य प्रभो! तुमने अपनाई हो॥
तन-मन-धन सब अर्पण कीन्हा, भागवतोंका आश्रय लीन्हा।
पूजनीय कुलगुरु रामानुज आशिष दीन्हा हो॥

—सुदर्शन दासी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीभगवन्नाममहिमा

(पूज्य पं० श्रीमदनमोहनजी मालवीय महाराजके व्याख्यानका सारांश)

(यह व्याख्यान झूसी नामसंकीर्त्तनयज्ञकी पूर्णाहुतिके अवसरपर दिया गया था)।

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥
यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव ।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि ॥
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् ।
तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥
कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य ।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम ॥
नामसङ्कीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम् ।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम् ॥

सज्जनो, यह परम पवित्र प्राचीन तीर्थ है । पृथ्वी-मण्डलमें कोई नगर प्रयागके समान प्राचीन नहीं है । ऋग्वेद तकमें, जो संसारका सबसे प्राचीन ग्रन्थ है, प्रयागकी महिमा आयी है । इसीलिये इसे तीर्थोंका राजा कहते हैं । भीष्मने युधिष्ठिरको भगवती भागीरथीका माहात्म्य बतलाते हुए कहा—'प्रयागमें शरीर छोड़नेकी बड़ी महिमा है ।' मैं भी जब-जब प्रयाग आता हूँ तब-तब गङ्गाजीको पार करते हुए उनसे प्रार्थना करता हूँ कि 'माँ, अन्त समयमें मुझे अपनी गोदमें अवश्य स्थान देना ।' प्रयागके आसपास जितने स्थान हैं उनमें किसी समय देवता और ऋषि बसते थे । इसीलिये इनमेंसे एकका नाम है देवरिखा । माघमें दस हजार तीर्थ प्रयागमें आकर एकत्र होते हैं । आज हमलोगोंकी अपनी संस्कृति और अपने धर्मके साथ-साथ तीर्थोंमें भी श्रद्धा जाती रही । यह अंगरेजी शिक्षाका प्रभाव है । पुरुषोंकी अपेक्षा हमारी बहिनोंमें अधिक श्रद्धा पायी जाती है । तीर्थस्नानके लिये पुरुषोंकी अपेक्षा वही अधिक संख्यामें आती हैं ।

भगवन्नामकी महिमा आपलोग बहुत बार सुन चुके हैं और आगे भी सुनेंगे । संसारमें बहुत-से भाई कहते हैं—नामके उच्चारणसे क्या होता है? भगवान्‌के नामको भूलकर भी एक बार लेनेसे मनुष्य संसार-सागरसे तर जाता है, ऐसा वेद-पुराण कहते हैं । फिर उसे बार-बार रटनेसे क्या लाभ ? बात बिल्कुल ठीक है । संसारसमुद्रसे तारनेके लिये एक ही नाम काफ़ी है । परन्तु संतोंने इस मनको पारेसे भी चञ्चल बताया है—'यह मन पारदहूतें चंचल' इसे बाँध रखनेके लिये बार-बार नाम लेनेकी आवश्यकता है । बार-बार नामोच्चारण करनेसे जब यह स्थिर हो जायगा तब एक ही नाम हमारे लिये पर्याप्त होगा । जबतक यह स्थिर नहीं हो जाता तबतक बार-बार नाम लेना आवश्यक है । वेद, शास्त्र, सबने भगवान्‌के नामकी महिमा गायी है । शुक्ल यजुर्वेदका 'नमस्ते रुद्र मन्यव' यह सारा-का-सारा अध्याय नामकी महिमासे भरा है । पुराणोंमें तो स्थान-स्थानपर नामकी महिमाका उल्लेख मिलता है ।

मनुस्मृतिपर कुल्लूक भट्टकी टीका है । उसमें तपका स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—

ब्रह्मचर्यं जपो होमः काले शुद्धाल्पभोजनम् ।
अरागद्वेषलोभाश्च तप उक्तं स्वयम्भुवा ॥

अर्थात् ब्रह्मचर्य, जप, होम, समयपर शुद्ध एवं अल्प भोजन करना तथा राग, द्वेष एवं लोभसे रहित

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होना इसीको ब्रह्माजीने 'तप' कहा है। इसी तपका साधन करनेसे आपलोग नामकी महिमाको जान गये हैं।

भीष्म जब सब धर्मोंका उपदेश कर चुके तब युधिष्ठिरने उनसे प्रश्न किया—

युधिष्ठिरः शान्तनवं पुनरेवाभ्यभाषत।
को धर्मः सर्वधर्माणां भवतः परमो मतः।
किं जपन्मुच्यते जन्तुर्जन्मसंसारबन्धनात्॥

'सब धर्मोंमें श्रेष्ठ धर्म आपको कौन-सा जँचता है? जीव किस मन्त्रका जप करनेसे जन्म-मृत्युके बन्धनसे छूट जाता है?'

इसके उत्तरमें भीष्म बोले—

जगत्प्रभुं देवदेवमनन्तं पुरुषोत्तमम्।
स्तुवन्नामसहस्रेण पुरुषः सततोत्थितः॥
तमेव चार्चयन्नित्यं भक्त्या पुरुषमव्ययम्।
ध्यायन् स्तुवन्नमस्यंश्च यजमानस्तमेव च॥
अनादिनिधनं देवं सर्वलोकमहेश्वरम्।
लोकाध्यक्षं स्तुवन्नित्यं सर्वदुःखातिगो भवेत्॥
ब्रह्मण्यं सर्वधर्मज्ञं लोकानां कीर्तिवर्धनम्।
लोकनाथं महद्भूतं सर्वभूतभवोद्भवम्॥
एष मे सर्वधर्माणां धर्मोऽधिकतमो मतः।
यद्भक्त्या पुण्डरीकाक्षं स्तवैरर्चेन्नरः सदा॥

'मनुष्यको चाहिये कि वह निरन्तर सावधान रहकर संसारके स्वामी, देवाधिदेव, अनन्त पुरुषोत्तम भगवान्‌की सहस्रनामके द्वारा स्तुति करे, उन्हीं अव्यय पुरुषका भक्तिपूर्वक नित्य अर्चन करे; उन्हींका ध्यान, उन्हींका स्तवन, उन्हींको नमस्कार एवं उन्हींकी पूजा करे। उन आदि-अन्तसे रहित, समस्त लोकोंके महेश्वर, जगत्‌के अधिनायक, ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेवाले, सारे धर्मोंको जाननेवाले, सारे लोकोंकी कीर्तिको बढ़ानेवाले, लोकनाथ, महद्भूत तथा समस्त भूतोंकी उत्पत्तिके कारण भगवान् नारायणका नित्य स्तवन करनेसे मनुष्य समस्त दुःखोंसे तर जाता है। सारे धर्मोंमें श्रेष्ठ धर्म यही मान्य है कि मनुष्य भक्तिपूर्वक सदा कमलनयन भगवान्‌का स्तुतियोंद्वारा पूजन करे।'

यहाँ यह प्रश्न होता है कि जिनकी स्तुति ऊपर विधान किया गया है वे भगवान् कैसे हैं। इस शंकाके उत्तरमें भीष्मपितामह कहते हैं—

परमं यो महत्तेजः परमं यो महत्तपः।
परमं यो महद्ब्रह्म परमं यः परायणम्॥
पवित्राणां पवित्रं यो मङ्गलानाञ्च मङ्गलम्।
दैवतं देवतानाञ्च भूतानां योऽव्ययः पिता॥

'वे भगवान् परम महान् तेज हैं, परम महान् हैं, परम महान् ब्रह्म हैं, सबसे श्रेष्ठ गति हैं, पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाले हैं, मङ्गलोंके भी मङ्गल हैं, देवताओंके भी देवता हैं और भूत प्राणियोंके अविनाशी पिता हैं।'

ऊपरके वर्णनसे हम भगवन्नामकी महिमाको कुछ-कुछ समझ सकते हैं। जो भगवान् ऐसे हैं उनका नाम कितना महान् होगा इसका हम कुछ-कुछ अंदाजा लगा सकते हैं। और धर्मवाले भी भगवान्‌के नामको जपते हैं। मुसलमान तथा ईसाई भी नामका आदर करते हैं। मुसलमानोंके ९९ मन्त्रोंकी माला तो प्रसिद्ध ही है। परन्तु नामकी महिमा जैसी सनातन धर्मके ऋषियोंने समझी वैसी किसीने नहीं समझी। ऊपर विष्णुसहस्रनामका उल्लेख हम कर ही चुके हैं। महाभारतके उसी (अनुशासन) पर्वमें शिवसहस्रनाम भी है। नामके सम्बन्धमें हमलोगोंकी आदरबुद्धि वैदिक ऋषियों तथा पुराणोंके कालसे चली आती है। मध्ययुग तथा अर्वाचीन कालके संतोंने भी नामकी महिमा बहुत गायी है। गोस्वामी तुलसीदासजी नामकी महिमामें बहुत कुछ कह गये हैं। वे कहते हैं—

बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी साखि सुदास।
रामनाम बर बरन जुग सावन भादवँ मास॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन बिलोचन जन जिअ जोऊ॥
सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोकलाहु परलोक निबाहू॥

इसका स्मरण सबके लिये सुलभ एवं सबको सुख देनेवाला है। इससे संसारमें लाभ और परलोकका भी निबाह होता है। ऐसा मधुर यह राम-नाम है। गोसाईंजी महाराज फिर कहते हैं—

कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके। रामलषनसम प्रिय तुलसीके॥
बर नारायन सरिस सुभ्राता। जगपालक बिसेष जग त्राता॥
नाम सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा॥
राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥

.....

सबरी गीध सुसेवकन्हि सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल बेदबिदित गुनगाथ॥

गोसाईंजी रामसे भी नामको बड़ा मानते हैं। वे कहते हैं—रामने तो एक तपस्वीकी स्त्री अहल्याका ही उद्धार किया, किन्तु नामने तो करोड़ों खलोंकी कुमतिको सुधार दिया। श्रीरघुनाथजीने तो शबरी, गीध आदि सुसेवकोंको ही श्रेष्ठ गति दी; किन्तु नामने तो इतने खलोंका उद्धार किया जिनकी कोई गिनती ही नहीं है।

फिर कहते हैं—

नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचार सुजन मनमाहीं॥

.....

सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोहदल जीती॥

.....

ब्रह्म रामतें नाम बड़ बरदायक बरदानि।
रामचरित सतकोटि महँ लिअ महेस जिअँ जानि॥

इस प्रकार गोसाईंजीने युक्तियोंसे यह सिद्ध कर दिया कि नाम नामीसे भी बड़ा है। गोसाईंजी रामनामकी महिमाको कहते हुए अघाते नहीं। वे फिर कहते हैं—

नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू॥
ध्रुव सगलानि जपेउ हरिनाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ॥
नाम रामको कलपतरु कलि कल्याननिवास।
जो सुमिरत भयो भाँगतें तुलसी तुलसीदास॥

रामनाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकालु।
जापक जन प्रह्लाद जिमि पालिहि दलि सुरसालु॥
राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोहनिसा लवलेसा॥
सहज प्रकासरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिज्ञान बिहाना॥
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥
जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोइ दसरथसुत भगत हित कोसलपति भगवान॥

गुरु नानकने भी नामकी महिमामें बहुत कुछ कहा है। वे कहते हैं—

नानक राम नाम बिस्तारा कंचन भरा मनूरा।
कह नानक सोई नर सुखिया राम नाम गुन गावे।
और सकल जग माइया निरभय पद नहिं पावे॥
नाम न जपहु अभाग तुम्हारा जुग दाता प्रभु राम हमारा।

कबीरजी भी कहते हैं—

तजि अभिमान लेहु मन मोल। रामनाम हिरदै महँ तोल॥
अब कहु राम भरोसा तोरा। तब काहूका कौन निहोरा॥
कहै कबीर जो खोजहु जहाना। राम समान न देखहु आना॥
कोइ गावै कोई सुनै हरीनाम चितलाय।
कह कबीर संसय नहीं अंत परमगति पाय॥
राम जपहु जिय ऐसे ऐसे। ध्रुव प्रहलाद जपेउ जिअ जैसे॥
राम राम जपि निरमल भए। जनम जनमके किलिबिष गए॥

यहाँ यह प्रश्न होता है कि जिस रामनामकी इतनी महिमा शास्त्रों और संतोंने एक स्वरसे गायी है वह रामनाम किसका वाचक है। यह रामनाम दशरथनन्दन भगवान् श्रीरामचन्द्रका ही वाचक है, जो साक्षात् पूर्णब्रह्म परमात्मा थे। और जो त्रेतायुगमें इस धराधाममें अवतीर्ण हुए थे। 'राम' का अर्थ शास्त्रोंमें इस प्रकार भी किया गया है—

रमते सर्वभूतेषु स्थावरेषु चरेषु च।
अन्तरात्मस्वरूपेण यच्च रामेति कथ्यते॥

अर्थात् जो परमात्मा निराकाररूपसे स्थावर-जंगम सारे भूत प्राणियोंमें रमण कर रहा है वही राम है।

नामकी महिमा मैं आपको कहाँतक सुनाऊँ? अजामिलका आख्यान तो आपने कई बार सुना होगा।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वह महान् पापी था, उसने अपने छोटे पुत्रका नाम रख छोड़ा था नारायण। जब वह मरने लगा तब यमदूत आकर उसके सूक्ष्म शरीरको ले जाने लगे। उसने भयभीत होकर अपने छोटे पुत्रको पुकारा। अन्त समय उसके मुखसे पुत्रके बहाने भी नारायण नामका उच्चारण सुन वहाँ भगवान् श्रीविष्णुके दूत उपस्थित हो गये और उसके सूक्ष्म शरीरको यमदूतोंसे छीन लिया। यमदूत दौड़े हुए यमराजके पास पहुँचे और उनसे सारा वृत्तान्त कह सुनाया। इसपर यमराजने कहा कि 'भूलसे भी भगवान्का नाम लेनेवालेको हम नहीं पकड़ सकते।' क्योंकि 'यतस्तद्विषया मतिः।' जिस वस्तुका हम नाम लेते हैं उसीके आकारका हमारा मन हो जाता है, जब हम किसी बधिकका नाम लेते हैं तो हमारे सामने बधिकका चित्र खड़ा हो जाता है। सतीका नाम लेनेसे सतीका आदर्श हमारे ध्यानमें आ जाता है। साधुका नाम लेनेसे हमें साधुका ध्यान होता है। हलवाईका नाम लेनेसे हमें तुरन्त पूरी-कचौरीका खयाल हो जाता है। ज्योतिषीका नाम लेनेसे हमें पत्रा खोलकर फलादेश कहते हुए ज्योतिषीका ध्यान हो जाता है। इसी प्रकार परमात्माका नाम लेनेसे अन्य सब विषयोंसे हमारा ध्यान हट जायगा और हमारी परमात्मविषयक मति हो जायगी। 'शिव' 'शिव' कहते ही हमारे सामने मङ्गलका रूप खड़ा हो जाता है। 'शिव' का अर्थ है मङ्गल, आनन्दका बधावा। 'शिव' कहते ही हमारे मन आनन्दका बधावा बजने लगता है। 'ॐ नमः शिवाय' मन्त्रका उच्चारण करते ही शिवजीका मन्दिर ध्यानमें आ जाता है। मैं जब मृत्युञ्जय मन्त्रका जप करने लगता हूँ उस समय मेरा मन हठात् भगवान् विश्वनाथके दरबारमें पहुँच जाता है, शरीरसे अन्यत्र रहते हुए भी मैं अपनेको मनसे वहीं पाता हूँ। उस समय मुझे और कोई बात याद नहीं रहती। परमात्माका नाम लेनेसे हमें उस दीनोपकारी, सर्व व्यापक, त्रिकालसत्, जगत्की रचना पालन और संहार करनेवाले महान् तत्त्वका ध्यान हो आता है।

एक अनंत त्रिकाल सच, व्यापक शक्ति दिखाय।
सिरजत पालत हरत जग, महिमा बरनि न जाय॥

संसारभरको नियन्त्रणमें रखनेवाली एक महान् शक्ति है जो अनन्त है, तीनों कालोंमें सत्य है, सब जगह व्याप रही है। उसीने सबको बनाया है, वह सबका पालन करती है और वही सबका संहार करनेवाली है। उसीके बलसे सारे नक्षत्र घूम रहे हैं, उसीकी शक्तिसे संसारके सारे व्यवहार चलते हैं। वह थी भी, रहेगी भी और है भी। उसकी महिमाका वर्णन कौन कर सकता है? भगवान्का नाम लेनेसे हमें इस शक्तिका ध्यान आवेगा। फिर वह शक्ति कैसी है? 'पवित्राणां पवित्रम्' पवित्रोंको भी पवित्र करनेवाली है। उसके सामने किसी मलिन वस्तुका ध्यान ही नहीं आवेगा, क्योंकि वह पवित्रतम है। उसका नाम लिया नहीं कि मनका पाप भागा। जिस प्रकार लालटैन देखते ही चोर भाग जाते हैं उसी प्रकार भगवन्नामरूप दिव्य प्रकाशके सामने पापरूपी चोर ठहर नहीं सकते। अपने बापके सामने क्या कोई पाप कर सकता है? अपने पिताकी मौजूदगीका ध्यान आते ही मन पापसे हट जाता है। फिर भगवान् तो जगत्के पिता हैं, पिताओंके भी पिता हैं और वे सब जगह मौजूद हैं। उनका ध्यान होनेपर क्या पाप ठहर सकते हैं?

हमने प्रारम्भमें कहा था कि कुछ लोग यह शंका करते हैं कि भगवान्का नाम बार-बार लेनेसे क्या लाभ है? इसका उत्तर हम पहले दे चुके हैं। फिर भी इस सम्बन्धमें कुछ कहते हैं। बात यह है कि रात-दिनके २४ घंटोंमें हमारा जो कुछ है सब उन्हींकी कृपासे है। उनके बिना हमारा कुछ भी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नहीं है। गोसाईं तुलसीदासजीने 'विनयपत्रिका' में कहा है—

प्रभु तुम बहुत अनुग्रह कीन्हों।
साधन धाम बिबुध दुरलभ तनु मोहि कृपा करि दीन्हों॥
कोटिन मुख कहि जात न प्रभुके एक एक उपकार।
तदपि नाथ कछु और मांगिहौं दीजै परम उदार॥

तुलसीदासजी कहते हैं—'हे प्रभो! आपने इस दासपर बड़ा अनुग्रह किया जो इसे देवताओंको भी दुर्लभ, यह मनुष्यदेह दिया।' हमारे यदि करोड़ मुख हों तो भी हम भगवान्‌के उपकारोंका वर्णन नहीं कर सकते। फिर भी मनुष्य इतना मूर्ख है कि ऐसे परम दयालु प्रभुको भी वह छिनमात्र भी नहीं भजता। इस मनको साढ़े तेईस घंटे मनमानी तौरपर उछल-कूद करने दो, कम-से-कम आध घंटे तो इसे बाँधकर रक्खो। जिस समय तुम भगवान्‌के सहस्रनामका पाठ करोगे कम-से-कम उस समय तो तुम्हें और-और बातोंका ध्यान नहीं आवेगा, भगवान्‌का ही ध्यान आवेगा। तेज बुखारकी हालतमें जबतक हमारे सिरमें बर्फकी ठंडी पट्टी बँधी रहेगी तबतक हमें सुख और शान्ति मिलती रहेगी, ज्यों ही हमने उसपर बर्फ रखना छोड़ा कि फिर दाह शुरू हो जायगा। इसी प्रकार जितने क्षणोंतक हम भगवान्‌के मङ्गलमय नाम-की आवृत्ति करते रहेंगे तबतक हमें अपार शान्ति और आनन्द मिलता रहेगा और हमारा मन पाप और दोषों-से बचा रहेगा। इसलिये कम-से-कम दिनमें दो बार दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह मिनटतक भी यदि हम नाम-स्मरणका अभ्यास करेंगे तो उससे हमें मनको निगृहीत करनेमें बड़ी सहायता मिलेगी। मैं जिस समय विष्णु-सहस्रनामका पाठ करता हूँ उस समय मेरी वृत्तियाँ सब ओरसे खिंचकर भगवान्‌में लग जाती हैं। मनुष्य भगवान्‌के स्मरणमात्रसे निर्भय हो जाता है। सप्त-शतीमें कहा है—

दुर्गे स्मृता हरसि भीतिमशेषजन्तोः।

'दुर्गे! रक्षा करो।' यह कहते ही मनमें शक्ति आ जाती है, धर्ममें प्रवृत्ति होती है। इसलिये हम सबको चाहिये कि भगवान्‌के नामका नित्य नियम-पूर्वक जप करें।

जप किस प्रकार होना चाहिये, इसका आदर्श आपलोग संसारके सामने रख रहे हैं। ऐसा तुलसी-दासजी महाराजने कहा है—

पय अन्हाइ फल खाहिं जपु रामनाम षटमास।
सकल सुमंगल सिद्धि सब करतल तुलसीदास॥

आपलोग वही कर रहे हैं। राग-द्वेष-लोभको छोड़कर, जीभके चटोरेपनको त्यागकर तपस्या करनेसे और साथ-ही-साथ भगवान्‌के नामका जप करनेसे किस पापीका पाप नहीं छूटेगा और किस पुण्यात्माका पुण्य नहीं बढ़ेगा? अतः यथालाभ संतुष्ट रहकर साधकलोग फिर इस यज्ञमें शामिल हों, यही मेरी आकांक्षा है।

श्रीरामनाम

सुमिरु सनेहसों तू नाम रामरायको।
संबल निसंबलको, सखा असहायको॥
भाग है अभागेहूको, गुन गुनहीनको।
गाहक गरीबको, दयालु दानि दीनको॥

—तुलसीदासजी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आज्ञापालन और प्रणाम

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके व्याख्यानका एक अंश)

समझमें नहीं आता कि अच्छे पुरुष मान-बड़ाई और पूजा-प्रतिष्ठाको क्यों स्वीकार कर लेते हैं। युक्तियोंसे बात उचित नहीं जँचती। उच्च श्रेणीके पुरुषोंको इनकी आवश्यकता ही क्या है? यह सत्य है कि उत्तम पुरुषके दर्शन, स्पर्श और उनके साथ भाषणसे ही लाभ है; वे जिस वस्तुको देख लेते हैं, स्पर्श कर लेते हैं वह वस्तु बड़े ही महत्त्वकी हो जाती है। उसको सभी काममें लाना चाहते हैं। इस दृष्टिसे किसी महापुरुषके द्वारा देखी हुई, चिन्तन की हुई और उनके चरणोंसे स्पर्श की हुई धूलि बड़े ही महत्त्वकी है, परन्तु यदि वे उस धूलिको सिर चढ़ानेका निषेध करें तो उस अवस्थामें उनकी आज्ञा-को अधिक महत्त्व देना चाहिये। आज्ञा मानकर चरण-धूलि सिर न चढ़ानेसे यही तो हुआ कि उससे जो लाभ होता सो नहीं होगा। परन्तु यह याद रखना चाहिये कि उनकी आज्ञा-पालनसे होनेवाला लाभ बहुत ही अधिक है। यदि महापुरुषने आज्ञा दे दी कि 'मुझको प्रणाम न किया करो।' तो उनकी आज्ञा-नुसार प्रणाम न करनेमें बहुत लाभ है। वास्तवमें प्रणाम करना तो छूटता नहीं। शरीरसे न होकर आत्मासे प्रणाम किया जाता है। फिर यह सोचना चाहिये कि एक वस्तुके ग्रहणमें जब इतना महत्त्व है तो उसके त्यागमें कितना अधिक महत्त्व होगा। विचार करना चाहिये कि एक जगह सोना पड़ा है, रत्न पड़े हैं, वे सब बहुमूल्य हैं, इस बातको जानकर भी एक आदमी उन सोने-रत्नोंको त्याग देता है, और दूसरा उनको उठा लेता है। कीमत दोनों ही समझते हैं। अब बताइये, इन दोनोंमें कौन-सा पुरुष उच्च श्रेणीका है? स्वर्ण और रत्न इकट्ठा करनेवाला और या उनका त्यागी? फिर महापुरुषकी चरण-धूलि उनकी आज्ञासे छोड़ी जा रही है। इससे उसमें और भी परम लाभकी सम्भावना है।

जो पुरुष यह समझते हैं, मेरी चरण-धूलि मनुष्य पवित्र हो जायँगे, इसलिये उन्हें चरण-धू लेने दिया जाय। वह तो स्वयं अन्धकारमें ही है उनसे दूसरोंका क्या उद्धार होगा? परन्तु जो वास्तवि महापुरुष दिलसे ऐसा नहीं चाहते कि कोई हमारी चर धूलि ले, तो उनकी आज्ञा माननी चाहिये। उन प्रसन्नताके लिये चरण-धूलिसे होनेवाले लाभकी बात ही क्या है, मुक्तितकका त्याग कर देना चाहिये

माता-पिताके अनन्य सेवक भक्त पुण्डलीक मातृ-पितृ-भक्तिसे प्रसन्न होकर जब भगवान् आ उस समय उनके माता-पिता उनकी दो जंघाओंपर सिर टेककर सो रहे थे। मातृ-पितृ-भ पुण्डलीकने भगवान्‌से प्रार्थना की कि 'भगवन्! इ समय मेरे माता-पिता आरामसे सो रहे हैं, इन आराममें विघ्न उपस्थित करके मैं आपकी सेवा नहीं कर सकता। यदि आप न ठहरना चाहें तो अ वापस जा सकते हैं। जिन माता-पिताकी सेवाके प्रभावसे आप पधारे, उसके महत्त्वसे आप फिर भी मुझे दर्शन देनेको पधार सकते हैं।' पुण्डलीकक बात सुनकर उसकी अनन्य निष्ठासे भगवान्‌को बड़ी प्रसन्नता हुई। यहाँपर यह विचार करना चाहिये कि हमलोग अधिक-से-अधिक लाभ मुक्तिको समझते हैं, वह मुक्ति जिन महापुरुषके द्वारा प्राप्त होती है, वही महापुरुष यदि मुक्तिका त्याग करनेके लिये कहें तो हमें यह क्यों चिन्ता होनी चाहिये कि हमारी मुक्ति कहीं चली गयी। उसे तो वे जब चाहें

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तभी प्राप्त करा सकते हैं।

प्रणाम करनेके समय यदि कोई महापुरुष निषेध करें तो उस समय तो शायद मनमें कुछ नाराजी हो परन्तु हृदयपर एक बहुत अच्छा असर होगा। उन्होंने प्रणाम करनेका निषेध किया, इससे आपकी मानसिक इच्छा तो कम हुई ही नहीं, केवल सिर झुकाने-से आप रुके। सिर तो मनुष्य श्रद्धा न होनेपर भी जहाँ-तहाँ झुका देता है; फिर उनकी आज्ञा माननेमें बात ही कौन-सी है? कौन-सी ऐसी महत्त्वकी बात थी जिससे हमें वञ्चित होना पड़ा?

उत्तम पुरुष कहते हैं कि मान-बड़ाई, पूजा-प्रतिष्ठा बुरी चीज है, फिर उनको वे स्वयं कैसे स्वीकार कर सकते हैं। स्वयं स्वीकार करें और केवल दूसरोंको निषेध करें, ऐसे लोगोंका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यदि महात्मा लोग हृदयसे प्रणाम कराना चाहते हैं तो करनेमें आपत्ति नहीं, परन्तु यदि वे नहीं चाहते, निषेध करते हैं तो उस निषेधाज्ञाको टालना पाप ही है। अवश्य ही उनकी दयालुताके प्रभावसे पाप नहीं होता। अतएव उनकी आज्ञा ही माननी चाहिये। महात्मा पुरुषोंकी इच्छानुसार चलनेमें ही लाभ है!

पञ्च-सकार

उदरके समस्त दूषित मलको निकालनेके लिये वैद्यलोग एक पञ्चसकार चूर्णका प्रयोग किया करते हैं। जिसके सेवनसे उदर निर्विकार हो जाता है। सारी व्याधियोंकी जड़ उदरविकार ही है। जहाँ उदरविकार नष्ट हुआ, वहीं तमाम रोगोंकी जड़ कट गयी। इसी प्रकार समस्त भवव्याधिका समूल नाश करनेवाला एक पञ्चसकारका रामबाण नुस्ख़ा है। इसमें भी पाँच चीजें हैं और पाँचों ही एक-से-एक बढ़कर लाभ देनेवाली हैं। इनमेंसे किसी एकका अलग सेवन करनेसे भी सब विकार नष्ट हो जाते हैं। जो पुरुष पाँचोंका सेवन करते हैं उनके लिये तो कहना ही क्या है। ये पाँच सकार हैं—**सहिष्णुता, सेवा, सम्मानदान, स्वार्थत्याग और समता।**

अब इनमेंसे एक-एकपर विचार किया जाता है।

सहिष्णुता

सहिष्णुताका अर्थ है तितिक्षा या सहनशीलता। सहनशीलताके मुख्य चार अंग हैं—१ द्वन्द्व-सहिष्णुता, २ वेगसहिष्णुता, ३ परोत्कर्षसहिष्णुता और ४ पर-मत-सहिष्णुता। अब इनपर क्रमसे कुछ विचार कीजिये।

द्वन्द्वसहिष्णुता

सुख-दुःख, हानि-लाभ, जय-पराजय, मान-अपमान, शीत-उष्ण आदि परस्परविरोधी द्वन्द्वोंमें हर्ष और विषाद न होकर चित्तका सर्वथा निर्विकार रहना द्वन्द्वसहिष्णुता है। इस द्वन्द्वसहिष्णुताका फल अमृतत्व या मोक्षकी प्राप्ति है। भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥
(गीता २। १४-१५)

'हे अर्जुन! शीत-उष्ण और सुख-दुःख देनेवाले ये इन्द्रिय और विषयोंके संयोग क्षणभंगुर और अनित्य हैं। हे भारत! तू इनको सहन कर। हे पुरुषश्रेष्ठ! सुख-दुःखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ये द्वन्द्व व्याकुल नहीं कर सकते वह मोक्ष-प्राप्तिके योग्य हो जाता है।'

अब यह प्रश्न होता है कि यह द्वन्द्वसहिष्णुता प्राप्त कैसे हो? इसका पहला साधन तो यह विचार है कि सांसारिक हानि-लाभ, सुख-दुःख जो कुछ भी होता है, सब हमारे पूर्वकृत कर्मका फल है और कर्मफल भोग करना ही पड़ता है। सञ्चित और क्रियमाणका तो नाश भी हो जाता है परन्तु प्रारब्धका नाश स्वरूपसे नहीं हो सकता। अवश्य ही ज्ञानी पुरुषमें कर्ता और भोक्तापनका अहंकार न होनेसे प्रारब्ध-कर्मके अनुसार फल होनेपर भी उनपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। तथापि स्वरूपसे प्रारब्धका नाश नहीं होता। नियन्ता भगवान्‌के द्वारा फल देनेके लिये नियत किये हुए कर्मोंका फल, जिनसे जन्म हुआ है, मृत्युकालतक विधिवत् भोग करना ही पड़ेगा। प्रारब्धभोगसे हमारे कर्म क्षय होते हैं, और जितना ही कर्मोंका जंजाल कटता है उतना ही हम परमात्माके समीप पहुँचते हैं। कम-से-कम कर्मोंका एक बड़ा भारी ऋण सिरसे उतर ही जाता है। अतएव इनको आनन्दपूर्वक सहन करना चाहिये।

एक बात यह याद रखनेकी है कि सुखकी प्राप्तिमें हर्ष होना और दुःखमें विषादसे जलना दोनों ही असहिष्णुताके दो प्रकार हैं। कई लोग इस असहिष्णुता-मूलक सुखको ही आनन्द मानते हैं परन्तु यह उनकी भूल है। तत्त्वज्ञ पुरुषोंने सहिष्णुतामूलक सुख और दुःख दोनोंको ही परिणाममें दुःखरूप होनेसे दुःख ही बतलाया है अतएव सुख-दुःख दोनोंमें ही सहिष्णुता होनी चाहिये। दोनोंमें ही विकारहीन स्थिति होनी चाहिये।

द्वन्द्वसहिष्णुताका दूसरा साधन है,—सुख-दुःखादि-के स्वरूपका ज्ञान। विचार करनेपर पता लगता है सुख-दुःखादि वास्तवमें किसी वस्तुमें नहीं हैं, इनका स्रोत हमारे मनमें ही है। जहाँ प्रतिकूलता अभावका अनुभव है वहीं दुःख है; और अनुकूलता या अभावका अनुभव नहीं है वहीं है। अनुकूलता और प्रतिकूलताका आधार है-और द्वेष। जिस वस्तुमें राग है उस वस्तुकी प्राप्ति और जिस वस्तुमें द्वेष है उसके विनाश या अभा हमें अनुकूलता भासती है। इसी प्रकार द्वेषव वस्तुकी प्राप्तिमें और रागवाली वस्तुके विनाश अभावमें प्रतिकूलता प्रतीत होती है। राग और सदा सब वस्तुओंमें एक-से नहीं रहते। अत अनुकूलता-प्रतिकूलता भी एक-सी नहीं रहती। एक मनुष्यमें किसी स्वार्थके सम्बन्धसे राग है, उसका मिलन अनुकूल, और विछोह प्रतिकूल प्र होता है। सम्भव है कि कल स्वार्थमें कोई उपस्थित होनेपर उसमें द्वेष हो जाय, तब उस मिलन प्रतिकूल और विछोह अनुकूल प्रतीत हो वरं कहीं-कहीं तो उसकी मृत्युतकमें अनुकूलता प्र होगी। जहाँ प्रतिकूलता है वहीं अनुकूलताका अ है, और इस अनुकूलताके अभावका चित्तमें जो अनुभव होता है वह बड़ा ही उद्वेगकारी और ज उत्पन्न करनेवाला होता है, इस उद्वेग और तापसे अनुभवका नाम ही दुःख है। परन्तु सोचनेपर यह प्रत्यक्ष हो जाती है कि हमारी कल्पित अनुकूलता-प्रति कूलता ही इस प्रकारके सुख-दुःखमें कारण है। इस अनुकूलता-प्रतिकूलताका आधार राग-द्वेष राग-द्वेषकी उत्पत्ति अज्ञानजनित अहंकारसे या अज्ञान होती है। विवेकसे—विचारसे इस अज्ञानका पर्दा डालनेपर राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं। जहाँ राग-द्वे निकले वहीं सुख-दुःखका स्रोत अपने-आप ही सू जाता है। फिर किसी भी स्थितिमें न सुख होता न दुःख। फिर सुख-दुःख-रहित आनन्दमें ही भोग भोगे जाते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तीसरा साधन है—यह विचार करना कि 'कर्मफल-भोगका जो कुछ विधान हुआ है, उसके कर्त्ता हमारे परम सुहृद्, परमप्रियतम मंगलमय भगवान् हैं। उनका किया हुआ कोई भी विधान हमारे अमङ्गलके लिये नहीं हो सकता। मङ्गलमयमें अमङ्गलको स्थान ही नहीं है। फिर वह तो हमारे परम आत्मीय हैं, उनके द्वारा तो हमारा अमङ्गल सर्वथा असम्भव है। हमने अमङ्गलका आश्रय ले रक्खा है, इसीसे उनके सुहृद् स्वरूपको नहीं समझते और इसीसे उनके विधानमें हमें हर्ष-शोक होता है। हमारा उनमें प्रेम नहीं है, इसी-से उन प्रियतमके किये हुए मङ्गल-विधानमें अमङ्गल देखकर हम मन मैला करते हैं। सुख-दुःखकी यह उनकी लीला है। हमारे मङ्गलके लिये अनादिकालसे यह अनवरत चल रही है और चलती रहेगी। इस लीलाका कभी विराम नहीं हुआ। हमें उचित है कि हम उन परम सुहृद्के प्रत्येक विधानको मङ्गलपूर्ण समझकर सिर झुकाकर आदरके साथ ग्रहण करें। उन परम प्रियतमके प्रत्येक विधानमें पीछे उनका मङ्गलमय कोमल वरद हाथ देखकर हमें आनन्दसे नाच उठना चाहिये। उन प्रियतमका कितना प्रेम है हमारे प्रति, कि वह सर्वलोकमहेश्वर होकर भी हम-जैसे क्षुद्रोंके लिये नित्य मङ्गलविधान करनेमें ही लगे रहते हैं। कभी स्नेहमयी जननीकी भाँति गोदमें खिलाते हैं, तो कभी परमहितैषी विशेषज्ञ डाक्टरकी भाँति हमारे सड़े अंगको चीरकर उसमेंसे जहरीला मवाद निकाल डालते हैं।' यही तो सुख-दुःखका स्वरूप है। जो लोग असहिष्णुतामूलक सुखकी स्थितिमें—धन, पुत्र, परिवार, स्वास्थ्य, ऐश्वर्य, यश, मान आदि लौकिक वस्तुओंकी प्रचुर प्राप्तिमें भगवान्-की दया मानते हैं और इनके विनाश या अभावमें भगवान्का कोप मानते हैं, वे भगवान्की दयाका रहस्य ही नहीं समझते। निश्चय रखिये कि जिसमें हमारा मङ्गल होगा—कल्याण होगा, मङ्गलमय वही करेंगे, क्योंकि वे हमारे परम सुहृद् हैं। हम नहीं समझते, हमारा कल्याण किस बातमें है, वे समझते हैं, क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं। अतएव उनके प्रत्येक विधानको हमें सर्वथा सम्मानपूर्वक सिर चढ़ाना चाहिये।

और बड़े महत्त्वकी एवं असली बात तो यह है कि विधान और विधाता अलग-अलग हैं ही नहीं! सब कुछ वही हैं। सुखमय सृजन और भयंकर संहार दोनों उन्हीं आनन्दमय प्राणारामके दो आनन्दमय स्वरूप हैं, वे कभी भयानक भूकम्प और कराल काल-के रूपमें प्रकट होते हैं, तो कभी शान्त सुखसाम्राज्य और सुशीतल विकासके वेषमें सामने आते हैं। यह उन रसिकशेखरकी रसिकता है। जो उन्हें एक बार पहचान लेता है वह फिर न तो उनके किसी सौम्य रूपको देखकर चकित होता है और न भयानक रूपसे डरता ही है। वह सबमें सब समय सर्वत्र उन आनन्दमयको देखकर, सबमें उनका कोमल मधुर स्पर्श पाकर नित्य दिव्यानन्दमें डूबा रहता है। यह आनन्द असहिष्णुतामूलक हर्ष नहीं है। विषयोंमें तो यह आनन्द है ही नहीं, उनमें तो दुःखका प्रतिद्वन्द्वी सुख है। इस आनन्दका दर्शन तो उन्हींको होता है जो विषयों-के जगत्से—जड जगत्से ऊपर उठकर आत्माके—चेतनके जगत्में चले जाते हैं। यह द्वन्द्वातीत आनन्द उन्हींको प्राप्त होता है जो असहिष्णुतामूलक हर्षशोक-की परिधिको लाँघकर दिव्य आनन्दके साम्राज्यमें प्रवेश करते हैं। क्योंकि वे फिर एक प्रियतम भगवान्को छोड़कर और किसीको देखते ही नहीं।

भगवान्ने स्वयं कहा है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥

(गीता ६। ३०)

'जो मनुष्य सर्वत्र मुझको देखता है और सबको

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मुझमें देखता है, उससे मैं कभी अदृश्य नहीं होता और वह मुझसे कभी अदृश्य नहीं होता।'

ऐसे भक्त प्रत्येक सुख-दुःखके रूपमें सर्वथा सर्वदा और सर्वत्र प्राणाराम प्रियतम भगवान्‌के कोमल अरुण चरणोंके दर्शनकर उनका स्वागत करते हैं, उनका आलिङ्गन करते हैं, उनको चूमते हैं। न सुखमें भूलते हैं और न दुःखमें रोते हैं, वे नित्य-निरन्तर आनन्दमय ही हुए रहते हैं। यही द्वन्द्वसहिष्णुताका सर्वोत्तम स्वरूप है।

द्वन्द्व-असहिष्णुता ही दुःख है और इस दुःखको हमने जोरसे पकड़ रक्खा है। यदि हम प्रत्येक द्वन्द्वमें आनन्दकी कल्पना करें, तो उस कल्पनासे ही हमारा दुःख बहुत कुछ कम हो जायगा। वास्तवमें सब भगवान् होनेके कारण प्रत्येक द्वन्द्व आनन्दरूप है ही। हमें निरन्तर उस अपार अगाध आनन्दाम्बुधिमें डूबे रहना चाहिये। यह याद रखना चाहिये, हम आनन्दसे ही उत्पन्न हैं, आनन्दमें ही रहते हैं, आनन्दमें ही हमारा अवसान है। महान् आनन्दसे नित्य परिपूर्ण हैं, आनन्दस्वरूप ही हैं। तो फिर किसी भी अवस्थामें—भयानक मृत्युमें भी हमें आनन्दके ही आनन्दमय दर्शन होंगे। द्वन्द्वजनित सुख-दुःखरूपी 'दुःख' सदाके लिये नष्ट हो जायगा।

वेगसहिष्णुता

अज्ञान और अहङ्कारके कारण मनमें उठनेवाले काम, क्रोध, लोभ, अभिमान, वैर, हिंसा, प्रमाद आदि दुष्ट भावोंके वेगको रोक लेना और इनके वशमें न होना वेगसहिष्णुता है। विषयासक्तिके कारण समय-समयपर इनका वेग बरसातकी मौसिममें बढ़ी हुई पहाड़ी नदियोंके प्रवाहके समान बहुत ही प्रबल होता है। मनुष्यको बरबस बहा ले जाता है। परन्तु विचारपूर्वक धैर्यके साथ इनके वेगको सहना चाहिये। क्योंकि सहनेमें ही कल्याण है। और श्रीभगवान्‌के कृपा-बलका अवलम्बन करनेपर ऐसा होना कोई बात नहीं है। श्रीभगवान्‌ने सारे पापोंकी उत्पत्ति काम, क्रोध आदिसे ही बतलायी है और इन्हें नरक द्वार कहकर इनसे बचनेकी आज्ञा दी है—

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(गीता १६। २१)

'काम, क्रोध और लोभ ये तीन प्रकारके नरक दरवाजे हैं। ये आत्माका पतन करनेवाले हैं अतः इन तीनोंका त्याग करना चाहिये।' भगवान्‌ने इन वेगको रोक रखनेवाले पुरुषोंको ही युक्त और सु बतलाया है।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥
(गीता ५। २३)

'जो मनुष्य शरीरसे निकलनेके पहले ही काम-क्रोधसे उत्पन्न वेगको सह सकता है (रो सकता है) लोकमें वही युक्त है और वही सुखी है इन वेगोंको न सहकर इनके प्रवाहमें बह जाने कितने-कितने भारी अनर्थ और अपराध हो जाते हैं किस प्रकार अनन्त काल और अनन्त योनियोंके लि दुःखभोगकी कारणरूपा दुष्कर्मराशिका मनुष्य संग्र कर लेता है, इसपर धीरतापूर्वक विचार करते कलेजा काँप उठता है। इन वेगोंको सहनेका उपा है—भोगोंमें वैराग्य और भगवान्‌में अनुराग। भोगों विराग हुए बिना भगवान्‌में अनुराग नहीं होता, औ भगवान्‌में अनुराग होनेपर भोगोंमें राग रह नहीं सकता। जिसने उस पूर्णकाम प्राणाराम सौन्दर्य माधुर्य और ऐश्वर्यकी निधि भगवान्‌का स्वप्नमें विचारसे भी दर्शन प्राप्त कर लिया, वह फिर किस सुखका कामी होगा? वह तो सदाके लिये अपने सर्वस्व उस अखिल सौन्दर्यसारसागर, दिव्यातिदिव्य

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

माधुर्यनिधि प्राणप्रियतम हृदयबन्धुके चरणोंमें समर्पण कर देता है। जब कोई दूसरा ही नहीं रहता तब दूसरे किसीके लिये उसमें कामकी वासना ही कैसे रह सकती है। जब अखिल विश्व उसे विश्वात्मासे परिपूर्ण दीखता है, जब विश्वरूपमें वही प्रकट दीखता है, तब कोई किसपर किस प्रकार क्रोध कर सकता है?

उमा जे रामचरनरत, बिगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, कासन करहिं बिरोध॥

ज्ञानी मुनिगण सदा-सर्वदा जिनके चरणरजके लोभी रहते हैं, उन अखिल ऐश्वर्यसागर भगवान्‌में जब अनुराग हो जाता है तब फिर अन्य किस लोभनीय वस्तुके लिये लोभ रह सकता है? मतलब यह कि भगवान्‌में अनुराग होनेपर सबसे विराग अपने-आप ही हो जाता है। अनुराग पूर्ण होनेके पूर्व ही भगवान्‌के प्रेम, महत्त्व, तत्त्व और शुद्ध सत्त्वकी बातें ही श्रद्धापूर्वक सुननेपर चित्त उनमें अनुरक्त होने लगता है। श्रीमुकुन्द-पदारविन्द-मकरन्द-मधुकर विषय-चम्पक-चञ्चरीक होता ही है। अर्थात् भगवान्‌के चरणकमलोंकी परागका पान करनेवाला भ्रमर विषयरूपी चम्पाके फूलपर क्यों जाने लगा? परन्तु भगवान्‌में अनुराग जबतक न हो, जबतक उस रूपमाधुरीका उन्मादकारी स्वाद न प्राप्त हो तबतक विषयोंमें दुःखदोष देखकर और भगवान्‌में अपार सुख समझकर विषयोंसे चित्त हटाने और भगवान्‌में लगानेका साधन करना पड़ेगा। यही 'वैराग्य' और 'अभ्यास' है। विषयोंसे चित्त हटानेका साधन किये बिना भगवान्‌की ओर मन लगानेका अभ्यास सहज ही नहीं होता अतएव दोनों कार्य साथ-साथ चलने चाहिये। फिर ज्यों-ज्यों विषयोंमें विराग और भगवान्‌में अनुरागकी वृद्धि होगी त्यों-ही-त्यों वेगसहिष्णुता अपने-आप ही आती चली जायगी।

परोत्कर्षसहिष्णुता

दूसरेकी उन्नति, श्री, शक्ति आदिको देखकर चित्तमें जलन न होकर प्रसन्नता होना परोत्कर्षसहिष्णुता है। यह सहिष्णुता स्वार्थ और ममत्वके विस्तारके अनुसार व्यक्ति, समाज, सम्प्रदाय, देश और भूखण्ड-व्यापिनी हो सकती है। दूसरे भाईकी, दूसरे समाजकी, दूसरे सम्प्रदायकी, दूसरे देशकी या दूसरे लोककी उन्नति देखकर अपनी उन्नतिके लिये सात्त्विक उत्साह उत्पन्न होना बुरा नहीं है वरं वह तो अवश्य होना चाहिये। जीवनका वह एक प्रधान चिह्न है। परन्तु ऐसा न होकर चित्तमें जलना, दूसरेकी अवनति या विनाशकी कामना करना, और इस उद्देश्यसे चेष्टा या क्रिया करना निश्चय ही बड़ा दोष है। अज्ञानवश क्षुद्र अहङ्कारकी सीमामें कैद रहनेके कारण ही ऐसा होता है। संसारमें वस्तुतः अपना-पराया कुछ भी नहीं है। सब कुछ भगवान्‌का है। हम तो महामाया-महेश्वर लीलामय भगवान्‌के इस नाट्य-मञ्चपर अभिनय करनेवाले अभिनेता मात्र हैं। अपना-अपना पार्ट सावधानी और सुन्दरताके साथ पूरा करना हमारा कर्तव्य है। अपना-पराया मानकर दुखी-सुखी होना नहीं। यह अपना-परायापन प्रकृतिके स्टेजपर—नाट्य-मञ्चपर ही है। वस्तुतः आत्मामें कुछ भी अपना-परायापना नहीं है। वह सबमें एक है। एक ही भगवान्‌का सर्वत्र विकास है, वही स्वयं विभिन्न रूपोंमें लीला कर रहे हैं। हमें उन लीलाविहारीकी लीला देख-देखकर आनन्दमग्न होना चाहिये।

ऋतुओंके अनुसार ही भिन्न-भिन्न वृक्ष फूलते-फलते हैं। बारहों महीने सब समानरूपसे फले-फूलें तो इस विचित्र पुष्पोद्यानका सौन्दर्य ही नष्ट हो जाय। आज एककी मौसिम है, वह फूलता-फलता है तो दूसरा उसे देखकर जले क्यों? उसे इस आशासे प्रसन्न होना चाहिये कि इसीकी भाँति मेरा मौसिम आनेपर मैं भी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

फलूँ-फूलूँगा। और इस सुख-स्मृतिमें कारण उस आजके, फूले-फले वृक्षको मानकर उसके प्रति और भी प्रेम होना चाहिये।

एक व्यापारी-फार्मकी बीसों स्थानोंमें शाखाएँ हैं, फर्मका मालिक आवश्यकतानुसार कहीं रुपये भेजता है और कहींसे वापस मँगवा लेता है। जिस शाखापर मालिक हुंडी कर लेता है उस शाखाका मैनेजर रोने क्यों बैठे? उसका कर्तव्य तो मालिकका काम सुचारुरूपसे करना है, चाहे मालिक हुंडी करे या हुंडी भेजे। उसका काम तो यही है कि उसके किसी काममें त्रुटि न हो। और वह मालिककी किसी चीजपर अपना स्वामित्व न माने। त्रुटि करना नमक-हरामी है और मालिककी चीजपर अपना स्वामित्व मानना बेईमानी है। चतुर और ईमानदार मैनेजरकी भाँति अपने हिस्सेका कर्तव्य पालन करना ही कर्तव्य है। मालिकके विधानपर नाराज होकर हमें उनकी दूसरी उन्नत शाखासे द्वेष न करना चाहिये। किसी भी शाखासे द्वेष करना मालिकसे ही द्वेष करना है। क्योंकि वह मालिककी ही है। उसकी हानि मालिककी हानि है और लाभ मालिकका लाभ है। अतएव ईमानदार और श्रेष्ठ पुरुषका तो यही धर्म है कि वह मालिककी प्रत्येक शाखा-दूकानोंकी उन्नतिमें परम आनन्दित हो और यथासाध्य उनकी उन्नतिमें सच्चे दिलसे सहायता भी करे। हाँ, अपने हिस्सेकी शाखाकी भी इसी प्रकार उन्नति चाहे, उत्साहपूर्वक निर्दोष प्रयत्न करे, और इसके लिये मालिकसे कभी कह भी दे तो आपत्ति नहीं है। इसके विपरीत मालिककी दूसरी दूकानोंकी उन्नति देखकर जलना और उनका अनिष्ट चाहना तो स्वामीसे ही द्रोह करना और उन्हींका अनिष्ट चाहना है। इसी प्रकार यह विश्व उस विश्वनाथ परमात्माकी दूकानोंसे भरा देश है। प्रत्येक व्यक्ति, परिवार, समाज, देश और लोक उसीकी एक-एक दूकान है। और हम सभी उसके सेवक हैं। हमारा कर्तव्य परस्पर सबकी उन्नति चाहना और प्रत्येककी उन्नतिमें प्रसन्न होना ही है। प्रत्येककी उन्नति हमारी ही उन्नति है क्योंकि हम सभी उस एक ही प्रभुके सेवक हैं। परन्तु यह चाहता है कि मैं, मेरा समाज, मेरा सम्प्रदाय, मेरी जाति, मेरा देश और मेरा लोक उन्नत हो, और दूसरोंकी अवनति हो जाय, वे गिर जायँ। अर्थात् जो दूसरोंकी उन्नति देखकर जलता है, और उन्हें गिराकर अपनी उन्नति चाहता है वह यथार्थमें कभी उन्नत और सुखी नहीं हो सकता। वह तो स्वार्थका कोपभाजन होकर दुखी ही होता है अतएव कुछ भगवान्‌का मान-जानकर सबकी उन्नतिमें अपनी उन्नति मानना चाहिये और भगवान्‌से निम्न प्रार्थना करनी चाहिये—

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥

'हे भगवन्! सब सुखी हों, सब (तनमनसे) नीरोग हों, सब कल्याणका साक्षात्कार करें। दुःखका अंश किसीको भी प्राप्त न हो।'

पर-मत-सहिष्णुता

अपने मतसे विरुद्ध मत रखनेवाले मनुष्य सम्प्रदायों या जातियोंसे कोई द्वेष न रखकर सबसे प्रेम रखना पर-मत-सहिष्णुता है। संसार प्रकृतिका कार्य है, प्रकृति विषम होकर ही जगत्‌को उत्पन्न करती है। इसीलिये जगत्‌में किसीकी भी आकृति, स्वभाव, रुचि सर्वथा एक-सी नहीं है। जिनको हम सब बातोंमें सोलहों आने एक-सा देखते हैं, उनमें भी कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य है। यही संसारका सौन्दर्य है। प्रकृतिके द्वारा वह अरूप ही अपने नाना रूपोंको विकसित कर नाना भावोंमें खेल रहा है। जो सबको सर्वथा एक-सा बना देने या देखनेका प्रयास करते हैं वे भूल करते हैं। सब एक-से कभी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

न हुए, न हो सकते हैं। परन्तु इन सबका जो आधार है, प्राण है, आत्मा है, सबमें समाया और छाया हुआ जो सब कुछ देखता-सुनता और सबके साथ मिलकर सदा खेलता है वह एक है। नाना रूपों और नाना भावोंमें जो उस नित्य सर्वगत, अपरिवर्तनशील, अविनाशी, अचल एक केवल परमात्मा-को देखता है वही यथार्थ देखता है। न तो प्रकृति-की विचित्रता कभी मिट सकती है और न यह एक ही अनेक हो सकता है। जगत्में रुचिवैचित्र्य रहेगा ही। जब हमें अपनी अलग रुचि रखनेका अधिकार है तब दूसरेको क्यों नहीं होना चाहिये। हम चाहते हैं, सब हमारे ही मतको मान लें, इसी प्रकार दूसरे भी तो चाह सकते हैं; हम अपने मतको सर्वोत्तम और कल्याणकारी समझते हैं, इसी प्रकार दूसरे भी समझते हैं; हम अपने इष्टके स्वरूपको सत्य समझते हैं, इसी प्रकार दूसरे भी समझ सकते हैं फिर झगड़ा क्यों? झगड़ा इसी-लिये होता है कि हम दूसरोंके मतको, सिद्धान्तको, उनके इष्टको सहन नहीं कर सकते। हम चाहते हैं कि सभी एक स्वरसे हमारी बात मान लें। इसीसे झगड़ा, मारपीट और खून-खराबी होती है। पर विचार करना चाहिये कि यदि हम यह मानते हैं कि हम जिन भगवान्-को मानते हैं, वे भगवान् हमारे ही हैं, दूसरोंके नहीं हैं तो हम अपने अविच्छिन्न और असीम भगवान्को बहुत ही सीमित और एकदेशवासी बना लेते हैं। इसलिये हमें यह मानना चाहिये कि हमारे ही भगवान्-को दूसरे लोग भिन्न-भिन्न नामों, रूपों और भावोंसे पूजते हैं। सत्य एक है, भगवान् एक हैं, उन्हीं एक-की अपनी-अपनी रुचिके अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकारसे पूजा होती है। हमारा ही राम कहीं विष्णुरूपसे, कहीं कृष्णरूपसे, कहीं देवीरूपसे, कहीं ब्रह्मके भावसे, कहीं खुदाके नामसे और कहीं परमपिताके नामसे पूजित होता है। हमारे ही कृष्णको कोई शिव कहते हैं, कोई ब्रह्मा कहते हैं, कोई इन्द्र कहते हैं, कोई सूर्य कहते हैं, कोई गणेश कहते हैं, कोई बुद्ध कहते हैं, कोई कर्म कहते हैं और कोई अटल नियम कहते हैं, मतलब यह कि दूसरा कोई महेश्वर है ही नहीं। हमारा वह प्यारा महेश्वर इतना महान् और इतना बहुरूपिया है कि नाना प्रकारके रूपोंमें सर्वत्र वही पूजित होता है। ऐसा मान लेनेपर कहीं कोई झगड़ा नहीं रहेगा। रामके उपासक देवीके उपासकको देखकर प्रसन्न होंगे, शिवके पूजक कृष्णके उपासकको देखकर फूले न समायेंगे, निर्गुणके उपासक सगुणको पूजामें आनन्दलाभ करेंगे और सगुणके उपासक अव्यक्त निर्गुणकी उपासनामें निरतिशय आनन्दलाभ करेंगे। सबमें उस एक बहुरूपियेको देख-देखकर उस प्राणाराम, प्रियतम, हृदयबन्धुकी माधुरी छबिको निरख-निरखकर सब सर्वदा प्रसन्न होंगे।

जिस प्रकार एक ही भगवान् अनेक रूपोंमें पूजित होते हैं, उसी प्रकार उनकी पूजाके भी अनेकों प्रकार होना उचित ही है। भगवान्ने स्वयं कहा है कि अपने-अपने कर्मोंद्वारा सबको हमारी पूजा करनी चाहिये। सबके कर्म एक-से कभी हो नहीं सकते, अतएव पूजाका प्रकार भी कभी एक नहीं हो सकता। हमें तो यह देख-देखकर प्रसन्न होना चाहिये कि वह रँगीला खिलाड़ी कितने नये-नये स्वाँग धारण करके कैसे नित्य नये अभिनय कर रहा है। और किस प्रकार हमारे भाई उसे भिन्न-भिन्न रूपोंमें पूजकर उसके महत्त्वको बढ़ा रहे हैं। हमारे प्रियतमके उपासक—भक्त-सेवक होनेसे सभी हमारे प्रिय हैं, सभी हमारे आत्मीय हैं, प्यारेके प्यारे होनेके नाते सभी हमारे प्राणोपम हैं। इस प्रकारके सत्य और शुद्ध विचारोंसे दूसरोंके मतोंको सहन करना चाहिये।

एक बात और है; हम यह भी नहीं कह सकते कि हमारा ही मत ठीक है, और सबके ठीक नहीं हैं। परन्तु इतना अवश्य ही उचित है कि हम जिस वस्तु-में सच्चे हृदयसे लाभ समझते हैं, हमारे निर्भ्रान्त अनुभवमें जो वस्तु—सिद्धान्त सबके लिये लाभकारी है, उसका हम दूसरोंमें प्रचार करें—उसके लाभ दूसरों-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

को प्रेमपूर्वक समझावें। ऐसा करना कर्तव्य ही है परन्तु जबरदस्ती नहीं होनी चाहिये। अपने मतके प्रचारका सुन्दर तरीका यह है कि हम दूसरेके मतका आदर करें, दूसरेके मतको सम्मानपूर्वक सुनें और उसमें जो-जो बातें हमें अच्छी मालूम हों, (यह याद रखना चाहिये कि अच्छी-बुरी बातें सभीमें होती हैं, जगत्‌में कोई भी सर्वथा दोषपूर्ण नहीं है, और कोई भी सर्वथा निर्दोष नहीं है। त्रिगुणमयी प्रकृतिसे निर्मित संसारमें न सर्वथा तमका अभाव है और न सत्त्वका।) उनकी प्रशंसा करें, उनका सच्चे हृदयसे सत्कार करें। और ग्रहण करने योग्यका ग्रहण भी करें। इस प्रकार करते रहनेसे दूसरा मत माननेवालेके मनमें हमारे प्रति यह विश्वास हो जायगा कि यह द्वेषी नहीं है, पक्षपाती नहीं है, सत्यका पुजारी है, सत्यका सेवक है; अवश्य ही उसके मनमें विश्वास पैदा करके उसे अपने मतमें लानेकी छलयुक्त भावनासे केवल बाह्यरूपसे ही उसके मतकी अच्छी बातोंका आदर-सत्कार या प्रशंसा नहीं करनी चाहिये। जो कुछ करे सच्चे हृदयसे। कपट होगा तो वह आगे चलकर खुल ही जायगा। अस्तु! सद्व्यवहारसे जब हमारी और उसकी मतभेद रहनेपर भी मैत्री हो जायगी तब वह हमारी भी सुनेगा। उस समय यथावसर नम्रता, विनय और प्रेमके साथ युक्तिपूर्ण शब्दोंमें, उसके मतका खण्डन करनेके भावसे नहीं, सिर्फ अपने मतके प्रतिपादनार्थ अपने निश्चित अनुभवयुक्त मतकी महत्ता, उसका मर्म उसके सामने रक्खे। परन्तु इस आग्रहसे नहीं कि वह हमारे मतको मान ही ले। सत्यका स्वरूपमात्र सामने रक्खा जाय। ऐसा होगा तो सत्य सिद्धान्तको किसीके लिये भी स्वीकार करना सहज हो जायगा। सत्य सिद्धान्तके स्वीकार न करनेमें प्रधान दो बाधाएँ हैं, एक दृष्टिभेद, दूसरा दुराग्रह। दृष्टिभेदको दूर करनेके लिये सिद्धान्तका युक्तिपूर्ण प्रतिपादन करना चाहिये परन्तु वह प्रतिपादन तभी सफल होगा, जब हमारे सत्य और प्रेमपूर्ण व्यवहारसे—हमारे मित्रतापूर्ण सदाचरणसे हम उसके मनमें अपना एक सुन्दर और सुदृढ़ स्थान बना लेंगे। दोनों हाथोंसे ताली बजती है, एकसे कदापि नहीं। इसी प्रकार दूसरेकी बात सुनने-सुनाने और आवश्यकतानुसार मानने मन पहले अपना बन जायगा, तभी हमारी बात उसे सुना सकेंगे। विरुद्ध मतवादीको देखते ही घृणा और द्वेष जाग उठता है, तिरस्कारकी तीव्र भावना पैदा हो जाती है, चेहरे और आँखोंमें रूखापन, परायापन, कड़ाई और द्वेषके विकार प्रकट हो जाते हैं वहाँ तो लड़ाई ही होती है।

हम यदि अपने मतका आदर चाहते हैं तो पहले दूसरोंके मतका आदर करना चाहिये। वस्तुतः सभी मत अधिकारिभेदसे आवश्यक होते हैं। बहुत बुरी नास्तिकता भी प्रायः ईश्वरके संकेतसे ही फैली है और वह भी, सत्यके साथ मिले हुए असत्यको ढूँढ़-ढूँढ़कर निकाल देती है और इस प्रकार 'सत्य' को और भी पवित्र रूपमें—उज्ज्वल रूपमें प्रकट करनेके कार्यमें सहायता करती है। अतएव अपने दुराग्रहरहित सत्य सिद्धान्तपर दृढ़तासे डटे रहते हुए दूसरेके सिद्धान्तका आदर करना चाहिये और उसमें भी भगवान्‌के रूपकी झाँकी कर, उसे भी लीलामय बहुरूपिये प्राणारामका एक स्वाँग—एक लीला समझकर आनन्द मानना चाहिये, और अपने प्रियतम को उस रूपमें सजानेवाले उस भक्तका भी कृतज्ञ होना चाहिये, जिसने हमें उसका यह नवीन रूप दिखलाया। चाहे वह रूप भयानक ही हो, उसको सजानेवाला अपनेको ईश्वरका विरोधी ही न कहता हो! क्योंकि वह विरोध करके भी प्राणारामको सजाता ही है! (क्रमशः)

—हनुमानप्रसाद पो

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बाबाके वचनामृत

(सं० और प्रे०—श्रीनकुलेश्वर मजूमदार, 'विद्यानिधि', बी० ए०)

[श्रीश्रीभार्गव शिवरामकिङ्कर योगत्रयानन्दजीके उपदेश]

प्रश्न—शिवजीके मस्तकमें गङ्गाजी क्यों हैं ?

उत्तर—गङ्गाजी तो शिवजीके मस्तकमें रहेंगी ही। जानते हो, शिवजी कौन हैं ? शिवजी हैं परम वैष्णव। संसारमें विष्णुभक्ति सिखानेके लिये भगवान् शङ्करने स्वयं परम विष्णुभक्तका वेष धारण किया है। शिवजी-के समान विष्णुभक्त त्रिभुवनमें और कोई नहीं है। और गङ्गाजी कौन हैं ? गङ्गाजी भगवान् विष्णुके पादोदकसे बनी हैं। पादोदक कहाँ रहता है ? भक्तके मस्तकपर। जो जिसका भक्त होता है वह अपने इष्टदेवताका पादोदक अपने मस्तकपर रखता है। इसी कारण परमवैष्णव शङ्कर गङ्गाको आदरपूर्वक अपने मस्तकपर रखते हैं। तुम यदि सच्चे विष्णुभक्त बनना चाहते हो तो विष्णुका पादोदक सदा तुम्हारे मस्तकपर रहना चाहिये। अर्थात् तुम्हारा मस्तक सदा ही विष्णुके पादपद्मकी ओर रहना चाहिये, दूसरी ओर नहीं। कुछ भी सोचो-विचारो, कुछ भी करो, तुम्हारा मन विष्णुकी ही ओर रहना चाहिये। इसी तत्त्वकी शिक्षा देनेके लिये शिव सदा गङ्गाको मस्तकपर रखते हैं।

प्रश्न—शिवके हाथमें त्रिशूल क्यों रहता है ?

उत्तर—यह संसार अति दुःखमय है। सारे दुःखोंको प्रधानतः तीन भागोंमें बाँटा जा सकता है—(१) आधिभौतिक (२) आधिदैविक और (३) आध्यात्मिक। ये तीन प्रकारके दुःख ही तीन प्रकारके शूल हैं। यही सब दुःखोंके मूल हैं। इन तीन प्रकारके शूल या दुःखोंके चंगुलसे छुटकारा पाना बड़ा ही कठिन है। जो सत्पुरुष भगवान् विष्णुके शरणापन्न होते हैं, वे इन त्रिविध दुःखों या शूलोंके अधीन नहीं होते। इतना ही नहीं, वरं ये त्रिविध शूल उन्हींके अधीन और करतलगत हो जाते हैं। इसीलिये परमवैष्णव शङ्करने सर्वदा विष्णुके ध्यानमें तन्मय रहकर इस त्रिशूलको अपने अधीन कर रक्खा है। त्रिशूल उनके करतलगत है, इसीलिये उनके हाथमें त्रिशूल है। जो भगवद्विमुख हैं वे त्रिशूलके अधीन रहते हैं, त्रिशूलके द्वारा दिनरात चोट खाते हैं। और जो भगवान्‌के शरणापन्न हैं त्रिशूल उनके अधीन होता है। हाथमें त्रिशूल लेकर शूलपाणि जीवको यही शिक्षा देते हैं कि जिस दिन हमलोग शिवकी नाईं विष्णुभक्त बनेंगे उसी दिन त्रिशूल या त्रिविध दुःख हमलोगोंके अधीन हो जायगा। अन्यथा हमलोग चिरकालतक त्रिशूल या त्रिविध दुःखके अधीन रहेंगे।

प्रश्न—क्या केवल विष्णुभक्त ही त्रिविध दुःखके चंगुलसे छूटते हैं ? क्या शिवभक्त भी त्रिविध दुःखके हाथसे त्राण पाते हैं ?

उत्तर—हाँ, अवश्य पाते हैं। क्योंकि विष्णुभक्ति और शिवभक्ति एक ही भक्तिभावकी दो अवस्थामात्र हैं। विष्णुभक्ति शिवभक्तिकी ही परिणाम-अवस्था है। विष्णुभक्तिके मूलमें शिवभक्ति छिपी रहती ही है। विष्णुभक्ति शिवभक्तिसे मूलतः पृथक् नहीं है। यह कैसे ? तुम विष्णुभक्त बनना चाहते हो तो तुम्हें क्या करना होगा ? तुमको प्रथम शिवमय बनना होगा, शिवभावसे भावित होना पड़ेगा, तब तुम शिवकी भाँति विष्णुका ध्यान सदा कर सकोगे। अन्यथा तुमसे विष्णुका ध्यान नहीं होगा। इसीलिये शास्त्रका कथन है—'शिवो भूत्वा विष्णुमर्चयेत्' अर्थात् विष्णुपूजा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

करनेके लिये पहले तुमको शिव बनना होगा। जहाँ विष्णुभक्ति होगी वहाँ शिवभक्ति रहेगी ही। शिव विष्णुमय हैं, वे सदा विष्णुका ध्यान करते हैं। अतएव तुम जो विष्णुका ध्यान करते हो यही तुम्हारा शिवभाव है। इसीलिये शास्त्रका कथन है कि शिवभाव-से भावित हुए बिना हृदयमें विष्णुभक्तिका उदय नहीं होता। अर्थात् शिवकी कृपाके बिना विष्णुभक्ति नहीं होती। मूलतः शिवभक्ति और विष्णुभक्ति एक ही है। फिर चाहे शिवभक्ति हो या विष्णुभक्ति, भक्तिभावके हृदयमें उदय होनेसे ही मनुष्य त्रिविध दुःखोंसे छूट जाता है। हृदयमें शिवभक्तिके एक बार अङ्कुरित होनेसे विष्णुभक्ति अपने-आप ही प्रस्फुटित होती है। इसीलिये बुद्धिमान् मनुष्य सबसे पहले शिवकी आराधना करते हैं, शिवकी कृपा प्राप्त करते हैं।

प्रश्न—शिवकी कृपा किस प्रकारसे प्राप्त की जाती है?

उत्तर—शिवकी कृपा प्राप्त करनेके लिये शिवकी आराधना करनी होती है। आराधनाकी प्रधान सामग्री 'अनुराग' है। अतएव जो सज्जन शिवकी कृपा प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिये शिवके प्रति अनुराग होना जरूरी है। अब प्रश्न यह है कि 'अनुराग' का क्या अर्थ है। 'अनु' कहते हैं पश्चात्को और 'राग' कहते हैं प्रेमको। अतएव अनुरागका अर्थ हुआ 'पश्चात् प्रेम करना।' अर्थात् किसीके द्वारा प्रेम किये जानेपर बाद उसके प्रति जो प्रेम होता है उसीको 'अनुराग' कहते हैं। शिव यदि पहले तुम्हारे प्रति प्रेम करें तो यह स्वाभाविक है कि तुम शिवके साथ प्रेम करोगे, इसीको शिवके प्रति अनुराग कहेंगे। भगवान् यदि तुमसे प्रथम प्रेम न करें तो तुम भगवान्के साथ प्रेम नहीं कर सकते। बिना कारण किसीके प्रति किसीका अनुराग नहीं होता। अतएव पहले यह देखना होगा कि शिव तुमसे प्रेम करते हैं या नहीं। तुम तो रोज शिवपूजा करते हो, शिवनामका जप करते हो, तुम एक बार शिवका ध्यान करो। देखो कि शिवके चार हाथोंमें चार चीजें हैं (१) मृग (२) परशु, (३) वर और (४) अभय। तुमने कभी प्रथम वस्तुके सम्बन्धमें सोचा है कोई-कोई सज्जन शिवका चित्र बनाते समय मृग स्थानमें शिवके हाथमें हरिणका बच्चा दे देते हैं। यह भूल है। यह मृग जंगलका हरिण नहीं है। यह है मृग-मुद्रा। 'मृग' शब्दका अर्थ है मार्जन का अनुसंधान करना या खोज करना। अब प्रश्न यह कि शिव किसकी खोज करते हैं। शिव खोज करते अपने भक्तकी। तुम्हारे पिता-माता जिस प्रकार तुम्हारी सँभाल रखते हैं, किस प्रकार तुम्हारी मा होगी सदा इसी चिन्तामें रहते हैं, उसी प्रक विश्वपिता शिव भी अपने भक्तोंकी सदा सँभाल क रहते हैं। किस प्रकारसे भक्तका कल्याण होगा, इ लिये वे सदा व्यस्त रहते हैं, भक्तके त्रिविध दुःख छेदन या दूर करनेके लिये उनका परशु सदा उ रहता है, भक्तको वर और अभय देनेके लिये सदा प्रस्तुत रहते हैं। भक्तके दुःखको वे सहन न कर सकते। भक्तको कष्ट न हो, इसलिये वे रात-दि उसकी खोज करते हैं। शिव सदा अपने भक्त खोज करते हैं, इसी कारण उनके हाथमें 'मृग-मु है। एक बार विचार देखो, शिवकी कैसी करुणा मूर्ति है। वे जो दिन-रात तुम्हारी सँभाल करते तुमसे प्रेम करते हैं, इसका तुमने कभी अनुभव कि है? यदि नहीं किया है, तो यह मानना पड़ेगा तुम्हारी शिवकी आराधना ठीक नहीं हुई, जीवन तुमने बस घंटीका टन् टन् शब्दमात्र किया है जिस दिन तुम शिवकी कृपाका अनुभव करोगे उ दिन शिवके चरणोंमें तुम्हारा मस्तक नत हो जाय यही है शिवके प्रति तुम्हारा 'अनुराग'। इसी भाव लेकर तुम शिवकी आराधना करो, फिर शिवकी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्राप्त करनेमें कोई कठिनाई नहीं होगी। इसी भावके साथ शिवकी आराधना करके बहुतोंने सिद्धि प्राप्त की है। शिवजी थोड़ी ही तपस्यासे प्रसन्न हो जाते हैं। ऐसा दूसरा कोई नहीं है। इसीलिये उनका नाम 'आशुतोष' है। शिव सर्वदा ही शिव हैं। वे अशिव कभी नहीं होते, अशिव कभी हो नहीं सकते। वे जो कभी-कभी रुद्र रूप धारण करते हैं वह भी जीवके कल्याणके ही लिये है। वे सदा मङ्गलमय हैं। वे जीवके प्रति सदा प्रेम करते हैं, उसकी सदा ही सँभाल करते हैं। इसीलिये यदि जीव सौभाग्यसे शिवकी ओर जरा भी अग्रसर होता है, शिवकी जरा भी खोज करता है, शिवसे जरा-सा भी प्रेम करता है तो शिव उसको दोनों हाथोंसे अपनी गोदमें उठा लेते हैं। यही है शिवका शिवत्व।

प्रश्न—शिवका रूप संन्यासी या वैराग्यवान्‌का क्यों हुआ?

उत्तर—संसारको भक्तिकी शिक्षा देनेके लिये ही भगवान् विष्णु स्वयं शिव बनकर स्वयं अपने ही भक्त बने हैं। विषयोंसे वैराग्य हुए बिना भक्तिका आविर्भाव नहीं होता। भगवान् और विषय ये दोनों विरोधी चीजें हैं। जिसका मन भगवान्‌की ओर लग जाता है, उसका मन विषयकी ओर नहीं जा सकता। अतएव जिसका अनुराग भगवान्‌में है, उसे विषयोंसे वैराग्य होगा ही। जीवोंके हृदयमें इसी तत्त्वकी उत्तम रीतिसे शिक्षा देनेके लिये ही परमवैष्णव पूर्णभक्त शङ्कर विषयोंसे पूर्ण वैराग्यवान् हैं। अहा, शङ्करका कैसा लावण्यमय वैराग्यभाव है, उनका मन सदा विष्णुभावमें तन्मय रहता है, इसीलिये उनकी पवित्र देह पूर्ण वैराग्यकी छबि है, और विष्णुभक्तिकी पूर्ण ज्योति उनके समस्त अङ्गोंसे अनवरत निकलती रहती है। यही वैष्णवका रूप है।

प्रश्न—शिव परम वैष्णव हैं। श्रीकृष्ण और श्रीराम दोनों विष्णुके अवतार हैं, तो फिर शिव कृष्णभक्त हैं या रामभक्त?

उत्तर—जो कृष्ण हैं वही राम हैं और वही शिव भी हैं। केवल लीला करनेके लिये, भक्तके ऊपर कृपा करनेके लिये एकने दूसरेके भक्तका रूप धारण किया है। शङ्करक्षेत्र काशीधाममें जो लोग देह त्याग करते हैं वे शैव हों, शाक्त हों, वैष्णव या गाणपत्य हों, भगवान् शङ्कर उनके कानमें मृत्युके समय रामनाम प्रदान करते हैं। इससे मालूम होता है, रामनाम ही शङ्करको सबसे अधिक प्रिय है। शिवने सबको मृत्युकालमें रामनाम स्मरण करनेका उपदेश दिया है और शिवने रामनामकी बहुत प्रशंसा की है। अतः इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि शङ्कर परम रामभक्त हैं।

प्रश्न—शिवभक्त, कृष्णभक्त, कालीभक्त और दुर्गाभक्त सभी लोग मरणकालमें शिव, कृष्ण, काली और दुर्गानाम न लेकर रामनाम क्यों लेते हैं?

उत्तर—मरणकालमें रामनाम तो वे लेंगे ही। जानते हो, राम कौन हैं? राम वे हैं जो परम रमणीय अर्थात् परम प्रिय हैं। यही रामनामका अर्थ है। अतएव जो जिसका परम प्रिय होता है वही उसका राम होता है। शिवभक्तके लिये शिव ही राम हैं, अतः 'राम' नामसे वह शिवको ही पुकारता है। कृष्णभक्तके लिये कृष्ण ही राम हैं, इसलिये रामनामसे वह कृष्णको ही पुकारता है, कालीभक्तके लिये काली ही राम हैं, रामनामसे वह कालीको ही पुकारता है। दुर्गाभक्तके लिये दुर्गा ही राम हैं, इसलिये रामनामसे वह दुर्गाको ही पुकारता है। एवं रामभक्तके लिये तो राम ही राम हैं, अतः रामनामसे वह रामको ही पुकारता है। उस भीषण समयमें अर्थात् मृत्युकालमें सब लोग अपने 'राम' अर्थात् प्रियको राम कहकर न पुकारेंगे तो क्या कहकर पुकारेंगे?

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रश्न—रामनामका क्या माहात्म्य है ?

उत्तर—रामनामके जैसा मधुर नाम कोई नहीं है। इस नामको जितना ही स्मरण किया जाय उतना ही आनन्द होता है। इस नामकी कितनी भी क्यों न रटन लगायी जाय, इच्छा यही होती है कि केवल रटन ही लगी रहे। इच्छा होती है कि केवल राम-राम ही करते रहें। इस नामसे मुख कृतार्थ हो जाता है, हृदय कृतार्थ हो जाता है। इसलिये इस नामका शिव, दुर्गा पर्यन्त सदा आदरपूर्वक जप करते हैं। एक दिन लोकशङ्कर शङ्करने पार्वतीसे कहा—'देवि, रामनामसे मैं सर्वाधिक प्रेम करता हूँ, मैं रामनामसे इतना प्रेम करता हूँ कि यदि कोई हठात् 'रा' उच्चारण करता है तो इतनेसे ही मैं आनन्दमें मस्त हो जाता हूँ, क्योंकि मुझे आशा होती है कि यह अब रामनाम कहेगा, इसीसे वह पहले 'रा, रा' कहता है। जो रामनाम कहता है, उससे तो मैं सर्वाधिक प्रेम करता हूँ। अतएव तुम यदि मेरी प्रिय बनना चाहती हो तो सदा रामनाम जपा करो।' तभीसे पार्वती सदा शिवजीके साथ रामनामका जप करती हैं। रामनाम ही शङ्करको सर्वापेक्षा प्रिय नाम है। इसीलिये जो लोग शङ्करके प्रिय हैं, जो लोग शङ्करके पवित्र क्षेत्र काशीधाममें रहकर शङ्करकी सेवा करते हैं, उनको मरणकालमें शङ्कर रामनाम ही देते हैं, रामनाम देकर उनको भवसागरसे पार उतार देते हैं। रामनामसे सहजहीमें भवसागरसे पार उतरा जाता है। इसीलिये भृगुदेवने भी बार-बार कहा है—'मोक्षार्थं राघवं जपेत्।' अर्थात् यदि सहजमें मुक्ति चाहते हो तो रामनामका जप करो। सूखी पत्तियोंमें आग लगनेसे धधककर वे जैसे जलने लगती हैं उसी प्रकार रामनामका जप करनेमात्रसे कोटि-कोटि महापातक उसी क्षण भस्मीभूत हो जाते हैं। जितने प्रकारके महापातक हैं, रामनामका एक बार भक्तिपूर्वक उच्चारण करनेसे सब नष्ट हो जाते हैं। जो रामभक्त है उसको कोई नहीं लगता। जो एक पल भी भक्तिपूर्वक राम या हरि स्मरण करता है उसके सब पाप नष्ट हो जाते एक बार राम या हरिका नाम स्मरण करनेसे पाप नष्ट हो जाते हैं कि मनुष्य उतने पाप जीवनमें कर ही नहीं सकता। अतएव रामका लेनेसे मनुष्य एकदम निर्भय हो जाता है।

प्रश्न—अच्छा, राम या हरि-नामका जब इ माहात्म्य है, तब फिर और इतनी साधनाओंकी जरूरत है ? इतनी चिन्ता ही फिर किस बातकी जीवनभर जो मनमें आवे वही करे, एक बार राम-न या हरिनाम लेनेसे तो सारा काम बन ही जायग

उत्तर—निश्चय ही बन जायगा। किन्तु इसमें मुख्य बात है वह यह है कि स्मरणकी योग्यता हो चाहिये। राम या हरिस्मरणका क्या अर्थ है ? और हरि विष्णु हैं। उनको स्मरण करना विष्णुको स्मरण करना एक ही है। विष्णु कौन है विष्णुका अर्थ है 'व्यापक' अर्थात् विष्णु वे हैं विश्व-ब्रह्माण्ड—त्रिभुवनमें व्याप्त हैं। अतः उनको स्म करनेके लिये सारे विश्वके अन्दर उनको स्मरण क होगा, नहीं तो उनका ठीक स्मरण नहीं हुआ। अर्थ जब तुम्हारी ऐसी अवस्था होगी कि जभी तुमने चीज देखी तभी तुमको भान हुआ कि यही राम जब किसी मनुष्यको देखो, तभी तुम समझो कि य राम हैं। जब किसी पशुको देखो, तभी विचारो यही राम हैं। जब किसी पक्षीको देखो तभी समझ कि यही राम हैं। जब डालीको देखो तभी सोचो यही राम हैं। जब मैदानको देखो तभी सोचो कि य राम हैं। जब आकाशको देखो तभी सोचो कि य राम हैं। जब सूर्यको देखो तभी सोचो कि यह राम जब चन्द्रको देखो तभी सोचो कि यह राम

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इत्यादि। इस प्रकार जब एक रामके अतिरिक्त स्वर्ग, मर्त्य, पातालमें और कुछ नहीं देखोगे, सभीको राम समझोगे तब तुम्हारा ठीक विष्णुस्मरण होगा, तब तुम्हारा ठीक हरिस्मरण होगा। अन्यथा जिसको देखा उसको अराम समझा, उसको यदि विषय ही समझा, तब तो तुम्हारा विषयस्मरण ही हुआ। रामस्मरण कहाँ हुआ?

और तुम यदि एक बार भी रामस्मरण करो, यदि सब पदार्थोंको राम समझ सको, तब वह तुम्हारे निकट फिर अराम नहीं हो सकता। यदि वह अराम हो तो यह समझना होगा कि तुम उसको ठीक राम नहीं समझ सके, अर्थात् तुम्हारा ठीक रामस्मरण नहीं हुआ। इसीलिये एक बार भी जो रामस्मरण, हरिस्मरण या विष्णुस्मरण करता है वह चाहे सो नहीं कर सकता; जो राम नहीं है, जो हरि नहीं है, जो विष्णु नहीं है, उसकी ओर उसका मन ही नहीं जाता, वह पाप कर ही नहीं सकता। इसीलिये शास्त्रका कथन है कि जो हरिभक्त, रामभक्त या विष्णुभक्त है उसको पाप नहीं लगता। अर्थात् उससे पाप होता ही नहीं। इसीलिये परम करुणामय भृगुदेवने बार-बार कहा है—'यदि मुक्ति चाहते हो तो रामस्मरण करो, रामनामका जप करो।' ऋषियोंके प्रत्येक कथनका गूढ़ अर्थ है।

श्रीरामचरितमानसमें गुरुवन्दनाका महत्त्व

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥
बंदौं गुरुपदकंज, कृपासिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज, जासु बचन रबिकर निकर॥
बंदौं गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा॥

श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके आरम्भमें संस्कृत श्लोकोंमें जिन नौ वन्दनीयोंकी वन्दना की गयी है, उनमें चारके नाम—'(१) वाणी (२) विनायकौ' '(३) भवानी (४) शङ्करौ'—तो ऊपर हैं और चारके नाम—'(१) कवीश्वर, (२) कपीश्वरौ' तथा '(३) सीतां और (४) रामाख्यमीशं हरिम्'—नीचेके श्लोकोंमें हैं। इनके मध्यमें श्रीगुरुदेव-की वन्दना रक्खी गयी है। यह बात इस भावको सूचित करती है कि श्रीगुरुदेवकी ही कृपाके द्वारा बुद्धिमें वन्दना करनेकी स्फुरणशक्ति पहुँच रही है। श्रीगुरुवन्दना ही 'देहलीदीपकन्याय' के अनुसार दोनों ओर बराबर प्रकाश प्रदान करके आराध्य देव और इष्टदेवकी वन्दना कराकर कल्याणके साधन जुटाये हुए है। अब देखिये कि श्रीगुरुतत्त्वकी महत्ता कितनी ऊँची है।

ऊपरके श्लोकमें 'शङ्कररूपिणम्' पद जो आया है, उससे पूर्णरूप, सम्पूर्ण शरीर (पूरे दिव्यमङ्गलविग्रह) की वन्दना मानी जा सकती है। परन्तु इस भावको हृदयङ्गम करके श्रीगोस्वामीजी महाराज अपनी इस निष्ठाको स्पष्ट कर रहे हैं कि कहाँ तो अत्यन्त महान् गुरुतत्त्व और कहाँ मैं सब प्रकारसे दीन-हीन प्राणी; मेरा अधिकार कहाँ कि मैं श्रीगुरुदेवके पूर्ण विग्रह (रूप) की वन्दना करनेका साहस कर सकूँ। अतएव उन्होंने पुनः सोरठेमें अपनी अभिलाषा प्रकट की कि 'बंदौं गुरुपदकंज', अर्थात् मैं समस्त रूपकी वन्दना करनेके योग्य अपनेको न मानकर केवल श्रीगुरुदेवजीके पदकमलकी ही वन्दना कर रहा हूँ। परन्तु पदकमलकी भी महिमा तो अपार है; उस चरण-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

की भी वन्दना करनेका अधिकार मुझे कैसे हो सकता है ? अतः चौपाईमें उन्होंने यह निर्धारित किया कि 'बंदौं गुरु पद पदुम परागा', अर्थात् श्रीगुरुदेवके चरणकमलकी भी वन्दना करनेका अधिकार मुझे नहीं है; उन निर्मल, निष्पाप, दिव्य, कोमल चरणकमलों-को भी ध्यानमें अपने पापी, कलिग्रसित अन्तःकरणसे स्पर्शकर कैसे कलंकित करूँ; अतएव उन चरणोंके तलुओंमें जो रज (धूलि) लगी हुई है, केवल उस धूलिकी ही वन्दना करके अपनेको कृतार्थ कर रहा हूँ—श्रीगुरुदेवके पदकमलके पराग (रज) की ही वन्दना करता हूँ। कैसी है वह रजश्री ? 'सुरुचि सुबास सरस अनुरागा' है; तात्पर्य यह कि सुन्दर रुचि, सुन्दर वास (गन्ध) अर्थात् सुन्दर यश और अनुराग अर्थात् भगवत्प्रेमको सरस करनेवाली (बढ़ानेवाली) है।

यहाँपर सुरुचि, सुबास और अनुराग, ये तीनों शब्द क्रमशः मुक्ति, भुक्ति और भगवद्भक्ति इन तीनों परम अर्थोंको सूचित कर रहे हैं। रुचि वही उत्तम कही जाती है जो पारमार्थिक हो, जो अपने मुख्य अर्थको सिद्ध करे। विनयपत्रिकामें कहा है—

मुख्य रुचि होत बसबेकी पुर रावरे
राम! तेहि रुचिहि कामादिगन घेरे॥

—यहाँ 'रावरे पुर बास' से मोक्षका ही भाव निकलता है। इस तरह सुरुचिसे मोक्ष (मुक्ति) सिद्ध हुआ। अब 'सुबास' अर्थात् सुन्दर यश कब प्राप्त होगा ? जब सब प्रकारसे वेदविहित धर्म-कर्म करते हुए लोकहितैषी पुण्यकर्म किये जायँगे—'पावन जस (यश) कि पुन्य बिनु होई।' इस तरह लोकख्याति सिद्ध हुई। अब तीसरे 'अनुराग' शब्दसे मुक्ति-भुक्ति दोनोंसे परे भगवान्‌में अनुराग (प्रेम) प्राप्त होना—भगवद्भक्ति—सिद्ध हो रहा है। कहा है—

रामभगति सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं॥
सगुन उपासक मोच्छ न लेहीं। तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं॥

इस प्रकार उस श्रीगुरुचरणरजका यह प्रभ बताया गया कि केवल वह एक रजश्री ही लोकख परलोकप्राप्ति तथा अनुपम भक्तिको प्रदान करनेव है—'साधन एक सकल सिधि देनी।'

इस चौपाईके ठीक नीचे जो क्रमशः चौपाइयाँ हैं, उनकी रचना, मालूम होता है, इ तीनों शब्दोंके मुख्यार्थको सूचित करनेके लिये गयी है। यथा—'सुरुचि' शब्दका अर्थ स्पष्ट करने लिये पहले यह चौपाई दी गयी है—

अमिअमूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुजपरिवारू॥

'चूरन' रुचिकारक होता ही है। कैसा अजीर्ण हुआ हो, कोई भी चीज खानेकी रुचि होती हो, परन्तु जहाँ निदानानुकूल चूर्ण फाँका कि सब रोग शमन हो जाते हैं, डकार आती हाजमा ठीक होनेसे तुरन्त भूख बढ़ती है भोजनादिमें रुचि पैदा हो जाती है। इसी श्रीगुरुचरणकी रज, जो कोई साधारण चूर्ण नहीं बल्कि 'अमिअ मूरिमय चूरन' है—अमृत जी सञ्जीवनी बूटीसे ओतप्रोत चूर्ण है, समस्त भवरोग नष्ट करके सुन्दर रुचि—परमार्थप्राप्तिकी रुचि कर देती है। शारीरिक रोगकी निवृत्ति होनेपर भोजनकी क्षुधा बढ़ती है, वैसे ही काम-क्रोध भवरोग (मानस-रोगों) की निवृत्ति होनेपर—

सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई॥

और जब बुद्धि विशुद्ध हो गयी तब पारलौकि सुन्दर रुचि छोड़कर और अच्छा ही क्या लग सक है ? अतः यह चौपाई 'सुरुचि' शब्दकी ही पुष्टि लिये दी गयी है।

'सुबास' शब्दके लिये यह दूसरी चौपाई है—

सुकृत संभु तनु बिमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

'सुकृत' अर्थात् पुण्यकर्मोंसे ही संसारमें यश होता है और पापकर्मोंसे अयश मिलता है—

पावन जस कि पुन्य बिनु होई। बिन अघ अजस कि पावइ कोई॥

यहाँपर शुभ कर्म शिवजीके शरीरके स्थानमें हैं, जिसको श्रीगुरुपदरजश्री विमल विभूतिकी भाँति शोभित और पवित्र बना रही है। अर्थात् जिस प्रकार श्रीशिवजी अपने इष्ट 'रामनाम' का उच्चारण (मुर्देको श्मशान ले जाते समय जो 'रामनाम सत्य है' की ध्वनि की जाती है, उसे) सुनकर संस्कार करनेवालोंमें सम्मिलित हो जाते हैं, परन्तु संस्कार समाप्तकर घर लौटते समय वह उच्चारण न होनेके कारण उनका साथ छोड़कर श्मशानघाटमें वापस जाकर जले हुए शवकी राखको इष्टसम्बन्धी मानकर अपने शरीरमें धारण कर उसे पवित्र बनाते हैं (सिव-अंग भूति मसानकी सुमिरत सुहावनि पावनी), उसी प्रकार समस्त पुण्यकर्म (सुकृत) श्रीगुरुचरणोंकी रजका आश्रय पाकर यथार्थ सफलताको प्राप्त होते हैं। शिष्यको जो कुछ भी सुकृति करनी हो, उसे अहं-कर्तृत्वाभिमान छोड़कर करनी चाहिये; क्योंकि श्रीगुरुदेवके चरणरजका अवलम्बन ही कल्याणकारी होता है। स्वयं श्रीमुखका वचन है कि—

गुर श्रुति सम्मत धरम फल पाइअ बिनहिं कलेस।
हठबस सब संकट सहे, गालव नहुष नरेस॥

गुरु और वेदके आदेशानुसार जो धर्म किये जाते हैं, उनके फल बिना परिश्रम ही प्राप्त होते रहते हैं; परन्तु बिना गुरुजनोंकी सम्मतिके हठपूर्वक यदि पुण्यकर्म भी किये जाते हैं तो वे क्लेशप्रद हो जाते हैं। अतः वह रजश्री सुकृतपोषक है और सुयशको भी सरस करनेवाली है; वह पवित्र मंगल और मोदकी खानि है।

इसी प्रकार 'अनुराग' शब्दकी ही पुष्टिके लिये यह चौपाई दी गयी है—

जनमन मंजु मुकुर मल हरनी।
किए तिलक गुनगन बस करनी॥

अनुराग कब होता है? जब मन निर्मल होता है। जबतक मन-मुकुर मलिन है,—

मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥

क्योंकि—

काई बिषय मुकुर मन लागी। अग्य अकोबिद अंध अभागी॥

—तबतक अनुराग कहाँ? श्रीमुखका वचन है—

निरमल मन जन सो मोहि पावा।

तथा—

जो पै दुष्ट हृदय सो होई। मोरे सनमुख आव कि सोई॥

अतः अपने जनोंके मनके मलको भी हरकर अनुराग प्रदान करनेवाली वह रजश्री है, जिसे मस्तकपर चढ़ानेसे सब गुण वशमें हो जाते हैं।

इस प्रकार इन तीनों चौपाइयोंको रचकर, उस रजश्रीका गुणगान करके श्रीगोस्वामीजीने जब अपने वाक्, काय, तथा मनको पवित्र बना लिया,—'चूरन' का सेवन मुखसे होता है, इसलिये पहली चौपाईसे वचनकी शुद्धि हुई; 'सुकृत' शरीरसे किया जाता है, इसलिये दूसरी चौपाईसे काय (कर्म)-शुद्धि प्राप्त हुई; तथा 'अनुराग' (भक्ति) मनके निर्मल होनेपर होता है। इसलिये तीसरी चौपाईसे मनकी शुद्धि प्राप्त हुई,—तब उन्हें लालसा हुई कि श्रीगुरुदेवजीके दिव्य विग्रहके कम-से-कम चरणाङ्गके भी किसी अंशकी वन्दना कर लूँ, जिससे नित्य अङ्गसे सम्बन्ध जुड़ जाय। क्योंकि अभीतक जो रजकी वन्दना हुई है वह उस दिव्य वपुका तो अङ्ग है नहीं, वह तो पृथिवीका अङ्ग है; वह बाहरकी वस्तु श्रीगुरुदेवके अंगका संग पाकर इस प्रभावको प्राप्त हो गयी है। अतएव पहले रजश्रीकी वन्दनाद्वारा मनसा-वाचा-कर्मणा शुद्ध होकर नित्य अंगसे सम्बन्ध प्राप्त कर लेनेकी अभिलाषासे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीगुरुदेवजीके दिव्य शरीरमेंसे केवल चरणोंके नखोंकी वन्दना करनेका साहस चौथी चौपाईमें आरम्भ किया गया है; वह भी पहले सबसे छोटी कनिष्ठा अँगुलीके ही छोटे नखकी वन्दना करनेकी ढिठाई इस चौपाईमें लक्षित हो रही है—

श्रीगुर पद नख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिअँ होती॥

श्रीगुरुचरणके (सबसे छोटे) एक नखकी आभा किस भाँतिकी है, मानो बहुत-सी मणियोंका ढेर हो और उसमेंसे सबकी एक साथ मिली हुई ज्योति निकल रही हो; उस कनिष्ठाके छोटे नखका प्रभाव यह है कि उसके स्मरणमात्रसे हृदयके दिव्य नेत्र (ज्ञान, वैराग्य) खुल जाते हैं और दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है। इस तरह इस चौथी चौपाईमें छोटे नख (कनिष्ठा) की वन्दना आरम्भ करके पाँचवीं चौपाईमें अँगूठेके बड़े नखकी वन्दना करके तथा उसकी महिमा बताकर पदकमलके पाँचों नखोंको वन्दनीय भावमें सम्पुटित किया गया है। पाँचवीं चौपाई है—

दलन मोहतम सोसु प्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू॥

अर्थात् श्रीगुरुचरणके अँगूठेकी प्रभा तो सोसु अर्थात् सूर्यके समान प्रकाशवाली है जो मोहरूप अन्धकारका निःशेष निराकरण कर देती है। बड़े भारी सुकृतका जब उदय होता है तब उसका आविर्भाव अन्तःकरणमें होता है।

रामायणकी बहुत-सी प्रतियोंमें 'सोसु प्रकासू' न छपकर 'सो सुप्रकासू' इस तरह पाठ छप गया है, जिससे टीकाकारोंको 'वह सुन्दर प्रकाश' ऐसा अर्थ करना पड़ा है। परन्तु यदि हम उससे मणिगणज्योतिका निर्देश मान लें तो यह दोष खड़ा हो जायगा कि उससे मोहतमकी पूरी निवृत्ति सम्भव न होगी। क्योंकि तमका पूरा-पूरा नाश तमारि (सूर्य) के अतिरिक्त मणि, पावक आदि किसी दूसरे पदार्थके प्रकाशसे नहीं हो सकता। इसका प्रमाण इस मौजूद है—

राकापति षोड़श उगहिं, तारागन समुदाय।
सकल गिरिन्ह दव लाइये, रबि बिनु राति न जाय॥

अतः यहाँपर 'सोसु' पाठ ही शुद्ध है, जि अर्थ सूर्य होता ही है। अब यहाँ कोई शङ्का कर सकता है कि 'नखकी ही उपमा एक मणिगणसे देकर पुनः सूर्यसे क्यों दी गयी ?' समाधान उपर्युक्त भावार्थसे हो जाता है कि मणिग उपमा कनिष्ठाके छोटे नखके लिये दी गयी है 'सोसु' (सूर्य) की उपमा अँगूठेके बड़े नखके लि और इस तरह सम्पुटरूपमें सबसे छोटे और स बड़े नखकी लेकर पूरे चरणके पाँचों नखोंकी वन्द कर ली गयी है तथा एकके प्रतापसे हृदयमें दिव्य दृष्टि होना एवं दूसरेके प्रतापसे मोहतमका आत्यन्ति निराकरण होना सिद्ध किया गया है। इसी कारण चौपाईके दोनों चरणोंमें क्रमशः हृदयमें दिव्य (बिमल बिलोचनके उघार) का होना और मोह (भवरजनीके दोष दुख) का मिट जाना स्पष्ट दिया गया है। छठी चौपाई है—

उघरहिं बिमल बिलोचन हीके। मिटहिं दोष दुख भव रज

तात्पर्य यह कि उन नखोंका स्मरण हृदयमें होते ज्ञान-विरागरूपी हृदयके दोनों विमल विलोचन जाते हैं और संसाररूपी रात्रिके दोष (अन्धकार अज्ञान) तथा दुःख (असूझरूप आसक्ति) दोनोंके जानेसे मोहतमकी पूर्ण निवृत्ति हो जाती है। तब—

सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि

श्रीरघुनाथजीके ऐश्वर्य और माधुर्यके गुप्त प्रकट चरित्र जो मणि और माणिक्यरूप हैं, वे सम उसी भाँति सूझने लगते हैं जिस भाँति सुअ (सिद्धाञ्जन) लगा लेनेपर जिस जगह और जिस

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मणि-माणिक्य होते हैं, वहाँ वे आसानीसे दिखायी देने लगते हैं। इसी बातको नीचेके दोहेमें उपमा देकर स्पष्ट किया गया है—

जथा सुअंजन आँजि दृग, साधक सिद्ध सुजान।
कौतुक देखहिं सैल बन भूतल भूरि निधान॥

जिस प्रकार सिद्धाञ्जन लगाकर साधक केवल शैल (पथरीली पृथ्वी) का, सिद्ध लोग केवल वनका तथा सुजान लोग सम्पूर्ण भूतलका कौतुक देख लेते हैं, उसी प्रकार श्रीगुरुपदरजसे मनमुकुरको निर्मल कर तथा श्रीगुरुपदनखके मणिवत् और सूर्यवत् प्रकाशके द्वारा हृदयमें दिव्यदृष्टि प्राप्त कर तथा मोहतमका नाश करके सम्पूर्ण गुप्त और प्रकट श्रीरामचरितके देखनेकी शक्ति प्राप्त की जाती है। परन्तु सिद्धाञ्जन लगानेवालोंको मणि-माणिक्यादि देखना इष्ट होता है, जिन्हें वे शैल, वन और भूतलमें खोजकर प्राप्त करते हैं; श्रीगोस्वामीजीको मणि (सर्पकी मणि *)-रूप श्रीरामजीका ऐश्वर्यचरित और माणिक्य (हीरा)-रूप श्रीरामजीका माधुर्यचरित देखना इष्ट है, जिनका प्रत्यक्ष श्रीगुरुदेवकी उपर्युक्त वन्दनाके प्रतापसे उन्हें अपने हृदयमें ही हो रहा है। इसके स्पष्ट प्रमाण ग्रन्थभरमें मिलते हैं। जैसे,

गुप्त ऐश्वर्यचरित—

छन महँ सबहिं मिले भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना॥

प्रकट ऐश्वर्यचरित—

'छुवत सिला भइ नारि सुहाई।'

तथा—

'मुनि समूह महँ बैठे, सनमुख सबकी ओर।'

गुप्त माधुर्यचरित—

'गुरुहि प्रनाम मनहिं मन कीन्हा।'

तथा—

'सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दये।'

प्रकट माधुर्यचरित—

'सुनि गुर बचन चरन सिर नावा। हरष बिषाद न कछु उर आवा॥

इत्यादि।

इससे आगे दो और चौपाइयोंको रचकर गुरु-वन्दना समाप्त की गयी है। वे चौपाइयाँ हैं—

'गुरुपदरज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिअ दृग दोष बिभंजन॥
तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ रामचरित भवमोचन॥

अर्थात् श्रीगुरुदेवका चरणरज ही 'नयनअमिय' कोमल और स्वच्छ अञ्जन है, जो नेत्रोंके दोषको विशेष-रूपसे नष्ट कर देनेवाला है। उस रज-अञ्जनसे अपने विवेक-विलोचनको विमल करके संसारसे छुड़ानेवाले श्रीरामचरितका वर्णन कर रहा हूँ।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि श्रीगुरु-पद-रज

---

* वैसे तो साधारण तौरपर मणिका अर्थ भी पर्वतकी मणि (हीरा) ही माना गया है। जैसे—

पावन परबत बेद पुराना। रामकथा रुचिराकर नाना॥

× × × ×

भावसहित जो खोजइ प्रानी। पाव भगति मनि सब सुखखानी॥

परन्तु जहाँ 'माणिक' के साथ 'मणि' का प्रयोग हुआ है वहाँ अहि (सर्प) की मणि ही अर्थ निश्चित हुआ है। जैसे—

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥

अतः यहाँ मानिकके साथ 'मनि' शब्दका अर्थ सर्पकी ही मणि होगा। सर्पकी मणिकी उपमा ऐश्वर्यचरितसे दी गयी है; क्योंकि जैसे मणि सर्पका सार अङ्ग है, मणिके बिना उस मणिवाले सर्पकी जिन्दगी ही नहीं और न सर्पके बिना उस मणिकी ही स्थिति है, वैसे ही ऐश्वर्य श्रीराम (ब्रह्म) का सहज स्वरूप है, श्रीरामतत्त्व ऐश्वर्यहीन है ही नहीं। और पर्वतके माणिक्य (हीरा) की माधुर्यचरितसे उपमा दी है; क्योंकि पर्वतोंका अस्तित्व हीराकी खानिके सहित और रहित दोनों दशाओंमें सिद्ध है; इसी प्रकार श्रीरामजी गुणातीत ऐश्वर्यवाले होकर भी अपने भक्तोंके लिये निज इच्छानुसार माधुर्यचरितको भी ग्रहण कर लेते हैं—

नरतनु धरेउ संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सूखी वस्तु है, और उसकी उपमा भी ऊपर चूर्ण और विभूति इत्यादि सूखी-सूखी वस्तुओंसे ही देते चले आये हैं; अब उसी धूलिको अञ्जन कैसे बना लिया गया ? क्योंकि अञ्जन सूखा नहीं होता। जबतक किसी तर (जल, स्नेह आदि) पदार्थका संयोग न हो तबतक शुष्क वस्तु गीली कैसे बन जायगी ? अतएव यहाँपर जो बड़े मर्मकी बात लक्ष्य करायी गयी है वह है शिष्यकी निष्ठाका सप्रमाण वास्तविक स्वरूप। श्रीगुरुदेवकी रजश्रीमें तो सब सामर्थ्य मौजूद हैं ही, परन्तु उनका ठीक उपयोग करना उन्हीं बड़भागी, शुद्ध निस्स्वार्थ अनुरागवाले शिष्योंके ही भाग्यमें होता है जिनके ललाट, नेत्र, नासिका, अधरादिमें सदैव उस रजश्रीकी छाप लगी रहती है, जो प्रेमाश्रुसे डबडबायी हुई आँखोंसे उस रजश्रीको उठाते हैं। जब शिष्य उस प्रेमदशामें विह्वल, पुलकाङ्ग हो सजल नेत्रोंसे उस रजका चुम्बन करते हैं तब सच्चे, शुद्ध शिष्योंके प्रेमाश्रुसे भीग-भीगकर वह अञ्जनका रूप धारण कर लेती है। अतएव अञ्जनकी उपमासे शिष्यकी प्रेमनिष्ठा सूचित होती अर्थात् जब शिष्यकी ऐसी प्रेमनिष्ठा होती है तब उस रजश्रीको अञ्जन बना लेता है और उससे विवेकादि विलोचनोंको विमल करके कृतार्थ होता श्रीग्रन्थकारजी अपनी इस दशाका चित्र-सा खींच कह रहे हैं कि इस प्रकारसे, 'तेहि करि बिमल बि बिलोचन,' उस रजश्रीको अञ्जन बनाकर, उ अपने हियके विवेकादि विलोचनोंको विमल क श्री 'रामचरित भवमोचन' का वर्णन कर रहा हूँ।

'सियावर रामचन्द्रकी जय।'

मानवजीवनकी विशालता

(लेखक—श्रीसीतारामीय श्रीमथुरादासजी महाराज)

मानवजीवन अनूठा है, अलभ्य है, देवदुर्लभ है, सर्वश्रेष्ठ है,—यह बात प्रायः सभी बुद्धिमान् लोग कहते हैं, सुनते हैं और धर्म-शास्त्रोंमें पढ़ते हैं। मानवजीवन ही एक ऐसा अनमोल रत्न है जिसके द्वारा हम सभी परमदुर्लभ पदार्थ प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्यको परमात्माने सर्वाङ्गपूर्णता, व्यवहार-कुशलता तथा अन्यान्य अत्यन्त आवश्यकीय उपकरणोंके सिवा एक ऐसी अलौकिक महान् शक्ति प्रदान की है जिसके द्वारा वह मानवजीवनको विशाल बनाते-बनाते निखिल विश्वविधायक परमात्माको भी अपने वशमें कर सकता है। यह महान् शक्ति मानवदेह-धारियोंको छोड़कर औरोंको नसीब नहीं है। ईश्वर-कृपासे जिसे उस शक्तिका सदुपयोग करना आ जाता है, वह अन्तमें आनन्दस्वरूप बन जाता है। जगत् द्वन्द्वोंसे, मायिक विघ्न-बाधाओंसे सदाके लिये सर्व विमुक्त हो जाता है।

प्रभुप्रदत्त मन, बुद्धि तथा इन्द्रियोंको सन्मार्ग चलानेके लिये जिसे आत्मबल है, जो ज्ञानपूर्व अपना सर्वस्व प्रभुचरणोंमें न्योछावर करके भग च्छरणागतिका दृढ़ अवलम्ब ग्रहण करता है, प्रभुप्रेमासवके मीठे तथा मस्ताने रसका जी भरके पा करता है, जो आत्मस्वरूप तथा परमात्मस्वरूप यथार्थरीत्या जान चुका है, बाह्य जगत्के न पदार्थोंसे जिसका चित्त ऊब गया है तथा आन्तरि आनन्दका उपभोग करनेके लिये जो पूर्ण लालायि है, वही भाग्यभाजन भक्तवर वर्णनातीत दिव्य अलौकिक ईश्वरीय आनन्दका साक्षात् भोक्ता बनता है

ओ दुनियाके भोले मानवो ! एकान्तमें बैठकर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शान्त चित्तसे अपने जीवनके यथार्थ ध्येयका विचार तो करो; आन्तरिक शोध तो लगाओ, ज़रा देखो तो सही तुम्हारे हृदयमन्दिरमें कैसी-कैसी अनूठी चीजें भरी हैं? प्रेम, भक्ति, श्रद्धा, विश्वास, शील, सन्तोषादि दैवी गुणोंका कैसा अनोखा खजाना है? अज्ञानके घनान्धकारमें छिपे हुए प्रभाकरको पहचाननेकी कोशिश तो करो; ऐसा करनेसे तुम्हें कर्तव्याकर्तव्यका विमल विज्ञान होगा। अज्ञानकी, दुःखोंकी, संकटोंकी घनी घटाएँ छिन्न-भिन्न हो जायँगी, हृदयभवनके कोने-कोनेमें प्रकाश छा जायगा, दुर्दमनीय दुर्गुण-दलके सरदार अपने सैनिकोंसहित त्रस्त होकर तितर-वितर हो जायँगे, तुम्हारी जीवनधाराका अनुचित बहाव पलट जायगा, शरीरमें सच्चे जीवनका सञ्चार होगा, सद्गुणोंका विकास होगा, अन्तमें सत्यश्रद्धाके प्रतापसे उस परमप्रदीप्त, ज्ञानके भण्डार, आनन्दके आकर आत्माका और तदन्तर्यामी परमात्मा प्रभुका साक्षात् दर्शन प्राप्तकर कृतार्थ हो जाओगे।

आज मानवजीवनकी विशालता बुरी तरह नष्ट की जा रही है। संसारमें स्वार्थका आधिपत्य है। स्वार्थके साम्राज्यमें साधुपुरुषोंका तथा सुन्दर सद्गुणोंका गुजारा ही नहीं है। आज तो स्वार्थकी सत्ता ही स्वतन्त्ररूपसे अपनी धाक जमाये बैठी है। आजके समयमें, आजके जगत्में, आजके वायुमण्डलमें तथा आजके महदाकाशमें स्वार्थलहरीके घोर झनकार ही झंकरित हो रहे हैं। स्वार्थका तुमुल नाद ही अणु-अणुमें व्याप्त है। उसीका ताण्डव मचा हुआ है। परमविशुद्ध ईश्वरीय अंशोंको (आत्माओंको) स्वार्थके निविडान्धकारने ढक दिया है। मित्रो! कबतक इस कदर गड्ढेमें पड़े सड़ा करोगे? मानवजीवनकी महान् शक्तिको उपयोगमें क्यों नहीं ला रहे हो? याद रहे, वह शक्ति मानवदेहको छोड़कर अन्यत्र कभी कुछ भी तुम्हारी सहायता नहीं कर सकेगी, देखो स्वार्थ तुम्हारे जीवनक्षेत्रको संकुचित बना रहा है। स्वार्थमय नीच प्रवृत्ति तुम्हें नीचे ढकेल रही है। स्वार्थ तुम्हारी मानवताका विनाश कर रहा है। यदि मानवजीवनको सार्थक करना है, नरसे निशाचर न बनकर देव बनना है, स्वर्गका साम्राज्य प्राप्त करना है, प्रभुधाम लाभ करना है तो स्वार्थान्धताका सर्वथा परित्याग कर दो। हृदयको भक्तिभावनासे भर दो। संकुचित विचारोंकी सृष्टिका संहार करो और लग जाओ सर्वतोभावेन सर्वेश्वरके परमशुभ नामस्मरणमें।

जगत् अन्धकारमें पड़ा हुआ है, जगत्की आँखोंके सामने महान् अन्धकार छाया हुआ है, जगत्के मनुष्य अपनी इस महानताको भुलाकर अन्धकारमें बुरी तरह लड़खड़ा रहे हैं, वे पाञ्चभौतिक देहको ही सर्वस्व (आत्मा) मान बैठे हैं। स्वार्थरूप तस्करने उनका ज्ञान अपहरण कर लिया है, बुद्धि स्वार्थके अचूक आक्रमणोंसे प्रतिहत हो रही है, इन्द्रियाँ विषयोंकी ओर दौड़ रही हैं, मन भी काबूमें नहीं है, प्रायः सभी लोग सांसारिक सुखोंके तृष्णाजालमें फँसे हुए हैं, शरीरकी नश्वरताका ज्ञान विस्मृत हो गया है, मायिक विकारोंके संसर्गसे अपनेको विकारी समझ रहे हैं; परन्तु याद रक्खो, तुम निर्विकारी हो। आत्मा ईश्वरका अंश है, उसमें कभी किसी प्रकारकी विकृति पैदा नहीं हो सकती। शरीर ही आत्माको विकारी बनाये हुए है। मन, बुद्धि तथा विषयलोलुप इन्द्रियाँ विकारी जगत्की रचना करती हैं तथा आत्माको अपने जालमें फँसानेकी चेष्टाएँ करती हैं, परन्तु आत्मा जब अपने स्वरूपको ठीक-ठीक पहचान लेता है तब वह उनके फैलाये हुए मायाजालको तोड़-फोड़ कर विमुक्त हो जाता है, अपने नित्यनिकेतन प्रभुधामकी प्राप्तिके लिये अत्यन्त उत्कण्ठित हो उठता है, सत्वर भगवच्छरण हो जाता है और मानवजीवनको सार्थक कर जगत्में महान् आदर्श उपस्थित करता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आत्माका विशाल क्षेत्र मानवजीवन आज कितना संकुचित हो गया है ? मनुष्यजीवनकी वह अपरिमित विशालता (जीवनमर्यादा) आज कितनी अल्प प्रतीत हो रही है ? वह सबका सम्राट् आत्मा आज कैसे बन्धनोंमें बँधकर कारागारकी असह्य वेदनाएँ भोग रहा है ? आश्चर्य तो यह है कि ऐसी दर्दीली हालतमें भी अपनेको वह सुखी समझ रहा है। मानवजीवनकी यह अल्पता आत्माको जन्म-मरणके बन्धनोंमें बार-बार जकड़कर इसके क्षेत्रको और भी अधिक संकुचित बना रही है। अब तो यह संसारमें ऐसा फँसा है कि इसे इन दुःखोंसे छुटकारा पानेकी भी कभी नहीं सूझती। जगत् मेरा, यह शरीर मेरा, ये सम्बन्धी मेरे, ये धन, जन, गृह, परिवार मेरा, इसी मेरे-तेरेके फेरमें अपने सर्वस्वसे यह हाथ धो बैठा है। भगवल्लोक मेरा लोक है, प्रभुपार्षद मेरे प्रिय परिवारके जन हैं, भगवत्प्राप्ति मेरा ध्येय है, भगवत्कैङ्कर्य मेरा कर्तव्य है, यह विशुद्ध ज्ञान तो आज आत्मा भूल ही गया है।

हाय अफसोस! जिनको इतना भी ज्ञान नहीं है, जो लोग इस तरह बन्धनोंसे जकड़े हुए हैं, जो व्यर्थके झंझटोंसे एक घड़ी-पलके लिये भी चित्त नहीं हटा सकते हैं, जो घड़ीभर भी प्रभुस्मरण निश्चिन्त होकर नहीं कर पाते, अपना कुछ भी श्रेय नहीं साध सकते हैं, वे लोग देशका क्या भला करेंगे ? समाजका क्या हित करेंगे ? भवाटवीमें भूले-भटकते पथिकों क्या सन्मार्ग बता सकेंगे ? वे तो खुद भटकते फिरते

प्यारे दोस्तो ! देशके प्राणपुरुषो ! खा मर्यादित सीमाको लाँघकर अपने मानवजीव विशालताका अनुभव करो और कूद पड़ो रणक्षे ईश्वरप्रीत्यर्थ देश, समाज, धर्मके लिये हँसते-ह अपने प्राणोंकी पुष्पाञ्जलियाँ चढ़ाओ। इससे तुम हो सकोगे, तुम्हारा संसार परिवर्तित हो जायगा! चारों तरफ शान्ति और आनन्दकी लहरें लहराती दीख पड़ेंगी। याद रहे, जो खुद सुधरे हैं वे ही दू को सुधार सकते हैं, जो खुद अपना कल्याण कर हैं वे ही दूसरोंका कल्याण कर सकते हैं। जो अपने ईश्वरीय कृपापात्र समझते हैं, जिनको प्रभुचरणों कृपाका पूरा-पूरा दृढ़ आधार है वे ही सांसारिक जीवों भगवान्‌की कृपाका आश्वासन दिलाकर उन्हें भगवत् बना सकते हैं। यदि तुम प्रभुशरण हो जाओगे, उन पक्का भरोसा रक्खोगे तो उसकी अप्रतिम शक्तिसे अ साथ ही बहुतोंका उद्धार कर सकोगे। तुम अमर जाओगे, तुम्हारा नाम अमर होगा, तुम्हारा यश अ होगा, तुम संसारमें आदर्श समझे जाओगे, तुम्हारे जीवनको आदर्श मानकर जो लोग तुम पथका अनुगमन करेंगे वे भी अमर हो जायँगे।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सर्वसमर्थ श्रीरामका स्वभाव

(लेखक—श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव)

गोसाईं तुलसीदासजीने रामचरित-मानसमें जड पदार्थों और सजीव प्राणियोंके स्वभावका वर्णन जिस उत्तम रीतिसे किया है वह देखते ही बनता है। उससे मालूम होता है कि गोसाईंजी-की निरीक्षणशक्ति अनुपम, अनुभव अत्यन्त सूक्ष्म और दृष्टि बड़ी दिव्य थी। ऐसा सफल और सजीव वर्णन वही कर सकता है जिसने प्रत्येक वस्तुके असली रूपको देख-समझ लिया हो। इस लेखमें हम थोड़ा-सा यह दिखलानेका प्रयत्न करेंगे कि गोसाईंजीने सर्वसमर्थ श्रीरामके स्वभावका वर्णन किस तरह किया है।

सर्वसमर्थ श्रीरामके स्वभावका वर्णन देखनेके पहले यह देखना चाहिये कि समर्थके लक्षण क्या हैं।

महान् आत्माओं और समर्थ महापुरुषोंमें कुछ असाधारण शारीरिक लक्षण पाये जाते हैं। वे भूख, प्यास, नींद आदिको अनेक अंशोंतक अपने अधीन कर लेते हैं और साधारण आदमियोंकी अपेक्षा अत्यधिक श्रम कर सकते हैं। अस्तु, भगवान् श्री-रामकी भुजाएँ विशाल थीं, छाती उन्नत और चौड़ी थी, कन्धे सिंहके कन्धोंके समान पुष्ट थे, मुखकी छबि अलौकिक थी, नेत्र कमलके समान थे, शरीर सुन्दर साँवला था। उस शोभासिन्धु, घनश्याम, दीनदयालु, लोचनाभिराम रामके विविध रूप (बालरूप, नररूप, भूपरूप, सगुणरूप, विश्वरूप) का वर्णन गोसाईंजीने रामायणमें कई प्रसङ्गोंपर, कई प्रकारसे किया है। यहाँ विस्तार करनेकी आवश्यकता नहीं। केवल यह कहना बस होगा कि साधारण आदमियों और विभूतियोंमें अन्तर होता है; समर्थोंकी करनीके जैसे कुछ खास लक्षण होते हैं वैसे ही उनके शरीरके भी कुछ लक्षण होते हैं। फिर श्रीराम तो विभूति-विशेष नहीं, साक्षात् सच्चिदानन्द परमात्मा थे।

समर्थके लक्षण बतलाते हुए नारदजीने कहा है कि संसार जिसे दोष समझता है वह भी समर्थ पुरुषमें गुण कहलाने लगता है। त्रिलोकीनाथ विष्णुभगवान् रेशम और मखमलकी सेजपर नहीं सोते—वे शयन करते हैं ज़हरीले साँपकी सेजपर! उन्हें कोई नहीं हँसता—लोग उलटे उनकी प्रशंसाकर शेषशायी परमात्मा कहते हैं!! सर्वशक्तिमान् जो ठहरे। यही हाल सूर्यदेव और अग्निदेवका भी है; ये भले-बुरे सभी पदार्थोंका रस खींचते हैं, तो भी इन्हें कोई बुरा नहीं कहता। सामर्थ्यवान्को भी कहीं दोष लग सकता है? वे गुण और दोषसे परेकी अवस्थामें रहते हैं। पतित-पावनी गंगाजीमें पवित्र और अपवित्र सभी प्रकारका पानी पहुँच जाता है, परन्तु गंगाजलको कौन अपवित्र कहता है? तात्पर्य यह कि समर्थको, 'रवि-पावक-सुरसरिकी'* तरह, कोई दोष नहीं लगता। परन्तु यदि कोई साधारण आदमी इन समर्थोंकी बराबरी करने लगे तो सारा संसार उसे मूर्ख समझेगा।

नारदजीने हस्तरेखा देखकर हिमकन्या पार्वतीके लायक जो वर बतलाया था उसमें दोष-ही-दोष थे।

---

* जो अहि सेज सयन हरि करहीं।
बुध कछु तिन्ह कहँ दोष न धरहीं॥
भानु कृसानु सर्बरस खाहीं।
तिन कहँ मंद कहत कोउ नाहीं॥
सुभ अरु असुभ सलिल सब बहहीं।
सुरसरि कोउ अपुनीत न कहहीं॥
समरथ कहँ नहिं दोस गुसाईं।
रबि पावक सुरसरिकी नाईं॥
(बालकाण्ड)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पार्वतीको कैसा दोषपूर्ण पति मिलनेवाला था ? जरा देखिये—

अगुन अमान मातु पितु हीना। उदासीन सब संसय छीना॥

और—

जोगी जटिल अकाम मन, नगन अमंगल भेष।
अस स्वामी इहि कहँ मिलिहि, परी हस्त अस रेख॥

(बालकाण्ड)

भावी वरमें दोष-ही-दोष भरे थे !!! परन्तु ये सब दोष समर्थ शङ्कर भोलानाथके गुण थे—

जो बिबाह संकर सन होई। दोषउ गुन सम कह सब कोई॥

समर्थताका यही लक्षण है। समर्थ पुरुषोंके कर्म (कार्य) असाधारण, अलौकिक, गूढ़, अत्यन्त सरल, अत्यन्त कठिन और विचित्र* हुआ करते हैं। ऐसे सर्वसमर्थ पुरुषोत्तम संसारके प्रवाहको किसी नयी दिशा-में बदल सकते हैं, मुर्दोंमें जान फूँक देते हैं, होनहार-को मिटा देते हैं और असम्भवको सम्भव कर डालते हैं। समुद्रपर सैकड़ों कोस सेतु बाँधना असम्भव था। तिनका भी कहीं ब्रह्मास्त्र बनाया जा सकता जयन्तके पीछे एक तृणको ही अस्त्र बनाकर दिया था। रावण जिंदा ही था और उसके जीते विभीषणको 'लङ्केश' की पदवी देकर राज्यतिलक दिया !!! किसीकी ओर कृपाकर देख लें, पीठपर फेर दें तो सारा बिगड़ा हुआ खेल तुरन्त बन जा रावणका मारा-कूटा गिद्धराज मृत्युकी घड़ियाँ गिन था, रामने उसके सिरपर हाथ फेर दिया कि उ सारी पीड़ा दूर हो गयी। बालिके घूँसेकी मार सु को वज्रप्रहारके समान लगी, तब—

कर परसा सुग्रीव सरीरा। तनु भा कुलिस गई सब पी

जब रामके बाणसे व्याकुल होकर बालि पृथ्वी गिर पड़ा और अभिमान छोड़कर कोमल वचन क लगा, तब—

सुनत राम अति कोमल बानी। बालि सीस परसेउ निज पा
अचल करउँ तनु राखहु प्राना। .....

समर्थ व्यक्तिकी शक्ति अथाह होती है, उस प्रताप अद्भुत, पराक्रम अजेय और कृपा अमोघ है। वह जो कुछ करता है—सब उचित ही क है। क्योंकि अनुचित काम करना उसका संस्कार, धर्म स्वभाव अथवा धर्म कुछ भी नहीं है। सच्चा स पुरुष वही है जो अन्याय, अत्याचार और अनु काम करने या इनमें सहायता पहुँचानेमें अपने आप सदैव असमर्थ पाता है—जो स्वप्नमें भी ऐसे काम क करता। अयोध्याके नररूपधारी राजा राम ऐसे त्रिगुणातीत समर्थ थे। इन्हीं सच्चिदानन्दस्वरूप स्वभावका वर्णन गोसाईंजीने सफलतापूर्वक किया है प्रेमी पाठको ! प्रस्तुत लेखमें इसी वर्णनका कुछ र स्वादन कराया जावेगा।

स्वभावका पता चरित्र और कामोंसे लगता है किसीके चरित्रको ठीक-ठीक देखे-समझे बिना

---

* कुछ उदाहरण लीजिये—

जोग लगन ग्रह बार तिथि, सकल भये अनुकूल।
चर अरु अचर सुहरष जुत, राम जनम सुखमूल॥

(बालकाण्ड)

मास दिवसकर दिवस भा, मरम न जानइ कोइ।
रथ समेत रवि थाकेउ, निसा कवन बिधि होइ॥

(बा० का०)

लेत चढ़ावत खैंचत गाढ़े। काहु न लखा देख सब ठाढ़े॥

(बा० का०)

लछमनहूँ यह मरम न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना॥

(अरण्यकाण्ड)

निगम नेति सिव ध्यान न पावा। मायामृग पाछे सो धावा॥

(अ० का०)

छन महँ सबहिं मिले भगवाना। उमा मरम यह काहु न जाना॥

(उत्तरकाण्ड)

जो चेतन कहँ जड करइ, जड़हि करइ चैतन्य।
अस समर्थ रघुनायकहि, भजहिं जीव ते धन्य॥

(उ० का०)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उसके स्वभावको जान नहीं सकते। हम परायेपनका भाव रखकर, हृदयहीन बनकर, कुतर्कके द्वारा, आँखों-पर द्रोह और द्वेषका चश्मा चढ़ाकर किसीके चरित्रको देखें तो मामला जरा मुश्किल है। दिशाभ्रम और नेत्रदोष*से किसीका चरित्र समझा नहीं जा सकता और स्वभाव जाना नहीं जा सकता। क्या हम किसी समर्थ पुरुषके चरित्र और स्वभावको ठीक-ठीक समझ लेनेके अधिकारी हो गये हैं? प्रश्न कुछ अटपटा है। प्रत्यक्ष चरित्र और प्रत्यक्ष स्वभावको भी समझनेमें अधिकारकी जरूरत? क्या हमने उच्च शिक्षा नहीं पायी है? हमने बड़ी-बड़ी परीक्षाएँ पास की हैं; हम तो न्यायशास्त्री, तर्कविशारद, कानूनके पण्डित, कलाविद्, साहित्यरत्न, काव्यमर्मज्ञ और भाषाके आचार्य हैं—रामके चरित्रमें ऐसी कौन-सी गुह्य बात है जिसे हम समझ नहीं सकते, ऐसा कौन-सा काम है जिसके गुण-दोषकी हम आलोचना नहीं कर सकते !!! इस विचारपरम्पराका उत्तर देते हुए 'अवगुणोंसे भरे हुए', 'सकल कलारहित और सब विद्याओंसे हीन', 'तुच्छ बुद्धिवाले', 'वञ्चकोंमें अग्रगण्य' और 'ढीठ'† गोसाईं तुलसीदासजी कहते हैं—

*नयन दोष जा कहँ जब होई। पीतबरन ससि कहँ कह सोई॥
जब जेइ दिगभ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उगेउ दिनेसा॥
(उ० का०)

और—

ते सठ हठबस संसय करहीं। निज अग्यान राम पर धरहीं॥
(उत्तरकाण्ड)

†जौ अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढ़इ कथा पार नहिं लहऊँ॥
कबि न होउँ नहि बचन प्रबीना। सकल कला सब बिद्या हीना॥
अति अति नीच ऊँच रुचि आछी। चहिय अमिअ जग जुरै न छाछी
छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बाल बचन मन लाई॥
बंचक भगत कहाइ रामके। किंकर कंचन कोह कामके॥
तिन महँ प्रथम रेख जग मोरी। धिक धरमध्वज धंधक धोरी॥
(बालकाण्ड)

अति बिचित्र रघुपतिचरित, जानहिं परम सुजान।
जे मति मंद बिमोह बस, हृदय धरहिं कछु आन॥
(बा० का०)

अर्थात् रामका चरित्र केवल विचित्र ही नहीं, अति विचित्र है; उसमें विद्याभिमानी मूर्खों और अधिकारहीन दम्भियोंको कई बातें उलटी, अनुचित, अन्यायपूर्ण, असम्भव, निर्दयतापूर्ण और नीतिरहित दिखलायी पड़ती हैं; परन्तु 'परम सुजान' लोग उसे ठीक-ठीक समझ लेते हैं। परम सुजान व्यक्ति अथवा सिद्ध ज्ञानी ही समझनेका अधिकारी है, दूसरा नहीं।

उमा रामगुन गूढ़, पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़, जे हरिबिमुख न धरम रति॥
(बा० का०)

रामके चरित्र गूढ़ हैं—उन्हें पण्डित और मननशील मुनि समझ सकते हैं—कानून और तर्कके पण्डित नहीं, धर्मके रहस्योंका भीतरी भेद समझनेवाले आत्मज्ञानी और समदर्शी पण्डित अथवा बुद्धिका अभिमान छोड़कर शरणभाव रखनेवाले श्रद्धावान् पण्डित। 'तुच्छ बुद्धिवाले', 'सब विद्याओंसे हीन' और 'ढीठ' तुलसीदासका यही फैसला है। सर्वसमर्थ रामके सुन्दर और विचित्र चरित्र तथा सुखद स्वभावको समझनेके लिये तुलसीदासजीकी तरह 'बुद्धिहीन', 'तुच्छ' और दीन प्राणीकी जरूरत है। अस्तु!

अभीतक हमने यह समझनेका प्रयत्न किया है कि समर्थ किसे कहते हैं और समर्थ व्यक्तिके विचित्र चरित्रको समझनेका अधिकारी कैसा होना चाहिये।

अब मुख्य विषयका प्रारम्भ करनेके पहले, नमूनेकी तौरपर, थोड़ा-सा यह और देख लें कि वर्णनकला-कुशल गोसाईंजीने किसीके स्वभावका वर्णन सामान्य-रूपसे किस तरह किया है।

अग्निका सहज स्वभाव क्या है? सप्त ऋषियोंसे पार्वती कहती है—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तात अनलकर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहिं काऊ॥
गये समीप सो अवसि नसाई। अस महेस मनमथकी नाँई॥
(बालकाण्ड)

नारीका स्वभाव कैसा होता है? मन्दोदरीके नीतिपूर्ण उपदेश सुनकर रावण कहता है—

सभय सुभाउ नारिकर साँचा। मंगल महँ भय मन अतिकाँचा
(सुन्दरकाण्ड)

मनुष्यरूपधारी राक्षसका स्वभाव कैसा होता है? सुनिये—

बोलहिं बचन मधुर जिमि मोरा। खाहिं महा अहि हृदय कठोरा॥
परद्रोही परदाररत, परधन पर अपवाद।
ते नर पामर पापमय, देह धरे मनुजाद॥
(उत्तरकाण्ड)

अच्छा, शास्त्र और राजाका स्वभाव कैसा होता है?

सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिय। भूपसुसेवित बस नहिं लेखिय
राखिय नारि जदपि उर माँही। जुबती, शास्त्र, नृपति बस नाहीं
(अरण्यकाण्ड)

नीचका स्वभाव कैसा होता है? यह भी देखिये—

लातहुँ मारे चढ़त सिर, नीचको धूरि समान॥
(अयोध्याकाण्ड)

जेहि ते नीच बड़ाई पावा। सो प्रथमहिं हठ ताहि नसावा॥
(उत्तरकाण्ड)

क्या गोसाईंजीने दुष्टोंके स्वभावका भी वर्णन किया है? हाँ, देखिये—

बैर अकारन सब काहूसों। जो कर हित अनहित ताहूसों॥
खल बिनु स्वारथ पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी॥
(उत्तरकाण्ड)

और,

पर अकाज लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिमउपल कृषीदलि गरहीं
(बालकाण्ड)

और, सच्चे सन्तका स्वभाव कैसा होता है?

पर उपकार बचन मन काया। संत सहज स्वभाव खगराया॥
(उत्तरकाण्ड)

परहित लागि तजहिं जे देही। संतत सन्त प्रसंसत तेही॥

पाठको, ऊपर दी हुई चौपाइयोंसे मालूम होगा कि गोसाईंजीने अग्नि, नारी, मानव-राक्षस, शास्त्र, राजा, नीच, दुष्ट, संत आदिके सहज स्वभावका वर्णन किस सफलताके साथ किया है। जबतक किसीके यथार्थ रूप और गुण-दोषका ज्ञान नहीं रहता तबतक उसका स्वाभाविक और ठीक-ठीक वर्णन नहीं किया जा सकता। अवतारधारी राम साक्षात् परब्रह्म थे—सर्वशक्तिमान् और पूर्ण समर्थ थे। इन्हीं सर्वसमर्थ रामके स्वभावका सफल वर्णन गोसाईंजीने बड़ी सुन्दरताके साथ और कुशलतापूर्वक किया है। अच्छा, अब मुख्य विषय (सर्वसमर्थ रामके स्वभावका कुछ वर्णन) प्रारम्भ करें।

किसी व्यक्तिका स्वभाव दो प्रकारका होता है; एक निजी या व्यक्तिगत और दूसरा वंशपरम्परागत या खानदानी। रामके व्यक्तिगत स्वभावको आगे चलकर देखेंगे, पहले थोड़ा-सा यह देख लें कि उनका अवतार कैसे घरानेमें हुआ था—उनका खानदानी स्वभाव कैसा होना चाहिये था।

राम रघुवंशी थे—उन्होंने रघुकुलमें जन्म लिया था। दशरथजी कैकेयीको रघुकुलकी रीति बतलाते हैं—

रघुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाहिं बरु बचन न जाई।
(अयोध्याकाण्ड)

पुष्पवाटिकामें सीताकी अलौकिक शोभा देखकर रामने आत्मविश्वासके साथ लक्ष्मणसे कहा था—

रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मन कुपंथ पग धरहिं न काऊ।
मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी॥
(बालकाण्ड)

धनुषयज्ञके समय जनककी अनुचित बात सुनकर लक्ष्मणने क्रोधपूर्वक कहा था—

रघुबंसिन्ह महँ जहँ कोउ होई। तेहि समाज अस कहै न कोई।
कही जनक जस अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुलमनि जानी॥
(बा० का०)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

क्रोधमें डूबे हुए परशुरामजीसे लक्ष्मणके सम्बन्धमें राम कहने लगे—

देखि कुठार बान धनुधारी। भइ लरिकहि रिस बीर बिचारी॥
नाम जान पै तुमहिं न चीन्हा। बंससुभाव उतर तेइ दीन्हा॥
जो तुम अवतेउ मुनिकी नाईं। पदरज सिर सिसु धरत गोसाईं॥
(बा० का०)

फिर, अपना छोटा-सा अपराध और परशुरामका बारंबार अत्यधिक क्रोध देखकर राम कहने लगे—

कहौं सुभाव न कुलहिं प्रसंसी। कालहुँ डरहिं न रन रघुबंसी॥
(बा० का०)

रघुकुलमणि, नररूपधारी और अवतारी रामने जिस सूर्यवंशी क्षत्रियकुल और प्रतापी घरानेमें जन्म लिया था, उसकी विशेषताओंका थोड़ा-सा वर्णन ऊपरकी चौपाइयोंमें मिलता है। रघुवंशी लोग अपने वचनके आगे अपने प्राणोंको न्योछावर कर देते थे, स्वयं कुपन्थमें कभी न चलते थे, कुमार्गगामी बड़े-बड़े वीरों और अत्याचारियोंसे झगड़ा मोल ले लेते थे, उनके सामने कोई अंट-संट बात कर ही नहीं सकता था, ललकारे जानेपर वे प्रत्यक्ष मृत्युदेवसे भी लड़नेको तैयार रहते थे। इस तरहकी कई विशेषताएँ और आनुवंशिक संस्कार रघुके घरानेमें थे। रामका जन्म इसी दिव्य कुलमें हुआ था—किसी ऐसे-वैसे खानदानमें नहीं। इससे रामके खानदानी स्वभावका पता लग सकता है।

अब यह देखें कि गोसाईंजीने अजन्मा और सर्वसमर्थ श्रीरामके व्यक्तिगत स्वभावका वर्णन किस तरह किया है और रामके चरित्रमें गूढ़ तथा विचित्र बातें कौन-कौन-सी हैं।

रामजन्मके समय गोसाईंजी कहते हैं—'बिप्र धेनु सुर संत हित, लीन्ह मनुज अवतार।' रामके अवतार धारण करनेमें एक उद्देश्य ब्राह्मणोंकी रक्षा और हित करना भी था। विप्र, द्विज अथवा ब्राह्मणोंकी महिमा* रामायणमें कई स्थानोंमें बतलायी गयी है—विप्रोंका अपमान करना और उनसे अपने पाँव पुजाना निन्दित कर्म कहा गया है। यह सब होते हुए भी रामने ब्राह्मणकुलोत्पन्न (पुलस्त्यके नाती) रावणका वध कर डाला—किस तरह? 'रहा न कुल कोउ रोवनहारा।' रावणके कुलमें कोई रोनेवाला भी न बचा, उसके लाखों बेटों-नातियोंसमेत उसे मार डाला! रामजन्मके हेतु और रामके कर्मोंके गूढ़ रहस्यमें विरोध है या मेल? और ब्राह्मण परशुरामसे रामने कहा था कि मैं आपको ब्राह्मण मानकर फिर आपका अपमान कर नहीं सकता—

जो हम निदरहिं बिप्र बदि, सत्य सुनहु भृगुनाथ।
तौ अस को जग सुभट जेहि, भयबस नावहिं माथ॥

वे ही राम शत्रु रावणके भाई विभीषणको आता देखकर क्या कहते हैं?

कोटि बिप्र-बध लागहि जाहीं। आये सरन तजउँ नहिं ताहीं॥
(सुन्दरकाण्ड)

मृत्युसे भी एक बार लड़नेका बल और साहस रखनेवाले, कालके भी कालस्वरूप राम, बार-बार कटु वचन सुनकर, एक ही विप्र परशुरामका अपमान करनेसे डरते थे। परन्तु शरणागतवत्सल† रामको 'कोटि बिप्र-बध' करनेवाले पापीके पापोंका थोड़ा भी

---

* चरम देह द्विजकर मैं पाई। सुरदुरलभ पुरान श्रुति गाई॥
(उत्तरकाण्ड)

और

इन्द्र कुलिस मम सूल बिसाला। कालदंड हरिचक्र कराला॥
जो इनकर मारा नहिं मरई। बिप्रदोह पावक सो जरई॥
(उ० का०)

† जथा अनेकन्ह बेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ।
जोइ जोइ भाव दिखावई, आपुन होइ न सोइ॥
(उत्तरकाण्ड)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

डर नहीं—अशरण-शरण राम, खास-खास सूरतोंमें*, ऐसे अधम जीवको भी शरण और अभयदान दे सकता है। क्यों ? है न यह अति विचित्र बात ? भूतद्रोह और विप्रद्रोह पाप है परन्तु पश्चात्ताप करनेवाले आर्त और असहाय प्राणीके लिये रामको अपनी समर्थताका स्मरण रहता है—उस पापीकी अधमताका नहीं। समर्थोंके चरित्र और स्वभावमें ऐसी ही विचित्रता पायी जाती है। कारण क्या है ? देखिये, सुग्रीवसे राम कहते हैं—

.....। मम प्रन सरनागत भय हारी॥
सरनागत कहँ जे तजहिं, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पामर पापमय, तिनहिं बिलोकत हानि॥
(सुन्दरकाण्ड)

अनेक जन्मोंके लगातार पापी और अगणित ब्राह्मणोंके हत्यारेको भी शरण देनेका बाना किसी परमसमर्थ व्यक्तिके सिवा और किसका हो सकता है ? ऐसोंको (छल-छिद्र और कपट छोड़कर निर्मल मनसे रामाभिमुख होनेवालेको) आश्रय देकर निर्भय कर देनेकी क्षमता सर्वसमर्थ श्रीराममें ही है। अपने इसी प्रण, इसी बाने और इसी व्यक्तिगत स्वभावकी चर्चा रामने विभीषणसे भी की है—

सुनहु सखा निज कहहुँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरिजाऊ॥
जो नर होइ चराचर द्रोही। आवइ सभय सरन तकि मोही॥
तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना॥
(सुन्दरकाण्ड)

तात्पर्य यह है कि रामका स्वभाव शरणागत-वत्सल है—उसकी गोदमें सभीके लिये (चराचर-द्रोही, कोटिविप्रघातकी और कोटिजन्मके पापीके लिये भी) सभी समय स्थान है। वह अतुलित दया-का भाण्डार है, समर्थताकी पराकाष्ठा है, सर्वशक्तिमान् है, 'बाँह गहेकी लाज' न रक्खे तो क्या कायर और असमर्थ बन जाय ? परन्तु वह कुछ खास शर्तोंपर—अपनी बतलायी शर्तोंपर—ही किसीकी बाँह पकड़ता है।

यदि उसने कभी एक बार बाँह पकड़ ली तो फिर वह कभी छोड़ता भी नहीं—वह शरणागतको 'प्राणकी नाईं' रखता है। शरणागत भक्तकी विपत्तियोंका सभी प्रकारसे निवारण करना उसका पेशा है। वह त्रिलोकीनाथ इस कामको सदैव बड़े प्रेमसे करता है। जो सबका भरोसा छोड़कर केवल उसीका भरोसा रखता है उसपर विपत्ति आ ही नहीं सकती। रावणने बड़े क्रोधसे विभीषणपर तीव्र शक्ति-बाण छोड़ा, तब—

आवत देखि सक्ति अति भारी। प्रनतारत हरि बिरद सँभारी॥
तुरत बिभीषन पाछे मेला। सनमुख राम सहेउ सो सेला॥
(लङ्काकाण्ड)

—रामने अपनी चौड़ी छाती अड़ा दी, विभीषणपर आनेवाला महान् सङ्कट दूर हुआ। यह एक स्थूल और दृश्य उदाहरण है—इस तरहके सूक्ष्म और अव्यक्त उदाहरण असंख्य हैं। वह अपने आश्रितकी रक्षा सदैव इसी तरह करता है।

अच्छा, रामका एक दूसरा व्यक्तिगत स्वभाव देखिये। वह अत्यन्त उदार है। उस दानि-शिरोमणि से जो कुछ माँगो—पात्रता रहनेपर—सब कुछ मिल सकता है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे वह अपने प्रेमियों और अधिकारी सेवकोंको न दे सके या न देना चाहे। मनु और शतरूपाने कहा—तुम हमारे पुत्र बन जाओ, उसने यह भी मंजूर कर लिया। सुग्रीवने कहा—तुम मेरे मित्र और हितैषी बन जाओ। शत्रुसे मेरी रक्षा करो, उसने यह भी मंजूर कर लिया। सुतीक्ष्णने कहा—मुझे अविरल भक्ति दो, सदैव मेरी आँखोंके आगे खड़े रहो, उसने यह भी मंजूर कर

*सनमुख होइ जीव मम जबहीं। जनम कोटि अघ नासउँ तबहीं॥
जो पै दुष्ट हृदय सो होई। मोरे सनमुख आव कि सोई॥
निरमल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥
(सुन्दरकाण्ड)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लिया । महान् तपस्वी परन्तु सकाम भक्त मनुसे भगवान्ने कहा था—

सकुच बिहाइ माँगु नृप मोहीं । मोरे नहिं अदेय कछु तोहीं ॥
(बालकाण्ड)

देवर्षि नारद परम उदार रामसे कहने लगे—

सुनहु उदार परम रघुनायक । सुन्दर अगम सुगम बरदायक ॥
देहु एक बर माँगहुँ स्वामी । जद्यपि जानत अंतर्यामी ॥
(अरण्यकाण्ड)

उस समय नारदको जो उत्तर दिया उससे रामके स्वभावकी परम उदारताका पता चलता है—

जानहु मुनि तुम मोर सुभाऊ । जन सन कबहुँ कि करौं दुराऊ॥
कवन बस्तु अस मोहि प्रिय लागी।जो मुनिवर न सकहु तुम माँगी
जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे । अस बिसवास तजहु जनि भोरे॥
(अरण्यकाण्ड)

रामका स्वभाव ऐसा उदार है जैसा तीनों लोकमें किसीका नहीं—उसके पास ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे वह अपने भक्तको न दे सके । उसकी कृपाके अधिकारी बन जाइये, बस फिर आपकी सकाम इच्छाओं और निष्काम लालसाओंके लिये उस श्रीपतिकी एक ही 'पेटेंट' आवाज है—'एवमस्तु'; दूसरी नहीं ।

परम उदार और सदाके दानी व्यक्ति संकोची भी होते हैं । यदि कभी कोई ऐसा अवसर आ जाय कि किसीको कुछ दे देनेकी सुविधा न हो तो उन्हें बड़ा संकोच होने लगता है । जिन कंजूसों और कृपणोंका कवच बेशर्मी है उन्हें क्या संकोच होगा ? राम वनवासमें थे । केवटने उन्हें नदी पार किया; कुछ देना चाहिये । खजाना तो पासमें था नहीं, क्या दें ? क्या कुछ भी न दें ? तो फिर किस कामके प्रभु ? है तो दो, नहीं है तो दो ।

केवट उतरि दंडवत कीन्हा।प्रभुहि सकुच एहि नहिं कछु दीन्हा
(अयोध्याकाण्ड)

बड़ोंके स्वभावमें ऐसा स्वाभाविक संकोच न हो, तो वे बड़े किस बातके ? कुछ देनेकी सुविधा न रहे तब तो उन्हें संकोच होना ही चाहिये (जैसा केवटके बारेमें हुआ था) परन्तु जब कोई चीज दे भी दी जाय, तब भी उन्हें संकोच होता है !!!

जो संपति सिव रावनहिं, दीन्ह दिये दस माथ ।
सो संपदा बिभीषनहिं, सकुचि दीन्ह रघुनाथ ॥
(सुन्दरकाण्ड)

किसीको छोटा-सा पदार्थ—थोड़ी-सी चीज—दे देनेपर परम उदार रामको बड़ा संकोच होता है। उसका स्वभाव है—दिया जाय, कोई बड़ा मूल्यवान् पदार्थ दिया जाय और खूब जी खोलकर दिया जाय । समय पाकर वह दे ही डालता है—दिये बिना कभी रहता नहीं । परन्तु तुच्छ चीजोंका दान करनेमें उस समर्थ श्रीपतिको संकोच हो जाया करता है ।

रामका स्वभाव अत्यन्त कोमल भी है । रामदलका सारा हाल देखकर रावणका दूत शुक कहता है—

अति कोमल रघुबीर सुभाऊ । जद्यपि अखिल लोककर राऊ ॥
मिलत कृपा प्रभु तुमपर करिहैं । उर अपराध न एकौ धरिहैं ॥
(सुन्दरकाण्ड)

शुक जिस कोमल * और कृपालु स्वभावका वर्णन करता है, उसका समर्थन जयन्तकी कथासे हो जाता है । शरारतखोर जयन्त बड़ा अपराधी था—उसके पीछे रामने ब्रह्मशर चला दिया था । परन्तु जब भयशोकसे व्याकुल होकर आर्तदशामें वह शरण आया तब कोमल स्वभाववाले रामने उसका वध नहीं किया—केवल एक आँख फोड़कर प्राणदान दे दिया। वह रामबाणकी अमोघता बनी रहे, इसीलिये। परन्तु उस दयानिधिका स्वभाव जिस तरह फूलसे भी अत्यन्त कोमल है उसी तरह वज्रसे भी अधिक कठोर भी है ।

*बालि त्रास व्याकुल दिन-राती।तन बहु ब्रन चिंता जरु छाती॥
सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ । अति कोमल रघुबीर सुभाऊ ॥
(किष्किन्धाकाण्ड)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उसके स्वभावकी गतिको ठीक-ठीक समझ लेना सरल काम नहीं है।

कुलिसहु चाहि कठोर अति, कोमल कुसुमहि चाहि।
चित खगेस अस रामकर, समुझि परै कहु काहि॥
(उत्तरकाण्ड)

रामायण पढ़नेवाले पाठक जानते हैं कि राज्याभिषेकके बाद अङ्गदकी बिदाईका प्रसङ्ग अत्यन्त करुणाजनक है। अङ्गद घर वापस जाना नहीं चाहता था—रामकी अटल इच्छा थी कि वह घर चला जाय। प्रेमी अङ्गदने दीनतापूर्ण प्रार्थना की—बड़ा अनुनय-विनय किया—वह रोने लगा। रामकी आँखोंमें भी आँसू भर आये। परन्तु समझा-बुझाकर, कारण बतला-कर, उसे बिदा कर ही दिया। यहाँ कोमलताकी गुंजाइश न थी—कठोरतापूर्वक उसे घर लौटा देनेकी ही आवश्यकता थी। ईश्वरकी गति और क्षणमात्रमें बदल जानेवाला स्वभाव जल्द समझमें नहीं आता; जिस बालिको मार डालनेके लिये रामने एक क्षणके पहले उसके हृदयमें बाण मारा था, उसीसे दूसरे क्षण कहने लगे—'अचल करौं तनु राखहु प्राना।' परिस्थिति बदल गयी—अधिकारमें अन्तर पड़ गया; बस, वज्रसे अधिक कठोर स्वभाव फूलसे अधिक कोमल हो गया। वज्रको तृण तो बना ही दिया था, तृणको वज्र बना देनेकी तैयारी थी। रामके दिव्य कर्म आवश्यकतानुसार कोमल और कठोर दोनों प्रकारके होते हैं—उसके चरित्रसे उसके इसी स्वभावका पता चलता है। जैसा उसका जन्म दिव्य है, वैसे ही कर्म भी। उसके कार्योंके गूढ़ रहस्योंको हम न समझ सकें तो कुसूर किसका?

उसका एक स्वभाव तो बड़ा ही विचित्र है। वह माँगनेपर भी बुरी चीज नहीं देता। कामदेवको जीत लेनेका अभिमान करनेवाले नारद—भगवान्‌की दुरत्यया मायासे मोहित नारद भगवान्‌से सुन्दरता माँगने लगे! किसलिये? एक परमसुन्दरीसे ब्याह करनेका शौक चर्राया था!! रोगी कुपथ्य भोजन माँगने लगा!!! ऐसे समय मूर्ख वैद्य ही कुपथ्य दे सकता है। परमात्मा अपने सच्चे सेवकको भला योगभ्रष्ट कैसे होने देगा? उस विवेकीने यथोचित परन्तु कड़वी दवा दी।

सुनहु रामकर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ॥
(उत्तरकाण्ड)

क्यों—

संसृति मूल सूलप्रद नाना। सकल सोकदायक अभिमाना॥

नारदका मान मर्दन हुआ; उन्हें क्रोध भी आ गया, थोड़ा कष्ट भी हुआ परन्तु रोग दूर हो गया। बात यह थी—

सब कहँ प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दासपर प्रीती॥
(उत्तरकाण्ड)

जदपि प्रथम दुख पावई, रोवइ बाल अधीर।
ब्याधिनास हित जननी, गनइ न सो सिसुपीर॥
तिमि रघुपति निज दासकर, हरहिं मान हित लागि।
(उत्तरकाण्ड)

डाक्टर चीर-फाड़कर दुष्टता करता है अथवा रक्षा! वह शस्त्र-क्रियाका कष्ट न दे तो फोड़ा मिटे कैसे! अविवेक और अहङ्कारको नष्टकर परमात्मा भलाई ही करता है, बुराई नहीं। हम उसके इस विचित्र और गूढ़ स्वभावको समझते नहीं इसीलिये उसे विवेकी और रक्षक न कहकर निष्ठुर न्यायी और कठोर कहते हैं। वह कोमलचित्त दयालु है या कठोरचित्त न्यायी! अथवा वह दोनों है? या वह दोनों नहीं है?

रामका एक सहज स्वभाव बड़ा आकर्षक है—वह हृदयकी शुद्धताका बड़ा प्रेमी है। उस अन्तर्यामी-को अन्तःकरणका सब हाल मालूम रहता है। वह स्वयं हमारे और आपके हृदयमें निवास भी करता है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
(गीता १८। ६१)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वह जहाँ रहता है वहाँका हाल न जानेगा? इसीलिये वह प्रभु हृदयकी गतिविधिको अधिक देखता है—कार्यके परिणाम और रूप-रंगको कम! वह स्वयं हृदयेश्वर है, हृदयवान् ही उसकी ओर अग्रसर हो सकता है, हृदयवान्‌को वह अपने हृदयसे ही लगा लेता है। उसका सारा खेल हृदयका है।

सुग्रीवने खबर दी और कहा कि शत्रुका भाई विभीषण आ रहा है, भेद लेने आता है अतएव उसे बाँध रखना चाहिये। तब रामने कहा—

जो पै दुष्ट-हृदय सो होई। मोरे सनमुख आव कि सोई॥

(सुन्दरकाण्ड)

नेत्रोंमें आँसू भरकर विभीषण त्राहि-त्राहि करने लगा। तब रामने क्या व्यवहार किया?

दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा। भुज बिसाल गहि हृदय लगावा

(सुन्दरकाण्ड)

रामने कुशल-समाचार पूछा। उत्तरमें विभीषणने पहले कुशलका सिद्धान्त बतलाया—

तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटिभाथा॥

(सुन्दरकाण्ड)

फिर वह निर्भय होकर कहने लगा—

जासु रूप मुनि ध्यान न आवा। सो प्रभु हरषि हृदय मोहि लावा

(सुन्दरकाण्ड)

पाठको! रामके व्यक्तिगत स्वभावमें, प्रेममें, रोषमें, प्रसन्नतामें हृदयका ही मूल्य अधिक है। किस तरह?

रहत न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सौ बार हिये की॥
जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली।
फिरि सुकंठ सोइ कीन्ह कुचाली॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी॥

(बालकाण्ड)

अपने आश्रित भक्तके किसी एकाध दण्डनीय कार्यका स्मरण करनेके बदले वह जगत्पिता उसे भूल जाता है और भक्तके पूर्वकालीन शुद्ध हृदय और अनन्यताका सैकड़ों बार विचारकर वह उसे एकाध बार क्षमा कर देता है। अवश्य ही दम्भ, आडम्बर, छल-कपटका पारखी राम बुरे कर्म करनेका लाइसंस नहीं दे रहा है; आचरण पहले अच्छा रहा हो, हृदय शुद्ध हो और एकाध बार किसी कारण भूलचूक* हो जाय तो पूर्वकालीन पवित्रता और पात्रता देखकर वह ऐसी गलतीको माफ कर देता है। पर हम तो इच्छापूर्वक, अभिमानपूर्वक और बार-बार अपराध करके उसे धोखा देनेका सफल प्रयत्न करना चाहते हैं!!!

समर्थोंके कार्य और स्वभावके कुछ लक्षण ऊपर बतलाये गये हैं। अनादि परमात्माको उत्तम कुल, उच्च आनुवंशिक संस्कार (अथवा अच्छे खानदानी स्वभाव) की कोई आवश्यकता नहीं; फिर भी उसके केवल कर्म ही दिव्य नहीं होते, जन्म भी दिव्य होता है। वह स्वयं पवित्र है और पवित्र कुलमें ही अवतार धारण करता है। जिसका जन्म और कर्म दोनों † दिव्य हों, उसके स्वभावका पूरा-पूरा वर्णन कौन कर सकता है? यहाँ तो कुछ स्थूल नमूने ही दिये गये हैं। उसके विविध स्वभाव और कई प्रकारकी शक्तियोंका—उसके व्यक्तित्वका—कुछ पता नीचे लिखी चौपाइयोंसे और लग सकता है—

राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाव छुआ छल नाहीं॥

(बालकाण्ड)

---

* काल, सुभाव, करम बरिआई।
भलेउ प्रकृतिबस चुकहिं भलाई॥

(बालकाण्ड)

† इहि बिधि जनम करम हरि केरे। सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे॥

(बालकाण्ड)

और,

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

(गीता ४। ९)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पुरजन परिजन गुरु पितु माता। राम सुभाव सबहिं सुखदाता॥
बैरिउ राम बड़ाई करहीं। बोलन मिलन बिनय मन हरहीं॥
(अयोध्याकाण्ड)

सासति करि पुनि करहिं पसाऊ। नाथ प्रभुनकर सहज सुभाऊ॥
(बालकाण्ड)

सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥
जो अपराध भगतकर करई। रामरोष पावक सो जरई॥
(अयोध्याकाण्ड)

जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ। तब पथ परत उतायल पाऊ॥
(अयोध्याकाण्ड)

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर बस मैं ताके॥
(अरण्यकाण्ड)

नट मरकट इव सबहिं नचावत। राम खगेस बेद अस गावत॥
(किष्किन्धाकाण्ड)

गिरिजा रघुपतिकी यह रीती। संतत करहिं प्रनतपर प्रीती॥
तृनतें कुलिस कुलिस तृन करई। तासु दूत पन कहु किमि टरई॥
(लङ्काकाण्ड)

सर्वसमर्थ रामको दीन-दुखी, खिन्न, निर्बल, असहाय, अनाथ और आर्त जीव बड़े प्यारे हैं। वह निर्बलोंका परमबल है। 'बंदौं सीताराम पद जाहि परम प्रिय खिन्न॥' महापराक्रमी और अभिमानी रावणके साथ उसका विरोध हो गया—अजेय बली बालिसे भी उसकी ठन गयी। और, दुराधर्ष परशुरामसे भी ठन जाती परन्तु वैसा मौका टाल दिया गया! व्याकुल जयन्त, दीन और निर्बल सुग्रीव, आर्त विभीषणको उसने अभयदान दे दिया—उसे 'प्राणकी नाईं' रखनेका निश्चय कर लिया। 'कपटी, कायर, कुमति, कुजाती' निषादराजसे उसका सख्य-भाव हो गया और फलतः वह नीच समझा जानेवाला व्यक्ति 'भुवन-भूषण' बन गया। तुच्छ प्राणियोंके सङ्कट दूरकर उन्हें अपनाना उसका स्वभाव ही है।

किसीके स्वभावसे उसके व्यक्तित्व, आचरण, सिद्धान्त, प्रताप और महिमाका पता चलता है। किसीका अच्छा-बुरा स्वभाव उसके व्यक्तित्वका दर्पण है। किसीके स्वभावको ठीक-ठीक समझ लेना बड़ा कठिन काम है; हाँ, बेशक बड़ा कठिन काम है। हम अपने मित्र और पड़ोसीके ही स्वभावको नहीं समझते—गलत राय कायम कर डालते हैं; हम स्वयं अपने स्वभावको ही नहीं जानते। आत्म-निरीक्षण और निष्पक्ष प्रवृत्तिके बिना अपना या दूसरेका स्वभाव जाना नहीं जा सकता। सर्वसमर्थ रामके स्वभावको जाननेकी—जाननेका प्रयत्न करते रहनेकी—बड़ी आवश्यकता है। जबतक हम उसके प्रताप और स्वभावको नहीं जानते तबतक विश्वास उत्पन्न नहीं होता, बिना विश्वासके उसपर यथार्थ प्रीति नहीं हो सकती, और प्रीतिके बिना अनन्यभक्ति सम्भव नहीं—

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई। जिमि खगपति जलकी चिकनाई॥
(उत्तरकाण्ड)

किसी दिन, किसी कारण, किसी समय सम्भव है हमपर उस अहैतुकी दया करनेवालेकी कृपा हो जाय और हमें उसके स्वभावका आन्तरिक ज्ञान हो जाय; तब हम यह समझेंगे कि उसके समान हमारा हितैषी और कोई भी नहीं है—

उमा राम सम हित जग माहीं। गुरु पितु मातु बंधु कोउ नाहीं॥
जानत हूँ अस प्रभु परिहरहीं। काहे न बिपतिजाल नर परहीं॥
(किष्किन्धाकाण्ड)

परन्तु भगवान्‌का स्वभाव यथार्थरूपसे एक बार जान लेनेके बाद उसका भजन छोड़कर दूसरा काम ही नहीं होता। फिर तो सर्वतोभावसे कायापलट हो जाता है, विषयविमोहसे छूटकर रोग, व्याधि, जरा, जन्म, मृत्यु आदिसे निर्भय होकर भक्त अनन्यचित्तसे केवल उसका भजन ही करता है।

उमा राम सुभाव जिन जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना॥
(सुन्दरकाण्ड)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

धन्य हैं वे गोपाल !

(लेखक—श्रीदामोदर व्यं० कै० रायतुरकर)

'भगवान्‌ने अनेक अवतार लिये, पर इस (श्रीकृष्ण-) अवतारकी बात कुछ निराली है। इसका मर्म देवताओंकी समझमें भी नहीं आता। हरिलीला सचमुच ही अगम्य है।' (एकनाथी भागवत १ । १८५)

धन्य कहलाना कोई सामान्य बात नहीं है। ऐसे कोई किसीको किसी प्रसङ्गसे धन्य कहे तो उसमें क्या रक्खा है ? पर यहाँ तो सभीके मुँहसे यही बात सुनायी पड़ती है कि गोकुलके गोपाल धन्य हैं। यह अलौकिक है ! गाय-बछड़े चरानेवाले ग्वालबालोंमें ऐसी क्या बात है ? ये लँगोटी लगाये, कन्धेपर कम्बल रक्खे छोटे-छोटे ग्वालबाल कैसे अत्यन्त मनोहर लगते हैं ? हाँ, मनोहर तो लगते हैं, पर इस मनोहारिताका रहस्य क्या है ? ऐसी इनमें क्या बात है जो सभीको इनसे ईर्ष्या होती है ? श्रीज्ञानेश्वर महाराजने इनसे ईर्ष्या की, एकनाथ महाराजने की, तुकाराम महाराजने की। महर्षि वेदव्याससे लेकर आजतक जितने संत हुए, सबने गोपालोंको याद कर-करके प्रेमके आँसू बहाये ! एकनाथ महाराज श्रीहरिसमेत ग्वालबालोंकी बाललीलाका बखान करते हुए कहते हैं—

'गौएँ चरना भूल गयीं। पशु-पक्षी स्तब्ध मुग्ध बैठे रह गये। यमुनाका प्रवाहशील जल स्थिर हो गया। देवता देखने लग गये, उनके मुखोंसे लार टपकने लगी। देवताओंने कहा, धन्य हैं गोपाल, हमें धिक् है !'

तुकाराम महाराज कहते हैं—

'उनके पूर्वपुण्यको कौन नाप-जोख सकता है जिन्होंने मुरारिको देखा, अन्तर्बाह्य सुखोंसे आनन्दकन्दको खेलाया और मुँह-से-मुँह मिलाकर अपना मुँह चुमाया।'

* * * *

'वैकुण्ठवासियोंके लिये भी हरिजन होना दुर्लभ है, क्योंकि हरिजनोंके साथ तो नारायणका प्रत्यक्ष संग-साथ है। अनन्त ऐसे संगी-साथी उन्हींके होते हैं जो अपने चित्तवित्तको समर्पित कर देते हैं।'

* * * *

'तुका कहता है, आनन्द तो उन गोपालोंने लिया जो अपने कम्बलोंकी ध्वजा बना-बनाकर नाचे।'

इस प्रकार सभी साधु-संतोंने प्रेममें पागल होकर ग्वालबालोंकी धन्यता बखानी है। एकनाथ महाराजका कृष्णलीलावर्णन, तुकाराम महाराजका बाललीलावर्णन इत्यादि अन्तःकरणमें प्रेमकी बाढ़ उत्पन्न करनेवाले वर्णन हैं। तो फिर इस प्रेमका बीज कहाँ है ? साधुसंतोंकी इस ईर्ष्याका रहस्य क्या है ? यह हमलोग सोचें। गोपालों-द्वारा पुनीत उस भूमिको देखकर उसकी धूलिमें लोटनेवाले लोग आज भी विद्यमान हैं। वहाँकी वे मूक वृक्ष-लताएँ, वे पर्वत और वन देखकर गद्गद होनेवाले लोग आज भी हैं। ऐसे उस दिव्य प्रेममें बात क्या है, यह हमलोग भी देखें और उस आनन्दमें हमलोग भी निमज्जित हों। गोपाल तो धन्य हो ही गये, उन्हें अब हमारे विचारोंसे क्या लेना-देना है ? पर चित्तको शान्ति दिलाकर परम पुनीत परमानन्दमें निमग्न करनेवाली वह प्रेम-कल्पना हम अपने स्वार्थके लिये ही करें। वे गोपाल जिस शक्तिके साथ युक्त थे उसका किञ्चित् वर्णन करनेसे उनकी धन्यताका रहस्य समझमें आ जायगा और साथ ही अपना पवित्र हेतु भी पूर्ण होगा।

पाँच हजार वर्ष पूर्व भारतवर्षके क्षितिजपर एक महामहिम पूर्णचन्द्र पूर्णपुरुष चमक गया। पर इस महात्माके विषयमें ऐसा शब्दप्रयोग भी ठीक नहीं। छोटे-बड़े, सुष्ट-दुष्ट, विरक्त-सांसारिक, अनुतप्त-लम्पट इत्यादि सब प्रकारके प्राणियोंके अन्तःकरणोंमें जो दिव्य स्थान प्राप्त करके अजर अमर अक्षर होकर रहा है उस विभूतिको सम्बोधन करनेके लिये व्यावहारिक भाषा सदा अपूर्ण ही है। उत्तरमें हिमालयसे लेकर दक्षिणमें कन्याकुमारीतक जिसके नाम-स्मरणमें सहस्रों लाखों जीव रमे, रम रहे हैं और रमेंगे, सिद्ध-बद्ध और साधु-असाधु सबके श्रमपरिहारका जो परम विश्रामधाम है, उस महत्तम पुरुषोत्तमका वर्णन मानवी जिह्वा कहाँतक कर सकती है ? अनेक पन्थ, अनेक समाज जिसके भक्तिपथपर चलकर जीवन्मुक्त हो गये; अनेक समयों और अनेक स्थलोंमें जिसके स्वरूपचिन्तनसे कितने ही बद्ध जीवोंका उद्धार हो गया उस पूर्णतम विभूतिके सम्बन्धमें हम दो-एक बातें कहेंगे जिनसे गोपालोंकी धन्यताका रहस्य खुल जायगा। मृत्युको मारकर जीनेवाले

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

संतोंकी वाणी भी जहाँ मौन हो जाती है, भक्तिकी आर्द्रतासे मृदुतर बने हुए संतोंके अन्तःकरणमें जिस प्रेमका यथातथ्य वर्णन करनेका साहस नहीं हुआ वह वर्णन भला हम मूढ क्या कर सकते हैं ? पर जीवको शान्ति देकर भवतापका शमन करनेवाला वह स्मरण और भगवान्‌की उन सुरम्य बाललीलाओंका वर्णन हम-जैसे पामर अपने निश्चयकी दृढ़ताके लिये ही सही, क्यों न करें ? सबके उद्धारके लिये भुजा उठाये सदा तत्पर रहनेवाले उस दयालु माँ-बापका कोई अज्ञ बालक अपने इष्टदेवका थोड़ा बहुत गुणानुवाद गाकर जीको सुखी करना चाहे तो क्यों न करे ? श्रीहरिप्रेम लूटनेका अधिकार सबको समान है, ऐसी अवस्थामें कोई अपने अज्ञानसे सकुचाकर आगे बढ़नेसे हिचके तो इस भवार्णवसे तर जानेके अवसरसे ही वञ्चित हो ! इसलिये चाहे कोई सुजान हो या अजान, छोटा हो या बड़ा सबको ही अपने-अपने अधिकारके अनुसार उस सर्वात्माके स्वरूपमें रमनेका प्रयत्न अवश्य करना चाहिये ।

तुकाराम महाराज कहते हैं—'वह कुल पवित्र है, वह देश पावन है जहाँ हरिके दास जन्म लेते हैं ।' पर देवोंके भी जो अधिदेव हैं, नाथोंके भी नाथ हैं, वह परमात्मा जहाँ श्रीहरिरूपसे प्रकट हुए उस देश और कुलकी पवित्रता और पावनताका क्या कहना है ! गोकुलका भाग्य उदय हुआ, ग्वालोंका पुण्यकर्म फलीभूत हुआ, ग्वालिनोंका प्राक्तन सुकृत परिणत हुआ और दीनोंके नाथ भगवान् अवतरे । देवकीके आठवें पुत्र व्रजवासियोंके सौभाग्यसे अपनी मनोहर बाललीलाएँ ग्वालबालोंको दिखानेके लिये मथुरा छोड़ गोकुलमें आये । भगवान्‌के पग पधारते ही गोकुलमें सात्त्विक प्रेमका आकण्ठ भरा हुआ सरोवर उत्पन्न हुआ और इस प्रेमरसदधिके कुम्भ सारे गोकुलमें घर-घर पहुँचे और उनसे शान्तिसाम्राज्य लहलहा उठा ! उस सरोवरके शुद्धोदकमें पीछे सब गोपालोंने श्रीहरिसमेत सचैल अवगाहन किया । उन गोपालोंका सुकृत फला । उनका अनेक जन्मोंका तप अन्तको श्रीहरिस्वरूपमें परिणत हुआ । उनकी भक्तिका अपार प्रेम देखकर जगच्चालक परमेश्वरको सगुण रूप धारण करना पड़ा । और फिर भगवान्‌को धर्मका यथार्थ शुद्ध स्वरूप अर्जुनको निमित्त करके भगवद्गीताके द्वारा और उद्धवको निमित्त करके श्रीमद्भागवतके द्वारा संसारपर प्रकट करनेका भी काम करना ही था ! पर भगवान् किसी भी पुकारके स्थानमें जन्म नहीं लिया करते, इस कारण भक्ति-उल्लाससे निर्मित भोलेभाले गोपोंके उस पवित्र वायुमण्डलमें उन्होंने अवतार लिया ।

उन्हें उस भगवद्भवनकी नींव देनी थी जिसकी निर्मिति-पर तुकाराम महाराज उसके कलश बने । श्रीकृष्णकी बाललीला प्रेमा-भक्तिकी ही उत्तम शिक्षा है । इस शिक्षामें गोपाल शिष्य बने थे । उस भोले-भाले गोपसमाजको भगवान्‌ने अपना समागम दिया, इसमें गोपालोंका पुण्य-बल व्यक्त होता है । खेलकूद मचाने और नाचनेके लिये उन्हें ऐसा अच्छा संगी मिला ! ऐसा सखा मिला जिसने प्रेमकी महिमा बता दी ! वह था उन्हींका-सा एक चरवाहा जो उनके साथ गौओंको चरानेके लिये वनमें ले जाया करता था ! पर यह चरवाहा प्रत्यक्ष ब्रह्म था ! गौओंको हाँक ले जानेवाला यह गोपाल, यह नन्दनन्दन—

'योगियोंके ध्यानमें न आता, पर गोपालोंसे रोटी माँगकर खाता था । तुका कहता है कि यह ज्ञानियोंसे दूर रहता है और टूटे-फूटे शब्द तुतलाते हुए बोलनेवाले दासोंको पुकारा करता है ।'

यह गोपालोंकी रोटियाँ चुराकर खाने लगा और उन्हें अपना संग देने लगा । वे गोपाल धन्य नहीं तो धन्य और कौन है ? और वे गौएँ ? वे भी धन्य हैं ? धन्य है गोकुल, धन्य हैं गौएँ और वे गोपाल !

योगियोंके भी ध्यानमें जो नहीं उतरते, वेद भी जिनका वर्णन करते-करते थककर 'नेति-नेति' की रट लगाते हैं, सहस्रमुख शेषसे भी जिनका यथार्थ गुण-वर्णन नहीं बनता, वह भक्तकामकल्पद्रुम आनन्दघन परमात्मा गोपी-प्रेमसे खिंचकर भूतलपर अवतीर्ण हुए । वसुन्धराकी महती तपस्या फली जो भगवान् गोकुलमें प्रकट हुए । उनके प्रकट होते ही गोकुलका प्रेम उमड़ पड़ा और गोपाल अपने सजनोंके संग प्रेमामृतपान करने लगे । इस प्रेमामृतका ऐसा नशा चढ़ा कि उसके सामने घर-द्वार, काम-काज, लेना-देना सबकी सुध भूल गयी । भगवान्‌की उस अगम्य लीलाके सामने भला संसार क्या चीज है ! तुकाराम महाराज कहते हैं—

'ग्वालोंकी उन उदासीन बहुओंकी वासनाएँ मन-सहित हरिरूपमें मिल गयीं ।'

श्रीहरिस्वरूपमें उनकी वासनाएँ लीन हो गयीं । ब्रह्माण्ड

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नायकके संगसे उनकी निजपरवृत्ति निरस्त हो गयी। परब्रह्मके समागमसे उनकी स्वार्थ-बुद्धि झड़ गयी और प्रपञ्चके मनोमय पाशसे वे मुक्त हो गयीं। वृत्तियाँ जबतक श्रीहरिके रूपको नहीं प्राप्त हों, तभीतक सारा प्रपञ्च है। अपार शान्तिसुखकी खान जबतक हाथ नहीं लगती तभीतक जीवनकलह है। पर जीवात्माका परमात्मासे जहाँ संयोग हुआ वहाँ संसारकी फिक्र कौन करे ? भगवद्भक्तोंके लिये संसार तृणवत् है, इसीलिये वे उससे निश्चिन्त रहते हैं और भगवान्‌पर ही उनके निर्वाहका भार आ पड़ता है।

'हरिके भक्तोंको कोई भय नहीं, कोई चिन्ता नहीं; क्योंकि दुःखका निवारण करनेवाले उनके नारायण हैं। उन्हें संसारसम्बन्धी कोई उद्वेग ढोना नहीं पड़ता, क्योंकि देवाधिदेव उन्हें इन सब बातोंसे अछूता ही रखते हैं।'

यह अनुभव तुकाराम महाराजका है। ऐसे सर्वव्यापी नारायण गोप-गोपियोंके संगी थे, फिर भला 'संसार-उद्वेग' उन्हें कहाँसे होता ? हरिके पीछे वे गोपियाँ वन-वन घूमने लगीं, सारा विश्व उनके नेत्रोंमें हरिमय दीखने लगा और वे उस परमानन्ददायिनी अगाध माधुरीका अनवरत पान करने लगीं। परमशान्तिकी निधि उनके हाथ लग गयी, फिर वे संसारी स्वार्थोंकी भूल-भुलैयामें आकर क्यों फँसतीं ?

गोपालोंके प्रेमका रहस्य जाननेके लिये अब हमें श्रीहरिकी बाललीलाको स्मरण करना होगा। भगवान्‌की सारी लीलामें यह बाललीलाका प्रसङ्ग ही सबसे अधिक मधुर है। श्रीकृष्णावतारमें जो माधुरी है वह इसी प्रसङ्गमें है। कविका अन्तःकरण इस प्रसङ्गके वर्णनमें प्रेमसुधार्णव बन जाता है। यह बाललीला सहस्रों वर्षोंसे संतों और कवियोंके प्रेमका स्थान बनी हुई है तथापि अभीतक उससे इनकी तृप्ति नहीं होती। नन्दयशोदाके उस दुलारेका स्वरूपवर्णन आज भी हिन्दुस्थानमें सब रसिक लोग गा रहे हैं। फिर भी वह वर्णन पूरा नहीं होता और न कभी होगा।

वह वर्णन भी कैसा विलक्षण है—परस्परविरोधी रंगोंसे भरा हुआ !—

'ब्रह्म हैं पर चोरी करते हैं, भगवान् हैं पर गोपियोंके साथ क्रीडा करते हैं। उनके पुत्र-कलत्र सब कोई हैं पर ब्रह्मचारी हैं। अधर्म करते हैं पर धर्मको बढ़ाते हैं, अकर्म करते हैं पर कर्मको तारते हैं। अनियमसे रहते हैं पर नियमको नियत रखते हैं। अति निःसीम हैं पर निष्कलंक हैं।' (ए० भा० १। १८९-१९०)

ऐसे परस्परविरोधी रंग और किसीके जीवनमें नहीं हैं। अन्तःकरणसे प्रेमकी मन्दाकिनी बहानेवाले ये प्रसङ्ग जिन गोप-गोपियोंने अपनी आँखों देखे वे धन्य हैं !

उस प्रेमपरिसरमें स्त्रीपुरुषभेदादिरहित ब्रह्मानन्द-नृत्य करनेवाली उस बालछबिको जिन्होंने देखा होगा वे धन्य हैं। गोपाल जो धन्य हैं उसका यही रहस्य है। साधु-संत, विरक्त-संन्यासी, ऋषि-मुनि जिस सगुण ब्रह्मका दुर्लभ ध्यान करते हैं वह श्यामसुन्दरछबि उन गोपालोंके सामने सदा नाचा करती थी। जिस त्रिभुवनसुन्दर स्वरूपका वर्णन करते हुए हमारे संत-कवि प्रेमसे पिघल गये वह कलकमनीयकान्त रूप निशदिन गोप-गोपियोंके सामने था। श्रीज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—

'वह मानो कारुण्य-रसकी वृष्टि है या नित्य नवीन स्नेहकी सृष्टि है और उसकी दृष्टि ऐसी है कि उसका वर्णन नहीं बनता। वह मानो अमृतरसकी ढली हुई है और प्रेम पानकर मतवाली हुई है; इसीसे अर्जुनके मोहमें मुग्ध है, उसमेंसे बाहर निकल नहीं सकती।'

श्रीएकनाथ महाराज कहते हैं—

'कटिमें सुवर्ण-पीताम्बर कसा है' आपाद वनमाला लटक रही है। वह भव्य घनश्याम रूप इन नेत्रोंसे देखते हुए जी बाहर निकला पड़ता है।'

उस प्रेममतवाली उज्ज्वल श्यामछबिको गोपियोंने देखा और सात्त्विक प्रेमके वश हो वे श्रीहरिके वशीभूत हुईं। गोपियोंके इस प्रेमका रहस्य तर्कप्रधान विद्वानोंकी तर्कनामें नहीं आ सकता। गोपी-प्रेमका नाम लेते ही जो आधुनिक तार्किक नाक-भौं सिकोड़ने लगते हैं वे यदि प्रेमको अव्यभिचारी प्रेमकी दृष्टिसे देखें तो उनका संशयोच्छेद हो सकता है। एकनाथ-तुकारामादि महासाधुओंने जिस प्रेमकी महिमा गायी, जिस प्रेमसे बहनेवाले प्रेमाश्रुओंके प्रत्येक बूँदमें कोटि कबीर न्योछावर करानेकी क्षमता है उस प्रेमको कुत्सित व्यभिचारिणी दृष्टिसे देखना देखनेवालोंकी ही हीनता और मन्दता है। श्रीरामकृष्ण परमहंसादि आधुनिक महात्मा भी इस प्रेममें डूबे हैं और उन्हें भी वहाँ परमोज्ज्वल प्रेमकी झाँकी ही दिखायी दी है क्योंकि परम प्रेम परमोज्ज्वल ही है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गोपालोंका निवासस्थान व्रज कहाता है। कालिन्दीके कलकलनादसे गुञ्जायमान, तृणगुल्मलताओंसे शोभायमान यह सुरम्य वनभूमि परम मनोहर है। श्रीकृष्णके संगका सौभाग्य अनेक प्रदेशोंको प्राप्त हुआ। कालिन्दीकूल श्रीकृष्णके प्रेममय संगसे उत्फुल्ल हो उठा था। भोरमें उठकर गोप गौओंको दुह रहे हैं, गोपियाँ दही मथ रही हैं, गौ-बछड़े राँभ रहे हैं, और हमारे बालमुकुन्द सखा ग्वालबालोंके साथ बैठे यह सलाह कर रहे हैं कि आज कहाँ क्या ऊधम मचाना होगा! जहाँ-तहाँ दूध दुहकर घड़ोंमें भरा है, उसपर माखनचोरकी प्रेमदृष्टि पड़ती है, फिर उस दूधके स्वादका क्या कहना है। वही प्रेममय दुग्ध पान करके गोपाल मतवाले हो जाते थे। वे बछड़े स्तनपान करते हुए ही परमानन्दकी माधुरी चखते थे। इस प्रकार सारा गोकुल आनन्दके दहमें डूबा रहता था। कुछ देर बाद जब गोपालोंके वनमें जानेकी बेर आती तब बाल-गोपाल हर्षसे नाचने लगते। अपनी-अपनी छाकें बाँधे झूमते गाते हुए वनमें जाते थे। वह कैसा दिव्य मनोहर दृश्य था! गोपालबाल गाय-बछड़ोंके संग जा रहे हैं और उनके साथ परब्रह्म भगवान् वैसे ही गोपाल बने चल रहे हैं! आगे-आगे गो-जगत् जा रहा है, पीछे-पीछे गो-जगत्का चरवाहा रखवाहा चल रहा है। धन्य!

रातभरके विरहसे मुरझायी हुई वृक्षलताएँ भगवान्के पुनरागमनसे फिर, देखिये, कैसे आनन्दसे झूम रही हैं। प्रातःपवनकी सुशीतल मधुर मन्द गतिसे चञ्चल होनेवाले सुन्दर सुमन माला बनकर श्रीहरिके कण्ठसे लिपटनेका आनन्द लूटनेके लिये मानो अधीर हो उठे हैं! वह सारा वन रातभर हरि-वियोगसे ओसके आँसू गिरा रहा था, उन अश्रुबिन्दुओंसे स्नात हुई वह वनश्री हृत्स्पर्शिनी होकर खड़ी है। प्रातःकालका प्रकाश है। भगवान् श्रीसूर्यनारायण उस वनविहारीको देखनेकी अधीर लालसासे अपने कोमल सुवर्णकिरण डाल रहे हैं और रातके विरहाश्रुओंसे भीगी हुई उन लताओंको सतेज कर रहे हैं! गोपालोंके मुखमें जानेके लिये तैयार बैठे उन वन्यफलोंपरसे अब भी कुछ तुषारबिन्दु टपक रहे हैं, पर टपकतेके साथ ही सूर्यकिरणदर्शनसे वाष्पीभूत होकर उस प्रेमवनका प्रेमसन्देश लेकर आकाशमें पहुँचते हैं! गोपाल वृक्षोंपर चढ़ते हैं। श्रीकृष्ण आड़में छिपकर फिर झाँककर 'कू' करते हैं! वृक्षोंके पल्लव ऊपरसे तोड़कर नीचे गिराते हैं, इससे वृक्षोंकी सनसनाहट समीरमें सनकर वनमें वनविहारीका आगमन सूचित करती है। उन वृक्षोंपरसे श्रीहरिके पादप्रदेशपर आकर गिरनेवाले वे फूल वनको अपने सौरभसे भरकर अपना वह परमानन्द व्यक्त कर रहे हैं और वह वनभूमि इतनी धन्य हो रही है कि भगवान् उसमें लोट-पोट कर रहे हैं। श्रीरंगके दर्शनोंके लिये तप करनेवाली वसुन्धरा भगवान्के इस सर्वांग स्पर्शसे परमाह्लादित हो रही है। गोपालोंके आनन्दका क्या कहना है! वन-पुष्पोंके हार गलेमें डाले वे अब श्रीकृष्णनामका जोर-जोरसे संकीर्तन कर रहे हैं। कोई आकर श्रीकृष्णसे कहता है, भई, वह सफेद गौ मेरे सम्हाले नहीं सम्हलती। पर श्रीकृष्णके हेरनेकी आवाज सुनकर सभी गौएँ दौड़ी चली आतीं और श्रीकृष्णको घेर लेती हैं और कैसी दीनतामयी कृतज्ञतासे उनकी ओर निहारती हैं! श्रीकृष्णके शब्दमें न जाने कौन-सी मोहिनी है! उस मोहिनीसे वह वायुमण्डल मुग्ध और अति शुद्ध हो गया है। वायुकी वे तरल तरंगें श्रीकृष्णनादसे युक्त हो परमानन्द उछाल रही हैं। धन्य है वह परमानन्दमय वायुवितान!

एक दूसरेके गलेमें बाँहें डाले वे गोपाल उस वनमें विहर रहे हैं और उनके मध्यमें श्रीकृष्ण नायक सजे हैं। मानो संसारके सारे आनन्द वहाँ आकर परमानन्दमें मिल रहे हैं! प्रेमका अद्भुत साम्राज्य है!

अब मध्याह्न हुआ। प्रकाशका प्रखर ताप प्राणियोंको दुःसह होने लगा। गोपाल थके, उनके संगी परब्रह्म भी थके—संगी ही जो ठहरे! श्रीहरिचरणोंसे पवित्र हुई उस चरीको चरकर गौएँ परितृप्त हुईं और हूँकती हुई वृक्षोंकी छायामें आकर बैठ गयीं। श्रीहरिकी शीतल छायाने उस वृक्षछायाको कितना सुखद कर दिया था इसका अनुभव तो उन गौओंको ही है! कालिन्दीके तटपर बैठे मनमोहन अपनी मधुर मुरली बजा रहे हैं।

श्रीकृष्णचन्द्र आनन्दकन्दका वह परम मनोहर वेणु-गीतपीयूष! कविवर मोरोपन्त वर्णन करते हैं—

'भक्तप्रिय परमेश्वर मधुर मनोहर मुरली बजा रहे हैं इसलिये कि इस नादामृतके सेवनसे गोपियोंका तापहरण हो। जब गोपियाँ अपना तन-मन श्रीचरणोंमें अर्पण करने आ गयीं और श्रीहरिने उनका यह हेतु जान लिया तब

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अपना अनुराग छिपाकर पूरे निठुर बन गये और लगे विनोद करने ।'

* * * *

(उस वंशीध्वनिको सुनकर) 'सब जल स्थिर होते थे; सर्प फन फैलाकर डोलने लगते थे; अश्रुओंसे देवियोंके वस्त्रसमेत उर भींगते थे; सुर, खग और मृग अनिमेष दृष्टि गड़ाये रहते थे; साँप और मोर अपना वैर भूलकर पास-पास बैठते थे, प्रभुकी मुरलीका सुर सुनकर गौएँ घास चरना भूल जाती थीं ।'

किसी वृक्षकी शाखापर बैठे मुरली बजाते उन मनमोहन श्यामका वह वेणुनाद सारे वनमें गूँज रहा है । वृक्षोंकी छायामें बैठ वे गोप उस निनादसे तल्लीन होकर खाने-पीनेकी सुध भूल जाते थे । कविवर मोरोपन्त कहते हैं—

'गौएँ पागुर करना भूल जाती थीं, पागुर करें भी तो कवल नीचे नहीं उतरते थे, हूँकती हुई गर्दन उठाकर देखने लगतीं कि कहाँसे यह सुधा बरस रही है ।'

वेणुनादसे वह वायुवितान भर गया । वेणुरवकी दूर-दूरतक फैलनेवाली वे पवन-तरंगें प्रेमसे मन्दवेग हो गयीं । यमुनाका वह बहता हुआ जल जहाँ-का-तहाँ स्थिर हो गया । मत्स्यादि जलचर सिर उठा-उठाकर वेणुगीत श्रवण करने लगे । वे वृक्षलताएँ, पुष्पवेलि और तरुवर मुरलीकी तान सुनकर स्तम्भित हो गये । आस-पासके पर्वत समाधिस्थ हो गये और उनके उदरसे प्रेमोदक-निर्झर झरने लगे । सभी वन्य प्राणी परमानन्द अनुभव करते हुए निश्चल हुए । वृक्षोंपर बैठे विहगवृन्द मुरली-ध्वनिमें तल्लीन हो झूमने लगे और सृष्टि डोलने लगी । उस नादश्रवणसे वसुन्धराके समाधि लग गयी । पृथ्वीकी गति मन्द हुई । सम्पूर्ण निसर्ग अपना प्रयोजन भूलकर उस रमणीय नादमें निमज्जित होने लगा । पृथ्वीपर जलका प्रवाह और आकाशमें वायुका प्रवाह बन्द हो गया । सारी सृष्टि ब्रह्मानन्दके अतुल आनन्दमें निमग्न हुई । जड और चेतन सृष्टिमें मुकुन्दने चैतन्य भर दिया । सृष्टि अपना धर्म भूली । पदार्थोंमें पदार्थत्व नहीं रहा । एकनाथ महाराज कहते हैं—

'श्रीकृष्णकी मिठास चखनेपर रसना उस रसास्वादन-को नहीं छोड़ती । फिर चखनेका भाव नहीं रहता, चखकर चखना निकल जाता है । (२४८) वहाँकी वह मिठास कुछ और ही है । उसके सामने अमृत भी फीका है । वहाँ रसना श्रीहरिको पूर्ण सुखी करती है । (२४९) वहाँ कठोरमें कठोरपन नहीं रहता, मृदुमें मृदुपन नहीं रहता । कृष्णस्पर्श ऐसा होता है कि स्पर्शसे स्पर्शत्व ही निकल जाता है । (२५३)

यहाँ एकनाथ महाराजकी वाणी पन्हायी हुई है । यह अध्याय (एकनाथी भागवत प्रथम अध्याय) मराठीभाषा जाननेवाले पाठक अवश्य पढ़ें और उस मिठासका रसा-स्वादन करें ।

वंशी बज रही है । पृथ्वीकी गति बंद हो जानेसे मध्याह्नके सूर्य मध्याह्नमें ही स्थिर हो गये—नीचे उतरना भूल गये । वनमें अद्वय परमानन्द भर गया ! गौएँ श्रीकृष्ण-का सुहास्यवदन अवलोकन करती हुई श्रवणमें मुग्ध हैं । उनके नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बह रहे हैं । बछड़ोंने दूध पीना भुला दिया है और सम्पूर्ण गो-जगत् कान ऊपर उठाये मुरलीकी मधुर तान सुननेमें तल्लीन है । भगवन् ! आपने भी यह क्या कमाल किया ! सारी सृष्टिको आपने प्रेमानन्दसिन्धुमें निमज्जित कर दिया ! वह देखिये, गोप-गोपियाँ और गौएँ सब आनन्दसमाधिमें निमग्न हैं । उनकी वृत्तियाँ हरिमय हो गयी हैं । अन्दर हरि, बाहर हरि, सर्वत्र सब कुछ हरि ही हो जानेके कारण इनमें अहंकार रही न गया ! गौएँ लेकर वनमें जानेवाले इन गोपालोंकी यह हालत है ।

हे वृक्षलताओ ! पवनतरंगोंसे विकम्पित होना छोड़ तुमलोग ऐसे स्तब्ध क्यों खड़े हो ? हे सुकुमार कुसुमो ! तुम्हारी कोमल टहनियोंपर मुरलीकी स्वरलहरी आकर गिरी पड़ती है तो भी तुमलोग हिलते-डोलते नहीं; यह क्या बात है ? हे खगवृन्द ! अपने चुगेकी तलाशमें जाना छोड़ तुमलोग इन तरुपल्लवोंपर जहाँ-के-तहाँ गड़े क्यों बैठे हो ? हे कालिन्दीके कलरवप्रवाही जल ! अपना प्रवाह-स्वभाव छोड़ तुम अचल होकर किसकी प्रतीक्षा कर रहे हो ? हे जलचर मकरो ! तुमलोग मुँह बाये क्या हेर रहे हो ? हे भूधरो ! किस उद्रेकसे तुम्हारा हृदय पिघलकर इन निर्झरोंके रूपमें बह रहा है ? हे पवन ! तुमने अपना स्पन्दनधर्म क्यों छोड़ रक्खा है ? और यह सारी जीवसृष्टि किसके लिये डोल रही है ? हे सवत्सा गौओ ! यह तुम्हारी क्या हालत है ? तुम अपने आपको कहाँ भूली हो ? हे गोपालो ! हे गोपिकाओ ! हे सखाओ ! तुम्हारे अन्तःकरणोंमें

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यह क्या उथल-पुथल मची है ? इन सब प्रश्नोंका उत्तर एक ही है और वह है 'मोहनकी मुरली।' मनमोहनकी मुरली बजे और सारा चराचर जगत् समाधिका आनन्द लूटे, यही बहुत कालतक जहाँकी अवस्था थी उस वृन्दावन-के आनन्दकी महिमा क्या बखानी जाय ! वे पर्वत और वे वन, वे तरुवर और वे ललित लताएँ, वे गोप और वे गौएँ, वह यमुना-पुलिन और कालिन्दी-दह सभी धन्य हुए। उस प्रेममय दृश्यकी हम क्या कल्पना करें ! हमारी बुद्धि अब आगे नहीं चलती। कण्ठ रुँध गया है। प्रभुने व्रजको आनन्दप्लावित किया है। सारा गोकुल ब्रह्मानन्दमें निमग्न है। धन्य है, धन्य है वह देश और काल !

प्रत्यक्ष परब्रह्मके समागमका सुख भोगनेवाले उन गोपालोंको धन्य कैसे न कहें ? जिस भगवन्मिलनके लिये संतोंको उपासनाका इतना प्रयास करना पड़ता है वह भगवन्मिलन गोपालोंको मानो स्वभावसे ही प्राप्त था। मुरलीधर मनमोहन सदा ही उनके नेत्रोंके सामने थिरकते थे, उनके संगी थे, उनके साथ सदा खेला करते थे, उनके साथ कलेऊ करते थे ! गोपालोंकी धन्यताकी बराबरी भला कौन कर सकता है ? कैसा अपार प्रेम ! अगम्य आनन्द !! अचिन्तनीय शोभा-माधुर्य !!!

उन श्यामगात बालकृष्णको उन्होंने किन नेत्रोंसे देखा होगा ? कवियोंकी दृष्टि भी इस भेदको नहीं पाती ! गोप-गोपियोंका वह सामरस्य देखकर किसका अन्तःकरण पिघल न जायगा ? अहा ! धन्य हैं, अनन्त बार धन्य हैं वे गोपाल जो उन मंगलमय परब्रह्म प्रभुके सान्निध्यसुखसे सदा परम सुखी थे। परम सात्त्विक परम प्रेमसागरमें श्रीहरिके संग मगन रहनेवाले उन महाभाग गोपालोंको मेरे सहस्र बार प्रणाम हैं ?

वह काल, वह स्थान और वे पात्र सभी धन्य थे। भगवान्‌की बाललीलामें प्रादुर्भूत वह आनन्द सारे भूमण्डल-में भर गया। प्रेमकी पराकाष्ठा जिन्हें देखनी हो वे गोपी-प्रेम देखें। भगवान्‌की इन लीलाओंसे सभी मतवाले हो गये। उस प्रेमने सभीको नतमस्तक कर दिया। समर्थ श्रीरामदास स्वामी महाराज कहते हैं—

'व्रजाङ्गनाओंमें श्रीहरि क्रीड़ा करते हैं, मधुर मुरली बजाते हैं, तरंग-रंग उड़ाते हैं। मुखसे उन श्रीकृष्णका नाम लो, सारी आपदाएँ इससे दूर होंगी, देह-मद नष्ट होगा और तभी परम पद पाओगे।'

ऐसा प्रेम, ऐसा ब्रह्मसंग उन भोले-भाले गोपालोंको प्राप्त हुआ, इसलिये संसारके इतिहासमें सबसे बड़े धन्यभाग वे ही कहाये। जिस भूमिपर वह घनश्याम छबि नाचा करती, वह भूमि धन्य है और वे वन, वे तरुलताएँ, वे पुष्पवेलियाँ और सारे चराचर वन्य जीव धन्य हैं जिन्होंने वह नृत्य देखा। डालोंपर बैठे जिन पक्षियोंने उन ग्वाल-बालों और गोपाललालको छाकें खोल एक साथ कलेऊ करते देखा होगा वे पंछी धन्य हैं। उन लीलाविग्रह केशवकी बालक्रीड़ा जिन-जिन लोगोंने देखी वे सभी धन्य हैं। जड़-चेतन, अजान-सुजान सबने ही उस प्रेममदमाती दिव्य मूर्तिको देख धन्यता लाभ की। उन सबने वन-विहारीके प्रेमान्तःकरणसे बहनेवाले कारुण्यरस-निर्झरका सदा ही पान किया। उन लीलाविग्रही परमात्माके संग-सुखमें उनके समाधि लगी और उनके हृदयसे वह निकलने-वाले प्रेमनिर्झर प्रभुके सुकोमल अन्तःकरणसे समरस हो गये फिर भेद कहाँ रहा ? सारा गोकुल श्रीकृष्णमय हो गया। जिसका जो ध्यान करता है उसका मन वहीं हो जाता है। तदनुसार वे गो-गोप-गोपीजन, वे पशु-पक्षी और वन सभी कृष्णमय होकर 'कृष्ण कृष्ण कृष्ण' की परम पावन ध्वनिसे विश्वको निनादित करने लगे। उस श्रीकृष्णनामसङ्कीर्तनमें मुरलीध्वनि जा मिली और उस मधुर गीतसे आकाश गूँज उठा। एकनाथ महाराज कहते हैं—

'रासलीला करके गोपियाँ जो लौटीं तो उन्हें श्रीकृष्णकी ऐसी चाट लग गयी कि अब कृष्णके सिवा उनके मनको और कुछ भाता नहीं, जो-जो कुछ देखती हैं वह कृष्ण ही दीखता है। कृष्णके साथ ऐसी समरस गोपिकाएँ नित्य बोधवाली हैं। उठते-बैठते, सोते-जागते, खाते-पीते, चलते-फिरते सब कर्मोंमें ये सदा कृष्णमय हैं। कामवासना-से भजनेवाली गोपियोंको भगवान्‌ने इस तरह प्रेमसे तारा है।'

बस, यह प्रेमरसवर्णनकी परमावधि है। इससे अधिक उस प्रेमप्रसंगका वर्णन हो नहीं सकता। प्रतिभावान् कवि चाहे कर सकें, पर ब्रह्मानन्दके इस प्रेम-प्रवाहमें अपनी बुद्धि तो आगे नहीं चल सकती। वह अतृप्तिकर तृप्ति, वह अपूर्व शोभा, और वह प्रेममय प्रसंग अधिकाधिक उज्ज्वलताके साथ नेत्रोंके सामने आनेसे वाक्‌सरिताकी गति रुद्ध हो रही है। गोपोंके प्रेमसे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रेममय बने हुए उस पुण्यमय क्षेत्रमें बहनेवाले उस आनन्दनिर्झर तथा गोपियोंके उस सत्त्वमय अव्यभिचारी अनन्य प्रेमके अकुण्ठ प्रपातके सामने कल्पनाशक्ति थकी जाती है। मुरलीकी गम्भीर ध्वनिसे अन्तःकरणोंमें उठनेवाले हम पामरोंके शब्दोंके स्पष्टोद्गार दबे जाते हैं। उस प्रेमपरिसरमें अद्वय परमानन्दके उच्छ्वास छोड़नेवाली गौओंके नीरपतनसे होनेवाली टप-टप ध्वनिके सुनते हुए हमारी दुर्बल भाषाके तिरोधान होनेका ही अवसर प्राप्त है। भगवान्‌के समागममें रहनेवाले समस्त वन्य जड़ जीवोंके प्रेमातिशयके सामने हमारी विचारशक्ति अस्तङ्गत हुआ चाहती है। और हरिनामस्मरणके आनन्दमें किलोलें करनेवाले वे पक्षी, मुरलीके नादब्रह्ममें लीन होकर डोलनेवाले वे उरग, ब्रह्मानन्दस्पर्शसे लहलहानेवाली वे लताएँ—इन सबके अपूर्व परप्रेमकल्लोलमें हमारी वाणी दबी जाती है तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? उस प्रसंगकी स्मृति मानो परम रसके अलौकिक स्पर्शसुखसे अन्तःकरणमें गुदगुदी उत्पन्न करती है और कुछ नहीं सूझता। उसका वर्णन करनेकी सामर्थ्य ही नहीं रह जाती। उसका जितना भी वर्णन करो वह प्रेम श्रीहनुमान्‌जीकी पूँछकी तरह बढ़ता ही जाता है और गोपालोंकी धन्यता, गोपीप्रेमका रहस्य, भक्तिका यह बीज इतना विस्तृत, इतना विराट्-रूप धारणकर सामने आता है कि कल्पनाशक्ति हार मानकर बैठ जाती है। इससे गोपालोंकी धन्यता ही अधिकाधिक स्पष्ट होती है। सचमुच धन्य हैं वे गोपाल, धन्य हैं वे गोपिकाएँ और धन्य है वह काल! ये ही प्रेमोद्गार मुँहसे निकल पड़ते हैं!!

प्रणवोपासना

(लेखक—सरदार श्रीमन्त रामराव जटार)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

आपातरमणीय विषयभोगोंसे मनुष्यकी तृप्ति न कभी हुई है और न आगे कभी होगी। विषयोंमें आनन्द और तृप्तिका केवल आभासमात्र है, दूसरे ही क्षण पुनः भोगलालसा जाग्रत हो जाती है। गोसाईं तुलसीदासजीने इसीसे कहा है—

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय-भोग बहु घीतें॥

अतएव जिसे वास्तविक आनन्द प्राप्त करनेकी इच्छा हो, जिसे अपना परम कल्याण करना हो, उसे श्रुति-शास्त्रनिर्दिष्ट मार्गका श्रीगुरु-आज्ञाके अनुसार अनुसरण करना चाहिये; परम कल्याण करनेका दूसरा कोई मार्ग नहीं है। इसी बातका प्रतिपादन श्रुतिमाताने उपर्युक्त मन्त्रोंमें किया है। प्रथम मन्त्रमें ओंकार और जगत्‌का अभेद दिखाया गया है। फिर जगत्‌से हमारा इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि हम त्रिकालमें भी उसके बिना नहीं रह सकते। जिस शरीरको हमलोग 'हम', 'हम' कहते हैं, वह शरीर उसी सामग्रीसे बना हुआ है जिससे यह जगत् बना है। इसके भीतर जो अन्तरात्मा है, जिसका हम यथार्थ स्वरूप नहीं जानते और जिसे हम 'जीव' कहते हैं, वह भी जगत्‌के अधिष्ठान 'ब्रह्म' से अभिन्न है। हमारे शरीरका पोषण, रक्षण आदि समस्त व्यवहार जगत्‌से अभिन्न है; किसी क्षण, किसी अवस्थामें हम उससे भिन्न नहीं हो सकते। चाहे जितनी बार सृष्टिकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय हुआ करे, हमें उसीमें रहकर कृत कर्मोंके अनुसार सुख-दुःखादिका अनुभव करते हुए जन्म-मरणके चक्करमें पड़े रहना होगा। यदि हम विचार करके अन्तर्दृष्टि-से देखें तो मालूम होगा कि जगत् हम ही हैं और जगदाधार ब्रह्म भी हमसे भिन्न नहीं है। ऐसा ही उपनिषद् माता भी दूसरे मन्त्रमें कहती है—

सर्वं ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा। (माण्डू० उप० २)

यह सब ब्रह्म है—यह आत्मा भी ब्रह्म है। दृष्ट-श्रुत-मनोवेद्य यावत् पदार्थरूप सृष्टिका 'सर्वं' शब्दमें समावेश हो जाता है; इसके बाहर हम (जीव) पृथक् नहीं रहते; तथापि स्पष्ट समझानेके लिये 'अयमात्मा ब्रह्म;' जिसे हम 'जीव' समझते हैं वह भी 'ब्रह्म' है, दोनोंका अभेद है—

जीवो ब्रह्मैव नापरः।
जीवात्मा परमात्मा च पर्यायो नात्र भेदधीः।

(अध्यात्मरामायण)

—इत्यादि कहा गया है। यहाँ शङ्का हो सकती है कि जब जीव ब्रह्मरूप ही है तब विचार करने और साधना करनेकी जरूरत ही क्या है? बात ठीक है; यदि हमें ऐसा दृढ़ अनुभव हो जाय तो फिर मोक्ष दूर नहीं,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वहाँ विचार और साधनकी समाप्ति ही हो जायगी। आत्मरूप जीव और परमात्मरूप ब्रह्मकी एकताका दृढ़ बोध न होना, भेददृष्टिका कायम रहना ही तो बन्धनका स्वरूप है। 'भेद' अज्ञानदृष्टि है; 'अभेद' ज्ञानदृष्टि है। अज्ञान 'बन्धन' है और ज्ञान ही 'मोक्ष' है। अज्ञानकृत 'बन्धन' ज्ञानसे ही छूट सकता है। अन्य सब उपाय बोधका प्रतिबन्ध निवारण करनेवाले हैं। बोधको अथवा ज्ञानको किसीकी सहायताकी अपेक्षा नहीं; वह स्वयंसिद्ध है, अखण्ड है, एकरस है और आत्मरूपसे नित्यमुक्त है। केवल अज्ञानरूप आवरण बुद्धिपर पड़ जानेसे वह प्रतिक्षण प्रतीत होता हुआ भी अप्रतीत-सा मालूम होता है। उस बुद्धिके आवरणको दूर करनेके लिये ही सब साधन हैं, आत्मप्राप्तिके लिये नहीं। अत्यन्त मलिन दर्पणका मैल छुड़ानेके लिये ही मसालेसे घिसनेकी जरूरत है, मुख दीखनेके लिये नहीं; मैल साफ होते ही उसमें आप-से-आप मुख दीखने लगता है। ये साधनरूप मसाले कठोर, मृदु, तीव्र और सुलभ कई प्रकारके हैं।

कठोर 'कर्मयोग' और 'हठयोग' है; मृदु 'भक्तियोग' है; तीव्र 'राजयोग' है और सुलभ 'ज्ञानयोग' या 'बुद्धियोग' है। इन सब साधनोंके साथ 'योग' शब्द लगा हुआ है। 'योग' शब्दसे एक वस्तुको दूसरे वस्तुके साथ मिलाना, जोड़ना, मिश्रण करना और तन्मय—अभिन्न हो जाना अर्थ प्रतीत होता है। एक व्यक्तिकी दूसरेके साथ भेंट कराना उन्हें 'मिलाना' है; दो टुकड़ोंको परस्पर मिला देनेका नाम 'जोड़ना' है; एक रंगको दूसरे रंगमें मिला देना अथवा दुग्ध-घृतमें शक्कर मिलाना 'मिश्रण' है और गङ्गाजलसे ही श्रीगङ्गाजीको अभिषिक्त करना 'तन्मयता'—'अभिन्नता' है। इसी प्रकार जबतक अज्ञानदृष्टि है तबतक यह जीवात्मा भिन्न-सा दीखता है; परन्तु ज्ञानदृष्टिसे अनुभव होते ही गुरुकृपाप्राप्त जीव गुरुरूप अर्थात् ब्रह्मरूप हो जाता है; फिर उसे पूर्वकी जीवरूपता कभी प्रतीत नहीं होती। 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'—ऐसा श्रुति कहती है। इसी प्रकार ब्रह्मर्षि वाल्मीकिजी श्रीरामचन्द्रजीसे कहते हैं—

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि 'तुम्हइ' होइ जाई॥

यही अविरल भक्तिका रूप और ज्ञाननिष्ठा है। यही मोक्षरूप कैवल्यधाम श्रीरामपद है। यही वह स्थल है जिसके लिये कहा है—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ (गीता १५।६)

इसी ज्ञानयोगके लिये गोस्वामीजी कहते हैं—

निरगुन रूप 'सुलभ' अति, सगुन न जानइ कोइ।
'सुगम' अगम नाना चरित, सुनि मुनि मन भ्रम होइ॥

निर्गुणरूपके साधनको गोस्वामीजी 'सुलभ' कहते हैं। सगुणके साधनको अगम कहते हैं। इसमें विचित्र गूढ़ार्थ भरा है, इसे समझना बड़ा कठिन है। सगुण लीलाचरित्रसे श्रीपार्वतीजी, श्रीभुशुण्डिजी, श्रीनारदजी आदि भी व्यामोहित हुए थे। अवश्य ही ज्ञानियोंको जो सगुण चरित देखकर भ्रम होता है, वह ज्ञानीके अधःपतनका कारण नहीं होता। अज्ञानीका ही ऐसे व्यामोहसे अधःपात होता है। ऐसे भ्रमको दूर करनेका साधन ज्ञानमार्ग अथवा आत्मानात्मविचार है। इस विचारमार्गपर आरूढ़ होनेवाले अधिकारी मुमुक्षुकी, विचारके अन्तमें, पूर्ण विचार समाप्त होनेपर, आत्मव्यतिरिक्त—अनात्म किसे कहें, 'अथ केन कं पश्येत्' ऐसी स्थिति हो जाती है। वह विचारमार्ग केवल बुद्ध्यवलम्बी होनेके कारण हम उसे सर्वश्रेष्ठ 'सम्राट् योग' कह सकते हैं।

बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव॥ (गीता १८।५७)

—ऐसा श्रीभगवान्‌ने भी गीतामें उपदेश दिया है।

समस्त साधनसम्पत्ति मलविक्षेपरहित बुद्धि ही आत्माभिमुख, आत्मस्पर्शी एवं आत्माकार हो सकती है। क्योंकि जगदधिष्ठान ब्रह्म देहोपाधिसे घटाकाशवत् परिच्छिन्न जीवरूपको प्राप्त हुआ है और उसी तरह जगत्कारण, आद्य—मूलशक्ति, महामाया बुद्धिरूप धारण करके जीवके आश्रित हुई है। दोनोंका घनिष्ठ सम्बन्ध अनाद्यनन्त कालसे भिन्नाभिन्नरूपसे चला आता है और यदि आत्मबोध न हो तो ऐसे ही अनाद्यनन्त कालतक चलता रहेगा। बुद्धिका आत्मविमुख होकर विषयाकार हो जाना उसकी बहिर्मुखता है और विषयोंसे पराङ्मुख होकर अन्तर्मुख होना उसका आत्माभिमुख होना है। परन्तु बुद्धिका केवल आत्माके साथ ही अनाद्यनन्त सम्बन्ध नहीं है, बल्कि वैसा ही या उससे भी अधिक घनिष्ठ और दृढ़ सम्बन्ध पञ्चविषयोंसे भी है। स्वप्नमें भी बुद्धि उनसे अलग नहीं होती और न होना चाहती है। इस विषयासक्तिको छुड़ानेके लिये जो-जो उपाय किये जाते हैं वे भी कुछ उच्च विषयाकार होकर पूर्ण मोक्षप्रद नहीं सिद्ध होते। मोक्ष अथवा कैवल्य निर्गुण निराकार परमात्मा ब्रह्म है। उसे प्राप्त करनेका जो श्रेष्ठ

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

साधन है उसीको प्रणवोपासना कहते हैं और उसीका हमें यहाँ विचार करना है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म' और 'अयमात्मा ब्रह्म'—इन तीनों श्रुतिवाक्योंपर विचार करनेसे मालूम होता है कि इनमें केवल शब्दोंका भेद है, वास्तवमें इन तीनों मन्त्रोंद्वारा प्रतिपाद्य अर्थरूप वस्तु अभिन्न—एक ही है। 'इदं सर्वम्' शब्दसे दृष्ट-श्रुत-मनोवेद्य नामरूपात्मक जो जगत् है, सबका बोध हो जाता है और वह सब ब्रह्म है; ब्रह्मका वाचक ॐकार भी ब्रह्मरूप है और 'अयं' शब्दसे सूचित हृदयस्थ प्रत्यगात्मा भी ब्रह्मरूप है। 'जगत्' शब्दमें जीवात्माका भी अन्तर्भाव हो सकता है; लेकिन अधिक स्पष्ट करनेके लिये 'अयं' शब्दका व्यवहार कर श्रुति यह सिद्धान्त कराती है कि हृदयस्थ आत्मा भी ब्रह्म है और ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। अब हम यह विचार करें कि जगत्, जीवात्मा, ॐकार और ब्रह्म, ये सब एकरूप, अभिन्न कैसे हैं?

ॐकारवाच्यस्त्वं राम वाचामविषयः पुमान्।
वाच्यवाचकभेदेन भवानेव जगन्मयः॥

(अ० रा०)

'हे श्रीराम प्रभु! यद्यपि आपका यथार्थ स्वरूप मन-वाणीका विषय नहीं होता, तथापि आपका वाचक ॐ है और आप उसके वाच्य अधिष्ठानरूप व्यक्ति हैं। इस प्रकार वाच्य-वाचकरूपसे आप ही समस्त जगदाकारमें भासमान हो रहे हैं। आपके अतिरिक्त जगत्में एक तृणकी भी सत्ता नहीं है। आपके स्वरूपको जाननेके लिये, प्राप्त होनेके लिये, और तदाकार होनेके लिये केवल आपके वाचक नाम ॐकारका विचार-रूप उपासना ही श्रेष्ठ साधन है'—ऐसी उक्ति है। प्रत्येक व्यक्ति अथवा पदार्थका जो नाम होता है और जो रूप होता है, वह उस व्यक्ति और पदार्थमें व्याप्त रहता है। यदि किसी व्यक्तिके शरीरपर अँगुली रखकर पूछा जाय कि तुम्हारा नाम और रूप कहाँ है, तो वह नहीं दिखा सकता; क्योंकि नामरूप कोई अङ्गविशेष नहीं है, वह तो नखसे शिखतक व्याप्त है। परब्रह्म परमात्मा और जीवात्माका यथार्थ स्वरूप अव्यक्त, केवल स्वसंवेद्य—अनुभवगम्य है और व्यक्तरूप समष्टिरूप जगत् तथा तदन्तर्गत व्यष्टिरूप शरीर है। इस व्यष्टि-समष्टिका स्थूल वाचक त्रिमात्र ॐ है और सूक्ष्मका अमात्र ॐ है। स्थूल ॐकार वाणी-लेखनीका विषय है; अमात्र ॐ अनुच्चरित और अलिखित तथा भावगम्य है, स्वसंवेद्य है। स्वसंवेद्यता प्राप्त होनेके लिये प्रथम स्थूल विषयका अवलम्ब लेना आवश्यक है। भगवान्‌ने भी कहा है—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। (गीता १२। ५)

इसी कारण उपासनाकाण्डकी प्रवृत्ति और आवश्यकता है। साकार उपासनामें भगवान् श्रीमहाविष्णु, श्रीशिव इत्यादि इष्टदेवकी मूर्तिका पूजन, ध्यान आदि उपासकको करना पड़ता है। निर्गुणोपासनामें परब्रह्मका प्रतीक ॐकार ही है। प्रारम्भमें समात्र और उसके बाद अमात्रका ध्यान और धारणा करनी चाहिये। ध्यान दृश्यरूप है, धारणा भावगम्य है। श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीको गीतामें उपदेश किया है—

पूर्वं समाधेरखिलं विचिन्तयेदोंकारमात्रं सचराचरं जगत्।
तदेव वाच्यं प्रणवो हि वाचको.....॥

प्रथम तो ब्रह्म और प्रणवका वाच्य-वाचक सम्बन्ध बतलाया गया है। अब जगत् और प्रणवका वाच्य-वाचक सम्बन्ध बतलाया जाता है। अर्थात् ब्रह्मके जगदाकार हुए बिना दोनों स्थितिका वाचक ॐकार कैसे हो सकेगा? वाच्य-वाचकका अभेद भी कहा है, एवं इस त्रितयकी अभिन्न एकरूपता भी श्रुतिसिद्ध है। परन्तु प्रत्येक मनुष्य इस सिद्धान्तको सहज ही नहीं समझ सकता। अतएव इसपर भी हम कुछ विचार करेंगे।

ॐकारको श्रुतिने 'अक्षर' कहा है। श्रुतिदृष्ट्या अक्षरका अर्थ है 'न क्षरतीति अक्षरः', जिसका कभी नाश नहीं होता। त्रिकालाबाधित वह अक्षर है, तभी तो वह ॐकार ब्रह्मका वाचक हो सकता है। 'क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते' नाम-रूपाकार अखिल भूतमात्र 'क्षर' अर्थात् नाशवान् हैं और अधिष्ठान कूटस्थ अन्तरात्मा 'अक्षर' अर्थात् नित्य, अबाधित है। तभी ब्रह्मसे उसकी एकता है। अब व्यावहारिक दृष्टिसे 'अक्षर' का अर्थ करें। वाणीसे जिसका उच्चारण किया जाय और लेखनीद्वारा जिसे लिखा जाय उसको 'अक्षर' कहते हैं; उसे 'शब्द' भी कहते हैं। (मुखसे उच्चारित 'शब्द' है और हस्त-लिखित 'अक्षर' है, इस संकेतको पाठक ध्यानमें रक्खें।) 'शब्द' ध्वनि और वर्ण द्विविधरूपसे है; 'अक्षर' वर्णरूप ही है। इसमें भी स्वर और व्यञ्जन, दो भेद हैं। अ, इ,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उ, ए, ओ इत्यादि स्वर हैं; क, च, ट, त, प इत्यादि व्यञ्जन हैं। स्वरोंका उच्चारण केवल कण्ठसे होता है। व्यञ्जनोंके उच्चारणमें दन्त, तालु, ओष्ठकी विकृति अपेक्षित है; तभी उनका उच्चारण होता है। किसी भी अक्षर या वस्तुकी आकृति रेखाकी सहायताके बिना नहीं बन सकती। रेखा बिन्दुके स्वस्थान छोड़कर चलायमान हुए बिना नहीं बन सकती। हस्तलिखित ॐकार रेखारूप है, वाणीसे उच्चारित ॐकार ध्वनि-वर्णरूप है। हस्तलिखित ॐकारकी आकृति न तो स्वर है, न व्यञ्जन और न कोई सूरत-शकल है। तो फिर यह टेढ़ी-मेढ़ी शकल क्या है? यह अक्षर नहीं, परब्रह्म परमात्माका निर्गुणबोधक प्रतीक है, चिह्न है। जिस तरह 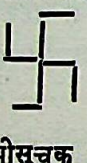 स्वस्तिक कोई शब्द या अक्षर नहीं है, श्रीलक्ष्मीसूचक मङ्गलदायी शुभ चिह्न है, उसी तरह ॐकार भी परब्रह्मवाचक चिह्न है। इसीसे चराचरकी सृष्टि हुई है, इसीसे सृष्टि भरी हुई है और अन्तमें इसीमें समा जायगी। यह कोई सामान्य चिह्न नहीं है; यह मङ्गलकारी, अखिल दुश्चिह्नोंका निवारक और अनेक टेढ़े-मेढ़ोंका उद्धारक है। इसकी उपासनासे मोक्षसम्पत्ति साधकको अनायास प्राप्त हो जाती है।

सृष्टिकर्त्ता आद्यपुरुष श्रीब्रह्माजीने श्रीभगवान् महाविष्णुके नाभिकमलसे प्रकट होकर जब चारों ओर देखा तो केवल जल और शून्याकाशके अतिरिक्त कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ। तब उन्होंने मूलाधार कमलनालमें पता लगानेके लिये प्रवेश किया, परन्तु अनन्त कालतक ढूँढ़ते रहनेपर भी उसका थाह नहीं पाया। भला 'अनन्तशयन' का थाह कैसे लगे? फिर उन्होंने विचार करना आरम्भ किया कि मैं कौन हूँ, किसने मुझे उत्पन्न किया, उत्पादनका हेतु क्या है और मेरा कर्तव्य क्या है। मगर कुछ भी समझमें नहीं आया। जब हारकर शान्तचित्त हो बैठ गये, तब शून्याकाशसे एक महागम्भीर, प्रशान्त, अद्भुत प्रकाशमय, मङ्गलध्वनि उठकर ब्रह्माजीके कानोंके द्वारा हृदयाकाशमें पहुँची; वह ध्वनि यह ॐ थी। यही ध्वनि सृष्टिका आदि शब्द है। तब ब्रह्माजी ईश्वरप्रसादसे उस ॐरूप ध्वनिके द्वारा अन्तर्मुख होकर उसी तेजोमय ध्वनिमें स्थिर और लीन हो गये। यही ब्रह्माजीका महातप था। वह अन्तराकर्षणसे नाभिकमलमें पहुँचकर उसी शब्दमें पूर्णतया लीन अर्थात् अनूर्मि-स्थितिको प्राप्त हो गये। यही लक्षण ज्ञानसमाधिका है। योगी भी इसी स्थलको प्राप्त होते हैं। परन्तु वे अनूर्मि नहीं होते। वहाँ जो आदिशक्ति महामाया कुण्डलिनीरूपमें स्थिर-सुप्त है उसको जगाने और उसकी शक्ति अपने अन्दर आकर्षण करके सामर्थ्यवान् बननेका प्रबल प्रयत्न करते हैं और सिद्धियोंके फंदेमें फँसकर बहिर्मुख हो जाते हैं। मायाशक्ति कुण्डलिनी देवी नागिनके आकारकी है—आकारकी क्या, वह प्रत्यक्ष नागिन ही है। 'पलटू' नामक संतने कहा है-'नागिन पैदा करत है औ आपुहि नागिन खाय; नागिनसे बचा न कोई।' इसके तीन अंडे ही 'जगदुत्पत्तिस्थितिलयकारी' हैं; उसीमेंसे एक अंडा जगदुत्पत्तिके लिये प्रादुर्भूत होकर नाभिकमलमें अनूर्मि-स्थितिसे लीन हुआ है। परन्तु मेरी उत्पत्तिका क्या हेतु है, इस सङ्कल्पको लेकर लीन होनेसे तपोबलसे वह सङ्कल्प सिद्ध होते ही 'धाता यथा पूर्वमकल्पयत्।' ब्रह्माजी नाभिकमलमें जबतक स्थिर थे तबतक उनको ॐकार बिन्दुरूप प्रतीत हो रहा था। बिन्दुका रूप भी स्थिर-निश्चल होता है। सङ्कल्पका रूप ही है स्थिरतामें चाञ्चल्य पैदा करना, शान्ति भङ्ग करना और बहिर्मुख होने लगना। ब्रह्माजीके नाभिकमलसे 'दहराकाश' अर्थात् हृदयाकाशमें प्रविष्ट होकर स्थिरता प्राप्त करते ही उन्हें प्रकाशरूप ॐकारका दर्शन हुआ। दर्शन दृष्टिके बिना नहीं होता। यहाँपर दर्शन नेत्रसे नहीं हुआ, बल्कि अन्तर्ज्ञानद्वारा हुआ। उस दृष्टिसे प्रणवध्यानानन्दमें निमग्न होते ही पञ्चतत्त्वात्मक अखिल चराचर सृष्टिमय ॐकारका स्वरूप ध्वनिवर्णयुक्त प्रत्यक्ष प्रतीत हुआ। शब्दका उच्चारण होनेसे पहले वह कंठमें गुनगुनाता है, फिर वाणीसे बाहर निकलता है। हम जो कुछ बोलते हैं उसका प्रत्येक शब्द और अक्षर बननेकी टकसाल हमारे अन्दर ही है। नाभिसे शब्द उठता है, हृदयमें विकसित होता है, कण्ठमें अस्पष्ट ध्वनिके रूपमें आकर, अन्तमें वाणीके द्वारा स्पष्ट निकलता है—अक्षर, शब्द और भाषण अर्थात् भाषारूपसे व्यवहारमें आता है। इस प्रकार शब्दरचना अथवा वाणीके ये चार स्थान हैं, जिन्हें परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी कहते हैं! इन स्थानोंको स्पर्श किये बिना शब्दरचना अथवा उच्चारण होना असम्भव है। इस प्रकार श्रीब्रह्माजीकी वैखरी वाणीसे सृष्ट्यारम्भमें जो प्रथम शब्द प्रकट हुआ-वही हमारा उपास्य—ध्येय ॐकार है। इसीमें अखिल नामरूपात्मक चराचर जगत् विराजमान

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है। इसका दर्शन होते ही 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्'—पूर्व सृष्टिकी अनादि परम्पराको आगे चलाया; चलाया क्यों, साक्षात् हिरण्यगर्भ परब्रह्म परमात्मा ही सृष्टिरूपसे प्रकट हुए।

गीता (७ । ७) में स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा—'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।'—इस अखिल सृष्टिमें मेरे अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, जगदाकार मैं ही हूँ। इसपर अर्जुनने शङ्का की—'हे भगवन्! हे सखे! इसे मैं सत्य कैसे मानूँ? आप तो मेरे सामने मनुष्यशरीर धारणकर व्यष्टिरूपसे विराजमान हैं।' भगवान्ने उत्तर दिया—'मेरे यथार्थ रूपको केवल ज्ञानी भक्त ही जानते हैं। तुम्हारे सामने जो मेरा व्यष्टिरूप है वह मेरी इच्छाद्वारा निर्मित है। दुष्टोंके दमन और धर्मरक्षणके लिये जिस समय जैसी आवश्यकता होती है, उस समय वैसा ही रूप मुझे धारण करना पड़ता है। जब मैं जीवोंको कर्मफल देनेके लिये अव्यक्त स्थितिसे जगदाकार होता हूँ तब मैं अष्टविध प्रकृति अथवा विभूतिरूपको धारण करता हूँ। मेरी अष्ट प्रकृति है—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
(गीता ७ । ४)

इनमें पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश ये पाँच जडतत्त्व और मन, बुद्धि तथा अहङ्कार ये तीन जडाजड-तत्त्व हैं। इनके अतिरिक्त सृष्टिमें और कुछ भी नहीं है। इसी सामग्रीसे मेरी परम कुशल भिन्नाभिन्नरूपिणी महामाया आदिशक्ति मेरे किसी देश अथवा अंशमें उत्पत्ति-स्थिति-लय किया करती है। तुम व्यष्टिरूपसे मुझे हे कृष्ण, हे यादव, हे सखे! कहकर सम्बोधन करते हो; परन्तु मेरा मुख्य नाम और विभूति ॐ है। मेरा और ॐका एक ही रूप होनेके कारण वह भी मुझसे अभिन्न सृष्टिरूपको प्राप्त हुआ है। 'यस्य निःश्वसितं वेदाः'—मेरे श्वासोच्छ्वास वेदरूप हैं और वेद प्रणवरूप हैं—'प्रणवः सर्ववेदेषु।' वेदमें मुख्य प्रणव है; इतना ही नहीं, वेद प्रणव अर्थात् ॐकारमय है, ऐसा भगवान्ने कहा है। ये सब बातें अतर्क्य, विचित्र अतएव चिन्तनीय हैं।

कार्यकारणकर्तृत्वं फलसाधनभेदतः।
एको विभासि राम त्वं मायया बहुरूपया॥
(अध्यात्म० १ । ५ । ५४)

एक ही व्यक्ति या तत्त्व पञ्चविध रूप धारण करनेपर भी अपनी एकरूपताको कायम रखता है, यही इसकी विचित्रता है। भिन्नाभिन्नरूप चिच्छक्तिका यह खेल है। उसीकी कृपासे इस खेलका मर्म समझमें आता है।

नट कृत कपट सुनहु खगराया। नट सेवकहि न व्यापै माया॥

इसलिये श्रीगुरुकृपाद्वारा उसीकी शरणमें जानेसे इस मायाकृत जंजालसे छुटकारा हो सकेगा। (शेष आगे)

आमन्त्रण

(गीत)

आओ, प्राणोंमें बस जाओ।
हियमें, मनमें, अन्तरतममें तुम ही तुम रह जाओ॥

युग-युगकी प्यासी हूँ सैंया,
ना जानूँ कुछ भूल-भुलैया,
अपने ही आकर अपनी छातीमें मुझे छिपाओ।
आओ, प्राणोंमें बस जाओ॥

सूना वृन्दावन वंशीवट,
सूनी मथुरा औ यमुनातट,
इस सूनेपनमें ही हे हरि! अपना रास रचाओ।
आओ, प्राणोंमें बस जाओ॥

नहिं कदम्बकी वह जुड़ छैयाँ,
नहिं वह कुञ्ज, नहीं वे गैयाँ,
हाहाकार भरे ब्रजमें पिय! फिर अमृत बरसाओ।
आओ, प्राणोंमें बस जाओ॥

रात अँधेरी, मेहा बरसे,
सिहर-सिहर अधिको हिय तरसे,
चुपके आँखोंकी खिड़कीसे आ हियमें छिप जाओ।
आओ, प्राणोंमें बस जाओ॥

आओ, आओ, खुलकर आओ,
जग सोया है मत सकुचाओ,
तुममें प्राण घुलें औ तुम भी प्राणोंमें घुल जाओ।
आओ, प्राणोंमें बस जाओ॥

—'माधव'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

एकान्त शान्ति

(लेखक—एक भावुक सज्जन)

[स्वगत]

कुहरेसे घिरे हुए मनुष्यको यह पता नहीं लगता कि उससे एक गजकी दूरीपर क्या है। वह जितना ही आगे बढ़ता जाता है उतना ही आगेकी ओर वह देखता जाता है और रास्ता सूझता जाता है, साफ़ होता जाता है। कुहरेसे घबड़ाकर यदि वह चुपचाप बैठ जाय और हाथ-पर-हाथ रखकर निष्क्रिय हो जाय तो उसे निराशा, अवसाद, अशान्ति और अकुलाहटके सिवा क्या हाथ आयेगा? कुहरा वास्तवमें कुछ वस्तु है नहीं। यह तो बस आवरणमात्र है, लुकाछिपीका भूलभुलैया है; आँखमिचौनीकी मधुर क्रीड़ा है। हम जितना ही आगे बढ़ें उतना ही हमसे दूर भागता जाता है। यदि हम कुहरेको पकड़ना चाहें तो कैसे पकड़ सकते हैं? कुहरेको चीरकर आगे बढ़ना और सत्यका साक्षात्कार करना ही हमारी वीरता है।

मनुष्य बुरी तरह घने कुहरेके निविड़ अन्धकारमें ढका हुआ है। वह जिधर दृष्टि डालता है अन्धकार-ही-अन्धकार नजर आता है। संसारके इस घने कुहरेमें अपना हाथ भी नहीं सूझता। अन्धकारके इस घने आवरणको चीरना ही सच्ची वीरता है, यही सच्ची बहादुरी है, यही वास्तविक पुरुषार्थ है। मनुष्यके जीवनमें ऐसी घड़ी कभी-कभी आ जाती है जब वह अपने भविष्यके सम्बन्धमें सशङ्कित होकर घबड़ा उठता है। उसका हृदय चिन्तासे क्षुब्ध हो जाता है। भविष्यके गर्भमें क्या है इसे कोई नहीं जानता। एक क्षण बाद क्या होगा—इसका अनुमान भी हम नहीं लगा सकते। यह एक बड़ी ही विचित्र, बड़ी ही रहस्यमय गोपनीयता है। मनुष्य इसे एक 'पहेली' के रूपमें देखनेका अभ्यासी है। परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो समझ पड़ेगा कि प्रभुकी यह असीम अनुकम्पा ही है कि हम अपने भविष्यसे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। यदि हम भावी सुख-दुःख, हर्ष-विषादकी घटनाओंको पहले ही जान जायँ तो हमें अपना 'वर्त्तमान' ही एक भारी असह्य बोझ हो उठे! भावी सुखकी प्रतीक्षा तथा दुःखकी आशंकासे हमारा 'वर्त्तमान' अस्तित्वहीन, अशान्तिपूर्ण अथ च भयानक हो उठेगा! वह भविष्य कितना भी उज्ज्वल क्यों न हो यदि हम अभी उसे जान लें तो हम अपने वर्तमान जीवनको सुख, शान्ति, आनन्द और प्रेमसे नहीं बिता सकते! प्रभुने मनुष्यको भविष्यके गर्भमें क्या है—इससे पूर्णतः अनजान, अनभिज्ञ रक्खा; इसमें उसकी इच्छा स्पष्ट है कि कल क्या होगा, इसकी हम व्यर्थ चिन्ता करके व्यग्र न हों।

मनुष्य भविष्यकी चिन्ता करके ही दुखी होता है। भविष्यकी चिन्ताका होना अस्वाभाविक नहीं है परन्तु इसे अभ्यासके द्वारा उसे रोका जा सकता है और उसकी ओरसे निश्चिन्त, निर्द्वन्द्व, बेफ़िक्र होकर वर्त्तमानको सुखमय, आनन्दमय, उल्लासमय बनानेका प्रयत्न किया जा सकता है। भविष्यकी ओरसे निश्चिन्त हो जाना ही वर्त्तमानको आनन्दमय बनाना है। हमारी इस निश्चिन्तता और अलमस्तीकी तहमें प्रभुपर अखण्ड निर्भरता है, उसकी गोदमें अपनेको डालकर, उसकी छातीमें अपनेको छिपाकर, सब ओरसे आँखें मूँदकर, माँकी छातीका दूध पीते हुए लोक-परलोक सब कुछ भूल जाना—माँमें एकाकार हो जाना—संसारकी ओर पीठ फेर देना है। यहाँ संसारको भूलनेका प्रयत्न नहीं करना पड़ता। माँके स्तनसे जहीं मुँह सटाया कि दुनिया मिटी; फिर भविष्यकी निगोड़ी चिन्ता और लोक-परलोकका अस्तित्व ही कहाँ रहा? हम तो सदा-सदैव उसकी शीतल गोदमें सुरक्षित हैं। वह मुझे अपनी छातीमें छुपाये हुए है, आलिङ्गनमें बाँधे हुए है, चुम्बनोंकी वर्षासे मेरे रोम-रोमको नहला रही है—मेरी ऐसी दयामयी जननी मुझे कभी छोड़ सकेगी, बिसार सकेगी—इसकी कल्पना ही क्यों?

भविष्यके गर्भमें क्या है—इसकी चिन्ता करनेवाले हम कौन? 'भविष्य' को जिसने रचा है वही उसकी सँभाल भी करेगा। हम नाहक क्यों उसके लिये परेशान हों! क्यों नाहक उसके लिये अभीसे व्यग्र और व्याकुल होकर अपने वर्तमानको भी विक्षुब्ध और अशान्तिमय कर दें!

किश्ती खुदा पै छोड़ दी लंगरको तोड़ दो,
अहसान नाखुदाका उठाये मेरी बला।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मनुष्यकी बुद्धि बहुत थोड़ी दूरतक देख सकती है। हमारे जीवनका प्लॉन परमात्माके हाथ है, उसीको पूरी डिज़ाइनका पता है। हमारे सम्पूर्ण जीवनके पूर्ण चक्करको वही, केवल वही देख सकता है। पता नहीं, कितने युगोंसे किस-किस रूपमें हमारे इस जीवनकी धारा बहती चली आ रही है। पता नहीं कैसे-कैसे व्यवधान, बाधा, विषमता, हर्ष, सुख, दुःख, आनन्द, पुलक आदिकी अनुभूति होती आयी है। कौन कह सकता है हमारी जीवन-सरिताके तटपर कहाँ और कब काशी मिली, कब प्रयाग मिला, कब शून्य निर्जन घोर वनस्थल मिला, कब सूना श्मशान मिला, कब पूजाके पुष्प मिले और कब चिताका भस्म मिला। पता नहीं किस अनादिके गर्भसे हमारी यह जीवनकी पयस्विनी प्रस्रवित हुई और इसकी अमर सनातन धारा किस-किस देशको सींचती हुई, ढाहती हुई, अपनेमें मिलाती हुई बही चली आयी है, बहती चली जा रही है, बहती चली जायगी और अनन्त समुद्र-की छातीमें अपनेको लयकर, जिसमेंसे निकली थी उसीमें लय हो जायगी, सुखसे सो जायगी। हम अपने इस जीवनके ही समग्र रूपको नहीं देख सकते, पिछले और अगले जन्मोंकी तो बात ही नहीं। हमारा अभी जो यह वर्त्तमान जीवन है, जो हमारे वर्त्तमान जन्म और इसकी मृत्युके बीचमें लहरा रहा है—वास्तवमें एक अखण्ड, अनन्त, दिव्य सनातन जीवन-धारा अंशमात्र है। इस अंशमात्रके अंशको जब हम पूरा-पूरा नहीं देख पाते तो फिर भावीके विषयमें निराधार कल्पना करके अपनेको दुखी बनाना क्या बच्चोंकी-सी मूर्खता नहीं है। हमारे इस जन्मके पहले भी तो हमारा जीवन-प्रवाह था और मृत्युके अनन्तर भी तो वह बना रहेगा। क्या उसे हम समग्ररूपमें, सम्पूर्णतः देख सकते हैं?

हमारा देखना अधूरा है, अपूर्ण है, अस्तव्यस्त है, अतः खण्डित तथा विकृत है। इसके आधारपर कुछ भी अनुमान लगाना बलात् दुःखको मोल लेना है। महाकवि ब्राउनिंग (Browning) ने अपनी एक कविता (The Best is yet to be) में जीवनका समग्र रूप दिखलाते हुए यह बतलाया है कि जीवनका जो अंश तुम देख रहे हो, और इसके आधारपर जो कल्पना तुमने रच ली है वह निराधार है। भविष्यमें तुम्हारे लिये पूर्णतम, सुन्दर-तम, परमदिव्य बननेके समग्र साधन परमात्माने निश्चित कर रक्खे हैं। वे सभी क्रमशः एक-एक कर तुम्हें जीवन-की विराट् दिव्य धारामें एक करनेके लिये पहलेसे ही निर्धारित हैं। तुम्हारा भविष्य उज्ज्वल और आशामय है क्योंकि तुम अनादिसे निकलकर अनन्तमें मिलने जा रहे हो। बीचमें तुम विरम नहीं सकते, रुक नहीं सकते। कोई भी बाधा तुम्हारे पथमें बाधक बनकर नहीं आ सकती। तुम्हारे चरणोंके नीचे आते ही सब शूल फूल बन उठेंगे और तुम्हारी यह जीवनयात्रा, मङ्गलमय, आनन्द-मय, प्रेममय, अमृतमय होगी। दीख पड़नेवाली कठिनाइयाँ तुम्हारे जीवनके सौन्दर्यको अधिक चमका देंगी—उस रगड़में तुम्हारा वास्तविक रूप निखर आवेगा। तुम अमर पुत्र हो; तुम्हारी खोज, तुम्हारी प्यास अनन्त समुद्रके सिवा कहीं पूरी हो नहीं सकती और यह विश्वास मानो, तुम्हारी यात्रा अनन्त प्रेमार्णवकी ओर ही हो रही है; प्रतिपल अधिकाधिक तुम अपने उद्देश्यके निकट पहुँचते जा रहे हो। उस अनन्त प्रेमार्णवमें मिलनेकी जो तीव्र उत्कण्ठा है वही जीवनमें गति भरती है और उसके कारण ही तुम्हारा सारा पथ मङ्गलमय है, हरिमय है! प्रेम, आनन्द और सौन्दर्यकी अजस्र वर्षा तुमपर हो रही है। तुम्हारे पथमें प्रभुकी अनुकम्पाके फूल बिखरे हैं।

पता नहीं कबसे कितनी मृत्युओंके द्वारको लाँघता हुआ हमारा यह जीवन चलता आया है और अभी कितनी बार मृत्युका द्वार लाँघना पड़ेगा। जन्म और मत्युके दुहरे द्वार-को लाँघता हुआ यह प्रवाह अबाध गतिसे चलता चला जा रहा है। पूरी डिज़ाइन परमात्माके हाथ है। भविष्यमें अनिष्ट-की आशङ्का करके सिर पीटना नास्तिकता नहीं तो और क्या है? जो आदमी ईश्वरकी सत्तामें विश्वास करेगा वह भविष्य-की चिन्ता या भय क्यों करेगा? वह तो अपनेको सदैव हरिकी गोदमें सुरक्षित मानेगा ही? उसके लिये फिर सारे कष्ट और कठिनाइयाँ प्रभुके प्रगाढ़ आलिङ्गनका रस लावेंगी। कष्टोंके भारसे वह झुकेगा नहीं क्योंकि उसे तो परमात्माकी सारी शक्ति प्राप्त है। दीख पड़नेवाली विपरीतता और प्रतिकूलतामें जब 'जीवनधन' का छिपा हुआ हाथ दीख जाय तो फिर हँसे बिना रहा कैसे जायगा? खाँगमें छिपे हुए 'देवता' का सभी रूप हृदयको लुभानेवाला है। चाहे वह जिस रूपमें आवे उसके चरण सदैव हमारे हृदयपर ही रहेंगे क्योंकि 'उस' की सर्वरूपतामें हमारा अपनापन भरा हुआ है। उसके सभी रूप और सभी क्रियाओंको हमारी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ललचायी हुई आँखें सतृष्ण दृष्टिसे देख रही हैं और अघाना नहीं जानतीं। जब हमारे प्रियतम प्राणाधार, हृदयसर्वस्वके हाथमें ही हमारे जीवनकी बागडोर है, जब हमारा 'अपना' ही हमारे भविष्यका विधायक है तो फिर आशङ्का किस बातकी, भय काहेका ?

परन्तु हाय रे मनुष्यकी दुर्बलता ! मनुष्य अपने योग-क्षेमके पीछे परेशान है और इसी गोरखधन्धेमें बुरी तरह उलझा हुआ है। इस उलझनको वह जितना ही सुलझाना चाहता है उतना ही उलझन और उलझती जाती है और इस चक्रव्यूहको बेधनेवाला अभिमन्यु कभी पैदा ही नहीं हुआ। जिसने इसे रचा है वही इसका रहस्य जानता है और उसीके साथ हम भीतर प्रवेश भी कर सकते हैं। प्रभु-के प्रकाशके बिना इस अन्धकारमें एक डग आगे बढ़ना खतरेसे खाली नहीं है। हृदयमें उसकी मूर्त्ति, चित्तमें उसकी स्मृति, प्राणोंमें उसकी प्रीति, फिर आँखें जिधर जायँगी वहीं हरि, मन जहाँ जायगा वहीं मनमोहन हँसते खड़े निहारते रहेंगे। उस समय हाथसे जो कुछ कर्म होगा वह भगवत्प्रीतिको उत्पन्न करनेवाला होगा और समग्र जीवन श्रीकृष्णार्पणकी शृङ्खला हो जायगा। उस समय मनमें कभी किसी अनिष्टकी आशङ्का रह ही नहीं जायगी; जिसने इष्टदेवके दर्शन कर लिये, स्पर्श कर लिये, वन्दन कर लिये, उसके लिये फिर 'अनिष्ट' कैसा, प्रतिकूलता कैसी ?

मनुष्य तो सत्यको त्यागकर मृगजलसे तृप्त होना चाहता है। वह बुरी तरह इसके पीछे भाग रहा है, शान्ति-के लिये, सुखके लिये, आनन्द और परितृप्तिके लिये और मिलता है उसको बदलेमें दुःख, अशान्ति, ज्वाला और जलन। और ईश्वरमें विश्वास ! जिस प्रभुने गर्भमें तुम्हारी रक्षा की, जो प्रतिपल तुम्हें सँभाल रहा है, जो प्रत्येक दशामें तुम्हारी रक्षा कर रहा है क्या वह भविष्यमें तुम्हें निराधार छोड़ देगा ? एक पल भी उसके सहारेके बिना तुम टिक सकोगे ? हाय ! तुम कितने अविश्वासी हो ? अपनेको 'आस्तिक' कहते हो और जरा-सा झोंका (और वह भी काल्पनिक) आनेपर तिलमिला उठते हो ! झूठी आशङ्कामें सारा विश्वास हिल जाता है। इस प्रकार परास्त मत होओ, मैं हर समय, हर दशामें तुम्हारे साथ हूँ; सदा-सदैव तुम्हारे भीतर-बाहर मैं सँभालता आ रहा हूँ और बराबर सँभालता रहूँगा। निश्चिन्त हो जाओ। भूल गये ? आज ही तो तुम्हें सुनाया है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥
(गीता ५ । २९)

मैं सबका महेश्वर होता हुआ भी अपने भक्तोंका भक्त हूँ। जगत्के सभी आश्रय छोड़कर केवल एक मुझमें ही विश्वास करो। मैं तुम्हारे योगक्षेमका भार अपने ऊपर लिये हुए हूँ। मुझे छोड़कर कहीं मत जाओ। किसीका आश्रय न लो, किसीको अपना 'प्रभु' न मान लो। तुम्हारा स्वामी तो 'मैं' हूँ ही। तुम्हारी लाज मेरी लाज है। भला तुम्हारी लाज मैं कैसे जाने दूँगा ? विश्वास करो, मैं तुम्हारे लिये कुछ भी उठा न रक्खूँगा। तुम्हारी मनचाही होगी; जो चाहोगे, जैसा चाहोगे, तुम्हारे हितकी दृष्टि रखते हुए वही करूँगा ! तुम अपना हिताहित क्या जानो। तुम तो अशुभमें ही शुभ देखते हो, अहितमें ही हित समझते हो। तुम्हारे शुभाशुभ, हिताहितका एकमात्र ज्ञान मुझे ही है और तुम्हारे लिये सदा वही करूँगा जो शुभ और हित हो। लोककी ओरसे आँखें मूँद लो, मेरी ओर देखो; मैं तुम्हें अपनी गोदमें छिपा लेनेके लिये व्याकुल हूँ। मैं सामने खड़ा हूँ, मेरी ओर देखते क्यों नहीं ? मैं तुम्हें अपनी छाती-में छिपा लूँगा, आलिङ्गनमें डुबा लूँगा, चुम्बनमें नहला दूँगा। मेरी गोदमें आ जाओ, जगत्की आँच तुमतक आ नहीं सकती ! निर्भय हो जाओ। मेरा अभयदान स्वीकार करो। मेरा हाथ सदैव तुम्हारे मस्तकपर है। मैं सदैव तुम्हें प्राणोंमें छुपाये हुए हूँ। घबड़ाओ मत। सब कुछ मंगल ही होगा ! अन्यथा हो ही नहीं सकता। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ। मैं सदैव तुम्हारे आगे-पीछे, ऊपर-नीचे भीतर-बाहर हूँ—डरो मत, आगे बढ़ो—

तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।
(गीता २ । ३७)

यह तो युद्धक्षेत्र है प्यारे ! यह तो कर्मभूमि है न। इसमें घबड़ाये कि गये ! जब मैं तुम्हारा हाथ पकड़े हुए हूँ तो घबड़ाना क्यों, डरना किस लिये ? निर्धूम दृष्टि-से, आँखें खोलकर मेरी ओर देखते रहो और प्रसन्नता, आनन्द, निर्द्वन्द्वता, मस्ती और अदाके साथ युद्ध करते जाओ। युद्धमें मेरा बल तो तुम्हें प्राप्त है ही। तुम्हारे जीवन-रथकी बागडोर मेरे हाथ है। युद्धका तुम्हें तो बस एक अभिनय मात्र करना है। मैं तुम्हारे इन शत्रुओंको पहलेहीसे परास्त कर चुका हूँ, बध कर चुका हूँ। तुम्हें

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तो बस निमित्तमात्र होना है। जीत तो तुम्हारी पहलेही-से निश्चित है। असुरोंके साथ इस संग्राममें मैं प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्षरूपसे तुम्हारी सहायता कर रहा हूँ। तुम्हें कोई हरा नहीं सकता, तुम्हें कोई जीत नहीं सकता। तुम्हें मेरी शक्ति प्राप्त है। तुममें मैं बैठा हुआ हूँ और तुम्हारेद्वारा मैं ही लड़ रहा हूँ। विजयके लिये ही तुम यहाँ हो। दुनियाँ देखे तो सही कि तुम्हारी सच्ची शक्ति क्या है! स्त्रीकी भाँति, कायरकी भाँति, आश्रयहीन नपुंसककी भाँति मुँह छिपाकर युद्धसे भागना भी चाहोगे तो भागकर कहाँ जाओगे? मैं तुम्हें पीछे खिसकने दूँगा ही नहीं। मेरा नाम न हँसाओ। मेरे भक्त कायर नपुंसक होते हैं—ऐसी बात मत हो। मैंने अपनेको पूरी तरह तुममें ढाल दिया है।

तुम्हारा कोमल-मधुर रूप भी है—यह मुझे मालूम है। तुम्हारे नारी-हृदय-सुलभ गुणोंको जानता हूँ। कोमलता, सरलता, मधुरता, भावुकता आदिका पता मुझे है। मुझसे तुम्हारा क्या छिपा है? परन्तु प्यारे! यह न भूलो कि तुम 'मेरे' हो और मेरे इस विराट् अभिनयके एक पात्र हो। जब जैसा पार्ट सौंपूँ मस्तीके साथ अदा करो। किसी पार्ट-विशेषमें मोह और आसक्ति क्यों? ओ मेरे संकेतपर नाचनेवाले! मेरी आज्ञा मानकर तुम्हें अपने प्रिय-से-प्रिय व्यक्ति, प्रिय-से-प्रिय संस्था, प्रिय-से-प्रिय वातावरणसे 'मोह' तोड़ देना होगा। मैं अपने अभिनयके सौन्दर्यके लिये तुम्हें जहाँ जिस प्रकार चाहूँगा, वहीं, उसी प्रकार बिना किसी संकोच और हिचकिचाहटके प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें आनन्द मानना चाहिये क्योंकि आनन्द तो संस्था, व्यक्ति, वातावरणमें नहीं है, जो कुछ रस तुम्हें वहाँ मिलता है वह मेरी छायाके कारण; और इस संसारमें तथा इससे परे और पहले अनादिकालसे 'मैं'—केवल मैं ही तुम्हारा एकमात्र साथी था, मैं ही हूँ और मैं ही रहूँगा।

(डायरीके एक पृष्ठके आधारपर)

धर्म और भगवान्‌के विरुद्ध आन्दोलन

(लेखक—श्रीरामदासजी गौड़, एम० ए०)

१—औचित्यकी बात

संवत् १९९१ के चैत्रमासमें मैंने कलकत्तेकी सड़कोंपर एक सज्जनको देखा कि एक झंडा लिये हुए फिर रहे हैं। इस झंडेपर जहाँतक मुझे याद है, लिखा था—

धर्म और ईश्वर ढोंग है।

वह एक पुस्तक भी बेचते फिरते थे जिसका विषय यही था। उन्होंने कृपाकर इस पोथीकी एक प्रति मुझे भी दी।

हिन्दीके एक मासिक पत्रमें कुछ दिनों पहले 'धर्म और भगवान् मुर्दाबाद' नामका भी एक लेख देखनेमें आया फिर कुछ काल पीछे एक दैनिक पत्रमें भी एक लंबा लेख इसी विषयका छपा जिससे असम्मति प्रकट करते हुए भी उसके सम्पादकने उसपर कुछ अधिक न लिखा!

हमारे देशमें इधर कुछ वर्षोंसे समाजवाद उर्फ़ साम्यवादका प्रचार हो चला है तबसे अनीश्वरवादने भी इधर अधिक जोर पकड़ा है। मैं 'अधिक' इसलिये कहता हूँ कि अनीश्वरवाद कुछ आजकी चीज नहीं है। कम-से-कम भारतमें तो वह बहुत ही पुरानी है। वेदोंमें, पुराणोंमें, इतिहासोंमें, यत्र-तत्र इसकी चर्चा है और दर्शनोंमें तो कम-से-कम छः दर्शन नास्तिक ही मशहूर हैं, और आस्तिक दर्शनोंमें भी कई अनीश्वरवादियोंका खयाल है कि ईश्वर-वादका खण्डन है।

संसारके और देशोंमें भी जहाँ-जहाँ ईश्वरवादका उद्गम समझा जाता है वहाँ-वहाँ अनीश्वरवाद भी साथ-साथ चलता रहा है। ईश्वरवादियों और अनीश्वरवादियोंका संघर्ष अत्यन्त प्राचीन है।

संघर्ष तो ईश्वरवादी-ईश्वरवादीमें और अनीश्वर-वादी-अनीश्वरवादीमें भी चलता रहा है। जैसे ईश्वरवादियों-के सम्प्रदाय हैं, वैसे ही अनीश्वरवादियोंके भी सम्प्रदाय हैं, यद्यपि 'सम्प्रदाय'के बदनाम शब्दको कोई अपने लिये प्रयुक्त नहीं करना चाहता। बौद्ध और जैन दोनों सम्प्रदायोंमें भारी मतभेद है, यद्यपि दोनों नास्तिक सम्प्रदाय कहलाते हैं, दोनों अनीश्वरवादी समझे जाते हैं। ईश्वरवादी सम्प्रदायवाले तो एक दूसरेको नास्तिक, काफ़िर आदि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कहनेमें नहीं चूकते, बल्कि हर ईश्वरवादी सम्प्रदाय केवल अपनेको ईश्वरका अनुयायी और शेष संसारको शैतानका अनुयायी समझता है, और यह भूल जाता है कि आजकलके बहुमतके युगमें वह शैतानको कितना बड़प्पन, कितनी 'फज़ीलत' देता है। ऐसी दशामें मैं यह कदापि आशा नहीं कर सकता कि एक लेख तो क्या, एक पुस्तकालय भी कभी इस सृष्टि-विधायक सहज मतभेदको दूर करनेमें समर्थ हो सकेगा। यदि ईश्वरवादीको अपने मतके प्रचारका अधिकार है, तो अनीश्वरवादीको भी है, और कोई कारण नहीं कि ईश्वरवादी जब बड़ी-बड़ी पुस्तकें लिखकर ईश्वरवादका प्रचार करे, तो अनीश्वरवादी ईश्वरवादियोंके प्रबल बहुमतका सामना करते हुए दो-चार लेख भी न लिखे।

यह तो हुई औचित्यकी बात।

२–धर्मकी बात

अब अनीश्वरवादके लेखोंके गुण और मूल्यपर विचार करना चाहिये।

'धर्म और भगवान् मुर्दाबाद' में लिखा है कि जो लोग धर्मके खतरेमें होनेकी दुहाई देते हैं वे हास्यास्पद बात कह रहे हैं, यह बिल्कुल ठीक है। परन्तु आगे चलकर जहाँ लिखा है कि 'धर्म तो वस्तुतः वैसी ही वस्तु है जैसा कि यश और मानके इच्छुक किसी कुशल लेखकका कथानक।' वहाँ लेखकने उससे कम हास्यास्पद बात नहीं कही है। धर्म शब्दकी व्याख्या करनेके अधिकारी क्या इसी तरह करते हैं? क्या धर्मके बारेमें गँवारोंका प्रमाण माना जायगा? सचाईकी खोज और जाँच करनेवाला क्या इसी तरह मनमानी परिभाषा कर देता है? 'अग्निका धर्म है जलाना,' 'पिताका धर्म है सन्तानका पालन-पोषण,' 'विद्यार्थीका धर्म है विद्याध्ययन,' 'अहिंसा परम धर्म है,' 'सचाईसे बढ़कर कोई धर्म नहीं' ये वाक्य जो हम पढ़े-लिखे साधारण बातचीतमें प्रयोग करते हैं, क्या झूठे हैं, और क्या 'धर्म' यहाँ 'वास्तवमें वैसी ही वस्तु है, जैसा कि यश और मानके इच्छुक किसी कुशल लेखकका कथानक'? कदापि नहीं। 'धर्म और भगवान् मुर्दाबाद' के लेखक ही यह कभी स्वीकार न करेंगे कि उन्होंने धर्म शब्दका प्रयोग उस लेखमें पारिभाषिक अर्थमें किया है। तो फिर उनका तात्पर्य धर्म शब्दसे क्या है? वह इस बातको कबूल करेंगे कि उन्होंने धर्म शब्दका वही अर्थ लिया है जिस अर्थमें खतरेकी दुहाई देनेवाले लेते हैं। यदि मेरा यह अनुमान ठीक है, तो उन्हें 'धर्म' की जगह 'सम्प्रदाय' शब्दका प्रयोग करना था। उन्होंने 'धर्म' शब्दका अशुद्ध प्रयोग करके अपनी मर्मज्ञता और साहित्यज्ञताको खतरेमें डाल दिया। धर्म तो खतरेमें पड़नेवाली चीज नहीं है। ओषजनका धर्म है कई पदार्थोंको जलाना। इसीमें ओषजनत्व है। उसका यह धर्म नष्ट हो जाय तो ओषजन ही न रह जाय। 'धारणाद्धर्मम्' यह धर्मकी वैज्ञानिक परिभाषा है। नमकका धर्म नमकीनियत, लावण्यता है। यही न रहे तो नमक कहाँ रहा? इसीलिये कहा है कि 'धर्मो रक्षति रक्षितः।' धर्मकी रक्षा करो, धर्म रक्षा करेगा। 'यतो धर्मस्ततो जयः।' जहाँ धर्म है वहाँ जय है। धर्म और धर्मीकी एकता ही इसका कारण है।

धर्मसे चिढ़कर वृथा ही बे-समझे-बूझे निन्दा करने लग जाना बुद्धिमानी नहीं है। धर्मकी झूठी दुहाई देना भी मूर्खता है।

अनेकों प्रकारकी प्रचलित रूढ़ियोंको धर्म नहीं कहना चाहिये, सम्प्रदाय कहना चाहिये। इनके मूलमें समाजधर्म और व्यक्तिधर्म भले ही हों, परन्तु इनका वर्त्तमान पल्लवित रूप साम्प्रदायिक है, इसमें लेशमात्र सन्देह नहीं है! धर्म व्यापक होता है, सम्प्रदाय अत्यन्त संकुचित। दोनोंमें भेद समझकर इन शब्दोंका प्रयोग करना चाहिये।

व्यक्तिधर्म और समाजधर्म दोनों ही व्यक्ति और समाजके कल्याणके लिये हैं। मानव, व्यक्ति और समाज विकसित और स्वच्छन्द है अतः धर्मका पालन या अपालन उसकी इच्छापर निर्भर है।

सृष्टिके विकासमें धर्मका विकास भी शामिल है। जड़ पदार्थका स्वाभाविक धर्म दृढ़तापूर्वक उसमें निहित है। धर्मसे ही धर्मीकी पहचान होती है। सोनेके धर्मसे ही हम उसे सोना समझते हैं। सोनेमें चाँदीका और चाँदीमें सोनेका जो-जो धर्म हम पाते हैं उन्हें हम सामान्य धर्म कहते हैं। जिस धर्मसे या धर्मोंसे सोना चाँदीसे एवं अन्य सभी पदार्थोंसे एकदम भिन्न व्यक्त होता है, उन्हें हम विशेष धर्म कहते हैं। उद्भिजमें सामान्य और विशेष दोनों प्रकारके धर्मोंका जड़की अपेक्षा अधिक विकास है। जिन परिस्थितियोंमें पड़कर पौधा अपने धर्मोंकी रक्षा नहीं कर सकता उनसे उसका विनाश हो जाता है। प्रकृतिने पौधेकी रक्षा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अर्थात् उसके धर्मोंकी रक्षाके लिये सुसाध्य उपाय कर रक्खे हैं। वनस्पतिसंसार इन उपायोंसे लाभ उठाता है। जन्तु और पशुसंसारके सामान्य और विशेष धर्म भी उनके द्वारा पालनीय हैं। गधेका घास चरना, सिंहका मांस खाना इनके व्यक्ति और जातिरक्षक धर्म हैं। न एक दूसरेके धर्मको ग्रहण कर सकते हैं, न अपने-अपने धर्मका त्याग कर सकते हैं। अपने-अपने धर्मकी रक्षा न करें तो मर जायँ। इसी तरह मनुष्यके भी धर्म हैं। मनुष्य राष्ट्रोंमें, समाजोंमें, वर्णोंमें विभक्त है। देश, काल, कर्म और स्वभावके अनुसार सबके धर्म भी अलग-अलग हो गये हैं। आहार, निद्रा, भय, मैथुनादि स्वाभाविक धर्म हैं, जो व्यापक हैं। आचारनीतिके धर्म उन्नतिकी दृष्टिसे ऋषियों आदिके चलाये हुए हैं। ये सहज नहीं हैं। इनकी ओर प्रवृत्ति वा अप्रवृत्ति संस्कारपर निर्भर है। परन्तु इनसे विकासमार्ग प्रशस्त होता है। 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः' जिससे अभ्युदय-निःश्रेयसकी सिद्धि हो वही धर्म है। यह वैज्ञानिक परिभाषा है, इसीकी कसौटीपर कसकर सदाचारको धर्म माना जा सकता है। यदि सदाचारसे हमारा अभ्युदय हो, सबसे बड़ी भलाई हो, तो वह धर्म तो जरूर पालने योग्य है। इसकी रक्षा करनेसे हमारी रक्षा होगी। सदाचार धर्मका मूल है। 'आचारप्रभवो धर्मः'। इसीलिये धर्मकी रक्षा करो, सदाचारकी रक्षा करो तो वह तुम्हारी रक्षा करेगा। 'धर्मो रक्षति रक्षितः'। सदाचार दृढ़तापूर्वक धारण करनेकी चीज है, इसीलिये धर्म है। इससे शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक सब तरहका विकास सम्भव हो जाता है। सदाचार खतरेमें पड़ा तो मानवविकास भी खतरेमें पड़ा। इसीलिये सदाचारकी रक्षा होनी ही चाहिये। कोई अनीश्वरवादी भी इससे असहमत हो नहीं सकता।

हम किस प्रकारसे भोजन करें, साफ फर्शपर या लिपे-पुते चौकेमें; कैसा भोजन करें, किस तरहका कपड़ा पहनें या न पहनें, कौन त्योहार मनावें या न मनावें, मन्दिरमें, मस्जिदमें, गिरजेमें जायँ या न जायँ, सन्ध्या-पूजा करें या न करें और करें तो किस रीतिकी करें, कैसा तिलक लगावें या न लगावें, यज्ञोपवीत पहनें या न पहनें, शिखा रक्खें या न रक्खें, दाढ़ी-मूँछ रक्खें या मुड़ा डालें, इत्यादि सदाचार-मूलक प्रश्न होते हुए भी उस विस्तारके प्रश्न हैं जिसे हम 'सम्प्रदाय' कहते हैं। आपसमें मतभेद और कलहका कारण यही 'सम्प्रदाय' है।

३–सम्प्रदायकी बात

'अब यदि यह कहा जाय कि अच्छा, धर्मके बदले सम्प्रदाय ही सही, जब कलहका कारण यही है, तो इसे दूर करना चाहिये।' इस प्रश्नपर भी आइये विचार करें।

मनुष्यने जबसे सृष्टिमें होश सँभाला है तबसे आज-तक विस्तारके प्रश्नोंमें सदा कलह होता रहा है। इस झगड़े-के कारण अधिकांश शब्दोंके कुप्रयोग या दुष्प्रयोग, कुछ भावों और परिस्थितियोंके प्रभेद और साथ ही पारस्परिक राग-द्वेष तथा काम-क्रोध-लोभादिकी कुप्रेरणा हैं। संसारमें जितने धर्म, मत, पन्थ, मजहब, सम्प्रदाय बने वह बड़ी व्यापक दृष्टिसे बने और सब मनुष्योंके लिये बने परन्तु उनके अनुयायियोंने उन्हें विस्तारके भेद-भावोंको बढ़ा-बढ़ाकर संकुचित कर डाला। इस संसारका मूल 'एकोऽहं बहु स्याम्' वाला महावाक्य है। अनेकता तो दुनियाँकी घुटीमें पड़ी हुई है। उससे लाख जतन करो कोई बच नहीं सकता। चले थे विनायक बनाने, बना वानर। संसारव्यापी मजहबकी रचना करने चले, बन गया 'सम्प्रदाय'। वह तो बने बिना रहता नहीं। 'आर्यसमाज', 'देवसमाज', 'ब्रह्मसमाज', 'थियोसोफिकल सोसायटी' आदि कलके बने सम्प्रदाय और 'नानकपन्थ', 'कबीरपन्थ' आदि पहलेके बने सम्प्रदाय इसके गवाह हैं। मूलतः ये सभी बड़े व्यापक हैं, पर विस्तार और अनुयायित्वने इन्हें जबरदस्ती सिकोड़कर सम्प्रदाय बना डाला। जो तत्त्वदर्शी विद्वान् हैं वह साम्प्रदायित्वसे सदा ऊपर उठे रहेंगे, परन्तु ऐसे कितने हैं? समाजमें तो साधारण मनुष्योंका ही बाहुल्य है। अतः सम्प्रदायकी ये रक्षा करते रहेंगे। थोड़े-से अनीश्वरवादियोंके तोड़े ये नहीं टूटनेके, प्रत्युत पुराने बार्हस्पत्यों या चार्वाकोंकी तरह आजकलके अनीश्वरवादियोंका भी अधिक-से-अधिक एक सम्प्रदाय बन जायगा।

यह भी सम्भव है कि अनीश्वरवादियोंका सम्प्रदाय बढ़े और सभी समाजवादी अनीश्वरवादी भी हो जायँ। रूसमें समाजवाद और अनीश्वरवादका गठजोड़ा हो गया ही है।* मान लीजिये कि यहाँ भी वैसा ही हो जाय और

* यूरोपमें राजनीति और शासनमें पादरियोंका बहुत बड़ा प्रभाव बहुत कालसे चला आया है, उनकी ओरसे भयानक रोम-हर्षण अत्याचार भी हुए हैं। उसीकी प्रतिक्रियामें पादरी और ईसाईधर्मके विरुद्ध वहाँ असंख्य लोग हो गये। इसमें यहूदियोंका

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भारतकी बहुसंख्यक जनता नास्तिक हो जाय, तो भी सभी भारतीय किसी समय भी व्यापकरूपसे नास्तिक नहीं हो सकते। अतः नास्तिकवाद भी अधिक-से-अधिक एक सम्प्रदाय ही होकर रहेगा वह ईश्वरवादका पूर्णतया उच्छेद करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। ठीक उसी तरह जैसे सभी प्रयत्न करके भी सारा संसार मुसलमान या ईसाई न हो सका। इसलिये सब सम्प्रदायोंके विनाशके लिये झंडा उठानेवाला भी एक विनाशक सम्प्रदायसे ज्यादा कुछ भी नहीं बना सकता।

इसलिये 'मतभेद', 'सम्प्रदायभेद', 'धर्मभेद', 'अनैक्य' सभी 'संसार' नामक पदार्थके धर्म हैं, और स्वाभाविक धर्म हैं। किसी एक देश या कालमें कुछ थोड़ी-सी एकता देख पड़े तो उसे इस अनेकताका नाश या अभाव समझना भूल है। वह केवल अनेकताओंका पारस्परिक सामञ्जस्य है जिसे हम अनेकताका नाश समझ रहे हैं। आपसकी थोड़ी-सी समझदारी, कि तुम हमारी सहो हम तुम्हारी सहें, हम लोग परस्पर मेल-जोलसे रहें, इसी सामञ्जस्यका लाना ही स्वाभाविक और ठीक मार्ग है। किसी या सभी सम्प्रदायोंका मिटा देना न तो ठीक मार्ग ही है और न कभी सम्भव ही है।

४—क्या ईश्वर है ? है तो क्या है ?

अनीश्वरवादीका तर्क यह है कि ईश्वरको अपनी ज्ञानेन्द्रियोंसे किसीने प्रत्यक्ष नहीं किया है, इसलिये ईश्वर नहीं है। इस दलीलमें यह बात मान ली गयी है कि है वही वस्तु जिसे किसीने ज्ञानेन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष कर लिया है। इससे तो यह मतलब निकला कि जो अनीश्वरवादी यह तर्क करता है वह ज्ञानेन्द्रियोंकी ही गवाही मानता है, वह निर्गुण निराकार अगोचर सत्ता नहीं मानता। परन्तु वह आदर्श पुरुषोंको अवश्य मानेगा। जैसे अर्हत्, तीर्थङ्कर, राम, कृष्णादि, ऋषि-महर्षि आदि जो गोचर हो चुके हैं, उन्हें मानता है। उन्हें बहुत लोग मानते हैं जो अपनेको अनीश्वरवादी नहीं कहते। वह इन्हें अच्छे और आदर्श मनुष्य करके ही माने तो भी मानता तो है, ईश्वर शब्दका प्रयोग न करे, न सही, क्योंकि ईश्वर शब्दका अर्थ तो वह 'अगोचर' समझता है। अद्वैत वेदान्ती जो 'अयमात्मा ब्रह्म' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' आदि महावाक्य कहता है, वह तो आत्माको, या इस जगत्को ही ब्रह्म मानता है। वह समष्टिको ईश्वर मानता है और समष्टि गोचर है तो अनीश्वरवादीका उसका कोई झगड़ा नहीं। अनीश्वरवादीको अगोचरसे ही इनकार ठहरा।

'ईश्वर' शब्दका प्रयोग सभी ईश्वरवादी एक ही अर्थमें नहीं करते। अनीश्वरवादी केवल गोचरताको सत्ताका अनिवार्य गुण मानकर कहता है कि ईश्वर नहीं है, तो हमारा उसका कोई झगड़ा नहीं। वैज्ञानिक इस बातको जानता है कि सत्ता गोचर और अगोचर दोनों ही है परन्तु वैज्ञानिक केवल गोचर सत्ताको ही जानता है तो दोनों पक्षोंमें झगड़ा किस बातका है ? एक जानता है दूसरा नहीं जानता, इतना ही तो अन्तर है। अवैज्ञानिकको जाननेकी योग्यता हो जायगी तो जान जायगा।

वह कहता है कि ईश्वरको किसीने देखा नहीं है इसलिये वह नहीं है। परमाणुको किसीने देखा नहीं है इसलिये परमाणु नहीं है। आकाशको किसीने देखा नहीं है, अतः आकाश नहीं है। आत्माको किसीने देखा नहीं है, अतः आत्मा नहीं है। चार्वाकके ये ही तो तर्क थे। क्या इन तर्कोंका सैकड़ों बार खण्डन नहीं हो चुका है ? हाँ, सभी पाठक इन विषयोंके ज्ञाता नहीं हैं, यह बात दूसरी है। ईश्वरवादी किसीसे यह नहीं कहता कि तुम्हें विश्वास न भी हो तब भी ईश्वरकी सत्ताको मानो।

वास्तविक सत्ता जितनी है उसका अत्यन्त अल्प अंश हमारे गोचर होता है। आँखें कुछ परिमित तरंगोंको ही तो देख सकती हैं। कान कुछ परिमित तरंगोंको ही तो सुन सकते हैं। जिह्वा कुछ परिमित रसोंको ही तो चख सकती है। नाक कुछ थोड़ी-सी ही गन्ध तो सूँघ सकती है। त्वचामें स्पर्श तो अत्यन्त परिमित है। भार, आकर्षण एवं अनन्त प्रकारकी विद्युत् और अन्य तरंगोंमेंसे अत्यन्त थोड़ेका ही अनुभव तो मन कर सकता है। सत्ताकी अनन्त राशि तो अछूती रह जाती है, हमारी इन्द्रियाँ तो उस अनन्त राशिके ऊपरी सतहको भी छू नहीं पातीं। केवल उसके होनेका

भी प्रभाव था। समाजवादने अनीश्वरवादको इसी पालिसीसे अपनाया। भारतमें तो किसी ब्राह्मण, मौलवी आदिका राजनीतिमें कोई दखल नहीं है। अतः समाजवादी भाइयोंको यूरोपकी नकल करनेकी जरूरत नहीं है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अत्यन्त सूक्ष्म प्रमाण पाती हैं। जो कुछ गोचर होता है अनन्त अगोचरका पता देता है। विज्ञानका यही निष्कर्ष है। इसलिये जो कुछ अगोचर है, वह है ही नहीं ऐसा कहना नितान्त अवैज्ञानिक कथन है।

अतः अगोचर सत्ता अनन्त है। यदि कोई इसी अनन्त सत्ताको ईश्वर मानता है, तो कौन-सी असंगत बात करता है? अन्धोंने जैसे हाथीके अलग-अलग अंगोंको सम्पूर्ण हाथी समझा वैसे ही केवल अगोचर सत्ताको ईश्वर माननेवाला केवल एक अंगको ईश्वर मानता है।

ईश्वर तो वस्तुतः गोचर और अगोचर सम्पूर्ण सत्ता है, और इस सम्पूर्ण सत्तामें अनन्त कोटि विश्व हैं। तब भी यह सम्पूर्ण सत्ता ईश्वरका अंशमात्र है। वह तो इनसे कहीं बड़ा है। निदान वही सब है। उसके सिवा कुछ और है ही नहीं। जो कुछ गोचर है वह भी ईश्वर है और हम भी उसी गोचर जगत्‌में ईश्वरमें अत्यन्त सूक्ष्म जीव हैं। जैसे, सिरकी जूँ बालोंके जंगलके सिवा नरब्रह्माण्डका हाल नहीं जानती और केवल सिरको ही समस्त गोचर जगत् मानती है उसी तरह हम भी ईश्वरके एक अंगमात्रको सम्पूर्ण जगत् मान लेते हैं। इस प्रकार जो कुछ हमारे गोचर है वह सब वस्तुतः ईश्वरका ही अंश है जिसे हम देख रहे हैं। इस प्रकार ईश्वरको सभी देखते हैं, मगर जानते नहीं हैं। यह सबका व्यामोह है, अज्ञान है। अनीश्वरवादीका यह कहना कि ईश्वरको किसीने नहीं देखा है, वैसा ही है जैसे हमारे शरीरका एक जीवाणु दूसरेसे कहता है कि अमुक नामधारी शरीरको तो किसीने नहीं देखा है, यद्यपि वह जीवाणु हमारे शरीरके एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंशको देख रहा है और उसीमें रहता और चलता-फिरता है।

अनीश्वरवादी कहेगा कि यह तो 'तुमने जड प्रकृतिको ही ईश्वर ठहराया है। उसे तो हम भी मानते हैं। वह चेतन नहीं है। उसे भजनेकी जरूरत नहीं है। परन्तु तुम तो चेतन ईश्वरको मानते हो, वह इस जडमें कहाँ है? उसे तो तुम प्रकृतिसे बिल्कुल भिन्न मानते हो?'

सम्पूर्ण गोचर और अगोचर जगत् और उससे अधिक भी सम्पूर्ण सत्ताको, सर्वको, जब ईश्वर माना तब तो जड और चेतन, प्रकृति और पुरुष सब कुछ ईश्वर ही तो हुआ? अलग क्या रहा? जैसे मनुष्य देवदत्त केवल शरीर ही नहीं है, इन्द्रियाँ, मन और जीवात्मा सभी कुछ वही है, उसी तरह ईश्वर भी जड-चेतन सब कुछ है। जैसे हम और हमारा स्वभाव अलग नहीं है, उसी तरह ईश्वर और उसकी प्रकृति अलग नहीं है। रही भजनेकी बात सो अपनी श्रद्धापर निर्भर है। बापकी सेवा करो या न करो वह पालन तो करेगा ही। जो बापकी सेवा करता है उसे बाप अधिक प्यार करता है, यह तो स्पष्ट ही है। जो बापको नहीं मानता, नालायक निकल जाता है उसे भी क्या बाप निकाल देता है? हमारे शरीरके असंख्य जीवाणु अपने-अपने कर्त्तव्य पालन करते रहें तो शरीराभिमानी आत्माको सन्तोष रहेगा। यदि जीवाणु आत्माकी वन्दनामात्र करें और अपने कर्त्तव्य न पालन करें तो आत्माको क्या सन्तोष होगा? यदि कर्त्तव्य भी पालन करें और आत्माको भी मानें और आत्माको यह ज्ञान हो जाय तो सन्तोषकी मात्रा बढ़ ही जायगी। इसी प्रकारका हमारा और ईश्वरका सम्बन्ध है। यदि ईश्वर है, तो हम अपना कर्त्तव्यपालन मुख्य जानें और उसे भजें तभी तो उसे परम सन्तोष होगा और जैसे जीवाणुओंके स्व-स्व-कर्त्तव्यपालनसे शरीरजगत्‌का कल्याण होता है, उसी तरह हमारे कर्त्तव्यपालनसे भी जगत्‌का कल्याण होता है, और जैसे शरीरके कल्याणसे शरीराभिमानी आत्माको प्रसन्नता होती है वैसे ही ईश्वरको भी जगत्‌के कल्याणसे प्रसन्नता होती है। गीतामें—

'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः'

'स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य'

'स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्'

'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः'

'कर्मण्येवाधिकारस्ते'

'न तु कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'

इत्यादि वाक्य, बल्कि सारी गीता इसी बातका प्रतिपादन करती है। ईश्वर, माननेवालोंका मुहताज नहीं है, वह यही चाहता है कि सब अपने कर्त्तव्यका पालन करें।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

५–ईश्वर और धर्म जिम्मेदार है या सम्प्रदायवाद

ईश्वरवादीसमाजके अत्याचारोंसे पीड़ित लोग घबराकर ईश्वर और धर्मको कोसने लगते हैं, परन्तु ये अत्याचार तो ईश्वर या धर्मके कारण नहीं हैं। ये तो सम्प्रदायवादके ही दुष्परिणाम हैं। यदि गिरजा, मन्दिर और मसजिदमें व्यभिचार होते हैं तो वह भी सम्प्रदायके दुराचारियोंकी ही करतूतें हैं। कोई सम्प्रदाय, मत या धर्म दुराचार या व्यभिचारका पोषण नहीं करता। अब रही अपने-अपने मतकी बात। सो मैं अमुकामुक विचार रखता हूँ इसीलिये दण्डके योग्य हूँ यह भारी अत्याचार और हिंसा है। परन्तु किसी एक विचारके अनुयायी जब जोशमें आते हैं तो बातों-बातोंमें ही अपनेसे विपरीत या भिन्न विचारवालेसे लड़ पड़ते हैं और सिर-फुटौवलकी नौबत आती है। इसके दोषी नासमझ लोग हैं, चाहे वह ईश्वरवादी हों और चाहे अनीश्वरवादी हों। इन झगड़ों और अत्याचारोंके लिये न तो ईश्वर जिम्मेदार है न धर्म। न ईश्वर लड़ाई और हिंसाका प्रवर्त्तक है और न धर्म। ईश्वरके होने या न होनेपर जिद करनेवाले लड़ जाते हैं। परन्तु इसमें लड़ने-झगड़ने-की बात नहीं है। सत्य किसीकी जीत या हारपर नहीं जीता। किसीकी हिमायत भी नहीं चाहता। उसका अपना बल अपरिमित है, वह कभी खतरेमें नहीं हो सकता। खतरेमें वही होता है जो सत्यसे दूर हो जाता है, उसका विरोधी बन जाता है। सत्यके नामपर जो लड़ते हैं या किसीको सताते हैं वह उसका दुरुपयोग करते हैं, सत्यसे वे वास्तवमें दूर हैं, और वही हानि उठाते हैं। सत्य और ईश्वर एक ही है, और तथोक्त अनीश्वरवादी भी सत्यसे इनकार नहीं कर सकते। सत्यको माननेवाला अनीश्वरवादी हो नहीं सकता।

बलिदान आदिके सम्बन्धमें जो शिकायतें की जाती हैं वह भी ईश्वरवाद या धर्मका कोई अंग नहीं है। वह भी सम्प्रदायवादके ही कारण है। बलिदान करना यदि अनिवार्य या व्यापक धर्म होता तो उसके बिना मनुष्य-जाति रह नहीं सकती थी। बलिदानके बहाने मांसभोजी अपनी वासनाकी तृप्ति करता है। मांस-भक्षणमें जीवोंकी प्रवृत्ति अवश्य है। इतना तो जन्तु-धर्म है और व्यापक है। मनुष्य पशुत्वसे विकाश करके ऊँचा हो रहा है, अतः उसके लिये 'निवृत्तिस्तु महाफला' निवृत्ति ही महाफलदायक है। निवृत्ति व्यापक नहीं हो सकती। वह प्रयत्नसे ही प्राप्य है। जैसे शिक्षा मनुष्यके विकासमें सहायक है, अतः धर्म है, परन्तु वह प्रयत्नसे ही प्राप्य है। जैसे मांसभोजी-को समझा-बुझाकर उससे निवृत्त करना ही निरामिष बनानेका उपाय है, जीवोंका कटना या मांसका बिकना रोक देना यथार्थ उपाय नहीं है, वैसे ही बलिदान करने-वालोंका मांसभोजित्व दूर करना ही बलिदान रोकनेका उपाय है। सच्चे ईश्वरवादी बलिदान और यज्ञका बहुत ऊँचा अर्थ लगाते हैं—इतना ऊँचा और अच्छा कि अनीश्वरवादी भी माने बिना नहीं रह सकता।

यह आक्षेप भी कि प्रत्येक धर्ममें भोले-भाले लोगोंको बहकाने, डराने और अपना मतलब गाँठनेको तरह-तरहकी रोचक और भयानक बातें बनायी गयी हैं, उसी हदतक सही है जहाँतक धर्म सम्प्रदायके अर्थमें आया है। कर्म और कर्मका फल तो वैज्ञानिक बात है। जहाँ दोनोंका सम्बन्ध यथार्थरूपसे नहीं समझा गया है वहीं भूलें होती हैं, और धूर्त्तोंकी बन आती है। परन्तु जैसे डाकू पुलिसका रूप धारण करके लूटते हैं, परन्तु इससे पुलिसकी कोई हानि नहीं होती और कोई पुलिसमात्रको डाकू नहीं कहता, उसी तरह धर्मका रूप बनाकर धूर्त्त लोग भोले-भाले लोगोंको ठगते हैं। परन्तु इससे धर्मकी कोई हानि नहीं है, और कोई नासमझ ही होगा जो धूर्त्तद्वारा दुष्प्रयुक्त उपायोंको धर्म समझेगा।

सम्प्रदायवाद ही धर्मनामका दुरुपयोग करता है और जितने आक्षेप अनीश्वरवादियोंकी ओरसे ईश्वर और धर्मपर होते हैं, वह वस्तुतः सम्प्रदायवादपर होने चाहिये। इस प्रकार तथोक्त अनीश्वरवादी भी 'धर्म' और 'ईश्वर' के नामोंका केवल दुरुपयोग करते हैं। इनके लक्ष्यच्युत आक्षेपोंसे 'ईश्वर' और 'धर्म' का कुछ भी नहीं बिगड़ता। हाँ, जो भ्रम फैलता है उसका निराकरण अवश्य होना चाहिये।

६–आचारप्रभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरच्युतः

(आनु० १४९। १३७)

महाभारतका यह श्लोकार्ध 'ईश्वर' और 'धर्म' की बड़ी अच्छी परिभाषा करता है। अभ्युदय और निःश्रेयस-की सिद्धिके लिये जो आचरण मनुष्य धारण कर लेता है और उससे उसका अभ्युदय और सबसे अधिक भलाई हो जाती है, वही आचरण 'धर्म' है। वह प्रयोग करता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

SRI SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY
Jangamawadi Math, Varanasi
Acc. No. 2958

है और ठीक फल पाता है, अभ्युदय और निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है। जिस आचरणको इस कसौटीपर कस लिया जाता है, वही आचरण धर्म है। मनुस्मृतिकी बतायी धर्मकी पहचानोंमें आचार्योंका आचरण एक प्रमुख पहचान है। इस तरह 'धर्म' आचारसे ही उत्पन्न होता है, 'आचारप्रभवो धर्मः।' प्रभुका काम है नियमन और अधिकार, और जो प्रभु स्वयं दृढ़ हो, जो नियमन करे उसपरसे स्वयं च्युत न हो, डिगे नहीं, वैसा प्रभु 'अच्युत' है। 'अच्युत' ही आचारकी दृढ़ताका आदर्श है। आदर्श सत्य है, ज्ञान है, अनन्त है, ब्रह्म है, वही 'अच्युत' है धर्मका नियमन करनेवाला वही न 'च्युत' होनेवाला 'अच्युत' भगवान् है। धर्मका प्रभु वही ईश्वर है। ऐसे 'धर्म' को ऐसे 'ईश्वर' को 'मुर्दाबाद' कहनेवाला तो अपना ही गला काटता है, आत्महत्या करता है। वह तो विकासकी डालपर बैठकर उसीकी जड़को काटता है। सौभाग्यसे हमारे योग्य लेखक इन नामोंका दुरुपयोगमात्र करते हैं। उनका वास्तविक लक्ष्य 'सम्प्रदायवाद'* है जिसके हम भी विरोधी हैं।

परत्वादिपञ्चक

(लेखक—श्रीयशोदानन्दजी अखौरी)

परत्वादिपञ्चक नामका संस्कृतमें एक छोटा-सा भगवत्स्तोत्र है। यह श्रीसम्प्रदायके वैष्णवोंमें और विशेषकर द्रविड़ादि प्रान्तके श्रीवैष्णवोंमें प्रचलित है। आजसे कोई साढ़े चार-पाँच सौ वर्ष पहले दाक्षिणात्य प्रदेशमें उत्पन्न श्रीवरदाचार्य† नामके एक भक्तिनिष्ठ विद्वान्का यह बनाया हुआ है। हमारे विचारसे यह बड़ा ही उपादेय है। इसमें भगवान्के पाँच प्रकारके दिव्याकारोंकी संक्षिप्त विवरणात्मिक स्तुति है। ठीक वैसे ही ढंगकी है जिस ढंगकी श्रीजयदेव कविने अपने गीतगोविन्दके आरम्भमें दी है। इस ढंगके स्तोत्र अन्य महापुरुषों और कवियोंके भी हैं। पर इसमें औरोंसे विशेषता यह है कि जहाँ औरोंमें केवल विभवावतारके दस अथवा इससे अधिक अवतारोंका ही वर्णन है, वहाँ इसमें सम्भवतः भगवान्के सभी रूपों और आकारोंका वर्णन संक्षेपमें आ गया है। इस संक्षेपसे एक बड़ा-सा ग्रन्थ बनाया जा सकता है जो सचमुच बेजोड़ होगा। इस बारेमें आगे कुछ कहनेके पहले पाँचों भगवदाकारोंके सम्बन्धमें थोड़ा उपोद्घातरूपसे निवेदन कर देना अनुचित और अनुपयुक्त न होगा।

यह बात शास्त्रसम्मत है कि वास्तवमें सर्वेश्वर भगवान्का कोई निश्चित आकार नहीं है। पर तो भी लोकहितार्थ उन्होंने अपने ही सत्सङ्कल्पसे अपने कई प्रकारके आकार निर्माण कर लिये हैं। नारदपाञ्चरात्रगत 'जितन्ते' नामक स्तोत्रमें एक वचन है—

न ते रूपं न चाकारो नायुधानि न चास्पदम्।
तथापि पुरुषाकारो भक्तानां त्वं प्रकाशसे॥

अर्थात् हे भगवन्! आपके न तो रूप हैं, न आकार हैं, न आयुधादि हैं और न कोई उपाधि है; तथापि आप भक्तोंके लिये पुरुषाकार होकर प्रादुर्भूत होते हैं। यह तो निराकार भगवान्के आकारादिके सम्बन्धमें हुआ। अब जरा भगवान्के आकारवान् रूपोंके विषयमें देखिये। ऐसे ही प्रसंग छिड़नेपर

* 'सम्प्रदाय' से यहाँ तात्पर्य दुराग्रही 'मत' से है। हमारे वैष्णवसम्प्रदायवाले सज्जन कृपया अन्यथा न समझें। अच्छे भावोंपर एवं पूज्य संस्थाओंपर मेरा आक्षेप कदापि नहीं है।

† श्रीसम्प्रदायके बड़गल उपसम्प्रदायके प्रतिष्ठाता परम प्रसिद्ध श्रीमद्वेदान्तदेशिक स्वामीजीके पुत्रका नाम भी वरदाचार्य था। हम ठीक नहीं जानते कि यह वही वरदाचार्य हैं या कोई दूसरे।—लेखक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विष्वक्सेनसंहितामें श्रीभगवान्‌ने श्रीविष्वक्सेनजीसे कहा है—

यमप्रकाराः पञ्चेति प्राहुर्वेदान्तपारगाः।
परो व्यूहश्च विभवो नियन्ता सर्वदेहिनाम्॥
अर्चावतारश्च तथा दयालुः पुरुषाकृतिः।
इत्येवं पञ्चधा प्राहुर्मां रहस्यविदो जनाः॥

तात्पर्य यह है कि वेदान्तपारङ्गत और रहस्य-वेत्ता महात्मा पुरुषोंने सर्वेश्वर भगवान्‌के पाँच प्रकार-के आकार कहे हैं। ये पाँचों इस प्रकार हैं—(१) पर, (२) व्यूह, (३) विभव, (४) अर्चा,* (५) अन्तर्यामी। इनमें 'पर' रूप 'नित्य' और 'मुक्त' जीवात्माओंके भोग्य और सेव्य हैं। 'व्यूह'-रूपसे अनन्त ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि, स्थिति और संहृति-का सम्पादन होता है। इस व्यूहके चार रूप हैं जिन्हें चतुर्व्यूह कहते हैं। एक वासुदेव, दूसरे संकर्षण, तीसरे अनिरुद्ध और चौथे प्रद्युम्न। श्रीवासुदेव भगवान् क्षीरसागरमें निवास करते हुए व्यूहरूपोंमें प्रधान होकर विभवावतारोंके अंशीरूप कारण बनते हैं और प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और संकर्षणसे सृष्टिका क्रम चल निकलनेपर त्रिदेवों यानी ब्रह्मा, विष्णु और महेश-का क्रमानुसार आविर्भाव होता है। प्रद्युम्नसे ब्रह्मा, अनिरुद्धसे विष्णु और संकर्षणसे महेश आविर्भूत होते हैं। इस सम्बन्धमें भी उसी संहितामें श्रीमुखका वचन है—

चतुर्विधः स भगवान् मुमुक्षूणां हिताय वै।
अन्येषामपि लोकानां सृष्टिस्थित्यन्तसिद्धये॥

भाव यह कि वही चतुर्विधाकार भगवान् मुमुक्षुओंके हितार्थ लोकोंके सृजन, पालन और संहरणके लिये अपने रूप धारण करते हैं। फिर उक्त वासुदेव भगवान्‌से ही मत्स्य-कूर्मादि विभवावतार समय-समयपर प्रकट होकर नाना प्रकारकी लीलाएँ करके भक्तोंकी वाञ्छाएँ पूरी करते और उन्हें परमानन्द देते हैं। इसीसे जब-जब प्रयोजन पड़ता है, तब-तब पृथ्वी एवं ब्रह्मादि देवगण क्षीरसागरके ही निकट जाकर भगवान्‌से अपना दुखड़ा सुनाते हुए उनकी स्तुति करते और अवतार-धारणके लिये प्रार्थना करते हैं। चौथा प्रकार 'अर्चा' है। इस अर्चाकोटिमें भी कई 'विग्रह' हैं जो समय-समयपर प्रादुर्भूत अथवा देव, मनुष्य आदि भक्त अर्चकोंद्वारा प्रतिष्ठित होकर सेवा-आराधना स्वीकृत करते हुए उनकी मनोकामनाएँ पूरी करते हैं। मन्दिरोंमें प्रतिष्ठित भगवद्विग्रह इसी अर्चाके अन्तर्गत हैं। और पाँचवाँ श्रीभगवान्‌का अन्तर्यामी रूप है जो सृष्टिके सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणुके भीतर प्रविष्ट हो निवास करते और सृष्टियोंका सञ्चालन और नियमन करते हैं एवं योगियोंके हृदयमें उनकी समाधिकी अवस्थामें विद्युच्छटामय रूपमें प्रकट होकर उन्हें तृप्त करते हैं। भगवान्‌के जितने प्रकारके रूप हैं और हो सकते हैं वे सब इन्हीं पाँचोंके अन्तर्भूत हैं।

ये ही भगवान्‌के पाँच प्रकार हैं जिनका संक्षेपमें विवरण दे दिया गया है। इन्हीं 'पर' आदि पाँच रूपोंके सम्बन्धमें उक्त स्तोत्र है, इसीसे इसका नाम 'परत्वादिपञ्चक' है। यह स्तोत्र दाक्षिणात्य प्रदेशमें केवल द्राविडाक्षर अथवा तैलङ्गाक्षरमें ही छपा मिलता है। अभीतक देवनागरीमें छपा हमारे देखनेमें न आया। इसीसे हिन्दीभाषियोंके निमित्त देवनागरीमें अक्षरान्त-रित करके हिन्दीके छप्पय छन्दोंमें हमने उल्था भी कर दिया है। द्राविडमें छपी मूल पोथीमें कई जगह त्रुटियाँ थीं जिनके संशोधन कर दिये गये हैं। श्रीकाञ्चीके प्रतिवादिभयङ्करमठाधीश अगणित श्रीविशिष्ट श्रीस्वामी श्रीमदनन्ताचार्यजी महाराजने कृपाकर मूलका संशोधन करके उसका अर्थ लेखकको समझा देनेका कष्ट उठाया है। इसके लिये श्रीचरणोंके हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं।

* हमने अपने सुभीतेके लिये क्रमोंमें परिवर्तन कर दिया है। पाठक क्षमा करें।—लेखक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आज वही अनुवादसहित मूलस्तोत्र यहाँ 'कल्याण'के पाठकोंकी सेवामें भेंट किया जाता है। यदि इसमें भूल-चूक देख पड़े तो महानुभाव पाठक हमें क्षमा दान देकर भूलें सुधार करके हमें कृतार्थ करेंगे—

मूल

(१)

उद्यद्भानुसहस्रभास्वरपरव्योमास्पदं निर्मल-
ज्ञानानन्दगुणस्वरूपममलज्ञानादिभिः षड्गुणैः।
जुष्टं सूरिजनाधिपं धृतरथाङ्गाब्जं सुभूषोज्ज्वलं
श्रीभूसेव्यमनन्तयोगिनिलयं श्रीवासुदेवं भजे॥

(२)

आमोदे भुवने प्रमोद उत सम्मोदे च सङ्कर्षणः
प्रद्युम्नश्च तथानिरुद्ध इति तान् सृष्टिस्थिती चाप्ययम्।
कुर्वाणान्प्रतिमुख्यषड्गुणवरैर्युक्तांस्त्रियुग्मात्मकै-
र्व्यूहाधिष्ठितवासुदेवमपि तं क्षीराब्धिनाथं भजे॥

(३)

वेदान्वेषणमन्दराद्रिभरणक्ष्मोद्धारणस्वाश्रित-
प्रह्लादावनभूमिभिक्षणजगद्विक्रान्तयो यत्क्रियाः।
दुष्टक्षत्रनिवर्हणं दशमुखाद्युन्मूलनं कर्षणं
कालिन्द्या अतिपापकंसनिधनं यत्क्रीडितं तं नुमः॥

(४)

यो देवादिचतुर्विधेषु जनिषु ब्रह्माण्डकोशान्तरे
सम्भक्तेषु चराचरेषु निवसन्नास्ते सदान्तर्बहिः।
विष्णुं तं निखिलेष्वणुष्वणुतरं भूयस्सु भूयस्तरं
स्वाङ्गुष्ठप्रमितं च योगिहृदयेष्वासीनमीशं भजे॥

(५)

श्रीरङ्गस्थलव्यङ्कटाद्रिकरिगिर्यादौ शताष्टोत्तर-
स्थाने ग्रामनिकेतनेषु च सदा सान्निध्यमासेदुषे।
अर्चारूपिणमर्चकाभिमतितस्स्वीकुर्वते विग्रहं
पूजां चाखिलवाञ्छितान्वितरते श्रीद्याय तस्मै नमः॥

पाठफलम् (मूल)

प्रातर्विष्णोः परत्वादिपञ्चकस्तुतिमुत्तमाम्।
पठन् प्राप्नोति भगवद्भक्तिं वरदनिर्मिताम्॥

हिन्दीभाषान्तर

भाषान्तरकारकृत गुरुवन्दना

असद्गुरुवरपाद, पंकजरज सिर धारिकै।
यह हिन्दी अनुवाद, परत्वादिपंचक रचौं॥

(१)

उदय भानु सम जोति सहज परव्योम हि जो है।
ज्ञानानन्दस्वरूप सोउ निर्मल अति सोहै॥
ज्ञानादिक षट्गुनन ईशकर तिनसों सज्जित।
सूरि जनोंके ईश और तिनसों नित पूजित॥
चक्र कमल धारैं सदा अंगनि भूषन दिव्य बहु।
श्रीभूसेवित फनिनिलय बैकुंठाधिप नित भजहु॥

(२)

बसि आमोद प्रमोद और सम्मोद भुवनमें।
संकर्षन प्रद्युम्न और अनिरुद्ध तननमें॥
ज्ञानादिक षट्गुनन माँह दुइ दुइ तिहुँ धारैं।
बिरचन रच्छन हरन बिश्वको काज सँवारैं॥
व्यूहाधिष्ठित तिहुँन पै वासुदेव वपु सो सजैं।
छीरनीरनिधि नाथपद माथ नाइ नित हम भजैं॥

(३)

वेदहि लायो खोजि उठायो मंदर भूधर।
कियो धरनि उद्धार रख्यौ प्रह्लाद स्वजनवर॥
माँगी भूमिहि भीख कियो छत्रिन संहारहि।
दब्यौ दशानन दुष्ट खींचि लिय जमुनाधारहि॥
मारयौ पापी कंस जिन या बिधि क्रीडाएँ करीं।
विभव मोहिनी मूर्तियाँ मानसमंदिरमँह धरीं॥

(४)

अखिल अनंत बिचित्र बिबिध ब्रह्मांड सुबिस्तर।
सुर नर आदिक देह पाइ जहँ बसत चराचर॥
है व्यापक सब माँहि बसै बाहर अरु भीतर।
धारि सुसूछम रूप सुअनुसों भी अति अनुतर॥
सिद्ध जोगिजन हृदयमहँ अंगूठा परमानजत।
तड़ित तेजमय रूप तत बैठे प्रभु विष्णुहि नमत॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(५)

श्रीरंगस्थल व्यंकटाद्रि करि गिरिवर आदिक ।
अष्टोत्तरसत नगर धाम बिलसत जो चहुँदिक ॥
अर्चा बिग्रह धारि करै तहँ सतत निवासा ।
अर्चकके अभिमतहि सकारैं बिग्रहबासा ॥
निज स्वातन्त्र्य बिसारिकै भक्तनके बस ह्वै रहैं ।
जन वत्सल श्रीपति चरन सरन सदा सज्जन गहैं ॥

अनुवादकका निवेदन

परस्वादिपंचक यही वरदाचार्य प्रनीत ।
हिन्दी उल्था ताहिको गहिहैं सज्जन मीत ॥
पद पदको है नहिं कियो उल्था लीजै जान ।
सार भाव सब लेइ कछु कियो बिसेस बखान ॥
सज्जन मनमहँ समुझिकै मनिहैं कछु नहिं खोरि ।
छमिहैं भाव उदार सों भूलचूक सब मोरि ॥
याको नित जो जन पढ़ैं उठिकै प्रातःकाल ।
अविचल भगवद्भक्ति लहि सो जन होयँ निहाल ॥
प्रभुके पाँच प्रकार कहँ पेखन हेत प्रदीप ।
यह उल्था अर्पित करौं गुरुपदपद्म समीप ॥

शम्भूयात्

शत्रु और मित्र

(लेखिका—बहिन श्रीजयदेवीजी)

के शत्रवः सन्ति निजेन्द्रियाणि तान्येव मित्राणि जितानि यानि ।

श्यामा—हे बहिन ! दुःख देनेवालेको अथवा अहित करनेवालेको लोकमें शत्रु कहते हैं, और सुख देनेवालेका अथवा हित करनेवालेका नाम मित्र है । हे विदुषी ! अनादिकालसे, जबसे यह सृष्टि हुई है, तबसे आजतक इस बातका निर्णय नहीं हुआ कि दुःख अथवा सुखका देनेवाला कौन है, इसी कारणसे शत्रु अथवा मित्र कौन है, इसका भी सर्वसम्मत निर्णय आजतक नहीं हुआ । कोई आत्माको ही आत्माका दुःख-सुख देनेवाला मानते हैं, तो कोई कर्मको दुःख-सुखका दाता कहते हैं । तत्त्वदर्शियोंका कथन है कि आत्मा एक और अद्वितीय है । आत्माके सिवा अन्य कुछ है ही नहीं इसलिये परमार्थसे तो कोई दुःख अथवा सुखका देनेवाला है ही नहीं । यदि है, तो आत्मा ही आत्माको दुःख-सुखका देनेवाला है । नास्तिक भी ऐसा ही कहते हैं । उनका कथन है कि हमारे सिवा न तो कोई ईश्वर है और न कोई कर्म है, यदि हम कर्म न करें तो हमें दुःख अथवा सुख हो ही नहीं । और बिना किये ईश्वर भी हमको पापका फल दुःख और पुण्यका फल सुख दे ही नहीं सकता । जब हम कर्म करते हैं, तभी हमको दुःख-सुख होता है । इसलिये कर्म और कर्मके फलका दाता ईश्वर हमारे अधीन है । जब यह दोनों हमारे ही अधीन हैं तो ये दोनों परतन्त्र हुए, हमीं स्वतन्त्र हुए, इसलिये अपने दुःख अथवा सुखके दाता हम आप ही हैं । मीमांसक कहते हैं कि दुःख अथवा सुख कर्मसे होता है, पापकर्मसे दुःख होता है और पुण्यकर्मसे सुख ।

हे बहिन ! राजा परीक्षितने जब वृषभरूपी धर्मसे यह पूछा कि 'तेरे पैरोंका काटनेवाला, यानी तुझे दुःख देनेवाला कौन है तो उसने यही उत्तर दिया कि मैं दुख देनेवालेको नहीं जानता, क्योंकि वादियोंका इसमें मतभेद है । कोई भी आजतक यह निर्णय नहीं कर सका है कि दुःख देनेवाला कौन है । इसलिये मैं अपने दुःख देनेवालेको नहीं बता सकता । तुम ही अपनी बुद्धिसे समझ लो । जब मैं जानता ही नहीं कि मुझे दुःख देनेवाला कौन है, तब मैं किसी दूसरेको दोष लगाकर क्यों दोषी बनूँ ।' हे बहिन ! उपर्युक्त हेतुओंसे शत्रु-मित्रका निर्णय नहीं हो सकता । इसलिये मैं तुझसे पूछती हूँ

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कि शत्रु और मित्र कौन है ? सो तू बता, तूने चिरकालतक सत्शास्त्रोंका अध्ययन और सत्सङ्ग किया है, मुझे आशा है कि तू मेरे प्रश्नोंका उत्तर देकर मेरा समाधान कर देगी ।

कोकिला—हे बहिन ! आत्मा एक अद्वितीय तत्त्व है, उसमें किसी प्रकारकी क्रिया सम्भव नहीं है, इसलिये वस्तुतः न तो दुःख है न सुख है और न दुःख-सुखके देनेवाले कोई शत्रु-मित्र ही हैं । परन्तु उस एक अद्वितीय आत्माको नहीं जाननेवालोंके लिये दुःख भी है और सुख भी है, और दुःख-सुखके देनेवाले शत्रु-मित्र भी हैं । वेदवेत्ताओंने शत्रु-मित्रका निर्णय भी किया है । वेदवेत्ताओंका कथन है कि आत्माके अज्ञानसे दुःख-सुखकी प्रतीति होती है । आत्माके ज्ञानमें इन्द्रियाँ प्रतिबन्धक हैं, यानी इन्द्रियाँ आत्माके ज्ञानको नहीं होने देतीं, या यों कहिये कि इन्द्रियोंके कारणसे आत्माका ज्ञान नहीं होता, आत्माका ज्ञान न होनेसे दुःखकी प्रतीति होती है इसलिये (स्वेच्छाचारिणी और विषयासक्त) इन्द्रियाँ ही अपनी शत्रु हैं । यही इन्द्रियाँ जब वशमें हो जाती हैं, तब पुरुष अपने आत्माको जाननेमें समर्थ हो जाता है । आत्माका ज्ञान होनेसे, पुरुषको सुखका अनुभव होता है । इसलिये वश हुई अपनी इन्द्रियाँ ही अपनी मित्र हो जाती हैं । यही बात पूज्यपाद भाष्यकारने शत्रु-मित्रके सम्बन्धमें शिष्यके प्रश्न करनेपर कही है कि अपनी इन्द्रियाँ ही अपनी शत्रु हैं, और वे ही जब वश हो जाती हैं तब अपनी मित्र हैं । अर्थात् वशमें नहीं हुई इन्द्रियाँ दुःखका कारण हैं, और वशमें हुई इन्द्रियाँ सुखका हेतु हैं, इसी बातको हे बहिन! मैं कुछ विस्तारसे तुझे समझाती हूँ !

बाहर और भीतरके भेदसे इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं । बाहरकी इन्द्रियाँ दस हैं, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ । कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियोंके अधीन हैं । इसलिये ज्ञानेन्द्रियाँ मुख्य हैं । श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और नासिका ये पाँच ज्ञानेन्द्रियोंके नाम हैं । श्रोत्रेन्द्रिय कानोंमें रहती है, सुनना उसका विषय है । त्वक् इन्द्रिय समस्त शरीरमें रहती है, छूना यानी कठोर-कोमल या शीत-उष्ण स्पर्शका अनुभव उसका विषय है । चक्षु इन्द्रिय आँखोंमें रहती है, देखना उसका विषय है । रसना इन्द्रिय जिह्वामें रहती है, चखना यानी खाद लेना उसका विषय है । और नासिका इन्द्रिय नाकमें रहती है, सूँघना यानी सुगन्ध-दुर्गन्ध बताना उसका विषय है । भीतरकी इन्द्रिय मन है, यह मन वृत्तिभेदसे चार प्रकारका है । उपर्युक्त पाँच बाहरकी इन्द्रियाँ, और भीतरकी एक इन्द्रिय मन इस प्रकार कुल मिलकर छः इन्द्रियाँ हैं । यही छओं इन्द्रियाँ जीवकी शत्रु हैं, इन्होंने ही जीवके स्वरूपको ढाँक रक्खा है ।

श्यामा—हे बहिन ! पाँच इन्द्रियाँ और एक मन इन छओंने जीवके स्वरूपको ढाँक रक्खा है । इसलिये ये शत्रु हैं, तू ऐसा कहती है परन्तु पहले तू ही यह कह आयी है कि जब ये वश हो जाती हैं, तब मित्र बन जाती हैं, मैं तुझसे पूछती हूँ कि जब यह वश हो जाती हैं, तब क्या यह अपने विषयोंको छोड़ देती हैं ? क्या इनके वश होनेपर श्रोत्र इन्द्रियका सुनना, त्वक् इन्द्रियका छूना, चक्षु इन्द्रियका देखना, रसनेन्द्रियका खाद लेना और नासिकाका सूँघना बंद हो जाता है ? और क्या मन भी सोचना छोड़ देता है ? यदि ऐसा ही है तब तो फिर जीव उस समय मृतकके समान हो जायगा । कुछ व्यापार ही न करेगा । यह तो इन्द्रियोंका वश होना क्या हुआ, मरना हुआ । फिर इन्द्रियोंके वश होनेसे लाभ ही क्या है ! सिवा इसके मनुष्य सर्वदा व्यापाररहित रह भी नहीं सकता । तब फिर इन्द्रियाँ कैसे वश होंगी ?

कोकिला—हे बहिन ! इन्द्रियाँ सर्वदा व्यापार

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

किये बिना नहीं रह सकतीं, कुछ कालके लिये भले ही व्यापाररहित हो जायँ। इन्द्रियाँ अपना कार्य किया ही करती हैं। परन्तु श्रोत्रादि इन्द्रियोंका सुनना आदि व्यापार छोड़ देना उनका वश हो जाना नहीं है। अपने-अपने विषयोंमें रागद्वेष न करना ही उनका यथार्थमें वश हो जाना है। इन्द्रिय और इन्द्रियोंके विषय बन्धनकारक नहीं हैं। अपने-अपने विषयमें रागद्वेष करना ही बन्धनकारक है। विषयोंमें रागद्वेष करनेसे बन्धन होता है। इसलिये विषयोंमें रागद्वेष न करना ही इन्द्रियोंका वश करना है। जिसकी विषयोंमें रागद्वेष नहीं करनेवाली इन्द्रियाँ सदा आत्माके उद्धार करनेवाले सत् विषयोंमें ही लगी रहती हैं वे बन्धन करनेवाले विषयोंमें राग करके जीवको बन्धनमें नहीं डालतीं। एक-एक इन्द्रियके विषयासक्त होनेसे ही जीव बँध जाता है। श्रोत्र इन्द्रियके विषय शब्दमें राग करनेसे हरिन बाँधा जाता है, त्वक् इन्द्रियमें प्रेम करनेसे हाथी पकड़ा जाता है, रूप विषयमें राग करनेसे पतंगको जलना पड़ता है, रसनेन्द्रियके विषय स्वादमें राग करनेसे मछली पकड़ी जाती है, और नासिका इन्द्रियके विषय गन्धमें राग करनेसे भ्रमरको बन्धन प्राप्त होता है। जब एक-एक इन्द्रियके विषयमें राग करनेसे ये पाँचों दुःख उठाते हैं तब फिर पाँचों इन्द्रियोंमें राग करनेवाला मनुष्य कैसे सुखी हो सकता है?

हे बहिन! हमारे पड़ोसमें धनवन्ती नामकी एक बहिन रहती है। बहुत धनवाली तो नहीं, फिर भी अच्छी स्थितिकी है। एक दिन एक जटाधारी ठग साधुके वेषमें उसके घर आया और उसका हाथ देखकर कहने लगा।

ठग—अरी माई! तू तो बड़ी भाग्यवती है। कुछ ही दिनों बाद तुझे बहुत धन मिलनेवाला है। मेरी बात सच निकले तो मुझे पाँच रुपये अथवा एक ऊनी कम्बल देना। परन्तु मेरा क्या ठिकाना, कब कहाँ रहूँ, रमता राम हूँ। हो सका तो फिरता-फिरता एक महीने पीछे आऊँगा।

धनवन्तीने आग्रह करके उसे भोजन कराया। ठगने चिलम तम्बाकू माँगी। धनवन्तीने दे दी। ठगने चुपकेसे एक मोटा पैसा झोलीमेंसे निकालकर चिलममें कंकरकी जगह रखकर उसपर तम्बाकू जमाकर और आग रखकर जोरसे तीन-चार बार दम लगायी। फिर चिलमको वहीं औंधी करके वह चला गया। धनवन्तीने कुछ देर बाद चिलम उठाकर देखी तो उसे एक चमकता हुआ पीला पैसा दिखायी दिया। सोना समझकर वह पश्चात्ताप करने लगी कि 'हाय साधु पहुँचा हुआ था, मैंने उसे ठहराया नहीं, यदि मैं उसे ठहरा देती, तो मेरे चाँदीके सब गहनोंको वह सोनेके कर जाता, बड़ी गलती हुई। अब क्या करूँ।' वह पश्चात्ताप कर रही थी कि इतनेहीमें उसका पति धनीराम आ गया। धनवन्तीने उसे सब वृत्तान्त सुनाया। लोभ बुरी बला है। तुरन्त ही सूझतोंको भी अन्धा कर देता है। धनीराम स्त्रीकी बात सुनकर साधुका हुलिया पूछ उसे खोजने निकला। रातके आठ बजेतक ढूँढ़ता रहा। जब साधु न मिला, तब पछताता हुआ घर लौट आया। उसे रातभर नींद न आयी। सवेरा होते ही फिर खोजने निकला। फिर भी न मिला तो दूकानपर जाकर बैठ गया। परन्तु दूकानके काममें उसका मन नहीं लगा। कोई भी साधुवेशधारी दीखता, उसीकी ओर ताकने लगता। चार-पाँच दिनों बाद वही ठग अपने-आप उनके घरपर आ गया। दोनों स्त्री-पुरुष उसके पैरोंपर गिर पड़े। धनीरामने हाथ जोड़कर कहा—

महाराज! आप तो सिद्ध हैं, हमारे लिये तो साक्षात् ईश्वर ही हैं, छनभरमें हम कंगालोंको मालामाल कर सकते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ठग—अरे भाई ! तुमसरीखे भक्तोंको दुर्लभ ही क्या है ? हमें तो कुछ चाहिये नहीं, हम तो भावके भूखे हैं। जहाँ मौज हुई उसीको निहाल कर दिया। लाओ, तुम्हारे घरमें जितने चाँदीके गहने हों अभी ले आओ, मैं अभी सोनेके बनाये देता हूँ।

स्त्री दौड़कर तुरंत सब गहने ले आयी। ठगने चाँदीके सब गहनोंको एक ताँबेके कलसेमें भरा, फिर 'बिना कुछ सोनेके सब सोनेके नहीं हो सकते और सोना भी इसमें डालनेमें दूना हो सकता है' कहकर सोनेके गहने भी मँगवाकर कलसेमें भर लिये और अपने पाससे एक बूटी निकालकर उसमें डाल दी एवं उसे आगपर चढ़ा दिया। थोड़ी देरतक उनके सामने ही वह लकड़ियाँ लगा-लगाकर आग जलाता रहा। पीछे उनसे लकड़ियाँ लगानेको कहकर चला गया। चलते समय कह गया कि साँझतक आग जलाते रहना, पीछे मैं आकर उसे उतार लूँगा, जल्दी न करना। स्त्री-पुरुष दोनों साँझतक ऐसा ही करते रहे। उस दिन धनकी आशा-ही-आशामें वे खाना-पीना भी भूल गये। शाम हो गयी। साधु नहीं आया। अब तो धैर्य छूटने लगा। बड़ी मुश्किलसे आठ-नौ बजेतक दोनोंने उसकी राह देखी। जब वह नहीं आया, और आग ठंडी हो गयी तब दोनोंने बड़े चावसे कलसेका मुख खोलकर देखा। देखते ही दोनोंके होश हवा हो गये। न उसमें गहना था, और न रत्तीभर सोना ही। दोनों सिर पीटते रह गये। पड़ोसियोंने जब यह वृत्तान्त सुना, तो सब उनकी मूर्खतापर हँसने लगे। शहरभरमें यह खबर फैल गयी। पुलिसने भी आकर अपनी जेब गरम की। ठगका तो आजतक पता चला नहीं, न मालूम कहाँ चला गया। ठग वहाँ क्यों रहता, वह तो अपना काम बनाकर दूसरी ताकमें चल दिया। आजकल तो ठगोंने यह पेशा ही बना लिया है, वे साधुवेश धारणकर इन्द्रियोंके वशमें हुए लोगोंको तरह-तरहसे ठगते हैं और सच्चे साधुओंको भी बदनाम करते हैं। यदि हमलोग लोभवश विषयोंमें न फँसें तो न तो ठगोंको ही कुछ हाथ लगे और न साधुसमाजपर ही कलंक लगे !

हे बहिन ! परमार्थमें तो इन्द्रियाँ शत्रु हैं ही, व्यवहारमें भी जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं वह धोखा खा जाता है। जिसकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं वह व्यवहारमें भी धोखा नहीं खाता और परमार्थकी भी सिद्धि कर लेता है।

हे बहिन ! धर्मोपदेशिनी पाठशालामें दो कुलीन कन्याएँ पढ़ती थीं। एकका नाम शीला था और दूसरीका लीला, स्वभावसे ही दोनों सुशीला थीं। फिर भी लीला बुद्धिकी मन्द और शीला बुद्धिकी तीव्र थी। एक दिन दोनोंमें यह बातचीत हुई।

लीला—हे बहिन ! सीना-पिरोना आदिमें तो तू मुझसे चतुर है ही, पढ़नेमें भी मुझसे अधिक चतुर है, तेरा स्वभाव भी प्रशंसनीय है। तू न कभी किसीपर क्रोध करती है, न किसीसे कड़वा बोलती है, सदा सबसे मधुर भाषण करती है। न किसीकी चीज चुराती है, न किसीसे कुछ माँगती है। कोई दे तो भी बिना दामकी चीज नहीं लेती। किसीसे लड़ते हुए तो आजतक हमने तुझे देखा नहीं, सदा शान्त और प्रसन्न रहती है। और लड़कियाँ भाँति-भाँतिके गहने-कपड़े पहनकर भी सदा उदास ही रहती हैं, परन्तु तू सादे कपड़े पहनती है और गहना तो तेरे बदनपर है ही नहीं फिर भी तेरा किसी चीजपर मन नहीं चलता, इसीसे तू सदा खुश रहती है। तेरे-जैसी सरल स्वभाववाली कोई लड़की मेरे देखनेमें नहीं आयी। हे बहिन ! तूने ऐसी कौन-सी शान्ति देनेवाली बूटी खा ली है, जिससे तेरा ऐसा निर्मल स्वभाव हो गया है। क्या तू मुझे भी उस बूटीको बता सकती है अथवा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दे सकती है, जिसको खाकर मेरा भी तेरा-सा स्वभाव बन जाय, और मैं भी सदा खुश रहूँ।

शीला—हे बहिन ! बूटी तो मैंने कोई नहीं खायी है, मेरे माता-पिताने मुझे पाँच नौकरानियाँ और छठा उनका प्रधान नौकर दे रक्खा है, वे छओं सदा मेरे साथ रहते हैं और मेरी सेवा करते हैं। पाठशालामें मेरे साथ आते हैं, साथ रहते हैं, और साथ ही यहाँसे जाते हैं। साथ ही सोते हैं, अथवा यों कहना चाहिये कि जब वे थक जाते हैं, तब उन्हें सुलाकर मैं सोती हूँ। ये छओं मेरी आज्ञामें रहते हैं, जैसा मैं कहती हूँ, वैसा ही करते हैं। इनको वशमें रखनेसे, मेरा ऐसा सुन्दर सराहनीय स्वभाव हो गया है।

लीला—(आँख दिखाकर) अरी, मैं तो तुझे सत्य-वादिनी समझती थी, तू तो बड़ी झूठी निकली, जो सरासर झूठ बोलकर आँखोंमें धूल झोंकना चाहती है। तेरे नौकर-नौकरानियाँ कहाँ हैं ? पचास रुपयेका तो तेरा पिता नौकर ही है। पाँच-चार बाल-बच्चे हैं, दो प्राणी आप हैं। अन्न-वस्त्रका ही मुश्किलसे पूरा पड़ता होगा। तूने कहीं पुराण तो नहीं पढ़ लिये हैं, जिनमें रावणके दस सिर, ब्रह्माके चार मुख, विष्णुके चार अथवा आठ हाथ, रुद्रके पाँच मुख इत्यादि गपोड़े लिखे हैं।

शीला—(सरल स्वभावसे) बहिन ! पुराण पढ़े तो नहीं हैं, माता-पितासे सुने अवश्य हैं। और मैं उनको सच ही मानती हूँ। ये छः नौकर मेरे ही नहीं हैं, तेरे पास भी हैं और सभीके पास हैं। तूने अपने नौकरोंको स्वतन्त्र रक्खा है, मेरे नौकर मेरे अधीन हैं, यदि तू भी अपने नौकरोंको वशमें कर ले, तो तेरा भी स्वभाव मेरा-सा हो जाय। हे बहिन ! श्रोत्रादि पाँच इन्द्रियाँ पाँच नौकरानियाँ हैं, और छठा मन उनका प्रधान है, ये छओं जिसके वश होते हैं, वह यहाँपर सुखी रहता है और आगे चलकर भगवान्‌को पा लेता है और जिसके ये छओं वशमें नहीं होते, वह कहीं भी सुखी नहीं रह सकता। हे बहिन ! इन छओंको मैं वशमें रखती हूँ। मैं कानसे दूसरे किसीकी निन्दा-स्तुति, अपनी तारीफ और गन्दे गीत न सुनकर सदा अपने दोष, सीखकी बातें और भगवान् तथा महात्माओंके गुणानुवाद सुनती हूँ। आँखोंसे उत्तम सात्त्विक वस्तुओंको ही देखती हूँ। कभी बुरे नाटक-सिनेमा नहीं देखती। नाकसे भगवत्प्रसादकी गन्ध सूँघती हूँ। रसनासे सात्त्विक वस्तुओंको ही चखती हूँ। शरीरसे सदा संयम रखनेवाले सादे-मोटे वस्त्रोंको ही धारण करती हूँ। फैशन या शौक कभी नहीं करती। मनसे सदा अच्छी बातोंका चिन्तन करती हूँ। इसीसे ये मेरे हृदयरूप घरकी सदा रक्षा करते हैं। कामादि शत्रुओंको ये मेरे हृदयके भीतर कभी आने ही नहीं देते, कामादि के आनेसे मेरा हृदय स्वच्छ रहता है। स्वच्छ हृदयमें मुकुन्द भगवान् सदा वास करते हैं, उन्हींकी कृपासे मैं सदा शान्त और सुखी रहती हूँ। तू भी ऐसा ही करे तो तू भी सर्वदा शान्त और सुखी रह सकती है। सुखी और शान्त होनेकी यही एक परम ओषधि है।

कोकिला—हे बहिन ! शीलाका उपदेश मानकर और उसीके अनुसार चलकर लीला भी सुखी और शान्त हो जायगी। इसी सम्बन्धमें मैं तुझे एक और रोचक कथा सुनाती हूँ।

राजा गोपीचन्द जब अपनी माताके उपदेशसे योगकी सिद्धिके लिये घर छोड़कर वनमें जाने लगे तब चलते समय मातासे जब अन्तिम उपदेश माँगा तो माताने इस प्रकार कहा—

हे वत्स ! किलेमें रहना, पैर फैलाकर सोना, मोहनभोग खाना, नौकरोंपर शासन करना और चोरोंसे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सदा अपने धनकी रक्षा करना, यही मेरा अन्तिम और मुख्य उपदेश है।

गोपीचन्द—(विस्मित होकर) माताजी ! आपकी बात मेरी समझमें नहीं आयी। राजपाट तो मैंने छोड़ दिया है, तब किलेमें कैसे रहूँगा। पैर फैलाकर कैसे सोऊँगा, अब तो जंगलमें रहना है, वहाँ बड़े-बड़े पलंग सोनेके लिये कहाँसे आवेंगे। मोहनभोग भी कहाँ मिलेगा, वहाँ तो भीख माँगकर रूखी-सूखी रोटियोंके टुकड़े खाने पड़ेंगे। अकेला रहना पड़ेगा, 'नंगी क्या नहाये और क्या निचोड़े' नौकर, चाकर कहाँ होंगे, अकेला मैं ही तो होऊँगा फिर शासन किसपर करूँगा। धन-माल तो मेरे पास कुछ है ही नहीं फिर चोरोंसे रक्षा किसकी करूँगा ?

माता—हे पुत्र ! संतोंकी मण्डली किला है, उसमें रहनेसे तू कोई अनुचित कर्म नहीं कर सकेगा। मनुष्य अकेला या कुसंगमें रहनेसे ही पाप करता है, संत-मण्डलीमें रहेगा तो सब कुकर्मोंसे बचा रहेगा। पृथिवी विस्तृत पलंग है उसपर सोनेसे तेरे सब अंग दृढ़ हो जायँगे। जब कड़ाकेकी भूख लगती है, तब रूखा-सूखा अन्न भी मोहनभोगका स्वाद देता है और वह पच भी जाता है। अतएव भूख लगे तभी खाना, इससे स्वाद भी मिलेगा और वह अन्न शरीरको भी पुष्ट और स्वस्थ करेगा। पाँच इन्द्रियाँ और छठा मन ही तेरे सदा साथ रहनेवाले नौकर हैं, इनको शासनमें रखनेसे काम-क्रोध आदि शत्रु तुझे नहीं सतावेंगे। आत्मधन ही तेरा परम धन है, इस धनकी भी तेरे यही छओं नौकर रक्षा करेंगे।

कोकिला—हे बहिन ! माताकी यह शिक्षा लेकर और उसके अनुसार बर्ताव करके राजा गोपीचन्द पूर्ण योगी हो गया। उसकी ख्याति आजतक लोकमें फैली है। कहा जाता है कि वह अब भी अमर है।

बहिन ! अब तू इन्द्रियोंका स्वरूप, इन्द्रियोंके वश करनेके उपाय और उनके वश होनेका फल जान गयी होगी। सारांश यह है कि इन्द्रियोंका वश करनेवाला जबतक इस लोकमें जीता है, सुखी रहता है, और अन्तमें शुभ गति पाता है। सच कहा है—

कच्छप जैसे अंग सब, लेय इन्द्रियाँ खींच।
स्वस्थ शान्त सन्तत रहे, लगे न माया कीच॥
लगे न माया कीच, शोक भय निकट न आवे।
मृत्यु शीश पग राख, विष्णुपद अक्षय पावे॥
देवी ! प्रत्याहार, तपोंमें है उत्तम तप।
लेय इन्द्रियाँ खींच, अंग सब जैसे कच्छप॥

उपदेश

ऐसी बानी बोलिये मनका आपा खोय।
औरनको सीतल करै आपहु सीतल होय॥
दुरबलको न सताइये जाकी मोटी हाय।
बिना जीवकी स्वासतें लोह भसम हो जाय॥

—कबीरजी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्वतन्त्रताका मूल्य

(कहानी)

(लेखक—श्रीसुरेशचन्द्र चक्रवर्ती, पाण्डीचेरी)

बहुत पुराने समयकी बात है। गान्धार-देशके राजा थे चक्राधिप, उनकी कन्या थी अपर्णवा, उसी-की कहानी है।

राजकुमारीकी देहमें सोलह वसन्त-ऋतुओंकी हवा लग चुकी थी। सोलहों वसन्तोंने उसका हृदयसे आदर किया था, उस आदरका स्पर्श राजकुमारीकी सारी देहमें मौजूद था। सिरपर काले-काले चमकते हुए बाल थे, वे एकदम घुटनेके नीचेतक चले गये थे। आँखें क्या थीं, मानो दो कमलके दल थे, वे एकदम कानतक फैल गये थे; और आँखोंकी पुतलियाँ क्या थीं मानो आषाढ़के मेघके अन्दर छिपी हुई, कौंधती हुई बिजलियाँ थीं। बाँहें मानो मृणाल थीं; और हाथ मानो उन मृणालोंमें खिले हुए रक्त-पद्म थे। इसी प्रकार उसके कपोल, ग्रीवा, वक्षःस्थल, कटि और चरण सब अंग सोलह-सोलह वसन्तोंके द्वारा बड़ी सावधानी तथा आदरके साथ गढ़े गये थे। सोहल होलियोंके ज्योतिसे राजकुमारीका सारा शरीर प्रकाशित था।

राजमहिषीने राजासे कहा—महाराज ! कन्या किसी सुपात्रको प्रदान करनी चाहिये।

गान्धार-कुमारीका स्वयंवर निश्चित हुआ। देश-विदेशमें राजाओंके पास निमन्त्रण भेजा गया। काशी, काञ्ची, कोशल, अङ्ग, बङ्ग, कलिङ्ग—मत्स्य, मगध, मिथिला—चेदी, चोल, चालुक्य—सौ राज्योंके सौ राजा स्वयंवर-सभामें आ विराजे। उनके शरीरकी ज्योतिसे, अलङ्कारोंकी द्युतिसे चारों दिशाएँ प्रकाशित हो उठीं। कितने मणि-मुक्ता-माणिक्य, कितने हीरे-पन्ने-मोती उनके शरीरपर थे ! उनके सिरपर मुकुट, कानोंमें कुण्डल, गलेमें मणियोंकी माला और ललाटपर चन्दनकी रेखा शोभा देती थी। सौ नरेश मानो सौ इन्द्र ही थे।

अलङ्कारोंसे सुसज्जित राजकुमारी हाथमें माला लिये हुए स्वयंवर-सभामें आकर खड़ी हुई। राजकुमारी-को देखकर सब राजा मोहित हो गये—कोई-कोई तो अपने आसनपर ही प्रायः जड़वत् हो गये।

द्वारपालिकाने आकर राजाओंका परिचय देना आरम्भ किया। यह काशिराज हैं, देहसे हृष्ट-पुष्ट, ज्ञानमें प्रवीण, दानमें कर्णके समान हैं। यह बङ्गाधिप हैं, शौर्यमें सिंहके समान, करुणामें समुद्रके समान हैं। यह चेदीपति हैं, स्वयं कुबेर जिनकी धनराशिकी रक्षा करते हैं। इस प्रकार परिचय देते हुए द्वार-पालिका राजकुमारीको लेकर चलने लगी। एक-एक राजाके सामने राजकुमारी माला हाथमें लिये खड़ी होती और उस समय उस राजाका मुखमण्डल खिल उठता, नेत्र चञ्चल हो उठते—उसके बाद ज्यों ही राजकुमारी वहाँसे हटती त्यों ही ऐसा मालूम होता मानो किसीने उस राजाके मुँहपर स्याही पोत दी। शरीरके रत्न मानो निष्प्रभ हो जाते—उसका नत मस्तक वक्षःस्थलपर लोट जाता।

इस प्रकार एक-एक कर राजकुमारी सब राजाओंके सामनेसे निकल गयी; परन्तु किसीके गलेमें उसके हाथकी माला न पड़ी !

उज्ज्वल देवसभाके समान स्वयंवर-सभा मानो सन्ध्याका स्पर्श होनेसे मलिन हो उठी। राजभवनका आनन्दभाव मानो घने अन्धकारसे ढक गया।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

राजकुमारीने महलमें अपने कमरेमें जाकर भीतरसे आगल लगा ली। सौ-के-सौ राजा सिर नीचा किये अपनी-अपनी राजधानीको लौट गये।

राजा चक्राधिपका हृदय, महारानीका अन्तःकरण एक प्रकारकी क्रन्दन-ध्वनिसे भर गया!

राजकुमारीके निर्जन कमरेमें विधाता-पुरुष प्रकट हुए। बोले—'राजकुमारी! तुम्हारी प्रसन्नताके लिये मैंने पृथ्वीके सर्वश्रेष्ठ सौ नरेशोंको एकत्र किया; किन्तु उन सौ राजाओंके अन्दर तुम्हें किसीमें भी अपने जीवनकी सार्थकता न मिली! फिर क्या चाहिये तुम्हें?'

राजकुमारीने अपने कम्बु-कण्ठको ऊपर उठाकर कहा—महान्! नारीकी सार्थकता क्या केवल पुरुषके गले बँधनेमें ही है? इससे बढ़कर क्या और कुछ भी नारीके जीवनमें नहीं है?

विधातापुरुषने प्रश्न किया—तुम्हें क्या चाहिये?

राजकुमारीने कहा—मैं चाहती हूँ 'स्वाधीन जीवन।'

विधातापुरुषने कहा—मूल्य दे सकोगी?

राजकुमारीने आग्रहपूर्वक उत्तर दिया—चाहे जो मूल्य हो, मैं देनेके लिये प्रस्तुत हूँ।

विधातापुरुष जरा हँस पड़े—बोले—अच्छा!

(२)

महारानीने सपना देखा। एक ज्योतिर्मय पुरुष आकर उनसे कह रहे हैं—गान्धार-महारानी! राजकुमारी अपर्णवा साधारण लड़की नहीं है। इसका पुत्रकी तरह पालन करो।

दूसरे दिन महारानीने स्वप्नकी बात राजाको बता दी। राजाने मन्त्रीसे सलाह की। मन्त्रीने कहा—'महाराज! दैव-स्वप्नके अनुसार ही कार्य करना उचित है—नहीं तो कौन जाने क्या अमङ्गल हो जाय। दैव किस कामके द्वारा किस अभिप्रायको सिद्ध करना चाहते हैं, यह हम मनुष्य क्या जानें?'

उसी दिनसे राजकुमारीको शास्त्र और शस्त्रकी शिक्षा देनेके लिये शास्त्रगुरु और शस्त्राचार्य नियुक्त हो गये!

वर्षका चक्र पूरा होते-न-होते राजकुमारीने शास्त्र और शस्त्रमें अद्भुत पारदर्शिता प्राप्त कर ली।

राजकुमारी जिस समय शास्त्रपाठ करने बैठती, उस समय मालूम होता मानों कोई ब्राह्मण-सन्तान ज्ञानार्जनमें तल्लीन है। राजकुमारी जिस समय तलवार घुमाती, धनुषपर तीर चढ़ाती, उस समय मालूम होता, वह गान्धार-राजकुमारी नहीं, बल्कि गान्धार-राजकुमार है। राजकुमारी जिस समय कानोंमें कुण्डल पहन, सिरपर सिरपेंच रख, देहको कवचसे ढककर—अपनी पीठपर भाथा, हाथमें भाला और कमरमें तलवार लटकाकर घोड़ेपर सवार होकर शिकारके लिये जाती, उस समय मालूम होता मानो साक्षात् शचीनन्दन जयन्त है।

इस प्रकार दो वर्ष बीत गये। राजकुमारी अपर्णवाके मनमें धीरे-धीरे एक प्रकारकी अशान्ति जागृत होने लगी। यह कैसी अशान्ति? किसलिये यह अशान्ति है? क्या चाहिये राजकुमारीको? राजकुमारी कारण 'पकड़ा, पकड़ा' करके भी न पकड़ पायी। अशान्ति केवल बढ़ती ही गयी।

दिनके बाद दिन निकलते गये। वर्षा आती मेघका डमरू बजाकर—शरद् आता सोनेका प्रकाश आकाशमें फैलाकर—हेमन्त आता अपना सन्ध्या-समयका करुण स्वर लेकर, अपने पके धानकी गन्ध फैलाकर—शीत आता कुहरेसे घिरा हुआ अपना रहस्य लेकर—वसन्त आता अपने नवजीवनका गीत लेकर, अपने सब्ज प्राणोंकी प्राणकी चञ्चलता लेकर, अपने

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

फूलकी गन्ध, पक्षीका गान और रूपका नशा लेकर। परन्तु राजकुमारीकी अशान्ति केवल बढ़ती ही गयी !

शास्त्रगुरु आकर चले जाते हैं, शस्त्राचार्य आकर वापस लौट जाते हैं, शिकारका घोड़ा सजा-सजाया ज्यों-का-त्यों खड़ा रह जाता है ! राजकुमारीको न शास्त्रपाठ अच्छा लगता है, न शस्त्रसञ्चालनमें रुचि होती है और न शिकारको ही मन करता है। राजकुमारीको न मालूम क्या हो गया है, वह स्वयं भी नहीं जानती कि क्या बात है !

किसी-किसी दिन राजकुमारी सपना देखती कि यह विराट् संसार केवल एक विशाल माताओंका मेला है। प्रत्येक माताकी गोदमें एक-एक सुकुमार शिशु है। माँ और बच्चेके नेत्रोंमें मानो एक प्रकारका अत्यन्त आश्चर्यजनक सुखका सुरमा लगा हुआ है। कैसी एक प्रकारकी पूर्ण सार्थकता है—कैसी एक प्रकारकी परिपूर्ण तृप्तिके लिये शिशु और माँके जीवनकी बन्धन-ग्रन्थि है। राजकुमारी स्वप्नका अर्थ कुछ भी नहीं समझ पाती। उसके अन्तःकरणमें मानो किसी चिरजागृत देवीका मर्मस्थल एक प्रकारके क्रन्दनसे विदीर्ण हो उठा—शास्त्रव्याख्या और शस्त्रसञ्चालनके द्वारा मानो देवीकी पूजा पूरी नहीं हुई ! राजकुमारीकी अशान्ति और भी बढ़ गयी !

किसी-किसी दिन राजकुमारी स्वप्न देखती, नन्दन-काननमें शिशुओंका एक बड़ी भारी हाट लगी है—लाखों बच्चे हैं, हरेक बच्चेके पास एक-एक नारी है ! नारीका समस्त अन्तःकरण मानो उसी शिशुके पुलकस्पर्शसे पुलकित हो रहा है—शिशुके कल-कण्ठ, शिशुकी मृदु हँसी, शिशुके सुकुमार स्पर्शके अन्दर मानो नारी-हृदयका अन्तिम रहस्य छिपा हुआ था। नारी-हृदयकी समस्त वेदना मथकर, समस्त अमृतका मन्थनकर मानो नयी उषाकी सुनहरी ज्योति-रेखाके समान जीवन लेकर जग उठा है तरुण सुकुमार शिशु। नारी-हृदयका समस्त सुख और आनन्द मानो शिशु-मूर्त्तिमें मूर्त्तिमान् हो उठा है। राजकुमारीके अन्तःकरणकी अशान्ति असीम हो उठी !

इसी प्रकार दिन निकलने लगे। धीरे-धीरे यह बात राजकुमारीकी सखियोंको मालूम हुई, इसके बाद सखियोंसे महारानीको मालूम हुई; महारानीसे राजाने सुनी। राजकुमारीका स्वयंवर होगा !

राजा प्रसन्न हुए। उन्होंने मन्त्रीसे स्वयंवर-सभाका आयोजन करनेको कहा। देश-विदेशके राजा निमन्त्रित हुए।

(३)

स्वयंवर-सभा सुसज्जित थी। मनोहर सुनील चन्द्रातप मणि-मुक्ता जड़े हुए थे—चारों ओर स्वर्ण-सूत्रकी झालरें झूल रही थीं—स्थान-स्थानमें पुष्पमालाएँ, पल्लव-गुच्छ लगे हुए थे—स्थान-स्थानमें निपुण तूलिकाद्वारा चित्र अंकित थे। रामका शिवधनुर्भङ्ग, श्रीकृष्णका रुक्मिणीहरण, अर्जुनका मत्स्यचक्रभेद, इस प्रकारके कितने ही चित्र थे। स्वयंवरसभामें पूरे सौ रत्नासन थे। उन्हीं सौ रत्नासनोंपर पुनः सौ नरेश आकर बैठ गये।

अलङ्कारोंसे सुसज्जित राजकुमारी माला हाथमें लिये द्वारपालिकाके साथ स्वयंवरसभामें आकर खड़ी हो गयी।

हैं, कौन है यह ? कौन ? यह कुमारी है ? क्या यही गान्धार-राजकुमारी अपर्णवा है ? वह हंसको लजानेवाली चाल कहाँ ? वह राजहंसिनी-जैसी गर्दन-मरोड़ कहाँ ? वह मृणाल-सदृश बाँह कहाँ ? हाथमें वह रक्त-पद्म कहाँ ? अधरोंमें जो कमलस्पर्श था, वह कहाँ ? कपोलोंकी वह लावण्यता कहाँ ? वक्षःस्थलकी वह तरङ्गभङ्ग कहाँ ? कहाँ, कहाँ ? वह मन्मथ-मनोहारिणी लावण्यछटा कहाँ ? क्या यही गान्धार-राजकुमारी अपर्णवा है ? असम्भव !

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

राजकुमारी आकर खड़ी हुई; सीधी थी उसकी देह-यष्टि, उसकी चालमें था कठोर, दृढ़ पादक्षेप, उसके कपोलोंपर थी पुरुषसुलभ कठोरता, उसकी दृष्टिमें था असङ्कोच—दुर्दमनीयता; उसकी बाँहमें थी सबल मांसपेशी। राजकुमारीने माला क्या ली थी, मानो तलवार खींचे खड़ी थी। क्या यही गान्धार-राजकुमारी अपर्णवा है? सौ-के-सौ राजा एक-दूसरे-का मुँह ताकने लगे!

अन्तमें विदर्भराज आसन छोड़कर उठ खड़े हुए। गान्धारराजको सम्बोधनकर बोले—महाराज! यह कुमारी कौन है?

गम्भीर स्वरमें गान्धारराजने उत्तर दिया—महाराज! यही कुमारी गान्धारराजनन्दिनी अपर्णवा है।

सब-के-सब नरेश आसन छोड़कर खड़े हो गये! सब राजाओंने एक स्वरसे कहा—गान्धारराज! इस कुमारीका पाणिग्रहण करनेमें हम असमर्थ हैं—हमें क्षमा करेंगे, और हम युद्धके लिये भी तैयार हैं।

सौ-के-सौ राजा स्वयंवर-सभा छोड़कर अपनी-अपनी राजधानीमें लौट गये।

राजकुमारी अन्तःपुरमें अपने कमरेमें जाकर, भीतरसे आगल लगाकर, व्याकुल होकर धरतीपर लोट गयी!

एक प्रकारका नीरव मर्मस्पर्शी क्रन्दनरव राजपुरी-के महल-महलमें, कमरे-कमरेमें फैल गया!

दिन बीता। धीरे-धीरे सन्ध्या आयी। सारा राजभवन मृत्युके समान शान्त था। उस दिन किसी घरमें दीपक नहीं जला—नौबतोंपर रोशनचौकीका डङ्का नहीं पड़ा—देवालयमें आरतीका शङ्ख-घण्टा नहीं बजा।

रात दो पहर बीत गयी। राजकुमारीके कमरेमें विधातापुरुष आविर्भूत हुए। भर्रायी हुई आवाजमें राजकुमारी बोल उठी—महान्! नारी-जीवनका यह कैसा अपमान?

विधातापुरुषने उत्तर दिया—नारी! तुम पुरुषके जीवनपर मुग्ध हुई थी—पुरुषजीवनकी तुमने आकांक्षा की थी—यही उसका मूल्य है!

रुद्धकण्ठसे राजकुमारीने पूछा—प्रभो! क्या नारीकी मुक्ति कभी नहीं होगी—नारी क्या किसी दिन स्वाधीन नहीं होगी?

विधातापुरुष जरा हँस पड़े। उसके बाद स्नेहार्द्र-स्वरमें धीरे-धीरे बोले—राजकुमारी! इस ब्रह्माण्डमें स्वाधीन कौन है? सब नियमसे बँधे हैं—स्वयं मैं भी बँधा हूँ!! (अनुवादित)

झाँकी

पायन नूपुर मंजु बजैं कटिकिंकिनिमें धुनिकी मधुराई।
साँवरे अंग लसै पटपीत हिये हुलसै बनमाल सुहाई॥
माथे किरीट बड़े दृग चंचल मंद हँसी मुख-चंद जुन्हाई।
जै जगमन्दिरदीपक सुन्दर श्रीब्रजदूलह 'देव' सहाई॥

—महाकवि देव

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विवेक-वाटिका

जो पुरुष अव्यभिचारी भक्तियोगके द्वारा मुझको निरन्तर भजता है वह सत्त्व-रज-तम तीनों गुणोंको भलीभाँति लाँघकर ब्रह्मको प्राप्त होता है। —भगवान् श्रीकृष्ण

* * *

जो भूमा है वह सुख है, अल्पमें सुख नहीं है। भूमा ही सुख है, भूमाको ही जानना चाहिये। —उपनिषद्

* * *

जिसका मन भलीभाँति शान्त है, जो पापसे रहित है, जिसका रजोगुण शान्त हो गया है, ऐसा सच्चिदानन्द-घन ब्रह्मके साथ एकीभाव हुआ योगी अति उत्तम आनन्द प्राप्त करता है। —श्रीमद्भगवद्गीता

* * *

भगवान्‌के चरणारविन्दका स्मरण करनेवाले लोग उसको त्याग नहीं सकते, क्योंकि उसमें जो अपूर्व रसास्वादन है, वह अन्यत्र कहीं भी नहीं है। —देवर्षि नारद

* * *

परम पिता परमात्माकी भक्तिमें जो परमानन्द है वह आनन्द किसी भी सांसारिक स्थितिमें और कर्ममें कदापि नहीं है। —भक्तराज प्रह्लाद

* * *

चाहे किसीका भी वरदान क्यों न प्राप्त हो, अभिमानीका अभिमान तो अवश्य ही चूर्ण होता है। भगवान्‌का नाम ही मदहारी है। वे अभिमानका तो आहार करते हैं। रावण, बेण, नरकासुर, भस्मासुर आदि सभीने घोर तप करके ब्रह्माजी और शिवजीसे बड़े-बड़े वर प्राप्त किये थे। दर्पहारी भगवान्‌ने उनके भी दर्पको चूर्ण कर दिया। —श्रीचैतन्य महाप्रभु

* * *

भगवान्‌का भक्त प्राणिमात्रके लिये एक-सा मित्र होता है। क्षमामें तो वह पृथ्वी ही होता है। 'मैं' की भाषा ही नहीं जानता, 'मेरा' कुछ भी नहीं कहता, सुख-दुःख क्या होता है यह भी नहीं जानता। वर्षाके बिना ही जैसे समुद्र सदा जलसे भरा रहता है वैसे ही वह किसी भी बाहरी उपचारके बिना ही सदा सन्तुष्ट रहता है। —ज्ञानेश्वर

* * *

जगत्‌से (विषयभोगोंसे) तो रहो छत्तीस (३६) की भाँति होकर और श्रीरामचरणसे रहो छः-तीन (६-३) होकर। हृदयमें विचारकर देखो। यही सिद्धान्त सर्वोत्तम है। —तुलसीदासजी

* * *

जो श्रीहरि भगवान् सदा अपना साथी है, जो जीवका जीवनप्राण है, उसको तू सहज ही भूल गया। वेद, पुराण, स्मृति, सुर, नर सब जिसका भजन करते हैं, ऐसे महामूढ़ अज्ञानमति! तू उसे क्यों नहीं याद करता!

—सूरदासजी

* * *

एकान्त भक्तिका लक्षण यह है कि भगवान् और भक्तका एकान्त होता है। भक्त भगवान्‌में मिल जाता है और भगवान् भक्तमें मिल जाते हैं। —एकनाथ

* * *

स्वयं ठगाओ, दूसरेको न ठगो, ठगानेसे सुख उत्पन्न होता है और ठगनेसे दुःख। —कबीर

* * *

जबतक मनकी दुविधा नहीं मिटेगी तबतक मुक्ति कहाँसे होगी? अरे मनुष्य! तू कौड़ीके बदले अमोलक जन्म खोकर जा रहा है। —गुरु नानक

* * *

रातके सोनेसे और दिनके स्वादके सुखसे मुँह मोड़कर सब वाद-विवादोंको छोड़कर रात-दिन हरिजीका सुमिरन करना चाहिये। —रैदास

* * *

लोग भला कहें या बुरा, उनकी बातोंकी ओर ध्यान नहीं देना चाहिये। संसारके यश और निन्दाकी कोई परवा न करके भगवान्‌के मार्गपर चलना चाहिये।

—रामकृष्ण परमहंस

* * *

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ॐ

आवश्यक सूचना

बहुत-से ग्राहक अभीतक तीसरा अंक न मिलनेकी शिकायत करते हैं। परन्तु इस बार तीसरी संख्या 'योगांक' के अन्तमें पेज ७६७ से ८८४ तक जोड़ दी गयी है इसलिये 'योगांक' में ही आप उसे देखें। 'कल्याण'

कल्याण मार्गशीर्ष संवत् १९९२ की

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–जागो [कविता] (श्रीतुलसीदासजी) ...	९६५
२–पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश (प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी) ...	९६६
३–श्रीमद्भगवद्गीता और योगतत्त्वसमन्वयमीमांसा (श्रीगोवर्धनपीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री ११०८ श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज)	९६८
४–अद्भुत झाँकी [कविता] (पं० श्रीसत्यनारायणजी पाण्डेय एम० ए०)	९७४
५–कल्याण ('शिव')	९७५
६–कल्याणप्राप्तिकी कई युक्तियाँ (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानका अंश)	९७७
७–पञ्चसंस्कार (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ...	९८०
८–श्रीगीता-जयन्ती	९८८
९–परमहंस-विवेकमाला (स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)	९८९
१०–समाधि और संयमतत्त्वसार (श्रीश्रीभार्गव श्रीशिवरामकिङ्कर स्वामी योगत्रयानन्दजी महाराजके उपदेश)	९९५
११–मानस-शंका-समाधान (श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)	९९८
१२–क्रन्दनयोग [कविता] ('एक प्रेमी भक्त')	१००२
१३–मनका स्वरूप और उसका निग्रह करनेके अनुभूत साधन (स्वामी श्रीपद्मारण्यजी)	१००३
१४–भक्ति (श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव)	१००७
१५–महात्मा रामालिङ्गम् (श्रीस्वामी शुद्धानन्दजी भारती, पाण्डीचेरी)	१०१५
१६–मुरलीकी तान [कविता] (श्रीमदनगोपालजी)	१०२४
१७–साम्यवाद और अधिकारभेद (श्रीनलिनीकान्त गुप्त)	१०२५
१८–पतितपावन राम और भक्त सुतीक्ष्ण (महाराज श्रीकृष्णसिंहजी)	१०२८
१९–पञ्चवटी (रायबहादुर अवधवासी लाला श्रीसीतारामजी बी० ए०)	१०२९
२०–भक्त-गाथा	१०३१
२१–कृपा-याचना [कविता] (पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस' साहित्यरत्न)	१०३६
२२–अब न द्रवहु केहि लेखे ? ('माधव') ...	१०३७
२३–भगवान् [कविता] (पं० श्रीउमापतिजी शर्मा द्विवेदी 'कविपति')	१०३८
२४–भगवान्का स्मरण कैसे करें ?	१०३९
२५–प्रार्थना	१०४०
२६–श्रीकृष्णावतार [कविता] (श्रीनोखेलालजी शर्मा बी० ए०, शास्त्री, काव्यतीर्थ) ...	१०४२
२७–शिक्षक और छात्रसुधार (चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी)	१०४३
२८–आवेदन ! [कविता] (श्रीचन्द्रनाथजी मालवीय 'वारीश')	१०४४

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

देवताओंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति

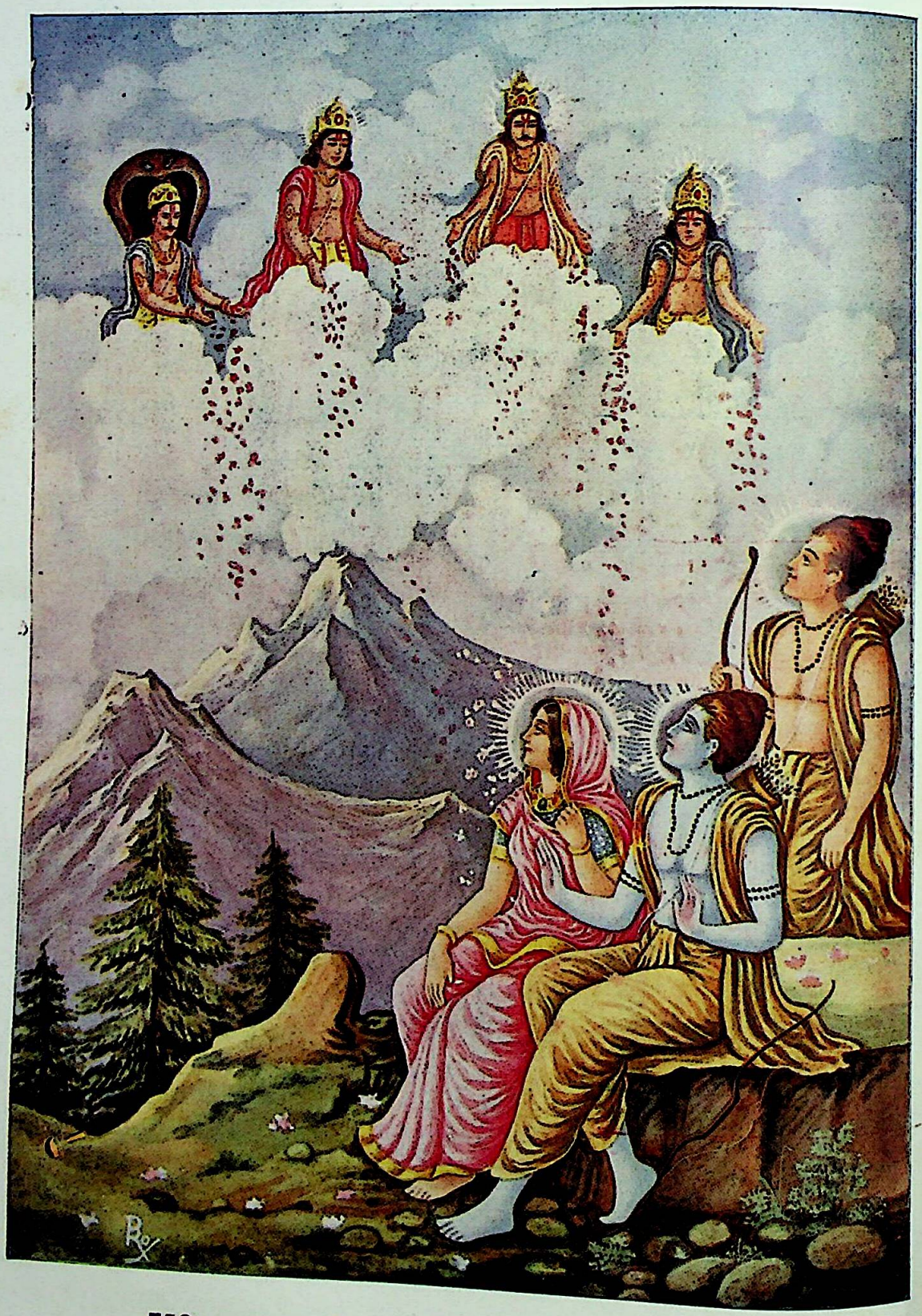

बरषि सुमन कह देवसमाजू । नाथ सनाथ भये हम आजू ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

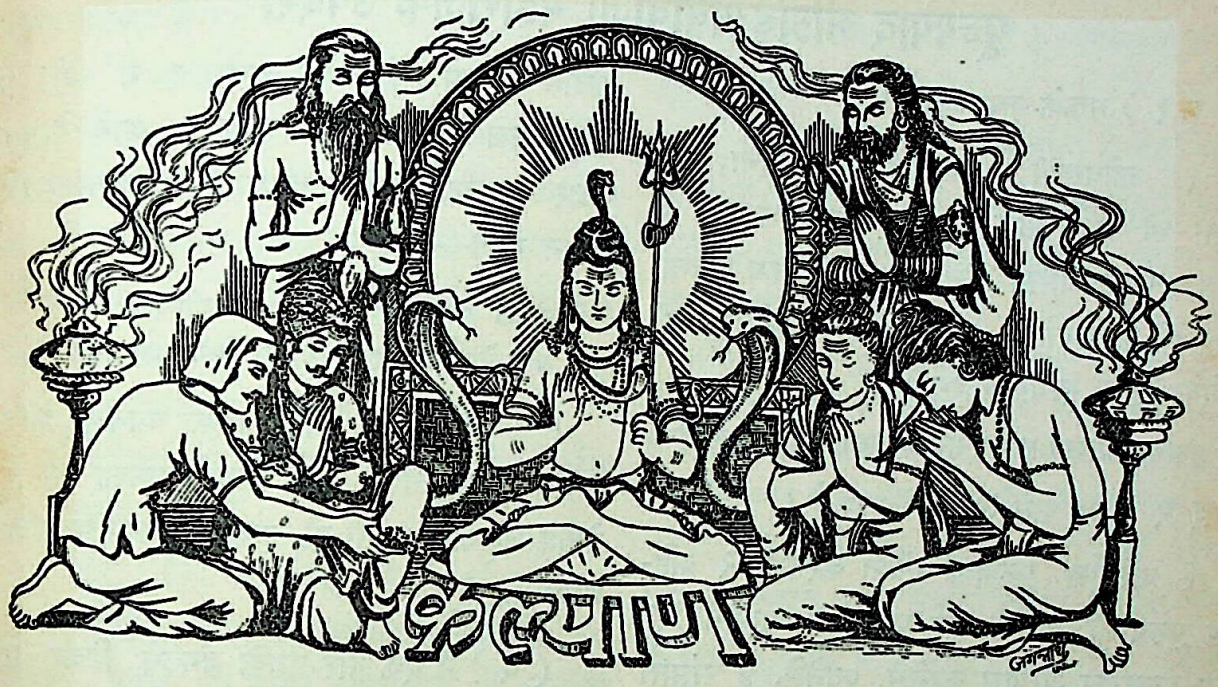

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(भगवान् श्रीकृष्ण)

वर्ष १० | गोरखपुर, मार्गशीर्ष १९९२, दिसम्बर १९३५ | संख्या ५ पूर्ण संख्या ११३

जागो

जागु, जागु, जीव जड़ ! जोहै जग-जामिनी ।
देह-गेहनेह जानि जैसें घन-दामिनी ॥
सोवत सपनेहूँ सहै संसृति-संताप रे ।
बूड़्यो मृग-बारि खायो जेवरीको साँप रे ॥
कहैं बेद-बुध, तू तो बूझि मन माहिं रे ।
दोष-दुख सपनेके जागे ही पै जाहिं रे ॥
तुलसी जागेते जाय ताप तिहूँ ताय रे ।
राम-नाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे ॥

—तुलसीदासजी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश

(१) भक्तके क्या लक्षण हैं ?

१ क्रोधरूपी शैतानसे दूर रहना, २ किसी भी स्त्रीके साथ एकान्तमें बात न करना, ३ हमेशा एकान्तवासमें प्रेम होना, ४ कम बोलना, ५ सबेरे ३ बजेसे ५ बजेतक भगवद्भजन करना। भक्तोंका मुख्य साधन भजन है।

बेद पुरान संत मत एहू। सकल सुकृत-फल रामसनेहू॥

(२) प्रेम कैसे नष्ट हो जाता है ?

१ बहिर्मुख पुरुषोंकी संगति करनेसे, २ बहिर्मुख पुरुषोंकी बनायी हुई पुस्तकोंके पढ़नेसे, ३ बहुत शास्त्रोंका अभ्यास करनेसे, पढ़नेसे, ४ संसारी पुरुषोंके साथ राग करनेसे और ५ बहुत शिष्य करनेसे।

(३) १ स्त्रीका दर्शन, २ स्त्रीचिन्तन, ३ स्त्रीके सौन्दर्यका वर्णन, ४ उनके साथ सम्भाषण और ५ उनका स्पर्श। इनसे बचना चाहिये। यह पाँचों कामके साधन हैं, विषयोंमें ले जाते हैं। और १ भगवद्विग्रहदर्शन, २ भगवच्चिन्तन ३ भगवद्गुणानुवाद, ४ भगवद्भक्तोंके साथ सत्संग, ५ भगवद्भक्तोंकी, भागवतोंकी सेवा, यह प्रेमके साधन हैं। भगवान्‌की ओर ले जाते हैं।

(४) भगवद्भजनके साथ इन बातोंका खयाल अवश्य करना चाहिये।

१ सत्संगमें उसी महात्माका सत्संग करना चाहिये कि जो इष्टमें समानता रखता हो, २ परनिन्दा, परस्त्री, परधनसे हमेशा दूर रहे, ३ किसी भी संसारी पुरुषसे मित्रता न करे, ४ भगवद्भजनको छोड़कर अपनी इन्द्रियोंको विषय-चिन्तनमें न लगावे, ५ स्वाद और वादविवाद इन दोनोंसे बचता रहे, ६ जल्दबाज न हो, ७ सदा प्रसन्न रहे, उदासी कभी न आने दे, ८ कठोर भाषण किसीसे न करे, ९ जन्म-मृत्युका भय न रक्खे—

सकल कामना हीन जे रामभगति-रस लीन।
नाम-प्रेम-पियूषह्रद तिनहुँ किये मन मीन॥

(५) हृदयमें तो श्रीभगवान्‌का ध्यान हो, शरीरमें सब पुलकावली हो जाय, जिह्वामें नामका जप हो, नेत्रोंमें अश्रुधारा बहती हो, इससे बढ़कर भक्तका और भाग्य क्या है ?

(६) मैं एक बार व्रजके जंगलमें विचर रहा था। वहाँ एक महात्माके दर्शन हुए। मैंने उन महात्माजीसे पूछा कि कुछ अनुभव कहिये, तब आपने बड़े प्रेमसे हाथ उठाकर यह दोहा कहा—

हाथ उठाके कहत हूँ कहा बजाऊँ ढोल।
स्वासा खाली जात है तीन लोकका मोल॥

(७) एक और महात्मा व्रजमें मिले, उन्होंने मुझे भक्तोंके लक्षण बतलाये जिनको मैंने उड़ियाभाषामें डायरीमें लिख लिया था।

१ सबसे दीन भावसे बर्ताव करना, २ निष्कपटताका व्यवहार होना, ३ सत्य भाषण करना, ४ सब चराचर जगत्‌का आधार भगवान्‌को समझना, ५ भगवान्‌को तन, मन, धन सब अर्पण करना, ६ भगवान्‌को पूर्ण श्रद्धेय समझना, ७ हमेशा भगवान्‌के अधीन रहना, ८ भगवान्‌को आराध्यदेव समझना, ९ अनन्यभावसे श्रीभगवान्‌का चिन्तन करना, १० अपने स्वरूपको कभी न भूलना।

(८) किसी भी तीर्थमें क्यों न रहा जाय, श्री-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भगवान्‌का गुणानुवाद, भगवच्चिन्तन न हो तो कल्याण होना असम्भव है।

(९) जो भगवान्‌का भक्त होगा वह बीड़ी, हुक्का, सिगरेट, सुल्फा, तंबाकू, भाँग आदि नशीली तमोगुणी वस्तु नहीं खाये-पीयेगा। क्योंकि भक्त जो कुछ भी खाये-पीयेगा, अपने भगवान्‌को अवश्य अर्पण करेगा, फिर भला भक्त ऐसी तमोगुणी शास्त्रविरुद्ध वस्तुओंको क्योंकर भगवान्‌के भोग लगावेगा ?

(१०) भगवत्-प्रेमी किसे कहते हैं ?

जो षडैश्वर्ययुक्त भगवान् श्रीकृष्णमें प्रेम करता है उसे प्रेमी कहते हैं।

(११) प्रेमी क्या चाहता है ?

इहलोक, परलोक और अणिमादि सिद्धियाँ, इन तीनोंको त्यागकर जो केवल भगवदासक्त है उसीका नाम भगवत्प्रेमी है, वह कुछ भी नहीं चाहता।

(१२) प्रेमीके अन्दर काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्यादि रहते ही नहीं, वह तो प्रेममें मग्न रहता है। प्रेम मन-वाणीका विषय नहीं है, प्रेममें शास्त्रका प्रवेश नहीं है—

प्रेमी छुटिया प्रेमकी, और न जानै सार।
नारायण बिन जौहरी, जैसे लाल बजार॥

(१३) प्रेमी भगवान्‌के ऐश्वर्यको भुला देता है अर्थात् भगवान् अपने ऐश्वर्यको प्रेमीके सामने भूल जाते हैं। जैसे कि ग्वाल-बालोंके साथ ऐश्वर्यको भूल गये थे। यहाँतक कह दिया कि मैं तुम्हारा ऋणिया हूँ। भक्त एकनाथजीके घर आपने बारह सालतक जल भरा, नामदेवकी छान छवाई।

(१४) अगर कोई धूम्रपान करता है तो मैं निश्चयपूर्वक कहता हूँ कि उसे मन्त्रसिद्धि कदापि नहीं हो सकती।

(१५) महाराजजी ! बहुत-से विद्वान् लोग भगवन्नाम नहीं जपते ?

भगवत्कृपा बिना श्रीभगवन्नाम नहीं लिया जाता है और न उसमें प्रीति ही होती है। भगवत्कृपा हो तो यह हम नहीं कह सकते !

(१६) प्रेमीको स्वयं त्याग होता है और विवेकी-को त्याग करना पड़ता है। प्रेमीसे विषयोंका चिन्तन होता ही नहीं, विवेकी विषयमें दोषदृष्टि करता है। नारायण स्वामी कहते हैं—

विधिनिषेध श्रुति बेदकी मेंड देत सब मेट।
नारायण जाके हिये लागत प्रेम चपेट॥
नेम धरम धीरज समझ, सोच बिचार अनेक।
नारायण प्रेमी निकट इनमें रहैं न एक॥

(१७) कामीकी और प्रेमीकी एक दशा हो जाती है। परन्तु कामी नरककी निसानी है, प्रेमी भगवत्-स्वरूप हो जाता है। प्रेमपन्थ अत्यन्त कठिन है इसमें जान-माल सर्वस्व लुटाना पड़ता है। सब स्वाहा करना पड़ता है।

(१८) दया, सत्य, शौच, आचार जिसमें न हो वह असुर है !

(१९) ज्ञानी बड़ा है या प्रेमी बड़ा ?

पहले हम किसी व्यक्तिसे मिलते हैं तो उस व्यक्तिसे ज्ञान होता है। फिर उससे बार-बार मिलनेसे प्रेम होता है। इससे सिद्ध हुआ कि पहले ज्ञान पीछे प्रेम। अतः प्रेम बड़ा हुआ और जो ज्ञानी लोग कहते हैं कि चौथी भूमिकापर ज्ञान होता है। पञ्चम भूमिका छठी भूमिकाका जो ज्ञान है वह जीवन्मुक्तिके आनन्द-के लिये है। वे उसे जीवन्मुक्तिका आनन्द कहते हैं, हम प्रेम कहते हैं। इससे भी प्रेम बड़ा है।

(२०) जो फल ज्ञानीको होता है वही फल भक्तको होता है। क्योंकि ज्ञानीको ज्ञान होनेपर सच्चिदानन्दके अतिरिक्त कुछ नहीं। और भी भक्तको प्रेम-प्राप्ति होनेपर सच्चिदानन्दके अतिरिक्त कुछ नहीं। किन्तु साधन अलग-अलग हैं।

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीमद्भगवद्गीता और योगतत्त्वसमन्वयमीमांसा

(लेखक—श्रीगोवर्द्धनपीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री ११०८ श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज)

[गताङ्कसे आगे]

तितिक्षाकी अयथार्थ कल्पना

तने-इतने विस्तारसे और प्रत्येक प्रकारकी दृष्टिसे एवं अनेक प्रकारके योगोंके हिसाबसे विचार करनेपर जो तितिक्षारूपी परमावश्यक साधन प्रमाणोंसे सिद्ध हुआ है, उसके बारेमें उससे अगले विषयमें प्रवेश करनेके पूर्व अब इसी खास सन्धिस्थानरूपी घट्टपर एक चेतावनी देनेकी भी अत्यन्त आवश्यकता है। वह यह है कि अनेक मनुष्योंके मनमें बार-बार यह भ्रमात्मक धारणा या प्रतीति होती हुई देखी जाती है कि तितिक्षा या तपस्याके नामसे शरीर, इन्द्रियों और मनको रोकनेमें सफलताकी प्राप्तिके लिये इन तीनों करणोंकी अत्यन्त हिंसा भी करनी चाहिये, इत्यादि; परन्तु यह बड़ा अपसिद्धान्त है, तितिक्षाका यह सच्चा अर्थ नहीं है। इस भ्रमात्मक प्रतीतिपर काम करनेवालोंको योगादिकी सिद्धि तो मिलती ही नहीं, बल्कि उलटा ही फल मिलता है और इहलोक तथा परलोकमें भी हानि उठानी पड़ती है।

आहारादि-व्यवस्था

अतएव आत्मसंयमयोग नामक षष्ठाध्यायमें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥
युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

अति भोजन करनेवालेको योगकी प्राप्ति नहीं होती, और बिल्कुल भोजन न करनेवालेको भी नहीं हो सकती। अधिक सोनेवालेको तथा बिल्कुल न सोनेवालेको भी वह नहीं प्राप्त होता। आहार-विहार, कर्मचेष्टा, निद्रा, जागरण आदि सब व्यवहारोंमें जो उचित परिमाणसे प्रवृत्त होता है, उसीको दुःखनाशक योगकी सिद्धि होती है।

इससे स्पष्ट है कि जैसे खेती, शरीरके आरोग्य आदिकी दृष्टिसे अतिवृष्टि, अनावृष्टि दोनों ही खराब हैं, इसी प्रकार अत्याहार और अनाहार एवं अतिनिद्रा और अनिद्रा इत्यादिसे योगसिद्धिमें विघ्न ही पड़ता है, लाभ नहीं होता।

आसुरी तपस्या

इसपर यदि कोई यह शंका करे कि अभोजन, अनिद्रा आदिसे योगसिद्धि न होनेकी बात तो षष्ठाध्यायमें बतायी गयी है, परन्तु उससे भावरूपी खराबीकी बात श्रीभगवान्‌ने कहाँ बतायी है, तो इसका उत्तर यह है कि षोडशाध्यायमें दैवासुरसम्पद्विभागयोग बतानेके बाद सप्तदशाध्याय और अष्टादशाध्यायमें श्रद्धात्रय आदिका विवेचन करते हुए श्रीभगवान्‌ने यही कहा है—

(१) जो दम्भाहंकार और काम-रागादिके बलसे अशास्त्रीय घोर तपस्या करते हैं, शरीरमें रहनेवाले समस्त भूतसमष्टिको एवं भीतर रहनेवाले मुझको भी सुखाते हैं, उनको अज्ञानी और आसुरी निश्चयवाले जानो (१७। ५, ६)।

(२) जो तपस्या मूर्खतापूर्ण दुराग्रहसे, अपनी हिंसासे या दूसरेके दुःखके लिये की जाती है, वह तामसी तपस्या है (१७। १९)।

(३) जो दान प्रत्युपकारके लिये या फलकी इच्छासे दुःखके साथ दिया जाता है, वह राजस दान है (१७।२१)।

(४) जो कर्म किसी कामनासे या अहङ्कारसे, दुःखके साथ किया जाता है, वह राजस कर्म है (१८। २४)।

(५) जो कर्म सम्बन्ध, दुःख, हिंसा और सामर्थ्यके विचारके बिना मोहसे किया जाता है, वह तामसिक कर्म है (१८। २५)।

(६) जिस धृति (स्थिरता या हठ) से दुर्बुद्धि मनुष्य निद्रा, भय, शोक, विषाद और मदको नहीं छोड़ता, वह तामसिक है (१८। ३५)।

इस सम्बन्धमें इतना ही कहना पर्याप्त है कि अन्य दानादि साधारण कर्मोंमें भी आत्महिंसाको श्रीभगवान्‌ने

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इतनी कड़ाईके साथ मना किया है, तब कठोर आसुरी तपस्याका निषेध तो कैमुतिक न्यायसे ही सिद्ध है।

रजोगुण और तमोगुणके परिणाम

इस प्रसङ्गपर इस बातका भी स्मरण रखना चाहिये कि चतुर्दशाध्यायमें गुणत्रयविभागयोगके प्रसंगमें श्रीभगवान्‌ने तमोगुण और रजोगुणके परिणामका इस प्रकार वर्णन किया है—

(१) तमोगुण प्रमाद, आलस्य और निद्राके बन्धनमें डालता है (१४ । ८)।

(२) तमोगुण ज्ञानको छिपाकर अज्ञानमें आसक्ति पैदा करता है (१४ । ९)।

(३) तमोगुणके बढ़नेपर अज्ञान, आलस्य, प्रमाद और मोह होते हैं (१४ । १३)।

(४) तमोगुणमें रहते हुए जो मरता है वह (पशु, पक्षी, कृमि आदि) मूढ़ योनिमें जन्म लेता है (१४।१५)।

(५) रजोगुणका फल दुःख है और तमोगुणका फल अज्ञान है (१४ । १६)।

(६) तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान होते हैं (१४ । १७)।

(७) सत्त्वगुणी ऊपर (स्वर्गको) जाते हैं, रजोगुणी बीचमें (भूलोकमें) जाते हैं और तमोगुणी नीचे (नरकमें) जाते हैं (१४ । १८)।

हठयोगकी प्रक्रिया

इस प्रसंगमें हठयोग आदिके बारेमें इतनी चेतावनी जरूर देनी है कि उनकी कुछ प्रक्रियाएँ ऐसी हैं जिनमें सावधानी और हिसाबसे काम न होनेपर अभीष्ट फलकी प्राप्ति तो होती ही नहीं, बल्कि उलटा नतीजा भी निकल आता है। शरीरमें भयंकर व्याधि, पागलपन आदि अनेक प्रकारकी हानियाँ हो जाती हैं और इहलोकमें इतने कष्ट होनेके अतिरिक्त, चूँकि ये काम श्रीभगवान्‌के बताये हुए सिद्धान्तकी दृष्टिसे राजसिक, तामसिक और आसुरी स्वभावके होते हैं, इसलिये परलोकमें भी इनसे बहुत कुछ नुकसान होनेकी सम्भावना रहती है।

प्राणायामादिसे लाभ

हठयोगान्तर्गत प्राणायाम, आसन आदि क्रियाओंसे सब प्रकारके रोगोंकी अति शीघ्र एवं अति सुलभ चिकित्सा, मनकी एकाग्रता आदि अच्छे लाभदायक परिणाम होने चाहिये और ध्यानयोगमें एकाग्रतासे भक्तिकाण्डवाली उपासना एवं ज्ञानकाण्डवाले निदिध्यासन आदि योगके कार्योंमें खूब मदद मिलनी चाहिये। परन्तु, चूँकि ये फलके उद्देश्यसे किये जानेवाले कर्म हैं, निष्काम कर्म नहीं हैं, इसलिये इनमें श्रीभगवान्‌का—

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥
(२ । ४०)

—यह वाक्य लागू न होकर इस तरहके उलटे पाठान्तरके हो जानेका खास डर हमेशा बना रहता है—

अत्राभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायोऽपि विद्यते।
न्यूनातिरेकतो मंक्षु जायते च भयं महत्॥

इसमें न्यूनता या अधिकताके कारण, किये हुए कर्म केवल व्यर्थ ही नहीं जाते, बल्कि उनसे बड़ी खराबी भी होती है, अति शीघ्र भयानक परिणाम भी हो जाते हैं।

हम प्राणायामादि कार्योंके विरुद्ध नहीं हैं, बल्कि स्वयं हमेशा उनके पक्षपाती रहे हैं, परन्तु तो भी हम औषधादि तथा खाने-पीने आदिके बारेमें न्यूनाधिक मात्रासे हो सकनेवाली आपत्तिकी चेतावनी देनेको जिस प्रकार बाध्य हैं, वैसे ही इन क्रियाओंके बारेमें भी उसी प्रकारकी चेतावनी देनेके लिये पाबन्द हैं। अतएव इसी प्रसंगपर उसे दे देना आवश्यक है।

जीवित और मृतका अभेदानुभव-योग

इसपर पुनः यह आक्षेप किया जा सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णने तो पञ्चमाध्यायमें योगीका इस प्रकार निर्वचन किया है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥२३॥

—और इस श्लोकका अर्थ बताते हुए अद्वैतसिद्धि, गूढ़ार्थदीपिका, भक्तिरसायन आदि ज्ञानकाण्ड एवं भक्तिकाण्डके बड़े-बड़े प्रामाणिक ग्रन्थोंके कर्त्ता श्रीमधुसूदन सरस्वती आदि सभी टीकाकारोंने यही कहा है कि जैसे किसी आदमीके मर जानेपर उसके शवको श्मशानमें ले जाकर चितापर रख उसमें आग लगा देते हैं, वैसे ही जीवित मनुष्यको चितापर रखकर आग लगा दें और उसे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उस शरीरको भस्म कर देनेवाली अग्निसे तापप्रयुक्त दुःख तनिक भी न हो वही योगी है, इत्यादि, फिर कायशोषण करनेवाली तपस्याको क्यों मना करते हैं ? इसका उत्तर यह है कि यह ठीक है कि योगारूढ इतना द्वन्द्वातीत हो जाता है कि उसे शरीर-सम्बन्धी किसी भी कारणसे तनिक भी दुःख नहीं होता, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि प्रत्येक कच्चा साधक या मुमुक्षु अपने सारे शरीरको आगसे जला दे तो वह योगी बन जायगा ! मतलब इतना ही है कि योगसाधनोंके द्वारा शास्त्रीय विधिके अनुसार आगे बढ़नेपर योगीके अन्दर इतनी सहिष्णुता एवं मनोदार्ढ्यादि गुणसम्पत्ति आ जाती है कि वह अग्निसे जलाये जानेपर भी दुःखी नहीं होता। अर्थात् चितापर जलानेकी यह बात वस्तु-गति (यथार्थ परिस्थिति) का वर्णन करनेवाली है, विधि-रूप (अर्थात् साधन बतानेवाला वाक्य) नहीं। अतः विधि-निषेध शास्त्रके अनुसार सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक विभागादिका विचार करते हुए ही तितिक्षाका अभ्यास करना चाहिये। नहीं तो राजसिक, तामसिक एवं आसुरी क्रियाओंके जो फल श्रीभगवान्‌ने बताये हैं, उनको भोगना ही पड़ेगा और योग (अर्थात् श्रीनारायणस्वरूपको प्राप्त करने) की इच्छासे निकलकर स्वर्गादिमें भी न पहुँचकर नरकमें जाने और तिर्यग्-योनिमें जन्म लेनेकी दुर्गति अवश्य उठानी पड़ेगी। इसलिये शास्त्र-विहित तितिक्षा ही होनी चाहिये। यही श्रीनारायण-स्वरूपप्राप्तिरूपी लक्ष्यके साधनरूप योगके मार्गपर आरूढ़ हुए साधकके लिये पाँचवीं सीढ़ी है।

छठीं सीढ़ी—कामनात्याग

पाँचवीं सीढ़ी—तितिक्षाका इतने दृष्टिकोणोंसे तथा इतने विस्तारके साथ निरूपण करनेके बाद अब हम अपने-आप सोच सकते हैं कि जब तितिक्षाका आरम्भ किया जाता है तब अनुभवसे यह बात सिद्ध हो जाया करती है कि जबतक हम अपने मनकी अनेक प्रकारकी कामनाओं-को जड़से नहीं काट डालते तबतक हमारा तितिक्षावाला प्रयत्न भी सफल नहीं हो सकता। क्योंकि—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
(२। ६२-६३)

विषयोंके ध्यानसे उनमें सङ्ग (अच्छेपनकी प्रतीति) उत्पन्न होता है। सङ्गसे उन चीजोंको प्राप्त करनेकी इच्छा होती है। इच्छा पूरी करनेके प्रयत्नमें जिसके कारण विघ्न उत्पन्न होता है, उसपर क्रोध आता है, क्रोधसे (जोश या आवेशरूपी) सम्मोहकी उत्पत्ति होती है। सम्मोहसे स्मृतिभ्रंश अर्थात् आगे-पीछेका विचार करनेकी शक्तिका नाश हो जाता है और इस तरह स्मृतिभ्रंशसे अपना सर्वश्रेय नष्ट हो जाता है। अर्थात् कामनासे इतनी लंबी और जबर्दस्त अनर्थपरम्परा पैदा हो जाती है, यह स्वाभाविक, अनिवार्य और अनुभवसिद्ध बात है। इसलिये साधकोंको विचार करना चाहिये कि जब किसी चीजकी कामना की जाती है तब उसकी प्राप्तिमें जिसे विघ्न उपस्थित होता है उसपर क्रोध जरूर आता है अर्थात् कामनासे क्रोध ही उत्पन्न होता है और जब कामनासे ही क्रोध उत्पन्न होता है तब कामनाओंके रहते हुए तितिक्षा-की आशा कैसे की जा सकती है ? अतः यह जानना चाहिये कि कामनाका त्याग भी अत्यावश्यक है और यही छठीं सीढ़ी है, जिसके बिना वह तितिक्षा भी नहीं हो सकती जिसकी अत्यन्तावश्यकताके विषयमें इतने अधिक विस्तारके साथ अबतक विचार किया गया है।

ज्ञाननिष्ठा और कामनात्याग

अतएव द्वितीयाध्यायमें अर्जुनके इस प्रकार प्रश्न करनेपर कि—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्॥५४॥

योगसमाधिमें रहनेवाले स्थितप्रज्ञ अर्थात् ज्ञान-निष्ठका क्या लक्षण है, वह किस तरह बोलेगा, किस तरह बैठेगा, किस तरह चलेगा इत्यादि। भगवान् श्रीकृष्णने स्थितप्रज्ञका लक्षण बताते हुए, उसके बोलने, बैठने, चलने आदिका नामतक न ले एकदम उसके अन्दरके लक्षणोंका ही वर्णन करते हुए साफ साफ कहा कि—

जब आदमी आत्मासे आत्मामें ही सन्तुष्ट रहते हुए मनकी सब कामनाओंको छोड़ देता है तभी वह स्थितप्रज्ञ (ज्ञाननिष्ठ) कहा जाता है। (२। ५५)

जो किसी दुःखसे दुःखित नहीं होता, किसी सुखकी इच्छा नहीं करता और राग, भय एवं क्रोधसे मुक्त रहता है, वही स्थितप्रज्ञ मुनि कहा जाता है। (२। ५६)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जो किसीके साथ ममताका सम्बन्ध नहीं रखता, किसी सुखके आनेपर प्रसन्न नहीं होता और न किसी दुःखके आनेपर दुःखी होता है, वही स्थितप्रज्ञ है। (२।५७)

जैसे कछुआ अपने सब अवयवोंको सब ओरसे खींच लेता है, वैसे ही जो मनुष्य अपनी इन्द्रियोंको सब ओरके विषयों (शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धरूपी भोग्य पदार्थों) से खींच लेता है, वही स्थितप्रज्ञ है। (२।५८)

भोग्य पदार्थोंसे निवृत्त हुए व्यक्तिमें भोग्य वस्तुओंके छूट जानेपर भी उनकी अभिरुचि (इच्छा) तो रहती है; मगर स्थितप्रज्ञ तो परमात्माका साक्षात्कार करके किसी चीजकी इच्छा नहीं रखता। (२।५९)

चलनेवाली इन्द्रियोंके पीछे जो मन दौड़ता रहता है, वह मन समुद्रमें नौकाका ध्वंस करनेवाली वायुके समान बुद्धिका नाश कर देता है। (२।६७)

इसलिये जिसने अपनी इन्द्रियोंको सब ओरके भोग्य पदार्थोंसे खींच लिया हो, वह स्थितप्रज्ञ है। (२।६८)

जिसका सारी (अज्ञानी) दुनियाको खयाल ही नहीं होता, उस (परमार्थ-साक्षात्कारके आनन्द) में ज्ञानी हमेशा जागता रहता है और जिसका सारी दुनिया खयाल करती है उस (विषय-वासना-सम्बन्धी पदार्थ) का ज्ञानी कभी खयाल ही नहीं करता। (२।६९)

त्रिगुणातीत और कामना-त्याग

इसी प्रकार त्रिगुणातीतके लक्षणोंका वर्णन करते समय भी श्रीभगवान्‌ने चतुर्दशाध्यायमें जो कुछ कहा है, जिसका वर्णन हम तितिक्षाके प्रसङ्गमें कर ही चुके हैं, उससे भी यह स्पष्ट है कि कामनात्याग त्रिगुणातीतका घटक लक्षण है, अर्थात् ऐसा लक्षण है जिसके बिना त्रिगुणातीत अवस्था हो ही नहीं सकती।

ज्ञानका स्वरूप और कामना-त्याग

फिर इसी प्रकार त्रयोदशाध्यायमें ज्ञान और अज्ञानके स्वरूपोंका वर्णन करते हुए श्रीभगवान्‌ने 'इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम्' (१३।८) और—

'नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।'
(१३।९)

इत्यादि लक्षणोंद्वारा ज्ञानके स्वरूपका निर्वचन करके यह स्पष्ट किया है कि कामना-त्याग भी ज्ञानके स्वरूपके अन्तर्गत आवश्यक लक्षण है, अर्थात् कामना ज्ञानके स्वरूपका नाश करनेवाली चीज है। इत्यादि।

लक्ष्यप्राप्ति और कामना-त्याग

पञ्चदशाध्यायमें भी अव्यय पदार्थकी किसे प्राप्ति होती है, यह बताते हुए श्रीभगवान्‌ने 'विनिवृत्तकामाः' (१५।५) विशेषण लगाकर यह कहा है कि वे ही 'पदमव्ययं तत्' (उस अव्यय अर्थात् निर्विकार शान्ति और आनन्दमय पदवी) को प्राप्त करते हैं जिनके मनसे सब प्रकारकी कामनाएँ निकल जाती हैं।

संन्यास और कामना-त्याग

सर्वैषणात्यागरूपी संन्यासके बारेमें तो यह कहनेकी जरूरत ही नहीं है कि जबतक सब कामनाओंका त्याग नहीं हो जाता तबतक संन्यासका आरम्भ ही नहीं होता। संन्यासमें तो कामनात्याग केवल अत्यन्त आवश्यक ही नहीं है बल्कि यह संन्यासका अनिवार्य और घटक (अर्थात् स्वरूपान्तर्गत) लक्षण है। अतएव श्रीभगवान्‌ने पञ्चमाध्यायमें संन्यासके लक्षण बताते हुए कहा है कि—

'ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।'
(५।३)

सच्चा संन्यासी वही है जो न तो किसी चीजसे द्वेष करता है और न किसी वस्तुकी इच्छा ही करता है।

तथा—

'कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।'
(५।२६)

जो कामक्रोधसे रहित हैं और जिन्होंने मनको काबूमें कर लिया है, वे ही संन्यासी हैं। इत्यादि।

दैवासुरसम्पत्ति और त्यागात्याग

षोडशाध्यायमें भी दैवी सम्पत्तिके घटक लक्षणके रूपमें त्यागका जिक्र करके, आगे आसुरी सम्पत्तिके प्रसङ्गमें कामनाका खूब खण्डन करते हुए श्रीभगवान्‌ने कहा है—

कामनाके (जिसे तृप्त किया ही नहीं जा सकता) आश्रित होकर दम्भ, अहङ्कार एवं मदसे युक्त होते हैं (आसुरी प्रकृतिके मनुष्य) (१६।१०)

अपार चिन्ताओंको (जिसका प्रलयकालमें अन्त हो

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सकता है) लेकर, कामनाके उपभोगको ही परम पदार्थ मानते हुए यह समझते हैं कि दुनियामें इससे बढ़कर कोई चीज नहीं है । (१६ । ११)

सैकड़ों आशापाशोंसे बद्ध और कामक्रोधपरायण रहते हैं । (१६ । १२)

अब मुझे यह (अमुक पदार्थ) मिल गया है, फिर इस (अमुक) अभीष्टको प्राप्त करूँगा, अबतक इतना पैसा मिल गया है, फिर भी पैसा मिलनेवाला है, इत्यादि— इस प्रकार खयाल करते रहते हैं । (१६ । १३)

इस प्रकार कामभोगोंमें जो प्रवृत्त रहते हैं, वे अपवित्र नरकमें जा गिरते हैं । (१६ । १६)

अहङ्कार, बल, गर्व, कामना और क्रोधको जोरसे पकड़कर अपने और दूसरोंके शरीरमें स्थित मुझसे द्वेष और असूया करते हैं । (१६ । १८)

इन द्वेषी, क्रूर और अशुभ आचरण करनेवाले नराधमोंको मैं संसारमें आसुरी योनियोंमें ही हमेशा डालता हूँ । (१६ । १९)

ये मूढ़ात्मा हर एक जन्ममें आसुरी योनिको ही प्राप्तकर, मुझमें न पहुँचकर, अधम गतिको प्राप्त किया करते हैं । (१६ । २०)

यज्ञादिके तीन प्रकारोंका विवेचन

सप्तदशाध्याय और अष्टादशाध्यायमें भी सब पदार्थोंके सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे विभाग दिखाते हुए श्रीभगवान्‌ने वहाँ भी कहा कि—

काम और रागके बलसे (जो करते हैं), उनको आसुरी वृत्तिवाले जानो । (१७ । ५-६)

फलकी इच्छा न रखनेवाले पुरुषोंद्वारा, अपने कर्तव्यको पूरा करनेके खयालसे, शास्त्रविधिके अनुसार जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक है । (१७ । ११)

फलकी अभिसन्धिसे या दम्भके लिये जो किया जाता है, वह राजसिक है । (१७ । १२)

फलाकांक्षा न रखनेवाले योगियोंद्वारा, अत्यन्त श्रद्धासे, (शरीर, वाणी और मनकी) जो त्रिविध तपस्या की जाती है, वह सात्त्विक है । (१७ । १७)

सत्कार, मान एवं पूजाकी इच्छासे या दम्भसे जो की जाती है, वह राजसिक, चञ्चल और अस्थिर कही जाती है । (१७ । १८)

दान देना अपना कर्तव्य समझकर, प्रत्युपकार न कर सकनेवालेको, देश, काल और पात्रमें जो दान दिया जाता है वह सात्त्विक है । (१७ । २०)

प्रत्युपकार या फलके उद्देश्यसे, दुःखके साथ जो दिया जाता है, वह राजसिक दान है । (१७ । २१)

(ओं तत्सत्—इन तीन शब्दोंमेंसे तत् शब्दका अर्थ) मोक्षकी इच्छा रखनेवाले, फलकी इच्छा न कर, अनेक प्रकारके यज्ञ, तपस्या, दान आदि क्रियाएँ करते हैं । (१७ । २५)

फलेच्छा न रखनेवालेके द्वारा जो शास्त्रविहित कर्म निःसङ्ग भावसे और रागद्वेषके बिना किया जाता है, वह सात्त्विक है । (१८ । २३)

फलेच्छु या अहंकारी पुरुषके द्वारा जो दुःखके साथ किया जाता है, वह राजसिक है । (१८ । २४)

जो कर्ता सङ्गरहित, अनहंकारी, धैर्य और उत्साहसे युक्त तथा कार्यकी सिद्धि और असिद्धिमें एक समान निर्विकार चित्तवाला होता है, वह सात्त्विक है । (१८ । २६)

जो कर्ता रागी, कर्मफलकी इच्छा करनेवाला, लोभी, हिंसक, अशुचि या सुखदुःखवाला होता है, वह राजसिक है । (१८ । २७)

योगी (निष्काम कर्म करनेवाले) जिस अव्यभिचारिणी धृतिसे (निर्विकार रहते हुए) मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंकी धारणा किया करते हैं, वह सात्त्विक है । (१८ । ३३)

जिस धृतिसे फलासक्त कार्यकर्त्ता धर्म, कामना और अर्थोंको धारण करता है, वह राजसिक है । (१८ । ३४)

आत्मज्ञानके प्रसादसे उत्पन्न ज्ञान, जो आरम्भमें विष, और परिणाममें अमृतके समान होता है, वह सात्त्विक है । (१८ । ३७)

विषयों (शब्दस्पर्शादि भोग्य पदार्थों) और इन्द्रियोंके सम्पर्कसे जो आरम्भमें अमृत और परिणाममें जहरके समान होता है, वह सुख राजसिक है । (१८ । ३८)

निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न हुआ सुख

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आरम्भमें और परिणाममें भी अपनेको मोहान्धकारमें डालता है, वह तामसिक है। (१८। ३९)।

इस गुणत्रयविवेचनसे भी स्पष्ट हो जाता है कि कामना-त्यागकी कितनी आवश्यकता है; क्योंकि जो सात्त्विक भी नहीं हुआ, वह त्रिगुणातीत तो कैसे हो सकता है?

योगाभ्यास और कामना-त्याग

इन सब विचारोंको सुनकर यदि कोई यह समझे कि त्रिगुणातीत, जीवन्मुक्त, ज्ञाननिष्ठ, संन्यासी, दैवी सम्पद्वाले, सत्त्वगुणनिष्ठ आदिके लिये यह सब झंझट है, योगीके लिये तो नहीं है, तो यह एक बड़ी भूल होगी। क्योंकि आत्मसंयमयोग नामक षष्ठाध्यायमें (जो योगकी विधि बतानेवाला खास अध्याय है) भगवान् श्रीकृष्णमें शुरूसे ही योगीके बारेमें यही निर्वचन किया है कि—

कर्मफलकी इच्छा न करते हुए जो अपने कर्तव्यको पूरा करता हो, वही संन्यासी है और वही योगी है। अग्नि या कर्मका त्याग करनेवाला संन्यासी या योगी नहीं है। (६। १)।

जबतक सर्वसंकल्पका त्याग न हो जाय तबतक कोई भी योगी नहीं होता (६। २)

जब सर्वसंकल्पका त्याग हो जाता है और भोग्य पदार्थों एवं कर्मोंकी आसक्ति छूट जाती है तब योगारूढ़ कहा जाता है। (६। ३)

शीतोष्ण, सुख-दुःख एवं मानापमानमें (समाहित यानी निर्विकार)। (६। ७)

जिसके लिये मिट्टी, पत्थर और काञ्चन एक समान हैं, वही योगी, युक्त कहा जाता है। (६। ८)

इच्छारहित और परिग्रहरहित होकर योगाभ्यास करें। (६। १०)

समस्त कामनाओंसे जब निवृत्त हो जाता है, तभी योगी कहा जाता है। (६। १८)

जिसमें पहुँचकर अतीन्द्रिय (अतएव) बुद्धिसे ही वेद्य आत्यन्तिक सुखको ही जानता है और परमात्मतत्त्वसे हिलता नहीं है, (वही योग है)। (६। २१)

जिसके मिलनेपर फिर किसी दूसरे लाभको नहीं चाहता, वही योग है। (६। २२)

सङ्कल्पसे उत्पन्न होनेवाली कामनाओंको निःशेष छोड़कर। (६। २४)

(इस प्रकारसे) जो रजस्तमोगुणरहित, निर्मल और शान्तचित्त हो गया है, उस ब्रह्मस्वरूपमें पहुँचे हुए योगीको उत्तम सुख प्राप्त होता है। (६। २७)

(इस प्रकार) निर्मल होकर योगक्रिया करनेवाला योगी ब्रह्मस्पर्शसुखको सुखपूर्वक प्राप्त करता है। (६। २८)

सुख हो या दुःख हो, (जो समदृष्टि रखता है) वह योगी श्रेष्ठ है। (६। ३२)

कोई सन्देह नहीं कि मन चञ्चल है और इसका निग्रह करना कठिन है। परन्तु अभ्यास और वैराग्यसे वशमें आता है। (६। ३५)

योगीकी श्रेष्ठता

अतः श्रीमद्भगवद्गीताके षष्ठाध्यायके

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥

—इस उपान्त्य श्लोकके आधारपर जो लोग योगीकी सर्वश्रेष्ठता बताते हुए आनन्दसे मस्त हो जाया करते हैं, उन सब लोगोंको जानना और सर्वदा याद रखना चाहिये कि इसी अध्यायमें पहले श्लोकसे लेकर ४५ वें श्लोकतक श्रीभगवान्ने 'अनाश्रितः कर्मफलं, संन्यस्त-सङ्कल्पः, सर्वसङ्कल्पसंन्यासी, समलोष्टाश्मकाञ्चनः, निराशीः, अपरिग्रहः, निस्पृहः सर्वकामेभ्यः, सङ्कल्पप्रभवान्कामां-स्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः' इत्यादि स्पष्ट शब्दोंद्वारा जिस योगीका निर्वचन (Definition) दिया है और जिसको संन्यासीसे सर्वथा अभिन्न बताया है, उसीकी महिमा उपर्युक्त ४६ वें श्लोकमें गायी गयी है। अर्थात् कामना-त्यागके विषयमें तो श्रीभगवान्की परिभाषाके अनुसार योगी और संन्यासीमें तनिक भी भेद है ही नहीं।

सच्ची भक्ति और कामना-त्याग

फिर भी यदि किसीके भी मनमें यह शङ्का हो कि अगर योगी भी सर्वकामनात्यागसे ही बनता है तो बेशक बने, भक्तिमें तो यह झंझट नहीं है, तो भक्तोंके लक्षण बतानेवाले द्वादशाध्यायको एक बार देखनेपर पता लग जायगा कि यह भी बड़ी भूल है; क्योंकि उसमें भी तो श्रीभगवान्ने यही कहा है कि—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जिसे दुःख एवं सुख समान हो (१२ । १३)

जो सर्वदा सन्तुष्ट हो । (१२ । १४)

सुख, क्रोध, भय और दुःखसे जो मुक्त है, वह मेरा भक्त है (मुझे प्यारा है) । (१२ । १५)

जिसे कोई इच्छा नहीं, विकार नहीं, दुःख नहीं । (१२ । १६)

जो किसी कारणसे सुखी नहीं होता, द्वेष नहीं करता, दुःखी नहीं होता, कोई इच्छा नहीं करता और जिसने शुभाशुभ दोनोंको छोड़ दिया है, वह भक्त मुझे प्यारा है । (१२ । १७)

शीतोष्ण, सुख-दुःखमें जो समान रहता है और सङ्ग-रहित होता है । (१२ । १८)

जो निन्दा और स्तुतिमें समान रहता है, मननशील होता है, जो-जो कुछ (सुख या दुःख) आता है, उससे सन्तुष्ट रहता है एवं स्थिरबुद्धि रहता है और जिसे अपना कोई स्थान भी नहीं है, वह भक्त मुझे प्यारा है । (१२ । १९)

क्या भक्तिके इन लक्षणोंमें और स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत, संन्यासी, दैवीसम्पत्सम्पन्न, ज्ञाननिष्ठ और योगीके पूर्वोक्त लक्षणोंमें थोड़ा भी भेद है ? यह तो स्पष्ट है कि दृष्टिकोणों-के भेदसे नामोंमें ही सबमें भेद है; वस्तुस्वरूप या लक्षणों-में तनिक भी भेद नहीं है ।

और भी कुछ प्रमाण

इन सब बातोंके अतिरिक्त श्रीभगवान्‌ने अन्यान्य प्रसंगोंमें भी कामना-त्यागकी आवश्यकता बताते हुए कहा है—

बाह्य पदार्थोंके साथ इन्द्रियोंके सम्पर्कसे होनेवाले सुखोंमें आसक्त न होकर आत्मामें जो सुख प्राप्त करता है, वह ब्रह्मयोगी होकर शाश्वत सुखको भोगता है । (५ । २१)

जो अन्तरात्मामें ही सुख और ज्योतिका अनुभव करते हुए उसीमें रमता रहता है, वह योगी परब्रह्मस्वरूप होकर परब्रह्मानन्दको प्राप्त करता है । (५ । २४)

जो ऋषि (ज्ञानी) निर्मल, द्वैतरहित, जितेन्द्रिय और सर्वभूतहितमें रत हो गये हैं, वे परब्रह्मानन्दको प्राप्त करते हैं । (५ । २५)

जो मुमुक्षु होकर मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको काबूमें करके इच्छा, भय एवं क्रोधसे मुक्त हो गया हो, वह हमेशा मुक्त ही है । (५ । २८)

बलवानोंका जो कामरागरहित बल है, वह मैं हूँ (अर्थात् वह मेरी विभूति है) । (७ । ११)

त्रिवेदविद्याध्यायी (कर्मनिष्ठ पुरुष) यज्ञोंद्वारा मेरी पूजा करके, सोमपान करके निष्पाप होकर स्वर्गमें पहुँचने की इच्छा करते हैं और देवेन्द्रादि श्रेष्ठ देवोंके पुण्यलोकों में पहुँचकर स्वर्गमें देवताओंके दिव्य सुखोंको भोगते हैं । (९ । २०)

वे उस स्वर्गके सुखको बहुकालतक भोगकर पुण्यके खर्च हो जानेपर पुनः मर्त्य (इसी भू) लोकमें जन्म लेते हैं । काम्य वस्तुओंकी कामनासे त्रिवेदोक्त कर्ममार्गका आश्रय लेनेवाले आदमी इस प्रकार जन्म-मरण-प्रवाहरूपी संसार को प्राप्त करते हैं । (९ । २१)

जो दुःखसे द्वेष नहीं करता, सुखकी इच्छा नहीं करता, त्यागी होकर आत्म-स्वरूपके बलपर रहता है, वह ज्ञानी है और वही संशयरहित होता है । (१८ । १०) (क्रमशः)

अद्भुत झाँकी

खेलत कन्हैया महि खोदि-खोदि माटी खात माखन बिसार्‌यो अरु दूध कजरारीको ।
साँटी लै रिसानी मातु 'बेगि थूँकि माटी देहु' गाँठी देत रसरीसों बाँधत अनारीको ॥
उझकि-झिझकि अँसुआन भरि खोल्यो मुख तीन लोक देखि भौ अचंभो महतारीको ।
चौंकि चकि चितय जसोदा कर मूँदे नैन छूटि परी साँटी भौ अनंद गिरधारीको ॥

—सत्यनारायण पाण्डेय एम० ए०

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कल्याण

महात्मा पुरुषोंकी सेवा या संगति करके यह इच्छा न करो कि मेरा अमुक सांसारिक काम सफल हो जाय, और यदि कोई काम सफल हो भी जाय तो यह मत मानो कि यह महात्माकी कृपासे सफल हुआ है। सच्चे महात्माकी कृपाका फल बहुत ही ऊँचा और अविनाशी नित्य सत्य वस्तुकी प्राप्ति होता है। अनित्य और विनाशी वस्तुओंकी ओर महात्माओंका लक्ष्य ही नहीं जाता।

यह बात नहीं कि महात्माकी कृपासे सांसारिक लाभ नहीं हो सकता, परन्तु महात्माकी कृपाको सांसारिक कार्यके लिये उपयोग करनेकी चेष्टा करना पारसके मोल कूड़ा खरीदने-जैसा है। बल्कि यह इससे भी नीचे दर्जेका काम है। यह तो महात्माकी कृपाके महत्त्वको घटाना है।

बुरे आचरणों और मानसिक दुष्ट भावनाओंका विनाश, तथा दैवी सम्पत्तिकी प्राप्ति महात्माओंके संगसे होनी ही चाहिये, और उनकी कृपाका आश्रय करनेपर तो उस नित्य सत्य आनन्दमय स्थितिकी प्राप्ति हो जाती है जिसको 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' कहते हैं, और जिसके पानेके बाद कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता।

सच्चे महात्मा पुरुषोंका संग करनेवाले पुरुषोंमें तथा उनके अनुयायियोंमें शुद्ध आचरणका होना उतना ही आवश्यक है जितना सूर्यके सामने रहनेपर प्रकाश और गरमीका! ऐसी बात नहीं हो तो, यह समझ लो कि या तो सच्चे महात्माका अभाव है, या तुम उसके संगी अथवा अनुयायी नहीं हो।

संगी वह है जो महात्माके आचरणोंका संग करता है, और अनुयायी वह है जो उनके कहे अनुसार चलता है। ये दोनों बातें वस्तुतः होनेपर भी आचरणोंमें सुधार न हो तो समझो कि महात्माके महात्मापनमें ही कुछ कमी है।

परन्तु इसमें भ्रम रह जाता है। बहुत लोग अपनेको संगी और अनुयायी तो मान लेते हैं परन्तु महात्माकी आज्ञाका पालन तथा उनके शुद्ध आचरणोंका अनुगमन नहीं करना चाहते। ऐसे सिर्फ बातोंके संगी और अनुयायी तो वञ्चित ही रहते हैं।

बने हुए महात्माओंकी भी कमी नहीं है। महात्मा वही हैं जो भगवान्‌से नित्य युक्त हैं। जिनके अहंकार, ममत्व, आसक्ति और आकांक्षा सब कुछ भगवान्‌के अर्पण हो चुके हैं। जो समता, शान्ति, सन्तुष्टि, तृप्ति, अहिंसा, उदारता, सरलता, गम्भीरता, क्षमा, सहिष्णुता, सत्य और संयमके मूर्तिमान् स्वरूप होते हैं। जिनका हृदय विषाद, शोक, भय, उद्वेग, चाञ्चल्य, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, दर्प, अभिमान, दम्भ, मोह आदि दोषोंसे सर्वथा रहित होता है। जो हर्ष-विषाद, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति, मित्र-शत्रु और प्रिय-अप्रियकी सीमाको लाँघे हुए रहते हैं, जिनका कहलानेवाला तन, मन, धन सब कुछ पर-हितमें लगा रहता है, जो सम्पूर्ण 'पर' को 'स्व' में विलीनकर उस 'स्व' को भी परमात्मामें विलीन कर चुकते हैं।

सच बात तो यह है कि ऐसे महात्माका संग तो दूर रहा, श्रद्धायुक्त चित्तसे उनके स्पर्श, दर्शन, चिन्तन, गुणकीर्तन, नाम या गुण-श्रवणसे ही अन्तःकरण पवित्र हो जाता है। उनकी चरण-धूलिके स्पर्शसे ही चित्तका मल नष्ट हो जाता है। अतएव

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

महात्मा पुरुषोंमें सच्ची श्रद्धा करो, उनका यथार्थ संग करो, उनके सच्चे अनुयायी बनो। फिर तुम भी यथार्थ महात्मा बन जाओगे।

परन्तु महात्मा कहलानेकी अभिलाषा कभी न करो; महात्माके चरणोंका अनुसरण करो, महात्माओं-के योग्य आचरण करो, महात्मा बनो; यह आकांक्षा कदापि मनमें न उदय होने दो कि लोग मुझे महात्मा जानें या मानें। लोगोंके जानने या माननेका कुछ भी मूल्य नहीं है। असली मूल्य तुम्हारे उत्तम आच-रणोंका है, तुम्हारी श्रेष्ठ स्थितिका है।

तुम्हारे अन्दर दोष हैं तो उन्हें छिपानेका प्रयत्न न करो, प्रकट होते हैं तो हो जाने दो। हाँ, सद्-गुणोंको छिपानेका जरूर जतन करो, उनके प्रकट होनेमें सकुचाओ। अपने मुँहसे अपने गुणोंको बखान करनेको तो मरणके समान ही समझो।

दूसरेके द्वारा भी अपनी तारीफ सुननेकी इच्छा न करो, उसको विषभरी मिठाई समझो। मनुष्यको बड़ाई बहुत प्यारी लगती है, परन्तु जहाँ वह बड़ाई-के चक्करमें पड़ जाता है, वहाँ फिर चौरासीके चक्रसे छूटनेकी आशा चली जाती है। बड़ाई सुननेवाला सदा बड़ाई सुननेका ही अभ्यासी हो जाता है, वह अपनी सच्ची आलोचना भी बरदाश्त नहीं कर सकता। परिणाममें उसे बड़ाईके लिये ही जीवन लगा देना पड़ता है। संसारमें बड़ाई प्रायः उसीकी होती है जो संसारके काँटेपर भारी उतरता है। संसारी काँटे-के बाट आजकल अधिकांशमें वही हैं जिनसे मनुष्य केवल प्रकृतिका ही उपासक बनता है। चेतनसे जड होना चाहता है। सुनो तो साहस करके निन्दा सुनो, निन्दासे घबराओ नहीं। अवश्य ही शास्त्र और आत्माकी ध्वनिके विपरीत कोई निन्दनीय काम तुम कभी न करो। महात्मा पुरुष तो निन्दा-स्तुतिके परे होते हैं, वे समबुद्धि होते हैं। परन्तु महात्माओंका पदानुसरण करनेवालोंको पहले निन्दासे प्रेम और स्तुतिसे भय करना पड़ता है। तभी वे आगे चलकर महात्माका पद प्राप्त कर सकते हैं।

परन्तु निन्दाके योग्य पापकर्म कभी न करो, पापकर्म करनेवाला महात्मा नहीं बन सकता। सत्कर्म करो। महात्मा पुरुषोंको खोजकर उनकी आज्ञानुसार चलो! महात्मा न मिलें तो कम-से-कम उन लोगोंसे तो सदा बचते रहो जो पर-स्त्री, पराये धन और पर-निन्दाके प्रेमी हैं। उन लोगोंका संग भी यथा-साध्य छोड़ दो जो विषयी हैं, विलासी हैं, भगवान्‌का भजन छोड़कर जगत्‌की चर्चामें लगे रहते हैं, तर्क और वाद-विवादमें समय बिताते हैं, इन्द्रियोंको तथा शरीरको सुख पहुँचानेके लिये सदा जतन करते रहते हैं, स्वादिष्ट भोजनके लिये लालायित रहते हैं, और मान-सम्मान चाहते हैं।

परन्तु किसीमें दोषारोपण न करो, न अपनेको शुद्धाचारी या त्यागी मानकर अभिमान करो, न किसी-से द्वेष करो। जहाँतक हो अपना समय भजनमें, सत्पुरुषोंकी संगतिमें, भगवान्‌की ओर लगानेवाले ग्रन्थोंके अध्ययनमें, सदाचारी साधु महात्माओंके जीवन-का अनुसरण करनेमें, अभिमान छोड़कर सच्चे भावसे गरीबोंकी सेवा करनेमें और अहङ्कारसे बचकर अपने वर्णाश्रमधर्मके पालनमें लगाओ।

सावधानीके साथ, स्त्रीचर्चा, धनचर्चा और मानचर्चासे बचे रहो। कम बोलो, सत्य बोलो, नम्रतासे बोलो और हितकारी वचन बोलो। ऐसा कोई काम न करो, ऐसी कोई बात किसीसे न कहो, जिसके कारण तुम्हें आगे चलकर झूठ बोलनेकी जरूरत दिखायी दे। बिना समझे ऐसी कोई बात मुँहसे मत निकालो जिसके कारण तुम्हें नीचा देखना

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पड़े। याद रक्खो जो दूसरोंको नीचा दिखाना चाहता है, उसे कभी-न-कभी नीचा देखना ही पड़ता है।

सबका सम्मान करो, सबके साथ प्रेम और नम्रतासे व्यवहार करो, अपना दुःख सुनानेकी इच्छा कम रक्खो, दूसरेका दुःख सुनो और तुम्हारा दुःख बढ़नेसे यदि उसका दुःख मिट सकता हो, तो साहस करके उसका दुःख मिटानेकी चेष्टा करो। भगवान् सत्य हैं, सर्वसाक्षी हैं, तुम्हारा दुःख एक बार बढ़ता हुआ चाहे दिखायी देगा, परन्तु परिणाममें तुम्हें बड़ा सुख मिलेगा। ऐसे आचरणोंसे सचमुच तुम महात्मा बन जाओगे।

'शिव'

कल्याणप्राप्तिकी कई युक्तियाँ

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके व्याख्यानका एक अंश)

सभी कार्योंमें स्वार्थत्याग प्रधान है। किसी भी वैधकार्यमें स्वार्थका त्याग होनेसे नीच-से-नीच प्राणीका भी कल्याण हो जाता है।

उतने ही भोगोंका ग्रहण किया जाय जितने शरीरनिर्वाहके लिये आवश्यक हैं। यदि यह न हो सके तो भोगोंमें आसक्तिका त्याग कर देनेसे भी कल्याण हो जाता है।

जो कुछ भी कार्य करे उसमें अहंकारका त्याग कर दे। किसी भी उत्तम कार्यमें अहंकारको पास न आने दे।

घरमें भगवान्‌की मूर्ति रखकर भक्तिभावसे उसकी आरती, स्तुति एवं प्रार्थना करनेसे भी कल्याण हो जाता है।

प्रतिदिन नियमपूर्वक एकान्तमें बैठकर मनसे सम्पूर्ण संसारको भूल जावे। इस प्रकार संसारको भुला देनेसे केवल एक चैतन्य आत्मा शेष रह जायगा। तब उस चैतन्य-स्वरूपका ध्यान करे। ध्यान करनेसे समाधि हो जाती है और मुक्ति हो जाती है।

यह नियम ले ले कि शरीरसे वही कार्य निष्कामभावके साथ किया जायगा कि जिससे दूसरेका उपकार हो। इसके समान कोई भी धर्म नहीं है। भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने कहा है—

परहित सरिस धरम नहिं भाई। पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

इस नियमको धारण कर लेनेसे भी संसारसे मुक्ति हो जाती है।

यदि इन्द्रियाँ और मन वशमें हों तो भगवान्‌का ध्यान ही सबसे बढ़कर कल्याणका साधन है। यदि मन, इन्द्रियाँ वशमें न हों तो ऐसी अवस्थामें बिना किसी कामनाके केवल आत्माके कल्याणके लिये व्रत एवं उपवास आदिका साधन करना चाहिये। परमात्माकी प्राप्तिके अतिरिक्त उनसे और कुछ भी कामना नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार साधन करनेसे भगवान्‌की प्राप्ति होती है। सारांश यह है कि यदि मन एवं इन्द्रियाँ वशमें हों तब तो योगका साधन करे। नहीं तो बिना किसी कामनाके केवल भगवान्‌की प्राप्तिके लिये ही तप एवं उपवास आदिका साधन करे। लेकिन इन सबसे भी सुगम उपाय तो भक्ति ही है।

उठते, बैठते, चलते हर समय नामहीका जप किया जाय। नामको कभी भी न भूले, यह भगवत्प्राप्तिका बहुत सुगम उपाय है। कहा भी है—

कलिजुग केवल नाम अधारा। सुमिरि सुमिरि नर उतरहिं पारा॥

कलियुगमें केवल नामहीका आधार है।

सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू॥

भगवान्‌के पवित्र नामका स्मरण करनेसे ही भगवान् श्रीहनूमान्‌जीके वशमें हो गये।

अपर अजामिल गज गनिकाऊ। भए मुकुत हरि नाम प्रभाऊ॥

इसी प्रकार अजामिल, गजराज और गणिका आदि अनेकोंका नामके प्रभावसे उद्धार हो गया।

एक ऐसा साधन भी है कि जिससे हर समय आनन्द रहता है और जिसमें परिश्रम भी नहीं करना पड़ता। वह है

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आनन्दमयका अभ्यास 'आनन्दमयोऽभ्यासात्'। आनन्द परमात्माका स्वरूप है। चारों तरफ बाहर-भीतर आनन्द-ही-आनन्द भरा हुआ है, सारे संसारमें आनन्द छाया हुआ है। यदि ऐसा दिखलायी न दे तो वाणीसे केवल कहते रहो और मनसे मानते रहो। जलमें डूब जाने, गोता खा जानेके समान निरन्तर आनन्दहीमें डूबा रहे और गोता लगाता रहे। रात-दिन आनन्दमें मग्न रहे। किसीकी मृत्यु हो जाय, घरमें आग लग जाय, अथवा और भी कोई अनिष्ट कार्य हो जाय तो भी आनन्द ही आनन्द, कुछ भी हो केवल आनन्द ही आनन्द। इस प्रकारका अभ्यास करनेसे सम्पूर्ण दुःख एवं क्लेश नष्ट हो जाते हैं। वाणीसे उच्चारण करे तो केवल आनन्दहीका, मनसे मनन करे तो आनन्दहीका तथा बुद्धिसे विचार करे तो आनन्दहीका परन्तु यदि ऐसी प्रतीति न हो तो कल्पित-रूपसे ही आनन्द अनुभव करे। इसका भी फल बहुत अच्छा होता है। ऐसा करते-करते आगे चलकर भगवान्‌की प्राप्ति हो जाती है। इस साधनको सब कर सकते हैं। पुराने जमानेमें मुसलमानोंके राज्यमें हिन्दुओंसे कहा गया कि तुम मुसलमान मत बनो, हिन्दू ही रहो एवं हिन्दूधर्मका ही पालन करो, केवल मुसलमानोंमें अपना नाम लिखा दो। कोई पूछे तो कहो कि हम मुसलमान हैं। इसमें तुम्हारा क्या बिगड़ता है। उन्होंने यह बात स्वीकार कर ली। आगे चलकर उनकी सन्तानसे काजियोंने कहा कि तुम तो मुसलमान हो इसलिये मुसलमानोंके धर्मका पालन करो। अन्तमें यहाँ तक हुआ कि वे लोग कट्टर मुसलमान बन गये। इसी प्रकार हमलोगोंको भी यह निश्चय कर लेना चाहिये कि हम सब एक आनन्द ही हैं। ऐसा निश्चय कर लेनेसे आनन्द ही आनन्द हो जायगा।

भगवान्‌की मूर्ति या तसवीरको सामने रखकर तथा आँखें खोलकर उनके नेत्रोंसे अपने नेत्र मिलावे। त्राटककी भाँति आँख खोलकर उसमें ध्यान लगा दे। ध्यानके समय यह विश्वास रक्खे कि इसमें भगवान् प्रकट होंगे। विश्वासपूर्वक ऐसा ध्यान करनेपर इससे भी भगवान् मिल जाते हैं। यह भगवत्प्राप्तिका सुगम साधन है।

वृक्ष, पत्थर, मनुष्य, पशु, पक्षी इत्यादि संसारकी जो भी वस्तुएँ दिखलायी दें उन सबमें यह भाव करे कि भगवान्‌ने ही ये सब रूप धारण कर रक्खे हैं। मनसे कहे, जहाँ तुम्हारी इच्छा हो वहीं जाओ, सब रूप तो भगवान्‌ने ही धारण कर रक्खे हैं। जो भी वस्तुएँ दिखलायी देती हैं वे सब परमात्मा नारायणका ही रूप हैं। सारे संसारमें सबको भगवान्‌का रूप समझकर मन-ही-मन भगवद्बुद्धिसे सबको प्रणाम करे। एक परमात्माने ही अनन्त रूप धारण कर लिये हैं इस प्रकारके अभ्याससे भी कल्याण हो जाता है। इस प्रकार शास्त्रोंमें हजारों उपाय बतलाये गये हैं। जिसको जो सुगम मालूम पड़े उसको उसीका साधन करना चाहिये। एकके साधनसे ही कल्याण हो जाता है। जब सब कुछ एक परमात्माका ही है तो सबमें समबुद्धि हो जायगी, इस एक ही बातसे उद्धार हो जावेगा।

वृत्तियाँ दो हैं—अनुकूल और प्रतिकूल। जो मनको अच्छी लगे वह अनुकूल एवं जो मनके विरुद्ध हो वह प्रतिकूल कही जाती है। कोई भी काम जो मनके अनुकूल होता है उसमें स्वाभाविक ही प्रसन्नता होती है और जो मनके प्रतिकूल होता है उसमें दुःख होता है। उस दुःखको भगवान्‌का भेजा हुआ पुरस्कार समझकर उसमेंसे प्रतिकूलताको निकाल दे और यह विचार करे कि जो कुछ भी होता है भगवान्‌की इच्छासे होता है। भगवान्‌की इच्छाके बिना पेड़का एक पत्ता तक नहीं हिल सकता। जो कुछ भी होता है सब भगवान्‌की इच्छासे होता है। हमलोग अनुकूलमें तो प्रसन्न होते हैं और प्रतिकूलमें द्वेष करते हैं। भला इस प्रकार कहीं भगवान् मिल सकते हैं? भगवान्‌की प्रसन्नतामें ही प्रसन्नताका निश्चय करना चाहिये। जो बात मनके अनुकूल होती है उसमें तो ऐसा निश्चय करनेमें कोई कठिनाई है ही नहीं, लेकिन जो मनके प्रतिकूल हो उसको अनुकूल बना लेना चाहिये। स्मरण रखना चाहिये कि भगवान्‌के प्रतिकूल तो वह है नहीं, उनके प्रतिकूल होता तो होता ही कैसे? इस एक ही साधनसे उद्धार हो जायगा। सदाके लिये आनन्द ही आनन्द हो जायगा।

यदि उपर्युक्त बात समझमें न आवे तो सत्यका पालन करे। वाणीसे सत्य बोले, व्यवहार सत्य करे, सत्य आचरण करे। इससे कल्याण हो जाता है।

सत्य बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदै साँच है ताके हिरदै आप॥

यह साधन यद्यपि कठिन है लेकिन निश्चय रक्खे, इससे परमात्माकी प्राप्ति अवश्य होगी।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सब संसारके जितने पदार्थ जिस रूपमें दिखलायी देते हैं वे सब सचमुच नाशवान् हैं। वे जैसे हैं हमारी आँखोंके सामने हैं। उन सब पदार्थोंमें समबुद्धि कर ले। उनमेंसे भेद-भाव उठा दे। किसी भी वस्तुमें भेद न रक्खे। संसारको ईश्वर न मान सके तो उसमेंसे भेदभाव उठा दे। जैसे शरीरमें अपनापन है, भेद नहीं, अङ्गोंमें अन्तर नहीं, इसी तरह एक दूसरेसे भेद न रक्खे। सबमें समता कर ल, भेद-बुद्धि उठा दे। इस भेदबुद्धिके उठानेसे ही कल्याण हो जायगा। यदि भगवान् याद न आवें तो यह साधन करे।

यह भी न हो तो गङ्गाजीके प्रवाहका, हवा, पशु, पक्षी आदिका जो भी शब्द सुनायी दे उसमें शब्द भगवान् है ऐसी भावना करे। यह कल्याण-प्राप्तिका सीधा साधन है। किसी प्रकारका भी शब्द सुनायी दे वह शब्द भगवान् है 'नादं ब्रह्म' शब्दको ही ब्रह्म समझे। जो कुछ भी सुनायी दे वह भगवान् है। चाहे कोई गाली दे चाहे आशीर्वाद दे दोनोंको ही भगवान् समझे। किन्तु गाली सुनकर हमें दुःख होता है तो फिर हमने शब्दको भगवान् कहाँ समझा। भगवान् समझनेपर तो आनन्द ही आनन्द होगा। भगवान्के दर्शनोंसे जो आनन्द हो, गाली सुननेसे भी उसी आनन्दका अनुभव करे। कोई हमें गाली देता है या कोई हमारी स्तुति करता है इस बातपर ध्यान ही क्यों दें। इस एक ही बातसे कल्याण हो जाता है।

यदि यह भी न हो सके तो भगवान्का ध्यान करे। एकान्तमें आँखें मीचकर बैठ जावे। मन जहाँ जाता है और जो कुछ देखता है सब भगवान् है ऐसी भावना करे। मन ही मेरा मित्र है यही मेरा कल्याण करेगा। यह निश्चय कर ले कि मेरा मन भगवान्के सिवा और किसी भी वस्तु-का चिन्तन ही नहीं करता है। मन घड़ी, लोटा आदि जिस किसी भी पदार्थका चिन्तन करे उसीको भगवान् समझ ले, उसमें भगवद्बुद्धि कर ले। यह विश्वास कर ले कि जो कुछ मन चिन्तन करता है वह भगवान् है। भगवान्का स्वरूप वही है जो मन चिन्तन करता है। यदि कहो कि मन कुछ भी चिन्तन नहीं करता तो जो कुछ भी चिन्तन न करे वही भगवान्का स्वरूप है। चाहे वह स्त्री, पुत्र, धन आदिका ही चिन्तन करे, उनको स्त्री, पुत्र एवं धन मत समझे किन्तु भगवान् समझे। पत्थर तथा वृक्ष जिस किसीका भी चिन्तन करे सब भगवान् है। जैसा दीखे वैसा ही भगवान्का स्वरूप मान ले। यह कल्याणप्राप्तिका सीधा रास्ता है। ऊपर जितनी बातें बतलायी हैं उनमेंसे एक-एकके पालनसे कल्याण हो सकता है। हाँ, यह बात जरूर है कि किसी साधनमें समय अधिक लगता है और किसीमें कम। लेकिन कल्याण सबसे होता है।

स्वप्नमें जो संसार दीखता है, आँखें खोलनेसे जागनेपर वह नहीं दीखता। इसी तरह यह विश्वास कर ले कि मैं स्वप्नमें हूँ, मुझे जो कुछ भी प्रतीत होता है वह सब स्वप्न है। जब स्वप्न समाप्त हो जायगा तब अपने-आप ही असली सत्य वस्तु दीखने लगेगी। यह विश्वास कर ले कि जो दीखती है वह सच्ची वस्तु नहीं है, यह स्वप्नवत् है। जो भासती है वह है नहीं। स्वप्न मिटनेवाला जरूर है। आँख खुलते ही मिट जायगा। इसपर यदि यह कहा जाय कि आजतक आँख क्यों नहीं खुली? तो इसका उत्तर यह है कि आजतक संसारके स्वप्नवत् होनेका निश्चय ही कब किया था? आत्माका सङ्कल्प सत्य है। इसलिये यह निश्चय करो कि यह संसार स्वप्न है। चाहे वह सत्य ही क्यों न दिखायी दे उसे स्वप्नवत् मानते रहो। यह कैसे भी दिखायी दे लेकिन इसे स्वप्नवत् मानते रहे। मानते-मानते एक दिन स्वप्नका नाश हो जायगा और सत्य वस्तु प्राप्त हो जायगी।

यह हर समय याद नहीं रहता है तो क्या याद रहता है? स्त्री, पुत्र, धन आदि प्रिय वस्तुएँ याद रहती हैं। इनमें खोजो सबसे बढ़कर प्यारी चीज क्या है? प्राण ही सबसे बढ़कर प्यारे हैं। प्राणके समान प्यारा कुछ भी नहीं है, तब यह विश्वास करो कि प्राण ही ब्रह्म है। प्रियसे प्रिय वस्तु तो याद रहेगी ही। प्राण तो जीवन है। प्राणोंमें ब्रह्मकी भावना करे। प्राणोंद्वारा निकलनेवाले शब्दमें ब्रह्मके नामकी भावना करे। आने-जानेवाले श्वासकी तरफ लक्ष्य रक्खे। बस इतनेमें ही उद्धार है। श्वास तो अन्ततक आता ही है। यदि इस तरह अभ्यास किया जायगा तो अन्त समयमें उद्धार हो जायगा। प्राणको ब्रह्म मान ले। उसमें होनेवाले शब्दको नाम मान ले तो भी उद्धार हो जाता है। प्राणोंसे सोऽहं सोऽहं शब्दका उच्चारण होता रहता है। यह भी परमात्माका नाम है। प्राण ही ब्रह्म है ऐसा निश्चय करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। अब जिसको जो

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उपाय सुगम एवं प्यारा मालूम हो वह उसीका साधन करे।

सबसे अधिक प्रकाश भगवान्‌का है। अधिक प्रकाश ही भगवान् है। हमलोगोंके सामने सूर्यका प्रकाश ही सबसे अधिक है। इसलिये सूर्यको भगवान्‌का साक्षात् प्रकाश मानकर उसकी उपासना करे। यदि यह कहा जाय कि सूर्य तो हर समय दिखलायी नहीं देता तो उसके लिये दूसरा उपाय यह है कि आकाशका तो हरसमय दर्शन होता रहता है, इस आकाशको ही भगवान् मान लो। इसमें एक बात और जोड़ दो कि शरीरमें स्थित आत्माको जाननेवाला चेतन है वह आकाशके सदृश है और उसमें ज्ञान है। इतना माननेसे कल्याण हो जाता है। यदि यह न भी माना जाय तो कोई बात नहीं, केवल आकाशको ही मानो। शेष सब भगवान्‌के जिम्मे है। वे इस प्रकारकी बुद्धि देते हैं कि जिससे ऐसा अनुभव होने लगता है। यह मान लो कि आकाश ही भगवान् है। भगवान् जब दर्शन देंगे तब उसमें चेतनता आप ही आ जायगी। इस प्रकार समझकर आकाशमें भगवान्‌के निराकाररूपका ध्यान करे।

इस प्रकार कल्याणकी प्राप्तिके और भी सैकड़ों उपाय हैं परन्तु कुछ-न-कुछ करना होगा। कोई साधन किये बिना, कुछ परिश्रम किये बिना कल्याण नहीं हो सकता। ये सब साधन गीता, वेद, तथा श्रुतिमें बतलाये गये हैं। सबके लिये प्रमाण हैं। श्रेयार्थियोंको इनमेंसे कोई-सा भी एक साधन, जो उन्हें पसंद हो, करना चाहिये। ये ही साधन अगर स्वार्थके लिये किये जावेंगे तो उनसे स्वार्थ-सिद्धि होगी। भगवान् नहीं मिलेंगे। उसका फल सांसारिक आराम होगा। यदि उसकी इच्छा हो तो वह करें और यदि सच्चे आनन्दकी इच्छा हो तो स्वार्थको छोड़कर प्रभुकी मूर्ति-पूजाकी, नामजपकी, आनन्दके ध्यानकी युक्तियोंसे साधन करें। ये साधन सबसे उत्तम और सुगम हैं।

पञ्चसकार

[गतांकसे आगे]

सेवा

सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूपरासि भगवंत॥

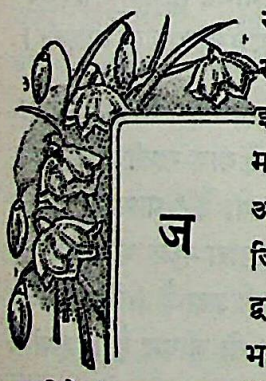

जगत्‌के सभी चराचर जीव भगवान्‌के स्वरूप हैं और मैं सबका सेवक हूँ। इस पवित्र और सत्य भावसे मनुष्य मात्रको भगवान्‌की सेवा करनेका अधिकार और सौभाग्य प्राप्त है। जिसके पास जो साधन है उसीके द्वारा उसको हर समय सर्वव्यापी भगवान्‌की यथायोग्य सेवा करनी चाहिये। यह बात नहीं कि सेवा केवल धन या तनसे ही होती है, सेवा करनेके लिये सेवाभावसे भरा हुआ मन चाहिये। फिर मनुष्य अपने-अपने स्वकर्मरूपी सामग्रीसे ही भगवान्‌की सेवा कर सकता है। किसी भी मनुष्यको यह नहीं मानना चाहिये कि मुझमें सेवा करनेकी शक्ति या योग्यता नहीं है, जब जड वृक्ष और ज्ञानहीन पशु भी अपने शरीरके द्वारा जगत्‌की सेवा करते हैं तब चेतन और विवेकसम्पन्न मनुष्य सेवा करे इसमें आश्चर्य ही क्या है। सेवाका भाव होना चाहिये। पुत्र माता-पितारूपी भगवान्‌की, माता-पिता पुत्ररूपी भगवान्‌की, शिष्य गुरुरूपी भगवान्‌की, गुरु शिष्यरूपी भगवान्‌की, पत्नी पतिरूपी भगवान्‌की, पति पत्नीरूपी भगवान्‌की, प्रजा राजारूपी भगवान्‌की, राजा प्रजारूपी भगवान्‌की, हाकिम न्यायप्रार्थीरूपी भगवान्‌की, दूकानदार ग्राहकरूपी भगवान्‌की, डाक्टर रोगीरूपी भगवान्‌की, वकील मवक्किलरूपी भगवान्‌की, नौकर मालिकरूपी भगवान्‌की, मालिक नौकररूपी भगवान्‌की—सभी लोग अपने-अपने निःस्वार्थविहित कर्मोंद्वारा सब समय सर्वत्र सब प्रकारसे भगवान्‌की सेवा कर सकते हैं।

सच्चे सेवकके हृदयमें केवल एक ही भावना काम करती है कि मैं जिस किसी भी प्रकारसे अधिक-से-अधिक और उपयोगी सेवा कर सकूँ। उसको सेवा करनेमें ऐसा विलक्षण सन्तोष और महान् सुख मिलता है कि वह सेवाको छोड़कर अन्य किसी भी वस्तुकी इच्छा नहीं करता। इच्छा तो दूर रही, अनिच्छासे अनायास मिलनेपर भी ग्रहण नहीं करता। सांसारिक विनाशी वस्तुओंकी तो उसकी नजरमें मूल्य ही क्या रह जाता है, जिस दुर्लभ मुक्तिके लिये बड़े-बड़े त्यागी तपस्वी सदा लालायित रहते हैं और जन्मजन्मान्तरतक कठोर साधन किया करते हैं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उस योगियोंके परम ध्येय मोक्षको भी वह भक्त-सेवक भगवत्-सेवाके सामने तुच्छ समझता है और लापरवाहीके साथ उसका तिरस्कार कर देता है। श्रीभगवान् कपिल कहते हैं—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥
(श्रीमद्भा० ३ । २९ । १३)

मैं अपने उन सेवकोंको सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्वरूप मुक्ति देना चाहता हूँ परन्तु वे मेरे सेवक मेरी सेवाको छोड़कर उनको लेना ही नहीं चाहते।

उनके मनमें यही भावना उठती है कि अवश्य ही हमारी सेवामें कोई खास त्रुटि है, हम सेवाका कोई बदला चाहते हैं, या सेवासे घबराते हैं। तभी तो भगवान् हमें ऐश्वर्यमयी और कैवल्यमयी मुक्ति देना चाहते हैं। यदि हमारे मनमें ऐसी कोई बात छिपी नहीं होती तो भगवान् क्यों मुक्ति देना चाहते ? ऐसी अवस्थामें भक्त सेवक और भी सकुचाता है और उसकी वह सकुचाहटरूपी अग्नि उसके सेवारूपी स्वर्णको और भी विशेष उज्ज्वल, शुद्धतर और मूल्यवान् बना देती है। यह बात ध्यानमें रहनी चाहिये कि ज्यों-ज्यों सेवासे मिलनेवाले फलोंको सेवक त्याग करता है त्यों-ही-त्यों उसकी सेवा अधिकाधिक कान्तिमयी होती जाती है। त्याग ही सेवाका जीवनाधार है। जिस सेवामें त्याग नहीं होता, वह सेवाका जीवन शून्य कंकाल है, सेवा नहीं। भगवान् श्रीनृसिंहदेवने जब प्रह्लादसे वर माँगनेको कहा तब प्रह्लादजी बोले—

मा मां प्रलोभयोत्पत्त्यासक्तं कामेषु तैर्वरैः ।
तत्सङ्गभीतो निर्विण्णो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रितः ॥
भृत्यलक्षणजिज्ञासुर्भक्तं कामेष्वचोदयत् ।
भवान् संसारबीजेषु हृदयग्रन्थिषु प्रभो ॥
नान्यथा तेऽखिलगुरो घटेत करुणात्मनः ।
यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥
(श्रीमद्भागवत ७ । १० । २—४)

'हे भगवन्! मैं तो स्वभावसे ही विषयोंमें आसक्त हूँ, मुझे वरदानकी बात कहकर न ललचाइये! विषयोंके सङ्गसे डरकर और उनसे घबराकर मैं समस्त बन्धनोंसे मुक्त होनेके लिये आपकी शरण आया हूँ। हे प्रभो! हृदयकी अज्ञानग्रन्थिके समान बन्धनके कारण और संसारके बीजरूप विषयोंकी ओर सेवकको लगानेकी बात (वरदान माँगनेके बहाने) आपने केवल इस दासकी इस परीक्षाके लिये ही कही है कि देखें इसमें सेवकके लक्षण हैं या नहीं। नहीं तो हे जगद्गुरु! आप इतने दयालु होकर मुझको ऐसी प्रेरणा क्यों करते? परन्तु हे नाथ! जो सेवक (सेवाके बदलेमें) आपसे कुछ पानेकी आशा रखता है वह सेवक नहीं है, वह तो लेन-देन करनेवाला बनिया है।'

आगे चलकर प्रह्लादजीने कहा कि—

यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥
(श्रीमद्भा० ७ । १० । ७)

'हे वर देनेवालोंमें श्रेष्ठ! आप मुझे मेरा मनमाना वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि अबसे मेरे मनमें कामनाका कभी कोई अङ्कुर ही उत्पन्न न हो।'

भगवान्को भी ऐसे सर्वथा निष्काम सेवकोंके वशमें होना पड़ता है। इसी भक्तवश्यताके कारण—सेवककी वाणीको सत्य करनेकी इच्छासे भगवान्को खंभा फाड़कर उसमेंसे प्रकट होना पड़ा।

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः ।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम् ॥
(श्रीमद्भागवत ७ । ८ । १८)

भगवान् सर्वत्र व्याप्त हैं, इस स्तम्भमें भी व्याप्त हैं। अपने दासकी कही हुई इस बातको प्रत्यक्ष सत्य कर दिखानेके लिये भगवान् श्रीहरि हिरण्यकशिपुकी सभामें खंभेसे ऐसे अद्भुतरूपमें प्रकट हुए जो न पूरे मनुष्यके आकारका था और न सिंहके आकारका! अर्थात् नृसिंहरूपसे प्रकट हुए। गोपियोंके घरोंमें आप नाचते फिरे और उनके शुद्ध मनोरथ-के अनुसार उन्हें सुख पहुँचानेके लिये छिप-छिपकर माखन खानेकी आनन्दभरी लीलाएँ आपने कीं, और बतलाया अपनेको उनका कर्जदार। आप फर्माते हैं—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः ।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥
(श्रीमद्भा० १० । ३२ । २२)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हे प्रियाओ ! तुमने जो बड़ी कठिनतासे टूटनेवाली गृहकी बेड़ियोंको तोड़कर मेरी जो निर्दोषरूपसे सेवा की है, तुम्हारे इस सदाचरणका बदला मैं देवताओंकी दीर्घ आयुमें भी नहीं चुका सकता। तुम ही अपनी उदारतासे मुझे ऋणमुक्त कर सकती हो।

भगवान् श्रीरामजी आँखोंमें प्रेमके आँसू भरकर गद्‌गद वाणीसे सेवकशिरोमणि हनूमान्‌जीके प्रति कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी॥
प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। करि बिचार देखेउँ मन माहीं॥

श्रीभरतजीकी सेवाका तो इतना महत्त्व है कि भरद्वाज-सरीखे ऋषि भगवान्‌के दर्शनका फल श्रीभरतजीका दर्शन होना मानते हैं, और भगवान्‌के चित्तसे तो भरतकी स्मृति कभी हटती ही नहीं। सारा जगत् भगवान्‌का स्मरण करता है और भगवान् स्वयं श्रीभरतजीका !

भरत सरिस को राम सनेही। जग जपु राम राम जपु जेही॥

यह भगवान्‌की निष्काम और अनन्य सेवाकी महिमा है। परन्तु भक्त-सेवक इस महत्त्वसे प्रभावित होकर इस इच्छासे भगवान्‌की सेवा नहीं करता कि भगवान् मेरे कर्ज़दार बनें और मेरा स्मरण करें। उसका तो स्वभाव ही भगवान्‌की सेवा करनेका होता है। सेवाके बिना उससे रहा नहीं जाता। वह सेवाके लिये ही सेवा करता है, और सदा अपनी सेवामें त्रुटियाँ देखता हुआ सेवाको उत्तरोत्तर त्रुटिरहित, सर्वांगपूर्ण बनानेकी चेष्टा किया करता है। परन्तु उसकी यह चेष्टा कभी सफल होती ही नहीं, क्योंकि उसकी यह धारणा अटल रहती है कि मैं सेवा करनेके लिये सर्वथा अयोग्य हूँ। यह तो दयामय भगवान्‌की कृपा है जो मुझ-जैसे ढीठ, आलसी, सेवाविमुख, प्रतिकूल आचरण करनेवाले, अभिमानी, सेवाको भार समझनेवाले, नीच स्वार्थसे युक्त और अयोग्यताओंसे भरे हुए प्राणीको अपनी सेवाका सुअवसर देकर धन्य करते हैं, और मेरी सेवाभावसे शून्य अयुक्त चेष्टाओंको सेवा मान लेते हैं। वह चाहता है कि मैं भगवान्‌की सेवा करने लायक नहीं हूँ, मैं तो उनकी सेवक-मण्डलीका कलंक हूँ, इसलिये भगवान् मुझे सेवासे अलग कर दें तो ही भगवान्‌की शोभा है। परन्तु भगवान् उसे कभी अलग करते ही नहीं, क्योंकि वास्तवमें वह अलग होना चाहता नहीं। उसकी चाह क्या है, इस बातको भगवान् जानते हैं। इसलिये वह संकोचमें ही डूबा रहता है, और भगवान्‌की सेवक-वत्सलता, उनके स्नेह और प्रेमपर क्षण-क्षणमें मुग्ध होता हुआ, आनन्दके आँसू बहाता हुआ नित-नये उत्साह और उमंग के साथ भगवान्‌की सेवामें लगा रहता है। परन्तु अपनी अयोग्यताका खयाल करके वह चाहता है कि भगवान् मेरी चेष्टाओंको न जान पावें तो ही अच्छा है। इसलिये वह यथासाध्य बहुत छिप-छिपकर सेवा करता है। वह अपनेको सेवकरूपसे प्रकट करनेमें शरमाता है, इसलिये बड़े जतनसे छिपाता है। उसे यह डर भी रहता है कि अकारण ही कृपा करनेवाले दीनवत्सल भगवान् कदाचित् यह जान लेंगे कि यह कुछ करता है तो अपने स्वभाववश उसे बहुत बड़ी सेवा मानकर मुझे सम्मान देने लगेंगे और यदि मैं उस सम्मानको ग्रहण कर लूँगा तो सेवासुखसे वंचित हो जाऊँगा। वे मुझे कोई वस्तु देना चाहेंगे, और यदि मैं उसे ले लूँगा तो सेवामें तो कलंक लगेगा ही, मेरी लोभ वृत्ति जाग उठेगी, और मुझे सेवाके क्षेत्रसे हटाकर विषयों का दास बना देगी।

अन्तर्यामी भगवान् भी ऐसे संकोची भक्तका संकोच बनाये रखनेकी लीला करके ही सुख मानते हैं, क्योंकि सेवककी रुचि रखना ही उनका स्वभाव है। 'राम राख सेवक-रुचि राखी।' परन्तु ऐसे संकोची सेवककी सेवासे तृप्त होकर कभी-कभी स्वयं बड़े संकोचमें पड़ जाते हैं। विचारते हैं इसे क्या दिया जाय। जब वह कुछ भी नहीं स्वीकार करता, तब उसे अपनी दुर्लभ प्रेमा-भक्ति देते हैं, और उसके वशमें होकर स्वयं उसके हाथकी कठपुतली बनकर नाचना चाहते हैं परन्तु वह हठीला सेवक भगवान्‌की इस इच्छा को भी प्रायः पूरी नहीं होने देता। अस्तु। यह तो सेवक का और सेवाका महत्त्व हुआ। अब सेवाके स्वरूपपर कुछ और विचार करना है।

सेवा करनेकी इच्छा सबमें होनी चाहिये। और प्रत्येक सेवा करनेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषको यह चाहिये कि वह स्वार्थसे सर्वथा अलग रहे। सेवाको ही परम स्वार्थ समझे। अन्य किसी प्रकारका भी स्वार्थ सेवामें कलंक है। स्वार्थी मनुष्य यथार्थ सेवा कभी नहीं कर सकता। वह जहाँ अपने स्वार्थकी सिद्धि होते देखता है, वहीं सेवा का स्वाँग करता है, और वह भी तभीतक जबतक स्वार्थ सिद्ध नहीं हो जाता, या होनेकी सम्भावना रहती है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्वार्थका कोई सरोकार नहीं होता, वहाँ तो वह फिरकर ताकता भी नहीं। उसे सेवाकी परवा नहीं होती, स्वार्थकी होती है। इसीलिये स्वार्थी मनुष्य सेवा नहीं कर सकता।

सच्चे सेवकको सेवा करनेमें पद-पदपर आनन्द मिलता है। वह समझता है कि इससे मेरे प्रियतम प्रभुको सुख मिलता है। और प्रियतमके सुखको ही अपना परम सुख माननेवाला वह प्रेमी सेवक प्रियतमको सुख पहुँचानेके लिये अपने ऊपर आनेवाले किसी भी भयानक-से-भयानक कष्टकी परवा नहीं करता। बल्कि वह उस विपत्तिको परम सुख मानकर वरण कर लेता है, उसे सिर चढ़ाता है, हृदयसे लगाता है। उसका यह निश्चय है कि जो कष्ट मेरे प्रियतमके सुखका साधन है, वही वस्तुतः मेरे लिये परम सुखकी सामग्री है। इसी भावनासे संसारमें देखा जाता है कि लोग अपने प्रियतम विषयके लिये हँसते-हँसते प्राणोंकी बलि चढ़ा देते हैं। भयंकर मृत्युको आलिङ्गन करनेके समय भी वे सन्तोष और तृप्तिजनित आनन्दकी मस्तीमें झूमते हुए अपनी सच्ची भावना और मधुर मस्तीकी महकसे सबको मुग्ध कर डालते हैं। अवश्य ही उनका वह प्रियतम विषय विभिन्न रुचि, स्थिति और भावनाके अनुसार अलग-अलग होता है। किसीका वह प्रियतम विषय भगवान् होता है, किसीका धर्म, किसीका देश, किसीका गरीब जनता और किसीका कोई व्यक्ति-विशेष! ऐसी मृत्युकी वे लोग चाह किया करते हैं और उसको अपना सौभाग्य समझते हैं। आनन्द तो उन्हें अपनी इस मनचाही मौतमें इतना मिलता है कि जहाँ साधारण लोग मृत्युके नामको सुनकर काँप उठते हैं, वहाँ वे मृत्युके मतवाले प्रेमी हर्षसे नाच उठते हैं और आनन्दकी अधिकतासे उनके शरीरमें रक्त और मांस बढ़ जाता है। अवश्य ही यह बात पाठकोंको ध्यानमें रखनी चाहिये कि इनमेंसे किसी भी निमित्तको लेकर जो मृत्यु केवल भगवान्‌के लिये होती है, वही सबसे ऊँची, निर्दोष तथा भविष्यमें कल्याणमयी शुभ गति देनेवाली होती है। जहाँ राग-द्वेष, वैर-विरोध और रोष-दोषसे हृदय भरा रहता है, वहाँ उसका फल भी तदनुकूल ही होता है।

जो लोग बदला पानेकी इच्छासे सेवा करते हैं या सेवा करके उसका बदला चाहते हैं, उनकी सेवा भी यथार्थ सेवा नहीं है। वह तो मनोरथसिद्धिका एक साधन है। जो थोड़ी सेवाके बदले बहुत बड़ा फल चाहते हैं वे सेवाका महत्त्व घटाते हैं। सेवा करनी चाहिये और अपनी शक्तिभर सेवामें कोई कमी नहीं आने देनी चाहिये परन्तु वह सेवा करनी चाहिये इसीलिये कि उससे सेवा करनेकी शक्ति और भी बढ़े। पद-पदपर सेवाके फलकी खोज करनेवाला मनुष्य सेव्य (जिसकी सेवा की जाती है) की आवश्यकताको भूल जाता है। वह अपनी आवश्यकताकी पूर्तिमें ही लगा रहता है। इससे कहीं-कहीं तो उसके द्वारा की जानेवाली सेवा सेव्यके लिये दुःखका और नुकसानका कारण तक बन जाती है। जिसका परिणाम सेवा करनेवालेके लिये भी बुरा ही होता है।

सेवा वह है जिसमें सेव्यकी निर्दोष इच्छा या रुचिका ही अनुसरण हो, अपनी इच्छाका नहीं। मालिक कुछ और चाहता है और हम कुछ और करते हैं और उसीको सेवा मानते हैं, यह तो सेवा नहीं है। सेवक-सिरमौर श्रीभरतजी स्वयं वनमें भगवान् श्रीरामजीके साथ रहना चाहते हैं या श्रीरामजीको अवध लौटा देना चाहते हैं, इसीलिये चित्रकूट गये हैं, परन्तु सेवकका धर्म बतलाते हुए आप कहते हैं कि जो सेवक स्वामीको सङ्कोचमें डालकर अपना हित चाहता है उसकी बुद्धि बहुत ही नीच है। सेवकका कल्याण तो सुखका समस्त लोभ छोड़कर केवल स्वामीकी रुचिके अनुकूल सेवा करनेमें ही है। और जो सेवक स्वामीकी आज्ञाको सुनकर भी वैसा न करके उसका कोई उत्तर देता है उस सेवकको देखकर तो लज्जा भी लजा जाती है।

जो सेवक साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची॥
सेवक-हित साहिब सेवकाई। करइ सकल सुख-लोभ बिहाई॥
उतर देइ सुनि स्वामि रजाई। सो सेवक लखि लाज लजाई॥

भरतजी सच्चे सेवक थे, वे श्रीरामकी रुचिके प्रतिकूल कुछ कैसे कहते? उन्होंने रामकी रुखको सिर चढ़ाया और वियोगकी असह्य अग्निमें चौदह वर्षतक जलना स्वीकार करके वही किया जो श्रीरामकी रुचिके अनुकूल था। अतएव सेवा वही है जो स्वामीके—सेव्यके अनुकूल हो। परन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि रोगीकी सेवा करनेवाला सेवक रोगीकी भ्रान्त रुचिको रखनेके लिये उसे कुपथ्य देकर मार डाले। इस दृष्टिसे सच्ची सेवा वही है जिसमें सेव्यका (जिसकी सेवा की जाय उसका) हित हो और परिणाममें उसे सुख मिले। ऐसी सेवासे सेवकको तो सुख मिलता ही है। कहीं-कहीं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तो सेव्यके हितकी प्रबल आकांक्षाके कारण बलात्कारसे उसके विपरीत आचरणके द्वारा उसकी सेवा की जाती है। ऐसी सेवाके लिये छोटे बच्चेके प्रति किये जानेवाले माताके ममताभरे कठोर आचरणोंका उदाहरण दिया जा सकता है।

सेवक सावधान होता है, वह ऐसा कोई काम नहीं करता जिससे सेव्यका कुछ नुकसान हो या परिणाममें उसे दुःख मिले। सच्चे सेवककी दृष्टि भी ऐसी निर्मल हो जाती है कि उसको परिणामका यथार्थ दृश्य प्रायः दीख जाता है। जहाँ राग, द्वेष, स्वार्थ, अभिमान और फलकी कामना आदि दोष होते हैं, वहीं दृष्टि यथार्थ नहीं देखती। सच्चे सेवकमें इन दोषोंका अभाव रहता है, इससे उसकी दृष्टि अनावृत होनेके कारण यथार्थ देख सकती है।

सच्चा सेवक निष्काम और अभिमानरहित होकर ही सेवा करता है। वह जिसकी सेवा करता है, उसपर अपना कोई अधिकार नहीं मानता, उसे कोई अहसान नहीं जनाता। न उसके द्वारा धन्यवाद प्राप्त करने या कृतज्ञता पानेकी कोई जरूरत समझता है। वह भरसक तो उसको अपनी सेवाकी बात जानने ही नहीं देता। यदि ऐसी स्थिति नहीं होती और उसकी की हुई सेवा प्रकट हो जाती है तो वह विनम्र भावसे यही कहता है कि 'भगवान्‌ने आपके किसी प्रारब्धवश प्राप्त होनेवाले सुखमें मुझको निमित्त बनाया यह मुझपर उनकी कृपा है, और आपने जो मेरे द्वारा होनेवाली चेष्टाको—जो भगवान्‌की शक्ति और प्रेरणासे ही हुई है—अपनी सेवा समझा और उसे स्वीकार किया, इसके लिये मैं आपका कृतज्ञ हूँ।' वह केवल ऐसा कहता ही नहीं वस्तुतः ऐसा ही मानता है।

जो मनुष्य इस भावनासे सेवा करता है कि आज मैं इनकी सेवा करता हूँ, कल प्रसङ्ग आनेपर मेरी सेवाके प्रतिफल रूप ये मुझे अपना स्वामी बना लेंगे। बहुधा संसारमें ऐसी बातें देखी जाती हैं। किसी मेम्बरीके लिये वोट चाहनेवाले लोग तो अक्सर यही कहा करते हैं कि हमने अमुक-अमुक सेवा की थी, आज उसके लिये हमें अपना प्रतिनिधि या अगुआ बनाना आपका धर्म है। और ऐसा न होनेपर उनको क्षोभ होता है। गम्भीरताके साथ विचार-कर देखा जाय तो यह पता लगता है कि सम्मान या ऊँचा पद पानेके लिये ही जो किसीकी सेवा की जाती है, किसीके नेता या स्वामी बननेके लिये ही—उसे आगे चलकर अपनेसे नीचा और अपना आज्ञाकारी बनानेके लिये ही नीचा बनकर जो सेवा की जाती है, वह असली सेवा कदापि नहीं है।

अहसान जताना तो दूर रहा, सच्चा सेवक तो सेवा करके कभी यह कहता ही नहीं कि मैंने आपकी कोई सेवा की है। क्योंकि सच्ची सेवा अपने सुखके लिये ही होती है, जो सेवा करते समय सेवकको मिलता रहता है। वह किसी दूसरेको उपकृत करनेके लिये सेवा-धर्मको स्वीकार नहीं करता। स्वान्तःसुखाय पालन किया हुआ सेवा-धर्म स्वाभाविक ही दूसरोंको सुख पहुँचानेवाला होता है और उससे लोगोंका सहज उपकार सधता है। सेवा करनेवाला अपना पराया नहीं देखता। वह तो जीवमात्रकी सेवा करना अपना धर्म मानता है। जहाँ सेवाकी आवश्यकता होती है, वहीं वह अपने पास जो कुछ साधन होता है, उसके द्वारा सेवा करने लगता है। वह यह भी नहीं देखता कि मेरे द्वारा क्या सेवा होगी, उसे तो अपनी शक्तिभर सेवा करनेमें ही आनन्द मिलता है। क्या और कितनेका हिसाब करनेमें वह समय नहीं खोता। परन्तु वह ऐसा भी नहीं करता कि अपनी सेवा दिखानेके लिये, किसी बड़ी और अच्छी सेवा करनेवालेके बीचमें पड़कर अनुचित क्षुद्र चेष्टासे उसमें बाधा पहुँचा दे। सहायक हो सकता है तो होता है, बाधक नहीं होता। क्योंकि उसे सेवा करना है, सेवक कहलाना नहीं है। ऐसी हालतमें वह जहाँ उसकी सेवाकी आवश्यकता होती है, वहीं उसको लगाता है और उसीमें अपनी सेवाकी सार्थकता समझता है।

सेवा करनेके बाद परिणामकी अनुकूलता-प्रतिकूलता देखकर सेवक हर्षविषादमें नहीं डूबता। वह चाहता है कि अच्छा हो, परन्तु उसको अपने हाथकी बात नहीं समझकर सन्तोष करता है। आपने एक रोगीकी सेवा-शुश्रूषा की, वह अच्छा हो जाता तो बहुत ही आनन्दकी बात थी, परन्तु आपके अनेक जतन करनेपर भी वह मर गया। आपने भूकम्पमें टूटे हुए किसीके मकानको बनवा दिया, कुछ ही दिनों बाद बाढ़ उसे बहा ले गयी। ऐसी हालतमें अपनी सेवाको व्यर्थ हुई जानकर क्षोभ नहीं करना चाहिये। यद्यपि सफलतामें हर्ष और विफलतामें विषाद होना अज्ञानके कारण स्वाभाविक-सा हो गया है परन्तु सच्ची सेवामें इस हर्षविषादको स्थान नहीं है। वस्तुतः सेवक तो सेवाके कार्यसे फुरसत ही नहीं मिलती, जिसमें वह अनुकूल-प्रतिकूल परिणामपर हर्षविषाद करे। वहाँ तो सेवा होती

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ही आनन्द है और सेवा न बननेमें ही विषाद है । सेवा व्यर्थ कभी जाती ही नहीं । सेवा करते समय सच्चे सेवकको आनन्द मिलता ही है । ऐसा भी नहीं मानना चाहिये कि हमने जिस मनुष्यकी सेवा की वह सेवाके योग्य नहीं था । ऐसा माननेसे पाश्चात्ताप होता है जिससे उत्साहमें कमी आती है । यही धारणा करनी चाहिये कि हमारे स्वामी श्रीभगवान् ही सबमें हैं, सब भगवत्स्वरूप ही है । इसलिये सभी हमारी सेवाके पात्र हैं । हमको तो अपनी शक्तिके अनुसार किसीकी भी सेवा करनेमें अपना सौभाग्य मानना चाहिये ।

परम सेवा वह है जिसके द्वारा मनुष्य विषयोंके जंजालसे छूटकर श्रीभगवान्‌की ओर लगता है । पहले मनुष्यको ऐसी सेवा करनेके योग्य बनना चाहिये और फिर अपने आचरण, स्वभाव, बर्ताव, प्रेम और चेष्टाके द्वारा जगत्‌के जीवोंको भगवान्‌के सम्मुख करना चाहिये । यह याद रखना चाहिये कि भगवत्प्राप्तिमें ही दुःखोंकी सदाके लिये सर्वथा निवृत्ति और नित्य निर्विकार सनातन परम सुखकी प्राप्ति है । यही जीवके अनादिकालीन जीवनका परम ध्येय है । इस ध्येयकी प्राप्तिमें जो सहायक होता है, वही परम सेवा करता है ।

अब संक्षेपमें सेवा करनेवालोंके लिये कुछ आवश्यक बातें साररूपमें लिखी जाती हैं, जिनको याद रखनेसे सेवा सुन्दर सफल और कल्याणकारिणी हो सकती है ।

१–सारा संसार भगवान्‌का स्वरूप है, और हम अपने-अपने विहित कर्मोंद्वारा भगवान्‌की सेवा कर सकते हैं और वह हमें अवश्य करनी चाहिये ।

२–जहाँ, जिसको, जिस वस्तुकी आवश्यकता हो, वहाँ, उसको, वह वस्तु अपने पास हो तो बिना किसी प्रत्युपकारकी इच्छाके आनन्दपूर्वक दे देना उसकी सेवा करना है । अवश्य ही वह वस्तु ऐसी होनी चाहिये जिसके पानेपर उसका हित ही हो ।

३–जहाँतक हो सके सेवाको प्रकट न होने दो । प्रकट करनेकी चेष्टा मत करो । प्रकट हो जाय तो सकुचाओ और सच्चे मनसे उसका श्रेय भगवान्‌की कृपाको दो ।

४–सेवा करके अभिमान न करो, जिसकी सेवा करते हो, उससे कुछ चाहो मत, उससे किसी बातकी आशा न करो । वह हमारा कृतज्ञ हो, ऐसी कल्पना मनमें मत उठने दो । उसपर कोई अहसान न जनाओ, उसपर अपना अधिकार मत मानो । उसके दोषोंको देखकर घबराओ मत । उसपर झुँझलाओ मत । तिरस्कार न करो ।

५–सेवा करके विज्ञापन न करो । जिसकी सेवा की हो उसपर बोझ मत डालो । नहीं तो, फिर तुम्हारी सेवा स्वीकार करनेमें उसे सङ्कोच होगा । और पिछली सेवाके लिये, जो उसने स्वीकार की थी, उसके मनमें पछतावा होगा जिससे तुम्हारी सेवाका महत्त्व चला जायगा ।

६–सेवा करनेके लिये अवसर प्राप्त होनेपर विशेष समय और शक्तिकी प्रतीक्षा न करो । उस समय जो कुछ शक्ति तुम्हारेमें हो उसीके द्वारा सेवा करो ।

७–यों तो सभी प्राणी सेवाके अधिकारी हैं, और आवश्यकतानुसार प्रसन्नतापूर्वक सभीकी सेवा करनी चाहिये परन्तु बड़े-बूढ़ोंकी, माता-पिताकी, गुरुकी, सन्त-महात्माओंकी, सदाचारी ब्राह्मणोंकी, विधवा स्त्रीकी, अभावग्रस्त गृहस्थोंकी, दीन-दुखियोंकी, रोगियोंकी, अनाथ प्राणियोंकी और स्त्रियोंके लिये अपने पतिकी सेवा करना तो परम धर्म है । ऐसी सेवाका मौका मिलनेपर अपना सौभाग्य समझना चाहिये और शक्तिभर निर्दोष सेवा करनेसे कभी नहीं चूकना चाहिये ।

८–सेवाकी आवश्यकता प्रतीत होनेपर यह मत सोचो कि हम जिसकी सेवा करते हैं वह कौन है । हमसे जातिमें, वर्णमें, पदमें, ऐश्वर्यमें या गौरवमें ऊँचा है या नीचा । उसे परमात्माका स्वरूप समझकर सम्मानपूर्वक सेवा करो । अपने स्त्री और बच्चोंकी तो बात ही क्या है; उनकी सेवामें तो यथावश्यक तैयार रहना ही चाहिये । सदा अपनी सेवा करनेवाले नौकरकी सेवा करनेका मौका मिलनेपर उसकी सेवा भी उत्साहपूर्वक करनी चाहिये । यहाँतक कि डोम, चमार, भंगी आदि किसी भी जातिका कोई भी परिचित या अपरिचित मनुष्य हो, पशु-पक्षी हो, विपत्तिमें पड़े हुए किसी भी जीवकी उचित साधनोंद्वारा सम्मानपूर्वक सेवा करना भगवान्‌की सेवा है । जो मनुष्य सेवा करनेमें अपमान समझता है वह कभी सेवाका सुख नहीं पा सकता ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

९–याद रक्खो ४९ दिनोंके भूखे राजा रन्तिदेवने खानेके लिये मिले हुए थोड़े-से अन्न-जलको भूखे-प्यासे प्राणियोंके प्राण बचानेके लिये दे दिया था। और उन प्राणियोंमें ब्राह्मण, चाण्डाल तथा कुत्ते भी थे।

१०–गरीब और दुखियोंकी आजीविकामें कमी हो और उनके जीवनमें कष्ट बढ़े, किसी भी प्रकारसे ऐसी किसी चेष्टाका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे समर्थन भी मत करो। ऐसी ही चेष्टा करो जिससे उन्हें भरपेट रोटी तथा आवश्यक कपड़े मिल सकें और रहनेको जगह मिले। आजकलकी स्थितिमें कम-से-कम एक बड़े मनुष्यकी तीन आने रोजकी मजदूरी तो होनी ही चाहिये। जो गरीबोंका पेट काटकर उस धनको दानधर्ममें लगाकर धर्म कमाना चाहता है, वह धर्म कभी नहीं कमा सकता। उसकी उस दूषित धनके द्वारा की हुई सेवासे भगवान् कभी प्रसन्न नहीं हो सकते।

११–जो जितना ही अधिक दीन, दुखी, अनाथ, अनाश्रय, अभावग्रस्त, रोगी या पीड़ित हो, वह उतना ही अधिक नम्रता, विनय और प्रेमके बर्तावका अधिकारी है। ऐसे लोगोंसे बहुत प्रेमका बर्ताव करो और जिसमें उनकी थोड़ा कुछ कम हो ऐसा तन-मन-धनसे यथासाध्य चेष्टा करो और साथ ही अपने सुन्दर बर्तावसे उन्हें भगवान्‌के भजनमें लगाओ जो दुःखोंके नाशका एक मात्र उपाय है।

१२–किसीकी सेवा करके यह मत मानो कि हमने उसका उपकार किया है। उपकारकी भावनामें अभिमान रहता है। और अभिमान सेवाकी मात्राको और महत्त्वको घटा देता है। विचारकर यह जरूर देखो कि हमसे जो कुछ सेवा बन पड़ी है, उससे ज्यादा हो सकती थी या नहीं और उसमें कहीं कोई स्वार्थ या तिरस्कारका भाव तो नहीं रहा है। यदि ऐसी कोई बात हो तो आइन्दाके लिये सावधान हो जाओ।

१३–कद्र करानेके लिये सेवा न करो, पद-प्राप्तिके लिये सेवा न करो, पूजा पानेके लिये सेवा न करो, परन्तु सेवा करनेसे कभी हटो नहीं। उत्साहपूर्वक शक्तिभर सेवा करना ही अपना धर्म समझो।

१४–किसीको अपना अनुयायी, शिष्य, सेवक, शासित, अनुगामी, पुजारी या पक्षपाती बनानेकी इच्छासे सेवा न करो। सेवा जरूर करो परन्तु करो कर्तव्यबुद्धिसे।

१५–बुराई करनेवालोंसे न करनेवाले श्रेष्ठ हैं, उदासीनोंकी अपेक्षा कामनासे सेवा करनेवाले श्रेष्ठ हैं, उनसे निष्काम सेवक श्रेष्ठ हैं, और सर्वोत्तम तो वे हैं जिनका स्वभाव ही सेवा करना है।

१६–सेवा ऐसे रूपमें करो कि उसको स्वीकार करने किसीको कोई संकोच न हो, बल्कि तुम्हारी सेवा स्वीकार करनी ही पड़े, तुम्हारे प्रति उसके हृदयमें आत्मीयता हो और तुम्हारे सद्‌गुणोंको वह ग्रहण कर ले। ऐसा होने प्रधान बातें यही हैं—सेवा गुप्त हो, सेवा उसी वस्तु द्वारा की जाय जिसकी उसको जरूरत हो, चाहे वह तुम्हारी दृष्टिमें मामूली ही हो और चाहे तुम उसको अच्छी चीज देना चाहते हो, अहसान न जताओ, व्यवहार में कहीं इशारेसे भी अपनेमें कभी ऊँचापन न आने सेवाके बदलेमें उसपर अपना कोई अधिकार मत समझ निश्छल सम्मान करो, स्वार्थ साधनेकी भावना भी न आने दो और बदलेमें कोई सेवा न कराओ।

१७–एक आदमी, जो गुप्तरूपसे तुम्हारी सेवा सकता कर सकता है, उसे प्रकाशमें लाना सेवाधर्मसे गिरना है

१८–तुम्हें अपनी सेवाका कोई फल सामने न दिख दे। तुमने किसीके दुःख दूर करनेकी यथाशक्ति चेष्टा पर उसका दुःख दूर नहीं हुआ। इस हालतमें सेवा व्यर्थ मत समझो, अपना काम तो तुमने कर दिया फल वही होगा जो होना है। दूसरी बार और भी उत्साह सेवा करो। उत्साहकी वृद्धिको ही सेवाका फल समझो

१९–तुमने किसीको कुछ दिया, उसने उसे पास न रखकर दूसरे किसीको दे दिया, या खो दिया इससे क्षोभ न करो। तुम्हारी सेवा तो करते ही हो गयी। अब उसपर उसका अधिकार है, जो चाहे करे। अथवा उसका भाग्य उसे उसके उपयोगमें दे चाहे न आने दे।

२०–जिसकी सेवाके लिये बहुत लोग तैयार हैं, भी उन्हींमें शामिल मत होओ। जिसकी सेवा करनेवा कोई नहीं है, तुम समझो कि वहीं तुम्हारी सेवा भगव चाहते हैं। उसीकी सेवा करो।

२१–जहाँ अन्नका अभाव है वहाँ भगवान् द्वारा तुम्हारी सेवा चाहते हैं, जहाँ जलका अभाव वहाँ जलके द्वारा, जहाँ वस्त्रका अभाव है वहाँ द्वारा, और जहाँ आश्रयका अभाव है वहाँ आश्रयके

२२–किसी शुभ व्रतधारीके व्रतकी रक्षामें सहा करना, उसकी व्रतरक्षाके अनुकूल स्थिति उत्पन्न कर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भी उसकी सेवा करना है। इसके विपरीत स्नेह या मोह-वश उसे सुख पहुँचानेके लिये ऐसी सेवा करना, जिससे उसका व्रत टूटनेकी सम्भावना हो जाय सेवाका दुरुपयोग करना है।

२३–सेवामें त्यागकी आवश्यकता है, और त्यागके लिये इन्द्रिय-संयमकी। जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं होतीं वह सेवा नहीं कर सकता।

२४–किसीका भी अपमान न करना उसकी सेवा करना है।

२५–अपनेको काम, क्रोध, लोभ, वैर, विरोध, अभिमान और मोहसे बचाये रखना जगत्‌की बड़ी सेवा करना है।

२६–अपने मातहतोंकी, गरीब अड़ोसी-पड़ोसियोंकी, नौकरोंकी, बच्चोंकी और गरीबोंकी बातें, जो तुम्हें आग्रहसे सुनाना चाहते हैं, सुन लो। उनका तिरस्कार न करो और जहाँतक हो सके उनकी न्याय्य माँगोंको पूरी करनेकी सहृदयताके साथ चेष्टा करो।

२७–अपने यहाँके किसी उत्सव या बड़े समारोहमें अड़ोसी-पड़ोसियोंकी, नौकरोंकी तथा मजदूरोंकी कोई शारीरिक या आर्थिक हानि नहीं हो, इस बातका पहले खयाल रक्खो। यह भी सदा खयाल रक्खो कि तुम्हारी सेवा करनेवाले नौकर या मजदूरोंकी उन्नतिका मार्ग सदा खुला रहे।

२८–कीमती सेवा वह है जिसमें सेवा करनेवालेका किसीको पतातक नहीं लगे।

२९–राह भूले हुएको सहृदयताके साथ उसके सङ्ग जाकर रास्ता बतला देना भी सेवा है।

३०–ऐसी कोई बात मुँहसे मत निकालो जिसके कारण किसीको लज्जित होना पड़े, और तुम्हें भी संकोच हो।

३१–दूसरेके दोषोंको दूर करनेके लिये ही देखो। प्रकट करके उसे बदनाम करने या नीचा दिखानेके लिये नहीं। और उन दोषोंको दूर करनेकी चेष्टा उसी पद्धतिसे करो जिससे अपने दोषोंको दूर करनेके लिये किया करते हो।

३२–जो पुरुष सेवा करानेसे दुखी होते हों, उनकी सेवा केवल मनसे ही करो। धन या तनसे उनकी सेवा न करना ही उनकी सेवा करना है।

३३–सेवाके बदलेमें सेवा करनेकी शक्तिकी ही वृद्धि चाहो। वह भी चुपचाप श्रीपरमात्मासे ही। और उसमें भी कहीं किसी प्रकारके अभिमान या आसक्तिको चित्तमें न आने दो।

३४–सेवा करनेका अवसर आनेपर सर्वस्व देकर सेवा करनेसे भी न चूको और सेवाकी दूकान सजाकर बैठो मत।

३५–यदि तुम्हारी की हुई सेवाका श्रेय किसी दूसरेको मिलता हो, तुम्हारे बदले दूसरेका नाम होता हो तो प्रसन्न होओ। डाह न करो, और न यह रहस्य खोलनेकी ही चेष्टा करो कि सेवा हमने की थी। तुम्हारा सच्चा श्रेय इसीमें है।

३६–बिना समझे-बूझे सेवाके नामपर कोई ऐसी चेष्टा मत कर बैठो जिससे उसका संकट और भी बढ़ जाय। ऐसी अवस्थामें केवल हृदयकी सच्ची सहानुभूतिसे ही उसकी सेवा करो।

३७–अपनेको सेवा करानेका अधिकारी कभी मत समझो, और न किसी दूसरेको अपना सेवक समझो। आवश्यकता होनेपर यदि किसी दूसरेकी प्रसन्नताके लिये तुम्हें उसकी निर्दोष सेवा बाध्य होकर स्वीकार करनी ही पड़े तो संकोचके साथ कर लो। क्योंकि कहीं-कहीं अनिच्छा-पूर्वक सेवा कराना भी सेवा करना होता है। परन्तु उसमें आराम समझकर प्रसन्न मत होओ। नहीं तो सेवा करानेकी बान पड़ जायगी जो तुम्हें सेवा करनेके लाभसे वञ्चित कर देगी।

३८–जिनके द्वारा तुम्हारी किसी भी कारणसे किसी भी समय कुछ सेवा हुई हो उनका उपकार मानो और अपनी शक्तिभर कृतज्ञताके साथ उनका हित करनेकी निर्दोष चेष्टा करो।

३९–सेवा कराना न चाहनेवाले जिन महात्माओंने तुम्हारे आग्रहवश तुम्हारी सेवा स्वीकारकर अपने व्रतको शिथिल किया, उनका अपने ऊपर बड़ा ही उपकार मानो।

४०–किसीके पापोंको प्रकट न करना और अपने प्रेमबलसे उसे पापके मार्गसे हटा देना उसकी बड़ी सेवा करना है।

४१–सेवाकी कसौटी है—जिस सेवाके बाद चित्तमें पछतावा, दुःख, अभिमान, जलन, द्वेष और निराशा हो, तथा सेवा करनेसे चित्त हटे, निश्चय समझो कि उस सेवामें कुछ-न-कुछ दोष रहा है। और जिस सेवासे प्रसन्नता हो, सुख हो, नम्रता आवे, शान्ति हो, प्रेमकी वृद्धि हो, उत्साह हो, सेवा करनेकी शक्ति बढ़े, समझो वह सेवा ठीक हुई है।

४२–सेवासे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और शुद्ध अन्तःकरणसे ही शुद्ध और यथार्थ सेवा बन पड़ती है।

(क्रमशः)

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीगीता-जयन्ती

आगामी मार्गशीर्ष शुक्ला ११ को श्रीगीता-जयन्तीका उत्सव है। गीताकी प्रशंसामें कुछ भी कहना उसका एक प्रकारसे अपमान करना है। जो साक्षात् श्रीभगवान्‌के श्रीमुखकमलका उद्गार है, जिसके एक भी वचनका आश्रय लेकर चलनेवाला मनुष्य अनायास ही भवसागरसे तर जाता है, उस गीता माताकी जयन्ती मनाना मनुष्यमात्रका कर्तव्य है। जयन्ती-उत्सवमें और सब बातें सुविधाके अनुसार होनी ही चाहियें, परन्तु एक बात विशेषरूपसे होनी चाहिये, वह यह कि गीता-भक्तोंको गीताके उपदेशमय किसी भी श्लोकको आधार मानकर उसके अनुसार जीवन बनानेका निश्चय करना चाहिये। हमारे समझसे निम्नलिखित तीन श्लोक इसके लिये बहुत ही उपयोगी हैं। श्लोक ये हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥ (१०।९)
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥ (१०।१०)
मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥ (१८।६५)

श्रीभगवान् कहते हैं—'मुझमें चित्त लगानेवाले, मुझमें प्राण अर्पण करनेवाले भक्त सदा-सर्वदा परस्पर मेरे प्रभावको समझाते हुए, मेरे ही गुण कथन करते हुए सन्तुष्ट होते हैं और मुझमें ही रमण करते हैं, उन निरन्तर मुझमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजन करनेवाले भक्तोंको मैं वह बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मुझको प्राप्त होते हैं। (इसलिये) तू मुझमें ही मन लगा, मेरा ही भक्त हो, मेरी ही पूजा करनेवाला बन और मुझको ही नमस्कार कर। यों करनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा, यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तू मेरा प्यारा है।' श्रीभगवान्‌के इन वचनोंपर ध्यान देकर हमें ऐसा ही करना चाहिये।

इसके अतिरिक्त प्रत्येक भाई-बहिनसे सविनय प्रार्थना है कि सभी लोग जो गीता-शास्त्रको मानते हों, चाहे वह किसी भी देश, वर्ण, जाति या श्रेणीके हों उस दिन यथासाध्य निम्नलिखित कार्य करने-करानेका प्रयत्न अवश्य करें—

(१) गीता-ग्रन्थकी पूजा।
(२) गीतावक्ता भगवान् श्रीकृष्ण और रचयिता श्रीव्यासदेवका पूजन।
(३) यथासाध्य गीताका पारायण।
(४) पाठशालाओं और विद्यालयोंमें गीता-पाठ, गीतापर व्याख्यान और गीता-परीक्षामें उत्तीर्ण छात्रोंको पुरस्कार-वितरण।
(५) गीता-तत्त्वको समझने और गीताका प्रचार करनेके लिये स्थान-स्थानमें सभाएँ और गीता-प्रवचन तथा व्याख्यान।
(६) गीताजीकी सवारीके जुलूस निकाले जायँ।
(७) लेखक और कवि लेखों और कविताओं द्वारा गीता-धर्म-प्रचारमें सहायता करें।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

[भाग ९ पृष्ठ १४४९ से आगे]

[मणि १०]

स्वप्न-पदार्थोंका कर्ता एक आत्मा

हे जनक ! जैसे सृष्टिकालमें एक मायाविशिष्ट ईश्वर सब जगत्को उत्पन्न करता है उसी प्रकार स्वप्नमें एक स्वयंज्योति आत्मा आदित्यादि चार ज्योतिरूप प्रकाशको तथा रथ, अश्वादिरूप प्रकाश्य पदार्थोंको उत्पन्न करता है, परमात्मा आदित्यादि प्रकाशका आश्रय लेकर नेत्रादि साधनोंको उत्पन्न करता है, आकाशादि पञ्चभूतोंको तथा भौतिक जगत्को उत्पन्न करता है। भूत, भविष्य तथा वर्तमान, इन तीनों कालोंको उत्पन्न करता है, पूर्व-दक्षिणादि दिशाओंको उत्पन्न करता है, स्थावर-जंगमरूप ऊँच-नीच जन्तुओंको उत्पन्न करता है, क्षार समुद्रसे लेकर सात समुद्रोंको, जम्बुद्वीपादि सात द्वीपोंको, मेरु आदि सब पर्वतोंको, गंगा आदि सब नदियोंको, नीचेके पातालादि सात लोकोंको, ऊपरके स्वर्गादि सात लोकोंको, चौदह लोकोंके अधिपतियोंको, इन्द्र, अग्नि आदि दस दिक्पालोंको, (ब्रह्माण्डनायकरूपसे) ब्रह्मा, विष्णु, शिवादि परमेश्वरके लीलारूप देहोंको, नाना प्रकारके भूमिके राजाओंको, स्थूल, सूक्ष्म तथा परोक्ष सर्व जगत्को उत्पन्न करता है। हे जनक ! 'यह जीव अल्पज्ञ है, इसलिये सर्वज्ञ ब्रह्मके साथ इसका अभेद सम्भव नहीं है' इस प्रकारके कुतर्कसे दूषित चित्तवाले 'मैं ब्रह्म हूँ' इस श्रुतिको अप्रमाणरूप मानते हैं तो भी स्वप्नावस्थामें उन भेदवादियोंको बलात्कारसे इस श्रुतिकी प्रमाणता सिद्ध हो जाती है, जैसे ब्रह्म अपनी अकलित मायाशक्तिसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय करता है, इसी प्रकार स्वप्नमें स्वयंज्योति आत्मा भी अपनी मायाशक्तिसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करता है। जैसे जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयकी कारणता ब्रह्ममें है इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें ब्रह्मसे भिन्न नहीं है किन्तु अभिन्न है। जैसे जलते हुए महान् अग्निमेंसे अग्निके समान रूपवाली चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं, इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें स्वयंज्योति आत्मामेंसे अपने समान रूपवाले अनेक जीव उत्पन्न होते हैं। जैसे मायाविशिष्ट परमेश्वर प्रथम सूक्ष्म भूतभौतिक प्रपञ्चवाले समष्टि सूक्ष्म हिरण्यगर्भरूप मनको उत्पन्न करता है और उस हिरण्यगर्भरूप मनसे परमात्मा नामरूपात्मक समस्त स्थूल जगत्को उत्पन्न करता है और वह जगत् हिरण्यगर्भरूप मनकी उत्पत्तिसे प्रथम मायाविशिष्ट परमात्मामें संस्काररूपसे रहा हुआ होता है, इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें स्वयंज्योतिरूप आत्मा भी एक मनरूपी साधनसे सम्पूर्ण जगत्को उत्पन्न करता है। जैसे एक ही आकाशमें घटाकाश-मठाकाशादि भेद प्रतीत होता है, वह भेद यद्यपि वास्तविक नहीं है तो भी घटरूप सूक्ष्म उपाधिसे तथा मठरूप स्थूल उपाधिसे प्रतीत होता है, इसी प्रकार अद्वितीय ब्रह्मसे जीवका जो भेद प्रतीत होता है, वह वास्तविक नहीं है किन्तु स्थूल, सूक्ष्म शरीर-उपाधिसे प्रतीत होता है, जैसे एक ही आकाश घटरूप उपाधिमें तथा मठरूप उपाधिमें एकरूपसे विद्यमान है, तो भी घटाकाश, मठाकाश इत्यादि विलक्षणता प्रतीत होती है। यह विलक्षणता आकाशमें अनुपपन्न है, घट-मठादि उपाधियोंका आश्रय करती है, इसी प्रकार ब्रह्म

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भी स्थूल-सूक्ष्म शरीरोंमें समानरूपसे व्यापक है, ब्रह्ममें किसी प्रकारकी विलक्षणता नहीं है। किन्तु लौकिक विलक्षणता जो प्रतीत होती है, वह अद्वितीय ब्रह्ममें अनुपपन्न है क्योंकि वह स्थूल-सूक्ष्म उपाधियों-का आश्रय लेकर है, इसलिये यह सिद्ध होता है कि आत्मा अभेदरूप है।

सूक्ष्म उपाधिका स्वरूप

हे जनक! समष्टि अज्ञानविशिष्ट ईश्वरका हिरण्य-गर्भरूप सूत्रात्मा सूक्ष्म शरीर है, इसी प्रकार व्यष्टि अज्ञानविशिष्ट जीवका मन सूक्ष्म शरीर है। मन शब्दसे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राण, मन तथा बुद्धि इन सतरह तत्त्वोंका ग्रहण करना चाहिये। जैसे समष्टि मायाविशिष्ट ईश्वर हिरण्यगर्भरूप सूत्रसे स्थूल जगत्‌रूप पटको रचता है, इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें यह जीवात्मा मनरूप सूत्रसे जगत्‌रूप पटको रचता है। हे जनक! जैसे प्रज्वलित एक महान् अग्निसे अनेक चिनगारियाँ उत्पन्न होती हैं और जैसे प्रज्वलित महान् अग्नि दाह तथा प्रकाश करता है, इसी प्रकार अग्निसे उत्पन्न हुई चिनगारियाँ भी दाह तथा प्रकाश करती हैं। इसी प्रकार जैसे हिरण्यगर्भ-रूप सूत्रात्मा जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय करता है, इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें सब देहधारी जीवोंका मन भी जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय करता है। जैसे प्रज्वलित अग्निमें तथा चिनगारियोंमें तेजरूपता तथा रक्तरूपता समान है, इसी प्रकार समष्टि सूक्ष्म सूत्रात्मामें तथा जीवके व्यष्टि मनमें चैतन्यता तथा सूक्ष्मरूपता समान है। जैसे प्रज्वलित अग्नि तथा चिनगारियाँ, इन दोनोंमें तेजरूपता समान है, इसलिये उनमें वास्तविक भेद नहीं है किन्तु काष्ठरूप उपाधियोंसे भेद प्रतीत होता है, इसी प्रकार समष्टि सूत्रात्मामें और व्यष्टि मनमें वास्तविक भेद नहीं है, किन्तु उपाधियोंसे भेद है। समष्टि स्थूल विराट्‌का समष्टि सूक्ष्म सूत्रात्मासे भेद है और व्यष्टि स्थूल शरीर और सूक्ष्म मनमें भेद है।

हे जनक! जैसे दीवाल अनेक प्रकारके चित्रोंका आधार है, इसी प्रकार समष्टि सूक्ष्मरूप सूत्रात्मा समष्टि स्थूलरूप चित्रोंका आधार है। इसी प्रकार व्यष्टि सूक्ष्म मनरूप दीवाल भी व्यष्टि स्थूल शरीररूप चित्रोंका आधार है। जैसे दीपक पहले दीवालको प्रकाशित करता है और फिर उस दीवालद्वारा चित्रों-को। इसी प्रकार समष्टि अज्ञानसे ढका हुआ ईश्वर साक्षी प्रथम सूत्रात्मारूप दीवालको प्रकाशित करता है और फिर उस सूत्रात्माद्वारा समष्टि स्थूल विराट्‌रूप चित्रोंका प्रकाश होता है। जैसे दीवाल तथा चित्र दीपकका प्रकाश नहीं कर सकते, इसी प्रकार समष्टि-व्यष्टि सूक्ष्म-स्थूलरूप उपाधि साक्षी आत्माका प्रकाश नहीं कर सकते, इसीलिये 'तत्त्वमसि' यह श्रुति तत्पदार्थ और त्वं-पदार्थके लक्ष्यार्थ साक्षी तथा जीव इन दोनोंका अभेद बतलाती है।

आत्मामें जगत्‌का लय

'तत्' और 'त्वम्' पदार्थके अभेदका बोध करानेके लिये समष्टिमें, कारण अज्ञानमें तथा अधिष्ठानमें मनका लयरूप व्यतिरेक दिखलाया है। इन तीन प्रकारके मनके लयमेंसे प्रथम समष्टिमें मनका लयरूप व्यतिरेक सुनो। हे जनक! जैसे काष्ठके अभावमें अग्नि समाप्त तेजमें लयभावको प्राप्त हो जाता है, इसी प्रकार उत्तम अधिकारी पुरुष हिरण्यगर्भकी उपासनासे अध्यात्म परिच्छिन्न भावकी निवृत्तिरूप मोक्षको प्राप्त होता है, वह हिरण्यगर्भभावकी प्राप्तिरूप अतिमोक्षको प्राप्त होता है। जिस समय उपासक पुरुषका मन सूत्रात्मा-रूप हिरण्यगर्भमें लयको प्राप्त होता है, उस समय

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उस उपासक पुरुषके अध्यात्मपरिच्छेदरूप संसारकी निवृत्ति हो जाती है।

अब कारणरूप अज्ञानमें मनका लयरूप व्यतिरेक दिखलाता हूँ। हे जनक! भस्मसे ढका हुआ अग्नि दाह तथा प्रकाशरूप कार्यको नहीं करता, भस्म निकल जानेके बाद वह अग्नि दाह तथा प्रकाशरूप कार्यको करता है। इसी प्रकार सुषुप्ति-अवस्थामें तथा मरणावस्थामें भोग देनेवाले कर्मोंके अभावरूप भस्मसे ढका हुआ होनेसे सुषुप्ति तथा मरणा-अवस्थासे जीवका मनरूप अग्नि जगत्की उत्पत्ति, स्थिति तथा लयरूप कार्यको नहीं करता, किन्तु जब सुख-दुःखरूप फलको देनेवाला पुण्य-पापरूप प्रारब्धकर्म उत्पन्न होता है, तब वही मन जाग्रत् तथा स्वप्नमें जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयरूप कार्यको करता है।

अब अधिष्ठानमें मनका लयरूप व्यतिरेक सुनो,—हे जनक! जैसे समस्त काष्ठकी राख हो जानेपर अग्नि नाशको प्राप्त होता है और फिर वह अग्नि कभी उत्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार श्रवणादि साधनवाला शुद्ध मन आत्मसाक्षात्काररूप अग्निसे अज्ञान और अज्ञान-कार्यरूप जगत्को जला देता है। वह मन ही अज्ञान-का कार्य है, इसलिये अज्ञानका कार्यरूप मन ही जल जाता है, और एक बार आत्मज्ञानसे नष्ट हुआ मन फिर उत्पन्न नहीं होता। इसी कारणसे अज्ञानी जीवों-के समान मुक्त पुरुषोंका बारंबार जन्म नहीं होता।

अब मन विद्यमान होनेपर संसारकी विद्यमानतारूप अद्वयका निरूपण करता हूँ—हे जनक! जैसे जाड़ोंकी रातमें नाश होनेके बाद प्रकाशसे रहित अग्नि काष्ठादि बिना सम्भवरूप कार्यको उत्पन्न नहीं कर सकता, उसी प्रकार सुषुप्ति-अवस्थामें मनविशिष्ट आत्मा देशकालादि लौकिक सामग्री बिना सूक्ष्म रथादि पदार्थोंको उत्पन्न नहीं करता। जैसे शीतकालमें अग्निसे जलते हुए काष्ठका आश्रय करनेसे जीवके शैत्यकी निवृत्तिरूप कार्य होता है किन्तु काष्ठ बिना अग्नि शैत्यकी निवृत्ति नहीं कर सकता, इसी प्रकार स्वप्न और जाग्रदवस्थामें मनविशिष्ट आत्मा देशकालादि लौकिक साधनोंका आश्रय करके सूक्ष्म और स्थूल पदार्थोंको उत्पन्न करता है।

जाग्रत् तथा स्वप्नकी समानता

हे जनक! जैसे स्वप्नमें मन स्थूल-सूक्ष्म जगत्-भावको प्राप्त होनेसे सर्व पदार्थ मनोमात्र हैं, इसी प्रकार जाग्रदवस्थामें भी मन ही जगत्भावको प्राप्त होता है, इसलिये जाग्रत्के सर्व पदार्थ मनोमात्र हैं। जैसे स्वप्नमें मनका निरोध होनेसे द्वैत प्रपञ्च प्रतीत नहीं होता, इसी प्रकार जाग्रदावस्थामें भी मनका निरोध होनेसे द्वैत प्रपञ्च प्रतीत नहीं होता। जैसे मन स्वप्नावस्थामें शत्रु, मित्र तथा उदासीन पुरुषोंको उत्पन्न करता है, शत्रुमें द्वेष, मित्रमें राग तथा उदासीनमें उपेक्षा-बुद्धि रखता है, इसी प्रकार जाग्रद-वस्थामें भी मन ही शत्रु, मित्र तथा उदासीन पुरुषोंको उत्पन्न करता है और द्वेष, राग तथा उपेक्षा-बुद्धि करता है।

जनक—हे भगवन्! जाग्रदवस्थामें अधिक देश, अधिक काल तथा काष्ठादि अनेक प्रकारकी सामग्रीसे रथादि पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है और स्वप्नमें अल्प देश, कालमें काष्ठादि सामग्री बिना ही रथादि पदार्थों-की उत्पत्ति होती है, इसलिये स्वप्नके पदार्थोंके समान जाग्रत्के पदार्थ क्यों मिथ्या कहलाते हैं?

याज्ञवल्क्य—हे जनक! रथादि कार्योंको अपनी उत्पत्तिमें देश, काल तथा काष्ठादि साधनोंकी अपेक्षा है, किन्तु सत्य साधनोंकी अपेक्षा नहीं है। जैसे जाग्रदवस्थामें कल्पित देश-कालादि साधनोंसे रथादि पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है, इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कल्पित देश, कालादि साधनोंसे रथादि पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है। जैसे जाग्रदवस्थामें जीवको कितने ही पदार्थ सुखके साधन प्रतीत होते हैं और कितने ही पदार्थ दुःखके साधन प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार स्वप्नमें भी जीवको कितने ही पदार्थ सुखके साधन और कितने ही दुःखके साधन प्रतीत होते हैं, इसलिये जाग्रत् तथा स्वप्नके पदार्थ समान हैं।

जनक—हे भगवन्! स्वप्नके पदार्थ अल्प कालतक रहते हैं और जाग्रत्के दीर्घ कालतक। इसलिये स्वप्नके पदार्थोंसे जाग्रत्के पदार्थोंमें विशेषता क्यों न कही जाय?

याज्ञवल्क्य—हे जनक! 'जाग्रत्के पदार्थ स्थिर हैं' ऐसे कथनमें प्रथम स्थिर शब्दका अर्थ जानना चाहिये। जो पदार्थ कभी भी अन्यथाभावको प्राप्त नहीं होता, वही स्थिर कहलाता है। अथवा जो पदार्थ नियमसे उसी कार्यकी उत्पत्ति करे वह भी स्थिर कहलाता है। इन दोनों पक्षोंमें प्रथम पक्ष सम्भव नहीं है क्योंकि आत्माके सिवा जितने जड पदार्थ हैं, वे सब क्षण-क्षणमें अन्यथाभावको प्राप्त होते रहते हैं, इसलिये प्रथम पक्षसे अन्यथाभाव न हो ऐसी स्थिरता जाग्रत् पदार्थोंमें नहीं है। और दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है क्योंकि जो पदार्थ स्वप्नमें जीवको सुखकी प्राप्ति कराता है, वही पदार्थ जाग्रदवस्थामें जीवको दुःखकी प्राप्ति कराता है और जो पदार्थ स्वप्नमें दुःखकी प्राप्ति कराता है, वही पदार्थ जाग्रत्में सुखकी प्राप्ति कराता है, इसलिये कोई भी पदार्थ नियमसे किसी कार्यकी उत्पत्ति नहीं करता। हे जनक! जैसे स्वप्नमें प्रिय पदार्थ सुखका कारण है और वही प्रिय पदार्थ वियोगकालमें जीवके दुःखका कारण होता है, इसी प्रकार जाग्रदवस्थामें भी जो स्त्री, पुत्र और धनादि पदार्थ जीवके सुखका कारण होते हैं वे ही स्त्री, पुत्र और धनादि पदार्थ वियोगकालमें जीवके दुःखका कारण होते हैं। किसी भी पदार्थमें सुखकी कारणता तथा दुःखकी कारणता सदाके लिये नहीं होती, इसलिये स्वप्नके पदार्थोंके समान ही जाग्रत्के पदार्थ हैं, उनमें कुछ भी विलक्षणता नहीं है।

जनक—हे भगवन्! स्वप्नके पदार्थोंके कारण जाग्रत्के पदार्थोंका कारण विलक्षण है, इसलिये जाग्रत्के पदार्थ स्वप्नके पदार्थोंके समान कैसे हो सकते हैं?

याज्ञवल्क्य—हे जनक! जैसे जाग्रदवस्थामें जीवोंका स्थूल शरीर वीर्य तथा रुधिरसे उत्पन्न होता हुआ प्रतीत होता है, इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें जीवोंका शरीर वीर्य तथा रुधिरसे उत्पन्न होता हुआ प्रतीत होता है, और जैसे स्वप्नावस्थामें वीर्य तथा शोणित असत्य है, इसी प्रकार जाग्रदवस्थामें वीर्य तथा शोणित असत्य है। जैसे जाग्रदवस्थामें माता, पिता, पुत्र, भ्राता इत्यादि अनेक प्रकारके पदार्थ विद्यमान होते हैं, इसी प्रकार स्वप्नमें भी ये सब पदार्थ विद्यमान होते हैं। इसलिये जाग्रत् तथा स्वप्न पदार्थोंकी किसी भी प्रकार विलक्षणता सिद्ध नहीं होती। जाग्रत् तथा स्वप्न-अवस्थामें स्थूल-सूक्ष्म जितने पदार्थ हैं, उन सब पदार्थोंका मन ही कारण है। जीव ईश्वरसे भिन्न है, और ईश्वर जीवसे भिन्न है, इस प्रकार जीव-ईश्वरका जो भेद है, वह भी मनके द्वारा ही कल्पित है। जीव-ईश्वरके ज्ञानके भेदसे अज्ञानी जीव बारंबार जन्म-मरणको प्राप्त होते हैं। इसी भगवती कहती है—

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति

'जो पुरुष अद्वितीय ब्रह्ममें नाना प्रकारके भाव देखता है, वह भेददर्शी पुरुष अनन्त बार जन्म-मरणको प्राप्त होता है।' हे जनक! मन ही जगत्का ही कारण नहीं है, किन्तु जीवके बन्ध-मोक्ष

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

का कारण भी मन ही है। आत्माको ढाँकनेवाले आवरणशक्तिरूप अज्ञानको अपनेमें माननेवाला अशुद्ध मन जीवोंके बन्धनका कारण है। भेद दिखानेवाली विक्षेपशक्तिरूप अज्ञानको अपनेमें माननेवाला मन अध्यात्म, अधिदैव तथा अधिभूत, इन तीन प्रकारके दुःखोंका कारण है। और श्रुतिके कथनानुसार आत्माके स्वप्रकाश आनन्दस्वरूपको गुरुके अनुग्रहसे जाननेवाला शुद्ध मन जीवोंके मोक्षका कारण है, क्योंकि मन तथा मनका रचा हुआ प्रपञ्च साक्षीरूप शुद्ध आत्मामें बन्ध तथा मोक्ष उत्पन्न नहीं कर सकता। बन्ध-मोक्षादि सर्व प्रपञ्च मनका रचा हुआ है। इसलिये मनमें ही बन्ध-मोक्षादि है। जैसे अत्यन्त चञ्चल बंदर नाना प्रकारकी चेष्टा करके आप ही अपनी मौतको उत्पन्न करता है, इसी प्रकार मन भी विषयोंकी वासनासे अपने-आप ही संसार-दुःखको प्राप्त होता है। जैसे अगाध जलमें रहनेवाली मछलीको कुछ भी भय नहीं होता, किन्तु जब वह आँकड़ेपर लगे हुए मांसको भक्षण करनेके लिये अगाध जल छोड़कर ऊपर आती है, तभी प्राणान्त दुःखको प्राप्त होती है, इसी प्रकार स्वप्रकाश आनन्दस्वरूप आत्मामें रहनेवाला मन भी दुःखको प्राप्त नहीं होता, किन्तु जब वह विषय भोगनेके लिये आत्माको छोड़कर बाहर जाता है, तभी उसे नाना प्रकारके दुःखोंकी प्राप्ति होती है। जैसे दश डोरियोंसे बँधा हुआ अत्यन्त चञ्चल बंदर दशों दिशाओंमें भ्रमता हुआ परम दुःखको प्राप्त होता है, इसी प्रकार वागादि दश इन्द्रियरूप रज्जुसे बँधा हुआ मन-मर्कट भी विषयोंकी तरफ दौड़नेसे परम दुःखको प्राप्त होता है। जैसे विशाल आकाशमें रहनेवाले कपोत पक्षीको किञ्चित् भी भय नहीं होता परन्तु जब वही पृथिवीपर अपनी स्त्री कपोतिनीको देखता है, और भूमिपर आता है, तब नाना प्रकारके दुःख उठाता है, इसी प्रकार चिदाकाशमें रहनेवाला मन किञ्चित् भी दुःखको नहीं प्राप्त होता, किन्तु जब वह बाह्य शब्द-स्पर्शादि विषयोंको देखकर रागसे बँधकर चिदाकाशको त्याग बाह्य विषयोंकी तरफ दौड़ता है, तभी अनेक प्रकारके दुःख उठाता है। जैसे रज्जुसे बँधा हुआ पशु पराधीनतासे एकके पीछे दूसरे दुःख देनेवाले स्थानको प्राप्त होता है, इसी प्रकार पुण्यपापसे बँधा हुआ सकाम मन भी एकके पीछे दूसरी दुःख देनेवाली विषयरूपी भूमिको प्राप्त होता है। जैसे मृत्यु सर्व लोकोंमें विचरता है किन्तु मृत्युके विचरनेका कारण कोई जान नहीं सकता इसी प्रकार मन भी सर्वदा विषयोंकी तरफ दौड़ता है किन्तु मनके दौड़नेके कारणको कोई जान नहीं सकता। जैसे मूढ़ बालक व्यर्थ नाना प्रकारकी चेष्टाएँ करता है, इसी प्रकार यह मन भी व्यर्थ ही नाना प्रकारकी चेष्टाएँ करता है। रथके ऊपर रागवाले जिस पुरुषके रथमें अत्यन्त दुष्ट अश्व जीर्ण डोरीसे बँधे हुए होते हैं, वह पुरुष अश्वोंसहित गड्ढेमें गिरकर दुःख पाता है, इसी प्रकार मनरूपी शिथिल रज्जुसे बँधे हुए दश इन्द्रियरूपी दुष्ट घोड़ोंवाले इस देहरूपी रथमें बैठा हुआ जीवात्मा भी बारंबार संसाररूपी गड्ढेमें गिरता है। जैसे मूढ़ बालक पहले अपने मुखको बिगाड़कर पीछे अपने सम्मुख रक्खे हुए दर्पणमें अपने बिगड़े हुए मुखकी नाना प्रकारकी चेष्टाएँ देखता है। यद्यपि वह विक्रिया दर्पणमें नहीं होती, बालकके मुखमें होती है, तो भी भ्रान्तिसे बालक दर्पणमें उन विक्रियाओंको देखता है, इसी प्रकार मन भी संसारसम्बन्धी अनेक प्रकारकी विक्रियाएँ करता है और अपनी उन विक्रियाओंको समीपमें स्थित स्वप्रकाश आत्मामें देखता है। विचारसे देखा जाय तो वे विक्रियाएँ मनमें ही होती हैं, आत्मामें नहीं होतीं, केवल भ्रान्तिसे वे मनकी विक्रियाएँ आत्मामें प्रतीत होती हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जनक—हे भगवन्! मन तो जड है, जड मनमें नाना प्रकारकी विक्रियाएँ कैसे हो सकती हैं?

याज्ञवल्क्य—हे जनक! इस शंकाका यही समाधान है कि जैसे खट्टे नीबू आदि पदार्थोंको देखकर पुरुषके मुखमें लारकी उत्पत्ति हो जाती है और मनमें क्षोभ हो आता है, इसी प्रकार स्वप्रकाश चैतन्य आत्मा भी अपनी समीपतासे जड मनको नाना प्रकारकी विक्रियाओंमें प्रवृत्त करता है। असंग आत्मामें मनका क्षोभ कैसे होता है। ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि असंग आत्मामें यद्यपि क्षोभ होना सम्भव नहीं है तो भी अचिन्त्य शक्तिके अज्ञानसे असंग आत्मामें भी मनके क्षोभकी कारणता सम्भव है। जैसे स्वप्नावस्थामें आनन्दस्वरूप आत्मा मनको उत्पन्न करता है। इसी प्रकार जिस मनसे विशिष्ट हुआ स्वप्नावस्थाको प्राप्त होता है, उस मनको भी आत्मा उत्पन्न करता है।

जनक—हे भगवन्! स्वप्नावस्थामें जिस मनसे आत्मा अनेक मन उत्पन्न करता है, उस प्रधान मनकी भी किसी अन्य मनसे उत्पत्ति माननी होगी, इस प्रकार अनवस्था-दोषकी प्राप्ति होगी। इसका क्या समाधान है?

याज्ञवल्क्य—हे जनक! यदि मनसे मनकी उत्पत्ति मानी जाय तो अनवस्था-दोषकी प्राप्ति होती है, किन्तु मनकी मनसे उत्पत्ति सिद्धान्तमें नहीं मानी जाती। जैसे बीजोंको नाश हुआ देखकर पृथु राजाकी प्रेरणासे पृथिवीने बीजोंको उत्पन्न किया था, इसी प्रकार मनकी उत्पत्तिमें मनकी कारणता नहीं है, उसमें तो मूलाज्ञानविशिष्ट आत्मा मनका कारण है। मूलाज्ञान अनादि होनेसे उसकी उत्पत्तिमें अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नहीं है। पृथुके दृष्टान्तमें पृथु बीजोंका कारण नहीं है किन्तु पृथिवीने बीजोंको अपनेमें लय कर रक्खा था, इसलिये पृथिवी ही इन बीजोंका कारण है, जैसे मेघ-विद्युतादिसे रहित अत्यन्त निर्मल आकाश अपनी अचिन्त्य शक्तिसे मेघ तथा विद्युतादिकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लयका कारण नहीं होता, किन्तु मेघादिसे विशिष्ट हुआ ही आकाश मेघादिका कारण होता है, इसी प्रकार अज्ञानसे विशिष्ट हुआ आत्मा मनादि जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण होता है, मनादि प्रपञ्चसे रहित शुद्ध आत्मा मनादि प्रपञ्चका कारण नहीं होता।

जनक—हे भगवन्! अज्ञानसे आत्मा किस प्रकार विपरीत भावको प्राप्त होता है।

याज्ञवल्क्य—हे जनक! जैसे कोई दरिद्री भिक्षुक किसी मायादि निमित्तसे अपने भिक्षुकपनके अज्ञानसे राजापनको प्राप्त होता है और जिस प्रकार कोई राजा अपने राजापनके अज्ञानसे भिक्षुकपनको प्राप्त होता है, इसी प्रकार ब्रह्मरूप आत्मा भी अपने वास्तविक स्वरूपके अज्ञानसे स्थूल, सूक्ष्मरूप जगत्भावको प्राप्त होता है।

जनक—हे भगवन्! अज्ञानसे आत्माको जगत्भावकी प्राप्ति यद्यपि सम्भव है, तो भी अज्ञानका कारण आत्मामें जन्म-मरण कैसे सम्भव हो सकता है?

याज्ञवल्क्य—हे जनक! अपने स्वरूपके अज्ञानसे स्वप्नावस्थामें जन्म-मरणरहित पुरुष जैसे जन्म-मरणको प्राप्त होता है इसी प्रकार जाग्रदवस्थामें भी वस्तुतः जन्म-मरणसे रहित आत्मा अपने स्वरूपके अज्ञानसे जन्म तथा मरणको प्राप्त होता है, इसलिये अपने स्वरूपका अज्ञान ही जन्म तथा मरणका कारण है। जैसे जाग्रदवस्थामें घटादि जड पदार्थोंके द्रष्टा पुरुषके घटादि दृश्य पदार्थ प्रकाश नहीं कर सकते, इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें रथादि दृश्य पदार्थोंके आकारको प्राप्त हुआ मन स्वप्नद्रष्टा साक्षी आत्माका प्रकाश नहीं कर सकता। साक्षी आत्मा ही मनका प्रकाश करता है

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जनक—हे भगवन्! श्रुति जैसे आत्माको ज्योति कहती है, इसी प्रकार मनको भी ज्योति कहती है, इसलिये आत्माके समान मन भी स्वप्रकाशस्वरूप क्यों नहीं है?

याज्ञवल्क्य—हे जनक! मन आत्माका प्रकाश करता है, इस विचारसे श्रुतिने मनको ज्योति नहीं कहा है, किन्तु आत्मासे भिन्न घटादि पदार्थोंको मनकी वृत्तिद्वारा आत्मा प्रकाश करता है, अतएव घटादि बाह्य पदार्थोंके प्रकाशमें मन आत्माका सहकारी होता है इसीलिये श्रुतिने मनको ज्योति कहा है! जैसे लोकमें घट आदि पदार्थोंके ज्ञानमें सहकारी चक्षु-इन्द्रियको ज्योति कहनेमें आता है, इसी प्रकार घटादि पदार्थाकार वृत्तियोंके उपादान कारणरूप मनको श्रुति ज्योति कहती है। जैसे आत्मा बाह्य स्थूल तथा सूक्ष्म पदार्थोंको नेत्रादि इन्द्रियोंसे जानता है, इसी प्रकार नेत्रादि इन्द्रियोंके अविषयरूप परोक्ष पदार्थोंको तथा नेत्रादि इन्द्रियोंको मनसे जानता है और मन तथा मनकी वृत्तियोंको आत्मा किसी दूसरे साधनसे प्रकाश नहीं करता, अपने स्वप्रकाशसे प्रकाशित करता है। आत्माके आश्रय रहा हुआ तथा आत्माको विषय करनेवाला अव्याकृतरूप अज्ञान मनका कारणरूप है। इस कारणरूप अज्ञानको भी स्वप्रकाश आत्मा प्रकाशित करता है, अतएव अज्ञानके कार्य मनको आत्मा प्रकाश करे, इसमें आश्चर्य ही क्या है? जैसे स्वयं-ज्योति आत्मा अज्ञानसहित मनको प्रकाशित करता है, इसी प्रकार नेत्रादि इन्द्रियाँ, तारागण, मणि, रत्न, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि इत्यादि जितने प्रकाशक पदार्थ हैं, उन सबको यह स्वप्रकाशस्वरूप आत्मा प्रकाशित करता है, चैतन्य आत्मा बिना किसी भी जड पदार्थ-की कभी सिद्धि नहीं होती। (क्रमशः)

समाधि और संयमतत्त्वसार

(श्रीश्रीभार्गव श्रीशिवरामकिङ्कर स्वामी योगत्रयानन्दजी महाराजके उपदेश)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

तृतीय प्रकाश

द्वितीय अनुप्रकाश

सम्प्रज्ञात-समाधिद्वारा वेदमन्त्रका अर्थज्ञान; वेदोक्त भावनाख्य अग्निहोत्र-यज्ञ

जिज्ञासु—आपके मुँहसे सुना है, योगद्वारा ही वेदमन्त्रका वास्तविक अर्थ जाना जा सकता है। उस योगका स्वरूप क्या है, यह जाननेकी इच्छा है।

वक्ता—वेदोक्त भावनाख्य अग्निहोत्र-यज्ञ ही इसका स्वरूप है। यह आध्यात्मिक यज्ञ या योग है। भावनाख्य अग्निहोत्र जो है, वही पातञ्जलोक्त सम्प्रज्ञात-समाधि भी है। किसी एक वेदमन्त्रका अर्थ जाननेकी इच्छा होनेपर, उसमें 'धारणा' करके उसके अर्थका ध्यान करते-करते बाहरसे, अन्दर या वैखरी अवस्थासे मध्यमादि अवस्थामें प्रवेश करना चाहिये। प्रतिदिन इस अभ्यासको करना चाहिये, उस भावनाको लाना चाहिये।

धीरे-धीरे बाहरसे अन्तरमें जाना चाहिये। शरीरा-दिगत संस्कारोंको अतिक्रम कर हृदयाकाशमें प्रवेश करना चाहिये। साधारण मन्त्रविद् शब्दका तो उच्चारण कर सकते हैं, परन्तु उससे कुछ न होगा, उस शब्दका आश्रय लेकर उसके विज्ञान या तत्त्वको जानना चाहिये, उसके सूक्ष्म और सूक्ष्मतर सब अवस्थाओंको जानना चाहिये।

जिज्ञासु—यह कैसे किया जाता है?

वक्ता—पहले धारणा करनी चाहिये, उसके बाद अटूट विश्वास पैदा करना चाहिये, और तत्पश्चात् सम्प्रज्ञात-समाधि करनी चाहिये; तब तत्त्व जान सकते हो। समस्त वेदमन्त्र कामधेनुके समान हैं, एक-एक वेदमन्त्रमें विश्वका तत्त्व भरा हुआ है, केवल गायत्रीका आश्रय ग्रहण कर लेनेपर ही सब अभीष्टोंकी प्राप्ति हो सकती है।

जिज्ञासु—इन सब स्थानोंमें पहले 'धारणा' कैसे करनी चाहिये?

वक्ता—यह 'जो शब्द मैंने पढ़ा है, उसका अर्थ क्या है?' ऐसी 'धारणा' करना पर्याप्त है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चतुर्थ प्रकाश

प्रथम अनुप्रकाश

ध्यान(Meditation)**भावना**(Suggestion and Clairvoyance)**और कल्पनातत्त्व** (Imagination) **कल्पना और सत्य; ध्यानार्थ कल्पना** (Meditative Imagination); **वेदोक्त 'भावनारूप अग्निहोत्र'; सांख्योक्त 'ध्यान' का स्वरूप; सम्प्रज्ञातयोग; ध्यानका फल ।**

वक्ता–[सामने हालमें ही लाया हुआ पञ्चवटीवनस्थ भगवान् श्रीरामचन्द्रका एक चित्र रक्खा हुआ था ।] जितना हृदय प्रशस्त होता जाता है, उतनी ही कल्पना-शक्ति बढ़ती जाती है । जिसका हृदय संकीर्ण होता है उसकी कल्पना अधिक दूरतक नहीं जाती, उसका विश्वास भी बहुत कम होता है । यह जो भगवान्‌का चित्र सामने रक्खा है, तुम इस चित्रको देखकर सम्भवतः इसके चित्रण (Painting) के विषयमें विचार करना आरम्भ कर दोगे, कहोगे, 'यहाँपर बड़ा सुन्दर बनाया है, यहाँ भी बड़ा सुन्दर हुआ है, परन्तु यहाँपर अच्छा नहीं हो सका है' इत्यादि । परन्तु एक सच्चा भगवद्भक्त चित्रको देखते ही लोट-पोट हो जायगा, वह ऐसा समझेगा मानो ठीक भगवान् श्रीरामचन्द्र ही पञ्चवटीमें बैठे हुए हैं, उसके लिये फिर यह चित्र नहीं रह जायगा, वह ठीक श्रीराम-चन्द्रका स्वरूप ही देखेगा और उसकी यह भावना दृढ़ होनेपर इस मूर्तिमें ही भगवान् उससे बातचीत करेंगे ।

जिज्ञासु–कल्पना तो झूठी चीज है, झूठ सत्य कैसे हो जायगा ?

वक्ता–क्या तुम ऐसी किसी चीजकी कल्पना कर सकते हो जो जगत्‌में नहीं है अथवा जिसे तुमने कभी नहीं देखा है ? तुम आकाशमें फुलवारीकी कल्पना कर सकते हो । तुमने आकाश देखा है, फुलवारी भी देखी है, इसी कारण तुम आकाशमें फुलवारीकी कल्पना कर सकते हो; परन्तु जिसने कभी आकाश नहीं देखा है, फुलवारी भी नहीं देखी है, वह कभी आकाशमें फुलवारी-की कल्पना नहीं कर सकता । तुम आकाशमें उड़नेकी कल्पना कर सकते हो, क्योंकि तुमने आकाशमें पक्षियोंको उड़ते हुए देखा है, अन्यथा नहीं कर सकते । सांख्य-दर्शनने कहा है, भावनाकी उन्नतिके द्वारा प्रकृतिके समान शक्ति उत्पन्न होती है, यदि तुम कल्पनाके द्वारा प्रकृतिके साथ Correspond कर (अपनेको भावित कर—मिला) सको तो इस कल्पना-शक्तिके द्वारा तुम्हारे अन्दर प्रकृतिके समान शक्ति हो जायगी । जब भक्त भगवान्‌के भावके साथ अपनेको Correspond कर (भावितकर—मिला) सकते हैं तब उनके आकर्षणसे भगवान् अवतीर्ण हो जाते हैं । 'मैं आकाशमें उड़ सकता हूँ', यह भावना यदि तुम अपने अन्दर दृढ़ कर लो तो तुम आकाशमें उड़ सकते हो ।

ध्यान करनेके लिये सबसे पहले कल्पना करनी होती है, ध्यानका ऐसा ही नियम है । अब विचार करो कि ध्यानके द्वारा किस प्रकार परोक्ष विषयका ज्ञान होता है । मान लो, तुम जानना चाहते हो कि 'ब्रह्मचारी महाशय* आजकल हिमालयमें क्या करते हैं ।' पहले तुम कल्पना कर लो कि वह पर्वतके किसी एक स्थानमें बैठे हैं । इस प्रकारकी कल्पना करके तुम केवल इसी भावको मनमें पकड़े रक्खो, इसके अतिरिक्त दूसरा और कुछ भी मत सोचो, इस विषयको छोड़कर अन्य विजातीय विषयकी चिन्ता बिल्कुल ही मत करो । तब तुम जान सकोगे कि वह आजकल क्या करते हैं । इसीको Clairvoyance अवस्था कहते हैं । तुम हठात् इच्छा करते ही इसे नहीं कर सकते, तुम्हारा मन दूसरी ओर चला जायगा, एक विषयमें संलग्न नहीं रहेगा । विजातीय प्रत्ययके द्वारा अनन्तरित सजातीय प्रत्ययके प्रवाहको ही 'ध्यान' कहते हैं । इसका क्रमशः अभ्यास करना होगा, मनके दूसरी ओर जानेपर भी उसे जबरदस्ती वापस लाना होगा, पुनः उसी ध्येय वस्तुमें संलग्न करना होगा । इस प्रकार चित्त को एकाग्र करना सीखना होगा । इस प्रकार ध्यान (अथवा वेदमें जिसे भावनारूप अग्निहोत्र कहा गया है) करना सीख लेनेपर तुम इसी स्थानमें रहकर, अपने दूर स्थित मित्रके पास जाकर उनसे बातचीत करके आ सकते हो, और पीछे पता लगाकर इस विषयकी सत्यता भी सिद्ध कर सकते हो (किसी व्यक्तिको पीछे अपने मित्रके पास भेजकर उनसे पुछवानेपर वह उनसे कहेंगे कि एक ऐसा आदमी अमुक समयमें मेरे पास आया था और उसने मुझसे इस प्रकार बातचीत की) । वेदमें कहा है, भावना-रूप अग्निहोत्र-यज्ञ करनेपर परलोकमें नष्ट वस्तुकी पुनः प्राप्ति होती है । मान लो, यहाँपर तुमने पुत्रादि प्रिय वस्तु

* यह एक समाधिशील योगी थे, जो पहले उत्तराखण्डमें रहते थे ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

खो दी है; वेद कहते हैं, भावनारूप अग्निहोत्र करनेपर तुम उन्हें पुनः प्राप्त कर सकते हो। * यह भावनारूप यज्ञ क्या है ? तुम्हें भावना करनी होगी कि 'स्त्री, पुत्र, कन्या, भ्राता, भगिनी इत्यादि कोई पदार्थ वास्तवमें नष्ट नहीं होता।' तत्पश्चात् भावना करनी होगी कि 'तब वे निश्चय ही कहीं हैं।' उसके बाद तुम्हें अपने स्वरूपकी भावना करनी होगी, सोचना होगा—तुम वस्तुतः कौन हो। यह जो मैं कह रहा हूँ—'तुम्हारा पुत्र खो गया है', वह 'तुम' वास्तवमें कौन पदार्थ है ? 'तुम' का अर्थ हम क्या समझते हैं, अथवा 'मैं' से तुम अपनेको क्या समझते हो ? तुम जब कहते हो 'मैं', तब तुम यही समझते हो कि 'मैं अमुकका पुत्र, अमुकका भाई, अमुकका पिता, अमुक स्थानका रहनेवाला, इन-इन गुणों या स्वभावोंसे सम्पन्न व्यक्ति हूँ' इत्यादि। तुम्हारा जो क्षुद्र अहंज्ञान है, इसे भावनाके द्वारा दूर करना होगा, तुम्हें अपने 'मैं' के प्रकृत स्वरूपकी भावना करनी होगी, अपने विराट् 'मैं' की भावना या कल्पना करनी होगी, तुम्हें भावना करनी होगी,—मैं वस्तुतः यह देहादिपरिच्छिन्न क्षुद्र 'मैं' नहीं हूँ, यह विश्वब्रह्माण्ड ही मैं हूँ, चन्द्र मैं हूँ, सूर्य मैं हूँ इत्यादि। भावनाका यही नियम है। इस नियमसे भावनामें सिद्धि प्राप्त करनेपर (वह अवश्य ही साधना-सापेक्ष है, इसमें सन्देह नहीं) तुम अपने नष्ट प्रियजनोंको पुनः देख सकोगे।

'भावना' वास्तवमें मिथ्या ही है, मनद्वारा सङ्कल्पित ध्येय-अंश मिथ्या ही है, परन्तु यही अन्तमें सत्य ज्ञानका कारण हो जाता है। सांख्यदर्शनका कहना है कि ध्यान-द्वारा ही प्रकृत ज्ञानका उदय होता है।

जिज्ञासु—यह ध्यान किस प्रकार किया जाता है ?

वक्ता—ध्यानका जो प्रतिबन्धक कारण है, उसे दूर करनेपर ही ध्यान सम्पादित होगा। ध्यानका प्रतिबन्धक कारण क्या है ? तुम्हारा अन्य विषयके प्रति जो राग है, वही तुम्हारे ध्यानका प्रतिबन्धकस्वरूप है। तुम्हारा चित्त उसी ओर दौड़ता है, उसीको देखना या पाना चाहता है, तुम ध्येय वस्तुमें चित्तको नहीं लगा सकते हो। उस रागके विषयको तुम्हें हटाना होगा, तभी तुम्हारा ध्यान लगेगा, एवं ध्यानकी सिद्धि होनेपर ही तुम्हें ज्ञान होगा। सांख्य-दर्शनने यहाँपर 'ध्यान' शब्दके अर्थके अन्तर्गत धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनोंको रक्खा है। तुम सम्भवतः यह कह सकते हो कि 'मैं ध्यान तो करता हूँ, फिर भी ज्ञान क्यों नहीं होता ?' तुम्हारा ध्यान ठीक नहीं होता, तुम ठीक तरहसे वृत्तिका निरोध नहीं कर पाते। ध्येयके अतिरिक्त जो वृत्ति है उसका निरोध करना होगा, निरोध-रूप सम्प्रज्ञातयोगका अनुष्ठान करना होगा, तभी तुम्हारे ध्यानकी सिद्धि होगी। ध्यानकी सिद्धि होनेपर ध्यानके फलस्वरूप ज्ञानका आविर्भाव निश्चय ही होगा। तभी तुम्हें समझना चाहिये कि तुम्हारे योगकी सिद्धि हो गयी। परन्तु इस प्रकार ध्यान करनेकी शक्ति प्राप्त करनेके पहले बहुत साधना करनेकी आवश्यकता है, अवश्य ही यह हठात् नहीं हो सकता। तुम अभ्यास करना आरम्भ करो, अभ्यास जिस समय घन होगा उस समय तुम इसके फल-का अनुभव करोगे। तुम्हारे अन्दर विभूतिका आविर्भाव होगा। जबतक ऐसा नहीं होता तबतक ध्यान करते रहो। ध्यानका कारण (या उपाय) क्या है ? धारणा, आसन, स्वकर्म (अर्थात् स्वाश्रमविहित कर्मानुष्ठान; 'यम' 'नियम' सब आश्रमोंके साधारण धर्म हैं)।

द्वितीय अनुप्रकाश

किस विषयमें पूर्ण ज्ञान किस प्रकार प्राप्त होता है; सम्प्रज्ञात-समाधिकी प्राप्ति; सुषुम्नाप्रवेश, भ्रूमध्यस्थित आज्ञाचक्रमें धारणा या शाम्भवी-मुद्रा।

जिज्ञासु—किसी एक विषयमें चित्तके स्थिर करनेपर उस विषयसे सम्बन्धित पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है, इसकी सरल युक्ति (Rationale) क्या है, यह जाननेकी इच्छा है।

वक्ता—चित्तमें सब वस्तुओंमें ज्ञान प्रकाशित करनेकी शक्ति है। इसीसे किसी एक विषयमें चित्त स्थिर करनेपर तद्विषयक पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। तुम किसी एक विषय-का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अपेक्षा नहीं कर सकते, इसीसे अनेक विषयोंमें तुम्हारा चित्त (तुम्हारा इसी तरहका संस्कार हो गया है, इस कारण) चला जाता है। योगशास्त्रके उपदेशके अनुसार एक बार क्रिया करके देखो, स्वयं फल मिल जायगा। अर्थका विचार करनेका प्रयोजन अवश्य है, परन्तु एक प्रकारके अवलम्बके लिये; वस्तुतः विचार करके कितना जाना जा सकता है ? ज्ञान जो कुछ है, उसे अन्तरमें ज्ञानस्वरूप भगवान् (इसे गायत्री कहो या और कुछ कहो) स्वयं बतला देते हैं।

* 'यद्ध वा अस्य किञ्च नश्यति यत् म्रियते यदयाजन्ति सर्वं हैवैनं तदमुष्मिल्लोके।' (ऐतरेय ब्राह्मण)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जिज्ञासु–इस विषयमें किस तरह कृतकार्य हुआ जा सकता है ?

वक्ता–प्राणकी चञ्चलता इस विषयमें बाधा है। प्राण-संयम करनेपर क्रमशः कृतकार्य हो सकते हो। प्राणको (किसी एक स्थानमें) बाँधनेकी चेष्टा करो।

जिज्ञासु–'प्राणको बाँधनेकी चेष्टा करो', इसके द्वारा सम्भवतः आप प्राणायामकी ओर संकेत कर रहे हैं। जिनमें प्राणायामकी योग्यता नहीं है, उनकी इष्टसिद्धि कैसे होगी ?

वक्ता–जिन्हें प्राणायाम करनेकी योग्यता नहीं है, उन्हें वस्तुतत्त्वज्ञापक सम्प्रज्ञातसमाधि नहीं हो सकती, यह निश्चित है; परन्तु मालूम होता है कि प्राणायामका स्वरूप भी अभी ठीक-ठीक तुम्हें ज्ञात नहीं है। प्राणको बाँधनेके अनेक प्रकारके उपाय हैं। चित्तको बाँधो तो प्राण भी बँध जायगा। और कुछ मत सोचो। मन दूसरी ओर जायगा। फिर लौटा लाओ। इस प्रकार बार-बार करो। कुछ न कर सको तो दोनों हाथ जोड़े रहो; इससे प्राणायाम हो जायगा। राग और द्वेष इन दोनोंमेंसे किसीको मत रक्खो, इनको त्यागकर नमस्कार करो, राग और द्वेष दोनों मिलकर साम्यावस्था (Equilibrium) उत्पन्न कर देंगे। हमारे चित्तमें जो विक्षेप होता है वह क्यों होता है, इसका विचार करनेपर तुम देखोगे कि राग-द्वेष (Attraction-Repulsion) ही उसका कारण है। रागद्वेषविहीन होनेपर चित्त स्थिर हो जायगा। योगशास्त्र-की भ्रूमध्यमें दृष्टिस्थापन करनेकी बात तुमने सुनी होगी। उसका भी यही उद्देश्य है। इस प्रकार चित्त स्थिर करनेपर फिर भगवान्‌के दर्शनके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता। इसीका नाम सुषुम्नाप्रवेश है। श्रुतिके—

सितासिते यत्र सङ्गते तत्र प्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।
ये वै तन्वं विसृजन्ति धीरास्ते जनासोऽमृतत्वं भजन्ते।

—इस उपदेशको स्मरण करो। यहाँपर 'स्वर्गमें गमन करोगे' (दिवमुत्पतन्ति) इसका अर्थ है, दिव्यभावको प्राप्त होंगे। जो यहाँपर देहत्याग करेंगे वे अमृतत्वको प्राप्त होंगे अर्थात् मुक्ति (Equilibrium) प्राप्त करेंगे। सित एवं असित ये दोनों समीकृत, उदासीनीकृत (Equated Neutralised) होनेपर मध्य अवस्था (अर्थात् सुषुम्ना) की प्राप्ति होती है, वही अमृतत्व या मुक्ति-प्राप्ति है। अथवा जीवित अवस्थामें ही जो शरीरका अभिमान छोड़ देंगे, वे भी मुक्ति प्राप्त करेंगे; जो रागद्वेष या इडा-पिङ्गलाके हाथसे छुटकारा पा जायँगे, वे जीवन्मुक्त हो जायँगे।

मानस-शंका-समाधान

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

एक सज्जनने रामचरितमानसके सम्बन्धमें कुछ शंकाएँ लिख भेजी हैं, जिनके समाधानकी चेष्टा की जा रही है। वे शंकाएँ इस प्रकार हैं—

(१) भूप सहस दस एकहिं बारा।
लगे उठावन टरै न टारा॥

दस हजार राजा एक साथ ही कैसे धनुष उठाने लगे ? क्या उस समयके राजा चूहे, चींटे या मच्छर थे, जिनके बीस हजार हाथ धनुषमें लग सकते थे ?

(२) जो राउर अनुसासन पाऊँ।
कंदुक इव ब्रह्मांड उठाऊँ॥

अगर लक्ष्मणजी ब्रह्माण्ड उठा लेते तो फिर स्वयं कहाँ रहते ?

(३) काँचे घट जिमि डारौं फोरी।

ब्रह्माण्ड तो हाथमें, खड़े कहीं नहीं, फिर पटकते कहाँ ? ब्रह्माण्डसे बाहर कोई स्थान नहीं है।

(४) लखन सकोप बचन जब बोले।
डगमगानि महि दिग्गज डोले॥

जब लक्ष्मणजीके क्रोधसे पृथ्वी काँपने लगी और दिग्गज डोलने लगे तो फिर जिस समय रावण सीताजीको हर ले गया था या युद्धमें जब बाण लगनेसे मूर्छा आयी थी, उस समय इनका क्रोध कहाँ गया था ?

(५) कही जनक जस अनुचित बानी।
बिद्यमान रघुकुलमनि जानी॥

एक सभ्य कुलके राजकुमार और रामचन्द्रजीके भाई अपने भ्राता (श्रीराम) को तो आदरसूचक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शब्दोंसे सम्बोधित करते हैं, परन्तु भरी सभामें विदेह राजाको केवल 'जनक, जनक' कहकर सम्बोधित करते हैं, तब कोई भी उन्हें मना नहीं करता। इसी तरह परशुराम-संवादमें भी पहले-पहल कड़े शब्दका प्रयोग करनेपर कोई नहीं बोलता, परन्तु जहाँ—

मिले न कबहुँ सुभट रन गाढ़े। द्विज देवता घरहिंके बाढ़े॥

यह कहते हैं, तब सारी सभा अनुचित कहने लगती है। फिर बिना गुरु या भाईकी आज्ञाके लक्ष्मणजीके बीचमें बोलनेकी क्या आवश्यकता थी?

समाधान

(१) इस शंकाका समाधान श्रीग्रन्थकारजीने इस दोहेमें रख दिया है—

तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप, उठइ न चलहि लजाइ।
मनहुँ पाइ भट बाँहु, बल, अधिक अधिक, गरुवाइ॥

—इस दोहेके नीचे ही यह चौपाई है—

भूप सहस दस एकहि बारा। लगे उठावन टरै न टारा॥

तात्पर्य यह कि जिस समय बन्दीगणने श्रीविदेह-जीका प्रण सुना दिया, उस समय शूरताके अभिमानी मूढ़ नृप परिकर बाँधकर अकुला उठे। उनको यह खयाल हुआ कि हमसे पहले कोई दूसरा न तोड़ डाले और इसलिये वे दौड़-दौड़कर धनुषमें लगने लगे। उस समय किसीको कोई कैसे कहे कि तुम ठहर जाओ और कहनेपर वह कब मानने लगा; क्योंकि वहाँ तो उन मूढ़ोंको अपनी-अपनी पड़ी थी।

जिनके कछु बिचार मनमाहीं। चाप समीप महीप न जाहीं॥

—जो कुछ भी विचार रखते थे वे राजा तो धनुषके नजदीक भी नहीं गये;

'तमकि धरहिं धनु मूढ़ नृप'

विचारहीन मूढ़ राजा ही धनुषको दौड़कर पकड़ते थे। और उस समय वह शिवजीका दिव्य धनुष क्या लीला दिखाता था? वह ज्यों-ज्यों 'भट बाँहु' पाता था त्यों-त्यों अधिक-अधिक (बड़ा-बड़ा) होता जाता था, और ज्यों-ज्यों तोड़नेके लिये उसपर राजालोग बल लगाते थे, त्यों-ही-त्यों वह उनका बल पा-पाकर गरुआ (भारी) होता जाता था। अर्थात् दोहेमें जो दो शब्द 'बाँहु' और 'बल' आये हैं, इनका अर्थ 'बाहुका बल' न करके अलग-अलग 'बाहु' और 'बल' कीजिये। और इसी प्रकार धनुषके लिये जो दो शब्द 'अधिक-अधिक' और 'गरुवाइ' आये हैं, इनको भी मिला न दीजिये। फिर देखिये यह स्पष्ट क्रम बना हुआ है कि 'भट बाँहु पाय' धनुष 'अधिक-अधिक' बढ़ता जाता था (अर्थात् उन्हें जगह देता जाता था कि जितने चाहो उतने इकट्ठे लग लो, टूटना तो हमें श्रीरामजीके हाथ है) और 'भट बल पाय' (तात्पर्य जब तोड़नेके लिये जोर करते थे तब) 'धनु गरुवाइ' (अर्थात् उनका बल खींच लेता था और भारी होता जाता था।) इसी भावपर श्रीजनकनन्दिनीजीके दिव्य धनुषकी प्रार्थना इस प्रकार करनेका आगे वर्णन है कि—

अब मोहि संभुचाप! गति तोरी॥
निज जड़ता लोगनपर डारी। होउ हरुअ रघुपतिहि निहारी॥

अर्थात् जिन-जिन मूढ़ (जड) राजाओंसे बल ले-लेकर तुमने अपनी गुरुता बढ़ा ली है, कृपा करके उन्हीं जडोंपर अपनी उस जडताको डाल दो तथा श्रीरामचन्द्रजीके कोमल कर-कमलों और उनकी सूक्ष्म कोमलाङ्गताको देखकर हलके हो जाओ। इस प्रकार राजाओंकी बाँहोंको जगह देनेके लिये तो धनुष समयानुसार बढ़ता था; परन्तु जब श्रीरामजी उसके पास तोड़नेके लिये गये तो वह विशाल धनुष सिमिट-कर छोटा हो गया। इस बातका स्पष्ट प्रमाण श्री-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तुलसीकृत रामगीतावलीके बालकाण्डके पद सं०९२ में मिलता है—

मुनि पद-रेनु रघुनाथ माथे धरी है।
दाहिनो दियो पिनाक सहमि भयो मनाकु
महाव्याल बिकल बिलोकि जनु जरी है।

अर्थात् श्रीरघुनाथजीने जाकर उस दिव्यशक्ति शिवधनुषको पहले दाहिना दिया, अर्थात् उसकी परिक्रमा की। परिक्रमाके करते ही वह धनुष इस प्रकार सहमकर मनाकु अर्थात् सिकुड़कर छोटा हो गया, जिस प्रकार महाव्याल,—बड़ा भारी सर्प, जो अपने शरीरको फैलाये रहता है, सँपेरोंके द्वारा जंगली बिरई जड़ी दिखाते ही सिकुड़कर बटुर जाता है। इस प्रकार उस दिव्य शिवधनुमें गरुअ, हरुअ (भारी और हलका) होनेकी तथा बढ़ने-घटनेकी शक्तिका होना प्रमाणित होता है। अतः उपर्युक्त अर्थ जो मूल दोहेका किया गया है, वही यथार्थ सिद्ध होता है। दोहेमें 'मनहुँ' शब्द इसलिये लाया ही गया है कि मानो ऐसा प्रतीत होता है कि ज्यों-ज्यों बाहें लगती जाती हैं त्यों-त्यों धनुष अधिक बढ़ता है, नहीं तो इतने सहस्र राजाओंके पकड़नेकी जगह कहाँसे मिल जाती, पहले तो वह इतना बड़ा नहीं दीखता था।

और भी बहुतसे प्रमाण धनुषकी दिव्यता और चेतनताके विषयमें ग्रन्थोंमें मौजूद हैं। कवितावलीमें जो 'बारे ते पुरारि ही पढ़ायो है' पंक्ति आयी है, वह इसी भावकी द्योतक है कि मानो शिवजीने अपने धनुषको बालपनमें ही पढ़ा दिया था कि श्रीरामजीके ही हाथसे टूटना; अतएव—

देहं मुमोच रघुनन्दनपाणितीर्थे

दिव्य पदार्थोंमें चेतनता माननी ही पड़ेगी।

उतरि कहेउ प्रभु पुष्पकहिं तुम्ह कुबेर पहँ जाहु।
प्रेरित राम चल्यो सो, हरष बिरह अति ताहु॥

इसके द्वारा पुष्पकविमानकी चेतनता प्रकट की गयी है। इसी तरह श्रीसीताजीसे सहिदानिकी मुद्रिकाने बातचीत की थी। रामगीतावलीके सुन्दर काण्डके पद सं० २२२ में वर्णन है—

कियो सीय प्रबोध मुँदरी दियो कपिहि लखाउ।

इत्यादि

फिर वह शिवधनुष तो शिवरूप ही था, श्रीजनकजी उस दिव्यायुधका नित्य पूजन करते थे, अतएव उस धनुषमें जब दिव्यता थी तब उसके भारी बढ़नेके विषयमें शंका करना व्यर्थ है। अतएव उस समयके राजाओंको चूहे, चींटे या मच्छर माननेकी आवश्यकता नहीं है। यह भगवान् शिवके दिव्य धनुषकी विशाल महिमाको सूचित करनेवाली श्रीगोस्वामिपादद्वारा रचित सत्य-सत्य और यथार्थ चौपाई है कि—

भूप सहस दस एकहिं बारा। लगे उठावन टरै न टारा।

शंका (२) और (३) का भी समाधान उन्हीं प्रसंगोंमें ग्रन्थमें दिया हुआ है—

लषन लखेउ रघुबंसमनि, ताकेउ हरको दंड।
पुलकि गात बोले बचन, चरन चापि ब्रह्मंड॥
दिस कुंजरहुँ कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥
राम चहँहि संकर-धनु तोरा। होहु सजग सुनि आइसु मोरा॥

विचार करनेकी बात है कि श्रीलषनलालजी इन लोगोंको (आइसु) आज्ञा देनेवाले कौन हैं? क्या किसी मनुष्य युवककी आज्ञाका पालन दिग्गज, कमठ, शेष और वाराह कर सकते हैं, जिनके आधारसे पृथ्वी रुकी हुई है? तब आपको मानना ही पड़ेगा कि—

जो सहस सीस अहीस महिधर
लषन सचराचर धनी।
सुरकाज धरि नरराज तनु
चले दलन खल निसिचर अनी॥

(अवधकाण्ड छन्द

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

LIBRARY.
Jangamwadi Math, VARANASI,
Acc. No. 3513

अतः जब यह सिद्ध हो गया कि श्रीलषनलालजी साक्षात् शेषके, श्रीमन्नारायण परमप्रभु जो उभय-विभूतिनाथ हैं, उनकी शय्याके ही अवतार हैं तो अखिल-ब्रह्माण्डेश्वरके लिये एक ब्रह्माण्डको उठा लेने और नष्ट कर डालनेमें कौन-सी आश्चर्यकी बात है? उन भगवान् शेषके तो एक फणपर सारा ब्रह्माण्ड रजकणकी भाँति विराज रहा है—

ब्रह्मांड भुवन विराज जाके
एक सिर जिमि रजकनी।
तेहि चह उठावन मूढ़ रावन
जान नहिं त्रिभुवन धनी॥
(लंकाकाण्ड)

अब रही इस कुतर्ककी बात कि शेषजी कहाँ खड़े होकर ब्रह्माण्डको उठाते, और कहाँ पटककर उसे फोड़ते? मानो ब्रह्माण्डको फोड़नेके लिये उसे किसी शिलापर पटकनेकी ही आवश्यकता है; जिन्हें ब्रह्माण्ड उठानेपर रजकण-सा प्रतीत होता है, क्या उनके लिये उसे बिना कहीं पटके फोड़ना असम्भव है? इन बातोंके निश्चित समाधानका यही मार्ग है कि जिनके अंदर यह ऐश्वर्य पाया जा रहा है, चुपचाप उन्हींकी शरण लेकर उनका ही भजन किया जाय; तभी 'सो जानइ जिहि देहु जनाई'—जानना सम्भव है, नहीं तो 'तुलसिदास यह चिद बिलास जग बूझत बूझत बूझै॥' जिन शेषके केवल एक फुंकारसे प्रलय-कालमें सारा ब्रह्माण्ड भस्मीभूत हो जाता है, उनके सम्बन्धमें भला ऐसी तर्कें? हाँ, 'रघुपति भगति बारि छालित चित बिनु प्रयास ही सूझैं' यह अवलम्ब बतलाया गया है। अतः श्रीमानसके प्रेमी पाठकों और प्रश्नकर्ताओंको इस प्रपत्तिपरायण ग्रन्थका इष्टरूपसे सेवन करना चाहिये, तब यह उनके कल्याणका कारण हो जायगा और सब प्रकारकी शंकाओंका यही स्वयं निवारण कर देगा।

शंका (४) का समाधान भी उसी प्रसंगमें ग्रन्थके भीतर ही दिया हुआ है। जब रावण सीता-जीको हर ले गया तो—

लछिमन हूँ यह मरम न जाना। जो कुछ चरित रचा भगवाना॥

क्योंकि—

राम कीन्ह चाहँहि सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई॥

जिस लीलाको जिस भाँति श्रीरघुनाथजी दिखाना चाहेंगे वह उसी भाँति होगी। श्रीलक्ष्मणजीमें जो शक्ति ब्रह्माण्डको डगमगा देनेकी या दिग्गजोंको डुला देनेकी है वह श्रीरामजीद्वारा ही प्रदत्त है; क्योंकि शेषमें जो कुछ चमत्कार है, वह शेषीकी ही विभूति है। अतः श्रीरघुनाथजीकी माधुर्य-लीलामें श्रीलषनलालका भी माधुर्य हो जाता था और ऐश्वर्य-लीलामें उनका भी ऐश्वर्य ही झलकता था। जैसे, मेघनादद्वारा शक्ति लगनेपर मूर्च्छाकी वह पराकाष्ठा रही कि धवलागिरिसे जब ओषधि आयी तब वह सचेत हुए, और उन्हीं लषनलालने रावणद्वारा शक्ति लगनेपर श्री-रघुनाथजी द्वारा केवल इतना ही स्मरण करानेपर कि 'हे लषनलाल! तुम तो कालको भी भक्षण करनेवाले हो,' शक्तिको आकाशमें भेज दिया और स्वयं कोदण्ड-बाण लेकर रणभूमिमें जा रावणको ही मूर्च्छित करके लंका भेजवा दिया! यथा—

कह रघुबीर समुझ जिय भ्राता। तुम्ह कृतांत भच्छक सुर त्राता॥
सुनत बचन उठ बैठ कृपाला। गई गगन सो सक्ति कराला॥
पुनि कोदंड बाण गहि धाये। रिपु सनमुख अति आतुर आये॥

आतुर बहोर बिभंजि स्यंदन
सूत हति ब्याकुल कियो।
गिरि धरनि दसकंधर बिकल-
तर बाण सत बेध्यो हियो॥
सारथी दूसर घालि रथ
तेहि तुरत लंका लै गयो।
रघुबीरबंधु प्रताप पुंज
बहोरि प्रभु चरननि नयो॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इसलिये यह श्रीरामजीकी नरलीलाके खेल हैं—

उमा करत रघुपति नरलीला। खेल गरुड़ जिमि अहिगन मीला॥

यह लीलावैचित्र्य ही रणशोभा है कि उसमें कभी हारके लक्षण और कभी जीतके लक्षण होते रहें—

'रन सोभा लगि आपु बँधावा'

स्वयं व्यापक ब्रह्म ही 'व्यालपास बस भये खरारी' लषनलालको कौन कहे ?

उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति।
पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धरम रति॥

इन्हीं मधुर चरित्रोंने गरुड़ और सती-सरीखे आत्माओंको मोहमें डाल दिया। अतः मानसप्रेमियोंको इन शंकाओंसे बहुत सचेत रहना चाहिये।

शंका (५) का समाधान भी वहीं मौजूद है—

कही जनक जस अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुल मनि जानी॥

यह रघुकुलमणि श्रीरामजी लषनलालके कौन हैं? केवल भाई ही नहीं हैं, बल्कि—

बारेहि ते निजहित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥

वनयात्राके समय वह नाता भलीभाँति स्पष्ट किया गया है कि—

मोरे सबै एक तुम स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥

अतः सच्चा सेवक अपने प्रभुकी न्यूनता भला कब सह सकता है ? श्रीजनकजीने 'बीरबिहीन मही' कहकर जब श्रीरामजीका निरादर किया तो उस समय जो सेवक 'रद पट फरकत नैन रिसौहैं' दशाको प्राप्त था, वह जनकजीका आदर करेगा ? क्या स्वामि-निन्दकको प्रतिष्ठा देना सेवकका धर्म है ? गुरुवर वसिष्ठजीको, बड़े भाई भरतको तो उन्होंने रामजीके विरोधाभासमें कुछ समझा ही नहीं, फिर उनके आगे जनककी कौन गिनती थी ? अतः वह अनुचित कथन-का शासन था, उसे कोई क्यों मने करता ? किसी-को वह बुरा भी नहीं लगा, बल्कि उससे सभी बुद्धिमानोंको हर्ष प्राप्त हुआ। स्वयं जनकजी भी अपनी गलतीपर सकुचा गये। और यह शंका कि उन्हें बिना आज्ञा बीचमें बोलनेकी क्या आवश्यकता थी, इसका समाधान यही है कि वह सेवकका धर्म था, वैसा न करना ही अपचार होता। और जहाँपर 'अनुचित कहि सब लोग पुकारे' है, वहाँ श्रीलषनलाल-जीसे क्रोधावेशकी लीलामें अनुचित हो रहा था; क्योंकि 'द्विज देवता घरहिंके बाढ़े' कहनेमें सुर और महिसुर दोनोंकी असूया हो रही थी, जिनके विषयमें पहले स्वयं लषनलालजी कह चुके हैं कि—

सुर महिसुर हरिजन अरु गाई। हमरे कुल इनपर न सुराई॥

अतः जहाँ अनुचित हुआ वहाँ रोके गये। इसलिये सभी प्रसंग यथार्थ हैं।

क्रन्दनयोग

चित्त रत होत प्राणप्यारेमें निरत ह्वैकै, होत मलशोधक विधात सारे छनमें।
रोम हर्ष खीझ झुँझलाहट हृदय धौति, मेरुदंड स्पंदन प्रकंप होत तनमें॥
लीन ह्वै समाधिमें बिसरि अपनापौ जात, यासों बड़ो और कौन योग सोचो मनमें।
राज हठ भक्ति तीनों योग सधि जात ऊधो, एक मनमोहन-वियोगके रुदनमें॥

—'एक प्रेमी भक्त'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मनका स्वरूप और उसका निग्रह करनेके अनुभूत साधन

(लेखक—स्वामी श्रीपद्मारण्यजी)

प्रायः १००० पीछे ६६६ सज्जन पुरुषोंका यही प्रश्न होता है कि 'मनको रोकने अथवा निग्रह करनेके कौन-कौनसे साधन हैं ?' अतः हमारे दयालु और शिक्षित सेवक (चाकर) 'मनीरामजी' उक्त प्रश्नके उत्तर-स्वरूप इस लेखको लिखवाकर 'कल्याण' में दे रहे हैं।

मनको निग्रह करनेके साधन जाननेके पूर्व मनुष्यमात्रको यह जान लेनेकी आवश्यकता है कि 'मन' अथवा 'मनीरामजी' वास्तवमें क्या हैं ? अर्थात्—

(१) मनीरामजीका स्वरूप क्या है ?

(२) मनीरामजी मालिक हैं या नौकर ?

(३) मनीरामजीका रुतबा (designation) क्या है ?

(४) मनीरामजीका कर्तव्य क्या है ?

(१) मनीरामजी न केवल हिन्दूजाति बल्कि मनुष्यमात्रके संस्कारों—स्थूल और सूक्ष्म वासनाओंके बंडल हैं। (Mind is nothing, but a bundle of gross and subtle impressions or desires of previous birth.) जिस प्रकार 'धोती' नामक वस्त्र केवल यथायोग्य सूतोंका मिलाप होता है, उसी प्रकार मनीरामजी पूर्वजन्मकी स्थूल और सूक्ष्म वासनाओंके मिलाप हैं। यही उनका स्वरूप है।

(२) साधारणतः लोग कहा करते हैं 'मेरा मन आज बेचैन है, मेरा मकान आज गिर गया, मेरा नौकर आज बीमार है'—आदि। इससे सिद्ध होता है कि 'मेरा' अपनेसे पृथक् और अपने अधीन होता है। अतः 'मनीरामजी' अपनेसे पृथक् और अपने अधीन सिद्ध हो गये।

(३) 'मनीरामजी'के दस नौकर हैं, जो सर्वदा उनके अधीन रहते हैं। यही कारण है कि सेठ-साहूकार लोग उनको 'मुनीमजी' और अंगरेजी पढ़े-लिखे लोग 'मैनेजर साहब' कहकर पुकारते हैं।

(४) परमात्माने उनको दस नौकर, बुद्धिरूपी लालटेन और मुसाफिरातका पूरा सामान देकर कह दिया है कि—'मनीरामजी, आप कभी अपने किसी नौकरके साथ मिलकर लम्पट न हो जाइयेगा, बल्कि अपनी शक्तिके अनुसार धीरे-धीरे इस संसाररूपी जंगलको तय कीजियेगा और अपने मालिक परमात्माका दर्शन पाकर आदरपूर्वक पेंशन पा लीजियेगा।'

जिस तरह जलका 'स्वभाव' सदा नीचे जानेका होता है, ऊपर युक्तिसे पंप आदिके द्वारा ले जाना पड़ता है, उसी तरह मनीरामजीका स्वभाव पृथक्-पृथक् इन्द्रियोंके साथ रमनेका होता है, क्योंकि इनका स्वरूप ही स्थूल और सूक्ष्म वासनाओंका बंडल या ग्रन्थि है। अतएव मनीरामजी भी युक्तिपूर्वक ऊपर (उन्नतिकी ओर) ले जाये जाते हैं।

मनीरामजीको 'साक्षरा' 'राक्षसों'ने—केवल शाब्दिक विद्यावाले किन्तु यथार्थ ज्ञानहीनोंने बदनाम कर रखा है कि 'मनीरामजी कलियुगमें ऊपर (उन्नतिकी ओर) नहीं जा सकते अर्थात् उनकी 'अन्तर्दृष्टि' नहीं हो सकती।' परन्तु उनका यह कथन बुद्धिसङ्गत नहीं है। क्योंकि इस तरहका कथन करनेवाले शाब्दिक विद्वानोंको या तो सिद्धिमें विश्वास नहीं होता है, या उनके पास अभ्यासका समय नहीं रहता है अथवा अपनी चञ्चल बुद्धिके कारण वे थोड़े ही कालमें अभ्यासको छोड़ देते हैं। अतः उनको ऐसा उपदेश करनेका कोई अधिकार नहीं है, इससे मुमुक्षुओंका उत्साहभङ्ग होता है।

महर्षि पतञ्जलिजीने निम्नलिखित सूत्रमें साफ तौरसे डंका बजाकर कह दिया है—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

(योग० १।१४)

अर्थात् 'उसका अभ्यास बहुत कालतक श्रद्धापूर्वक (with devotion) बिना नागा (without interruption) करना चाहिये।'

मन, स्त्री, मोम और पारा ये चारों एक अंशमें—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ढलनेमें समान गुणवाले हैं। पुरुष इन चारोंको आरम्भमें चाहे जिस तरफ ढाल सकता है। अतएव मनीरामजीको अपने कब्जेमें लानेके लिये निम्नलिखित साधन और युक्तियाँ हैं—

१–मनीरामजीको अपनेसे पृथक् मानकर मुनीम, मैनेजर या मिनिस्टर (minister) इनमेंसे अपनी रुचिके अनुसार कोई एक खिताब दे देना चाहिये, शरीर और संसारका सारा व्यवहार उनके सुपुर्द कर देना चाहिये, उनके साथ आदरपूर्वक पेश आना चाहिये और उनका पूरा-पूरा विश्वास रखना चाहिये। **परन्तु फिर भी उनको अपना नौकर ही समझना चाहिये।**

२–जिस तरह नये नौकरके कार्यको मालिक साल-दो-सालतक देख-भाल करता है उसी तरह मनीरामजीको भी उस समयतक जबतक कि वह ठीक रास्तेपर न आ जायँ, देख-भाल करना आवश्यक है।

३–रात्रिमें निद्रा आ जानेके पूर्व अर्थात् १०-११ बजेतक उनसे उनका पूरा हिसाब ले लेना चाहिये। जैसे—

क–आज आपने कौन-कौनसे शुभ और अशुभ कर्म किये ?

ख–कितनी बार झूठ बोले ?

ग–आपने कायिक, मानसिक और शब्दोंद्वारा कितने पाप किये और उनकी निवृत्तिके कौन-से साधन सोचे हैं ?

४–इस प्रकार मनीरामजीका प्रतिदिन उसी ठीक समयपर हिसाब लेना चाहिये और शिक्षाप्राप्त शुद्ध बुद्धिसे विचार करके उनको उनकी गलतियाँ और निवृत्तिके साधन बतला देने चाहिये।

५–प्रातःकाल चार बजेसे छः बजेतक ठंडे पानीसे हाथ-मुँह धोकर मृगचर्म अथवा किसी मुलायम आसनपर सिद्ध, पद्म या स्वस्तिक आसन मारकर बैठ जाना चाहिये।

६–फिर साकार या निराकार जिसमें आन्तरिक प्रेम, रुचि और विश्वास हो, उसका ध्यान करना चाहिये। शास्त्रकारने इस शङ्काके निवारणार्थ एक सूत्र लिखा है—

यथाभिमतध्यानाद्वा। (योग० १।३९)

अर्थात् 'अपनी-अपनी रुचिके अनुसार ध्यान करना चाहिये।' (or meditating according to one's predilection) इसके अतिरिक्त अनुभवसे भी यही सिद्ध होता है। जैसे—एक व्यक्ति 'गोपाल गिरिधर'में मस्त है और सदा उन्हींका ध्यान करता है, दूसरा 'राम-राम' की रट लगाता है और उन्हींका ध्यान करता है, तीसरा 'हरि-हरि' का उच्चारण और ध्यान करता है, वे तीनों ही सत्य-पुरुष और आप्त वक्ता हैं, तीनों ही विश्वास करनेके योग्य हैं। अतः जिसमें जिसका आन्तरिक प्रेम, रुचि और विश्वास हो, उसका ध्यान करना चाहिये।

७–अभ्यासके प्रथम कालमें ही एक आसनपर दो घंटेतक नहीं बैठना चाहिये, बल्कि १५ मिनट, आध घंटाके हिसाबसे उत्तरोत्तर समय बढ़ाना चाहिये। सब आसनोंमें सिद्ध और स्वस्तिक आसन श्रेष्ठ हैं।

८–ध्यानके समय नेत्रको बंद रखना चाहिये, रुख और गर्दन झुकी न होनी चाहिये।

९–नये जिज्ञासुको एक पेंसिल और नोटबुक सदा मासतक अपने पास रखनी चाहिये।

१०–ध्यान करते समय मनीरामजी यदि 'इष्टदेव' के अलावा किसी और तरफ चले जायँ, तो नोटबुकमें लिखकर पुनः ध्यान आरम्भ कर देना चाहिये।

११–ध्यान करनेके पूर्व मनीरामजीको भलीभाँति समझा देना चाहिये कि आप कृपा करके ध्यान करते समय कोई और सङ्कल्प-विकल्प मत करें, जो कुछ सङ्कल्प-विकल्प करना हो अभी कर लें।

१२–दूसरे दिन १० बजे रातमें मनीरामजीके शुभाशुभ कार्योंका हिसाब ले लेनेके बाद उनको नोटबुक भी दिखा देना चाहिये कि ध्यानके समय मनीरामजी किधर-किधर गये।

१३–जिधर-जिधर मनीरामजी गये थे, उनपर नंबर लगाकर उनको एक दूसरे कागजपर नोट कर लेना चाहिये और उन सबका यथायोग्य उत्तर मनीरामजीकी सलाह लिख देना चाहिये। जैसे–मान लीजिये कि नंबर १ में मनीरामजी यह विचार करने लगे कि 'कल १००) महाजनको देनेका वादा किया है, परन्तु आज दूकानमें केवल २५) हैं।' इसका उत्तर यह है कि 'महाजनका आदमी आपके पास आनेके पूर्व ही २५) महाजनको दे आना चाहिये।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

और बाकीके लिये महीने-दो-महीनेकी मुहलत माँग लेनी चाहिये।' यदि दूसरे नंबरमें मनीरामजीका सङ्कल्प हो कि 'कल घुड़दौड़ है, यदि १०) की टिकट ले लूँ और तकदीर जोर करे तो २००) बन जायेंगे।' इसका यथायोग्य उत्तर यह है कि 'यह जुएका काम है, जुआ खेलना सर्वथा धर्ममर्यादा और बुद्धिके विरुद्ध है; दूसरा यह कि जुआमें कोई एक ही जीतता है, बाकी अपनी पूँजी भी खो देते हैं, जो जीतता भी है वह लालचमें आकर फिर हार जाता है'—आदि। इस तरहकी युक्तियोंसे मनीरामजीको समझा करके राजी कर लेना चाहिये। फिर यदि तीसरे नम्बरमें मनीरामजीने यह सोचा हो कि 'कल दही-बड़े बनवाकर खायेंगे' तो उनसे यह पूछना चाहिये कि 'यदि दही-बड़ेमें ही वास्तविक सुख है, तो जितना ज्यादा खायेंगे, उतना ही ज्यादा आपको सुख होगा?' यदि मनीरामजी इसको स्वीकार करें तो पंद्रह दिनतक लगातार उनको दही-बड़ेके अलावा और कोई खानेकी वस्तु नहीं देनी चाहिये, नतीजा यह होगा कि दस दिनोंके बाद ही मनीरामजी 'हाय-हाय; तोबा-तोबा' करने लगेंगे और समझ जायेंगे कि 'दही-बड़ेमें स्वाभाविक सुख नहीं है।' अथवा मनीरामजीने यदि मोटरकी सवारीकी इच्छा की हो तो केवल दो-तीन दिनोंके लिये ही एक मोटर किरायेपर ले लेना चाहिये, और उनसे कह देना चाहिये कि 'यदि आपकी समझमें मोटरकी सवारीमें ही स्वाभाविक 'सुख' है, तो आप मोटरपर खूब सफर कीजिये।' परन्तु ऐसा करते समय उनको खाने-पीनेको कुछ नहीं देना चाहिये। दूसरे ही दिन उनको मालूम हो जायगा कि 'मोटरकी सवारीमें वास्तविक सुख नहीं है।' इस प्रकार मनीरामजी अपनी अभिलाषाके अनुसार पाँच-छः वस्तुओंका बुद्धि और विचारपूर्वक उपभोग कर लेंगे तो फिर कभी इधर-उधर नहीं जायँगे।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि 'शास्त्रके कथनानुसार तो विषयोंका उपभोग करनेसे वासना बढ़ती है, यह विचित्र बात कैसे कही जा रही है?' इसका समाधान यह है कि विषयोंको मूर्खतापूर्वक भोगनेसे विषय-वासना बढ़ती है, परन्तु विचारपूर्वक भोगनेसे वासना नष्ट हो जाती है। 'विचारपूर्वक' भोग उसको कहते हैं, जब प्रत्येक वस्तुको पृथक्-पृथक् सुखदायी माना जाता है, और फिर उसको पृथक् ही भोगकर यह देखा जाता है कि 'जिस तरह कस्तूरीमें स्वाभाविक सुगन्धि होती है, उसी तरह इस वस्तुमें भी स्वाभाविक सुख है या नहीं?' जैसे संखिया खानेसे साधारणतः मनुष्यकी मृत्यु हो जाती है, परन्तु वही जब विचारपूर्वक-शुद्ध करके खायी जाती है तो उससे मरणासन्न वातका रोगी भी जी जाता है।

अथवा मान लीजिये कि किसी पुरुषमें 'घरकी बुद्धि' नहीं है, वह कहता है कि 'शराब सुखदायक पदार्थ है—शराबमें सुखके गुण मौजूद हैं।' तो ऐसे 'बुद्धिहीन' व्यक्तिसे पहले यह तय कर लेना चाहिये कि 'जब तुम्हारी मतिके अनुसार शराबमें सुखके गुण हैं और तुमको बहुत सुख चाहिये, तो तुमको सिवा शराबके और कोई चीज खानेको न दी जायगी।' और दो दर्जन शराबकी बोतलके साथ उस बुद्धिहीन व्यक्तिको एक कोठरीके अंदर बंद कर देना चाहिये। खानेको कुछ नहीं देना चाहिये और चार-चार घंटेके बाद कोठरी खोलकर उसको देखना चाहिये। यदि वह नशेमें चूर हो तो उसको दो आदमियोंसे उठवाकर मुहरीके पास सुला देना चाहिये। जब उसका नशा उतर जाय और वह कहे कि मुझको मुहरीमें क्यों डाल दिया? तो फिर उसको कोठरीमें उसी तरह बंद कर देना चाहिये। ऐसे मौकेपर उसपर कुछ भी दया न दिखलानी चाहिये। हाँ, इतना खयाल रहे कि वह मरने न पावे, इसके लिये उसको समीपके डाक्टर या वैद्यसे दिखाते रहना चाहिये। जबतक वह मूर्ख 'शराबको जन्मभर न पीनेकी' पूरी प्रतिज्ञा नहीं कर ले तबतक उसको कोठरीसे नहीं निकालना चाहिये।

इसी प्रकार व्यभिचारी स्त्री-पुरुषको कोठरीमें दस-पंद्रह दिनोंतक बंद कर देनेसे तथा कुछ भी खाने-पीनेको न देनेसे उनकी भी मनोवृत्ति अवश्य ही बदल जाती है। अस्तु।

यह भलीभाँति सिद्ध हो गया कि 'विचारपूर्वक' विषयोंका उपभोग करनेसे वासना अवश्य नष्ट हो जाती है। परन्तु इसका भी यह उलटा अर्थ न समझ लेना चाहिये कि 'मनीरामजीको सदैव विषय-भोग ही कराते रहना उचित है।' सिद्धान्त और मनीरामजीको अनुभव करानेके लिये दो-चार शास्त्रानुकूल भोगोंको भोगवा देना अच्छा होता है। क्योंकि जो बात अपने अनुभवसे सिद्ध

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हो जाती है, उसको मनुष्य जन्मभरके लिये मान लेता है। जैसे किसी माननीय सज्जनने दो घंटेतक यह व्याख्यान दिया कि 'चिरायता बहुत स्वादिष्ठ वस्तु है।' दूसरे दिन एक जाटने एक बोझ चिरायताके टुकड़े-टुकड़े करके व्याख्यान-श्रोताओंको बाँट दिया। जिसका परिणाम यह हुआ कि उसने व्याख्याता महोदयके दो घण्टेतक युक्तिपूर्वक दिये गये व्याख्यानको मिट्टीमें मिला दिया। अतः स्वानुभूत सिद्धान्त सर्वदा माननीय होते हैं।

मनीरामजीको निम्नलिखित सिद्धान्त कण्ठ करा देना चाहिये—(१) सुख किसी वस्तुमें नहीं है, बल्कि उस वस्तुमें जितनी देरतक मन ठहरता है—स्थिर रहता है; उतनी देरतक सुख है। (२) दोनों प्रकारके सुख अर्थात् वस्तु-भोगसे उत्पन्न सुख तथा बिना इन्द्रिय-सम्बन्ध सुख मनके ठहरने—मनकी स्थिरतामें ही हैं।

जैसे यदि शराबमें स्वाभाविक सुख होता तो उसका अनुभव सभी लोगोंको होता, क्योंकि कस्तूरीकी 'सुगन्ध' सबको मालूम पड़ती है। अतः शराबमें स्वाभाविक सुख नहीं है। किसीको शराब देखनेमात्रसे मुँहमें पानी आ जाता है, और कोई यदि शराबसे स्पर्शित भी हो जाता है तो अपने उस अङ्गको मिट्टी अथवा साबुनसे धो डालता है।

दूसरे दृष्टान्तसे देखिये, एक नई रोशनीवाले सज्जनका मन मोटरमें लगा है और दूसरे सज्जन एक हाथी चाहते हैं। यदि मोटर और हाथी दोनोंमें वास्तविक सुख होता तो मोटरकी इच्छावाले सज्जनको हाथी और हाथीकी इच्छावाले सज्जनको मोटर देकर दोनों सज्जनोंको सुख पहुँचाया जा सकता, क्योंकि मोटर और हाथी दोनों ही सुखदायक वस्तु होते। परन्तु ऐसी बात नहीं हो सकती, जिसका चित्त जिसमें लगा होता है, उसीकी प्राप्तिसे सुख मिलता है। अस्तु यह निश्चित समझिये कि सुख वस्तुमें नहीं, बल्कि चित्तकी स्थिरतामें है, अर्थात् जिसका मन जिसमें लगा हुआ है, उसीके मिलनेसे मन स्थिर होता है और मनकी स्थिरताको ही सुख कहते हैं।

मोटरकी इच्छावाले सज्जनको यदि मोटर मिल गयी, जबतक मोटरमें उनका मन स्थिर रहा तबतक उनको सुख मिला, परन्तु कुछ दिनोंके बाद उनकी इच्छा हवाई जहाज (Aeroplane) पर चलनेकी हुई, तब उनको मोटरकी सवारीमें सुख नहीं मिल सकता, अब वह मोटरको बेंचकर हवाई जहाज मोल लेना चाहते हैं, उनका मन डाँवाडोल हो रहा है, परन्तु उनकी मोटरका दाम चौथाई या आधा लगता है, अतएव वह उसे बेंच भी नहीं पाते। ऐसी अवस्थामें उनको दुख-ही-दुख है। जबतक उनका मन हवाई जहाजकी ओर नहीं गया था, तबतक उनको सुख था। अतः जितने कालतक एक वस्तुमें मन ठहरता है—स्थिर होता है, उतने ही कालतक उस वस्तुमें सुख प्राप्त होता है।

श्रीशङ्कराचार्यने भी यही बतलाया है—

आत्माकम्पः सुखात्मा स्फुरति तदपरा
त्वन्यथैव स्फुरन्ती
स्थैर्यं वा चञ्चलत्वं मनसि परिणतिं
याति तत्रत्यमस्मिन्।
चाञ्चल्यं दुःखहेतुर्मनस इदमहो
यावदिष्टार्थलब्धिः
स्तस्यां यावत्स्थिरत्वं मनसि विषयजं
स्यात्सुखं तावदेव॥
(शतश्लोकी ७३

'आत्मा कम्पसे रहित अर्थात् शान्त है, उसका स्वरूप या गुण आनन्द है, अन्य अर्थात् 'माया-शक्ति' उससे विपरीत है। उसकी स्थिरता या चञ्चलताका असर मन पर होता है, इष्टपदार्थकी प्राप्तितक जो मनकी चञ्चलता होती है, वह दुःखका कारण बनती है, अतः जबतक जिस विषयमें मन लगा है, तभीतक उस विषयमें सुख मालूम होता है। अस्तु।

इन उपर्युक्त युक्तियोंसे ध्यान करते समय मनीरामजी जितने सङ्कल्प करते हैं, उनको नष्ट कर देना चाहिये, जिसका फल यह होगा कि श्रद्धापूर्वक बिना नागा अभ्यास करनेसे मनीरामजीको एक वर्षमें ही अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो लगेगी और ध्यानावस्थामें आनन्द भी मिलने लगेगा। यह मनके निग्रह अथवा ध्यानकी पहली अवस्था है। अन्त है, 'कल्याण'के मुमुक्षु पाठकगण इस लेखरूपी दुग्धको शकलमें न रहने देंगे, क्योंकि दूध चौबीस घंटेमें फट जाता है, बल्कि इसको शुद्ध बुद्धिरूपी मथनीसे मथ मक्खन बना लेंगे, परन्तु मक्खन भी तो कुछ दिनोंमें खराब हो जाता है। अतः इसका घृत बनाकर आवश्यकतानुसार उपयोग करनेसे अच्छा होगा।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भक्ति

(लेखक—श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव)

भारतवर्षके अनेक विद्यालयोंमें इस समय नैतिक तथा धार्मिक शिक्षाका कोई सन्तोषजनक प्रबन्ध नहीं है। फलतः हमारे अनेक युवकोंमें नीतिमत्ताका अभाव पाया जाता है और शब्दचातुरी तथा कुतर्कजनित नास्तिकताकी ओर उनका झुकाव हो रहा है। ऐसी दशामें धर्म तथा सदाचारकी बातोंकी हँसी उड़ायी जाती हो अथवा मनुष्य-जीवनके श्रेयस्कर मार्गों (कर्म, ज्ञान, भक्ति अथवा योग) की चर्चा छिड़ जानेपर विचित्र-विचित्र बातें सुन पड़ती हों तो अचंभेकी बात नहीं। इन मार्गोंका सुन्दर और सरल विवेचन करना हमारे समान अनधिकारी और नेत्रहीन जीवोंका काम नहीं है; परन्तु निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है। हम भारतवासियोंके घरोंमें श्रीरामचरितमानस और श्रीमद्भगवद्गीता-सरीखे दिव्य ग्रन्थ हैं। यदि हमलोग कुतर्क छोड़कर जिज्ञासुभावसे इनकी शिष्यता स्वीकार कर लें तो हमें बहुत कुछ ज्ञान हो सकता है—अविद्याजनित पथभ्रष्टता और अन्धकारके रहनेपर भी अपने योग्य उचित मार्ग चुननेमें हमें बहुत अच्छी सहायता मिल सकती है। अस्तु, इस लेखमें जिज्ञासु युवकोंके लिये, मुख्यतः गोसाईंजीकी रामायणके आधारपर 'भक्ति' की कुछ स्थूल चर्चा की जायगी और यदि दयालु पाठकोंने इस अनधिकारचर्चाको क्षमाकी दृष्टिसे देखा तो अवकाशके अनुसार अन्य विषयोंपर भी समय-समयपर कुछ निवेदन करनेका प्रयत्न किया जायगा।

श्रीमद्भगवद्गीता ईश्वर-वाणी है। रामचरितमानस संतवाणी है। रामायणकी चर्चा करते समय हमें स्मरण रखना चाहिये कि गोसाईंजी चाहे बड़े सज्जन और साधु पुरुष रहे हों, बड़े विद्वान् और परम ज्ञानी रहे हों, अच्छे कर्मिष्ठ और अद्वितीय महाकवि रहे हों, योगी और जीवन्मुक्त भी रहे हों परन्तु वे अपने जीवनको अपने इन गुणोंसे कभी भी सार्थक नहीं मान सकते थे—वे श्रेष्ठ कोटिके भक्त थे और मनुष्यजीवनको भक्ति (भगवदनुराग) के कारण ही सार्थक समझ सकते थे। एक स्थानपर स्पष्ट कहा गया है—

सो सुख कर्म धर्म जरि जाऊ। जहँ न रामपद-पंकज भाऊ॥

और—

चतुराई चूल्हे परै, घूरे परै अचार।
तुलसी रघुबर भगति बिन, चारों बरन चमार॥

सच्चा भक्त यथार्थ ज्ञानी होता है, कर्मप्राण होता है, दम्भरहित योगी और सामर्थ्यवान् साधु भी हो सकता है परन्तु वह अपने कर्मोंको ही अपने उद्धारका एकमात्र और प्रधान कारण नहीं समझता। वह जहाँ एक ओर सत्कर्मोंमें लगा रहता है वहाँ दूसरी ओर अहङ्कार छोड़कर भक्त तुकारामकी तरह शरण-भावसे साफ-साफ कहता है—

एक बात एकान्तमें, सुन लो जगदाधार।
तारें मेरे कर्म तो, प्रभुका क्या उपकार॥

भक्ति शब्दका साधारण अर्थ है अनुराग, प्रीति, रति, आसक्ति, प्रेम, स्नेह, अनुरक्ति। इस शब्दका प्रयोग ईश्वर-भक्तिकेही * अर्थमें किया जाता है। मनमें जब भिन्न अर्थ होता है तब दूसरे शब्दोंका

---

* शाण्डिल्यसूत्रमें भक्तिकी व्याख्या इस तरह की गयी है—'सा च परानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात् ईश्वरमें पूर्ण, निरन्तर और निष्केवल अनुरक्तिका रहना ही भक्ति है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उच्चार किया जाता है; जैसे, देशभक्ति, गुरुभक्ति, अन्धभक्ति इत्यादि ।

भक्तिकी ठीक-ठीक व्याख्या कर सकना कठिन है । यह आस्तिकताका प्रकट चिह्न, गूँगेका मिष्टान्न और अनुभवगम्य वस्तु है । इसे जन्म-मरण-रोगकी अव्यर्थ ओषधि * भी कहते हैं । यह एक ऐसी अवस्था है जिसमें जीव, 'चेतन, अमल, सहज सुखराशी' दशामें पहुँचकर स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप बन जाता है—इस अवस्थामें आत्मोद्धार और जगदुद्धार एक ही बात हो जाती है । जो सज्जन निष्काम भावसे परमात्म-चिन्तनमें निरन्तर लीन रहते हैं, वे ही भक्ति, भक्त और भगवान् अथवा साधन, साधक और साध्यका थोड़ा-बहुत रहस्य बतला सकते हैं । इसीलिये परमार्थ-प्रेमी साधकों और जिज्ञासु व्यक्तियोंको सद्गुरुकी आवश्यकता होती है । अस्तु, श्रीरामचन्द्रजीके—

जाते बेगि द्रवहुँ मैं भाई । सो मम भगति भगत-सुखदाई ॥

—इस वचनसे मालूम होता है कि भक्ति परमात्माकी कृपा शीघ्र प्राप्त करनेका एक सुगम मार्ग है ।

भक्ति दो प्रकारकी बतलायी गयी है; (१) अ-परा (अर्थात् गौणी) और (२) परा भक्ति (अर्थात् मुख्या, नित्या, ज्ञानमय, अद्वैतात्मदर्शी) । कोई-कोई शास्त्रकार भक्तिके तीन भेद बतलाते हैं, जैसे (१) वैधी (२) रागात्मिका और (३) परा ।

भक्त चार प्रकार†के होते हैं—१ आर्त २ जिज्ञासु ३ अर्थार्थी और ४ ज्ञानी । आर्तका अर्थ है दुःखसे अत्यन्त पीड़ित । जो तत्त्वको जानने-समझने और प्राप्त करनेकी धुनमें श्रद्धापूर्वक लगा हो उसे जिज्ञासु कहते हैं । अर्थार्थी भक्त कुछ मनोरथ, स्वार्थ, वासना और कामना रखकर ईश्वरकी उपासना करता है । इनमें किसी भी प्रकारका भक्त होना और साधनलीन रहना भाग्योदयका चिह्न है । ज्ञानी भक्त संसारमें रहकर भी संसारसे अलिप्त रहता है—सारे कर्म करता हुआ भी फलकामना और आसक्तिसे दूर रहता है ।

अपने कष्टोंके दूर करानेकी इच्छा रखनेवाले भक्त, ज्ञान प्राप्त करनेकी पवित्र इच्छा रखकर सद्गुरु-सेवन अथवा शास्त्र-सेवन करनेवाले भक्त, और धन, पुत्र, कलत्र, कीर्ति आदिका अर्थ रखकर सहेतुक भक्ति करनेवाले भक्त कुछ निजी हेतु और तात्कालिक स्वार्थके लिये परमात्मचिन्तन करते हैं अतएव इनकी सकाम भक्ति अ-परा (अनित्य, अप्रधान, गौणी) कहलाती है । यह भक्तिकी प्रारम्भिक अथवा अभ्यासकी सीढ़ी है—इस अवस्थाकी भक्ति अनुन्नत और अस्थायी रहती है । वैधी अवस्थामें साधक-भक्त शास्त्र और गुरुके बनाये हुए विधि-निषेध अथवा कर्तव्य-अकर्तव्यके नियमोंकी सहायतासे अभ्यास किया करता है । जो अद्वैतज्ञानी भक्त ईश्वरको ही अपना सर्वस्व मानता है, जो ईश्वर-सेवाको ही परम लाभ समझता है, परमार्थ और परोपकार ही जिसका दैनिक स्वभाव बन जाता है उसकी भक्ति परा भक्ति कहलाती है—यह भक्तिकी अन्तिम सीढ़ी है—यह साधकोंमें नहीं, केवल सिद्ध पुरुषोंमें पायी जाती है । इस अवस्थाकी भक्तिमें पूर्णता, निर्मलता, अनन्यता, तन्मयता और विश्वरूप परमात्मासे भक्तकी मनसा-वाचा-कर्मणा एकता पायी जाती है; इस अवस्थामें ‡ अज्ञान, अविद्या

---

* रघुपति भगति सजीवन मूरी । अनूपान श्रद्धा अति भूरी ॥
इहि बिधि भले कुरोग नसाहीं । नाहिंत जतन कोटि नहिं जाहीं ॥
(उत्तरकाण्ड)

† राम भगत जग चारि प्रकारा । सुकृती चारिउ अनघ उदारा ॥
चहूँ चतुर कहँ नाम अधारा । ज्ञानी प्रभुहिं विशेष पियारा ॥
(बालकाण्ड)

‡ प्रभुपदपंकज कपिकर सीसा । सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा
(सुन्दरकाण्ड)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अविश्वास, मोह, भय, संशय, स्वार्थ और भेद-बुद्धिका अस्तित्व थोड़ा भी नहीं रहता । भक्तिकी प्रारम्भिक और अन्तिम सीढ़ियोंके बीचमें एक मध्यवर्ती सीढ़ी है जो 'रागात्मिका' कही जाती है अर्थात् जिस अवस्थामें ईश्वर-भक्ति कुछ अधिक विकसित दशामें और निरन्तर (परन्तु पराभक्तिकी अवस्थासे कम) पायी जाती है ।

रामायणमें स्वयं रामजीने शबरीसे जिस नवधा* भक्ति (नौ प्रकारकी भक्ति) का वर्णन किया है वह यहाँपर ध्यान देने योग्य है । भक्तिके रामप्रतिपादित वे नौ अङ्ग ये हैं—१ सत्सङ्ग २ हरिकथा-श्रवण ३ सद्गुरु-सेवा ४ कीर्तन ५ दृढ़ विश्वासपूर्वक जप ६ इन्द्रियदमन और परोपकार ७ अद्वैतभाव ८ संतोष, पर-छिद्रान्वेषणसे अलिप्तता और ९ समबुद्धि-पूर्वक चराचर विश्वसे सरल व्यवहार । इसी रामायणमें लक्ष्मणजीके पूछनेपर श्रीरामजीने एक दूसरे प्रकारकी नवधा भक्तिका वर्णन और किया है । यह वर्णन पञ्चवटीनिवासके समय, आरण्यकाण्डमें, मिलता है । यहाँ उसी नवधा भक्ति (श्रवणं कीर्तनं·····) की ओर इशारा किया गया है जिसकी चर्चा श्रीमद्भागवत-में है । दो प्रकारकी नवधा भक्तिके वर्णनमें कुछ आशय होना चाहिये । वह आशय यह दीखता है कि प्रथम प्रकारकी भक्तिका मूल पूर्ण विरक्ति है, और दूसरे प्रकारकी नवधा भक्तिमें (लक्ष्मणजीका) पूर्ण अनुरक्तिमूलक भक्तियोग है परन्तु दोनों प्रकारमें देवदुर्लभ परमपद प्राप्त करा देनेकी शक्ति है ।

भक्तिमार्गका आश्रय लेनेकी आवश्यकता क्यों है ? हम परमात्माकी भक्ति न करें तो क्या हर्ज है ? गुसाईंजीने नीचे लिखे हुए वाक्य क्यों लिखे हैं ?

जप तप जोग नियम निज धर्मा । श्रुति संभव नाना सुभकर्मा॥
ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन
आगम निगम पुरान अनेका । पढ़े सुने कर फल प्रभु एका ॥
तव पद पंकज प्रीति निरंतर । सब साधन कर फल यह सुंदरा॥

और—

सोइ सर्वज्ञ तज्ञ सोइ पंडित । सोइ गुनज्ञ विज्ञान अखंडित ॥
दच्छ सकल लच्छनजुत सोई । जाके पद सरोज रति होई ॥

और—

सोइ गुनज्ञ सोई बड़भागी । जो रघुबीरचरन अनुरागी ॥

फिर बालकाण्डमें—

वेद पुरान संत मत एहू । सकल सुकृत फल रामसनेहू ॥

और—

भगतिहीन गुन सुख सब ऐसे । लवन बिना बहु व्यंजन जैसे ॥
भगतिहीन सुख कौने काजा । अस बिचारि बोलेउँ खगराजा॥

यह भी कहा गया है कि—

जे अस भगति जानि परिहरहीं । केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥
ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी । खोजत आक फिरहिं पय लागी॥

इन पंक्तियोंसे यह मालूम होता है कि 'रघुबीर चरण अनुरागी' होना 'बड़भागी' और 'गुणज्ञ' होनेका प्रमाण है, भक्तिके बिना सारे अनित्य सुख फीके हैं और ईश्वरके लिये दृढ़ अनुराग होना 'सकल सुकृतका

---

*नवधा भगति कहौं तोहि पाहीं । सावधान सुन धरु मन माहीं॥
प्रथम भगति संतन कर संगा । दूसरि रति मम कथा प्रसंगा ॥
गुरुपद-पंकज सेवा, तीसरि भगति अमान ।
चौथि भगति मम गुनगनहिं, करइ कपट तजि गान ॥
मंत्र जाप मम दृढ विश्वासा । पंचम भजन सो बेद प्रकासा ॥
षट दम सील बिरति बहु कर्मा । निरति निरंतर सज्जन धर्मा ॥
सप्तम सब मोहिंमय जग देखै । मोते संत अधिक करि लेखै ॥
अष्टम यथा लाभ संतोषा । सपनेहुँ नहिं देखै पर दोषा ॥
नवम सरल सब सन छल हीना । मम भरोस हिय हर्ष न दीना॥
नव महँ जिनके एकौ होई । नारि पुरुष सचराचर कोई ॥
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे । सकल प्रकार भगति दृढ तोरे
(आरण्यकाण्ड)

यही नवधाभक्ति श्रीमद्भागवतमें कुछ भिन्नतासे इस तरह बतलायी गयी है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

फल' है; यही नहीं, उत्तरकाण्डके अन्तमें जिस राम-भक्ति-चिन्तामणिका वर्णन किया गया है उससे इस प्रश्नका सरल उत्तर मिल जाता है कि भक्तिमार्गका आश्रय क्यों लेना चाहिये। उस वर्णन* का सार अंश यह है कि भक्तके पास परम प्रकाश रहता है, उसे मानसरोग (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर) सता नहीं सकते, वह समस्त दुःखोंसे छुटकारा पा जाता है। तात्पर्य यह है कि चिरंतन सुख, परम शान्ति, शीघ्र आत्मबोध और स्थायी उद्धारके लिये सुगम† भक्तिमार्गका सहारा लिये बिना काम नहीं चल सकता।

भक्तिका उदय विशेषकर ऐसे अवसरोंमें होता है जब कोई प्राणी अत्यन्त पीड़ित और निराश दशामें पहुँचकर चारों ओरसे सताया जाता है, असहाय और निराधार बन जाता है, अत्यन्त दरिद्रता, भयङ्कर रोग, तीव्र अपमान और अशक्तताका शिकार हो जाता है, स्त्री-पुत्र-धन-यश आदिके नाशका शूलप्रद दृश्य देखता है अथवा जब बुद्धि, बल, धन, प्रभुता आदिका अहङ्कार किसी कारण टूटकर कर्तृत्वभाव नष्ट हो जाता है। यह आर्त दशाकी भक्ति है। अभ्युदय और ऐश्वर्यकी अभिलाषा तथा रजोगुणी बुद्धिकी प्रेरणा-से भी किसी-किसीमें भक्तिका उदय हो सकता है—स्वार्थ-साधनकी इच्छा रखनेवाले ऐसे सकाम भक्त अर्थार्थी कहलाते हैं। ऐसी भक्ति इच्छानुसार धन, पुत्र, पद अथवा सफलता मिल जानेपर प्रायः क्षीण या नष्ट हो सकती है। मतलब पूरा हुआ कि भक्ति काफूर हुई !! जो स्वभावसे, संस्कारसे या सत्सङ्गसे सदाचारी, नीतिज्ञ, विषय-विमुख, विवेकी, धर्मशील, जागृत और ऊर्ध्वगामी होते हैं उनकी गणना जिज्ञासु और ज्ञानी भक्तोंमें की जाती है।

जब किसीमें भक्तिका उदय हो जाता है तब उसमें कुछ भीतरी और बाहरी चिह्न भी प्रकट होने लगते हैं। ऐसा जीव एक उच्चकोटिके मानसिक सुख, तृप्ति, उन्माद और कृतकृत्यताका अनुभव करने लगता है। वह मग्नावस्थामें पहुँचकर मस्त रहने लगता है। उसमें स्थिरता और अनासक्ति आने लगती है। उसमें कुछ बाहरी शारीरिक चिह्न भी दिखलायी देने लगते हैं जैसे शरीरमें रोमाञ्च होना, नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर जाना, जबानसे कोई बात न निकलकर गूँगा-सा बन जाना, तत्त्व पदार्थ अथवा अपने इष्टदेवकी ओर पागलकी तरह इकटक देखना, शरीरकी दशा भूल जाना इत्यादि। रामविवाहके बाद विश्वामित्रको विदा करते समय दशरथकी दशा देखिये—

अस कहि राउ सहित सुत रानी। परे चरन मुख आव न बानी॥
(बालकाण्ड)

रामजी लक्ष्मणसे कहते हैं—

मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा॥
(आरण्यकाण्ड)

इसी काण्डमें सुतीक्ष्णके बारेमें कहा गया है—

रामबदन बिलोकि मुनि ठाढ़ा। मानहुँ चित्र माँझि लिख काढ़ा॥

अगस्त्यजीने सुना कि राम आ रहे हैं तब—

सुनत अगस्त्य तुरत उठि धाये। हरि बिलोकि लोचन जल छाये॥

राज्याभिषेकके बाद जब रामने वानर-सखाओंसे कहा कि अब अपने-अपने घर जाओ तब—

---

* जो प्रेमी पाठक उस सुन्दर वर्णनको देखना चाहते हों वे नीचे लिखी चौपाइयाँ (उत्तरकाण्ड रामायणमें) ढूँढ़ें।

ज्ञानक पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस न लागै बारा॥
राम भजत सोइ मुकुति गुसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआई॥
रामभगति चिन्तामनि सुंदर। बसइ गरुड जाके उर अंतर॥

...(इस चौपाईसे लगाकर—)

भावसहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥
(इस चौपाई तक।)

† कलि बिसेष नहिं आन उपाऊ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सुनि प्रभु बचन मगन सब भयऊ।
को हम कहाँ बिसरि तन गयऊ॥
इक टक रहे जोरि कर आगे।
सकहिं न कछु कहि अति अनुरागे॥
(उत्तरकाण्ड)

सच्ची भक्तिकी कसौटी क्या है? भक्त चाहता क्या है—वह कहता क्या है? शाश्वत* भक्तिके लक्षण गुसाईंजीके शब्दोंमें ही देखिये—

अर्थ न धर्म न काम रुचि, गति न चहौं निरबान।
जनम-जनम रति रामपद, यह बरदान न आन॥

सिद्धावस्थामें पहुँचे हुए निष्काम भक्तको चार प्रकारके पुरुषार्थ (अर्थ, धर्म, काम, निर्वाण) मेंसे अपने लिये कुछ भी न चाहिये। वासना-रहित, कामना-रहित भक्ति ही सच्ची भक्ति है। ऐसे विरले भक्तके पैरोंपर भुक्ति† और मुक्ति‡ आप ही लोटने लगती हैं परन्तु वह उस मुक्ति और सभी सिद्धियोंसे मुग्ध होनेके बदले उन्हें तुच्छ समझता है। वह—

'साधन साध्य राम-पद नेहू।'

—के तत्त्वकी मूर्ति बन जाता है। कर्मोंके फलका त्याग, अनासक्ति और समर्पणबुद्धि उसमें निरन्तर जागृत रहती है। ममतारहित अनन्य भक्त लक्ष्मणजी भी यही भाव प्रकट करते हैं—

गुरु पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ स्वभाव नाथ पतियाहू॥
जहँ लगि नाथ सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निज गाई॥
मोरे सबै एक तुम स्वामी। दीनबंधु उर अन्तरजामी॥
धरम नीति उपदेसिय ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही॥

भक्तके लक्षण श्रीमद्भगवद्गीताके १२ वें अध्यायमें, श्लोक-संख्या १३ से २० तक, विस्तारपूर्वक बतलाये गये हैं। विस्तारभयसे हम उन श्लोकोंको यहाँपर उद्धृत नहीं करते। इन श्लोकोंका भावार्थ (उत्तरकाण्डकी) उन चौपाइयोंमें पाया जाता है जिनके द्वारा श्रीरामने अवध-निवासियोंको उपदेश दिया है।

इन चौपाइयोंका प्रारम्भ इस तरह होता है—

कहहु भगतिपथ कवन प्रयासा।
जोग न मख जप तप उपबासा॥.....

साधनामें लगा हुआ भक्त अपने भगवान्‌से दुराव और लाज नहीं कर सकता, वह उसपर अविश्वास नहीं रख सकता, अपने मनमें अहङ्कार नहीं रख सकता और छल-कपटका बर्ताव नहीं कर सकता। न यहाँ वाद-विवादसे लाभ है न क्रोध तथा द्वेष उत्पन्न करनेवाले तर्कसे। बात सीधी है—

जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहिं राम।

निर्विकार परमात्मासे विकार-युक्त प्राणीके मेलकी सम्भावना कहाँ?

तुलसी अपने राम सों, साँचो कीजे नेह।
कहा लाज भरतारकी, जिन देखी सब देह॥

भक्तशिरोमणि भरतजीके मनमें कितना विश्वास भरा हुआ है?

जद्यपि जनम कुमातुतें, मैं सठ सदा सदोस।
आपन जानि न त्यागिहैं, मोहिं रघुबीर भरोस॥
(अयोध्याकाण्ड)

निश्छलभावकी आवश्यकता बतलाते हुए भरद्वाज मुनि श्रीरामजीसे कहते हैं—

---

* बाहरी आचार, मिथ्याचार, दम्भ, पाखण्ड, लंबे नख और बड़ी जटा तो भक्तिका लक्षण नहीं है परन्तु अविरल भक्तिका लक्षण—जप-तप, व्रत-नेम आदि भी नहीं है—

उमा जोग जप दान तप, नाना ब्रत मख नेम।
राम कृपा नहिं करहिं तस, जस निष्केवल प्रेम॥
(उत्तरकाण्ड)

† साधक नाम जपत लय लाये।
होंहि सिद्ध अनिमादिक पाये॥

‡ अस बिचारि हरि भगत सयाने।
मुकुति निरादरि भगति लुभाने॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

करम बचन मन छाँड़ि छल, जब लगि जन न तुम्हार।
तब लगि सुख सपनेहुँ नहीं, किये कोटि उपचार॥
(अयोध्याकाण्ड)

और अहङ्कार उत्पन्न होनेपर नारदजीके मनमें जो भेद उत्पन्न हुआ था जिससे उनकी बड़ी दुर्दशा हुई थी वह कथा तो प्रसिद्ध ही है। तर्क और विवादसे झगड़े होते हैं और ईश्वरकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

अस विचारि जे तग्य बिरागी। रामहिं भजहिं तरक सब त्यागी॥

अस बिचारि मतिधीर, तजि कुतर्क संसय सकल।
भजिय राम रनधीर, करुनाकर सुंदर सुखद॥

ईश्वरकी भक्तिका व्रत लेकर उसकी आड़में धन और स्त्रीकी उपासना करना संसार और उसके स्वामी-को धोखा देना तो है ही परन्तु अपने आपको भी धोखा देना है। संग्रह और त्यागके लिये विवेक, नैतिक बल और दृढ़ निष्ठाकी जरूरत है। आडम्बर, पाखण्ड और वञ्चकतासे सनी हुई भक्तिकी पोल एक दिन खुल ही जाती है—लोग बगुलाभक्ति और बहुरूपिया-पनको कभी-न-कभी ताड़ ही जाते हैं। असंख्य जनताके बीच पुजाने, गुरुडम कायम करने और चमत्कार दिखलानेकी रुचि रखनेवाला व्यक्ति भला किस श्रेणीका भक्त होता होगा? जो मनुष्य तरह-तरहसे भाव बतलाकर और अपनी पण्डिताई दिखलाकर केवल नाम कमाना चाहता और रोजगारके लिये अपना रास्ता साफ करना चाहता हो, वह कैसा ईश्वरभक्त होता होगा? जो देशभक्त केवल अपनी प्रतिष्ठा या नेतृत्व स्थिर रखनेके लिये देशकी सेवा करना चाहता है, वह किस कोटिका देशभक्त है? यदि हम रामके उपासकका वेष लेकर वासनाओं और मायाके पुजारी न बनना चाहते हों तो साधना-कालमें हमें सत्सङ्ग-प्रेम और कुसङ्ग-निवारणकी बड़ी आवश्यकता होगी, जिससे धीरे-धीरे हम भगवत्प्राप्तिके पोषक उपायों (संयम, सद्गुरुसेवा, दीनता, आत्म-चिन्तन, एकान्तवास, सहिष्णुता आदि) का अभ्यास कर सकें। स्मरण रहे, विघ्न और प्रलोभनोंसे बचकर चलना सहज काम नहीं है। जो भक्त वञ्चक और पाखण्डी नहीं होते, वे क्या करते हैं?

रमा बिलास राम अनुरागी। तजत बमन इव नर बड़भागी॥

भक्तोंपर विपत्तियाँ आती हैं। साधनामें विघ्न-बाधाओंकी कमी नहीं रहती। कभी-कभी भक्त लोग महान् शारीरिक कष्ट, मानसिक विडम्बना, ऐहिक हानि और फजीहतमें पड़ जाते हैं। वह क्यों? यह एक समझनेकी बात है। यही परीक्षाका समय है। यहींपर असली और नकलीकी पहिचान होती है। स्मरण रहे, भक्तका दृष्टिकोण सांसारिक मनुष्योंके दृष्टिकोणसे कुछ भिन्न होता है—उसकी सम्पत्ति और विपत्तिकी परिभाषा कुछ अटपटी होती है—

कह हनुमान बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई॥

सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर ईश्वरको अन्यायी कहनेके बदले भक्त समझता है कि एक बड़ा बोझ हल्का हुआ। भाई-बन्धु और स्त्री-पुत्रके नष्ट हो जानेपर वह (सारे संसारको ही अपना परिकर माननेके कारण) दुःखी होनेके बदले अधिक स्वच्छन्द होकर अवकाशके साथ ईश्वर-भजन करने लगता है। इन विपत्तियोंको वह ईश्वरकी कृपा मानता है।

अतुल ऐश्वर्यवान् भगवान् भक्तके भाव* के भूखे हैं। किसी भी भावनासे भक्ति कीजिये—चाहे मित्रभावसे हो या शत्रुभावसे, सख्यभावसे या दास्यभावसे, वात्सल्यभावसे या कान्ताभावसे; वह अन्तर्यामी सब कुछ समझ सकता है। उसे प्रेमसे दिये हुए शबरीके बनैले बेर, सुदामाके तुच्छ तन्दुल और विदुरके

* भाववस्य भगवान, सुखनिधान करुनाभवन।
तजि ममता मदमान, भजिय सदा सीतारवन॥
(उत्तरकाण्ड)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

घरकी सूखी शाक-भाजीकी बड़ी जरूरत रहती है। कुछ भी न हो तो पत्र, पुष्प, फल ही सही—यह भी न हो दूब या जल ही सही—ये भी न हों तो इन्हें देनेके लिये मनकी भक्तिपूर्ण इच्छा ही सही, परन्तु जबतक वह अपने प्यारे भक्तसे इनमेंसे कुछ भी नहीं पाता तबतक उसका पेट नहीं भरता। क्या श्रीपतिके घरमें लड्डू नहीं हैं जो आप उसे लड्डू देकर रिझाना चाहते हैं? क्या उसके पास आपके धन और रुपये-पैसोंका कोई मूल्य है जिनसे आप उसे खरीदकर अपने वशमें रख सकते हैं? क्या वह अच्छे सिंहासन, सुन्दर मुकुट और विशाल सिंहासनके लिये तरस रहा है जो आप उसे अपने पापपूर्ण पैसोंके बलपर कैद करना चाहते हैं? क्या उस घटघटवासी-को आप अपने बाहरी वेशभूषाके भुलावेमें डाल सकते हैं?

रामहिं केवल प्रेम पियारा। जान लेहु जो जाननिहारा॥
(अयोध्याकाण्ड)
भावसहित खोदइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥
(उत्तरकाण्ड)

भक्तोंका प्रेमभाव ही भगवान्‌का यज्ञभाग है।

परमात्मा स्वयं निर्लिप्त और निर्विकार होकर भी, अपनी भक्तवत्सलताके कारण, संसारसे नाता रखता है—

'मानउँ एक भगतिकर नाता॥'

उसे शरणागत भक्तकी बड़ी चिन्ता रहती है। भक्तकी रक्षा करना, उसकी लाज बचाना और टेकका निर्वाह करना उसका अटल व्रत ही है।

सुनु मुनि तोहिं कहउँ सहरोसा।
भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥
करउँ सदा तिन्हकी रखवारी।
जिमि बालकहिं राखु महतारी॥

भक्तके हितके लिये भगवान्‌को न जाने कौन-कौनसे स्वाँग बनाने पड़ते हैं—न जाने कैसी-कैसी ऊटपटांग बातें करनी पड़ती हैं। कभी-कभी तो उस सर्वशक्तिमान्‌को अपना प्रण छोड़कर भक्तके अटपटे प्रणकी रक्षा करनी पड़ती है। स्थानाभावसे हम यहाँ उदाहरण नहीं दे सकते। इन सब बातोंका विशेष वृत्तान्त जानना हो तो भक्तोंकी जीवनी श्रद्धापूर्वक पढ़िये अथवा किसी यथार्थ भक्तकी प्रत्यक्ष सेवा कीजिये और देखिये कि सबको नचानेवाला राम भक्तकी लाज बचानेके लिये स्वयं कैसे नाच रहा है। यही तो भक्तिकी शक्ति और भक्तकी महिमा है। इसीलिये समझदार लोग निर्दोष, परोपकारी और सरल स्वभाववाले भक्तसे छल-कपट या विरोध करना अथवा उसका अपमान करना अनुचित समझते हैं।

साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी॥
(सुन्दरकाण्ड)

भक्तके अधिकार असाधारण होते हैं। हम पाठकोंका ध्यान इनमेंसे कुछ अधिकारोंकी ओर संक्षेपमें आकर्षित करते हैं। देखिये—

निज प्रन तजि राखेउ प्रन मोरा। छोह सनेह कीन्ह नहिं थोरा॥
राम सदा सेवक रुचि राखी। बेद पुरान संत सुर साखी॥
(अयोध्याकाण्ड)
मायापति सेवक सन माया। करइ तो उलट परइ सुरराया॥
जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥
(अयोध्याकाण्ड)
जापर कृपा रामकी होई। तापर कृपा करहिं सब कोई॥

और

सो नर इंद्रजाल नहिं भूला। जापर होइ सुनट अनुकूला॥
(किष्किन्धाकाण्ड)
भगतिहि सानुकूल रघुराया। तातें तेहि डरपति अति माया॥
हरि सेवकहि न ब्यापि अविद्या। प्रभु प्रेरित तेहि ब्यापै विद्या॥
भगतिवंत अति नीचहु प्रानी। मोहिं प्रान-प्रिय अस मम बानी॥
(उत्तरकाण्ड)

सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत।
श्रीरघुबीरपरायन जहँ नर उपज बिनीत॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मोरे मन प्रभु अस बिसवासा। राम तें अधिक रामकर दासा॥
(उत्तरकाण्ड)

भक्तिका परिणाम क्या होता है? जब साधक भक्त अपनी साधनामें सफल होकर सिद्धिकी अवस्थामें पहुँचता है तब वह ज्ञान-विज्ञान-विशारद, समर्थ और स्वयं परब्रह्मरूप हो जाता है। उस दशामें उसकी जीवदशा दूर हो जाती है।

'जानत तुमहि तुमहि होइ जाई।'

वह अपने लिये इच्छारहित और निष्काम हो जाता है। ऐसी जीवन्मुक्त दशामें स्वयं परमात्मा उसे किसी प्रकारका मोक्ष* देना चाहते हैं तो वह निरपेक्ष संसारत्यागी लेना नहीं चाहता—भुक्ति और मुक्तिके समान दुर्लभ पदार्थ उसे क्षुद्र† मालूम होते हैं; वह अपने प्रसन्न इष्टदेवसे अविरल भक्ति (परामक्ति) की ही याचना करता है। ईश्वरके समान दाताके प्रसन्न होनेपर भला चने और गुड़ कौन मूर्ख माँगेगा? उसे सारा‡ संसार 'सीय राममय' दिखलायी पड़ता है। उसके लिये केवल एक काम रह जाता है—दीन-दुखियोंका उद्धार अथवा परोपकार। चराचर सृष्टि-को परमात्मरूप समझकर वह पवित्र लोकसेवामें लग जाता है। सारांश यह है कि परोपकार सच्चे ईश्वर-भक्तका मुख्य लक्षण है—यह उसका मुख्य स्वरूप है।

'रामभगत पर-हित-निरत, पर-दुख-दुखी दयाल।'

परमार्थी रामभक्त परोपकारी हुए बिना रह नहीं सकता। अतएव हमारी समझमें ईश्वरभक्ति और देशभक्ति तथा समाजसेवा शब्द बहुत दूरतक समान अर्थवाले हैं।

पर उपकार बचन मन काया। संत स्वभाव सहज खगराया।
भूरज तरु सम संत कृपाला। परहित नित सह बिपति बिसाला।
परहित लागि तजहिं जो देही। संतत संत प्रसंसत तेही।

गुसाईंजी कहते हैं:—

संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबनकी करनी।
संत-हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन पै कहि नहिं जाना।
निज परिताप द्रवहिं नवनीता। परदुख द्रवहिं संत सुपुनीता।
(उत्तरकाण्ड)

प्यारे पाठको, लेख बढ़ जानेका डर है अतएव हम कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंको यों ही छोड़ देते हैं; जैसे भक्तिमार्गमें श्रद्धा, विश्वास और एकनिष्ठाका क्या स्थान है, सद्गुरुसेवन और शास्त्रसेवनकी आवश्यकता क्यों है, नवधा भक्तिके आचार्य कौन हैं, भक्तिका अधिकारी कौन होता है, भक्तिमार्गमें भी निर्मल ज्ञान और नित्य-नैमित्तिक कर्मकी आवश्यकता है अथवा नहीं इत्यादि। गोसाईंजीकी रामायणमें इन प्रश्नोंका उत्तर विस्तारपूर्वक मिल जाता है।

सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण ऊँचे आवाजसे कह रहे हैं—'न मे भक्तः प्रणश्यति' मेरे भक्तका नाश हो नहीं सकता, 'मामेकं शरणं व्रज' अरे! तू मेरी शरण आ—बेधड़क चला आ, 'अपि चेत्सुदुराचारो' तू पहलेका दुराचारी रहा हो तो भी मत डर—जब एक बार हार्दिक पश्चात्तापकर तूने अन्तिम निश्चय कर लिया और दुराचार छोड़ दिया तो मैं पिछले पापोंके लिये तुझे क्षमा-प्रदान कर दूँगा।

'कोटि जनम अघ नासौं तबहीं।'

---

* मुक्ति पाँच प्रकारकी बतलायी गयी है—१ सालोक्य २ सार्ष्टि ३ सामीप्य ४ सारूप्य और ५ सायुज्य।

† सगुण उपासक मोच्छ न लेहीं।
तिन्ह कहँ राम भगति निज देहीं॥

‡ सेवक-सेव्य-भाव—
मैं सेवक, सचराचर रूपरासि भगवन्त॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यही भक्तिमार्गकी परम कल्याणकारिणी शक्ति और शरणागत भक्तके सौभाग्यकी विशेषता है। इसी कारण यह मार्ग बड़ा सूक्ष्म और अगम होनेपर भी सुगम कहा गया है। भगवन्, क्या हमारे समान संसार-भुजंग-दंष्ट और अभागी प्राणी भी सजल-नयन तथा गद्गद-कण्ठ होकर कभी यह कह सकेंगे—

श्रवन सुजस सुनि आयउँ, प्रभु भंजन भवभीर।
त्राहि त्राहि आरतिहरन, सरन-सुखद रघुबीर॥

महात्मा रामालिङ्गम्

(लेखक—श्रीस्वामी शुद्धानन्द भारती, पाण्डीचेरी)

१—दिव्य जीवनकी पुकार

जब दक्षिणेश्वरके मन्दिरके शिखरसे यह ध्वनि सुनी गयी थी कि, 'मेरे बच्चे, आओ मैं तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हूँ' उसी समय निम्नलिखित एक दूसरी ध्वनिने दक्षिण भारतके अन्तस्तलसे प्रेम और प्रकाशके संवादको ध्वनित किया था।

'परम दिव्य प्रकाशने—अन्तर्जात शाश्वत प्रकाशने मेरे हृदयको अधिकृत कर लिया है। मैं उससे भरपूर हूँ! मैं अमर हूँ! मनुष्यो! चलो! अपने संकुचित विचारों और भावोंको दूर करो! मैं शुद्ध आध्यात्मिक सत्य-प्रकाशके मार्गकी स्वतन्त्रता तुम्हारे लिये सुरक्षित रखता हूँ! मैं तुझे दिव्य समताके समीप पहुँचा दूँगा! यह मार्ग मेरे परम पिताके द्वारा अभिव्यक्त हुआ है! उसने मुझे तद्रूप कर दिया है! ये शब्द मेरे नहीं हैं! ये उसके हैं! ओ मेरे आत्मन्! निश्चय ही मैंने जिस सत्यका दर्शन किया है उसे तुम्हारे प्रति कहता हूँ—परम आध्यात्मिक प्रकाश मृतको अमरत्व प्रदान करनेमें सर्वथा समर्थ है। सर्वशक्तिमान् प्रभु आ रहे हैं! समय आ गया है! उनकी लीला हो रही है! उनको आत्मसमर्पण करो! उनके समस्त जीवोंसे प्रेम करो! उनकी प्रार्थना करो और उनका ध्यान करो! उनकी कृपा तुम्हारे ऊपर होगी! वह मृतको उठावेंगे। जागो, चलो; समय आ गया है!'

यह स्वामी रामालिङ्गम्की आनन्दमयी ध्वनि थी, जो पवित्र अरुलपा, भगवत्-अनुकम्पाके सङ्गीतके सन्देशवाहक थे। अरुलपा शब्दका तामिल भाषामें अर्थ होता है, (अरूल=भगवत्कृपाका परमानन्द, पा=व्यक्त सङ्गीत अर्थात्) दिव्य परमानन्दसे अभिव्यक्त सङ्गीत। इस ध्वनिने आजसे केवल पचास वर्ष पूर्व हृदयको द्रवीभूत करनेवाले अपने तेजसे, अपने मधुमय स्वरमाधुर्यसे अन्तरात्माको जाग्रत् करनेवाले प्रभावसे अपने स्वामीके आध्यात्मिक व्यक्तित्वके अद्भुत आकर्षणसे, और अपने आदर्शकी दिव्य अभिव्यक्तिसे तामिल प्रदेशके अधिवासियोंके अन्तस्तलको स्पन्दित कर दिया था। अब भी कुछ ऐसे भाग्यशाली पुरुष जीवित हैं जिन्होंने इस ध्वनिको सुना था और जो उस स्वामीके साथ रह चुके हैं। वह ध्वनि अब भी स्पन्दित हो रही है, दिन दिन बढ़ती जा रही है, और अपनी भविष्यद्वाणीकी सत्यताको अधिकाधिक पूर्ण करती जा रही है।

२—तामिल

गहन वनके मध्यकी तपोभूमिसे, महान् पर्वतोंके निर्जन स्थानोंसे, अपनी कलाके प्राचुर्य तथा विधि-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विधानकी महत्तासे पूर्ण विशाल मन्दिरोंसे, तथा चमत्कृत तामिल प्रदेशके गलेका हार बनी हुई सरिताओंके तटके सौन्दर्यसे प्रतिध्वनित दिव्य सत्य-में बहुत कुछ जीवित सौरस्य पाया जाता है। अनेकों संत-कवियोंने 'सत्यं शिवम् सुन्दरम्' की एकताके उच्च शिखरसे दुग्ध और मधुकी धारा प्रवाहित करने-वाले अपने रमणीय शब्दों और सङ्गीतोंसे तामिल साहित्यकी श्रीवृद्धि की है। यह प्राचीन सजीव भाषा* अपने यौवनकी मस्ती, और प्रभूत सङ्गीतके साथ, भक्तिभावके स्तवनों, प्रभावोत्पादक सङ्गीतों और कविताओंकी सङ्कलित निधि और कोषागार है, जिसका आनन्दमय स्पन्दन आज भी सुननेवालोंके हृदयको गद्गद करता हुआ सतत नव जीवनके प्रकाशमें परिवर्तित कर उस अखिल प्रेममयमें तल्लीन कर देता है। इनमें मणिकवचक, वागीश, ज्ञान-सम्बन्ध, सुन्दर, तयूमनवर, पत्नन्तर, नामल्वार्, सङ्गीत, तथा स्वामी रामालिङ्गम्के अरुलपा संसारके भक्तिसाहित्यके चमत्कार हैं, जिस प्रकार कम्बनकी कला† महाकाव्य जगत्का चमत्कार है। रामालिङ्गम्के अरुल, यद्यपि अभी थोड़े ही दिन पूर्व हुए गये हैं तथापि आध्यात्मिक साहित्यमें इनको परमो स्थान प्राप्त हो गया है। यह इलहाम, समरस के आध्यात्मिक जीवनका प्रकाश, सार्वभौम वाइब्लि (धर्मग्रन्थ) आदिके नामसे प्रसिद्ध हैं। इसके उद्ग के साथ जीवनके कितने ही केन्द्र निर्मित हो गये हैं। स्वामीने इसे अपने चमत्कृत जीवनके प्रारम्भि अनुभवोंके रूपमें रक्खा है। इसीसे इसमें इतन आध्यात्मिक आकर्षण है। स्वामी अपने परम पितासे प्रिय शिशुके रूपमें बोलते हैं और सहस्रों प्रकारसे मानवजातिपर कृपा प्रदर्शित करनेकी प्रार्थना करते हैं। सार्वभौम प्रभुमें मनुष्यको समष्टिभावसे संयुक्त करना और मानवताको अमरत्व प्रदान करना उनका व्यसन था। रामालिङ्गम् अरुलज्योति वल्लालारके नामसे पूजे जाते हैं, जिसका अर्थ है असीम उदारता-से पूर्ण आध्यात्मिक प्रकाश। आइये, अब हम उनके जीवन और उपदेशकी एक झलक देखें।

३—चिदम्बरम्

चिदम्बरम् (S. I. Ry) दक्षिण भारतके शैवोंके सर्वप्रधान तीर्थ है, जो आनन्दमय अर्थात् शिवके उपासक हैं। इसके मन्दिरके निर्माणके ही द्वारा शिल्पकलाके रूपमें आध्यात्मिक ज्ञानकी अभिव्यक्ति होती है। वहाँ भगवान् देशकालातीत अप्रमेय ज्ञानाकाशके रूपमें पूजे जाते हैं। निर्गुण सर्वव्यापी ब्रह्म ही वहाँ चिदम्बररहस्य नामसे प्रसिद्ध हैं। मन्दि

* तामिल एक मौलिक साहित्यिक भाषा है, तथा व्याकरण, शैली और छन्द-रचनामें यह अपनी एक और ही विशेषता रखती है। सुप्रसिद्ध तामिलसंघके प्राचीन कालमें तामिलप्रान्त भारतमहासागरमें बहुत दूरतक फैला हुआ था। पीछे प्रलयङ्कर महासामुद्रिक जलप्लावनने इसके अधिकांश भूभागको सदाके लिये जलमग्न कर दिया और उसके साथ ही इसके बहुमूल्य साहित्यका अधिकांश लुप्त हो गया। तथापि अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ टोलकप्पियम (प्राचीन ग्रन्थ), जो आज पूर्ण प्रामाणिक तामिल व्याकरण और अलङ्कारके रूपमें प्रचलित है, नौ हजार वर्ष पूर्व उपस्थित था। तामिल लोगोंमें एक सुव्यवस्थित सामाजिक एकता, सुन्दर राज्य-व्यवस्था, और भाँति-भाँतिकी कलाकी प्रचुरता थी, यह बात तिरुक्कुरल (संत तिरुवल्लूवरके सूत्रों) से, जो आजसे दो हजार वर्ष पहले लिखे गये थे, सिद्ध होती है। यह राष्ट्र बिल्कुल ही आध्यात्मिक है, अनेकमें एक और मनुष्य-में ईश्वरकी लीलाके खोजनेकी भारतीय हृदयकी प्रवृत्ति यहाँ पायी जाती है। तामिल लोग प्रेममय, सौन्दर्यमय, और आनन्दमयके पुजारी हैं।

† कम्बन रामायणके रचयिता और तामिल भाषाके सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

के केन्द्र-स्थानमें चित्सभा (The hall of wisdom) है, जहाँ नटराजकी प्रभावोत्पादक मूर्ति खड़ी है, 'जो ईश्वरके नरसंहारक रूपकी सर्वोत्तम प्रतिकृति है तथा जीवन, तेज और सौन्दर्य एवं आध्यात्मिक अर्थ और अन्तर्काव्यसे पूर्ण है।' वह इतना अधिक प्रभावोत्पादक है कि भक्तको जान पड़ता है कि स्वयं प्रभु एक पैरको उठाकर नृत्य कर रहे हैं। वह मूर्ति पर्देमें छिपे हुए निराकारकी साकार प्रतिकृति है। नानात्वमें परिवर्तित विश्व रंगमञ्च है। सर्वव्यापी परब्रह्म, जिसकी इच्छासे परमाणु गतिशील होते हैं, इसके स्वामी हैं जो अपनी चित्-शक्तिसे विश्वलीलाके कण-कणको प्रेरित कर रहे हैं। उनकी चार भुजाएँ हैं। एक दक्षिण भुजामें डमरू धारण किये है जो क्रियात्मक शब्द-तत्त्वकी प्रतिकृति है। दूसरी दक्षिण भुजा ऊपर उठी हुई प्रसादीमुद्रामें शुद्ध बोधकी रक्षा और कल्याणकी सूचना देती है। एक बाम भुजा उठे हुए पैरकी ओर संकेत करती है जिसका अभिप्राय है 'आत्मसमर्पण करो और आनन्द प्राप्त करो।' दूसरी बाम भुजामें आत्मज्योतिकी दहकती हुई अग्नि है। एक पैर मूयालक दैत्यको दबा रहा है, और उसके समीप एक मृग है जो अविरत चञ्चल मनकी प्रतिकृति है। दूसरा पैर जीवात्माकी रक्षाके लिये तुरीयामें उठा हुआ है। प्रभुने अहङ्कारके व्याघ्रको फाड़कर उसके चरमका परिधान बनाया है। उनके सिरपर गंगा अर्थात् क्रियाशक्ति और चन्द्र अर्थात् जीवात्माका कल्याण है। वह क्षेत्र जहाँ सारी पाशविक वृत्तियाँ, मानसिक दुर्बलताएँ, द्वैतभाव और तृष्णाएँ जलकर भस्मीभूत हो जाती हैं, श्मशान है। वहीं प्रभु नृत्य करते हैं। प्राचीन कालके महात्माओंने ज्ञानके द्वारा नटराजकी उपासना कर भगवान्‌के साथ एकत्वको प्राप्त किया था। इन्हींके सम्मुख संत मनसिआवाचक और संत नन्द इस शरीरसे ही ब्रह्मज्योतिमें अन्तर्हित हो गये हैं। इन्हीं नटराजने हमारे रामालिङ्गम्‌को पुत्ररूपमें वरण किया था और जिन्हें भक्त रामालिङ्गम् पितृवत् पूजते थे।

अरुलपाके संत गाते हैं—'हे देवाधिदेव! हे ताण्डवनृत्यमें रत प्रभु, सर्वसिद्धियोंके मुकुटमणि मेरे माता-पिता नटराज! तुमने मुझे जागृत किया है और मुझे अपने शिशुके रूपमें रक्खा है। तुमने दिव्य ज्ञानके परम रहस्यको मेरे सामने खोल दिया है और मेरे अन्तःकरणमें अलिखित वेदोंको अङ्कित किया है। हे शुद्धस्वरूप, तुम मुझमें प्रकाश हो; मैं तुममें सदा अविभक्त और एक हूँ।'

इसी नटराजके मन्दिरके पड़ोसमें मरुडूर नामक ग्राममें हमारे महात्मा उत्पन्न हुए थे।

४—जन्म और बाल्यकाल

उनके पिता रमैया गाँवके सरपञ्च और शिक्षक थे, वे बड़े ही धर्मात्मा और शिवभक्त थे। वह पातिव्रत धर्मकी जागती ज्योति अपनी धर्मपत्नी चिन्नम्मयीके साथ धार्मिक पारिवारिक जीवन व्यतीत करते थे। वे संत वल्लुवरके इस उपदेशका अनुसरण करते थे—गृहस्थको देखो यदि वह नियमपूर्वक जीवन बिताता है तो वह मनुष्योंमें देवता है।' आदर्श रमणीके विषयमें वही संत कहते हैं—'जो स्त्री अपने पतिव्रतधर्ममें दृढ़ है उसके लिये अधिक महत्ताकी और क्या बात हो सकती है?' चिन्नम्मयी भी ऐसी ही थीं, वह पतिव्रतधर्ममें सदा तत्पर रहती थीं और अपने पतिकी आयके अनुसार सदा ही अतिथि-यज्ञकी पूर्तिमें प्रसन्नतापूर्वक लगी रहती थीं। भाग्यसे दो पुत्र और दो पुत्रियाँ उन्हें प्राप्त हुईं, जिससे उनको अधिक आनन्द हुआ। धर्माचरणमें रत इस धार्मिक परिवारसे भगवान् प्रसन्न हो गये।

ग्रीष्मकालका प्रखर मध्याह्न था। एक पूज्य शिव-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

योगी अचानक उनके द्वारपर उपस्थित हुए । चिन्नम्मयीने उस भव्य मूर्तिको देखा जो चिरकालके तपः-तेजसे द्युतिमन्त हो रही थी । 'अहो, जान पड़ता है कि स्वयं भगवान् नटराज हमारे सम्मुख उपस्थित हुए हैं'—उसने उस महात्माका आदरपूर्वक सत्कार करते हुए अपने मनमें कहा । उसने उनकी आनन्द-पूर्वक अभ्यर्थना की, और वास्तविक भक्तिभाव प्रदर्शित करते हुए श्रद्धापूर्वक तैयार किये हुए मधुर व्यञ्जनोंसे उनकी बुभुक्षा शान्त की । उस महात्माने इस यथोचित आतिथ्यसत्कारसे प्रसन्न होकर कहा कि, 'तुझे मेरे ही समान एक दिव्य पुत्र प्राप्त होगा ।' और उसे थोड़ा-सा भस्म खानेके लिये दिया । रमैया इस वरप्रदानसे बहुत ही प्रसन्न हुए ।

महात्माका आशीर्वाद कभी व्यर्थ नहीं हो सकता, चिन्नम्मयीको ऐसा विश्वास था । एक अभिनव आनन्द-से उसका जीवन भर गया । सन् १८२३ ई० की पाँचवीं अक्टूबरको रविवारके दिन जब चित्रा नक्षत्र उदित था, हमारे ऋषि-कवि प्रभाके समान मुस्कराते हुए इस जगत्में अवतीर्ण हुए । भगवान्की इस कृपासे दम्पतिको जो आनन्द हुआ उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । उन्होंने भगवान्की पूजा की, और बहुत-कुछ दान-दक्षिणामें लुटा दिया । उस महात्मा-के आशीर्वादसे प्राप्त शिशुका नाम रामालिङ्गम् रक्खा गया ।

५—स्वतःसिद्ध चमत्कार

परन्तु सांसारिक जीवन दुःख और शोक, प्रकाश और अन्धकारमें तरङ्गित होता रहता है । शिशु रामालिङ्गम् अभी छः ही महीनेके थे कि उनके पिता-का देहावसान हो गया । परिवारका भार उनके ज्येष्ठ पुत्र सब्रपतिके सिर पड़ा । उन्होंने मृतसंस्कार कर अपने परिवारको लेकर मदरासके लिये प्रस्थान किया । वहाँ अपनेको उन्होंने तामिलसाहित्यका एक योग्य विद्वान् बना दिया और शिक्षकका काम प्राप्त किया, साथ ही शैव पुराणोंके व्याख्याताका भी यह काम करने लगे । इस प्रकार जो कुछ प्राप्त होता था उससे वह अपने परिवारका भरण-पोषण करने लगे । उन्होंने रामालिङ्गम्की शिक्षापर विशेष ध्यान दिया । बालक रामालिङ्गम् अभी पाँच ही वर्षके थे परन्तु उनकी धारणा और स्मृतिशक्ति अपूर्व थी । वे अगस्त्यके अनेकों पद्योंको वह बिना पढ़ाये ही पाठ किया करते थे । कदाचित् यह शिक्षित परिवार वातावरणका परिणाम था । नव वर्षकी अवस्थाके पूर्व ही उन्होंने अपनी मातृभाषाको पूर्णतः जान लिया और अङ्ककी गणना भी करने लगे । सातवें वर्षकी अवस्थासे ही भगवत्प्रेमके लगनकी ऐसी आग उनके दिलमें लगी तो उसके बाद निरन्तर बढ़ती ही गयी । रामालिङ्गम्की शिक्षाके विषयमें यह जनश्रुति प्रसिद्ध है—

वह ज्ञानी ही उत्पन्न हुए थे, यद्यपि उन्हें पढ़ाया-लिखाया नहीं गया था तथापि उन्होंने लोगोंको उपदेश दिया । वह एक प्रसिद्ध पण्डितके तत्त्वावधानमें रक्खे गये थे । परन्तु यह अपूर्व बालक, जो कुछ पण्डितजी पुस्तकी विद्या सिखलाते थे, उससे असावधान रहते थे । उनकी अत्यन्त असावधानीसे उनके भाई उनसे कठिन काम लेने लगे । अपनी सारी चेष्टाओंके असफल होनेपर भाईने क्रोधमें भरकर अपनी स्त्रीसे कह दिया कि रामालिङ्गम्को घरमें भोजन न दिया जाय । और उन्हें घरसे बाहर निकाल दिया । परन्तु उदार हृदयवाली वह रमणी, जब उसके स्वामी घरसे बाहर चले जाते तब चुपकेसे बालकको खिड़की के रास्तेसे बुलाकर भोजन दिया करती थी । एक त्यौहारके दिन बड़े भाईने एक भोज दिया और उन्हें

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बहुतेरे अपने मित्रों और सम्बन्धियोंको निमन्त्रित किया, परन्तु अपने छोटे अविनीत भाईकी अनुपस्थिति उन्हें बहुत खली। घरके लोग आराम कर रहे थे, केवल बड़े भाईकी स्त्री जो उन्हें अपने पुत्रके समान प्यार करती थी, उसकी बाट देख रही थी। तीन बजे रामालिङ्गम् पहुँचे। उस रमणीने उनके सामने बचे खुचे ठण्डे भोजनको परोस दिया और जब वह इस डरसे कि कहीं बड़े भाई आ न जायँ, जल्दी-जल्दी भोजन निगलने लगे तो सरल स्नेहमयी रमणी-के आँखोंमें आँसू भर आये। अपनी भौजाईके आँसुओंको देखकर रामालिङ्गम्का हृदय द्रवीभूत हो गया और वह बारंबार उसका कारण पूछने लगे। उसने कहा—'मेरे बच्चे, कबतक तुम खिड़कीके मार्गसे चोरी-चोरीसे आकर इस प्रकार चोरीका अन्न खाते रहोगे? यदि तुम अपने भाईके आज्ञानुसार पढ़नेमें लग जाओ, तो इस प्रकार तुम्हें दुःख नहीं उठाना पड़ेगा। यदि तुम पढ़नेमें दत्तचित्त हो जाओ तो मेरे प्यारे! तुम हमारे साथ एक होकर हमारे प्रेम और स्नेहके पात्र बन जाओगे। देखो आज कितने मनुष्योंने यहाँ भोजन किया है, और तुम सगे भाई होकर भी इतनी देर बाद इस प्रकार ठंडा भोजन पा रहे हो।' प्रेम और सहानुभूतिके इन शब्दोंसे द्रवीभूत हो रामालिङ्गम्ने दृढ़तापूर्वक कहा—'मेरी माँ, मैं अब पढ़ूँगा। मुझे कोठेपर एक कोठरी और एक दर्पण दे दो।' जो कुछ उसने माँगा, फौरन् दिया गया और बालक स्वयं दिनभरके लिये कोठरी-में बन्द हो गया। वह क्या कर रहा है? क्या वह पुस्तकावलोकनमें लगा हुआ है? यही परिवारके लोगोंकी कामना थी। परन्तु हमारा संत भगवान् षण्मुख और अपने वरण किये हुए गुरुज्ञानसम्बन्ध-का ध्यान कर रहा था और प्रार्थना और स्तवनमें तल्लीन हो रहा था। वह ऐसी पुस्तकोंमें रत हो रहा था जो तबतक लिखी नहीं गयी थीं। उसे ध्यानमें भगवान्की दिव्य छविका परम दर्शन हो रहा था। भगवान्ने आध्यात्मिक उत्कण्ठाके इस स्वर्ण पात्रको अपनी अतुल कृपासे भर दिया। तबसे वह अपने विद्वान् भाईको धर्मशास्त्रोंकी निजी व्याख्यासे चकित करने लगे। इस प्रकार किसी मनुष्यके द्वारा शिक्षा न प्राप्तकर सर्वज्ञ प्रभुसे उन्होंने सर्वज्ञता प्राप्त की। ज्ञान जो इस प्रकार उतरा, उनके हृदयमें पहुँचते ही उनके जीवनके रग-रगमें भीन गया। प्राणियोंके प्रति परम करुणा, सबके प्रति मृदु स्नेह, मधुर वचन, नम्र स्वभाव, सज्जनता, सरलता, श्रद्धालु हृदय, शुद्ध आचार, सत्यता और मनोहर वाणी, निरर्थक वार्ता-लापसे बचना, आत्मसंयम, अहङ्कार और दम्भसे निवृत्ति, पराभक्ति और सर्वोपरि साधनावस्थामें, आत्माके गुह्य तत्त्वमें अधिकाधिक प्रवेश करनेकी लालसामें उनके एक महान् संत होनेके लक्षण दीख पड़ते थे। उनके जन्मजात संस्कारोंने उनके ज्ञान और बुद्धिको इतना सुसम्पन्न कर दिया कि वे अध्ययन और विद्वत्ताकी ज्ञानसीमासे बहुत आगे बढ़ गये। वह संत मनी-सियावाचकरके प्रसिद्ध ग्रन्थ तिरुवाचकम्को पढ़ा करते थे, जिसके शब्दोंमें वह जादू है कि पढ़ते ही भक्तके जीवनमें दिव्य परिवर्तन होने लगता है। ज्ञान-सम्बन्ध* का जीवन उनकी साधनाके अधिक अनुकूल हुआ और उन्होंने बड़ी ही लगनसे भगवान् षण्मुखकी आराधना की। उनके तन्मयकारी षण्मुखके स्तवन सर्वसाधारणमें अधिक प्रचलित हैं और बड़ी ही तल्लीनतासे गाये जाते हैं। कवि अपने एक स्तवनमें गाता है—

* शैवाचार्योंमें सर्वश्रेष्ठ ज्ञानसम्बन्धको तीन वर्षकी उम्रमें ही दिव्य चेतना जाग्रत हुई थी। जनसमाजके कल्याणके लिये उनके शक्तिशाली पदोंने असंख्य चमत्कार किये।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

'मुझे केवल उन्हींके सत्संगकी अभिलाषा है जो तुम्हारे चरणकमलोंमें अनन्य प्रेम रखते हैं; असंतोंकी संगतिसे मैं बचूँगा। मैं आनन्दसे तुम्हारा यशोगान करना चाहता हूँ। असत्यसे मैं दूर रहूँगा। मैं मुक्ति-मार्गका अनुगामी बनूँगा। दंभरूपी असुर मेरे पास नहीं फटक सकता। विषय-वासनाको मैं बिल्कुल भूल जाऊँगा। पर मैं तुम्हें कभी न भूलूँगा। मैं चाहता हूँ ज्ञान, तुम्हारी कृपाकी सम्पत्ति और स्वस्थ जीवन। हे मेरे परम सुन्दर भगवान् षण्मुख! क्या कीट अग्निपर आक्रमण कर सकता है? क्या मृग आकाशको फाँद सकता है? क्या एक चूहा भयानक व्याघ्रको डरा सकता है? क्या मक्खी अपने डैनेपर पर्वतको उठाकर चल सकती है? क्या तृण हीरेके स्तम्भको तोड़ सकता है? क्या अन्धकार सूर्यको ढँक सकता है? नहीं, कदापि नहीं! क्या दुर्बलता, काम-वासना, दम्भ उनके पास कभी फटक सकते हैं, जो तुम्हारे अनन्य प्रेममें रत भक्तोंके चरणकमलका ध्यान करनेवालोंके चरणोंकी पूजा करते हैं?'

उनके घरका वातावरण धर्म और कवितासे परिप्लुत था, क्योंकि उनके भाई सबपति बड़े श्रद्धालु भक्त थे और उन धर्म-ग्रन्थोंके योग्य व्याख्याता थे जो परमोत्तम पदोंसे भरे हुए थे। रामालिङ्गम्ने सच्चे संतों और ज्ञानियोंकी खोज की, और उनसे वेदान्त और दार्शनिक सिद्धान्तोंके विषयमें शास्त्रार्थ किया, इन शास्त्रार्थोंमें उनके तर्क ऐसे मौलिक होते थे कि श्रोता सुन करके दाँतोंतले अँगुली दबाते थे। उनकी नव वर्षकी ही अवस्थामें अभिनव भक्तिसे जो पद्य-प्रसून विकसित हुए थे वह भक्तोंके हृदयमें तभीसे सुरभि प्रसार करते हुए मुकुलित न हुए। इस प्रकार उनके सात वर्ष और बीत गये।

६—प्रेम-मिलनकी तड़प

अब हम रामालिङ्गम्को सोलह वर्षकी किशोरावस्थामें मदरासके समीप तिरुवोत्रीउर (त्यागराज क्षेत्र) के मन्दिरमें भगवान् शिवके सम्मुख पाते हैं। इस देवताके विषयमें उनके सहस्रों मधुर पद हैं। उनको पढ़ते समय एक आध्यात्मिक लगनकी आगसे हृदय बेचैन हो उठते हैं। उस समय भगवद्भावनाकी उनकी तृष्णा ऐसी प्रज्वलित थी—

'हे सर्वज्ञ प्रभु! क्यों, अरे क्यों अपनी कृपामें देर कर रहे हो? तुम्हारी कृपा प्राप्त करनेके लिये रोते-रोते मेरा हृदय सूज गया है! मैं एक यर्तीम (टुअर) बछड़ेके मानिन्द रो रहा हूँ! हे प्रियतम! क्या मेरी अविरत प्रार्थना तुम्हारे हृदयतक नहीं पहुँची? यदि तुम—मेरे एकमात्र आधार—मुझसे विरक्त हो तो फिर मैं और कहाँ जाऊँगा? जिस प्रकार मधुकर नव विकसित सुमनोंका रस लेता है उसी प्रकार भाग्यवान् पुरुष तुम्हारे चरणकमलोंके मधुका पान करते हैं! कब तुम्हारी कृपासे मैं उस परमानन्दको प्राप्त करूँगा? मैं दीनातिदीन हूँ! हे सर्वशक्तिमान्! मुझे न छोड़ो। दुःख और अन्धकार-में जीवनका यह बोझ मेरे लिये असह्य हो रहा है! तुम सर्वज्ञ हो! अद्वितीय हो! मैं तुम्हारा हूँ! मुझे बचाना तुम्हारा काम है! तुम्हीं मेरे एकमात्र आधार हो।'

उनकी भक्तिका प्रवाह इसी प्रकार दिन-रात हृदयद्रावक स्वरमें उमड़ता ही गया, अन्तमें दयामयने उनकी पुकार सुनी।

एक महोत्सवका दिन था। रामालिङ्गम् अपने भक्त साथियोंके साथ अश्रुप्रवाह करते और लंबी साँस भरते हुए उस महान् मन्दिरकी प्रदक्षिणा कर रहे थे। उनकी लालसाभरी दृष्टि एक दिव्य योगीपर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ऊपर पड़ी। और उसके व्यक्तित्वने उनको बलपूर्वक खींच लिया। उनके साथी न जान सके कि वह कहाँ गये और न उनका पता ही लगा सके। दिव्य ज्ञानके लिये तड़पते हुए प्रेमावेशमें आकर रामालिङ्गम् कटे वृक्षके समान उस योगीके पैरोंपर गिर पड़े और इस प्रकार स्तवन करने लगे—

'हे करुणाके सागर, मेरी आत्माके लिये अमृतरूप, मेरे समस्त रोगोंके लिये रामबाण, मैं किस प्रकार तुम्हारा गुण-गान करूँ? सच्चे प्रेमियोंके ऊपर ही तुम्हारी कृपा-वृष्टि होती है! मेरे परम प्रभु, तुम्हारे चरण-कमलोंकी मैं शरण लेता हूँ! मैं पूर्णतः तुम्हें आत्म-समर्पण करता हूँ! हे मेरे पिता, माता, मेरे सर्वस्व! हे करुणासागर, सर्वज्ञ, मुझे अपनाओ और मेरी रक्षा करो।'

इस प्रकार आनन्दोन्मत्त हो प्रार्थना करते हुए उन्होंने उनका पैर पकड़ लिया। योगीने उनको उठाया, करुणापूर्ण दृष्टिसे उनके नेत्रोंकी ओर देखा और उस सच्चे भक्तकी अन्तर्दृष्टिको खोल दिया, ब्रह्मज्ञान-में उन्हें दीक्षित किया और आध्यात्मिक लगनकी आग उनके हृदयमें लगा दी। उस दिव्य अग्निसे प्रज्वलित हो भक्त आनन्दमें मग्न हो उठा और यह शब्द उसके कानोंमें पड़े—'रामालिङ्गम्, मैं सदा तेरे साथ हूँ, डर मत! हे मेरे प्रिय भक्त, अपने मधुर पदोंसे तू मेरी नित्यप्रति आराधना करेगा। मेरी कृपा सदा तेरे ऊपर रहेगी।' और वह मूर्त्ति अचानक अन्तर्हित हो गयी। इस चमत्कारका रहस्य आजकलके संशयवाद-सम्पन्न मानसको कौन समझा सकता है जो परिमित ऐन्द्रिय ज्ञानके परे किसी भी वस्तुमें विश्वास करनेके पहले उसे तर्ककी कसौटीपर कसनेका आग्रह करता है? वह अद्भुत योगी कौन था? क्या वह स्वयं भगवान् थे? हाँ, रामालिङ्गमूको इस विषयमें सन्देह न था। उनके अन्तरंग शिष्योंकी जहाँतक जानकारी थी वहाँतक उनका उस योगीके सिवा कोई दूसरा गुरु न था। क्या यह वही योगी था जिसने उनके जन्मके विषयमें भविष्यद्वाणी की थी? 'शुद्ध आत्माएँ, जिनके मनमें कोई कामना नहीं रह गयी है, उग्र तपस्वी, प्रिय-अप्रियसे विगत पुरुष ही उन्हें प्राप्त करते हैं। यह वही हैं जो चिदाकाशमें आनन्दमग्न हो नृत्य करते हैं। वह अपनी कृपा मुक्तहस्त हो उन सभी भक्तोंको दान देते हैं जो उनके चरणकमलोंमें आश्रय लेते हैं। वह अपने प्रेमियोंके हृदयमें अविभक्त रूपसे बँधे होते हैं। उनके पक्षपातसे उनका दूषण भी भूषण हो जाता है। सचाईकी वहाँ बे-रोक-टोक पहुँच होती है। संत गाता है—

'ओहो, मेरे प्रभुने मेरे ऊपर कृपा की है! मैं अपने प्रभुमें साँस लेता हूँ! मैं खाता हूँ, क्योंकि तुम मुझे खिलाते हो! मैं सोता हूँ, क्योंकि तुम मुझे पलनेपर झुलाते हो! मैं देखता हूँ, क्योंकि तुम मुझे दिखलाते हो! मैं आनन्द भोग करता हूँ, क्योंकि तुम मुझे आनन्दित करते हो! मैं चलता हूँ, क्योंकि तुम मुझे चलाते हो! मैं हूँ, क्योंकि तुम मुझमें हो! बिना तुम्हारे मैं क्या हूँ, क्या कर सकता हूँ?'

इस प्रकारके प्रवाहमें वह भगवान्का स्तवन करते ही गये। भावतक विचारकी पहुँच नहीं होती, विचारतक वाणी नहीं पहुँचती, और वाणीतक लेखनी-की गति नहीं होती! 'ओहो, भावावेशकी कैसी बाढ़ है? गम्भीर वेदना, सूक्ष्म हास्य, अति परिचित और सुगम मार्ग, जिसके द्वार वह कल्याणमय प्रभुके समीप पहुँचते हैं, पूर्णात्पूर्णके सम्मुख उनका अपनी मानवी दुर्बलताओंका खुले शब्दोंमें स्वीकार करना, सतत मिलनके लिये उनकी मञ्जुल विनय, उनकी भाषामें उपमा, उत्प्रेक्षा और यमकालङ्कारकी छटा—यह सारी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बातें उनके मौलिक ग्रन्थोंमें देखकर और अनुभव करके कोई भी आनन्द प्राप्त कर सकता है।

७—भगवान्मय जीवन

इस प्रकार भावमय पदोंकी अविरल धारा आध्यात्मिक अनुभवकी सहकारी धाराओंके साथ सच्चिदानन्दके महासागरकी ओर बहती रही। उनकी माता न थी, भगवान् उनकी माता बने। पिता न थे, भगवान् उनके पिता बने। बहुत देरतक प्रार्थना और गान करते हुए एक दिन आधी रातको उन्हें बहुत भूख लगी। चारों ओरका जगत् निद्रामें स्तब्ध हो रहा था, भक्तको मुमूर्षु अवस्थामें भूखका ध्यान न रहा, मन्दिरके पुजारीकी आकृतिका कोई पुरुष आया, उनको उठाकर शिवका मधुर प्रसाद उनके सामने रक्खा और अन्तर्धान हो गया। वह अपने काव्यके एक अध्यायमें प्रभुकी इस प्रेमपूर्ण कृपाका इस प्रकार स्तवन करते हैं—

'वह मेरी माता है। मुझे भूखा जानकर खिलाती है! प्रतीक्षा करनेके पहले ही मेरी सुधि लेती है। एक दिन अर्धरात्रिको उसने मुझे उठाया और मेरी भूख मिटानेके लिए मुझे खिलाया। वह अपने बच्चेको भूखा नहीं देख सकती। इसी प्रकार वह मेरे हृदयकी भूखको भी दूर करेगी।'

उनका जीवन मदरास और तिरुवुत्रीउरमें बीता। बहुतेरे भक्त और विद्वान् उनके अनुयायी हुए। तत्कालीन प्रतिष्ठित पुरुष उनकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि—'उनका मन ब्रह्ममें निमज्जित हो गया था, उनको धर्मात्मा और विद्वान् पुरुष बड़े ही आदरकी दृष्टिसे देखते थे, वह वस्तुतः स्तवन-योग्य थे।' अपनी त्वरित विकसित आध्यात्मिक चेतना, तथा प्रभुके प्रति दृढ़ प्रेमसे वह सांसारिक विचारोंसे बहुत ऊपर पवित्रताके दिव्य वातावरणमें बढ़े। उस समय उनके बन्धु-बान्धवोंने उनको विवाहबन्धनमें डालनेकी चेष्टा की। परन्तु उनकी स्वतन्त्र वृत्तिने इसे अङ्गीकार न किया, उन्होंने स्पष्टरूपसे उन लोगोंको बतला दिया कि वह नितान्त पवित्रताके मार्गके अधिकारी हैं और उन्हें गृहस्थ-जीवनकी तनिक भी इच्छा नहीं है। दुराग्रहपूर्वक विद्वान् बड़े भाईने उन्हें अपने गुरुज्ञानसम्बन्धके उदाहरणका अनुसरण करनेके लिये कहा, जिन्होंने अपने पिताके अनुरोधसे ब्याह किया था। 'सब कुछ उसकी इच्छासे हो रहा है! आप वही करें, जिसमें आपको सुख हो। और मैं अपने जीवनमें इस लीलाको भी देख लूँ।' इस प्रकार वाणीसे वह राजी हो गये, परन्तु उनके हृदयमें पूर्ण विरक्ति बनी रही। बन्धु-बान्धवोंकी इच्छा पूरी हो गयी, पर रामालिङ्गम्ने सुहागरातको क्या किया? वह पवित्र तिरुवाचकम्के अवलोकनमें रत थे और उनका मन आसपासके इन व्यसनोंके पंजेसे बहुत दूर था। उन्होंने सांसारिक जीवन कभी नहीं बिताया।

८—सार्वभौम करुणा

आइये अब हम उनके अपने जीवनकी निजी अनुस्मृतिका जो 'पुत्रके परम विनयपत्र' (The supreme petition of the son) के नामसे प्रसिद्ध है और ५१६ पंक्तियोंके एक पदमें अङ्कित है, अवलोकन करें।

'हे मेरे प्रभु, सर्वशक्तिमान् पिता, तुमने मेरी जाग्रत् चेतनाका आलिङ्गन किया है! तुमने मेरे ऊपर अपनी अमर कृपाकी वृष्टि की है और मुझे अपने साथ एक कर लिया है! हे मेरी आत्माकी परम ज्योति, मेरे अस्तित्वके जनक, आशु कृपाके अमृत, मेरे जीवनके जीवन, मेरे अपराधोंको और मेरी प्रार्थनाको सुनो!

'तुमने इस वज्रहृदयके सहस्रों अपराधोंको क्षमा कर दिया है, इसके हृदयमें सदाके लिये वास करके

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्वीकार किया है। मधु दुग्ध और अमृतसे भी मधुर-तर हे मधुर ! तुम मेरे हृदयमें हो। मैं पाशविकताके कीचड़में फँसा था। तुम्हारे करुणापूर्ण हाथोंने मुझे ऊपर उठाया और सत्यज्ञानशील पुरुषोंके बीच ला रक्खा। मेरी दुर्बल करुणाको तुम जानते हो। मैं अपने सम्बन्धियों या दूसरोंको भूखा, दुःखित या शोकग्रस्त नहीं देख सकता। भूख, रोग या दारिद्र्य जो दूसरोंको पीड़ित करते हैं, मुझसे सहे नहीं जाते। जब बड़े बूढ़े मित्र या मेरे सम्बन्धी मुझसे अपनी दुःखकी कथा सुनाते हैं, और अपने कौटुम्बिक जंजालोंको सुनाते हैं तो मेरा हृदय रो देता है। जब मृत पुरुषके लिये उसके घरके लोग रोने लगते हैं तो मेरा हृदय शोकसे विचलित हो उठता है। जब सुनता हूँ कि कोई दुर्वृत्त पुरुष धर्म और देवताके नामपर अपनी इन्द्रिय-लोलुपताकी तृप्तिके लिये निर्दोष और मूक प्राणियोंकी निर्दयतापूर्वक हत्या करते हैं तो मेरा हृदय काँप उठता है। हा ! सहस्रों देवी-देवताओं-के नामपर लोग गौवों, बकरों और मुर्गोंकी हत्या करते हैं ! आह ! मैं इसे नहीं सह सकता ! मैं इन स्थानोंमें होकर नहीं जा सकता ! मैं वंशी लगाना और शिकार खेलना सहन नहीं कर सकता। मैं किसी भी कारणसे पशु-पक्षियोंका करुणापूर्ण चीत्कार और किसी भी पशुके कष्टको नहीं सह सकता। जब मैं लोगोंको मछली खाते देखता हूँ तो मैं दुःखसे सूखकर काँटा हो जाता हूँ। जब मैं सुनता हूँ कि इस जगत्में मनुष्य अपने भाई मनुष्यका ही गला काटता है, तो असीम दुःखसे चकित हो मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाता हूँ। जब कभी मेरी जिह्वासे कटु शब्द या असत्य निकलता है अथवा कोई असभ्य बात निकल जाती है, जब कभी मेरे मनमें कामवासना, लोभ या द्वेषका प्रादुर्भाव होता है तो तुम जानते हो मैं कितनी तीव्रतासे पश्चात्ताप करता हूँ। जब मैं आवश्यकतासे अधिक स्वादिष्ट भोजन कर लेता हूँ तो मुझे बेचैनी और पछतावा होने लगता है। जब कभी मैं अनवस्थित चित्तसे तुम्हारे मन्दिरमें प्रवेश करता हूँ तो मैं पश्चा-त्ताप करता हूँ और अपने चित्तको तुम्हारे चरणोंमें लगाता हूँ। संसारमें सम्पत्ति और सम्पत्तिशालीकी पूजा होती है। यदि मैं उनके पास आया-जाया करूँ तो लोग समझेंगे कि मैं उनकी कृपा चाहता हूँ, इसीसे धनी मित्रोंके पास जानेसे मैं वञ्चित रहता हूँ। जब सोचता हूँ कि लोग काम-वासना और विषय-लोलुपताके वश अत्यन्त कष्ट भोगते हैं तो मैं भयसे काँप उठता हूँ। जब स्त्रियाँ मुझे विवश करती हैं तो मैं चालाकीसे उनसे पिण्ड छुड़ाता हूँ और उनके रास्ते होकर आना-जाना भी छोड़ देता हूँ। सुन्दरी कन्याएँ मेरे ऊपर आँखें गड़ाती हैं, मुझे बुलाती हैं, प्रार्थना करती हैं, मेरा हाथ पकड़कर खींचती हैं, अपने भेंटसे मुझे प्रलोभन देती हैं; तथापि काँपते हुए मैंने पूर्ण निष्कलङ्क होकर उनसे बचनेकी चेष्टा की है। हे प्रभु ! मैं यह देखकर काँप उठता हूँ कि लोग किस प्रकार मद-पानमें अपना सर्वस्व नाश करते हैं, दूसरेकी वस्तुको चुराते हैं और उनके घरमें आग लगा देते हैं। गरीबोंके दुःखको देखकर मेरा कलेजा फट जाता है, रेशमी पोशाक पहनकर हाथ भाँजते हुए अहङ्कार-पूर्वक चलना मुझे सहन नहीं होता। मैंने सदा नम्रता-पूर्वक अपने हाथोंको जोड़े हुए रक्खा है। मैं घुटनेपर घुटना रखकर अभिमानपूर्वक नहीं बैठता, दूसरोंको सुनाकर ज़ोरसे नहीं गाता, तोशकपर नहीं सोता, और न लंबी-चौड़ी हाँकते हुए बातें करता हूँ। मैंने कभी दूसरेसे झगड़ा नहीं किया है। मैं सदा जन-समागमसे बचता आया हूँ और कभी संसारके बुरे रिवाजोंको देखकर सहन नहीं कर सका। मैंने मदरासके नागरिक जीवनके चहल-पहलसे बचनेकी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चेष्टा की हैं और अकेले खेतोंमें, जङ्गलोंमें, बाग-बगीचे और मन्दिरोंमें घूमना अधिक पसंद किया है।

मेरी समझमें नहीं आता कि क्यों लोग तुम्हारे पवित्र आध्यात्मिक मार्गसे दूर रहते हैं। अहङ्कारके वशीभूत हो लोग आत्मघात और नरहत्याके मार्गका अनुसरण करते हैं और अबतक तुम्हारी आध्यात्मिक ज्योतिके आनन्दकी ओर उनकी आँखें नहीं खुली हैं। मैं जगत्की रीतिको देखकर काँप उठता हूँ। जबसे मुझे संसारका ज्ञान हुआ है तभीसे मैंने दृढ़तापूर्वक निरन्तर तुम्हारा स्मरण करते हुए तुम्हारे चरणोंमें आश्रय लिया है। यहाँतक कि अपने क्रीडासक्त बाल्यजीवनसे ही मैंने सांसारिकतासे पूर्ण निष्कलङ्क हो तुम्हारे चरणोंमें आत्मसमर्पणका जीवन व्यतीत किया है। मैंने सदा तुम्हें अपना पिता और परम प्रभु माना है। मैं तुम्हारा शिशु हूँ। तुम मेरे रग-रगकी बात जानते हो। तो भी क्या तुम मेरी प्रार्थनाओंपर कान न दोगे?

देखो लोग मदपान करते हैं, डींग हाँकते हैं, झगड़ा करते हैं, जूआ खेलते हैं, जीवहिंसा करते हैं, व्यभिचार करते हैं, धर्मात्मा गुरुजनोंकी अवज्ञा करते हैं, धर्ममार्गका उल्लङ्घन करते हैं, अपनी धृष्ट उद्दण्डता, यौवन और दुराचारके द्वारा अपने पिताके दिलको दुःखी करते हैं। क्या तुम्हारा यह पुत्र कभी ऐसा हुआ है? हे पिता, मेरी प्रार्थना स्वीकार करो। उछले हुए बारहसिंगेके समान लोग विषयानन्दके पीछे दौड़ते हैं और गर्त्तमें गिर जाते हैं। वे सैकड़ों पाप करते हैं। वे इतने कृपण होते हैं कि भूले कौएको भी एक दाना नहीं देते। वे उस बोझ लदे हुए बैलके समान हैं जो कष्टसे आगे बढ़ता है। सारसके समान वे दूषित कामनाओंमें भटकते हैं और सुन्दर सङ्गको छोड़ देते हैं। अपने अन्धकारको प्रकाश समझकर कुत्तेके समान नितान्त अविवेकशीलतामें भूँकते रहते हैं। वे स्वार्थमयी कामनाओंका अनुसरण करते हैं और बन्दरके समान मन लिये भटका करते हैं। अहो, तुम्हारे आनन्दके प्रशान्त महासागरमें ये बातें कैसे हो सकती हैं?'

(शेष आगे

मुरलीकी तान

बजै प्रभु! वही मुरलिकी तान।
जेहि सुनि गोपी अरपन कीन्हें तन मन धन अरु प्रान॥
सप्त स्वरन पैठे सप्तर्षी करत सदा गुन गान।
षट दर्शन षट राग नाम धरि महिमा करत बखान॥
पर्व अठारह भारत, बारह कंध भागवत जान।
रागिनि तीस भईं अति अद्भुत भक्तन हिय सुखदान॥
जमुनातट बंसीबट वे ही नंदगाँव, बरसान।
पै मुरलीकी मधुर छटा बिनु फीको 'मदन' जहान॥

—मदनगोपाल

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

साम्यवाद और अधिकारभेद

(लेखक—श्रीनलिनीकान्त गुप्त)

भारतीय शिक्षा-दीक्षाकी विशेषता है 'अधिकारभेद'। हिन्दूधर्मकी नींव इस अधिकारभेदके ऊपर ही स्थापित है। वर्तमान समयमें देश-विदेशमें जिन धर्म-सम्प्रदायोंकी उत्पत्ति हुई है, उन्होंने एकमात्र विश्वमानवके एक एकत्वको ही परमसत्यके रूपमें देखा है और उन्होंने सब मनुष्योंको एक ही साँचेमें ढालकर एकाकार करनेकी चेष्टा की है। इसका परिणाम यह हुआ है कि इन सम्प्रदायोंके अन्दर धर्मके सब निगूढ़तम रहस्य नहीं आ सके हैं। क्योंकि सब मनुष्य समानरूपसे जिन सत्योंको हृदयङ्गम कर सकते हैं, वे सत्य सहज, सरल, स्थूल अर्थात् अपेक्षाकृत निम्नस्तरके ही होनेके लिये बाध्य हैं। इसीलिये हिन्दू एक कटे-छटे धर्ममतकी सृष्टि नहीं कर सके—तुरीय सत्य 'एकमेवाद्वितीयम्' होनेपर भी व्यवहारका सत्य सम्बन्ध हुआ—उसका सिद्धान्त 'बहुधा वदन्ति' हुआ। इसी कारण उनका धर्म परधर्म-ग्रासी (Proselytising) नहीं बन सका; इसीलिये उसके अन्दर स्तरके बाद स्तर, उच्च-से-उच्चतर तत्त्वराज्यकी अनन्त श्रेणियाँ फूट निकली हैं—वैदिक ऋषिके शब्दोंमें, वह क्रमशः एक सानु (पर्वतस्थ समतलभूमि) से दूसरे सानुपर चढ़ता ही जा रहा है। इसी कारण हिन्दूधर्म इतना विचित्र, इतना बहुविध, इतना जटिल, यहाँतक कि इतना कुटिल (टेढ़ा) हो गया है—कि यह क्या है और क्या नहीं है, इसका कुछ भी सहजमें पता नहीं चलता।

भारतमें जो जातिभेद प्रचलित है, वह आज भारतका मंगल चाहनेवाले लोगोंके लिये निराशाका और अमंगल चाहनेवालोंके लिये उल्लासका कारण हो गया है, यही हम वर्तमानमें देखते हैं। परन्तु इस प्रचुर भेदके पीछे कितना बृहत् सत्य खेल रहा है, उसे हम नहीं समझते, उसका हम सम्मान नहीं करते। प्रथमतः व्यष्टिरूपसे सब मनुष्य समान नहीं हैं। प्रत्येककी शक्तिकी मात्रा पृथक्-पृथक् है, प्रत्येककी चाल पृथक्-पृथक् है। अतएव प्रत्येकका अपना-अपना धर्म और अपना-अपना कर्म है। सब किसीको एक ही धर्म-कर्मके पथपर चलानेकी चेष्टा करना केवल भूल ही नहीं है, बल्कि एक प्रकारका अत्याचार है। और उससे धर्मका भी ह्रास होता है, धर्म कुछ प्राणहीन बाह्य आचारोंमें परिणत हो जाता है अथवा प्राणोंके आवेगमें अंधविश्वास या रूढ़िवादमें पर्यवसित हो जाता है। हिन्दूधर्म जो युग-युगान्तरसे सैकड़ों विपर्ययोंके बीचमें भी टिका हुआ है, वह जो देश, काल और अवस्थाके अनुसार नित्य-नवीन रूप धारण करते हुए जीवित बचा हुआ है, चिरकालसे नये-नये साधक जन्म ग्रहण करके जो उसे प्राणदान देते आ रहे हैं, इसका कारण यही है कि उसने स्वातन्त्र्य, स्वधर्म तथा प्रत्येक व्यक्तिके अपने-अपने विभिन्न मुक्तिपथपर जोर दिया है।

भारतका सामाजिक जीवन भी इसी अधिकारी-भेदके ऊपर गठित हुआ है। सम्प्रदाय, श्रेणी अथवा जाति, वर्ण जो इतने अधिक तथा इतने कड़े घेरेके अन्दर घिरे हुए दिखायी देते हैं, इसका कारण यह है कि विशेष स्वभावके मनुष्य एकत्र होकर एक प्रकारके धर्म-कर्मका अनुसरण करते हैं। इसीलिये हिन्दूधर्म सदासे वर्णसंकर, धर्मसंकरसे डरता आ रहा है। अपनी योग्यता, क्षमताके अनुसार मनुष्यको अपने-अपने धर्म-कर्मके क्षेत्रको सीमित कर रखना होगा, नहीं तो दूसरेके धर्मसे लुब्ध होकर वह यदि अपना धर्म छोड़ बैठे तो अपने धर्मकी साधना तो होगी ही नहीं, दूसरेके धर्ममें भी कभी सिद्धि नहीं मिल सकेगी—ऐसा ही हिन्दूधर्म मानता आ रहा है। इसीसे यह सिद्धान्त बन गया—

'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।'

यही कारण था कि जब अर्जुन युद्धक्षेत्रमें करुणा, मैत्री आदिकी ब्राह्मणसुलभ प्रेरणाओंसे अभिभूत हो गया तब श्रीकृष्णने उनको क्लैब्य, कार्पण्य, क्षुद्र हृदयदौर्बल्यका चिह्न बतलाया।

यह बात ठीक है कि मनुष्यका धर्म बदल सकता है यदि उसका स्वभाव बदल जाय। समाजकी जिस श्रेणी या स्तरमें मनुष्य पैदा हुआ है, उस श्रेणी या स्तरके गुण उसमें नहीं रह सकते, वह भिन्न प्रकारके गुण अपने अंदर ला

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सकता है। किन्तु इसकी भी व्यवस्था समाजमें नहीं है, ऐसी बात नहीं। ब्राह्मणके गुण प्राप्त करनेपर क्षत्रिय भी ब्राह्मणश्रेणीमें सम्मिलित हो सकता है, और क्षत्रियके गुण ब्राह्मणमें आ जानेपर उसका स्थान क्षत्रियोंमें होगा, ऐसी व्यवस्थाके भी उदाहरण पाये जाते हैं। परन्तु मनुष्य सहज ही अपना स्वभाव नहीं बदलता; इस कारण यह नियम अपवादके रूपमें ही दिखायी पड़ता है। फिर भी, व्यक्तिके लिये इस प्रकार धर्मान्तर ग्रहण करना सम्भव होनेपर भी, विभिन्न धार्मिक श्रेणिविभाग समाजकी एक अटूट व्यवस्थाके रूपमें चिरकालसे वर्तमान हैं।

अधिकारी-भेदके कारण ही भारतके जातीय जीवनका विशेषत्व हो गया है संघगत, प्रदेशगत वैचित्र्य (communalism, regionalism); चक्रवर्तीपन (Imperialism) हमारे देशके स्वभावको कभी सहन नहीं हुआ। जब कभी कोई महासाम्राज्य स्थापित हुआ है, समस्त देशमें विभिन्न केन्द्रोंकी विशेषता नष्ट करके सबको एक ही केन्द्रमें युक्त करके एक ही 'पैटर्न' (साँचे) में सब ढालनेकी चेष्टा हुई है, तभी प्रत्येक केन्द्रमें उस दबावके विरुद्ध अपने-अपने स्वातन्त्र्य, स्वधर्मको सुरक्षित रखनेके लिये विद्रोह उठ खड़ा हुआ है। मौर्य चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त तथा अकबर आदिका एकछत्र साम्राज्य इसी प्रकार ध्वंसको प्राप्त हुआ। शिवाजीका महा-राष्ट्रका स्वप्न भी इसी कारण सफल नहीं हो सका। और आजकल जो हमलोग समस्त भारतको राष्ट्रीय दृष्टिसे एक करनेके लिये क्लेश भोग रहे हैं—हम जो यह कह रहे हैं कि प्रादेशिक ईर्ष्या या दलबंदी ही हमारे सब कामोंमें बाधक है—उसके मूलमें भी तो कहीं धर्म-कर्मकी विभिन्नता, जातिगत स्वतन्त्रताको बचा रखनेका प्रयत्न नहीं है?

सब मनुष्य समान हैं—गणतन्त्रकी यह नयी बात, जिसने हमारे मन-प्राणको पूर्णरूपसे अभिभूत कर डाला है, और जिसको आधार बनाकर आज हम देशमें सब संस्थाओंको स्थापित करना चाहते हैं, हमारे देशकी नहीं है, यह क्रिस्तान यूरोपसे आयी है। सब मनुष्य सब काम कर सकते हैं, सब मनुष्योंके सामने खुला मैदान रहेगा—जिसको जैसी सुविधा मिलेगी वह उसी ओर दौड़ पड़ेगा, अपने लिये रास्ता बना लेगा—एनार्किस्टों (अराजकों) के इस मतको, अथवा किसकी सामर्थ्य किस प्रकारकी है, यह विचार करनेकी कोई आवश्यकता नहीं, आवश्यकतानुसार जिसको जो काम करना होगा उसे वह कर सकता है, सब मनुष्यों-को एक ही प्रकारकी शिक्षा-दीक्षाकी, कामकाजकी कक्षमें डाल देनेसे समाजमें शान्ति, सुव्यवस्था, ऐश्वर्य, आनन्द प्रस्फुटित हो उठेगी—सोशियालिस्टों (समाजवादियों) की इस बातको दो दिन पहले सब लोग निर्विवाद मान लेते; परन्तु आजकल यूरोपके बहुत-से विद्वानोंने इसके विरुद्ध बोलना आरम्भ कर दिया है। Men are born equal (सब मनुष्य जन्मसे ही समान हैं)—समाजगठनके इस मूल मंत्रको हमने भावुक कल्पनाप्रिय रूसो (Roussean) के मुखसे सर्वप्रथम जिस दिन सुना, उस दिनसे हम निरन्तर उसीका अनुगमन करनेकी चेष्टा कर रहे हैं; परन्तु हम क्या यह नहीं देखते कि रूसोके मतवादके दुष्परिणामस्वरूप ही बोलशेविक (साम्यवादी) अनुशासन चल रहा है? हाँ, यहाँ एक बात है। भारतमें जिसे अधिकार कहते हैं, वह ठीक वही चीज नहीं है जिसे यूरोपमें Rights (स्वत्व) कहते हैं। हमारे 'अधिकार' शब्दका अर्थ है योग्यता। और सब मनुष्योंकी योग्यता समान नहीं होती। यदि ऐसा भी स्वीकार कर लें कि सब मनुष्योंके समानरूपसे योग्य बननेकी सम्भावना है, केवल आवश्यकता है शिक्षा और सुयोगकी—तो भी यह कहना होगा कि यह शिक्षा और सुयोग विभिन्न प्रकृतिके अनुसार विभिन्न प्रकारका होना चाहिये, अन्यथा सब मनुष्योंमें एक प्रकारकी योग्यता नहीं आ सकती। परन्तु एक-नरूप प्रकारका स्तरविभाग जो सब युगोंमें, सब समाजोंमें देखा गया है—चाहे वह वर्णविभाग हो या श्रेणिविभाग हो—धर्मकर्मकी विभिन्नता, यहाँतक कि ऊँच-नीचका भाव भी अत्यन्त गणवादी धर्मसंघके अन्दर भी देखा गया है, उससे क्या यही नहीं प्रमाणित होता कि यह अधिकारभेद प्रकृतिका एक अटल नियम है, इसको जबरदस्ती अस्वीकार न कर, बल्कि स्वीकारकर इसके सत्यके ऊपर ही समाज सृष्टिको स्थापित करनेमें मनुष्यका मंगल है?

यूरोपमें Rights (न्याय्य स्वत्व) का जो सामञ्जस्य है, वह एक अन्याय, अत्याचारकी प्रतिक्रियाके फलस्वरूप उत्पन्न हुआ है। केवल जीवनरक्षाके लिये जिन चीजोंकी आवश्यकता है, उन्हीं चीजोंपर सब मनुष्योंका समान दावा है। यहाँपर स्वभाव या स्वधर्मका कोई प्रश्न नहीं! शरीरको मुक्त रखना, जीवित रखना मनुष्यमात्रका प्रथम और सर्वप्रथम अधिकार है। इसीलिये समान

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शृंखलाका प्रथम सूत्र है—Habeas corpus, आत्मानं सततं रक्षेत्। स्वाधीनताकी इस न्यूनतम मात्राको जहाँ आघात पहुँचा है, पीड़ित जहाँ रोटीके बदले पत्थर चबानेके लिये आमंत्रित किये गये हैं, वहीं समाजके बन्धनने ढीला होना आरम्भ कर दिया है। फ्रांसके विप्लवकी यही मूल बात थी, रूसकी राज्यक्रान्तिका भी यही मूल तत्त्व था। परन्तु इस प्रकारके विप्लव कितने भी स्वाभाविक और न्यायसंगत क्यों न हों, ये एक अन्यायका प्रतिकार करते हुए एक दूसरे नये अन्यायको बुला लाते हैं, अत्यन्त असाम्यसे मनुष्यको बचाते हुए अत्यन्त साम्यके अन्दर डालकर पीस डालनेका उपक्रम करते हैं। आज क्या हम देशके किसानों और मजदूरोंका उद्धार करते हुए समस्त देशको ही किसान-मज़दूरोंका ही देश नहीं बना डालना चाहते हैं? बोलशेविक (साम्यवादी) शासनमें देशके ज्ञानियों-गुणियों (Intelligentsia) की अवस्था इस बातका प्रमाण दे रही है।

जीवनमें शारीरिक माँगकी दृष्टिसे साम्यवादकी एक आवश्यकता और सार्थकता है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु साम्यवाद जब अपनी उचित सीमाको, अपने यथार्थ क्षेत्रको लाँघ जाता है, जब हम उसका प्रयोग मनुष्यके धर्मकर्मके, उसकी प्रकृतिके, स्वभावके निर्माणमें करना चाहते हैं, तब हम बड़ी भयङ्कर भूल करते हैं। इन सब क्षेत्रोंमें साम्यवाद उत्पीडनका नामान्तर मात्र है। साम्यवादकी उत्पत्ति हुई है हृदयके एक भावसे, कृपासे, सहानुभूतिसे। परन्तु सब मनुष्योंको समानभावसे प्यार करते हुए, मनुष्यजातिके अन्दर भ्रातृभावकी स्थापना करते हुए हम जिस बातको भूल जाते हैं वह यह है कि भीतरका भाव एक रखनेके लिये बाहरका व्यवहार भी एक ही प्रकारका रखना होगा, ऐसी बात नहीं है। स्थान, काल और पात्रके हिसाबसे प्रयोगमें तारतम्य, पार्थक्य, वैभिन्नका होना ही यथार्थ साम्यभावका परिचायक है।

सम्भवतः इस विषयमें सबसे अधिक भूल अध्यात्मवादी ही किया करते हैं। विश्वसृष्टिकी प्रत्येक वस्तुके भीतर एक ही भगवान् हैं, प्रत्येक मनुष्यके आत्मामें एक ही परमात्मा हैं, अतएव कहीं कोई भेद नहीं है—नेह नानास्ति किञ्चन—सब समान हैं, सब एकाकार हैं। बहुत बड़ा साधु भी भगवान् है, अत्यन्त नीच पाखण्डी भी भगवान् है—जो कुछ है सब एक ही शक्ति है, एक ही सत्ता है। ये बातें सत्य होनेपर भी यह अर्द्ध सत्य है। हिन्दूशास्त्रमें यह स्पष्ट ही कहा गया है कि यह पारमार्थिक सत्य है; व्यावहारिक सत्य दूसरे प्रकारका है। व्यावहारिक जगत् भेदके ऊपर, व्यक्तिसत्ताके ऊपर प्रतिष्ठित है। हमलोग रहते तो हैं व्यावहारिक जगत्में और व्यावहारिक जगत्के सत्यको मानना नहीं चाहते, एकदम पारमार्थिक सत्यके द्वारा ही व्यावहारिक जगत्में भी काम निकालना चाहते हैं। फलस्वरूप आध्यात्मिक जगत्में भी हम एक कठोर एकाकारकी, एक प्रकारके 'सोशियलिज़्म' या 'बोलशेविज़्म' (समाजवाद या साम्यवाद) की स्थापना कर बैठते हैं। परन्तु भगवान् एक होनेपर भी जगत् अनेक है, प्रत्येक जीवमें शिव एक होनेपर भी वास्तवमें जीवशक्ति भिन्न-भिन्न है। अतएव भिन्नताको, नानात्वको मिटाकर नहीं, उसे व्यावहारिक दृष्टिसे पूर्णरूपसे सुरक्षित रखकर ही भगवान्के एकत्वकी लीलामें योग देना चाहिये। यदि कोई इसमें समस्या है तो वह यही है कि सृष्टि, मनुष्यजाति असम है, किस प्रकारसे इस असमको ताल, लय, छन्दसे युक्त बनाया जाय। जगत्में, मानवसमाजमें जो असाम्य है, वह सम्भवतः बेताल, बेसुर है। परन्तु उस असाम्यको सुर-तालमें बाँधनेके लिये क्या एक विस्तृत साम्यकी, सब विषमताओंको मिटा देनेकी कोई आवश्यकता है? संगतिका तो अर्थ ही है विविध विषम, असम बातोंका सामञ्जस्य।

अन्तरात्मामें मनुष्य एक हो सकता है, परन्तु उसी अन्तरात्माके प्रकाशसे मनुष्य बहुत विचित्र हो जाता है। सब नदियाँ एक ही सागरमें जाकर मिल सकती हैं, परन्तु प्रत्येक नदीका पेटा, चाल-ढाल, जलके दोषगुण, तटवर्त्ती देश पृथक्-पृथक् ढंगके होते हैं। मनुष्य मनुष्यरूपमें एक होनेपर भी जगत्में जो भेद, अनेकत्व, वैचित्र्य है, यही असली रहस्य है। जिस जाति, जिस समाजने धर्मकी विभिन्नताके अनुसार, अधिकारभेदके ऊपर अपनी शिक्षा-दीक्षा, अपने जीवन-मन्दिरको तैयार किया है, उसकी नींव उतनी ही पक्की है।

यह बात ठीक है कि हिन्दुओंकी सामाजिक व्यवस्था व्यष्टिगत भिन्नताके ऊपर उतनी प्रतिष्ठित नहीं है जितनी कि जातिगत भिन्नताके ऊपर प्रतिष्ठित है! क्योंकि हिन्दुओंने जीवनशक्ति (life-force) की कतिपय साधारण धाराओंको देखा है और इनकी सार्थकताके लिये विविध

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मार्ग खोल दिये हैं, अनेक केन्द्रों, स्तरों, श्रेणियोंका निर्माण कर दिया है। इससे व्यष्टिकी विचित्रता प्रस्फुटित नहीं हो पाती, व्यष्टि एक संघगत भारके नीचे दब गया है। भविष्यका प्रश्न यहींपर है, संघगत वैचित्र्यके अन्दर व्यष्टि-गत स्वातन्त्र्यको किस प्रकार प्रस्फुटित किया जा सकता है। आजकलकी 'डेमोक्रैसी' (प्रजातन्त्र) जिस बातको ध्यानमें रखकर चल रही है वह यही व्यक्तित्वका उद्धार है—परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सब व्यक्ति एकाकार हो जायँगे अथवा जाति या समाज एक तरहके कुछ स्वाधीन विच्छिन्न परमाणुसदृश व्यष्टियोंका समूह बन जायगा!

पतितपावन राम और भक्त सुतीक्ष्ण

(लेखक—महाराज श्रीकृष्णसिंहजी)

अगस्त्य ऋषिके शिष्य सुतीक्ष्णको श्रीरामचरितमानसके सभी प्रेमी पाठक जानते हैं। उनमें अत्यन्त दीनता थी। वे अपनेको प्रभुका सेवक होने योग्य भी नहीं समझते थे। उनके मनमें यह संशय था कि जिस प्रकार प्रभु अपने सेवकोंपर कृपा करके उन्हें दर्शन देते हैं, उसी प्रकार क्या मुझको भी अपना दर्शन देंगे—'सहित अनुज मोहि राम गोसाईं, मिलिहैं निज सेवककी नाईं?' क्योंकि कहाँ भगवान् श्रीरामचन्द्र जो योगेश्वरोंको भी दुर्लभ हैं और कहाँ मैं जिसको छाँछ भी नहीं मिलती! नहीं, कदापि नहीं; भला वे मुझसे कैसे मिल सकेंगे—

मोरे जिय भरोस कछु नाहीं। भगति बिरति न ज्ञान मन माहीं॥

इस प्रकार श्रीरामजीके दर्शनसे निराश होनेके साथ-ही-साथ उनके मनमें विचार उठता है कि 'जब संसारकी तुच्छ-से-तुच्छ वस्तु—नमक, मिर्च आदिके बिना काम नहीं चलता तब भगवान् श्रीराम-चन्द्रजी तो उत्तमोत्तम हैं, उनके बिना कैसे काम चल सकेगा?' ऐसा निश्चय हो जानेके पश्चात् यह प्रश्न उठता है कि 'तब वह मुझ-जैसे साधन-विहीन-को मिल भी कैसे सकेंगे?'

सहसा उन्हें स्मरण हुआ—'एक बानि करुना-निधानकी, सो प्रिय जाके गति न आनकी।' अर्थात् 'जब मुझको प्रभु श्रीरामचन्द्रजीको छोड़कर अन्य किसीकी गति ही नहीं—उनके बिना मेरा काम चल ही नहीं सकता, तो फिर मुझको वे क्यों न मिलेंगे अवश्य मिलेंगे!' अब उन्हें दृढ़ निश्चय हो गया—'होइहैं आजु सफल मम लोचन, देखि बदन पंकज भवमोचन।' इसी लालसामें वे ऐसे मग्न हो गये कि उसका वर्णन भी नहीं किया जा सकता।

बस क्या था, उनकी इस अवस्थाको देखकर हृदय-भव-पीर-हरण भगवान् श्रीरामचन्द्रजी प्रकट हो गये! परन्तु वह तो समाधिस्थ थे। उन्हींके हृदय और प्रेमयोगमें नेत्र बन्द किये अचल पड़े थे। भगवान्ने इस भावसे उन्हें नाना भाँति जगाया कि जिसमें वह मुझको भीतरके अतिरिक्त बाह्य नेत्रोंसे भी देख ले—अपना मनोरथ पूरा कर ले।' परन्तु मुनि (सुतीक्ष्ण) ध्यानमें नेत्र बन्द किये-किये यही सोचते रहे कि 'जो रूप मेरे हृदयमें है, वह बाहर भी मुझको दर्शन देने आ गया। अहा, अब उसको भी देखूँगा।' किन्तु इस 'देखूँगा' के आनन्द इतने तन्मय हो गये कि न तो उनकी आँख ही खुली थी और न वह अन्तरङ्ग रूपके अलावा प्रभुके बाहिरी रूपको देख ही पाते थे। श्रीजानकीनाथजीने बार-बार कहा 'तुम मुझे देख लो।' परन्तु मुनि ही नेत्र खोलनेकी चेष्टा करते, उनके हृदयमें फिर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आनन्द उमड़ने लगता कि 'अहा ! इस भीतरवाली मूर्त्तिको अब मैं नेत्र खोलते ही बाहर देखूँगा। उस समय मुझे न जाने कितना आनन्द मिलेगा ?' बस, वह 'देखूँगा' के आनन्दमें मग्न हो जाते और नेत्र नहीं खोलते। जभी नेत्र खोलनेको हो तभी 'अहा, देखूँगा !' कहकर ही रह जायँ !

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने सोचा कि 'जब यह 'देखूँगा' कि लालसामें ही इतना मग्न है कि मुझे नेत्र खोलकर बाहर देखता ही नहीं, तब मुझको किसी और ही उपायसे इसको दर्शन देना चाहिये।' अतः आपने ऐसी युक्ति की कि जिस रूपको देखनेके लिये वह 'देखूँगा' कहकर ही आनन्द-मग्न हो जाते थे, उसको छिपा लिया और उनके हृदयमें दूसरा ही रूप प्रकट किया—'भूपरूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुजरूप दिखावा ॥' चतुर्भुजरूपको देखकर उन्होंने समझा कि 'आह, 'देखूँगा' ही कहता रह गया और भगवान्‌की वह मन-हरण मूर्त्ति छिप गयी !' अत्यन्त आकुलताके साथ उन्होंने तुरन्त ही आँखें खोलीं तो 'आगे दीख राम तनु स्यामा। सीता अनुज सहित सुखधामा ॥' बस, दर्शन पाकर चरणोंसे लिपट गये और तरह-तरहकी सेवाएँ करने लगे !

तात्पर्य यह कि—

जप तप जोग जज्ञ ब्रत दाना। बिमल बिराग ज्ञान बिज्ञाना ॥
करहिं जतन मुनि पावहिं कोई। देखा प्रगट भगति बस सोई ॥

—के अनुसार जो परम प्रभु योगेश्वरोंको भी दुर्लभ हैं, वही अपने दीन भक्तों और दासोंको यों हठ करके दर्शन देते हैं। अतः हमलोगोंको भी उनका दीन-दास ही बनना चाहिये।

पञ्चवटी

(लेखक—रायबहादुर अवधवासी लाला श्रीसीतारामजी, बी० ए०)

कई बरस हुए हमने सरस्वतीमें एक लेख छपाया था। उसमें यह दिखाया था कि चार स्थानोंको महर्षि वाल्मीकिके आश्रम होनेका दावा है।

१—कानपुर जिलेमें बिठूर।

२—बाँदामें वपरेही गाँवके पास लालापुरकी पहाड़ीपर।

३—बनारस राजमें गंगातटपर।

४—फैजाबादमें मडहाके किनारे।

इसी भाँति पञ्चवटीका स्थान भी विवादग्रस्त है। संयुक्तप्रान्त, पंजाब, राजपूताना, गुजरात और बम्बई प्रान्तमें रहनेवाले नासिकके सामने पञ्चवटी बतलाते हैं और मद्रासप्रान्तके लोग राजमहेन्द्री जिलेमें। हमारे मित्र स्वर्गवासी रायबहादुर बाबू हीरालालजी एक बार दौरेमें उस स्थानपर गये थे, उन्होंने मद्रास-वाली पञ्चवटीके विषयमें जो कुछ लिखा है उसका अनुवाद यह है—

'पञ्चवटी गोदावरीके तटपर है और इसको यहाँ पर्णशाला कहते हैं। गोदावरी नदीके उस पार एक ऊँची पहाड़ी है जो निजाम राजमें है। पहाड़ीके ऊपर कुछ सफ़ेद पत्थर हैं जो रावणके रथके चलनेसे बने हुए माने जाते हैं। उसीके पास एक ताल सीताबाग कहलाता है जिसमें सीताजी स्नान करती थीं। यहीं वनमें श्रीरामजीका एक मन्दिर है जिसका खर्च कुछ बस्तर राजसे दिया जाता है और कुछ निजाम राजसे। इसी कारण निजाम राजने एक बार

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नदीके इस पारतक भूमिका दावा कर दिया था। यहाँसे छः मीलपर एक गाँव है जिसको दुम्मगुधम कहते हैं। दुम्मगुधम तेलगू भाषाका शब्द है। इसका हिन्दी भाषान्तर है पक्षीका गाँव। यहीं रावणको जटायुने रोका था।'

नासिकके विषयमें श्रीमान् वाइ० आर० (Y. R.) गुप्ते महाशयने जो बम्बई प्रान्तके कोलाबा जिलेमें अलीबागके सब-रजिस्ट्रार हैं, हमको लिखा है कि नासिकके पञ्चवटी माननेके प्रतिकूल मुख्य बात भवभूति-के उत्तररामचरितमें गोदावरीका वर्णन है। यहाँ नदीका पाट बहुत कम है क्योंकि यह स्थान गोदावरीके उद्गमसे केवल दस ही मीलपर है। सम्भव है भवभूतिने उस स्थानकी महिमा बढ़ानेके लिये गोदावरीका ऐसा वर्णन किया हो या स्वार्थी लोगोंने अपने लाभसे उसे तीर्थ मान लिया हो। नासिकसे पाँच मीलपर कुछ शिलाछाप ईस्वी सन्‌की दूसरी शताब्दीके पाये जाते हैं। पञ्चवटी गोदावरीके एक ओर है और नासिक दूसरी ओर।

अब इसके निर्णय करनेका हमें एक उपाय मिला है। संस्कृतमें एक ग्रन्थ आनन्दरामायण है। कहा जाता है कि यह भी महर्षि वाल्मीकिका रचा हुआ है। उसमें लिखा है—

यत्र यत्र पञ्चवट्यां रामबाणभयान्मृगः।
चचार गौतमीतीरे संस्थानं तत्र तत्र हि।
संस्थानसंज्ञान्यङ्कानि जातानि वपुराणि च
मृगस्य पतितं यत्र नूपुरं परिधावतः।
नूपुराख्यो महाग्रामः प्रोच्यते गौतमीतटे॥
रामबाणप्रहारेण चपलाक्षोऽपतद्भुवि।
मृगौ यत्र महांस्तत्र चापल्यग्राम उच्यते॥
गोदातीरे श्रावभूम्यां रामबाणहतो मृगः।
पतितो यत्र तच्चिह्नं दृश्यतेऽद्यापि मानवैः॥
सौमित्रचापजा रेखा पञ्चवट्याः समन्ततः।
अद्यापि दृश्यते स्पष्टा नदीरूपा भयावहा॥
पाषाणभूम्यां तत्रैव रावणस्य पदं महत्।
अद्यापि दृश्यते भीमं गर्तरूपं नरोत्तमैः॥

'रामबाणके डरसे मृग पञ्चवटीमें जहाँ-जहाँ गौतमी के तटपर भागा वहीं अनेक संस्थान और नगर बस गये हैं। भागते हुए हिरनका जहाँ नूपुर गिरा था वहाँ गौतमीके किनारे नूपुर नामका बड़ा गाँव बसा है। जहाँ वह चञ्चल आँखवाला हिरन श्रीरामके बाणके प्रहारसे गिरा था उस स्थानपर बसे गाँवको चापल्यग्राम कहते हैं। जिस स्थानपर हिरन गिरा था उस स्थानपर अब भी चिह्न देखे जाते हैं। पञ्चवटीके चारों ओर लक्ष्मणजीने धनुषसे जो रेखा खींची थी वहाँ अब भयङ्कर नदी बन गयी है। पञ्चवटीकी भूमिपर जहाँ रावणका चरण पड़ा था वहाँ अब एक भयङ्कर गढ़ा है।' उसी ग्रन्थमें लिखा है कि खर जिस नगरमें रहता था उसका नाम त्रिकंटक था जो अब त्र्यम्बक हो गया है। क्या कोई भगवद्भक्त या विचारशील हुए साधु महात्मा यह बतला सकते हैं कि जो स्थान आनन्दरामायणमें लिखे हैं वे नासिककी पञ्चवटीके हैं या राजमहेन्द्रीकी? दोनों स्थान गोदावरीतटके हैं, एक उद्गमके पास है दूसरा मुहानेके।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भक्त-गाथा

भक्त पुण्डरीक

महामति पुण्डरीक शास्त्रोंके ज्ञाता, वेद-वेदाङ्गमें निपुण, तप और स्वाध्यायके प्रेमी, इन्द्रियोंको जीते हुए, क्षमाशील ब्राह्मणकुमार थे। प्रतिदिन नियमसे त्रिकाल सन्ध्या, और सुबह-शाम विधिपूर्वक अग्निहोत्र करते थे। जल, ईंधन और पुष्पादिके द्वारा उन्होंने बहुत दिनोंतक श्रद्धापूर्वक गुरुकी सेवा की थी। वे नित्य प्राणायाम और जगत्पति भगवान् विष्णुका ध्यान करते थे। उनके मनमें अभिमान और डाह नहीं था। भक्तिपूर्वक पिता-माताकी सब प्रकारकी सेवा करने और उन्हें सुख पहुँचानेमें उन्हें बहुत प्रीति थी। सारांश यह कि पुण्डरीकजी अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंका भलीभाँति पालन करते हुए ही सर्वव्यापी भगवान्‌की आराधना करते थे। भगवान्‌को स्मरण करते हुए भगवान्‌के लिये ही वे लौकिक और वैदिक समस्त धर्मोंका पालन करते थे। यों करते-करते जब उनके अन्तःकरणकी शुद्धि हो गयी और संसारके किसी भी पदार्थमें उनकी उतनी आसक्ति, ममता, स्पृहा या कामना नहीं रही। तब अपने शुद्ध हृदयमें उन्हें भगवान्‌का आह्वान सुनायी दिया और वे उसी क्षण सब कुछ छोड़-छाड़कर प्रियतमको पानेके लिये अभिसारिणीके रूपमें वहाँसे चल पड़े। संसाररूपी समुद्रसे तारनेवाली विमल बुद्धिके प्रकाशने उनके समस्त मोह-तमको हटा दिया। वे माता, पिता, भाई, सुहृद, स्वजन, मित्र, मामा, सखा-सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव, धनधान्यसे भरा हुआ इन्द्रपुरीके समान घर और सब प्रकारकी वस्तुओंको उत्पन्न करनेवाली उर्वरा भूमिको तिनकेके समान त्यागकर महासुखी हो गये*। जिनका मन रामके लिये व्याकुल हो उठता है उन्हें विषयोंका आराम नहीं भाता। उन्हें उसके त्यागमें ही महासुख मिलता है। यह कर्मत्याग पहले किये हुए शुभ कर्मोंके आचरणका ही फल होता है। धर्मोंके विधिपूर्वक निष्कामभावसे पालन करने पर ही अन्तःकरण शुद्ध होकर भगवान्‌को पानेके लिये व्याकुल हो उठता है। फिर उसे आधे क्षणका भी भगवान्‌का वियोग असह्य हो जाता है, और वह अपने प्रियतम भगवान्‌को प्राप्त करनेके लिये किसी भी वस्तुके त्याग, किसी भी कष्टके सहन, किसी भी तपके आचरण, किसी भी मार्गके अनुसरण, और किसी भी विपत्तिको वरण करनेके लिये लालायित हो जाता है। कुछ भी हो भगवान् मिलने चाहिये। अस्तु!

भक्त पुण्डरीक साग, मूल या फल जो कुछ मिल जाता, उसीसे उदरनिर्वाह करते हुए प्रियतमकी खोजमें देश-देशान्तरोंमें घूमने लगे। उन्होंने सभी प्रधान-प्रधान तीर्थोंमें भ्रमण किया। घूमते-घूमते एक दिन वे शालग्राम नामक एक गाँवमें जा पहुँचे। यह स्थान बहुत ही रम्य, पवित्र, एकान्त, भगवदीय चिह्नोंसे भूषित था। यहाँ बड़े-बड़े तत्त्वज्ञ महात्मा रहते थे। इस पुण्यतीर्थमें विविध पवित्र जलाशय और कुण्ड थे। पुण्डरीकने उनमें स्नान किया। इस विशुद्ध तीर्थमें उनका मन लग गया। वे वहीं रहकर परम भक्तिके साथ भगवान्‌का

---

*मातरं पितरं चैव भ्रातॄनथ सुहृज्जनान्।
मित्राणि मातुलांश्चैव सखीन् सम्बन्धिबान्धवान्॥
धनधान्यसमृद्धं च गृहं वा शक्रसन्निभम्।
क्षेत्राणि सुमहार्हाणि सर्वशस्योद्भवानि च॥
परित्यज्य महासत्त्वस्तृणानीव महासुखी।
(पद्म० उ० ८०)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सतत ध्यान करने लगे। उनके मनसे रागद्वेष दूर हो गये। हृदय परमपवित्र हो गया। उसमें भगवान्‌की शक्ति मानो उतर आयी। वे अपने अन्दर भगवद्भावका प्रत्यक्ष अनुभव करने लगे। मूर्तिमान् स्वधर्मकी भाँति विराजित हुए उन्होंने अपनी आराधनासे भगवान्‌को सन्तुष्ट कर लिया! अतएव भगवान्‌ने अपने परम भक्त देवर्षि नारदको बुलाकर कहा कि 'वत्स, मेरे प्यारे भक्त पुण्डरीककी भक्तिसे मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ। तुम जाओ, उसकी भक्तिको और भी सुदृढ़ करनेके लिये उसे उचित उपदेश दो।'

भगवान्‌की आज्ञा पाकर भक्त-शिरोमणि नारदजी भक्तको दर्शन देनेके लिये या अपने भगवान्‌के द्वारा प्रशंसित भाग्यवान् भक्तका दर्शन पानेके लिये वैकुण्ठसे चल पड़े। परमार्थके तत्त्वज्ञ साक्षात् भगवान्‌के हृदय-स्वरूप श्रीनारदजीका चित्त पवित्र भक्ति-रसकी बाढ़से सदा ही उछला करता है। वे भक्तोंके हितके लिये ही सदासर्वदा जहाँ-तहाँ विचरण करते रहते हैं। साक्षात् सूर्यके समान महातेजा (*सुमहातेजाः साक्षादादित्य-सन्निभः*) भक्तराज नारदजी मधुर वीणा बजाते, पवित्र हरिगुण गाते और मन्द-मन्द मुसकराते हुए तपोनिधि पुण्डरीकके स्थानपर पहुँचे। महामना पुण्डरीकने तेजोमण्डलसे घिरे हुए सर्ववेदनिधि नारदजीको सामने उपस्थित देखकर तुरन्त खड़े होकर प्रणाम किया। नारदजीके दर्शनसे ही उनके रोमाञ्च हो आया, नेत्रोंमें आनन्दाश्रु आ गये, पुण्डरीकजीने प्रेमविह्वल चित्तसे उन्हें अर्घ्यादि देकर पुनः प्रणाम किया। वे नारदजीका मनोहर वेश देखकर मन-ही-मन सोचने लगे; ये प्रसन्न-मुख, वीणाधारी महातेजा महात्मा कौन हैं। साक्षात् सूर्य, अग्नि या वरुणदेव तो नहीं हैं। इस प्रकार विचार करते-करते कुछ भी स्थिर न कर सकनेपर पुण्डरीकजीने पुनः प्रणाम करके पूछा, 'प्रभो! अमित तेजस्वी महानुभाव आप कौन हैं? और यहाँ आपका कहाँसे शुभागमन हुआ है? हे भगवन्! आप-सरीखे महात्माओंके दर्शन इस धरामण्डलमें बहुत ही दुर्लभ हैं। मैंने तो आजतक आपके सदृश किसी पुरुष-के दर्शन नहीं किये। हे स्वामिन्! कृपा करके बतलाइये, दासको अपने दर्शनसे कृतार्थ करनेवाले आप कौन हैं?' नारदजीने मुस्कराते हुए कहा, 'भक्तवर! मैं तुम्हारे दर्शन करनेके लिये ही यहाँ आया हूँ। तुम-सरीखे भक्तोंसे मिलनेमें मुझे बहुत सुख मिलता है। भक्तोंका अमित प्रभाव होता है। हे द्विजश्रेष्ठ! तुम्हारी तो बात ही क्या है, याद करने, सन्तुष्ट करने अथवा पूजा करनेपर भगवान्‌का प्यारा भक्त चाण्डाल भी जीवोंको पवित्र कर देता है*। मेरा तो इतना ही परिचय है कि मैं तीनों लोकोंके एकमात्र साक्षी शंखचक्रगदा-पद्मधारी (निर्गुण और सगुण रूप) देवदेव भगवान् श्रीवासुदेवका दास हूँ।'

इतना कहते ही नारदजीको पहचानकर पुण्डरीक प्रेमावेशसे पुलकित हो गये और कुछ देर बाद धैर्य धारणकर गद्‌गद वाणीसे कहने लगे—'प्रभो! आज शरीरधारियोंमें मैं धन्य हो गया, मैं देवपूज्य हो गया। मेरे सब पुरखे आज तर गये। मेरा जन्म सफल हो गया। अब हे देवर्षे! अपने इस भक्त और दासके प्रति विशेष कृपा करके जो कुछ मेरे योग्य हो सो उपदेश कीजिये। परम गोपनीय होनेपर भी छिपाइये नहीं। आप सभी जीवोंके, खासकरके हरिके मार्गपर चलनेवालोंके तो एकमात्र गति हैं। मुझ संसार-सागरमें डूबे हुएको बचाइये!'

पुण्डरीककी अभिमानशून्य सरल विनयपूर्ण बातें सुनकर नारदजीको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने उनको सच्चा भक्त जानकर भगवान्‌की आज्ञानुसार कुछ कहना आरम्भ किया। नारदजी बोले—

---

*स्मृतः सन्तोषितो वापि पूजितो वा द्विजोत्तम।
पुनाति भगवद्भक्तश्चाण्डालोऽपि यदृच्छया॥
(पद्म० उ० ८०)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

'हे द्विजोत्तम ! इस लोकमें अनेक प्रकारके मनुष्य हैं, और उनके अनेकों मत हैं। नाना प्रकारके तर्कोंसे सब अपने-अपने मतोंका समर्थन करते हैं; मैं सबके तर्कोंको समझकर जो निश्चित परमार्थ तत्त्व है, वही तुमसे कहता हूँ। यह परमार्थ तत्त्व सहज ही समझमें नहीं आता। तत्त्ववेत्तागण प्रमाणोंद्वारा ही इसका प्रतिपादन करते हैं। जो लोग मूर्ख हैं, वे केवल प्रत्यक्ष और वर्तमान प्रमाणको ही मानना चाहते हैं। वे अनागत, अतीत प्रमाणोंको स्वीकार नहीं करते। मुनिगण कहते हैं कि जो पूर्वरूप—परम्परासे चला आता है, वही आगम है; यह आगम ही प्रमाण है। इसीसे परमार्थ तत्त्वकी सिद्धि होती है। जिसके अभ्याससे ज्ञान होता है, राग-द्वेषका मल नष्ट होता है वही आगम है। जो कर्म, कर्मफल, तत्त्व, विज्ञान, दर्शन और विभु है, जिसमें जाति आदिकी कोई कल्पना नहीं है, जो नित्य आत्मसंवेदन है, जो सनातन, अतीन्द्रिय, चेतन, अमृत, अज्ञेय, अनन्त, अज, अविनाशी, अव्यक्त, व्यक्त, व्यक्तमें स्थित और निरञ्जन है वही द्वितीय आगम है। वही विश्वमें व्याप्त होनेके कारण विष्णु कहलाता है, उसीके और भी अनेकों नाम हैं। परमार्थसे विमुख व्यक्ति उस योगियोंकी परम ध्येय वस्तुको प्रत्यक्ष प्रमाणोंसे नहीं जान सकते।'

भक्तगण किसी बातको कहते हैं तो उसमें यह अभिमान नहीं आने देते कि यह हमारा मत है। क्योंकि उनका अपना मत कुछ रहता ही नहीं, वे तो अपना सब कुछ भगवान्‌में मिला देते हैं, भगवान्‌का मत ही उनका मत होता है। वस्तुतः संसारमें नया कुछ भी नहीं है। पुराना ही नये-नये रूपोंमें प्रत्यक्ष होता है। अतएव नारदजी अपनी ओरसे उपदेश न देकर अब पुराने इतिहासका संकेत करके कहने लगे कि हे निष्पाप पुण्डरीक ! एक समय मैंने ब्रह्मलोकमें पितामह ब्रह्माजीसे विनयपूर्वक प्रणाम करनेके अनन्तर इस विषयमें पूछा था, उसका जो कुछ उत्तर उन्होंने मुझको दिया था, वही मैं तुमसे कहता हूँ। ब्रह्माजीने कहा था कि 'भगवान् श्रीनारायण ही सब भूतोंके आत्मा, जगदाधार, पचीस तत्त्वोंके रूपमें प्रकाशित, सनातन परमात्मा हैं। जगत्‌का सिरजन, पालन और संहार उन नारायणदेवसे ही होता है। वही विश्व, तैजस और प्राज्ञ ये त्रिविध आत्मा हैं, वही सबके अधीश्वर, एकमात्र सनातन देवदेव हैं। ज्ञानयोगीगण ज्ञानकी साधनाके द्वारा इन्हीं जगन्नाथ नारायणदेवका साक्षात्-कार करते हैं। जिनका चित्त श्रीनारायणमें विलीन है, जिनके प्राण श्रीनारायणमें समर्पित हैं, जो केवल मात्र श्रीनारायणके ही परायण हैं, वे श्रीनारायणकी कृपा और शक्तिसे अपने ज्ञाननेत्रोंद्वारा वर्तमान, भूत और भविष्यको देख सकते हैं। इस जगत्‌में बीता हुआ, वर्तमान, और होनेवाला; समीप और दूर; स्थूल और सूक्ष्म कुछ भी उनसे अज्ञात नहीं रहता।'

पितामह ब्रह्माजीने इन्द्रादि देवताओंसे भी एक दिन कहा था कि 'धर्म नारायणके आश्रित है, सब सनातन लोक, यज्ञ, शास्त्र, सब अंगोंसहित वेद और अन्य जो कुछ भी है, सब श्रीनारायणके ही आधारपर है। वे नारायण ही विष्णु हैं, वही विश्वेश्वर हरि हैं। वे अव्यक्त पुरुष ही पृथिवी आदि पञ्चभूत हैं। यह सारा जगत् केवल विष्णुमय ही है। पापी मनुष्य इस तत्त्वको नहीं जानते। वे नारायण ही अपनी मायासे इस चराचर विश्वमें व्याप्त हैं। जिनका चित्त उन नारायणमें लगा है, जिनका जीवन उनके अर्पण है ऐसे परमार्थके ज्ञाता पुरुष ही उनको जानते हैं। श्रीनारायण ही सब भूत हैं, सब भूतोंमें व्याप्त हैं और सब भूतोंके ईश्वर हैं। वही तीनों लोकोंका पालन करते हैं। समस्त जगत् उन्हींमें प्रतिष्ठित है, और उन्हींसे उत्पन्न है। वही इस जगत्‌के संहारमें रुद्ररूपसे, पालनमें विष्णुरूपसे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

और सृजनमें ब्रह्मारूपसे नियुक्त हैं। वही अन्यान्य लोकपालगण हैं। वे परात्पर पुरुष ही सर्वाधार, निराधार, सकल, निष्कल, अणु और महान् हैं। उन परमप्रभु देवदेवकी ही शरण सबको होना चाहिये।' ब्रह्माजीने ऐसा कहा था अतएव हे विप्रर्षे! तुम भी नारायणके परायण हो जाओ। उनको छोड़कर कौन ऐसा देव है जो हमारा मनमाना पदार्थ दे सकता है? वे पुरुषोत्तमदेव ही पिता-माता हैं, वे ही लोकेश, देवदेव और जगत्पति हैं। उन्हींकी शरण हो जाओ! अग्निहोत्र, तप या अध्ययन—अपने सभी कर्मोंसे नित्य निरन्तर सावधानीके साथ एकमात्र उन्हींको सन्तुष्ट करना चाहिये। अतएव तुम उन पुरुषोत्तमका ही आश्रय ग्रहण करो; उनके शरण होनेपर न तो बहुत-से मन्त्रोंकी आवश्यकता है और न व्रतोंका ही प्रयोजन है। एक 'ॐनमो नारायणाय' मन्त्र ही सब मनोरथोंकी पूर्ति करनेवाला है। हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! उनकी आराधनामें किसी बाहरी वेषकी जरूरत नहीं है। कपड़े पहने हो, न पहने हो, जटाधारी हो या सिर मुँडाये हो, त्यागी हो या गृहस्थ हो, सभी अनन्य मनसे भक्तिपूर्वक उनकी आराधना कर सकते हैं। चिह्न धर्मका कारण नहीं है (*न लिङ्गं धर्मकारणम्*)। वरं जो लोग पहले निर्दयी, दुष्टात्मा और सदा पापोंमें ही लगे रहते हैं वे भी नारायणपरायण होनेपर सनातन परमधामको प्राप्त होते हैं। भगवान्‌के निष्पाप भक्त पापके कीचड़में कभी लिप्त नहीं होते। अहिंसासे चित्तको जीते हुए वे भक्त सब लोकोंको पवित्र करते हैं। प्राचीनकालमें प्राणियोंकी हिंसा करनेवाले एक शिकारी राजा नारायणपरायण होकर परमधामको प्राप्त हुए हैं, परम तत्त्वज्ञ राजा अम्बरीषजी भगवान् हृषीकेशकी आराधना करके वैष्णवपदको पा चुके हैं। अनेक शान्तचित्त ब्राह्मणोंने भगवान्‌का ध्यान करके सिद्धि प्राप्त की है। असुरबालक प्रह्लादने परम आह्लादके साथ भगवान् श्रीनारायणदेवकी सेवापूजा और ध्यान करके हरिके द्वारा सुरक्षित रहकर परमपद पाया है। तेजस्वी राजा भरत श्रीहरिकी उपासना करके परम शान्तिको पा चुके हैं। श्रीहरिकी आराधनासे सभीको परमगति मिल सकती है, और श्रीहरिकी आराधनाके बिना किसीको भी परमगति नहीं मिलती; चाहे वह ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ या संन्यासी कोई भी क्यों न हो। हजारों जन्मोंके अनन्तर भगवत्कृपासे जिसको ऐसी सुबुद्धि प्राप्त होती है कि 'मैं हरिभक्तोंका दास हूँ' वह पुरुष भी भगवान्‌को प्राप्त करता है। फिर जो महापुरुष अनन्यचित्त हैं और प्रेमसे परिप्लावितहृदय हैं, उनके लिये तो कहना ही क्या है? इसीलिये तत्त्वके जाननेवाले पुरुष सब ओरसे चित्तको हटाकर अनन्य चित्तसे नित्य-निरन्तर उन सनातन परमात्मदेवका ध्यान ही करते हैं।

देवर्षि नारदजी इतना कहकर अन्तर्धान हो गये। धर्मात्मा पुण्डरीककी नारायणपरायणता और भी दृढ़ एवं उज्ज्वल हो गयी। वे 'ॐ नमो नारायणाय' मन्त्रका जप करने लगे और भगवान्‌के अमृतमय मधुर ध्यानमें निमग्न हो गये। उनकी स्थिति बहुत ही ऊँची होने लगी, अन्तमें यहाँतक पहुँची कि अमृतात्मक भगवान् गोविन्ददेव उनके हृदय-कमलपर आ विराजे। सारा अन्तःकरण भगवान्‌के पवित्र संसर्गसे दीप्तिमान् और भगवन्मय हो गया। अब उनकी बुद्धि और मनमें भगवान् केशवको छोड़कर स्वप्नमें भी कोई चीज नहीं रह गयी, यहाँतक कि पुरुषार्थका विरोध करनेवाली निद्रा भी नष्ट हो गयी।

बुद्धि और मनमें भगवान्‌का आविर्भाव होकर उनका दिव्य भगवद्रूपमें परिणत हो जाना बहुत-से महापुरुषोंमें देखा-सुना जाता है, परन्तु स्थूल देहमें दिव्यत्वकी प्राप्ति कदाचित् ही कहीं होती है। पुण्डरीकजीने समस्त भुवनोंके एकमात्र साक्षी पुरुषोत्तम वासुदेव भगवान्‌को

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परम कृपासे अपने निष्पाप देहमें इसी परम दिव्य वैष्णवी सिद्धिको प्राप्त किया। पुण्डरीकने देखा उनका अङ्ग श्यामवर्ण हो गया है, चार भुजाएँ हो गयी हैं, जिनमें शंख, चक्र, गदा और पद्म है, पवित्र पीत वस्त्र है, तेजोमण्डलने उनके शरीरको घेर लिया है और वे पुण्डरीकाक्ष बन गये हैं। वनके सिंह, व्याघ्र और अन्यान्य हिंसक पशु सहज ही सारे वैरभावको भुलाकर उनके समीप एकत्र हो रहे हैं और प्रसन्न मनसे यथेच्छ प्रेमपूर्वक विचरण कर रहे हैं, इस प्रकार विरोधी जीव परस्पर हितैषी हो गये, नदी और सरोवरोंका जल प्रसन्न और मधुरतम बन गया, शीतल सुगन्ध सुखकर वायु बहने लगा, ऋतु सुप्रसन्न हो गयी, वनके वृक्ष-समूह सुगन्धित और मधुर पुष्पफलभारसे नत हो लद गये। सभी पदार्थ पुण्डरीकके अनुकूल और परम सुखकर हो उठे। भक्तवत्सल देवदेवेश्वर भगवान्‌के प्रसन्न होनेपर समस्त चराचर जगत् प्रसन्न हो ही जाता है, सभी जीव और प्रकृतिकी सारी वस्तुएँ उस जगद्वन्द्य भक्त-की सेवाकर अपने जीवनको सफल करना चाहती हैं।

यों तो अब पुण्डरीकजीका देह, मन, बुद्धि सब कुछ भगवन्मय हो गया था, परन्तु भक्तके हृदयनिधि कमलदललोचन भगवान् अपने भक्त पुण्डरीकको जगत्प्रसिद्ध पावन बनाने और इस भक्तिका चरम फल देनेके लिये स्वयं अपने दिव्य मंगल स्वरूपमें उनके सामने आविर्भूत हुए। भगवान्‌के तीनों हाथोंमें शंख, चक्र और गदा है, एक हाथकी अभयमुद्रासे आप भक्तको आश्वासन दे रहे हैं। करोड़ों सूर्योंके समान भगवान्‌का प्रकाश है। करोड़ों चन्द्रमाओं-के समान भगवान्‌के प्रत्येक अङ्गसे सुधावृष्टि हो रही है। करोड़ों कामदेवोंके दर्पको चूर्ण करनेवाला भगवान्‌का सौन्दर्य है। भगवान्‌के नेत्र कमलके समान अत्यन्त सुन्दर और विशाल हैं। चन्द्रविम्बकी शोभाको मन्द करनेवाला भगवान्‌का मुखकमल है। भगवान्‌के कानोंमें कुण्डल, गलेमें रत्नहार, वनमाला, वक्षस्थलपर लक्ष्मीजीकी मूर्ति और विप्रपदचिह्न हैं। कौस्तुभमणि गलेमें सुशोभित हो रही है। भगवान्‌के अधर और मोतियोंकी-सी दंत-पंक्ति अत्यन्त शोभित है। मस्तकपर अति मनोहर मुकुट है। स्कन्धपर चैतन्य ब्रह्मसूत्र विराजित है। देवता, सिद्ध, गन्धर्व, श्रेष्ठ मुनि, नाग और यक्ष भगवान्‌की सेवा कर रहे हैं। भाग्यवान् पार्षद चँवर, पंख और छत्र आदिसे भगवान्‌की सेवा कर रहे हैं। पवित्रात्मा पुण्डरीकने भगवान्‌के इस अचिन्त्य सुन्दर दिव्य स्वरूपको देखकर अत्यन्त प्रेमविह्वल और आनन्दपूर्ण चित्तसे दोनों हाथ जोड़ लिये और उनके चरणोंमें गिरकर स्तुति करना आरम्भ किया।

विविध भाँतिसे भगवान्‌की स्तुति करते-करते पुण्डरीककी वाणी बन्द हो गयी और एकदृष्टिसे वह भगवान्‌के मुखारविन्दकी मधुर शोभाको अतृप्त नयनोंसे देखने लगे, मानो नेत्रोंके द्वारा रूपामृतको हृदयसरोवरमें ढाल रहे हैं, पर वह किसी तरह भरता ही नहीं, प्रेममुग्ध भक्तकी इस पवित्र और अचिन्त्य दशाको देखकर उसकी समाधिको भंग करते हुए भगवान् गम्भीर स्वरसे बोले—

प्रीतोऽस्मि वत्स भद्रं ते पुण्डरीक महामते।
वरं वृणीष्व दास्यामि यत्ते मनसि वर्तते॥

'हे महामते वत्स पुण्डरीक! मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ, तुम्हारा कल्याण हो। जो मनमें आवे सो माँग लो।'

पुण्डरीकजी वास्तवमें ही महामति थे। उन्होंने हर्ष-गद्‌गद स्वरसे कहा, भगवन्! कहाँ मुझ-सरीखा अत्यन्त दुर्बुद्धि प्राणी और कहाँ आप-सदृश सर्वज्ञ, परम सुहृद स्वामी! आपके दुर्लभ दर्शनोंके बाद और क्या वस्तु शेष रह जाती है, यह मेरी समझमें नहीं आता। फिर भी आप माँगनेकी आज्ञा करते हैं तो मैं यही माँगता हूँ कि 'भगवन्! मेरे लिये जिसमें कल्याण हो, आप मेरे प्रति वही आज्ञा कीजिये।'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भगवान्‌ने चरणोंमें पड़े हुए प्रेमाश्रुओंसे चरणोंको धोते हुए महाभाग पुण्डरीकको उठाकर हृदयसे लगा लिया और बोले, 'हे सुव्रत! तुम्हारा कल्याण हो। वत्स! तुम मेरे साथ चलो और नित्यात्मा एवं जगत्‌के उपकारी होकर सदा-सर्वदा मेरी लीलामें मेरे साथ रहो।'

भक्तवत्सल भगवान्‌के प्रीतिपूर्वक इतना कहते ही समस्त दिव्य लोकोंमें दुन्दुभि बजने लगी। आकाशसे पुष्पोंकी वृष्टि होने लगी। ब्रह्मा आदि देवता साधु-साधु ध्वनि करते हुए भगवान् और भक्तकी महिमा गाने लगे, एवं सिद्ध, गन्धर्व और किन्नर आनन्दमें उन्मत्त होकर नाचने-गाने लगे। तदनन्तर समस्त लोकोंके नमस्कारको ग्रहण करते हुए देवदेव जगत्पति भगवान् अपने प्यारे भक्त पुण्डरीकको साथ लेकर गरुडपर सवार हुए और देखते-ही-देखते अन्तर्धान हो गये।

पितामह भीष्मने उपर्युक्त भक्त-गाथा धर्मराज युधिष्ठिरको सुनाकर उनसे कहा कि 'हे राजन्! तुम भी भगवान्‌की भक्तिसे प्रसन्न होकर अपने चित्त और प्राणोंको भक्तोंकी सेवामें लगा दो और विधिपूर्वक पूजन करके पुरुषोत्तमकी सेवा करो। पुण्य और पाप दोनोंको हरनेवाली भगवान्‌की मनोहर कथा सुनो और जिस किसी प्रकारसे भी भगवान्‌की भक्ति प्राप्त हो—विश्वात्मा भगवान् प्रसन्न हों, वही करो। स्मरण रक्खो, जो मनुष्य भगवान्‌से विमुख हैं वे सैकड़ों अश्वमेध और वाजपेय यज्ञ करनेपर भी भगवान्‌को नहीं पा सकते। परन्तु भगवान्‌के प्रेमी भक्तजन 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण करके ही मोक्षके लिये कमर कसकर तैयार हो जाते हैं। यह निश्चय समझो—

लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः।
येषामिन्दीवरश्यामो हृदयस्थो जनार्दनः॥

'जिनके हृदयमें इन्दीवरश्याम जनार्दन विराजमान हैं, लाभ और विजय उन्हींके लिये है। उनका पराजय कहाँ है?'

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

कृपा-याचना

(लेखक—पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस' साहित्यरत्न)

आप हौ स्वतंत्र परतंत्र है सिरस कवि
कर्म-पास बँधो है कठिन तिहि लेनो साँस।
ऊपर चढ़िबेसों उतरिबो सहज नाथ,
क्यों न आय तब आप पूरो आजु मेरी आस॥
अन्यको जरत घर दौरिकै बुझावैं लोग
ताप-त्रय जारैं मोहिं कस ना बचाओ दास।
मानसर जाय कैसे हंसके निकट दौरि
आपु हंस ही चहै तो आवै मानसर पास॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अब न द्रवहु केहि लेखे ?

क बार भी तो मेरी ओर निहारो, कुछ भी तो बोलो ! मैं कैसे समझूँ देव तुम्हारा क्या संकेत है, मेरे लिये तुम्हारी क्या आज्ञा है। कैसे जानूँ तुम मुझसे क्या कराना चाहते हो। मुझे क्या पता तुमने मुझे यहाँ क्यों भेजा है ? जबतक तुमसे परिचय नहीं था, जबतक तुम्हें न जाना था तबतक तो कोई बात न थी। रास्ता रोककर, बलात् हठपूर्वक तुम मेरे जीवनपथमें आये, मेरी सारी अल्हड़ता और नादानीपर मुसकराहटकी वर्षा करते हुए आये; मेरे अबोध हृदयमें अपनी मोहिनी डालकर अपने आकुल स्पर्शसे मुझे नहला दिया, मेरे रोम-रोम उस स्पर्शजन्य आनन्दमें भींग गये। अर्धचेतन, स्पर्श-विस्मृत दशामें तुमने मेरी बाँह पकड़ ली; मेरे सिरको अपनी छातीमें छिपा लिया और मेरे सारे शरीर-को अपने सुकुमार वरद करोंसे सहलाया। मेरे जन्म-जन्मके पुण्य उदय हुए—तुम्हारे दर्शन हुए।

उस अचेतनाकी स्मृतिमात्र आज हृदयके कोने-कोनेमें छायी हुई है। उस क्षणका स्मरणमात्र भीतर बना हुआ है। उस स्पर्शकी हलकी सिहरन भर रह गयी है। बड़ी व्याकुलता और आतुर उत्कण्ठासे अपने भीतर डूबकर तुम्हें पकड़ना चाहता हूँ, तुम्हें बाँध लेना चाहता हूँ, ऐसा कभी-कभी बोध भी होता है कि बाहुपाशमें तुम आ गये पर·····न पूछो, तुम्हारा ही छल तुमसे कैसे कहूँ। यह तरसाना भी कैसे कहा जाय ! जहाँ प्राणोंमें हाहाकार है, अतृप्त उत्कट लालसा है वहाँ परिछाईंके भी दर्शन न हों—यह तुम्हारी कैसी निष्ठुर लीला है !

यह सम्बन्ध भी तो नाथ ! तुम्हारा ही स्थापित किया हुआ है। तुम्हारी ओर दृष्टि जाते ही समग्र चेतना, समग्र शिराओंने एक स्वरसे कहा यही—यही हमारी माँ है, यही हमारा 'स्वामी' है, यही हमारा 'सब कुछ' है। तुम्हीं मेरी माँ, प्राणप्यारी माँ; तुम्हीं मेरे पिता, प्राणप्यारे पिता; तुम्हीं मेरे सुहृद, अभिन्न सुहृद; तुम्हीं मेरे स्वामी, रोम-रोमके, श्वास-श्वासके, जन्म-जन्मके स्वामी—तुम्हीं मेरे प्राणवल्लभ, जीवनधन, हृदय-सर्वस्व हो—सब कुछ हो—तुम्हारे चरणोंको छोड़कर अब मैं कहाँ जाऊँ, और किसकी ओर निहारूँ ? मैं तो तुम्हारी ही, एकमात्र तुम्हारी ही लाज हूँ ! संसारकी आँखें मेरे नग्न रूपपर पड़ें यह तुम कैसे सह सकोगे प्राण !

तुम्हारे देखते-देखते संसार मेरे भीतर पैठकर नग्न ताण्डव कर रहा है, मेरा चीर लूट रहा है—यह कैसे विश्वास करूँ। संसारके हाथों मैं हरा जा रहा हूँ यह तो प्रतिपल देख ही रहा हूँ ! वासनाकी आँधी आती है और मुझे उड़ा ले जाती है। भीतर मनमें ऐसे-ऐसे जघन्य पाप घट रहे हैं कि इच्छा होती है तुमसे मुँह छिपा लूँ। पर मुँह छिपाकर कहाँ जाऊँगा ? चारों ओरसे तो तुम्हीं घेरे खड़े हो ! तो फिर क्या यह मान लूँ कि तुम मेरी ओर देख ही नहीं रहे हो, क्या यह समझ लूँ कि मेरी पतवार तुमने छोड़ दी है और मेरी नाव लहरोंकी मौज और प्रवाहपर बही जा रही है ! परन्तु तुम तो प्रणतपाल हो प्रभो ! एक बार भी जिसे अपनाया सदाके लिये उसे 'अपना' बना लिया। तुम मेरी बाँह कैसे छोड़ोगे ? मेरी नाव क्यों बहने दोगे ? अरे—मैं और मेरी नाव—यह सब कुछ तो तुम्हारे करुणा-सागरमें ही तैर रहे हैं। तुम्हारी गोदमें ही सारी सृष्टि, अनन्त ब्रह्माण्ड नन्हे-नन्हे बच्चोंकी भाँति खेल रहे हैं ! समस्त चराचर तुम्हारी अपनी सन्तान है इन्हें बिलखने

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

क्यों दोगे ? समस्त प्राणी तुम्हारे उद्यानके पुष्प हैं इन्हें मुरझाने क्यों दोगे ?

प्रतिपल, प्रतिक्षण तुम मेरी ओर देख रहे हो; मैं तुम्हारी आँख बचाकर मुँह फेर लेता हूँ। पापोंसे इतनी प्रगाढ़ मैत्री मेरी क्यों हो गयी प्रभो ! उनमें इतनी आसक्ति क्यों हो गयी कि उनसे एक क्षणका भी वियोग असह्य और दारुण हो उठता है ! हाँ, मुँह फेरकर, आँखें बचाकर फिर ज्यों ही पाप-पङ्कमें डूबनेके लिये आमादा होता हूँ कि त्यों ही तुम्हारी मञ्जुल मङ्गल मनोहर मूर्ति सामने हँसती हुई आ जाती है ! मैं लजा जाता हूँ, अरे 'वह' देख रहा था ! पर सच मानो यह भाव एक क्षण भी ठहर नहीं पाता कि पुनः वासनाओंके लुभावने-ललचीले बाजार सामने अपनी माया पसार देते हैं और मैं पुनः अतृप्त भावसे उनमें रमने लगता हूँ !

यही चित्तकी स्थिति है, यही हृदयका चित्र है, यही भीतरका संसार है। तुम भी हो विषय भी हैं, आग भी है पानी भी ! प्रकाश भी है अन्धकार भी ! यह भी स्वीकार करनेमें संकोच नहीं कि तुम्हारी अपेक्षा संसारका ही प्रभुत्व अधिक है, प्रकाशकी अपेक्षा तमतोमका ही साम्राज्य अधिक है। तुम्हारे रहते, तुम्हारे देखते यह दशा है यह और भी लज्जाकी बात है।

मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा॥
अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं बिनय निहोरा॥
तम, मोह, लोभ, अहंकारा। मद, क्रोध, बोध-रिपु मारा॥
अति करहिं उपद्रव नाथा। मरदहिं मोहि जानि अनाथा॥
मैं एक, अमित बटपारा। कोउ सुनै न मोर पुकारा॥
भागेहु नहि नाथ ! उबारा। रघुनायक, करहु सँभारा॥

मेरा हृदय तुम्हारा मन्दिर है, उसमें चोरोंने घर कर रक्खा है। बड़ा उत्पात मचा रहे हैं ! सदा जबरदस्ती ही करते रहते हैं। मेरी विनती-निहोरा कुछ भी नहीं मानते। लाख मिन्नतें करता हूँ, हाथ जोड़ता हूँ कि मेरा पल्ला छोड़ दो, पर वे एक भी नहीं सुनते ! अज्ञान, मोह, लोभ, अहंकार, मद, क्रोध और काम—ये सब प्रबल हैं और मनमानी कर रहे हैं। मुझे अनाथ जानकर कुचले डालते हैं। मैं सर्वथा अकेला हूँ और ये शत्रु अपार हैं। कोई मेरी पुकारतक नहीं सुनता ! भागकर भी इनसे पिण्ड नहीं छुड़ाया जा सकता ! ये सदा-सदैव मेरे पीछे लगे ही रहते हैं। प्रभो ! दीनबन्धु ! मेरी रक्षा करो, इनसे मुझे बचाओ, नहीं तो मैं लुटा, मेरा सर्वस्व गया !

—'भाष्कर'

भगवान्

मीन रहे कछुवा कछु ह्वै बनि बाद बराह बढ़ाये बड़ाई।
सिंह ह्वै बामन ह्वै भृगुराम दबाय उन्हें बनिगे रघुराई॥
अन्तमों अन्तर हो ही गयो हम दीन कहाँ तुम्हरीसों रजाई।
भूले कहाँ भगवान भला पर भीलनिके घरकी पहुनाई॥

—उमापति वर्मा द्विवेदी 'कविपति'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भगवान्‌का स्मरण कैसे करें ?

१ ऐसे करो जैसे अफीमची अफीम न मिलनेपर अफीमका स्मरण करता है ।

२ ऐसे करो जैसे मुकद्दमेबाज मुकद्दमेका स्मरण करता है ।

३ ऐसे करो जैसे जुआरी जुएका स्मरण करता है ।

४ ऐसे करो जैसे लोभी धनका स्मरण करता है ।

५ ऐसे करो जैसे कामी कामिनीका स्मरण करता है ।

६ ऐसे करो जैसे शिकारी शिकारका स्मरण करता है ।

७ ऐसे करो जैसे निशानेबाज निशानेका स्मरण करता है ।

८ ऐसे करो जैसे किसान पके खेतका स्मरण करता है ।

९ ऐसे करो जैसे प्याससे व्याकुल मनुष्य जलका स्मरण करता है ।

१० ऐसे करो जैसे भूखका सताया हुआ मनुष्य भोजनका स्मरण करता है ।

११ ऐसे करो जैसे घर भूला हुआ मनुष्य घरका स्मरण करता है ।

१२ ऐसे करो जैसे बहुत थका हुआ मनुष्य विश्रामका स्मरण करता है ।

१३ ऐसे करो जैसे भयसे कातर मनुष्य शरण देनेवालेका स्मरण करता है ।

१४ ऐसे करो जैसे डूबता हुआ मनुष्य जीवनरक्षाका स्मरण करता है ।

१५ ऐसे करो जैसे दम घुटनेपर मनुष्य वायुका स्मरण करता है ।

१६ ऐसे करो जैसे परीक्षार्थी परीक्षाके विषयका स्मरण करता है ।

१७ ऐसे करो जैसे ताजे पुत्रवियोगसे पीड़िता माता पुत्रका स्मरण करती है ।

१८ ऐसे करो जैसे नवीन विधवा अबला अपने मृत पतिका स्मरण करती है ।

१९ ऐसे करो जैसे घरमें रहनेवाली कुलटा स्त्री अपने जारका स्मरण करती है ।

२० ऐसे करो जैसे मातृपरायण शिशु माताका स्मरण करता है ।

२१ ऐसे करो जैसे प्रेमी अपने प्रियतम प्रेमास्पदका स्मरण करता है ।

२२ ऐसे करो जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पतिका स्मरण करती है ।

२३ ऐसे करो जैसे अन्धकारसे अकुलाये हुए प्राणी प्रकाशका स्मरण करते हैं ।

२४ ऐसे करो जैसे सर्दीसे काँपते हुए मनुष्य अग्निका स्मरण करते हैं ।

२५ ऐसे करो जैसे चकवा-चकवी सूर्यका स्मरण करते हैं ।

२६ ऐसे करो जैसे चातक मेघका स्मरण करता है ।

२७ ऐसे करो जैसे जलसे बिछुड़ी हुई मछली जलका स्मरण करती है ।

२८ ऐसे करो जैसे चकोर चन्द्रमाका स्मरण करता है ।

२९ ऐसे करो जैसे फलकामी पुरुष फलका स्मरण करता है ।

३० ऐसे करो जैसे मुमुक्षु पुरुष आत्माका स्मरण करता है ।

३१ ऐसे करो जैसे शुद्धहृदय मुमूर्षु पुरुष भगवान्‌का स्मरण करता है ।

३२ ऐसे करो जैसे योगी पुरुष चेतन ज्योतिका स्मरण करते हैं ।

३३ ऐसे करो जैसे ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मका स्मरण करता है ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रार्थना

हे प्रभो ! मैं अधम हूँ, नीच हूँ, पामर हूँ, पापोंकी कालिमासे कलंकित हूँ। इतना सब होते हुए भी हूँ तो तुम्हारा ही न ? इस सत्यको, हे सत्य ! तुम अस्वीकार नहीं कर सकते। बस, इसी सत्यके आधारपर मैं तुमसे यह प्रार्थना करता हूँ कि तुम मेरे मनको ऐसा बना दो जिसमें वह इस सत्यको सदा स्मरण रक्खे। क्या इस पतितकी, हे पतित-पावन ! इतनी विनती भी नहीं सुनोगे ?

× × ×

हे प्रभो ! मैं तुमसे विमुख हूँ, संसारके जालमें फँसा हूँ, भूलकर भी कभी तुम्हारी ओर चित्त नहीं लगाता। परन्तु हे विश्वरूप ! हे मेरे लीलामय ! यह तो सत्य ही है कि सब कुछ तुम्हीं हो। फिर चाहे मैं किसी ओर देखूँ, किसी ओर जाऊँ, किसीमें मन लगाऊँ, तुम्हींको तो देखता हूँ, तुम्हारी ओर ही तो जाता हूँ, तुम्हींमें तो मन लगाता हूँ। बस, यही प्रार्थना है कि इस समझको प्रतिक्षण मेरे हृदयमें जगाये रक्खो मेरे स्वामी !

× × ×

हे प्रभो ! मैं अपनी झूठी ऐंठमें अकड़ा रहता हूँ, और अपनेको बलवान्, धनवान्, पुत्रवान्, जनवान्, विद्वान् और बुद्धिमान् मानता हूँ। परन्तु हे सर्वेश्वर ! यह तो सत्य ही है कि मुझमें जो कुछ भी है सो सब तुम्हारा ही तो है। मैं भी तुम्हारी ही सम्पत्ति हूँ। हे सर्वलोकमहेश्वर ! बस, इस सत्य सिद्धान्तको मैं कभी न भूलूँ, यह वरदान दे दो मेरे मालिक !

× × ×

हे प्रभो ! लोग कहते हैं जगत् सब स्वप्नवत् है, तुम्हारी मायासे बिना ही हुए यह सब कुछ दीखता है परन्तु माया या स्वप्न पुरुषके आश्रित होनेके कारण यह तो, हे सत्यसंकल्प ! सत्य ही है न कि यह सारा प्रपञ्च तुम्हारे संकल्पपर स्थित है। प्रपञ्चमें ही मैं भी हूँ इसलिये मैं भी तुम्हारे संकल्पमें हूँ। मेरे सरीखा कौन भाग्यवान् होगा जिसे तुम अपने मनमें रखते हो। बस, प्रभो ! मुझे तो अपने संकल्पमें ही रक्खो। और ऐसा बना दो कि मैं सब कुछ भूलकर—दुनियाकी सारी सुधि भुलाकर केवल यही याद रक्खूँ कि मैं तुम्हारे संकल्पमें ही स्थित हूँ।

× × ×

हे प्रभो ! कहाँ मैं क्षुद्र-सी परिधिमें रहनेवाला क्षुद्रतम कीट, और कहाँ तुम अपने एक-एक रोममें अनन्त ब्रह्माण्डोंको धारण करनेवाले कल्पनातीत महा-महिम महान् ! मैं तुम्हारी थाह कहाँ पाऊँ और कैसे पाऊँ ? परन्तु हे सर्वाधार ! यह तो सत्य है कि अनन्त ब्रह्माण्डोंमेंसे किसी एक क्षुद्रतम ब्रह्माण्डका क्षुद्रतम कीट होनेपर भी हूँ तो तुम्हारे ही द्वारा धारण किया हुआ न ? प्रभो ! बस, इस तत्त्वको कभी भूलने न पाऊँ और सदा-सर्वदा अपनेको तुम्हारे ही आधारपर स्थित देखूँ, अपनेको तुम्हारे ही अन्दर समझूँ।

× × ×

हे प्रभो ! मैं दुःखोंसे दबा हूँ, तापोंसे संतप्त हूँ, अभावोंसे आकुल हूँ, व्यथाओंसे व्याकुल हूँ, अपमानोंसे पीड़ित हूँ, अपकीर्तिसे कलंकित हूँ, व्याधियोंसे ग्रस्त हूँ और भयोंसे त्रस्त हूँ। मेरे समान दुःखी दुनियामें दूसरा कौन होगा ? सारे दुःखोंका पहाड़ मानो मुझपर ही टूट पड़ा है। परन्तु हे मेरे प्रियतम ! क्या यह सच नहीं है कि यह सब तुम्हारी ही भेजी हुई सौगात है ? तुम्हारा ही प्रेमसे दिया हुआ उपहार है ? इस सत्यको जाननेपर भी हे मेरे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्यारे ! फिर मुझे इनकी प्राप्तिमें असन्तोष क्यों होता है ? तुम्हारी दी हुई प्रत्येक वस्तुमें तुम्हारे हृदयके निर्मल प्रेमको देखकर, ओ मेरे हृदयधन ! तुम्हारे प्रत्येक विधानमें तुम्हारा कोमल कर-स्पर्श पाकर मैं परम सुखी हो सकूँ। ऐसा प्रेमियोंका-सा विलक्षण हृदय मुझे दे दो नाथ !

× × ×

हे प्रभो ! मैं दिन-रात दुनियामें दुःखकी, शोककी, पीड़ाकी, निराशाकी, असफलताकी, अपमानकी, अभावकी, अकालकी, अकीर्तिकी, दरिद्रताकी, वियोगकी, रोगकी और मृत्युकी डरावनी सूरतोंको देख-देखकर भयभीत होता हूँ। परन्तु हे मेरे चतुर खिलाड़ी ! हे मेरे विलक्षण बहुरूपिये ! क्या यह सत्य नहीं है कि इन सब रूपोंको धारण करके एक तुम्हीं तो मुझसे खेलने आते हो ? और क्या यह भी सत्य नहीं है मैं तुम्हें न पहचाननेके कारण ही डरकर इनसे दूर भागना चाहता हूँ ? हे प्यारे ! मुझे ऐसी दिव्य आँखें दे दो कि फिर तुम्हें पहचाननेमें मैं कभी भूलूँ ही नहीं ! चाहे तुम किसी भी रूपमें आओ, मैं तुम्हें पहचान ही लूँ और तुम्हारे नये-नये खेलोंको देख-देखकर वैसे ही खिलता रहूँ जैसे सूर्यकी किरणोंको देखते ही कमल खिल उठते हैं। दे डालो न प्रभु ! ऐसी पर्देके भीतरकी वस्तुको पहचाननेवाली पैनी नज़र !

× × ×

हे प्रभो ! मैं माताके स्नेहसे, पिताके वात्सल्यसे, मित्रकी मैत्रीसे, पत्नीके प्रेमसे, सन्तानके प्यारसे, सुकर्मोंकी कीर्तिसे और लक्ष्मीकी मोहिनीसे मुग्ध हो रहा हूँ। सदा अन्धा ही बना रहता हूँ। परन्तु ओ मेरे महा मायावी ! क्या यह सत्य नहीं है कि तुम्हीं माँ बनकर स्नेह करते हो, पिता बनकर पालते हो, मित्र बनकर मैत्री करते हो, पत्नी बनकर प्रेम करते हो, सन्तान बनकर अपनी तोतली वाणीसे मोहते हो, सुकर्म बनकर कीर्तिके रूपमें आते हो, और मा लक्ष्मी बनकर मुझे अपना गुलाम बना लेते हो ? क्या यह स्नेह, वात्सल्य आदिकी सारी धाराओंका मूलस्रोत तुम्हीं एक मात्र अखिल भावोंके महान् सागरसे ही नहीं निकल रहा है ? और क्या यह भाव-धारा पुनः लौटकर तुम समुद्ररूपमें ही मिलनेको नहीं जा रही है ? ओ मेरे मनचोर ! बस, इतनी कृपा करो कि मैं इन सबमें और इन सभीके सम्बन्धों जौर भावोंमें तुम्हींको देख-देखकर सदा मुग्ध होता रहूँ !

× × ×

हे प्रभो ! बगीचेके रंग-बिरंगे फूलोंकी सुन्दरता और सुगन्धि, आकाशमें उड़नेवाले पक्षियोंकी चित्र-विचित्र वर्णोंकी बनावट और उनकी सुमधुर काकली, सरोवरोंमें और नदियोंमें इधर-से-उधर फुदकनेवाली मछलियोंकी मोहिनी सूरत और पुष्पोंके रसपर मँडराती हुई तितलियोंकी कलापूर्ण रचना, सब मनको हरण किये डालती हैं। यह सुन्दरता, सुगन्ध, कला और यह मीठा स्वर, हे सौन्दर्य और माधुर्यके अनन्त सागर ! तुम्हारे ही तो जलकण हैं। बस, हे अखिल सौन्दर्य-माधुर्य-निधि ! ऐसी कृपा करो जिससे मैं इस बातको सदा स्मरण रख सकूँ, और प्रत्येक सौन्दर्य-माधुर्यकी बहती धाराका सहारा लेकर तुम्हारे अनन्त सौन्दर्य-माधुर्यका कुछ अंशोंमें तो उपभोग करूँ।

× × ×

हे प्रभो ! मेरे हृदयमें ऐसी आग लगा दो जो सदा बढ़ती ही रहे। विषयोंकी सारी आसक्ति और कामना उसका ईंधन बनकर उसे और भी प्रचण्ड कर दे और इतनी प्रचण्ड कर दे कि फिर वह तुम्हारी दर्शन-सुधा-वृष्टिके बिना कभी बुझे ही नहीं !

× × ×

हे प्रभो ! जैसे सूर्यकान्तमणि सूर्यकी किरणोंका स्पर्श पाते ही जल उठती है, वैसे ही हे नाथ ! तुम्हारे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भक्त साधुओंका जाने-अनजाने संग पाते हो मेरे मनमें तुम्हारे प्रेमकी आग भड़क उठे ! हे अनन्त ब्रह्माण्डोंमें अनन्त सूर्योंके प्रकाशक ! मेरे मनको सूर्यकान्तमणिके सदृश बना दो !

× × ×

हे प्रभो ! जैसे चन्द्रकान्तमणि चन्द्रकिरणोंका योग प्राप्त करते ही द्रवित होकर रस बहाने लगती है वैसे ही हे अनन्त सुधाकरोंको सुधा दान देनेवाले सुधासागर ! मेरा हृदय चन्द्रकान्तमणिके समान बना दो जो तुम्हारे गुण-नामरूपी सुधामरी शशि-किरणोंका संयोग पाते ही द्रवित होकर बहने लगे !

× × ×

हे प्रभो ! चुम्बक उसी लोहेको अपनी ओर खींचता है जो निखालिस होकर उसके सामने आता है। मुझे भी हे कृपासागर ! समस्त अभिमानोंके मिश्रणसे रहितकर दीन हीन निखालिस लोहा बना दो, जो तुम्हारे आकर्षक कृष्ण नाम चुम्बकको पाते ही दौड़कर उसमें सदाके लिये चिपट जाय !

श्रीकृष्णावतार

(रचयिता—नोखेलाल शर्मा, बी० ए०, शास्त्री, काव्यतीर्थ)

(१)

पुण्य-सूर छिप गया पाप-तम भूपर छाया ;
फैल गई चहुँ ओर निशाचर-निशिकी माया।
पुण्य-प्रभा अतिक्षीण हुई निर्वाणोन्मुख-सी ;
तमःपिशाची अट्टहास कर जयमें बिहँसी ॥

(२)

'त्राहि-त्राहि' का शोर मचा निःशब्द गगनमें ;
जीके लाले पड़े सभी जीवोंके मनमें।
ठहर सकेगी भू न पाप पुंजोंसे दबकर ;
होना है अब प्रलय भान ऐसा था दुखकर ॥

(३)

उसी समय नभ-बीच उठी विद्युत्की लहरें ;
हुए जीव निःशब्द, स्तब्ध जलधरकी घहरें।
हुई वायुगति मन्द, अंश वह आनेको था ;
जो विनयनका पाठ पुनः सिखलानेको था ॥

(४)

नभ-मण्डलके बीच इन्द्र-धनु पूर्ण प्रभामय ;
हुआ उदित, फिर बढ़ा सुदीरघ दीपित अतिशय।
वैसा ही उस मध्य पुनः रत्नाभ उदित हो ;
परिवर्द्धित हो गया, और भी पाँच, यों कहो ॥

(५)

सप्तम मण्डल मध्य श्वेत-छवि अद्भुत न्यारी,
हुई क्षणिक रक्ताभ बनी जो जग दुखहारी।
प्रकटित उसमें हुए बालरविसे छविशाली,
पादकोकनद युगल; महाप्रभुकी बलिहारी !

(६)

देव, तापसी, सिद्ध, पुलकतनु करयुग जोड़े ;
होकर स्तुतिमें मग्न देहकी सुधि भी छोड़े।
'धन्य, धन्य, हम धन्य' किया उच्चारण उनने ;
'जय, जय, त्रयलोकेश, जयति, जय'की ध्वनि उनने।

(७)

ग्रीषमसे सन्तप्त भूमिपर ज्यों घन बरसे ;
त्यों ही धरणी विकल, सकल प्राणी अति हरसे।
'नमो, नमो, लोकेश प्रणत-पालक भयहारी ;
नमो अगोचर-रूप प्रेम-वश नरतनु-धारी !

(८)

वर्षाकी घन-घटा हटा वह मंगल-मूला ;
जोति हुई अवतरित भूमिपर सत-अनुकूला।
प्रण उसका है, 'पापपूर्ण' जब होगी धरनी ;
मेरी मंजुल मूरति आयेगी दुख-हरनी।

(९)

फटी व्योम-नीलिमा, कटी सज्जन दुख-ज्वाला ;
हटी सघन घनशिला, छँटी वसुधा-दुख-माला।
पल भरमें वह दिव्य प्रभा छिटकी भूतलपर ;
पुण्यमयी देवकी गर्भकी भूति मनोहर।

(१०)

हुईं दिशाएँ एक बार अत्युज्ज्वल सुखकर ;
बही वायु सुखकरी हुए हर्षित सब घर-घर।
दहल गये सब दुष्ट देख दुःस्वप्न निशामें ;
आये थे परब्रह्म, स्वयं सप्रेम धरामें।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शिक्षक और छात्रसुधार

(लेखक—चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी)

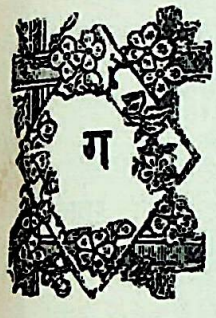

त ज्येष्ठ मासके 'कल्याण' में 'विनाशके पथपर' शीर्षक जो लेख प्रकाशित हुआ है, और जिसमें वर्तमान समयके स्कूल-कालेजोंके छात्रोंकी धार्मिक दृष्टि-से अधःपतित दशाका वर्णन है, वह बहुत ही विचारणीय है। उस लेखमें जो सुधारके उपाय प्रदर्शित किये गये हैं, वे अवश्य ही उत्तम और आवश्यक हैं, और उनके अनुसार कार्य करना बहुत ही जरूरी है। उसी अंकमें 'भक्तरत्न प्रह्लादकी आदर्श शिक्षा-प्रणाली' शीर्षक लेखमें भी शिक्षा-सुधार-की ही चर्चा है और वह भी उपयुक्त है। परन्तु इस सुधारके मुख्य साधन शिक्षक हैं। जबतक शिक्षक इस कार्यको दत्तचित्त होकर नहीं करेंगे और वे स्वयं सच्चरित्र नहीं होंगे, तबतक अन्य प्रकारकी अनेक चेष्टाएँ करनेपर भी कदापि सफलता नहीं मिल सकती। साधारण संसर्ग भी जब उत्तम या निकृष्ट, संसर्गके स्वभावके अनुसार, अवश्य प्रभाव पड़ता है तब शिक्षकके संसर्गका तो कहना क्या है? आज भी अधिकांश छात्रोंके लिये शिक्षक आदर्श हैं। जब कि शिक्षामें उत्तीर्ण होनेके लिये, छात्रोंके लिये शिक्षककी शिक्षा मुख्य है तब उनकी अन्य शिक्षाओंका भी प्रभाव अवश्य पड़ेगा। वर्तमान समयमें छात्रोंमें जो राजनीतिक जागृति दिखायी देती है, वह अधिकांश शिक्षकोंके कारण, विशेषकर स्कूल-पाठशालाओंके, है। यद्यपि स्कूल-पाठशालाओंमें राजनीतिक चर्चा करना मना है तथापि शिक्षकोंके मनोभावके प्रभाव-के कारण और किञ्चित् खानगी इशारेसे, यह जागृति फैल गयी है। जब राजनीतिक जागृति, जो मना है, शिक्षकोंके द्वारा उत्पन्न हो गयी तब छात्रोंका नैतिक सुधार, जो शिक्षकोंका परम कर्तव्य है और शिक्षा-विभाग भी चाहता है कि शिक्षक उपयुक्त उपदेशद्वारा इस कार्यको करें, इनके द्वारा क्यों नहीं हो सकता? वास्तवमें छात्रोंमें जो सच्चरित्रताका अभाव और दुराचार-का प्रचार देखा जाता है वह अवश्य ही शिक्षकोंके इस परमोपयोगी विषयपर ध्यान न देनेके कारण है। बल्कि लोगोंकी धारणा तो यह है, और इसका प्रमाण भी है कि कतिपय शिक्षकोंके ही कारण छात्रोंका अधःपतन होता है। बाबाजी श्रीसीतारामजीद्वारा लाहौरमें स्थापित 'छात्र-हितैषी समाज' (child welfore League) इसके सुधारका काम बड़े जोरोंसे कर रहा है। प्राचीन समयमें जो कर्तव्य ब्रह्मचर्याश्रम-के आचार्यका था, वही आजकलके शिक्षकोंका है। अन्तर यह है कि प्राचीन आचार्य धर्म और नीतिको शिक्षामें मुख्य समझते थे; आजकलके शिक्षक ऐसा नहीं समझते हैं। अतएव शिक्षकोंका सुधार सबसे पहले आवश्यक है। विहारप्रान्तमें शिक्षाविभागने धर्म और नीतिकी शिक्षाको परमावश्यक करके उसे शिक्षाका एक अंग बना दिया है। ऐसा ही सब जगह होना चाहिये।

श्रीप्रह्लादकी शिक्षाके सम्बन्धमें यह कहना है कि श्रीमद्भागवतपुराणके स्कन्ध ७ के अध्याय ६ और ७ में उस शिक्षाका वर्णन है जो श्रीप्रह्लादने दैत्य-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बालकोंको दी थी और जिसे सुनकर वे सुधर गये थे। उस विषयकी साङ्गोपाङ्ग शिक्षा छात्रोंको मिलनी चाहिये। उसका सारांश इस प्रकार है—

केवल विषय-भोग जीवनका मुख्य उद्देश्य नहीं, नहीं तो मनुष्य और पशुमें भेद ही क्या रहा? संसारके दृश्य, विषय-भोग और धन-परिवारादि एक तो क्षणभङ्गुर हैं, दूसरे इनके द्वारा यथार्थ सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती, बल्कि इनमें आसक्ति रखनेसे, इनके स्वार्थ-संसर्गसे, अन्तमें दुःख ही होता है और जन्म-मरण, जरा-व्याधि आदि भोगने पड़ते हैं। इस दृश्य शरीरके भीतर नित्य, शुद्ध, ज्ञाता, स्वयं-प्रकाश, सर्वव्यापक, सबका आश्रय, सबका उत्पादक आत्मा है। विवेकद्वारा ऐसा जानकर, शरीर आदिके प्रति अहंता-ममता त्यागकर इस आत्माकी शरणमें जाना चाहिये। वे ईश्वर सबके यथार्थ हितकारी, प्रिय, नियन्ता और अन्तर्यामी हैं। और सबके आत्मा होनेके कारण उन्हें प्रसन्न करनेमें भी अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। वे हृदयमें हृदीश्वर होकर वर्तमान हैं; इस कारण अपने हृदयमें स्थित उन ईश्वरकी उपासना और भजन करनेमें क्या कष्ट है? त्रिवर्गके साधनके निमित्त विद्या, शास्त्र, नीति और जीविकाकी प्राप्ति उन्हींके निमित्त करनी चाहिये। भक्तिसे वे मिलते हैं। भक्तियोगकी साधना है—गुरुशुश्रूषा, प्रेम, समस्त प्राप्त पदार्थोंको श्रीभगवान्‌के अर्पण करना, भक्तसङ्ग, ईश्वरकी आराधना, कथा श्रद्धा, कीर्तन, ध्यान, मूर्त्तिदर्शन, पूजन, सबमें ईश्वर का निवास जानकर सबकी सेवा करना। अन्तिम उपदेश जो सबका सार है, वह इस प्रकार है—

ततो हरौ भगवति भक्तिं कुरुत दानवाः।
आत्मौपम्येन सर्वत्र सर्वभूतात्मनीश्वरे॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः।
एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र परीक्षणम्॥

हे दानवो! हमारे ही समान सबको सुख और दुःख होता है, ऐसी बुद्धि धारण करके सब प्राणियोंके आत्मा और ईश्वर श्रीभगवान्‌की भक्ति करो! भगवान्‌की एकनिष्ठ भक्ति यही है कि उनको सर्वत्र सब प्राणियोंमें व्याप्त देखना और तदनुसार आचरण करना चाहिये—यही लोगोंका परम श्रेय है।

आवेदन!

घन-घोर-घटा, दुखका तम-तोम, घिरा सब व्योम, न जात कहा!
भवसिन्धु अगाध न जात तरा, मद-मत्सर-मोह अपार महा!
निरद्वन्द्व-निरंकुशता-शठता पशुता अघ-ओघ न जात सहा!
करुणाकर हे! करुणा-करको, करुणा कर दे, करुणा कर हा!

—चन्द्रनाथ मालवीय 'वारीश'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कल्याण

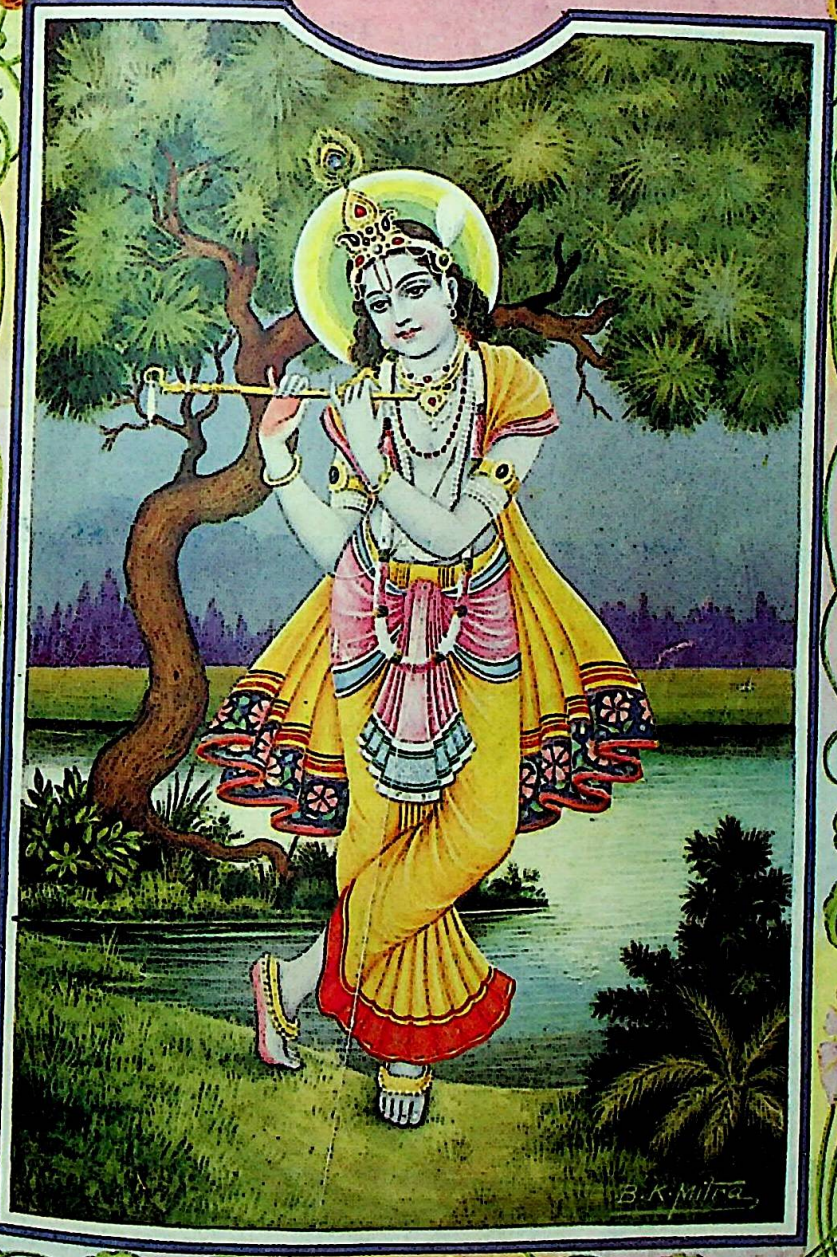

वर्ष १०

अङ्क ६

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे । हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥
जयति शिवा-शिव जानकि-राम । जय रघुनन्दन जय सियराम ॥
रघुपति राघव राजा राम । पतितपावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ आगारा ॥

[संस्करण ३४०५०]

वार्षिक मूल्य
भारतमें ४≡)
विदेशमें ६॥=)
(१० शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत् चित् आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हरि अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण
भारतमें
विदेशमें
(८ शि

Edited by Hanumanprasad Poddar.
Printed and published by Ghanshyamdas Jalan at the Gita Press, Gorakhpur. U.P.(I

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कल्याण पौष संवत् १९९२ की

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-व्याधकी विनय [कविता] ...	१०४५
२-स्वामी श्रीभोलानाथजी महाराजके उपदेश (प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी) ...	१०४६
३-श्रीमद्भगवद्गीता और योग-तत्त्व-समन्वय-मीमांसा (श्रीगोवर्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री ११०८ श्रीभारती-कृष्णतीर्थजी महाराज)	१०४७
४-कल्याण ('शिव')	१०५२
५-विषय-वासना और मुमुक्षुजीवका प्रश्नोत्तर	१०५३
६-आचरण करनेयोग्य बातें (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानसे) ...	१०५४
७-पञ्चसंस्कार (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ...	१०५६
८-भक्त उपमन्यु	१०६४
९-श्रीभगवन्नाम (नाम-जप-विभाग, कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर)	१०६७
१०-परमहंस-विवेकमाला (स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)	१०६९
११-ईश्वर है ! हाँ है (महात्मा गान्धीजी) ...	१०७५
१२-प्रणवोपासना (सरदार श्रीमन्त रामराव कृष्ण जटार)	१०७७
१३-प्रभुकी साहिबी समुझि संकोच [कविता] (साहित्यरत्न श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस')	१०८१
१४-श्रीजनकजीकी भक्ति (श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)	१०८२
१५-ईश्वरमें विश्वास (म० श्रीबालकराम विनायकजी)	१०८९
१६-सुखीकी खोजमें (पं० श्रीमंगलजी उद्धवजी पुरोहित)	१०९६
१७-माँ दुर्गाके प्रति [कविता] (श्रीपद्मकान्तजी मालवीय)	११००
१८-गुरुतत्त्व और कबीर साहब (पं० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी) ...	११०१
१९-भगत मनसूर (श्रीसबनाराइनजी) ...	११०४
२०-कीर्तन और उसका प्रभाव (श्रीसद्गुरु-भक्तिसम्पन्न नरहर शास्त्री खरशीकर, पाँचगणी)	११०८
२१-महात्मा रामालिङ्गम् (श्रीस्वामी शुद्धानन्दजी भारती, पाण्डीचेरी) ...	११११
२२-जीवनरास (पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र एम० ए० 'माधव') ...	१११८
२३-ब्राह्मण-सेवासे लाभ	११२२
२४-पूर्व-जन्मकी प्रत्यक्ष सिद्धि ...	११२३

नयी पुस्तक *** मूलरामायण *** छप गयी !

(सचित्र-सटीक)

संक्षिप्तरूपमें श्रीरामचरित्र

जो श्रीनारदजीने श्रीवाल्मीकिजीको सुनाया था।

दाम केवल -)। पाँच पैसा मात्र।

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर।

चित्रोंका तथा सब पुस्तकोंका बड़ा सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये !

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कल्याण-प्रेमी नये ग्राहक

ध्यान दें !

पुरानी फाइलें और विशेषांक मिलने दुर्लभ हैं !

थोड़े-से बाकी बचे हैं, चाहें वे मँगा लें !!

भक्तांक—पृष्ठ २४६, चित्र ५५, मूल्य १॥) (3 Sh.) सजिल्द .... १॥=)
भक्तांक—तीसरे वर्षकी पूरी फाइलसहित, मूल्य ४=) (10 Sh.) सजिल्द .... ४॥=)
रामायणांक (दूसरा संस्करण) पृष्ठ ५१२, तिरंगे-इकरंगे १६७ चित्र, मूल्य २॥=) (5/6 Sh.) सजिल्द ३=)
शिवांक सपरिशिष्टांक (दूसरा संस्करण) पृष्ठ ६६६, चित्र २८७, मूल्य ३) (6/6 Sh.) सजिल्द ३॥)
" " आठवें वर्षकी पूरी फाइलसहित, मूल्य ४=) (10 Sh.) सजिल्द .... ५।-)
श्रीयोगांक सपरिशिष्टांक—पृष्ठ ८८४, चित्र ४७०, मूल्य ३॥) (7/6 Sh.) सजिल्द .... ४)

दूसरे, चौथे, सातवें वर्षके केवल कुछ फुटकर अंक बचे हैं, जिन्हें चाहिये वे मँगा सकते हैं, मूल्य प्रति अंक ।), (Foreign 8 d.) **शक्ति-अंक अब नहीं मिलता ।**

नोट—हिन्दीके गीताङ्क और ईश्वराङ्क एकदम नहीं रहे, जिनको ज्यादा जरूरत हो, वे चाहें तो इनके निम्नलिखित अंग्रेजी संस्करण मँगा सकते हैं ।

व्यवस्थापक—**कल्याण, गोरखपुर ।**

सुन्दर * **अंग्रेजीमें 'कल्याण'** * सचित्र

'कल्याण-कल्पतरु'के नामसे निकल रहा है । जो हिन्दीमें इसका आनन्द न ले सकें, उनके सुभीतेके लिये निकाला गया है । ऐसे लोगोंमें इसके विशेष प्रचारकी चेष्टा करनी चाहिये । वार्षिक मूल्य ४॥) कागज बढ़िया ।

* OM *

The Kalyana-Kalpataru or the Bliss.

English Edition of the 'Kalyan.' (Sub. Inland Rs. 4/8/- Foreign 10 Shillings.)

Old Specials and Issues ready for Sale.

(Specials 5 Sh. and ordinary issues 8d. or 5 As. each.)

1. Kalyana-Kalpataru Vol. I. 1934 (complete file of 12 numbers including Special issue, God-Number) pp. 836. Illustrations. 63. Unbound, Rs. 4/8/- Cloth Bound Rs. 5/4/-
2. Kalyana-Kalpataru Vol. II. 1935 (complete file of 12 numbers including Special issue, Gita-Number) pp. 780. Illustrations. 32. Unbound Rs. 4/8/-Cloth Bound Rs. 5/4/-
3. God-Number of K. K. 1934 pp. 307, Illus. 41. Unbound, Rs. 2/8/-(5/-Sh.) Cloth Bound, Rs. 3/-
4. Gita-Number of K. K. 1935 pp. 251 Illustrated. Unbound, Rs. 2/8/-(5/-Sh.) Cloth Bound Rs. 3/-
5. Vedanta-Number of K. K. 1936. Illustrated. Unbound, Rs. 2/8/-(5/-Sh.) Cloth Bound, Rs. 3/-

Manager
Kalyana-Kalpataru,
Gorakhpur.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

व्याधकी क्षमाप्रार्थना

अजानता कृतमिदं पापेन मधुसूदन । क्षन्तुमर्हसि पापस्य उत्तमश्लोक मेऽनघ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

5/168

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

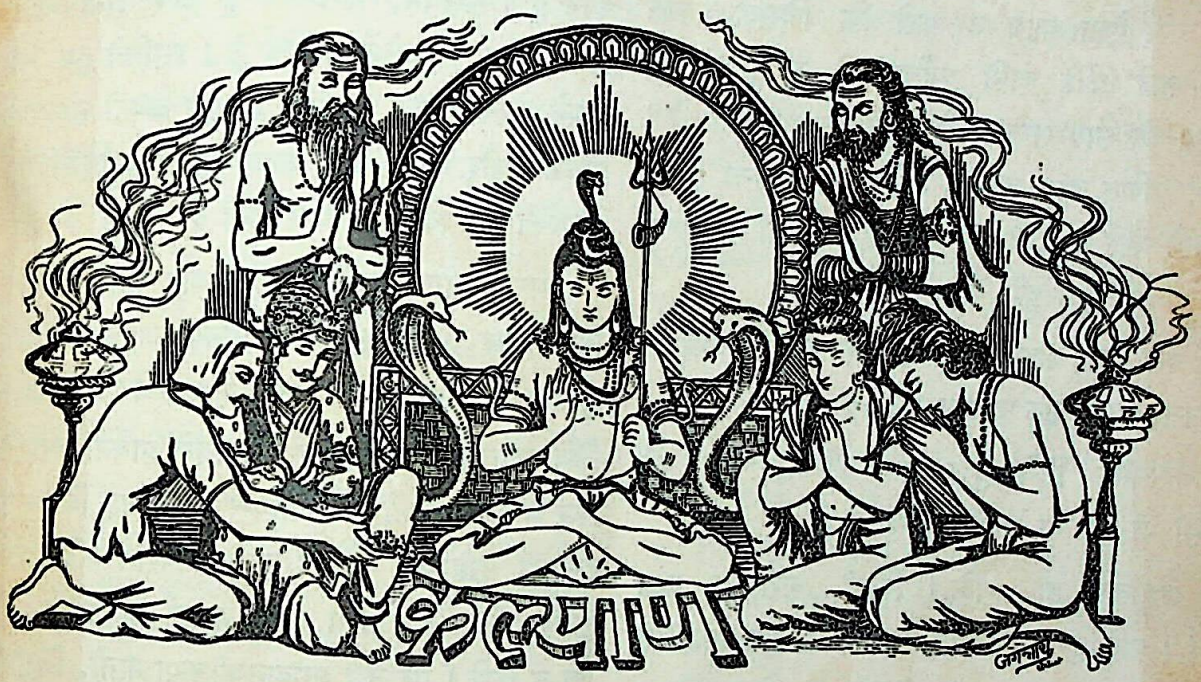

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

(भगवान् श्रीकृष्ण)

वर्ष १० | गोरखपुर, पौष १९९२, जनवरी १९३६ | संख्या ६ पूर्ण संख्या ११४

व्याधकी विनय

व्याध बिनवत दोउ कर जोरे ।
मोतें देव ! दयानिधि ! भारी दोष भयो मोरे ॥
मैं जान्यों ठाढ़ो मृग मगमें तातें तेहि मारथो ।
बेध्यो पादपदुम प्रभुकेरो क्रूर कुमति हारथो ॥
दीजै दंड पतित पापीकौं सकुच न करि सपने ।
प्रभु कह तेरो दोष नहीं कछु हौं प्रेरक अपने ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्वामी श्रीभोलानाथजी महाराजके उपदेश

कोई ऐसा काम न करो कि जिसके करनेसे समाजको कोई हानि पहुँचती हो, या तुम्हारा जो भगवान्‌के साथ सम्बन्ध है उसमें अन्तर पड़ता हो। ऐसा घृणित काम करनेके लिये तुम एकान्त ढूँढ़ोगे जिसमें कोई न जाने ! परन्तु वह सर्वदर्शी तो देखेगा ही। अतः ऐसा कोई काम ही न करो।

कोई ऐसा काम न करो कि जिसके करनेके पश्चात् तुमको झूठ बोलना पड़े।

किसीके लिये बुरा मत सोचो, चाहे वह किसी भी धर्म या जातिका क्यों न हो।

जहाँतक हो सके। किसी गरीबका भला करो। यदि तुम्हारी स्थिति ऐसी है कि तुम किसीकी कुछ सहायता नहीं कर सकते तो यह चेष्टा अवश्य करो कि तुमसे किसीका हृदय न दुखे।

अपने मनोराज्यमें कभी अकेले मत रहो। यह निश्चय समझो, सत्य जो महान् शक्ति है, सदा तुम्हारे साथ है। तुम्हारी बातें और कर्म ऐसे होने चाहिये, जिन्हें उस महाशक्तिके सम्मुख करनेमें कोई संकोच न हो।

प्रार्थनाके लिये प्रत्येक प्रातःकाल और सायंकालमें समय निकालो। प्रातःकाल नियमानुसार कुछ ऐसे शब्दोंमें परमात्मासे प्रार्थना करो 'हे समस्त सृष्टिके रचयिता ! मैं तेरा हूँ। किसी कारणवश मैं फिर इस पाञ्चभौतिक शरीरमें कैद हो गया हूँ। संसार अत्यन्त आकर्षक तथा प्रबल है। मैं आज उसमें प्रवेश कर रहा हूँ ! मुझे सम्हालो, और शक्ति दो कि मैं उसमें ठीक तरीकेसे काम कर सकूँ। मेरे मनमें अपना स्मरण हर समय बनाये रक्खो। मैं बालक हूँ और बुद्धि-हीन हूँ। संक्षेपमें, मैं निर्बल हूँ और इन्द्रियजनित कुविचारोंको रोकनेमें असमर्थ हूँ। इसलिये तुम मुझे अपने करकमलोंका सहारा देते हुए अपनी संरक्षतामें रक्खो और मेरा हाथ पकड़े रहकर कृपापूर्वक मेरा आजका यह दिन मंगलमय बना दो।'

सन्ध्या-समय अपने मनमें विचार करो कि दिनमें कितने बार तुम्हारे सामने प्रलोभनका अवसर उपस्थित हुआ और तुम उसमें पतित हुए। सच्चे हृदयसे उसके लिये पश्चात्ताप करो और भगवान्‌से प्रार्थना करो कि फिर जब ऐसा प्रलोभन उपस्थित हो तो वह निश्चय ही तुम्हारी सहायता करे। इसके विपरीत यदि दिनमें तुमसे कोई नेक काम बन पड़ा हो तो उसके लिये गर्व न करो। पर उसे भगवान्‌की कृपा मानो, जिसकी सहायतासे तुम उस कार्यको ठीकसे कर सके।

दिनभरमें जितने सुख या दुःख तुमको मिलें, उनमें उसीकी इच्छाका प्रत्यक्ष करो। निरन्तर उसको अपने हृदयमें विराजमान देखो।

संसारके अपने सम्बन्धोंको उसी प्रकार समझो जैसे कि नाट्यकार अपने नाटकके सम्बन्धियोंको समझता है। जिनका वास्तविक स्वरूप तो सत्य है पर जिनकी पोशाकें बदलती रहती हैं। या तो अन्दरसे इन सब बाहरी सम्बन्धोंको तोड़ दो। या तुममें और उनमें जो नित्य आत्मिक सम्बन्ध है उसको विचार द्वारा स्थापित करो।

कोई अच्छा काम इस वासनासे न करो कि उसका फल प्राप्त हो परन्तु सदा अपने मालिकको अपने कर्मद्वारा प्रसन्न करनेकी चेष्टा करो।

(प्रेषक—भक्त रामशरणदास)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीमद्भगवद्गीता और योगतत्त्वसमन्वयमीमांसा

(लेखक—श्रीगोवर्द्धनपीठाधीश्वर जगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री ११०८ श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज)

(गताङ्कसे आगे)

कामना त्यागनेकी आज्ञा

अतः कामनाका त्याग करनेकी विधि प्रत्यक्ष रूपमें और स्पष्ट शब्दोंमें श्रीमद्भगवद्गीताके दूसरे अध्यायसे ही खूब मिलती है और उस विषयपर अर्जुनकी ओरसे प्रश्न होनेपर उन प्रश्नोंके उत्तर भी विशेष विस्तारके साथ मिलते हैं। उन्हींमेंसे स्थालीपुलाकन्यायके अनुसार कुछ विशेष दृष्टान्तोंको यहाँ उद्धृत किया जाता है। भगवान् कहते हैं—

१—सत्त्वगुणी, रजोगुणी और तमोगुणीके लिये हैं वेदके बताये हुए सब (सकाम) कर्म। तुम त्रिगुणातीत, द्वन्द्वरहित, अपने आत्मस्वरूपके बलपर सर्वदा अवलम्बित, योगक्षेमचिन्तारहित और ज्ञाननिष्ठ बनो। (२ । ४५)

२—बुद्धिमान् और (इन्द्रियनिग्रहके लिये) प्रयत्नशील पुरुषके मनको भी बलवान् इन्द्रियाँ बरबस खींच लेती हैं। (२ । ६०)

३—उन सबको वशमें करके, मुझमें तत्पर होकर योग करो (२ । ६१)

४—प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें (अर्थात् शब्द-स्पर्श-रूप-रसादि भोग्य पदार्थोंमें) रागद्वेष भलीभाँति निवास करते हैं। उन दोनोंके वशमें न आना, क्योंकि वे इस (मुमुक्षु) के परिपन्थी (बड़े शत्रु) हैं। (३ । ३४)

५—अर्जुनने कहा—तो, हे भगवन्! वह कौन है जिसकी जबर्दस्त प्रेरणासे प्रेरित होकर मनुष्य न चाहता हुआ भी पाप कर लिया करता है? (३ । ३६)

६—श्रीभगवान्ने कहा—ये काम-क्रोध हैं जो रजोगुण-से उत्पन्न होते हैं, कभी तृप्त होनेवाले नहीं हैं और महापापी हैं। इन्हें शत्रु जानो। (३ । ३७)

७—जैसे धुएँसे अग्नि, मैलेसे दर्पण और उल्वसे गर्भ आवृत रहता है, वैसे ही इस (कामक्रोधरूपी शत्रु) से यह सब (सारा जगत्) आवृत रहता है। (३ । ३८)

८—अपनी इच्छाके अनुसार अनेक रूप धारण करके धोखा देनेवाले और अग्निकी भाँति हमेशा अतृप्त रहनेवाले इसी (ज्ञानियोंके) परम शत्रुसे ज्ञान आवृत (छिपा हुआ) रहता है। (३ । ३९)

९—इन्द्रिय, मन और बुद्धि इसके वासस्थान हैं। इन्हीं (के बल)से यह (कामक्रोधरूपी शत्रु) ज्ञानको छिपाकर शरीरमें रहनेवाले (जीव) को मोहमें डाल दिया करता है। (३ । ४०)

१०—इसलिये हे भरतश्रेष्ठ! इन्द्रियोंको पहले वशमें लाकर फिर ज्ञानविज्ञाननाशक इस (कामक्रोधरूपी शत्रु) को मार डालो। (३ । ४१)

११—(शरीरसे) इन्द्रियाँ परे (ऊपर) हैं, इन्द्रियोंसे मन, मनसे बुद्धि और बुद्धिसे भी आत्मा ऊपर है। (३ । ४२)।

१२—इस प्रकार बुद्धिसे भी ऊपर जो है उसे जानकर, अपनेसे अपनेको वशमें करके, इस दुर्जय कामरूप शत्रुको मार डालो। (३ । ४३)

१३—स्थिरबुद्धि और मोहरहित होकर, ब्रह्मज्ञानी बनकर ब्रह्ममें पहुँचकर, किसी सुखसे सुखी न हो और किसी दुःखसे दुःखी न हो। (५ । २०)

१४—इन्द्रियों और विषयोंके संयोगसे जो सुख भोगे जाते हैं, वे दुःखके ही कारण और नश्वर हैं। उनमें कोई बुद्धिमान् नहीं रमता। (५ । २२)

१५—मनका निग्रह करके, मुझमें चित्त लगाकर, मुझमें मग्न होकर योग करो। (६ । १४)

१६—जिसमें पहुँचनेके बाद फिर और किसी चीजकी चाह नहीं रह जाती, उसी योगका अनिर्विण्णचित्त होकर दृढ़ निश्चयके साथ अभ्यास करो। (६ । २२-२३)

१७—सङ्कल्पसे उत्पन्न होनेवाली सब कामनाओंको निःशेष छोड़कर। (६ । २४)

१८—इस अत्यन्त दृढ़ मूलवाले, परन्तु नश्वर संसार-वृक्षको दृढ़ असंगरूपी शस्त्रसे काटकर, उसके बाद उस पदवीकी खोजमें जाना चाहिये, जिसमें पहुँचनेके बाद पुनर्जन्म नहीं होता। (१५ । ३-४)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१९–कामना, क्रोध और लोभ ये ही नरकके तीन दरवाजे हैं, जिनसे आत्मज्ञान नष्ट हो जाता है। इसलिये इन तीनोंका त्याग करो। (१६ । २१)

२०–[तमः (नरक) के इन तीनों द्वारोंसे जो मुक्त हो गया है, वह अपने श्रेयका आचरण करके परमगतिको प्राप्त होता है। (१६ । २२)]

अणिमादि सिद्धि-प्रकरण

इसपर यह आक्षेप किया जा सकता है कि अगर सब कामनाओंके त्यागकी ही सब काण्डोंमें शास्त्रविहित आज्ञा है तब अणिमादि सिद्धियोंके लिये योगशास्त्रमें जो साधनादि प्रक्रियाएँ बतायी गयी हैं, उनके विषयके सिद्धान्तका समन्वय कैसे हो सकता है ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि यद्यपि केवल हठयोगमें ही नहीं, बल्कि राजयोगमें भी अणिमादि सिद्धियों तथा जलस्तम्भन, वायुस्तम्भन, अग्निस्तम्भन, विषस्तम्भन, परकायप्रवेशादिके लिये साधनक्रम बताया गया है, और इन सबमें किसी-न-किसी वस्तुके योगशास्त्रानुसार एकाग्र ध्यानका अभ्यास होनेके कारण चित्तवृत्तिनिरोधरूपी योगकी प्राप्तिरूपी लाभ अवश्य होता है, तथा इस कारण इन सबकी विधियाँ केवल योगशास्त्रमें ही नहीं, बल्कि श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धादिमें भी मिलती हैं, तो भी यह चेतावनी तो हमें फिर भी अवश्य देनी है कि इन सिद्धियोंको प्राप्त करानेवाले विहित अभ्यासोंके द्वारा एकाग्र ध्यानका लाभ होनेपर भी आध्यात्मिक दृष्टिसे यह आपत्ति तो अवश्य रहती ही है कि इन अभ्यासोंसे मनके ऐसी सिद्धियोंकी लालच और मोहमें फँसकर अपने श्रेयःसाधक आध्यात्मिक वृत्ति एवं मननादिविशिष्ट आध्यात्मिक साधनोंसे निवृत्त हो जानेका डर रहता है। अर्थात् श्रेयको छोड़कर प्रेयमें लग जानेकी सम्भावना रहती है। अतएव भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भागवतमें उद्धवको इन सिद्धियोंकी बातें एवं प्रक्रियाएँ बतानेके बाद सावधानीके साथ कहा है कि—

अन्तरायान्वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम्।
मया सम्पद्यमानस्य कालक्षपणहेतवः॥
(११ । १५ । ३३)

[मुझसे मिलनेके लिये उत्तम योगाभ्यास करनेवालोंके समयको व्यर्थ नष्ट करनेके कारण ये सिद्धियाँ श्रेयके रास्तेमें विघ्न हो जाती हैं।]

विघ्नका मुख्य कारण

वृथा कालक्षेप होनेके अतिरिक्त इन सिद्धियोंके द्वारा साधकके श्रेयमार्गमें विघ्न उपस्थित होनेका मुख्य कारण यह है कि ऐसी सिद्धियोंके आ जानेपर प्रायः बुद्धि बिगड़ जाती है और आसुरी चित्तवृत्ति अपना जबर्दस्त साम्राज्य फैलाने लग जाती है जिसका वर्णन श्रीभगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीताके षोडशाध्यायमें किया है—

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥१४॥

—और इससे बचना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन तो जरूर है। इसलिये भी इन सिद्धियोंकी कामना भी त्यागने ही योग्य है।

कायसिद्धि

इसपर यदि कोई यह कहे कि हम तो श्रेयःसाधनका खूब अभ्यास करनेके लिये ही अपने शरीरको शाश्वत और अत्यन्त बलिष्ठ बनानेके उद्देश्यसे इन सिद्धियोंकी इच्छा करते हैं, इसमें क्या दोष है, इत्यादि, तो इस प्रश्नका उत्तर यह है कि हम भी इन बातोंका आठ-दस सालतक एकान्तमें रहकर अच्छी तरह अनुभव कर चुके हैं और उसके आधारपर यह मानते हैं कि हठयोगके इन प्रयोगोंसे शरीरकी सब बीमारियाँ निकल जाती हैं और स्वास्थ्यकी प्राप्ति अच्छी तरहसे हो जाती है, अतः इन प्रयोगोंके द्वारा रोगोंको हटाने एवं आरोग्य प्राप्त करनेका प्रयत्न जरूर हो; परन्तु यह तो बिल्कुल निराधार भ्रम है कि किसी प्रयोगके द्वारा शरीर शाश्वत बनाया जा सकता है। यह बात तो "यज्जन्यं तदनित्यम्" इस न्याय और श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीयाध्यायके नित्यानित्यविवेकवाले प्रकरणमें आये हुए श्रीभगवान्द्वारा प्रतिपादित "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः। (२ । २७)" इस अनुभवसिद्ध और निरपवाद नियमके विरुद्ध है, अतएव मान्य नहीं है। साधकोंको समझना चाहिये कि—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
(२ । २३)

—इत्यादि श्रीभगवद्वाक्योंका विषय आत्मा है न कि शरीर, और—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
(२ । १८)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

—इत्यादि वचनोंके अनुसार शरीर तो नश्वर ही है, फिर उसको अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य बनानेकी आशा करना अपनेको धोखा देनेके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्योंकि आत्मा एवं अनात्माके यथासंख्य नित्यत्व और अनित्यत्वका इस लेखमें पहले ही (चौथी सीढ़ीके प्रकरणमें) पर्याप्त वर्णन हो चुका है, इसलिये इस विषयका फिर यहाँ विस्तारसे विचार नहीं किया जाता।

श्रीमद्भागवतका संवाद

यदि कोई यह कहे कि श्रीमद्भगवद्गीतामें कुछ भी हो, श्रीमद्भागवतमें तो भगवान् श्रीकृष्णने ही इन सिद्धियोंका उपदेश उद्धवको दिया है, इसलिये हम मानते हैं कि शरीरको शाश्वत और वज्रके समान बना सकनेवाली सिद्धियाँ भी हैं। तो इसका उत्तर यह है कि यह बात गलत है। क्योंकि उसी श्रीमद्भागवतके उसी एकादश स्कन्धमें उसी उद्धवके सामने उसी भगवान् श्रीकृष्णने ऐसी सिद्धियोंके लिये प्रयत्न करनेका (उलटा) खण्डन ही किया है; उन्होंने कहा है—

१–कुछ धीर पुरुष इस शरीरको अनेक प्रकारके उपायोंसे उम्रमें शाश्वत और अत्यन्त समर्थ बनाकर फिर श्रेयःसिद्धिके लिये योगारम्भ करते हैं। (११। २८। ४१)

२–परन्तु यह समझदारोंके लिये मान्य नहीं है, क्योंकि यह परिश्रम इसलिये निरर्थक (व्यर्थ) है कि वृक्षके फलोंके समान शरीर नश्वर है। (११। २८।४२)

३–मेरे बताये हुए (भक्तियुक्त और निर्लिप्त स्वधर्माचरणरूपी निष्काम कर्म) योगसे ही जब शरीर समर्थ हो सकता है तब मेरे बुद्धिमान् भक्तको ऐसे योगको छोड़कर इस (सिद्धिवाली) बातपर विश्वास नहीं करना चाहिये। (११। २८। ४३)

४–मेरे शरणागत होकर, निष्काम होकर, इस (मेरे बताये हुए निष्काम कर्माचरणरूपी सांख्य) योगका अभ्यास करता हुआ, विघ्नोंसे पीड़ित न होकर परब्रह्मानन्दका आस्वादन करता रहता है (११। २८। ४४) इत्यादि।

सिद्धिवाले प्रकरणका समन्वय

अब इसपर यदि कोई यह पूछे कि जब २८ वें अध्यायमें ये सब बातें कही हैं तब उसीके पञ्चदशाध्यायमें श्रीभगवान्ने इन सिद्धियोंकी सब विधियाँ क्यों बतायीं ? तो इसका उत्तर यह है कि श्रीभगवान्ने उस अध्यायमें भी ऐसी कोई आज्ञा नहीं की है, बल्कि इतनी ही बात हुई कि चतुर्दशाध्यायमें भक्तियुक्त निष्काम कर्मयोगका वर्णन करके पञ्चदशाध्यायके आरम्भमें उन्होंने अपने-आप कहा कि—

जितेन्द्रियस्य युक्तस्य जितश्वासस्य योगिनः।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः॥
(११। १५। १)

(मेरे बताये हुए ढंगसे) जितेन्द्रिय होकर, श्वासको भी अपने वशमें करके, मुझमें मनको एकाग्रताके साथ रखनेवाले योगीकी सेवामें सिद्धियाँ अपने-आप आ जाती हैं।

और उद्धवके पूछनेपर कि कौन-कौन-सी सिद्धियाँ हैं, श्रीभगवान्ने आठ प्रधान सिद्धियों एवं दस गौण सिद्धियोंका वर्णन करके अन्तमें फिर कहा कि—

१–मेरी ऊपर बतायी हुई योगधारणासे मेरी उपासना करनेवाले मुनि (योगी) को पूर्वोक्त सब सिद्धियाँ अपने-आप सेवामें उपस्थित होती हैं। (११। १५। ३१)

२–जितेन्द्रिय, जितशरीर और जितश्वास होकर जो योगी मेरी योगधारणा करता है, उसके लिये कौन-सी सिद्धि दुर्लभ है ? (अर्थात् सब सिद्धियाँ आसान हैं)। (११।१५।३२)

३–मुझमें पहुँचनेके लिये (मेरे ऊपर बताये हुए) उत्तम योगाभ्यासको करते रहनेवालेके समयको व्यर्थ व्यतीत करा देनेके कारण इन सिद्धियोंको श्रेयके मार्गके विघ्न बताते हैं। (११। १५। ३३)

४–प्रारब्ध, ओषधि, तपस्या और मन्त्रोंके बलसे जितनी सिद्धियाँ मिल सकती हैं, उन सबको (मेरे बताये हुए निष्काम कर्म, भक्ति, ज्ञान) योगसे प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु ऐसी (मेरी बतायी हुई) योगचर्यासे जो गति मिलती है, उसको तो दूसरे किसी उपायसे भी नहीं प्राप्त किया जा सकता। (११। १५। ३४)

पञ्चम स्कन्धवाली चेतावनी

इस प्रकार अपने-आप उपस्थित होनेवाली सिद्धियोंमें भी यह आपत्ति तो अवश्य रहती है, जिसका वर्णन श्रीभगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीताके षोडशाध्यायमें किया है कि—

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान्सुखी॥१४॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

—इत्यादि आसुरी वृत्तिवाला अहंकार आ जाता है। अतएव उसी भगवान्‌के अवतार सिद्धेश्वर भगवान् श्रीऋषभदेवके विषयमें भी श्रीमद्भागवतके पञ्चम स्कन्धके पञ्चमाध्यायमें सब योगैश्वर्यमहिमा बताकर अन्तिम श्लोकमें श्रीशुकदेवजीने स्वयं कहा कि—

योगैश्वर्याणि वैहायसमनोजवान्तर्धानपरकायप्रवेशदूर-ग्रहणादीनि यदृच्छयोपगतानि नाञ्जसा नृप हृदयेनाभ्यनन्दत।

अपनी सेवामें अपने-आप आयी हुई आकाशगमन, अन्तर्धान, परकायप्रवेश, दूरदृष्टि आदि योगैश्वर्य-सिद्धियोंका अपने हृदयसे अभिनन्दन नहीं किया।

और श्रीमद्भागवतके श्रोता महाराज परीक्षितके पूछनेपर कि—

न नूनं भगव न आत्मरामाणां योगसमीरितज्ञानावभर्जितकर्मबीजानामैश्वर्याणि पुनः क्लेशदानि भवितुमर्हन्ति यदृच्छयोपगतानि। (५।६।१)

श्रीशुकदेवजीने उत्तर दिया कि हाँ, ठीक है। परन्तु—

नित्यं ददाति कामस्य छिद्रं तमनु येऽरयः॥
कामो मन्युर्मदो लोभः शोकमोहभयादयः।
कर्मबन्धश्च यन्मूलः स्वीकुर्यात्को नु तद्बुधः॥
(५।६।४,५)

जो हमेशा कामना और उसके अनुयायी क्रोध, मद, लोभ, शोक, मोह, भय आदि शत्रुओंको भीतर आनेके लिये छिद्र देनेवाला है और जिससे कर्मबन्धन भी हो जा सकता है, ऐसेको (अर्थात् अणिमादि योगैश्वर्यसिद्धियोंको) कोई बुद्धिमान् कैसे पसन्द कर सकता है?

सिद्धियाँ भी विघ्न हैं

इन सब उद्धृत वाक्योंसे स्पष्ट होता है कि भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमद्भगवद्गीताके षोडशाध्यायमें और श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें बताये हुए सिद्धान्तमें एवं श्रीशुकदेवजीके पञ्चम स्कन्धवाले उपदेशमें कोई विरोध या विसंवाद नहीं है, बल्कि अविरोध और समन्वय ही है कि कामना सामान्य मोक्षके मार्गमें विघ्न है और अणिमादि योगैश्वर्यसिद्धियोंकी इच्छा भी श्रेयकी प्राप्तिमें विघ्न ही है, अतः उसको भी छोड़ना ही चाहिये।

कामनात्यागकी अयथार्थ कल्पना

परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि चूँकि त्रिगुणातीत, जीवन्मुक्त, स्थितप्रज्ञ, संन्यासी, तपस्वी, योगी या भगवद्भक्त होनेके लिये (अर्थात् सब प्रकारके साधकोंको) एक ओर सर्वकामना-त्यागकी और दूसरी ओर सर्वदुःख-तितिक्षाकी आवश्यकता है, इसलिये त्रिगुणातीतसे लेकर भक्ततक सब प्रकारके साधक शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध और खाने-पीने आदिसे बचते हुए अपने शरीरकी हिंसा ही करते रहनेवाले होंगे। ऐसे भ्रमात्मक विचारका पहले ही (तितिक्षावाले प्रकरणके अन्तमें) हमने निराकरण कर दिया है कि इस प्रकारकी अयथार्थ कल्पना नहीं करनी चाहिये। क्योंकि ऐसी हिंसात्मक तपस्याका श्रीभगवान्‌ने 'तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान्' (गीता १७।६) इत्यादि शब्दोंसे खूब खण्डन किया है और नरक-प्राप्ति तथा तिर्यग्योनिमें जन्म लेनेको ही ऐसी तपस्याका परिणाम बताया है। इसलिये इस विषयमें पुनः केवल चेतावनी ही दी जाती है कि ऐसी अयथार्थ कल्पना न की जाय; इस विषयका विस्तृत वर्णन नहीं दिया जाता।

अकामकामीकी निर्मल अवस्था

यहाँपर जिज्ञासुओंके मनमें यह जिज्ञासा उठ सकती है कि अगर कामना रखना भी मना है और कायशोषणादि भी निषिद्ध है तो श्रेयार्थी साधकको शब्द-स्पर्श-रूप-रसादि पदार्थोंके सम्बन्धमें किस प्रकारकी चित्तवृत्ति और आचरणसे काम लेना चाहिये? इसका उत्तर यह है कि—

नाभिनन्दति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति॥

इस उपदेशके अनुसार चलना चाहिये। अर्थात् कामना भी न करते हुए, दैवयोगसे प्राप्त सुखसे द्वेष भी न करते हुए, अपने कर्तव्यको निष्कामभावसे करते रहना चाहिये। यही ज्ञाननिष्ठाका लक्षण है। अतएव भगवान् श्रीकृष्णने फलेच्छुओंकी निन्दा करते हुए दूसरे अध्यायमें अपने उपदेशके आरम्भसे ही बारंबार यह कहा कि—

१—अपने वशमें रहनेवाले और रागद्वेषरहित इन्द्रियोंसे जो विषयोंको भोगता है, वह योगी पुरुष प्रसन्नताको प्राप्त करता है। (२।६४)

२—प्रसन्नताके प्राप्त होनेपर समस्त दुःखोंका नाश हो

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जाता है; क्योंकि जिसका चित्त प्रसन्न हो गया है, उसकी बुद्धि (निर्विकार होकर अपने कामको अच्छी तरह सँभालनेके सामर्थ्यके साथ) उपस्थित हो जाती है। (२। ६५)

३–जो (निष्काम कर्म) योगी नहीं होता, उसकी बुद्धि काम नहीं देती और उसमें भावना भी नहीं होती। जिसमें भावना नहीं होती उसे शान्ति नहीं मिलती, जिसमें शान्ति नहीं होती उसे सुख कहाँसे और कैसे मिल सकता है ? (२। ६६)

४–लगातार भरते रहनेपर भी अपनी सीमाका उल्लंघन न करनेवाले समुद्रमें जिस तरह जल प्रवेश करता है, उसी तरह जिसमें काम्य पदार्थ आ पहुँचते हैं, उसे शान्ति मिलती है, काम्य वस्तुओंकी कामना करनेवालेको नहीं मिलती। (२। ७०)

५–जो पुरुष अहंकार और ममतासे मुक्त होकर, सब कामनाओंको छोड़कर, (विधिवशात् प्राप्त) काम्य वस्तुओंको निर्लिप्त होकर भोगता है, वही शान्तिको प्राप्त होता है। (२। ७१)

६–यही ब्रह्मज्ञानकी दशा है, जिसके मिल जानेके बाद मोह नहीं रह सकता। अन्तिम समयमें भी इस अवस्थामें रहनेपर परब्रह्मानन्दकी प्राप्ति होती है। (२। ७२)

समस्त गीताके साररूप दूसरे अध्यायमें यह जो सिद्धान्त बताया है, उसीका अगले अध्यायोंमें विस्तृत वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्णने बारंबार सिद्ध किया है कि काम्य पदार्थोंकी कामनाको त्याग देनेसे ज्ञानसिद्धि, योगसिद्धि, भक्तिसिद्धि और कर्मसिद्धि प्राप्त होती है और ज्ञानी, योगी एवं भक्त वे हैं जो भोजनादि भोग्य पदार्थोंको भोगते हुए निर्लिप्त रहते हैं, अर्थात् उनके मोह या बन्धनमें नहीं पड़ते और उनकी इच्छा या संकल्प भी नहीं करते। इसी चित्तवृत्तिका कविकुलतिलक और साथ-ही-साथ ज्ञानिशिरोमणि श्रीभर्तृहरि महाराजने वर्णन करते हुए कहा कि—

अतीतमननुस्मरन्नपि च भाव्यसङ्कल्पय-
न्नतर्कितसमागमाननुभवामि भोगानहम्॥

पिछली बातोंका स्मरण भी न करते हुए, होनेवाली बातोंका संकल्प भी न करते हुए, उन (सुखदुःखरूपी) भोगोंको भोगता रहता हूँ, जिनके आनेकी अपने मनमें भावना भी नहीं रहती।

कामनात्यागका पर्यवसितार्थ सिद्धान्त

इन सब विचारोंका पर्यवसितार्थ यह है कि कामनात्याग भी स्थितप्रज्ञ, त्रिगुणातीत, जीवन्मुक्त, संन्यासी, सत्त्वनिष्ठ, योगी, भगवद्भक्त आदि सब प्रकारके जिज्ञासुओं और साधकोंकी दृष्टिसे अत्यावश्यक साधन है, जिसके बिना तितिक्षारूपी पूर्वसाधन भी यथार्थ रूपमें नहीं मिल सकता।

आनुषंगिक फलितार्थ

कामनात्यागसम्बन्धी इन विचारोंका भी यही आनुषंगिक फल निकलता है कि तितिक्षाकी तरह ही कामनात्यागके विषयमें भी यही सच्चा सिद्धान्त है कि साधकोंके अधिकार एवं चित्तवृत्तियोंमें भेद होनेके कारण केवल दृष्टिकोणमें तथा नाम, रूप और पारिभाषिक प्रक्रियामें भेद है। कर्मकाण्ड, भक्तिकाण्ड और ज्ञानकाण्डमें कामनात्यागके विषयमें यथार्थ भेद या विरोध नहीं है, बल्कि अविरोध और समन्वय ही है। (क्रमशः)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कल्याण

आजकलकी भाषामें अँगरेजीमें बी० ए०, एम० ए० आदिकी परीक्षामें पास हो जाना 'उच्च शिक्षा' प्राप्त करना है, और इन परीक्षाओंका पाठ्यक्रम जिन संस्थाओंमें पढ़ाया जाता है वे उच्च शिक्षालय या कालेज हैं। ऐसे कई कालेज जिस संस्थाके अन्तर्गत होते हैं, उसका नाम विश्वविद्यालय या युनिवरसिटी है। 'उच्च शिक्षा' का सच्चा अर्थ तो यह होना चाहिये कि जिस शिक्षाको प्राप्त करके मनुष्यका हृदय ऊँचा हो जाय। वह उच्च तत्त्वको जान ले, सत्यको पहचान ले और प्राप्त कर ले। सत्यसे वर्जित केवल तर्क-शक्तिका विकास करनेवाला ज्ञान 'उच्च शिक्षा' कदापि नहीं है।

इस शिक्षाकी जरूरत है तो इसको भी प्राप्त करो-कराओ, परन्तु इसे भाषाशिक्षा, विज्ञानशिक्षा, कृषिशिक्षा, या गणितशिक्षा कहो। कहो नहीं तो समझो तो ऐसा ही। परन्तु उच्च शिक्षाकी ओर भी जरूर ध्यान दो। वह उच्च शिक्षा है—अध्यात्मविद्या 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' भगवान्‌के इन वचनोंको याद रक्खो।

अध्यात्मविद्या भी वह नहीं जिससे केवल 'वेदान्त-रत्न' या 'भक्तिकौस्तुभ'की उपाधि ही नामके पीछे लग जाय। अध्यात्मविद्या असली वह है जिससे तुम्हारी मनोवृत्ति ऊँची हो, सत्यको खोजनेकी प्रवृत्ति जाग उठे, सत्यकी ओर मन लगे, और सत्यकी उपलब्धि जबतक न हो तबतक यह विद्याभ्यास न छूटे।

याद रक्खो, अध्यात्मविद्याके बिना तुम सत्यकी ओर अपना मुख नहीं फिरा सकते, सत्यकी ओर तुम्हारी गति नहीं हो सकती, और तुम सत्यको नहीं पा सकते। और सत्यको पाये बिना मनुष्यजीवन व्यर्थ है!

इस विद्याका पहला लाभ है—जीवनका संयमित होना। जिसका जीवन असंयत है, जिसका शरीर, इन्द्रियाँ और मन वशमें नहीं है, जो इन्द्रियोंका गुलाम है वह कभी सच्चा विद्वान् नहीं कहा जा सकता। संयमी ही स्वतन्त्र है चाहे वह शारीरिक बन्धनमें हो, और इसके विपरीत किसी भी नियमके अधीन न रहनेवाला यथेच्छाचारी असंयमी पुरुष सर्वथा परतन्त्र है। जिस विद्याका पहला लाभ इस परतन्त्रताकी बेड़ी-को काट डालना है वही अध्यात्मविद्या है। हिन्दुओंके प्राचीन ब्रह्मचर्याश्रमोंमें सर्वप्रथम इसीकी व्यावहारिक शिक्षा दी जाती थी।

इसका दूसरा लाभ है, सद्‌भावों और सद्‌गुणोंकी प्राप्ति। जो विद्या दुष्टभाव और दुर्गुणोंसे हमारे हृदय और कर्मोंको भर देती है, वह तो अविद्याका ही मोहसे बदला हुआ सुन्दर नाम है। अध्यात्मविद्या हृदयको सद्भावोंसे और आचरणोंको सद्‌गुणोंसे भर देती है।

इसका तीसरा लाभ है, सत्यकी ओर प्रवृत्त होना। जीवनको सत्यकी खोजमें लगा देना। जो सत्यकी खोजमें लगा है, वही सदाचारी है। सत्य भाषण, सत्य आचार, सत्य व्यवहार उस सत्यकी प्राप्तिके साधन हैं। वह सत्य भगवान्‌का ही नामान्तर है।

और अध्यात्मविद्याका चरम लाभ है परमात्माको पा लेना। यही सब दुःखोंसे सदाके लिये मुक्त करके नित्य सनातन परमानन्द देनेवाली अवस्था है। परमानन्द ही इसका स्वरूप है। इसका कोई भोग

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नहीं है। यह ज्ञानस्वरूप और चेतन है। यही परम सत्य है।

इस परम सत्यको पाना ही मनुष्यजीवनका लक्ष्य है, इस लक्ष्यकी ओर अनन्यदृष्टि रखकर निश्चयात्मिका बुद्धिके द्वारा आगे बढ़ते रहो। इस लक्ष्यको सामने रखकर इसे पानेके लिये जिस विद्याका अध्ययन किया जाता है वही अध्यात्मविद्या है, वही उच्च शिक्षा है, वही पारमार्थिक शिक्षा है।

अवश्य ही इसमें व्यावहारिक शिक्षाका विरोध नहीं है। व्यवहारके सब कार्य करो, और भलीभाँति करो परन्तु लक्ष्यकी ओर दृष्टि बनाये रक्खो। लक्ष्य बना रहेगा तो व्यवहार तुम्हारे मार्गका बाधक न होकर सहायक होगा।

परन्तु लक्ष्य बनाने और उसे स्थिर रखनेके लिये भी प्राथमिक शिक्षाकी आवश्यकता है। उसी शिक्षाका नाम धार्मिक शिक्षा है। अतएव ऐसी चेष्टा करो जिसमें प्रत्येक बच्चेको घरमें और स्कूल-कालेजोंमें धार्मिक शिक्षा अवश्य मिले। जिससे उनका लक्ष्य ठीक हो और वे व्यावहारिक शिक्षा प्राप्त करते समय भी लक्ष्यपर स्थिर दृष्टि रख सकें।

भगवान्‌से यह प्रार्थना करो, और आत्मामें निश्चय करो कि हमारा और हमारी सन्तानका लक्ष्य भगवान् रहें। हम भगवान्‌के लिये ही सब काम करें, भगवान्‌के लिये ही जियें, और अन्तमें भगवान्‌के लिये भगवान्‌का स्मरण करते हुए इस नश्वर शरीरको त्यागकर भगवान्‌के चरणोंमें चले जायँ।

'शिव'

विषय-वासना और मुमुक्षु जीवका प्रश्नोत्तर

विषयोंकी इच्छा जीवसे यों कहने लगी—

अहिक्रीडा न कर्तव्या कर्तव्यं नात्मचिन्तनम्।
अहो जीव महामूढ मरणं ते भविष्यति॥

हे महामूर्ख जीव, तू साँपसे खेल मत कर (सर्पके समान नष्ट कर डालनेवाले आत्माके साथ अपना नाता मत जोड़), उस प्रत्यगात्माका चिन्तन मत कर। यदि तू आत्म-चिन्तन करेगा (उसके साथ प्रेम जोड़ेगा) तो तेरा नाश हो जायगा (इस आत्मसर्पके काट लेनेपर तुझे ऐसी घोर मूर्छा आयेगी कि फिर तू कभी भी न उठ सकेगा और मर जायगा)।

विषय-वासनाको उस ज्ञानी जीवने यह उत्तर दिया—

अहिनानेन ये दष्टा अमरत्वं गता हि ते।
अस्यामृतमयी दंष्ट्रा तत्क्रीडाम्यमुनाहिना॥

इस साँपने जिसको काटा, वे सब अमर हो गये, इसकी दाढ़में अमृत भरा हुआ है। इसलिये मैं तो इसी साँपसे खेलता हूँ।

इस आत्मरूपी साँपने जिस किसी भाग्यशाली शुकादिको काटा है, वे सब मरण-रहित पदको प्राप्त हो गये (ब्रह्मीभूत हो चुके) हैं। मैं भी इस अविनाशिस्वरूप आत्माके साथ ही रमण करता हूँ। इस आत्म-सर्पकी विवेकरूपी दंष्ट्रामें अमृतपद (ब्रह्मात्मता) भरा पड़ा है। इसके काट लेनेपर अमरपद प्राप्त हो ही जायगा। साधकके बड़े भाग्योंके उदय होनेपर ही इस आत्म-सर्पसे डसे जानेका शुभ प्रसङ्ग आता है।*

* श्रीनरहरि स्वामिरचित 'बोधसार' संस्कृतका परमोपयोगी वेदान्त-ग्रन्थ है। इसका अनुवाद करके पण्डित रामावतार विद्याभास्करजीने इसपर एक सुन्दर व्याख्या लिखी है। उसीसे यह प्रसङ्ग उद्धृत किया गया है। पुस्तक बहुत ही उत्तम है। ६२५ पृष्ठ हैं। मूल्य २।) है। पं० रामावतारजीने अन्य कई ग्रन्थोंका भी अनुवाद किया है तथा उनपर सुन्दर स्वतन्त्र व्याख्या लिखी है। जिनमें अर्वाचीन वेदान्तका प्रधान और प्रसिद्ध ग्रन्थ 'पञ्चदशी' मुख्य है। पञ्चदशीके विस्तृत व्याख्यायुक्त अनुवादके अतिरिक्त अन्तमें पञ्चदशीके पन्द्रहों प्रकरणोंका पूर्ण भाव संक्षेप सरल हिन्दीमें लिखकर जोड़ दिया गया है, जिससे पढ़नेवालोंको बहुत ही सुगमता हो गयी है। पृष्ठ ७०० से ऊपर हैं, मूल्य २॥=)। शतश्लोकी, वाक्यसुधा, योगतारावली, दशश्लोकी, वेदान्तस्तोत्र आदि कई अन्य ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। इनके अतिरिक्त और भी अनेकों ग्रन्थोंका आपने अनुवाद किया है और कई उपयोगी ग्रन्थ मौलिक भी निर्माण किये हैं। वेदान्तके प्रेमी हिन्दी पाठक पण्डितजीके ग्रन्थोंसे बहुत कुछ लाभ उठा सकते हैं। पुस्तकें मिलनेका एक पता—पं० कृष्णकुमार शर्मा, पो० रतनगढ़ जि० बिजनौर (यू० पी०) और दूसरा 'हिन्दी-भवन, लाहौर' है। —सम्पादक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आचरण करनेयोग्य बातें

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानसे)

१—सन्ध्या अत्यन्त प्रेमपूर्वक करनी चाहिये; अर्थपर ध्यान रखते हुए गायत्री मन्त्रका जप करना चाहिये तथा 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे' इस मन्त्रका भी प्रेम और भक्तिपूर्वक जप-कीर्तन करना चाहिये।

२—सब भाइयोंको गीताका अर्थ समझनेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। गीताका खूब अभ्यास करे; जिस समय पाठ करे उस समय अर्थपर खूब ध्यान रक्खे। पहले अर्थ पढ़ ले, पीछे श्लोक पढ़े।

३—अपने घरपर रहते हुए भी हर एक भाईको एकान्तसेवन करते रहना चाहिये। एकान्तमें भगवान्‌का ध्यान करे। पहले विचार करे कि आत्माका कल्याण कैसे होगा। यदि कोई विचार न सूझे तो भगवान्‌से प्रार्थना करे, और—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥

'कायरतारूप दोषकरके उपहत हुए स्वभाववाला और धर्मके विषयमें मोहितचित्त हुआ मैं आपको पूछता हूँ, जो कुछ निश्चय किया हुआ कल्याणकारक साधन हो, वह मेरे लिये कहिये, क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपके शरण हुए मेरेको शिक्षा दीजिये।'

—इस श्लोकके अनुसार रुदन करे। फिर ध्यान करे। ध्यानके लिये अलग कमरा रखे, उसके लिये आसन भी अलग ही होना चाहिये। उस कमरेमें किसी अन्य व्यक्तिको न जाने दे।

४—सेवाका अभ्यास डालना चाहिये। हमें सेवाका अभ्यास बहुत कम है। अपने घरपर आये हुए अतिथिका खूब सत्कार करना चाहिये। यदि कोई सत्संगी मिले तो उससे भगवद्विषयक प्रश्न करे। भगवत्सम्बन्धी बातोंकी खोजमें खूब तत्परतासे रहे। यदि कोई सत्संग करके आया हो अथवा कोई सत्संग-सम्बन्धी पत्र मिला हो तो आपसमें मिलकर चर्चा करनी चाहिये। गीताके श्लोकोंमें कोई नयी बात जान पड़े तो उसे कण्ठस्थ कर ले।

५—जो साधन बतलाया गया हो उसे कठिन न समझे। सदा ऐसा साहस रक्खे कि दुर्गुण दुराचार आ ही कैसे सकता है? यदि हम सावधान रहेंगे तो चोर हमारे घरमें कैसे घुस सकता है?

६—डाक्टरी दवा नहीं लेनी चाहिये। डाक्टरी दवासे बहुत अधिक हानि होती है। बाजारकी मिठाई, पूड़ी, दूध, दही आदि नहीं खाने चाहिये। भाँग आदि मादक द्रव्योंको भी त्याग देना चाहिये।

७—वास्तविक बात यह है कि सत्संगमें जितनी बातें बतलायी जाती हैं यदि उनकी धारणा कर ले, उनका नियम-सा कर ले तो अवश्य सुधार हो जाय।

८—रसोई पवित्रतासे बनानी चाहिये। बालक आदि रसोईघरमें न जाने चाहिये। रसोई बनाते समय धुले हुए वस्त्र धारण करे। आहार शुद्ध होनेसे मन भी शुद्ध होता है। 'जैसा खावे अन्न तैसा बने मन।' अन्न तीन प्रकारसे पवित्र होता है—सात्त्विक कमाईसे, पवित्रतापूर्वक तैयार करनेसे तथा सात्त्विक भोजन होनेसे।

९—वाणीके संयमपर खूब ध्यान रखना चाहिये। सदा विचारकर बोले। वाणीके तपका बहुत बड़ा महत्त्व है। नेत्रोंके संयमकी भी बड़ी आवश्यकता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

संसारी पदार्थोंकी ओर नेत्रोंको न जाने दे, और न हो, तो स्त्रियोंकी ओर तो उनकी प्रवृत्ति होने ही न दे। यदि चले जायँ तो उपवास करे। ऐसा करनेसे अच्छा सुधार हो सकता है। हाथोंका भी संयम करे, उनसे कोई कामोद्दीपक कुचेष्टा न करे, कामवृत्तिको जड़से उखाड़ डाले। क्रोधको तो ऐसा जीते कि सामनेवाला मनुष्य कितना ही उत्तेजित हो जाय, स्वयं शान्त ही रहे।

१०—दूसरोंका उपकार करनेकी आदत डालनी चाहिये। यह बड़े महत्त्वकी बात है कि अपनेसे किसीका उपकार बन जाय। किन्तु वह उपकार होना चाहिये दयाबुद्धिसे तथा शारीरिक परिश्रम और उदारतासे। दया हो और परिश्रम न हो तो परोपकार नहीं किया जा सकता।

११—प्रत्येक मनुष्यके साथ जो व्यवहार किया जाय उसमें स्वार्थदृष्टिको त्याग देना चाहिये। व्यवहार स्वार्थसे ही बिगड़ता है। एक स्वार्थके त्याग देनेसे ही व्यवहार सुधर जाता है।

१२—लोगोंसे छोटे-छोटे जीवोंकी बहुत हिंसा होती है। हमें चलने, हाथ धोने, कुल्ला करने तथा मल-मूत्र त्याग करनेमें इस बातका ध्यान रखना चाहिये। हम इन जीवोंके जीवनका कुछ मूल्य नहीं समझते। किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि इस उपेक्षाके कारण बदलेमें हमें भी ऐसी ही निर्दयताका शिकार होना पड़ेगा। जो मनुष्य जीवोंकी हिंसाका कानून बनाता है उसे तरह-तरहके कष्ट उठाने पड़ेंगे। यदि कोई पुरुष कुत्तेको रोटी देना बंद करेगा तो उसे भी कुत्ता बनकर भूखों मरना पड़ेगा। यदि किसीने म्युनिसिपलिटीमें कुत्तोंको मारनेके कानून बनाया तो उसे भी कुत्ता बनकर निर्दयतापूर्वक मृत्युका सामना करना पड़ेगा। कसाइयोंकी तो बड़ी ही दुर्दशा होगी। धन्य है उन राजाओंको जिनके राज्यमें हिंसा नहीं थी।

१३—सूर्योदयसे पूर्व प्रातः-सन्ध्या और सूर्यास्तसे पूर्व सायं-सन्ध्या नियमानुसार आदर और प्रेमपूर्वक करनी चाहिये। सन्ध्यासे लाभ नहीं मालूम होता—इसमें हमारे प्रेमकी न्यूनता ही कारण है।

१४—व्यापारमें नियम कर ले कि मुझे झूठ या कपटका व्यवहार नहीं करना है। खानेको न मिले तो भी कोई परवा मत करो। मेरा तो विश्वास है कि सचाईका व्यवहार जैसा चलता है वैसा झूठ-कपटका कभी नहीं चल सकता। पहले मिथ्या भाषण किया है, इसलिये आरम्भमें लोग विश्वास नहीं करते; सो कोई चिन्ता नहीं, पहले कियेका प्रायश्चित्त भी तो करना ही चाहिये। यदि यह सूत्र याद रक्खा जाय कि 'लोभ ही पापका मूल है तो व्यवहारमें पाप नहीं हो सकता। महापुरुषोंके लक्षणोंमें ये गुण बतलाये गये हैं। इनका पाठ कर लेनेसे ही कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। आवश्यकता तो उसी प्रकार आचरण करनेकी है। श्लोक याद करके केवल मुखसे उच्चारण करनेसे ही कोई लाभ नहीं।

१५—हमारे साथ पथप्रदर्शकरूपसे गीतादि शास्त्रोंके रहते हुए भी यदि हमारी दुर्गति हो तो बड़ी लज्जाकी बात है। हमें भजन करनेकी स्वतन्त्रता है; फिर संसारमें भगवान्‌का नाम रहते हुए भी हमारी दुर्गति क्यों है। श्रीमद्भगवद्गीताकी ध्वजा फहरा रही है; फिर हमारी अवनति क्यों होनी चाहिये?

१६—कुसंग कभी न करना चाहिये। जो पुरुष विषयी, पामर, दुराचारी, पापी या नास्तिक हैं उनका संग कभी न करे और न उन्हें अपने पड़ोसमें ही बसावे। उनसे सर्वदा दूर रहे। वे प्लेगकी बीमारीके समान हैं। किन्तु उनके आचरण और दुर्गुणोंसे ही घृणा करे, उनसे घृणा न करे।

१७—किसी भी प्रकारका न्याय करना हो तो

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

समदृष्टि रखे; यदि विषमता करनी हो तो अपने पक्षमें पौने सोलह आने रक्खे और विपक्षके लिये सवा सोलह आने।

१८—यदि कोई कठिन कार्य आकर प्राप्त हो, और उसे करनेवाला कोई दूसरा आदमी दिखायी न दे तो स्वयं करनेको तैयार हो जाय।

१९—हानि-लाभ, जय-पराजय, एवं सुख-दुःखादिमें समानरूपसे ईश्वरकी दयाका दर्शन करे।

२०—ईश्वरकी प्राप्तिमें खूब विश्वास रक्खे। ऐसा विचार करे कि मेरा और तो कोई आधार नहीं है, किन्तु भगवान्‌की दयालुता देखकर मुझे पूरा भरोसा है कि वे अवश्य मेरी भी सुधि लेंगे।

२१—सब प्रकारके विषयोंको विषके समान त्याग देना चाहिये। विष मिला हुआ मधुर पदार्थ भी सेवन करने योग्य नहीं होता, इसी प्रकार विषय सुखरूप जान पड़े तो भी त्याज्य ही हैं।

२२—ज्ञान या प्रेम किसी भी मार्गका अवलम्बन करके उत्तरोत्तर उन्नति करता चला जाय। कलकी अपेक्षा आज कुछ-न-कुछ बढ़ा ही देना चाहिये। इस प्रकार निरन्तर उन्नति करे। चलते-फिरते, उठते-बैठते किसी भी समय एक मिनटके लिये भी प्रमाद न करे। भगवान् कहते हैं—'तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युद्ध्य च।' देखो, जयद्रथने थोड़ी ही देरके लिये प्रमाद किया था, उसी कारण उसे प्राणोंसे हाथ धोना पड़ा।

२३—भगवान्‌की दया और प्रेमका स्मरण कर हर समय भगवत्प्रेममें मुग्ध और निर्भय रहे। आत्म-चिन्तनमें खूब प्रेम और श्रद्धाकी वृद्धि करे। यह बड़ी ही मूल्यवान् चीज है।

२४—साधना-अवस्थामें विशेष कुतर्क करनेवालोंसे बातें नहीं करनी चाहिये। अपने हृदयकी गूढ़ और मार्मिक बातें हर किसीसे नहीं कहनी चाहिये।

२५—अपने गुणोंको छिपावे तथा किसीकी निन्दा-स्तुति न करे। करनी ही हो तो स्तुति भले ही करे, निन्दा तो कभी न करनी चाहिये।

पञ्च-सकार

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

४३—कोई दुखी मनुष्य अपना दुःख सुनावे तब ऐसा खयाल मत करो कि यह बहुत बढ़ाकर कह रहा है। तुम दूसरेके दुःखका अंदाजा नहीं लगा सकते। सम्भव है जिस बातको तुम बहुत ही छोटी समझते हो वही दूसरेके मन बहुत बड़ी हो। सहानुभूतिके साथ धीरतापूर्वक उसकी बातें सुनो। और जिस प्रकारसे जितना भी उसका दुःख कम करनेमें तुम सहायता कर सकते हो, करो।

४४—अपने ऊपर कोई कष्ट आवे तो ऐसा समझो कि वह भगवान्‌का भेजा हुआ तुम्हारी सेवावृत्तिको विकसित करनेके लिये आया है। कष्टका भोगनेवाला ही दूसरेके कष्टका अंदाजा लगाकर उसकी सेवाके लिये तैयार हो सकता है, भुक्तभोगीके सिवा दूसरेको अनुमान होना कठिन है।

४५—किसी भी हालतमें यह मत समझो कि हमें दूसरे किसीकी सहायताकी जरूरत ही नहीं है। संसारमें किसीका भी काम परस्पर एक दूसरेकी सहायताके बिना नहीं चलता और जब हमारा जीवन दूसरोंकी सहायतापर ही निर्भर है, तब हमें भी सदा यथाशक्ति दूसरोंकी सेवा करनेके लिये तैयार रहना चाहिये।

४६—जिस दिन उच्च श्रेणीको और अधिक सेवा करनेका सुअवसर मिले, उस दिन वैसे ही प्रसन्न होवे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जैसे लोभी मनुष्य धन पानेसे होता है। और भगवान्‌से यह चाहो कि वे इसी प्रकार अपनी सेवामें निमित्त बनाते रहें।

४७—सेवाका सुअवसर न मिलनेपर दुखी होकर भगवान्‌से प्रार्थना करो कि 'हे भगवन्! मुझसे कोई अपराध हो गया हो तो उसे क्षमा कीजिये और मुझे सेवाका सुअवसर प्रदान कीजिये।'

४८—जो सेवा कराता है और करना नहीं चाहता उसे मंदभागी या अभागी समझो। बड़भागी वह है जो सेवा करते-करते कभी अघाता नहीं और जो कुछ सेवा करता है उसमें अपना अहोभाग्य समझता है।

४९—किसीमें किसी सद्‌गुणका अभाव जान पड़े, और वह तुम्हारे अंदर हो तो अपने बर्तावके द्वारा उसके सामने उस सद्‌गुणको रक्खो, और रक्खो भी इस रीतिसे कि जिसमें वह उसे ग्रहण कर ले।

५०—किसीकी ऐसी सेवा न करो जिससे वह उच्च ध्येयसे गिर जाय, कर्त्तव्यसे च्युत हो जाय, विलासी बन जाय, ईश्वरसे विमुख हो जाय, सदाचारसे भ्रष्ट हो जाय। ऐसी सेवा सेवा नहीं है।

५१—अपनी की हुई सेवापर कहीं अभिमान आने लगे तो अपनेसे बढ़कर सेवा करनेवालोंकी महती सेवाको याद करो। यह कभी मत समझो कि हमसे अच्छा सेवाधर्मी कोई है ही नहीं। दुनियामें तुम्हारी अपेक्षा अधिक और ऊँची सेवा करनेवाले न मालूम कितने हो चुके हैं, अभी हैं, और आगे होंगे।

५२—सामाजिक कार्योंमें जो प्रथा शास्त्रदृष्टिसे अनावश्यक होनेके साथ ही बहुत खर्चीली हो और जिसको समाजकी चाल समझकर लोगोंको कष्ट सहकर भी निभानेके लिये मजबूर होना पड़ता हो, अच्छे पुरुषोंकी सलाह लेकर निर्भयताके साथ अपने घरसे उस प्रथाको बन्द कर दो। किसीको कुछ भी बुरा-भला न कहो। एक बार समाजमें तुम्हारी बदनामी होगी, लोग कुछ बुरा-भला भी कहेंगे परन्तु तुम्हारी इस सेवाको आगे चलकर समाज बड़े ही आदरकी दृष्टिसे देखेगा।

५३—दूसरे लोगोंको जिस सेवामें भय मालूम होता हो, या घृणा होती हो, साहसपूर्वक उस सेवाको अवश्य करना चाहिये। जैसे छूतसे लगनेवाली बीमारियों-से पीड़ित बीमारोंकी सेवा आदि। रोगके भयसे ऐसे पीड़ित मनुष्योंकी सेवासे अगर सभी लोग मुख मोड़ लें तो उनके कष्टका पार न रहे। विश्वास रक्खो, सच्चे हृदयकी सेवासे तुम्हारा कोई अनिष्ट नहीं होगा। अवश्य ही ऐसी व्यवस्था भी करो जिसमें अपने या दूसरोंके ऊपर उस रोगका आक्रमण भी न हो।

५४—सेवा करते समय जो अपनेको सेव्यसे बड़ा समझता है, उससे यथार्थ सेवा नहीं हो सकती।

५५—अपने अधीनस्थ कर्मचारी, सेवक या मजदूरको आलसी, प्रमादी, सुस्त, मूर्ख, कामचोर, भ्रष्टाचारी और नशेबाज न बनने देकर अपने प्रेमपूर्ण बर्ताव और उत्तम आदर्शसे उसे सदाचारी, व्यसनहीन, कर्त्तव्य-परायण, बुद्धिमान् और आज्ञाकारी बना देना उसकी बड़ी सेवा करना है।

५६—अधिकारी और निर्लोभी पुरुषोंद्वारा जगह-जगह नियमित श्रीहरिकथाका प्रबन्ध करा देना जनता-की बड़ी सेवा करना है।

५७—मित्र या सम्बन्धीको कुपथसे हटाकर सुपथपर लाना उसकी बड़ी सेवा है।

५८—अपने शरीर, इन्द्रिय और मनको वशमें रखकर उन वशमें किये हुए करणोंद्वारा विषयोंका भोग करना समाजकी बड़ी सेवा करना है।

५९—आवश्यकतासे अधिक संग्रह न करना समाजकी बड़ी सेवा करना है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

६०—सत्य और न्यायमार्गसे धन उपार्जनकर उसे गरीबोंकी सेवामें यथायोग्य लगा देना समाजकी बड़ी सेवा करना है।

६१—मामला लड़नेवालोंका आपसमें पञ्चायतद्वारा फैसला करवाकर उन्हें अदालतमें न जाने देना समाजकी एक बड़ी सेवा है।

६२—किसीके भी दूसरेका अहित न करनेवाले धर्म और कर्तव्यके पालनमें सुविधा कर देना और सहायता करना अच्छी सेवा करना है।

६३—अपने सरल और शुद्ध प्रेम, त्याग तथा सहानुभूतिसे भरे हुए सदाचरण और सद्व्यवहारोंद्वारा श्रीभगवान्‌की ओर लोगोंका विश्वास बढ़ाना उनकी बहुत बड़ी सेवा करना है।

६४—मनमें किसी प्रकारसे भी धन, मान, बड़ाई आदिकी कामना या लोभ न रखकर शुद्ध धार्मिक भावोंका, सदाचारका तथा सार्वभौम प्रेमका प्रचार करना बड़ी सेवा है।

६५—बच्चोंको बुरी लतमें पड़नेसे बचाना मनुष्य-जातिकी बड़ी सेवा करना है।

६६—मांस और शराबका किसी भी बहाने होनेवाला प्रचार बंद कराना जीवमात्रकी सेवा करना है।

६७—भगवान्‌ने कितनी प्रकारसे हमारी सेवाकी व्यवस्था कर रक्खी है। प्रकृतिके सभी तत्त्वोंको भगवान्‌ने हमारी सेवामें नियुक्त कर रक्खा है। पृथ्वीतत्त्व हमें टिकनेके लिये आधार देता और अन्नादिके उपजानेकी व्यवस्था करता है, जलतत्त्व हमारी प्यास बुझाता है, हमारी मलिनताओंको धोता है और अन्नादिमें रसका सञ्चार करता है; अग्नितत्त्व शीत निवारण करता है, बाहर और भीतर परिपाक करता है और हमें प्रकाश देता है, वायुतत्त्व ताप दूर करता है, प्राणधारणमें सहायता करता है; आकाशतत्त्व हमें अवकाश देता है। इसी प्रकार इन्द्रिय, मन और बुद्धितत्त्वसे हमारी निरन्तर सेवा हो रही है। हमें भी इनका अनुकरणकर सबकी सेवामें तत्पर रहना चाहिये।

६८—सेवा करनेवालेको गीताका निम्नलिखित श्लोक अर्थसहित याद रखना चाहिये, एवं इसीके अनुसार सात्त्विकभावसे सेवा करनी चाहिये।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्ता सात्त्विक उच्यते॥
(१८।२६)

जो पुरुष आसक्तिसे रहित है, मैंने किया, ऐसा सोचने और कहनेवाला नहीं है, धीरज और उत्साहसे भरा हुआ है, कार्यकी सिद्धि और असिद्धिमें जिसके मनमें हर्ष या शोकका विकार नहीं होता वही सात्त्विक कर्त्ता कहा जाता है।

सम्मानदान

संसारत्यागी भगवत्प्राप्त महापुरुषोंको और विषयोंसे विरक्त ऊँची श्रेणीके भक्तों और साधक महानुभावोंको छोड़कर संसारमें शायद ही कोई ऐसा मनुष्य हो जिसको अपमानमें दुःखकी और सम्मानमें सुखकी अनुभूति न होती हो। मनुष्योंकी तो बात ही क्या है, पशु-पक्षी भी सम्मानसे खुश और अपमानसे नाराज होते देखे जाते हैं। प्रत्येक मनुष्यको किसी भी कारणवश दूसरेका अपमान करते समय यह विचार करना चाहिये कि मेरा किसीके द्वारा जब जरा-सा भी अपमान होता है तब मुझे कितना दुःख होता है। इसी प्रकार इसको भी दुःख होता होगा। इस प्रकार विचार किया जायगा तो धीरे-धीरे अपमान करनेकी बान छूट जायगी। विचारवान् पुरुषको तो भूलकर भी किसीका अपमान नहीं करना चाहिये। छोटे-बड़े सभीका सम्मान करते हुए ही यथायोग्य व्यवहार

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

करना उचित है। बड़ोंका सम्मान तो हमारे लिये परम लाभदायक है। शास्त्रोंमें गुरु, माता, पिता, बड़े भाई, आचार्य, ब्राह्मण, ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध आदिका श्रद्धा-पूर्वक सम्मान करनेकी आज्ञा जगह-जगह दी गयी है।

मनु महाराजके कुछ महत्त्वपूर्ण वचनोंपर ध्यान दीजिये—

आचार्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्त्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः॥
आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः॥
यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥
तयोर्नित्यं प्रियं कुर्यादाचार्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते॥
तेषां त्रयाणां शुश्रूषा परमं तप उच्यते।

(मनु० २। २२५–२२९)

'आचार्य, पिता, माता और बड़े भाई, इनका इनसे दुःखी होनेपर भी अपमान न करे। और ब्राह्मणको तो विशेष करके इनका अपमान नहीं करना चाहिये। क्योंकि आचार्य ब्रह्माकी मूर्ति, पिता प्रजापतिकी मूर्ति, माता पृथ्वीकी मूर्त्ति और बड़ा भाई अपनी आत्माकी ही दूसरी मूर्ति है। (इनका अपमान करनेसे इन-इन देवताओंका अपमान होता है।) बालकोंको जन्म देकर उनके पालनमें माता-पिताको जो कष्ट सहना पड़ता है, उसका बदला सैकड़ों वर्ष सेवा करके भी नहीं दिया जा सकता। अतएव प्रतिदिन माता-पिता और आचार्यका प्रिय कार्य करे। इन तीनोंके सन्तुष्ट होनेसे सब तप पूर्ण हो जाता है, क्योंकि इन तीनोंकी सेवा करना ही परमतप कहलाता है।'

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान् विजयेद्गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते॥
सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥

(मनु० २। २३२, २३४)

'जो गृहस्थ इन तीनोंकी सेवामें तत्पर रहता है वह तीनों लोकोंको जीत लेता है और दिव्य लोकमें सूर्य-के समान अपने तेजस्वी शरीरसे प्रकाशित होता हुआ आनन्दमें रहता है। जो इन तीनोंका आदर करता है वह सब धर्मोंका आदर करता है और जो इन तीनोंका अनादर करता है वह कुछ भी धर्म-कर्म करे, उसका सब निष्फल होता है।'

इसी प्रकार सभी गुरुजनोंके प्रति सम्मान करना चाहिये। माता, पिता, गुरु, आचार्य, वृद्ध, बड़े भाई, मौसी, भौजाई, नाना, नानी, मामा, मामी, ससुर, सासु आदिको नित्य सम्मानपूर्वक प्रणाम करना चाहिये। मनु महाराज कहते हैं कि—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते आयुर्विद्या यशो बलम्॥

(२। १२१)

'जो मनुष्य नित्य वृद्धोंको प्रणाम करता है और उनकी सेवा करता है उसके आयु, विद्या, यश और बल बढ़ते हैं।'

खेदका विषय है कि आज मनुष्यका अहंकार इतना अधिक बढ़ गया है कि वह इन स्वभावसे ही नित्य पूजनीय प्रत्यक्ष भगवत्-स्वरूप माता, पिता, गुरु आदिका अपमान करनेमें ही अपना महत्त्व समझता है। अधिक क्या, आज तो सर्वव्यापी ईश्वर-तकका अपमान करनेके लिये कमर कस रहा है! परन्तु यह दुराचार है, और इसका परिणाम बहुत ही भयानक होगा। अतएव इस पतनके प्रवाहमें न पड़-कर, विधिपूर्वक बड़ोंका सम्मान करना चाहिये।

यह स्मरण रहे कि सम्मान करनेमें कहीं दम्भ नहीं होना चाहिये। सच्चा सम्मान सरल हृदयसे ही

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होता है। स्वार्थी या कुटिल हृदयका बाहरी सम्मान तो वस्तुतः सम्मान है ही नहीं, वह तो दिखावटी सभ्यता है, अथवा कुचक्रपूर्ण कुटिल नीति है। ऐसे 'विषकुम्भं पयोमुखम्'* सम्मानसे तो सदा सावधान ही रहना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्ण जब दूतलीला करनेके लिये कौरवोंके दरबारमें पधारे थे, तब ऊपरसे उनका स्वागत-सम्मान करनेमें कोई कसर नहीं रक्खी गयी थी। परन्तु दुर्योधनादिके हृदयमें कुटिलता भरी थी। अन्तर्यामी भगवान् इस बातको समझ गये थे और इसीलिये वे कौरव राजमहलके राजसी निमन्त्रणका निरादर कर, मान-सम्मानकी कुछ भी परवा न कर प्रेमी भक्त विदुरके घर बिना ही बुलावे चले गये, और साग-भाजी जो कुछ मिला, उसीका प्रेमसे भोग लगाकर तृप्त हुए। 'दुर्योधनके मेवा त्यागे साग बिदुर घर खायो' प्रसिद्ध है।

अहंकारी मनुष्य किसीका सम्मान करना नहीं चाहता। वह सबके साथ रूखा व्यवहार करनेमें ही अपना गौरव समझता है। जहाँ कोई दबावका कारण नहीं होता वहाँ तो अहंकारी मनुष्यको हाथोंहाथ ही रूखेपनका फल मिल जाता है। जहाँ किसी कारणवश लोग दबे रहते हैं, वहाँ लोगोंके मनोंमें वह रूखापन बढ़ता रहता है जो अवसरकी प्रतीक्षामें अन्दर-ही-अन्दर राखसे ढकी आगकी तरह सुलगता रहता है, और अनुकूल समय पाते ही प्रतिहिंसाकी प्रचण्ड ज्वालाके रूपमें प्रकट होकर अपनी सर्वग्रासी लपटोंसे उसे सकुल भस्म कर डालता है, और वह वैरकी आग आगे चलकर भी जन्मजन्मान्तर तक दुःख देती रहती है। इसके विपरीत सम्मानदानकी शीतल सुधाधारा बढ़ी हुई विरोधाग्निको सहज ही शान्तकर हृदयमें अमृत सींच देती है।

अतएव किसीका भी, भूलकर भी अपमान न करके सबका यथायोग्य सम्मान करना चाहिये। न मालूम किस वेशमें कौन आता है। जब उसके वेशका रहस्य खुलेगा तब मालूम होगा कि वह कौन है। विराट नगरमें पाँचों पाण्डव और रानी द्रौपदीने वेश बदलकर सालभर नौकरी की थी। वहाँ नीचप्रकृति कीचकके द्वारा द्रौपदीका अपमान हुआ, जिसके फलस्वरूप कीचक अपने बन्धुओंसमेत मारा गया, और अन्तमें एक दिन बृहन्नलावेशी अर्जुनकी बड़ाई करनेपर विराटने धर्मराजका अपमान कर दिया। कुछ समय बाद जब भेद खुला और यह मालूम हुआ कि ये पाँचों पाण्डव हैं और सैरन्ध्री नाम धारण करके सेवा करनेवाली दासी बनी हुई महारानी द्रौपदी हैं तब विराटके मन पश्चात्तापका पार न रहा, और राजा विराट अर्जुनके पुत्र अभिमन्युको अपनी पुत्री देकर भी पश्चात्तापसे नहीं छूट सके। इसी प्रकार आज हम जिसका अपमान करते हैं, न मालूम वह हमारे कितने सम्मानका पात्र है। और वस्तुतः बात भी ऐसी ही है। समस्त जगत् श्रीनारायणका स्वरूप ही तो है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि 'मेरे अतिरिक्त दूसरा भी जगत्‌में नहीं है।' 'मत्तः परतरं किञ्चिन्नान्यदस्ति।' अतएव सबको परमात्मा समझकर मन, वाणी और शरीर तीनोंसे सबका सम्मान करना चाहिये। मनसे सबको परमात्माका स्वरूप समझकर सबको नमस्कार करना और सबकी सेवाकी इच्छा रखना, वाणीसे मधुर और आदरपूर्ण भाषण करना और शरीरसे विनय तथा नम्रतायुक्त बर्ताव करना चाहिये। आत्मविचार विशारदके पदको प्राप्त महाभागवत योगेश्वर श्री कवि कहते हैं—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्।

* जिस घड़ेके अन्दर तो ज़हर भरा हो और मुँहपर थोड़ा-सा दूध हो।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २ । ४१)

'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, सब जीव, दिशाएँ, वृक्ष, नदियाँ और समुद्र जो कुछ भी हैं, सब श्रीहरिके शरीर ही हैं। अतएव सबको अनन्य भावसे प्रणाम करो।' श्रीभगवान् तो उद्धवसे यहाँतक कह देते हैं—

इति सर्वाणि भूतानि मद्भावेन महाद्युते।
सभाजयन् मन्यमानो ज्ञानं केवलमाश्रितः ॥
ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः ॥
विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद्दण्डवद्भूमावाश्वचाण्डालगोखरम् ॥
(श्रीमद्भागवत ११ । २९ । १३, १४, १६)

'हे महातेजस्वी उद्धव! इस प्रकार केवल ज्ञानका आश्रय करके जो पुरुष सब प्राणियोंमें मेरा ही रूप मानकर सबका सम्मान करता है, और ब्राह्मण-चाण्डाल, चोर और ब्राह्मण भक्त, सूर्य और चिनगारी, दयालु और निर्दय सबमें समभावसे मुझको देखता है वही पण्डित है। अपना मजाक उड़ानेवाले स्वजनोंकी बातपर ध्यान न देकर 'मैं अच्छा हूँ, यह बुरा है ऐसी देहदृष्टिको तथा लोकलाजको त्यागकर कुत्ते, चाण्डाल, गौ और गधेको भी पृथ्वीपर गिरकर (उसे भगवत्स्वरूप समझकर) साष्टांग प्रणाम करना चाहिये।'

यद्यपि यह उपदेश देहदृष्टिसे शून्य वीतरागी परमहंसोंकी स्थिति बतलानेवाला है, तथापि इतना तो सभीको निश्चय कर लेना चाहिये कि अपमान पाने योग्य संसारमें कोई नहीं है। इस नातेसे छोटे-बड़े सभी हमारे सम्मानके पात्र हैं।

इस रहस्यको न समझनेके कारण ही जाति, वर्ण, व्यवसाय, क्रिया, धन, रूप, बल, पद, विद्या आदिके अभिमानवश मनुष्य दूसरोंको अपनेसे नीचा मानकर उनका अपमान करता है और उनकी अन्तरात्मापर भारी आघात पहुँचाता है, और इसके फलस्वरूप स्वयं नीच बनकर गुरुतर आघातका पात्र बनता है।

हमलोगोंमेंसे कुछ लोग बड़ोंका सम्मान तो किसी भी हेतुसे, अथवा अभ्यासवश करते भी हैं परन्तु अपनेसे छोटोंका सम्मान करते उन्हें बड़ा संकोच मालूम होता है। और कुछ लोग तो उनका अपमान कर बैठते हैं। यहाँतक कि अपनी विवाहिता पत्नीतकका पतिभावके अभिमानमें आकर अपमान कर बैठते हैं। कुछ उद्धत प्रकृतिके मनुष्य तो गाली-गलौज और मारपीटतककी नृशंसता करनेमें भी नहीं हिचकते। यह बड़ा पाप है। पतिको परमेश्वरके समान मानकर उसकी सेवा करनेकी आज्ञा शास्त्रोंने स्त्रियोंके लिये दी है, और उन्हें तदनुसार करना ही चाहिये। परन्तु पति अपनेको परमेश्वर माने और पत्नीको दासी मानकर जबरदस्ती उससे मनमानी दोषपूर्ण गुलामी करवावे, ऐसी आज्ञा कहीं नहीं है। फिर, परमेश्वरके समान गुण होनेपर कोई अपनेको परमेश्वरवत् भी मान ले तो किसी अंशमें उसका बचाव हो सकता है; हम न मालूम परमेश्वरका कितना अपमान करते हैं, कितना उसे भूले रहते हैं, परन्तु वह हमारे अपार अपराधोंकी ओर ध्यान न देकर सदा हमारा कल्याण करनेमें ही लगे रहते हैं। ऐसी स्वाभाविक कल्याणकारिणी वृत्ति जिस पतिकी हो वह यदि पत्नीको अपनी पूजा परमेश्वरकी भाँति करनेके लिये कहे तो उसका ऐसा कहना उचित भी हो सकता है, परन्तु यह ध्यान रहे कि ऐसा पति सेवा-सम्मानका भूखा ही क्यों होगा? अतएव किसी भी पतिको अपनी पत्नीका अपमान नहीं करना चाहिये, वरं स्वयं सदा सन्मार्गपर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आरूढ़ रहकर अपने स्वाभाविक उत्तम और सद्व्यवहार-द्वारा उसके हृदयपर अधिकार करके, उसे भी सदा सन्मार्गपर चलाना चाहिये। और मन-ही-मन उसको भगवान्‌की प्रतिमूर्ति मानकर यथायोग्य क्रियाओं-द्वारा उसका सेवा-सम्मान करना चाहिये। इसी प्रकार गुरुको शिष्यका, पिताको पुत्रका, उच्च वर्णको अपनेसे निम्न वर्णका, धनीको निर्धनका, उच्चपदस्थको निम्नपदस्थका, विद्वान्‌को अविद्वान्‌का, सासको वधूका, मालिकको नौकरका यथायोग्य सम्मान करना चाहिये। इसका यह तात्पर्य नहीं कि मोहवश, आसक्तिके कारण स्त्री-पुरुष आदिके शास्त्रोक्त व्यवहारमें—जो लोक-परलोक दोनोंमें कल्याणकारी है—उच्छृङ्खलता पैदा कर ली जाय।

अपनी अधीनतामें काम करनेवाले किसी भी कर्मचारी, सेवक या मजदूरका मन, वाणी या शरीरसे कभी अपमान नहीं करना चाहिये। मनमें किसीको नीचा समझना, शरीरसे अनुचित बर्ताव करना या गर्वपूर्ण आकृति बना लेना, और वाणीसे किसीको अपमानजनक शब्द कहना सर्वथा अनुचित है। यह उक्ति सदा याद रखनी चाहिये कि तलवारका घाव मिट जाता है पर ज़बानका नहीं मिटता।

मनु महाराज कहते हैं—

नारुन्तुदः स्यादार्तोऽपि न परद्रोहकर्मधीः।
ययास्योद्विजते वाचा नालोक्यां तामुदीरयेत्॥

(मनु० २। १६१)

अत्यन्त पीड़ित होनेपर भी किसीको मर्मभेदी वचन न कहे, दूसरेके द्रोहके काममें बुद्धिको न लगावे, और जिस ज़बानसे किसीको उद्वेग हो, ऐसी स्वर्गसे भ्रष्ट करनेवाली कड़ी ज़बान किसीसे न कहे। हमेशा सबका भला चाहे, मीठी और हितकारी वाणी बोले, और हँसमुख रहे। कुछ लोग अभिमानवश या बुरी आदत पड़ जानेके कारण अपने अधीनस्थ कर्मचारियोंसे अथवा सेवक और मजदूरोंसे उनकी शक्तिसे कहीं अधिक काम लेनेमें अपनी बुद्धिमानी समझते हैं, और उनसे बात करनेमें अपना अपमान समझते हैं। कभी बोलते भी हैं तो इशारेसे अथवा चेहरा बिगाड़कर अपने बड़प्पनको दिखाते हुए बहुत ही रूखे शब्दोंमें, झिड़कते हुए, व्यंगभरा मज़ाक उड़ाते हुए, ताने मारते हुए, कि जिससे वे बेचारे दिल खोलकर अपना दुखड़ा रोकर सुना भी न सकें। कुछ लोग तो अहंकारवश यहाँतक नीचता कर बैठते हैं कि बुरी-बुरी गालियाँ देकर अपनी ज़बान गंदी करने और हाथ लात चलाकर निर्दयता प्रकट करनेमें भी नहीं हिचकते। उनकी माँ बहिनोंपर कुविचार और कुदृष्टि करते हैं। ऐसे नीच प्रकृतिके मनुष्य सर्वभूतस्थित परमात्माका अपमान करके घोर अपराध करते हैं और परिणाममें इहलोक और परलोकमें भीषण यन्त्रणाओंको भोगनेके लिये बाध्य होते हैं। अतएव इस प्रकारकी घृणित आदतको तो सब प्रकारसे हानिकर समझकर, पाठकोंमेंसे किसीमें हो तो तुरन्त छोड़ ही देना चाहिये। बल्कि अपमानजनक कोई-सा भी भाव नहीं आने देना चाहिये।

कुछ लोग नौकर और मजदूरोंके नामके साथ 'रे' शब्द जोड़कर ही उन्हें पुकारना आवश्यक समझते हैं। ऐसा करनेमें मिथ्या अहंकार ही कारण है। इस अहंकारको छोड़ देना चाहिये। और किसीको भी 'रे' न कहकर यथासाध्य स्नेह और आदरके शब्दों और स्वरोंमें उससे बातचीत करनी चाहिये। कभी कोई दण्ड देना नितान्त आवश्यक जान पड़े तो वह किसी द्रोहबुद्धिसे न देकर उसी स्नेहभावसे देना चाहिये, जिस भावसे स्नेहमयी जननी अपने पुत्रको देती है परन्तु पहले अपने आचरणोंसे सेवकके हृदयमें यह दृढ़ विश्वास उत्पन्न

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कर देनेकी कोशिश करनी चाहिये, जिससे वह आपको माताके समान प्यार करनेवाला समझ सके।

इसका यह अभिप्राय नहीं कि नौकर या मजदूर-को किसी कामके लिये कहनेमें ही उसका अपमान मानकर उसे आलसी, प्रमादी, सुस्त, रोगी, मूर्ख, और आज्ञाका उल्लंघन करनेवाला बना दिया जाय। उसका सच्चा सम्मान इसीमें है कि वह हमारे साथ रहकर कर्त्तव्यपरायण, चुस्त, बुद्धिमान्, सदाचारी, आज्ञाकारी बने, जिसमें उसकी उन्नतिका पथ और भी प्रशस्त हो जाय। इस बातका ध्यान रखते हुए ही उसके साथ सम्मानपूर्ण बर्ताव हो। सम्मान कोरा ही नहीं होना चाहिये, उसको पेट भरने योग्य मजदूरी भी अवश्य ही मिलनी चाहिये।

अहंकाररहित होकर सरलताके साथ जो दूसरोंको सम्मानदान दिया जाता है उससे बहुत ही लाभ होते हैं। हम जिसका सम्मान करते हैं, उसका विषाद मिटता है, उसके हृदयमें सुख होता है, उसका क्रोध शान्त होता है, विरोध नष्ट हो जाता है, हमारे प्रति यथायोग्य दया, स्नेह, प्रेम और आत्मीयताके भाव उसके हृदयमें जागृत होते और बढ़ते हैं, जिससे अनायास ही हमारा हित करनेकी कामना उसके हृदयमें उत्पन्न होती है। यों हम सबका सम्मान करके अनायास ही सबको अपने हिताकांक्षी और हित-कारी मित्र बना लेते हैं।

यह बात याद रखनी चाहिये कि अपमान करके मनुष्य शत्रुओंकी संख्या बढ़ाता है, और सम्मान करके सुहृदोंकी। और यह भी निश्चित है कि जिसके जितने ही शत्रु अधिक होंगे, उसकी जीवनयात्रा उतनी ही कंटकाकीर्ण, अशान्त, असहाय और लक्ष्यतक पहुँचनेमें संदेहयुक्त रहेगी। इसीके विपरीत जिसके सच्चे मित्रोंकी संख्या जितनी ही ज़्यादा होगी उतना ही उसका जीवन विघ्नरहित शान्त, सहायतासे पूर्ण और स्वाभाविक ही सफलतासे युक्त रहेगा। मनुष्य अभिमानको छोड़ दे तो दुनिया-भरको अपने पक्षमें ला सकता है।

भगवान् दीनबन्धु हैं, पतितपावन हैं, अशरण-शरण हैं, अतएव उनकी भक्ति चाहनेवालोंको भी ऐसा ही बनना चाहिये। माता अपने दीन बच्चेको विशेष प्यार करती है। माँकी गोदमें धूलभरा बच्चा ही नहीं, गोदमें मलमूत्र त्याग करनेवाला बच्चा भी बड़े स्नेहसे स्थान पाता है। माता उसका अनादर या तिरस्कार नहीं कर सकती। बड़े चावसे उसे हृदयसे लगाये रखती है। अपने हाथों उसका मलमूत्र धोनेमें सुखका अनुभव करती है। इसी प्रकार हमलोगोंको स्वयं अमानी होकर उन लोगोंका विशेष चावके साथ सम्मान करना चाहिये, उनका विशेष आदर करना चाहिये जिनका आदर-सम्मान कोई नहीं करता, या करनेमें सब सकुचाते हैं। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव कहते हैं—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

अपनेको राहमें पड़े हुए एक तिनके-से भी नीचा समझो, वृक्षसे बढ़कर सहनशील बनो, अपने मान-सम्मानकी इच्छा बिल्कुल छोड़कर दूसरोंका(मानहीनोंका) सम्मान करो और ऐसा बनकर सदा श्रीहरिकीर्तन करो।

सम्मान दो, पर चाहो मत। यह शास्त्रका उपदेश है। मनु महाराज तो कहते हैं कि—सम्मानसे जहरके समान डरना चाहिये तथा अपमानकी अमृतकी भाँति सदा इच्छा करनी चाहिये। अपना कल्याण चाहने-वालोंके लिये यही सिद्धान्त सर्वथा मानने योग्य है। मुक्तपुरुषोंको छोड़कर शेष संसारमें तीन तरहके मनुष्य हैं—पामर, विषयी और मुमुक्षु। 'मान न

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मान मैं तेरा मेहमान' कहावतको चरितार्थ करते हुए पामर प्राणी जबरदस्ती लाठीके जोरसे (जहरभरा) मान प्राप्त करते हैं। विषयान्ध विषयी मनुष्य मान-सम्मानमें—प्रतिष्ठा और पदमें परम सुख मानकर धन और धर्म, अर्थ और परमार्थ दोनोंको बेचकर मान-बड़ाई प्राप्त करना चाहते हैं। और मुमुक्षु पुरुष,—सच्चा कल्याण चाहनेवाले बुद्धिमान् पुरुष—मानको जहर समझकर उसका दूरसे ही त्याग करते हैं, और अपमानको अमृत मानकर उसको ढूँढ़ा करते हैं, और मिल जानेपर उसे सिर चढ़ाकर वरण करते हैं। तथा उसीमें अपना कल्याण मानते हैं। चौथे, मानापमानकी सीमाको लाँघे हुए वे महात्मा मुक्त पुरुष हैं जिनके मन मानापमान कोई वस्तु ही नहीं है। परन्तु लोकसंग्रहार्थ सबमें परमात्माका अनुभव करके वे भी सबका सम्मान ही करते हैं, सबको प्रणाम ही करते हैं।—

सीयराम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

भक्त उपमन्यु

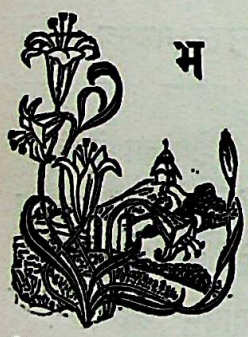

भक्तराज उपमन्यु परम शिवभक्त वेदतत्त्वके ज्ञाता महर्षि व्याघ्रपादके बड़े पुत्र थे। इनके छोटे भाईका नाम था धौम्य। पिताके कैलासवासी होनेपर दोनों ऋषि-बालक अपनी माताके साथ कुछ दिन मामाके घर रहे थे। कुछ समय बाद अपनी कुटियामें लौट आये। एक दिन उपमन्युने मातासे दूध माँगा। घरमें दूध था नहीं। माताने चावलोंका आटा जलमें घोलकर उपमन्युको दे दिया। उपमन्यु मामाके घर दूध पीते थे अतएव उन्होंने यह जानकर कि यह दूध नहीं है, मातासे कहा, माँ! यह तो दूध नहीं है। ऋषिपत्नी झूठ बोलना नहीं जानतीं; उन्होंने कहा, बेटा! तू सत्य कहता है यह दूध नहीं है। नदी-किनारे वनों और पहाड़ोंकी गुफाओंमें जीवन बितानेवाले हम तपस्वी मनुष्योंके यहाँ दूध कहाँसे आता। तैंने रोकर दूध माँगा, तब मैंने तुझे बहलानेके लिये चावलका आटा जलमें घोलकर दे दिया। सरल बालक उपमन्युने माँकी बात सुनकर कहा—माँ, मामाजीके यहाँ तो बहुत दूध था, अपने यहाँ क्यों नहीं है? क्या मुझको अपने घर दूध कभी नहीं मिलेगा? माँ बोली—बेटा! उनके घर गौएँ हैं, हमारे घर एक भी गाय नहीं है। हमारे तो सर्वस्व श्रीशिवजी महाराज हैं। तू यदि दूध चाहता है तो उन भोले भण्डारी जगन्नाथ श्रीशिवजीको प्रसन्न कर!

माताकी बात सुनकर बालक उपमन्युने पूछा—माँ! भगवान् श्रीशिवजी कौन हैं? कहाँ रहते हैं? उनका कैसा रूप है, मुझे वे किस प्रकार मिलेंगे? और उन्हें प्रसन्न करनेका उपाय क्या है?

बालकके सरल वचनोंको सुनकर स्नेहवश माताकी आँखोंमें आँसू भर आये। शिवस्वरूपकी जिज्ञासा और उनकी प्राप्तिके साधन पूछते देखकर माताको बड़ा आनन्द हुआ और वह स्नेहसे मस्तक सूँघकर बोली—बेटा! शिवजी सारे संसारके स्वामी हैं, सब देवताओंके देवता हैं, यह सब जगत् उन्हींसे निकला है, उन्हींमें स्थित है, और उस जगत्में भी वही भरे हैं। सारा विश्व ही शिव-मय है। वे सब जीवोंके हृदयमें सदा निवास करते हैं; ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ वे न हों, तो भी भक्तोंपर दया करके वे कभी-कभी प्रकट होकर उन्हें दर्शन भी दिया करते हैं। यों तो उनका कोई रूप नहीं है, और सभी रूप उनके हैं। तथापि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उनके अपने अनेक दिव्य नित्य रूप भी हैं। उनके स्वरूपका मर्म कोई नहीं जानता। वे कृपा करके जिसको जनाते हैं, जिसको दुर्लभ दर्शन देते हैं, वही उनके रूपको जानता और देखता है। निराकार रूपसे वे सब समय सर्वत्र व्याप्त हैं और नित्य दिव्यसाकाररूपसे महाकैलासमें विराजते हैं। उनका वर्ण—सब वर्णोंका मूलवर्ण स्वच्छ श्वेत है। सारे वर्ण उन्हीं अवर्णके वर्णसे निकलते हैं। उनके मस्तकपर जटाजूट है। भालपर चन्द्रमा है। अङ्गोंपर साँप लिपटे हैं, वे हाथीका चर्म पहने हुए हैं, उनके एक हाथमें डमरू है, दूसरेमें त्रिशूल है, तीसरेमें वरद और चौथेमें अभय मुद्रा है। वे निष्कल, मायाके स्वामी, आदि, अन्त और मध्यसे रहित हैं। वे कालके भी महाकाल हैं। उन परमात्मा महेश्वरका ज्ञान केवल उनकी अनन्य भक्तिसे ही हो सकता है, तू उनका भक्त बन, उनमें मन लगा, उनमें विश्वास रख, एकमात्र उनकी शरण हो जा, उन्हींका भजन कर, उन्हींको नमस्कार कर। ऐसा करनेसे वे कल्याणस्वरूप तेरा निश्चय ही कल्याण करेंगे।

उनको प्रसन्न करनेका महामन्त्र 'नमः शिवाय' है। यह महामन्त्र देवाधिदेव महादेवका साक्षात् वाचक है। जैसे भगवान् शिव सदा-सर्वदा ऊँच-नीच सब जीवोंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं इसी प्रकार यह महामन्त्र भी महान् शक्तिशाली है। इसलिये 'नमः शिवाय' इस 'पञ्चाक्षर' मन्त्रका जप करते रहना। शिव-भक्तोंकी सदा रक्षा करनेवाला अघोरास्त्र भी इसी पञ्चाक्षर मन्त्रसे निकला है। मैं तुम्हें यह मन्त्र देती हूँ, तुम इसे ग्रहण करो, इससे तुम्हारा परम कल्याण होगा।

इस प्रकार मातासे उपदेश पाकर बालक उपमन्यु शिवको प्राप्त करनेका दृढ़ सङ्कल्प करके—ध्रुवकी भाँति ही—घरसे निकल पड़े। माताके उपदेशसे भगवान् शङ्करमें बालक उपमन्युकी अविचल और अनन्य भक्ति हो गयी। वे वनमें जाकर प्रतिदिन 'नमः शिवाय' मन्त्रके द्वारा वनके पत्रपुष्पोंद्वारा भगवान् शिवजीकी पूजा करते, और शेष समय मन्त्र-जप करते हुए कठोर तप करने लगे। इस प्रकार कठोर तपस्यासे उनका शरीर अत्यन्त कृश हो गया और मुखमण्डल अमित तेजसे चमकने लगा। वनमें अकेले रहनेवाले तपस्वी उपमन्युको पिशाचोंने बहुत कुछ सताया, परन्तु उपमन्युके मनमें न तो भय हुआ, और न विघ्न करनेवालोंके प्रति क्रोध ही। वे उच्च स्वरसे 'नमः शिवाय' मन्त्रका कीर्तन करने लगे। इस पवित्र मन्त्रके सुननेसे मरीचिके शापसे पिशाच-योनिको प्राप्त हुए, उपमन्युके तपमें विघ्न करनेवाले वे मुनि पिशाचयोनिसे छूटकर पुनः मुनिदेहको प्राप्त होकर कृतज्ञताके साथ उपमन्युकी सेवा करने लगे।

तदनन्तर देवताओंके द्वारा उपमन्युकी उग्र तपस्याका हाल सुनकर सर्वान्तर्यामी भक्तवत्सल भोलेनाथ श्रीशङ्करजी भक्तका गौरव बढ़ानेके लिये उनके अनन्यभावकी परीक्षा करनेकी इच्छासे इन्द्रका रूप धारणकर श्वेतवर्ण ऐरावतपर सवार होकर उपमन्युके समीप जा पहुँचे। मुनिकुमार भक्तश्रेष्ठ उपमन्युने इन्द्ररूपी भगवान् महादेवको देखकर धरतीपर सिर टेककर प्रणाम किया और कहा कि 'हे देवराज! आपने कृपा करके स्वयं मेरे समीप पधारकर मुझपर बड़ी कृपा की है। बतलाइये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ।' इन्द्ररूपी परमात्मा शङ्करने प्रसन्न होकर कहा, 'हे सुव्रत! तुम्हारी इस तपस्यासे मैं बहुत ही प्रसन्न हुआ हूँ, तुम मुझसे मनमाना वर माँगो, तुम जो कुछ माँगोगे, वही मैं तुम्हें दूँगा।'

इन्द्रकी बात सुनकर उपमन्युने कहा—'देवराज! आपकी बड़ी कृपा है, परन्तु मैं आपसे कुछ भी नहीं चाहता। मुझे न तो स्वर्ग चाहिये, न स्वर्गका ऐश्वर्य ही। मैं तो भगवान् शङ्करका दासानुदास बनना चाहता हूँ। जबतक वे प्रसन्न

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होकर मुझे दर्शन नहीं देंगे, तबतक मैं तपको नहीं छोड़ूँगा । त्रिभुवनसार सबके आदिपुरुष, अद्वितीय, अविनाशी भगवान् शिवको प्रसन्न किये विना किसीको स्थिर शान्ति नहीं मिल सकती। मेरे दोषोंके कारण मुझे इस जन्ममें भगवान्के दर्शन न हों और यदि मरा फिर जन्म हो तो उसमें भी भगवान् शिवपर ही मेरी अक्षय और अनन्य भक्ति बनी रहे।'

इन्द्रसे इस प्रकार कहकर उपमन्यु फिर अपनी तपस्यामें लग गये। तब इन्द्ररूपधारी शङ्करने उपमन्युके सामने अपने गुणोंद्वारा अपनी ही निन्दा करना आरम्भ किया। मुनिको शिवनिन्दा सुनकर बड़ा ही दुःख हुआ; कभी क्रोध न करनेवाले मुनिके मनमें भी इष्टकी निन्दा सुनकर क्रोधका सञ्चार हो आया और उन्होंने इन्द्रको वध करनेकी इच्छासे अघोरास्त्रसे अभिमन्त्रित भस्म लेकर इन्द्रपर फेंकी, और शिवनिन्दा सुननेके प्रायश्चित्त-स्वरूप अपने शरीरको भस्म करनेके लिये आग्नेयी धारणा करने लगे।

उनकी यह स्थिति देखकर भगवान् शङ्कर परम प्रसन्न हो गये। भगवान्के आदेशसे आग्नेयी धारणाका निवारण हो गया और नन्दीने अघोरास्त्र-का निवारण कर दिया। इतनेहीमें उपमन्युने चकित होकर देखा कि ऐरावत हाथीने चन्द्रमाके समान सफेद कान्तिवाले बैलका रूप धारण कर लिया। और इन्द्रकी जगह भगवान् शिव अपने दिव्य रूपमें जगज्जननी उमाके साथ उसपर विराजमान हैं। वे करोड़ों सूर्योंके समान तेजसे आच्छादित और करोड़ों चन्द्रमाओंके समान सुशीतल सुधामयी किरणधाराओंसे घिरे हुए हैं। उनके शीतल तेज-से सब दिशाएँ प्रकाशित और प्रफुल्लित हो गयीं। वे अनेक प्रकारके सुन्दर आभूषण पहने थे। उनके उज्ज्वल सफेद वस्त्र थे। सफेद फूलोंकी सुन्दर माला उनके गलेमें थी। श्वेत मस्तकपर चन्दन लगा था। श्वेत ही ध्वजा थी, श्वेत ही यज्ञोपवीत था। धवल चन्द्रयुक्त मुकुट था। सुन्दर दिव्य शरीरपर सुवर्णकमलोंसे गुँथी हुई और रत्नोंसे जड़ी हुई माला सुशोभित हो रही थी। माता उमाकी शोभा भी अवर्णनीय थी। ऐसे देव-मुनिवन्दित भगवान् शङ्करके माता उमाके सहित दर्शन प्राप्तकर उपमन्युके हर्षका पार नहीं रहा। उपमन्यु गद्गद् कण्ठसे प्रार्थना करने लगे।

भक्तकी निष्कपट और सरल प्रार्थनासे प्रसन्न होकर भगवान् शङ्करने कहा—'बेटा उपमन्यु! मैं तुझपर परम प्रसन्न हूँ। मैंने भलीभाँति परीक्षा करके देख लिया कि तू मेरा अनन्य और दृढ़ भक्त है। बता, तू क्या चाहता है? यह याद रख कि तेरे लिये मुझको कुछ भी अदेय नहीं है।'

भगवान् शङ्करके स्नेहभरे वचनोंको सुनकर उपमन्युके आनन्दकी सीमा नहीं रही। उनके नेत्रोंसे आनन्दके आँसुओंकी धारा बहने लगी। वह गद्गद् स्वरसे बोले—'हे नाथ! आज मुझे क्या मिलना बाकी रह गया? मेरा यह जन्म सदाके लिये सफल हो गया। देवता भी जिनको प्रत्यक्ष नहीं देख सकते, वे देवदेव आज कृपा करके मेरे सामने विराजमान हैं, इससे अधिक मुझे और क्या चाहिये? इसपर आप यदि देना ही चाहते हैं तो यही दीजिये कि आपके श्रीचरणोंमें मेरी अविचल और अनन्य भक्ति सदा बनी रहे।'

भगवान् चन्द्रशेखरने उपमन्युका मस्तक सूँघ कर उन्हें देवीके हाथोंमें सौंप दिया। देवीजीने अत्यन्त स्नेहसे उनके मस्तकपर हाथ रखकर उन्हें अविनाशी कुमारपद प्रदान किया। तदनन्तर भगवान् शिवजीने कहा, 'हे बेटा! तू आज अजर, अमर, तेजस्वी, यशस्वी और दिव्य ज्ञानयुक्त हो गया। तेरे सारे दुःखोंका सदाके लिये नाश हो गया। तू मेरा अनन्य भक्त है। यह दूध-भातकी खीर ले।' यह कहकर शिवजीने भक्त उपमन्युको

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पाशुपत व्रत, ज्ञान, व्रतयोगका तत्त्व, उत्तम वक्तृत्व, सर्वज्ञता और अपनी दो पादुकाएँ प्रदान कीं। तदनन्तर क्षीरसमुद्रने उन्हें अक्षय खीर दी और कुबेरने अक्षय भण्डार दिया। भक्तको इस प्रकार सब तरहसे निहाल करके भगवान् अन्तर्धान हो गये। यही महर्षि उपमन्यु साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके दीक्षागुरु थे!

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

श्रीभगवन्नाम

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

अशुचिर्वाशुचिर्वापि सर्वकालेषु सर्वदा।
नामसंस्मरणादेव संसारान्मुच्यते ध्रुवम्॥
न देशनियमो राजन् न कालनियमस्तथा।
विद्यते नात्र सन्देहो विष्णोर्नामानुकीर्तने॥
न देशकालनियमः शौचाशौचविनिर्णयः।
परं सङ्कीर्तनादेव राम रामेति मुच्यते॥
गच्छंस्तिष्ठन् स्वपन् वापि पिबन् भुञ्जन्नपंस्तथा।
कृष्णकृष्णेति सङ्कीर्त्य मुच्यते पापकञ्चुकात्॥
कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तसङ्गः परं व्रजेत्॥

'पवित्र हो या अपवित्र, जो मनुष्य सदा-सर्वदा नामस्मरणमें ही लगा रहता है, वह निश्चय ही संसारसे मुक्त हो जाता है। भगवान् विष्णुके नाम-स्मरणमें न देशका नियम है और न कालका ही। यह निश्चय समझो। न तो देशकालका नियम है और न पवित्रता या अपवित्रताका विचार है, मनुष्य केवल रामनामके कीर्तनसे ही मुक्त हो जाता है। चलता हुआ, बैठा हुआ, सोता हुआ, पीता हुआ, खाता हुआ तथा जपता हुआ मनुष्य श्रीकृष्णके संकीर्तनमात्रसे ही पापोंसे छूट जाता है। हे राजन्! कलियुग दोषका भण्डार है परन्तु इसमें निश्चय ही एक महान् गुण है, वह यह कि श्रीकृष्णके कीर्तन-मात्रसे मनुष्य मायाके बन्धनसे छूटकर परम धाममें चला जाता है।'

श्रीभगवान्‌के नामकी सदा ही अपार महिमा है। परन्तु कलिकालके जीवोंके लिये तो नाम ही संसार-सागरसे सुखपूर्वक तरनेको दृढ़ जहाज है और भगवान्‌के दुर्लभ प्रेमको प्राप्त करनेके लिये अमूल्य साधन है। भगवान्‌के नामका आश्रय लेनेसे मनुष्य सब कुछ पा सकता है, उसके इस लोक तथा पर-लोकके सभी दुर्लभ मनोरथ सहज ही सफल हो सकते हैं। जो पुरुष किसी भी फलकी इच्छा न रखकर केवल प्रेमके लिये भगवन्नामका जप-कीर्तन करता है, वह तो स्वयं तरन-तारन बनकर देवताओंका भी पूज्य बन जाता है। इसीलिये 'कल्याण' के ग्राहक-अनुग्राहक तथा पाठक-पाठिकाओंसे प्रतिवर्ष नाम जपने-जपानेके लिये प्रार्थना की जाती है। यह आनन्दका विषय है। श्रीभगवान्‌का नामजप करने-वालोंकी संख्या क्रमशः बढ़ती जा रही है। और प्रतिवर्ष ही प्रेमसे जप करनेवालोंको विभिन्न प्रकारके लाभ और विलक्षण अनुभव होते रहते हैं।

गतवर्ष 'कल्याण' के पाठकोंसे पौष सुदी १ से फाल्गुन सुदी १५ तक, ढाई महीनेमें उपर्युक्त १६ नामोंके दस करोड़ मन्त्र-जप करने-करवानेकी प्रार्थना की गयी थी। और बड़े हर्षकी बात है कि प्रेमी पाठक-पाठिकाओंकी चेष्टा और उत्साहसे दस करोड़-की जगह सोलह करोड़से अधिक मन्त्रोंका जप हो गया।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इस वर्ष भी फिर उसी प्रकार दस करोड़ मन्त्र-जपके लिये हाथ जोड़कर प्रार्थना की जाती है। आशा है, भगवद्रसिक पाठक-पाठिकाएँ विशेष उत्साहके साथ नाम-जप करने-करवानेका महान् पुण्य-कार्य करेंगे। नियमादि वही हैं।

यह आवश्यक नहीं है कि अमुक समय आसनपर बैठकर ही जप किया जाय। प्रातःकाल उठनेके समयसे लेकर रातको सोनेतक, चलते-फिरते, उठते-बैठते और काम करते हुए सब समय इस मन्त्रका जप किया जा सकता है। संख्याकी गिनतीके लिये माला हाथमें या जेबमें रक्खी जा सकती है। अथवा प्रत्येक मन्त्रके साथ संख्या याद रखकर भी गिनती की जा सकती है। बीमारी या अन्य किसी कारणवश यदि जपका क्रम टूट जाय तो किसी दूसरे सज्जनसे जप करवा लेना चाहिये। यदि ऐसा न हो सके तो नीचे लिखे पतेपर उसकी सूचना भेज देनेसे उसके बदलेमें जपका प्रबन्ध करवाया जा सकता है। किसी अनिवार्य कारणवश यदि जप बीचमें छूट जाय, दूसरा प्रबन्ध न हो और यहाँ सूचना भी न भेजी जा सके, तो कोई आपत्ति नहीं। निष्कामभावसे जप जितना भी किया जाय उतना ही उत्तम है। थोड़ी-सी भी निष्काम उपासना अमोघ और महान् भयसे तारनेवाली होती है।

हमारा तो यह विश्वास है कि यदि कल्याणके प्रेमी पाठक-पाठिकाएँ अपने-अपने यहाँ इस बातकी पूरी-पूरी चेष्टा करें तो आगामी अंक प्रकाशित होने-तक ही हमारे पास बहुत अधिक संख्याकी सूचना आ सकती है। अतएव सबको इस पुण्य कार्यमें मन लगाकर भाग लेना चाहिये।

१—किसी भी तिथिसे आरम्भ करें परन्तु पूर्ति फाल्गुन शुक्ला पूर्णिमाको हो जानी चाहिये।

२—सभी वर्णों, सभी जातियों और सभी आश्रमों के नर-नारी, बालक, वृद्ध, युवा इस मन्त्रका जप कर सकते हैं।

३—प्रतिदिन कम-से-कम एक मनुष्यको १०८ (एक सौ आठ) मन्त्र (एक माला) का जप अवश्य करना चाहिये।

४—सूचना भेजनेवाले सज्जन केवल संख्याकी ही सूचना भेजें। जप करनेवालोंके नाम भेजनेकी आवश्यकता नहीं। केवल सूचना भेजनेवाले सज्जन अपना नाम और पता लिख भेजें।

५—संख्या मन्त्रकी भेजनी चाहिये, नामकी नहीं। उदाहरणार्थ यदि सोलह नामोंके इस मन्त्रकी एक माला प्रतिदिन जपे तो उसके प्रतिदिनके मन्त्र-जपकी संख्या एक सौ आठ होती है। जिसमें भूल-चूकके लिये आठ मन्त्र बाद देनेपर १०० (एक सौ) मन्त्र रह जाते हैं। जिस दिनसे जो भाई आरम्भ करे उस दिनसे फाल्गुन सुदी पूर्णिमा-तकके मन्त्रोंका हिसाब इसी क्रमसे जोड़कर सूचना भेजनी चाहिये।

६—संस्कृत, हिन्दी, मारवाड़ी, मराठी, गुजराती, बँगला, अँग्रेजी और उर्दूमें सूचना भेजी जा सकती है।

७—सूचना भेजनेका पता—

नाम-जप-विभाग—
कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गताङ्कसे आगे)

[मणि १०]

ज्ञानका अभेद

जनक ! 'यह घट है', 'यह पट है' इत्यादि ज्ञानसे भिन्न नेत्रादि करणोंमें तथा घट-पटादि विषय-रूप कारणोंमें शास्त्रकार जडता मानते हैं; बृहस्पतिका एक शिष्य चार्वाक नास्तिक होनेसे ज्ञानके कारणोंमें जडता नहीं मानता। क्योंकि चार्वाकके मतानुसार शरीराकार परिणामको प्राप्त हुए पृथिवी, जल, तेज तथा वायु इन चार भूतोंमें चेतनता है। चार्वाकके इस मतसे किये हुए कर्मका भोग बिना नाश यानी कृतनाश और न किये हुए कर्मके फलका भोग यानी अकृताभ्यागम, ये दो दोष आते हैं; इसलिये उसके मतका खण्डन करना यहाँ आवश्यक नहीं है। और यह तो सिद्ध है कि 'यह घट,' 'यह पट,' इत्यादि ज्ञानके सिवा सर्व पदार्थ जड हैं तथा ज्ञान प्रकाशरूप है। 'यह घट,' 'यह पट,' इत्यादि ज्ञान चैतन्यरूप होनेसे स्वप्रकाशस्वरूप है, अथवा अन्तःकरणकी वृत्तिरूप होनेसे परप्रकाशरूप है, यह विचारना चाहिये। प्रथम स्वप्रकाश-पक्षमें ज्ञानकी ब्रह्मरूपता सिद्ध करनेके लिये उस ज्ञानके भेदका इस प्रकार खण्डन करनेमें आता है। 'यह घट,' 'यह पट,' इत्यादि स्वप्रकाश ज्ञानका भेद किस प्रकार सिद्ध होता है? क्या भेदसे ही भेदकी सिद्धि होती है, या भेदके आश्रय रहे हुए ज्ञानसे भेदकी सिद्धि होती है अथवा किसी अन्य ज्ञानसे उस भेदकी सिद्धि होती है? भेदसे भेदकी सिद्धि होती है, यह प्रथम पक्ष सम्भव नहीं है। क्योंकि जैसे कोई पुरुष ऐसा कहे कि मेरे मुखमें जीभ नहीं है, तो उसका कहना व्याघात-दोषवाला है। इसी प्रकार जडभेद अपनी सिद्धि करता है, यह वादीका कथन भी व्याघात-दोषवाला होगा, क्योंकि जड पदार्थसे अपनी या दूसरे पदार्थकी सिद्धि कहीं देखनेमें नहीं आती। और भेदके आश्रयरूप ज्ञानसे स्वनिष्ठ भेदकी सिद्धि होती है, यह दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है। क्योंकि अभावके प्रतियोगी तथा अनुयोगी ज्ञान बिना अभावका ज्ञान नहीं होता, जैसे घटके अभाववाला भूतल है, इसमें घटाभावका प्रतियोगी घट है तथा अनुयोगी भूतल है। इसमें घटरूप प्रतियोगी तथा भूतलरूप अनुयोगीके ज्ञान बिना घटाभावका ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार ज्ञानका परस्पर भेद भी अभावरूप होनेसे भेदके प्रतियोगीरूपी ज्ञान तथा अनुयोगीरूप ज्ञान बिना भेदका ज्ञान नहीं होता। प्रतियोगी और अनुयोगीरूपी ज्ञान स्वप्रकाशरूप होनेसे उस ज्ञानको विषय करनेवाला ज्ञान सम्भव नहीं है। यदि उस ज्ञानको विषय करनेवाला कोई ज्ञान माना जाय तो घटादिके समान उस ज्ञानमें स्वप्रकाशता न रहेगी, किन्तु वह ज्ञान परप्रकाशरूप हो जायगा। और स्वप्रकाश ज्ञानमें रहा हुआ भेद किसी अन्य ज्ञानसे सिद्ध है, यह तीसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है। क्योंकि स्वप्रकाश ज्ञानका भेद किसी अन्य ज्ञानसे ग्रहण होता है, या नहीं होता, यह कहना चाहिये। यदि ग्रहण होता हो, तो 'भेद है' इस प्रकारका ज्ञान भेदको विषय करता है; अथवा 'यह ज्ञानका भेद है' इस प्रकारका ज्ञान भेदको विषय करता है, यह कहना चाहिये। 'भेद है,' इस प्रकारका ज्ञान भेदको विषय करता है, यह प्रथम पक्ष सम्भव

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नहीं है; क्योंकि 'भेद है' इस प्रकारका ज्ञान भेद-मात्रको विषय करता है, किन्तु ज्ञानके भेदको विषय नहीं करता। इसलिये 'भेद है' इस प्रकारके ज्ञानसे स्वप्रकाश ज्ञानका भेद सिद्ध नहीं होता। जैसे 'भेद है' इस प्रकारके ज्ञानसे आकाशसे आकाशका भेद सिद्ध नहीं होता, इसी प्रकार 'भेद है' इस प्रकारके ज्ञानसे स्वप्रकाश ज्ञानका भेद सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार 'यह ज्ञानका भेद है' इस प्रकारका ज्ञान स्वप्रकाश ज्ञानके भेदको विषय करता है, यह दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है। क्योंकि जैसे घट पटसे भिन्न है तथा पट घटसे भिन्न है, इस प्रकारका ज्ञान घट-पटको तथा उनके भेदको विषय करता है, इसलिये घट-पट परप्रकाश्य हैं, इसी प्रकार 'यह घट है' इस प्रकारका ज्ञान 'यह पट है' इस प्रकारके ज्ञानसे भिन्न है। इस प्रकारका ज्ञान उस ज्ञानको तथा उसके भेदको विषय करता है, इसलिये घटादिके समान वह ज्ञान भी परप्रकाश्य होना चाहिये। और स्वप्रकाश ज्ञानका भेद किसी अन्य ज्ञानसे सिद्ध होता है, यह तीसरा पक्ष वादी माने तो वह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि जैसे नरश्रृंग तथा वन्ध्या-पुत्र किसी प्रमाणजन्य ज्ञानके विषय नहीं हैं, इसलिये वे अत्यन्त असत्य हैं; इसी प्रकार प्रमाण-जन्य ज्ञानका अविषय होनेसे स्वप्रकाश ज्ञानका भेद भी अत्यन्त असत्य होगा। यदि प्रमाणजन्य ज्ञानका अविषय मानकर भी ज्ञानके भेदको सत्य मानोगे तो प्रमाणजन्य ज्ञानके अविषयरूप नरश्रृंग तथा वन्ध्यापुत्र भी सत्य होने चाहिये। ज्ञानके भेदको ग्रहण करनेवाला दूसरा ज्ञान परप्रकाश्य है अथवा स्वप्रकाश है? इनमें परप्रकाश्य है, ऐसा कहना सम्भव नहीं है। क्योंकि जो ज्ञानके भेदको ग्रहण करता है, वह ज्ञान परप्रकाश्य होता है; इसलिये उस ज्ञानका किसी दूसरे ज्ञानसे प्रकाश होगा, दूसरेका तीसरेसे और तीसरेका चौथेसे। इस प्रकार ज्ञानकी धारा मानेसे अनवस्था-दोषकी प्राप्ति होगी। ज्ञानके भेदको ग्रहण करनेवाला दूसरा ज्ञान स्वप्रकाश है, यह दूसरा पक्ष यदि वादी माने, तो वह भी सम्भव नहीं है। क्योंकि प्रतियोगी तथा अनुयोगीके ज्ञान बिना अभावका ज्ञान नहीं होता, इसलिये यदि स्वप्रकाशके भेदको ग्रहण करोगे, तो वह स्वप्रकाशयुक्त ज्ञान उस ज्ञानके भेदके प्रतियोगी तथा अनुयोगीरूप स्वप्रकाश ज्ञानको अवश्य ग्रहण करेगा। किन्तु यह सम्भव नहीं है; क्योंकि जैसे दो सूर्योंमें प्रकाशता समान हो, तो एक सूर्य दूसरे सूर्यको प्रकाश नहीं करता, इसी प्रकार भेदका आश्रयरूप ज्ञान स्वप्रकाश है तथा उस भेदको ग्रहण करने-वाला ज्ञान भी स्वप्रकाशरूप है, इसलिये स्वप्रकाश-रूप ज्ञानका स्वप्रकाशरूप दूसरे ज्ञानसे ग्रहण सम्भव नहीं है। यदि प्रकाशरूप ज्ञानका दूसरे प्रकाशरूप ज्ञानसे प्रकाश मानोगे तो दो समान सूर्योंका भी परस्पर प्रकाश्य-प्रकाशक-भाव होना चाहिये। यदि स्वप्रकाश ज्ञानसे स्वप्रकाश ज्ञानका प्रकाश मानेंगे तो उन ज्ञानोंका परस्पर न्यूनाधिकतारूप भेद भी मानना पड़ेगा। इसमें प्रकाश्य ज्ञानमें न्यूनता और प्रकाशक ज्ञानमें अधिकता माननी पड़ेगी। इसलिये जैसे 'यह घट, यह पट' इत्यादि ज्ञानसे प्रकाश्य घटपटादि पदार्थों-में स्वप्रकाशता नहीं है, इसी प्रकार ज्ञानसे प्रकाश्य ज्ञानमें भी स्वप्रकाशता नहीं होगी। इसलिये ज्ञानको स्वप्रकाश मानकर उस ज्ञानको दूसरे ज्ञानसे प्रकाश्य-रूप मानना, ऐसा वादीका कहना इस प्रकार है कि जैसे कोई पुरुष अपनी माको बाँझ कहे। इसलिये व्याघात-दोषवाला है। यदि वादी स्व-प्रकाश ज्ञानमें न्यूनाधिकताका भेद न माने तो भी उन ज्ञानोंका परस्पर प्रकाश्य-प्रकाशकभाव नहीं हो सकता, क्योंकि समान जातिवाले पदार्थोंका परस्पर प्रकाश्य-प्रकाशकभाव कहीं भी देखनेमें नहीं आता। जैसे दीपक अपनेसे विजातीय घटादि पदार्थोंको प्रकाश करता है किन्तु प्रकाशरूप

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

समान जातिवाले खद्योतादिका प्रकाश नहीं कर सकता। इसी प्रकार स्वप्रकाशरूपसे समान स्वभाववाले ज्ञानोंका भी परस्पर प्रकाश्य-प्रकाशक-भाव सम्भव नहीं है। इसलिये किसी भी प्रकारसे ज्ञानका भेद सिद्ध नहीं होता।

ज्ञानमें सुखरूपता

हे जनक! भेदरहित ज्ञान सुखरूप है, क्योंकि 'यो वै भूमा तत्सुखम्'—भेदसे रहित पदार्थ सुखरूप है-इस श्रुतिमें कहे हुए भेदशून्यत्वरूप सुखका लक्षण भेदशून्य ज्ञानमें ही घटता है। इसलिये भेद-रहित ज्ञान सुखरूप है।

जनक—हे भगवन्! श्रुतिके कहे हुए भेदशून्यत्व-रूप सुखका लक्षण भेदरहित ज्ञानमें कैसे घटता है?

याज्ञवल्क्य—हे जनक! सुषुप्ति अवस्थामें तथा समाधि अवस्थामें भेददर्शनका अभाव होता है, अतः उन अवस्थाओंमें जीव दुःखका अनुभव नहीं करता किन्तु सुखका ही अनुभव करता है।

जनक—हे भगवन्! सुषुप्ति तथा समाधि अवस्थामें विद्यमान सुखमें यद्यपि भेदशून्यत्वरूप सुखका लक्षण सम्भव है, तो भी वह सुख स्व-प्रकाश ज्ञानस्वरूप है, ऐसा कहनेमें क्या प्रमाण है?

याज्ञवल्क्य—हे जनक! यदि पूर्वोक्त स्वप्रकाशरूप ज्ञान सुखरूप न हो, तो जैसे सुषुप्ति तथा समाधि अवस्थामें जीवका सुखका अनुभव न होना चाहिये। किन्तु सर्व जीवोंको इन दोनों अवस्थाओंमें सुखका अनुभव होता है। इसलिये स्वप्रकाश ज्ञान सुख-रूप है, इसमें सब जीवोंका अनुभव ही प्रमाण है। इसी कारणसे सब जीवोंको सुषुप्तिके स्वप्रकाश ज्ञानरूप आनन्दकी इच्छा होती है।

जनक—हे भगवन्! सुषुप्तिमें सुखकी प्राप्तिके लिये सर्व जीवोंकी इच्छा नहीं होती, किन्तु सुषुप्ति अवस्थामें सर्व दुःखोंके अभावकी प्राप्तिके लिये जीवोंकी इच्छा होती है। इसलिये सुषुप्ति अवस्थामें स्वप्रकाश ज्ञानके साथ सुखका अभेद मानना निष्फल है।

याज्ञवल्क्य—हे जनक! सुषुप्तिमें जैसे स्वप्रकाश ज्ञान सुखरूप है, इसी प्रकार दुःखका अभाव भी है। स्वप्रकाश ज्ञानसे दुःखाभाव भिन्न नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिमें रहनेवाले सर्व दुःखोंका अभाव यदि स्वप्रकाश ज्ञानसे भिन्न हो, तो उस दुःखाभाव-की सिद्धि ही नहीं होगी। यदि वादी सुषुप्तिमें दुःखाभावको स्वप्रकाश ज्ञानसे भिन्न मानकर उस दुःखाभावके प्रकाशको माने तो उस वादीसे पूछना चाहिये कि सुषुप्तिमें उस दुःखाभावका सूर्यादि प्रकाश करते हैं अथवा स्वप्रकाश ज्ञान उस दुःखाभावको प्रकाश करता है? इनमेंसे प्रथम पक्ष सम्भव नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिमें सब कार्य-प्रपञ्चका लय होनेसे सूर्यादि प्रकाशका भी सुषुप्तिमें लय हो जाता है। इसी प्रकार यदि सुषुप्तिमें स्वप्रकाश ज्ञानसे दुःखाभावका प्रकाश होता है, यह दूसरा पक्ष मानें, तो भी सम्भव नहीं है। क्योंकि सुषुप्तिमें रहनेवाले दुःखाभावको वादी स्वप्रकाश ज्ञानसे अत्यन्त भिन्न मानता है, इसलिये अत्यन्त भिन्न दुःखाभावको स्वप्रकाश ज्ञान प्रकाश नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि चैतन्यरूप स्वप्रकाश ज्ञान दो पदार्थोंको प्रकाश करता है। एक तो अपने स्वरूपको प्रकाश करता है और दूसरे अपने साथ तादात्म्यभावको प्राप्त हुए पदार्थका प्रकाश करता है, किन्तु अत्यन्त भिन्न दुःखाभावको स्व-प्रकाश ज्ञान प्रकाश नहीं करता। इसलिये सुषुप्तिमें दुःखाभावकी सिद्धिके लिये वादीको दुःखाभावको स्वप्रकाश ज्ञानरूप मानना चाहिये।

जैसे सत्ख्यातिवादीके मतानुसार घटमें रहने-वाला पटादि सर्व पदार्थोंका जो अभाव है वह पटादिका अभाव अधिकरणरूप घटसे भिन्न नहीं है किन्तु घटरूप ही है। इसी प्रकार सुषुप्तिमें अधिष्ठान चैतन्यमें रहनेवाला दुःखाभाव भी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अधिष्ठानरूप चैतन्यसे भिन्न नहीं है किन्तु वह दुःखाभाव अधिष्ठान चैतन्यरूप ही है।

जनक—हे भगवन्! सत्ख्यातिवादीके मतानुसार यदि अभावको अधिकरणरूप माना जायगा, तो सब जगत्को अभावरूपता क्यों नहीं प्राप्त होगी?

याज्ञवल्क्य—हे जनक! अभावको अधिकरणरूप माननेसे यदि सब जगत्को अभावरूपता प्राप्त होती है, तो होने दो। इससे अद्वैतवादीकी कुछ हानि नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेसे तो उलटा अद्वैत आत्माका निश्चय दृढ़ होता है।

जनक—हे भगवन्! सत्ख्यातिवादीके मतानुसार दुःखाभावको अधिष्ठानरूप माननेसे अद्वैत सिद्धान्तकी हानि क्यों नहीं होती?

याज्ञवल्क्य—हे जनक! सर्व अंशमें दूसरेके मतको माननेसे हमारे सिद्धान्तकी हानि होती है, किन्तु सब अंशमें हम पराये मतको अंगीकार नहीं करते। जितने अंशमें श्रुतिके अर्थमें पराया मत अनुकूल है, उतने अंशमें हमको उसे मानना चाहिये। उससे हमारे सिद्धान्तमें हानि नहीं पहुँचती, जैसे केवल दहीके भक्षणसे यद्यपि ज्वरकी उत्पत्ति होती है किन्तु शक्करके साथ दही मिला हो तो ज्वरकी उत्पत्ति नहीं होती। इसी प्रकार श्रुतिविरुद्ध पराये मतको माननेसे यद्यपि हमारे सिद्धान्तकी हानि होती है किन्तु श्रुतिके अनुकूल युक्तिरूप शक्करवाला पराया मतरूप दही ग्रहण करनेमें हमारे सिद्धान्तको किञ्चित् भी हानि नहीं पहुँचती। इसलिये यदि सत्ख्यातिवादी घटको पटादि सर्व पदार्थोंका अभावरूप मानता है, तो उस घटको हम अद्वैतवादियोंको ब्रह्मरूप मानना चाहिये। तात्पर्य यह है कि अस्ति, भाति, प्रिय, नाम तथा रूप, इन पाँच अंशोंसे सब जगत् व्याप्त है, इसी प्रकार घटका नाम तथा रूप ये दो अंश कल्पित हैं, इसलिये वे अधिष्ठान चैतन्यसे भिन्न नहीं हैं। तथा अस्ति, भाति और प्रिय, ये तीन अंश ब्रह्मरूप हैं, यह बात दूसरे शास्त्रमें भी कही है—

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥

सर्व जगत् अस्ति, भाति, प्रिय, नाम तथा रूप, इन पाँच अंशोंवाला है; उनमेंसे अस्ति, भाति तथा प्रिय ये तीन अंश ब्रह्मरूप हैं तथा नाम और रूप ये दो अंश जगत्रूप हैं। अधिकरणरूप भावपदार्थसे अभाव भिन्न हो, तो अभावमें पदार्थपना सम्भव न हो; क्योंकि अस्ति शब्दके तादात्म्यसम्बन्धवाली वस्तुको बुद्धिमान् पदार्थ कहते हैं। जैसे 'घटोऽस्ति पटोऽस्ति' इस स्थलमें 'अस्ति' शब्दका घट-पटरूप अर्थोंके साथका तादात्म्य सम्बन्ध 'अस्ति' शब्दके तादात्म्य अभावके साथ सम्भव नहीं है। तात्पर्य यह है कि लोकमें तथा शास्त्रमें जितने वृक्षादि शब्द हैं उनका भी सत्यसे भिन्न अभावरूप अर्थ नहीं होता, तो 'अस्ति' शब्दका सत्यसे भिन्न अभावरूप अर्थ किस प्रकार हो सकता है? कभी नहीं हो सकता। इस प्रकारसे सर्व पदार्थ सत्य हैं।

जनक—हे भगवन्! नास्तिक प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध तथा आकाशको असत्य मानते हैं। बुद्धिपूर्वक पदार्थके नाशको प्रतिसंख्यानिरोध, अबुद्धिपूर्वक पदार्थके नाशको अप्रतिसंख्यानिरोध और आवरणके अभावको आकाश कहते हैं। नास्तिकोंके मतानुसार ये तीनों अभावरूप होनेसे जैसे असत्य हैं, इसी प्रकार अभावरूप होनेसे घटादि सर्व पदार्थोंकी भी असत्यता क्यों नहीं हो सकती?

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! आकाशमें यदि अभावरूपता सिद्ध हो, तो आकाशके दृष्टान्तसे घटादि पदार्थोंमें अभावरूपता सिद्ध हो; किन्तु आकाशमें अभावरूपता सम्भव नहीं है। क्योंकि 'आकाशोऽस्ति' ऐसी प्रतीतिमें 'आकाश' शब्दका तथा 'अस्ति'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शब्दका आकाशके साथ तादात्म्य सम्बन्ध सब लोगोंको प्रतीत होता है। और सत्य पदार्थका असत्य पदार्थके साथ तादात्म्य सम्बन्ध सम्भव नहीं है, इसलिये आकाश असत्य नहीं है। फिर भी यदि आकाशको असत्य मानें तो जैसे वन्ध्यापुत्र तथा नृश्रृंगमें किसी पदार्थका आधारपना नहीं है, इसी प्रकार आकाशमें भी शब्दगुणका आधारपना न रहना चाहिये। किन्तु सर्व शास्त्रकारोंने शब्दगुणका आधार आकाश माना है, इसलिये आकाश अभावरूप नहीं है। इस प्रकार सत्ख्यातिवादी सर्व पदार्थोंको सत्य-रूप मानता है। और घटमें रहनेवाले पटादि पदार्थोंका अभाव तो अधिकरणरूप घटसे भिन्न नहीं है किन्तु घटरूप ही है, ऐसा सत्ख्यातिवादी-का मत अद्वैतसिद्धान्तके अनुकूल है। क्योंकि वेदान्तशास्त्रमें वृद्ध पुरुषोंने कहा है कि 'अधिष्ठा-नावशेषो हि नाशः कल्पितवस्तुनः'—कल्पित वस्तुका अभाव अधिष्ठानसे भिन्न नहीं है, किन्तु अधिष्ठानरूप ही है। जैसे रज्जुरूप अधिष्ठानमें कल्पित सर्पका अभाव रज्जुरूप अधिष्ठानसे भिन्न नहीं है किन्तु रज्जुरूप ही है, इसी प्रकार 'नेह नानास्ति किञ्चन'—अधिष्ठान आत्मामें किञ्चित्मात्र भी द्वैतप्रपञ्च नहीं है,—इस श्रुतिसे किया हुआ कल्पित प्रपञ्चका अभाव अधिष्ठान आत्मासे भिन्न नहीं है, किन्तु अधिष्ठान आत्मारूप ही है। इसी प्रकार सुषुप्ति-अवस्थामें रहनेवाला सर्वदुःखाभाव अधिष्ठान परमात्मासे भिन्न नहीं है किन्तु परमात्मा-रूप ही है। अर्थात् जैसे परमात्मा स्वप्रकाश, आनन्द-रूप तथा भेदरहित है, इसी प्रकार ऊपर दिखलाये अनुसार 'यह घट,' 'यह पट' इत्यादि ज्ञान भी स्वप्रकाश, आनन्दरूप तथा भेदसे रहित है; इसलिये यह ज्ञान भी परमात्माके समान लक्षण-वाला होनेसे परमात्मासे भिन्न नहीं है, किन्तु परमात्मारूप ही है।

जनक—हे भगवन्! ऊपर दिखलायी हुई रीतिसे यद्यपि सजातीय तथा स्वगतभेद सम्भव नहीं है, फिर भी विजातीय घटादि विषयोंका भेद सम्भव है।

याज्ञवल्क्य—हे जनक! नहीं, जहाँ-जहाँ विषयों-का भेद होता है, वहाँ-वहाँ ज्ञानका भेद अवश्य होता है। ज्ञानके भेद बिना विषयोंका भेद नहीं होता। क्योंकि 'यह घट है' ऐसे ज्ञानके विषयरूप घटमें कोई भेद नहीं मानता, इसलिये ज्ञानके भेदसे विषयोंका भेद होता है। यह ज्ञानका भेद यद्यपि अविचार-कालमें होता है, तो भी विचार-कालमें भेद प्रतीत नहीं होता, इसलिये विषयका भेद भी सम्भव नहीं है। तात्पर्य यह है कि कारण-के भेदसे कार्यका भेद प्रतीत होता है, जैसे मृत्तिका तथा तन्तुरूप कारणके भेदसे घटपटरूप कार्यका भेद होता है। इस प्रसंगमें दृष्टि-सृष्टिवाद-की रीतिसे ज्ञानरूप दृष्टि घटादि विषयोंका कारण-रूप है। इस कारणरूप दृष्टिका अभेद सिद्ध होनेपर घटादिक विषयरूप कार्यका भेद सिद्ध नहीं होता।

जनक—हे भगवन्! ज्ञानके भेदसे विषयका भेद होता हो, ऐसा नियम सर्वत्र सम्भव नहीं है, क्योंकि विशिष्ट ज्ञानकी एकता होनेपर भी विषयों-का भेद प्रतीत होता है। जैसे 'दश घट हैं' इस प्रकारका एक विशिष्ट ज्ञान दश-संख्याविशिष्ट दश घटोंका विषय करता है, तथा 'यह घट शुक्ल है' इस प्रकारका विशिष्ट ज्ञान शुक्लगुणविशिष्ट घट-को विषय करता है तथा 'मैत्रका पुत्र चैत्र नामका रूपवान् मनुष्य गमन करता है' इसमें एक विशिष्ट ज्ञान जाति, गुण, क्रिया, संज्ञा तथा सम्बन्ध, इन पाँच विशेषणवाले चैत्रको विषय करता है, इसमें मनुष्य अंशसे जातिको विषय करता है, रूपवान् अंशसे रूप-गुणको विषय करता है, 'गमन करता है' इस अंशसे गमनरूप क्रियाको विषय करता है, चैत्रसे संज्ञाको विषय करता है तथा मैत्रके पुत्र, इस अंशसे जन्य-जनकभावसम्बन्धको विषय

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

करता है। इसी प्रकार अन्य भी विशिष्टज्ञान अनेक पदार्थोंको ग्रहण करते हैं। ज्ञानकी एकता होनेपर भी विषयोंका भेद अनुभवसिद्ध है। इसलिये ज्ञानके भेदसे विषयोंका भेद होता हो, यह नियम सर्वत्र सम्भव नहीं है।

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! तुमने ऊपर जो विशिष्ट ज्ञान कहे, उनमें तो ज्ञानके भेद बिना विषयोंका भेद नहीं होता; किन्तु जहाँ ज्ञानका भेद होता है, वहाँ ही विषयोंका भेद होता है। क्योंकि तुम्हारे कहे अनुसार विशेषणके ज्ञान बिना विशेष्यका ज्ञान नहीं होता, इसलिये विशिष्ट ज्ञानके पूर्वमें रहे हुए विशेषण-ज्ञानका भेद माननेसे विषयोंका भेद होता है, इसलिये उपर्युक्त नियमका भंग नहीं होता।

जनक—हे भगवन्! प्रथम आपने ज्ञानका अभेद सिद्ध किया और अब आप ज्ञानका भेद मानकर समाधान कर रहे हैं, इसलिये आपके कथनमें पूर्वापरविरोध आता है।

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! 'यह घट शुक्ल है' इत्यादि विशिष्ट ज्ञान जहाँ होता है, वहाँ प्रथम अन्तःकरणकी वृत्तिसे शुक्लरूप विशेषणका, घट-रूप विशेष्यका तथा उन दोनोंके सम्बन्धका ज्ञान होता है; पीछे उन वृत्तियोंमें रहे हुए फल-चैतन्यसे घट, शुक्लरूप तथा सम्बन्ध इन तीनोंको ज्ञान विषय करता है। तात्पर्य यह है कि पूर्वमें जिस ज्ञानकी एकता कही थी, वह अन्तःकरणकी वृत्तिमें रहे हुए चैतन्यरूप ज्ञानकी अपेक्षासे कही थी, और अब जो ज्ञानका भेद कहा है, वह अन्तःकरणकी वृत्तिरूप उपाधिके भेदसे कहा है। इसलिये पूर्वापरका विरोध नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि ज्ञानभेदकी अपेक्षासे विषयका भेद होता है। वस्तुतः ज्ञानका भेद नहीं है, किन्तु अन्तःकरणकी वृत्तिरूप उपाधिके भेदसे अज्ञानकालमें ज्ञानका भेद प्रतीत होता है। जब अधिकारीको ब्रह्मविद्याकी प्राप्ति होती है तब कल्पित ज्ञानका भेद निवृत्त हो जानेसे विषयका भेद भी नहीं रहता। जैसे स्वप्नमें मिले हुए राज्यका जाग्रत्में नाश हो जानेसे राज्यकी सामग्रीका भी नाश हो जाता है, इसी प्रकार विचारकालमें ज्ञान-का भेद निवृत्त हो जानेसे ज्ञानके भेदसे प्रतीत होनेवाले विषयके भेदका भी नाश हो जाता है और एक अद्वितीय आत्मामात्र शेष रहता है। इस प्रकार ज्ञानको स्वप्रकाश मानकर अद्वितीय आत्माकी सिद्धि दिखलायी है। घटादि विषयोंसे तथा नेत्रादिक करणोंसे भेदवाला ज्ञान परप्रकाश्य है, यह दूसरा पक्ष यदि मानें तो जैसे परप्रकाश्य घटादि पदार्थोंका सूर्य आदि प्रकाशोंसे प्रकाश होता है, इसी प्रकार परप्रकाश्य ज्ञानका भी किसी अन्य प्रकाशसे प्रकाश मानना पड़ेगा। संघातका प्रकाश करनेवाला साक्षी चैतन्य आत्मा है।

देवी—हे वत्स! इस प्रकार याज्ञवल्क्य मुनिने जनक राजासे स्वप्नावस्थामें एक ही स्वयंज्योति आत्मा कहा, क्योंकि स्वप्नावस्थामें सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि तथा वाक् ये चारों प्रकारके ज्योति लय-भावको प्राप्त हो जाते हैं। और आत्मारूप ज्योति किसी भी अवस्थामें लय नहीं होता, किन्तु सर्व अवस्थाओंमें साक्षीरूपसे विद्यमान होता है। इसलिये स्वप्नावस्थामें आत्मारूप ज्योतिसे गमना-गमन आदि सर्व व्यवहार सिद्ध होता है। इस संघातका आत्मा ज्योतिरूप है। इस वचनसे मुनिने जनक राजाको संघातसे भिन्न स्वयंज्योति आत्माका उपदेश किया; किन्तु मुनिके अभिप्रायको राजा समझ न सका, इसलिये संघातके स्वरूपको स्वयंज्योतिरूप समझकर इस प्रकार प्रश्न करने लगा—

(क्रमशः)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ईश्वर है ? हाँ है

(लेखक—महात्मा गान्धीजी)

इस जगत्में कोई अवर्णनीय छिपी शक्ति घट-घटमें भरी हुई है। वह मुझे इन आँखोंसे तो नहीं दिखायी देती है, फिर भी मुझे यह प्रतीति जरूर होती है कि वह है। यह अदृष्ट शक्ति हमपर किसी-न-किसी तरह अवश्य प्रभाव डालती है। उसके वर्णनके लिये कोई विशेषण काफी नहीं हो सकता; क्योंकि वह इन्द्रियातीत है, अपनी इन्द्रियोंसे हम जो कुछ भी जान सकते हैं उससे वह भिन्न है।

फिर भी थोड़े अंशमें ईश्वरकी हस्तीको सिद्ध करनेके लिये बुद्धि—तर्कका प्रयोग हो सकता है। सामान्यतः प्राकृत जगत्में भी, हम जानते हैं कि कई लोग अपने राजाको न तो पहचानते ही हैं, न उसके विषयमें उन्हें कुछ ज्ञान ही होता है कि वह राजा कैसे और क्यों राज्य करता है। ऐसा होते हुए भी वे लोग इतना निश्चित जानते हैं कि कोई-न-कोई राजा अवश्य है। मैसोर-यात्रामें मैंने ऐसे अबोध लोग पाये जिनको पता नहीं था कि मैसोरमें कौन राज्य करता है, जब मैंने उनसे पूछा तो उन्होंने जवाब दिया—'कोई देव राज्य करता होगा।' इससे यह नतीजा निकलता है कि जब इन लोगोंका ज्ञान अपने राजाके बारेमें इतना कम है, तो मेरा ज्ञान ईश्वरके बारेमें और भी कितना कम होना चाहिये ? क्योंकि जितना अन्तर उन लोगोंके और उनके राजाके बीचमें है, उससे बहुत अधिक मेरे और ईश्वरके दर्म्यान है। ऐसी दशामें यदि मैं उस राजराजेश्वर—परमात्माका साक्षात्कार नहीं कर पाता हूँ, तो इसमें कौन-सा आश्चर्य हो सकता है ? परन्तु जिस प्रकार मैसोरके गरीब लोग अपने राजाको न जानते हुए भी यह जानते हैं कि हमारे देशमें कुछ-न-कुछ व्यवस्था जरूर है, ठीक उसी तरह मैं भी जानता हूँ कि इस जगत्में एक बड़ी व्यवस्था कायम है। मैं अनुभव करता हूँ कि इस विश्वकी प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक जीवधारी एक अविचल नियन्त्रणके मातहत काम कर रहे हैं। वह नियन्त्रण जड नहीं हो सकता। क्योंकि कोई जड नियन्त्रण चैतन्यमय मनुष्यपर शासन नहीं कर सकता। और अब तो श्रीजगदीशचन्द्र बसुने हमें सिद्ध कर दिखाया है कि इस जगत्में सब चीजें चैतन्यमय हैं। इसलिये हम यह क्यों न कहें कि जो शक्ति जीवमात्रको नियमबद्ध रखती है, वही ईश्वर है। इसमें शक्ति और उसका सञ्चालक, नियम और नियन्ता एक ही है। परन्तु इसलिये कि मैं उस नियम और नियन्तासे अनजान हूँ, मुझे कोई अधिकार नहीं है कि मैं उसकी हस्तीसे ही इनकार कर दूँ। जिस तरह प्राकृत राजाकी हस्तीसे इनकार करनेसे उसकी हस्ती मिट नहीं सकती, न कोई लाभ ही हासिल हो सकता है, ठीक इसी तरह ईश्वरकी हस्तीके इनकार या अज्ञानसे कुछ हासिल नहीं हो सकता है। मैं ईश्वरी कानूनकी पाबन्दीसे किसी प्रकार छूट नहीं सकता। बल्कि जैसे प्राकृत राजाकी हस्ती और उसके नियमोंको माननेसे उलटा उसके शासनमें रहना सरल होता है, उसी तरह ईश्वर और उसके नियमोंके ज्ञान और स्वीकारसे इस संसारमें जीवन सरल बनता है।

मुझे यह निरन्तर अनुभव होता है कि मेरे इर्द-गिर्द सब वस्तुओंमें परिवर्तन होता ही रहता है और इस परिवर्तनके अन्दर कोई अपरिवर्तनीय तत्त्व समाया हुआ है। वह अपरिवर्तनीय, अविचल शक्ति सबको धारण कर रही है, सबको पैदा करती है, सबका नाश करती है और फिरसे रचना करती है; इसी शक्तिको ईश्वर कहिये। और क्योंकि दृष्ट पदार्थमात्रका

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नाश होता रहता है, इससे मैं इस नतीजेपर पहुँचता हूँ कि एक अदृष्ट ईश्वर ही कायम है।

अब प्रश्न यह है कि यह शक्ति पोषक है या नाशक? दैवी है या राक्षसी? मैं उसे पोषक और दैवी अनुभव करता हूँ। क्योंकि इस मृत्युमय संसारमें जीवन-प्रवाह अविच्छिन्न चल रहा है। असत्य नाशवान् है, एक सत्य ही स्थिर है। अँधेरेमें भी प्रकाश भरा ही है। इससे यह सिद्ध होता है कि ईश्वर चेतन है, सत्य है, प्रकाश है। ईश्वर प्रेमकी मूर्ति है, वही शुभ-तम शुभ है।

परन्तु जो केवल बुद्धिको ही—तर्कको ही सन्तुष्ट करके रह जाय वह ईश्वर कहाँसे हो सकता है? फिर बुद्धिको तो निश्चितरूपसे सन्तुष्ट करना असम्भव-सा है। इसलिये ईश्वर तो वही है जो हृदयका स्वामी बन सकता है, जो उसको हिला सकता है। अपने भक्तके प्रत्येक कार्यमें उस प्रभुकी प्रतीति होनी चाहिये। और यह प्रतीति तो साक्षात्कारसे ही हो सकती है। यह साक्षात्कार इन्द्रियोंद्वारा होनेवाले अनुभवोंसे परे होता है। इन्द्रियोंका अनुभव मिथ्या हो सकता है, परन्तु इन्द्रियोंसे परे जो अनुभव होता है, उसमें भ्रम या गलती नहीं हो सकती। वह बाहरी प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं होता, बल्कि मनुष्यके परिवर्तित जीवन—कायापलटसे होता है। यह प्रमाण हमें पैगम्बरों और ऋषि-मुनियोंके जीवनसे, उनके अनुभवोंसे मिलता है। उनके वचनोंको न मानना अपनी हस्तीको न मानना है।

परन्तु इस साक्षात्कारके पहले अचल श्रद्धा होती है। जो मनुष्य ईश्वरका दर्शन करना चाहता है वह ऐसी श्रद्धा रखकर ही कर सकता है। और क्योंकि श्रद्धाका प्रमाण बाहरी चीजोंसे नहीं मिल सकता, इसलिये हमें चाहिये कि हम जगत्के न्याय-शासनको स्वीकार करें और विश्वास करें कि जगत् सत्य और अहिंसापर निर्भर है। यह प्रतीति सत्य और अहिंसाके अभ्याससे आ सकती है।

मुझे स्वीकार करना होगा कि श्रद्धाका प्रमाण मैं बुद्धिके द्वारा नहीं दे सकता। श्रद्धा बुद्धिसे परे है। इसलिये कोई असम्भवको सम्भव बनानेकी चेष्टा न करे। पापवृत्तिके अस्तित्वके लिये तर्कद्वारा कोई कारण नहीं बताया जा सकता। ऐसा करनेकी इच्छा रखना ईश्वरके साथ मुकाबला करने जैसा होगा। इसलिये मैं तो नम्रतापूर्वक उसके अस्तित्वको स्वीकार करके ही रह जाता हूँ। ईश्वरको मैं बहुत सहनशील और धैर्यवान् कहता हूँ, क्योंकि वह जगत्में पापवृत्तिको रहने देता है। मैं जानता हूँ कि ईश्वर सर्वथा निष्पाप है। मैं यह भी जानता हूँ कि जिन्दगीका सौदा करके भी अगर मैं पापवृत्तिसे मुकाबला न करूँ तो मैं कभी ईश्वरकी पहचान नहीं कर सकूँगा। मेरे नम्र और मर्यादित अनुभवसे मेरा यह मन्तव्य दृढ हुआ है। जितना मैं शुद्ध होनेकी कोशिश करता हूँ उतना ही मैं ईश्वरके नज़दीक जा रहा हूँ—ऐसी प्रतीति होती है। आज तो मेरी श्रद्धा यत्किञ्चित् ही कही जा सकती है, लेकिन जब वह हिमालय-जैसी अचल और उसकी चोटीपर बसनेवाले हिमकी तरह शुद्ध और स्वर्णमय बन जायगी, तब तो मैं उसके कितना नज़दीक पहुँच जाऊँगा? तबतक तो स्वर्गीय 'न्यू मैन' के शब्दोंमें हम गावें—

(१) हे दयामयी ज्योति!
(२) इस अँधेरेमें तू ही मेरा अगुआ बन।
(३) रात अँधेरेसे छा गयी है।
(४) मैं घरसे दूर-दूर भटक रहा हूँ।
(५) तू ही मेरा अगुआ बन।
(६) मेरे पैरोंको साबित रख।
(७) मुझे दूरके दृश्यकी कोई दरकार नहीं है।
(८) बस, मेरे लिये तो एक कदम ही काफी है।

* यह लेख पुस्तकाकार श्रीआनन्द हिंगोरानी, D/3 कॉसॉपॉलिटन कॉलॉनी, कराची (सिन्ध) द्वारा प्रकाशित किया गया है, दाम)॥ पैसे हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रणवोपासना

(लेखक—सरदार श्रीमन्त रामराव कृष्ण जटार)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

हम सुवर्ण खरीदकर अपने इच्छानुसार नाना प्रकारके अलंकार बनवाते हैं। उनकी आकृति और नाम भिन्न-भिन्न होता है। पहननेका स्थान अलग-अलग होता है और फिर पहननेमें रुचि भी भिन्न-भिन्न होती है। यह सब अन्तर केवल नाम-रूपके कारण है। इन सब बातोंका विचार करते समय मूल सोनेपर ध्यान नहीं दिया जाता, इसकी कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ती। परन्तु विपत्तिके समय जब हम गहनेको बेचने जाते हैं तब लेनेवाला सराफ नाम-रूपकी ओर ध्यान न दे केवल सुवर्णको कसकर दाम देता है। हमारी रुचि, कष्ट, मजूरीका मूल्य सब व्यर्थ हो जाता है। वास्तवमें सारी भूल और हानि नाम-रूपमें है, उसके अधिष्ठानमें नहीं। यदि सुवर्णके टुकड़े-टुकड़े भी कर दिये जायँ तो उसका नाम, उसका रूप (पीत) और वजन (उसकी व्यष्टि) एक-दूसरेसे भिन्न नहीं हो सकते, एकरूप ही रहेंगे। क्योंकि व्यष्टि अधिष्ठान है, नाम-रूप उसके आश्रित हैं—व्यवहारार्थ कल्पित हैं। अतएव नाम-रूप मिथ्या और अधिष्ठान सत्य है। इसी प्रकार घट-पटादि वस्तुओंके विषयमें भी समझना चाहिये। 'वाचारम्भणं नामधेयो विकारः'—ऐसी श्रुति है। इस दृष्टान्तको ध्यान-में रखकर अब हमलोग मुख्य विषयपर आवें।

परमात्मा अनन्त, अगाध और अपार हैं। वैसे ही उनके नाम, रूप और शक्ति भी अनन्त और अपार हैं। यह सृष्टि स्वयं उनके द्वारा निर्मित, स्वयंभूत, स्वेच्छाचारी, स्वविहारार्थ क्रीड़ास्थल है। जब मनुष्यकृत पदार्थ-संग्रहालय (अजायबघर) के विषयमें पूरी बात मालूम करना असम्भव हो जाता है तब भला ईश्वरकृत सृष्टि-संग्रहालयका पूरा मर्म कौन समझ सकता है? स्वयं भगवान् कहते हैं 'मम माया दुरत्यया।' श्रुति भी 'नेति-नेति' कहती हुई थक गयी। तब दूसरोंकी बात ही क्या? फिर भी विचारार्थ जो मुख्य-मुख्य बातें बतायी गयी हैं, उन्हींके अनुसार हम भी विचार करनेकी चेष्टा कर सकते हैं। जिस तरह मृत्तिकासे असंख्य पदार्थ बनते हैं, जिनकी गणना भी करना कठिन है, परन्तु उन सबमें अधिष्ठान मृत्तिका सत्य है, अनन्त अलंकारोंमें अधिष्ठान—सुवर्ण सत्य है; उसी तरह, भगवान् कहते हैं कि मैं ही स्वयं अष्टविध प्रकृतिद्वारा अर्थात् पञ्चतत्त्व और मन-बुद्धि-अहंकारद्वारा जगदाकार हुआ हूँ और मेरे साथ ही मेरा नाम ॐ भी जगत्‌रूप हुआ है। परन्तु हमें केवल स्थूल पदार्थ ही दिखायी देते हैं और उसीके संग्रह और भोगमें हम मस्त हैं। आखिर इसका परिणाम दुःख और मृत्यु ही है। यदि हम इससे मुक्त होना चाहते हैं तो हमें प्रणवोपासना-द्वारा यथार्थ तत्त्वका अनुभव करना चाहिये। यह उपासना विचाररूप होनेके कारण उसका विचार करना उचित ही है।

पाञ्चभौतिक सृष्टि जो स्थूलरूपसे दिखायी दे रही है, वह चतुर्विध है—जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज। जरायुज प्राणी मनुष्य और पशु हैं; अण्डज प्राणी वे हैं जो पहले पेटसे अंडेके रूपमें बाहर निकलते हैं और कुछ दिन बाद सावयव होते हैं; स्वेदज प्राणी वे हैं जो पसीने और मलसे पैदा होते हैं—जैसे, मच्छड़, खट-मल, कीट-पतंग आदि; उद्भिज-जातिमें वृक्ष, लता, धान्य, पर्वत, नदी, धातु इत्यादि शामिल हैं। इसीको चतुर्विध जीवसृष्टि कहते हैं और यह अष्ट प्रकृतिके द्वारा रचित है। एक तृण भी इसके बाहर नहीं है। इस सृष्टिमें सब सचेतन, सजीव, ज्ञानसम्पन्न हैं। इनमें तीन जातियाँ भोक्ता हैं और उद्भिज जाति सब जीवोंका भोग्यविषय है। अवश्य ही इन तीन जातियोंके जीव भी आपसमें एक-दूसरेके भोग्य हो सकते हैं। जैसे मनुष्य पशु-पक्षीको खाता है तथा सिंहादि हिंस्र पशु मनुष्य तथा अन्य पशुओंको खाते हैं, इत्यादि। इस तरह चतुर्विध सृष्टि भोग्य-भोक्तृमय हुई, निर्वाहसमर्थ हुई। तथापि जीवमात्रके पास यदि भाषा न होती तो एक जीव दूसरेसे अपना हेतु और विचार प्रकट न कर पाता। इसलिये भाषाका होना अनिवार्य था। यह भाषा द्विविध है—वर्ण अर्थात् अक्षर-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रूप और ध्वनिरूप। अक्षरी भाषा मनुष्यकी है; ध्वनिरूप मनुष्येतर प्राणिमात्रकी है। भाषाके साथ ही जीवको पदार्थभेदज्ञानके लिये संख्याकी भी आवश्यकता थी। कोई कहे कि पशु-पक्षीको संख्याकी क्या जरूरत है, तो इसका उत्तर यह है कि पशु-पक्षी अवश्य ही संख्याका उच्चारण नहीं कर सकते, परन्तु संख्याका बोध उन्हें रहता है। कुत्ते-बिल्लीके चार बच्चोंमेंसे यदि एक-दो कोई उठा ले जाय तो वे पीछे घर-घर ढूँढ़ा करते हैं। पशु-पक्षी सबको पदार्थभेदज्ञान है।

अधिष्ठान ब्रह्म परमात्मामें सृष्टिके आरम्भमें 'एकोऽहं बहु स्याम्' यह ऊर्मि उत्पन्न हुई, यही संख्या और पदार्थ-भेदका आद्यकारण है। 'एक' शब्दका उच्चारण करते ही अनुच्चारित दो या अधिक संख्या मनमें आ जाती है। सृष्टिके आद्यजीव पितामह ब्रह्माजी हैं। वे पहले मूक थे; वाणी थी, शब्दोच्चार नहीं था। जब हृदयाकाशमें भगवत्-प्रसादरूप ॐ-ध्वनि प्रकट हुई तो 'मूकं करोति वाचालम्'—एक साथ ही उनके चारों मुखसे 'ऋग्यजुःसामाथर्व' चार वेद प्रादुर्भूत हुए। वे स्वयं प्रकट हुए, उन्हें ब्रह्माजीने बनाया नहीं। अतएव वे अपौरुषेय हैं, अनाद्यनन्त हैं और परब्रह्मरूप ॐकारमय हैं। वे ही यावत् शब्दरूप वाणी बननेके आद्यस्थान हैं, मूलाधार हैं। उन्हें ब्रह्माजी-ने हृदयाकाशमें केवल सुना था; इससे उन्हें 'श्रुति' कहते हैं। वे अत्यन्त अगाध, गम्भीर, जीवकल्याणकारी, काण्ड-त्रयरूप मन्त्रराशि हैं; आजतक अनेक विद्वान् महर्षि आचार्योंने उनका अध्ययन किया, उन्हें धारण किया और इस तरह रक्षण किया; परन्तु एक अक्षर अथवा स्वर भी कोई कम-बेशी नहीं कर सका। अवश्य ही जिस तरह कुशल जौहरी रत्नराशिमेंसे अलंकारमें जड़नेके योग्य सुन्दर रत्न निकाल लेता है, उसी तरह सिद्ध महर्षियोंने कर्म, उपासना और ज्ञानकाण्डकी मन्त्रराशिमेंसे मन्त्रोंका चुनाव किया है। उनका श्रद्धाके साथ विधिपूर्वक अनुष्ठान करनेसे इच्छित फल अवश्य प्राप्त होता है। मन्त्रोंमें बड़ा अमोघ सामर्थ्य भरा है। क्योंकि मन्त्र प्रणवमय हैं, प्रणव ब्रह्ममय है, ब्रह्म जगन्मय है। इच्छित फल इसके बाहर नहीं, आवश्यकता है केवल श्रद्धालु अधिकारीकी। जिस तरह दूधमें घी भरा ही है, आवश्यकता है मन्थनकी, उसी तरह मन्त्र सिद्ध फलसे ओतप्रोत हैं, विधिपूर्वक अनुष्ठान-की आवश्यकता है। फिर जीवोंके हितार्थ ही ब्रह्माजीकी वाणीसे मन्त्र प्रकट हुए हैं, वे व्यर्थ कैसे हो सकते हैं? अस्तु।

हमारी आद्यभाषा वेदमन्त्ररूप है। आगे चलकर संस्कृत आदि अनेक भाषाएँ देशकालानुरूप प्रकट हुईं। परन्तु सबका शुद्ध मूलस्वरूप वैदिक भाषा ही है। यह भाषा देवनगरमें प्रचलित हुई, इसलिये इसको 'देवनागरी' नाम मिला। जो अक्षर हाथसे लिखा जाय वही वाणीसे भी उच्चारण हो तो वह भाषा शुद्ध कही जाती है। हमारी प्रचलित भाषा शुद्ध देवनागरी ही है। अब हमें देवनगर-वासी होनेका अनुष्ठान करना चाहिये। मार्गदर्शक प्रभाव-शाली मन्त्र तो हमारे पास है ही। विचार करके देखें तो ज्ञात होगा कि मन्त्र वाक्यरूप है, वाक्य शब्दरूप है, शब्द अक्षररचनासे बनता है। 'अक्षर' वर्णमालारूप है। माला-में 'वर्ण' बत्तीस हैं। क, च, ट, त, प इत्यादि ३२ व्यञ्जन हैं और अ-इ-उ-ए-ओ इत्यादि स्वर हैं। स्वरोच्चारण निरुपाधिक है, व्यञ्जनोच्चार सोपाधिक है। स्वर ही जब दन्त-तालव्यादि उपाधिसे लगता है तब व्यञ्जनरूपको प्राप्त होता है और फिर अन्तमें अपनी स्वररूपताको भी कायम रखता है। जैसे 'अ' के उच्चारणको कण्ठकी उपाधि लगनेसे 'अ' ही 'क' हो जाता है और दीर्घ उच्चारण होनेपर 'क' के अन्तमें 'अ' अवशेष रह जाता है। जैसे मालाके सूत्रमें मनिये पिरोये जाते हैं, वैसे ही स्वररूप धागेमें व्यञ्जनरूप मणि पिरोये हुए हैं। मणियोंका आधार जैसे धागा है वैसे ही व्यञ्जनोंका आधार स्वर है। यहीं क्यों, उपाधिविकृतिसे स्वर व्यञ्जन बनता है तथा व्यञ्जनों-का अन्तर्भाव स्वरमें होता है और इस तरह स्वर-व्यञ्जनका अभेद है। सारांश यह है कि स्वरवर्णयुक्त वर्णमाला वेद-मन्त्रोंका अधिष्ठान अथवा स्वरूप सिद्ध हुआ; वह चाहे वाणीमें रहे अथवा ग्रन्थरूपमें रहे, एक रूप ही है।

यहाँतक हमने जो कुछ वर्णन किया उसका निष्कर्ष यह है कि अष्टविध प्रकृति (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, और अहंकार), चतुर्विध जीवसृष्टि (जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज), वर्णमाला अथवा भाषा और संख्याके अतिरिक्त चराचर सृष्टिमें और कोई तत्त्व या वस्तु नहीं है। यदि यह प्रत्यक्ष दिखा दिया जाय कि ये सब चीजें ॐकारसे बनी हैं तो हमें ऐसा दृढ़ विश्वास हो सकता है कि हमारे सहित अखिल चराचर ब्रह्मरूप ॐकारमय है। ऊपर दिये हुए सुवर्णके दृष्टान्तको

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ध्यानमें रखकर चित्रपटको देखिये । परमात्माकी अष्टविध अवयव ही तीन मात्रा—अ-उ-म्—रूप हैं । 'म्' अनुस्वार प्रकृति ॐके आठ अवयवोंमें विराजमान है । ये आठ अर्थात् बिन्दुरूप है, इसलिये सब अक्षरोंके माथे-

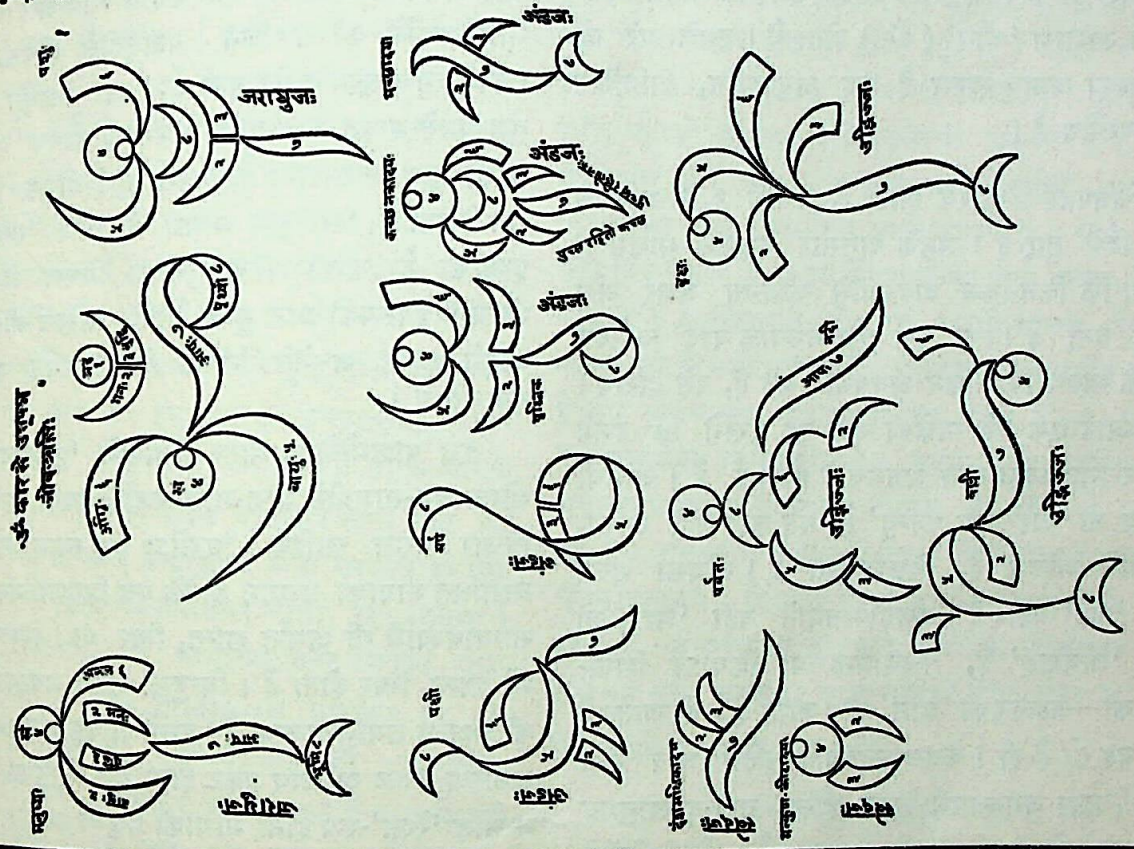

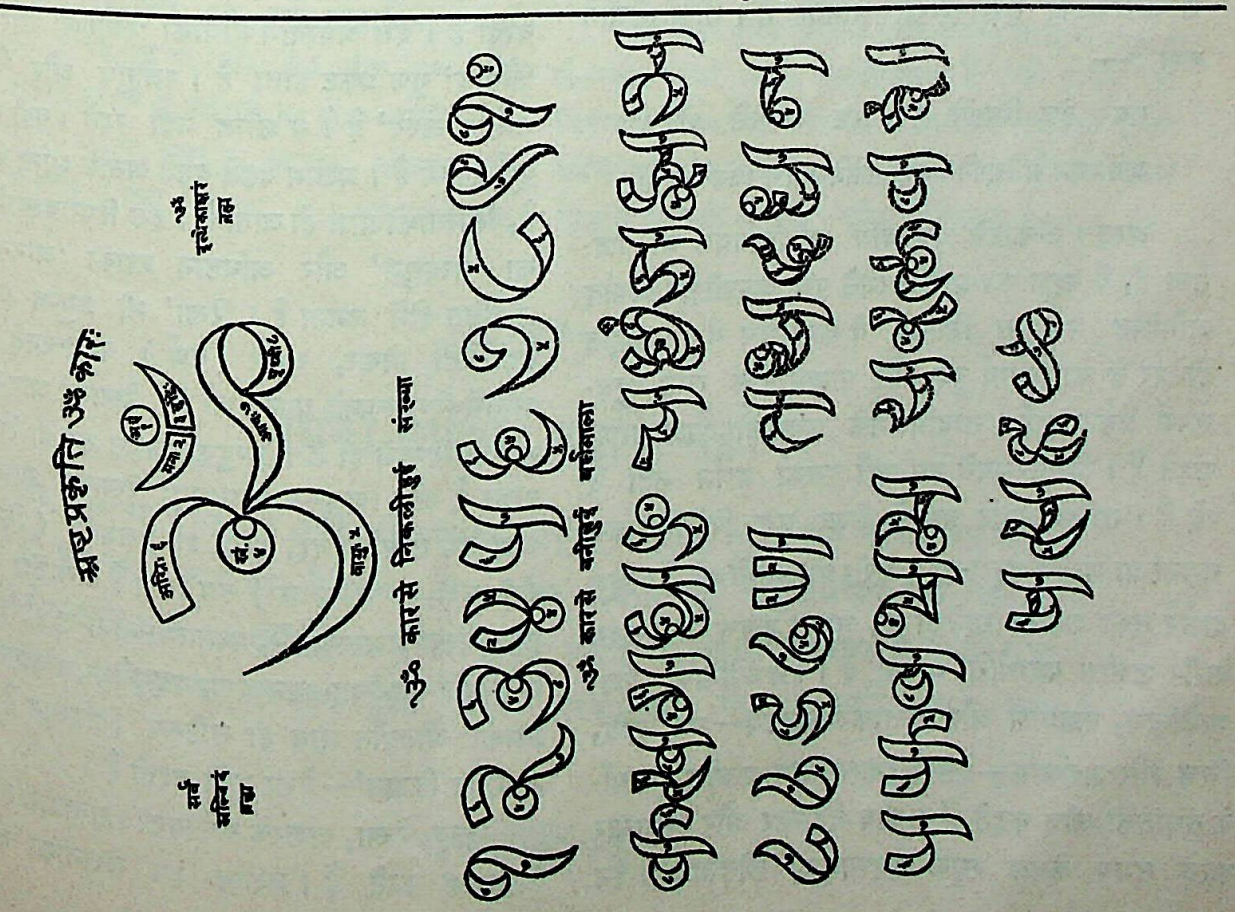

पर बैठता है। ॐ का 'ओ' 'अ' है, ु उकार है; और ं यह बिन्दु मकार—अनुस्वाररूप है। इस त्रिमात्रारूप अ-उ-म् का उच्चारण 'ओम्' (ॐ) होता है। इसके परे जो ॐकारका अमात्र स्वरूप है वह अनुच्चारित, अलिखित एवं स्वसंवेद्य है।

चित्रपटमें ॐकारके आठों अवयवोंमें १ से आठतक अंक दिये हुए हैं। उनके अनुसार देखनेसे मालूम हो जायगा कि किन-किन अवयवोंसे कौन-सा अक्षर और संख्या बनी है। फिर वर्ण और संख्याके बाद चतुर्विध जीवोंके स्वरूप किन-किन अवयवोंसे बने हैं, इसे देखिये। इसमें आप एक बड़े मार्केकी बात यह देखेंगे कि इनमें सारी रचना केवल सात अवयवोंसे ही हुई है। आठवाँ अवयव जो 'अहं'-रूप 'बिन्दु' है, वह कहीं नहीं आया, वह सबसे अलिप्त है, विकृतिरहित है। जीवका मुख्य स्वरूप 'अहं' यही है। प्रणवोपासनासे यही 'अहं', जो अभी 'जीवोऽहं' है, 'चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहं' को—ब्रह्मरूपको प्राप्त हो जाता है। हो जाता है क्या, वह तो है ही। केवल स्वरूपविस्मृतिसे जीव बना है, भ्रान्तिवश जगत्स्वप्नमें निमग्न होकर सुख-दुःखानुभव करके अपनेको सुखी-दुःखी मानता है। गोस्वामीजीने कहा है—

सपनें होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ।
जागें लाभ न हानि कछु, तिमि प्रपंच जिय जोइ॥

अस्तु। ॐकारके अवयवोंमें सृष्टिनिर्मायक जो पञ्च-तत्त्व हैं, वे स्थूल रूप प्राप्त करनेसे पूर्व अपञ्चीकृत अर्थात् अमिश्रित थे। इस स्थितिमें वे कार्याक्षम थे। पञ्चीकृत होनेपर वे कार्यसमर्थ हुए और पाञ्चभौतिक सृष्टि स्थूल-रूपमें प्रकट हुई। तत्त्वमिश्रणके प्रकारको 'पञ्चीकरण' कहते हैं। विस्तारभयसे हम यहाँ इसका वर्णन नहीं दे रहे हैं। सृष्टिके अन्दर ब्रह्मासे लेकर एक पिपीलिकातक समस्त प्राणियोंके स्थूल-सूक्ष्म शरीर पञ्चभूतोंसे बने हैं। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीरके रहनेका घर अथवा कवच है। सूक्ष्म शरीर उन्नीस पदार्थोंसे संयुक्त है। पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्च-ज्ञानेन्द्रिय, पञ्चप्राण और अन्तःकरणचतुष्टय—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार—ऐसे अहंकारप्रधान उन्नीस पदार्थों-के संघातको जीव कहते हैं। जीव देहान्तर और लोकान्तर करते समय केवल स्थूल देहमात्रको छोड़ता है। इन उन्नीसमेंसे एक भी शरीरका साथ नहीं छोड़ता। यदि छोड़ दे तो अन्य शरीरमें फिर कहाँसे आवे और विषयोंका भोग कहाँसे करे ? जिन पञ्चभूतोंसे जीवका भोग-साधन स्थूल-सूक्ष्म शरीर बना है, वही पञ्चभूत स्वकीय गुण-धर्मसे यावत् जीवमात्रके उपभोग्य विषय बने हैं। 'शब्द' गुण आकाशका है; 'स्पर्श' गुण वायुका है; 'रूप' गुण तेजका है; 'रस' गुण जलका है और 'गन्ध' गुण पृथ्वीका है। इन्हीं पाँच गुणोंका मिश्रण अनन्तविध भोग्य विषयरूपको प्राप्त हुआ है और अखिल जीव इसके भोगमें अनन्त जन्मोंसे निमग्न होकर अपने स्वरूपको भूल गये हैं।

इन पाञ्चभौतिक भोग्य विषयोंमें 'गुणवत्ता' और भोगसाधन-सामग्रीमें भोग-शक्ति कहाँसे आयी, इसका भी विचार करना चाहिये। 'एकोऽहं बहु स्याम्' ऊर्मिद्वारा ब्रह्माश्रित मायाका उत्थान होनेके पूर्व त्रिगुणात्मिका माया साम्यावस्थामें थी अर्थात् शान्त, स्थिर थी। बिन्दुका रूप भी शान्त, स्थिर होता है। बिन्दुकी शान्त अवस्था माया-की अक्षुब्ध तमोगुणावस्था है। इसमें अधिष्ठान ब्रह्मका 'सत्' सत्तारूप केवल अस्तित्व प्रकट होता है। बिन्दुका स्थान न छोड़ 'रेखा'-रूप होना मायाकी प्रक्षुब्ध अर्थात् चञ्चल-वस्था है। इस अवस्थामें मायाका 'रजोगुण' और ब्रह्मका 'चैतन्य' गुण प्रकट होता है। रजोगुण और चैतन्यका धर्म 'चाञ्चल्य' है। ये शान्त नहीं रहते। यही मायाका पूर्ण प्रक्षोभ है। प्रक्षोभ बढ़ते-बढ़ते अन्तमें शान्त हो जाता है, स्थिरताको प्राप्त हो जाता है। इस स्थिरावस्थामें माया-का 'सत्त्वगुण' और अधिष्ठान ब्रह्मका 'आनन्द' गुण उल्लसित होने लगता है। 'रेखा' भी प्रक्षुब्ध अवस्थामें टेढ़ी-मेढ़ी होकर, अक्षर (वर्ण) बनते-बनते थककर अन्तमें बिन्दुरूपको प्राप्त होती है। रेखाका आरम्भ और समाप्ति बिन्दुमें ही है। बिन्दुका विकृत रूप ही रेखा और अक्षर है और बिन्दुरूप परमात्मा, रेखारूप माया तथा अक्षररूप सृष्टि है। यही हमारे इष्ट प्रणवका ं (बिन्दु), (रेखा), ॐ (अक्षर) रूप सिद्ध है। सारांश यह कि बिन्दु-रेखा-अक्षररूप ॐ, परमात्मा-माया-सृष्टि, तम-रज-सत्त्व और सत्-चित्-आनन्दरूप षड्गुणैश्वर्यसम्पन्न परमात्मा ब्रह्मका ओतप्रोत भाव ही सृष्टिरूप चिद्विलास है। 'नेह नानास्ति किञ्चन'—ऐसा श्रुति कहती है।

बिन्दु, रेखा, अक्षरके रूपैक्यको दृष्टान्तद्वारा समझाने-का प्रयत्न करते हैं। जबतक हम लेखनीका अग्रभाग

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कागजपर नहीं रखते तबतक बिन्दुका रूप अव्यक्त है, कागजभरमें व्याप्त है। जहाँ अग्रभाग कागजपर लगा कि वहीं बिन्दु व्यक्त हो जायगा। वही अग्रभाग यदि आगेको बढ़ा तो रेखा (···——) का रूप बन जायगा। यहाँ विचार करके देखें तो मालूम होगा कि बिन्दु ही अपना स्थान बिना छोड़े ही आगे बढ़कर रेखा बन गया है। वही रेखा इच्छित वक्रगतिसे अक्षर बन जाती है। ये तीनों रूप बिन्दुके ही हैं। पुनः बिन्दुके स्थानमें कपासका एक छोटा-सा गोला लें। इसको बायें हाथमें लेकर दाहिने हाथकी चुटकीसे जरा पकड़कर ऐंठते हुए खींचें तो धागा-रूप रेखा बन जायगी। इस धागेको इच्छानुसार टेढ़ा-मेढ़ा कर देनेसे अक्षराकृति बन जायगी। फिर धागेके दोनों सिरोंको खींचते ही केवल धागारूप सरल रेखा रह जायगी। धागेका भाँज निकालकर पीछे सरकाते ही फिर रेखाके स्थानमें बिन्दुरूप कपासका गोला रह जायगा। इसी तरह सच्चिदानन्दरूप परमात्मा सत्त्व-रज-तम गुण-वाली मायाकी उपाधिसे जगदाकारमें प्रफुल्लित हो रहा है। प्रत्येक वस्तुमें जो अस्ति-भाति-प्रियता—सत्-चित्-आनन्द है, वह परब्रह्मरूप अधिष्ठानका है तथा जितनी गुण-धर्म-विकृति है वह सत्त्व, रज, तम, मायाके इन तीन गुणोंके कारण ही प्रतीत हो रही है। एक तृण भी ऐसा नहीं मिलेगा जिसमें ये षड्गुण न हों। आदिशक्ति अखण्ड महामाया अपनी उपाधि लगाकर सच्चिदानन्द-गुणविशिष्ट जीवको भोक्ता बनाकर सत्त्व-रज-तमविशिष्ट गुण-क्रिया-शक्तिरूपमें स्वयं भोग्य विषय बनकर भोक्ता पुरुषको भोग-विलासमें निमग्न कर रही है, भुला रही है और जन्म-मरणके चक्करमें डाल रही है। माया-शक्तिके दो अंग हैं—विद्याशक्ति और अविद्याशक्ति। अविद्या-शक्ति जीवको बहिर्मुख करके विषयोंमें ढकेलती है। यही प्रवृत्तिमार्ग है। विद्याशक्ति जीवको अन्तर्मुखी बनाकर विचारारूढ़ और साधनारूढ़ करके कृतार्थ कर देती है। यही निवृत्तिमार्ग है। इन दो मार्गोंका फल बन्धन और मोक्ष है। प्रवृत्तिमार्गमें तो हम अनादिकालसे फँसकर जन्ममृत्युके बन्धनमें पड़े ही हैं। भाग्यवश जब सुबुद्धि होती है और सत्संग तथा श्रीगुरुकृपा प्राप्त होती है तब मुमुक्षु निवृत्तिमार्गपर आरूढ़ होता है। सद्गुरु उसे साधनपथपर चलाकर स्वरूपानन्दसागरमें निमग्न कर देते हैं। फिर उसे इस बातका भान ही नहीं रहता कि मैं जीव हूँ; वह तो 'चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम्' की अनुभूतिमें मस्त रहता है। संसारसागर जो पहले भयानक दीखता था, उसे वह तुच्छ समझकर दुःख-सुखकी कोई परवा न कर निर्भयतासे तैरता है और अन्तमें—

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।

—इस कैवल्यरूप अखण्ड मुक्ति-पदको प्राप्त होता है। उसीका सुलभ साधन प्रणवोपासना है। जो पाठक इस निबन्धको पढ़कर प्रणवोपासनाके मार्गपर चलनेकी इच्छा करेंगे उन्हें ईश्वरकृपासे सहज ही कोई-न-कोई मार्गदर्शक विभूति प्राप्त हो जायगी। हरिः ॐ तत्सत्।

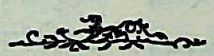

प्रभुकी साहिबी समुझि संकोच

सकुचै 'सिरस रावरेको साहिबो समुझि, पहुँच न देखि निज, मन ताको अकुलात।
हौं तो इत खड़ो आर पार हैं दयालु देव, बीच भव-सिन्धु वीचि-माया घोर घहरात॥
महिमें रेंगतो कीट सो तो ईंटको न टारि सकै नभ छूबेमें कितनो लांबो होय वाको गात।
राजदरबार दरबारी दरकार होत कार सरकारकी गँवार कहाँ कहा बात॥

—साहित्यरत्न शिवरत्न शुक्ल 'सिरस'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीजनकजीकी भक्ति

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

प्रनवौं परिजन सहित बिदेहू । जाहि रामपद गूढ़ सनेहू ॥
जोग भोग महँ राखेउ गोई । राम बिलोकत प्रगटेउ सोई ॥

मद्गोस्वामी तुलसीदासजीने श्रीरामचरितमानसके बालकाण्डके आरम्भमें वन्दनाप्रसंगान्तर्गत श्रीजनकजी महाराजको वन्दना करते हुए श्रीरामचरणोंके प्रति उनके गूढ़ सनेहकी सूचना दी है और यह भी लक्ष्य कराया है कि श्रीजनकजीने उस गूढ़ भक्ति (रत्न) को योग और भोग—(रूपी सम्पुट—डिब्बे) में छिपा रक्खा था, जो श्रीरामजीका दर्शन प्राप्त होते ही प्रकट हो गयी ।

श्रीजनकजीको विरक्तसमाज अर्थात् निवृत्तिमार्गवाले केवल योगिराज (ज्ञानी) जानते थे और उनसे विविध ज्ञानोपदेश प्राप्त करनेके लिये आ-आकर सन्तुष्ट हुआ करते थे । परन्तु उनको इस मर्मका पता नहीं चलता था कि श्रीजनकजीमें श्रीरामपदारविन्दके प्रति गुप्तरूपसे प्रगाढ़ प्रेम परिपूरित है जिसके प्रभावसे ऐसे राज-काजकी महान् प्रवृत्तिमें रहकर भी इनको हम विरक्त ज्ञानियोंके संशयोंका निवारण करनेकी शक्ति मिल रही है । इस कारण वे बड़े-बड़े निवृत्तिमार्गी ज्ञानी चकित रहा करते थे । इधर संसारी प्रवृत्तिमार्गी भोगी जीवोंका कहना ही क्या ! वे श्रीजनकराजजीको महान् राज्यविभूति भोगते देखकर उनको केवल भोगिराज ही समझते थे और इस आश्चर्यमें चकित थे कि 'हे भगवन् ! ऐसी बद्धावस्थामें भी इनमें यह शक्ति कहाँसे आ रही है कि बड़े-बड़े ज्ञानिशिरोमणि इनसे ज्ञान सीखने आते हैं !' क्योंकि उन बद्ध जीवोंको भी यह मर्म ज्ञात नहीं था कि 'श्रीजनकजीके हृदयमें श्रीरामजीकी गूढ़ भक्ति गुप्त है, जिसके प्रभावसे ये समस्त भोगोंको भोगते हुए भी निर्लेपावस्थाको प्राप्त हैं ।' इस प्रकारसे उस गुप्त रामभक्तिका मर्म योगी और भोगी दोनों समाजको विदित नहीं था । जिस सम्पुट (डिब्बे) में वह रामभक्ति छिपायी गयी थी, उसका उपरला ढक्कन भोग और निचला पल्ला योग था; क्योंकि अधिकांशकी दृष्टिमें वे भोगी राजा मालूम होते थे—केवल योगियों अथवा बुधोंकी दृष्टिमें योगी थे । अस्तु, जब श्रीविश्वामित्रजीके साथ श्रीरामजी जनकपुरमें पहुँचे तो उनका दर्शन प्राप्त होते ही उपर्युक्त योग और भोगरूपी सम्पुटमें छिपाकर गुप्त रक्खा हुआ श्रीरामप्रेमरूपी रत्न सहसा प्रकट हो गया । यथा—

मूरति मधुर मनोहर देखी । भये बिदेह बिदेह बिसेषी ॥

प्रेम मगन मन जानि नृप, करि बिबेक धरि धीर ।
बोले मुनिपद नाइ सिर, गदगद गिरा गँभीर ॥

कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक । मुनिकुलतिलक कि नृपकुलपालक ॥
ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा । उभय बेष धरि की सोइ आवा ॥
सहज बिरागरूप मन मोरा । थकित होत जिमि चंद चकोरा ॥
ताते प्रभु पूँछउ सतिभाऊ । कहहु नाथ जनि करहु दुराऊ ॥
इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा । बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा ॥

श्रीरघुनाथजीकी मनोहर और मधुर (माधुर्य) मूर्तिको देखते ही श्रीविदेह—जनकजी सचमुच—निश्चय ही विदेह हो गये । तात्पर्य यह कि उनका देहानुसंधान जाता रहा, बरबस प्रेममें मन मग्न हो गया । जब उन्होंने अपनी यह दशा देखी तो विचार करके धैर्य धारण किया और श्रीविश्वामित्रजीके चरणोंमें माथा नवाकर गद्गद और गम्भीर वाणीसे विनती

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

करना आरम्भ किया—'हे नाथ! ये दोनों सुन्दर बालक मुनियोंके कुल-तिलक—ऋषि-महर्षियोंके शिरोमणि हैं या राजाओंके पालक—चक्रवर्तियोंके मुकुटमणि हैं? तात्पर्य कि 'शुचीनां श्रीमतां गेहे' अथवा 'योगिनां कुले'—(गीता), कहाँ इन्होंने अवतार लिया है—प्रवृत्ति या निवृत्ति किस संस्थाको परम पावन बनाया है?* या जिन ब्रह्मका वेद 'न इति', 'न इति' कहकर निरूपण करता है, वह साक्षात् ब्रह्म ही दो रूप धारण करके प्रकट हुए हैं? क्योंकि मेरा मन, जो स्वाभाविक वैराग्यरत है, जिसमें किसी भी सांसारिक सौन्दर्यकी आसक्तिका लेश नहीं, वह मन इनको देखकर वैसे ही आसक्त हो गया है जैसे चकोर चन्द्रमाको देखकर थकित हो जाते हैं। अतः हे प्रभु! मैं सत्य भावसे पूछता हूँ, हे नाथ, मुझसे 'दुराव' (छिपाव) न कीजिये, सच-सच बतलाइये। इनको 'बिलोकते' (देखते) ही मेरे मनने अत्यन्त अनुराग-युक्त होकर ब्रह्मानन्दका बरबस त्याग कर दिया है और वह इनके दर्शनको ही श्रेष्ठ मान रहा है।'

यहाँ 'सहज बिरागरूप मन मोरा' कहनेसे भोग-रूप ऊपरका ढक्कन खुल गया। यह स्पष्ट हो गया कि श्रीजनकजी ऊपरसे ही भोगी दीखते थे, उनके हृदयके भीतर भोगासक्ति तनिक भी नहीं थी, आज उन्हींके वचनसे मर्मका पता चल गया। 'थकित होत जिमि चंद चकोरा' कहनेसे भोगके पर्देमें छिपा हुआ श्रीरामपदका 'गूढ़ सनेह' प्रकट हो गया और 'बरबस ब्रह्मसुखहिं मन त्यागा' कहनेसे योगरूप निचला पल्ला भी खुल गया तथा इस योग (ब्रह्मसुख) के भीतर भी छिपा हुआ वह श्रीरामप्रेम-रत्न था, जिसका साक्षात् होते ही उनके मनने उस 'ब्रह्मसुख' को भी त्याग दिया। अतएव यह सिद्ध हो गया कि—

जोग भोग महँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई॥

अस्तु,—

जब श्रीविश्वामित्रजीने श्रीजनकजीकी ऐसी प्रार्थना सुनी कि 'हे नाथ, दुराव न करके सत्य-सत्य बतलाइये,' तब वे सत्यवादी मुनि महाराज हँसकर कह उठे—

कह मुनि बिहँसि कहेउ नृप नीका। बचन तुम्हार न होइ अलीका॥
ए प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी।.....

'हे राजन्! आपने ठीक ही कहा, भला कहीं आपका वचन प्रमाणरहित हो सकता है? ये (दोनों) संसारके जीवमात्रको प्यारे हैं—(इस प्रकार श्रीविश्वामित्रजी ज्यों ही प्रभुका ऐश्वर्यस्वरूप खोलने लगे त्यों ही) श्रीरघुनाथजीने मुनिराजके उस वचनको सुनकर मुसकुरा दिया—'मन मुसुकाहिं राम सुनि बानी।' परम गम्भीर स्वभाववाले श्रीरघुनाथजी दो बड़ोंके परस्पर वार्तालापके समय यों ही बेमतलब मुसुकायें—यह असम्भव था, अतः विश्वामित्रजी ताड़ गये कि सरकारका इशारा ऐश्वर्य न खोलकर माधुर्य ही कहनेका है, अतएव श्रीमुनिराजजीने झट ऐश्वर्यकथनको वहीं छोड़कर माधुर्यकथन आरम्भ कर दिया—

रघुकुलमनि दसरथके जाये। मम हित लागि नरेस पठाये॥
राम लखन दोउ बंधुवर, रूप सील गुन धाम।
मख राखे सब साखि जग, जीति असुर संग्राम॥

'रघुकुलश्रेष्ठ चक्रवर्ती श्रीदशरथ महाराजके ये दोनों पुत्र हैं। मेरे हित (यज्ञरक्षा) के निमित्त

---

* श्रीजनकजीको श्रीविश्वामित्रादि मुनियोंके साथ आये हुए देखकर 'मुनि-कुल-तिलक' का अनुमान हुआ और राजश्री, राजसी वस्त्राभूषण तथा धनुष-बाणादि धारण किये हुए देखकर 'नृपकुलपालक' का। मुनि लोग संसारसे उपराम होकर भगवत्परायण होनेके कारण ललाटमें भगवच्चरणचिह्नादिको तिलकके रूपमें धारण करते हैं, अतः मुनियोंमें सर्वश्रेष्ठ लक्षित करनेके लिये 'तिलक' शब्द-का कैसा सुयोग लाया गया है। इसी प्रकार राजाओंका मुख्य धर्म प्रजापालन होनेसे 'पालक' शब्द जोड़कर 'राजाओंका मुकुटमणि' अर्थात् 'महाराज' सूचित किया गया है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

महाराजाने इनको भेजा है। इनके नाम राम और लक्ष्मण हैं। इन दोनों बहादुर भाइयोंने असुर-समाज-पर विजय करके मेरे यज्ञकी रक्षा की है—उसे सम्पूर्ण करा दिया है। इस बातका साक्षी सारा जगत् है।' श्रीविश्वामित्रजीके इस प्रकार माधुर्य कथन करनेपर अर्थात् चक्रवर्तिकुमार बतलानेपर भी श्री-जनकजी अपने अन्तिम अनुमानसे नहीं हटे—

मुनि तव चरन देखि कह राऊ।कहि न सकौं निज पुन्य प्रभाऊ॥
सुंदर स्याम गौर दोउ भ्राता। आनँदहूके आनँददाता॥
इन्हकै प्रीति परसपर पावनि।कहि न जाइ मन भाव सुहावनि
सुनहु नाथ कह मुदित बिदेहू। ब्रह्म जीव इव सहज सनेहू॥
पुनि पुनि प्रभुहिं चितव नरनाहू।पुलक गात उर अधिक उछाहू॥

श्रीविदेहजी मुनिराजके यह बतलानेपर कि 'मेरा यज्ञ इन्होंने पूर्ण करा दिया है,' हर्षके मारे फूले नहीं समाये। उन्होंने समझा कि 'इन्हीं कृपालुकी कृपासे अब मेरा यज्ञ—धनुषभङ्गकी प्रतिज्ञा भी पूरी होगी। वे मुदित होकर कहने लगे कि 'हे मुनिराज! आपके चरणोंको प्राप्तकर आज मैं अपने पुण्यकी महिमाको नहीं कह सकता। आज कितने सुकृतोंका फल प्राप्त हुआ है! ये सुन्दर श्याम और गौरस्वरूप दोनों भाई आनन्दको भी आनन्द देनेवाले हैं। इनकी परस्परकी 'पावनि' प्रीति ऐसी सोहावनी है—ऐसी मनको भा रही है कि वह वचनसे कथनके अन्दर नहीं आ सकती। हे नाथ। आप मेरे इस निश्चयको सुनिये—मैं इन श्यामस्वरूप बड़े सरकारको तो साक्षात् ब्रह्म मानता हूँ और गौरस्वरूप छोटे सरकारको जीव (नित्य शेष) मानता हूँ। क्योंकि इनमें उसी प्रकार सहज सनेह है जिस प्रकार ब्रह्म (शेषशायी) और शेषमें स्वाभाविक नित्य स्नेह रहता है। इस तरहका सहज सनेह शेषजीके सिवा और किसी जीवमें हो ही नहीं सकता। ऐसा कहते-कहते श्रीजनकजीका चित्त ऐसा विवश हो गया कि वे बारबार श्रीरामजीको देखने लगे, दर्शन करते समय उन्हें पुलक—रोमाञ्च होने लगा और उनके हृदय-में अत्यधिक उत्साह बढ़ने लगा।

इसी सम्बन्धमें श्रीरामगीतावलीके ६२वें पदमें श्रीगोस्वामिपादका कथन है—

देखे राम लखन निमेषैं बिथकित भई
प्रानहूते प्यारे लागे बिनु पहिचाने हैं।
ब्रह्मानंद हृदय दरस-सुख लोचननि,
अनुभये उभय सरस राम जाने हैं।
'तुलसी' बिदेहकी सनेहकी दसा सुमिरि,
मेरे मन माने राउ निपट सयाने हैं।

अर्थात् प्रथम बिना पहचाने ही, श्रीरामजीको देखते ही श्रीविदेहजीकी पलकें रुक गयीं—टकटकी लग गयी। वे उनको प्राणोंसे भी अधिक प्यारे लगे। उनके हृदयमें निर्गुण ब्रह्मानन्द था और नेत्रोंमें साक्षात् सगुण ब्रह्म श्रीरामजीका दर्शन। विदेहजीने इन दोनों आनन्दोंका अनुभव करके भीतर-ही-भीतर मुकाबिला किया कि किसमें अधिकता है। अन्तमें अनुभवद्वारा यह निश्चय हुआ कि सगुणस्वरूप श्रीरामजी ही सरस हैं। इसपर श्रीगोस्वामीजी अपना निश्चय सुनाते हैं कि 'मैंने विदेहजीकी दशाका स्मरण करके यही अपने मनमें निश्चय किया है कि श्रीजनक राजा 'परम सयाने' अर्थात् विज्ञानभूषण—चतुरशिरोमणि थे। क्योंकि—

सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू। कर्णधार बिनु जिमि जलजानू॥

तथा—

जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं रामप्रेम परधानू॥

श्रीरामचरितमानसके निर्णयसे यह लक्षित होता है कि 'आनन्द' तीन श्रेणियोंमें विभाजित है—(१) विषयानन्द, (२) ब्रह्मानन्द और (३) परमानन्द।

(१) विषयानन्द सांसारिक सुखको कहते हैं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जो पञ्च विषयेन्द्रियोंसे अनुभूत होता है। यह इन्द्रिय-जन्य सुख वास्तविक सुख न होकर झूठा; अनित्य, नाशवान् तथा मोहमूलक है।

(२) ब्रह्मानन्द वह सुख है जो ज्ञानयोगियोंको निर्गुण निराकार ब्रह्मका चिन्तन करते समय उनके मनके सर्व संकल्प-विकल्पोंकी शान्तिकी अवस्थामें एकाग्रतासे प्राप्त होता है। उसीको ब्रह्मसुख भी कहते हैं।

(३) परमानन्द अनुपम सुख है। यह सगुण ब्रह्मका साक्षात्कार होनेपर, उनकी प्रत्यक्षावस्थामें उन्हीं सगुणोपासक प्रेमी भक्तजनोंको प्राप्त होता है जिनके ऊपर कृपा करके भगवान् प्रकट होकर दर्शन देते हैं। इसीको भजनानन्द और प्रेमानन्द भी कहा गया है।

इनमें (१) विषयानन्द तो सर्वथा हेय अतएव त्याज्य ही है—

बहि तनु कर फल विषय न भाई। स्वर्गहु स्वल्प अंत दुखदाई॥
नर तन पाइ विषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं॥

अब (२) ब्रह्मानन्द और (३) परमानन्दमें कौन सरस है, इसका निर्णय श्रीजनकजीकी भक्तिसे स्पष्ट हो जाता है। (२) ब्रह्मानन्द उनके हृदयमें मौजूद था, परन्तु जब वही ब्रह्म प्रकट होकर चर्म-चक्षुरादि इन्द्रियोंके गोचर बने तब (३) परमानन्दको पाकर उनके मनने बरबस—जबरदस्ती—ब्रह्मानन्दका परित्याग कर दिया और परमानन्दमें अनुरक्त हो गया।

श्रीदशरथजीके प्रसंगमें भी ये शब्द इसी क्रमसे आये हैं; जब उनके कानोंमें केवल इतना पड़ा कि 'आपको पुत्र हुआ है' तो उनके उस भारी सुखके वर्णनमें, जो चौथेपनमें पुत्रेष्टि-यज्ञादिके फलस्वरूप पुत्र-प्राप्तिसे हुआ था, योगियोंके उसी ब्रह्मसुख ब्रह्मानन्दकी समता दी गयी है—

दशरथ पुत्रजन्म सुनि काना। मानहुँ ब्रह्मानन्द समाना॥

परन्तु जब उनको इस बातका स्मरण हुआ कि हमारे घर जो पुत्र पैदा हुआ है, वह वही है—

जाकर नाम सुनत सुभ होई। मोरे गृह आवा प्रभु सोई॥

—तब प्रभुके साक्षात् प्रादुर्भावका बोध और अनुभव होनेके कारण उनके सुखका दर्जा बढ़कर परमानन्द हो गया—

परमानन्द पूरि मन राजा। कहा बुलाइ बजावहु बाजा॥

इसी प्रकार उत्तरकाण्डके उस प्रसंगमें जब श्रीअयोध्यामें श्रीरामजीके दर्शनार्थ सनकादिकोंका आगमन हुआ तो वे ब्रह्मानन्दमें सदैव लवलीन रहते हुए भी—

ब्रह्मानन्द सदा लयलीना। देखत बालक बहु कालीना॥

—श्रीसगुणविग्रहके साक्षात् सुख—परमानन्दका अनुभव करने लगे और अन्तमें विदा होते समय नाना प्रकारकी स्तुतिके पश्चात् उन्होंने परमानन्दको ही याचना करके अपनेको कृतकृत्य माना। यथा—

परमानन्द कृपायतन, मन परिपूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी, देहु हमहिं श्रीराम॥

इसके अतिरिक्त उसी उत्तरकाण्डमें जब भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने श्रीअयोध्यापुरवासियोंको अन्तिम उपदेश दिया है तो उसकी भी पूर्ति उसी परानन्द (परमानन्द) से की गयी है—

मम गुन ग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह।
ताकर सुख सोइ जानइ, परानन्द सन्दोह॥

अतएव परमानन्द (भजनानन्द या प्रेमानन्द) सब आनन्दोंसे परे है और इसको प्राप्त करनेवाले श्रीजनकजी 'परम सयाने' भक्त हैं।

श्रीरामजीके 'विलोकन'—प्राप्तिके समय प्रकट होनेवाली श्रीजनकजीकी 'गूढ़ भक्ति' का परिचय

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

और प्रमाण तबतक मिलता है जबतक उनके यहाँ श्रीरघुनाथजीका लीला-चरित अर्थात् धनुषभंग और विवाहादि होता रहा। उन सभी प्रसंगोंमें उसका बराबर वर्णन आया है और विदाईके समय तो मानो उसका प्रवाह ही छूट पड़ा है—

जोरि पंकरुह पानि सुहाये। बोले बचन प्रेम जनु जाये॥
राम करौं केहि भाँति प्रसंसा। मुनि महेस मन मानस हंसा॥
करहिं जोग जोगी जेहि लागी। कोह मोह ममता मद त्यागी॥
व्यापक ब्रह्म अलख अबिनासी। चिदानंद निर्गुन गुनरासी॥
मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥
महिमा निगम नेति कहि कहई। जो तिहुँकाल एकरस रहई॥
नयन विषय मोकहँ भयउ, सो समस्त सुखमूल।
सबइ सुलभ जगजीव कहँ, भये ईस अनुकूल॥
सबहिं भाँति मोहि दीन बड़ाई। निज जन जानि लीन्ह अपनाई॥
होहिं सहस दस सारद सेषा। करहिं कल्प कोटिक भरि लेषा॥
मोर भाग राउर गुन गाथा। कहि न सिराहिं सुनहु रघुनाथा॥
मैं कछु कहउँ एक बल मोरे। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे॥
बार बार माँगों कर जोरे। मन परिहरै चरन जनि भोरे॥

दोनों कर-कमलोंको जोड़कर श्रीजनकजी इस प्रकार प्रेमपूर्वक विनती करने लगे—हे श्रीरामजी! आपकी स्तुति किस प्रकार की जाय? आप तो समस्त मुनिवरों और भगवान् शिवजीके मनरूपी मानसरोवर-में हंसके समान विराजनेवाले हैं। आपके ही लिये योगी लोग काम, क्रोध, मद, मोह आदि विकारोंको त्यागकर योगरत रहते हैं। आप ही अलख, अविनाशी, निर्गुण (मायिक गुणोंसे रहित) तथा (दिव्य) गुणोंकी राशि हैं। आप ही चिदानन्द व्यापक ब्रह्म हैं। जो त्रिकालमें एकरस रहनेवाले हैं, जिनकी महिमा वेद 'नेति', 'नेति' कहकर वर्णन करता है, जिसे सम्पूर्ण अनुमानी—तार्किक अपने तर्कोंद्वारा नहीं जान सकते, जिसे मन और वाणी भी नहीं जान सकती—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह॥
(श्रुति)

वही समस्त सुखोंके मूल (आप) मेरे लिये 'नयन-विषय'* बन गये! क्यों न हो, यदि ईश्वर अनुकूल हो जायँ तो जीवको क्या-क्या सुलभ नहीं हो सकता! हे प्रभो! आपने मुझको सब तरह बड़ा बना दिया—अपना दास समझकर अपना लिया।† यदि दस सहस्र शारदा और शेष मिलकर करोड़ों कल्पतक मेरे भाग्य तथा आपकी गुण-गाथाका हिसाब जोड़ें तब भी उनका शुमार—लेखा नहीं कर सकेंगे। मैं जो ढिठाई करके आपके श्रीचरणोंमें कुछ निवेदन करने लगा, वह केवल इसी बलपर कि कृपालु प्रभु अत्यल्प प्रेमसे भी प्रसन्न होनेवाले हैं, अतः हे नाथ! मैं बारंबार करबद्ध होकर आपसे यही याचना करता हूँ कि मेरा मन आपके श्रीचरण-कमलोंको स्वप्नमें भी न भूले।

सुनि बर बचन प्रेम जनु पोषे। पूरन काम राम परितोषे॥
करि बहु बिनय ससुर सनमाने। पितु कौसिक बसिष्ठ सम जाने॥

श्रीजनकजीके श्रेष्ठ वचन—सुन्दर स्तुति मानो प्रेममें पगी हुई—भिगोयी हुई थी। उसको सुनकर पूर्णकाम श्रीरामजीको भी परम सन्तोष हुआ और उन्होंने (अपनी माधुर्य-मर्यादाके अनुसार) ससुरके नाते बहुत विनय करके उनको सम्मान दिया। फिर (अपने ऐश्वर्य-भावानुसार जैसा कि श्रीजनकजीने

* नयन-विषयसे तात्पर्य यह है कि 'इन चर्म-चक्षुओंसे देखनेमें आये।' 'विषय' शब्दसे यह लक्षित किया गया है कि विषयेन्द्रियोंके विषयमें पड़कर जीवका पतन हो जाता है। नेत्रका विषय रूप है। मेरा मन आपके रूपपर मोहित होकर ब्रह्मसुखसे हटा है, परन्तु पतन होनेके बदले उसको सुखके मूल परमानन्दका अनुभव हो रहा है। स्वामीके अनुकूल होनेपर उसके जनके लिये सभी असम्भव सम्भव और सभी दुर्लभ सुलभ हो जाते हैं।

† 'निज जन जानि' पदसे भी यह सूचित होता है कि श्रीजनकजीके योग और भोगमें श्रीरामपदका गूढ़ स्नेह अवश्य गुप्त था।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भगवान् जानकर भक्तिके अर्थ उनकी स्तुति की थी) उनको (१) पिता दशरथ, (२) विश्वामित्र और (३) वशिष्ठकी बराबरीमें स्वीकार किया ।

(१) श्रीदशरथजीकी समता प्रेम-भक्तिमें प्रदान की गयी; क्योंकि प्रेम-भक्तोंमें उनका दर्जा सर्वोच्च है । 'सत्य प्रेम' शब्द ग्रन्थभरमें केवल उन्हींके लिये, एक ही जगह और एक ही बार आया है, यथा—

बन्दौं अवध भुआल, सत्य प्रेम जेहि रामपद ।
बिछुरत दीन-दयाल, प्रिय तन तृन इव परिहरेउ ॥

अतः पितातुल्य भक्तियोग दिया गया ।

(२) श्रीविश्वामित्रजीकी समता कर्मयोगमें दी गयी । क्योंकि उन महामुनिको प्रधानतः यज्ञ-यागादिके ही निमित्तसे प्रभुकी प्राप्ति हुई थी और यज्ञकी रक्षा ही प्रधान संयोग थी—

'मख राखे सब साखि जग, जीति असुर संग्राम ।'

अतः श्रीविश्वामित्रजीके समान उच्च कर्मयोग दिया गया ।

(३) श्रीवशिष्ठजीकी समता ज्ञानयोगमें दी गयी । क्योंकि वे ज्ञानियोंमें प्रसिद्ध ज्ञानी थे । उनके नाममात्रके अवलम्बनसे 'योगवाशिष्ठ' ग्रन्थ अबतक प्रचलित है । श्रीमानसमें प्रमाण देखिये—

तब वशिष्ठ मुनि समउ सम कहि अनेक इतिहास ।
सोक निवारयो सबनकर निज विज्ञान प्रकास ॥

अतः श्रीवशिष्ठजीके समान ज्ञानयोग दिया गया ।

तात्पर्य यह कि श्रीजनकजीकी उपर्युक्त भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् श्रीरामजीने उनको उच्च कोटिका भक्तियोगी, कर्मयोगी और ज्ञानयोगी निश्चितरूपसे बना दिया । संसारमें यही तीन योग मनुष्योंके लिये कल्याणकर बतलाये गये हैं । जैसे—

योगत्रया मया प्रोक्ता नृणां श्रेयो विवित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नान्योपायोऽस्ति कुत्रचित् ॥
(श्रीमद्भागवत उद्धवके प्रति श्रीकृष्णका वचन)

अतः तीनों परमार्थमार्गियोंमें श्रीजनकजीको श्रेष्ठ पद मिला । क्यों न मिले, श्रीभगवान्के भजनका यही प्रताप ही है । श्रीकागभुशुण्डिजीको भी विशुद्ध भक्तिके साथ-साथ इस प्रकारका उदार दान मिला था—

सुनु बिहंग प्रसाद अब मोरे । सब सुभ गुन बसिहहिं उर तोरे ॥
भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा । जोग चरित्र रहस्य बिभागा ॥
जानब तैं सबहीकर भेदा । मम प्रसाद नहिं साधन खेदा ॥

भगवान्की श्रीभक्तिजीका महत्त्व ही ऐसा है कि वह जिसमें आती हैं, वह भजनानन्दीजन निस्सन्देह सम्पूर्ण गुणोंका ज्ञाता, कर्ता और धर्ता हो जाता है । यथा—

सोइ सरबज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता । सोइ महि मंडित पंडित दाता ॥
धर्मपरायन सोइ कुल त्राता । रामचरन जाकर मन राता ॥
नीति निपुन सोइ परम सयाना । श्रुति सिद्धान्त नीक तेहि जाना
सो कबि कोबिद सो रनधीरा । जो छल छाँड़ि भजै रघुबीरा ॥

अतएव भक्तराज श्रीजनकजीमें केवल भक्तिके प्रभावसे ही कर्म-ज्ञान आदि सभी भरपूर हो गये थे । श्रीमानसके अन्तर्गत भक्तराज विदेहजीका दूसरा श्रीराम-मिलन अवधकाण्डके श्रीचित्रकूट-प्रसंगमें वर्णित है । वहाँ उनकी भक्ति इस प्रकार बतलायी गयी है—

गिरिबर दीख जनकपति जबहीं । करि प्रनाम रथ त्यागेउ तबहीं ॥

अर्थात् जितनी दूरसे श्रीकामदगिरि—चित्रकूट-पर्वतका दर्शन हुआ, उतनी दूरसे ही श्रीजनकजीने रथ त्याग दिया और प्रणाम करके पैदल हो गये । जिस तरह श्रीभरतजीने माता कौशल्याके विशेष आग्रह और आवश्यक आज्ञावश—

तुमरे चलत चलहिं सब लोगू । सकल सोक कृस नहिं मगजोगू ॥

—विवश होकर उस जगहतकके लिये रथपर चलना शिरोधार्य कर लिया था, जहाँतक (शृङ्गवेरपुरतक)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सरकार श्रीरघुनाथजी रथपर गये थे और वहाँसे आगे सबको पहले पयान कराकर, ताकि कोई देखादेखी न करे, और जैसा कि श्रीअम्बाजीको भी पहलेसे निश्चय था, पीछेसे स्वयं सवारी त्यागकर पैदल ही गये, उसी तरह श्रीजनकजीने भी जब दूतसे यह समाचार सुना कि 'अवधसमाज चित्रकूट जा पहुँचा है' तो शीघ्रताके कारण विवश होकर उतनी दूरतक (शृंगवेरपुरतक) रथपर चलनेको मजबूर हुए—

दुबरी साधि चले ततकाला। किय बिश्राम न मग महिपाला॥

नहीं तो वे भी सारा मार्ग पैदल ही तै करते! तथापि पर्वतोंका शिखर कितनी दूरसे दिखायी देता है, इसपर पाठक विचार कर लें, उतने फासिलेसे, पहुँचनेकी उतनी जल्दी होते हुए भी उनसे पैदल गये बिना न रहा गया। दशा कैसी थी, उसे देखिये—

मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही। बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही॥

× × × ×

शिथिल सनेह गुनत मन माहीं। आये यहाँ कीन्ह भल नाहीं॥
रामहिं राउ कहेउ बन जाना। कीन्ह आपु प्रिय प्रेम प्रमाना॥
हम अब बनते बनहि पठाई। प्रमुदित फिरब बिबेक बड़ाई॥

मार्ग चलते समय मन तो श्रीरघुनाथजीके पास था, अतएव मनके बिना तनके दुखका भान कैसे हो? वहाँ पहुँचकर जब दर्शन पाया और चित्त कुछ ठिकाने हुआ तब स्नेहसे शिथिल हो गये और यह विचार पैदा हुआ कि अब प्रभुको छोड़कर किस आधारपर लौट सकूँगा? हाय, हम यहाँ नाहक ही आये, श्रीदशरथजी महाराजने वन जानेको कहा तो उन्होंने अपने प्रेमका प्रमाण भी दिखा दिया अर्थात् प्राण दे दिया। अब हम यदि इनको लौटाकर अवध न ले जा सके तो लोग यही कहेंगे कि 'बड़े ज्ञानी—समझदार बनकर श्रीरामजीको लौटाने गये थे, परन्तु लौटाना कौन कहे, उससे भी आगेके वनमें भेजकर प्रसन्नतापूर्वक लौट आये' (अतः ऐसे विवेकपर मुझको धिक्कार है कि अबतक प्राण न गया!)।

उर उमँगेउ अम्बुधि अनुरागू। भयउ भूप मन मनहुँ प्रयागू॥
सिय सनेहबट बाढ़त जोहा। तापर राम प्रेमसिसु सोहा॥
चिरजीवी मुनि ज्ञान बिकल जनु। बूड़त लहेउ बाल अवलम्बनु॥
मोह मगन मति नहिं बिदेहकी। महिमा सिय रघुबर सनेहकी॥

× × × ×

जासु ज्ञान रबि भवनिसि नासा। बचन किरिन मुनिकमलबिकासा॥
तेहि कि मोह ममता नियराई। यह सिय राम सनेह बड़ाई॥

श्रीजनकजीके हृदयमें श्रीसीतारामजीके प्रति प्रेम और अनुरागसागर उमड़ पड़ा, जिसमें उनका ज्ञान चिरजीवी मुनि मार्कण्डेय ऋषिकी भाँति डूबने लगा परन्तु जैसे मार्कण्डेय मुनिको प्रयागराजके अक्षयवटके चोटीवाले पत्तोंपर शयन करनेवाले बालरूप भगवान्के अवलम्बनने बचाया, वैसे ही श्रीजनकजीका मन मानो प्रयाग बन गया, श्रीसीताजीका स्नेह मानो अक्षयवट होकर (अनुराग-समुद्रके उमड़ते समय ऊपरको बढ़ता हुआ दिखायी पड़ा, तथा श्रीरामजीका प्रेम मानो वटके पत्तेपर बालरूप भगवान् बनकर सुशोभित हो गया। बस, क्या था श्रीजनकजीका ज्ञान भी उसका अवलम्बन पाकर डूबनेसे बच गया।

मार्कण्डेय ऋषिके सम्बन्धमें कथा है कि उन्होंने एक बार भगवान्से उनकी माया देखनेके लिये प्रार्थना की थी। अतः एक दिन उनको दिखायी पड़ा कि उमड़ते हुए समुद्रने आकर उनकी कुटिया बहा दी और वे पानीकी लहरोंमें डूबते-उतराते प्रयाग पहुँचे। वहाँ अक्षयवटका वृक्ष अथाह जलराशिमें होकर भी जलके ऊपर बढ़ रहा था और उसके पत्तेपर श्रीभगवान् बालकके रूपमें लेटे हुए थे। बस, दर्शन मिलते ही उन्होंने बालरूप भगवान्का अवलम्बन लेकर अपना प्राण बचाया। यहाँपर उसी मार्कण्डेय ऋषिकी उपमा दी गयी है। यदि किसी ज्ञानी जीवको केवल अपनी साधारण पुत्री, जामाता आदि किसी भी सांसारिक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सम्बन्धीसे ही प्रेम हो तो वह ज्ञानी न माना जाकर रागी माना जायगा। उसके सम्बन्धमें यह कहा जायगा कि उस ज्ञानीका ज्ञान मोहमें डूब गया। परन्तु श्रीजनकजीका प्रेम पुत्री और जामाताके ही भावका न होकर साक्षात् श्रीआदिशक्ति तथा पूर्णब्रह्म अर्थात् श्रीलक्ष्मीनारायणस्वरूप श्रीसीतारामजीकी निष्ठाका था, अतएव उस राम-भक्तिने उनके ज्ञानको अपना अवलम्बन देकर बचा लिया। इसीलिये कहा गया है कि विदेहजीकी बुद्धि सांसारिक मोह-रागादिमें नहीं डूबी थी। इस प्रकारका वर्णन देकर श्रीसीताराम (भगवान्) की प्रेम-भक्तिकी महिमा प्रकट की गयी है—

मोह मगन मति नहिं बिदेहकी। महिमा सिय रघुबर सनेहकी॥

क्योंकि जिनके ज्ञानरूपी सूर्यसे संसाररूपी रजनीका निःशेष—अन्त हो चुका था, जिनके वचनरूपी किरणोंसे मुनियोंका हृदय-कमल सदा विकसित होता था, उन श्रीजनकजीके समीप कभी मोह या ममता आ सकती थी? कदापि नहीं। वह केवल श्रीसीताराम—सगुण ब्रह्मके स्नेह ('जाहि रामपद गूढ़ सनेहू') की बड़ाई—श्रेष्ठ महिमा थी।

सियावर रामचन्द्रकी जय!

ईश्वरमें विश्वास

(लेखक—म० श्रीबालकराम विनायकजी)

प्रश्न—ईश्वरको क्यों मानना चाहिये?

उत्तर—एक सुप्रसिद्ध महात्माने शरीर त्यागते हुए अपने सुयोग्य शिष्यसे कह दिया था कि अमुक प्रान्त एवं ग्राममें अमुक व्यक्तिके यहाँ जन्म लूँगा। तुम वहाँ आना, वहीं कुटी बनाकर रहना और जवतव रामरक्षाका पाठ सुनाया करना। उस शिष्यने वैसा ही किया। संतका जन्म एक पठित वैष्णवकुलमें हुआ था। कुछ सयाने होनेपर उस समयकी प्रथाके अनुसार (मुसलमानी ज़मानेमें) फ़ारसी पढ़नेके लिये 'मकतब' में वे बैठाये गये। वह शिष्य भी अपनी कुटीपरसे आकर मकतबमें बैठा करता था। बालसंतने थोड़े ही समयमें फ़ारसी भाषामें अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। अध्यापक (मौलवी) प्रसन्न होकर उन्हें चावसे पढ़ाते थे। एक दिन पठन-पाठनमें यह पद्य आया—

दर हर दरो-दीवार व दिले हर कसो-नाकस।
ख़ुद जिलवए दारद ब-अदब बायद बूदन॥

अर्थात्—

अग-जग सुजन-अजानमें, बसत बदत श्रुति नीत।
ताते परुष न बोलिए, सबसों रहिय बिनीत॥

प्रत्येक द्वार और दीवारमें एवं प्रत्येक चर और अचरमें वह (ईश्वर) स्वयं विराजमान है, (इसलिये) अदबके साथ रहना चाहिये।

इस पद्यकी व्याख्या उस मौलवी आलिम-फ़ाज़िलने ऐसी की कि उस बालसंतके हृदयमें वे बातें सदाके लिये खचित हो गयीं। उसका जो प्रभाव पड़ा था, उसे उन्हींके शब्दोंमें सुनिये। 'मेरे हृदयमें आतंक समा गया। मुझे मालूम होने लगा कि कोई हर घड़ी मेरे पास खड़ा है और मेरी सब करतूत देख रहा है, मेरी बातें सुन रहा है। क्या रात्रिके एकान्तमें और क्या दिनके प्रकाशमें वह ईश्वर सदाके लिये मेरा साथी बन गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मैं कोई खेल भी न खेल सका, न किसीसे मित्रता करके उससे खुलकर बातें कर सका। झूठ बोलना और कुकर्मोंमें प्रवृत्त होना तो मेरे लिये एकदम असम्भव हो गया। सदा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शान्त और गम्भीर बना रहना मेरा स्वभाव हो गया।' इस प्रत्यक्ष घटनासे इतना तो स्पष्ट ही है कि ईश्वरको क्यों मानना चाहिये और माननेसे कितना लाभ है। मनुष्यका जीवन सुधर जाता है, सब पाप-तापसे बचाव हो जाता है और संसारमें रहते हुए भी निर्लिप्त जीवन बना रहता है।

प्रश्न—ईश्वरको न माननेसे क्या हानि है?

उत्तर—ईश्वरको न माननेवाले दो प्रकारके हैं—(१) कथनीसे और (२) करनीसे। कथनीसे ईश्वरको अस्वीकार करनेवाले मूर्ख नहीं होते, बड़े-बड़े बुद्धिमान् होते हैं। बुद्धिरूपी शरीरमें ज्ञानरूपी भोजनका अच्छी तरह परिपाक न होनेसे अफरा अथवा अजीर्ण दोषके रूपमें अनीश्वरवाद उत्पन्न होता है। अथवा बुद्धि-शरीरके सञ्चालक तर्क, युक्ति और वादके रूपमें कफ-पित्त-वातके एकीकरणसे उत्पन्न सन्निपातका बक-झक ही अनीश्वरवाद है। कथनीसे अनीश्वरवादी यों तो बहुत मिले परन्तु उनमेंसे दो, अर्थात् एक संस्कृतके विद्वान् और दूसरे अंग्रेजीके विद्वान्से तो मुठभेड़ हो गयी थी। गोड़ेशरीफमें संत जगजीवनसाहबकी बेटीकी समाधि-भूमिपर, सागर नामक पोखरेपर, हिन्दुस्तानी क्लबघरके पास नित्य सन्ध्या-समय सत्संग हुआ करता था। एक पण्डित उस सत्संगरूपी चन्द्रमाको ग्रसनेके लिये राहुके रूपमें नित्य धावा करने लगे और ईश्वर-खण्डन-रूप वाग्बाणसे सब सत्संगियोंको व्यथित करने लगे। बात बढ़ने न पावे और शान्ति भंग न हो, इसलिये मैं उनके किसी तर्कका उत्तर नहीं देता था। चुपचाप सुन लेता था और मुस्करा देता था। मेरा रुख देखकर और सत्संगी भी चुप रहते थे। पाँच-सात दिन लगातार ऐसा होनेपर एक दिन पण्डितने कहा—'कुछ तो उत्तर दीजिये, समाधान कीजिये।' मैंने कहा—'क्या आपकी सब दलीलें खत्म हो गयीं?' उन्होंने कहा—'हाँ अब उत्तर चाहता हूँ।' मैंने कहा—'अच्छा, आज जाइये, रातभरमें और भी नयी-नयी युक्तियाँ निकालिये, कल उन्हें भी सुना दीजिये, तब समाधान करूँगा।' दूसरे दिन जब वे फिर आये तब चुपचाप बैठे रहे, और लोगोंके चले जानेपर भी बैठे रहे। एकान्त पाकर उन्होंने कहा—'रात जब मैं सोया तो एक विचित्र स्वप्न देखा। उसे ही कहनेके लिये आया हूँ।' मैंने कहा—'पण्डितजी! आप स्वप्नके पचड़ेमें क्यों पड़े हैं। ईश्वरके खण्डनकी नयी दलील, नयी सूझ सुनाइये। आप-जैसे ज्ञानी पुरुषोंको मिथ्या वस्तुके पीछे नहीं पड़ना चाहिये।'

पण्डितजी—'नहीं, नहीं, ऐसा मत समझिये। जागनेपर भी उसका प्रभाव बना हुआ है। अब भी मेरी छाती धड़क रही है। वह स्वप्न त्रिकालमें मिथ्या नहीं हो सकता।'

मैं—'यह भी आपकी अनोखी सूझ है। सारा संसार स्वप्नको मिथ्या समझता है, परन्तु आप कह रहे हैं कि वह स्वप्न त्रिकालमें मिथ्या नहीं हो सकता। इस विरोधाभासको आप ही समझिये। अच्छा, कहिये, क्या कहते थे। मैं ध्यान देकर सुनूँगा।'

पण्डितजी—'रात दस बजे जब आँख लगी तब मैंने एक भयंकर स्वप्न देखा। सुनसान जंगलमें एक कुण्डमें आग धधक रही थी। कापालिक परिक्रमा कर रहा था। मुझे देखते ही उसने अपने शिष्योंको आज्ञा दी—'बलिप्रदानके लिये निर्दोष जीव चाहिये, यह वैसा नहीं है। इसकी जीभ काट लो और छोड़ दो।' फौरन् मेरे हाथ-पैर पुष्ट रस्सीसे बाँध दिये गये और एकने मेरी रसना पकड़कर उसे काटना आरम्भ किया। मैं बहुत चिल्लाया, रोया परन्तु उन्हें दया नहीं आयी। सारा शरीर रक्त-रञ्जित हो गया। मैं मूर्च्छित हो पड़ गया। उस बेहोशीकी दशामें मैंने देखा कि मैं काशीकी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गलियोंमें विचर रहा हूँ और एक कोठेपर बैठी हुई सुन्दरी मुझे देख-देखकर लुभा रही है। मैं तुरत कोठेपर चढ़ गया। दरवानने मेरा हाथ पकड़ लिया और लगा जूतोंसे पीटने। वह सुखसे बैठी हुई सुन्दरी मेरी दशा देख-देखकर खूब हँस रही थी। चपरासीने मार-पीटकर मुझे नालीमें गिरा दिया, जिसमें असंख्य कीड़े रेंग रहे थे। मुर्दे-की तरह शक्तिहीन मैं वहाँ पड़ा-पड़ा अपनी दुर्दशा-पर आँसू बहा रहा था। जो कोई उस रास्तेसे जाता मुझे दो लात और जमा देता था। किसीका हृदय मेरी कारुणिक दशापर द्रवीभूत नहीं होता था। लात खाते-खाते मैं बेहोश हो गया। तब, मैंने देखा कि मैं ससुरालमें हूँ। भोजन करके रातमें अपनी स्त्रीके साथ पलंगपर सोया हुआ हूँ। इतनेमें खिड़कीपर उसका जार आया। संकेत पाकर वह उठकर चली गयी। थोड़ी देर बाद वह खड्ग-हस्ता होकर और क्रुद्ध होकर मेरे पास आयी और मेरा सिर काटकर चली गयी। फिर कुछ देरमें लौटकर उसने सिर धड़से जोड़ दिया और विलाप करने लगी। सूक्ष्म शरीरसे मैं यह सब देख रहा था। उस कुलटाको समुचित दण्ड देनेके लिये मैंने फिर उस शरीरमें प्रवेश किया या किसीने बलात् मुझे उसमें प्रविष्ट कर दिया, यह मैं ठीक-ठीक नहीं कह सकता। उसकी चिल्लाहटसे जब लोग वहाँ एकत्र हुए तब मैं चारपाईपर उठ बैठा था। गर्दनमें पट्टी बाँध ली थी। मैंने सब वृत्तान्त लोगोंसे धीरे-धीरे कह दिया। मेरी स्त्री उसी समय भाग गयी और फिर मेरे सामने नहीं आयी। घाव अच्छा होनेपर मैंने संसारको असार समझकर जंगलका रास्ता लिया। सुन्दरवनमें पहुँचा। एक गुफा बनाकर रहने लगा और फल-मूल खाने लगा। रातमें पाँच बड़े-बड़े सर्प मेरी गुफाके सामने कुछ दूरपर आकर बैठे। मैं भयभीत होकर चुपचाप बैठा रहा। बचावकी सूरत दिखायी नहीं पड़ती थी। इतनेमें एक सिंह आकर सामने ही गुर्राने लगा। मेरा होश उड़ गया। बड़ी बेबसी और करुणाके साथ एकबारगी स्वतः मेरे मुखसे निकल पड़ा—'हे राम! इस घोर विपत्तिसे मुझे उबारो।' बस, तुरत आँखें खुल गयीं और स्वप्नका सब दृश्य बिला गया। देखा, घड़ीमें पाँच बजे हैं। केवल सात घंटेमें ये सब लीलाएँ हुई हैं। परन्तु स्वप्न-संसारमें वर्षोंका लेखा हो गया। इस विचित्र घटनापूर्ण स्वप्नका रहस्य मुझे बतलाइये। अब, मैं ईश्वरका खण्डन कभी न करूँगा। ईश्वरकी ईश्वरता मुझपर प्रकट हो गयी। रामके नामने मेरी रक्षा की। मेरी सम्मतिमें ईश्वरकी सबसे अच्छी परिभाषा यही हो सकती है कि वह दीन-दुखियोंकी सुनता है, उनकी रक्षा करता है। ऐसे कठिन समयमें सुध लेता है, ऐसी विकट परिस्थितिमें काम आता है जब किसी प्रकार भी उनकी रक्षा होना सम्भव नहीं। ऐसे दयानिधान ईश्वरके खण्डन करनेवाले-की जबान अवश्य काटी जाती है।' पण्डितजीकी वार्ता हो चुकी। अब अंग्रेजीके एक विद्वान्‌की वार्ता भी सुन लीजिये—

प्रयागजी, युनिवर्सिटी कालिजमें पढ़नेवाले छात्रोंमें एक सज्जन फिलासफीमें एम० ए० की परीक्षाकी तैयारी करते थे। दुर्भाग्यसे यहाँके विश्वविद्यालयोंमें अनीश्वरवादी दर्शन ही कोर्समें हैं। अंग्रेजी भाषामें आध्यात्मिक दर्शन भी हैं, परन्तु अधिकारी लोग किसी कारणविशेषसे उन्हें यहाँके छात्रोंको पढ़ाना नहीं चाहते। उक्त सज्जन पढ़ते तो म्योर कालिजमें, परन्तु रहते थे 'आक्सफोर्ड ऐण्ड केम्बरिज होस्टल' में जो ईसाइयोंकी संस्था है। वहाँके सुपरिंटेंडेंट मिस्टर होलैंडसे उनकी खूब छनती थी। ईश्वर और ईश्वरके एकलौते पुत्र ईसूमसीहपर तरह-तरहके आक्षेप करना ही वहाँ उनका उद्देश्य रहता था। इसी तरह मौलवी और पण्डितसे भी वह भिड़

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जाते थे। सब लोग उनसे तंग आ गये थे। यहाँ-तक कि लोगोंने उनके कुतर्कोंका उत्तर देना भी बंद कर दिया था। उन दिनों राधास्वामी सम्प्रदायके आचार्य स्वर्गीय पं० ब्रह्मशंकर मिश्रजी, महाराज साहब वहीं रहते थे और नित्य अतुर-सुहिया मुहालमें उनके निवासस्थानपर सत्संग हुआ करता था। कभी-कभी उक्त सज्जन वहाँ भी पहुँच जाते थे और आक्षेपोंकी झड़ी लगा देते थे। महाराज साहब उनकी सुन लेते थे और यह कहकर टाल देते थे कि हमलोग बहस नहीं करते।

छुट्टियोंमें हम आल्फ्रेड पार्कमें बैठे हुए कुछ राम-चर्चा किया करते थे। धीरे-धीरे हमारे सत्संगमें भी बहुत लोग आने लगे। उक्त अनीश्वर-वादी और विवाद-प्रिय सज्जनको पता लग गया और वह भी आने लगे। पहले तो दो-चार दिनों-तक चुपचाप बैठे हुए सत्संग-वार्ता सुना करते थे। एक दिन विसर्जनके समय उन्होंने मुझसे कहा कि 'आपसे मैं ईश्वर-सम्बन्धी जिज्ञासा करना चाहता हूँ। समय मिलना चाहिये।' मैंने कहा—'हम-आप तो छात्र ही हैं, एक ही कालिजमें पढ़ते हैं, अबोध हैं, अभी सीख रहे हैं; किसी लब्ध-प्रतिष्ठ महान् पुरुषसे जिज्ञासा कीजिये।' परन्तु उन्होंने बड़ा हठ किया और अन्तमें महाशिवरात्रिकी छुट्टीमें तेरह जनवरीको वार्ता होना निश्चित हुआ। उस दिन दो बजेसे ही आल्फ्रेड पार्कमें सब लोग एकत्र हुए। मानसजीका पाठ हुआ और उसके अनन्तर उनको समय दिया गया। पहले तो उन्होंने ईश्वर-परक अपने सन्देहोंको स्पष्टरूपसे प्रकट किया, फिर हिन्दू-धर्मपर जितने आक्षेप वे कर सकते थे, कर गये। संयोगसे 'हिन्दी-प्रदीप'के सम्पादक भट्टजी किसी कार्यवश वहाँ आ गये थे। और लोग तो चुप रहे, परन्तु उनके आक्षेपोंको सुनकर भट्टजीसे नहीं रहा गया। उन्होंने उक्त सज्जनको खूब फटकारा और उनके प्रश्नोंका समुचित उत्तर भी दिया; परन्तु उनको सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने भट्टजीसे कहा—'आप बड़े हैं, इसलिये आपकी बात दबी जबानसे मान लेता हूँ, परन्तु मेरा दिल आपकी बात माननेको तैयार नहीं है।' इसपर भट्टजी उठकर चले गये। अब मेरी बारी आयी। मैंने कहा कि 'हिन्दूधर्मपर जो आपने अनर्गल आक्षेप किये हैं उन्हें तो वापस लीजिये और ईश्वरपरक जो आपका सन्देह है, उसका समाधान सुनिये।' इसपर वह राजी हो गये। मैंने कहा 'क्या आप कोई वैज्ञानिक कारण बता सकते हैं कि चमगादुरको दिनमें क्यों नहीं सूझता।'

उन्होंने कहा—'मैंने इसपर कभी विचार नहीं किया।'

मैं—'अच्छा, यह तो बताइये कि सूर्यके उदय होते ही कमल क्यों खिल जाता है और सूर्यास्तपर क्यों सम्पुटित हो जाता है। आकाशचारी सूर्य एवं जलविहारी कमलमें घनिष्ठता क्यों है।' अनीश्वरवादी—'मैंने तो कह दिया कि मैंने इन बातोंपर कभी विचार ही नहीं किया है।' मैं—'जब आप प्राकृतिक नियमोंको समझनेमें असमर्थ हैं तब मन-बुद्धि-वाणी इन सबसे परे ईश्वरसम्बन्धी सूक्ष्म बातें कैसे समझ सकेंगे? सुनिये, ईश्वरको समझनेके लिये ईश्वरीय बुद्धि चाहिये—'तुलसी रघुपतिसे नयन रघुपति देखनहारि।' यदि आप सच्चे दिलसे ईश्वरको जानना चाहते हैं तो ईश्वरीय बुद्धि प्राप्त कीजिये।'

अनीश्वरवादी—'हाँ मैं सच्चे दिलसे चाहता हूँ। आप ईश्वरीय बुद्धि प्राप्त करनेका उपाय कहें।'

मैं—'अच्छा, तो आप एक घंटेतक प्रतिदिन एकटक दृष्टिसे ध्रुवताराको देखें और अगले रविवारको फिर यहीं मुझसे मिलें। हाँ, जब आप यह साधन करें तब आपके साथ और कोई न

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हो।' वह मान गये, सभा भङ्ग हुई, सब अपने स्थानको चले गये।

दूसरे रविवारको जब वह महाशय सत्संगमें उपस्थित हुए तब उन्होंने मुझे एक पत्र दिया जो उन्हींका लिखा हुआ था। पत्र अंग्रेजी भाषामें था। उसके हाशियेपर लिखा हुआ था प्राइवेट ऐण्ड कॉंफ़िडेंशियल (Private and confidential) इसलिये उस पत्रको पढ़कर सबको सुनाना मैंने उचित नहीं समझा। उसमें लिखा हुआ था—'महाशय! आपके निर्देशानुसार मैं लगातार चार दिनोंतक, प्रतिनिशि, एक घंटेतक ध्रुवको टकटकी लगाकर देखता रहा। पहले दिन तो कुछ मालूम नहीं हुआ। दृष्टि जमानेमें ही सारा समय निकल गया। दूसरे दिन ध्यान स्थिर हो गया और अनेक रंगोंके अनेक दृश्य दिखायी पड़े जिनका रहस्य कुछ समझमें नहीं आया। परन्तु जब मैं अपने रूम (घर) में चारपाईपर उत्तान लेट गया और देखे हुए दृश्यपर विचार करने लगा तब एकाएक मेरा प्यारा कुत्ता आकर मेरी छातीपर खड़ा हो गया और कानसे झुककर मनुष्यकी भाषामें बोला—'क्या ईश्वरमें अब भी अविश्वास करोगे?' यह कहकर गरज और तड़पकर वह कूद गया। दूर जाकर बैठा और आँखोंसे आँसू बहाता हुआ तुरंत शरीर त्यागकर परलोकको सिधारा। इस अलौकिक घटनाका गहरा प्रभाव मेरे दिलपर पड़ा। मेरा सब सन्देह काफूर हो गया। मुझे निश्चय हो गया कि कुत्तेके मुखसे निकली हुई नर-वाणी ईश्वरकी ही थी। तीसरे दिन जब मैं फिर ध्रुवको देखने बैठा, तब न जाने किसने मेरी ज़बान ऐंठ दी और तबसे मैं मूक हो गया हूँ। मैं कुछ बोल नहीं सकता। यही कारण है कि आज सब वृत्तान्त लिखकर लाया हूँ। अब मैं आपको शतशः धन्यवाद देता हुआ यही प्रार्थना करता हूँ कि अब कोई ऐसी तदबीर बताइये जिससे मेरा मूकपन दूर हो। मैं आपका आजन्म आभारी रहूँगा।

आपका स्नेहभाजन—
सैमुअल सैक्सन

इस पत्रको बाँचकर मैं सन्न रह गया। मेरे नेत्रोंसे आँसू निकल पड़े। मैं भी कुछ देरतक मूक हो गया। सब साथी चकित हो गये। मेरे अनन्य मित्र मिस्टर त्रिपाठीने मेरे हाथसे पत्र ले लिया और पढ़ने लगे। पत्र-लेखक महाशयने उनके हाथसे पत्र छीन लिया और तुरत उसे फाड़कर फेंक दिया। मिस्टर मजीदने सब टुकड़े चुनकर अपने जेबमें रख लिये और यह कहते हुए चले गये कि इन टुकड़ोंको जोड़कर मैं पढ़ूँगा।

कुछ देरमें जब मेरा चित्त सावधान हुआ तब मैंने सैमुअल महाशयसे कहा कि 'यदि आप प्रतिज्ञा करें कि अबसे ईश्वरका खण्डन व्याजसे भी नहीं करूँगा और प्रतिज्ञाका साक्षी ध्रुवको बनावें तो बहुत सम्भव है कि आपकी ज़बान खुल जाय।' उन्होंने ऐसा ही किया। दूसरे दिन उनकी ज़बान खुल गयी। और वह फिर एक बार मुझसे मिले। तबसे पता नहीं चला कि कहाँ गये। यहाँ एक बात और बता देना आवश्यक है कि उनका असली नाम 'श्यामलाल सक्सेना' था, परन्तु ईसाइयोंके संगमें रहनेके कारण और अंग्रेजीकी उच्च शिक्षा पानेके कारण उन्होंने अपना नाम 'सैमुअल सैक्सन' रख लिया था, जिस तरह आक्सफोर्डके प्रोफेसर मैकडोनेलने संस्कृत पढ़नेके प्रभावसे अपना नाम 'श्रीमुग्धानलाचार्य' और स्वर्गीया डाक्टर ऐनी बेसेंटने हिन्दूधर्मसे प्रेम होनेके कारण अपना नाम 'वासन्ती देवी' रख लिया था।

करनीसे अनीश्वरवादी

मनुष्यका स्वभाव है कि वह पापकर्म छिपछिपाकर करता है। आँख पसारकर देख लेता है कि मुझे ऐसा करते हुए कोई देखता तो नहीं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परन्तु उस समय उसे यह मोटी बात याद नहीं रहती कि सर्वत्रव्यापी ईश्वर तो देखता है और एक-न-एक दिन वह मेरे पापोंका भण्डाफोड़ अवश्य करेगा। यह बात भी सच है कि आजतक जितने पाप हुए हैं, चाहे कितना भी छिपाकर किये गये हैं, सबके सब प्रकाशमें आये हैं। कातिलने स्वयं बर्राहटमें कत्लके मामलेको प्रकट कर दिया है और वह पकड़ लिया गया है। कर्मानुसार जिस समय हम पाप करते हैं उस समय ज़रूर ईश्वरको भूल जाते हैं और 'करनीसे' निरीश्वरवादी बन जाते हैं। आठों पहर आस्तिक बना रहना केवल संतके ही लिये सुलभ है।

प्रश्न—ईश्वरके अस्तित्वमें क्या प्रमाण है ?

उत्तर—ईश्वरके अस्तित्वके पक्के प्रमाण—

(१) अवतार-पुरुषके रूपमें अथवा संत, आचार्य, पीर, पैगम्बर, औलियाके रूपमें ईश्वरका इस पृथ्वीपर प्रादुर्भूत होकर धर्मकी संस्थापना करना, सभी मानवीय भावोंको विकसित करके सबकी मर्यादा बाँधना और अपने अलौकिक चरित्रसे इतिहासकी महत्ता बढ़ाना,—यह ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण है जिसको नास्तिक लोग भी मानते हैं। एक सज्जनने क्या ही अच्छा कहा है—

वजूद भगवतकी है निशानी, सनेह आचार्यकी कहानी।
यही तो है शक्के आसमानी, सिवाय इसके पता नहीं है॥

(२) जो बात हम चाहते हैं वह नहीं होती और जिसकी हमने कभी कल्पना भी नहीं की थी, वही घटना घटित होती है। कोई भी मनुष्य दुःख नहीं चाहता, परन्तु तरह-तरहके दुःख मनुष्यको घेरे रहते हैं। 'अन इच्छित आवहिं बरिआई।' यह कार्य जड प्रकृतिका नहीं है, किसी चेतन सत्ताधारीका है जो न्यायपूर्वक निरपेक्षता, किन्तु सावधानतापूर्वक इस विश्वका शासन कर रहा है। प्रत्येक शासितको अर्थात् दुःखग्रस्त प्राणीको अपने शासककी अनुभूति हुए विना नहीं रह सकती। दुःखी जीव नास्तिक और निरीश्वरवादी नहीं हो सकता। यह ध्रुव सिद्धान्त है। बड़े-बड़े तार्किक, नास्तिक और अनीश्वरवादी भी विपन्नावस्थामें प्राप्त होते ही सब तर्कवाद भूल गये हैं और उन्होंने उस चेतन सत्ताधारीका प्रत्यक्ष अनुभव किया है। संसारमें दुःखकी मात्रा विशेष होनेसे ही यह आशा की जा सकती है कि ऐसा समय कभी नहीं आवेगा जब संसारमें ईश्वरके माननेवालोंका अभाव हो जाय।

(३) संसारकी अद्भुत घटनाएँ भी किसी अद्भुत चेतन सत्ताधारीका पूरा पता देती हैं। संसारका इतिहास ही इसका पुष्ट प्रमाण है।

(४) प्रसिद्ध मेधावी पुरुषोंने भी मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है कि अप्रतिहत इच्छा एवं शक्तिका चैतन्य आधार ही ईश्वर है।

(५) समुद्रमें वायुके झोंकेसे तरंगें उठती ही रहती हैं, उसी तरह स्वभावकी प्रेरणासे जिस चेतन सत्तासे इच्छामयी शक्तिकी प्रादुर्भावना होती है और उस इच्छाके द्वारा कार्यका विकास होता है, उसी चेतन सत्ताको ईश्वर कहते हैं।

(६) सृष्टि-विकास तथा क्रमबद्ध सञ्चालनके अटल एवं अखण्ड नियम, जिस अखण्ड एकरस-विहारी चेतन सत्ताधारीके भ्रविक्षेपपर निर्भर हैं, वही ईश्वर है।

(७) वेद-शास्त्रोंमें शुद्ध आधारमें प्रतिष्ठित ज्ञान-क्रिया-सम्पन्न चैतन्यको ही ईश्वर कहा है।

(८) स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण, इन तीनों लोकोंमें एकरस विहार करनेवाला यह जीवात्मा ही सर्वशक्तिमान् ईश्वरके अस्तित्वका सिद्ध प्रमाण है। क्योंकि यह जीवात्मा ईश्वरका ही अंश है। जीव अल्पशक्तिसम्पन्न है और ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, एक अणु (जुज़) है, दूसरा विभु

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(कुल) है। भेद इतना ही है। यह अल्पशक्ति-भाजन जीव सदा पूर्णत्वको प्राप्त होनेके लिये चेष्टा किया करता है। कारण, लोकमें जहाँ भूत, भविष्य, वर्तमानके रूपमें कालका विभाग नहीं है अर्थात् सदा वर्तमान-ही-वर्तमान है, जहाँ भाव और क्रिया पृथक्-पृथक् नहीं है, यह जीव जब अज्ञानका परिधान फेंककर अपने स्वरूपका अनुभव करता है, तब जिस ज्योतिमें वह तन्मयताको प्राप्त होता है, वही ज्योति, ईश्वर है।

(९) संसारमें विश्वास और प्रेम ईश्वरहीके प्रतीक हैं। हर एक मनुष्यको इसका बोध है। विश्वासरूप हर और प्रेमरूप हरि हैं। इस बातको अनुभवी संत कहते हैं। विश्वासमूलक ही सब धर्मसम्प्रदाय हैं। इनका दार्शनिक आधार काल्पनिक ही है, वास्तविक नहीं। प्रेम ही ईश्वर है और ईश्वर ही प्रेम है, कहते हुए लोग अघाते नहीं। बिना विश्वास और प्रेमके सांसारिक व्यवहारका सञ्चालन भी असम्भव ही है। इसीलिये यदि स्त्रीका निष्कपट प्रेम उसके पतिमें है तो उसके लिये उसका पति ही ईश्वर है। पुत्रका सच्चा प्रेम यदि पितामें है तो उसका पिता ही उसका ईश्वर है।

प्रश्न—आप अपना कोई निजी अनुभव बतला सकते हैं?

उत्तर—निजी अनुभवकी बातें अत्यन्त गोपनीय हैं, वे लिपिबद्ध नहीं की जा सकतीं। उनका प्रकाशन तो बहुत दूरकी बात है। हाँ, ऐसी घटनाएँ जो अबोधावस्थामें किसी-किसीसे कह दी गयी हैं, कुछ लोगोंको विदित हैं, उन्हें प्रकाशित कर देनेसे, यदि पाठकोंके हृदयपर कुछ प्रभाव पड़े तो उन्हें प्रकट कर देनेमें कोई हानि नहीं है। उनमेंसे एक विशिष्ट घटना यहाँ दी जाती है—

जन्मभूमि खेढ़ाय ग्राममें एक ठाकुरद्वारा है। वहाँ उस समय एक पण्डितजी वाल्मीकीय रामायणकी कथा कहते थे। ठाकुरजीके दर्शन और कथाश्रवणके लिये मैं नित्य जाने लगा। जिस दिन कथाकी समाप्ति हुई, मैं यह सोचकर रोने लगा कि अब कलसे यह कथा सुननेको नहीं मिलेगी। लोगोंने बहुत समझाया-बुझाया, पण्डितजीने अच्छे-अच्छे श्लोक और 'श्रीरामचन्द्र कृपालु भजु मन' वाली स्तुति लिखकर दी, किसीने फल, किसीने मिठाई देकर फुसलाया, बड़ोंने डाँटा-फटकारा भी, परन्तु रोना बंद नहीं हुआ। लोग पकड़कर घर लाये। माताजीने गोदमें लेकर बहुत प्यार किया, परन्तु सब व्यर्थ। रुलाई बंद नहीं हुई। रात बीत गयी। इस प्रकार तीन दिनों-तक एक-सी दशा बनी रही। कोठेपर अकेला पड़ा रहता और कथाकी बातें याद करके बिलख-बिलख रोया करता। पिछली रातमें अँधेरा कमरा एक-बारगी प्रकाशित हो गया और एक मुकुटधारी महापुरुषने प्रकट होकर, कभी लुक-छिपकर, जीवन-यात्रा-निर्वाहके लिये, छन्दोबद्धभाषामें, ऐसे उपदेश दिये कि वे ज्यों-के-त्यों हृत्पटलपर खचित हो गये।

सवेरे उन्हें लिपि-बद्ध कर लिया और नित्य पाठ करने लगा। वह कविता 'पयामे यार'के नामसे सं० १९६५ में एक पुस्तिकाके रूपमें प्रकाशित भी हो चुकी है। इस आध्यात्मिक जीवनका आधार वही कविता है। इस अधम जीवपर जैसी कृपा भगवान्‌ने उस समय की थी वैसी ही कृपा श्रीहरि सब-पर करें।*

* इन चारों प्रश्नोंपर और भी कई विद्वानों और संतोंके लेख आये हुए हैं। क्रमशः प्रकाशित होंगे।—सम्पादक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सुखीकी खोजमें

(लेखक—पं० श्रीमङ्गलजी उद्धवजी पुरोहित)

पुराने समयमें सत्यव्रत नामक एक राजा था। उसका राज्य बहुत बड़ा था। वाहन, उद्यान आदि सुखोपभोगकी सामग्रियोंकी कोई कमी न थी। राजा सब प्रकारसे प्रजापालनमें तत्पर रहता था और बड़ा सत्यवादी तथा धार्मिक था। वृद्धावस्था आते ही उसने विचार किया—'अब मेरी अवस्था पक गयी है; अतः राज्यकार्यका सब भार पुत्रको सौंप देना ठीक होगा।' निदान एक अच्छा मुहूर्त देखकर उसने पुत्रको युवराजके पदपर प्रतिष्ठित कर दिया। उस आनन्दमें उसने अनेकों कैदियोंको मुक्त कर दिया, दरिद्रोंको दान दिया तथा सेवकोंको भी धनादिसे सन्तुष्ट किया।

दैवकी गति गहन है। कल क्या होगा, यह किसीको मालूम नहीं। जो मनुष्य आज धनवान् है, कल वही कंगालीकी दर्दनाक हालतमें आ जाता है, जो अभी सुदृढ़ शरीरवाला है वही पलक मारते-मारते रोगग्रस्त हो जाता है। सुख, दुःख, यौवन, जरा, जन्म, मृत्यु तथा संसारके सभी द्वन्द्वोंको महात्मा लोगोंने सूर्यकी छायाके समान जो अस्थिर कहा है, सो ठीक ही है।

राजाके इकलौते पुत्रको अचानक क्षयरोग हो गया। दिनों-दिन उसका शरीर क्षीण होने लगा; अनेकों वैद्य-हकीमोंका उपचार हुआ, पर सब व्यर्थ! अन्तमें राजाने ढिंढोरा पिटवाया कि 'जो मनुष्य राजपुत्रको रोगमुक्त कर देगा उसे आधा राज्य इनाममें दिया जायगा।' इसे सुनकर पुरस्कारके प्रलोभनसे देश-देशान्तरके अनेक उत्तम-उत्तम वैद्य-हकीमोंने आ-आकर अमूल्य औषधोंका प्रयोग किया, परन्तु राजकुमारको किञ्चित् भी लाभ नहीं हुआ। उसका शरीर दिनोंदिन अशक्त होता गया; बिछौनेसे उठना उसके लिये असम्भव-सा हो गया। पुत्रकी ऐसी दशा देखकर राजाको बड़ी चिन्ता हुई।

राजगुरु ज्ञानानन्द बहुत ही बुद्धिमान् थे। उन्होंने विचार किया—'राजपुत्रका रोग असाध्य हो गया है; अब उसका आराम होना किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। इधर राजाको इतना मोह है कि वह पुत्रकी मृत्युका शोक सह नहीं सकेगा, भय है कि राजा भी अज्ञानवश पुत्रवियोगमें प्राणत्याग कर दे। यदि इस समय मैं स्वयं उसे कुछ ज्ञानकी बातें सुनाऊँगा तो उसपर कोई असर नहीं होगा, अतः किसी अन्य उपायद्वारा राजाको शोकमुक्त करना चाहिये। सच्चे गुरुका धर्म शिष्यको विपत्तिके तापसे बचाना है। धनका हरण करनेवाले गुरु तो गली-गली मिलते हैं।

गुरवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः।
तमेकं दुर्लभं मन्ये शिष्यहृत्तापहारकम्॥

मैं भी राजगुरु हूँ। अतः किसी उपायसे भी राजाकी हृदयव्यथाको निर्मूल करना आवश्यक है।

बहुत विचार करनेके बाद उन्हें एक युक्ति सूझी। वह तुरन्त राजाके पास आये और बोले—'राजन्! मेरे घरपर आज एक वैद्यराज आये हैं। मुझे विश्वास है कि वह अवश्य आपको शोकमुक्त कर देंगे!'

'तो महाराज! उनको शीघ्र राजमहलमें बुलवा लीजिये।' राजाने आतुर होकर कहा।

'राजन्! वह कुमारके लिये औषध तैयार ही कर रहे हैं। परन्तु पहले आपको उनकी एक शर्त पूरी करनी होगी'—राजगुरुने कहा।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

'महाराज ! ऐसी कौन-सी शर्त है जो मेरे राज्यमें पूरी न होगी ? राजकुमारके लिये मैं अपना तन, मन, धन—सर्वस्व न्योछावर करनेके लिये तैयार हूँ'—राजाने कहा।

'वह धनादिके भूखे नहीं हैं, वह औषधके मूल्यमें किसी सुखीके घरका केवल एक पैसा माँगते हैं; आपको यही देना होगा'—राजगुरुने उत्तर दिया।

'तो क्या मैं सुखी नहीं हूँ ?' राजाने शङ्कायुक्त प्रश्न किया।

'आप सब प्रकारसे सुखी ही हैं, तथापि 'चिन्तातुराणां न सुखं न निद्रा' इस न्यायके अनुसार आप इस समय राजकुमारकी व्याधिके लिये चिन्तातुर होनेके कारण सुखी नहीं कहे जा सकते'—राजगुरुने समाधान किया।

'आपका कथन ठीक है। मैं अभी जाता हूँ; शहरमें बहुतेरे सुखी मनुष्योंका निवास है; उनमेंसे किसी एक घरसे एक पैसा ला देता हूँ'—राजाने कहा।

राजगुरु तो अपने आश्रमपर लौट आये और राजा स्वयं 'सुखीकी खोजमें' निकल पड़ा। सबसे प्रथम वह नगरके मुखियाके घर पहुँचा। मुखिया धनीराम किसान था। वह धन, पुत्र तथा खेती आदिसे सब प्रकारसे सुखी-सा लगता था। घरके चौकमें बैठकर वह हुक्का पी रहा था; आस-पास दस-पाँच किसान बैठे वार्तालाप कर रहे थे। अकस्मात् राजाका आगमन देखकर मुखियाने अदबसे उठकर स्वागत किया और बैठनेके लिये आसन दिया।

'महाराज ! आज मेरी झोंपड़ी आपने पवित्र की'—मुखियाने कहा।

'धनीराम ! एक आवश्यक कार्यसे आज मैं तुम्हारे पास आया हूँ। हमारे राजगुरुके घर एक वैद्यराज आये हैं। वह राजकुमारके लिये दिव्य औषध ले आये हैं। परन्तु उनकी शर्त है कि मुझे सुखीके घरका एक पैसा चाहिये। तुम सुखी हो, अतएव तुम अपने घरका एक पैसा मुझे दो'—राजाने विस्तारसे सारा हाल सुनाकर ऐसे कहा।

'राजन् ! आपका कहना यथार्थ है। एक पैसा तो क्या, मेरे पास जो हो सब ले जाइये; परन्तु मैं सुखी नहीं हूँ। मुझे धन, खेती-बारी, पुत्र तथा इज्जत सब कुछ प्राप्त है; परन्तु मेरे घरमें स्त्री बड़ी कर्कशा है; दिनभर काम करके घरमें आनेपर वह निरन्तर कुवचनोंद्वारा मुझको जलाया करती है। मैं ऊपरसे सुखी दीखता हूँ परन्तु मेरे हृदयमें जो आग जल रही है उसने मेरे सब सुखोंको भस्म कर दिया है। महाराज ! 'बाहर मोटा घरमें टोटा' वाली कहावत मुझपर अक्षरशः चरितार्थ होती है'—मुखियाने विनय-पूर्वक आप-बीती सुना दी।

राजा लंबी साँस छोड़ता हुआ वहाँसे चल पड़ा। उसने मनमें विचार किया—ठीक है, जिसके घरमें स्त्री प्रतिकूल स्वभाववाली है वह तो नरकमें ही है। 'प्रतिकूलकलत्रस्य नरको नात्र संशयः' यह शास्त्रवचन मुझे गुरुजीने बतलाया था; अवश्य ही धनीराम सच्चा सुखी नहीं !

राजा चलते-चलते सीधे नगरसेठके घरपर आया। मुलायम गद्देपर बैठे सेठजी सौदा कर रहे थे; पासमें मुनीम लोग बैठे हिसाब-किताब समझा रहे थे। राजाको आया देख, सेठजीने उठकर उनका सत्कार किया तथा विनयपूर्वक आगमनका कारण पूछा। राजाने सारा हाल विस्तारसहित सुना दिया और अन्तमें कहा—'मेरी धारणामें आपके यहाँ पुत्र, स्त्री, बाग-बगीचे तथा धनादिका पूरा सुख है। अतः वैद्यराजकी शर्तके अनुसार आप अपने घरका एक पैसा मुझे दीजिये।'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

'महाराज ! आपकी दृष्टिमें तो मैं अवश्य सुखी हूँ; परन्तु अपनी दृष्टिसे मैं पूर्ण सुखी नहीं हूँ। धन कमाने और उसकी रक्षा करनेकी चिन्तासे मुझे रात-भर नींद नहीं आती; नित नये मुनीम-गुमास्ते रखने-पर भी व्यापारका कार्य सन्तोषजनक नहीं होता। पुत्रोंकी अवस्था छोटी होनेके कारण घरका भी सब काम मुझको ही देखना पड़ता है। राजन् ! एक पैसेकी क्या बात है, आप जितने रुपये चाहें ले जाइये; परन्तु मैं सुखी हूँ, इस नाते मैं एक पैसा भी नहीं दे सकता।'—नगरसेठने नम्रतापूर्वक निवेदन किया।

राजा वहाँसे भी उठकर चला। मार्गमें उसने सोचा, 'असन्तोषी सदा दुःखी' इस शास्त्र-वचनके अनुसार सेठ भी सुखी नहीं है। अभीतक राजाकी हिम्मत टूटी नहीं थी। वह दीवानके घरपर आया। दीवानजी भोजनादिसे निवृत्त होकर आराम करनेकी तैयारी कर रहे थे। एकाएक राजाको देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने राजाका यथोचित सत्कार करके आगमनका कारण पूछा। राजाने पूर्ववत् सारा वृत्तान्त सुनाकर उनके घरका एक पैसा माँगा। राजाकी बात सुनकर दीवानजीने कहा—'राजन् ! आपने मुझे सुखी कैसे मान लिया ? 'चिराग तले अँधेरा' वाली कहावतके अनुसार मेरे सारे पुत्र मूर्ख-प्राय हैं। वह देखिये एक तो अभी शराबके नशेमें बेहोश पड़ा है; दूसरा मेरी बात न मान वेश्याके घरपर निवास करता है और मौका पाते ही घरसे धन चुरा ले जानेमें जरा भी देर नहीं करता। अपनी गाढ़ी कमाईके पैसोंका इस प्रकार दुरुपयोग होते देख मैं बिना ही अग्नि जल रहा हूँ'—कहकर दीवानजीने उष्ण निःश्वास छोड़ा।

राजा वहाँसे भी उठा। मनमें सोचा—

मूर्खश्च पुत्रो विधवा च कन्या
विनाग्निनैते प्रदहन्ति कायम्॥

—इस नीति-वाक्यके अनुसार दीवान भी सुखी नहीं है।

सायंकाल हो जानेसे राजा राजभवनमें लौट आया। परन्तु विचारमग्न रहनेके कारण उसे रातको नींद न आयी।

प्रातःकाल होते ही नित्यकर्मसे निवृत्त होकर राजा फिर सुखीकी खोजमें निकल पड़ा। आज उसके मुखमण्डलपर कुछ निराशाकी छाया प्रतीत हो रही थी। घोड़ेपर सवार होकर वह सीधे विजय-नगरकी ओर रवाना हो गया और शीघ्र ही वहाँ जा पहुँचा। विजयनगरका राजा विजयसेन बड़ा प्रतापी और विद्वान् था। उस समय वह सभामें बैठकर विद्वानोंकी शास्त्रचर्चा सुन रहा था; चारों ओर सामन्त लोग अपने-अपने आसनपर बैठे थे। राजा सत्यव्रतको अकेले आया देख विजयसेनने उसका बड़ा सम्मान किया और बैठानेके बाद पूछा—'सत्यव्रतजी ! अंगरक्षकोंके बिना आप अकेले कैसे पधारे ? कुछ भय तो नहीं है ? आपका चेहरा उदास क्यों है ? मेरे योग्य कोई सेवा हो तो आप निस्संकोच कहिये।'

सत्यव्रतने अपने आनेका कारण तथा वैद्यराजकी शर्तका सब हाल सुना दिया। तदुपरान्त कहा—'महाराज ! आप इस समय सब राजाओंके शिरोमणि हैं; आसपासके सभी राजा तथा स्वयं मैं भी आपको नियमित कर देता हूँ। इस समय आप सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार आप अत्यन्त सुखी हैं; अतः आप अपने घरका एक पैसा मुझे दीजिये।'

'सत्यव्रतजी ! आप क्यों भूल रहे हैं ? मेरे समान दुःखी तो इस जगत्में कोई भी न होगा। मुझे इस बड़े राज्य, वैभव और समृद्धि आदिका तो सम्पूर्ण

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सुख है; परन्तु मेरे पीछे उनका उपभोग करनेवाला कोई नहीं है। इसी चिन्तामें मैं रात-दिन घुला करता हूँ। 'अपुत्रस्य गृहं शून्यम्' इस शास्त्रवचनानुसार मेरा घर तो श्मशानवत् शून्य है। राजन्! आपका पुत्र मेरा ही पुत्र है। उसके शरीर-रक्षणार्थ मेरी यह सारी समृद्धि तैयार है। परन्तु सुखीके घरके एक पैसेकी यदि जरूरत हो तब तो आप किसी अन्य स्थानमें जाइये। मैं तो आकण्ठ दुःखसागरमें डूबा हूँ।' इतना कहते-कहते विजयसेनने अपने अश्रुपूर्ण नेत्र बंद कर लिये।

विजयसेनके वाक्योंको सुनकर सत्यव्रत तो दिङ्मूढ़-सा हो गया। वह तुरन्त वहाँसे अपने नगरके लिये विदा हो गया। नगरमें आकर वह बारी-बारीसे उन सब लोगोंके पास गया जो बाहरसे सुखी मालूम होते थे। परन्तु धन, शरीर, पुत्र, शत्रुके उपद्रव आदि किसी-न-किसी कारणसे उसे सब दुःखी ही मिले। अन्तमें निरुत्साह होकर वह राजभवनमें लौट आया।

दूसरे दिन प्रातःकाल राजगुरु ज्ञानानन्दजी राजमहलमें आये। राजाने यथायोग्य उनकी पूजा की तथा दण्डवत्-प्रणाम किया। राजगुरुने प्रश्न किया—'क्यों राजन्! वैद्यराजकी शर्तके अनुसार पैसा मिला?'

'महाराज! इस नगरके एक साधारण-से-साधारण मनुष्यसे लेकर मैं विजयनगरके चक्रवर्ती राजाके दरबारतक गया। परन्तु सुखीका पैसा कहीं नहीं मिला। सबने अपनेको मुझसे भी अधिक दुःखी बतलाया। अतः मैंने निश्चय किया है कि 'एक दरिद्र मनुष्यसे लेकर चक्रवर्ती राजापर्यन्त कोई भी मनुष्य सुखी नहीं है। वैद्यराजसे कहकर आप किसी अन्य उपायसे कुमारकी चिकित्सा कराइये, मैं राजकुमारके लिये अपना सारा राज्य देनेको तैयार हूँ'—सत्यव्रतने भर्रायी हुई आवाजसे कहा।

राजन्! सत्य बात यह है कि मेरे घरपर कोई वैद्यराज नहीं आये हैं। इस उपायके अतिरिक्त अन्य किसी तरह भी आपको ज्ञान नहीं हो सकता था, इसी कारण मैंने यह एक युक्ति रची थी। राजन्! जब इस जगत्में एक दरिद्र मनुष्यसे लेकर चक्रवर्ती राजातक कोई भी सुखी नहीं है, तो फिर आप किस प्रकार सुखी हो सकते हैं? केवल सन्तोषसे ही सुख मिलता है। उस सुखके बराबर और किसी उपायसे सुख नहीं मिल सकता। इसीलिये कहा है—

न चेन्द्रस्य सुखं राजन् न सुखं चक्रवर्तिनः।

राजन्! स्त्री, पुत्र, राज्य तथा वैभव आदि सब साधन लौकिक दृष्टिसे क्षणभर सुखरूप प्रतीत होनेपर भी अन्तमें विषके समान दुःसह बन जाते हैं। यदि संसारके ये सुखसाधन सच्चा सुख देनेवाले होते तो भर्तृहरिके समान विद्वान् राजा एकान्तसेवन तथा प्रभुभक्तिको क्यों उत्तम समझते? सुख-दुःखादिमें केवल हमारा मन ही कारण है। जिस प्रकार समुद्रमें ज्वारभाटा आया करता है परन्तु उससे समुद्रको कोई हर्ष-विषाद नहीं होता, उसी प्रकार सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंको ईश्वरकृत स्वाभाविक समझकर मनुष्यको चाहिये कि वह उनमें लिप्त न हो। भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीतामें स्पष्ट घोषणा की है कि—

अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्॥

'इस अनित्य और सुखरहित लोकको प्राप्त होकर मेरा भजन करो।' अतएव जो संसारको दुःखरूप और अनित्य जानकर इससे मोह नहीं करता और भगवान्में चित्त लगाता है, वही सुखी होता है। भगवान्में चित्त लगानेपर संसारमें सर्वत्र भगवान् दिखायी देते हैं, उस अवस्थामें उसके लिये यही

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

संसार परम सुखरूप हो जाता है। फिर वह सुख-दुःख किसी भी अवस्थामें अपनी स्थितिसे विचलित नहीं होता। इसलिये हे राजन्! तुम इस तत्त्वको समझकर भगवान्‌के भजनमें मन लगाओ।

इस प्रकार राजाको ज्ञानोपदेश कर राजगुरु अपने घर चले गये। राजाका चित्त शान्त हो गया। कुछ ही दिनों बाद रोगपीड़ित राजकुमारकी मृत्यु हो गयी। गुरुके दिये हुए ज्ञानके प्रभावसे राजाको तनिक भी शोक नहीं हुआ। उसने अपने हाथों पुत्रकी अन्त्येष्टि क्रिया करके अपना शेष जीवन भगवच्चिन्तनमें बिताना आरम्भ किया जिससे अन्तमें राजाको भी सद्गति प्राप्त हुई। अतः मनुष्यमात्रको भगवान्‌का भजन करना चाहिये, और इस दुःखालय जगत्‌के सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंको सहनकर, उनके अंदर प्रभु-कृपा-का अनुभवकर सदा समबुद्धि रखनी चाहिये। इस प्रकार समबुद्धि होनेपर राजा सत्यव्रतकी तरह 'सुखीकी खोजमें' घूमना नहीं पड़ता तथा अन्तमें भगवत्-प्राप्ति होती है।

माँ दुर्गाके प्रति

(श्याम कल्याण—तीनताल)

उनके पास न जाऊँगा मैं ॥ टेक ॥
पास तुम्हारे आया मैं तो, तुमसे ही वर पाऊँगा मैं ॥ टेक ॥
औघड़ दानीके ढिग क्या है? तुमसे ही सब कुछ उनका है।
संग्रह कर तुम रखो नहीं तो, देवें क्या, क्या पास धरा है ॥
केवल एक तुम्हारे सम्मुख, यह निजकर फैलाऊँगा मैं ॥ टेक ॥
कुल शरीरमें भस्म रमाये। गंगाको सरपर बिठलाये ॥
रक्तनेत्र, छाने अति विजया, सर्पोंको तनमें लिपटाये ॥
देख उन्हें भय लगता मुझको, तुमतक ही माँ! जाऊँगा मैं ॥ टेक ॥
आया तुमतक दुखका मारा। चरण-शरणका मिले सहारा ॥
माँ दुर्गे! मुझको अपनालो, जैसा भी हूँ, अम्ब! तुम्हारा ॥
यदि तुमने भी त्याग दिया तो, ठौर कहाँ फिर पाऊँगा मैं ॥ टेक ॥
महिषासुरका मद मर्दनकर। चंड मुंडका जीवन ही हर ॥
रक्तपान कर रक्तबीजका, लिए हाथमें शोणित-खप्पर ॥
क्षमा मुझे कर अपनालो अब, जीवनभर गुण गाऊँगा मैं ॥ टेक ॥
पुत्र कुपुत्र भले हो जाता। माता होती नहीं कुमाता ॥
दुष्टोंका कर नाश, शरण दो, मातु कालिके! रक्त-स्नाता ॥
नाद 'चंडिकेकी जय' का कर, अजय, अभय हो जाऊँगा मैं ॥ टेक ॥

—पद्मकान्त मालवीय

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गुरुतत्त्व और कबीर साहब

(लेखक—पं० श्रीपरशुरामजी चतुर्वेदी)

(१)

सतगुरकी महिमा अनँत, अनँत किया उपगार।
लोचन अनँत उघाड़िया, अनँत दिखावणहार॥
(कबीर)

संतपरम्पराके एक प्रमुख मार्गप्रदर्शक एवं सच्चे साधक प्रसिद्ध कबीर साहबका कोई प्रामाणिक जीवनचरित अभीतक उपलब्ध नहीं, परन्तु उनकी रचनाओंको ध्यानपूर्वक देखनेसे पता चलता है कि अपने ऐहिक जीवनपर विचार करते समय सदा वह उसे दो भिन्न-भिन्न भागोंमें विभक्त समझा करते थे जिनमेंसे पहला बहुत साधारण किन्तु दूसरा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रहा। इस दूसरे अंशके आरम्भमें ही उनके विचारोंमें एक क्रान्ति उत्पन्न हुई थी जिसके कारण उनका कायापलट-सा हो गया और उसी समयसे उनकी नवीन साधनाओंका भी श्रीगणेश हुआ जिससे आगे चलकर उन्हें परम शान्ति मिल सकी। दूसरे अंशकी अपेक्षा पहलेको वह इसी कारण उपेक्षाकी दृष्टिसे देखा करते थे और इस बातके लिये कदाचित् उन्हें बराबर पश्चात्ताप रहा कि हमारा यह दूसरा जीवन कुछ और भी पहले क्यों न आरम्भ हुआ। जो हो, इस दूसरे जीवनके आविर्भावका सम्पूर्ण श्रेय वह अपने गुरुतत्त्वके अनुभवको ही देते हुए जान पड़ते हैं और यह मान लेना कदाचित् अनुचित न होगा कि गुरुतत्त्वकी कल्पना वास्तवमें उनके सारे मुख्य-मुख्य सिद्धान्तोंका मूल स्रोतस्वरूप है। आगे हम उसी गुरुतत्त्वकी महिमा, उसके प्रभाव तथा स्वरूप आदिका वर्णन, यथासाध्य कबीर साहबके ही शब्दोंमें करते हुए उसके रहस्यको स्पष्ट करनेकी चेष्टा करेंगे।

कबीर साहबने गुरुतत्त्वको 'गुरु' 'सतगुरु' अथवा 'गुरुदेव' के नामसे व्यक्त किया है और उसकी महिमा बड़ी भक्ति और श्रद्धाके साथ गायी है। सतगुरुकी महिमाको वह 'अनन्त' बतलाते हैं। कहते हैं कि गुरुकी कृपासे 'अकथ कहानी' अथवा परमतत्त्वके रहस्यका पता चल जाता है और उसके द्वारा गूढ़ातिगूढ़ विषयके 'सम्पट' अथवा पिटारीका भी बिना प्रयास खुल जाना सम्भव है। उसकी कृपासे अनन्त शक्तियोंका प्रादुर्भाव हो जाता है और 'सूईके नाकैं' से होकर 'हाथी' का आना-जाना तथा वस्तुतः मरे हुएका जीवित रह जानातक असम्भव नहीं कहा जा सकता। गुरुदेव अत्यन्त 'विचक्खन' अथवा प्रवीण हैं। वह 'सांचा सूरिवां' अथवा शूरवीर है जिसका छोड़ा हुआ बाण बिना चोट किये नहीं रह सकता। उसमें 'सिकलीगर' के समान (हृदयरूपी दर्पणको स्वच्छ एवं निर्मल करने तथा 'लोहार' के समान उसे) तपाकर युक्तियोंद्वारा 'कंचन' बना देनेकी अपार शक्ति है। उसके बलपर हम 'उस' अनिर्वचनीय स्रोतको पाकर उसकी अमृतधारासे लाभ उठा सकते हैं अथवा बार-बारके आवागमनसे मुक्त भी हो सकते हैं। वह स्वयं घायल और प्रेमी है तथा उस 'रूप और रेखा' से रहित गानेवालेका 'लखाने' वाला एकमात्र 'जोगी' एवं 'अद्भुत' का वर्णन करनेवाला विशेषज्ञ भी है। उसे पूजनेवालेके लिये मूर्तिपूजा आदिकी आवश्यकता नहीं क्योंकि वह स्वयं 'जागता देव' है। उसके बिना न तो वैराग्य हो सकता है और न सच्चे मार्गका पता ही चल सकता है। संसारमें उसके सिवा दूसरे किसीका भी भरोसा नहीं किया जा सकता क्योंकि उसके समान दूसरा कोई भी 'सगा' अथवा आत्मीय नहीं है। वही एक है जिसके प्रभावमात्रसे संशयकी विविध विघ्न-बाधाओंकी हमारे यहाँ दाल नहीं गल पाती क्योंकि उन्हें सदा दूर रखनेके लिये वह खेतोंके 'विझुका' का-सा काम किया करता है। वह स्वयं तिरने एवं तारनेकी शक्ति रखता है और उस 'खेवट' की सहायतासे हम बेधड़क पार उतर सकते हैं।

इसी प्रकार इस उपर्युक्त महिमागानके साथ ही कबीर साहबने अपनी रचनाओंद्वारा अपने निजी अनुभवकी बातें भी कही हैं जिनसे जान पड़ता है कि वह गुरुदेवका किस प्रकार उपकार मानते थे। वह कहते हैं कि गुरुदेवने मुझे, 'लोकवेदके' पीछे-पीछे लगा हुआ, अन्धकारमें प्रवेश करता देखकर कृपापूर्वक एक ऐसा 'दीपक'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दे दिया जिसके 'तेल' और 'बाती' के 'अघट' अथवा अक्षय होनेके कारण आलोक कभी कम नहीं हुआ और मैं यथाभिमत आत्मोन्नति करनेमें कृतकार्य हो सका। मैं अपनी जर्जर नावमें बैठा-बैठा डूबने ही जा रहा था कि गुरुदेवके प्रकाशने अचानक पहुँचकर मुझे बचा लिया और मैं शीघ्र भागकर अलग हो गया। उसने मुझपर प्रसन्न होकर एक ऐसा 'प्रसङ्ग' अथवा रहस्य बतला दिया जिसके प्रेमरसकी वृष्टिसे मैं एकदम सराबोर हो गया। उसकी बातोंने 'उघाड़े अङ्ग' में लगे हुए विषैले तीरके समान, अपना प्रभाव पूर्णरूपसे व्याप्त कर दिया। सभी भ्रान्तियाँ एकाएक दूर हो गयीं और संशयके शूल सभी कुण्ठित और नष्ट-भ्रष्ट हो गये और तत्क्षण एक ऐसा मार्ग प्रत्यक्ष हो गया तथा इस प्रकार 'अवघट'में 'घाट' मिल गया कि 'घट' के भीतर ही मुझे उस 'अवघट' से पूर्ण परिचय भी हो गया। वास्तवमें वह मुझे 'माटी खोजते' ही मिला था किन्तु उसके द्वारा मैं 'अलख' तकको लखनेमें समर्थ हो गया। उसने एक ऐसा 'पलीता' दिया जिससे 'ब्रह्म' तक दीख पड़ने लगा। उसने मुझे 'मीठा गुड़' और 'अमृत-फल' दिया अथवा 'अमृतरस' चखा दिया। उसने 'गुप्त हीरा' प्रकट कर दिया और 'हरिधन' ऐसी वस्तु प्रदान की। उसने मेरे 'कामक्रोध' जला दिये और 'परमपद' तक पहुँचाकर मुझे 'अमर' कर दिया जिससे शरीरमें 'अनित कथा' अथवा अनिर्वचनीय अवस्थाका सञ्चार होनेके कारण, मेरी दशा विचित्र हो गयी। गुरुदेवने मुझे एक ऐसा 'दाव' बतला दिया है जिसके अनुसार खेल करता हुआ मैं सदा आनन्दमें विभोर रहता हूँ। उसने उस 'बिरवा' को स्वयं देखा है और वह अपने रूपको भलीभाँति पहचानता है इसलिये उसने 'ततसार' अथवा मूलतत्त्वको मुझे इस प्रकार समझा दिया है जिससे 'अनमै' विस्तारको निरर्थक मानने लगा हूँ। अब मेरी जाति-पाँति अथवा कुलके सभी बंधन छिन्न-भिन्न हो गये और मैं अनेक हानियोंसे बच गया। मैं उस गुरुदेवका प्रतिदिन सौ-सौ बार बलिहारी जाता हूँ जिसने मुझे क्षणभरमें ही मनुष्यसे देवतुल्य बना दिया, 'अनन्त' के दर्शनार्थ 'अनन्त' नेत्र खोल दिये और ऐसा उपकार कर दिया जिसके बदलेमें मेरी समझमें नहीं आता कि मैं क्या अर्पण करूँ और मन-ही-मन इसकी अभिलाषा नित्यशः बनी ही रहती है। सारांश यह कि गुरुदेवसे मैं कभी उऋण नहीं हो सकता।

(२)

कबीर पंगुड़ा अलूह रामका, हरि गुर पीर हमारा।

(कबीर)

कबीर साहबद्वारा गुरुदेवका महिमागान सुनकर अथवा उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशन देखकर सहसा इस विचारका उठना स्वाभाविक है कि कोई-न-कोई महापुरुष इनका गुरु अवश्य रहा होगा और इसीलिये इनके अनुसार गुरुतत्त्वका स्वरूप भी किसी व्यक्तिके रूपमें ही होना चाहिये। परन्तु कबीर साहबकी उपलब्ध प्राचीन एवं प्रामाणिक रचनाओं (कम-से-कम 'काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा' द्वारा प्रकाशित 'कबीरग्रन्थावली' तथा उसके परिशिष्ट भागमें दिये गये 'आदिग्रन्थ' वाले उनके पद्यों) को देखनेपर यह निष्कर्ष निर्भ्रान्त नहीं रह जाता। 'कबीरग्रन्थावली' अथवा 'आदिग्रन्थ' में आयी हुई अपनी रचनाओंमें वह कहीं भी किसी व्यक्तिविशेष-को अपना गुरु स्वीकार करते हुए नहीं दीख पड़ते। शुकदेव, गोरखनाथ, भरथरी, जयदेव तथा नामदेवके नाम यदि उन्होंने किञ्चित् गुरुवत् अथवा श्रद्धेय व्यक्तिवत् लिये भी हैं तो वे उनके समकालीन नहीं ठहरते। हाँ, गोमती नदीके तीरपर निवास करनेवाले किसी समकालीन 'पीताम्बर पीरु' का नाम उन्होंने इस ढंगपर अवश्य लिया है जिससे उस विचित्र नामधारी व्यक्तिके प्रति उनकी प्रगाढ़ भक्तिका थोड़ा-बहुत दिग्दर्शन हो जाता है। परन्तु उक्त महापुरुषकी ऐतिहासिकता सिद्ध करना अभीतक सम्भव नहीं जान पड़ता। इस कारण, केवल किसी एक पदमें, साधारणरूपसे प्रकरणमात्र आ जानेसे, हम उन्हें कबीर साहबका गुरु नहीं मान सकते। कबीर साहबके गुरुके रूपमें, परम्परानुसार, प्रसिद्ध स्वामी रामानन्दका भी नाम बहुधा लिया जाता है, किन्तु इस बातकी पुष्टि उपर्युक्त ग्रन्थोंमें आयी हुई रचनाओंद्वारा किसी भी प्रकार नहीं हो पाती। उक्त 'ग्रन्थावली' की एक साखी (सा० ४८, पृ० ४९)—

कबीर बन बन मैं फिरा, कारणि अपणैं रांम।
रांम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब कांम॥

—से केवल इतना ही सूचित होता है कि कबीर साहबको, बहुत भूलने-भटकनेके उपरान्त, कुछ अथवा कोई भगवान्‌के समान ही सच्चे संत मिले जिनके द्वारा उनके अभीष्टकी सिद्धि किसी प्रकार प्राप्त हो सकी। इससे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अधिक इस पद्यका अर्थ, इस विषयके सम्बन्धमें निकालनेकी चेष्टा करना ठीक नहीं।

बल्कि कबीर साहबकी प्रवृत्ति किसी व्यक्तिकी अपेक्षा ज्ञान अथवा विवेकको ही अपना गुरु स्वीकार करनेकी ओर अधिक स्पष्ट दीख पड़ती है। उदाहरणके लिये उक्त 'ग्रन्थावली' के १५५ वें पद (पृ० १३९) से ज्ञानका 'बाँका गुरु' होना समझ पड़ता है और उसी ग्रन्थके परिशिष्ट भागमें दिये गये ३० वें पद (पृ० २७३) की अन्तिम पंक्ति—

'कहु कबीर मैं सो गुरु पाया जाका नाउ विवेको' से स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि वे 'विवेक' को ही अपना गुरु मान चुके हैं। इसी प्रकार एक स्थलपर कहीं वे 'सबद गुरुका चेला' कहकर 'शब्द' को ही गुरुवत् स्वीकार करनेके लिये प्रस्तुत जान पड़ते हैं और 'ग्रन्थावली' के १५३ वें पद (पृ० १३७) के 'जगत गुरु अनहद कींगरी बाजै' इत्यादिसे यह निष्कर्ष भी निकाला जा सकता है कि 'अनाहत शब्द' उनके अनुसार, कहीं जगद्गुरुतक न समझा जाता हो। परन्तु 'ग्रन्थावली' के ही ३९० वें पद (पृ० २१८) में जगद्गुरुकी उपाधि वह 'जगत गुर गोव्यंद रे' द्वारा स्पष्टरूपमें स्वयं भगवान्को ही प्रदान करते हुए दीख पड़ते हैं और २९२ वें पद (पृ० १८७) में उन्होंने परमात्माको 'परम गुर' मानकर भी सम्बोधित किया है। अतएव 'ज्ञान', 'विवेक', 'शब्द' अथवा 'अनाहत' आदिको भी, उनके अनुसार गुरुतत्त्वका स्वरूप मान लेना एकदम निर्विवाद नहीं कहा जा सकता।

वास्तवमें उनकी अधिकांश ऐसी रचनाओंपर विचार करनेसे यह बात कहीं अधिक युक्तिसंगत जान पड़ती है कि अपने गुरु और परमात्मामें वे मूलतः कोई भेद नहीं मानते थे क्योंकि बहुत-से स्थलोंपर जो-जो उद्गार उन्होंने गुरुके प्रति प्रकट किये हैं उनमेंसे अनेक राम, गोविन्द, केशव, हरि आदिके सम्बन्धमें भी व्यक्त हुए हैं और इन दोनों वर्णनोंकी भाषा एवं ढंगतक प्रायः एक ही समान हैं, जैसे—

गुरुविषयक

१—पीछै लागा जाइथा, लोक वेद के साथि।
आगैं थैं सतगुर मिल्या,
इ० सा० ११, पृ० २।

२—जे वेधे गुर अष्षिरां, तिनि संसा चुणि चुणि खद्ध,
इ० सा० २२, पृ० ३।

३—अवरन पाइयै गुरकी साम,
इ० (परिशिष्ट) पद १६, पृ० २६९।

४—गुर प्रसादि अमृत फल पाया,
.....पूरा मिल्या तबैं सुष उपज्यौ
इ० पद ७२, पृ० १११।

५—लागी चोट सबदकी, रह्या कबीरा ठौर,
सा० ८, पृ० ६४।

इसके सिवा इस भावसाम्यके साथ ही हमें 'गुर गोविन्द तौ एक है' (सा० २६, पृ० ३) के समान भी उनके एकाध वर्णन देखनेको मिलते हैं और कहीं-कहीं हम उनको एक ही साथ 'धन्न गुपाल धन्न गुरदेव' (परिशिष्ट) प० १२१, पृ० २९९ तथा 'सीवराम सतगुर-की सेवा' प० ३४५ पृ० २०४ एवं 'साचा नावण गुरुकी सेवा' (परिशिष्ट) प० १, पृ० २६४ आदि भी कहते हुए

हरिविषयक

१—कबीर चाल्या जाइ था, आगैं मिल्या खुदाइ,
इ० सा० ५१४, पृ० ५२।

२—कबीर केसौकी दया संसा धाल्या खोइ,
इ० सा० ७५१, पृ० ७९।

३—जब गोविंद कृपा करी तब गुर मिलिया आइ,
इ० सा० १३, पृ० २।

४—कहै कबीर मैं पूरा पाया, मया राम परसादं,
प० २८१, पृ० १८४।

५—तुम्ह बिन रांम कवन सौं कहिये,
लागी चोट बहुत दुख सहिये।
बेध्यो जीव बिरहके भालै,
इ० प० २८७, पृ० १८५।

पाते हैं, इन्होंने 'सर्व सखाका एक हरिस्वामी सो गुरु नाम दयो' (परिशिष्ट) प० १२९, पृ० ३०२ भी कहा है और अपनेको भगवान्का 'तालिब' अर्थात् ढूँढ़नेवाला बतलाते हुए 'हरी गुर मोरा' को अपने भीतर 'गोपत' अथवा अन्तर्हित भी माना है। इसी प्रकार उन्होंने 'राम' से प्रार्थना करते समय एक स्थल (प० १२०, पृ० १२६) पर यहाँतक स्पष्ट कर दिया है कि 'तुम्ह सतगुर मै नौतम

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चेला' हूँ, अतएव उनका स्वयं भगवान्‌को ही गुरुवत् स्वीकार करना सिद्ध हो जाता है।

सच्ची बात तो यह है कि जिस पूर्णावस्थाकी दृष्टिसे कबीर साहब इस विषयमें कथन कर रहे हैं उसकी प्राप्तिके अनन्तर गुरु एवं चेलेका प्रश्न कोई महत्त्व ही नहीं रखता। जब वह अपनेको 'अलह रांम' का 'पंगुड़ा' अथवा बालक बतलाते हुए फिर 'हरि' को 'गुर पीर हमारा' भी कहते हैं तो भगवान्‌को वह वास्तवमें सब कुछ समझ लेते हैं। उनका 'मेरा मुझमें कुछ नहीं जो कुछ है सो तोरा' समझना उनसे पूर्णरूपेण आत्मसमर्पण करा लेता है और वह वस्तुतः लवणसमुद्रमें पड़ी नमककी पुतलीके समान उसीमें घुलमिल जाते हैं। फिर तो रमैणी पृ० २४३ में वर्णित—

नाद बिंद रंक इक खेला, आपैं गुरू आप ही चेला।

—वाली स्थिति आ जाती है और जायसीके शब्दोंमें उनके विषयमें हम यहाँतक कहनेपर तैयार हो जाते हैं कि—

आपुहि गुरु सो आपुहि चेला। आपुहि सब औ आपु अकेला॥

(जायसीग्रन्थावली का० ना० प्र० स० पृ० १००)

भगत मनसूर

(कहानी)

(लेखक—श्रीसबनाराइनजी)

ईरान मुसलमानी देश है। वहाँके बैज़ा नामक गाँवमें मनसूरके घर हुसैन नामक एक लड़का पैदा हुआ। गुजरातकी तरह, ईरानमें आजतक यह नियम है कि पुत्र और पिताका नाम मिलाकर बोलते हैं! बालकका नाम पड़ा—हुसैन वल्द मनसूर! इतिहासका प्रसिद्ध 'मनसूर' वास्तवमें 'हुसैन' था! बात यह हुई कि हुसैनने अपनेको पिताके रूपमें तदाकार कर दिया। इसलिये 'जनता-जनार्दन' या 'पबलिक-परमात्मा' उसको 'मनसूर' के नामसे पुकारने लगी। मनसूरके जीवनकी यह प्रथम, 'विचक्षण बात' थी। मुसलिम-बादशाहतकी डोरी मज़हब यानी धर्म-ग्रन्थमें रहती आयी है। इस कारण, ईरानमें उस समय, सोलह आना 'क़ुरानका राज्य' था। सफ़ेद दाढ़ीवाले मौलवी लोगोंकी जमात ही—बादशाहेवक्तकी—पारलामेंट थी। पारलामेंट ही गवरनमेंटका काम करती है। बादशाहका तो काम है—केवल देखना! जब भगत मनसूरकी देहने जवानीका चोगा पहना, तब वे पबलिकमें ऐसे लेकचर देने लगे कि जो कुरान-के उपदेशोंसे ख़िलाफ़ समझे जाते थे! जब वे ३५० लेकचर दे चुके तब पुलिसने उनको गिरफ्तार किया। खास शहर ईरानके कोतवालकी कचहरीमें मुकदमा चला। कचहरीमें हाकिम, पेशकार, सरकारी वकील और पुलिस अफ़सर अलग-अलग कुरसियोंपर विराजमान थे। हाकिमकी मेज़पर दो किताबें—अटीक और सटीक 'कुरान' रक्खी थीं। इसके सिवा—कागज, कलम और दावात! दो पुलिसके सिपाही, एक 'सुन्दर और बहादुर' लड़केको हथकड़ी डाले लाये! सब लोग उसे देखकर दंग रह गये! इतना सुन्दर बालक तो कभी देखा नहीं था! उसके रोम-रोमसे प्रसन्नता और आह्लाद बरस रहा था। उसके नयन एकाग्र थे! उसके बाल कमरतक झूल रहे थे। वह धनवान् और बड़े घरका बेटा था। वह बिलकुल बेक़सूर था। उसे ईरानकी बादशाहतने 'सूलीवाली फाँसी' दी थी।

हाकिम—मनसूर!

पर, मनसूर चुप रहे।

हाकिम—मनसूर!

पर, मनसूर चुप रहे।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हाकिम–मनसूर !

मनसूर–कहाँ है मनसूर ? बंद घड़ेमें मक्खी भरी हैं—वह घड़ा एक तालाबमें औंधा तैर रहा है। कभी-कभी—तालाब उस घड़ेका ढक्कन उचकाकर किसी मक्खीको बाहर बुला लेता है। उसी मक्खीको असली भगत समझो। जब मक्खी उस पार है तो इधर मनसूर कहाँ ? वह तो मर गया—

मैंने सुना—ग़रूरमें, तुम—परदेनुमा हो !
लो ख़ाक हो गया मैं, तुम—जलवेनुमा हो !!

(२)

हाकिम–पेशकार साहब ! आप क्या समझे ?

पेशकार–मुज़रिम कहता है कि इंसानको ख़ुदा अपने पास बुला सकता है। जो लोग मालिकके महलमें हाज़िर रहते हैं—उनमें एक मनसूर भी है। उसके बयानका यही मतलब है।

हाकिम–सरकारी वकील साहब ! आप क्या समझे ?

सरकारी वकील–मेरी रायमें यह लड़का ज़्यादा विचार करनेकी वजहसे 'पागल' हो गया है। इसको पागलखानेके डाक्टरको दिखलाइये।

तत्काल सरकारी पागलखानेके 'सुपरडंट'को बुलाया गया। उसने आकर एक बड़ा-सा आईना मेज़पर रख दिया। मनसूरकी कमरसे मस्तकतककी छाया पड़ने लगी। उस छायाकी जाँच करके बूढ़ा 'सुपरडंट' फूट-फूटकर रोने लगा और मनसूरके चरणोंपर अपनी नाक रगड़ने लगा। बड़ी देरमें चुप होकर उसने हाकिमको यों बयान लिखाया—'इस लड़केमें दिलकी जगहमें शून्य है और दिमाग़ सोलह आने हो गया है। हर एक जीवमें थोड़ा दिल और थोड़ा दिमाग़ रहता है। क़सम क़ुरानकी—यह लड़का तो ख़ुदा बादशाह-का 'एक शाहज़ादा' बन गया है। इसे छोड़ दीजिये। यह पागल नहीं है।'

हाकिम–सुपरडंट साहब ! ज़रा वकील साहबकी जाँच कीजिये। आईना वकीलकी तरफ़ घुमाया गया। सुपरडंटने कहा—'इनमें दिल तेरह आना और दिमाग़ तीन आने हैं।'

हाकिम–अच्छा, पेशकारकी जाँच कीजिये।

सुपरडंट–इनमें दिल आठ आने और दिमाग़ भी आठ आने।

हाकिम–पुलिस अफ़सरका भी हाल बतलाइये।

सुपरडंट–इनमें दिल है दो आने और दिमाग़ है चौदह आने।

हाकिम–मेरी भी जाँच कीजिये।

सुपरडंट–आपमें बारह आने दिल और चार आने दिमाग़ है।

हाकिम–दिल क्या चीज और दिमाग़ क्या चीज़ ?

सुपरडंट–क़ुदरतका हिस्सा दिल है और ख़ुदाका हिस्सा दिमाग़ है ! दिल और दिमाग़को—मन और बुद्धि भी कहते हैं। इतना कहकर सुपरडंट चला गया।

(३)

हाकिम–वकील साहब ! यह 'सुपरडंट' क्या कह गया ?

वकील–भला साहब, क्या पागलखानेका सुपरडंट पागल न होगा। उसकी किसी बातपर यक़ीन लाना हिमाक़त है। अगर वह पागल न था तो बिला वजह इस क़दर रोया क्यों था कि सारी कचहरी थर्रा गयी।

हाकिम–मनसूर ! तुम किस गाँवमें रहते हो ?

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मनसूर—मेरे गाँवको अगर आप देख लोगे तो हाकिम, हुक्म और हुकूमत तीनों चीजें खो जायँगी !

हाकिम—और मैं क्या करूँगा ?

मनसूर—मेरी तरह दर-दरकी ठोकरें खाते फिरोगे !

हाकिम—तुम शिया मुसल्मान हो या सुन्नी ?

मनसूर—मैं न 'स्याह' मुसल्मान हूँ, और न 'सफ़ेद,' शैतानकी पार्टीवालोंके लिये यह स्याह-सफ़ेदका भेद है ! खुदाकी पार्टीमें—सिर्फ एक ही चीज है ।

हाकिम—तुम्हारे बापका क्या नाम है ?

मनसूर—मेरे दो बाप हैं । एक—ज़मीनवाला बाप और दूसरा आसमानवाला बाप ! ज़मीनवाला बाप मर गया ! मुर्देका नाम लेना बेकार है! और आसमानी बापका नाम आजतक कुछ भी नहीं रक्खा जा सका !

हाकिम—तुम्हारी उम्र क्या है ?

मनसूर—उम्र ! सूरज और चाँद इन दो लालटेनोंकी रोशनीको कहा जाता है—उम्र ! चूँकि ये दोनों लालटेनें मायामें हैं, इसलिये उम्रका हिसाब-किताब भी मायामें है ! और—मैं मायामें हूँ नहीं ।

हाकिम—पेशकार साहब ! मैं इस खूबसूरत लड़केको सजा नहीं देना चाहता । इस मुक़दमेको बादशाहतकी पारलामेंटमें भेज दो ।

(४)

पारला०—तुमपर यह इलज़ाम है कि तुम क़ुरानके खिलाफ़ लेकचर देते हो और अपनेको खुदा कहते हो ।

मनसूर—क़ुरान एक किताब है ! मैं खुद एक—नयी क़ुरान हूँ । मैं नहीं जानता कि तुम्हारी क़ुरान क्या कहती है !

पारला०—तुम अपनेको खुदा क्यों कहते हो ?

मनसूर—शिव ही सब है, वह एक ही अनेक है ! अंकगणितकी सारी गिनती एकमें ही लीन है ! खुदा और जुदा—अगर दो चीजें हैं तो दो एकसे बने या दोनों आसमानसे कूदे थे ?

पारला०—तुमको क़ुरानकी इज्ज़त नहीं ?

मनसूर—मैं अपनी क़ुरानकी इज्ज़त खूब करता हूँ !

पारला०—तुमको पैग़म्बरकी परवा नहीं ?

मनसूर—पैग़म्बरने जो दर्जा पास किया, मनसूरने भी वही दर्जा पास किया । बराबरीवाले—परवा नहीं किया करते । जब विद्यार्थी एम० ए० पास हो गया तो वह खुद एक मास्टर हो गया ।

पारला०—तुम्हारे मास्टर हज़रत शिवलीने तुमको अन्तिम शिक्षा क्या दी थी ?

मनसूर—उन्होंने कहा था कि 'मित्र ! प्रेम-प्रवीण ब्रह्मके लेकचर, माया-प्रवीण पबलिकके सामने मत दो ! क्योंकि—माया यानी क़ुदरत नहीं चाहती कि उसके अंदर खुदाका जिक्र जगह पाये ! वह—खुदाकी दुश्मन है ! क्योंकि वह खुद खुदा बनी बैठी है ।

पारला०—मास्टरका आर्डर न मानना जुर्म है या नहीं ?

मनसूर—अब मेरा कोई मास्टर नहीं ! नहीं तो हज़रत शिवली, मुझे मित्र न कहते ! हज़रत शिवली—क़ुदरतसे लड़नेमें डरते थे । मैं चाहता हूँ कि 'क़ुदरत मादर' की हुकूमत पबलिकपर न रहे और पबलिक 'खुदा फ़ादर' की भगत बन जावे ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पारला०—तुमको क़ुदरतका डर नहीं ?

मनसूर—क़ुदरत खुद डरती है वरना मुक़दमा क्यों चलाती ?

पारला०—लड़के ! माफ़ी माँगो और घर जाओ। आइन्दा कानून-क़ुरानके खिलाफ़ लेकचर मत देना !

मनसूर—मैं क़ुदरतका कोई हुक्म नहीं मान सकता !

(५)

पारला०—अगर तुम खुदा हो तो पब्लिककी तकलीफ़ क्यों नहीं दूर करते ?

मनसूर—खुदा कोई काम नहीं करता ! वह केवल—काम करनेवाली क़ुदरतका तमाशा देखता रहता है। कभी-कभी बोलता जरूर है।

पारला०—खैर तुम्हारे ऊपर तीन दफाएँ लगायी गयी हैं। (१) क़ुरानकी इज्जत न करना, (२) मुहम्मद साहबकी परवा न करना और (३) खुदको खुदा कहना ! इन तीनों अपराधोंकी सजा सूली है !

मनसूर—मेरा मन और मेरी बुद्धि तो—मालिकके महलमें मौजूद ही है। रह गया था इस बदनमें—केवल प्राण ! सूलीके बहाने जो प्राण भी अपने पास बुलानेकी आरजू हुई—तो मुझे इन्कार नहीं ? बल्कि—निहायत खुशी है।

मालिक ! तेरी रज़ा रहे और 'तू ही तू' रहे !
बाक़ी न मैं रहूँ न कोई आरज़ू रहे !!

पारला०—पुलिस ! मनसूरको ले जाकर सूली दे दो !

(६)

फाँसी और सूलीमें अन्तर होता है। गलेमें रस्सी बाँधकर एक गहरे खन्दक़में झुलाकर मार डालनेका नाम फाँसी है। सूली कहते हैं, एक पाँच हाथ लंबी लोहेकी सलाखको, कि जिसका ऊपरी सिरा भालेकी तरह धारवाला होता है। नीचेका सिरा—पक्के चबूतरेमें जड़ा होता है।

पुलिसने ले जाकर मनसूरको सूलीके ऊपर बैठाल दिया ! पब्लिकमें हाहाकार मच गया ! बहादुर और सुन्दर मनसूरपर फूल-बतासे और मोती बरसने लगे ! देखते-ही-देखते सूलीका सिरा गुदामें होकर चोटीको पार कर गया ! मनसूरके निरपराध शुद्ध रक्तसे—ईरान-की ज़मीन लाल हो गयी ! मनसूर तो न रहा—मगर पारलामेंटकी बेवक़ूफ़ी सदाके लिये रह गयी ! मरते समय मनसूरने कहा था—

किया अच्छा, अगर तुमने लगा सूली, बुलाया है !
कि ख़ुद मनसूरको जीना था मुश्किल—राज़दाँ होकर !!

उसी समय पब्लिकने यह कहावत बनायी थी कि—'सच बोलनेवालेको सूली लगती है !!'

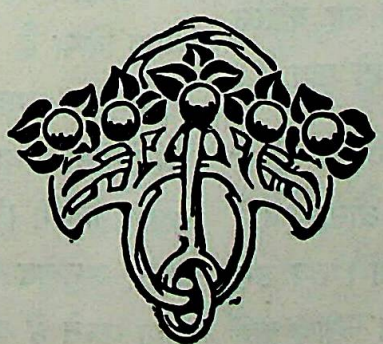

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कीर्तन और उसका प्रभाव

(लेखक—पं० श्रीनरहर शास्त्री खरशीकर)

र्तन नवधा भक्तिमेंसे एक भक्ति है। यह भक्ति अति प्राचीन कालसे चली आयी है। इसके उत्पादक देवर्षि नारद हैं। स्वयं प्रेममय भगवान्‌की भक्ति करते हुए अनायास अनन्त जीवोंमें भगवत्प्रेम उत्पन्न करनेका साधन बन जाय, यही इस कीर्तनभक्तिका ध्येय है। देवर्षि नारदने जब यह सम्प्रदाय चलाया उस समय कीर्तनकी पद्धति अवश्य ही आजकी पद्धतिसे भिन्न रही होगी, पर नारदजीने किया यही है कि प्रभुके गुणगानानुरूप ब्रह्मवीणा हाथमें लेकर 'जय-जय नारायण हरि' गाते हुए ब्रह्माण्डमें पर्यटन करके असंख्य जीवोंको भक्तिकी शिक्षा दी। कीर्तनभक्तिके बलपर ही नारदजी देव, असुर, गन्धर्व, मानव, नागादि सब लोकोंमें सञ्चरण कर सकते थे और सबको भगवत्प्रेमका आनन्द दिला सकते थे। पीछे, वक्ताके पास श्रोता जमा होने लगे, उससे श्रवणभक्ति सुलभ हुई, वीणाके साथ ही मृदंग और करतालका भी उपयोग होने लगा। जीवमात्रका ध्येय जो 'प्रेममय परमात्मा' है उसका परिचय करा देने तथा जिस आनन्दस्वरूपपर सम्पूर्ण जगत् भासित हो रहा है उस अनन्तत्वमें भी सम्पूर्णरूपसे परमात्मा ही कैसे अनुस्यूत हैं उसका विवेचन करनेका परम उपकारी साधन कीर्तनद्वारा होनेसे यह कीर्तन सब जीवोंके लिये सुखका उन्मुक्त द्वार हो गया है।

श्रीमद्भागवत-माहात्म्यमें कीर्तनके सम्बन्धमें लिखा है कि एक बार श्रीसनत्कुमारजीसे श्रीनारदजीने भागवतसप्ताहका माहात्म्य श्रवण किया। तब उस प्रसंगमें भगवान् श्रीहरि अपने पार्षदोंके साथ वहाँ प्रकट हुए। नारदजीने पार्षदों सहित श्रीभगवान्‌की पूजा की और फिर श्रीभगवान्‌के सामने सब पार्षदोंने कीर्तन किया। उस कीर्तनमें—

प्रह्लादस्तालधारी तरलगतितया
चोद्धवः कांस्यधारी।
वीणाधारी सुरर्षिः स्वरकुशलतया
रागकर्ताऽर्जुनोऽभूत्॥
इन्द्रोऽवादीन्मृदङ्गं जयजयसुकराः
कीर्तने ते कुमाराः।
यत्राग्रे भाववक्ता सरसरचनया
व्यासपुत्रो बभूव॥
(भाग० माहात्म्य ६।८७)

ताल देनेवाले प्रह्लाद थे, उद्धव झाँझ बजाते थे, वीणा नारदजी लिये हुए थे, गाते थे अर्जुन, मृदंग बजाते थे इन्द्र, जय-जयकार करते थे सनत्सनन्दनादि कुमार और रसोंके साथ भावोंका व्याख्यान करते थे श्रीशुकदेव। इन सबने मिलकर कीर्तन किया। इस कीर्तनमें श्रीपार्वतीजी सहित श्रीशङ्करजी विराजमान थे। इस कीर्तनसे श्रीहरि अतीव प्रसन्न हुए और यह वर दिया कि आगे कलियुगमें जहाँ-जहाँ श्रीहरिनाम-संकीर्तन होगा वहाँ-वहाँ मैं स्वयं उपस्थित होकर सबके मनोरथ पूर्ण करूँगा।

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद॥

श्रीज्ञानेश्वर महाराजने इसका अभिप्राय इस प्रकार व्यक्त किया है कि, 'जो कोई यह चाहते हों कि खोये हुए भगवान् हमारे, हमें मिल जायँ वे वहाँ जायँ जहाँ भगवत्कीर्तन हो रहा हो, वहाँ भगवान् अवश्य मिलेंगे।' इसीका श्रीतुकाराम महाराजने इस प्रकार अनुवाद किया है कि 'हे नारद! जहाँ मेरे भक्त गाया करते हैं वहाँ मैं खड़ा रहता हूँ।'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सन्तोंके श्रीहरिकीर्तन

श्रीनारदजीके अनन्तर स्वल्पाधिक परिमाणपर कीर्तनसम्प्रदायके द्वारा लोकोद्धारका कार्य हुआ करता था। आठवीं शताब्दीसे तेरहवीं शताब्दीतक सब तरफसे आर्यसंस्कृतिपर इस्लामके आक्रमण हुआ करते थे, पर इसके अनिष्ट परिणामोंसे तेरहवीं शताब्दीके आरम्भतक महाराष्ट्र बचा था। श्रीज्ञानेश्वर महाराजके समयमें तो देवगिरिमें क्षत्रियकुलावतंस रामदेव राव जाधवका राज्य था। श्रीज्ञानेश्वर महाराजके पश्चात् (संवत् १३५३) थोड़े ही समयके अन्दर अलाउद्दीन खिलजीका ग्रहण महाराष्ट्रको लगा और उससे आर्यसंस्कृति उत्सन्न होने लगी। महाराष्ट्रके हिन्दूधर्मपर आघात करनेवाली यह कुठार थी, इससे यादवोंका राज्य कटकर धूलमें मिला और महाराष्ट्र-साम्राज्य, महाराष्ट्रधर्म तथा आर्यसंस्कृतिके नाशके स्पष्ट चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे। यह ऐसा समय था कि जब हिन्दूधर्मके संरक्षणकी आशा प्रायः नष्ट हो चुकी थी। ऐसे समय नामदेव आदि सन्तोंने महाराष्ट्रधर्मसंरक्षणका बड़ा भारी कार्य किया। पराधीनताके पाश जब गलेमें जकड़ रहे थे तब अलौकिक स्वार्थत्याग और सदाचारके बलसे इन सन्तोंने कीर्तनके द्वारा देशको धर्मकी शिक्षा देना आरम्भ किया। यह काम श्रीज्ञानेश्वर महाराजके समयसे लेकर श्रीतुकाराम महाराजके समयतक बराबर हो रहा था। समर्थ गुरु श्रीरामदास स्वामी और छत्रपति श्रीशिवाजी महाराज राष्ट्रधर्मकी ध्वजा जो फहरा सके इसका कारण महाराष्ट्रधर्मरूप भवनकी नींव थी जो श्रीज्ञानेश्वर महाराजने दी थी।

नामदेवके भक्तिप्रेमरसभरित कीर्तन पत्थर-से हृदयवाले जीवोंमें भी प्रेमोद्रेक करा देते थे। ऐसे ही अन्य भक्त कीर्तनद्वारा जीवोंका दुःख निवारणकर सुखका साधन करा देते थे। कीर्तनकी महिमा सभी सन्तोंने बखानी है।

इस प्रकार कीर्तनपरम्परा अबतक चली आती है। महाराष्ट्रमें कीर्तनकी दो पद्धतियाँ हैं। एक हरिदासकी पद्धति और दूसरी वारकरी पद्धति। दोनोंमें ही नामसंकीर्तन, अध्यात्मज्ञान और भक्तिप्रेमका विवरण होता है। वारकरी कीर्तनमें भक्तिप्रेमज्ञानको छोड़ आधुनिक विषयोंका प्रतिपादन नहीं होता। नामसंकीर्तनसे पाप भस्म होते हैं, संकट दूर होते हैं, प्रेममय भगवान्‌से सख्य होता है, इत्यादि अनेक लाभ सन्तोंने बताये हैं। इस विषयमें हालका ही एक दृष्टान्त 'कल्याण' के पाठकोंके लिये इस लेखमें देते हैं।

दक्षिण हैदराबादमें श्रीमन्त राजाराय रायान्‌का एक बगीचा है। इस बगीचेमें श्रीभटजी बापू नामके एक सन्त रहा करते थे। श्रीबापू राजा बड़े अच्छे गवैया थे, उनके जोड़का कोई दूसरा गवैया नहीं था। इनके यहाँ सदावर्त था। अन्नदान करनेमें भी इनका बड़ा नाम था। इनकी शिष्यसंख्या बहुत बड़ी थी। सब भूतोंको समदृष्टिसे देखना, विनम्र और सदाचारसे रहना इत्यादि गुणोंसे भी वह बड़े लोकप्रिय पुरुष थे। इन्होंने अपनी वयस्‌के ७५ वें वर्ष संन्यास लिया था। संन्यास लेनेके कुछ काल बाद ही वह समाधिस्थ हुए। उनके शिष्योंने राजरायान्‌की अनुमतिसे उन्हें उसी स्थानमें मिट्टी दी जहाँ वह रहते थे। समाधि-स्मारक बनवाया। यह स्मारक मन्दिर खपड़ेसे छवाया गया है और मन्दिर एक मंजिला है और अब जीर्ण भी हो गया है। यहाँ समाधिके सामने प्रति गुरुवार और प्रति एकादशीको स्वामी महाराजके सत् शिष्य श्रीगुरुभक्त गोविन्द राव नानल उर्फ दाजी साहब वकील दासबोध और श्रीमद्भगवद्गीतापर प्रवचन किया करते हैं। कभी-कभी अन्य वक्ताओंके व्याख्यान या कीर्तनकारोंके कीर्तन हुआ करते हैं।

गत वर्ष (संवत् १९९१) भाद्र कृष्ण ११ के दिन-रातको पूनेके हरिभक्तपरायण श्रीरामचन्द्र बोवा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शिरवळकरका कीर्तन श्रीबापूराजाकी समाधिके सामने हुआ। कीर्तन सुननेके लिये स्त्री-पुरुष श्रोताओंकी बड़ी भीड़ थी। कीर्तनका जिस समय पूरा रंग छा गया था तब एकाएक समाधि-समीपका घर कडडड आवाजके साथ धड़ामसे गिर पड़ा और वहाँ बैठे हुए श्रोता उसके नीचे दब गये। परन्तु श्रीहरिकी कृपा और सन्तोंकी महिमासे प्रायः सभी लोग बच गये। कीर्तनकार महाराजकी स्त्रीके सिरमें एक खपड़ा लगा और उससे रक्त बहने लगा। चार-पाँच आदमी और इसी प्रकारसे घायल हुए। पर इससे बढ़कर एक ऐसी विलक्षण बात हुई जिससे कीर्तनका प्रभाव सबपर प्रत्यक्ष हुआ।

ब्रह्मीभूत श्रीबापूराजाके तत्रस्थ शिष्य और व्यवस्थापक हरिभक्तिपरायण श्रीनारायण रावकी पत्नीकी गोदमें उनका शिशु था सो इस गड़बड़में खो गया, कहाँ गया पता नहीं! बच्चेकी माँ बच्चेको कहीं न पाकर रोने लगी। एक जगह एक वृद्धाके शरीरपर पड़ी हुई मिट्टी और खपड़े दाजीसाहब नानळ वकील हटा रहे थे, वहाँसे बच्चेके रोनेकी-सी आवाज आयी। वृद्धाको बाहर निकालकर उस आवाजकी ओर गये, मिट्टी और खपड़ोंका बड़ा ढेर लगा था, उसे हटाने लगे; और लोग उनकी मददको दौड़ गये। मिट्टी और खपड़ोंको हटाते-हटाते बच्चेके हाथ देख पड़े, बाकी शरीर मिट्टीमें दबा पड़ा था; मिट्टी हटाकर बच्चेको निकालकर दाजी साहबने उसे उसकी माताको सौंपा। बच्चेको उस समय होश नहीं था पर माताकी गोदमें जाकर जब वह स्तनपान करने लगा तब सबको बड़ा आनन्द हुआ और सबने बड़े जोरके साथ भगवन्नामका जय-जयकार किया। मिट्टी और खपड़ोंके इतने बड़े ढेरके नीचे दबे हुए इस शिशुकी जान कैसे बची? यह भगवन्नामकीर्तनकी ही महिमा है। जहाँ सब देवताओं और तीर्थों सहित भगवान् विराजते हैं वहाँ कोई भी संकट कैसे ठहर सकता है? मिट्टीके ढेरके नीचे जहाँ वह बच्चा पड़ा था वहाँ बच्चेके आस-पास खपड़े इस हिसाबसे एकपर एक लदे कि उसको एक कुटी बन गयी और उसमें बच्चा सुरक्षित रहा। उसका एक बाल भी बाँका नहीं हुआ।

जिस प्रभुने भयंकर संकटोंमेंसे प्रह्लादको बचाया, मीराबाईका पीया हुआ विष अमृत बना दिया उस दयामयने इस शिशुको भी अपने करुणा-अञ्चलमें ढाँककर बचा लिया। जो चार-पाँच आदमी घायल हुए थे उनके घाव दो ही दिनमें अच्छे हो गये। सबको यह विश्वास हो गया कि वह सन्तका स्थान है और वहाँ नामसंकीर्तन होता है, इसी कारणसे कुशल हुई।

श्रीज्ञानेश्वर महाराजने अपने एक अभङ्गमें कहा है कि—'यमधर्मने अपने दूतोंको आज्ञा की है कि जहाँ हरिनामसंकीर्तन होता हो वहाँ जाना तो दूर रहा, उस ओर झाँकनातक नहीं।'

इस प्रकार कीर्तनभक्तिकी महिमा आधुनिक समयमें भी प्रकट हो रही है और आगे भी होती रहेगी। श्रीहरि ही ऐसा कर सकते हैं कि जिसमें सबमें नामसंकीर्तनकी रुचि उत्पन्न हो और सबका इह-पर कल्याण हो। वही सबको सद्भक्तिपन्थ दिखावें।

पुंडलीक वरद हरि विट्ठल।
सीताकान्त स्मरण जय-जय राम॥
पार्वतिपते हर हर महादेव।

—श्रीगुरुदेव दत्त

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

महात्मा रामालिङ्गम्

(लेखक—श्रीस्वामी शुद्धानन्द भारती, पाण्डीचेरी)

(गताङ्कसे आगे)

९—अनन्य भागवत-जीवन

जब मनुष्यमें आत्म-कलिका विकसित होती है तो मधु-लोलुप भ्रमरके समान सच्चे जिज्ञासु उसके अमर माधुर्य, सौन्दर्य और सुरभिके लिये आकर्षित हो उठते हैं। रामालिङ्गम्की जीवनकी पवित्रता और वाणीकी दिव्यतासे उनका नाम दूर-दूर फैल गया और विभिन्न जातिके सच्चे जिज्ञासु उनके पास इकट्ठा होने लगे। उन्होंने उनके सब सन्देहोंको दूर कर दिया और वेदान्त तथा सिद्धान्तके तथ्य जो उन्हें अनुभूत हुए थे, उनको समझाया। उनके अनुरोधसे आध्यात्मिक विषयपर अपने लेखोंको, उन नियमित पदोंके अतिरिक्त, जिनके द्वारा वह रात-दिन प्रभुकी आराधना करते थे, सङ्कलित किया।

उन्होंने सांसारिक धनियोंकी खुशामदमें अपनी विशेषताओंका दुरुपयोग कभी नहीं किया, और न, जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, वह कभी उनके घर गये। एक दिन एक मनुष्यने उनसे प्रार्थना की कि वह एक धनीके पास उसके लिये सिफारिश कर दें। रामालिङ्गम्ने उत्तर दिया कि, 'वह जिनका मैं हूँ, उनके पास मैं जाता हूँ और जिस वस्तुकी इच्छा होती प्रार्थना करता हूँ। परन्तु यदि मुझे कोई टुकड़े-टुकड़े काट दे, तो भी मैं किसी दूसरेके पास नहीं जा सकता।' हाँ, सर्वज्ञ प्रभु जानते हैं कि उनका पुत्र क्या चाहता है और उसे वह अत्यन्त कृतज्ञ मित्र और स्नेहशील माता-पिताकी अपेक्षा सुगमतासे प्रदान करते हैं। जो कुछ वह चाहेंगे, होगा। उन्होंने विशेष-विशेष अवसरों-पर अपने धनी सेवकोंके निमन्त्रणको भी नम्रतापूर्वक अस्वीकार कर दिया था। एक बार एक धनी आदमीने ब्याहमें वर-कन्याको आशीर्वाद देनेके लिये उनसे नम्रतापूर्वक प्रार्थना की। 'न तो तुम्हारे पास खड़ाऊँ है, न अच्छी पोशाक है, न धन है और न महान् व्यक्तित्व है। न तो तुम्हारे पास घर है न तुम्हारी ख्याति है। अरे मेरे मन, तुम अनुरक्त नहीं हो; फिर क्यों उस बड़े आदमीके घर ब्याह देखने जाते हो?'—इसी प्रकारके विचार-प्रवाहमें उन्होंने कुछ पद लिख डाले और उन्हें विनोदके साथ उस बड़े आदमीके पास भेज दिया।

इस प्रकार अन्तरात्माके तानके साथ उनका जीवन गतिशील हो रहा था कि उनकी वृद्धा माताका देहावसान हो गया और उनके दूसरे भाई परशुराम बहुत कड़े बीमार पड़ गये। जब माताका दाहकर्म समाप्त हो गया, रामालिङ्गम् अपने भाईके साथ चिदम्बरम्को चल दिये। रास्तेमें उन्होंने पांडिचेरीमें कुछ विद्वानोंका सत्संग किया।

× × ×

१०—ब्रह्मसाक्षात्कार

वह अब अपने परमपिताके सामने खड़े हैं! आँखोंसे अश्रुप्रवाह हो रहा है, मुखसे स्तवनकी धार प्रवाहित हो रही है और उनका हृदय प्रेमरसमें डूब गया है! 'हे प्रभु, क्या तुमसे अलग होकर मैं क्षणभर भी जी सकता हूँ! हे परमात्मन्, तुम्हारी कृपा ही मेरे लिये सब कुछ है। हे प्रभु, रोटी, कपड़े और सांसारिक ऐश्वर्यके लिये मैंने तुमसे कभी प्रार्थना नहीं की है! हे प्रेममय! तुम्हारे मधुर आलिङ्गनके लिये मैं व्यग्र हो प्रार्थना करता हूँ! तुम्हारे परिष्वङ्गनके लिये मेरा हृदय तड़फड़ा रहा है! हे मेरे प्रियतम! सिद्धियोंके मुकुटमणि, ताण्डवनृत्यकारी! मैं तुम्हारे प्रेममें लुट गया हूँ! लोग मुझे क्या कहते हैं, मैं इसकी परवा नहीं करता। मैंने सारी कामनाओंका त्याग कर दिया है। विषयानन्दमें मेरी प्रवृत्ति नहीं होती। मुझे रत्नोंकी आवश्यकता नहीं! हे सत्यस्वरूप! मैं स्वर्गसुखकी भी इच्छा नहीं करता। मैं चाहता हूँ तुम मेरे साथ खेलो, मुझमें ज्ञान-लीला करो। आध्यात्मिक ज्ञानकी लीला खेलनेके लिये मैं व्यग्र हो रहा हूँ।'

'हे प्रभु, तुमने मुझको बहुत ऊँची आध्यात्मिकतामें पहुँचा दिया है। मुझे शुद्ध और सत्य ज्ञानकी पूर्णता प्रदान करो। तुमने मेरे सम्मुख पूर्ण कलायुक्त सत्यज्ञानका प्रकाश किया है। क्या मैं भेद-भावमें अपने जीवनको नष्ट करूँ? मेरे मनमें संसारकी किसी भी वस्तुके लिये

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कणमात्र भी विचार नहीं है। मेरे लिये भेद-भावकी सारी मानसिक रचनाएँ चली गयीं। केवल आध्यात्मिक मार्ग, केवल सत्य और प्रकाशका मार्ग रहेगा और सबपर विजय प्राप्त करेगा। इसीके लिये आपने मुझे जीवन दिया है। हे प्रकाश-स्वरूप, तुमने मुझे अपनी कृपा प्रदान की है। तुमने मेरे वज्रहृदयको द्रवीभूत कर दिया है। हे अमृतके आगार! समय आ गया है, आलिङ्गनकर मुझे अपनेमें मिला लो।'

इस प्रकार वह असीम आनन्दमें माधुर्यकी वर्षा करने लगे और उनकी आत्मा प्यारेसे ओत-प्रोत हो गयी।

तब उन्होंने शिष्योंको साथ ले और स्तवन करते हुए दूसरे प्रसिद्ध मन्दिरोंका दर्शन किया। उनके समस्त स्तवनोंका संग्रह अरूलपामें हुआ है। पांडिचेरीसे चौदह मील दूर तिरुपदिरीपुलीउरके तीर्थस्थानमें उनका ब्रह्म-समाजियोंसे मूर्त्तिपूजापर गम्भीर शास्त्रार्थ हुआ। 'मूर्त्तिमें सगुण ईश्वरकी उपासना ब्रह्मानुभवका एक ध्रुव मार्ग है। किसी प्रकारसे मानवी अहङ्कार एक परमसिद्धान्तका आश्रय लेकर ऊपर उठता है। सर्वव्यापी ब्रह्म मूर्त्तिमें भी है। वह साकार, निराकार अथवा अपने कूटस्थ और मायिकरूपके बन्धनमें नहीं है। विराट् पुरुषकी वैदिक कल्पनासे मूर्त्तिपूजासे विशेष सम्बन्ध है।' इस प्रकार सफलतापूर्वक उन्होंने अपने पक्षका समर्थन किया और चिदम्बरम् लौट आये, और अपनी जन्मभूमिके समीप करङ्कुलि गये। वहाँ उनके बीमार भाईका देहान्त हो गया। उन्होंने उनके लिये समाधि बनायी। परन्तु इन मृत्युओंसे मानव-जीवनको अधिकाधिक अमर करनेकी वृत्ति उनकी बढ़ती ही गयी।

११—भावावेश

अब ईश्वरने उन्हें उनके जीवनके कार्यक्षेत्रके बहुत ही समीप पहुँचा दिया। मदरासके भक्तोंने उनको वापस लौटनेके लिये बहुत आग्रह किया परन्तु वह करङ्कुलिमें ही रह गये। कहा जाता है कि वहाँ उन्होंने जलसे दीप जलानेका चमत्कार किया था। पक्षी पके फलोंके वृक्षको खोजते हैं, उसी प्रकार धार्मिक भक्त आध्यात्मिक ज्ञानके पके फलोंके वृक्ष रामालिङ्गम्के पास आये। प्रसन्न साधकोंके साथ-साथ उन्हें ग्रन्थकीट पण्डितम्मन्य लोगोंका भी सामना करना पड़ा। उनकी सत्य ज्ञानकी पूर्णताके सामने अभिमानी पण्डितोंको अन्तमें अपनी पुस्तकोंका त्याग करना पड़ा। एक विद्वान् ब्राह्मण संन्यासीने उनसे व्यावहारिक वेदान्तकी शिक्षा ग्रहण की। रामालिङ्गम्ने महात्मा होनेका कभी दावा नहीं किया। वह सादा साफ कपड़ा पहनते थे और नम्रतापूर्वक सबसे मिलते-जुलते थे। उन्होंने चुपचाप ज्ञानकी खोज की। लोगोंका विश्वास था कि उनके हाथकी विभूतिसे कुष्ठ और दूसरे रोग दूर हो जाते थे। जब कोई आदमी विभूतिके लिये आता तो उसे वह समीपके किसी संन्यासीके द्वारा देते थे, अपनेको उन्होंने संसारमें कभी संन्यासी प्रकट नहीं किया। उन्होंने गम्भीरतापूर्वक मानसिक भेदभाव, कट्टरता, अन्धविश्वास, दुराग्रही अहङ्कार, मलिन तामस, निरर्थक रस्म-रिवाज, हानिप्रद अन्धपरम्परा, पठित मूर्खता, अज्ञतापूर्ण विद्वत्ता और अपने साथियोंकी विघ्न-बाधाओंपर विचार किया, और परम पितासे उन सबपर कृपा करनेकी प्रार्थना की।

'हे परम पिता! मेरी प्रार्थना स्वीकार करो! मैं सब प्राणियोंका हित चाहता हूँ। मैं सारे जगत्में तुम्हारे यशका प्रसार करूँ। तुम्हारी कृपासे संसारभरमें शुद्ध, आनन्दमय आध्यात्मिक मार्गका बोलबाला हो। इसकी पूर्णतामें मैं तेरे आनन्दका उपभोग करूँ। तुम्हारे ध्रुव सत्यका प्रसार मैं लोगोंमें करूँ और मेरी वाणी कर्ममें प्रतिफलित हो। तुम्हारी अमर दिव्य-ज्योतिकी शक्तिसे मैं इस मृत मानवताको पुनः अमर जीवनमें परिवर्तित करूँ। मैं तुम्हें सर्वत्र देखकर गाता हुआ आनन्दसे नाच उठूँ। मैं प्रत्येक जीवनमें प्रवेश करूँ और सारे दुःखोंको हलका करूँ। पूर्ण एकता मानवसमाजको एक आध्यात्मिक मार्गमें लगा दे। हिंसा और वासना, अहङ्कार और पापका नामोनिशाँ मिट जाय। मैं प्रिय-अप्रिय, ग्राह्याग्राह्यसे मुक्त हो जाऊँ। जो मेरे पास आवें पूर्ण आनन्दको प्राप्त करें। मैं तेरे ऐश्वर्यको प्रकट करूँ। मैं सिद्धान्त और वेदान्तकी एक साथ अभ्यर्थना करूँ। तुम्हारे आनन्द और आशीर्वादका, जिसकी तुमने मेरे ऊपर वृष्टि की है, सब उपभोग करें। मैं तुम्हारे उस अमर रूपमें एक हो जाऊँ, जिसका शस्त्रअस्त्रादिसे नाश नहीं होता। मैं अपने भीतर तथा अन्य सबके भीतर मृत्युकी अवज्ञा करूँ।

'ऐ मेरे प्रियतम! जब मैं धूल-धूलके खेल खेलता था तब भी तुमने मुझे स्वतः आनन्दसे अलङ्कृत किया था। नव यौवनमें तुमने मुझे प्यार किया। क्या वृद्धावस्थामें वह प्रेम ठंढा पड़ गया? हे मेरे राजा, मैं तुम्हारा पैर पकड़ता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हूँ। मैं इसे नहीं छोड़ सकता, यह मेरे जीवनका संगी है। क्या मैं तुम्हारा पुत्र नहीं हूँ और तुम मेरे पिता नहीं हो? इस अज्ञानमय जगत्के दोषोंको मैं सहन नहीं कर सकता। अपनी कृपाका प्रकाश करो। मैं प्राणियोंके दुःखको नहीं सह सकता। मैं केवल तुम्हारी कृपाकी ओर दृष्टि लगाये जीता हूँ। एक बार तुमने अपने आपको मेरी आँखोंके सामने प्रकट किया था। मैं तुम्हारी शपथ लेता हूँ, यदि तुमने अपनी कृपासे मुझे कृतार्थ न किया तो मैं भोजन और निद्राका त्याग कर दूँगा, जीवनका भी त्याग कर दूँगा।'

शाश्वत जीवनके सत्य प्रकाशका आलिङ्गन करनेके लिये और मानवजातिको अमर बनानेके लिये वह भावोंके करुण प्रवाहमें बह चले। वह दिन-रात रोते रहते थे, उनके समकालीन एक शिष्यने मुझसे कहा था कि रातभर वह उनकी सिसकियाँ सुनता था और उनके बिस्तरेको आँसूसे तर पाता था।

१२—परम प्रकाशका आविर्भाव

एक दिन जब वह मेट्टुकुप्पम्में अपनी कुटियामें ध्यान कर रहे थे, उनके सम्मुख प्रकाशका आविर्भाव हुआ और उसने उनको पूर्णतः अभिभूत कर लिया। उसकी स्मृतिमें अबतक वहाँ दीपक जलाया जाता है। उस प्रकाशको उन्होंने प्रभुकृपाकी दिव्य ज्योतिके नामसे पुकारा और इस अलौकिक ज्योतिका गुणगान उन्होंने लगभग १५०० पंक्तियोंमें अपने अरुतपेरुन-ज्योति अगबल (भगवत्कृपाकी दिव्य ज्योतिके पद) नामक सत्य उपनिषद् ग्रन्थमें किया है।

'हे परमज्योति! ···यह अखिल आनन्दप्रदायिनी है। इसने मुझे पूर्ण आनन्दमें लीन कर दिया है। संशय छिन्न हो गये हैं। इसने अमर जीवनके ज्ञानको अभिव्यक्त कर दिया है। तुरीयानन्दके विस्तृत क्षेत्रसे यह मेरी चिद्भूमिमें प्रवाहित हो रही है। यह दिव्य कार्यकलापोंकी शक्ति है। इसने मृत्युका विनाश कर दिया है और मुझे अमरत्व प्रदान किया है। यह अखिल जगत्में व्याप्त है और सब कुछ कर रही है। यह मृतको पुनर्जीवन प्रदान करती है और भूलोकपर स्वर्गका निर्माण करती है। यह कहती है—तुम यहाँ चमत्कार करो! तुम अब मेरे साथ एक हो गये हो—दो नहीं रहे। जब मैं मत-मतान्तर, जात-पातसे पूर्ण मुक्त हो रहा था तो कैसे यह मेरे सामने आविर्भूत हो गयी! इसने मुझे अनन्त बना दिया है! अपनी आनन्दशक्तिसे यह मुझपर ज्ञानवर्षा कर रही है। 'सब प्राणियोंको एकरूपमें देखो। अब शोक कहाँ! परम कृपासे सब कुछ हो जायगा। यही प्रकाशका मार्ग है; अतिरिक्त इसके सब कुछ अन्धकारमय है। तुम सबमें हो, सब कुछ तुझमें है। सब प्राणियोंमें आनन्दका प्रसार करो; अब मृत्यु कहाँ!'—यही उसका सन्देश है। अहो, यह वाणी और मनके परेकी अवस्था है। इसने मेरे प्रति परब्रह्मके परम रहस्यको खोल दिया है। जो कुछ मुझे जानना था, इसने सब कुछ मेरे प्रति व्यक्त कर दिया है और स्थायीरूपसे मुझे अभिभूत कर लिया है। इसने मुझे सब सिद्धियाँ प्रदान की हैं। यह घोषित करती है—'मैं हूँ, मैं सत्य हूँ।' मृतको उठानेकी इसमें शक्ति है। इसने मेरे शरीरको स्वर्णमय बना दिया है। 'हे प्रेम! प्रकाश! आनन्द! ज्योतिकी परम भूमि! हे दीप्ति! अग्नि! शक्ति! स्वस्ति, स्वस्ति!' उनका असीम परमानन्द इस प्रकार परम ज्योतिका स्वस्त्ययन करता रहा। उनका सारा जीवन इस प्रकार भावावेशमें आ गया कि सब कोई उस ज्योतिको देखें और अनुभव करें, तथा दिव्य जीवनको प्राप्त हों। यह मानना ही होगा कि सत्यके प्रकाशकी उस प्रदीप्तिको प्राप्त करना रामालिङ्गम्के लिये एक शुभ लक्षण था जिसकी ज्योतिसे ही मनुष्य आध्यात्मिक पूर्णताको प्राप्त हो सकता है।'

१३—श्रद्धाञ्जलि

यद्यपि वह बहुत ही शान्त और नम्र, प्रिय और मृदु, सीधे-सादे, सच्चे और ईमानदार, योग्य और ज्ञानी थे, तथापि वह भी संसारके उस कलङ्कित लोगोंके कीचड़ उछालनेसे न बच सके, जिनका यही व्यापार होता है कि यथार्थ महान् पुरुषोंकी पगड़ी उछालें, जो सबका कल्याण चाहते हैं और विशुद्ध आनन्दमय जीवनका मार्ग प्रदर्शित करते हैं। रामालिङ्गम्का बिल्कुल मौलिक और सार्वभौम पथ लोगोंके मनमें बैठ गया। वह वही थे जो कुछ उनके मुँहसे निकलता था, और वह बोलते भी वही थे जो कुछ परमपिता उनके भीतर बोलते थे।

उनको श्रद्धाञ्जलि देते हुए एक समसामयिक विद्वान् कहते हैं कि, 'वह पूर्णसिद्ध थे, मांसाहारियोंको अविलम्ब शाकाहारी बनानेकी उनमें अद्भुत शक्ति थी। उनकी आकर्षक दृष्टिका जादू लोगोंके हृदयमें पैठकर उसे शुद्ध

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कर देता था। दूसरोंके मनकी बात वह बहुत ही आसानी-से जान लेते थे। किसीको भी ज्ञात नहीं है कि वह किससे दीक्षित हुए थे। वह बहुधा कई दिनोंतक अपने शिष्योंकी दृष्टिसे ओझल हो जाते थे, और कोई नहीं जान पाता था कि वह कहाँ हैं या कैसे आये और गये। लोग बहुधा अपने घरको पवित्र करनेके लिये उन्हें आमन्त्रित करते और उनके लिये भाँति-भाँतिके व्यञ्जन तैयार करते। परन्तु वह अचानक ऐसे दिन आ पड़ते जब उनके घरमें बिल्कुल सादा भोजन तैयार रहता। उन दिनों उनका शरीर बिल्कुल दुबला-पतला था। वह लंबे न थे, उनकी नाक नुकीली और लंबी थी और आँखें कमलके समान आध्यात्मिक ज्योतिसे चमकती रहती थीं। अपने (आस-पासके प्राणियोंके लिये) सदा वह चिन्तित दीख पड़ते थे। अपने अन्तिम दिनोंमें उन्होंने अपने बाल बढ़ा लिये थे और खड़ाऊँ पहना करते थे। वे केवल दो शुद्ध शुक्ल वस्त्र धारण करते थे। कठोर उपवास करनेवाले तपस्वीके समान उनका शरीर था। उन्हें किसीने सोते या विश्राम करते नहीं देखा था। वह दो-तीन दिनोंमें एक बार स्वल्पाहार करते थे। कभी-कभी वह दो-दो तीन-तीन महीने केवल शर्बत लेकर उपवास किया करते थे। उस संतमें इतनी नम्रता थी कि उनको महात्मा मानकर प्रणाम करना अथवा उनकी या उनके चित्रकी पूजा करना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। उनका शरीर इतना तेजोमय था कि उनका फोटो लेनेका सारा प्रयत्न विफल हो जाता था। प्लेटपर एक खाली जोड़ पड़ जाती थी। जो चित्र प्राप्त होता है, वह एक शिष्यके हाथकी चित्रकारी है। 'मेरी पूजा मत करो; मैं कुछ नहीं हूँ, मैं उनके शब्द बोलता हूँ; सब प्रकारकी पूजा उस मेरे पिता, प्रकाश और सत्यके स्वामीके लिये हो। मैं इस आध्यात्मिक संघका एक नम्र सेवक हूँ जिसे संगठित करनेके लिये मेरे पिताने प्रेरित किया है। आत्मामें उनकी पूजा करो, अनुभव करो, ध्यान करो।'—इस प्रकार वह बहुधा अपने शिष्योंको उपदेश दिया करते थे। वह अपने नामके पहले कभी स्वामी शब्द लगाना नहीं पसंद करते थे, इसलिये वह अपना नाम केवल रामालिङ्गम् लिखा करते थे। वह अपने शिष्योंको भीतरकी प्राकृतिक दिव्यताका अनुभव करने और समस्त अहङ्कारको परब्रह्म-में समर्पित करनेके लिये दृढ़तापूर्वक उत्साहित करते थे। विश्वप्रेम, विश्वभ्रातृत्व, मनुष्यकी दिव्य एकता, मानवता-पर आध्यात्मिक प्रकाशका आविर्भाव, प्रकाश-शक्तिको भौतिक जगत्में लाकर सांसारिक जीवनको अमर बनाना, यही उनके मिशनके पाँच मूल तत्त्व थे। उन्होंने किसी सम्प्रदायको स्वीकार नहीं किया। उन्होंने अपने मार्गको किसी धार्मिक नामसे नहीं पुकारा। वह इसे आध्यात्मिक सत्यका सार्वभौम मार्ग कहा करते थे। उनके शिष्योंकी मण्डली सन्मार्गसंघके नामसे प्रसिद्ध थी। आध्यात्मिक सत्यके प्रकाशका अनुभव सम्पूर्ण समर्पण, प्रार्थना, ध्यान और पवित्रताके द्वारा करना ही उनका प्रदर्शित मार्ग था।'

× × ×

१४—अरुलपा

उनका अरुलपा उच्च आदर्शोंका एक असीम निधि है। उसमें सबके प्रति असीम प्रेम भरा हुआ है। वह एक साथ ही जिज्ञासुके मनको ऊपर उठाता है और उनके मनमें सत्यकी ज्योति जगाता है। जैसे ही कोई इसे एकाग्र चित्तसे सुनता है अहङ्कार शीघ्र दूर हो जाता है और हृदयमें पूर्ण समर्पणकी भावना व्याप्त हो जाती है। वह महात्मा आध्यात्मिक ज्योति थे और उनके यह पद उस ज्योतिकी चिनगारियाँ हैं।

इस समरस वेदकी निधिको जनसाधारणतक पहुँचानेके उद्देश्यसे उनके विद्वान् शिष्योंने इसे पाँच पुस्तकोंमें संकलन किया है और उनकी अधिक गम्भीर उक्तियाँ (जो प्रकाश प्राप्त करनेके बाद उन्होंने गायीं) छठी पुस्तकमें सङ्कलित की गयी हैं। उन्होंने इसका नाम रखा है—'ईश्वरीय ज्ञान'—दिव्य कृपासे प्रेरित गान, आध्यात्मिक प्रकाशके उदार दाता स्वामी रामालिङ्गमूके द्वारा गाया गया। इसने जाननेवालोंके भीतर प्रेम और आनन्दकी प्रेरणा की, परन्तु साथ ही इससे कट्टर लोगोंने विद्रोह किया। उनकी ओरसे एक बड़े उद्भट पण्डितने चैलेंज दिया जिसने तामिल शैव साहित्यके प्रचारकी अपनी प्रचुर सेवाके द्वारा जनताके हृदयपर अधिकार कर लिया था। 'केवल प्राचीन संतोंके पद (देवराम, तिरुवाचकम् आदि जिन्होंने अनेकों चमत्कारोंके द्वारा अपनी दिव्य शक्तिका परिचय दिया था) 'ईश्वरीय ज्ञान' के अधिकारी हैं। इन आधुनिक पदोंको हम नहीं मान सकते।' इस प्रकार अरुलपाकी निन्दा और उसकी अस्वीकृतिमें पुस्तिकाओंका

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वितरणकर उन्होंने एक विरोधका झण्डा उठाया। उनके सारे आक्रमणोंका इस संतके विद्वान् शिष्योंने वीरतापूर्वक सामना किया।

१५—वदलुरमें महान् रचनात्मक कार्य

सन् १८६७ ई० में उन्होंने अपने आध्यात्मिक मिशनको स्थायीरूप देनेका विचार किया। अपने स्थायी निवासस्थान कारुङ्कुलिके बिल्कुल ही समीप वदलुर नामक स्थानके चुननेकी उनकी प्रेरणा हुई। इस स्थानका नाम उन्होंने उत्तरज्ञान चिदम्बरम् रक्खा। यहाँ उन्होंने अपने विशाल रचनात्मक कार्यको प्रारम्भ किया जो आजतक फूल-फल रहा है। उन्होंने अपने सार्वभौम आदर्शके प्रचारके लिये समरस वेदसंघकी स्थापना की। विश्वप्रेम और ईश्वरीय धर्ममें भ्रातृभाव स्थापन करना इसका परम उद्देश्य था। एक 'सत्य धर्मशाला' स्थापित की गयी जहाँ बिना किसी भेद-भावके दीनों और धर्मात्मा पुरुषोंको भोजन दिया जाता था। कहा जाता है कि इसकी स्थापनाके बाद तीन दिनके भीतर दस हजार मनुष्योंने भोजन किया था। उनके अरुलपा उनके पद और आदर्शोंको पढ़ानेके लिये एक 'समरसवेदपाठशाला' स्थापित की गयी। सबमें समानरूपसे आध्यात्मिक आदर्शोंका प्रचार करनेके लिये एक 'सत्यज्ञानसभा' स्थापित की गयी। एक भजन-मठ बनाया गया, जहाँ भक्त चैतन्यके समान संकीर्तन करते थे। इन दातव्य, मानवहितकारिणी, शिक्षण, भक्ति और आध्यात्मिक सेवासम्बन्धी संस्थाओंके मुकुटमणि वदलुर ज्ञानमन्दिर, समरसआलयम्की स्थापना की गयी जिसका द्वार सभी लोगोंके लिये खुला हुआ था। इस कामके लिये चालीस एकड़ जमीन ली गयी। यह काम उनके शिष्योंने छः ही महीनेके भीतर समाप्त किया। यह एक अष्टभुजाकार कमलके आकारका सुन्दर मन्दिर है जो सार्वजनिक प्रार्थनाके लिये बहुत ही सुन्दर रीतिसे निर्मित हुआ है। सात प्रकारकी चित्शक्तियाँ सात प्रकाशस्तम्भोंके द्वारा व्यक्त की गयी हैं, प्रत्येकके पीछे एक पर्दा लगा हुआ है। अन्तिम स्वर्णज्योति सच्चिदानन्द-अवस्थाके परम आध्यात्मिक प्रकाशको लक्ष्य करती है, जिसकी अनुभूति शरीरको भी स्वर्णमय कर देती है। वहाँ ज्ञानशक्ति, सत्यज्योतिकी आराधना होती है। 'जय परम दिव्य ज्योति! जय परम करुणामयि!'* यही मन्त्र वहाँ एक स्वरसे गाये जाते हैं, जब प्रत्येक पर्दा उठता है और प्रकाशका दर्शन होता है। प्रकाशके समय अरुलपाके गानसे मन्दिर गूँज उठता है। दिव्यज्ञानकी प्रतिकृतिस्वरूप प्रकाशकी आराधनाके सिवा और कोई विधि-विधान करनेकी आज्ञा नहीं दी जाती।

१६—दिव्य जीवनकी पुकार

संतने साधनापर, आध्यात्मिक ज्ञानके यथार्थ अभ्यासपर अधिक जोर दिया और व्यर्थके वितण्डावाद, मानसिक अभ्यासके लिये वहाँ कोई स्थान नहीं था। भेद-भाव, मत-मतान्तर, कट्टरता और पण्डितम्मन्यताके घने वातावरणमें उन्होंने आध्यात्मिक जीवन और विश्वभ्रातृत्वकी धारा स्वतन्त्ररूपसे प्रवाहित करनेके लिये एक नवीन युगका आविर्भाव किया। निन्दकोंकी उन्होंने कुछ भी परवा न की और अपने प्रकाशके झंडेको लेकर ज्योतिर्मयकी कृपाकी सहायतासे आगे बढ़ते गये। चेतनाकी परम भूमिकामें जिस प्रकाशका उन्होंने अनुभव किया उसीके तत्त्वावधानमें अपने विश्वप्रेम और आध्यात्मिक जीवनके व्यावहारिक उद्देश्यमें अग्रसर हुए। उनका गम्भीर अन्तःप्रेक्षण, परम शान्तिशीलता, व्याख्याकी विद्युत्शक्ति, अजेय शक्ति और अलौकिक पराक्रम, शारीरिक आकर्षण और उनके प्रभावकी अज्ञात धाराने, जो जीवनको पवित्र करती थी, उन्हें यथार्थ ही 'करुणामयि ज्योतिके उदार दाता' की उपाधिसे अलङ्कृत किया। शीघ्र ही प्रेम, प्रकाश और आनन्दकी ज्योति फैलाते हुए एक उन्नत साधकोंकी अच्छी मण्डली वहाँ जुट गयी; इसके अतिरिक्त सहस्रों आदमी थे जो कभी-कभी उनका दर्शन करनेके लिये आते थे।

'जब मेरा हृदय गम्भीरतम प्रेमसे द्रवीभूत हो जाता था, तब करुणामय, प्रकाशस्वरूप परम प्रभु वहाँ आते थे जहाँ मैं ध्यानमें तल्लीन रहता था। वह द्वार खोल देते थे और मुझे समीप बुलाकर यह देते थे; कहते थे यह मैंने तुझे इस लोकमें दिया है। जाओ और सबको आध्यात्मिक जीवनकी ओर प्रेरितकर मानवजातिका कल्याण करो।

* मन्त्रका तामिल स्वरूप यह है—अरुल पेरुन ज्योति! तानि पेरुन करुणै!

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इसके द्वारा ही तुम्हारा यह कार्य पूरा होगा।' वह यही दिव्य ज्योति थी।

'हे प्रभो! तुम सच्चे प्रेमियोंके हृदयमें हो। तुमने मुझे एक सिद्धि दी है, जिसे दूसरा कोई नहीं पा सका है। तुम्हारी कृपासे यह जगत् शीघ्र ही तुम्हारी करुणा और ज्योतिके शुद्ध आध्यात्मिक मार्गमें पदार्पण करे। इस भूतल-पर स्वर्गका आविर्भाव हो। देखो, बाहर प्रकाश-सा दीख पड़नेवाले अन्धकारमें लोग पड़े हैं। हम उन्हें पवित्र करके स्वर्गीय पथपर अग्रसर करें। इस भौतिक जगत्में तुम्हारा सत्य और दिव्य जीवन प्रदान करनेवाली शक्ति अवश्य आविर्भूत हो। मेरे पिता, तुमने जो मुझे जीवन प्रदान किया है उसका यही मिशन है। मैं सदा अमर हूँ। अब नानात्व कहाँ? तू मेरे साथ एक हो गया है और मैं सदा-के लिये तुम्हारा हो गया हूँ। हे मनुष्यो! धीरज धरो! चिरजीवी हो! सत्य ज्योतिके प्रभु आते हैं! समय आ गया है! वह मृतको अमर जीवनमें उठावेंगे! मैं असत्य नहीं बोलता! मेरे शब्दोंमें कोई कपट या धोखा नहीं है। मैं कुछ भी नहीं छिपाता! मैं किसीसे नहीं डरता! देखो, मेरे पिता आते हैं, ज्ञानकी ज्योति, सत्य ज्योतिके स्वामी आते हैं! जो श्रद्धालु हैं आवें, प्रेमपूर्वक आवें! मेरे साथ आओ और उसके अमर ज्ञानका उपभोग करो! उसकी ज्योतिका उपभोग करो जो जीवनको अमर बनाती है।

'देखो, अनिर्वचनीयताके शिखरपर एक समृद्धिशाली साम्राज्य है। वहाँ ज्योतिमन्दिरमें मेरे प्रभु नृत्य करते हैं। वहाँ न दिन है न रात है। जो इसे देखता है अमर है। इसकी दीप्तिसे मृत अमरजीवनमें, ज्ञानकी पराकाष्ठामें, 'महतो महीयान्'में उठते हैं। तुम्हारे अन्तरात्माके शिखर-पर सच्चिदानन्दका राज्य है! ओहो! उस अद्भुत दीप्तिका वर्णन वाणी कैसे कर सकती है। मेरे पिताकी कृपा प्राप्त करो। केवल उसीके द्वारा तुम उस अचल ऐश्वर्यको जान सकते हो। वहाँ दूधकी धारा बहती है। तुम उससे तृप्त हो जाओगे। वहाँ स्वर्णशरीरमें तुम नित्य शान्ति और विश्राम-का आनन्द लोगे। ज्ञानसे इसका आविर्भाव होगा। यह अजेय है।

'केवल एक ही है—वह एक है सर्वव्यापी, सबमें सर्वस्व। वह सर्वरूपमें जीवनकी सूक्ष्म और आध्यात्मिक भूमिकामें अभिव्यक्त हो रहा है। प्रत्येक जीवन उसकी एक चिनगारी है। यह आन्तर आध्यात्मिक योगसे जाना जाता है, न कि अपूर्ण मानवविचारसे। यह दिव्य चेतनाको विकसित कर स्वयं आविर्भूत होता है।

'हे मेरे भाइयो! मिथ्यावाद, हिंसा और गप-शपमें अमूल्य जीवनको नष्ट न करो! प्रकाश तुम्हारे अन्दर है! जब दीपक तुम्हारे हाथमें जल रहा है तो भी तुम अन्धकूपमें गिरना चाहते हो? अपने हृदयमें स्थित ज्योति-के स्वामीका ध्यान करो! तुम भय, आलस्य और वासना-से पीले पड़ जाते हो, मरते हो और धूलमें मिल जाते हो!

'परम ब्रह्मको बिना जाने, तुम वितण्डावादोंमें झगड़ते हुए अपना समय नष्ट करते हो, तुम अमरत्वके मार्गको नहीं जानते। तुम्हारा जीना जीना नहीं है। यह सचमुच ही एक मृत्यु है! आओ, आध्यात्मिक मार्गमें पदार्पण करो! आओ और अमरत्व प्राप्त करो। देखो मेरे पिता आते हैं! समय आ गया है! उसका मार्ग ठीक करो! अपने अहङ्कारमय जीवनको उसके समर्पण करो!'

यह रामालिङ्गम्‌की मधुर पुकार थी! दूसरी भाषामें उनके असीम भावावेश और भाषाके माधुर्यका प्रकट करना असम्भव है।

१७—जीवनका आचार

उन्होंने परमोच्च ज्योतिके ज्ञानका प्रचार और केवल आध्यात्मिक मार्गपर अपने शिष्योंको ले जानेका कार्य ही नहीं किया बल्कि गृहस्थोंके लिये दीर्घ जीवन व्यतीत करने-के स्वास्थ्यके नियम भी बनाये। उन्होंने व्यवहारमें दिखला दिया कि किस प्रकार शरीरको यौवन और तेज-पूर्ण रखा जा सकता है। कैसे मनुष्यको भोजन करना चाहिये, कौन-से शाक-विशेष उसे खाने चाहिये, क्या त्यागना चाहिये, कैसे चलना-फिरना, सोना, बातचीत करना चाहिये, स्त्री-सम्भोगकी क्या मर्यादा होनी चाहिये जीवनी शक्तिकी किस प्रकार रक्षा करनी चाहिये (जिसे वह मनुष्यके लिये निधि मानते थे), व्यायाम कैसे करना चाहिये—प्रायः प्रत्येक वस्तुकी, जो दिव्य जीवनमें बढ़नेके लिये मनुष्यको आवश्यक होती है उन्होंने अपने अनुभव-में विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। इन विषयोंके उनके व्याख्यान अब प्रकाशित हो गये हैं। 'प्रकाशमय प्रभुका आश्रय लो। सारे संशय और भयको दूर फेंको। भय ही मृत्यु है। मेरे पिताके प्रेमके लिये प्रार्थना करो और विश्व-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रेममें रमो'—उनके व्याख्यानका सार है। सारांश यह है कि उन्होंने एक नवीन विजयशक्तिके लिये एक राजमार्ग तैयार किया है जो मृत्यु, रोग, कष्ट, भेदभाव और द्वन्द्वोंको बहुत दूर छोड़ देता है। उनका सत्य सन्देश अपने प्रकाशको विश्वमें फैलायगा, क्योंकि भाषा चाहे जो हो सत्यहीका प्रसार होगा। समय सत्यका लाउडस्पीकर है। एक दिन रामालिङ्गम् विश्वके हृदय, विश्वके जीवन, विश्वकी वाणीके द्वारा बोलेंगे।

'मैं सत्य कहता हूँ कि तुम दिव्य जीवनमें शुद्ध हो जाओगे। यदि तुम चाहते हो तो मेरी निन्दा करो! मैं सब कुछ सहूँगा और हृदयमें कभी भी बुरा न मानूँगा। मैंने बहुत दिन हुए भयको छोड़ दिया है! मानापमान मुझे नहीं है। वह मेरा पिता सब भूलोंको बरदास्त कर लेता है। वह करुणामय है। उसका एक सार्वभौम प्रभुका चिन्तन करो। उसकी शरण लो। यही मैं बारंबार कहता हूँ।' उन्होंने इस प्रकार प्रचार किया और निकट भविष्यमें अपने मिशनकी पूर्णताका निश्चय कराया।

१८—सुनो!

'हिन्दू इस समय मेरी बात नहीं सुनेंगे। लेकिन सुनो! महान् आत्माएँ पश्चिमसे और सुदूर उत्तरसे आ रही हैं कौन मेरा काम हाथमें लेगा? विश्वप्रेम और आध्यात्मिक ज्योतिकी जय होगी। अन्धकारने किस प्रकार अपना अधिकार जमा लिया है, दस वर्षमें इसके हाथ दुर्बल पड़ जायँगे और मनुष्यके जीवनमें एक नवयुगका आविर्भाव होगा। लोग मांसभक्षण छोड़ देंगे। सब प्रकारके मत-मतान्तर उड़ जायँगे और विश्वप्रेम और भ्रातृत्वका धर्म जड़ जमायगा। ईश्वर विश्वप्रेम है। वह सबमें समानरूपसे है और सबको आलिङ्गन किये हुए है। जैसे ही आध्यात्मिक चेतना जाग्रत होती है, यह प्रकृतिको प्रेरितकर अपने दिव्य कर्त्तव्यको पूरा करेगा। मैं कुछ समयके लिये तिरोहित होकर फिर आऊँगा।'

'यह लोग मेरी बातोंपर ध्यान नहीं देते। यह लोग अभी इसके अधिकारी नहीं हुए हैं। मेरे आध्यात्मिक संघके सच्चे सदस्य सुदूर उत्तरी भारतमें हैं। तुम्हारे वज्रहृदय मुझे नहीं समझ सकेंगे परन्तु मेरी बातें पूर्ण होंगी। यूरोप, उत्तर भारत और दूसरे देशोंसे ज्ञानी पुरुष आवेंगे और विश्वप्रेम और भ्रातृत्वके मेरे कार्यको हाथमें लेंगे। तब मेरी बातोंकी सत्यता तुम्हें ज्ञात होगी। सुदूर उत्तर और पश्चिमके संत पुरुष भारतका असीम कल्याण करेंगे।'

ये बातें श्रीमती ब्लेवेत्स्कीके पास लिखकर भेजी गयीं और उन्होंने इनपर अपने 'Hints on Esoteric Theosophy' ग्रन्थमें नोट लिखा है जिसका सार यह है—

'निःसन्देह वह एक महात्मा हैं जो मानवताको आध्यात्मिक मार्गपर उठानेकी अपनी अजेय इच्छासे विश्वभ्रातृत्वके लिये अपूर्व काम करनेके लिये जीवित हैं। उनकी यह भविष्यद्वाणी कि रूस, अमेरिका और सुदूर उत्तर भारतके बुद्धिमानोंके द्वारा भारतमें विश्वभ्रातृत्वकी स्थापना होगी, बिल्कुल सत्य है। १८७३ ई० में मुझे रूससे पेरिस जानेकी प्रेरणा हुई और उसी वर्षके जूनमें यूनाइटेड स्टेट्स जानेकी। मैं न्यूयार्क गयी। इसी समय महात्माने कहा था कि भविष्यमें क्या होनेवाला है। १८७४ई० में मैं कर्नल ऑलकॉटसे मिली। १८७५ ई० में थियोसोफिकल सोसाइटीकी स्थापना हुई। और १८७९ई० में वह भारतमें स्थानान्तर की गयी।' परन्तु थियोसोफिकल सोसाइटीके इस तथ्यके अतिरिक्त उनकी भविष्यद्वाणीमें अधिक गम्भीर तथ्य है। जिसकी पूर्णता हम अब धीरे-धीरे देख रहे हैं।

अब उनके जीवनके अन्तिम दृश्यके परदेको हम ज़रा उठावें, उनके अद्भुत अन्तर्धानको देखें। (यहाँ मैं एक भक्तकी अपनी आँखों देखी उनके अन्तिम जीवनकी घटनाका उल्लेख करूँगा। वे लोग अबतक जीवित हैं जिन्होंने इस घटनाको देखा है) अपनी भविष्यद्वाणीकी घोषणा करके अपने जीवनके अन्तिम दिनोंमें वह एक झोंपड़ीमें रहते थे। उन्होंने बतलाया था कि वह अपने ५४ वर्षकी अवस्थामें मर जायँगे। १८७३ ई० में उन्होंने विश्वभ्रातृत्वके ऊपर छः महीनेतक बड़े ही प्रभावशाली व्याख्यान दिये। वर्षके अन्तमें वह बिल्कुल मौन धारण कर लिये। तब फिर १८७४ ई० में उन्होंने अपने व्याख्यान और भविष्यद्वाणी शुरू की।

अब उनका अन्तिम दिन आ गया! अपनी झोंपड़ीकी एक कुटियामें जो उनके लिये विशेषरूपसे तैयार की गयी थी वह लेट गये और बोलने लगे—'ऐ मेरे प्यारे, मैं कुछ समयके लिये तुम लोगोंसे दूर हो जाऊँगा—आँखोंसे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ओझल हो जाऊँगा। (उन्होंने यह नहीं बतलाया कि कितने दिनके लिये।) यह शरीर जलाने या गाड़नेके लिये प्राप्त न होगा। मैं शुद्ध निर्विकल्प समाधिमें हूँ। कुछ समयतक मैं सिद्धरूपमें विचरण करूँगा। मैं केवल भारतमें ही नहीं बल्कि पाश्चात्य देशोंमें भी काम करूँगा। मैं अन्तमें दिव्य शरीरमें लौटूँगा। अब सारे दरवाजे और खिड़कियोंको बंद करके ताला दे दो। पूर्णतः बंद करके सील कर दो। यदि कोई आश्चर्यान्वित होकर इसे खोलेगा तो इसे बिल्कुल खाली पावेगा।'

४९७८ कलि अब्दमें मकर मासकी १९ वीं तिथिको शुक्रवारको यह घटना घटी। अर्द्धरात्रिके पूर्व पुनर्वसु नक्षत्र उदित था। उस कुटिया और झोंपड़ीमें सावधानीसे ताला लगा था। आश्चर्यसे भरे हुए लोग रातदिन झोंपड़ीको घेरे रहे। बहुतेरे लोग चौकन्ने होकर देख रहे थे कि कोई चाल तो नहीं चली जा रही है। अधिकारी भी वहाँ थे। लेकिन जब आश्चर्यसे लोगोंने कोठरीको खोला और भीतर देखा तो वह खाली पड़ा था। यह घटना अब भी रहस्य और आश्चर्यमें पड़ी हुई है!

जीवनरास

(लेखक—पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम० ए०)

नाचूँ, नाचूँ मैं महाराज।
मधुवा लूब, बदमस्तीवाला, नाचूँ पी-पी आज।
हरि मोरे पिय, मैं हरिकी पियारी, नाचूँ हो निरलाज॥
नाचूँ, नाचूँ मैं महाराज॥

—स्वामी रामतीर्थ

हरिके ताल और संकेतपर हम सभी नाच रहे हैं। यह नृत्य अविराम प्रतिपल प्रतिछन चल रहा है। हम चाहें भी तो इस नृत्यसे अलग नहीं हो सकते। समस्त सृष्टि, अखिल ब्रह्माण्ड हरिके नूपुरोंकी रुमझुमकी झंकारसे झंकृत है। एक क्षण भी ऐसा नहीं होता जब माधवकी मुरली न बजती हो, एक पल भी ऐसा नहीं बीतता जिसमें उनके नूपुर एक विशिष्ट स्वरलहरीके साथ न बज रहे हों। समस्त ब्रह्माण्ड, अनन्त लोक नटनागरके चरणोंमें छोटे-छोटे परमाणुओंके समान घुघुरूके चारों ओर नाच रहे हैं और जो कुछ भी गति अथवा स्पन्दन है वह उस अखण्ड नृत्य-विलास, लीलामाधुर्यसे अनुप्राणित तथा अभिप्रेरित है। हृदयके अन्तःपुरमें अथवा विश्व-वृन्दावनमें, समान भावसे भीतर-बाहर एक अमित उल्लासके साथ यह रास हो रहा है। इस रासकी फाँसमें हम सभी गँथे हुए हैं। रासकी अमृतधारामें हम सभी बेसुध हैं, बेसँभार हैं।

बीचमें त्रिभुवनमनमोहन श्यामसुन्दर नटनागर आदिशक्ति जगज्जननी, महामाया राधारानीके साथ महा-भावका रस बरसाते हुए, एक दिव्य लास्यमें, एक अप्राकृत भावभंगी तथा स्वर-मूर्च्छनाकी सृष्टि कर रहे हैं। यही प्रकृति-पुरुषका लीला-विलास है, यही माया और माया-पतिका अलौकिक महामिलन है। जगत्का सारा आनन्द, सारा शृङ्गार, सारा माधुर्य, सारा शोभा और सारा लावण्य उस मूल संयोगकी एक लहरका लीला-विलास है। सब कुछ वहींसे आ रहा है। वही मूलस्रोत है, वही सत्य सनातन मधु-उत्स है। वहींसे नित्य-निरन्तर अमृत झरता रहता है। वह 'संयोग' ही सृष्टिकी मूल प्रेरणा है, वहीं सत्-चित्-आनन्दका उन्मेष होता है।

और हम जीव? हम भी तो उस मूल चिरन्तन रासकी झंकारमें प्राणोंका स्पन्दन, हृदयकी धड़कन और साँसोंकी ताल मिलाकर उसी दिव्य संकेतपर अहर्निश नाच रहे हैं। एक क्षणका भी तो विराम नहीं है। हो कैसे! आनन्दकी जो बहिया उस मूल रस निर्झरिणीसे उमड़ी आ रही है वह विराम लेने दे तब न। वह आती है, अविरल प्रवाह उसका हमारी दिशामें है, वह आती है और आ-आकर अपनी मधु-मदिर लीला-लहरमें हमारे रोम-रोमको, कण-कणको आप्लावित कर जाती है। वसुन्धराका एक-एक अणु उस दिव्य रासके रसमें सराबोर है। सभी गुप-चुप हैं, बोलें तो क्या, और किससे? यह आनन्द कैसे और किससे कहा जाय? हम सभी, हमारेमें प्रत्येक तो अपने भीतर हरिको बंद किये बैठे हैं—ऐसा मानो किसी औरकी नजर न लग जाय; हमारी इस निधिपर कोई छापा न मारे। भीतरकी लीला कोई कैसे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कहे ! कृपणके समान उसे जुगा रखना और अपने ही आप उसमें छके रहना, उसके रसमें डूबे रहना, वाणीको भीतर ले जाकर उसी रसमें डुबो देना, आँखोंको भीतर ले जाकर उसी अपरूप रूपको एकटक निरखते रहना, कानोंको भीतर ले जाकर उसकी नूपुर और मुरलीके स्वपर लुभाये रहना···अवकाश ही कहाँ है कि बाहर आकर कुछ कहने-सुननेकी लालसा जगे ? वहाँ तो जो पलकें गिर जाती हैं—वह एक क्षण ही असह्य हो उठता है !

कहा करों सुन्दर मूरत इन नैनन माँझ समानी ।
निकसत नाहिं बहुत पचिहारी रोम-रोम उरझानी ॥
अब कैसे निर्वार जात है, मिले दूध ज्यों पानी ।
सूरदास प्रभु अन्तर्यामी ग्वालिन मनकी जानी ॥

यही एकान्त आनन्द है, यही एकान्त मिलन है, यही हमारा हरिके साथ अपना अनोखा रास है । अपने भीतर समाकर, उस छबिको निरखते हुए, प्रभुके पदसञ्चारण-की मधुर प्रक्रियाके अनुसार ही, उसकी प्रतिध्वनिके रूपमें, जब हमारे प्राण-प्राण रुमझुम-रुमझुमकी झंकारमें अपनी गतिको मिलाकर, उसके आलिङ्गनमें बँधकर, नृत्य-सम्मोहन-में तल्लीन हो जाते हैं; उस समय जब हरिकी पैंजनी और हमारे प्राणकी झंकार एक—'एक' सर्वथा एक होकर हृदयके वृन्दावनमें गूँज उठती है और उस रसधारामें संयोगकी जो अमृत-अनुभूति होती है वह·····!! जन्म-जन्मान्तरोंसे, कोटि-कोटि जन्मोंसे भीतरका रास एक क्षण-के लिये भी न रुका; मेरी आत्मा, मेरे प्राण, मेरे रोम-रोम इस निरन्तर रास-लीलाके आनन्दमें उदबुद हैं ! यह रस सदा-से पीता आया हूँ—प्रतिक्षण पीता रहता हूँ, सदा पीता रहूँगा । यही तो हमारा सत्य स्वरूप है, यही तो हमारे अनावृत प्राणोंकी अनवरत क्रीड़ा है, यही तो हमारा अपने 'जनम जनमके साथी' के साथ मधुर मङ्गल मिलन है ! यही सहज जीवनका अनाच्छादित रूप है । यही वास्तविक योगधारणा है । इस मिलनकी अतृप्त वासना—सदा उसके आलिङ्गनपाशमें बँधे होनेपर भी बार-बार उसे देखते रहनेका लोभ !

जनम अवधि हम रूप निहारनु
नयन ना तिरपित भेल ।
लाख लाख युग हियाय राखनु
तबू हिया जूड़ ना गैल ।
वचन अमिय अनुक्षण शुनलू
श्रुतिपथ परश न भैल ॥

जन्म-जन्मसे हम उस रूपको देखते आये हैं पर आँखें तृप्त न हुईं । लाख-लाख युगोंसे उसे हृदयमें छिपा रखा फिर भी हृदय जुड़ाया नहीं । प्रतिक्षण उसकी बातें सुनता हूँ फिर भी मानो उसकी वाणीने कभी मेरे कानोंका स्पर्श भी नहीं किया !

आश्चर्य, महान् आश्चर्य तो इसमें है कि हममेंसे प्रत्येक यही अनुभव करते हैं कि हमने ही, केवल हमने ही हरिको अपने प्राणोंमें छिपा रखा है, हम ही इस अमृत-आनन्दका रस पीते हैं, केवल हमें ही रासका संयोग हमारे प्राणाधारने दिया है ! हम यही समझे बैठे हैं कि हरिका मुख मेरी ही तरफ केवल मेरी ही तरफ है, उनकी अलकावलिमें जो लहरें हैं, उनकी भ्रूमें जो भङ्गिमा है, गलेमें जो नीचेतक लटकती हुई दिव्य मनोहर वन-पुष्पों-की माला है यह केवल हमें ही देखनेको मिल रही है । हम उस दिव्य झाँकीमें अपने आपको भूलकर जब अपने-को खो बैठते हैं और स्पष्ट यह दीखने लगता है कि आगे हरि, पीछे हरि, दाहिने हरि, बायें हरि, ऊपर हरि, नीचे हरि, भीतर हरि, बाहर हरि, केवल हरि ही हरि, हरिके सिवा कुछ है ही नहीं—उस अपार आनन्दमें अलमस्त होकर भीतर ही भीतर यह अनुभव करने लगते हैं—

तुमि बंधु तुमि नाथ, निशादिन तुमि आमार ।
तुमि सुख तुमि शान्ति तुमि हे अमृत पाथार ॥
तुमि तो आनन्दलोक जुड़ावो प्राण नाशो शोक ।
तापहरन तोमार चरन असीम शरन दीन जनार ॥

तब ऐसा मालूम होता है कि इस आनन्दका औरोंको क्या पता ? औरोंको हरिके इस रास-रसका क्या अनुभव ? यह तो बस हमारा ऐकान्तिक आनन्द है । यह है भी वास्तवमें स्वाभाविक ही । रासमें प्रत्येक गोपी यही जानती थी कि कृष्ण केवल हमारे ही साथ हैं । उन्हें यह पता नहीं था कि उनका दाहिना हाथ भी कृष्णके हाथमें और बायाँ हाथ भी कृष्णके हाथमें था । उन्हें यह भी देखनेका अवसर नहीं था कि सामने बीचमें, समस्त विस्तारके केन्द्रमें जो कृष्ण खड़ा है उसके साथ भी एक 'और' है । उस 'और' की ओर देखने-दिखानेका उन्हें अवकाश ही कहाँ था ! मिलनके पूर्व राधाका शृङ्गार जो वे अपने हाथों

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

करती थीं उसमें उनका अपना ही स्वार्थ था—उनके प्राणाराम हरिको प्रगाढ़ आनन्द मिले, उनके प्रियतम परम सुखी हों—एकमात्र यही उनका अभिप्राय था। राधाके मिस कृष्णका आनन्द बढ़े इससे बढ़कर उनके सुखका कारण क्या हो सकता था? यह सब होते हुए भी गोपियोंका हरिसे मिलना राधाको मध्यस्थ बनाकर नहीं था—'मध्यस्थ' की गुंजाइश ही कहाँ? वहाँ तो बीचका एक हार ही खल रहा था। हरिके स्पर्शमें उनके प्राण बेसुध थे, डूबे हुए थे। सखीके प्राणोंमें भी हरिकी वही लीला हो रही है जो उनके भीतर—यह समझनेकी सुध ही उन्हें कहाँ थी? अरे! उन्हें तो अपने शरीरका भी भान नहीं था। रासके पूर्व ही, ज्योत्स्नाप्लावित यमुनातट-पर कुञ्जोंके भीतरसे माधवने जब मुरली छेड़ी—बस उस टेरपर ही तो वे प्राणोंको बेंच चुकी थीं। इस आवाहन, इस आमन्त्रणने उनके हृदयको, समग्र चेतनाको अभिभूत कर लिया, वशीभूत कर लिया। कानकी बाली हाथके कङ्कणमें, गलेका चन्द्रहार कटिकी करधनीमें परिवर्त्तित हो गयी तो क्या? वे अपने प्राणप्यारे बच्चोंको दूध पिला रही थीं, बीचमें ही बच्चेको छोड़कर चल दीं। उस आमन्त्रणका सम्मोहन ही ऐसा प्रगाढ़ था। अपनेको सँभाल सकें—यह कैसे होता? जिस प्रकार नदी समुद्रके पास आ जानेपर शत-शत धाराओंमें विकल होकर, पागल होकर मिलनेके लिये दौड़ती है यही दशा उन गोपियोंकी भी थी। कई जन्मोंसे वे हरिको प्राणवल्लभके रूपमें पानेके लिये जप-तप करती आयी थीं। आज जब उनका चिरवाञ्छित प्रणय परिणय-दशाको—वह भी स्वयं प्राणाधारकी अनन्य अनुकम्पासे प्राप्त हो रहा है—'वह' स्वयं उन्हें बुला रहा है कि आओ अपनी जन्म-जन्मकी साध पूरी करो, अपने भूखे-प्यासे प्राणोंको जुड़ाओ—तो वे कैसे अपनेको सँभाल सकतीं? यही तो उनकी एकमात्र साध थी, एकमात्र आकांक्षा थी। हरिने स्वयं अपार-अहैतुकी दया करके उन्हें अपनाया, अपने रासके रसमें सराबोरकर उन्हें सदाके लिये निहाल कर दिया।

श्यामने मुरली मधुर बजाई।
सुनत टेर तनु सुधि बिसारि सब गोपबालिका धाईं॥
लहँगा ओढ़ि, ओढ़ना पहिरे कंचुकि मूकि पराई।
नकबेसर डारे स्रवनन महँ, अद्भुत साज सजाईं॥
धेनु सकल तृन चरन बिसार्‌यो ठाढ़ी स्रवन लगाईं।
बछुरनके थन रहे मुखन महँ, सो पयपान भुलाईं॥
पसु-पंछी जहँ तहँ रहे ठाढ़े मानो चित्र लिखाईं।
पेड़ पहाड़ प्रेमवस डोले, जड़ चेतनता आईं॥
कालिन्दी प्रवाह नहिं चाल्यो, जलचर सुधि बिसराईं।
ससिकी गति अवरुद्ध, रहे नभ देव बिमानन छाईं॥
धन्य बाँसकी बनी मुरलिया बड़ो पुन्य करि आईं।
सुर मुनि दुर्लभ रुचिर बदन नित, राखत स्याम लगाईं॥

उसी 'मधु'का गीत उपनिषद् गाते हैं, गाते-गाते अघाते नहीं—

मधु वाता ऋतायते। मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः। मधु नक्तमुतोषसः। मधुमत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता। मधुमान्नो वनस्पतिः। मधुमानस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः।

उसी मूल मिलन-मधुका अमृत पवनमें है, नदियोंमें है, वनस्पतियोंमें है, रात्रिमें है, प्रभातमें है, सन्ध्यामें है। आकाशमें है, ओषधियोंमें है, सूर्यमें है। वही माधुर्य हमारी वाणीमें हो।

आजसे पाँच हजार वर्ष पूर्व वृन्दावनमें जो रास हुआ वह उसी नित्य-निरन्तर होनेवाले रासका प्राकट्यमात्र था जो समय पाकर अन्तर्हित हो गया। हमारी स्थूल आँखोंसे वह भले ही ओझल हो गया परन्तु वह तो सृष्टिके आदिसे होता आ रहा है—सदैव होता चलेगा। सृष्टिके प्राणोंमें जो मूलस्पन्दन है वह उस रासके कारण ही। रास एक क्षणके लिये भी रुका कि सृष्टिका प्रवाह रुका। दुनिया उसीपर तो जी रही है, उसीपर चल रही है। हम इसी आशामें तो जी रहे हैं कि एक दिन आयेगा जब पुनः हमारी स्थूल आँखोंके सामने वृन्दावनका वही रास पुनः छिड़ेगा। समस्त संसार इसी विश्वासमें चल रहा है नहीं तो कभी न इसकी 'इति' हो गयी होती!

'सूत्रे मणिगणा इव' हम सभी उस परम दिव्य रासमें गुँथे हुए हैं। हमारी आत्मामें जो रति-आनन्द है, स्वर्ग-सुख है, वह उसी मूल रासकी लहर है। सभी आत्माओंमें बस वही 'एक' चराचरका पति रमण कर रहा है। वही हमारा एकमात्र गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण और सुहृद् है। 'पुरुष' तो केवल वही एक है, शेष सब कुछ उसकी भोग्या है। मीराने वृन्दावनमें जीव गोस्वामी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

से जो कुछ कहा था उसका अनुभव प्रायः प्रत्येक प्राणी करता है पर कहनेका साहस नहीं करता; उसे अपना सत्य रूप प्रकट करनेमें लज्जा आती है, संकोच होता है। मीराके लिये ही क्यों, समस्त प्राणियोंके लिये ही यह सिद्ध है कि कृष्णके सिवा कोई पुरुष है ही नहीं, केवलमात्र श्रीकृष्ण पुरुष हैं हम सभी उसी एककी 'प्रकृति' हैं। जिस क्षण हमारा यह अनुभव तीव्र और व्यापक हो जाता है, जब हम अपनी आत्माके सत्य स्वरूपमें पहुँचते हैं और वहाँ स्थित होकर सृष्टिपर दृष्टि डालते हैं तो सनातन रासधाराकी कुछ झलक मिलती है। इसे ही आत्मरमण अथवा आत्म-रति कहते हैं। आत्माका आत्मामें रमण—प्राणेश्वर कृष्णका राधारूपिणी आत्मामें रमण यही है। यही भूमाका आनन्द है, यही 'रसो वै सः' है। यही एकमात्र रस है। यही चन्दन और पानीका संयोग है—जिसकी सुगन्धि, जिसकी वास अंग-अंगमें, विश्वके कण-कणमें समायी हुई है। यही दीपक और बातीका संयोग है जिसका तेज, जिसका प्रकाश, जिसकी 'जोत' चराचरको दिन-रात जगमग किये हुए है।

यह आनन्द, यह सुगन्धि, यह ज्योति हम सभीके हृदयमें छिपी हुई है। मिलन तो सर्वत्र हो रहा है 'सब घट हौं विहरौं।' 'सब घट मेरा साइयाँ, सूनी सेज न कोय।' आत्माकी कोई भी सेज सूनी नहीं है। 'वह' सबमें विहर रहा है, रमण कर रहा है। सर्वत्र रास छिड़ा हुआ है।

ऐसे पियै जान न दीजै हो।
चलो, री सखी! मिलि राखिये, नैनन रस पीजै हो।
स्याम सलोनो साँवरो मुख देखत जीजै हो॥
जोइ जोइ भेष सों हरि मिलें, सोइ सोइ कीजै हो।
मीराके प्रभु गिरधर नागर बड़भागन रीजै हो॥

जहाँ दृष्टि भीतर फिरी कि भीतरके रूपपर वह निछावर हो जाती है। वहाँका आनन्द, वहाँकी शोभा चुपके-चुपके पीते रहनेकी ही है। ऐसे 'पिय' को पाकर भला कोई क्यों छोड़े? छोड़कर जी ही कैसे सकेगा? वह तो प्राणोंका प्राण, जीवनका आधार है, हृदयका वल्लभ है, प्राणाराम, प्राणवल्लभ है। उसीकी प्राप्तिके लिये तो सारी विकलता, सारा उद्वेग है। प्रभुकी अतल शीतल अमृत छायामें जाकर फिर संसारके पाप-तापमें जलनेके लिये कोई क्यों आवे। वहाँ तो बस गुप-चुप रस पीते रहना है, संसारकी ओरसे आँखें मूँदकर। उसीको पानेके लिये, उसीमें मिलनेके लिये तो संसारमें अनेक नाते जोड़ रखे थे—पर सभी नाते जहाँ एक साथ और दिव्य भावमें पूर्ण हो रहे हों उसे क्यों छोड़ा जाय, कैसे छोड़ा जाय, छोड़ते बनेगा ही क्यों? वही हमारा एकमात्र सच्चा 'अपना' है, किसी भी वस्तुसे प्रिय है। वह तो स्वयं मेरी आत्माका आत्मा है, मेरा 'मैं' है अतएव वह प्रियसे प्रिय वस्तुसे भी अधिक प्रिय और सन्निकट है। 'उस' प्रियतमसे बढ़कर है ही कौन? बस 'जोइ जोइ भेष सों हरि मिलै सोइ सोइ कीजै हो!' जिस किसी प्रकार हरिसे मिलन हो वही करना चाहिये।

मैत्रेयीको समझाते हुए याज्ञवल्क्यने भी तो यही कहा था 'अरी मैत्रेयी! सबके लिये सब प्यारे नहीं होते, आत्माके लिये ही सब प्यारे होते हैं'। उस परम सम्बन्धकी मधुरताका आभास ही इन सांसारिक सम्बन्धोंमें है और इसीलिये ये प्रिय लगते हैं—

न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।

उस परमानन्दकी प्यास नचिकेताके हृदयमें जग चुकी थी, इसीलिये न यमके सारे प्रलोभनोंकी ओर उसने आँख-तक न फेरी। अल्पका सुख उसे आकृष्ट न कर सका। वह तो अक्षय आनन्दकी खोजमें था। संसारकी कोई भी वस्तु, कोई भी वैभव उसे मुग्ध कैसे कर सकता? हम तो परमानन्दसे उपजे हैं, आनन्दसे ही जी रहे हैं और प्रति-क्षण उस दिव्य आनन्दमें ही प्रवेश कर रहे हैं। आनन्दके इस परम पारावारमें हम उभचुभ हो रहे हैं, चारों ओरसे उसीके द्वारा आवेष्टित हैं। उसीमें हम तैर रहे हैं, केलि कर रहे हैं, स्वच्छन्द विचरण कर रहे हैं—ठीक जैसे मछली जलमें।

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।
(तैत्ति० ३। ६)

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्यः। (छान्दो० ७। २३। १)

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद्। यदेष आकाश आनन्दो न स्याद्। एष ह्येवानन्दयति। (तैत्ति० २। ७)

आनन्दसे ही निश्चय ये प्राणी उत्पन्न होते हैं। आनन्द-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

से ही उत्पन्न हुए जीते हैं और अन्तमें आनन्दमें ही प्रवेश कर जाते हैं।

जो भूमा यानी महान् निरतिशय है, वह सुख है। अल्पमें सुख नहीं है, भूमा ही सुखरूप है। भूमा ही तुझको जानना चाहिये।

वह निश्चय रस है, इस रसको पाकर ही आनन्दवाला होता है, जो हृदयाकाशमें यह आनन्द न हो तो कौन श्वास ले, कौन प्रश्वास ले? यही आनन्द देता है। इस आनन्दकी मात्रासे ही अन्य प्राणी जीते हैं।

उस मूल आनन्दके कारण ही समस्त प्राणी श्वास-प्रश्वास ले रहे हैं। वह आनन्द सर्वत्र छाया हुआ है। वही वह केवल है— जैसे और कुछ हो ही नहीं। कण-कण उस आनन्दमें भिना हुआ है। सर्वलोकमहेश्वर जलमें रस बनकर, सूर्य-चन्द्रमें प्रकाश बनकर, पृथ्वीमें गन्ध बनकर, आकाशमें शब्द बनकर, वायुमें वेग बनकर— और तो और 'मृत्युः सर्वहरश्चाहम्' जीवनमें मृत्यु बनकर हमारे भीतर-बाहर मँडरा रहा है। उसके अंग तो सदा अनावृत हैं, वह तो सदा-सदैव मिलनेके लिये बाँहें फैलाये खड़ा है। आवरण तो हमने स्वयं अपने ऊपर डाल रखा है। हम स्वयं उसकी आँखोंसे बचकर रहना चाहते हैं। हम स्वयं सोचते हैं कि इस मलिन वेशको लेकर उसके पास क्या जाना? परन्तु हमारा उदार हरि तो हमें हर रूपमें अङ्गीकार करनेके लिये व्याकुल है। वह कहता है— अरे ये शृङ्गार किसलिये? आओ जैसे भी हो; आओ— तुममें अपना आनन्द ढालूँ, तुम्हें अपना प्रेम पिलाऊँ, तुम्हें अपने आलिङ्गनके मधुसे नहला दूँ—

Come as you are; do not loiter over the toilet. If your braided hair has loosened, if the parting of your hair be not straight, if the ribbon of your bodice be not fastened, do not mind. Come as you are do not loiler over the toilet.

Come with quick steps over the grass. In vain you light the toilet lamp, it flickers and goes out in the wind. Who can know that your eyes have not been touched with lamp-black. If the wreath be not woven who cares? The sky is overcast with clouds, it is late; come as you are do not loiter over the toilet. —*Tagore*

'आमन्त्रण'के इन प्यारभरे आकुल शब्दोंको सुनकर हृदयका रेशा-रेशा प्रेममें भींग जाता है, प्राणोंकी कली खिल उठती है और उसकी एक-एक पँखुड़ीपर प्रभुकी साँवरी मूर्त्तिकी आभा पड़ने लगती है। लज्जा छोड़कर, आवरण हटाकर हाहाकारके साथ प्राण उसके चरणोंमें दौड़ते हैं। जो अपना सबसे प्रिय है उससे अबतक इतना दुराव, इतनी बेरुखी! हृदयका नग्न रूप, हमारे जीवनके प्रत्येक पहलूका नग्न रूप उसके सामने आता है और वह प्रेमभरी दृष्टिसे मुसकराकर इसकी ओर निहारता है। आत्माका यही अभिसार है, यही हरिचरणानुसरण है, यही साजनके घर जाना है।

करि सिंगार तापहँ का जाऊँ?
ओही देखउँ ठाँवहिं ठाँऊँ॥

प्रभुके साथ हमारे परिणयकी यही मङ्गल वेला है। इसी पावन मुहूर्त्तमें हरि हमारा पाणि-ग्रहण करते हैं। इसी शुभ घड़ीमें उनका हमारे साथ ग्रन्थिबन्धन होता है। हम उनके रंगमें रँगकर, सर्वथा उनका ही होकर गा उठते हैं—

मैं अपने सैयाँ सँग साँची।
अब काहे की लाज सजनी परगट है नाची॥

ब्राह्मण-सेवासे लाभ

धर्ममूर्ति भगवदंशावतार महाराजा पृथुने कहा कि जिन ब्राह्मणोंकी सेवासे वह सर्वान्तर्यामी स्वयंप्रकाश ब्राह्मणोंके प्रिय परमात्मा प्रसन्न होते हैं, भगवद्धर्ममें तत्पर तुमलोग भी नम्रतापूर्वक शरीर, मन और वाणीसे उन ब्राह्मणोंकी सेवा करो। जिन ब्राह्मणोंकी निष्कपट सेवासे मनुष्य बिना ही अभ्यासके अपने आप ही शीघ्र शुद्ध होकर मोक्षको प्राप्त करता है, उन ब्राह्मणोंके सिवा जगत्में देवताओंका दूसरा मुख और कौन-सा है।*

* स्थानाभावसे 'ब्राह्मण और ब्राह्मण-सेवासे लाभ' शीर्षक पूरा लेख इस अंकमें प्रकाशित नहीं हो सका। अगले अंकमें लेख प्रकाशित करनेका विचार है। —सम्पादक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पूर्वजन्मकी प्रत्यक्ष सिद्धि

आत्माकी नित्यता, पुनर्जन्म, परलोक आदि सत्य सिद्धान्त हिन्दूसनातनधर्मकी विशेषता है। महर्षियोंने भलीभाँति देख-जाँच करके प्रत्यक्ष अनुभव करके इन सिद्धान्तोंकी स्थापना की है। समय-समयपर इनका सत्य स्वरूप ऐसे विलक्षण रूपमें प्रकाशित होता है कि जिससे जगत् चकित हो जाता है और अविश्वासियोंको भी बाध्य होकर इनके सत्य होनेपर विश्वास करना पड़ता है। अभी कुछ ही दिनों पूर्व दिल्लीमें एक जाति-स्मर नौ वर्षकी कन्याने अपने पूर्वजन्मको प्रमाणित कर दिखाया है। यह घटना अपूर्वपूर्व नहीं है। कुछ ही समय पूर्व बस्तीमें तथा बरेलीमें भी दो लड़कोंने अपने पूर्वजन्मका हाल बतलाया था और कहते हैं कि उनकी बतलायी हुई बातें सच्ची साबित हुई थीं। परन्तु दिल्लीकी यह ताजी घटना तो अभी हालमें ही जाँच-पड़तालके द्वारा सच्ची साबित हुई है। इसके सम्बन्धमें एसोशियेटेड प्रेसने जो वक्तव्य दिया है उसका सार इस प्रकार है—

इस लड़कीका नाम शान्ति है, जो ११ दिसम्बरको ९ वर्षकी हुई है। उसने जबरदस्त प्रमाणोंसे यह साबित कर दिया कि आत्मा एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है। उसने अपनी पूर्वजन्मकी बात ठीक बताकर सनसनी पैदा कर दी है। वह श्रीरंगबहादुर माथुरकी पुत्री है जो दिल्लीके चीराखाना मुहल्लेमें रहते हैं।

कहा जाता है कि शान्ति जब पाँच वर्षकी थी, तभी वह मथुरा जानेकी इच्छा प्रकट किया करती थी, और कहती थी कि मेरे पहलेके माता-पिता और पति सपरिवार मथुरामें रहते हैं। पर उस समय किसीने उसकी बातोंकी ओर ध्यान न दिया। पर हालमें युक्तप्रान्तके एक रिटायर्ड प्रिंसिपल श्रीकृष्णचन्द्रको उस लड़कीमें बहुत दिलचस्पी बढ़ गयी, और वे विशेष हाल जाननेके लिये उत्सुक हुए। वह लड़कीके एक रिश्तेदार मास्टर बिशुनचन्द और श्रीताराचन्द एडवोकेटके साथ लड़कीके घर गये, और लड़कीसे उसके पूर्वजन्मके सम्बन्धमें बातें कीं। लड़कीने विश्वास करने योग्य उत्तर दिये। उसने कहा कि मैं पूर्वजन्ममें मथुराके एक चौबेके घरमें पैदा हुई थी, और वहाँके एक चौबेसे मेरा विवाह हुआ था। जब लड़कीसे उसके पतिका नाम पूछा गया तो पहिले वह बहुत शर्मायी। पर जब अधिक आग्रह किया गया तो उसने प्रिंसिपल किशनचन्दके कानमें धीरेसे पतिका नाम केदारनाथ बताया। उसने वह जगह भी बतायी, जहाँ केदारनाथकी कपड़ेकी दूकान थी।

लड़कीकी ये बातें सुननेके बाद प्रिंसिपल किशनचन्दने पं० केदारनाथके नाम एक चिट्ठी डाकसे भेजी और कई दिनके बाद चिट्ठीका जवाब आया। इसपर सब लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। कुछ दिनोंके बाद पं० केदारनाथ स्वयं अपने पुत्र, दूसरी स्त्री और कई मनुष्योंके साथ दिल्ली आये, और इन लोगोंसे मिले। लड़कीने तुरन्त अपने पतिको पहचान लिया और कुछ शर्मायी, पर जब उसने अपने पुत्रको देखा तो वह रोने लगी और प्रायः एक घंटे-तक सिसकियाँ भरती रही। यह दृश्य देखकर सबके दिल भर आये। इसके बाद लड़की अपनी गुड़ियाँ और ताशके पत्ते उस लड़केके खेलनेके लिये ले आयी। लड़कीने कहा कि जब यह लड़का सिर्फ दस दिनका था तभी मैं मर गयी थी। पं० केदारनाथने इस बातको सच बताया। जब पं० केदारनाथ अपने पुत्रके साथ मथुरा विदा हुए तो शान्ति भी उनके साथ जानेके लिये तैयार हुई, पर उसके माता-पिताने यह उचित नहीं समझा और लड़कीका मन बहलानेके लिये वे उसे मोटरमें घुमाने ले गये।

जब यह समाचार नगरोंमें फैला तो बहुतेरे मनुष्य लड़कीको देखनेके लिये आये। तीन दिनतक उत्सुक मनुष्योंकी भीड़ लगी रहती थी। लगभग डेढ़ लाख मनुष्योंने शान्तिको देखा होगा।

लड़कीकी मथुरायात्रा

शान्ति मथुरा जानेकी प्रबल इच्छा प्रकट किया करती थी और कहती थी कि यदि मुझे मथुरा ले चलो तो मैं अपने 'पति' का घर दिखा दूँगी। वह मथुराके घाटों, गलियों और द्वारकाधीशके मन्दिरकी चर्चा किया करती थी। लड़कीकी बातोंको आजमानेके लिये एक दिन २० आदमी लड़कीके साथ मथुरा रवाना हुए। इन मनुष्योंमें लड़कीके पिताके अतिरिक्त 'तेज' पत्रके डाइरेक्टर लाला देशबन्धु गुप्त, पं० नेकोराम शर्मा, श्रीगुरुदयाल लाल और श्रीताराचन्द थे। जब उनकी ट्रेन मथुरा स्टेशनके निकट पहुँची तो लड़की बहुत प्रसन्न मालूम हुई, और उसने चिल्लाकर कहा—'मथुरा आ गया।'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लड़कीके साथके आदमियोंसे यह अच्छी तरह कह दिया गया था कि लड़कीको मथुराकी कोई बात न बतायी जाय। शान्ति लाला देशबन्धुकी गोदमें थी, पर ज्यों ही उसने अपने पतिके बड़े भाई बाबूलाल चौबेको देखा, जिसे उसने पहले कभी नहीं देखा था, वह उनके पास गयी और उनके पैर छुए। लोगोंने पूछा कि यह कौन हैं? उसने कहा कि ये 'मेरे जेठ हैं।' शान्ति जब ताँगेपर बैठी तो उसके साथ चार सज्जन भी थे। ताँगेवालेसे कह दिया गया था कि लड़की जिधर-जिधरसे कहे उधर-उधरसे ताँगा ले चलो।

शान्तिने मार्गमें कहा कि सड़क पहिले अलकतरेसे नहीं बनी थी, और अब रास्तेमें नये मकान भी बन गये हैं। लड़कीने कहा कि हमलोग मोती दरवाजोंकी ओर जा रहे हैं, वहाँपर एक घड़ी लगी है। जब ताँगा वहाँ पहुँचा तो उसने वह स्थान पहचान लिया। ताँगा जब एक गलीके पास पहुँचा तो उसने कहा कि 'शायद यह गली मेरे घरकी ओर जाती है।' ताँगा छोड़कर अब सब लोग पैदल चले, और अब लड़की श्रीताराचन्दकी गोदमें थी। पर इतनेहीमें लड़कीने भीड़में एक वृद्ध ब्राह्मणको देखकर कहा कि—'ये मेरे ससुर हैं।' यह भी उसने ठीक बताया, और इसपर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ। कुछ और आगे बढ़नेपर लड़कीने एक घर दिखाकर कहा कि हमलोग पहले इस घरमें रहा करते थे, किन्तु बादमें यह घर किराये-पर दे दिया गया था। उसने यह भी कहा कि मेरे समयमें इस घरकी पोताई पीले रंगसे थी, पर अब उसपर सफेदी है। घरके भीतर जानेपर उसने एक कमरा दिखाकर कहा कि मैं इस कमरेमें रहा करती थी।

मेरठके एक प्रतिष्ठित व्यक्ति भी लड़कीकी बातोंकी सत्यताका पता लगाने साथमें आये थे। उन्होंने लड़कीसे पूछा—'अच्छा यह बताओ, पाखाना कहाँ है?' लड़की तुरन्त नीचे उतरकर गयी, और उसने पाखानेकी कोठरी बतायी। कुछ देर बाद वे एक धर्मशालेमें गये, जहाँ लड़कीने अपने पूर्वजन्मके खास भाई विट्ठलदास और अपने चचिया ससुर बनमालीको पहचाना। कुछ देर बाद शान्तिने कहा कि मुझे एक दूसरे घरमें ले चलो वहाँ मैंने गुप्त स्थानमें कुछ रुपये गाड़े थे। उसने घरमें जानेपर कुआँ भी बताया, जिसकी चर्चा वह दिल्लीमें किया करती थी। वहाँसे पत्थर हटानेपर कुआँ दिखायी दिया। इसके बाद वह ऊपर इस तरह चली गयी जैसे उसकी आदत है। उसने एक कमरेके कोनेमें दिखाया कि यहीं मेरा धन गड़ा हुआ है। वहाँ जब खोदा गया तो रुपया नहीं मिला पर वह जगह देखकर ऐसा मालूम हुआ कि किसीने हाल-हीमें वहाँ जमीन खोदकर रुपया निकाल लिया है।

मथुरामें एक और मनोरञ्जक दृश्य यह दिखायी दिया कि भीड़में जब लड़कीके पहलेके माता-पिता दिखायी दिये तो लड़कीने उन्हें पहचाना, वह अपनी माताकी गोदमें चली गयी, और वह उसकी गोदसे उतरना नहीं चाहती थी।

इसके बाद नदीकी ओर जाते हुए उसने द्वारकाधीश-का मन्दिर पहचाना। वहाँ पहुँचनेपर उसने अपना मस्तक झुकाया, और कहा कि ११ बजे इसके पट (दरवाजे) बंद हो जाते हैं।

शान्ति जितने दिन मथुरामें रही, उतने दिन उसने अपने पहलेके पुत्रको अपने पास रक्खा।

पं० नेकीराम शर्मा और लाला देशबन्धु गुप्तने एक संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित किया है, जिसमें लिखा है—इस मामलेकी जाँच करनेके बाद हमें इसमें कुछ भी सन्देह नहीं रहा है कि पहले जो पं० केदारनाथकी पत्नी थी और उसकी आत्मा शान्तिके शरीरमें आ गयी है। इस सम्बन्धमें हमने शान्तिकी जो कुछ बातें स्वयं अपनी आँखोंसे देखीं उनमें हमें जरा भी सन्देह नहीं है।

पं० नेकीराम शर्माने इस सम्बन्धमें मथुरामें एक सार्वजनिक सभा की थी, जिसमें लड़कीके सम्बन्धमें उन्होंने व्याख्यान दिया था। दिल्लीमें भी इसी सम्बन्धमें सार्वजनिक सभा होनेवाली थी।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीहरिः

दमे (Asthma) की दवा

गत वर्ष मुझको दमा (श्वास) की बीमारी हो गयी थी, प्रायः दो महीनेतक बड़ा कष्ट रहा। कई दवाइयाँ लीं परन्तु आराम नहीं हुआ। फिर यह पता लगा कि प्रयागके भूतपूर्व न्यायाधीश श्रीलालगोपाल मुकर्जी महोदयकी दमेकी बीमारी किसी साधुकी बतायी हुई दवासे दूर हुई थी, और वह दवा उनके यहाँसे मिल सकती है तब वह दवा मँगवाकर सेवन की गयी। जिस दिन दवा ली उसी दिन सबेरे दमेका दौरा हुआ था परन्तु दवा लेनेके बाद फिर आजतक दौरा नहीं हुआ। उसी दवाके बाँटनेकी व्यवस्था की गयी है। जिन सज्जनोंको चाहिये, यहाँ पत्र लिखकर मँगवा लें।

हनुमानप्रसाद पोद्दार
गीताप्रेस, गोरखपुर

कल्याण माघ संवत् १९९२ की

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-ध्रुवको मन्त्र-दान [कविता] (सूरदासजी)	११२५
२-पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश (प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी) ...	११२६
३-श्रीमद्भगवद्गीता और योगतत्त्वसमन्वयमीमांसा (श्रीगोवर्धनपीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री ११०८ श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज) ...	११२८
४-श्रीकृष्ण-दशावतार [कविता] (श्रीविनायकरावजी भट्ट)	११३३
५-नाम-जपका महत्त्व (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानसे)	११३४
६-कल्याण ("शिव")	११३८
७-पञ्चसंस्कार (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ...	११३९
८-समाधि और संयमतत्त्वसार (श्रीश्रीभार्गव श्रीशिवरामकिङ्कर स्वामी योगत्रयानन्दजी महाराजके उपदेश)	११४५
९-श्रीसीतारामसमीपता [कविता] (साहित्यरत्न पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस') ...	११४८
१०-परमहंस-विवेकमाला(स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)	११४९
११-मुरली-तान [कविता] (अज्ञात) ...	११५५
१२-कल्याणयोग (श्रीरुलियारामजी कश्यप एम० एस०सी०)	११५६
१३-श्रीहनुमान्‌जीकी उपासना कब करनी चाहिये ? (श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी) ...	११५८
१४-श्रीरासलीला-रहस्य (एक परमहंस महात्माका उपदेश)	११६०
१५-महापुरुष कौन है ? (श्रीयुत परिपूर्णानन्दजी वर्मा)	११६९
१६-ब्राह्मणका महत्त्व (हनुमानप्रसाद पोद्दार)	११७६
१७-गीता [कविता] (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री) ...	११८४
१८-भक्तराज महर्षि अगस्त्य और राजा शङ्ख ...	११८५
१९-भगवान्‌से [कविता] (पं० श्रीउमापतिजी शर्मा द्विवेदी 'कविपति') ...	११८९
२०-वेदान्तका सिद्धान्त [कविता] (पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज,एम० ए०,आचार्य,शास्त्री)	११९०
२१-सहजोका स्मरण (श्री 'माधव') ...	११९१
२२-बन्दी ! [कविता] (श्रीयुत पं० सत्यव्रतजी शर्मा 'सुजन' बी० ए०, शास्त्री) ...	११९५
२३-अन्तर्नाद [कविता] (कुँवर श्रीराजेन्द्रसिंहजी एम० ए०,एल-एल० बी०) ...	११९६
२४-निन्दाकी स्तुति (श्रीनारायणदासजी बाजोरिया, बी० ए०)	११९७
२५-चार स्मरणीय महात्मा ...	११९८
२६-ब्रह्मविद्याका महत्त्व (गोस्वामी श्रीगणेशदत्तजी)	१२०२
२७-बुझाने दो [कविता] (श्रीभोलादत्त देवरानी)	१२०४

सूचना

सन् १९३६ की गीताडायरी समाप्त हो गयी। कोई सज्जन माँग भेजनेका कष्ट न उठावें।

व्यवस्थापक—**पुस्तक-विभाग, गीताप्रेस, गोरखपुर**

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

"VEDANTA NUMBER"
of
THE "KALYANA-KALPATARU"

The "Kalyana-Kalpataru" has by the grace of God completed the second year of its existence and is now on the threshold of the third year. How far it has succeeded in fulfilling its mission is for the readers to judge. We have only to thank its numerous readers for having patronized this humble enterprise of ours and encouraging us. They will be glad to learn that the inaugural Special Number for this year will be a "Vedānta Number" which will provide a rich feast of spiritual food to its readers like its predecessors, the "God Number" and the "Gītā Number".

The "Vedānta Number" will throw light on the doctrines of the various schools of Vedānta such as the *Adwaita* Vedānta of Śankara, the *Viśiṣṭādwaita* of Rāmānuja, the *Śuddhādwaita* of Vallabha, the *Dwaita* school of Madhva and the *Dwaitādwaita* of Nimbārka, and will thus cover practically the whole range of Hindu religious thought.

The "Vedānta Number" will comprise articles from the pen of pious saints and men of religious experience as well as distinguished scholars and will contain beautiful illustrations representing both the Indian and the English schools of art.

The articles so far received and expected include the contributions of Jagadguru Sri Sankaracharya or shortly Swami Sri Bharati Krishna Tirthaji, Jagadguru Swami Sri Anantacharyaji, Sri Aurobindo, Swami Abhedanand Ph. D., Swami Asanganand, Swami Suddhanand, Sri Rama Swami, Swami Sivananda, Sri Krishna Prem, Dr. Ganganath Jha, M. A., LL. D., D. Litt., Syt. Hirendranath Dutt, M. A., B. L., Vedantaratna, Pt. Kokileshwar Sastri, M. A., Vidyaratna, Principal P. Seshadri, M. A., Syt. Basantkumar Chatterjee, M. A., Dewan Bahadur K.S. Ramaswami Sastri, B. A., B. L., a Pratiṣṭhatyagi Mahatma, Dr. Jadunath Sinha, M. A., D. Litt., Syt. Sridhar Mojumdar, M. A., Professor Benoy Kumar Sarkar, M. A., Prof. S. V. Dandekar, M. A., Mr. Y. Subrahmanya Sarma, Dr. Muhammad Hafiz Syed, M. A., Ph. D., D. Litt., Dr. Mahendranath Sircar, M. A., Ph. D., Goswami Damodarji Sastri, Syt. Anilbaran Ray, Syt. Dilipkumar Ray, Syt. Chintaharan Chakravarti, M. A., Syt. A. B. Purani, Syt. Nakuleshwar Mojumdar, B. A., B. T., Syt. Jayadayal Goyandka, Syt. Hanumanprasad Poddar, Dr. Umesha Mishra, M. A., D. Litt., and others.

Price Rs. 2/8. only; cloth-bound Rs. 3/-. Those who will subscribe for the whole year and pay Rs. 4/8. will get the "Vedānta Number" free.

Intending subscribers are requested to enrol themselves at an early date.

Manager,
Kalyana-Kalpataru,
GORAKHPUR.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जनन्याभिहितः पन्थाः स वै निःश्रेयसस्य ते । भगवान् वासुदेवस्तं भज तत्प्रवणात्मना ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(भगवान् श्रीकृष्ण)

वर्ष १० | गोरखपुर, माघ १९९२, फरवरी १९३६ | संख्या ७ पूर्ण संख्या ११५

ध्रुवको मन्त्र-दान

पाँच बरसके निकसि चले ध्रुव मधुबन पहुँचे आय ।
मन्त्र दियो नारद मुनि मगमैं जपैं चित्त हरि लाय ॥
कछु दिन पत्र भच्छ करि बीते कछु दिन लीन्हों पानी ।
कछु दिन पवन कियो अनुप्रासन रोक्यो स्वास यह जानी ॥
दारुन तप जब कियो राज-सुत तब काँप्यो सुर-लोक ।
त्राहि त्राहि हरिसों सब भाष्यो दूर करो सब सोक ॥
तब हरि कह्यो कोउ जिन डरपो अबहिं तुरत मैं जैहों ।
बालक ध्रुव बन करत गहन तप ताहि तुरत फल दैहों ॥

—सूरदासजी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश

(१) रुपया-पैसा लेनेसे साधुका तप क्षीण हो जाता है, तपका नाश हो जाता है। अगर रुपये-पैसेकी ही इच्छा है तो गृहस्थमें क्यों न रहे ? कार्य क्यों न करे ?

माया, मंदिर, स्त्री, धरती औ व्यवहार।
ये जब सन्तनको मिले, तो कोपै सिरजनहार॥

जब भगवान्‌का कोप होता है तभी साधुको ये वस्तुएँ मिलती हैं। भगवान्‌की कृपा हो तो ये वस्तुएँ कभी नहीं मिलेंगी, अगर मिलें तो कोई अपराध हो गया। भिक्षा माँगकर खानेकी जरूरत ही इसलिये है कि जिसमें पैसेकी जरूरत न पड़े।

(२) एक बार महात्मा श्रीधराश्रमजी तथा और दस-बारह साधु घूम रहे थे। एक गाँवके पास जाकर ठहर गये। सब भिक्षा माँगने गये। लेकिन किसीको भी उस दिन भिक्षा नहीं मिली। सबने कहा कि आज जो भिक्षा नहीं मिली इसमें कुछ-न-कुछ रहस्य जरूर है। तब सबने देखा तो एक साधुके पास ग्यारह-बारह रुपये निकले। सबने कहा कि भैया ! तुम यहाँसे जाओ।

(३) विषयोंमें सुख नहीं है। सुख तो केवल एक भगवान् श्रीकृष्णहीमें है। श्रीनारायणस्वामीजी महाराज कहते हैं—

मनमें लागी चटपटी कब निरखूँ घनस्याम।
नारायण भूख्यो सभी खान, पान, बिसराम॥
ब्रह्मादिकके भोग सब विष सम लागत ताहि।
नारायण ब्रजचन्दकी लगन लगी है जाहि॥

(४) जगत्‌का चिन्तन छूट जाय, श्रीकृष्णका ही चिन्तन हो। बस, इसीका नाम भक्ति है।

(५) जैसे संसारी मनुष्यका किसी स्त्रीमें प्रेम हो जाता है, तो वह, चाहे कोई कुछ भी कहे, किसीकी नहीं सुनता। इसी प्रकार जिसको श्रीकृष्णप्रेम हो जाता है उसकी संसार कितनी ही बुराई करे, वह किसीकी परवा नहीं करता।

(६) हमारे यहाँ पहले धर्म-पुस्तकोंकी पूजा हुआ करती थी। लेकिन आजकल लोग थूक लगा-लगाकर पन्ने उलटते हैं। जमाना कितना खराब आ गया। धर्म-पुस्तकको प्राणोंसे भी प्यारी समझो।

(७) भोजनका बड़ा भारी असर पड़ता है। मुझे एक बार स्वामी मौजानन्दजी महाराज सुनाते थे कि एक बार मौजानन्दजी तथा और आठ-दस साधु घूम रहे थे। किसी गाँवके पास जाकर ठहर गये। उस गाँवके एक भक्तने सब महात्माओंको अपने घर ले जाकर भोजन कराया। रातको सब महात्माओंको स्वप्नदोष हो गया। प्रातःकाल इसकी आपसमें चर्चा चली तो मालूम हुआ कि सभी महात्माओंको हुआ है। उन्होंने कहा कि यह क्या बात है। उस भोजन करानेवाले भक्तको बुलाया गया। उससे पूछा कि तुम सच कहो तुमने हमें भोजन किस इच्छासे कराया था। उसने कहा कि महाराज मेरे सन्तान नहीं होती थी। सन्तानकी इच्छासे भोजन कराया था।

(८) इन चारोंको एक-सा समझो—१ माला, २ मन्त्र, ३ गुरु, ४ इष्टदेव। अगर इनमें एक भी चले जायँ तो वह व्यभिचारी हो जाता है। मालाको प्राणोंसे भी प्यारी समझो। माला भगवत्स्वरूप है।

(९) जिस पुस्तकमें हम नित्य पाठ करते हैं तथा जिस मालासे हम नित्य जप करते हैं उसमें एक प्रकारकी शक्ति पैदा हो जाती है। पहले लोग

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

माला, पुस्तकको बड़ी अच्छी तरह रखते थे। आजकल मालाको जल्दी-जल्दी बदलते रहते हैं, प्रेम-प्राप्ति कहाँसे हो? हमारे यहाँ एक शक्तिपल्लव नामक पुस्तक बड़ी प्राचीन थी। एक बंगालीसे मैंने माला माँगी उसने मुझसे कहा कि महाराज! यह तो हमारी प्राणोंसे भी प्यारी है। माला हम किसीको नहीं देते हैं। एक मालाको हमारे बाबा परबाबा भी जपते थे वह जब बिल्कुल घिस गयी, तब हमने गंगामें बहायी। स्वामी बंगालीबाबा भी जिस समय पाञ्चभौतिक शरीरको त्यागने लगे तो उन्होंने स्वामी शास्त्रानन्दजीसे कहा था कि मेरी छातीसे मेरी गीता बाँधकर तब मुझे गंगामें बहाना। ऐसा ही किया गया।

(१०) प्रश्न—प्रेमकी क्या महिमा है?

उत्तर—श्रीश्रीगौराङ्ग महाप्रभुजी जिस समय श्रीजगन्नाथजीसे मथुरा आ रहे थे रास्तेमें आपके प्रेमभरे कीर्तनको सुनकर कुत्ते, शेर, पक्षी सभी जीव शान्त हो जाते थे और प्रेममें मस्त हो जाते थे।

(११) प्रश्न—क्या अस्पृश्यता शास्त्रमें मान्य है?

उत्तर—हाँ अवश्य मान्य है, जो इसे मिटानेकी कोशिश करता है वह शास्त्रके विरुद्ध करता है।

(१२) **सुरपति नरपति लोकपति जिनके भावैं घास।**
रहे परम आनँद मगन, तजि सबहीकी आस॥

कितना बड़ा जबरदस्त प्रेमी है।

(१३) मैंने एक कपड़ेकी दूकानपर देखा एक आदमी गद्दीपर बैठे बीड़ी पी रहा था। बताओ इनके पास कैसे लक्ष्मी ठहर सकती है? जिस गद्दीको पहले गणेशजीकी गद्दी मानते थे, लक्ष्मीजीकी गद्दी मानते थे उसपर बैठे हुक्का बीड़ी पीते हैं। अगर पतंगा उड़कर गिर जाये तो कितना नुकसान हो। भारतवर्षके मनुष्य अब कैसे भ्रष्ट हो गये हैं।

(१४) भगवान् शङ्करके भजन बिना श्रीकृष्णकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

(१५) प्रश्न—जितने भी महापुरुष हैं या हुए हैं उनकी निन्दा क्यों होती है?

उत्तर—भगवान्की दो शक्तियाँ हैं १ मायाशक्ति, २ भक्ति, जहाँ माया है वहाँ भक्ति नहीं रहती। और जहाँ भक्ति है वहाँ माया नहीं रहती। मायाशक्ति भक्तोंके हृदयमें तो आ नहीं सकती। वह दुष्टोंके हृदयमें आ जाती है। इसीलिये वे भक्तोंकी निन्दा ही किया करते हैं।

(१६) प्रेमी वही है कि जिससे प्यारेके बिना एक क्षण भी न रहा जाय।

(१७) भगवान्की दयालुता तो सभी जीवोंपर होती है। लेकिन मनकी मलिनतासे हमें मालूम नहीं होता। मीराबाई जहरका प्याला पी गयी थीं, उनका कुछ नहीं बिगड़ा।

(१८) एकादशीको, पूर्णिमाको, अमावसको तथा रात्रिको तुलसी तोड़ना पाप है।

(१९) पराभक्तिमें ज्ञान भी रहता है, प्रेम भी रहता है। श्रीनारायणस्वामीजी भी कहते हैं।

पराभक्ति अरु ज्ञानमें तनिकौ नाहीं भेद।
नारायण मुख्य प्रेम है, कहैं संत और वेद॥

(२०) हिंसा, परस्त्री, परधन, निन्दा जिसके अन्दर नहीं वही श्रीभगवत्-प्राप्ति कर सकता है।

(२१) जहाँ कुतर्क है वहाँ प्रेम नहीं है।

(प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीमद्भगवद्गीता और योगतत्त्वसमन्वयमीमांसा

(लेखक—श्रीगोवर्द्धनपीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री ११०८ श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज)

[गताङ्कसे आगे]

भ्रमनिवारण

परन्तु इस प्रकार कामना-त्यागके सम्बन्धमें विस्तारके साथ बताये हुए सिद्धान्तका यह भी तात्पर्य नहीं समझना चाहिये कि चूँकि सर्व कामना-त्यागकी जबर्दस्त विधि प्रत्येक काण्ड-के श्रेयोऽर्थीके लिये है और श्रीभगवान्-ने त्रिगुणातीत एवं भक्तको भी 'सर्वारम्भपरित्यागी' (१४ । २५; १२ । १६) बताया है, इसलिये सब प्रकार-के साधकोंको अपने-अपने वर्णाश्रमादि-व्यवस्थाके अनुसार प्राप्त कर्तव्य-कर्मोंको निवृत्तिपरायण होकर, प्रवृत्ति-मार्गसे घृणा करते हुए (कि यह नरकका मार्ग है या कम-से-कम पुनरावृत्तिका रास्ता है), एकदम छोड़ देना चाहिये। बल्कि इन सब बातोंका मतलब यह है कि सबको कर्ममें और कर्मफलमें आसक्ति न रखकर—

१ यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
(१६ । २३)

२ तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
(१६ । २४)

३ श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे ।

—इत्यादि कहनेवाले श्रीभगवान्‌की आज्ञारूपी श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादि धर्मशास्त्रग्रन्थोंमें अपने-अपने वर्णाश्रमादि अधिकारके अनुसार जो-जो कर्तव्य बतलाये गये हैं, उन सबको ईश्वराज्ञापालन एवं ईश्वरार्पणकी दृष्टि-से, अपने कर्तव्य-पालनके विचारसे, निर्लिप्त बुद्धिके साथ अवश्य करना चाहिये। इसीका नाम त्रिगुणातीत अवस्था है, इसीका नाम ज्ञाननिष्ठा है, इसीका नाम दैवी सम्पत्ति है, यही निष्काम कर्मयोग है, यही सच्चा भक्तियोग है, यही असली ज्ञानयोग है। और तो क्या, यही सब प्रकारके योगोंका यथार्थ और असली तात्पर्य है।

निष्काम कर्मका द्वितीयाध्यायमें उपदेश

अतएव श्रीभगवान्‌ने दूसरे अध्यायके (जो श्रीमद्-भगवद्गीताका सार-भाग है) आरम्भमें ही तितिक्षा और कामनात्यागरूपी प्रारम्भिक साधन बतानेके बाद, सांख्य-योग (अर्थात् ज्ञानयोग) बताते हुए, सर्व कर्म-त्यागरूपी निवृत्तिको मना करके, निष्काम कर्ममें प्रवृत्त होनेकी आज्ञा दी; कहा कि—

१—सुख-दुःख, लाभालाभ और जयाजयको समान करके अर्थात् कार्यसिद्धि या असिद्धिकी परवा न करके केवल अपने कर्तव्यकी दृष्टिसे युद्धमें प्रवृत्त हो जाओ; तब पाप नहीं लग सकता। (२ । ३८)

२—अपने कर्तव्यके करनेका अधिकार है, फलोंका खयाल मत करो। फलकी इच्छासे कर्म करनेवाले भी मत बनो, अपने कर्तव्यका त्याग करनेकी इच्छा भी मत करो। (२ । ४७)

३—आसक्ति छोड़कर (मेरी बतायी हुई) योग-धारणामें रहते हुए अपने कर्तव्यका पालन किया करो। (२ । ४८)

४—ज्ञानयोगकी शरण ले लो। फलके लिये काम करने-वाले कृपण (लोभी) हैं। (२ । ४९)

५—ज्ञानयोगी पुण्य और पाप दोनोंसे रहित रहता है। अतः योगके लिये उद्युक्त हो जाओ। कर्ममें कुशलता योग है। (२ । ५०)

६—बुद्धिमान् मनको जीतकर, कर्मफलको छोड़कर जन्म-बन्धनसे मुक्त होकर अभय पदवीमें पहुँचते हैं। (२ । ५१)

निष्काम कर्मका तीसरे अध्यायमें उपदेश

द्वितीयाध्यायमें इस प्रकार संक्षेपमें मिली हुई भगवदा-ज्ञाको सुनकर जब अर्जुन निष्कामकर्म-ज्ञान-सम्बन्धको न समझकर पूछता है कि—

'हे केशव ! अगर कर्मसे ज्ञान इतना श्रेष्ठ है तो मुझको इस युद्धरूपी घोर कर्ममें क्यों लगाते हैं ?' इत्यादि।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तब श्रीभगवान्‌ने निष्काम कर्मयोगके सिद्धान्तका, जिसका अगले सोलह अध्यायोंमें वर्णन करना था, आरम्भ करते हुए, उस सिद्धान्तको सिद्ध करते हुए कहा कि—

१–जो इन्द्रियोंका मनसे निग्रह करके कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोग करता है, वह अनासक्त पुरुष श्रेष्ठ है। (३। ७)

२–यज्ञ (अर्थात् केवल अपने कर्तव्यके पालनके ही खयालसे किये जानेवाले निष्काम उपासना-कर्म) के अतिरिक्त सब कर्मोंसे (अर्थात् काम्य कर्मोंसे) बन्धन होता है। अतः अनासक्त होकर यज्ञार्थ कर्म करो। (३। ९)

३–यज्ञ (निष्काम-उपासना-कर्म) करनेके बाद जो बच जाता है उस (प्रसादी) को खानेवाले सत्पुरुष सब पापोंसे मुक्त होते हैं। (३। १३)

४–अतः सर्वव्यापी परब्रह्म यज्ञमें प्रतिष्ठित हैं। (३। १५)

५–इस प्रकार (ब्रह्माद्वारा) प्रवर्तित निष्काम कर्म-चक्रको जो नहीं चलाता है, उस पापमय जीवनवाले और इन्द्रियोंके गुलामकी जिन्दगी व्यर्थ है। (३। १६)

६–अतः अनासक्त होकर अपने कर्तव्य-कर्मको हमेशा करो। क्योंकि आसक्तिरहित होकर कर्म करनेवाला पुरुष परम पदार्थको प्राप्त करता है। (३। १९)

७–अध्यात्मचित्तवृत्तिसे मुझमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर, कामना और ममताको छोड़कर, चित्तक्षोभसे निवृत्त होकर युद्ध करो। (३। ३०)

८–जो मनुष्य श्रद्धायुक्त और असूयारहित होकर मेरे इस आदेशके अनुसार सर्वदा चलते हैं, वे कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाते हैं। (३। ३१)

९–परन्तु जो मनुष्य असूया करनेवाले होते हैं और मेरे इस मत (आज्ञा) के अनुसार नहीं चलते, उनको सर्व-ज्ञानरहित, नष्ट और बुद्धिहीन जानो। (३। ३२) इत्यादि।

चतुर्थाध्यायमें निष्काम कर्मका युक्तिसे समर्थन

तीसरे अध्यायके अन्तमें पापके कारणके विषयमें किये गये अर्जुनके प्रश्नका जवाब यह देकर कि—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। (३। ३७)

—और समस्त पापोंके मूलकारण कामरूपी महा-शत्रुको मार देनेकी आज्ञा देकर चतुर्थाध्यायके पहले, दूसरे और तीसरे श्लोकमें श्रीभगवान्‌ने—

१–इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। (४। १)
२–स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप। (४। २)
३–स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः। (४। ३)

—इत्यादि वचनोंद्वारा उसी निष्काम कर्मयोगका [जिसे (अव्यवहितपूर्व) तीसरे अध्यायमें बताया था], केवल और शुद्ध योग शब्दके द्वारा परामर्श देते हुए स्पष्ट किया है कि जगत्‌के आरम्भसे लेकर श्रीभगवान्‌ने सूर्य, वैवस्वतमनु, इक्ष्वाकु आदि राजर्षियोंको जिस योगका उपदेश दिया था वह केवल योगशब्दवाच्य सनातन योग श्रीमद्भगवद्गीताके तृतीयाध्यायमें बताया हुआ निष्काम कर्मयोग ही है। और उसपर जो यह शंका हो सकती है कि अगर ज्ञानी भी कर्म करें तो उस कर्मके फलको भोगने-के लिये क्या उनको भी लोकान्तरोंमें जाना और जन्म लेना पड़ेगा, उसका निवारण करते हुए श्रीभगवान्‌ने इसी चतुर्थाध्यायमें कहा कि—

१–मुझे इस प्रकार जो अपनेमें पहचानता है कि मैं निर्लिप्त हूँ और मैं कर्मफलकी इच्छा नहीं करता, वह कर्मोंसे बद्ध नहीं होता। (४। १४)

२–ऐसा जानकर प्राचीन मुमुक्षुओंने भी कर्म किया था। अतः तुम भी पूर्वजोंके किये हुए प्राचीन कर्मोंको ही करो। (४। १५)

३–निष्काम कर्ममें बन्धनराहित्यको और कर्तव्य-कर्मत्यागमें बन्धक पापको जो देखता है, वही मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी और समस्त कर्मोंका कर्ता है। (४। १८)

४–जिसके सब कार्य कामना-संकल्प-रहित होते हैं, ज्ञानाग्निसे उसके सब कर्मोंके जले हुए होनेके कारण उसीको ज्ञानीलोग ज्ञानी बताते हैं। (४। १९)

५–जो नित्य तृप्त और निराश्रय होकर, कर्मफलासक्तिको छोड़कर रहता है, वह कर्ममें प्रवृत्त होनेपर भी कुछ नहीं करता। (४। २०)

६–अनासक्त, जितेन्द्रिय, जितशरीर और समस्त परिग्रहको त्यागकर रहनेवाला, केवल शारीरिक (अर्थात् इन्द्रियासक्तिरहित) कर्म करते रहनेपर दोषी नहीं होता। (४। २१)

७–जो यदृच्छा प्राप्त पदार्थोंसे सन्तुष्ट, द्वन्द्वातीत, द्वेषरहित और कार्यकी सिद्धि तथा असिद्धिमें समान

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(निर्विकार) रहता है, वह कुछ करनेपर भी कर्मसे बद्ध नहीं होता। (४। २२)

८–अनासक्तचित्त और ज्ञानावस्थितचित्त होकर जो यज्ञ (अर्थात् अपने कर्तव्यके पालन) के लिये कर्म करता है, वही जीवन्मुक्त है और उसकी ओरसे किये हुए सब कर्म लीन हो जाते हैं (अर्थात् कुछ भी फल नहीं देते)। (४। २३)

९–ब्रह्मप्राप्त्यर्थ निष्काम कर्मनिष्ठामें जो रहता है, उसके लिये अर्पणकी क्रिया, अर्पण किया जानेवाला हविष्यादि, जिसमें अर्पण किया जाता है वह अग्नि, अर्पण करनेवाला और उसका प्राप्तव्य फल सब कुछ परब्रह्म ही है। (४। २४)

१०–उक्त अनेक प्रकारके कर्म करनेवाले यज्ञको जाननेवाले और यज्ञशेषरूपी अमृत खानेवाले होनेके कारण यज्ञाचरणसे ही निष्कल्मष होकर सनातन परब्रह्म-पदवीको पहुँच जाते हैं। यज्ञहीनको इहलोक भी नहीं मिलता, परलोक तो मिल ही कहाँसे सकता है? (४। ३०-३१)

११–इस प्रकारसे बहुत प्रकारके यज्ञ ब्रह्मके मुखमें विस्तृत हैं। उन सबको कर्मसे उत्पन्न जानो। ऐसे जाननेपर कर्मबन्धनसे मुक्त हो जाओगे। (४। ३२)

१२–आत्मज्ञानके आश्रयमें रहते हुए, ज्ञानसे सब सन्देहोंको काटकर योगबलसे जो सर्वकर्मफलत्यागी बन जाता है, वह (कर्म करते हुए भी) कर्मोंसे बद्ध नहीं होता। (४। ४१)

१३–अतः अज्ञानसे उत्पन्न होकर हृदयमें आये हुए इस संशयको ज्ञानरूपी खड्ग (तलवार) से काटकर इस (निष्काम कर्म) योगका आचरण करो, उठो। (४। ४२)

संन्यासयोगकी दृष्टिसे भी निष्काम कर्मोपदेश

चतुर्थाध्यायके उपर्युक्त उपदेश सुनकर अर्जुनने जब संन्यास और कर्मयोगका स्पष्ट विवेचन करनेकी प्रार्थना की तब उसके जवाबमें कर्मसंन्यासयोग बतानेवाले पञ्चमाध्याय एवं आत्मसंयमयोग बतानेवाले षष्ठाध्यायमें श्रीभगवान्‌ने संन्यासयोगकी दृष्टिसे भी निष्काम कर्मका ही इस प्रकार उपदेश दिया—

१–योगयुक्त, जितशरीर, जितेन्द्रिय और निर्मल होकर जो सर्वभूतान्तरात्मस्वरूपी परमात्मस्वरूपमें पहुँच गया है, वह कर्म करते रहते हुए भी निर्लिप्त है। (५। ७)

२–तत्त्वको जाननेवाला (निष्काम कर्म) योग करते हुए इस ज्ञानधारणामें स्थिर रहता है कि मैं कुछ नहीं करता हूँ। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयमें लगी रहती हैं। (५। ८-९)

३–जैसे पद्मपत्र जलसे लिप्त नहीं होता है, वैसे ही जो आसक्तिको छोड़कर परमात्माको अर्पित करके कर्म करता है, वह पापोंसे निर्लिप्त रहता है। (५। १०)

४–योगी आसक्तिको छोड़कर आत्मशुद्धिके लिये शरीर, मन, बुद्धि और केवल इन्द्रियोंसे भी कर्म करते हैं। (५। ११)

५–कर्मफल छोड़कर (निष्काम कर्म) योग करनेवाला निष्ठाप्रयुक्त शान्तिको प्राप्त करता है। और कर्तव्य कर्मको छोड़ देनेवाला फलकी कामना रखनेके कारण बन्धनमें पड़ता है। (५। १२)

६–जो जितेन्द्रिय है, वह मनसे ही (शरीरसे ही) सब कर्मोंको त्यागकर (अर्थात् उनके फलमें आसक्त न होकर) नौ द्वारवाली शरीररूपी पुरीमें सुखसे रहते हुए कुछ करता नहीं, कुछ कराता नहीं। (५। १३)

७–कर्मफलको न चाहते हुए जो अपने कर्तव्यको करता है वही संन्यासी है, वही योगी है (अग्नि और कर्मका जो त्याग करता है वह नहीं है) (६। १)।

८–योगारुरुक्षु मुनिके लिये (निष्काम) कर्मयोग ही कारण (साधन) है। (६। ३)

९–जो निष्काम कर्मयोगी समस्त वस्तुओंमें रहनेवाले मुझको एकात्मविज्ञान प्राप्तकर भजता है, वह किसी प्रकारसे रहनेपर भी मुझमें ही रहता है। (६। ३१) इत्यादि।

शेष अध्यायोंमें भी निष्काम कर्मोपदेश

इसी प्रकार शेष बारह अध्यायोंमें भी निष्काम कर्मका उपदेश खूब मिलता है। उनमेंसे राजविद्या-राजगुह्ययोग (नवमाध्याय), विश्वरूपदर्शनयोग (एकादशाध्याय), भक्तियोग (द्वादशाध्याय), क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग (त्रयोदशाध्याय) और गुणत्रयविभागयोग (चतुर्दशाध्याय) इन पाँच विशेष अध्यायोंसे स्थालीपुलाकन्यायसे कुछ दृष्टान्त यहाँ दिये जाते हैं—

१–जो कुछ करते हो, खाते हो, हवन करते हो, दान करते हो और तपस्या करते हो, उसे मुझे अर्पण कर दो। (९। २७)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

२–ऐसा करनेसे शुभाशुभ सब फलोंसे (जो कर्मोंके साथ सम्बद्ध हैं) मुक्त होकर, संन्यासयोगयुक्त और मुक्त होकर मुझमें ही पहुँच जाओगे। (९ । २८)

३–मेरा भक्त होकर, मुझमें तत्पर होकर, किसीसे द्वेष न करते हुए, अनासक्त रहते हुए, मेरे लिये जो कर्म करता है, वह मुझमें पहुँच जाता है। (११ । ५५)

४–मेरे लिये कर्म करते हुए भी सिद्धि प्राप्त करोगे। (१२ । १०)

५–अभ्याससे ज्ञान, ज्ञानसे ध्यान और ध्यानसे भी कर्मफलका त्याग श्रेष्ठ है। और त्यागसे सद्यः (तुरन्त ही) शान्तिकी प्राप्ति होती है। (१२ । १२)

६–पुरुषको और त्रिगुणात्मक प्रकृतिको इस प्रकार जो जानता है, वह योगी है और वह किसी प्रकार भी रहे, मुझमें ही रहता है। (१३ । २३)

७–प्रवृत्त हुए प्रकाश, प्रवृत्ति एवं मोहको भी त्रिगुणातीत (ज्ञानी) द्वेषदृष्टिसे नहीं देखता और न निवृत्त होनेपर उन्हें चाहता है। (१४ । २२)

८–अनन्य भक्तिके साथ जो मेरी सेवा करता है, वह भी त्रिगुणातीत होकर परब्रह्मस्वरूपको प्राप्त कर लेता है। (१४ । २६)

कर्मत्यागका निषेध

भगवदाज्ञारूपी इतने वचनोंका विस्तृतरूपसे विचार होनेपर भी यदि कोई यह कहे कि यह तो ठीक है कि जो निष्काम भावसे कर्तव्यकर्म करता है उसको भी अन्तमें संन्यासका फल मिल जाता है, परन्तु ऐसे कर्मठसे भी कर्मत्यागी हो श्रेष्ठ है, अथवा कम-से-कम उसके बराबर है तथा सर्वकर्मसंन्यासमें कोई हर्ज तो है ही नहीं इत्यादि, तो इसका भी जवाब देते हुए श्रीभगवान्‌ने तृतीयाध्यायमें कहा है कि—

१–न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
(३ । ४)

२–एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥
(३ । १६)

३–श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥
(३ । ३५)

१–कर्म न करनेसे ही नैष्कर्म्यसिद्धि नहीं होती। कर्मोंको त्याग देनेसे ही कोई सिद्धिको प्राप्त नहीं करता। (३ । ४)

२–उपर्युक्त यज्ञकर्मचक्रको जो नहीं चलाता, उसका जीवन पापमय है। वह सदा इन्द्रियोंमें रमण करनेवाला है और उसका जीवित रहना व्यर्थ है। (३ । १६)

३–अच्छी तरह न हो सकनेवाला स्वधर्म भी अत्युत्तम रीतिसे बने हुए परधर्मसे श्रेष्ठ है। स्वधर्ममें मर जाना उत्तम है; परधर्ममें जीता रहना (नरकादि) भयका कारण होता है। (३ । ३५)

श्रीभगवान्‌का दृष्टान्त

साधारण तौरपर इस सिद्धान्तको बतानेसे तृप्ति न होनेपर तीसरे अध्यायमें श्रीभगवान्‌ने अपना भी दृष्टान्त देकर कहा है कि—

१–तुझको लोक-संग्रह (दुनियाको अपने आचरणसे अच्छा मार्ग दिखाने) के लिये भी अपने कर्तव्यरूपी कर्मको करना चाहिये। (३ । २०)

२–श्रेष्ठ आदमी जो-जो आचरण करता है, अन्य सब लोग उसीको करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, उसीके पीछे दुनिया चलती है। (३ । २१)

३–हे अर्जुन, त्रिलोकीभरमें ऐसी एक भी चीज नहीं है जो मुझे न मिली हो, जिसको मुझे प्राप्त करना हो और जिसके लिये मुझे कुछ कर्म करनेकी आवश्यकता हो, तो भी मैं तो हमेशा कर्म करता ही रहता हूँ। (३ । २२)

४–यदि मैं कभी भी अत्यन्त जागरूकताके साथ कर्ममें न रहूँ तो सब ओरके मनुष्य मेरे रास्तेको पकड़ेंगे। (३ । २३)

५–अगर मैं कर्म न करूँ तो दुनियाके सब आदमी नष्ट हो जायँगे, मैं ही वर्णधर्मादिके संकरका कारण बन जाऊँगा और इन सब प्रजाओंको मैं ही मारनेवाला बनूँगा। (३ । २४)

६–अज्ञानी मनुष्य कर्ममें आसक्त होकर जिस प्रकार कर्म करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानीको भी कर्म करना चाहिये, परन्तु अनासक्त होकर और लोकसंग्रहके खयालसे प्रेरित होकर करना चाहिये। (३ । २५)

७–कर्मासक्त अज्ञानी पुरुषोंकी बुद्धिमें भेद नहीं उत्पन्न करना चाहिये। ज्ञानीको निष्काम कर्मयोगी हो-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कर स्वयं कर्म करते हुए औरोंसे भी करवाना चाहिये। (३ । २६)

८–जिन कर्मोंको प्रकृतिके गुण करा रहे हैं, उनके विषयमें अहङ्कारसे मूढ़ बना हुआ आदमी यह समझ लेता है कि इन सबको मैं कर रहा हूँ। (३ । २७)

९–तत्त्वज्ञानी तो जानता है कि गुणकर्मविभागोंमें गुण ही गुणोंमें वर्तते हैं। इसलिये उनमें वह आसक्त नहीं होता है। (३ । २८)

१०–प्रकृतिके गुणोंसे जो संमूढ़ हैं, वे गुणकर्मोंमें आसक्त रहते हैं। उन अल्पज्ञों और मन्दबुद्धियोंको ज्ञानी न बिगाड़ें। (३ । २९)

संन्यासका यथार्थ स्वरूप

यदि यहाँपर कोई यह शङ्का करे कि कर्मकाण्डका प्रतिपादन करनेवाले पहले अध्यायषट्कके अन्तर्गत तीसरे अध्यायमें (जिसका नाम ही कर्मयोग है) कर्मका बताया जाना ठीक ही है; परन्तु ज्ञानकाण्डमें तो कर्म-त्यागका ही सिद्धान्त होगा इत्यादि, तो उसे इसके उत्तरके लिये श्रीमद्भगवद्गीताके अष्टादशाध्यायको (जिसे ज्ञानकाण्डके प्रतिपादनमें खास तौरपर प्रवृत्त हुए तीसरे षट्कका अन्तिम अध्याय होनेके कारण ज्ञानपर खूब जोर देनेवाला होना चाहिये और गीताका अन्तिम अध्याय होनेकी हैसियतसे वेदान्तका अन्तिम सिद्धान्त बताना चाहिये) खोलकर देखना चाहिये। तब पता लगेगा कि ज्ञानकाण्डवाले इस अन्तिम अध्यायका प्रारम्भ अर्जुनने इसी विषयपर यह प्रश्न करते हुए किया है कि—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन॥
(१८ । १)

'हे भगवन्! संन्यास और त्यागके तत्त्वोंको मैं अलग-अलग और स्पष्टरूपमें जानना चाहता हूँ।'

और इसका जवाब देते हुए भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि—

१–काम्य-कर्मोंका त्याग ही संन्यास है; सब कर्मफलों-का त्याग ही त्याग है। (१८ । २)

२–कुछ बुद्धिमान् कहते हैं कि कर्म करनेमें दोष है, अतः छोड़ देना चाहिये और कुछ विद्वान् कहते हैं कि यज्ञ, दान, तपस्या आदि कर्मोंको त्यागना नहीं चाहिये। (१८ । ३)

३–अतः इस त्यागके विषयमें मेरे निश्चय (सिद्धान्त) को जानो। त्याग तो तीन प्रकारके होते हैं। (१८ । ४)

४–यज्ञ, दान, तपस्या आदि कर्मोंको छोड़ना नहीं चाहिये। जरूर करना चाहिये। यज्ञ, दान और तपस्या अन्तःकरणको पवित्र करनेवाले कर्म हैं। (१८ । ५)

५–यह मेरा निश्चित और उत्तम मत है कि आसक्ति एवं कर्मफलको त्यागकर इन कर्मोंको करना ही चाहिये। (१८ । ६)

६–शास्त्रविहित कर्मका त्याग करना उचित नहीं है। उसको मोहसे छोड़ना तामसिक त्याग कहा जाता है। (१८ । ७)

७–यह समझकर कि कर्म करनेमें तकलीफ है, जो आदमी शरीरके कष्टके डरसे छोड़ता है, वह राजसिक त्याग करता है; अतः उसे त्यागका फल नहीं मिलता। (१८ । ८)

८–आसक्ति और फलको छोड़कर जो शास्त्रविहित कर्म इस खयालसे किया जाता है कि यह मेरा कर्तव्य है, वह सात्त्विक त्याग है। (१८ । ९)

९–छिन्नसंशय होकर आत्मस्वरूपमें रहते हुए, अशुभ कर्मका द्वेष न करते हुए और शुभमें आसक्त न होते हुए जो कर्तव्य करता है, वही ज्ञानी है, वही त्यागी है। (१८ । १०)

१०–कर्मको सर्वथा छोड़ देना तो किसी शरीरवाले-से हो ही नहीं सकता। अतः कर्मफलको छोड़नेवाला ही त्यागी कहा जाता है। (१८ । ११)

११–पुण्य, पाप और मिश्र ये तीन प्रकारके जो फल कर्मसे उत्पन्न होते हैं, वे तो कर्मफलको न त्यागनेवालोंको मिलते हैं, त्यागियोंको नहीं मिलते। (१८ । १२)

१२–जिसमें अहङ्कारका भाव नहीं है और जिसकी बुद्धि निर्लिप्त रहती है, वह सारी दुनियाको मारकर भी यथार्थमें नहीं मारता और न अपने किये हुए उस कर्मसे बद्ध होता है। (१८ । १३)

निष्काम कर्मसे मोक्ष-प्राप्तिका प्रकार

इतने विस्तारके साथ निष्काम कर्मयोगके बताये जाने पर भी जिनके हृदयमें 'कर्मणा कर्मनिर्हारः' की शङ्का रह गयी हो उनको समझानेके लिये उसी मोक्षसंन्यासयोग नामक अन्तिमाध्यायमें श्रीभगवान्ने यह स्पष्टरूपमें बताया

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है कि निष्काम कर्मसे मोक्षकी सिद्धि कैसे होती है। उन्होंने कहा है—

१-स्वधर्मतत्पर पुरुष संसिद्धिको प्राप्त करता है। सुनो कि स्वकर्मनिष्ठ कैसे सिद्धिको पाता है। (१८। ४५)

२-जिससे सब दुनिया प्रवृत्त हुई है और जिससे सारी दुनिया ओतप्रोत है, उस परमेश्वरकी उपासना स्वधर्मानुष्ठानके द्वारा करके मनुष्य सिद्धिको प्राप्त करता है। (१८। ४६)

३-अच्छी तरहसे किये हुए परधर्मसे हीन तरीकेसे किया हुआ स्वधर्म श्रेष्ठ है। अपने-अपने स्वभावके अनुसार शास्त्रविहित कर्म करनेसे कोई दोषी नहीं होता (१८। ४७)

४-अपने साथ आये हुए कर्मको सदोष होनेपर भी नहीं छोड़ना चाहिये; क्योंकि जैसे अग्निमात्रके साथ धुआँ रहता है वैसे ही कर्ममात्रके साथ दोष होता ही है। (१८। ४८)

५-किसीमें आसक्त न होकर, जितेन्द्रिय होकर, कामनाको त्यागनेवाला इसी संन्यासयोगसे परम नैष्कर्म्यसिद्धिको प्राप्त करता है। (१८। ४९)

६-सिद्धिको प्राप्त करके परब्रह्मको कैसे प्राप्त करता है। इस बातको, जो ज्ञाननिष्ठाकी पराकाष्ठा है, मुझसे संक्षेपमें जान लो। (१८। ५०)

७-९—निर्मल बुद्धिवाला होकर, अपनेको धृतिसे वशमें करके, शब्दादि विषयोंकी कामना छोड़कर, रागद्वेषको निकालकर, एकान्तमें रहकर, हल्का भोजन करके, वाणी, शरीर और मनका निग्रह करके, हमेशा ध्यानमें तत्पर रहकर, वैराग्यवान् बनकर तथा अहंकार, बल, गर्व, काम, क्रोध और परिग्रहको छोड़कर स्वधर्मको करनेवाला परब्रह्मस्वरूपको प्राप्त करता है। (१८। ५१-५३)

१०-ब्रह्मभावके द्वारा प्रसन्न अन्तःकरणवाला होकर दुःखी नहीं होता, किसी चीज़को नहीं चाहता। समस्त वस्तुओंमें समदृष्टि होकर मेरा परम भक्त बन जाता है। (१८। ५४)

११-भक्तिके द्वारा ठीक तरहसे मुझे पहचानता है कि मैं क्या हूँ और कितना हूँ। सच्ची रीतिसे मुझे जानकर मेरे साथ एक हो जाता है। (१८। ५५)

१२-मेरे आश्रित होकर, सब कामोंको करनेपर भी, मेरे अनुग्रहसे शाश्वत और निर्विकार पदवीको पाता है। (१८। ५६)।

१३-मनसे सब कर्मोंको मुझे सौंपकर, ज्ञानयोगके बलसे मुझमें चित्तको हमेशा लगाओ। (१८। ५७)

१४-अपने मनको मुझमें लगानेपर मेरे अनुग्रहसे सब दुर्गोंको पार कर जाओगे। अगर अहंकारवश न सुनोगे तो तुम्हारा विनाश हो जायगा। (१८। ५८)

१५-ईश्वर सब प्राणियोंके हृदयमें रहकर यन्त्रारूढ़ खिलौने (Puppets) के समान अपनी मायासे उन सबको भ्रमण कराता है। (१८। ६१)

१६-सर्वतोभावेन उसीके शरणागत हो जाओ। उसके अनुग्रहसे परम शान्ति और शाश्वत पदवीको प्राप्त कर लोगे। (१८। ६२)

इन सब वचनोंसे स्पष्ट होता है कि श्रीमद्भगवद्गीताके अन्तिम अध्यायमें भी (जिसका नाम ही मोक्षसंन्यासयोग है) श्रीभगवान्‌ने यही अन्तिम सिद्धान्त बताया है कि श्रद्धा-भक्तिके साथ निष्काम भाव और निर्लिप्त बुद्धिसे स्वधर्मका आचरण करना ही कर्मयोग है तथा वही भक्तियोग, वही ज्ञानयोग और वही मोक्षसंन्यासयोग भी है।

श्रीकृष्ण-दशावतार

मीन[1] बन करते उद्धार निगमोंका और, कूर्म[2] हो सुरासुरसे सिन्धु मथवाते हैं।
होकर बाराह[3] लाते अचला पातालसे हैं, भक्त-सुख-हेतु नरसिंह[4] बन जाते हैं॥
वामन[5] हो छलते बलि, भार्गव[6] औ राघव हो हैहय, दशास्य कुल सकल नशाते हैं।
हलधर[7] होते कभी बुद्ध[8] हो दिखाते दया, म्लेच्छ-बध-हेतु कृष्ण कल्कि[9] बन जाते हैं॥

—विनायकराव भट्ट

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नाम-जपका महत्त्व

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानसे)

प्रातः-सायं जो हम नित्य-कर्म करते हैं वही हमारे जीवनकी एक मुख्य लाभकी बात है। उसकी ओर हमें अधिक-से-अधिक ध्यान देना चाहिये। प्रायः लोग नित्य-कर्मको बेगारकी तरह करते हैं और उसमें चित्त नहीं लगाते। यही कारण है कि उससे जो लाभ होना चाहिये वह नहीं होता। चौबीस घंटेके भीतर जितना समय इस नित्य-कर्ममें लगता है वही परम उत्तम और परम पुण्यकाल है। दोनों काल रात और दिनकी सन्धिमें जो हम सन्ध्योपासन करते हैं वही ईश्वरोपासना है। प्राणायाम, ध्यान, जप, गीतापाठ, स्तोत्रपाठ, स्तुति आदि सब उपासना ही हैं। यह उपासना ही ईश्वरकी पूजा है।

सन्ध्योपासनादि नित्य-कर्ममें जितना ध्यान देना चाहिये उतना ध्यान हम देते नहीं। हमारे नित्यके जीवनसे उसका घना गहरा सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। प्रायः लोगोंको मन धोखा देता है। शीघ्र कर लेनेकी इच्छा होती है। किसी तरह कर डालें जिसमें भार उतर जाय ऐसा भाव बहुधा हमें सन्ध्योपासन आदिका आनन्द लेने नहीं देता और हम वास्तविक उपासनासे बहुत दूर रहते हैं। यह मनका पाजीपन है। बुरी आदत है। यह आदत प्रायः सभीमें पायी जाती है। इस नित्य-कर्मको यदि आदर और प्रेमके भावसे किया जाय तो बहुत शीघ्र लाभ हो सकता है। उपासनामें प्रेम और आदर ही मुख्य है। प्रेममें मुग्ध होकर जो कुछ भी किया जाता है उसका प्रभाव अमिट होता है, स्थायी होता है और वह बहुत शीघ्र लाभ देनेवाला होता है। आदर और प्रेमके बिना वर्षोंतक की हुई उपासनाका विशेष लाभ नहीं दीखेगा, परन्तु एक दिन, एक बेला ही प्रेम और आदरसे पूर्ण हृदयके साथ जो उपासना होगी उसका परम महान् फल बहुत शीघ्र दिखलायी पड़ेगा और हृदयमें एक अपूर्व आनन्द और शान्ति मिलेगी।

उपासनामें हृदयका पूर्ण योग होना चाहिये। ध्यान, जप, प्राणायाममें सम्पूर्ण मनोयोग रहे—इसपर खूब ध्यान देना चाहिये। नाम-जपके समान सरल और साथ-ही-साथ महान् साधन दूसरा है ही नहीं। जपमें अधिक फल देनेवाला जप गुप्त जप ही है। जप अत्यन्त गुप्त होना चाहिये। कोई जान न जाय। किया हुआ गुप्त जप यदि किसीपर प्रकट कर दिया जाता है तो उसका महत्त्व घट जाता है। किसी प्रकार, संकेतसे भी उसे प्रकाशित नहीं करना चाहिये। स्मरण रहे, जप जितना ही गुप्त होगा उतना ही लाभदायक होगा। गुप्त जपका फल अद्भुत होता है। गुप्त पाप और गुप्त पुण्य—दोनोंका ही फल अधिक होता है। गुप्त साधनसे ईश्वरमें प्रेम बढ़ता है और चित्तमें शान्ति और प्रसन्नता होती है।

जप करते समय उसके अर्थका खयाल अवश्य करना चाहिये। अर्थपर जितनी अधिक दृष्टि जायगी जपमें उतना ही अधिक रस आयेगा और उसके द्वारा अधिकाधिक आनन्द उमड़ेगा—उदाहरणार्थ इस मन्त्रके अर्थपर ध्यान दीजिये—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस मन्त्रमें हरि, राम और कृष्ण ये तीन नाम आगे-पीछे सोलह बार आये हैं। इस मन्त्रका जाप करते समय राम, कृष्ण और हरिके रूपका स्मरण करना चाहिये। ये नाम साकार-निराकार दोनोंके बोधक हैं। वास्तवमें ये नाम एक प्रभुके हैं इसलिये इसे जाप करते समय जिसका जो इष्टदेव हो वह उसीका ध्यान करे। राम, कृष्ण और विष्णु तीनों एक ही हैं। सृष्टिके आदिमें भगवान् विष्णु हुए, त्रेतामें भगवान् राम और द्वापरमें भगवान् कृष्णका आविर्भाव

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हुआ। यह इनका सगुण साकार दिव्यरूप है। इनका ध्यान करना चाहिये। जप करते समय अपने जो इष्टदेव हों उनकी मूर्त्ति मनके सामने स्पष्ट आ जानी चाहिये। दूसरा अर्थ निराकारपरक इस प्रकार है—रामका अर्थ है सर्वत्र रमनेवाला सच्चिदानन्दघन परमात्मा जो कण-कणमें व्याप्त है या योगीगण जिसमें रमते हैं *। 'कृष्ण' में 'कृष्' का अर्थ है सत् और 'ण' का अर्थ है 'आनन्द'। जिस आनन्दका कभी अभाव नहीं होता, जो आनन्द नित्य है, अविनाशी है वही 'कृष्ण' है †। 'हरि' का अर्थ है जो सब पापोंको हर लेता है, जिसके उच्चारणसे ही सब पाप भस्म हो जाते हैं वही 'हरि' है। 'हरि' नाम लेते ही सब पाप मिट जाते हैं ‡। जप करते समय इन अर्थोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये। विश्वास रखना चाहिये कि सर्वव्यापी परमात्मा ही इस रूपमें हमारे सामने आये हैं। इससे अद्भुत शान्ति मिलती है। जप करते समय निरन्तर अपने इष्टकी मूर्तिका ध्यान रहना चाहिये। उस समय चित्त ध्यानमें ही डूबा रहे।

किसी प्रकारकी कामना नहीं रखनी चाहिये। प्रह्लादजी कहते हैं कि वरदानको इच्छासे जो भक्ति करता है वह तो वणिक् है। भगवान्‌ने जब वर माँगनेके लिये बहुत अधिक आग्रह किया तो प्रह्लादने यही वरदान माँगा कि मेरे मनमें माँगनेकी इच्छा ही न हो। अर्थ-का खयाल रखते हुए इस प्रकार निष्कामभावसे जप करना चाहिये। जप निरन्तर, हर समय, उठते-बैठते, सोते-जागते करना चाहिये। प्रियके स्मरणसे ही हृदय प्रफुल्लित हो जाता है। प्रेममें मुग्ध होकर भगवान्‌के नामका जप और स्वरूपका ध्यान करना चाहिये। प्रेम और श्रद्धासहित निष्कामभाव और गुप्त-रूपसे ध्यानसहित जो जप है वह महान् फल देने-वाला होता है।

प्रेम और आदरके साथ नाम-जपमें निम्नलिखित तीन बातें आवश्यक हैं जिनका वर्णन ऊपर किया गया है।

(१) गुप्त होना चाहिये।
(२) अर्थसहित होना चाहिये।
(३) निष्कामभावसे होना चाहिये।

ध्यानके समय भगवान्‌की लीला, गुण, रहस्य और प्रभावकी ओर ध्यान जाय तो ध्यानमें एक विचित्र मधुरता मालूम होगी। प्रभु अवतार लेकर जो प्रेमकी लीलाएँ करते हैं वे सभी आनन्दमयी और दिव्य हैं। वह लीला, जिससे रोम-रोममें प्रेम छा रहा हो, ध्यानके समय चित्तमें उतर जाय तो फिर उस ध्यानको छोड़नेकी ही इच्छा न होगी, उस लीलामें मन-चित्त-प्राण इतने लीन हो जायँगे कि वहाँसे हटना ही नहीं चाहेंगे। यही ध्यान वास्तविक ध्यान है और उसमें श्रम नहीं करना पड़ता, न वहाँसे हटनेकी ही इच्छा होती है। भगवान्‌के गुण, प्रभाव और रहस्यके जाननेसे ही असली ध्यान होता है।

भगवान्‌के गुणोंकी महिमा कैसे गायी जाय। वे सभी गुणोंके समुद्र हैं। प्रभु प्रेममय हैं, प्रेमकी मूर्ति हैं। प्रेम ही उनका स्वभाव है। प्रभु दयामय हैं, दयाकी मूर्ति हैं, दया ही उनका स्वभाव है। उनके एक-एक गुणकी ओर ध्यान जाता है तो ऐसा दीखता है कि मानों वे उस गुणकी मूर्ति ही हैं। सारे गुण प्रभुमें अतिशय हैं। इसी प्रकार उनका प्रभाव भी अमित है। संसारमें जो कुछ भी प्रभाव देखनेमें आता है वह सब प्रभुका ही है। अग्निमें जो दाहिका शक्ति है, सूर्यमें जो प्रकाश है, चन्द्रमामें जो शीतलता तथा पोषणशक्ति है वह सभी यदि इकट्ठी कर लें तो प्रभुके प्रभावके एक अंशके समान भी शायद ही हो। भगवान्‌ने गीताके दशवें अध्यायमें अपनी विभूतिका वर्णन करते हुए अन्तमें कहा है—

---

* रमन्ते योगिनो यस्मिन् नित्यानन्दे चिदात्मनि।
इति रामपदेनैतत्परं ब्रह्माभिधीयते॥

† कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः।
विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति शाश्वतः॥
(महा० उद्योगपर्व ७० । ५)

‡ हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥
(बृ० ना० १ । ११ । १००)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥

'जो-जो भी विभूतियुक्त अर्थात् ऐश्वर्ययुक्त एवं कान्तियुक्त और शक्तियुक्त वस्तु है, उसको तू मेरे तेजके अंशसे ही उत्पन्न हुई जान।'

प्रभुके सङ्कल्पसे संसार होता है और उस सङ्कल्पके न रहनेसे यह ढह जाता है। प्रभुके सङ्कल्पमात्रसे असंख्य जन्मोंके महापापीके भी सारे पाप एक क्षणमें भस्म हो जाते हैं। प्रभुके सङ्कल्पसे क्षणभरमें सारे संसारका उद्धार हो सकता है। सङ्कल्प क्या, प्रभुके संकेतमात्रसे, एक इशारेसे ब्रह्माण्डका उद्धार हो सकता है। उनके दर्शन और ध्यानकी कौन कहे, प्रभुके स्मरण-मात्रसे एक क्षणमें पवित्र हो सकते हैं; इतना ही क्यों? प्रभुकी दयाके प्रतापसे उनके नामके उच्चारण-मात्रसे मनुष्यका उद्धार हो सकता है। यही शास्त्रोंकी वाणी और संतोंका अनुभव है।

इसपर एक प्रश्न होता है कि आज लोग इतना नाम लेते हैं और उद्धार नहीं होता। तो क्या शास्त्र और संत झूठे हैं? शास्त्र और संत असत्य नहीं कहते। हमारा उद्धार इसीलिये नहीं हो रहा है कि जिस प्रकार नाम लेना चाहिये वैसे नहीं लेते, केवल बला टालनेके लिये, संख्या पूरी करनेके लिये करते हैं। नामके प्रति हमारे हृदयमें यथार्थ श्रद्धा नहीं है, हृदयका आकर्षण और प्रेम नहीं है, निष्कामभाव नहीं है, आदरबुद्धि नहीं है।

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि शास्त्रोंने तो यहाँतक कहा है कि चाहे नाम जिस प्रकार भी लिया जाय जैसे आगकी एक चिनगारी ईंधनको जला देती है ठीक उसी प्रकार एक नाम असंख्य पापोंको भस्म कर देता है। नामकी महिमा इतनी अधिक है कि गायी नहीं जा सकती। साधारण जपका भी महान् फल है तो फिर हममें कमी क्या है?

कमी इतनी ही है कि हमें ऐसा विश्वास नहीं है, श्रद्धा नहीं है। नाम रटते हुए भी हम नामके प्रभाव और रहस्यको नहीं समझते इसीलिये हम उसकी महिमाको समझ नहीं रहे हैं। हम समझते हैं कि ये बातें बस शास्त्रोंमें ही हैं, प्रत्यक्ष अनुभवकी नहीं। इसी अविश्वास और अश्रद्धाके कारण हमें पूरा फल नहीं मिलता। यह अविश्वास ही हमारा अपराध है। जिसे पूरा विश्वास है उसे पूरा फल मिलता है। परमेश्वरके प्रभाव और तत्त्वको समझते ही अत्यन्त श्रद्धा होती है। उसके साथ ही अतुल प्रेम हो जाता है। जो विश्वासपूर्वक श्रद्धाके साथ भगवान्‌का प्रेमभरे हृदयसे नाम लेते हैं उन्हें प्रत्यक्ष शान्ति और आनन्द मिलता है।

इस प्रकार नामके स्मरणसे ही सारे पाप भस्म हो जाते हैं और सारे फल स्पष्ट होने लगते हैं। प्रभुकी अपार दया है पर हम मानते नहीं। विश्वास किये बिना पूरा फल भी नहीं मिल सकता। रहस्य खुलनेमें देर नहीं लगती, प्रभु दयाकर एक क्षणमें आँखें खोल देते हैं और तब अपने अविश्वास और काल्पनिक दरिद्रताका महान् सन्ताप होता है कि इतने काल इस महिमासे हम अपरिचित रहे।

एक दरिद्र था। उसके घर एक साधु आये। 'नारायण हरि' की आवाज लगायी। दरिद्र घरसे बाहर आकर देखता है तो एक साधु भिक्षाकी प्रतीक्षामें द्वारपर खड़े हैं। वह बेचारा रोकर, गिड़गिड़ाकर कहने लगा—'महात्मन्! मेरा यह सौभाग्य है कि आप दयाकर पधारे हैं। पर घरमें अन्नका एक दाना भी नहीं है, पड़ोसवाले मुझे कुछ देंगे भी नहीं, बाजारसे कोई चीज उधार मिल नहीं सकती इसलिये लाचार हूँ और चाहते हुए भी आपकी सेवा नहीं कर सकता। मेरे समान संसारमें दुःखी कौन है?' साधुने कहा—'तुम्हारे समान संसारमें कोई भाग्यवान् नहीं!' दरिद्र व्यक्तिको साधुके वचनपर कैसे विश्वास होता! साधु महाराज भीतर गये और सिलवटपर रखे हुए लोढ़ेको उठाकर पूछने लगे—'यह क्या वस्तु है?' उस गरीब आदमीने कहा—'महाराज! यह पत्थरका एक टुकड़ा है। इससे चटनी पीसा करता हूँ।' साधुने कहा—'नहीं, यह पत्थर नहीं है, यह तो पारस है!

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बेचारा गरीब सामने देख ही रहा था कि यह प्रत्यक्ष ठोस पत्थर है। उसे साधुकी बात समझमें कैसे आती? साधुने कहा—'अच्छा, इसकी परख कर लो और घरमें लोहेके जितने बर्तन हों उन्हें ले आओ।' उस गरीबके घर तो लोहेके ही कुछ पात्र बच गये थे—तवा, करछी, सँड़सी, चिमटा आदि उठा लाया। उस 'लोढ़े' से स्पर्श कराते ही वे सभी पात्र सोना बन गये। साधुने कहा—'अरे, तुम तो संसारमें सबसे बड़ा भाग्यशाली हो, तुमसे बढ़कर भाग्यवान् कौन है। तुम चाहो तो संसारभरके लोहेको सोना बना दो। अपने अज्ञानसे इस पारससे तुम चटनी पीसा करते थे और इसे पत्थर मान बैठे थे। तुम्हारी अकलपर ही पत्थर पड़ गया था। तुम तो सारे संसारकी दरिद्रताको मिटा सकते हो। सारा संसार इसको पत्थर बतावे पर मेरी दृष्टिमें तो यह पारस ही है।' अब क्या था, एक क्षणमें ही उस गरीबकी सारी दरिद्रता मिट गयी, आँखें खुल गयीं!

ठीक ऐसी ही हमारी मूर्खता है। पारससे चटनी पीसते हैं। जब आँखें खुलतीं हैं तो एक ही क्षणमें उस पारसके मूल्यको समझ जाते हैं। फिर तो प्राण भले ही छूटे पर वह पारस न छूटे। यह समझनेमें देर ही क्या लगती है? प्रभुकी कृपासे हमारी आँखें भी जब खुलती हैं तो बस, अपने घरमें पड़ा हुआ और इतने दिनतक तिरस्कृत पारसको पाकर हमें अपनी मूर्खता और तज्जन्य दरिद्रतापर बड़ा अफ़सोस होता है। प्रभुका रहस्य खुलते एक क्षण भी नहीं लगता। यही रहस्य है। अज्ञानवश पारसको वह पत्थर मान रहा था। अज्ञान मिटते ही पारसका रहस्य खुल पड़ा। प्रभु बाहरसे नहीं आते। वह तो पहलेहीसे भीतर विराजमान हैं, अज्ञानवश हम उन्हें देखते नहीं, खोये बैठे हैं। प्रभुका मिलन भी पारसकी प्राप्तिकी भाँति है—वह तो हमारे घरमें है, अज्ञानवश हम उसे पहचानते नहीं। अज्ञान हटा और अन्तकी आँखें खुलीं कि बस, फिर नारायण हमारे सामने हैं।

प्रह्लादके लिये प्रभु सर्वत्र थे। वह सर्वत्र देखते थे—केवल मानते हों ऐसी बात नहीं। खम्भके भीतरसे तो केवल लोगोंको विश्वास दिलानेके लिये ही भगवान् प्रकट हुए। प्रह्लाद तो अग्निके भीतर भी यह देख रहे थे कि भगवान् उनको अपनी अमृतमयी गोदमें लिये हुए हैं। नृसिंहलीला तो लोगोंकी दृष्टिमें थी प्रह्लादके लिये तो सर्वत्र वही वह—केवल—'एक' छाया हुआ था।

प्रभुका रहस्य खुलते ही हम प्रभुके तत्त्वको जान जाते हैं। लोहेको सोना बना देना उसका प्रभाव है। तत्त्व जानना भी यही है कि यह पत्थर नहीं पारस है। पारसको पारस समझ जाना ही तत्त्व समझना है। फिर तो सहज ही उसपर अगाध ममता, असीम प्रेम हो जाता है।

पारस तो केवल लोहेको सोना बना देता है; वह मुक्ति नहीं दे सकता। प्रभुका नाम तो हमें संसार-सागरसे तार ही देता है। उनके गुणोंका तो खयाल आते ही ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी थाह ही नहीं, कोई पार ही नहीं, कोई सीमा ही नहीं। फिर तो एक क्षणके लिये भी प्रभुको छोड़ा नहीं जा सकता। दीन-दरिद्रको जब पारस मिल जाता है तो उसे वह प्राणोंसे बढ़कर अपना लेता है। प्रभु तो अनन्त गुणोंके सागर हैं—वे मिलें तो उस दशाका क्या अन्दाजा लगाया जाय? उस प्रेमको कौन कहे, उस आनन्द और शान्तिकी क्या व्याख्या हो?

जप करते समय इस प्रकार प्रभुके गुण प्रभाव और रहस्यको समझकर जप करना चाहिये। गुप्तरूपसे, निष्कामभावसे और प्रेममें विमुग्ध होकर ध्यान करते हुए हरिका इस प्रकार स्मरण करे, उसके नाममें डूबे। ऐसा जप एक क्षणका भी बहुत लाभदायक और परम फलका देनेवाला है।

हरिः ॐ तत्सत्

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कल्याण

जीवन बहुमूल्य है, इसका एक-एक क्षण प्रभुके स्मरणके लिये है; अतएव इसे व्यर्थ मत खोओ। एक-एक क्षणको सावधानीके साथ प्रभुके चिन्तन और प्रभुकी सेवामें लगाओ। केवल शरीर और वाणीसे ही नहीं, मनसे भी निरन्तर प्रभुका ही सेवन करो। देखते रहो, सँभाल रक्खो, चित्तरूपी महलमें चोर न घुस जायँ। जो पहलेसे घुसे बैठे हैं, उन्हें निकालो, और आइन्दा घुसने न दो।

× × × ×

काम, क्रोध, अभिमान, दम्भ, मोह, ईर्ष्या, असूया, वैर आदि ही प्रधान चोरोंमेंसे हैं। इनमें एक-एकको पहचान लो और लुके-छिपे जहाँ दिखायी दें, तुरन्त निकालनेका यत्न करो। याद रक्खो जबतक यह विकार चित्तमें भरे हैं तबतक तुम परमात्मासे बहुत दूर हो।

× × × ×

मनमें प्रभुको बैठाये रखनेकी चेष्टा करो, फिर ये चोर वैसे ही नष्ट हो जायँगे, जैसे सूर्यके प्रकाशमें अँधेरा नष्ट हो जाता है। मनको प्रभुके साथ जोड़ दो—जहाँ प्रभु जायँ वहाँ मन जाय, और जहाँ मन जाय वहाँ प्रभु साथ रहें। क्षण-क्षणका हिसाब रक्खो। एक पलकके लिये प्रभुके साथ मनके संयोगको न टूटने दो।

× × × ×

यह मत मानो कि मन बड़ा बलवान् है, यह कैसे प्रभुचरणोंमें बँधा रहेगा। याद रक्खो मनकी शक्ति तुम्हारी शक्तिसे बहुत ही कम है, और जो कुछ है सो भी तुम्हारी ही दी हुई। तुम मनके मालिक हो, गुलाम नहीं। तुम्हारे ही बलसे यह दुष्ट मन, तुम्हें अपना बल याद न रहनेके कारण, दबा बैठा है। हिम्मत करके जरा जोरसे धक्का लगाओ, मन उलटकर तुम्हारी गुलामी स्वीकार कर लेगा। फिर तुम्हें तो प्रभुका असीम बल प्राप्त है। उसपर विश्वास करो। विश्वास करते ही तुम अपनेमें उसे देखोगे। फिर तमाम विरोधी शक्तियोंका बल तुम्हें उस दैवी बलके सामने तुच्छ जान पड़ेगा। फिर अपने-आप ही सब तुम्हारे प्रभुत्वको स्वीकार कर सहायक और सेवक बन जायँगे।

× × × ×

जो इन्द्रियोंके भोगोंमें ही सुख देखता है वह मनकी गुलामीसे मुक्त नहीं हो सकता। भोगोंमें सुख या आरामकी कल्पनाको निकाल दो। सुख केवल भगवान्‌में ही है, और वह भगवान् तुम्हारे अपने हैं। भगवान्‌में सुख देखो, जब वह दिखायी देने लगेगा तब उस सुखके सामने भ्रमसे प्रतीत होनेवाले इन सुखोंका स्वप्न तुरन्त भङ्ग हो जायगा।

× × × ×

संसारमें धर्मशालामें ठहरे हुए मुसाफिरकी भाँति सावधान अस्थायी, तथा सदा चलनेके लिये तैयार होकर रहो। गाफिल मत होओ, चोरोंसे लुट जाओगे। काम-क्रोधरूपी चोर मौका ही ताकते रहते हैं। यहाँके निवासको स्थायी मत समझो, यह तुम्हारा घर नहीं है, जमकर रहना चाहोगे तो निकाल दिये जाओगे। नाहक दुःख होगा। तैयार नहीं रहे, और गाड़ी खुल गयी तो पछताओगे। फिर यह मनुष्य-देहरूपी गाड़ी सहज ही नहीं मिलेगी। अतएव सावधान।

"शिव"

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पञ्चसकार

[गतांकसे आगे]

स्वार्थत्याग

स्वार्थत्यागका शब्दार्थ होता है अपने प्रयोजन—अपने मतलबका त्याग। असली स्वार्थत्यागी वही है जिसका किसी भी हेतुसे संसारमें अपना कोई प्रयोजन नहीं रह गया हो। जहाँतक प्रयोजन है वहाँतक स्वार्थ है। अवश्य ही प्रयोजनके अनुसार ही स्वार्थके स्वरूपमें अन्तर होता है। जो अपने शरीरके आरामभरके लिये ही संसारमें कार्य करता है, वह भी स्वार्थी है, और जो विश्वको अपना स्वरूप मानकर कार्य करता है, वह भी स्वार्थी है। परन्तु दोनोंमें बड़ा अन्तर है। वह अन्तर है 'स्व' के संकोच और विस्तारका। जिसका 'स्व' जितना ही संकुचित है उसके प्रयोजनका स्वरूप भी उतना ही दूषित है, और उतना ही वह अधिक स्वार्थी है। और जिसका 'स्व' जितना विस्तृत है उतना ही उसके 'प्रयोजन' का स्वरूप भी दोषरहित है। और उतना ही वह अधिक स्वार्थत्यागी है। किसीका 'स्व'—अपनापन शरीरमात्रमें सीमित है, किसीका परिवारमें, किसीका समाजमें, किसीका जातिमें, किसीका देशमें, किसीका विश्वमें और किसीका उस परमात्मातक विस्तृत है। जिसके एक-एक रोममें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड स्थित हैं। अपनेपनकी सीमाविस्तारके साथ ही त्यागकी मात्रा बढ़ती जाती है। और भगवान्‌में स्थिति हो जाना ही त्यागका स्वरूप है, यही वास्तविक स्वार्थत्याग है, इससे पूर्वकी सभी अवस्थाएँ उत्तरोत्तर त्यागपूर्ण होनेपर भी हैं स्वार्थकी ही। परन्तु जितना-जितना त्याग अधिक होता है, उतना-उतना ही त्याग करनेवाला पुरुष उतना त्याग न करनेवालोंकी अपेक्षासे स्वार्थत्यागी है। इसी परिभाषाके अनुसार अपने शरीरके आरामका खयाल छोड़कर कार्य करनेवाले पुरुष जगत्‌में न्यूनाधिकरूपमें स्वार्थत्यागी कहलाते हैं।

यह कहा जा चुका है कि स्वार्थकी सीमा जितनी ही अधिक संकुचित होती है, उतनी ही उसके अधिक दूषित होनेकी सम्भावना रहती है। क्योंकि संकुचित स्वार्थ मनुष्यको अन्धा बना देता है, इससे उसको केवल अपना प्रयोजन ही सूझता है। अपने प्रयोजनकी सिद्धिके लिये वह दूसरेके प्रयोजनकी कुछ भी परवा नहीं करता। वरं मौका पड़नेपर दूसरेके प्रयोजनका नाश करके भी अपने प्रयोजनको सिद्ध करना चाहता है। इस स्वार्थान्धताके कारण ही जगत्‌का इतिहास रोमाञ्चकारी भयानक घटनाओंसे पूर्ण है। इसीके कारण विश्वासघात, चोरी, डकैती, ठगबाजी, धोखा होता है और निर्दोष प्राणियोंके और भाई-भाईके रक्तसे पृथ्वीके पवित्र रजकण रञ्जित होते रहते हैं। इसीके कारण घृणित-से-घृणित नृशंस हत्याकाण्डों और बुरे-से-बुरे पातकोंका प्रादुर्भाव जगत्‌में हुआ और हो रहा है। और इसीके कारण परमात्माकी लीलाशक्तिका आनन्दपूर्ण यह संसार सदा दुःख और अशान्तिसे पूर्ण भीषण नरक बना रहता है।

परन्तु भगवत्कृपासे प्राप्त हुए सत्संग और सद्ग्रन्थोंके अध्ययन एवं भगवद्भजनके प्रतापसे ज्यों-ज्यों संकुचित क्षुद्र स्वार्थका त्याग होता है और 'स्व' की सीमा आगे बढ़ती है त्यों-ही-त्यों उस त्यागीके स्वार्थमें पवित्रता बढ़ती जाती है। इस 'स्व' की सीमाकी वृद्धिके कारण ही मनुष्य स्वयं कष्ट सहकर परिवारका पालन करता है, परिवारकी परवा न कर समाजकी सेवामें लग जाता है, समाजके स्वार्थको क्रमशः जाति, देश और

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विश्वके स्वार्थमें विलीनकर विश्वसेवाको ही अपनी सेवा, विश्वसुखको ही अपना सुख, विश्वात्माको ही अपना आत्मा मानने लगता है। इस दृष्टिसे होनेवाला देशात्मबोध ही सच्ची देशभक्ति है, और विश्वात्मबोधमें ही सच्चा विश्वबन्धुत्व है। क्योंकि उस अवस्थामें देशका स्वार्थ ही अपना स्वार्थ और विश्वका प्रयोजन ही अपना प्रयोजन बन जाता है। जबतक क्षुद्र स्वार्थकी सीमामें मनुष्य विचरण करता है, तबतक वह देश और विश्वकी सेवाका नाम लेता हुआ भी यथार्थ देशसेवा या विश्वसेवा नहीं कर सकता। जहाँ अपने क्षुद्र स्वार्थके साथ देश या विश्वके स्वार्थमें विरोध उपस्थित होता है, वहाँ वह अपने क्षुद्र स्वार्थ-के लिये देश या विश्वके स्वार्थकी परवा नहीं करता। वह देश या विश्वके स्वार्थकी वेदीपर अपने स्वार्थकी बलि नहीं चढ़ा सकता। देश और विश्वकी सेवाके लिये देहात्मबोधसे कई स्तर ऊपर उठकर देशात्मबोध और विश्वात्मबोधकी विस्तृत भूमिपर पहुँचना पड़ता है। इस भूमिपर पहुँचे बिना ही जो देशभक्ति या विश्वबन्धुत्वकी बातें या चेष्टाएँ होती हैं, वह तो प्रकारान्तरसे अपने क्षुद्र स्वार्थकी पूर्त्तिका साधनमात्र होती हैं, इसीसे ऐसे व्यक्तिगत स्वार्थकी सीमाको न लाँघे हुए सेवकोंसे देशकी और विश्वकी यथार्थ सेवा कभी नहीं हो सकती। प्रस्तावमात्र होकर रह जाते हैं। यदि यथार्थतः किसी देशके या विश्वके मनुष्य देशात्मबोध या विश्वात्मबोधकी भूमिकापर पहुँच जायँ तो निश्चय ही वहाँका क्षुद्र स्वार्थमूलक वैर-विरोध, अरक्त या रक्तमय हत्याकाण्ड एवं असुख, अशान्तिका विनाश होकर यथाक्रम वह देश या विश्व सुखी हो सकता है। अवश्य ही यह सुख-शान्ति भी अपेक्षाकृत ही है, शाश्वत और पूर्ण नहीं। क्योंकि ये देश और विश्व और इनके विविध नामरूपमय पदार्थ सभी प्रकृतिके कार्य होनेसे परि-वर्तनशील, अशाश्वत, क्षणभङ्गुर और विनाशी ही हैं।

यथार्थ सुख-शान्ति तो उस पूर्णतम परमवाञ्छनीय परम 'स्वार्थ'में रहती है जिसका स्वरूप ही परिपूर्णतम और शाश्वत दिव्य सुख-शान्तिरूप है और जिसको पहचानना ही पूर्णतम स्वार्थत्याग कहलाता है। वह हमारा परम स्वार्थरूप दिव्य आनन्दाम्बुधि रसिक-शेखर ऐसा लीलामय खिलाड़ी है कि अनन्तकोटि विश्व उसके भृकुटि-विलाससे, उसकी हास्य-रेखाके विकास-संकोचसे लीलासे ही (अवश्य ही अपेक्षाकृत दृष्टिसे नियमपूर्वक) सृजन और ध्वंस होते रहते हैं (वास्तवमें उसकी लीलाके नियमोंको वही जानता है)। उसके कृपाकटाक्षकणसे उसकी लीलाके रहस्यको किञ्चित् समझकर उसकी विविधरूपा नित्यानन्दमयी लीलामें आंशिकरूपसे भी सम्मिलित होनेका सौभाग्य प्राप्त करना ही परम स्वार्थत्याग है। ऐसा स्वार्थत्यागी, भगवत्पदारविन्दमकरन्दमधुकर लीलानन्दी भक्त, सांसारिक भोगोंकी तो बात ही क्या है, परमदुर्लभ मुक्ति-पदको भी चम्पककुसुम-सा मानकर उसके प्रति चञ्चरीक ही बना रहता है। कभी उसमें आसक्त होता ही नहीं। वह तो सहज ही केवल भगवान्‌के इशारेपर उन्हींका नचाया नाचा करता है। नृत्यमें पाद-निक्षेप कभी कोमल होते हैं, कभी कठोर। पृथ्वीको कँपा देनेवाला महाकाल रुद्रका प्रलयंकरी ताण्डव, और मन्मथ-मन्मथ मोहनका विश्वविमोहन रास—दोनों नृत्यके ही प्रकारान्तर हैं। इसी प्रकार भगवान्‌की भाँति भक्त भी उनके संकेता-नुसार नाचा करता है। यह निश्चय है कि भगवान्‌का प्रत्येक संकेत कल्याणमय है, चाहे देखनेमें वह कितने ही भीषण या क्रूर दृश्यको उत्पन्न करनेवाला क्यों न हो।

यह स्मरण रखना चाहिये कि हम जिस विश्वमें रहते हैं, यही एकमात्र विश्व नहीं है। न मालूम इससे बड़े और छोटे कितने असंख्य विश्व और हैं। फिर हम जिस विश्वमें हैं, उस विश्वके स्वरूपका भी पूरा ज्ञान हमें नहीं है, हम तो इस विश्वके एक जम्बूद्वीपका भी हाल नहीं जानते। हमारी वही दशा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है जैसी हमारे शरीरके किसी क्षुद्र-से-क्षुद्र अंशमें रहनेवाले किसी क्षुद्र जीवाणुकी होती है जो दूसरे शरीरकी बात तो अलग रही हमारे शरीरके दूसरे अवयवोंको भी नहीं देखता। अपने ही थोड़े-से दायरेमें विचरता है और उसीको सम्पूर्ण विश्व समझता है। ऐसी हालतमें जब हम अपने इस विश्वके ही स्वरूपको नहीं समझते, तब अपनी क्षुद्र बुद्धिसे यह तो कैसे जान सकते हैं कि विश्वका हित किस बातमें है। और जब एक विश्वके हितका ही पता नहीं तब उन अनन्त विश्वोंके हिताहितको, जिनके साथ, (इन सारे विश्वोंके एकमात्र आधार, इनके उत्पादक, पालक और संहारक सभी लीलाओंमें परम कल्याण करनेवाले परमात्माकी दृष्टिसे) हमारे विश्वका और हमारा हिताहित संलग्न है, कैसे जान सकते हैं। विश्वके हिताहितको केवल परम कल्याण-रूप सर्वलोकमहेश्वर भगवान् ही जानते हैं, और इसीसे उनकी शक्तिकी प्रत्येक क्रिया स्वभावसे ही विश्वकल्याणके लिये होती है। और इसीसे उनकी प्रत्येक चेष्टामें परम कल्याण देखनेवाला उनका कृपापात्र भक्त एकमात्र उनके इशारेके अनुसार नाचनेका सौभाग्य प्राप्त करनेमें ही तमाम विश्वोंका और अपना परम मंगल देखता है। इसीलिये वह सब कुछ छोड़कर छोटे-बड़े तमाम स्वार्थोंको इस चरम परमार्थकी प्रेमाग्निमें होम कर देता है और मनचाही मुक्तिका भी तिरस्कार करते हुए लोक-परलोक तथा जन्म-जन्मान्तरकी सारी चिन्ताओंको छोड़कर अपने भगवान्‌के लीलाभिनयमें ही उनके संकेतानुसार निस्संकोच अभिनय करता रहता है।

इसीसे नृत्यगीत-कुशल लीलाविहारी नटनागर भगवान्‌ने अपने दिव्य गीत गीतामें परम अधिकारी भक्त अर्जुनको अपने लीलाभिनयमें पात्र बनानेके लिये कृपापूर्वक कहा था—'तुम अपने मनको मेरे मनमें मिलाकर मेरे मनवाले बन जाओ, मेरे भक्त हो जाओ, मेरी पूजा करो, मुझे नमस्कार करो, सब धर्मोंको छोड़कर एकमात्र मेरी शरणमें आ जाओ।' यही सर्वगुह्यतम रहस्य है। अर्जुनने कहा—'हे अच्युत, आपकी कृपासे मेरा मोह मिट गया! मैंने मोहवश ही आपके लीला-संकेतको न समझकर दुर्भाग्यकी ओर पैर बढ़ाया था। आपने रहस्य खोलकर मुझको बचा लिया। अब आपकी कृपासे मेरे मनमें कोई सन्देह नहीं रहा। आप जो कहेंगे, वही करूँगा।' यही आत्मसमर्पण है, यही सम्पूर्ण स्वार्थत्याग है। अब अर्जुन नहीं कहते कि 'मैं भीष्म या द्रोणको नहीं मारूँगा अथवा उनको मारनेसे मुझको पाप लगेगा।' अब तो वह भगवान्‌के इशारेपर नाचनेको तैयार हो गये, पाप-तापकी सीमासे पार हो गये। पापकी सम्भावना तभीतक थी, जबतक विजयके लिये, कीर्तिके लिये, राज्यके लिये या कौरवोंको शत्रु समझकर उन्हें मारनेके लिये युद्धकी तैयारी थी। अथवा सम्बन्धियोंके शरीर-वियोगको पाप मानकर उस पापसे बचनेके लिये अभिमान और मोहवश अर्जुन गाण्डीव पटककर वनकी राह और भीखके टुकड़ेकी ओर देखने लगे थे। भगवान्‌ने समझाया—'यों कर्मसे डरकर मत भागो, अहङ्कार-वश किसी कर्मको छोटा-बड़ा मत समझो। यथायोग्य सब कर्मोंको सुचारुरूपसे करो, परन्तु करो योगमेंमें स्थित होकर, आसक्तिको त्यागकर, सिद्धि-असिद्धिमें समबुद्धि होकर; सब कुछ भलीभाँति करो, परन्तु करो मेरे लिये; खाओ-पीओ, होम करो, दान करो, तप करो, सब कुछ करो, परन्तु सब करो मेरे अर्पण। यह समझो कि मैं स्वयं कुछ भी नहीं करता, भगवान्‌की शक्ति प्रकृति ही मुझसे सब कुछ करवा रही है। 'लड़ो,—पर यह समझकर कि यह सब शरीर नाश होनेवाले हैं और आत्मा नित्य, अविनाशी और अप्रमेय है; लड़ो—सुख-दुःखको, हानि-लाभको और हार-जीतको मनमें समान अनुभव करके, फिर तुम्हें किसीके

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मारनेका पाप नहीं लगेगा; लड़ो—सब कर्मोंको मुझ (कृष्ण—परमात्मा) में अध्यात्मबुद्धिसे समर्पण करके—यह समझकर कि मैं यह सब कर्म भगवान्‌की आज्ञासे भगवान्‌के लिये ही कर रहा हूँ। ऐसा समझकर, और आशा, ममता तथा चित्तके संतापको त्यागकर; लड़ो—यह समझकर कि भीष्म-द्रोणादि सब भगवान्‌के द्वारा मारे जा चुके हैं, मुझे तो भगवान् अपनी लीलामें रखकर केवल निमित्त बना रहे हैं; तुम तो बस सर्वात्मसमर्पण करके निश्चिन्त हो रहो, पापोंसे मैं आप ही निपटूँगा, तुम जरा भी चिन्ता न करो।'

अर्जुन भगवान्‌के निर्वाचित लीलानुचर थे, अधिकारी थे। इसीसे भगवान्‌ने उन्हें 'स्व'रूप दिखाकर गतसन्देह कर उनको यथार्थ 'स्व' रूपमें स्थित कर दिया। अर्जुनने भीष्मद्रोणादिका संहार करके कल्याणमय प्रभुके कल्याणमय कार्यको सम्पन्न करनेमें अपनेको निमित्त बनाया। कालरूप भगवान्‌ने इस प्रकार मारकर सबको तार दिया।

यह नहीं समझना चाहिये कि केवल सात्त्विक दीखनेवाले कर्मोंसे ही भगवान्‌की पूजा होती है। सत्त्व भी एक आवरण ही है, इसे भी फाड़ना होगा। इससे भी परे पहुँचना होगा। वहाँ इस सत्-रज-तमरूप त्रिगुणका प्रवेश नहीं है। उस दिव्य गुणमय परमधामसे निश्चित होकर वहींके संकेतसे इस विश्वमें जो कुछ होता है, वह हमारी नज़रसे देखनेमें चाहे जैसा सत्त्वसे प्रतिकूल कार्य दीख पड़े—भयानक हिंसामय या दोषमय मालूम हो, परन्तु वह जगत्‌के परम मंगलके लिये ही होता है। परन्तु ऐसा कार्य केवल भगवान्‌की कल्याणमयी शक्तिसे ही होता है, या उन आसक्ति, कामना और अहङ्कारकी भूमिकासे ऊपर उठे हुए भाग्यवान् प्रेमानन्दमय पुण्य पुरुषोंके द्वारा होता दिखायी देता है जो भगवत्-शक्तिसे प्रेरित होकर भगवान्‌के लीलामें निमित्त बनते हैं। इस भगवत्प्रेममें एक विश्वका ही नहीं, समस्त विश्वोंका हित समाया रहता है; क्योंकि यह विश्वके हिताहितके सम्पूर्ण ज्ञाता सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परम सुहृद् भगवान्‌की शक्तिसे ही अनुप्राणित और सञ्चालित होता है, यही वास्तविक विश्वसेवा है। परन्तु सब लोग इस प्रकारसे सेवा न तो कर सकते हैं न सबका अधिकार ही है। यह अधिकार तो सिर्फ लीलानुचरोंको ही है।

जगत्‌के हम साधारणमनुष्योंके लिये तो अपेक्षाकृत ऊँचे-से-ऊँचा ध्येय विश्वके स्वार्थमें अपने स्वार्थको मिलाकर विश्वसेवामें नियुक्त होना ही है। इस भूमिकातक पहुँचनेपर ही, सबको आत्मरूप समझनेपर ही, सर्वभूतहितको आत्महित समझकर उसमें निरन्तर निरत होनेपर ही भगवान्‌की वह प्रेमरूपा पराभक्ति प्राप्त होती है। अतएव निम्नलिखित बातोंका खयाल रखकर यथासाध्य अधिक-से-अधिक स्वार्थत्याग करना चाहिये। यह याद रखना चाहिये कि जहाँ स्वार्थ है वहाँ प्रेम कदापि नहीं है। और प्रेम बिना न तो लौकिक जीवन ही सुखमय हो सकता है और प्रेममय परमात्माकी प्राप्ति तो हो ही नहीं सकती।

(१) ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिये, जिसमें दूसरेके न्याय्य स्वार्थकी हानि हो।

(२) जहाँतक हो सके विषयोंकी आसक्ति, कामना और अभिमानका त्याग करना चाहिये। आसक्ति, कामना और अभिमान स्वार्थको बहुत ही दूषित बनाकर हमसे दूसरोंकी बुराई कराते हैं, जिससे परिणाममें हमारा अत्यन्त अहित होता है।

(३) दूसरेके हितमें अपना हित, दूसरेके लाभमें अपना लाभ माननेकी भावना करनी चाहिये।

(४) धन, मान, यश और पदकी कामना छोड़नेकी चेष्टा करनी चाहिये।

(५) दूसरेका अनिष्ट करना बहुत बड़ा पाप है।

(६) दूसरेका हित करना बहुत बड़ा पुण्य है।

(७) जिस कार्यसे दूसरेका यथार्थ हित होता है, उससे परिणाममें अपना अहित हो ही नहीं सकता।

(८) जिस कार्यसे दूसरेका परिणाममें अहित

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होता है उससे अपना हित हो ही नहीं सकता।

(९) अपने हितके लिये घरके दूसरे लोगोंका, परिवारके हितके लिये दूसरे परिवारका, जातिके हितके लिये दूसरी जातिका, धर्मके हितके लिये दूसरेके धर्मका, देशके हितके लिये दूसरेके देशका, राष्ट्रके हितके लिये परराष्ट्रका कभी अहित मत चाहो। ऐसा चाहनेवालोंका यथार्थ हित कभी नहीं हो सकता।

(१०) अपनी सन्तानकी भाँति ही भाईकी सन्तानसे स्नेह करो। तुम माता हो तो देवरानी, जेठानी या सासकी सन्तानपर वैसा ही स्नेह करो। खान-पान, वेष-भूषामें किञ्चित् भेद न करो, भेद करना हो तो यह करो कि पहले उनका खयाल रक्खो, अपनी सन्तानको कोई चीज न मिले तो न सही परन्तु उनकी सन्तानकी आवश्यकता पहले पूर्ण करनेकी चेष्टा करो। रसोईमें अपने या अपने पति-पुत्रोंके लिये कोई भी चीज छिपाकर न रक्खो। यह बात मामूली मालूम होती है परन्तु इस मामूली बातमें दोष आनेपर बड़े-बड़े घर कोर्टमें जाकर नष्ट हो गये हैं।

(११) याद रक्खो, लौकिक दृष्टिसे श्रीराम और भरतजीमें इसीलिये युद्ध नहीं हुआ कि दोनों स्वार्थ-त्यागी थे। श्रीराम कहते थे राज्य तुम करो और भरत कहते थे कि महाराज! राज्यपर अधिकार आपका है। परन्तु कौरव-पाण्डवोंमें इसीलिये युद्ध हो गया कि वे दोनों ही अपने-अपने स्वार्थका त्याग करनेमें असमर्थ थे।

(१२) दूसरेको नीचा दिखाकर, या नीचा दिखानेके लिये कभी ऊँचा बननेकी चाह मत करो।

(१३) दूसरेके दोषोंको स्वार्थवश कभी प्रकट न करो

(१४) ऐसे किसी कानूनके बननेमें या किसी भी कार्यमें तन-मन-धनसे कभी सहायता मत दो जिससे किसी प्राणीका अहित होता हो।

(१५) दूसरेके स्वार्थको बचाकर ही अपना प्रयोजन पूरा करनेकी चेष्टा करो।

(१६) स्वार्थ मनुष्यको असत्य, अन्याय, हिंसा, चोरी, छल, दम्भ, कटुभाषण, कुव्यवहार, असदाचार आदि दोषोंका भण्डार बना देता है, जिससे आगे चलकर उसके स्वार्थकी बड़ी भारी हानि होती है। अतएव जिन कामोंमें इन दोषोंके आनेकी सम्भावना हो, उनमें अपने स्वार्थकी बड़ी हानि समझकर उन कामोंको छोड़ दो।

(१७) अनाजके व्यापारी हो तो अकालके समय अन्नके तेज हो जानेकी सम्भावनासे अन्नका संग्रह न करो।

(१८) वकील हो तो कभी यह न चाहो कि लोगोंकी ईमानदारी बिगड़े जिससे मुकद्दमे अधिक हों। मवक्किलोंको लड़ानेके लिये बुरी सलाह मत दो, झूठ मत सिखाओ, झूठा मुकद्दमा हो तो जहाँतक बने लड़नेसे उसे हटा दो। झूठी गवाहियाँ मत सजाओ।

(१९) मजिष्ट्रेट हो तो अपने हितके मोहसे कभी अन्याय न करो।

(२०) जमींदार हो तो मोहवश धनके लालचसे किसानोंको मत सताओ।

(२१) किसान हो तो न्यायपूर्वक अपना पालन करनेवालेके न्याय हकको मारनेकी चेष्टा मत करो।

(२२) गुरु या आचार्य हो तो शिष्यको वही उपदेश दो जिससे उसका मन यथार्थ धर्म और भगवान्‌में लगे।

(२३) शिष्य हो तो गुरुकी सच्चे मनसे सेवा करनेमें मुँह न मोड़ो।

(२४) पुलिस-कर्मचारी हो तो लालचवश सत्य-को झूठ और झूठको सच बनानेका कार्य न करो। गरीबोंको मत सताओ। लोगोंको सुख पहुँचे ऐसी चेष्टा करो।

(२५) दलाल हो तो दलालीके लिये व्यापारियों-को खरीदने-बेचनेमें धोखा मत दो।

(२६) व्यापारी हो तो माप, वजन, संख्या आदिमें सच्चे रहो, न ज्यादा लो, न कम दो। नमूना दिखलाकर घटिया माल मत दो। एक चीजमें दूसरी चीज मत मिलाओ। खानेकी चीजोंमें और चीजें मिलाकर स्वार्थी व्यापारी लोगोंके धन, धर्म

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

और स्वास्थ्यके नाशमें कारण बनकर भारी पाप कमाते हैं। सावधान रहो।

(२७) डाक्टर या वैद्य हो तो लोभवश यह कभी मत चाहो कि लोगोंमें बीमारी अधिक फैले। न कभी ऐसी चेष्टा करो जिससे रोगीका रोग दीर्घकाल-व्यापी हो। तुम्हारी चेष्टासे कुछ होगा भी नहीं। पापका अवश्य संग्रह हो जायगा।

(२८) गरीबोंका पेट भरनेके लिये जिन चीजों-की जरूरत हो, उनकी दर महँगी करनेकी चेष्टा लोभवश मत करो।

(२९) गरीब नौकरों और मजदूरोंको इतना मेहनताना तो जरूर दो जिससे उनका पेट भरे। उनके पैसे कभी मत काटो।

(३०) धनसे, विद्यासे, चातुरीसे, रोबसे, अधिकारसे, किसीके हकको मारने या छीननेकी चेष्टा या चाह कभी न करो।

(३१) गरीबोंकी गरीबी बढ़े ऐसा काम लोभ-वश न करो।

(३२) गरीबोंकी आजीविका मारनेकी परोक्ष या अपरोक्षरूपसे कभी चाह या चेष्टा न करो।

(३३) परिवारके सब लोगोंका अपनी कमाईमें ईश्वरदत्त अधिकार समझो। यह अभिमान मत करो कि मैं अकेला कमाता हूँ और सब तो सिर्फ खानेवाले ही हैं।

(३४) सबसे प्रेम बढ़ानेकी चेष्टा करो, याद रक्खो निःस्वार्थ-सेवासे प्रेम अवश्य ही बढ़ता है। अतएव सबकी यथायोग्य यथासाध्य निःस्वार्थ सेवा करनेका प्रयत्न करो।

(३५) स्वार्थसिद्धिके लिये किसीको झूठा सिद्धान्त मत बतलाओ। जान-बूझकर धोखा न दो।

(३६) याद रक्खो—शरीर नश्वर है, यहाँका कुछ भी साथ नहीं जायगा। अतएव स्वार्थवश पाप न बटोरो।

(३७) किसी भी अनाथ, असहाय पुरुष, बालक या विधवा स्त्रीकी सेवासे न हटो, जहाँतक हो उनकी रक्षा करो। समाजमें उनपर अत्याचार न हो, उनके हकको कोई खा न जायँ, ऐसी चेष्टा करो। स्वयं कभी स्वार्थवश इनका स्वत्व रख लेनेकी चाह या चेष्टा न करो। यह महापाप है।

(३८) ब्राह्मणहित, सत्संग, श्रीहरिकथा, दान, भगवत्पूजन, सेवा और परोपकार आदि कार्योंका स्वार्थवश कभी विरोध न करो। न विरोध करनेवालों-का तन-मनसे कभी समर्थन ही करो। वरं इनके प्रचारकी चेष्टा करो।

(३९) अपने किसी भाई या व्यापारमें हिस्सेदार-की सरलताका अनुचित लाभ उठाकर उनका हक मारनेकी कभी चेष्टा न करो। हिस्सेदारी चालू रहते समय या अपना हिस्सा अलग करते समय चालाकीसे उनके हकका एक पैसा या झाड़ूका एक तिनका भी लेनेकी न कभी चाह करो न चेष्टा।

(४०) अपनी कीर्तिके लिये दूसरेकी कीर्तिको मिटानेका जतन कभी न करो।

(४१) दूसरेकी सफलतामें बिना हक हिस्सेदार बननेके लिये कभी चेष्टा मत करो।

(४२) किसीको दबाकर, दुःख देकर, बातोंमें फँसाकर, झूठा लोभ दिखलाकर, अपना काम निका-लनेकी चेष्टा न करो।

(४३) देवताओंकी पूजा करो, ब्राह्मणभोजन कराओ, गरीबोंको यथासाध्य दान दो परन्तु बदलेमें कुछ भी मत चाहो।

(४४) जप-तप करो, यज्ञ-याग करो, देश, काल, पात्रमें दान करो, परन्तु उसका कुछ भी फल मत चाहो। जो कुछ करो केवल श्रीभगवान्‌के लिये ही करो।

(४५) भजनमें किसी प्रकारकी भी शर्त मत करो। भजन करते-करते भगवान्‌की दया प्राप्त हो जाय और भगवान् कभी प्रसन्न होकर मुक्ति भी देना चाहें तो यही कहो कि हे भगवन्! अवश्य ही मैं आपका निःस्वार्थ सेवक नहीं हूँ। मेरे मनमें मुक्तिकी कामना छिपी थी इसीसे तो आप मुक्ति दे रहे हैं। हे भगवन्! मुझे मत लुभाइये। मुझे तो आप अपने चरण-सेवकों-में ही रखिये। और ऐसा वरदान दीजिये, जिसमें कुछ भी देन-लेनका प्रश्न कभी उठे ही नहीं। (क्रमशः)

हनुमानप्रसाद पोद्दार

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

समाधि और संयमतत्त्वसार

(श्रीश्रीभार्गव श्रीशिवरामकिङ्कर स्वामी योगत्रयानन्दजी महाराजके उपदेश)

(पृष्ठ ९१९ से आगे)

पञ्चम प्रकाश

समाधिजन्य ज्ञानका स्वरूप; ऋतम्भरा-प्रज्ञा; विज्ञान और दर्शनका लक्ष्य; योगीके विशेष दर्शनका स्वरूप; विशेष और सामान्य दर्शनका स्वरूप; इस विषयमें वेदान्तका उपदेश; पाश्चात्य वैज्ञानिक विद्योगी नहीं हैं : सगुण और निर्गुण ब्रह्मकी उपासना; सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात-समाधि।

जिज्ञासु—समाधिके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह किस प्रकारका होता है, यह जरा स्पष्टरूपमें समझनेकी इच्छा है।

वक्ता—भगवान् पतञ्जलिदेवने 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' तथा तत्परवर्ती 'श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्' इन दो सूत्रोंके द्वारा समाधिज प्रज्ञाका स्वरूप संक्षेपमें बतलाया है। जो प्रज्ञा केवल ऋत या सत्यको ही धारण करती है, मिथ्याको कभी धारण नहीं करती, वह ऋतम्भरा प्रज्ञा है। समाधिपूत चित्तमें वस्तुका यथार्थ ज्ञान ही प्रतिभात होता है, कभी अयथार्थ ज्ञान प्रतिभात नहीं होता। समाधिकी सविचार अवस्थाके अन्तमें निर्विचार अवस्थाका आविर्भाव होता है। उस समय चित्त रजस्तमके द्वारा तनिक भी अभिभूत नहीं होता, चित्त पूर्णरूपसे निर्मल होता है; चित्तके इस प्रकारकी अवस्थामें रहनेको 'वैशारद्य' कहते हैं; उस समय योगीको अध्यात्मप्रसाद प्राप्त होता है; उस समय अपने-आप जो ज्ञान होता है, उस समय और विचार नहीं रहता, उसका नाम ऋतम्भरा है। यह यथार्थ ज्ञान है, इसमें भ्रान्ति लेशमात्र भी नहीं होती; यह अविकल्पित ज्ञान है, इसमें 'हाँ, ना' नहीं, यह निश्चयात्मक ज्ञान है। अपिच, यह अक्रमज्ञान है—क्रमशः उत्पन्न नहीं हुआ है। इस ऋतम्भरा प्रज्ञाकी विशेषता क्या है, यह बादके सूत्रमें दिखाया है। यह प्रज्ञा श्रुत (आप्तोपदेश) और अनुमानजनित प्रज्ञासे भिन्न है, क्योंकि इसके द्वारा सब पदार्थोंका विशेष ज्ञान होता है। आप्तोपदेश (श्रवण) से सामान्य प्रकारका ज्ञान होता है, अनुमानसे भी सामान्य ही ज्ञान होता है। विशेष (Definite) ज्ञान नहीं होता, केवल योगीको ही विशेष ज्ञान होता है। किसी पदार्थके विषयमें विशेष ज्ञान हुए बिना तद्विषयक यथार्थ या पूर्ण ज्ञान नहीं होता।

जिज्ञासु—सुना है, विशेषके अन्दर सामान्यका आविष्कार करना (Discovery of Identity amidst diversity) ही प्रकृत विज्ञानका कार्य है। हमलोग साधारणतः विशेष भाव (The Particular) को लेकर ही कालयापन करते हैं, एक विशेष भावसे दूसरे विशेष भावमें गमन करते हैं, साधारण व्यक्तिका समय इसी प्रकार समाप्त होता है। जो विद्वान् हैं, जो विज्ञानाकांक्षी हैं, वे इस बहुविशेषके अन्दर सामान्य (The Universal) को देखनेकी चेष्टा करते हैं, इसीसे प्राकृतिक नियमोंका आविष्कार (Discovery of Natural Laws) होता है, विज्ञानकी उत्पत्ति होती है। दर्शन भी, सुना है, विज्ञानका ही व्यापक रूप है (Partially unified Knowledge is Science and Universally unified Knowledge is Philosophy) पातञ्जलदर्शनने कहा है—योगीको विशेष दर्शन होता है। परन्तु विशेषमें प्रवेश करनेपर सामान्यको खोना होगा, तब यथार्थ दर्शन या Philosophy कैसे प्राप्त होगी ? अतएव यह प्रश्न उठता है कि योगियोंका विशेष दर्शन किस प्रकारका होता है। वे ही तो सामान्यके रूपदर्शनके योग्य हैं, वे ही तो सामान्यको प्रत्यक्ष करते हैं। एक साधारण वैज्ञानिक और एक योगीके वस्तु-तत्त्व-दर्शनमें क्या भेद है ?

वक्ता—योगी विशेष दर्शनके समय सामान्य ज्ञानको खो नहीं देते; जितने विशेष-विशेष भाव हैं, वे सब एक-न-एक सामान्य भावके विशिष्ट भाव हैं, विशेष ज्ञान प्रत्यक्ष करते समय इसका ज्ञान उन्हें पूर्णरूपसे रहता है; बहु एकका ही प्रकारभेद मात्र है, एक ही बहु हुआ है, उनका यह ज्ञान विलुप्त नहीं होता। साधारण वैज्ञानिक अनन्त विशेष भावोंके अन्दर अपनेको खो बैठते हैं। विशेष भावोंके अन्दर वे सामान्य भावका आविष्कार करनेकी चेष्टा अवश्य करते हैं, परन्तु वह केवल आपेक्षिक सामान्य है; वे उसीसे सन्तुष्ट रहते हैं, वे पर-सामान्यमें जाना नहीं चाहते, या जा नहीं सकते। उन्होंने विज्ञानकी बहुत उन्नति की है, और भी बहुत करेंगे, भविष्यमें वे अनन्त विशेषमें विचरण

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

करेंगे, परन्तु उस विशेषानन्त्यमें डूबे रहेंगे, रमणीय, त्रितापहारी परसामान्यका रूप कभी वे देख नहीं सकेंगे, उनका परम वाञ्छितके साथ समागम नहीं होगा। योगी-का दर्शन इस प्रकारका नहीं है, योगी योगसाधनाके द्वारा पहले सामान्यके स्वरूपकी उपलब्धि कर लेते हैं; तदनन्तर वही सामान्य विशेष-विशेष भाव धारण कर इस जगत्के रूपमें विवर्त्तित हुआ है, यह सम्प्रज्ञात समाधिरूपी नेत्रद्वारा प्रत्यक्ष करते हैं। वेदान्तदर्शनने भी यही बात कही है, अद्वैतको ही द्वैतके अन्दर देखना सिखाया है, माया या प्रकृतिके नाना रूपोंमें सर्वत्र चैतन्यको ही देखनेके लिये कहा है। पाश्चात्य वैज्ञानिक चिद्योगी नहीं हैं, वे केवल प्रकृति-योगी हैं। समाधिशील योगीका प्रकृतिमें—प्रकृतिके अनन्त रूपोंमें लय हो सकता है; परन्तु चिद्योगाभावमें उन्हें कैवल्यप्राप्ति नहीं होगी। पातञ्जलदर्शन यही बात कहता है। एक परसामान्य ब्रह्म गुणोंके साथ युक्त होकर नाना रूपोंमें प्रतिभात होते हैं। गुणत्रयकी केवल पृथक् सत्ता कुछ नहीं है, चैतन्यविहीन रूपमें इनका अस्तित्व कहीं उपलब्ध नहीं होता, ये सर्वत्र चैतन्याधिष्ठित होकर वास करते हैं, सत्ता प्राप्त करते हैं।

वास्तविक रूपमें निर्गुण ब्रह्मकी उपासना असम्भव है, सगुण ब्रह्म या मायाशबल ब्रह्म ही उपासकके उपास्य हैं। साधक उपासनाद्वारा क्रमशः ब्रह्मके स्वरूपको जानते हैं। उपासना या पूजाके तत्त्वका विचार करके देखो; देखोगे, इसके द्वारा भी साधक विशेषसे सामान्यमें जाना सीखते हैं। तुम सम्भवतः केवल एक पुष्प या पत्र या अन्य उपचार निवेदन करनेको ही पूजा समझते हो; परन्तु यह वास्तविक पूजा नहीं है। उपचार क्या वस्तु है? फूलका गन्ध है, घण्टाका मृदु मधुर वाद्य है, फल-मिष्टान्न आदि नैवेद्यका रस है, ये सब सामान्य ब्रह्मके विशेष-विशेष भाव हैं। तुम यह सब उन्हें निवेदन कर देते हो, विशेष (विशेषभाव-समूह) को सामान्यमें या उनके कारणमें, जहाँसे वे उत्पन्न हुए हैं, उसीमें विलीन कर देते हो, कर दिया ऐसा समझते हो, ये सब जितने इन्द्रियग्राह्य पदार्थ हैं, जितने उपलब्ध या प्रत्यक्षीभूत विशेष भाव हैं, ये सब उस परसामान्य परमात्माके अपर भाव मात्र हैं। ज्ञानी पूजक पूजा करते समय हृदयमें यह भाव रखते हैं—परमात्मन्! तुम्हीं स्रष्टा हो, और जो कुछ दृश्य है वह भी तुम्हारा ही रूप है, वह भी तुम्हीं हो, मुझमें जो कुछ है, जो कुछ पाञ्चभौतिक है, जो कुछ त्रिगुणका कार्य है, वह भी सब तुम्हारा ही है। [गन्ध, पुष्पादि पञ्चोपचार-प्रदानद्वारा पाञ्चभौतिक जो कुछ है, अर्थात् गुणत्रयका कार्य जो है वह सब, अतएव विश्वमें जो कुछ विशेष है, सामान्यभावमें वह सब पर-सामान्य परमात्माको अर्पण किया जाता है।]

'विशेष' भाव होता क्यों है? प्रकृतिके अहङ्कारतत्त्वके कारण। पहले पाञ्चभौतिक वस्तुसमूहको अहङ्कारतत्त्वमें लीन करो, क्षुद्र, व्यष्टि अहंभावको व्यापक अहंभावमें लीन करो, तत्पश्चात् उसे महत् तत्त्वमें और उसे प्रकृतिमें अर्थात् प्रकृतिकी साम्यावस्थामें एवं तब उसको परमात्मामें लीन करो, यह करके असम्प्रज्ञात समाधिके द्वारा निर्गुण ब्रह्मभावापन्न हो जाओ। तब निर्गुण ब्रह्मकी उपासना तुम्हारे द्वारा होगी। पहले सगुण ब्रह्मकी उपासना किये बिना कोई निर्गुण ब्रह्मकी उपासना नहीं कर सकता।

'उप', समीपमें आसन, रहना—इसीको उपासना कहते हैं। परमात्मा ही यदि उपास्य हों, तब हम तो सर्वदा ही उनके समीप रहते हैं; हम परमात्माके समीप रहकर भी उनके समीप नहीं हैं, ऐसा क्यों मालूम पड़ता है? अहङ्कारके कारण। हमारा व्यष्टि अहङ्कार हमको परमात्मासे भिन्न बोध कराता है। यदि इस व्यष्टि अहङ्कार-को हम समष्टि अहङ्कारमें विलीन कर सकें तो हमारा यह 'मैं, मैं' का भाव तिरोहित हो जायगा, हम क्रमशः स्वरूपप्रतिष्ठ हो जायँगे।

षष्ठ प्रकाश

संयमका स्वरूप, संयमसिद्धिका मूलतत्त्व

प्रथम अनुप्रकाश

'समाधि' और 'संयम'

जिज्ञासु—'त्रयमेकत्र संयमः' ('धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनोंकी परिभाषा 'संयम' है अर्थात् 'संयम' कहनेपर धारणा, ध्यान और समाधि इन तीनोंको समझना चाहिये'), एवं 'तद्जयात् प्रज्ञालोकः' ('संयमको जीत लेनेपर समाधिजनित प्रज्ञा—ज्ञानशक्तिविशेषका विकाश होता है')—पतञ्जलिदेवके इस उपदेशके सम्बन्धमें मेरे हृदयमें दो-एक जिज्ञासाएँ उत्पन्न हुई हैं।

वक्ता—क्या-क्या जिज्ञासाएँ उत्पन्न हुई हैं?

जिज्ञासु—पहले तो यह जानना उचित मालूम होता है कि पतञ्जलिदेवने पूर्वप्रयुक्त 'समाधि' शब्द रहनेपर भी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

'संयम' एक अलग शब्दके प्रयोगकी क्यों आवश्यकता समझी ? धारणा और ध्यान हुए बिना जब समाधि नहीं होगी, तब 'संयम' न कहकर केवल 'समाधि' कहनेसे इष्ट-सिद्धि हो सकती थी या नहीं ?

वक्ता—धारणा और ध्यान होनेपर ही वास्तविक समाधि होती है, यह बतलानेके लिये ही पतञ्जलिदेवने 'त्रयम्' शब्दका प्रयोग किया है, अन्यथा विषयका यथार्थ वर्णन (Proper descriptions) न होता। धारणा भी तो विशिष्ट प्रकारकी करनी होगी। 'धारणा' की गाढ़ अवस्था होनेपर 'ध्यान' होगा और 'ध्यान' की गाढ़ अवस्था होनेपर 'समाधि' होगी। केवल 'समाधि' कहनेसे इष्टसिद्धि नहीं होती। साधारण अर्थमें योगको ही 'समाधि' कहा जाता है। जिस समाधिके द्वारा किसी तत्त्वका सम्यक् ज्ञान होता है वह विशिष्ट प्रकारकी धारणा और ध्यानसे युक्त समाधि है।*

जिस समाधिसे मुक्ति होती है, वह और भी विशिष्ट प्रकारकी है। साधारणतः सम्प्रज्ञात समाधिके द्वारा किसी विषयके तत्त्वका ज्ञान होता है। इसको बहुत-से लोग Objective Concentration कहते हैं। इसमें ज्ञेय—Object एवं ज्ञाता—Subject की पृथक्-पृथक् प्रतीति होती है। क्रमशः जब ज्ञेय और ज्ञाताका पृथक्-पृथक् ज्ञान नहीं होता, एकाकार हो जाता है, तब असम्प्रज्ञात समाधि होती है। इसीसे मुक्ति होती है।

द्वितीय अनुप्रकाश

संयमका स्वरूप; युञ्जान और युक्तयोगीका लक्षण; संयमसिद्धि होनेपर ही सच्चा आचमन होता है; पाश्चात्य विज्ञानकी ज्ञानार्जनरीति भी वस्तुतः ध्यान-धारणा-समाधिसे भिन्न नहीं; 'एक-का ज्ञान होनेपर सबका ज्ञान हो जाता है' इस बातका अर्थ।

जिज्ञासु—संयम और संयमद्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसका स्वरूप और भी स्पष्ट रूपमें जाननेकी इच्छा होती है। हम लोग साधारणतः जिस रूपमें ज्ञान प्राप्त करते हैं, उसके साथ क्या इसका कहीं भी मेल नहीं है ? यदि नहीं है, तब तो यह साधारण लोगोंके, विशेषकर वर्तमान कालके विज्ञानशिक्षाप्राप्त पुरुषोंके लिये दुर्बोध्य तथा अविश्वासके योग्य बात है।

वक्ता—पहले, धारणा करनेसे क्या होता है, यह समझनेकी चेष्टा करो। मान लो, तुम किसी विषयका तत्त्व जानना चाहते हो। तुमने उस विषयमें 'धारणा' की। ऐसा करनेसे क्या होगा, इसका विचार करो। अपने मनको एक सूर्यविशेष (A Sun) या एक आलोक-विशेष (A light) समझो। वह प्रकाश इस समय (तुम्हारे चित्तकी साधारण अवस्थामें) अनेक विषयोंद्वारा बाधाको प्राप्त हो रहा है, मानो ढका (Covered) हुआ है; जब जहाँ खाली स्थान पाता है, वहीं स्थान प्रकाशित करता है। यदि तुम अपने मनको अन्य सब विषयोंसे हटा लो, तो उसकी शक्ति बढ़ जायगी, उस समय उसे एक विषयमें लगानेपर वह उसे पूर्ण रूपसे प्रकाशित कर सकेगा। मनको यदि एक विषयमें लगाये रक्खो और अन्य विषयोंमें न जाने दो तो क्रमशः ध्यानका (और उससे फिर समाधिका) आविर्भाव होगा, और अभिलषित वस्तुका तत्त्व जान सकोगे। यह युञ्जान योगीका लक्षण है। इससे भी उच्च अधिकारके योगी जो होते हैं उन्हें युक्त-योगी कहते हैं; वे सर्वदा सब विषय जान सकते हैं—आकाशके अबाधित चक्षुकी तरह; बस एक बार उस ओर दृष्टि फेरने भरकी जरूरत है; उन्हें और धारणा-ध्यान-समाधि करके नहीं जानना पड़ता। 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम्' इस वेदोक्त आचमनमन्त्रके अर्थका अब विचार करो, यह आचमन-मन्त्र क्यों है, यह समझनेकी चेष्टा करो। 'आतत' शब्दका अर्थ है 'अबाधित'—कहीं जिसके लिये बाधा नहीं। आकाशकी ओर दृष्टिपात करनेपर जिस तरह सूर्यका प्रकाश सर्वत्र दिखायी देता है, तुम एकबारगी, एक साथ सब देख लेते हो, उसी तरह।* Observation (सन्दर्शन) एवं Experiment (परीक्षा) ही वर्तमान कालकी पाश्चात्यविज्ञानानुमोदित ज्ञानार्जनकी रीति है। धारणा-ध्यान-समाधिद्वारा जो ज्ञान होता है, Observation और Experiment के द्वारा भी वही ज्ञान होता है,

* योगकी प्रक्रियाविशेषके द्वारा बहुत समय एक प्रकारकी मूढ़ समाधि होती है, वैसी समाधि 'संयम' का अङ्ग नहीं है, और उसके द्वारा किसी विषयका तत्त्वज्ञान भी उत्पन्न नहीं होता।

* इस अवस्थाकी प्राप्ति सच्चे ब्राह्मणके जीवनका एक प्रधान उद्देश्य है। प्रत्येक वैदिक कर्मके अनुष्ठानके प्रारम्भमें ब्राह्मण इस लक्ष्यको एक बार स्मरण कर लेता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हाँ, होता है वह खण्डित, परिच्छिन्नरूपमें। पाश्चात्य लोग समाधिसे डरते हैं, वे जानते नहीं कि वे जिस उपायसे (अर्थात् जो Observation और Experiment के द्वारा) ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह वास्तवमें धारणा-ध्यान-समाधिसे भिन्न नहीं है।* पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं, ज्ञान तुलनात्मक (Comparative) है, तुलना किये बिना कुछ भी जाना नहीं जा सकता। विशेषसे सामान्यमें जाना Science या विज्ञानकी ज्ञानार्जनकी रीति है। यह शास्त्रीय रीतिसे मूलतः भिन्न नहीं है। 'एकका ज्ञान होनेपर सबका ज्ञान होता है' इस श्रुत्युक्त उपदेशके अर्थका विचार करनेपर इस विषयमें बहुत कुछ समझ जाओगे। सब 'विशेष' जाकर उस एक सामान्यमें मिल गये हैं, मानो Centre (केन्द्र) में जाकर मिल गये हैं, जहाँसे निखिल ज्ञानरश्मि निकली है। यदि तुम एक रश्मि या एक ज्ञेय विषय (A Particular Subject) का अवलम्बनकर उसके तत्त्वका विचार करते-करते केन्द्र (Centre) में अर्थात् ब्रह्ममें जा उपस्थित होओ तो वहाँसे सब देख सकोगे। एक-एक विषयको लेकर (पृथक्-पृथक् रूपमें) विचार करना आरम्भ करनेपर केवल उन्हींको (बारी-बारीसे, अलग-अलग) जान सकोगे, परन्तु यदि किसी प्रकार एकदम केन्द्र (Centre) में जा सको तो वहाँसे एकदम सब कुछ देख सकोगे। निरुक्तके शाखा-रज्जुस्थानीय पृथक्-पृथक् नाम या शब्दकी सहायतासे मूल नाम या नामीके समीप पहुँचनेके विषयमें जो उपदेश हैं, उन्हें स्मरण करो। जो सामान्यमें रहता है, वही विशेषके द्वारा जाना जा सकता है। सामान्यमें जो नहीं है, वह विशेषमें नहीं मिल सकता।†

तृतीय अनुप्रकाश

संयमद्वारा साधारण दृष्टिके बहिर्भूत सूक्ष्म पदार्थका स्वरूप किस प्रकार जाना जाता है।

जिज्ञासु—जो साधारण दृष्टिसे बहिर्भूत है, ऐसे सूक्ष्म पदार्थका स्वरूप भी संयमद्वारा कैसे जाना जाता है, यह ठीक समझमें नहीं आता।

वक्ता—यह तो समझ सकते हो कि किसी प्रकाशयुक्त पदार्थसे निकली हुई किरणें (Rays from a luminous Object) यदि एक स्थानमें केन्द्रीभूत (Concentrated—focussed) कर दी जायँ तो उनकी शक्ति अधिक होती है, उनका प्रकाश बढ़ जाता है। यह भी उसी प्रकारकी बात है। मनके प्रकाशक आलोकको यदि तुम धारणाद्वारा एक स्थानमें केन्द्रीभूत कर सको तो उसका प्रकाश अत्यधिक बढ़ जायगा। यदि किसी विषयमें मन न लगाओ, अर्थात् यदि किसी बाहरी विषयमें मन न लगाओ, तो मन अपने-आप अन्तर्मुखी हो जायगा, एवं यदि इसको इसी प्रकार कुछ क्षण अन्तर्मुखी रहने दो तो एक ज्योति आविर्भूत होगी—मस्तिष्कमें—मनके स्थानमें। उस समय उस ज्योतिका जिस ओर प्रयोग (Apply) करोगे, उसी पदार्थको पूर्ण रूपसे देख सकोगे। X-Rays प्रभृतिके प्रयोगके द्वारा जिस प्रकार साधारणतः अदृश्य पदार्थोंको देखा जाता है, उस विषयमें विचार करो। भगवान्‌की इच्छा होनेपर, कालान्तरमें इस सम्बन्धमें अन्यान्य उपदेश प्रदान करूँगा।

श्रीसीतारामसमीपता

(लेखक—साहित्यरत्न पं० श्रीशिवरत्नजी शुक्ल "सिरस")

विद्या धन पद पाय जग जौन बड़े भये, भार भरे गिरैं खोय पुनि पछितावैं हैं।
नीच पै नगीच जन परैं प्रभु-पौरि जाय, ताप-त्रय होतीं दूरि सुख समुहावै है।
बड़पन बड़ाई मिली धूरि हरि हेरे बिन, "सिरस" समीप स्वल्प तऊ अगुवावै है।
वायु-वेग नभ ना विहंगन उड़न देइ, तृनको उठाय ऊँचे आपु पहुँचावै है।

---

* स्वामीजीके इस उपदेशका अन्य दो-एक प्रकाशोंमें विस्तृत वर्णन आया है। इस विषयका पूर्ण उपदेश पाठकोंको स्वामीजीके 'ज्ञानोत्पत्तितत्त्व' (Origin of Knowledge) शीर्षक उपदेशोंमें मिलेगा।

† 'तस्य ऋक्तन्तिर्नामानि दामानि तदस्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दाम्नभिः सर्वं सितं सर्वं हीदं नामनि सर्वं वाचाभिवदति' (ऐतरेय आरण्यक)—इस श्रुतिका निरुक्तकृत भाष्य देखना चाहिये।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(पूर्वप्रकाशितसे आगे)

[मणि १०]

जनक-हे भगवन्! इस संघातमें रहे हुए देह, इन्द्रिय, प्राण तथा अन्तःकरणादि पदार्थोंमेंसे कौन आत्मा है?

याज्ञवल्क्य-हे जनक! आत्मा, चेतन, पुरुष इत्यादि शब्दोंसे जिसको सब लोग कहते हैं, तथा उन शब्दोंसे उत्पन्न हुआ वृत्तिज्ञान जिसको विषय करता है और जो शब्द तथा ज्ञानसे भिन्न है, इस प्रकारका आत्मा सब जीवोंको प्रसिद्ध है। जैसे घटादि पदार्थ दृश्य होनेसे आत्मा नहीं हैं, इसी प्रकार देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण आदि संघात भी दृश्य होनेसे आत्मा नहीं हैं; सब संघातसे भिन्न तथा सर्व संघातका अधिष्ठानरूप चेतन, स्वयंज्योति आत्मा है। हे जनक! आत्माके जाननेके लिये तू दूरदृष्टि मत कर। जिस ज्ञानसे तूने यह प्रश्न किया है, उसी ज्ञानमें आत्माका परिचय हो सकता है क्योंकि जैसे लोकमें विवाद करनेवाले पुरुषरूप साक्ष्यसे साक्षीरूप पुरुष भिन्न होता है, इसी प्रकार देह, इन्द्रिय, प्राण तथा अन्तःकरण आदि संघातरूप साक्ष्यसे भिन्न होकर रहा हुआ तथा सर्व संघातका जो साक्षी है, वही तेरा अद्वितीय आत्मा है, इसी बातको कुछ और स्पष्ट करके समझाता हूँ—

देहादिसे भिन्न आत्मा

हे जनक! जैसे अग्निसे तपे हुए लोहेके गोलेमें तादात्म्य-सम्बन्धसे अग्नि रहता है इसी प्रकार विज्ञानरूप अन्तःकरणमें चेतन आत्मा कल्पित तादात्म्य-सम्बन्धसे रहता है। जैसे लोहेमें रहा हुआ अग्नि लोहमय कहलाता है, इसी प्रकार विज्ञानरूप अन्तःकरणमें रहा हुआ आत्मा विज्ञानमय कहलाता है। जैसे लोहेका पिण्ड किसी पदार्थको स्वभावसे नहीं जलाता तथा प्रकाश भी नहीं देता, इसी प्रकार अन्तःकरण, अन्तःकरणकी स्मृति तथा अनुभवरूप वृत्तियाँ जड होनेसे न तो स्वभावसे प्रकाशरूप हैं और न किसी पदार्थको प्रकाशित ही करती हैं। जैसे अग्निके तादात्म्य-सम्बन्धसे लोहेका गोला दाह और प्रकाश करता है, इसी प्रकार स्वप्रकाश आत्माके तादात्म्य-सम्बन्धसे अन्तःकरण और अन्तःकरणकी वृत्तियाँ प्रकाशवान् होती हैं और स्थूल-सूक्ष्मरूप सर्व जगत्को प्रकाशित करती हैं।

आत्मामें तादात्म्य अध्यासके फलका निरूपण

हे जनक! जैसे लोहेके गोलेके साथ तादात्म्य-सम्बन्धसे लोहमय संज्ञाको प्राप्त हुआ अग्नि प्रकाश तथा दाह उत्पन्न करता है, और लोहमय संज्ञा बिना केवल अग्नि प्रकाशमात्र ही करता है, इसी प्रकार अन्तःकरणकी वृत्तियोंके तादात्म्य-सम्बन्धसे विज्ञानमय संज्ञाको प्राप्त हुआ आत्मा 'यह घट, यह पट' इत्यादि विशेष ज्ञानका आश्रय होता है और अन्तःकरणकी वृत्तियोंके तादात्म्य-सम्बन्ध बिना केवल आत्मा चित्-स्वरूप ही है।

प्राणसे भिन्न आत्माका निरूपण

हे जनक! आनन्दस्वरूप आत्मा वायुरूप मुख्य प्राणके साथ तथा इन्द्रियरूप गौण प्राणोंके साथ तादात्म्य-सम्बन्धको प्राप्त होकर प्राणके तथा वाक् आदि इन्द्रियोंके अनेक प्रकारके व्यापारोंका कारण होता है। इस कारण वेदवेत्ता पुरुष आत्माको प्राणमय कहते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जनक–हे भगवन्! आत्मा सर्वत्र व्यापक तथा विभु है और प्राण परिच्छिन्न है, अतः परिच्छिन्न प्राणमें विभु आत्माकी स्थिति किस प्रकार हो सकती है?

याज्ञवल्क्य–हे जनक! जैसे सर्वत्र व्यापक आकाशको लोग घटमें रहा हुआ कहते हैं, तथा जैसे सर्वत्र व्यापक वायु वृक्षके हिलानेसे अभिव्यक्त–प्रकट हुआ कहलाता है, और लोग कहते हैं कि वृक्षमें वायु रहा हुआ है। इसी प्रकार आत्मा यद्यपि सर्वत्र व्यापक है, तो भी जहाँ प्राण है, वहाँ आत्माकी विशेषरूपसे अभिव्यक्ति होती है, इसलिये शास्त्रवेत्ता प्राणमें आत्माकी स्थिति है, ऐसा कहते हैं।

अन्तःकरणसे भिन्न आत्माका निरूपण

हे जनक! यद्यपि आनन्दस्वरूप आत्मा सर्वत्र व्यापक है तो भी हृदयकमलमें रही हुई बुद्धिमें विशेषरूपसे आत्माकी अभिव्यक्ति होती है, इसलिये श्रुतिमें आत्माको हृदयमें रहा हुआ कहा है। पैरसे लेकर मस्तकतक सारे शरीरमें यह जीव सुख तथा दुःखका अनुभव करता है। तो भी सुख-दुःखकी विशेषरूपसे हृदयमें प्रतीति होती है। जैसे धूपसे तपा हुआ पुरुष जब शीतल स्वच्छ गङ्गाजलमें प्रवेश करता है, तब जलके स्पर्शसे सब अङ्गोंमें सुखका अनुभव करता है परन्तु उस सुखका अनुभव विशेषरूपसे हृदयमें प्रतीत होता है। जैसे सूर्यका तेज यद्यपि सब ब्रह्माण्डमें समान है तो भी घटादि अस्वच्छ पदार्थोंकी अपेक्षा स्फटिकमणिमें सूर्यका तेज अधिक प्रतीत होता है और स्फटिकमणिमें रहे हुए तेजकी अपेक्षा सूर्यकान्त मणिमें रहा हुआ सूर्यका तेज और भी अधिक प्रतीत होता है। जैसे उपाधिकी अस्वच्छता और स्वच्छतासे एक ही सूर्यका तेज न्यूनाधिकभावको प्राप्त होता है, इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मा भी सर्वत्र समान व्यापक है तो भी घटादिकी अपेक्षा शरीरमें आत्माका अधिक प्रकाश है और शरीरकी अपेक्षा हृदयमें आत्माका प्रकाश अधिक है। इस प्रकार उपाधिकी अस्वच्छता-स्वच्छतासे एक ही आत्माका प्रकाश न्यूनाधिकभावको प्राप्त होता है। जैसे सूर्यका प्रकाश घटादि पदार्थोंमें विद्यमान होनेपर भी स्पष्टरूपसे प्रतीत नहीं होता, इसी प्रकार शरीरसे बाहर घटादि पदार्थोंमें विद्यमान आत्मा भी स्पष्टरूपसे प्रतीत नहीं होता। जैसे सूर्यका प्रकाश यद्यपि स्फटिकमणिमें प्रतिबिम्बरूपसे स्पष्ट प्रतीत होता है तो भी दाहरूप कार्य नहीं करता, इसी प्रकार शरीरमें सामान्य सुख-दुःखका ज्ञान होनेपर भी विशेष सुख-दुःखका ज्ञान नहीं होता। जैसे सूर्यकान्तमणिमें सूर्यका स्पष्टरूपसे प्रकाश होता है और दाहरूप कार्य भी प्रतीत होता है, इसी प्रकार हृदयदेशमें सुख-दुःखका विशेषरूपसे स्पष्ट अनुभव होता है। इसलिये श्रुतिने आत्माकी स्थिति हृदयमें कही है। अथवा वाक् आदि इन्द्रियोंको तथा इस चराचर जगत्‌रूप चित्रको धारण करनेवाले अन्तःकरणका हृदयकमल आधार है; इसलिये आत्माको हृदयमें स्थित कहा है। तात्पर्य यह है कि अन्तःकरणरूप उपाधिद्वारा आत्माका हृदय आधार है अथवा यह आनन्दस्वरूप आत्मा अन्तःकरणादि सब उपाधियोंसे रहित होकर हृदयमें सुषुप्तिको प्राप्त होता है, इसलिये आत्माको हृदयमें स्थित कहा है। अथवा यह आनन्दस्वरूप आत्मा अष्टाङ्गयोगवालोंको तथा ब्रह्मचर्यादि साधनसम्पन्न मुमुक्षुओंको गुरुशास्त्रके उपदेशसे जानेमें आता है, इसलिये आत्माको हृदयमें स्थित कहा है। अथवा मरणकालमें ब्रह्मलोक, पितृलोक तथा कीट-पतंगादि योनियोंको प्राप्त होनेकी इच्छावाले जीवोंको उन-उन लोकोंको ले जानेवाली मार्गरूप नाडियोंका प्रकाश विज्ञानवाले हृदयमें होता है, इसलिये हृदयमें आत्माकी स्थिति कही है। इन अनेक कारणोंसे ऐसा सिद्ध होता है कि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जैसे सूर्यका प्रकाश यद्यपि सर्वत्र विद्यमान है तो भी सूर्यमण्डलमें सूर्यके प्रकाशकी विशेष प्रतीति होती है, इसलिये लोग कहते हैं कि प्रकाश सूर्य-मण्डलमें रहता है, इसी प्रकार यह आनन्दस्वरूप आत्मा यद्यपि सर्वत्र व्यापक है तो भी हृदयदेशमें आत्माकी विशेष अभिव्यक्ति होनेसे आत्माकी स्थिति हृदयमें श्रुतिने कही है।

आत्माका ज्योतिरूपसे वर्णन

हे जनक! जैसे बाह्य घटादि पदार्थोंको प्रकाश करनेवाले तेजरूप सूर्यादि ज्योतिरूपसे सब लोगों-को प्रसिद्ध हैं और सूर्यादि प्रकाशोंसे भिन्न घटादि पदार्थ अज्योतिरूपसे प्रसिद्ध हैं, इसी प्रकार यह आनन्दस्वरूप आत्मा भी सूर्यादि ज्योतियोंको तथा घटादि अज्योतियोंको प्रकाश करता है और चैतन्यरूप होनेसे उनसे विलक्षण है। इसलिये आनन्दस्वरूप आत्माको श्रुतिने 'ज्योति' कहा है। हे जनकराजा! शरीरसे बाहर रहे हुए सूर्यादि ज्योति अपनेसे भिन्न सत्तावाले घटादि पदार्थोंको जैसे प्रकाशित करते हैं, इस प्रकार आत्मारूप ज्योति जगत्को प्रकाश नहीं करता किन्तु अपनेसे अभिन्न सत्तावाले घटादि पदार्थोंको प्रकाश करता है। तात्पर्य यह कि जैसे रज्जुमें कल्पित सर्प दण्डादि रज्जुरूप अधिष्ठानसे भिन्न सत्तावाले नहीं हैं, इसी प्रकार आत्मामें कल्पित जगत् भी अधिष्ठान आत्माकी सत्तासे भिन्न सत्तावाला नहीं है, इसलिये श्रुतिने आनन्दस्वरूप आत्माको 'अन्तर्ज्योति' कहा है। अथवा दूसरे किसी भी प्रकाशकी अपेक्षा बिना जो प्रकाश अपनेको तथा अन्य पदार्थोंको प्रकाश करता है, उसको अन्त-र्ज्योति कहते हैं, ऐसा अन्तर्ज्योतिपना आत्मामें ही सम्भव है। सूर्यादि बाह्य ज्योतियोंमें यह अन्त-र्ज्योतिपना सम्भव नहीं है क्योंकि सूर्यादि ज्योति यद्यपि घटादि पदार्थोंके प्रकाश करनेमें किसी अन्य ज्योतिकी अपेक्षावाले नहीं हैं, तो भी अपने प्रकाश करनेमें सूर्यादि जड़ ज्योति चैतन्य आत्माकी अपेक्षा रखते हैं, इसलिये सूर्यादिमें अन्तर्ज्योतिपना सम्भव नहीं है। हे जनक! जैसे परीक्षाके लिये दूधमें डाला हुआ मरकतमणि अपने प्रकाशसे सारे दूधको पूर्ण करता है, इसी प्रकार यह ज्योतिरूप आत्मा भी अपने प्रकाशसे समस्त जगत्को पूर्ण करता है। इसलिये श्रुतिने स्वयं ज्योतिरूप आत्माको पुरुष कहा है। अथवा जैसे पक्षी अपने घोंसलेमें शयन करता है, इसी प्रकार यह आनन्दस्वरूप आत्मा स्थावर-जङ्गम शरीरोंको पुरी मानकर उन शरीररूप पुरियोंमें तादात्म्य सम्बन्धसे स्थितिरूप शयन करता है, इसलिये आत्माको श्रुति 'पुरुष' कहती है।

आत्मामें जन्मादि विकारोंकी प्रतीति

हे जनक! जैसे जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थाको प्राप्त होकर आत्मा सुख-दुःखको प्राप्त होता है, इसी प्रकार यह आत्मारूप पुरुष जन्म तथा जन्मान्तरको प्राप्त होकर सुख-दुःखको प्राप्त होता है। जैसे रस्सीसे बँधा हुआ घटीयन्त्र नीचे-ऊपर भ्रमण करता है, इसी प्रकार कर्मरूप रस्सीसे बँधा हुआ पुरुष भी कभी जन्मको प्राप्त होता है और कभी मरणको प्राप्त होता है। इस प्रकार अनेक शरीरोंको धारण करता हुआ और त्यागता हुआ पुरुष निरन्तर संसारमें भ्रमण करता है।

जनक—हे भगवन्! आनन्दस्वरूप आत्मा सर्वत्र परिपूर्ण है, इसलिये लोकान्तरमें उसका आना-जाना सम्भव नहीं है। और आत्मा कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि सब प्रकारके विकारोंसे रहित है, इसलिये आत्मामें पुण्य-पापका सम्बन्ध भी असम्भव है। फिर आत्माका जन्म-मरण कैसे सम्भव है?

याज्ञवल्क्य—हे जनक! आनन्द-स्वरूप आत्मा यद्यपि वस्तुतः जन्मादि विकारोंसे रहित है तो

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भी अपने स्वरूपके अज्ञानसे अन्तःकरणादिके साथ तादात्म्याध्यासको प्राप्त होकर पुण्य-पापरूप कर्म करता है। पुण्य-पापरूप कर्मोंका फल सुख-दुःख भोगता है और फल भोगनेको लोकान्तरमें गमन और वहाँसे आगमन करता है। इसलिये अन्तःकरणादि उपाधियोंके सम्बन्धसे आत्मामें कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि विकार प्रतीत होते हैं। किन्तु वस्तुतः आत्मामें विकार नहीं है। जैसे वस्तुतः उष्णता-रहित वायु उष्ण जलवाले देशके ऊपरसे वहन करनेसे उष्णतायुक्त प्रतीत होता है, इसी प्रकार वस्तुतः कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि विकारोंसे रहित होने-पर भी आनन्दस्वरूप आत्मा कर्तृत्व-भोक्तृत्व विकारवाले अन्तःकरणके साथ तादात्म्य अध्यास-को प्राप्त होकर कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि विकारोंको प्राप्त होता है। हे जनक! जैसे स्त्रीके अधीन हुआ कामी पुरुष स्त्रीके सुखी होनेसे सुखी होता है और स्त्रीको दुखी देखकर स्वयं दुखी होता है, इसी प्रकार बुद्धिके साथ तादात्म्याध्यासको प्राप्त हुआ आत्मा भी बुद्धिका अनुगामी होकर भिन्न-भिन्न स्वरूपवाला प्रतीत होता है, जब बुद्धि किसी पदार्थका ध्यान करती है तो आत्मा भी ध्यान करता हुआ-सा प्रतीत होता है और जब बुद्धि चलाय-मान होती है, तो आत्मा भी चलायमान होता हुआ-सा प्रतीत होता है। इस प्रकार अन्तःकरणके तादात्म्य अध्याससे आनन्दस्वरूप आत्मामें जन्मादि अनेक विकारोंकी प्रतीति होती है। वस्तुतः आत्मा जन्मादि विकारोंसे रहित है।

आत्माके विचरनेके स्थान

प्रथम स्थान जाग्रत्-अवस्था—हे राजन्! मैं तुझे प्रथम जाग्रत्-अवस्थाका व्यतिरेक दिखलाता हूँ। यह आनन्दस्वरूप आत्मा बुद्धिके साथ तादात्म्य अध्यासको प्राप्त होकर स्वप्नावस्थामें तैजस संज्ञा-को प्राप्त होता है और स्वप्नमें अपनी मायाशक्तिसे उत्पन्न किये हुए नाना प्रकारके पदार्थोंको देखता है। इस प्रकार स्वप्नावस्थाको प्राप्त होकर आत्मा सुखसे जाग्रत् लोकको पार कर जाता है। जाग्रत् लोक स्थूल शरीरकी प्रधानतावाला है। ग्रहरूप वागादि इन्द्रियोंवाला तथा अतिग्रहरूप शब्दादि विषयोंवाला है। अविद्या, काम तथा कर्मरूप मृत्यु-का कार्यरूप है, जलके बुद्बुदेके समान शीघ्र नाश होनेवाला है, नाना प्रकारके दुःखोंका कारण-रूप है तथा अनेक प्रकारकी व्याधियोंसे युक्त है। ऐसे जाग्रत् लोकको पुरुष स्वप्नावस्थाको प्राप्त होकर सुखसे त्याग देता है। जैसे महाराजा नौकारूप साधनसे अगाध जलके पार चला जाता है, इसी प्रकार यह पुरुष स्वप्नावस्थाको प्राप्त होनेवाली बुद्धिरूप नौकासे सुखसे जाग्रत् लोकरूप नदीको तर जाता है।

अब मैं जाग्रत्-अवस्थाके सम्बन्धमें अन्वय दिखलाता हूँ। सुन, हे जनक! जैसे माताके उदर-से बालक बाहर निकलता है, इसी प्रकार स्वप्नावस्था-में सुख-दुःखरूप फलके देनेवाले पुण्य-पापरूप कर्मों-के क्षय होनेसे जाग्रत्-अवस्थामें सुख-दुःखरूप फल-के देनेवाले पुण्य-पापरूप कर्मोंसे जाग्रत् हुआ पुरुष जाग्रत्-अवस्थाको प्राप्त होकर जब स्थूल शरीरमें 'मैं' इस प्रकारका अभिमान करता है, तब वह नाना प्रकारके दुःखोंको प्राप्त होता है।

जनक—हे भगवन्! जाग्रत्-अवस्थामें स्थूल शरीरके अभिमानसे यह पुरुष किस-किस प्रकारके दुःखोंको प्राप्त होता है?

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! जाग्रत्-अवस्थामें स्थूल शरीरके अभिमानसे होनेवाला दुःख सब जीवों-को प्रत्यक्ष है, इसलिये उसको दिखलानेकी कोई आवश्यकता नहीं है। आनन्दस्वरूप आत्मा जब-तक स्थूल शरीरके अभिमानको नहीं त्याग देता तबतक स्थूल शरीरके अभिमानसे अनेक प्रकारके दुःखोंको प्राप्त होता है। जैसे स्थूल शरीरके

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अभिमानको त्यागकर स्वप्नावस्थाको प्राप्त हुआ पुरुष स्थूल शरीरके अभिमानसे उत्पन्न हुए दुःखोंको प्राप्त नहीं होता, इसी प्रकार मरणकालमें स्थूल शरीरके अभिमानको त्यागकर जब यह पुरुष लोकान्तरमें गमन करता है तब स्थूल शरीरके अभिमानसे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके दुःखोंको प्राप्त नहीं होता। जैसे दुर्भिक्षादि उपद्रववाले देशमें जो पुरुष मोहसे निवास करता है, वह नाना प्रकारके कष्ट पाता है, इसी प्रकार इस स्थूल शरीरमें 'मैं' तथा 'मेरा' इस अभिमानवाला आत्मा भी अनेक प्रकारके दुःख उठाता है। जब दुर्भिक्षादि उपद्रववाले देशको त्यागकर पुरुष अन्य देशमें चला जाता है, तो उसको उस देश-सम्बन्धी दुःख नहीं होता। इसी प्रकार मरणकालमें भी स्थूल शरीरको त्यागकर जब आत्मा परलोकमें जाता है, तब स्थूल शरीरके अभिमानसे होनेवाले नाना प्रकारके दुःखोंको नहीं पाता।

हे जनक! परलोककी सिद्धिके सम्बन्धमें जो मैं तुझसे कहता हूँ, उसको सुन। वस्तुतः जन्म-मरणादिविकारोंसे रहित परमात्मादेव अनिर्वचनीय अविद्याके सम्बन्धसे जीवभावको प्राप्त होकर नाना प्रकारके पुण्य-पापरूप कर्मोंके वशसे नाना प्रकारके शरीरोंको धारण करता है, और त्याग करता है। इस प्रकार सर्वदा संसारमें विचरनेवाले आत्माके दो स्थान कहे हैं, एक यह लोक और दूसरा परलोक। इन दोनोंमेंसे प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध इस स्थूल शरीरको 'यह लोक' कहते हैं और स्थूल शरीरके त्यागनेके बाद प्राप्त होनेवाले शरीरको 'परलोक'। ये दोनों लोक आत्माके विचरनेके स्थान हैं।

स्वप्नावस्था—दोनों लोकोंकी सन्धि

हे जनक! जैसे यह लोक तथा परलोक जीवके सुख-दुःखके भोगके स्थान हैं, इसी प्रकार स्वप्नावस्था भी जीवके सुख-दुःखके भोगका स्थान है। कोई-कोई विवेकी पुरुष स्वप्नको तीसरा स्थान मानते हैं किन्तु अत्यन्त सूक्ष्मदर्शी पुरुष स्वप्नको तीसरा स्थान नहीं मानते। 'यह लोक' और 'परलोक' दो ही स्थान मानते हैं और स्वप्नको इन दोनोंकी सन्धि मानते हैं, इसलिये स्वप्नको 'सान्ध्य' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे दो ग्रामोंकी सन्धिको कोई पुरुष तीसरा ग्राम नहीं कहता, इसी प्रकार इन दोनों लोकोंकी सन्धिमें स्थित स्वप्नको तीसरा स्थान कहना युक्त नहीं है।

जनक—हे भगवन्! यदि स्वप्न तीसरा स्थान न हो तो इस लोकमें तथा परलोकमें उसका अन्तर्भाव मानना पड़ेगा, फिर स्वप्नकी सान्ध्यरूपता कैसे सिद्ध होगी? इसलिये स्वप्नको सान्ध्य मानना ठीक नहीं है।

याज्ञवल्क्य—हे जनक! दोनों लोकोंमें स्वप्नका अन्तर्भाव नहीं हो सकता, इसलिये स्वप्नको सान्ध्य कहना ठीक ही है। वीर्य तथा शोणितसे उत्पन्न हुए स्थूल शरीररूप इस लोकमें स्वप्नका अन्तर्भाव नहीं हो सकता, क्योंकि जब यह जीव स्वप्नावस्थाको प्राप्त होता है, तब जाग्रत्के समान स्थूल शरीरका अभिमान नहीं रहता। शव—मृतकके समान भूमिपर पड़े हुए स्थूल शरीरको स्वप्नद्रष्टा पुरुष नहीं देखता। यदि इस लोकमें स्वप्नका अन्तर्भाव हो, तो जैसे जाग्रदवस्थामें जीवको स्थूल शरीरका अभिमान होता है, इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें भी स्थूल शरीरका अभिमान होना चाहिये। किन्तु स्वप्नावस्थामें स्थूल शरीरका अभिमान नहीं होता, इसलिये इस लोकमें स्वप्नका अन्तर्भाव नहीं हो सकता और परलोकमें भी स्वप्नका अन्तर्भाव नहीं हो सकता। क्योंकि जैसे मरनेके बाद यह जीव स्थूल शरीरके दाहादि दुःखोंका अनुभव नहीं करता, इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें नहीं करता, किन्तु स्वप्नावस्थामें स्थूल शरीरके दाहादिसे जीवको दुःख होता है, और जीवका श्वास भी चलता है, इससे सिद्ध होता है कि जैसे मरनेके बाद स्थूल शरीरके

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अभिमानकी अत्यन्त निवृत्ति होती है, इस प्रकार स्वप्नमें स्थूल शरीरके अभिमानकी अत्यन्त निवृत्ति नहीं होती। यदि स्वप्नमें परलोकका अन्तर्भाव माना जाय तो स्वप्नमें स्थूल शरीरके दाहादिसे जीवको पीड़ा न होनी चाहिये, और श्वासका भी अभाव होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिये परलोकमें भी स्वप्नका अन्तर्भाव नहीं होता। इससे सिद्ध होता है कि स्थूल शरीरके अभिमानका त्याग न करना, इस लोकका लक्षण है और यह लक्षण स्वप्नमें भी घटता है। इसी प्रकार स्थूल शरीरके 'मैं' और 'मेरे' इस अभिमानका त्याग करना, परलोकका लक्षण है। यह लक्षण भी स्वप्नमें घटता है। इसलिये दोनों लोकोंकी सन्धिमें स्वप्न उत्पन्न होता है, अतएव श्रुतिने स्वप्नको सान्ध्य कहा है। हे जनक! जैसे मेघादिसे रहित निर्मल आकाशमें तारोंके समूहका दर्शन न होना, यह दिनका लक्षण है तथा निर्मल आकाशमें सूर्यमण्डलका दर्शन न होना, यह रात्रिका लक्षण है। ये दोनों प्रकारके लक्षण सायंकालमें घटते हैं, इसलिये सायंकालको बुद्धिमान् रात्रि तथा दिवसकी सन्धि कहते हैं। सन्धिमें जो पदार्थ उत्पन्न होता है, उसका नाम सान्ध्य है। इसी प्रकार हे जनक! स्वप्न इस लोक तथा परलोककी सन्धिमें उत्पन्न होता है, इसलिये श्रुतिने स्वप्नको सान्ध्य कहा है।

स्वप्नके प्रत्यक्षसे परलोककी सिद्धि

हे जनक! स्वप्नरूप सान्ध्यस्थानमें स्थित आत्मा इस लोकको और परलोकको देखता है। तात्पर्य यह कि इस शरीरसे जिस-जिस पदार्थका अनुभव होता है, आगेके शरीरसे जिस-जिस पदार्थका अनुभव करना है, उन सब पदार्थोंको यह जीव स्वप्नमें देखता है। जैसे घर और घरके बाहर आँगन, इन दोनोंका सन्धिरूप द्वार होता है और उस द्वारमें बैठा हुआ पुरुष घरके पदार्थोंको तथा बाहर आँगनके पदार्थोंको देखता है। इसी प्रकार यह आत्मा भी स्वप्नरूप सन्धिमें रहकर इस लोकके पदार्थोंको तथा परलोकके पदार्थोंको देखता है और स्थूल शरीर त्यागनेके बाद पुण्य-पापरूप कर्मके अनुसार यह जीव जिस प्रकार ऊँच अथवा नीच शरीरको प्राप्त होता है, इसी प्रकार स्वप्नमें पुण्य-पापके अनुसार शरीरको धारण करके यह जीवात्मा सुख अथवा दुःखको प्राप्त होता है। इस प्रकार स्वप्नावस्थामें पुण्य-पापके वशसे सुख-दुःखरूप फलको भोगनेवाला आत्मा इस लोक और परलोक दोनोंको देखता है। इसलिये स्वप्नद्रष्टा पुरुषका प्रत्यक्ष अनुभव परलोकमें प्रमाण है, और श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराणादिक शास्त्र भी परलोकमें प्रमाण हैं।

स्वप्नमें आत्माकी स्वयंप्रकाशता

हे राजन्! जब आनन्दस्वरूप आत्मा इस स्थूल शरीररूप लोकको त्यागकर दोनों लोकोंके दर्शनके लिये स्वप्नरूप सान्ध्य स्थानमें जाता है, तब शरीरसम्बन्धी नेत्रादिक इन्द्रियोंकी तथा रूपादि विषयोंकी सूक्ष्म वासनाओंको तथा उन वासनाओंके आधाररूप मनको साथ लेकर आत्मा स्वप्नावस्थाको प्राप्त होता है। जैसे एक महाराजा अनुचरोंको साथ ले जाता है, इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मा भी इन्द्रियोंके विषयोंकी वासनावाले मनको साथ लेकर स्वप्नमें जाता है। जैसे रेतमें खेलनेवाला बालक, रेतमेंसे गृहादि अनेक प्रकारके खेलनेके साधन बनाता है और क्षणभर पीछे उन सबरेतके पदार्थोंको नष्ट कर देता है, इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मा भी स्वप्नावस्थामें अनेक प्रकारके रथादि पदार्थ उत्पन्न करके उनका नाश करता हुआ निरन्तर क्रीडा किया करता है। हे जनक! स्वप्नावस्थामें स्वप्रकाश ज्ञानरूप आत्माके सिवा अन्य कोई सूर्यादिक ज्योति नहीं है। इस लिये स्वप्नावस्थामें आत्मा स्वयं ज्योतिरूप है। जैसे 'स्वयं दासास्तपस्विनः'—तपस्वी पुरुष आप ही

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अपने दास हैं। इस प्रकारके वचनसे तपस्वी पुरुषके सिवा अन्य दासका अभाव प्रतीत होता है, इसी प्रकार स्वप्नमें आत्मा स्वयं ज्योतिरूप है, इस श्रुतिके वचनसे आत्माके सिवा अन्यतर स्वयंज्योतिका अभाव स्पष्ट होता है। इसलिये स्वप्नमें आत्मा ही स्वयंज्योति है।

जनक—हे भगवन्! स्वप्नमें आदित्यादि ज्योतियोंका लय होनेसे आदित्य आदिकी यद्यपि ज्योतिरूपता सम्भव नहीं है, तो भी स्वप्नावस्थामें मनका लय नहीं होता, इसलिये मनकी ज्योतिरूपता क्यों नहीं हो सकती?

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! जैसे बालककी क्रीडाके साधन गृहादि पदार्थोंका उपादान कारण जड़ मृत्तिका है, इसी प्रकार स्वप्नद्रष्टा पुरुषकी क्रीड़ाके साधनरूप स्वप्न पदार्थोंका उपादान कारण मन भी जड है और जैसे क्रीडाके साधन गृहादि पदार्थोंके परिणामी उपादान कारण मृत्तिका बालककी पूर्वमें देखी हुई होती है, इसी प्रकार स्वप्नमें रथादि पदार्थोंके परिणामी उपादान कारण मन स्वप्रकाश आत्माका देखा हुआ होता है। तात्पर्य यह है कि जैसे मृत्तिका गृहादि पदार्थोंका परिणामी उपादान कारण होनेसे जड है इसी प्रकार मन भी स्वप्न पदार्थोंका परिणामी उपादान कारण होनेसे जड है। और जड जातिका पदार्थ मृत्तिकाके समान स्वयं प्रकाश्य नहीं होता, वह पर-प्रकाश्य होता है, इसलिये जड मनका ज्योतिपना सम्भव नहीं है।

जनक—हे भगवन्! स्वप्नमें मनको ज्योतिरूपता न सही किन्तु स्वप्नावस्थामें अविद्याको ज्योतिरूपता क्यों नहीं है?

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! जैसे स्वप्नमें जड मन साक्षी आत्मासे प्रकाश्य होनेसे स्वयं ज्योतिरूप नहीं है, इसी प्रकार जड अविद्या भी साक्षी आत्मासे प्रकाश्य होनेसे तथा आवरणरूप होनेसे स्वयं ज्योतिरूप नहीं है। आवरणरूप अविद्याको यदि कोई स्वयंज्योतिरूप माने तो उसे आवरणरूप अन्धकारको भी स्वयंज्योतिरूप मानना पड़ेगा, किन्तु ऐसा कोई नहीं मानता और न मान सकता है, इसलिये अविद्या स्वयंज्योतिरूप नहीं है। जाग्रत् अवस्थामें प्रकाशरूपसे प्रसिद्ध नेत्रादि इन्द्रियाँ भी स्वप्नावस्थामें नहीं होतीं और आदित्य, चन्द्रमा, अग्नि, वाक्, ये चार प्रकारकी ज्योतियाँ भी स्वप्नावस्थामें नहीं होतीं, इसलिये परिशेषसे आत्मारूप ज्योतिसे स्वप्नके पदार्थोंका प्रकाश होता है। इस अभिप्रायसे श्रुतिने स्वप्नावस्थामें आत्माको स्वयंज्योतिरूप कहा है। [क्रमशः]

मुरली-तान

मनोहर माधव! मुरली-तान।
कबतक होगी मेरे हियमें, उस ध्वनिकी पहिचान।
हो तल्लीन सुनूँगा किस दिन, उस प्रियतमका गान॥
जिसको सुनकर सब प्रिय होंगे, प्रेमपूर्ण मन प्रान।
बैठ अकेले किया करूँगा, रूप सुधाका पान॥

—अज्ञात

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कल्याण-योग

(लेखक—श्रीरुलिया रामजी कश्यप एम० एस० सी०)

बहुत सज्जन भगवान्‌के नामका जाप करते हैं। परमात्माकी कृपासे जाप बहुत प्रचलित हो रहा है। इससे आशा होती है कि सिनेमा तथा उपन्यासके साहित्य-संसारमें रहती हुई जनतामेंसे भी भक्तजन प्रादुर्भूत हो ही सकेंगे। मैं स्वयं भी जैसा मुझसे बन पड़ता है कुछ-न-कुछ जाप करता ही हूँ। पतञ्जलि व्यासने भी जापकी महिमा गायी है पर वास्तवमें जापका फल क्या होता है यह मुझे अभी सप्ताह डेढ़ सप्ताहसे ही पता चला है। मैंने एक रात ऐसा अनुभव किया कि मेरे कमरेका वायुमण्डल आनन्दसे भरपूर हो रहा है, उस आनन्दसागरमें मेरा भौतिक शरीर उस आनन्दसे कुछ ही स्थूल, जलमें मीनसमान विद्यमान है अन्यथा वह आनन्दसागर उस मेरे स्थूल शरीरमें भी ओत-प्रोत है। इस प्रकार आनन्दमयका अनुभव जब मुझे प्राप्त हुआ तो उसमें सत्यज्ञानविचार फुरने—उठने लगे तब मैंने जाना कि यह आनन्दमयके ऐकात्म्यानुभवमें विज्ञानमयका हस्तक्षेप हुआ है कारण कि मेरा ध्यान उन सत्यज्ञान तरङ्गोंमें चला गया। जब उनसे तनिक हटा तो मैं जान पाया कि इतनी देर मैं आनन्दमयमें नहीं था, विज्ञानमयमें था और मुझे निश्चय हो गया कि विज्ञानमय आनन्दमयमें विघ्नरूप उपस्थित होता है। परन्तु विज्ञानमयसे पृथक् हो ऊँचे उठते ही मनुष्य आनन्दमयमें मस्त हो जाता है यही दो आनन्द-समाधि तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा अवस्थाएँ कहलाती हैं।

अचानक मुझे पता लगा कि मेरे अंदर हृदयमें ओ३म्-ओ३म्का जाप हो रहा है। तभी प्रतीत हुआ कि सत्यज्ञानकी तरङ्गमाला भी नहीं उठ रही, आनन्द-सागरमें भी डुबकियाँ नहीं लग रहीं, एकतार अंदर ओ३म् ओ३म्का ताँता बँधा हुआ है। मैं पहिचान गया कि मन ओ३म्-ओ३म् जप रहा है। अतः ऋतका धारण करनेके लिये बुद्धिको अवकाश नहीं मिल रहा और आत्माको आनन्द लेनेकी छुट्टी नहीं। थोड़ी देर पीछे विचार आया कि ओह! मैं किन विचारोंमें उलझ गया; ओ३म्-ओ३म् कभीका हट गया; न सच्चे ज्ञान-विचार, न आनन्द। यह तो पुरानी उटपटांग बातोंकी स्मृतिमात्र, स्वप्नकी नाईं मुझे उलझाये हुए है। तुरन्त समझ आ गयी कि यह तो मनोमयका खेल है, मनोराज्य है इसमें न जाप, न ऋतम्भरा, न आनन्द। इसके पीछे मेरा ध्यान सर्वथा बाहरी संसारमें चला आया और मैं चौकन्ना, जागता, संसारी पुरुष प्रतिदिन जैसा हो गया।

यह ९९% सत्य घटना है जिसने मुझे यथार्थ पहिचान अन्तर्जगत्‌की करवा दी। स्यात् यह सब एक दूर बैठे महात्माकी प्रतिविम्बित शक्तिके कारण अनुभव हुआ, अथवा निराकार भगवान्‌की सीधी ही कृपा हुई यह तो वह भगवान् अथवा वह महात्मा ही जान सकते हैं मुझ अल्पबुद्धिकी वहाँतक पहुँच कहाँ! हाँ, अनुभव अवश्य सर्वथा मुझे ही हुआ इसमें सन्देहकी सर्वथा सम्भावना नहीं। अस्तु!

इससे जो उपयोगी परिणाम निकल सकते हैं वह तो भक्त सुविज्ञ पाठक स्वयं भी निकाल सकेंगे। परन्तु मैं एक छोटी-सी बात सुझा देना अनुचित न समझ-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कर यहाँ लिखता हूँ। वह यह कि वास्तवमें जापका फल यह होता है कि स्थूल जगत्के विचार तो बंद हो ही जाते हैं, साथमें मनोमय कल्पनाएँ भी इतिश्रीको प्राप्त हो जाती हैं। अर्थात् जबतक हृदय जाप करता रहता है तबतक स्थूल-सूक्ष्म जगत्के विचार उसे तंग नहीं कर सकते। ठीक जैसे चञ्चल बन्दरको वशमें करनेके लिये एक खूँटेसे उसे बाँध दिया जाता है और वह उसीके चारों ओर घूमता रहता है ठीक उसी प्रकार मनोमयके केन्द्र मनरूपी बन्दरको बाँधनेके लिये प्रणवजापरूपी सर्वोत्तम खूँटा गाड़ देना ही श्रेयस्कर है।

जब इस प्रकार मन बँध गया, विकल्प बंद हो गये, तब संसाररूपी अट्टालिकाका बड़ा फाटक बंद हो गया, फिर आत्मा निश्चिन्तरूपसे अंदर बैठा शारीरिक आधि-व्याधि तथा तच्चिन्ताओंसे सर्वथा मुक्त सांसारिक बन्धनोंसे सर्वथा अप्रभावित जैसे चाहे वैसे, चाहे ऋतम्भरा-आस्वादन ले चाहे आत्माका आनन्द भोगे। कोई बन्धन, रोकटोक, अड़चन उस समय इसको अनुभव नहीं होती।

इस प्रकार वास्तवमें जाप अन्तःपुरकी चाबी है। मनका ताला इसी चाबीसे बंद हो जाता है, इससे मानस बाह्य सांसारिक स्थूल-सूक्ष्म व्यापार वहींका वहीं रुक जाता है। आत्मा अन्तःपुरमें विहार करनेके लिये स्वतन्त्र हो जाता है। सत्यसङ्कल्प सत्यकाम, आत्माराम उसी दशामें आत्मा हो चुका होता है।

इस प्रकार जापका फल वर्णन किया गया। अब भगवान्के पाठका फल वर्णन करता हूँ। एक दिन दैनिक 'प्रताप'का पुराना 'कृष्णाङ्क' मैं उठाकर पढ़ने लगा। आरम्भ तो एक कहानीसे किया था पर शीघ्र ही कृष्ण-सम्बन्धी काव्योंमें मन उलझ गया, दिनमें कितनी ही देर पढ़ता रहा। रातको स्वप्नमें एक सुन्दर मोटा मनोहर बालक दिखायी पड़ा। चित्त प्रसन्न हो गया। इसी प्रकार मैं उपनिषद् पढ़ा करता था तो एक दिन एक लंगोटबंद हृष्टपुष्ट साधुके दर्शन स्वप्नमें हुए तो निश्चय हो गया कि यह उपनिषद्में वर्णित महर्षि सयुग्वा रैक्वजी हैं चित्त प्रसन्न हो गया। एक बार पू० स्वामी सत्यानन्दजीकी भक्तिप्रकाश पढ़ा करता था तो एक रात स्वप्नमें बैठकर ध्यान करने लगा तो किसीने पीठपर थपकी दी तब मुझे निश्चय हो गया कि आज साक्षात् परमात्माने मुझे पीठपर थपकी दी है। कहनेका तात्पर्य यह कि भगवान्के पाठ करनेवालेको ऐसे स्वप्न अथवा दृष्टान्त बहुधा होते रहते हैं जिससे उसका मार्ग रोचक बना रहता है, सूखा उजाड़ बियाबान नहीं प्रतीत होता।

अनन्तमें उलझनेका एक अति सरल उपाय अब लिखता हूँ। मेरे घरके आँगनमें एक छोटी-सी ढेरी रेतकी है। कभी मेरा ध्यान उसमें चला जाता है तो उसके अगणित कणोंकी अनन्तता मेरे मस्तिष्कमें चुभ जाती है। मैं विस्मित होता हूँ कि कैसे उनमेंसे प्रत्येक कणमें विद्यमान उसके अगणित परमाणुओंमें भी एक ही अनन्त भगवान् अखण्ड-रूपसे ओतप्रोत व्याप रहा है। वास्तवमें बुद्धि इस समस्याको न समझ कर पीछे ही लौट पड़ती है फिर कच्चे आँगनकी मिट्टीके बारीक कण उसे वही प्रश्न पूछते हैं कि कैसे वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म भगवान् हममेंसे प्रत्येकके अगणित परमाणुओंमें अखण्डरूपसे व्याप्त हैं। वहाँसे भी परास्त हो बुद्धि ऊपर लटक रही सोमलता (गिलोय) के पत्तोंमें उलझती है। वह भी यही पूछते हैं कि बतलाओ हमसे प्रत्येक जिन असंख्य कोठरियोंके समूहसे बना हुआ है उनमेंसे प्रत्येक कोठरीके

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

Protoplasm (जीवित द्रव द्रव्य), Nucleus (जीवित ठोस गेंद), कोठरी की दीवार, Nucleolus (गेंदके अंदरकी उससे भी अधिक ठोस छोटी गेंद) इत्यादि प्रत्येक विभागके भी अगणित सूक्ष्म परमाणुओंमें वही एक अनन्त अखण्ड कैसे व्याप रहा है। बस यहाँसे धक्का खाकर वृत्ति ऊपर आकाशको चढ़ जाती है। नीले आसमानका भूमिपर बने मकानोंकी छत्तोंसे छू जानेवाला कल्पित किनारा देख पहिचानती है कि यह रेत, मिट्टी, पत्ते, तो क्या वह तो अनन्त अखण्ड धुर आसमानमें भी विद्यमान हो रहा है। सूरज, चाँद, तारे उसीसे चमक रहे हैं। मैं तो इस सारे संसार तथा उस अनन्त भगवान्‌के प्रति अतीव तुच्छ हूँ। इस झरोखेमें बैठा देख रहा हूँ पर तुरन्त यह भी साथ ही समझमें आ जाता है कि मैं स्वयं न जाने कितना अनन्त हूँ कि इस अथाह विस्तारको एक उलटे प्याला-सा ही देख रहा हूँ। ओह ! इस सारे अनन्तके सम्मुख मैं स्वयं तो अनन्ततम हूँ। मैं ही वास्तवमें द्रष्टारूपसे सम्पूर्णको निहार रहा हूँ। मैं उससे अवश्य अतीव अधिक अनन्त हूँ। वास्तवमें मैं एक क्षणमें आँख बंदकर सम्पूर्ण संसारका प्रभाव अपनेपर पड़ना रोक देता हूँ और फिर अपने ही अंदर आनन्दसागर अनुभव करता हूँ।

इस प्रकार साधारण-सी अति तुच्छ-सी वस्तु भी अनन्ततक पहुँचानेके लिये 'केतु' झंडीका काम दे सकती है और अनन्तदर्शन करवा देती है।

श्रीहनुमान्‌जीकी उपासना कब करनी चाहिये ?

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

[मुलतानके एक सज्जनने निम्नलिखित प्रश्नका उत्तर देनेकी सेवाका सौभाग्य कृपापत्र भेजकर इस दीनको प्रदान किया है। वह पत्र इस प्रकार है—

एक आवश्यक प्रश्न

श्रीजयरामदासजी 'दीन' महाराज रामायणीके लेख यथावसर 'कल्याण' में निकला करते हैं। उन्हें देखनेका ६ वर्षसे हमें भी सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। जिस प्रकार 'दीन' जी रामचरितमानसकी कतिपय शंकाओंका समाधान करके सर्वसाधारणका कल्याण करते हैं, उसी प्रकार हमारी शङ्काका भी समाधान कर उपकारके भागी बनें। सर्वसाधारण और अधिकतर महात्माओंके मुखारविन्दसे सुननेमें आता है कि 'सवा पहर दिन चढ़ जानेके पहले श्रीहनुमान्‌जीका नामजप तथा हनुमानचालीसाका पाठ नहीं करना चाहिये।' क्या यह बात यथार्थ है ? यदि है तो इसका कारण क्या है, विस्तारपूर्वक लिखनेकी दया कीजिये।]

समाधान

यह तुच्छ 'दीन' उपर्युक्त प्रश्नका क्या समाधान लिखे ? कारण, आजतक इस दासको न तो किसी ग्रन्थमें ऐसा कहीं प्रमाण मिला है, न अभीतक किसी महात्माके ही मुखारविन्दसे सुननेको मिला है कि किसी उपास्य देवके स्तोत्रोंका पाठ या उनके नामका जप इत्यादि प्रातःकाल सवा पहरतक उपासकको न करे, उसके बाद करना चाहिये। बल्कि हर जगह इसी बातका प्रमाण मिलता है कि सदा और निरन्तर तैलधारावत् अजस्र, अखण्ड भजन-स्मरण करना चाहिये। यथा—

'रसना निशि बासर राम रटो।' (कवित्त-रामायण)

'सदा राम जपु राम जपु।'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

'जपहि नाम रघुनाथको चरचा दूसरी न चालु ।'
'तुलसी तू मेरे कहे रट राम नाम दिन राति ।'
(विनयपत्रिका)

इसी प्रकार श्रीहनुमान्‌जीके सम्बन्धमें भी सदा-सर्वदाका ही प्रमाण मिलता है । यथा—

मर्कटाधीश मृगराज विक्रम महादेव मुदमंगलालय कपाली ।
× × ×
सिद्ध सुर वृन्द जोगीन्द्र सेवित सदा,
दास तुलसी प्रनत भय तमारी ।
(विनय० पद २६)

पुनः—

मङ्गलागार संसार भारापहर बानराकार विग्रह पुरारी ।
× × ×
राम सम्भ्राज शोभा सहित सर्वदा,
तुलसिमानस रामपुरविहारी ॥
(विनय० पद २७)

कदाचित् किसीको श्रीहनुमान्‌जीके इस वचनका ध्यान आ गया हो कि—

प्रात लेइ जो नाम हमारा ।
तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा ॥

परन्तु इसका भावार्थ लेना चाहिये । यहाँ 'हमारा' शब्दका सम्बन्ध ऊपरकी चौपाई के 'कपिकुल' अर्थात् वानर-योनिसे है न कि अपने शरीर (श्रीहनुमान्-विग्रह) से है । वहाँ वह कहते हैं—

कहहु कवन मैं परम कुलीना ।
कपि चंचल सब ही बिधि हीना ॥

अर्थात् हे विभीषण ! आप अपने को राक्षस-कुलका मानकर भय मत करें । बताइये, मैं ही कौन-से बड़े श्रेष्ठ कुलका हूँ । बानर-योनि तो चञ्चल और पशु होनेसे सभी प्रकारसे हीन है । हमारे कुल (वानर) का अगर कोई प्रातःकाल नाम ले ले तो उस दिन उसे आहारका ही योग नहीं लगता—

अस मैं अधम सखा सुनु, मोहूँ पर रघुबीर ।
कीन्हीं कृपा सुमिरि गुन, भरे बिलोचन नीर ॥

—ऐसे अधम कुलका मैं हूँ, हे सखा, सुनिये, मुझपर भी श्रीरामजीने कृपा की है । इस विरदको स्मरणकर कहते-कहते श्रीहनुमान्‌जीके नेत्रोंमें आँसू भर आये । अतः 'हमारा' शब्दका भाव यह है कि कुल तो हमारा ऐसा नीच है कि 'वानर' शब्द सवेरे मुँहसे निकालना अच्छा नहीं माना जाता; परन्तु उसी योनिमें उत्पन्न मैं जब प्रभुका कृपापात्र बना लिया गया तब तो—

राम कीन्ह आपन जबहीं तें ।
भयउँ भुवन-भूषण तबहीं तें ॥

मेरे हनुमान्, महावीर, बजरङ्गी, पवनकुमार आदि नाम प्रातःस्मरणीय हो गये । इसका प्रमाण इस प्रकार है—

अशुभ होइ जिन्हके सुमिरन तें बानर रीछ बिकारी ।
बेद बिदित पावन भये ते सब महिमा नाथ तिहारी ॥
(विनय० पद १६६)

अतएव श्रीरामायणजीके उपर्युक्त पदोंसे श्रीहनुमान्-जीका नाम सवेरे जपनेका कदापि निषेध सिद्ध नहीं होता; उसका तात्पर्य 'वानर' शब्दसे ही है, जो कुलकी न्यूनताका द्योतक है, स्वयं श्रीहनुमान्‌जीकी न्यूनताका द्योतक नहीं । और जो लोग ऐसा तर्क कहीं-कहीं करते हैं कि श्रीहनुमान्‌जी रातमें जगनेके कारण सवेरे सोते रहते हैं अथवा सवेरे श्रीरामजीकी मुख्य सेवामें रहते हैं, इसलिये सवा पहर वर्जित है, सो न तो इसका कोई प्रमाण अभीतक इस दीनको मिला है और न यह बात उचित ही मालूम होती है कि योगिराज ज्ञानिनामग्रगण्य श्रीहनुमान्‌जी पहरभर दिन चढ़नेतक सोते रहते हैं तथा उनका अमित दिव्य विग्रह और अमोघशक्ति वपु एक रूपसे सरकारी सेवामें तत्पर रहते हुए दूसरे अनेक रूपोंसे अपने

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भक्तोंकी सेवा स्वीकार करनेमें असमर्थ रहता है। जहाँ प्रेमपूर्वक श्रीरामनामका जप और श्रीरामायणजीका पाठ होता है वहाँ तो श्रीमारुतिजी सदा मौजूद रहते हैं, चाहे वह प्रातःकाल हो या कोई काल हो। फिर इस झगड़ेमें पड़कर तो श्रीहनुमानजीके आराम-विश्रामके लिये सवा पहर भगवद्भजन भी छोड़ना पड़ेगा, जिसका छूटना ही उनके लिये विपत्तिजनक है—

कह हनुमान बिपति प्रभु सोई।
जब तव सुमिरन भजन न होई॥

अतएव इस दीनके तुच्छ विचारसे तो सवा पहर क्या, एक क्षण भी भाग्यवानोंको श्रीहनुमत्-नाम-भजन और पाठादिसे विमुख नहीं रहना चाहिये। प्रातःकालका समय तो भजनहेतु है ही। श्रीमारुतिजी सदा और सब कालमें वन्दनीय हैं—

बन्दौं पवनकुमार, खल बन पावक ज्ञानघन।
जासु हृदय आगार, बसहिं राम सरचापधर॥

सियावर रामचन्द्रकी जय।

श्रीरासलीलारहस्य

(एक परमहंस महात्माका उपदेश)

इस अपार संसार-समुद्रमें जिन लोगोंके मन निरन्तर गोते लगा रहे हैं उन्हें सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्तकर अपने परमानन्दमय स्वरूपकी प्राप्ति करानेके लिये अहैतुक करुणामय, दीनवत्सल श्री भगवान् ही स्वयं धर्मावबोधक वेदरूपमें अवतीर्ण होते हैं। जिस समय कालक्रमसे सर्वसाधारणके लिये वेदका तात्पर्य दुर्बोध हो जाता है उस समय वे श्रीहरि ही पुराणादि रूपमें आविर्भूत होते हैं। पुराणोंका मुख्य प्रयोजन वेदार्थका निरूपण करना ही है। किन्तु यह सब रहते हुए भी परस्पर मतभेद रहनेके कारण वेदार्थसम्बन्धी विरोधका निराकरण भगवान्‌की उपासनाके द्वारा शुद्ध हुए अन्तःकरणसे ही हो सकता है। जिन लोगोंकी विवेकदृष्टि पारस्परिक विवादके कारण नष्ट हो गयी है उन्हें वेदार्थका बोध कराकर परम कल्याणकी प्राप्ति करनेके लिये ही श्रीमद्भागवतका प्रादुर्भाव हुआ है, जैसा कि कहा है—

कृष्णे स्वधामोपगते धर्मज्ञानादिभिः सह।
कलौ नष्टदृशामेष पुराणार्कोऽधुनोदितः॥

अर्थात् धर्म एवं ज्ञानादिके सहित भगवान्‌के स्वधाम सिधारनेपर जिन मनुष्योंकी दृष्टि कलियुगके कारण नष्ट हो गयी है उनके लिये इस समय इस पुराणरूप सूर्यका उदय हुआ है। वस्तुतः, यह ग्रन्थ वेदार्थविरोधकी निवृत्तिमें सूर्यके ही समान है—

अर्थोऽयं ब्रह्मसूत्राणां सर्वोपनिषदामपि।
गायत्रीभाष्यभूतोऽसौ ग्रन्थोऽष्टादशसंज्ञितः॥

अर्थात् यह श्रीमद्भागवतपुराण ब्रह्मसूत्र और समस्त उपनिषदोंका तात्पर्य है, तथा यह अष्टादशसंज्ञक ग्रन्थ गायत्रीका भाष्यस्वरूप है।

प्राचीन आर्षग्रन्थोंमें श्रीमद्भागवत एक अत्यन्त देदीप्यमान उज्ज्वल ग्रन्थरत्न है। इसके दशम और एकादश स्कन्धोंमें परमानन्दघन लीलापुरुषोत्तम भगवान् कृष्णचन्द्रकी दिव्यातिदिव्य लीलाओंका वर्णन है। लीलाविहारी श्रीश्यामसुन्दर सर्वथा रसमय हैं। उनकी कोटि-कोटि कन्दर्पकमनीय मनोहर मूर्ति भावुक भक्तोंके लिये जैसी मनोमोहिनी है वैसी ही उनकी लीलाएँ भी हैं। यों तो भगवान्‌की सभी लीलाएँ लोकोत्तर आनन्दातिरेकका सञ्चार करनेवाली हैं तथापि उनकी व्रजलीलाएँ तो महाभाग भक्त एवं कविपुङ्गवोंका सर्वस्व ही हैं। उनमें भी, जिसका आविर्भाव एकमात्र रसाभिव्यक्तिके लिये ही हुआ था, वह महारास तो मानो सर्वथा माधुर्यका ही विलास था। प्रभुकी रासक्रीडा जैसी मधुर है वैसी ही रहस्यमयी भी है। उसके भीतर जो गुह्यातिगुह्य रहस्य निहित है वह आपाततः दृष्टिगोचर नहीं हो सकता। वह इतना गूढ़ है कि उसमें नितान्त

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जितना प्रवेश किया जाता है उतना ही अधिकाधिक दुरवगाह्य प्रतीत होता है। हम यथामति उसका विचार करनेका प्रयत्न करते हैं।

इस रासलीलाका वर्णन श्रीमद्भागवत दशम स्कन्धके अध्याय उनतीससे तैंतीसतक है। ये पाँच अध्याय श्रीरास-पञ्चाध्यायीके नामसे सुप्रसिद्ध हैं। ये श्रीमद्भागवतरूप कलेवरके मानो पाँच प्राण हैं; अथवा यदि इन्हें श्रीमद्भागवत-का हृदय कहा जाय तो भी अयुक्त न होगा।

रासपञ्चाध्यायीके आरम्भमें 'श्रीवादरायणिरुवाच' ऐसा पाठ है। इस पाठका भी एक विशेष अभिप्राय है। यहाँ 'वादरायणिः' शब्दसे वक्ताका महत्त्व द्योतित कर उसके द्वारा प्रतिपादन किये जानेवाले विषयकी महत्ता प्रदर्शित की गयी है। लौकिक नीतियोंके विषयमें तो प्रायः इस बातपर ध्यान नहीं दिया जाता कि उनका वक्ता कौन है; वहाँकेवल उस उक्तिकी महत्ताका ही विचार किया जाता है।

'ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः'

किन्तु धार्मिक अंशोंमें यह नियम नहीं है। वहाँ तो वक्ताकी योग्यताका विचार सबसे पहले किया जाता है। जिस प्रकार गायत्री मन्त्र है। उसका अर्थ किसी भी भाषामें कितने ही सुन्दर ढंगसे कर दिया जाय, जापककी उसमें श्रद्धा नहीं हो सकती और न मूल गायत्रीके जपसे होनेवाला महान् फल ही उससे प्राप्त हो सकता है। अतः धर्मके विषयमें मनुष्यको 'वक्तृविशेषसस्पृह' होनेकी आवश्यकता है। यहाँ वक्ताके कथनकी अपेक्षा उसके व्यक्तित्वका प्रामाण्य ही अधिक अपेक्षित है।

यदि देखा जाय तो लौकिक विषयोंमें भी यही नियम अधिक काम कर रहा है। हमें एक साधारण पुरुषकी ऊँची-से-ऊँची बात उतनी मूल्यवान् नहीं जान पड़ती जितनी कि किसी गण्य-मान्य व्यक्तिकी साधारण-सी बात जान पड़ती है। जिस पुरुषके प्रति हमारी श्रद्धा है उसकी बहुत मामूली बातपर भी हम बहुत ध्यान देते हैं। इससे निश्चय होता है कि लौकिक विषयोंमें यद्यपि प्रायः 'वक्तृ-विशेषनिःस्पृहता' होती है; वहाँ 'बालकसे भी शुभ ज्ञान ग्रहण करने चाहिये'—यही नीति काम करती है तथापि सर्वांशमें नहीं। कभी-कभी वक्ताकी आप्तताका मूल्य वहाँ भी बढ़ जाता है।

यही बात वेदके विषयमें है। वेद बहुत युक्तियुक्त अर्थको कहता है, इसीलिये वह माननीय हो—ऐसी बात नहीं है; बल्कि बात तो ऐसी है कि वेदका कथन होनेके कारण ही वेदार्थ माननीय है। चोर अच्छी बात कहे तब भी उसमें आस्था नहीं हो सकती।

अब हम प्रकृत विषयपर आते हैं। रासपञ्चाध्यायीके वक्ता श्रीवादरायणि हैं।

बदराणां समूहो वादरं[1] नरनारायणाश्रमोऽयनमाश्रयो यस्य स बादरायणः तस्यापत्यं वादरायणिः।

'बदर' बेरको कहते हैं, यहाँ उससे नरनारायणाश्रम उपलक्षित है। वही जिनका अयन—आश्रय—निवासस्थान अर्थात् तपोभूमि है वे भगवान् व्यासजी ही बादरायण हैं। उन्हींके पुत्र श्रीवादरायणि हैं। यहाँ भगवान् शुकदेवजीको जो 'वादरायणि' कहा गया है उसका तात्पर्य यही है कि उनका महत्त्व अपने व्यक्तित्वके कारण ही नहीं है बल्कि पिता और पिताकी निवासभूमिसे भी उनकी पवित्रता द्योतित होती है। अर्थात् भगवान् श्रीशुकदेवजी स्वयं ही पवित्र हों, ऐसी बात नहीं है, उन्हें तो उनके पिताने परम-पवित्र बदरिकाश्रममें तप करके उस तपके फलस्वरूपसे ही प्राप्त किया था। बदरिकाश्रम ज्ञानभूमि है; अतः वहाँ जो तप होगा वह भी अत्यन्त विलक्षण ही होगा। उसके फलस्वरूप श्रीभगवान् या भगवान्के परमान्तरंग निकुञ्ज-मन्दिरस्थ लीलाशुक ही श्रीशुकदेवरूपमें प्रादुर्भूत हुए हैं।

भगवान् व्यासजीमें भी केवल तपसे ही तेज आया हो—ऐसी बात नहीं है, वे तो वेदार्थका निरूपण करनेके लिये अवतीर्ण हुए साक्षात् श्रीनारायण ही थे। 'व्यासो वै नारायणः स्वयम्'। यों तो वे स्वयं ही नारायण हैं; तिसपर भी उन्होंने बदरिकाश्रममें विविध प्रकारका तप किया है। उन्हींसे जिनका जन्म हुआ है वे श्रीशुकदेवजी ही इस तत्त्वके वक्ता हैं।

इससे सिद्ध होता है कि उनका कथन भी कोई साधारण बात नहीं होगी। महापुरुष कोई ग्राम्य-कथा नहीं कहा करते। उनके सामने तो ग्राम्य-कथाओंका विघात हो जाया करता है—किसी दूसरेको भी ऐसी बात कहनेका साहस नहीं होता, फिर वे स्वयं तो ऐसी बात

१ वादरं बदरीवनम्।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कहेंगे ही क्यों ? वे अवश्य किसी दिव्यातिदिव्य रहस्यका ही उद्घाटन करेंगे। यह तो रही वक्ताकी बात; उनके सिवा श्रोता भी कैसे हैं ? महाराज परीक्षित ! 'गर्भदृष्टमनुध्यायन्परीक्षेत नरेष्विह' अर्थात् जिन्होंने जन्म लेते ही इधर-उधर देखकर लोगोंमें यह परीक्षा करनी चाही थी कि जिस मनोमोहिनी मूर्तिको मैंने गर्भमें देखा था वह यहाँ कहाँ है ? जो गर्भमें ही भगवान्‌का दर्शन कर चुके थे। ध्रुवादिने साधनद्वारा योगमायाका निराकरण करके भगवत्तत्त्वका साक्षात्कार किया था, किन्तु इन्हें तो भगवान्‌की अनुकम्पासे ही उनका दर्शन हो गया था। उनके वंशका महत्त्व भी सुस्पष्ट ही है। इस प्रकार जैसे भगवान् बादरायणि मातृमान्, पितृमान् और आचार्यवान् हैं वैसे ही पार्थपौत्र महाराज परीक्षित भी हैं।

वे यद्यपि स्वभावसे ही तत्त्वज्ञ, शास्त्रज्ञ, ऐहिक, आमुष्मिक विषयोंसे विरक्त एवं सर्वान्तरतम प्रत्यगात्माका साक्षात्कार करनेके इच्छुक थे, तथापि राजा होनेके कारण किसी शृङ्गाररसप्रधान कथाके श्रवणमें उनकी अभिरुचि होनी सम्भव थी। किन्तु इस समय तो उन्हें अनिवार्य विप्रशाप हो चुका था; इसलिये सात दिनमें उनकी मृत्यु निश्चित हो जानेके कारण वे परम उपरत हो गये थे। यदि साधारण मनुष्यको भी अपनी मृत्युका निश्चय हो जाय तो वह किसी ग्राम्य-कथाके श्रवणमें प्रवृत्त नहीं हो सकता; फिर महाभागवत महाराज परीक्षित-जैसे सर्वसाधनसम्पन्न पुरुषोंकी प्रवृत्ति तो उसमें हो ही कैसे सकती है ?

वस्तुतः श्रीमद्भागवत कोई साधारण ग्रन्थ नहीं है। श्रीशुकदेवजीका तो मिलना ही बहुत दुर्लभ था; फिर जिस ग्रन्थका वे वर्णन करें उसका महत्त्व क्या कुछ साधारण हो सकता है ? जिस समय शौनकादि महर्षियोंने यह सुना कि इस ग्रन्थका वर्णन श्रीशुकदेवजीने किया है तो वे आश्चर्यचकित हो गये और बोले कि—

तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ्निर्विकल्पकः।
एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते॥

'वे व्यासनन्दन तो महायोगी, समदर्शी, विकल्पशून्य, एकान्तमति और अविद्यारूप निद्रासे जगे हुए थे। वे तो प्रच्छन्न भावसे मूढवत् विचरते रहते थे। वे किस प्रकार इस बृहत् आख्यानका श्रवण करानेमें प्रवृत्त हो गये ?'

उनकी महिमाको द्योतित करनेवाला एक अन्य श्लोक भी है—

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदु-
स्तं सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि॥

अर्थात् जिन्होंने उपनयनसंस्कारके लिये विधिवत् गुरूपसदन नहीं किया और जैसे-तैसे पिताके उपनयन-संस्कार कर देनेपर भी जो उपनयनसम्बन्धी क्रिया-कलापसे उपरत थे* उन शुकदेवजीको जाते देखकर उनके विरहसे आतुर होकर जिस समय 'हे पुत्र ! हे पुत्र!' इस प्रकार पुकारते हुए श्रीव्यासजी उनके पीछे गये तो प्रत्येक वृक्षमेंसे जो 'पुत्र' शब्दकी प्रतिध्वनि आ रही थी वह ऐसी जान पड़ती थी मानो वृक्ष भी तन्मयभावसे 'पुत्र पुत्र' चिल्ला रहे हैं। भगवान् शुकदेवजी परम तत्त्वज्ञ और महायोगी होनेके कारण सर्वभूतहृदय हैं।

'सर्वभूतानां हृत् तद्विकारांश्च अयते विजानाति।'

जो सम्पूर्ण भूतोंके हृत् और उसके विकारोंको जानते हैं अथवा 'सर्वभूतानां हृत् अयते नियमयति'—जो समस्त प्राणियोंके हृत्का† अयन—नियमन करते हैं—इस व्युत्पत्तियोंके अनुसार श्रीशुकदेवजी सर्वभूतहृदय हैं। उनके सिवा अन्य तत्त्वज्ञ भी यद्यपि अपने पारमार्थिक स्वरूपसे सर्वान्तरात्मा ही हैं तथापि दूसरेके चित्तके नियन्त्रणादिकी शक्ति बिना योगके नहीं हो सकती; इसीसे 'हृत् अयते नियमयति' यह दूसरी व्युत्पत्ति उनके महायोगित्वका परिचय देती है। इससे उनका परमतत्त्वज्ञ और महायोगी होना सिद्ध होता है। इस प्रकार सर्वहृदय होनेके कारण वे वृक्षोंके भी अन्तरात्मा हैं। अतः उस समय जो वृक्षोंसे 'पुत्र' शब्दकी प्रतिध्वनि हो रही थी

* जो लोग अत्यन्त विरक्त होते हैं उनकी भगवद्व्यतिरिक्त कर्म और उनके फलोंमें अभिरुचि नहीं होती। उनकी स्थिति सर्वसंन्यासपूर्वक एकमात्र भगवत्स्वरूपमें ही होती है। श्रीशुकदेवजी इस प्रकारकी उपरतिके अधिकारी ही थे, किंतु अनधिकारियोंके लिये तो ऐसी उपरति अकल्याणकी ही होती है।

† 'हृत्' शब्द यद्यपि पुण्डरीकाकार मांसपिण्डका वाचक है, तथापि जिस प्रकार 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इस वाक्यमें 'मञ्च' शब्दसे मञ्चस्थ पुरुष अभिप्रेत हैं उसी प्रकार यहाँ 'हृत्' शब्दसे हृत्स्था बुद्धिका ग्रहण करना चाहिये।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वह मानो वृक्षोंके द्वारा स्वयं ही श्रीव्यासजीको 'पुत्र' कहकर सम्बोधन कर रहे थे। ऐसा करके मानो वे उन्हें उपदेश कर रहे थे कि पिताजी! आप जो हमें 'पुत्र-पुत्र' कहकर पुकार रहे हैं यह आपका व्यामोह ही है। हमारा आपका जो पिता-पुत्र सम्बन्ध है वह तात्त्विक नहीं है। कभी हम आपके पुत्र होते हैं तो कभी आप भी हमारे पुत्र हो जाते हैं; अतः आपको इस मायिक सम्बन्धके मोहमें न फँसना चाहिये।

उस समय एक दूसरी घटना भी हुई। उससे भी उनकी निर्विकार समदृष्टिका पता चलता है। उस घटनाका वर्णन इस श्लोकद्वारा किया गया है—

दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्यनग्नं
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम्।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति
स्त्रीपुंभिदा न तु सुतस्य विविक्तदृष्टेः॥

श्रीशुकदेवजीके पीछे-पीछे भगवान् व्यास जा रहे थे। मार्गमें एक जलाशयपर कुछ देवांगनाएँ स्नान कर रही थीं। श्रीव्यासजी यद्यपि वस्त्र धारण किये थे तथापि उन्हें देखकर उन अप्सराओंने लज्जावश अपने वस्त्र धारण कर लिये; किन्तु बालयोगी दिगम्बरवेष शुकदेवजीको देखकर ऐसा नहीं किया। भगवान् शुकदेवजी परम सुन्दर थे। वे श्यामवर्ण होनेके कारण साक्षात् आनन्दकन्द भगवान् कृष्णचन्द्रके समान मनोमोहक थे। उनकी मनोहर मूर्तिको देखकर कुलकामिनियोंके अन्तःकरणोंमें भी क्षोभ हो हो जाता था; तथा बहुत-से बालक उनके पीछे लगे रहते थे। ऐसे होनेपर भी उन्हें देखकर देवांगनाओंने वस्त्र धारण नहीं किये किन्तु वृद्ध और विकलेन्द्रिय व्यासजीको देखकर बड़ी फुर्तीसे वस्त्र पहन लिये। यह देखकर जब व्यासजीने उनसे इसका कारण पूछा तो वे कहने लगीं—'महाराज! आपको तो स्त्री-पुरुषका भेद है किन्तु आपके पवित्रदृष्टि पुत्रको ऐसा कोई भेद नहीं है। इसका आत्मभाव शुद्ध परब्रह्ममें सुस्थिर है, दृश्यपर तो इसकी दृष्टि ही नहीं है। हमलोग अप्सराएँ हैं। हमसे लोगोंकी मनोवृत्ति छिपी नहीं रह सकती। महर्षियोंकी तपस्या भङ्ग करनेके लिये हमारी ही नियुक्ति की जाती है। अतः 'ताँत बाजी और राग बूझा' हम महर्षियोंको देखते ही उनके हृदयको परख लेती हैं।'

वस्तुतः दृश्यसंसर्ग ही दृष्टिके मालिन्यका हेतु है। जहाँ वह दृश्यसंसर्गसे निवृत्त हुई कि उसका मालिन्य भी निर्मूल हो गया। ऐसी स्थिति प्राप्त होते ही परब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है। ऐसी स्थिति श्रीशुकदेवजीकी थी। अहा! वे तो—

स गोदोहनवेलां वै गृहेषु गृहमेधिनाम्।
अवेक्षते महाभागस्तीर्थीकुर्वंस्तदाश्रमम्॥

भला जो गोदोहनवेलासे अधिक कहीं खड़े नहीं होते थे उन श्रीशुकदेवजीने किस प्रकार श्रीमद्भागवत सुनायी? ऐसी शंका होनेपर श्रीसूतजीने कहा—'यह महाराज परीक्षितका सौभाग्य ही था।'

यहाँ एक दूसरी शंका भी हो सकती है, महाभारतके कथनानुसार श्रीशुकदेवजी अपने तपके प्रभावसे ब्रह्मभावापन्न हो गये थे। उन्हें बाह्य प्रपञ्चका अनुसन्धान भी नहीं रहा था। फिर इस महासंहिताके स्वाध्यायमें उनकी किस प्रकार प्रवृत्ति हुई?

इसका उत्तर श्रीसूतजी महाराजने इस प्रकार दिया है—

हरेर्गुणाक्षिप्तमतिर्भगवान्बादरायणिः।
अध्यगान्महदाख्यानं नित्यं विष्णुजनप्रियः॥

सूतजी कहते हैं—ठीक है, यद्यपि श्रीशुकदेवजी ऐसे ही निर्विशेष परब्रह्ममें परिनिष्ठित थे, शास्तृ, शिष्य आदि सम्बन्धोंमें उनकी प्रवृत्ति होनी सर्वथा असम्भव थी; तथापि उन्हें एक व्यसन था। उससे आकृष्ट होकर ही उन्होंने इस महान् आख्यानका अध्ययन किया था। व्यासनन्दन भगवान् शुकदेवजीकी बुद्धि श्रीहरिके गुणोंसे आक्षिप्त थी—वह हरिगुणगानकी मनोमोहिनी माधुरीमें फँसी हुई थी। 'हरते इति हरिः' जो बड़े-बड़े योगीन्द्र-मुनीन्द्रोंके मनको भी हर लेते हैं उन दिव्यमङ्गलमूर्ति भगवान्का नाम ही 'श्रीहरि' है। भगवान्के परम दिव्य नाम, गुण, चरित्र एवं स्वरूप ऐसे ही मधुर हैं। उन्हींके गुणोंने श्रीशुकदेवजीके शुद्धब्रह्माकारवृत्तिसम्पन्न मनको भी हठात् अपनी ओर आकर्षित कर लिया था। इसीसे उन्होंने इस बृहत्-संहिताका स्वाध्याय किया था।

अहा! उन श्रीव्यासनन्दनको हरिभक्तिप्रवणताका कहाँतक वर्णन किया जाय? यद्यपि निरन्तर आत्मसुखमें विश्रान्त रहनेके कारण उनकी मनोवृत्ति किसी दूसरी ओर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नहीं जाती थी; उनके हृदयसे द्वैतप्रपञ्चका सर्वथा तिरोभाव हो गया था; तथापि परमानन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्रकी ललित लीलाओंने उन्हें अपनी ओर आकृष्ट कर ही लिया। इसीसे उन्होंने भगवल्लीलाके निगूढतम रहस्यभूत इस महाग्रन्थका आविर्भाव किया।

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो
अजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नमामि॥

'स्वसुखनिभृतचेताः'[1]—स्वानन्दसे ही पूर्ण है चित्त जिनका। यद्यपि प्राणियोंका चित्त विषयोंसे पूर्ण देखा जाता है तथापि स्वभावतः वह आत्मानन्दसे ही पूर्ण है। जिस प्रकार घटकी आकाशद्वारा स्वाभाविक पूर्णता जलादिद्वारा होनेवाली अस्वाभाविक पूर्णतासे निवृत्त-सी हो जाती है उसी प्रकार चित्तकी स्वाभाविक ब्रह्माकाराकारिता उसकी अस्वाभाविक विषयाकाराकारितासे निवृत्त हुई-सी जान पड़ती है। किन्तु श्रीशुकदेवजीका चित्त तो विषयव्यामोहसे निवृत्त होकर आत्मानन्दमें ही विश्रान्त हो गया था। इसीसे उन्हें 'स्वसुखनिभृतचेताः' कहा है। इस प्रकार 'तद्व्युदस्तान्यभावः'[2] आत्मानन्दमें विश्रान्त होनेके कारण अन्य पदार्थोंसे जिनकी सत्यत्वबुद्धि निवृत्त हो गयी है ऐसे जिन शुकदेवजीने 'अजितरुचिरलीलाकृष्टसारः'[3]—जिनकी ब्रह्माकार वृत्तिकी निश्चलता भगवान् अजितकी रुचिर[4] लीलासे अपहृत हो गयी है ऐसे होकर कृपावश इस तत्त्व-प्रदर्शक पुराणका विस्तार किया, उन निखिलपापापहारी श्रीव्यासनन्दनको मैं प्रणाम करता हूँ।

यद्यपि ऐसे महानुभावोंकी प्रवृत्ति ग्रन्थाध्यनमें नहीं हुआ करती तथापि भगवल्लीलाओंसे आकृष्टचित्त होनेके कारण ही उन्होंने इस महासंहिताका अध्ययन किया था।

परिनिष्ठतोऽपि नैर्गुण्ये उत्तमश्लोकलीलया।
गृहीतचेता राजर्षे अध्यगां संहितामिमाम्॥

इस सम्बन्धमें एक इतिहास भी प्रसिद्ध है। एक बार श्रीशुकदेवजी संसारसे उपरत होकर वनमें चले गये और वहाँ ध्यानाभ्यासमें तत्पर होकर समाधिस्थ हो गये। उनकी बुद्धिवृत्ति निखिल दृश्यप्रपञ्चका निरास कर अशेष-विशेषशून्य शुद्ध बुद्ध मुक्त परब्रह्ममें लीन हो गयी और उन्हें बाह्य जगत्का कुछ भी भान न रहा। इसी समय भगवान् व्यासदेवके कुछ शिष्यगण उधर आ निकले। उन्होंने उन बालयोगीन्द्रको देखकर कुतूहलवश श्रीव्यास-जीसे जाकर कहा कि 'भगवन्! हमने वनमें एक परम सुन्दर बालकको देखा है। वह बहुत दिनोंसे पाषाण-प्रतिमाके समान निश्चल भावसे एक ही आसनसे बैठा हुआ है। उसे बाह्य-जगत्का कुछ भी भान होता नहीं जान पड़ता।'

तब भगवान् व्यासदेवने सारी परिस्थिति समझकर उन्हें एक श्लोक कण्ठ कराया और कहा कि तुम उस बालयोगीके पास जाकर इसे सुमधुर ध्वनिसे गाया करो। तदनन्तर शिष्यगण वनमें जाकर इस श्लोकका गान करने लगे—

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः॥

शिष्योंके निरन्तर गान करनेसे भगवान् शुकदेवजीके अन्तःकरणमें इस श्लोकके अर्थकी स्फूर्ति हुई। यह नियम है कि जितना ही चित्त शुद्ध होगा उतना ही शीघ्रतर उसे भगवत्तत्त्वका अनुभव होगा। इसीसे किन्हीं-किन्हीं उत्तम अधिकारियोंको—जिनकी उपासना पूर्ण हो चुकी होती है—महावाक्यका श्रवण करते ही स्वरूप-साक्षात्कार हो जाता है।

उस श्लोकार्थकी स्फूर्ति होनेपर भगवद्विग्रहकी अनुपम रूपमाधुरीने उनके चित्तको क्षुभित कर दिया। उनकी समाधि खुल गयी और उन्होंने श्रीश्यामसुन्दरकी स्वरूप-माधुरीका वर्णन करनेवाले इस श्लोकको कई बार उन बालकोंसे कहलाया और कितनी ही बार आनन्दविभोर

---

१. स्वसुखेनैव निभृतं परिपूर्णं चेतो यस्य असौ।

२. तेनैव स्वसुखपूर्णचेतस्त्वेनैव व्युदस्तः निरस्तः अन्यस्मिन् ब्रह्मातिरिक्ते पदार्थे भावना अस्तित्वबुद्धिरपि यस्य सः।

३. अजितरुचिरलीलया आकृष्टः अपहृतः सारः धैर्यं ब्रह्माकारवृत्तिनैश्चल्यं यस्य सः।

४. 'हठात् स्वविषये रुचिं राति ददाति'—जो हठात् स्वविषयिणी रुचि दे देती है, अथवा 'इतरेभ्यो विषयेभ्यो रुचिं राति आदत्ते'—जो अन्य विषयोंसे रुचिको खींच लेती है, जैसा कि श्रीमद्भागवतमें एक स्थानपर कहा है—'इतररागविस्मारणं नृणाम्'।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होकर स्वयं भी कहा। शिष्योंने भगवान् व्यासदेवके पास आकर उन्हें यह सारा वृत्तान्त सुनाया। श्रीव्यासजी सोचने लगे कि इसे सुनकर भी वह आया क्यों नहीं। जब उन्होंने ध्यानस्थ होकर इसके कारणका अन्वेषण किया तो उन्हें मालूम हुआ कि उसे यह सन्देह है कि जिसका सौन्दर्य-माधुर्य ऐसा विलक्षण है वह मेरे-जैसे अकिञ्चन पुरुषसे स्नेह क्यों करेगा? तब व्यासजीने इस शंकाकी निवृत्ति करनेके लिये भगवान्‌की दयालुताको प्रकट करनेवाला यह श्लोक उन बालकोंको पढ़ाया और पूर्ववत् उन्हें श्रीशुकदेवजीके पास जाकर इसे गानेका आदेश किया।

अहो बकीयं स्तनकालकूटं
जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ॥
(भाग० ३।२।२३)

इस श्लोकको सुनकर श्रीशुकदेवजीको आश्वासन हुआ और उन्होंने बालकोंसे पूछा कि तुमने यह श्लोक कहाँसे याद किया है? बालकोंने कहा—'हमारे गुरुदेव श्रीव्यास भगवान्‌ने एक अष्टादश सहस्र श्लोककी महासंहिता रची है। ये श्लोक उसीके हैं।'

यह सुनकर वे भगवान् व्यासदेवके पास आये और उनसे उस महाग्रन्थका अध्ययन किया। अध्ययन करनेमें एक दूसरा हेतु और भी था। 'नित्यं विष्णुजनप्रियः' भगवान् शुकदेवजीको सर्वदा विष्णुभक्तोंका संग प्रिय था। श्रीमद्भागवत वैष्णवोंका परमधन है। अतः इसके कारण उन्हें सदा ही वैष्णवोंका सहवास प्राप्त होता रहेगा—इस लोभसे भी उन्होंने उसका अध्ययन किया।

इससे शौनकजीके प्रश्नका उत्तर हो जाता है। वे हरिगुणाक्षिप्तमति थे, इसीलिये आत्माराम होनेपर भी उन्होंने इस महासंहिताका अध्ययन किया। वस्तुतः भगवान्‌के गुणगण ही ऐसे हैं—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥
(भाग० १।७।१०)

यहाँ 'निर्ग्रन्थाः' इस पदके दो अभिप्राय हैं—(१) 'निर्गता ग्रन्थयो येभ्यस्ते' अर्थात् ब्रह्ममें परिनिष्ठित होनेके कारण जो आत्मानात्मसम्बन्धी ग्रन्थियोंसे मुक्त हो गये हों वे निर्ग्रन्थ हैं। अथवा (२) 'निर्गता ग्रन्था येभ्यस्ते'—परब्रह्ममें परिनिष्ठित होनेके कारण जिनका ग्रन्थावलोकन छूट गया हो। वास्तवमें योगकी सिद्धि तो होती ही उस समय है जिस समय कि शास्त्रोक्त विविध वादोंसे विचलित हुई बुद्धि उन सब विवादोंसे ऊपर उठकर निश्चल भावसे एक तत्त्वमें स्थित हो जाय।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ॥
(गीता २।५३)

जिस समय बुद्धि मोहातीत हो जाती है उस समय वह श्रोतव्य और श्रुतसे भी उपरत हो जाती है; फिर तो एकमात्र ब्रह्मवीथिमें ही उसका विचरण हुआ करता है। श्रीभगवान् कहते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥
(गीता २।५२)

श्रीविद्यारण्य स्वामी तो ऐसी अवस्थामें शास्त्रसंन्यासकी व्यवस्था भी करते हैं—

शास्त्राण्यधीत्य मेधावी अभ्यस्य च पुनः पुनः।
परमं ब्रह्म विज्ञाय उडुपवत्तान्यथोत्सृजेत् ॥

भगवती श्रुति भी कहती है—

तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ।
(मु० उ० २।२।५)

यहाँ यह विरोध प्रतीत होता है कि जब श्रुतिस्मृति और आचार्य सभीका यह मत है कि स्वरूप-साक्षात्कार होनेके पश्चात् शास्त्राभ्यासमें प्रवृत्ति नहीं होती और नहीं होनी चाहिये तो श्रीशुकदेवजीकी ही इस महाग्रन्थके अध्ययनमें कैसे प्रवृत्ति हुई। इसका एकमात्र हेतु, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, यही था कि वे हरिगुणाक्षिप्तमति थे। वे यद्यपि स्वयं उसमें प्रवृत्त नहीं हुए थे तथापि भगवान्‌के गुणोंकी मधुरिमाने उन्हें स्वयं उस ओर खींच लिया था।

वेदान्तसिद्धान्तमें भी यह युक्तियुक्त ही है। इस विषयमें आचार्योंका ऐसा मत है कि जिस समय ब्रह्मज्ञान होता है उस समय आवरण तो नष्ट हो जाता है, किन्तु प्रारब्धभोगोपयोगी विक्षेप तो बना ही रहता है। ब्रह्मज्ञानसे केवल मूलाविद्याका नाश होता है, लेशाविद्या तब भी रह जाती है। उसकी निवृत्ति प्रारब्ध क्षय होनेपर होती है। इसीसे श्रीनारद, सनकादि, शुकदेव और वसिष्ठादि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परमसिद्ध ब्रह्मनिष्ठ महात्माओंकी भी लोकमें नाना प्रकारकी चेष्टाएँ देखी जाती हैं। जिस प्रकार परम ब्रह्मनिष्ठ होनेपर भी श्रीनारदजीको हरिनामसंकीर्तन और सनकादिको हरिगुणगानका व्यसन था उसी प्रकार श्रीशुकदेवजीको भी हरिकथामृतके पानका व्यसन था। जिस प्रकार स्वरूपानुभव हो जानेपर भी प्रारब्धभोगके लिये इन्द्रियोंकी विषयोंमें प्रवृत्ति होती है उसी प्रकार हरिगुणगानमें भी प्रीति हो ही सकती है। वास्तवमें भगवान्‌में आत्माराम-चित्ताकर्षकत्व एक गुण है। उसीसे आकृष्ट होकर भगवान् शुकदेवजीने इस शास्त्रका अध्ययन किया था।

इससे सिद्ध हुआ कि ऐसे पूर्ण परब्रह्ममें परिनिष्ठित महामुनि शुकदेवजीकी इस कारणसे इस भागवत-शास्त्रके अध्ययनमें प्रवृत्ति हुई तथा इसके वर्णनमें इसलिये प्रवृत्ति हुई कि जिससे विष्णुजन स्वयं ही आकर उन्हें मिल जाया करें। इस भागवतशास्त्रमें भगवान्‌का दिव्यातिदिव्य रहस्य निहित है; अतः जिस प्रकार वशीकरणमन्त्रसे लोगोंको अपने अधीन कर लिया जाता है उसी प्रकार इस परम मन्त्रके कारण भक्तजन स्वयं ही आकृष्ट हो जाते हैं। इसके सिवा भगवान्‌के गुण, चरित्र और स्वरूपकी माधुरी स्वयं भी ऐसी मोहिनी है कि बड़े-बड़े सिद्ध मुनीन्द्र भी उनके कीर्तनमें प्रवृत्त हो जाया करते हैं। भाष्यकार भगवान् शंकराचार्यने नृसिंहतापिनीय उपनिषद्‌के भाष्यमें कहा है—

'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा तं भजन्ते'

अर्थात् मुक्तजन भी लीलासे देह धारण कर भगवान्‌का गुणगान किया करते हैं। यही बात सनकादिके विषयमें भी कही जा सकती है।

जिस समय महाराज परीक्षित गंगातटपर आकर बैठे उस समय बहुत-से ऋषि, मुनि, सिद्ध एवं योगीन्द्रगण उनके पास आये। उन सबसे उन्होंने यही प्रश्न किया कि 'भगवन्! मैं मरणासन्न हूँ; अतः मुमूर्षु पुरुषके लिये जो एकमात्र कर्तव्य हो वह मुझे बतलाइये।' इस विषयमें उस मुनीन्द्रमण्डलीमें विचार हो रहा था; भिन्न-भिन्न महानुभाव अपने भिन्न-भिन्न मत प्रकट कर रहे थे; अभी कुछ निश्चय नहीं हो पाया था कि इतनेहीमें शुकदेवजी आ गये। उनसे भी यही प्रश्न हुआ। राजाने पूछा, 'भगवन्! अब मेरी मृत्युमें केवल सात दिन शेष हैं; अतः कोई ऐसा कृत्य बतलाइये जिसके करनेसे मैं धीरोंकी प्राप्तव्य गतिको प्राप्त कर सकूँ।'

तब श्रीशुकदेवजी बोले, 'राजन्! अन्य अनात्मज्ञ लोगोंके लिये तो सहस्रों साधन हैं, परन्तु भक्तोंके लिये तो एकमात्र श्रीहरिश्रवण ही परमावलम्ब है।' इसके तीन भेद हैं—श्रीहरिका स्वरूपश्रवण, गुणश्रवण और नामश्रवण। इसी प्रकार श्रीहरिकीर्तन भी तीन प्रकारका है—स्वरूपकीर्तन, गुणकीर्तन और नामकीर्तन। उपनिषदादिसे भगवान्‌का स्वरूपकीर्तन होता है, इतिहास-पुराणादिसे गुणकीर्तन होता है और विष्णुसहस्रनामादिसे नामकीर्तन होता है। कर्मकाण्ड भी भगवान्‌का ही स्वरूप है—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।

कर्म ही क्या, यह सारा प्रपञ्च एकमात्र भगवान् ही तो है; भूत, भविष्यत्, वर्तमान जो कुछ है भगवान्‌से भिन्न नहीं है—

पुरुष एवेदꣳ सर्वं यत्किञ्च भूतं यच्च भाव्यम्।

श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण सबके आदि, अन्त और मध्यमें श्रीहरिका ही कीर्तन किया गया है—

वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा।
आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते॥
(अनुस्मृतेः)

इस प्रकार श्रीशुकदेवजीने भगवच्छ्रवण ही उस समय मुख्य कर्त्तव्य बतलाया और इसीके लिये श्रीमद्भागवत श्रवण कराया। श्रीमद्भागवतमें दस प्रकारसे भगवान्‌का कीर्तन किया गया है—

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतयः।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रयः॥

सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय। इनमें भी दशमकी विशुद्धिके लिये ही शेष नौका कीर्तन किया गया है—

दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिह लक्षणम्।

इसका तात्पर्य यही है कि दशम स्कन्धमें जो दशम तत्त्वका निरूपण किया गया है उसकी विशुद्धिके लिये ही उससे पूर्ववर्ती नौ स्कन्ध हैं।

वह दशम तत्त्व आश्रय है। श्रीमद्भागवतमें आश्रयका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आभासश्च निरोधश्च यतश्चाध्यवसीयते ।
स आश्रयः परब्रह्म भगवच्छब्दसंज्ञितः ॥

यहाँ 'आभास' और 'निरोध' इन दो शब्दोंसे ही उपर्युक्त नौ तत्त्वोंका निरूपण किया है। अतः 'निरोध' शब्दसे यहाँ मुक्ति अभिप्रेत है। आभास अध्यारोपको कहते हैं और निरोध अपवादको। इन अध्यारोप और अपवादके द्वारा ही उनके अधिष्ठानभूत निष्प्रपञ्च ब्रह्मतत्त्वका वर्णन किया जाता है।

अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते ।

अध्यारोपके द्वारा ब्रह्मको निखिल प्रपञ्चका चरम कारण मानकर उससे सृष्टिका क्रम बतलाया जाता है और अपवादके द्वारा दृश्यमात्रका अनात्मत्व प्रतिपादन करते हुए साक्षी चेतनका शोधन किया जाता है। इसी क्रमसे शुद्ध परब्रह्म लक्षित हो सकता है। जीवको स्वभावतः तो शुद्धतत्त्वका बोध है नहीं; अतः इस दृश्य प्रपञ्चके कारणके अन्वेषणपूर्वक ही उसका बोध कराया जाता है। इसीसे मातृपितृशतादपिहितैषिणी भगवती श्रुतिने भी यही कहा है—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत ॥

—इत्यादि। इस प्रकार ब्रह्मको प्रपञ्चका कारण प्रतिपादन करनेमें श्रुतिका केवल यही तात्पर्य है कि जिसमें लोग परमाणु, प्रकृति आदि जड वस्तुओंको इसका कारण न मान लें।

इसमें यह शङ्का हो सकती है कि दृश्य तो असत्, जड एवं दुःखस्वरूप है; उसका कारण सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म कैसे हो सकता है? कार्यमें सर्वदा कारणके गुणोंकी अनुवृत्ति हुआ करती है। कारण और कार्यकी विजातीयता प्रायः देखनेमें नहीं आती। इसका समाधान यह है कि यद्यपि मुख्यतया तो यही नियम देखा जाता है, परन्तु कहीं-कहीं इसमें विषमता भी होती देखी गयी है। देखो, जड गोबरसे बिच्छू आदि चेतन जीव उत्पन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार चेतन ब्रह्मसे जड प्रपञ्चकी उत्पत्ति भी सम्भव हो ही सकती है।

इस प्रकार यद्यपि आरम्भमें तो ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्तिका ही प्रतिपादन किया जाता है तथापि अन्ततः सिद्धान्त तो यही है कि प्रपञ्चकी उत्पत्ति ही नहीं हुई। इसलिये यह जो कुछ प्रतीत होता है बिना हुआ ही दिखायी देता है। इसीसे यह अनिर्वचनीय है। अतः आभास और निरोध—आरोप और अपवाद अर्थात् बन्ध और मोक्ष अज्ञानजनित ही हैं—

अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ
द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात् ।
अजस्रचिन्त्यात्मनि केवले परे
विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ॥

श्रुति कहती है—

न प्रेत्य संज्ञास्तीत्यविनाशी वारेऽयमात्मानुच्छित्तिधर्मा ।

यहाँ 'प्रेत्य' का अर्थ है 'मरना'। जिस समय तत्त्वज्ञ देहेन्द्रियाद्याकारमें परिणत भूतोंसे उत्थान करता है उस समय वह मानो मर जाता है। फिर उसका कोई नाम-रूप नहीं रहता। जैसे नमकका डला समुद्रका जल ही है। वह वायु आदिके संयोगसे लवणखण्डके रूपमें परिणत हो गया है। उसे यदि समुद्रमें डाल दिया जाय तो वह फिर उपाधिके संसर्गसे शून्य होकर समुद्ररूप ही हो जायगा। उसी प्रकार अन्नमयादि कोशोंमें परिणत जो उपाधि है उससे सम्बन्ध छूट जानेपर आत्मा अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित हो जाता है।

मोक्ष क्या है? श्रीमद्भागवत कहता है—

मुक्तिर्हित्वान्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः ।

अर्थात् आत्मा जो देहेन्द्रियादिरूप उपाधिके तादात्म्याध्याससे कर्तृत्व-भोक्तृत्वादि अनेकानर्थयुक्त-सा प्रतीत होता है, उसका सब प्रकारके सजातीय-विजातीय और स्वगतभेदोंको छोड़कर अपने शुद्धस्वरूपमें स्थित होना ही मुक्ति है। वैष्णवाचार्य कहते हैं कि जीव ब्रह्मका नित्यदास है; अतः भगवद्विप्रयोगको छोड़कर उसका भगवत्सान्निध्यमें स्थित होना ही मुक्ति है। तथा जो मधुर-भाववाले हैं वे ऐसा मानते हैं कि जीव जो प्राकृत स्त्री-पुरुषादि भावोंको प्राप्त हो गया है, उसका इनसे छूटकर गोपीभावमें स्थित होना ही मुक्ति है।

जीव सत्य भी है और मिथ्या भी। ऐसा होनेपर ही उसमें बन्ध और मोक्षकी भी सिद्धि हो सकती है। जीव स्वरूपसे तो नित्य है, किन्तु अन्तःकरणादि विशेषणविशिष्ट होनेके कारण अनित्य भी है, जिस प्रकार घटाकाश

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आकाशरूपसे तो नित्य है किन्तु घटरूप विशेषणके नाशवान् होनेके कारण अनित्य भी है, क्योंकि विशेषणके अभावसे भी विशिष्टका अभाव माना जाता है। विशिष्ट वस्तुका अभाव तीन प्रकारसे माना गया है—(१) विशेषणाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव, (२) विशेष्याभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव और (३) उभयाभावप्रयुक्त विशिष्टाभाव; अर्थात् विशेषण, विशेष्य और उन दोनोंके कारण होनेवाला अभाव; जिस प्रकार दण्डी पुरुषका अभाव दण्डाभाव, पुरुषाभाव अथवा इन दोनोंका ही अभाव होनेपर भी माना जाता है। जिस तरह घटाकाशका परिच्छिन्नत्व घटरूप उपाधिके ही कारण है, उसी प्रकार उपाधिसंसर्गके कारण ही पूर्ण परब्रह्ममें जीवभाव है। भगवान् भाष्यकार कहते हैं—

एकमपि सन्तमात्मानमनेकमिव अकर्तारं सन्तं कर्तारमिव अभोक्तारं सन्तं भोक्तारमिव मन्यन्ते इत्येव जीवस्य जीवत्वम्।

अतः उपाधिके मिथ्यात्वके कारण जीवत्व भी मिथ्या है और उपाधिके सम्बन्धसे वह सत्य भी है। यह अवच्छेदवादकी प्रक्रिया है।

इस प्रकार आभास और निरोध दोनों ही मिथ्या हैं तथा ये दोनों जिसमें अधिष्ठित होनेसे सिद्ध होते हैं वह परब्रह्म ही आश्रय नामक दसवाँ तत्त्व है। इसका दशम स्कन्धमें निरूपण किया गया है। 'दशमे दशमो हरिः' पहले नौ स्कन्ध इसीकी परिशुद्धिके लिये हैं। दशम स्कन्धके आदि, अन्त और मध्यमें बहुत-सी ऐश्वर्यपूर्ण घटनाओंका वर्णन किया गया है। जिस प्रकार एक सुधासिन्धुमें नाना प्रकारके तरङ्गोंका प्रादुर्भाव होता है उसी प्रकार दशम स्कन्धमें जितनी लीलाओंका प्रादुर्भाव हुआ है वे सब भगवान्‌की नित्य लीलाकी ही अभिव्यक्तिमात्र हैं। अतः भगवल्लीलासम्बन्धी जितना विषय है वह सब भगवद्रूप ही है।

आचार्योंका ऐसा मत है कि सम्पूर्ण भागवतमें दशम स्कन्ध सार है, उसका भी सारातिसार रासपञ्चाध्यायी है। सम्पूर्ण शास्त्र भगवान्‌के वाङ्मय विग्रह हैं; भिन्न-भिन्न शास्त्र उस वाङ्मय भगवद्विग्रहके ही स्वरूप हैं। उनमें श्रीमद्भागवत भगवान्‌का सविशेष-निर्विशेष सम्मिलित स्वरूप है। उसमें सर्ग-विसर्गादि दसों तत्त्वोंका सांगोपांग वर्णन है। किन्तु दशम स्कन्धमें केवल आश्रय नामक दशम तत्त्वका ही वर्णन है। अतः दशम स्कन्ध मानो आश्रय नामक दशम तत्त्वका ही वाङ्मय विग्रह है तथा उसमें जो रासपञ्चाध्यायी है वह उसका प्राण है। इस रासपञ्चाध्यायीके अनेक प्रकार अर्थ किये जाते हैं। आचार्यगण जो एक ही वाक्यकी अनेक प्रकार व्याख्या किया करते हैं उसमें उनका यही तात्पर्य होता है कि किसी-न-किसी प्रकार जीवोंका भगवान्‌में प्रेम हो। देवर्षि नारदको संक्षेपमें श्रीमद्भागवतका उपदेश करके उनसे भी ब्रह्माजीने यही कहा था कि—

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति।
सर्वात्मन्यखिलाधारे इति सङ्कल्प्य वर्णय॥

श्रीमद्भागवतमें यद्यपि शुद्ध निर्विशेष सच्चिदानन्दघन तत्त्व ही वर्णित है तथापि यह आग्रह भी उचित नहीं है कि उसमें द्वैतका वर्णन है ही नहीं, और न निर्गुणवादियोंका यह कथन ही उचित है कि उसमें सगुणवाद नहीं है। भागवतमें प्रेमविघातक वेदान्त नहीं है। इसमें तो भक्ति, विरक्ति और भगवत्प्रबोध तीनोंहीका वर्णन है। (क्रमशः)

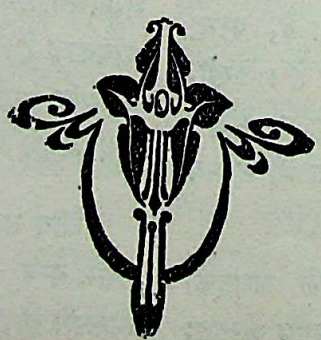

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

महापुरुष कौन है ?

(लेखक—श्रीयुत परिपूर्णानन्दजी वर्मा)

स प्रकार हमारे समाजमें अनेक दोष आ गये हैं उसी प्रकार भाषाका, भावका और शब्दोंका हनन भी बुरी प्रकारसे हो रहा है। वास्तवमें हम सरस्वतीके साथ नित्यप्रति बड़ा अन्याय कर रहे हैं और उसका फल भी हमें हाथोंहाथ मिल रहा है।

उसी अन्यायमेंसे एक है आये दिन हरेकको 'महात्मा', 'महापुरुष', 'ऋषि', 'साधु' इत्यादि कहकर विभूषित करते रहना। आज 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' की बात हम भूल गये हैं और 'मुनि' की व्याख्या भी याद न रही अतः जिसपर जरा भी आस्था हुई, श्रद्धा जमी, उसे तुरत ऐसा ही कुछ कह बैठे ! पर, यह भाषाके साथ अनाचार नहीं तो क्या है ?

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि महापुरुषकी क्या व्याख्या होनी चाहिये। उसमें ऐसी कौन-सी बात होती है जो उसे महापुरुष बना देती है ? इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि साधारणतः अधिक-से-अधिक पुरुष-स्त्रियोंके लिये जो महापुरुष हो पर स्वतः अपनेको जो महापुरुष समझे जानेसे घृणा करता हो, उसे ही महापुरुष कह सकते हैं। तपस्या, आत्मोत्सर्ग, धर्म-धुरीणता, वैराग्य, निर्लोभत्व—यह गुण भी आदमीको महापुरुष बनानेमें बहुत सहायक होते हैं। पर क्या ये बातें मानवधर्मकी—कर्तव्य-पालनकी साधारण सीमामें नहीं आ जातीं ? तब फिर महापुरुष किसको कहें ?

इस देशमें कर्तव्य-मीमांसकोंकी कमी नहीं। 'महाजन' या 'महात्माओं' की अधिकता इस देशका 'व्यवसाय' या 'प्रमाणित परम्परा' समझकर ही हमारे 'मन्त्र-द्रष्टा' ऋषियोंने, योगीश्वर-तपस्वियोंने, कर्मकाण्डियोंने अथवा सभी प्राचीन आचार्य और मुनीश्वरोंने—अर्थात् 'मननात् मुनयः' मुनियोंने इस महावाक्यका मर्म अनेक प्रकारसे समझाया है—

महापुरुष कौन है ?

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति ।

जो सबको अपने ही समान देखता है, वही यथार्थ देखता है और इस प्रकार यथार्थ देखनेवाला ही महापुरुष है।

'आत्मवत्' देखनेकी सलाह यों ही प्रसंगवश नहीं दे दी गयी है। इसका तो मूल उद्रेक ही इस सिद्धान्तसे हुआ है कि—

एकः शुद्धाक्षरो नित्यः सर्वव्यापी पुरातनः ।
सोऽप्यंशः सर्वभूतस्थ मैत्रेय परमात्मनः ॥३५॥

विष्णुपुराणके छठे अंशमें पराशर ऋषिके इस कथनका बड़ा सुन्दर अर्थ है। वे कहते हैं कि पुरुष एक है, शुद्ध है, अक्षर है, नित्य है, सर्वव्यापी है और यही सर्वभूतमय परमात्माका अंश है। और अन्तमें यह भी लिख दिया है कि प्रकृति और पुरुष दोनों ही परमात्मामें विलीन हो जाते हैं।

इस विषयमें इतना लिख देनेसे ही यह प्रकट हो जायगा कि जब सब पुरुष एक ही सत्तासे उद्भूत हैं तथा एक ही रूप होकर अन्तमें तल्लीन हो जानेवाले हैं तब 'आत्मवत्' का सिद्धान्त ही सर्वोच्च सिद्धान्त है, इसीसे इस जगत्का समूचा दुःख दूर होगा पर यहाँ फिर प्रश्न हो सकता है कि जब प्रकृति-पुरुष एक ही सूत्रसे निकले हैं, पुरुष-पुरुष एक हैं। फिर आपसमें इतना भेद क्यों है ? सृष्टिकर्ताने इसकी व्यवस्था क्यों नहीं की ? इसका तो सबसे सुन्दर उत्तर, जो मैंने पढ़ा है वह यह है कि—

जन्मादिव्यवस्थातः पुरुषबहुत्वम् ।
(सांख्यसूत्र १ । १४९)

पुरुषबहुत्वं व्यवस्थातः । (सांख्यसूत्र ६ । ४५)

अर्थात् पुरुषोंकी अनेकता न माननेसे जन्मादिकी व्यवस्था ठीक न हो सकेगी। सांख्य तथा सांख्यकारिका दोनों ही यह मानते हैं कि पुरुष अनेक हैं, जन्म आदिकी व्यवस्थाके लिये। हम इस सिद्धान्तका खण्डन-मण्डन न कर अपना काम चलानेके लिये यही तत्त्व निकाल लेते हैं कि यह सृष्टि यदि—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय इति ।

'उसने अनेक होनेकी इच्छा की'—इसलिये बनी हो तो पुरुषोंका अनेक होना इस 'क्रीड़ाकी व्यवस्था'को ठीक करनेके लिये है। ईश्वरमें अनेक होनेकी इच्छाका होना भी एक लीला है। स्वतः परब्रह्म किसी प्रकारकी इच्छा नहीं करता है। उसके लिये 'बहु स्याम्' तथा 'एकम्'—दोनों समान हैं। आत्मवत् हैं। अतः 'आत्मवत्' वाला महापुरुष परब्रह्मकी पदवी पा सकता है। इसीलिये वही 'महाजन' है—और उसीका रास्ता—'येन गतः स पन्थाः'—चलने योग्य रास्ता है।

समदर्शी

इसी 'महापुरुष' के लिये श्रीमद्भगवद्गीताने लिखा है—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥
(६ । २९)

अर्थात् योगयुक्तात्मा पुरुष समदर्शी हो जाता है। वह सब भूतोंमें अपने आत्माको स्थित और आत्मामें सब भूतोंको स्थित देखता है। यही ज्ञान सबसे बड़ा ज्ञान है। यही ज्ञान संसारमें बड़ी चीज़ है। इसी ज्ञानके लिये सांख्यसूत्रका प्रवचन है—'ज्ञानान्मुक्तिः'—(३।२३)। गीताने भी किस जोरके साथ लिखा है—

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥
(४ । ३७)

अर्थात् जैसे प्रज्वलित अग्नि लकड़ियोंको भस्म कर देती है उसी प्रकार ज्ञानाग्नि समूचे कर्मको।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।
(४ । ३३)

हे अर्जुन ! सब कर्म ज्ञानमें समाप्त हो जाते हैं। इस ज्ञानके फलस्वरूप अहंभाव नष्ट हो जानेपर होनेवाले कर्म फिर कर्म नहीं कहलाते। यही कर्मोंका भस्म हो जाना है।

वह ज्ञान क्या है। इसे भी श्रीकृष्ण इस प्रकार समझाते हैं—

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।

'जिससे सब जीवोंकी—जगत्की उत्पत्ति हुई और जिससे सब व्याप्त है।' उसको जान लेना ही ज्ञान है। तैत्तिरीय उपनिषद्ने इसी बातको इन सुन्दर शब्दोंमें इस प्रकार लिखा है—

तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।
(२ । ६ । १)

यानी उसको रचकर भगवान् स्वयं उसमें प्रविष्ट हो गये। अर्थात् सब कुछ एकसे ही हुआ है, एक है और इस एकको समझनेके लिये हरेकको 'आत्मवत्' देखना चाहिये। ब्रह्मबिन्दु उपनिषद्में यह बात शायद और भी सुन्दररूपसे कही गयी है—

एक एवहि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥१२॥
सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षु-
र्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा
न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥
(कठ० २।२।११)

अर्थात् एक ही भूतात्मा भूत-भूतमें विराजमान है। जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा जलमें अनेक दीखता है उसी प्रकार यह एक आत्मा भी।

जैसे सूर्य सारे जगत्का नेत्र होता हुआ भी चक्षुके बाहरी दोषोंसे अलिप्त है, उसी प्रकार एक ही आत्मा सब जीवोंका अन्तरात्मा होता हुआ भी लोकके बाहरी दुःखोंसे अलिप्त है।

माण्डूक्यकारिकाने इसी बातको इन शब्दोंमें लिखा है—

मायया भिद्यते ह्येतद् नान्यथायं कथञ्चन ।

अर्थात् मायाके कारण ही जीव बाहरसे अलग-अलग दिखायी देता है। छान्दोग्य उपनिषद्ने इसी आत्माके लिये ही लिखा है कि वह—

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः
(३ । १४ । २)

—है और कठोपनिषद्ने भी इसी बातको इस प्रकार दुहराया है—

'अणोरणीयान् महतो महीयान्' (१ । २ । २०)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यानी यह छोटेसे भी छोटा तथा बड़ेसे भी बड़ा है। तृसिंहतापिनीने जिस बातको 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' (७) या ऐतरेय 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्' (१) आदि कथनोंसे समझानेका प्रयास करता है, उसी बातको श्रीशङ्कराचार्यने केवल एक ही श्लोकमें समझा दिया है—

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः॥

अस्तु, यही महान् ज्ञान है जिसका जानना ही सर्व-प्रधान वस्तु है। क्योंकि—

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
(ईश० ७)

अद्वैत दृष्टिवालेको मोह और शोक रह ही नहीं जावेगा।

ज्ञान-प्राप्तिका मार्ग

अस्तु, ज्ञान-प्राप्तिसे ही यह 'अद्वैत' दृष्टि आती है। पर ज्ञान कैसे प्राप्त होता है ? योगसे। ज्ञानसे मुक्ति होती है। मुक्तिका साधन क्या है ? योग। योग क्या वस्तु है, इसको पतञ्जलिने अपने योगसूत्रमें शुरूमें ही लिख दिया है—

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

'चित्त-वृत्तियोंका निरोध ही योग है।' यह निरोध किस प्रकार हो, इसके विषयमें गीताके छठे अध्यायका श्लोक है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥२६॥

'जिधर-जिधर यह चञ्चल तथा अस्थिर मन जावे उधर-उधरसे उसका निरोधकर आत्मामें लगावे।' श्रीकृष्ण यह भी कहते हैं—

मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः॥
(गीता ६। १४)

'मनका संयमकर मेरेमें चित्त लगावे तथा मेरे परायण हो रहे।'

किन्तु, जब प्रत्येक बात चित्तकी स्थिरतापर निर्भर करती है, तो चित्तको ही किस प्रकार नियन्त्रित किया जावे ? महर्षि पतञ्जलि इसका उपाय बतलाते हैं—'वीतराग-विषयं वा चित्तम्' (१। ३७) यानी वीतराग पुरुषोंका ध्यान करनेसे भी चित्त स्थिर हो जाता है। कितना सुन्दर ध्यान है 'वीतराग' का ! जिनको राग-द्वेष ही नहीं। राग-द्वेष-रहित पुरुष ही महापुरुष है। चित्तवृत्ति उसीकी निरुद्ध है। क्योंकि चित्तकी शान्ति भी तो उसीको प्राप्त है और यह शान्ति तो पतञ्जलिके अनुसार—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ (१। ३३)

'सुखी-दुःखी, पुण्यात्मा और पापीके विषयमें मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षाके भावसे चित्तको शान्ति होती है!'

जिसका चित्त शान्त है, वृत्तियाँ निरुद्ध हैं, वही महात्मा है, महाजन है, महापुरुष है, वीतराग है। उसने सबसे पहला काम यह किया है कि 'ज्ञान' प्राप्त किया है। यह ज्ञान और कुछ नहीं आत्मज्ञान है, 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का ज्ञान है। श्रुतिवाक्य है—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' यानी बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं हो सकती। और जब यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है—

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(गीता ४। ३९)

ज्ञानको प्राप्तकर मनुष्य परम शान्तिको प्राप्त करता है। बस यही महामन्त्र है। समदर्शिताका यही सिद्धान्त है। उसका यही आधार है और समदर्शिताका यह गुण ही महापुरुषोंकी महान् उपलब्धि है जो आत्मज्ञानके साथ प्राप्त होती है और हम ऐसे ही महापुरुषोंके चरणोंमें सिर नवाते हैं।

हमारे 'साधु'

ऐसे ही महापुरुषोंको हम 'साधु' कहते हैं। इन्हींके लिये बाबा कबीरदासने लिखा है—

साधु बड़े परमारथी, घन ज्यों बरसै आय।
तपन बुझावै औरकी, अपनो पारस लाय॥
साधू भूखा भावका, धनका भूखा नाहिं।
धनका भूखा जो फिरै, सो तो साधू नाहिं॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ऐसे ही महापुरुषोंके लिये रहीम ख़ानख़ानाका वचन है—

दीन सबनको लखत है, दीनहिं लखहि न कोय ।
जो रहीम दीनहिं लखै दीनबन्धु सम होय ॥

'दीनबन्धु' के समान ऐसे ही महापुरुषोंके लिये गोस्वामी तुलसीदासजीने लिखा है—

बंदौं संत समान चित, हित अनहित नहिं कोय ।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि, सम सुगंध कर दोय ॥

महापुरुष ही तो 'संत' हैं न ! इन्हीं संतोंके विषयमें कितना उपयुक्त श्लोक है—

सत्सङ्गान्नवति हि साधुता खलानां
साधूनां न हि खलसङ्गमात्खलत्वम् ।
आमोदं कुसुमभवं मृदेव धत्ते
मृद्गन्धं न हि कुसुमानि धारयन्ति ॥

'साधुके संसर्गसे खल साधुता पाता है, परन्तु खलके साथसे साधु दुष्ट नहीं हो जाता । जैसे मिट्टीमें फूलकी महँक आ जाती है पर फूलमें मिट्टीकी नहीं ।'

'साधु' संसारसे नीरस है, सांसारिक ममतासे परे है, पर इसके साथ ही वह अपनेद्वारा दूसरोंका लाभ भी करना चाहता है । इसलिये वह कपासके नीरस फूलकी तरह है जो जन्मतः गुणमय है, यानी औरोंको ढँकनेके लिये रुई पैदा करते हैं—

नीरसान्यपि रोचन्ते कार्पासस्य फलानि मे ।
येषां गुणमयं जन्म परेषां गुह्यगुप्तये ॥

राजर्षि भर्तृहरिने महापुरुषकी कैसी व्यावहारिक व्याख्या की है—

वाञ्छा सज्जनसङ्गमे परगुणे प्रीतिर्गुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषिति रतिर्लोकापवादाद्भयम् ।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले
येष्वेते निवसन्ति निर्मलगुणाः तेभ्यो नरेभ्यो नमः॥

भर्तृहरिने महापुरुषोंकी महत्ताको कितने अच्छे ढंगसे समझा दिया है कि—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु
.....
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

महापुरुषत्वकी शर्तें

महापुरुषके लिये किताबी व्यसन होना, या किताबी विद्यामें महापण्डित होना ज़रूरी नहीं है । मौलाना रूम अपनी मसनवीमें लिखते हैं—

अक्ल दो अक्लस्त औवल मक्सबी,
की तु आमोज़ी चुँ दर मकतब सबी ।
अज़ किताब ओ ओसताद ओ फिक्र ओ ज़िक्र,
अज़ मुआनी ये ऊलूमें खूब ओ विक्र ।
अक्ले दीगर बख्शिशें यज़ दाँ वूअद,
चश्मये आँ अन्दरूने जाँ वुअद ।
चूँ ज़ सीना आबेदानिश जोशकर्द,
नैशवद गदा न देरीना न ज़र्द ।
दर्द रू ने हख्वेशतनज़ू चनमारा,
तारे ही अज़ मिन्नतेहर ना सज़ा ॥

सारांश है कि बुद्धि दो प्रकारसे हासिल की जाती है । एक तो किताबी होती है जो किताबोंसे, स्कूलमें पढ़नेसे, उस्तादसे, ज़रूरत पड़नेसे, ज़िक्रसे, अच्छे या बुरे इल्मोंसे, लुग़तसे, देखने आदिसे हासिल होती है । दूसरी बुद्धि खुद परमात्मा देता है । यह स्वयंप्रज्ञा होती है । तुम्हारे दिलके भीतर एक चश्मा (झरना) है जो मनके ऊपरसे फूट निकलनेकी कोशिश करता है । और गढ़ोंके पानी तो पड़े रहनेसे गंदे हो जाते हैं पर यह जल हमेशा स्वच्छ रहता है । स्कूली-किताबी पढ़ायी छोड़कर दिलका सोता निकालो । तुम सबकी आवभगतसे छुट्टी पाकर सबके ऊपर हो जाओगे ।

इसी बातको, इसी विचारको श्रीशङ्कराचार्यने भी प्रकट किया है—

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम् ।

मान लीजिये कि महापण्डित होना भी बड़ी भारी बात है । पर यह तो अधूरी बात न हुई । उसे अमलमें भी तो लाना चाहिये । शेख सादीने इसी बातको लिखा है—

इल्म चन्दाँ कि बेशतर ख्वानी
चूँ अमलदर तु नेस्त नादानी ।
न मुहक्किक बुअद न दानिशमन्द,
चारपाये बरो किताबे चन्द ।

सब पढ़-लिखकर अगर अमल नहीं करते, नादान ही तो विद्या किस कामकी ? वह तो उसी प्रकार हुआ जैसे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गधेपर किताबोंकी गठरीका बोझ लाद दिया। एक दूसरे शायर साहब फ़र्माते हैं—

किसी वक्त मकतबे अक़्लमें, बहुत इल्म हमने भी था पढ़ा।
कि हरेकसे हुज्जत और बहस थी, सो उस इल्मका ये कमाल था॥
गया जब मदरसाये इश्कमें, तो फिर आगे यार कहूँ मैं क्या।
कि किताब अक़्लके ताकपर, जो धरी थी यों ही धरी रही॥

यहाँ इश्कसे तात्पर्य है ईश्वर-प्रेमसे। कितने ऊँचे दर्जेके ख़यालात हैं ? इन महापुरुषोंकी महत्त्वाकांक्षा भी अद्भुत होती है। अपने खम्सये मामकीमामें हज़रते 'वासिल' ने क्या कमाल किया है—ग़ौर फ़रमाइये—

हेच गाहे न ग़म फ़ग़ाँ दारद, ज़िक्रे खल्लाक़ हर ज़मा दारद।
ज़ुल्फ़ रा हम चुँ मेहरबाँ दारद, हर कि इश्के तु रा वज़ा दारद॥

मुल्के आफ़ाक़रा मग़ाँ दारद।
पके अज़ सालिकान ओ दींदारस्त।
अज़ रहे रास्ती ख़बरदारस्त।
नेक किरदार ओ नेक अतवारस्त।
सूफ़िये याँ अजब सुबुक़, सा रस्त।
कि ब इश्क तु सरगिराँ दारद।

डा० अम्बिकाप्रसाद 'वासिल' की ये पंक्तियाँ मुझे बहुत ही पसंद आयीं। इनका भावार्थ कितना मार्मिक है! भावार्थ है—'तुझे किसी बातका ग़म नहीं है। तू सदैव ईश्वरका ज़िक्र किया करता है। तू सबका मित्र है। हमेशा अपनी जानकी तरह प्राणिमात्रको देखता है। तू संतोंमेंसे एक है। सत्यके मार्गसे विज्ञ है। नेक कर्म करता है। नेक चाल-चलनवाला है। तू ऐसा वेदान्ती है, शान्त है। ऐसे वेदान्तीका सर, 'उसके' प्रेममें ऊँचा रहता है।'

स्मृतियोंकी व्याख्या

हमारी स्मृतियोंमें भी महापुरुषोंकी बड़ी ऊँचे दर्जेकी व्याख्या की गयी है। मनु भगवान् लिखते हैं—

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वराज्यमधिगच्छति॥
(मनु० १२।९१)

सारांश यह है कि सब भूतोंमें अपनेको तथा अपनेमें सब भूतोंको देखनेवाला ब्रह्मत्वको प्राप्त करता है। 'समदर्शी' निवृत्तिभावसे यदि कर्म करता है तो मोक्षको प्राप्त करता है—

निवृत्तं सेवमानस्तु भूतान्यत्येति पञ्च वै॥
(मनु० १२।९०)

बुद्धिमानोंके पालनार्थ अत्रिऋषिने अपनी स्मृतिमें दस बातोंको बतलाकर उन्हें 'यम' कहा है। वे बाते हैं—

आनृशंस्यं क्षमा सत्यं अहिंसा दानमार्जवम्।
प्रीतिः प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश॥४८॥

हारीतस्मृतिके सप्तम अध्यायके तीन श्लोक बड़े महत्त्वपूर्ण हैं—

यथा रथोऽश्वहीनस्तु यथाश्वो रथहीनकः।
एवं तपश्च विद्या च संयुतं भेषजं भवेत्॥९॥
यथान्नं मधुसंयुक्तं मधु वान्नेन संयुतम्।
उभाभ्यामपि पक्षाभ्यां यथा खे पक्षिणां गतिः॥१०॥
तथैव ज्ञानकर्मभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम्।
विद्यातपोभ्यां संपन्नो ब्राह्मणो योगतत्परः॥११॥

'जिस प्रकार बिना घोड़ेके रथ और सारथीके बिना घोड़ा नहीं चल सकता उसी प्रकार विद्या भी बिना तपस्याकी सहायताके किसी कामकी नहीं है। विद्या (ज्ञान) तथा तप यह दोनों संसाररोगकी ओषधि हैं। जिस तरह मीठेसे युक्त अन्न और अन्नसे युक्त मीठा और जैसे दोनों ही पंख आकाशमें पक्षियोंकी गति हैं उसी प्रकार योगमें तत्पर तथा ज्ञान और कर्मसे युक्त ब्राह्मण ज्ञान और कर्म दोनोंके ही द्वारा सनातन ब्रह्मको प्राप्त करता है।'

महापुरुषके लिये इससे बढ़कर स्पष्ट और क्या बात हो सकती है। हारीतके अतिरिक्त बृहस्पति, पाराशर, शंख, शतताप, व्यास आदि ऋषियोंने महापुरुषोंके योग्य कर्तव्योंका विशद विवेचन किया है। महाभारतके शान्तिपर्वमें सत्त्वगुणके जो लक्षण बतलाये गये हैं, मेरी समझमें महापुरुषोंकी व्याख्याके लिये उनकी सभी बातें लागू होती हैं।

अर्थ स्पष्ट है, इसलिये मूल श्लोक ही दे देता हूँ—

सत्त्वमानन्द उद्रेकः प्रीतिः प्राकाम्यमेव च।
सुखं शुद्धत्वमारोग्यं सन्तोषः श्रद्दधानता॥
अकार्पण्यमसंरम्भः क्षमा धृतिरहिंसता।
समता सत्यमानृण्यमार्जवं ह्रीरचापलम्॥
शौचं मार्दवमाचारमलौल्यं ह्यसंभ्रमः।
इष्टानिष्टवियोगानां कृतानामविकत्थनम्॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दानेन चात्मग्रहणमस्पृहत्वं परार्थता ।
सर्वभूतहितं चैव सत्त्वस्यैते गुणाः स्मृताः ॥

मार्कण्डेयपुराणमें कहा है—'यदि हमारे लिये यह अनिवार्य है कि साकार तथा लौकिक वस्तुओंमें अपनी अनुरक्ति नहीं छोड़ सकते तो आइये हम गुणी तथा प्रज्ञमें अनुराग रक्खें। इस जगत्‌की व्याधिके लिये वही रामबाण ओषधि हैं। यदि हम इच्छाओं और कामनाओंसे मुक्त नहीं हो सकते तो यह इच्छा करें कि हम इस कष्टमय दुनियाकी मुसीबतोंको मिटावें। यदि हमारे लिये यह जरूरी है कि किसी खास चीज़से प्रेम करें तो आओ, अपने दिलसे हरिपदमें ध्यान लगावें। यदि हमारे लिये जरूरी है कि किसी-न-किसी चीज़से घृणा करें तो आओ, समूचे पापोंसे नफरत करें।

अंग्रेज़ पण्डितोंका मत

पुराण या स्मृतिके अनुसार वर्णित महात्माओंके लक्षणपर थोड़े-से उद्धरण देकर मैंने यह दिखलानेका प्रयास किया है कि हमारे पूर्वीय दर्शनके अनुसार महापुरुषकी क्या व्याख्या होनी चाहिये। ऐसे वाक्य हजारों हैं। स्थानाभावके कारण उपनिषद्-वाक्य तथा रोचक और सूचनापूर्ण वैदिक उद्धरण नहीं दिये जा सके। साधारण जानकारीके लिये इतनी बातें काफी हैं और हमारे मतको प्रतिपादन करनेके लिये पर्याप्त हैं।

किन्तु, यह तो नवीनताका ज़माना है। बिना नये विचारोंको जाने पुराने विचारोंका कोई मूल्य ही नहीं समझा जाता। इसीलिये, मैं यह भी बतला देना चाहता हूँ कि अंग्रेज़ी विद्वान् महापुरुषोंके विषयमें क्या व्याख्या करते हैं।

ऑलिवर गोल्डस्मिथने लिखा है कि इस दुनियामें आदमी दर्शकके रूपमें आता है। जब यहाँकी हरेक चीज़ोंको और उनकी नवीनताओंकी ओर देखते-देखते वह थक जाता है तब वह इन बातोंपर विचार करता है कि किसने इन नवीन तथा अद्‌भुत चीज़ोंको बनाया और कैसे बनाया।

इस दुनियाकी चीज़ोंको देखते-देखते थकावट किसे मालूम हो रही है? ज़रा-सा सुख ही हमें इतरानेके लिये काफ़ी होता है और हम यह महसूस नहीं करते कि दुनियामें जो कुछ सुख है वह शीघ्र नष्ट होनेवाला है। गोल्डस्मिथके ही ये विचार हैं—

Alas, the joys that fortune brings
Are trifling and decay:
And those who prize the paltry things,
More trifling still than they.

मनुष्यकी तुच्छता इन पंक्तियोंसे देखिये—

Man is a very worm by birth,
Vile, reptile, weak and vain!
Awhile he crawls upon the earth,
Then shrinks to earth again.

और इसीलिये ऑलिवर गोल्डस्मिथ कहते हैं कि गुणका पथ उसी प्रकार चलने योग्य है जिस प्रकार एक अन्धा आदमी सम्हाल-सम्हालकर पैर रखता है। किन्तु यदि गुणके पथपर चलता भी रहे तो भी, जेरेमी टेलर कहते हैं कि 'कभी भूलकर भी दूसरोंसे प्रशंसाकी आशा मत करो। यदि कोई तुम्हारी प्रशंसा करे भी तो डर जाओ क्योंकि आत्मप्रशंसासे हानि होती है। तुमको चाहिये कि दूसरोंकी प्रशंसा करो। अपनी तुलना कभी दूसरेसे मत करो। यदि तुलना करो तो अपनेको हेय समझो और दूसरेको ऊँचा बतलाओ।' जगत्‌को उच्च समझकर, अपनी उन्नति करते चलना ही उन्नतिका, सद्‌गुणका पथ है और इसी पथको टॉमस रेड कहते हैं कि 'यह ईश्वरका पथ है और प्रत्येकको गुण-पथपर चलना चाहिये। इसी पथपर चलकर ईश्वरकी कृपा प्राप्त होती है।'

गुणका पथ क्या है, इस विषयमें बहुत-से मत-मतान्तर हैं। पर, मुझे एक बात सबसे अधिक रुची और वह इङ्गलैंड वाट्‌सकी उक्ति है। वे लिखते हैं कि 'इस पवित्र पाठको सीख लो कि जिस परिस्थितिमें रहो, सन्तुष्ट रहो और ईश्वरको धन्यवाद दो तथा अपने पड़ोसीपर सदैव कृपा-भाव रखो और दुःख-सुखमें उसका साथ दो।' यह सन्तोष बड़े महत्त्वकी वस्तु है और इसीके लिये जानेमें एडिसनने लिखा है कि 'सन्तोषसे मनुष्यके मस्तिष्क या शरीरकी दुरवस्था तथा अशान्ति ही नहीं भागती पर इससे वह उन अवस्थाओंको भी अपने अनुकूल बनाकर उनमें प्रसन्न रह सकता है।' आनन्द उसीको मिलेगा जो सन्तोषी होगा। या यों कहिये कि सन्तोषी ही आनन्दका उपभोग करता है। सन्तोषवृत्ति ही आनन्दवृत्ति है और इसीसे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लिये डा० रॉबर्ट जान थार्नटनने लिखा है कि 'आत्माको स्थायी शान्ति देनेवाली वस्तु आनन्दवृत्ति है।' पर यह आनन्द वह नहीं है जिसे हम समझते हैं।

आनन्द—सन्तोष

हम निरर्थक वस्तुओंको आनन्द समझ लेते हैं। रेवरेण्ड सी० सी० कौल्टन लिखते हैं कि 'हम बहुत मिहनतकर आनन्दकी तलाश करते हैं पर वह हमें प्राप्त नहीं होता। इसका कारण यह है कि हम उसे ऐसी जगह खोजते हैं जहाँ वह है ही नहीं। एन्थनीने प्रेममें, ब्रूटसने यशमें, सीज़रने साम्राज्य-वृद्धिमें आनन्द ढूँढ़ा था। पर मिला वह किसीको नहीं। पहला अपमानित हुआ, दूसरा दुनियासे घबड़ा गया, तीसरा कृतघ्नताका शिकार हुआ और नाश तीनोंका हो गया।' इसीलिये टॉमस डिक कहते हैं कि जो कुछ है वह ईश्वरका है, आनन्द भी ईश्वरकी ही वस्तु है। और इसीलिये जॉन ऐबर क्रूम्बेका कहना है कि सदैव ईश्वरको अपने सामने रखो और सदैव ईश्वरीयता तुम्हारेमें व्याप्त हो जावेगी। तुम वास्तवमें महान् हो जाओगे। सैमुयेल स्माइल्सने आत्मविश्वास तथा 'सद्-विचार' को ही मुख्य तथा महान् बनानेवाली वस्तु बतलाया है। टामस डिकने जगत्को ईश्वरमय मानना ही प्रधान सद्विचार बतलाया है और इस बातको कितने रोचक ढंगसे कविवर बायरनने निम्नलिखित पंक्तियोंमें व्यक्त किया है। पाठक पंक्तियोंके प्रत्येक शब्द-पर ग़ौर करें—

I live not in myself, but I become
Portion of that around me, and to me
High mountains are a feeling, but the hum
Of human cities torture: I can see
Nothing to loath in nature, save to be
A link reluctant in a fleshly chain,
Class'd among creatures, when the soul can flee,
And with the sky, the peak, the heaving plain
Of ocean, or the stars, and mingle not in vain.

विषयका विस्तार बहुत बढ़ गया इसलिये मैं अब यहींपर दूसरोंका मन्तव्य देना समाप्त करता हूँ। महापुरुषोंके विषयमें दूसरोंके विचार क्या हैं, यह देना मेरा उद्देश्य नहीं है। मुझे तो केवल संक्षेपमें अपनी एक उक्तिका समर्थन करनेके लिये इतना लिखना पड़ा और वह यह कि महात्मा वही है जो—

आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।

बस, और अपनी तुच्छ सम्मतिमें मैंने घुमा-फिराकर, सभी विज्ञोंको यही एक बात कहते हुए बतलाया है।

व्यवसायी

किन्तु, महापुरुषकी मेरी व्याख्याके अनुसार ही यदि गणना की जावे तो प्रायः प्रत्येक भारतीय प्रान्तमें दस ऐसे कर्मठ मिलेंगे जो 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के सिद्धान्तको हृदयसे मानते हैं—पर सिद्धान्तको मानना एक बात है और अपने शरीरके रोंए-रोंएसे उसका पालन करना दूसरी बात है। शास्त्रमत है—

अज्ञेभ्यो ग्रन्थिनः श्रेष्ठाः ग्रन्थिभ्यो धारिणो वराः।
धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठाः ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः॥

अस्तु 'व्यवसायी' ही सबसे श्रेष्ठ है, कर्मयोगी है और इसी कर्मयोगीके लिये ही भगवान् कृष्णने गीतामें लिखा है—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
(६।४६)

भगवान्ने अर्जुनको जो 'योगी' बनाना चाहा है, वही योगी हमारा 'व्यवसायी' है, सिद्धान्ती है, वीतराग है, कर्मठ है, महात्मा है, महापुरुष है और बहुत खोज करनेपर भी हमें ऐसे बिरले ही लोग मिलते हैं जिनमें ये सब गुण हों। इस सृष्टि-क्रममें सभी गुणी तथा विकार-शून्य तो नहीं हो सकते पर जो हैं वे ही पूज्य हैं, हमारे असली नेता हैं, उन्हींसे हमारा, हमारे देशका, जगत्-मात्रका कल्याण होगा।

गृहस्थ महापुरुष

पर, यह अवश्य है कि व्यवहार-जगत् तो गृहस्थोंके लिये है। व्यावहारिक महापुरुष भी किस रंगका पक्षी हो सकता है, यह भी लोग पूछ बैठेंगे। उसके लिये कुछ महापुरुषोंने ऐसे विचार प्रकट किये हैं जिनको धारण करनेवाला महापुरुष कहा जा सकता है।

बाबा कबीरदासके महापुरुषकी महत्त्वाकांक्षा इतनी ही होनी चाहिये—

साईं इतना दीजिये, जामे कुटुँब समाय।
आप न भूखा रह सकूं, साधु न भूखा जाय॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भर्तृहरि लिखते हैं—

सानन्दं सदनं सुतास्तु सुधियः कान्ता प्रियालापिनी
इच्छापूर्तिधनं स्वयोषिति रतिः स्वाज्ञापराः सेवकाः ।
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे
साधोः संगमुपासते च सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः ॥

बुल्लाशाह लिखते हैं—

हट्ट खड़कै दुक्कड़ बज्जै, तत्ता होवे चुल्ला ।
आवें फ़क़ीराँ सो खा खा जावें, राज़ी होवे बुल्ला ॥

फ़रीदुद्दीन अत्तारकी भी सुनिये—

ता तु बाशी दर ज़माना दादगर,
ज़ेर दस्तारा निकोदार ऐ पिसर ।
ता तु बाशी दर ज़मानाँ दोस्तदार,
दस्तबर नानो नमकबे कुशाददार ।

अस्तु, यह सब बातें किसी एक बातको साफ़ नहीं करतीं । यह तो पाठक स्वयं समझ गये होंगे । पर, हम स्वयं स्वीकार करते हैं कि महापुरुषकी परिभाषा हम नहीं कर सकते पर निश्चित परिभाषातक पहुँचनेके लिये संकेतमात्र कर सकते हैं । ऊपर लिखी बातोंको पढ़कर आप स्वयं एक निश्चित अर्थ लगाइये और सोचिये कि महापुरुष किसे कहना चाहिये और किसका अनुकरण करना चाहिये और जबतक ऐसा कोई व्यक्ति न मिले, नीचे लिखी पंक्तियोंका अनुकरण करना ही बहुत कुछ होगा ।

भूली जोबन मद करे, अरी बावरी बाम ।
यह नैहर दिन दोयको, अंत कंतसे काम ॥
(दादूदयाल)

भूप गनत लघु गुनिनको, गुनी गनत लघु भूप ।
रहिमन गिरिते भूमिलौं, लखौ तो एकै रूप ॥
(रहीम)

ब्राह्मणका महत्त्व

हिन्दू-सनातन-धर्मके अनुसार मनुष्य-देहका चरम लक्ष्य 'परम कल्याणरूप परमात्मा'को प्राप्त करना है । सनातन-धर्मकी प्रत्येक चेष्टा इसी लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये है । परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वर्तमान जीवनसे या इहलोककी ओरसे सनातनधर्म उदासीन है । ऋषियोंने धर्मका लक्षण बतलाते हुए कहा है, जिससे (इस लोकमें) अभ्युदय और (परलोकमें) परम कल्याणकी सिद्धि होती है वह धर्म है—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः । (वै० द० २)

अभ्युदय सब प्रकारसे हो,—शरीर स्वस्थ और व्यसन-हीन हो, मन सरल और शुद्ध हो, आचरण पवित्र हो, बुद्धि निर्मल और स्थिर हो, गृह आवश्यक धनधान्यसे पूर्ण हो, कुल-शील-मान सभी यथायोग्य शुद्ध और सराहनीय हों । यह सब होते हुए ही जीवनका लक्ष्य भगवत्प्राप्ति रहे, और क्रमशः लक्ष्यकी ओर बढ़ते-बढ़ते अधिकार और योग्यतानुसार प्राप्त त्यागके द्वारा परिणाममें 'परम कल्याणरूप भगवान्'की प्राप्ति हो जाय । इस प्रकार जीवके जीवनप्रवाहकी अनादिकालीन धाराका परब्रह्मरूप महासागरमें सदाके लिये विलीन हो जाना ही मनुष्य-जीवनका उद्देश्य है । इस उद्देश्यकी सुचारुरूपसे सिद्धि होनेके लिये धर्मके दो विभाग किये गये—एक वर्णधर्म और दूसरा आश्रमधर्म । वर्णधर्म समाजजीवनका सुन्दर संगठन करके उसकी भलीभाँति रक्षा करता है । और आश्रमधर्म व्यक्तिगत जीवनको धर्मके पवित्र आदर्शपर प्रतिष्ठित करके उसकी सुव्यवस्था करता है और उसको सामाजिक संगठनमें एवं पारिवारिक सुव्यवस्था में सहायक बनाकर अर्थात् लौकिक अभ्युदयमें स्वाभाविक ही अग्रसर करता हुआ क्रमशः चरम लक्ष्य निःश्रेयस—परब्रह्मकी ओर ले जाता है । इन दोनों धर्मोंका परस्पर अङ्गाङ्गी भावसे घनिष्ठ सम्बन्ध होनेके कारण ही इनका एक नाम 'वर्णाश्रमधर्म' है । हिन्दूधर्मका तत्त्व समझनेके लिये वर्णाश्रमधर्मका तत्त्व समझना आवश्यक है । वास्तवमें यह वर्णाश्रमधर्म ही हिन्दूधर्म है । हिन्दूका व्यक्तिगत व्यवहार, उसकी समाजनीति, उसकी अर्थनीति, उसकी राजनीति, उसकी परमार्थनीति, सभी इसी वर्णाश्रमधर्मपर प्रतिष्ठित हैं । सच पूछा जाय तो शताब्दियोंसे लगातार आक्रमणपर आक्रमण सहकर भी आज जो हिन्दूजाति जीवित है, इसका प्रधान कारण यह वर्णाश्रमका सुदृढ़ दुर्ग ही है । इस बातको याद रखना चाहिये कि इस वर्णाश्रम-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

धर्मकी रक्षा ही हिन्दूधर्मकी रक्षा है, और वर्णाश्रमधर्मका विनाश ही हिन्दूधर्मका विनाश है।

अंगरेजीके 'रिलिजन'(religion)शब्दसे हमारे इस व्यापक धर्मका बोध नहीं होता। 'रिलिजन' का अर्थ सामाजिक और व्यक्तिगत कुछ खास-खास विश्वासों और उपासनापद्धतियों तक ही सीमित है। परन्तु वर्णधर्म तो व्यष्टि और समष्टिरूपमें समस्त मनुष्यजीवनके प्रत्येक क्षणको और उसकी प्रत्येक चेष्टाको कल्याणके साथ गूँथकर उत्तरोत्तर अभ्युदय और निःश्रेयस्—भगवत्प्राप्तिकी ओर ले जाता है। 'रिलिजन' इस व्यापक वर्णाश्रमरूप महान् शरीरका एक अङ्गमात्र है।

आश्रमधर्मका मूल वर्णधर्म है, और यह वर्णधर्म भगवान्‌के द्वारा रचित है। स्वयं भगवान्‌ने कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

'गुण और कर्मोंके विभागसे चारों वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र) मेरे ही द्वारा रचे हुए हैं।' भारतके दिव्यदृष्टिप्राप्त त्रिकालज्ञ महर्षियोंने इस सत्यको प्रत्यक्षरूपसे प्राप्त किया, और इसी सत्यपर समाजका निर्माण करके उसे सुव्यवस्थित, शान्तिशीलमय, सुखी, कर्मप्रवण, स्वार्थदृष्टिशून्य और सुरक्षित बना दिया। सामाजिक सुव्यवस्थाके लिये मनुष्योंके चार विभागकी सभी देशों और सभी कालोंमें आवश्यकता हुई है, और सभीमें चार विभाग रहे और रहते भी हैं, परन्तु इस ऋषियोंके देशमें जिस सुव्यवस्थितरूपसे रहे वैसे कहीं नहीं रहे।

अब इन चार विभागोंकी उपयोगितापर थोड़ा विचार कीजिये। समाजमें धर्मकी स्थापना और रक्षाके लिये, और समाजजीवनको सुखी बनाये रखनेके लिये, जहाँ समाजकी जीवनपद्धतिमें कोई बाधा उपस्थित हो वहाँ प्रयत्नके द्वारा उस बाधाको दूर करनेके लिये, कर्मप्रवाहके भँवरको मिटानेके लिये, उलझनोंको सुलझानेके लिये और धर्मसंकट उपस्थित होनेपर समुचित व्यवस्था देनेके लिये परिष्कृत और निर्मल मस्तिष्ककी आवश्यकता है। धर्मको और धर्ममें स्थित समाजकी भौतिक आक्रमणोंसे रक्षा करनेके लिये बाहुबलकी आवश्यकता है। मस्तिष्क और बाहुका यथायोग्य रीतिसे पोषण करनेके लिये धनकी और अन्नकी आवश्यकता है। और उपर्युक्त कर्मोंको यथायोग्य सम्पन्न करानेके लिये शारीरिक परिश्रमकी आवश्यकता है।

इसीलिये मनुष्यसमाज-जीवनका मस्तिष्क 'ब्राह्मण' है, बाहु क्षत्रिय है, ऊरु वैश्य है और चरण शूद्र है। ये चारों एक ही समाज-शरीरके चार अत्यावश्यक अङ्ग हैं, और एक दूसरेकी सहायतापर सुरक्षित और जीवित हैं। घृणा या अपमानकी तो बात ही क्या है, इनमेंसे किसीकी तनिक भी अवहेलना नहीं की जा सकती। न इनमें नीच-ऊँचकी ही कल्पना करनी चाहिये। अपने-अपने स्थान और कार्यके अनुसार चारों ही बड़े हैं। ब्राह्मण ज्ञानबलसे, क्षत्रिय बाहुबलसे, वैश्य धनबलसे और शूद्र जनबलसे बड़ा है। और चारोंकी ही पूर्ण उपयोगिता है। इनकी उत्पत्ति भी एक ही भगवान्‌के शरीरसे हुई है। ब्राह्मणकी उत्पत्ति भगवान्‌के श्रीमुखसे, क्षत्रियकी बाहुसे, वैश्यकी ऊरुसे और शूद्रकी चरणोंसे हुई है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू यदस्य तद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

परन्तु इनका यह अपना-अपना बल न तो स्वार्थ-सिद्धिके लिये है और न किसी दूसरेको दबाकर स्वयं ऊँचा बननेके लिये ही है। समाज-शरीरके आवश्यक अङ्गोंके रूपमें इनका योग्यतानुसार कर्मविभाग है। और यह है केवल धर्मके पालने-पलवानेके लिये ही। ऊँच-नीचका भाव न होकर यथायोग्य कर्मविभाग होनेके कारण ही चारों वर्णोंमें एक शक्तिसामञ्जस्य (Balance of Power) रहता है। कोई भी किसीकी न अवहेलना कर सकता है, न किसीके न्याय्य अधिकारपर आघात कर सकता है। इस कर्मविभाग और कर्माधिकारके सुदृढ आधारपर रचित यह वर्णधर्म ऐसा सुव्यवस्थित है कि इसमें शक्तिसामञ्जस्य अपने-आप ही रहता है। इसपर फिर ऋषियोंने प्रत्येक वर्णके कर्मोंका अलग-अलग स्पष्ट निर्देश करके तो सबको अपने-अपने धर्मका निर्विघ्न पालन करनेके लिये और भी सुविधा कर दी है। और स्वकर्मका पूरा पालन होनेसे शक्तिसामञ्जस्यमें कभी बाधा आ ही नहीं सकती।

यूरोपादि देशोंमें स्वाभाविक ही मनुष्यसमाजके चार विभाग रहनेपर भी निर्दिष्ट नियम न होनेके कारण शक्ति-सामञ्जस्य नहीं है। इसीसे कभी ज्ञानबल सैनिक बलको दबाता है, और कभी जनबल धनबलको परास्त करता है। भारतीय वर्णविभागमें ऐसा न होकर सबके लिये पृथक्-पृथक् कर्म निर्दिष्ट हैं।

ऋषिसेवित वर्णधर्ममें ब्राह्मणका पद सबसे ऊँचा है, वह समाजके धर्मका निर्माता है, उसीकी बनायी हुई विधिको

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सब मानते हैं। वह सबका गुरु और पथप्रदर्शक है परन्तु वह धन संग्रह नहीं करता, न दण्ड ही देता है, न भोगविलासमें ही रुचि रखता है। स्वार्थ तो मानो उसके जीवनमें है ही नहीं। धनैश्वर्य और पदगौरवको धूलके समान समझकर वह फलमूलोंपर निर्वाह करता हुआ सपरिवार शहरसे दूर वनमें रहता है। दिनरात तपस्या, धर्मसाधन और ज्ञानार्जनमें लगा रहता है, और अपने तपोबलके प्रभावसे दुर्लभ ज्ञाननेत्र प्राप्त करता है और उस ज्ञानकी दिव्यज्योतिसे सत्य-का दर्शनकर उस सत्यको बिना किसी स्वार्थके सदाचार-परायण साधुस्वभाव पुरुषोंके द्वारा समाजमें वितरण कर देता है। बदलेमें कुछ भी चाहता नहीं। समाज अपनी इच्छासे जो कुछ दे देता है या भिक्षासे जो कुछ मिल जाता है उसीपर वह बड़ी सादगीसे अपनी जीवनयात्रा चलाता है। उसके जीवनका यही धर्ममय आदर्श है।

क्षत्रिय सबपर शासन करता है। अपराधीको दण्ड और सदाचारीको पुरस्कार देता है। दण्डबलसे दुष्टोंको सिर नहीं उठाने देता, और धर्मकी तथा समाजकी दुराचारियों, चोरों, डाकुओं और शत्रुओंसे रक्षा करता है। क्षत्रिय दण्ड देता है, परन्तु कानूनकी रचना स्वयं नहीं करता। ब्राह्मणके बनाये हुए कानूनके अनुसार ही वह आचरण करता है। ब्राह्मणरचित कानूनके अनुसार ही वह प्रजासे कर वसूल करता है, और उसी कानूनके अनुसार प्रजाहितके लिये व्यवस्थापूर्वक उसे व्यय कर देता है। कानूनकी रचना ब्राह्मण करता है, और धनका भण्डार वैश्यके पास है। क्षत्रिय तो केवल विधिके अनुसार व्यवस्थापक और संरक्षकमात्र है।

धनका मूल वाणिज्य, पशु और अन्न सब वैश्यके हाथमें है। वैश्य धन उपार्जन करता है और उसको बढ़ाता है, किन्तु अपने लिये नहीं। वह ब्राह्मणके ज्ञान और क्षत्रियके बलसे संरक्षित होकर धनको सब वर्णोंके हितमें उसी विधान-के अनुसार व्यय करता है। न शासनपर उसका कोई अधिकार है और न उसे आवश्यकता ही है। क्योंकि ब्राह्मण और क्षत्रिय उसके वाणिज्यमें कभी कोई हस्तक्षेप नहीं करते, स्वार्थवश उसका धन कभी नहीं लेते, वरं उसकी रक्षा करते हैं और अपने ज्ञानबल और बाहुबलसे ऐसी सुव्यवस्था करते हैं कि जिससे वह अपना व्यापार सुचारुरूप-से निर्विघ्न चला सकता है। इससे उसके मनमें कोई असन्तोष नहीं है और वह प्रसन्नताके साथ ब्राह्मण और क्षत्रियका प्राधान्य मानकर चलता है, और मानना आवश्यक भी समझता है क्योंकि इसीमें उसका हित है। वह खुशीसे राजाको कर देता है, ब्राह्मणकी सेवा करता है और विधिवत् आदरपूर्वक शूद्रको भरपूर अन्न-वस्त्रादि देता है।

अब रहा शूद्र। शूद्र स्वाभाविक ही जनसंख्यामें अधिक है। शूद्रमें शारीरिक शक्ति प्रबल है परन्तु मानसिक शक्ति कुछ कम है। अतएव शारीरिक श्रम ही उसके हिस्सेमें रक्खा गया है। और समाजके लिये शारीरिक शक्तिकी बड़ी आवश्यकता भी है। परन्तु इसकी शारीरिक शक्तिका मूल्य किसीसे कम नहीं है। शूद्रके जनबलके ऊपर ही तीनों वर्णोंकी प्रतिष्ठा है। यही आधार है। पैरके बलपर ही शरीर चलता है। अतएव शूद्रको तीनों वर्ण अपना प्रिय अङ्ग मानते हैं। उसके श्रमके बदलेमें वैश्य प्रचुर धन देता है, क्षत्रिय उसके धन-जनकी रक्षा करता है और ब्राह्मण उसको धर्मका-भगवत्-प्राप्तिका मार्ग दिखाता है, न तो स्वार्थसिद्धिके लिये कोई वर्ण शूद्रकी वृत्ति हरण करता है, न स्वार्थवश उसे कम वेतन देता है और न उसे अपनेसे नीचा मानकर किसी प्रकारका दुर्व्यवहार ही करता है। सब अपनी उन्नतिके साथ उसकी उन्नति करते हैं और उसकी उन्नतिमें अपनी उन्नति और अवनतिमें अपनी अवनति समझते हैं। ऐसी अवस्थामें जनबलयुक्त शूद्र सन्तुष्ट रहता है। चारोंमें कोई किसीसे ठगा नहीं जाता, कोई किसीसे अपमानित नहीं होता। एक ही घरके चार भाइयोंकी तरह एक ही घरकी सम्मिलित उन्नतिके लिये चारों भाई अपने-अपने पृथक् पृथक् आवश्यक कर्त्तव्यपालनमें लगे रहते हैं। यों चारों वर्ण परस्पर—ब्राह्मण धर्मस्थापनके द्वारा, क्षत्रिय बाहुबलके द्वारा, वैश्य धनबलके द्वारा और शूद्र शारीरिक श्रमबलके द्वारा एक दूसरेकी सेवा करते हुए समाजकी शक्ति बढ़ाते हैं। न तो सब एक-सा कर्म करना चाहते हैं और न अलग-अलग कर्म करनेमें कोई ऊँच-नीच भाव ही मनमें लाते हैं। इसीसे उनका 'Balance of Power' शक्तिसामञ्जस्य रहता है, और धर्म उत्तरोत्तर बलवान् और पुष्ट होता है। यह है वर्णधर्मका स्वरूप।

इस प्रकार गुण और कर्मके विभागसे ही वर्णविभाग बनता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि मनमाने कर्मसे वर्ण बदल जाता है। वर्णका मूल जन्म है, और कर्म उसके स्वरूपकी रक्षामें प्रधान कारण है। इस प्रकार जन्म और

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कर्म दोनों ही वर्णमें आवश्यक हैं। केवल कर्मसे वर्णको माननेवाले वस्तुतः वर्णको मानते ही नहीं हैं। वर्ण यदि कर्मपर ही माना जाय तब तो एक दिनमें एक ही मनुष्यको न मालूम कितनी बार वर्ण बदलना पड़ेगा। फिर तो समाजमें कोई शृङ्खला या नियम ही नहीं रहेगा। सर्वथा अव्यवस्था फैल जायगी। परन्तु भारतीय वर्णधर्ममें ऐसी बात नहीं है। यदि केवल कर्मसे वर्ण माना जाता तो महाभारतयुद्धके समय ब्राह्मणोचित कर्म करनेको तैयार हुए अर्जुनको क्षत्रियधर्मका उपदेश गीतामें भगवान् नहीं करते। मनुष्यके पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके अनुसार ही उसका विभिन्न वर्णोंमें जन्म हुआ करता है। जिसका जिस वर्णमें जन्म होता है, उसको उसी वर्णके निर्दिष्ट कर्मोंका आचरण करना चाहिये। क्योंकि वही उसका 'स्वधर्म' है। और स्वधर्मका पालन करते-करते मर जाना भगवान् श्रीकृष्णने कल्याणकारक बतलाया है। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः।' साथ ही परधर्मको 'भयावह' भी बतलाया है। यह ठीक ही है; क्योंकि सब वर्णोंके स्वधर्मपालनसे ही सामाजिक शक्ति-सामञ्जस्य रहता है। और तभी समाज-धर्मकी रक्षा और उन्नति होती है। स्वधर्मका त्याग और परधर्मका ग्रहण व्यक्ति और समाज दोनोंके लिये ही हानिकर है। खेदकी बात है कि आजकल वर्णधर्मके प्रति हमलोगोंकी आस्था कम हो रही है और हमलोग मनमाना आचरण करनेमें जरा भी नहीं हिचकते। इसका बुरा परिणाम भी हाथोंहाथ प्रत्यक्ष हो रहा है। इस बुराईसे बचनेके लिये हमें वर्णधर्मके पालनकी अत्यन्त आवश्यकता है।

वर्णधर्ममें शीर्ष-स्थानीय है ब्राह्मण। दुःखका विषय है कि आज ब्राह्मणके विनाशके लिये भी चारों ओर परोक्ष और अपरोक्षरूपसे चेष्टा हो रही है!! शास्त्रोंने ब्राह्मणकी बड़ी ही महिमा गायी है। शास्त्र कहते हैं कि ब्राह्मणकी उत्पत्ति विराट् पुरुषके या भगवान् श्रीकृष्णके मुखसे हुई है। मनुमहाराजका कहना है—

उत्तमाङ्गोद्भवाज्ज्यैष्ठ्याद् ब्रह्मणश्चैव धारणात्।
सर्वस्यैवास्य सर्गस्य धर्मतो ब्राह्मणः प्रभुः॥
तं हि स्वयंभूः स्वादास्यात्तपस्तप्त्वादितोऽसृजत्।
हव्यकव्याभिवाह्याय सर्वस्यास्य च गुप्तये॥
यस्यास्येन सदाश्नन्ति हव्यानि त्रिदिवौकसः।
कव्यानि चैव पितरः किं भूतमधिकं ततः॥
भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः॥
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः।
कृतबुद्धिषु कर्त्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥
उत्पत्तिरेव विप्रस्य मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामधिजायते।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये॥
सर्वस्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिज्जगतीगतम्।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेदं सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति॥

(मनुस्मृति १। ९३—१००)

परमात्माके सब अङ्गोंमें उत्तम अङ्ग मुखसे ब्राह्मण उत्पन्न हुआ है, सबसे पहले जन्मा है, वेदको धारण करता है इस कारण धर्मका अनुशासन करनेमें ब्राह्मण ही सारी सृष्टिका प्रभु है। देवताओंको हव्य और पितरोंको कव्यकी प्राप्ति होगी और उससे जगत्की रक्षा होगी, इस उद्देश्यसे स्वयम्भू ब्रह्माने तप करके सबसे पहले अपने मुखसे ब्राह्मणकी सृष्टि की। जिनके मुखसे देवता सदा हव्य (हवनीय सामग्री), तथा पितर कव्य (श्राद्धादिमें दिये हुए अन्नादि) ग्रहण करते हैं—खाते हैं, उन ब्राह्मणोंसे बढ़कर श्रेष्ठ भला और कौन हो सकता है? सृष्ट पदार्थोंमें स्थावरोंकी अपेक्षा, जिनके प्राण हैं, वे श्रेष्ठ हैं, प्राणियोंमें बुद्धिसे जीविका करनेवाले श्रेष्ठ हैं, बुद्धिजीवियोंमें मनुष्य श्रेष्ठ है, और मनुष्योंमें ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ हैं। ब्राह्मणोंमें विद्वान्, विद्वानोंमें शास्त्रानुसार कर्मोंको जाननेवाले, और जाननेवालोंमें करनेवाले श्रेष्ठ हैं। इनसे भी वे श्रेष्ठ हैं जो ब्रह्मको जानते हैं। ब्राह्मणके शरीरकी उत्पत्ति ही धर्मकी सनातन मूर्त्तिमान् अवस्था है। वह धर्मके आचरण और मोक्षकी प्राप्तिके लिये ही उत्पन्न हुआ है। ब्राह्मण धर्मके खजानेकी रक्षा करनेके लिये जन्मसे ही पृथ्वीमें सबके ऊपर स्वामी होकर उत्पन्न होता है और सब प्राणियोंका प्रभु माना जाता है। तीनों लोकोंमें जो कुछ भी द्रव्य है, वह सब ब्राह्मणका है। परमात्माके मुखसे जन्म ग्रहण करनेके तथा सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण ब्राह्मण ही सब पदार्थोंको ग्रहण करने योग्य हैं।'

भीष्मपितामह धर्मराज युधिष्ठिरसे कहते हैं—

पितॄणां देवतानां च मनुष्योरगरक्षसाम्।
पुराप्येते महाभागा ब्राह्मणा वै जनाधिप॥

(महा० अनु० ३३। १५)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हे राजन्! महाभाग ब्राह्मण पूर्वकालसे ही पितरोंके, देवताओंके, मनुष्योंके, सर्पोंके और राक्षसोंके पूज्य हैं।

परिवादं च ये कुर्युर्ब्राह्मणानामचेतसः।
सत्यं ब्रवीमि ते राजन् विनश्येयुर्न संशयः॥
(महा० अनु० ३३। १८)

हे राजन्! जो मूर्ख मनुष्य ब्राह्मणोंकी निन्दा करते हैं, मैं सत्य कहता हूँ कि वे नष्ट हो जाते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

श्रेयान्पराजयस्तेभ्यो न जयो जयतां वर॥
(म० अ० ३३। २३)

हे महाविजयी! ब्राह्मणोंसे हार जाना अच्छा है परन्तु उनको हराना अच्छा नहीं है।

परिवादो द्विजातीनां न श्रोतव्यः कथञ्चन।
आसीताधोमुखस्तूष्णीं समुत्थाय व्रजेच्च वा॥
न स जातो जनिष्यद्वा पृथिव्यामिह कश्चन।
यो ब्राह्मणविरोधेन सुखं जीवितुमुत्सहेत्॥
(म० अ० ३३। २५-२६)

ब्राह्मणोंकी निन्दा कभी नहीं सुननी चाहिये। यदि कहीं ब्राह्मण-निन्दा होती हो तो वहाँ या तो नीचा सिर करके चुपचाप बैठा रहे अथवा वहाँसे उठकर चला जाय। इस पृथ्वीपर ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं जन्मा है और न जन्मेगा ही, जो ब्राह्मणोंसे विरोध करके सुखसे जीवन बितानेका उत्साह कर सके।

ततो राष्ट्रस्य शान्तिर्हि भूतानामिव वासवात्।
जायतां ब्रह्मवर्चस्वी राष्ट्रे वै ब्राह्मणः शुचिः॥
(म० अ० ३४। ३)

प्राणी जैसे मेघके देवता इन्द्रसे शान्ति पाते हैं, इसी प्रकार राष्ट्रको ब्राह्मणोंसे शान्ति मिलती है अतएव तेरे देशमें ब्रह्मतेजस्वी और पवित्र ब्राह्मण उत्पन्न हों।

आगे चलकर पितामहने ब्राह्मण-सेवाका महत्त्व और ब्राह्मण-निन्दाका विस्तारसे वर्णन करते हुए अन्तमें युधिष्ठिरसे कहा है—

तान् पूजयस्व सततं दानेन परिचर्यया।
यदीच्छसि महीं भोक्तुमिमां सागरमेखलाम्॥
(म० अ० ३५। २२)

अतएव यदि तू इस सागररूप कटिमेखलावाली पृथ्वीपर सुखसे राज्य करना चाहता है तो सदा दान और सेवाके द्वारा ब्राह्मणोंकी पूजा किया कर!

श्रीमद्भागवतमें महाराजा पृथु कहते हैं—

यत्सेवयाशेषगुहाशयः स्वराड्
विप्रप्रियस्तुष्यति काममीश्वरः।
तदेव तद्धर्मपरैर्विनीतैः
सर्वात्मना ब्रह्मकुलं निषेव्यताम्॥
(४। २१। ३८)

जिन ब्राह्मणोंकी सेवासे ब्राह्मणोंके प्रिय सर्वान्तर्यामी स्वप्रकाश भगवान् सन्तुष्ट होते हैं, भागवत-धर्ममें तत्पर तुम भी नम्रतापूर्वक शरीर, मन और वाणीसे उन ब्राह्मणोंके कुलकी सेवा करो।

स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अपने पुत्र प्रद्युम्नसे कहते हैं—

ब्राह्मणप्रतिपूजायामायुः कीर्तिर्यशो बलम्।
लोके लोकेश्वराश्चैव सर्वे ब्राह्मणपूजकाः॥
त्रिवर्गे चापवर्गे च यशः श्रीरोगशान्तिषु।
देवतापितृपूजासु सन्तोष्याश्चैव नो द्विजाः॥
(महा० अनु० १५९। ९-१०)

ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे आयु, कीर्ति, यश और बल बढ़ता है। इसीसे लोक और लोकेश्वर सभी ब्राह्मणोंकी पूजा करते हैं। धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्गको और मोक्षको प्राप्त करनेमें, यश, लक्ष्मीकी प्राप्ति और रोग-शान्तिमें तथा देवता और पितरोंकी पूजामें ब्राह्मणोंको सन्तुष्ट करना चाहिये।

ब्राह्मण प्रसन्न होकर जो भी आशीर्वाद देते हैं वही पूर्ण स्वस्त्ययन है। श्रीयशोदाजी महर्षि गर्गसे कहती हैं—

आशिषं कर्तुमर्हन्ति प्रसन्नमनसा द्विजाः।
पूर्णं स्वस्त्ययनं स्वाद्यं विप्राशीर्वचनं ध्रुवम्॥
(ब्रह्मवैवर्त० श्रीकृष्ण-जन्मखण्ड अध्याय ११)

हे भगवन्! आप प्रसन्न होकर इस बालक (कृष्ण) को आशीर्वाद दीजिये। ब्राह्मणोंका आशीर्वाद पूर्ण स्वस्त्ययन-रूप और अत्यन्त कल्याणकारक है। पूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थ गीतामें भी ब्राह्मणपूजाको तप बतलाया है।

इस प्रकार ब्राह्मणोंके माहात्म्यसे शास्त्र भरे हैं, कितने वचन उद्धृत किये जायँ? परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि ब्राह्मणका यह महत्त्व बनावटी नहीं है। ब्राह्मणका स्वरूप ही महत्त्वपूर्ण है। उसका जीवन तपस्वी जीवन है। उसका जन्म ही तप, धर्म तथा मोक्षके लिये हुआ है। सांसारिक सुख और भोगोंकी ओर तो ब्राह्मण देखता ही नहीं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ब्राह्मणस्य हि देहोऽयं क्षुद्रकामाय नेष्यते।
कृच्छ्राय तपसे चेह प्रेत्यानन्तसुखाय च॥
(श्रीमद्भा० ११। १७। ४२)

यह ब्राह्मणशरीर क्षुद्र विषयभोगोंके लिये नहीं है, यह तो जीवनभर कठिन तपस्या और अन्तमें आत्यन्तिक सुखरूप मोक्षकी प्राप्तिके लिये है।

इसीका मिलता-जुलता श्लोक वृहद्धर्मपुराणमें आया है—

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं न सुखाय कदाचन।
तपः क्लेशाय धर्माय प्रेत्य मोक्षाय सर्वदा॥
(उत्तरखण्ड २। ४४)

ब्राह्मणका देह विषयसुखके लिये कदापि नहीं है, यह तो सदा-सर्वदा तपस्याका क्लेश सहने, धर्मका पालन करने और अन्तमें मुक्तिके लिये ही उत्पन्न होता है।

ब्राह्मणोंके लक्षणोंके सम्बन्धमें शास्त्र कहते हैं—शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, क्षमा, कोमलता, भगवद्भक्ति, दया और सत्य ब्राह्मणके स्वाभाविक धर्म हैं (श्रीमद्भागवत ११। १७। १६)। शम, दम, तप, शौच, क्षमा, कोमलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिक बुद्धि ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं। (श्रीमद्भगवद्गीता १८। ४२)। ब्राह्मणको जातकर्मादि संस्कारोंके द्वारा संस्कृत, परम पवित्र, वेदाध्ययनमें तत्पर, सन्ध्यावन्दन[1], स्नान[2], जप[3], होम[4], देवपूजा[5] और अतिथि[6]-सत्काररूप षट्कर्मपरायण, शौचाचारशील, ब्रह्मनिष्ठ, गुरुप्रिय और सर्वदा सत्यमें रत रहना चाहिये (महाभारत)। जीवनभर आलस्य छोड़कर अपने-अपने आश्रमके अनुकूल वेदोक्त और स्मार्त कर्म करने चाहिये। जिन विषयोंमें इन्द्रियोंकी आसक्ति शीघ्र होती है, ऐसे कर्मोंमें और शास्त्रविरुद्ध कर्मोंमें कभी न लगाना चाहिये। धन होनेपर या न होनेपर भी धनसञ्चय-की चेष्टा ब्राह्मण कभी न करे। इच्छापूर्वक किसी भी इन्द्रियके विषयमें आसक्त न हो, इन्द्रिय स्वभावसे ही किसी विषयमें आसक्त हो जायँ तो उनको वहाँसे हटा ले। वेदके विरुद्ध कुछ भी उपार्जन न करे। नित्य सावधानीके साथ वेदोक्त धर्मका आचरण करे। ब्राह्मणको गाने-बजाने आदिसे अथवा शास्त्रविरुद्ध कर्मोंसे तथा संकटकी दशामें भी बहुत-सा धन मिलता हो तब भी वैसे धन पानेकी चेष्टा न करे। स्वाध्यायके विरोधी सभी कर्मोंका त्याग कर दे। गृहस्थ ब्राह्मण अपनी आयु, कर्म, धन, विद्या और कुलके अनुकूल ही वेष, वाणी और बुद्धिसे काम लेता हुआ जगत्‌में विचरे। नित्य पञ्चमहायज्ञ करे। (मनुस्मृति)। प्रतिदिन नियमानुसार सन्ध्या-वन्दनादि नित्यकर्म अवश्य ही करे। यदि कोई ब्राह्मण मोहवश सन्ध्यावन्दनादि नहीं करता तो देवता तथा पितर उसके द्वारा की हुई पूजा या श्राद्धादिको ग्रहण नहीं करते। ब्राह्मण जबतक जीवे त्रिकालसन्ध्या करता ही रहे। जो ब्राह्मण ऐसा करते हैं वे सूर्यके समान तेजस्वी होते हैं। उनके चरणस्पर्शसे पृथ्वी पवित्र होती है, तीर्थ शुद्ध होते हैं और पाप धुल जाते हैं। (ब्रह्मवैवर्त)। ब्राह्मणको नित्य गायत्रीका जाप करना चाहिये। गायत्री ब्राह्मणोंका जीवन है।

ब्राह्मणकी जीविकाके सम्बन्धमें शास्त्र कहते हैं—वेद पढ़ना-पढ़ाना, यज्ञ करना-कराना और दान देना तथा लेना ब्राह्मणके ये छः कर्म बताये गये हैं। इनमें यज्ञ कराना, वेद पढ़ाना, और दान लेना ये तीन ब्राह्मणकी आजीविकाके लिये हैं। ब्राह्मणको ऐसी आजीविका बिल्कुल नहीं करनी चाहिये जिसमें किसी भी जीवका किसी प्रकार भी अनिष्ट हो अथवा किसीको जरा-सी भी पीड़ा हो। आपत्‌कालमें भी ब्राह्मण ऐसी वृत्ति न करे। सुख चाहनेवाला ब्राह्मण अपना और अपने कुटुम्बका सादगीसे निर्वाह हो सके इतने ही धनमें परम सन्तोष माने। अधिक धन पानेकी लालसा न करे। सन्तोष ही सुखका मूल है और असन्तोष ही दुःखका। ब्राह्मणको ऋत, अमृत, मृत, प्रमृत और सत्यानृतद्वारा अपनी जीविका चलानी चाहिये; परन्तु श्ववृत्ति(नौकरी,शूद्रवृत्ति)कभी नहीं करनी चाहिये। जमीनपर बिखरे हुए अनाजके दानोंको बटोरकर उससे काम चलाने-का नाम शिलवृत्ति है। इसीका नाम ऋत है। बिना माँगे जो कुछ मिल जाय उसे अमृतवृत्ति कहते हैं। भीख माँगकर जीवननिर्वाह करना मृतवृत्ति कहलाता है। खेतीको प्रमृतवृत्ति और व्यापारको सत्यानृतवृत्ति कहते हैं। ऋत सर्वोत्तम और अमृत उत्तम वृत्ति है। मृत—भिक्षा-वृत्ति भी ब्राह्मणके लिये विधेय है। बल्कि वैश्योंकी व्यापारवृत्ति और कृषिवृत्तिकी अपेक्षा ब्राह्मणोंके लिये भिक्षावृत्ति उत्तम है। इन वृत्तियोंद्वारा जीवननिर्वाह करनेवाले ब्राह्मण चार श्रेणियोंमें विभक्त हैं—कुशूल-धान्यक, कुम्भीधान्यक, त्र्यहैहिक और अश्वस्तनिक। तीन वर्षतक निर्वाह हो सके, इतने अन्नकी कोठी भर रखनेवाला ब्राह्मण कुशूलधान्यक, सालभर या छः महीनेके निर्वाहयोग्य अन्नकी छोटी कोठी भर रखनेवाला कुम्भी-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

धान्यक, तीन दिनके निर्वाहयोग्य अन्नका संग्रह करनेवाला त्र्यहैहिक और केवल आजभरके निर्वाहके लिये संग्रह करनेवाला अश्वस्तनिक कहलाता है। इन चारों प्रकारके संग्रही ब्राह्मणोंमें पहलेकी अपेक्षा अगला उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है; अश्वस्तनिक सर्वश्रेष्ठ है।

इस वर्णनसे पता चलता है कि ब्राह्मणोंका जीवन कितना तपःपूर्ण और कठोर साधनामय है। ऐसे क्लेशसहिष्णु ब्राह्मणोंकी जितनी महिमा गायी जाय उतनी ही थोड़ी है। शास्त्रोंमें ब्राह्मणोंके लिये और भी अनेकों वैध और निषिद्ध कर्मोंका तथा आचरणोंका उल्लेख है। वस्तुतः ब्राह्मणधर्म इतना कठोर दायित्वपूर्ण है कि उसके पालनमें पद-पदपर सावधानीकी आवश्यकता होती है। यह असिधाराव्रत है। एक ओर जहाँ ब्राह्मण सबका प्रभु और नियन्त्रण-कर्ता है, दूसरी ओर वह स्वाभाविक ही सबके हितमें रत है और इस सर्वभूतहितकी इच्छासे ही अपने ही बनाये नियमोंके कठोर बन्धनमें वह इतना बँधा है कि जरा-सी भूलमें ही अपने स्वरूपसे च्युत हो जाता है। इसीसे उसकी इतनी महिमा है।

यह स्मरण रखना चाहिये कि धर्म ही हिन्दूजातिका प्राण है, और उस धर्मके सञ्चालनका समस्त भार ब्राह्मणके कंधोंपर है, और हमें यह मुक्तकण्ठसे स्वीकार करना चाहिये कि ब्राह्मणने इस भारको बड़ी ही जिम्मेवारीके साथ वहन किया है। तपोमूर्त्ति स्वार्थशून्य ब्राह्मणका ऋण केवल हिन्दूसमाजपर ही नहीं है, सारे संसारपर है, क्योंकि उसके उपार्जित ज्ञानसे समस्त संसारने लाभ उठाया है। वस्तुतः जगत्‌को ज्ञानका प्रकाश देनेवाला यह त्याग और तपकी मूर्त्ति ब्राह्मण ही है।

आज भी ब्राह्मणप्रदत्त ज्ञानालोकसे ही संसारका ज्ञान-भण्डार प्रकाशित है। हिन्दूजातिका तो प्राण ही यह ब्राह्मणत्व है। जिसने युगों और शताब्दियोंसे नाना प्रकारके कष्टोंको सहनकर इस हिन्दूसंस्कृतिकी रक्षा की है। भगवान् श्रीकृष्णके प्राकट्यका कारण बतलाते हुए भगवान् शङ्कराचार्य गीताभाष्यके उपोद्घातमें कहते हैं कि जगत्‌की स्थितिको सुरक्षित रखनेकी इच्छासे आदिकर्ता नारायण श्रीविष्णुभगवान् भूलोकके ब्रह्म (ब्राह्मण) के ब्राह्मणत्वकी रक्षा करनेके लिये श्रीवसुदेवजीसे श्रीदेवकीजीके गर्भमें दिव्य सौन्दर्यमाधुर्यपूर्ण श्रीकृष्णरूपमें प्रकट हुए। ब्राह्मणत्वकी रक्षामें ही वैदिक धर्मकी रक्षा है क्योंकि वर्णाश्रमके भेद उसीके अधीन हैं—

जगतः स्थितिं परिपिपालयिषुः स आदिकर्ता नारायणाख्यो विष्णुः भौमस्य ब्रह्मणो ब्राह्मणत्वस्य रक्षणार्थं देवक्यां वसुदेवाद् अंशेन कृष्णः किल संबभूव। ब्राह्मणत्वस्य हि रक्षणेन रक्षितः स्याद् वैदिको धर्मः तदधीनत्वाद् वर्णाश्रमभेदानाम्।

खेद है कि आज हिन्दूसन्तान ही मोहवश अपने जीवनाधार ब्राह्मणत्वको भस्मकर उसके भस्मावशेषपर जातीय-जीवनकी सुन्दर सुखपूर्ण अट्टालिका निर्माण करनेका स्वप्न देख रहा है! अपने ही हाथों अपनी समाधिके लिये जमीन खोद रहा है! भगवान् इस मोहनिशाका शीघ्र अन्त करें।

लोग कहेंगे कि 'जिस ब्राह्मणकी यह महिमा है, वह ब्राह्मण आज कहाँ है, आज तो ब्राह्मणशरीरका प्राणहीन कङ्काल मात्र रह गया है।' ठीक है, आदर्श ब्राह्मण आज बहुत ही कम दृष्टिगोचर होते हैं। वे आज शक्तिसामञ्जस्यके अभावसे पर्वतकन्दराओंमें जा छिपे हैं परन्तु गम्भीरतासे ध्यान देनेपर मालूम होगा कि अन्य वर्णोंकी अपेक्षा आज भी ब्राह्मणोंमें त्याग और तप अधिक है। यदि हम इस बचे-खुचे त्याग-तपको बचाकर बढ़ा सकेंगे तो कङ्कालमें पुनः प्राण आ जायँगे, और हम उसकी शक्तिमयी और तेजमयी मूर्तिको देखकर पुनः अपनेको सुरक्षित पावेंगे। ब्राह्मण मरा नहीं है, मरेगा भी नहीं। वह छिपा है, दबा है, उसे साधना करके प्रकाशमें लाना होगा। इसका उपाय है ब्राह्मणत्वका सम्मान, ब्राह्मणत्वके पुनः स्वरूपप्रतिष्ठित करनेका आयोजन। ब्राह्मणोंको चाहिये कि धन, वैभव, विलासिता और फैशनका मोह छोड़कर अपने स्वरूपको सँभालें। उनका गौरव त्यागपूर्ण ब्राह्मणत्वमें है न कि जमींदारों या धनी व्यवसायियोंका अनुकरण कर अधिक खर्चीला और भड़कीला परन्तु दुःख तथा अशान्तिपूर्ण जीवन बनानेमें। उनका आदर्श त्याग है न कि भोग। प्रभुत्व है न कि दासत्व। भोगी मनुष्य इन्द्रिय-विषयोंका दास होता है यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है।

अन्यान्य तीनों वर्णोंको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि जिससे ब्राह्मणोंके ब्राह्मणत्वकी रक्षा हो, ब्राह्मणोंमें ब्राह्मणत्वके प्रति ममता उत्पन्न हो, वे ब्राह्मण कहलानेमें

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गौरव समझें, और ब्राह्मणके नाते ही उनकी आजीविका सुखपूर्वक चल जाय। यह कभी न सोचें कि पूर्वकालके ब्राह्मण पूज्य थे, आजके नहीं हैं। हम पूछते हैं कि यदि ब्राह्मण गिरे हैं तो क्या क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र धर्मपथमें उन्नत हुए हैं? दूसरेके धर्मकी ओर न देखकर अपनी ओर देखिये; तब पता लगेगा कि आपकी क्या दशा है।

यह पहले कहा जा चुका है कि हिन्दूधर्मकी रक्षा ब्राह्मणधर्मकी रक्षामें है। यदि ब्राह्मण अपने कर्मको छोड़कर वकील, डाक्टर, व्यापारी या नौकरी पेशावाले बन जायँगे तो ब्राह्मणधर्मका पालन कौन करेगा? आज जो ब्राह्मण संस्कृत पढ़ना छोड़कर अँगरेजी पढ़ते हैं, और धीरे-धीरे पाश्चात्य संस्कृतिके ढाँचेमें ढले जा रहे हैं, उसमें कालप्रभाव और पाश्चात्य प्रभुत्वका प्रभाव तो है ही परन्तु दो प्रधान कारण और हैं।—एक है आजीविकाकी कठिनाई, और दूसरा, संस्कृतज्ञ कर्मकाण्डी त्यागी ब्राह्मणोंकी उपेक्षा। प्राचीन कालके अनुसार आज ब्राह्मण वनोंमें नहीं रह सकते। कोई रहना भी चाहें तो उन्हें न तो जमीन मिल सकती है और न इच्छानुसार फल-फूल और मूल ही। शिलोञ्छवृत्तिके लिये भी अन्न नहीं मिलता। कारण, आज न तो ब्राह्मण-शासनका अनुगमन करनेवाले ब्राह्मण-भक्त क्षत्रिय राजा हैं और न ऐसे वैश्य-शूद्र ही हैं। गाँवों और नगरोंमें रहनेसे कुछ कुसङ्ग और कुछ परिस्थितिवश आजके ब्राह्मणोंकी आवश्यकताओंका बढ़ जाना भी अस्वाभाविक नहीं है। ऐसी स्थितिमें उनकी आजीविकाकी व्यवस्था न हो तो बाध्य होकर उन्हें दूसरी ओर ताकना पड़ता है। यही कारण है कि कुछ काल पहलेके धर्माभिमानी महान् पण्डितराजोंके पुत्र-पौत्र आज विदेशी भाषा सीखकर ब्राह्मण संस्कृतिका उपहास करने लगे हैं! दूसरी बात है कि ब्राह्मण पण्डितोंके सम्मानमें कमी होना। आज लोग जितना अँगरेजी पढ़े-लिखे डिग्रीधारी लोगोंका आदर करते हैं, उतना सीधे-सादे संस्कृतज्ञ पण्डितका नहीं करते। जिसमें धन और मान दोनोंकी कमी नजर आती हो, उससे चिपटा रहना भला कौन पसंद करेगा? (यद्यपि आजकल अँगरेजीके बी० ए०, एम० ए० पास बेकारोंकी संख्या भी बहुत जोरसे बढ़ रही है) इसीसे आज शास्त्रज्ञ ब्राह्मणोंकी संख्या क्रमशः घट रही है। अतएव तीनों वर्णोंको चाहिये कि सच्चे मनसे ब्राह्मणोंका आदर-सम्मान करें। उनके अभावोंकी पूर्ति करें और उनकी आजीविकाके लिये प्रयत्न करें। कुछ काल पूर्वतक देवताओंके अनुष्ठान, यज्ञादि कर्म, श्रीहरिकथा तथा पर्वोंपर दान तथा ब्राह्मण-भोजनादिकी प्रथा थी। जिससे धर्म-साधनके साथ-ही-साथ ब्राह्मणोंकी आजीविका चलती थी। राजसभाओंमें पण्डित ब्राह्मणोंका सम्मान था। लोग हृदयसे ब्राह्मणोंको पूजते थे। इसीसे उस समय ब्राह्मण बने रहनेमें उनको सुख मालूम होता था। अब क्रमशः उन प्रथाओंका ह्रास हो रहा है। परन्तु इसका फल उत्तम नहीं होगा। देवताओंके सकाम अनुष्ठानोंसे हमारी संस्कृतिकी बड़ी रक्षा होती है, श्रद्धा बढ़ती है और शास्त्रोंका अनुसरण होता है, अतएव सब लोगोंको ब्राह्मणोंके द्वारा पाठ या मन्त्रादिके द्वारा देवताओंकी यथायोग्य पूजा—उपासना अवश्य करवानी चाहिये। जगह-जगह विद्वान् ब्राह्मणोंके द्वारा श्रीहरिकथाकी व्यवस्था करवानी चाहिये, ब्राह्मण-भोजनका आयोजन करना चाहिये, और सच्चे मनसे ब्राह्मणधर्मपर आरूढ़ रहनेवाले ब्राह्मणों-का खूब ही सम्मान करना चाहिये। यह याद रखना चाहिये कि बड़े-से-बड़े धनी, व्यवसायी, जज, वकील, डाक्टर ब्राह्मणकी अपेक्षा धर्मकी दृष्टिसे ब्राह्मणधर्मपर आरूढ़ भिक्षाजीवी ब्राह्मण बहुत ही उत्तम और सर्वथा पूज्य है। अतएव ब्राह्मणोंको नीची दृष्टिसे न देखकर उनका हृदयसे सम्मान करना चाहिये। उनके त्यागकी—उनकी वृत्तिकी खूब प्रशंसा करनी चाहिये। ब्राह्मणोंकी सेवामें जिसका तन मन धन लगे उसको अपना अहोभाग्य मानना चाहिये। यह याद रखना चाहिये।

अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च यथाग्निर्दैवतं महत्॥
श्मशानेष्वपि तेजस्वी पावको नैव दुष्यति।
हूयमानश्च यज्ञेषु भूय एवाभिवर्धते॥
एवं यद्यप्यनिष्टेषु वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत्॥
(मनु० ९। ३१७—३१९)

अग्निको चाहे वेदमन्त्रोंसे प्रकट किया हो चाहे दूसरी तरहसे, वह जैसे महान् देवता है, ऐसे ही ब्राह्मण विद्वान् हो या अविद्वान्, वह महान् देवता है। तेजस्वी अग्नि श्मशानमें भी दूषित नहीं होता तथा यज्ञोंमें हवन करनेपर फिर बढ़ जाता है। ऐसे ही ब्राह्मण सब प्रकारके छोटे काम करनेपर भी सर्वथा पूज्य हैं क्योंकि वह परम देवता हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अन्तमें ब्राह्मणके चरणोंमें विनम्र प्रार्थना है कि हे भूदेव! सनातनधर्मकी रक्षाका भार भगवान्‌ने तुम्हारे हाथोंमें दिया है, तुम उसे सँभाले रहो। दूसरोंके प्रमादको देखकर तुम प्रमाद मत करो। तुम क्षमा और त्यागकी मूर्ति हो, अपने स्वरूपको स्मरण करो, और साधना करके उसपर प्रतिष्ठित हो जाओ। यह मत समझो कि तुम वकील, बैरिष्टर, मैजिष्ट्रेट या सेठ नहीं हो तो तुम्हारा दर्जा नीचा है। तुम भिक्षाजीवी हो तो धनियोंसे नीचे हो। तुम्हारा त्याग सदा ऊँचा है और ऊँचा रहेगा। अपने धर्ममें, अपनी संस्कृतिमें और अपनी वृत्तिमें गौरवबुद्धि करो। लोभका अवश्य त्याग करो, दुष्ट प्रतिग्रहसे जरूर बचो पर शुद्ध दान या दक्षिणा ग्रहण करनेमें अपना अपमान कभी न समझो। उसे तो तुम यजमान और दाताके कल्याणके लिये ग्रहण करते हो। ब्राह्मणत्वके निदर्शक आचार-व्यवहार, वेशभूषा और कार्यकलापमें अपनेको धन्य समझो। जो लोग तुम्हारी वृत्तिको नीचा समझते हैं, वे स्वयं नीचे हैं। तुम्हारे स्वरूपका उन्हें ज्ञान नहीं है। उनकी भड़कीली पोशाकों, उनके खर्चीले जीवन, और उनके राजसी-तामसी ठाटकी माया-मरीचिकासे मोहित मत हो। तुम्हारे त्यागमें ही तुम्हारी महिमा है। तुच्छ धनरत्न तुम्हारे त्यागरूपी परम धनके सामने सर्वथा तुच्छ है। नगण्य हैं। वह समय याद करो, जब बड़े-बड़े सम्राटोंके रत्नमणिमय मुकुट तुम्हारी चरणधूलिसे अभिषिक्त होनेमें अपना गौरव समझते थे। लोग चाहते थे तुम कुछ ग्रहण करके उनके धनको धन्य करो, सेवा स्वीकार करके उनके जीवनको सफल करो, परन्तु तुम उनके धनकी तथा सेवाकी ओर ताकते ही नहीं थे। यही तुम्हारी महानता थी! इसपर पुनः प्रतिष्ठित होओ! तुम सबके पथप्रदर्शक हो, तुम जगद्‌गुरु हो। भगवान् मनु कहते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(२।२०)

इस देशमें उत्पन्न ब्राह्मणसे पृथ्वीके सब मनुष्य अपने-अपने सदाचारको सीखें।

अपने इस स्वरूपका स्मरण करो, हिन्दू सनातनधर्मको अपने तपोबलसे पुनः सुप्रतिष्ठा कर दो, भारतवर्षके लुप्त गौरवको पुनः प्राप्त करवा दो और अपने ज्योतिर्मय ज्ञानालोकसे जगत्‌के समस्त अन्धकारको दूर कर दो। हे पवित्र ब्राह्मण, तेरे पुनीत चरणोंमें यही सादर विनय है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

गीता

वारि वह पगकी, विचार यह मानसकी, नंगाकी मुकुट वह यह तो अनंगा है।
तन-मल धोती वह, मन-मल धोती यह, भंगमयी वह, यह अमिट अभंगा है॥
सूख-सी गयी थी एक मुनिके पियेसे वह, पीते हैं अनेक इसे तो भी भली चंगा है।
हार वसुधाकी वह, धार है सुधाकी यह, गंगासे पुनीता यह गीता ज्ञानगंगा है॥
अब भी सँभाल ले हा! अलभ अनन्त काल बीता है पड़े-ही-पड़े मति विपरीतामें।
जीता जगतीको किन्तु आया क्या किसीके हाथ बस न चला है यदि मृत्यु अविनीतामें॥
भूलके भी होने दे न प्रीति औ प्रतीति कभी बन्धनके हेतुभूत सकल सुभीतामें।
जीते जी अमर बन जानेकी जिसे हो चाह अमित उछाहसे लगा दे मन गीतामें॥

—पाण्डेय रामनारायणदत्त शास्त्री

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भक्तराज महर्षि अगस्त्य और राजा शङ्ख

हैहयवंशीय प्रजावत्सल राजा श्रुताभिधानके पुत्र महाराज शङ्ख आदर्श नरपति थे। वे शास्त्रोंके सिद्धान्तको जाननेवाले और सारे सद्गुणोंसे सम्पन्न थे। चित्तको सदा भगवान्‌में लगाये हुए ही राजकाज करते थे। धीरे-धीरे उनकी विषयासक्ति नष्ट हो गयी। भगवान् कमलनेत्र श्रीजगदीश्वरमें वे निश्चल भक्ति करने लगे। वे नित्य नियमपूर्वक अटल और गहरे निश्चयके साथ अनन्तपुरुषोत्तम भगवान्‌का ध्यान करते। भगवान्‌की प्रीतिके लिये ही वे विविध प्रकारके पुण्य-दान, व्रत एवं दक्षिणायुक्त अश्वमेधादि यज्ञ करते। भगवान्‌के लिये ही वे ब्राह्मणोंका प्रिय कार्य करते, उनकी पूजा करते तथा जहाँ-तहाँ आवश्यकतानुसार कुएँ, तालाब, धर्मशालादि बनवाते। वे भक्तिपूर्वक अज, अव्यय, अच्युत भगवान् श्रीगोविन्दका नामस्मरण और जप करते, उनकी पूजा करते और पौराणिक विद्वानोंके मुखसे संसार-सागरसे पार उतारनेके लिये नौकास्वरूप पवित्र श्रीहरिकथाका आदरपूर्वक श्रवण करते। यों सतत भगवान्‌के ध्यानमें लगे हुए, उनका पवित्र चिन्तन करते हुए वे तन-मन-धनसे भगवान्‌की सेवा करने लगे। उनका चित्त सब ओरसे श्रीहरिके प्रति लग गया। उनके मनमें भगवान्‌के पवित्र दर्शनकी लालसा जाग उठी, वे भगवान्‌के लिये ही सब काम करते, परन्तु उनकी चिन्ताका एक यही विषय हो गया कि मुझे कब भगवान्‌के दर्शन होंगे। ज्यों-ज्यों दिन बीतने लगे त्यों-ही-त्यों राजाके मनकी व्याकुलता भी बढ़ने लगी। एक दिन वे बहुत ही खिन्न होकर मन-ही-मन अपनेको धिक्कार देते हुए कहने लगे—'अहो! न मालूम पूर्वजन्मोंमें मैंने कितने पाप किये हैं जिनके कारण आजतक मैं भगवान्‌के दर्शन नहीं पा सका। अवश्य ही यह मेरी पापराशिका ही फल है। अथवा यह भी हो सकता है कि मेरा मन वस्तुतः भगवान्‌का दर्शन चाहता ही नहीं है; मेरे मनमें यदि भगवान्‌के लिये व्याकुलता वास्तविक होती तो भक्तवत्सल अन्तर्यामी भगवान् क्यों दर्शन देनेमें विलम्ब करते। अब मैं कौन-सा उपाय करूँ, जिससे ये विरहतापसे जलती हुई आँखें भगवान्‌के मुखचन्द्रका दर्शन पाकर शीतल हों। मैं बड़ा ही अपराधी हूँ। मुझे भगवान्‌के श्रीमुखका एक शब्द भी आजतक सुनायी नहीं दिया। भगवान् एक बार मुझे यही कह देते कि मैं तुम्हें लाख वर्ष बाद दर्शन दूँगा तो भी मेरा हृदय नाच उठता। उनकी मधुर वाणी सुनकर मैं उनकी बाट जोहता हुआ जीवन धारण करता। परन्तु हाय! अब किस आशापर जीऊँ; क्या मेरे हृदयेश्वर मुझे इतना आश्वासन भी नहीं देंगे।' यों कहते-कहते राजा शङ्ख अत्यन्त व्याकुल हो गये। उनकी आँखोंसे तप्त आँसुओंकी धारा बहने लगी।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उनके प्राण कण्ठगत हो गये और वे भगवान्‌के ध्यानमें बेसुध होकर जमीनपर गिर पड़े !

इतनेमें ही उनके कानोंमें मधुर आवाज आयी। मीठे स्वरोंको सुनते ही हृदय शीतल हो गया। आनन्दसे शरीर पुलकित हो उठा। उन्होंने सुना 'हे प्यारे ! तू शोक छोड़ दे, तू मेरा अनन्य भक्त है और सच्चा साधु है; मैं तुझे कभी परित्याग नहीं कर सकता। तूने मेरे लिये बड़ा तप किया है। मैं तुझपर सन्तुष्ट हूँ, परन्तु अभी मेरे दर्शनोंमें एक हजार वर्षकी देर है। तेरी ही तरह महर्षि अगस्त्य भी मेरे दर्शनार्थ व्याकुल है। तू शीघ्र वेंकटेश पर्वतपर चला जा। अगस्त्य भी ब्रह्माके आदेशसे वहीं जाकर तप कर रहा है। वहाँ जाकर मुझमें मन लगाकर मेरा ध्यान-भजन करता रह। तुझे वहीं मेरे दर्शन होंगे।'

'हजार वर्ष बाद भगवान्‌के दर्शन होंगे' सुनकर राजा हर्षके मारे नाच उठे। 'कहाँ मैं नीच और कहाँ सर्वलोकमहेश्वर नारायण ! हजार वर्षके बाद भी मुझे दर्शन तो देंगे। अहा ! मेरे समान भाग्यवान् और कौन होगा ? मुझे भगवान् हजार वर्षके बाद दर्शन देंगे।' इस प्रकार विचार करके राजा आनन्द-मग्न हो गये। सच्चे भक्त बड़े ही धैर्यवान् होते हैं, वे कच्चे साधकोंकी भाँति अल्पकालमें ही उकताकर साधना छोड़ नहीं बैठते। फिर भगवान्‌के मिलनेका तो कोई मूल्य ही नहीं है। भक्त समझता है कि हजार वर्षकी साधनाके बाद भी यदि वे मिल जाते हैं तो बहुत सस्तेमें ही मिलते हैं। वास्तवमें साधनाके बदलेमें या साधनके फलस्वरूप भगवान्‌के दर्शन नहीं होते। जिसपर कृपा करके वे अपनी योगमायाका पर्दा हटा लेते हैं, उसी भाग्यवान् भागवतको भगवान्‌के दुर्लभ दर्शन प्राप्त होते हैं। भगवान्‌के दर्शनके लिये देवता भी तरसते हैं। त्रिदेवगत भगवत्स्वरूपोंके दर्शन तो देवताओंको हो जाते हैं परन्तु साक्षात् प्रभु अचिन्त्यानन्तसौन्दर्य-माधुर्यके सागर भगवान्‌के दर्शन तो किसीको केवल उनकी कृपासे ही होते हैं। उनके दर्शनका क्या मूल्य है ? युगयुगान्तरतक साधना करनेपर भी उनके दर्शनकी योग्यता नहीं प्राप्त होती अतः हजार वर्षमें दर्शन हो जाना तो उनकी बहुत बड़ी कृपाका प्रभाव है। अपनेको इसी भगवत्कृपाका पात्र समझकर राजाकी प्रसन्नताका पार न रहा। परन्तु अब हजार वर्षमें एक क्षण भी दूसरे किसी काममें क्यों बीते ? अतएव राजाने उसी समय अपने सुयोग्य पुत्र वज्रको प्रजापालनका भार सौंपकर नारायणके दर्शनार्थ नारायणगिरिको गमन किया। वे इतनी जल्दी चले मानो इसी क्षण दर्शन हो रहे हैं और एक क्षणकी देरमें दर्शन नहीं होंगे। यह सोचकर न तो निश्चिन्त हुए, न भजनमें ही तनिक कमी आने दी कि 'दर्शन तो हजार वर्ष बाद होंगे और जब भगवान्‌ने कह दिया है तब दर्शनमें कोई सन्देह भी नहीं है फिर इतनी जल्दी क्यों की जाय ?'

राजा उसी समय चल पड़े और भगवान्‌का स्मरण करते और अपने सौभाग्यपर प्रमुदित होते हुए जहाँतक हो सका शीघ्र-से-शीघ्र नारायण-पर्वतपर पहुँच गये। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा—पर्वतके बहुत ऊँचे शिखरपर स्वामिपुष्करिणी सुशोभित है। उसमें अमृतके समान जल भरा है। अनेकों सिद्ध, गन्धर्व और देवता उस स्वामितीर्थका सेवन कर रहे हैं। अनेक प्रकारके पक्षियोंके कलरवसे तथा कुमुद, कमल आदिकी सुगन्धिसे स्थान अत्यन्त मनोहर हो रहा है। राजा शङ्खने बहुत पवित्र और मनोरम स्थान देखकर उसीके तीरपर अपनी पर्णकुटी बना ली और चित्तकी गतिको अचल करके परमात्मा श्रीनारायणके ध्यानमें लगा दिया। वह अनन्य-चित्तसे ध्यानपरायण होकर दारुण तप करने लगे।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उधर ब्रह्माजीकी आज्ञा पाकर महर्षि अगस्त्य भी सैकड़ों मुनियोंसे घिरे हुए उसी पवित्र पर्वतकी प्रदक्षिणा कर रहे थे। देवता और ऋषि-मुनियोंको इस बातका पता लग गया था कि महर्षि अगस्त्यको दर्शन देनेके लिये श्रीभगवान् वेंकटेश शैलपर प्रकट होंगे, अतएव भगवान्के दिव्य दर्शनकी लालसासे ब्रह्मा, इन्द्र, स्वामिकार्तिक आदि देवता और सनकादि योगीन्द्र, नारदादि देवर्षि तथा अन्यान्य सिद्ध महात्मा भी इस सुअवसरपर भगवान्के दर्शनकी लालसा करने लगे। ऋषि अगस्त्यजीको भगवान् श्रीगोविन्दकी पूजार्चना करते-करते वहाँ हजार वर्ष पूरे हो गये परन्तु उन्हें पुण्डरीकाक्ष भगवान्के दर्शन नहीं हुए। तब महर्षिको बहुत ही चिन्ता हुई। इतनेमें ही वहाँ बृहस्पति, शुक्र आदिने आकर महर्षि अगस्त्यसे कहा—

'हे मुनिवर! आपके समान द्वितीय नारायण-सदृश अनन्य नारायणभक्तका दर्शन पानेसे आज हमारा जीवन सफल हो गया। हमलोगोंके जीमें भी भगवान्के दर्शनकी बड़ी लालसा हुई, इसलिये हम सब ब्रह्माजीके पास गये थे। ब्रह्माजीने हमसे कहा है कि 'श्वेतद्वीपके दक्षिण भागमें वेंकटेश नामक एक पवित्र पर्वत है, वहाँ महर्षि अगस्त्य और राजा शङ्ख भगवान्के दर्शनके लिये कठोर साधन कर रहे हैं। सर्वलोकमहेश्वर श्रीगोविन्द स्वयं उन्हें दर्शन देनेके लिये वहाँ प्रकट होंगे, तब हम सब देवगण भी उनके दर्शनकर कृतार्थ होंगे, और यह सुअवसर बहुत शीघ्र उपस्थित होगा। अतएव आपलोग वेंकटेश पर्वतपर जाकर महर्षि अगस्त्यसे मिलिये और उनको साथ लेकर शङ्खके पास जाइये। एवं सब लोग मिलकर भगवान्से शीघ्र प्रकट होनेकी प्रार्थना करते हुए उनकी प्रतीक्षा कीजिये।' हे मुनिश्रेष्ठ! ब्रह्माजीके आदेशसे हमलोगोंने यहाँ आकर तेजपुञ्ज आप महाभागके दर्शन किये हैं; अब आपके साथ स्वामि-पुष्करिणीके तटपर जाकर महाभाग शङ्खके दर्शन करेंगे। भगवान्की भक्तिका क्या ही अपूर्व माहात्म्य है। सविधि आराधना करनेपर भी जिन महान् महर्षि और देवताओंका प्रसन्न होना कठिन होता है, वे ही महामहिम महर्षि और देवगण भक्तके दर्शनार्थ उनकी कुटियापर जाते हैं! अस्तु!

महर्षि अगस्त्यको इनकी बात सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई, उनका शोक-जाल कट गया। देवगुरु बृहस्पतिजीके नेतृत्वमें देवताओंको साथ लेकर अगस्त्यजी शीघ्र ही स्वामिपुष्करिणीके पास जा पहुँचे। वहाँ जाकर देखते हैं कि नरपति शङ्ख अपने मन, वचन और शरीरकी समस्त चेष्टाओंको श्रीभगवान्में अर्पण करके निश्चल समाधिस्थ हो रहे हैं। ऋषि और देवोंके आगमनकी बात जानकर राजाने सबको प्रणाम किया और यथायोग्य स्तुति-प्रार्थना करके सबकी पूजा की। बृहस्पतिजीने सब समाचार सुनाये। तदनन्तर सब लोग भगवान्की प्रतीक्षामें उनके श्रीगोविन्द नामका कीर्तन करते हुए अपनेको कृतार्थ मानने लगे!

इस प्रकार तीन दिन स्तुति, प्रार्थना और कीर्तन करते बीत गये। तीसरे दिन रातके समय सबको नींद आ गयी! तब उन्होंने शेष रात्रिमें एक विलक्षण स्वप्न देखा। मानो पुरुषोत्तम हरि भगवान् शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म आदि धारण किये प्रकट होकर बड़ी ही प्रसन्नताके साथ उनके सामने आकाशमें स्थित हुए मन्द-मन्द मुसका रहे हैं। सब लोग स्वप्नमें भगवान्के दर्शन पाकर आनन्दमग्न हो गये। जागनेपर स्वप्नदर्शनको श्रीभगवान्के शुभागमनकी पूर्व सूचना समझकर बड़ी ही उत्कण्ठाके साथ भगवान्की प्रतीक्षा करने लगे। प्रातःकाल होनेपर उन्होंने आदरपूर्वक यथाविधि पुष्करिणीमें स्नान किया और नित्यकर्म करके पुनः भगवान् श्रीअच्युतकी आराधनामें लग गये। सब मिलकर नाना प्रकारसे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भगवान्‌की स्तुति और 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मन्त्रका जप करने लगे। सबके मनमें यह निश्चय था कि बस, अब भगवान् प्रकट होनेवाले ही हैं, पल-पलमें वे भगवान्‌के प्राकट्यकी बाट देखते थे। उनका चित्त सब ओरसे सर्वथा हटकर केवल श्रीभगवान्‌में ही अनन्यभावसे अर्पित हो रहा था। इतनेहीमें अकस्मात् उनके सामने एक महान् अद्भुत तेज प्रकट हुआ। मानो असंख्य कोटि अग्नि, चन्द्रमा और सूर्य एक ही साथ प्रकट हो गये हैं और उनकी वह तेजोराशि अपूर्व शोभा धारणकर आकाशमें विराज रही है। अनन्त प्रकाश होनेपर भी उसमें दाह और ताप नहीं है। और न आँखें ही उस तेजसे चौंधियाती हैं। सब लोग इस अपरिमित तेजको देखकर दिव्य-परमानन्दविग्रह श्रीनारायणका ध्यान करने लगे। इतनेमें उन्होंने देखा भगवान् उनके सामने उपस्थित हैं। भगवान्‌का स्वरूप वाणी और मनके अतीत है। उनके हजार नेत्र हैं, हजार बाहु हैं, हजार पैर हैं, तपाये हुए सोनेके समान प्रभा है, तेजोमयी कान्ति है, मनोहर होनेपर भी अति भयङ्कर आकृति है, भयानक दाढ़ें हैं, मुखसे अग्निकी शिखाएँ उगल रहे हैं, वक्षःस्थलपर कौस्तुभमणि और श्रीलक्ष्मीजी शोभा पा रही हैं। अचिन्त्य, अनादि, अनन्त, सर्वात्ममय, समस्त ब्रह्माण्डके प्रकाशक भगवान्‌के ऐसे अत्यन्त भयदायक स्वरूपको देखकर सब लोग डरते हुए भी अत्यन्त हर्षके साथ उनकी स्तुति करने लगे! भगवान् श्रीहरिके जो महान् तेजस्वी आयुध लोकरक्षार्थ त्रिलोकीमें विचरण करते हैं, वे सब भगवान्‌की सेवामें उपस्थित हो गये। सूर्यसदृश तेजस्वी चक्र, दिव्य गदा, खड्ग, चन्द्रप्रभ पाञ्चजन्य शंख आदि सभीने एकनिष्ठ होकर विराट्‌रूप श्रीहरिकी पूजा की। पाञ्चजन्यकी उग्र ध्वनिसे राक्षस डर गये। ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि देवगण अत्यन्त आश्चर्यमें डूबकर अपने-अपने वाहनोंपर सवार होकर वहाँ आ पहुँचे। सनकादि योगी, वसिष्ठादि मुनि, गन्धर्व, सर्प, किन्नर, विष्वक्सेन, गरुड़, जय आदि भगवान्‌के सेवक, और श्वेतद्वीपनिवासी नित्यसिद्ध महात्मा सब वहाँ आ गये। वृक्ष पुष्प-वृष्टि करने लगे, किन्नर और गन्धर्व मुदित मनसे गाने लगे, ब्रह्मादि देवता स्तुति करने लगे। सब ओर आनन्दका प्रवाह बह चला। परन्तु भगवान्‌के भयानक स्वरूपसे मन-ही-मन सब डर भी रहे थे। सबकी इच्छा थी कि सौन्दर्यमाधुर्य निधि श्रीहरि अपने परम सुन्दर सौम्य स्वरूपमें हमें दर्शन दें। अतएव देवगणकी प्रार्थना सुनकर भगवान् गंभीर वाणीसे बोले—'हे वत्सगण! देखो मैं अपनी भयानक मूर्तिको छिपाकर अत्यन्त प्रिय शान्तस्वरूप हो जाता हूँ। अब तुमलोग व्याकुलता छोड़कर सुखपूर्वक दर्शन करो।' इतना कहकर भगवान् क्षणभरके लिये अन्तर्धान हो गये। दूसरे ही क्षण सबने देखा, एक सुन्दर रत्नखचित विमान सामने प्रकट हो गया है, उसपर भगवान् विराजमान हैं। उनका मुखकमल चन्द्रविम्बकी भाँति शान्त और नीलकमलके समान शोभित है। करोड़ों चन्द्रमाओंके समान सुधावर्षिणी शीतलता और करोड़ों सूर्योंके समान भगवान्‌का प्रकाश है। भगवान् स्वर्णके समान पीत वस्त्र धारण किये हुए हैं, सुन्दर अंगोंपर अनेकों आभूषण और हाथोंमें शंख, चक्र, गदा तथा पद्म सुशोभित हैं। ब्रह्मादि देवता, मुनि, महर्षि अगस्त्य और राजा शङ्ख भगवान्‌के इस दिव्य मधुर स्वरूपको देख-देखकर आनन्दमें उन्मत्त-से हो गये और नाना भाँतिसे स्तवन करने लगे। तदनन्तर श्रीभगवान्‌ने महर्षि अगस्त्यसे कहा—'तुमने हमारे लिये बहुत तप किया है, मैं तुमपर अति प्रसन्न हूँ। जो तुम्हारी इच्छा हो सो मुझसे माँग लो।' भगवान्‌के वचन सुनकर हर्षगद्‌गद वाणीसे अगस्त्य बोले—प्रभो! आज मैं क्या नहीं पा गया!

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मेरे यज्ञ, तप, अध्ययन और श्रवण आदि आज सब सफल हो गये। आज मैं तीनों लोकोंमें धर्मात्मा और धन्य हो गया। मैं आपको खोज रहा था, आज आप स्वयं मुझे दर्शन देने पधारे। आपकी इस कृपादृष्टि-की कल्पनामें ही मेरे समस्त मनोरथ सिद्ध हो गये। हे माधव! मैं विचार करनेपर ऐसी कोई स्थिति या वस्तु नहीं देखता, जो मुझे प्राप्त करनी हो। हे प्रभो! आपकी इस महान् कृपासे बढ़कर और क्या है जो मैं माँगूँ। इसपर भी यदि आपकी ऐसी ही आज्ञा है कि मैं कुछ माँगूँ ही तो नाथ! यही माँगता हूँ कि अपने चरणकमलोंमें आप मेरी निरन्तर अनन्यभक्ति कर दीजिये।—

त्वत्पादाम्बुजयोर्भक्तिमेवं कुरु निरन्तरम्।

भगवान्‌ने अपनी दुर्लभ भक्ति देकर मुनिको कृतार्थ किया। तदनन्तर देवताओंकी इच्छासे अगस्त्य-जीने भगवान्‌से यह वर और माँगा कि आप इस पवित्र वेंकटेशपर्वतपर निवास करें और यहाँ आपके दर्शनार्थ आनेवालोंकी मनोकामना पूर्ण हो। भगवान्‌-ने महर्षि अगस्त्यकी इस प्रार्थनाको भी सहर्ष स्वीकार किया। फिर भगवान् राजा शङ्खसे बोले—'हे वत्स! तुम्हारी भक्तिसे भी मैं बहुत ही प्रसन्न हूँ। मुझे वरद समझकर जो चाहो सो माँगो। तुमने मेरे लिये बड़े कष्ट सहे हैं। देखता हूँ तुम्हारा शरीर तपःक्लेशसे अत्यन्त कृश हो गया है।' राजा शङ्खने बड़े ही विनय-के साथ हर्षोत्फुल्ल हृदयसे भगवान्‌से कहा—'नाथ! मुझे आपके चरणोंकी सेवा छोड़कर और कुछ भी नहीं चाहिये। अपने भक्तोंको आप जो कुछ दिया करते हैं, वही मुझे भी दीजिये। इसके सिवा मैं मुक्ति आदि कुछ भी नहीं चाहता।' भगवान्‌ने कहा—वत्स! ऐसा ही होगा। जो नित्य मेरी सेवामें लगे हैं, उनके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है।—

मत्सेवायोगभव्यानामलभ्यं किमु विद्यते।

इतना कहकर भक्तकल्पतरु भगवान् नारायण महर्षि अगस्त्य और राजा शङ्खको हृदयसे लगाकर देवताओंके द्वारा की जानेवाली स्तुतिको सुनते हुए अन्तर्धान हो गये।

तभीसे वेंकटेशपर्वतकी महिमा बढ़ गयी, जो आज भी उसी प्रकार वर्तमान है।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

भगवान्‌से

लखि द्रौपदीकी अति दीन-दशा अपनी प्रभुता उन चीरमें जोड़े।
वह ग्राहको ग्रास मनों भव-पास-सों दौरि गयन्दके आपने तोड़े॥
गिनती करूँ मैं कितनी, विनती किसकी न सुनी हौ, कहाँ मुख मोड़े?
घिरि आ परी आपति है 'पति' पै रिझवारपना अपना कहाँ छोड़े?

—उमापति शर्मा द्विवेदी 'कविपति'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वेदान्तका सिद्धान्त

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भारद्वाज, एम० ए०, आचार्य, शास्त्री)

इस विश्वका जो सृष्टिकर्त्ता और पालनकार है, फिर लीन होता अन्तमें जिस देवमें संसार है।
श्रुति-जन्म जिससे है तथा जो ज्ञानका आगार है, सब वेद-वाक्योंमें उसी अखिलेशका सुविचार है ॥१॥
जिस ब्रह्मके ही तेजसे रवि चन्द्र तारे व्योममें, विस्तार करते हैं छटाका अग्नि औ इस लोकमें।
परमाणु अगणित हैं गवाक्षोंमें यथा रज व्योममें, ब्रह्माण्ड संख्यातीत उसके हैं तथा स्थित रोममें ॥२॥
एकांशमें ही ब्रह्मके यह दृश्य सब कुछ हो रहा, अवशिष्ट अंशोंका न वर्णन है कहीं भी मिल रहा।
अज्ञेय है अवितर्क्य है उसका न कुछ भी पार है, पर भक्तवत्सल भक्त-हित वह नित्य ही साकार है ॥३॥
उस ईशकी आराधना जो जीव करता सर्वदा, उत्क्रान्ति उसकी अर्चिरादिक मार्गसे होती सदा।
औ आतिवाहिक पुरुष मानव ज्ञानके आलोकमें, ले साथ जाते जीवको क्रमपूर्व विद्युल्लोकमें ॥४॥
तब तो अमानव पुरुष लेकर जीवको आता वहाँ, अपराजिता में पद्मभू पर्यङ्क पर बैठे जहाँ।
अथवा वहीं उस मुक्तको ले साथ जाता है वहाँ, आनन्द-घन पर-ब्रह्म हैं निज धाममें शोभित जहाँ ॥५॥
संकल्पसे सशरीर औ' अशरीर होता है कभी, किन्तु होकर बद्ध उसको है नहीं आना कभी।
आनन्द पाता मुक्त है तब वह न जिसका पार है, औ' सब कहीं उसके लिये फिर कामना-संसार है ॥६॥
ऐश्वर्य सबही भाँति पाता मुक्त वह अविकार है, व्या पारमें पर विश्वके उसका नहीं अधिकार है।
श्रीवत्स, श्री, कौस्तुभ बिना वह रूप पाता ईशका, औ' पान करता श्रीशके चरणाब्जके मकरन्दका ॥७॥
जिसके बिना सब रस रसा औ' स्वर्गका निस्सार है, करता मुदा जो भक्त-विपदाका सदा परिहार है।
भक्ति ही उसकी सदा त्रैलोक्यमें बस सार है, वेदान्तका सिद्धान्त है यह और श्रुतिका सार है ॥८॥

---

१ जन्माद्यस्य यतः [ब्रह्मसूत्र अ० १ पाद १ सू० २]। २ शास्त्रयोनित्वात् [ब्रह्मसूत्र १ । १ । ३]। ३ तत्तु समन्वयात् [ब्रह्मसूत्र १ । १ । ४]। ४ अनुकृतेस्तस्य च [ब्रह्मसूत्र १ । ३ । २२]। ५ क्वेदृग्विधाविगणिताण्ड-परागुचर्यावाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् [ब्रह्मस्तुति—भागवत]। ६ पादोऽस्येहाभवत्पुनः [यजुर्वेद] पादोऽस्य विश्वा भूतानि [यजुर्वेद] विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् [गीता]। ७ एषोऽहं व्यक्तिमास्थाय तिष्ठामि दिवि शाश्वतः [महाभारत]। ८ अर्चिरादिना तत्प्रथितेः [ब्र० सू० ४ । ३ । १]। ९ आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् [ब्र० सू० ४ । ३ । ४]। १० वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः [ब्र० सू० ४ । ३ । ५]। ११ ब्रह्मलोके—यस्मिन्नपरा-जिता पूर्ब्रह्मणः [अन्तिम ब्रह्मसूत्रपर आचार्य शङ्कर]। १२ कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः [ब्र० सू० ४ । ३ । ६]। १३ पर्यङ्कस्थं ब्रह्म [३ । ३ । २७ सूत्रपर आचार्य शङ्कर]। १४ परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् [ब्र० सू० ४ । ३ । ११]। १५ यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम [गीता] यत्र चाद्यः पुमानास्ते भगवाञ्शब्दगोचरः [भागवत]। १६ सङ्कल्पादेव तच्छ्रुतेः [ब्र० सू० ४ । ४ । ८]। १७ अनावृत्तिः शब्दात् [अन्तिम ब्रह्मसूत्र]। १८ रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति [श्रुति]। १९ तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति [छान्दोग्य० ८ । १ । ६]। २० अत एवानन्याधिपतिः [ब्र० सू० ४ । ४ । ९]। २१ विकारावर्त्ति च तथा हि स्थितिमाह [ब्र० सू० ४ । ४ । १९]। २२ जगद्व्यापारवर्ज्यं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च [ब्र० सू० ४ । ४ । १७]। २३ वसत्युरसि मे भूतिर्भवत्पादहृतांहसः [भागवत स्कंध १० अ० ८९ श्लोक १२] पीतवासा घनश्यामः प्रसन्नवदनेक्षणः । वनमालानिवीताङ्गो लसच्छ्री-वत्सकौस्तुभः [भागवत स्कं० ६ अ० ४ श्लोक ३७] प्रतीच्यां दिश्यभूदाविः शङ्खचक्रगदाधरः ॥ आत्मतुल्यैः षोडश-भिर्विना श्रीवत्सकौस्तुभौ । पर्युपासितमुन्निद्रशरदम्बुरुहेक्षणम् ॥ [भागवत स्कंध ६ अ० ९ श्लोक २८-२९]। २४ तस्याः श्रियस्त्रिजगतो जनको जनन्या वक्षोनिवासमकरोत्परमं विभूतेः [भागवत स्कं० ८ अ० ८ श्लोक २५]। २५ कौस्तुभाख्यमभूद्रत्नं पद्मरागो महोदधेः । तस्मिन् हरिः स्पृहां चक्रे वक्षोऽलङ्करणे मणौ [भागवत स्कंध ८ अ० ८ श्लोक ५]।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सहजोका स्मरण

(लेखक—श्री 'माधव')

समय-समयपर संसारमें प्रभुकी दया और प्रेमका अवतार होता रहता है। संत-महात्मा प्रभुकी दया और प्रेमके साकार विग्रह हैं। प्रभुकी इच्छासे, प्रभुकी लीला चरितार्थ करनेके लिये और संसारमें सोये हुए व्यक्तियोंको जगाने तथा उनमें प्रेमकी चिनगारी सुलगानेके लिये महापुरुष संसारमें आते हैं और अपने दिव्य आलोककी मधुर छटा छिटकाकर प्रभुकी गोदमें पुनः लौट जाते हैं। वे संसारमें रहते हुए भी सतत हरिकी गोदमें ही विचरते रहते हैं क्योंकि उनका मन, चित्त, बुद्धि, आत्मा केवल परमात्मामें ही रमण करता है। वे अहर्निश हरिमें ही सोते-जागते, उठते-बैठते, चलते-फिरते, खाते-पीते हैं। हरिके रसमें रात-दिन छके रहते हैं—और यदि कभी कुछ दया करके, अपने आनन्दकी मस्तीमें बोल देते हैं तो संसारके कोटि-कोटि प्राणियोंकी तृषा शान्त हो जाती है। उनके अन्तर्बहिः केवल हरि ही होता है और वे वास्तवमें हरिकी ही बात अपनी वाणीमें बोलते हैं। जैसे अनेक-अनेक नदियोंकी एकमात्र गति समुद्र है उसी प्रकार समस्त चर-अचरका एक ही उद्देश्य है और वह है श्रीहरिकी शरणमें जाना। वे महात्मा हमें संसारसे खींचकर हरिकी गोदमें बिठा देते हैं और इसीलिये वे प्रातःस्मरणीय तथा चिरन्तन दर्शन-स्पर्शन-वन्दनीय हैं। ये महात्मा कभी भी हमारा साथ नहीं छोड़ते और उनका दर्शन और स्पर्श आज भी हमें उसी प्रकार प्राप्त हो सकता है जैसा उनके सशरीर रहते समय। आज भी वे हमारे हृदयकुञ्जमें बैठकर कूक रहे हैं, आत्माको जगा रहे हैं, उसे प्रकाश दे रहे हैं, भीतर-ही-भीतर आनन्द बरसा रहे हैं और अपने प्यारभरे उपदेशों-से हमें भगवत्पथमें चलनेके लिये प्रोत्साहन दे रहे हैं, बढ़ावा दे रहे हैं। यही सच्चा सत्सङ्ग है, इन संतोंका आत्मिक सङ्ग ही कल्याणका एकमात्र पथ है, क्योंकि जहाँ हम इनके सङ्ग हो जाते हैं कि संसार आप-ही-आप पीछे छूट जाता है और आगे कुछ ही दूरपर हरिकी झिलमिल-झिलमिल झाँकी होती रहती है।

जीवनपथमें प्रतिपल हरिकी झलक मिलती रहे, सदा-सदैव प्रभुका स्मरण होता रहे, मन उसीकी मूर्त्तिमें मस्त रहे, हृदय उसीके रंगमें रँगा रहे और वाणी उसीके रसमें पगी रहे—यही बार-बार, भिन्न-भिन्न प्रकारसे संत-महात्माओंने बतलाया है। मनको परमात्माके चरणोंमें बाँधकर भगवत्सेवा तथा श्रीकृष्णार्पणबुद्धिसे संसारके कर्म करते रहना यही महात्माओंके उपदेशका सार है। भगवान्‌की पूजा प्राणोंकी गतिके साथ मिलकर एक हो जाय; प्राणोंमें हरिकी अविराम क्रीड़ा होती रहे—हरि ही दिखे, हरि ही सुने, हरि ही बोले। अन्यथा कुछ हो ही नहीं। तार टूटे ही नहीं—बस, तेलकी धाराके समान स्मरणका अखण्ड आनन्द बना रहे। कबीर-दादू आदि संतोंने हमें यही चिताया है, बार-बार यही आदेश किया है। अस्तु।

आज यहाँ मेवात (राजपूताना) की प्रसिद्ध भक्त नारी सहजोबाईके स्मरणके सम्बन्धमें कुछ निवेदन किया जा रहा है। सहजोबाई महात्मा चरनदासजीकी शिष्या थीं और लगभग १८०० वि० संवत्‌में वर्त्तमान थीं। इनकी गुरु-बहिन दयाबाई भी बहुत प्रसिद्ध और ऊँची आत्मा थी। सहजो और दयाकी जोड़ी भक्ति-संसारमें बेजोड़ है, अद्वितीय है। आज तो केवल भारतवर्षमें ही नहीं, अपितु दूसरे देशोंमें भी प्रेमी भक्त महानुभाव सहजो और दयासे परिचित हैं और भक्तिके साथ इनकी स्मृतिमें सिर झुकाते हैं, इनके उपदेशोंके अनुसार जीवन बितानेकी चेष्टा करते हैं और उसमें प्रभुकी प्रेरणा तथा उत्साहका अनुभव करते हैं। स्मरणकी लौके सम्बन्धमें सहजोने जो कुछ भी कहा है वह मधुर अनुभूतिके रससे ओतप्रोत है और वह वास्तवमें हमें हरिके पथमें एक विचित्र प्रेरणा तथा आनन्द प्रदान करता है।

एक बात पहले जान लेना आवश्यक है कि चरणदासी पंथमें साधनके लिये गुरुकी अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि गुरुके सिवा इस महाअन्धकारभरे संसारमें प्रभुका पथ कोई बतला ही नहीं सकता। गुरु तो 'वहाँ' से जाकर आया है, गुरुने भगवान्‌के दर्शन प्राप्तकर उस आनन्दको

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

संसारमें बाँटनेके लिये, हमारी उन्नति और उद्धारके लिये हमपर दया की है। अतएव सबसे पहली बात जो साधकके लिये अनिवार्य है, वह है श्रीगुरुचरणोंकी शरण।

गुरु-मग दृढ़ पग राखिये, डिगमिग डिगमिग छाँड़।
सहजो टेक टरै नहीं, सूर सती ज्यों माँड़॥

श्रीगुरुनिर्दिष्ट मार्गमें दृढ़तापूर्वक कदम रक्खे, रंचमात्र भी अविश्वास न आने पावे। डगमगाना छोड़कर गुरुके चरणोंका अनुसरण करे। गुरुके हाथमें अपना हाथ दे दे, गुरुके अधीन अपना जीवन सौंप दे और गुरु जैसे चाहें वैसे इस जीवनको बनावें। जिस प्रकार सती अपने पतिका पथ नहीं छोड़ती उसी प्रकार गुरुका पथ भी छोड़े नहीं। गुरुके चरणोंका जहाँ सुदृढ़ अनुसरण है वहाँ काम-क्रोध-लोभ आदिकी एक भी नहीं चलती। इस महा-अन्धकारपूर्ण संसारमें गुरुके चरणनखकी द्युति ही एकमात्र परम प्रकाश है। गुरु-चरणोंके स्पर्शसे महामलिन हृदय भी महाउज्ज्वल हो जाय। गुरुकी सहज अनुकम्पासे सब कुछ साध्य है, सुलभ है—

चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, सरसो ना ठहराय।
सहजोकूँ वा देशमें, सतगुरु दई बसाय॥

श्रीगुरुमुखसे निकला हुआ 'नाम' ही ऐसा पारस है जिसके स्पर्शमें आते ही हमारा हृदय सोना बन जाता है, जन्म-जन्मकी काई धुल जाती है, पाप-ताप नष्ट हो जाते हैं, मुक्ति-मुक्तिकी कोई चाहना नहीं रह जाती। 'नाम' की प्राप्ति ही अत्यन्त दुर्लभ है। जिसने नाम-रतनधन पा लिया उसने सब कुछ पा लिया, उसे अब कुछ भी पाना नहीं रह गया। यह 'नाम' ही श्रीगुरुचरणोंकी असीम अनुकम्पाका एकमात्र परम दिव्य प्रतीक है। इस संसारमें ऊपरसे घोर अन्धकारकी अजस्र वर्षा हो रही है, विषयोंकी बरसात आ गयी है और सभी नदियाँ उमड़ चली हैं। इससे पार लगानेवाला और प्रीतमके महलमें पहुँचानेवाला एकमात्र साधन 'नाम' ही है—

सहजो भवसागर बहै, तिमिर बरस घनघोर।
तामें नाम जहाज है, पार उतारै तोर॥

उस पारसमणि 'नाम' को प्राणोंमें जुगोकर रक्खे, एक क्षणके लिये भी वहाँसे दृष्टि हटने न दे। उसको बराबर रखवाली करता रहे, सहेजता रहे, उसे बचाये रखनेके लिये सदा जागता रहे, चूके नहीं—

जागतमें सुमिरन करै, सोवतमें लौ लाय।
सहजो इकरस ही रहै, तार टूटि नहिं जाय॥

जागते समय तो उसी 'नाम' की थातीका स्मरण करता रहे और सोते हुए मनमें लौ लगी रहे, प्राण वहीं अँटके रहें। अहर्निश एकरस—बस, बराबर अविच्छिन्न नाम-स्मरण होता रहे, कहीं एक पलके लिये भी तार टूटे नहीं। यह स्मरण जीवनका परम मधुर व्यापार है, प्राणोंकी परम गोपनीय क्रीड़ा है—इसका रस भीतर-ही-भीतर पीता रहे, उसी रसमें अलमस्त रहे, बाहर वह मस्ती कहीं झलक न उठे, इसकी सावधानी रक्खे। परम गोपनीय वस्तुको संसारके सामने कैसे रक्खा भी जाय? वह तो बस, हृदयके भीतर छिपाये रखनेकी वस्तु है—

सहजो सुमिरन कीजिये, हिरदै माँहि छिपाय।
होठ-होठसूँ ना हिलै, सकै नहीं कोइ पाय॥

होंठ भी न हिलें, बस, भीतर-ही-भीतर रसकी धारा बहती रहे और तार बँध जाय, रसमें सारे प्राण तैरते रहें, डूबे रहें, भिने रहें। हृदयके भीतर छिपे हुए हृदयेशको बराबर निहारता रहे और खाते-पीते, सोते-जागते, उठते-बैठते—सभी समय, सभी कार्यमें उसका स्मरण करता रहे—

बैठे लेटे चालते, खान-पान ब्यौहार।
जहाँ-तहाँ सुमिरन करै, सहजो हिये निहार॥

सहजोने बार-बार हमें चिताया है कि यह मनुष्यका शरीर परम दुर्लभ, साधनका धाम और मुक्तिका द्वार है। इस देवदुर्लभ मानव-शरीरको पाकर जो विषयोंकी सेवाद्वारा नरकका सामान इकट्ठा करता है वह कितना मूर्ख है! 'अपना'-'अपना' करते हुए हम दुःखोंको बटोरनेमें व्यस्त हैं। एक क्षणके लिये भी हरि-स्मरणका अवकाश नहीं मिलता। स्वार्थकी नींवपर संसारका महल खड़ा है। संसारके सारे नाते स्वार्थको लेकर ही हैं। घरके स्वजन या संसारके मित्र साथ क्या देंगे—साथ देनेवाली तो अपनी यह काया भी नहीं है—

सहजो भज हरि नामकूँ, तजो जगतसूँ नेह।
अपना तो कोइ है नहीं, अपनी सगी न देह॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मरना एक दिन अवश्य है, यह सभी जानते हैं पर समझते नहीं। सभीके मनमें यही बात बैठी हुई है कि संसारके सभी प्राणी मर जायँगे—बस, हम बचे रहेंगे और खूब सुख भोगेंगे। यही सबसे महान् आश्चर्य है कि प्रायः नित्य ही 'रामनाम सत्य है' का जुलूस हम देखते हैं परन्तु यह समझते नहीं कि हम भी इसी प्रकार कभी स्वजनोंके कंधेपर चढ़कर औघट घाट पहुँचाये जायँगे। हम तो बस, संसारके विषयभोगोंको ही जीवनका परम लक्ष्य मानते हुए इसके नशामें ही चूर हैं—

यही कही गुरुदेवजू, यही पुकारैं संत।
सहजो तज या जगतकूँ, तोहि तजैगो अंत॥

मरनेपर तो इस कायाको कोई पूछेगा भी नहीं, प्रत्युत घिनायेगा। इसका स्वप्न आनेपर लोग डरेंगे। हमारा मुख देखकर वे डरेंगे और भागेंगे, नेहका नाम भी नहीं रहेगा और जल्दी-से-जल्दी घरसे बाहर करके सूने स्थानमें जाकर जलाकर खाक कर देंगे। रे मन! इस पारसमणि 'नाम' को पाकर यदि तुम सँभाले न रहा तो साँस निकल जानेपर सिर पीटेगा! संसारकी यह धारा तो अगम है, अपार है, करोड़ों-अरबों आये और वह गये, यह धारा एक क्षणके लिये भी ठहरती नहीं। इसमें कोई भी अपना सच्चा सङ्गी-साथी नहीं है, एकमात्र हरिके स्मरणका आधार है—

सहजो फिर पछितायगी, स्वास निकसि जब जाय।
जब लगि रहे सरीरमें, राम सुमिरि गुन गाय॥
सहजो नौबत स्वासको, बाजत है दिन-रैन।
मूरख सोवत है महा, चेतनकूँ नहिं चैन॥
यह रास्ता बहता रहै, थमै नहिं छिन एक।
बहु आवैं बहु जातु हैं, सहजो आँखन देख॥
सब देखत तुम जावगे, तुम देखत जग जाय।
सहजो योंही रीति है, मत कर सोच उपाय॥

'मत कर सोच उपाय' का अर्थ यह है कि सोच न करो, उपाय सोचो। इस मृत्युसे कैसे छुटकारा हो इसकी तदबीर सोचो, चिन्ता न करो। पारसमणि 'नाम' तो तुम्हारे हृदयमें प्रकाश भरता ही रहेगा। नामका स्मरण ही हृदयमें प्रेमकी ज्वाला जलायेगा और प्रेमकी यह ज्वाला ही साधनाका परम प्राण है। जो प्रभु-प्रेमका दिवाना हो गया उसका मन चकनाचूर हो गया, हरिरसमें वह अहर्निश छका रहता है क्योंकि वह सदैव 'प्रभु' को ही देखता रहता है—

प्रेम-दिवाने जे भये, मन भयो चकनाचूर।
छके रहैं, घूमत रहैं, सहजो देखि हुजूर॥

बस, यह 'प्रेम' ही तो परम पुरुषार्थ है। इस प्रेमसे बढ़कर कोई वस्तु है ही नहीं। जिसे प्रभुका प्रेम मिल गया उसे सब कुछ मिल गया, कुछ भी मिलना बाकी नहीं रहा। प्रेमकी मिश्री भीतर-ही-भीतर घुलती रहती है और साधक उसीमें छका रहता है। कभी हरिकी नुकीली आँखें घायल कर गयीं, कभी उसकी अलकोंमें प्राण बँध गये, कभी उसकी वनमालामें आत्मा गुँथ गयी तो कभी उसकी मुरलीके रवमें प्राणोंका हाहाकार बज उठा। भक्त कभी हरिके चरणतलको अपनी छातीसे सटाकर उसे बाँध लेता है, कभी उसीकी गोदमें अपनेको डालकर उसे एकटक देखता रहता है। वह हरिमें, उसमें हरि—यह अपूर्व लीला एक अद्भुत उल्लास-तरंगके साथ होती रहती है। एक क्षणके लिये भी इस लीलाविहारका विराम नहीं होता। संसारकी दृष्टिमें ऐसे लोग पागल और बहके हुए हैं। सांसारिक पुरुषोंकी 'बुद्धि' में उन मस्तोंका फक्कड़पन कुछ समझहीमें नहीं आता। वे अकबकाकर उनकी ओर देखते हैं और खब्त समझकर आँखें फेर लेते हैं—

प्रेम-दिवाने जे भये, कहैं बहकते बैन।
सहजो मुख हाँसी छुटै, कबहूँ टपकैं नैन॥

प्रेमी भक्तोंकी वाणी ही अटपटी होती है, उनके बैन हमारी समझमें क्या आवें? वे तो भीतर-ही-भीतर अपने प्राणवल्लभकी शोभाको निरख-निरखकर अलमस्त हो रहे हैं; कभी-कभी उस शोभा और आनन्दकी झलक मुखपर आ भी जाती है। ये प्रेमदिवाने क्षणमें ही हँसते हैं और क्षणमें ही आँखोंसे गंगा-यमुना बहने लगती है। बड़ी विचित्र दशा है; वहाँ न हँसना ही है, न रोना ही, हँसना भी है और रोना भी। ऐसे पागलोंका साथ संसार स्वयं छोड़ देता है। उनका तो एकमात्र सदा संगी भगवान् हरि रहते ही हैं; उन्हें क्या गरज कि दुनियाके लोगोंसे यारी जोड़ने जायँ! दुनियाके लोग तो उसे देखकर हँसते हैं, क्योंकि उनकी दृष्टिमें वह 'बावरा' है—

प्रेम-दिवाने जे भये, जाति बरन गई दूर।
सहजो जग बौरा कहै, लोग भये सब कूर॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लोगोंने इस पागलसे किनाराकशी कर ली। उनका स्वार्थ तो जब इससे सधता नहीं, फिर क्या मतलब कि इससे यारी जोड़ें ? प्रेमकी प्रगाढ़ावस्थामें नेम-धर्म आप ही छूट जाते हैं। लोग उसे देखकर हँसते हैं, उसकी खिल्लियाँ उड़ाते हैं और उनका हँसना देखकर वह आप-ही-आप मुसकाता है—

प्रेम-दिवाने जे भये, नेम-धरम गयो खोय।
सहजो नर-नारी हँसैं, वा मन आनँद होय॥
प्रेम-दिवाने जे भये, सहजो डिगमिग देह।
पाँव पड़ै कितकै किती, हरि सँभाल तब लेह॥

सर्वत्र-सर्वदा जब अखण्ड हरिदर्शन होने लगा, जब आँखें खोलनेपर दृष्टि जहाँ गयी वहीं हरि मुसकाते हुए दीख पड़ने लगे तो अपनेको कैसे सँभाला जाय ? वहाँ तो बस, सब कुछ बेकाबू हुए रहता है। भक्तके चित्तको तो हरि नचा रहा है। जो मनमें आता है, उसे जैसे भाता है वही नाच वह नचाता है, फिर अपने वशमें रहा ही क्या ? पर उदार हरि उसे प्रतिपल सँभाले हुए हैं, उसे अपनी गोदमें छिपाये हुए हैं। भक्त तो एक क्षणके लिये भी माँ कृष्णकी गोद नहीं छोड़ता। ऐसी दयामयी माँ कहाँ मिलेगी ? किसे पानेके लिये वह माँको छोड़े भी। और समर्पण ? हरे ! हरे ! समर्पण भी कहीं किये होता है ? समर्पण तो प्राणोंकी एकमात्र स्वाभाविक धारा है। समर्पणमें ज़ोर नहीं लगानी पड़ती, वह तो सहज ही हो जाता है। पत्नी पतिको प्यार करना, पतिके चरणोंमें अपने प्राणोंकी भेंट चढ़ाना किसीसे सीखती है ? वहाँ तो प्राणोंमें जो हाहाकार है, जो अतृप्त ज्वाला है वह स्वयं उसे हरिके चरणोंमें चढ़ा आती है।

अहंकारसे विमूढ़ मानवने समर्पण किया तो नहीं पर उसका ढिंढोरा पीटता फिरता है मानो उसने हरिको कोई बहुत बड़ी और अनमोल वस्तु भेंट की है, ऐसा मानो हरिके चरण उसके प्राणोंकी भेंटके बिना सूने थे ! समर्पणकी क्रिया तो मिट गयी, अहंकारमात्र बोलता फिरता है। जहाँ-तक 'मैंने समर्पण किया' ऐसा भाव भीतर बना हुआ है वहाँतक तो यही समझना चाहिये कि यहाँ अभिमान ही बोल रहा है। समर्पणमें यह भाव कभी आता ही नहीं कि मैंने प्रभुके चरणोंमें अपनेको चढ़ाया है; वहाँ तो यही प्रतीत होनी चाहिये कि प्राणोंने प्रभुके चरणोंकी शरण ली है, उसकी अमर शीतल छायामें विश्राम लिये हुए है। हरिके बिना रहा ही नहीं गया, इसीलिये तो उसकी शरण ली। कोई संसारमें ऐसा 'अपना' नहीं मिला जो हरिके समान हमें सारे पाप-अपराधके साथ अपनी गोदमें छिपा ले; मुझे अपने प्राणोंके भीतर रख ले। अपना एकमात्र प्रियतम बस हरि ही मिला। हरि ही ऐसी माँ मिली जिसने मेरे अपराधोंकी ओर नहीं देखा, जिसने मेरे धूलभरे शरीर तथा मलिन, कलङ्कित जीवनको अपनी भुजाओंमें बाँधकर छातीसे चिपका लिया। इस माँको कैसे छोड़ूँ ?

माँकी गोदमें चले जानेपर दो बातें स्वतः हो गयीं, एक तो संसारकी झुलसानेवाली ज्वालासे प्राणोंको छुटकारा मिला और आत्माको दिव्य शान्ति मिली। फिर अब किसीकी ओर देखनेकी इच्छा ही नहीं होती। अब किसीसे क्या याचना ? संसारमें किसीसे क्या आशा, किसीका क्या भरोसा ? संसारमें मालिक आज खुश हैं तो कल नाराज। एक क्षणमें प्रसन्न होते हैं, तो दूसरे ही क्षणमें निगल जाना चाहते हैं। मेरा मालिक तो हरि है—एकमात्र हरि है जो सब स्वामियोंका स्वामी, सब मालिकोंका मालिक है। उसकी गोदमें जाकर अब किसीके सामने आँचल क्या पसारूँ, हाथ क्यों फैलाऊँ ? जन्म-जन्मान्तरोंसे जलता-तपता आया था, आज हरिने बलात् पकड़कर हमें अपनी छातीसे लगा लिया और वही हमारा परम उदार हरि अब हमें किसी औरकी ओर देखने क्यों देगा ? अपने बच्चेको औरोंके सामने भीख माँगते माँ कैसे देख सकेगी ? पत्नीको औरोंसे याचना करते प्राणपति हरि कैसे देख सकेंगे ! बस, अब तो नितनवीन, प्रतिपल अधिकाधिक प्रगाढ़, अधिकाधिक मधुर आनन्द हरिकी गोदमें मिल रहा है—

मनमें तो आनँद रहै, तन बौरा सब अंग।
ना काहूके संग हैं, सहजो ना कोइ संग॥

मनमें आनन्द छाये हुए है, रोम-रोम उस प्रेमसे छके हुए हैं, इस आनन्दमें द्वैत है ही नहीं। न मैं किसीके सङ्ग हूँ और न कोई मेरे ही सङ्ग है। अब तो प्रतिपल हरिका अखण्ड स्मरण हो रहा है, हरिके सिवा कुछ मनमें, चित्तमें, प्राणोंमें, हृदयमें आता ही नहीं। हरिमें ही डूबकर मौन हूँ, हरिको ही लेकर बाहर आता हूँ और वाणीमें हरिकी ही बात बोलता हूँ। अपना तो हरिके सिवा कुछ रहा ही नहीं—

कबहूँ हकबक हो रहैं, उठैं प्रेमहित गाय।
सहजो आख मुदी रहै, कबहूँ सुधि हो जाय॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साहीभवति ।

हरिके स्मरणरूपी परम प्रेमा भक्तिको पाकर मनुष्य न किसी भी वस्तुकी इच्छा करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तुमें आसक्त होता है और न उसे विषयभोगोंकी प्राप्तिमें उत्साह ही होता है। क्योंकि इस प्रेमको पीकर इसे ही देखता है, इसको ही सुनता है, इसको ही वर्णन करता है और इसका ही चिन्तन करता है। इसी बातको सहजोके शब्दोंमें सुनिये—

सहजो साधनके मिले, मन भयो हरिके रूप।
चाह गयी थिरता भई रंक लख्यौ सोइ भूप ॥

इसे ही रामबादशाहने अपनी अनोखी मस्तीके रागमें गाया है—

मैं पिया ! तोरे रँगमें समाय रही।
और रंग मोहे काहे प्रिय होवे, प्रीतम-रँगमें लुभाय रही ॥

हरिका स्पर्श पाते ही, उनके स्मरणकी दीप्ति हृदयमें ऐसी चमकी कि यह मिट्टीकी काया दिव्य हो गयी, जन्म-जन्मकी पीर मिटी और बादमें उनके अमृत वचन सुनने और उनके परम प्रेमको पीने योग्य मैं हो गयी। इस प्रकार हरिने स्मरणका आनन्द देकर हमें सदाके लिये निहाल कर दिया। इस रसको अब एक पलके लिये भी होंठोंसे हटाया नहीं जाता। बस, भीतर-बाहर सब कुछ हरिके स्मरणमें डूबा हुआ है। प्राणोंमें सुरतका मेला लगा हुआ है। सुरतकी ही झलमल ज्योति चराचरमें बिखरी हुई है। पग-पगपर प्रियतमके मधुर, नितनूतन, प्रतिपल अधिकाधिक मधुर दर्शन हो रहा है। हरिने स्वयं दया करके मेरे इन जन्म-जन्मके विकल प्राणोंको अपने आलिङ्गनमें बाँध रक्खा है, स्वयं उसीने इनका वरण किया है और वेदनाका दान देकर, स्मरणका आनन्द देकर सदाके लिये धन्य कर दिया है। स्मरणमें ही प्राण डूबे हुए हैं, अब बाहर क्या आया जाय ?

यस्य स्मरणमात्रेण जन्मसंसारबन्धनात्।
विमुच्यते नमस्तस्मै विष्णवे प्रभविष्णवे ॥

बन्दी !

(रचयिता—श्रीयुत पं० सत्यव्रतजी शर्मा 'सुजन' बी० ए०, शास्त्री)

(१)

शूलीके पहले चंचल
है मिला एक तुझको पल।
इतनेमें सब कुछ करना,
क्यों इसे खो रहा पागल ?

(२)

माना, दुनियामें सुख है,
परिणाम एक ही दुख है।
सुख दुखकी लघु सीमासे
ऊँचा उठ रे, ऊपर चल !!

(३)

नश्वर जग, नश्वर काया,
यह सब अलीक है, माया।
तू अमरलोकका बासी,
मर्त्योंका है यह भूतल !!

(४)

घटमें अँट आया सागर,
अञ्चलमें बन्दी अम्बर।
मृत्तिका मलिन पुतलेमें
बँध गया विराट महाबल ॥

(५)

अन्तर्मुख अहमिति तजकर
हो स्थित अपनेमें भीतर।
शृंखला बन्धकी टूटे,
लय घनानन्दमें अविरल !!

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अन्तर्नाद

(रचयिता—कुँवर श्रीराजेन्द्रसिंहजी एम० ए०, एल-एल० बी०)

(क)

ऐ मेरे जीवनके स्वामी ! उरमें वही जला दे आग ।
जिसमें तपकर निखर उठे, सोना-सा, मेरा भी अनुराग ॥
वही आग, हाँ, जो कर डाले भस्म वासनाएँ मेरी ।
मेरे कर्म, अकर्म, अहन्ता तथा कामनाएँ मेरी ॥१॥

हे ज्योतिर्मय ! शीघ्र जला दे, अपना प्रेम-दीप अभिराम ।
और, प्रकाश उसीका भर दे, मानसमें, हे लीलाधाम ॥
मेरा प्राण-पतंग, उसी लौका करके मृदु आलिङ्गन ।
प्राप्त करे जीवन-विभूतिको अर्पित करके अपनापन ॥२॥

(ख)

चित्रकार बन, चित्र बनाया, मानस पटपर जो तेरा ।
अन्तर्तममें जिसे छिपाये रहा, यत्नसे मन मेरा ॥
जो अमूर्त्त है, निराकार है, उसका चित्र बनानेमें ।
मैं अपराधी हुआ सही, अखिलेश ! उसे अपनानेमें ॥१॥

दण्ड दीजिये, ग्रहण करूँगा, सादर मैं प्रसन्न मनसे ।
किन्तु एक है नम्र प्रार्थना, करुणामय जीवनधनसे ॥
बन्द किया जाऊँ मैं जिस बन्दीगृहमें, हे न्यायाधीश ।
वहीं टाँगने पाऊँ अपना प्यारा वही चित्र जगदीश ॥२॥

(ग)

ऐ मेरे अलबेले साक़ी, मेरे जीवनका प्याला—
भर दे उसी प्रीति-पेयासे, कर दे मुझको मतवाला ॥
पड़ा रहूँ अलमस्त कहीं, बस थोड़ी-सी मदिरा पीकर ।
तेरे रँगमें रँग जाऊँ मैं स्वयं तुझीमें हिलमिलकर ॥१॥

पीकर एक बूँद रस तेरा, देखा वह अनन्त आकाश ।
जिसमें थिरक रहा है मेरे, जीवनका मधुमय अभिलाष ॥
इसी तरहसे, किया करूँ मैं, सदा प्रेम-रसका मधुपान ।
अपना सब कुछ तुझे सौंपकर, अपनाकर तुझको छबिमान ॥२॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

निन्दाकी स्तुति

(लेखक—श्रीनारायणदासजी बाजोरिया बी० ए०)

निन्दक बाबा बीर हमारा । बिन ही कौड़ी बहे बिचारा ॥
कोटि कर्मके कल्मष काटै । काज सँवारे बिन ही साटै ॥
आपन डूबै औरको तारै । ऐसा प्रीतम पार उतारै ॥
जुग जुग जीओ निन्दक मेरा । रामदेव ! तुम करो निहोरा ॥
निन्दक मेरा पर उपकारी । 'दादू' निन्दा करै हमारी ॥

(भजन ७५ आ० भ० पृष्ठ १४६)

प्राचीन कालमें काशीमें एक अत्यन्त धर्मात्मा, प्रजावत्सल और प्रतापी राजा राज्य करता था। उसकी कीर्ति दसों दिशाओंमें फैली हुई थी। सब लोग उसकी प्रशंसा किया करते थे। यहाँतक कि स्वर्गसे देवदूत भी आकर उसके धर्मके लिये उसकी स्तुति किया करते थे।

एक दिन एक देवदूतने आकर राजासे निवेदन किया, 'महाराज ! आपके लिये स्वर्गमें स्वर्णके बड़े-बड़े महल तैयार हुए हैं। उनमें आप बड़े सुखसे निवास करेंगे।'

देवदूतसे अपने सौभाग्यकी बात सुनकर राजाको मन-ही-मन बड़ी प्रसन्नता हुई और फलस्वरूप अपने धार्मिक कृत्योंपर उसे अभिमान हो आया। परन्तु अभिमान तो 'पापमूल' कहा गया है। अभिमान होना ही पतन है और यहींसे मनुष्य पापमें प्रवृत्त होता है। इसीसे बचनेके लिये शास्त्र मान-प्रतिष्ठासे बचनेकी शिक्षा देते हैं। ब्राह्मणके लिये तो यहाँतक आदेश है कि 'मानसे सदा डरते रहो। जहाँ मान प्राप्त होता हो वहाँ भूलकर भी न जाओ, नहीं तो ब्रह्मत्वसे च्युत हो जाओगे। उसी स्थानमें प्रसन्नतापूर्वक जाओ जहाँ तुम्हारा अपमान होता हो।' उस यशस्वी और धार्मिक राजाका स्वच्छ अन्तःकरण भी अभिमानका स्पर्श होते ही मलिन, अन्धकारमय हो गया।

कुछ ही दिनों बाद नगरमें यह समाचार फैला कि नगरके समीपके वनमें एक अत्यन्त तेजस्वी तपस्वी आये हैं। राजाके मनमें भी उन तपस्वीके दर्शनकी लालसा उत्पन्न हुई। वह यथोचित भेंटकी सामग्री लेकर रथपर सवार होकर जंगलकी ओर चल पड़ा। जंगलके समीप पहुँचनेपर वह रथसे उतर पड़ा और वहाँसे पैदल उस स्थानपर आया जहाँ वह तपस्वी बैठकर ध्यान कर रहे थे। राजाने अत्यन्त श्रद्धाके साथ तपस्वीको प्रणाम किया और फल-फूल आदि भेंटकी सामग्री उनके सामने रख दी। परन्तु तपस्वी उस समय ध्यानमें मग्न थे; उन्हें राजाके आगमनकी कोई खबर न थी। राजाने लगभग एक पहरतक तपस्वीके उत्तरकी प्रतीक्षा की; परन्तु तपस्वीका ध्यान भंग न हुआ और न तो उन्होंने राजाके सत्कारका कोई उत्तर दिया, न उससे बैठनेको ही कहा। इसपर अभिमानवश राजाने यह समझ लिया कि यह तपस्वी ढोंग कर रहा है; यह मुझे देखकर भी नहीं देखता—जान-बूझकर मेरा अपमान कर रहा है। और यह सोचते ही उसे क्रोध हो गया। क्रोध होनेपर तो मति भ्रष्ट हो ही जाती है। राजाने पासमें पड़ी हुई घोड़ेकी लीद देखी और अपमानका बदला लेनेके लिये उसे उठाकर तपस्वीके ऊपर डाल दिया। उसके बाद वह तुरन्त क्रोधमें ही अपने नगरको वापस आ गया।

कुछ दिन बाद एक रातको फिर उसके पास देवदूत आये। राजाने उनसे कुशल-क्षेम पूछनेके बाद स्वर्गका समाचार पूछा। देवदूतोंने कहा—'महाराज ! आपके स्वर्णमहलोंमें तो लीद-ही-लीद भर गयी है, कहींपर एक तिल रखनेका भी स्थान नहीं है।' इतना कहकर देवदूत चले गये। राजाने विचार किया कि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हो-न-हो यह उस तपस्वीके अपमानका फल है। अब किसी तरह इसका प्रायश्चित्त होना चाहिये।

दूसरे दिन राजाने अपने गुप्तचरोंको बुलाया और उन्हें आज्ञा दी कि सारे राज्यभरमें प्रचार कर दो कि राजा ऐसे-ऐसे अनुचित कार्य करता है। गुप्तचरोंने ऐसा ही किया। फलस्वरूप राज्यभरमें जहाँ सदा उसका यशोगान हुआ करता था, वहाँ अब उससे भी अधिक उसकी निन्दा होने लगी। राज्यका प्रत्येक व्यक्ति राजाकी बुराइयोंकी ही चर्चा करने लगा। राज्यभरमें केवल एक लोहार ऐसा था जो इस चर्चासे बिल्कुल अलग था; उसने कभी किसीकी बातपर ध्यान नहीं दिया; और न कभी राजाकी कोई निन्दा की। वह चुपचाप अपने काममें लगा रहता था।

कुछ दिन बाद फिर देवदूत आये। राजाने फिर उनसे स्वर्गका हाल पूछा। उन्होंने कहा, 'महाराज! स्वर्गमें आपके स्वर्णमन्दिरमें जो लीद भर गयी थी, वह प्रायः सब साफ हो गयी, केवल एक कोनेमें थोड़ी-सी लीद पड़ी हुई है। आपकी निन्दा करनेवाले आपके समूचे महलको साफ कर गये; परन्तु अमुक लोहार-ने कभी निन्दा नहीं की, इसी कारण एक कोनेमें थोड़ी-सी लीद रह गयी है।'

इतना कहकर देवदूत चले गये! राजाने सोचा, किसी तरह वह लोहार भी यदि निन्दा कर डाले तो मेरा काम बन जाय। अतएव दूसरे दिन रातमें वह भेष बदलकर लोहारके पास गया। उसने लोहारसे बातचीत करते हुए एक प्रसंगसे कहा, 'भाई! इस नगरका राजा अत्यन्त दुष्ट है। वह ऐसे-ऐसे अनर्थ किया करता है!' थोड़ी देरतक तो लोहार चुपचाप राजाकी बातें सुनता रहा। अन्तमें उसने बड़ी नम्रता-के साथ कहा, 'महाराज! क्यों मुझे बहका रहे हैं? मुझसे आपकी निन्दा न होगी। वह लीद तो आपको ही खानी पड़ेगी; मैं आपकी निन्दा करके उसे नहीं खाऊँगा।'

संसारमें किसीकी निन्दा करनेसे उसके पापके एक अंशका भागी होना पड़ता है तथा किसीके पुण्यसे प्रसन्न होकर उसकी प्रशंसा करनेसे उसके पुण्यका कुछ अंश प्राप्त होता है। भक्तशिरोमणि नरसीजी कहते हैं—

सकल लोकमां सहुने वन्दे, निन्दा न करे केनी रे।
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन धन जननी तेनी रे॥

चार स्मरणीय महात्मा

इस असार संसारमें नित्य-निरन्तर जन्म-मरणका खेल चल रहा है। नित्यप्रति असंख्य प्राणी इस भूतलपर उत्पन्न होते हैं और असंख्य अपनी जीवन-लीला समाप्तकर कालके गालमें समा जाते हैं। परन्तु शास्त्रों, ऋषियों और संतोंकी रायमें उसी प्राणीका जन्म-मरण सार्थक है, जिसने अपने नन्हें-से जीवनको भगवान्‌के प्रति अर्पण कर दिया हो। क्योंकि इस भौतिक जीवनका अन्तिम ध्येय यही है, जीवमात्रका परम कल्याण इसी बातमें है। ऐसे पवित्र आत्माओंका जीवन केवल उन्हींके लिये नहीं, बल्कि परोक्ष या अपरोक्षरूपसे जीवमात्रके लिये, विश्वभरके लिये कल्याणकारी होता है। इतना ही नहीं, बल्कि उनकी अनुपस्थितिमें उनका शुभ स्मरण भी हमारे लिये कम मंगलकारी नहीं होता। अतएव आज हम ऐसे ही चार पुनीत पुण्यात्माओंका यहाँपर स्मरण करना चाहते हैं जिन्होंने अपना पवित्र जीवन समाप्तकर अभी हालमें ही इस भौतिक जगत्‌से नाता तोड़ लिया है। उनके नाम हैं—(१) पूज्यपाद स्वामी श्रीअच्युतमुनिजी, (२) स्वामी श्रीनिगमानन्दजी, (३) स्वामी श्रीसंतदासजी, और (४) चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१—श्रीअच्युतमुनिजी

श्रीअच्युतमुनिजीका पंजाबी शरीर था। आप संस्कृतके उद्भट विद्वान् थे और पहले लाहौरमें अध्यापन-कार्य करते थे। आपने शास्त्रोंका बड़ा गहरा अध्ययन किया था। उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदि ग्रन्थ तो आपको कण्ठस्थ हो गये थे। स्वभावसे ही आपके अंदर वैराग्यकी भावना वर्तमान थी। अध्यापन-कार्य करते समय भी आप प्रायः संसारसे निर्लिप्त रहा करते थे। आपका अधिकांश समय एकान्तमें, विशेषतः रात्री नदीके तटपर बीता करता था। नाम-जपपर आपकी बड़ी श्रद्धा थी। आपने स्वयं एक बार कहा था कि 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस तारकमन्त्रका ५ करोड़ जप मैंने उन्हीं दिनों किया था। ऐसे महात्मा, वैराग्यवान् और भगवद्-भक्त पुरुष कैसे अधिक सत्संग और शास्त्रचर्चाके लिये आया करते थे। आप वेदान्तादि अत्यन्त गूढ़ विषयोंका विवेचन बड़ी गम्भीरता तथा सरलताके साथ किया करते थे। आपके द्वारा शिक्षाप्राप्त कितने ही महानुभाव आज सन्मार्गपर चलकर आपका गौरव बढ़ा रहे हैं।

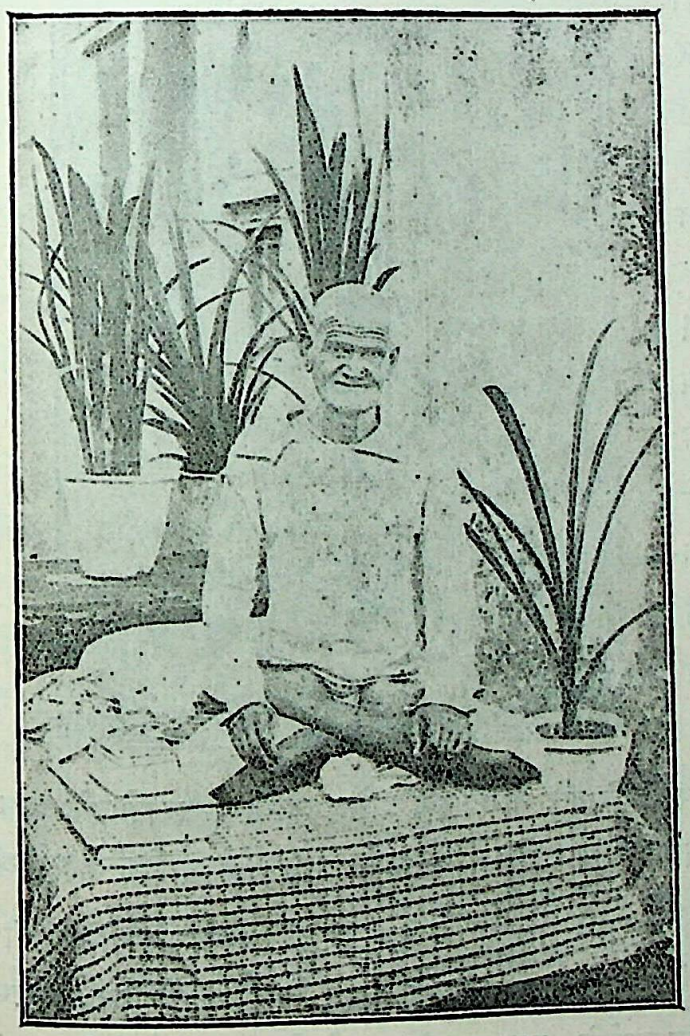

आप इधर कुछ समयसे काशीके समीप रामेश्वरम् नामक स्थानमें रहा करते थे और समय-समयपर अपने उपदेशोंसे लोगोंका कल्याण-साधन किया करते थे। गत १२ दिसम्बर सन् १९३५ को काशीधाममें भगवान् श्रीविश्वनाथके मन्दिरके सामने श्रीगौरीशङ्करजी गोयनकाके मकानमें आपने इहलीला समाप्त की। श्रीगौरीशङ्करजी गोयनका आपके एक प्रधान शिष्योंमें हैं। इन्होंने आपके ही पवित्र नामपर इधर लगभग दो-दाई वर्षसे 'अच्युत' नामक मासिकपत्र तथा अच्युतग्रन्थमालाके नामसे पुस्तक-प्रकाशनका कार्य आरम्भ किया है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

२—स्वामी श्रीनिगमानन्दजी

स्वामी श्रीनिगमानन्दजीका जन्म बङ्गालके नदिया जिलाके कुतुबपुर गाँवमें श्रावण सुदी १५ सं० १९३० वि०को हुआ था। आरम्भमें इनका नाम नलिनीकान्त भट्टाचार्य था। यह स्कूली शिक्षा प्राप्तकर सब-ओवरसियरके पदपर नियुक्त हुए; परन्तु कुछ दिन बाद वहाँसे इस्तीफा देकर कलकत्तेके एक राजाके यहाँ चले आये। यहाँपर कार्य करते समय एक ऐसी अद्भुत घटना घटी, जिसने इनकी जीवन-धारा ही पलट दी। एक दिन रातमें कलकत्तेमें इन्होंने अपनी स्त्रीकी दिव्य मूर्तिको अपने कमरेमें

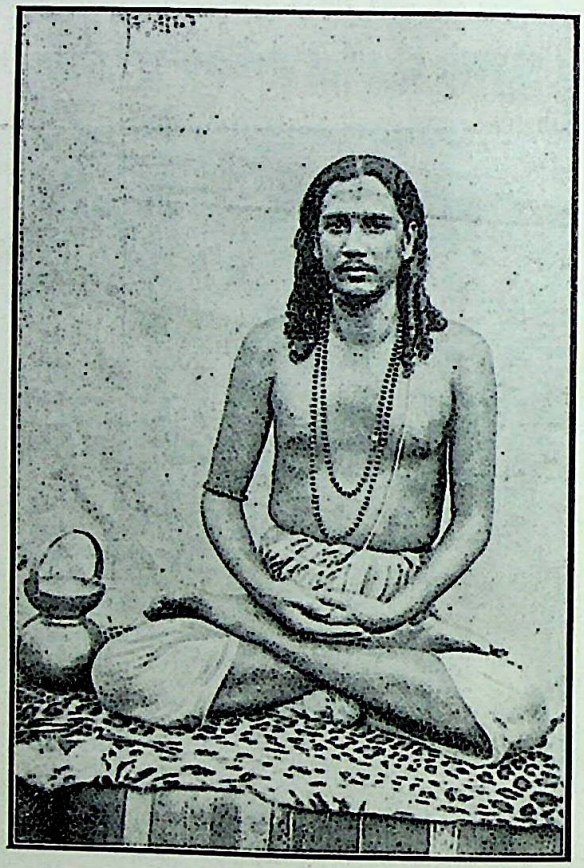

देखा और दूसरे ही दिन पत्नीके देहावसानका तार मिला। इस घटनासे इनके मनमें विश्वास जम गया कि मृत्युके बाद भी जीवका अस्तित्व रहता है। फिर यह आत्मा और परलोक-सम्बन्धी तत्त्वानुसन्धानमें प्रवृत्त हुए। इन्हीं दिनों इनकी मुलाकात स्वामी श्रीपूर्णानन्दजीसे हुई। उन्होंने इन्हें दीक्षा लेनेकी सलाह दी। फलस्वरूप यह एक योग्य गुरुकी खोज करने लगे। बहुत दिनों बाद इन्हें स्वप्नमें एक मन्त्र मिला और उसके बाद तारापीठके प्रसिद्ध तान्त्रिक वामाक्षेपाके पास जानेका आदेश मिला। श्रीवामाक्षेपाके आदेशानुसार इन्होंने तान्त्रिक साधना की और थोड़े ही दिनोंमें इन्हें श्रीजगन्माताके दर्शन हुए।

इसके बाद वामाक्षेपाने इन्हें संन्यास लेनेकी सलाह दी। अतएव इन्होंने स्वामी श्रीसच्चिदानन्द परमहंससे संन्यासकी दीक्षा ली और वेदान्त आदि शास्त्रोंका अध्ययन किया। यहींपर इनका नाम स्वामी निगमानन्द रक्खा गया। कुछ दिन ज्ञानसाधन करनेके बाद गुरुकी आज्ञासे फिर यह एक योगी गुरुकी खोजमें निकले, जिनका साक्षात्कार इन्हें हिमालयमें हुआ। गुरुकी कृपासे थोड़े दिनोंमें ही निर्विकल्प समाधिकी प्राप्ति करके यह पुनः अपने दीक्षागुरुसे मिले, और यहींपर इन्हें परमहंसकी उपाधि प्राप्त हुई। इसके बाद इन्होंने पुनः एक भावसिद्धा भैरवीसे भाव-साधनाकी दीक्षा ली और थोड़े दिनोंमें उसमें भी सिद्धि प्राप्त कर ली।

इस प्रकार प्रायः पाँच वर्षोंके अंदर इन्होंने सनातनधर्मके प्रधान चार पन्थोंकी—तन्त्र, ज्ञान, योग और भावकी साधनामें सफलता पायी। परन्तु इनका लक्ष्य केवल आत्मोन्नति करना ही नहीं था। अतएव इन्होंने अब अपनेको लोक-कल्याणके कार्यमें प्रवृत्त किया। इन्होंने साधन-सम्बन्धी कितने ही ग्रन्थ लिखे और आसाम और बङ्गालमें कई स्थानोंपर मठ, आश्रम और सङ्घकी स्थापना की, जनके द्वारा आजपर्यन्त सनातनधर्म, सच्छिक्षा और सेवाभावका प्रचार हो रहा है। देशमें इनके

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बहुसंख्यक गृहस्थ और संन्यासी शिष्य वर्तमान हैं। इस तरह एक आदर्श-जीवन व्यतीतकर इन्होंने मार्गशीर्ष शु० ३ सं० १९९२ वि० को योगासन लगाकर प्रायः ५७ वर्षकी आयुमें इहलीला समाप्त की।

३–श्रीसंतदास बाबाजी

व्रजविदेही श्रीसंतदास बाबाजीका जन्म बङ्गालमें हुआ था। इनका पूर्वाश्रममें नाम था श्रीताराकिशोरजी चौधरी। यह कलकत्ता हाईकोर्टके एक प्रसिद्ध और सफल वकील (एम० ए०, बी० एल०) थे। वकालत करते समय भी यह धर्मपरायण, समाजसेवक और पवित्रात्मा समझे जाते थे। इनके अंदर वास्तविक सत्यकी गहरी खोज थी। इसी कारण इन्होंने एक योगी-सम्प्रदायमें सम्मिलित होकर प्रायः १२ वर्षतक योग-साधन किया। परन्तु इससे इन्हें कुछ लाभ न हुआ। फिर यह किसी योग्य गुरुकी खोज करने लगे। कितने ही संत-महात्माओंसे मिले। अन्तमें कुम्भके मेलेमें इन्होंने व्रजविदेही महन्त स्वामी श्रीरामदास काठिया बाबाजीके दर्शन किये और उसके कुछ दिन बाद वृन्दावन जाकर उन्हींसे दीक्षा ली। उसके बाद कुछ दिनोंतक गृहस्थाश्रममें ही रहकर गुरूपदिष्ट मार्गसे साधना की और अन्तमें सब कुछ छोड़कर पूर्णरूपसे श्रीगुरुके चरणोंपर अपनेको समर्पित कर दिया।

श्रीसंतदास बाबाजीकी गुरु तथा भगवान्‌पर अटूट श्रद्धा और अनन्य भक्ति थी। गुरु और भगवान्‌का स्मरण होते ही उनके नेत्र प्रेमाश्रुओंसे भर जाते थे, कण्ठ गद्गद हो जाता था। इसी भक्तिका फल था कि यह भी स्वयं एक उच्चकोटिके महात्मा हो गये थे और इन्हें अपने गुरुके बाद प्रसिद्ध श्रीनिम्बार्क-सम्प्रदायके व्रजविदेही महन्तके आसनपर बैठनेका गौरव प्राप्त हुआ था।

श्रीसंतदासजी बड़े ही सरल और मिलनसार प्रकृतिके पुरुष थे। इनकी वाणी बड़ी ही मीठी और व्यवहार प्रेमपूर्ण होता था। इनकी नम्रताको कोई भी मनुष्य पहली मुलाकातमें ही परख सकता था। इन्होंने शास्त्रोंका बड़ा गहरा अध्ययन किया था और इनकी विवेचनशैली बड़ी सरल और सुबोध थी। इन्होंने बङ्गभाषामें कई पुस्तकें भी लिखी हैं। इन्हींके कारण बङ्गाल और आसाममें निम्बार्क-सम्प्रदायका काफी प्रचार हुआ है। इनके उपदेशोंको सुनकर बहुत-से त्यागी और गृहस्थ सन्मार्गपर लगे हैं। इन्होंने गत कार्तिक मासमें प्रायः ७७ वर्षकी आयुमें इहलीला संवरण की।

४–चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी

चौधरी श्रीरघुनन्दनप्रसादसिंहजी बिहारके मुजफ्फरपुर प्रान्तके रहनेवाले एक अच्छे विद्वान् थे। यह बहुत दिनोंतक दरभङ्गाराज्यमें एक उच्च पदाधिकारी थे और अभी थोड़े दिनोंसे ही राज्यकी नौकरीसे अलग हुए थे। यह कुछ दिनोंतक बिहार-टेक्स्ट-कमिटीके मेम्बर भी रह चुके थे। इसके अतिरिक्त इनके जीवनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि यह गृहस्थ होते हुए भी अच्छे संत पुरुष थे। इन्होंने हिन्दू धर्मशास्त्रका बड़ा गहरा अध्ययन किया था और गुरूपदिष्ट मार्गसे साधन करके बहुत अच्छी आध्यात्मिक स्थिति प्राप्त की थी। इनके गुरु हैं पं० श्रीभवानीशंकरजी। इनकी 'कल्याण' पर बड़ी कृपा रहती थी। यह सदा ही गुप्त और प्रकटरूपमें अपने अमूल्य ज्ञान और अनुभवद्वारा 'कल्याण' के पाठकोंका कल्याण करनेकी चेष्टा किया करते थे। आप बड़े सरल, मृदुभाषी, विनम्र और मिलनसार पुरुष थे। २५ दिसम्बर सन् १९३५ को एकाएक निमोनियाके रोगसे इनका देहावसान हो गया। आपकी लिखी हुई दो पुस्तकें—'आनन्दमार्ग' और 'भक्तियोग' शीघ्र ही गीताप्रेससे प्रकाशित होनेवाली हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ब्रह्मविद्याका महत्त्व

(लेखक—गोस्वामी श्रीगणेशदत्तजी)

आज प्रायः सभीका सांसारिक जीवन दुःखमय है। इसमें कोई भी व्यक्ति सुखकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करनेपर भी सुखी दिखायी नहीं देता। सुखकी ओर कदम बढ़ाते ही दुःखोंका गड्ढा सामने दिखायी देता है। प्रायः सांसारिक जीवन आज रागद्वेषयुक्त नीच-ऊँचके भावोंसे कलुषित, कपट और छलके व्यवहारसे असंयमित और प्रबल विषय-वासनाओंसे दूषित हो रहा है। जनसमुदायमें प्रायः निराशा, कायरता और भीरुपनने अपना साम्राज्य जमा रक्खा है। अनेक प्रकारकी कुत्सित कामनाओंने मनुष्य-समाजको व्यसनी, विषयी, निस्सार और आधि-व्याधिसे ग्रस्त बना दिया है और चटक-मटकके जीवनने तो समाजको खोखला ही कर डाला है। इस मुक्त पुरुषोंके देशमें रहनेवाले जनसमुदायकी ऐसी चिन्तनीय और शोकजनक अवस्था क्यों हो गयी ?

यदि वर्तमान जीवनकी तुलना प्राचीन जीवनके साथ की जाय, तो दिन और रातका ही अन्तर दिखायी देता है। प्राचीन जन-समाजका जीवन ज्ञान, विचार, संयम, निर्भयता, प्राणिमात्रमें एक आत्मदृष्टि, स्वास्थ्य, तेज, ओज तथा बलवीर्यादि सद्गुणोंसे विभूषित था। पर आज उससे बिल्कुल विपरीत है। मेरे विचारमें इन सब दुर्बलताओं-का कारण वर्तमान शिक्षाका प्रभाव है। प्राचीन भारतीय शिक्षापद्धतिका उद्देश्य अत्यन्त निर्मल और उच्च भावोंसे भरपूर था। उसका सम्बन्ध मनुष्यके अन्तरात्मासे था। वह मनुष्यके अन्तरात्माको निर्मल, उज्ज्वल तथा देदीप्य-मान करती थी और साथ ही सद्भावोंसे विभूषित भी कर देती थी। मनुष्यके अन्तरात्माकी मुकुलित शक्तियाँ उससे विकसित हो जाती थीं। जिससे ये भारतीय सांसारिक जीवनको व्यतीत करते हुए सदा आनन्दमें मग्न, निर्भय, प्राणिमात्रके हितचिन्तनमें तत्पर, स्वास्थ्य तथा उत्साहसे पूर्ण होते थे। और कोई भी सांसारिक दुःख इनके मनको विचलित नहीं करता था। आपत्तिकालमें इनका हृदय धीर, गम्भीर एवं सहनशील होता था। अभिप्राय यह कि इन गुणों और शक्तियोंको जाग्रत करनेवाली इस मनुष्य-समाजकी प्राणाधार और जीवनस्तम्भ सर्व शक्तियोंका पुञ्ज यह ब्रह्मविद्या ही थी।

इस देशमें छोटेसे लेकर चक्रवर्ती राजापर्यन्त सब इस ब्रह्मविद्याके लिये लालायित थे। राजा लोग इस विद्याके बलसे ही प्रजापालनमें समर्थ होते थे। और इन्हीं राज्य-कार्यके भारवहनमें समर्थ राजाओंके पास बड़े-बड़े तपस्वी ब्राह्मण भी ब्रह्मविद्या प्राप्त करनेके लिये आते थे। इस ब्रह्मविद्याके ज्ञानसे मनुष्य निर्भय, ओजस्वी, तेजस्वी तथा प्रतापी होते थे। मृत्यु इन्हें कभी भयभीत नहीं कर सकती थी। मृत्युका शब्द तो इसके पाठमें पढ़ाया ही नहीं जाता था। अध्यात्मविद्याके ज्ञाताओंने मृत्युको माना ही नहीं। केवल परिवर्तन शब्दसे ही इसका प्रयोग किया है। अध्यात्मविद्याके ज्ञाता इस संसारको क्षण-क्षणमें सदा विपरिणामी समझते थे। उनका सिद्धान्त यह था कि प्रमाद ही मृत्यु है। अर्थात् जो पुरुष आत्मज्ञानसे शून्य और विषयासक्त हैं एवं मोहरूपी रज्जुसे जकड़े हुए हैं उन्हें ही यह मृत्यु। मृत्युरूप होकर भयभीत करती है और खाती है। क्योंकि स्वस्वरूपको न जाननेका नाम ही प्रमाद है और प्रमाद ही मृत्यु है।

आत्मनिष्ठ पुरुष इस प्रमादसे बहुत ऊँचा उठा हुआ होता है। वह सदा स्वात्मरूपमें अवस्थित रहकर निर्भय होता है। उसके हृदयमें यह दृढ़ ज्ञान है कि सब जगत्का अधिष्ठान यह आत्मा सदा अजर-अमर है, और सब वस्तुओं में व्यापक है। नामरूप जगत्का सदा विपरिणाम होता रहता है। उसमें आत्मा सदा कूटस्थ, अचल, अविनाशी प्रकाशस्वरूप है। इसी आत्मज्योतिसे ही सब जगत् प्रकाशित हो रहा है। इसीकी सत्तासे चन्द्र, सूर्य, तारा, अग्नि, जल, वायु आदि अपने-अपने कर्ममें प्रवृत्त हो रहे हैं। बिना आत्मसत्ताके एक पत्ता भी हिल नहीं सकता। यह आत्मसत्ता ही अखण्ड सच्चिदानन्दस्वरूप पूर्ण ब्रह्म है। यही सूक्ष्म-स्थूल-कारण शरीरोंमें साक्षीरूपमें स्थित है। आत्मा ही जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओंका द्रष्टा है और यह आनन्दमय एवं प्रकाशस्वरूप है। यही श्रीगंगाजीकी लहरमें, श्रीयमुनाजीकी लहरमें, पर्वतोंके शिखरोंमें, वृक्षों-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

की चोटियोंमें, फल और फूलमें, पत्ते-पत्ते और ज़र्रे-ज़र्रेमें ब्रह्मस्वरूपसे स्थित है।

इस प्रकारके उस आत्मनिष्ठ ब्रह्मज्ञको कौन शक्ति संसारमें कायर और दुर्बल कर सकती थी? आत्मनिष्ठ पुरुषके अन्तःकरणमें कहाँ अपने-परायेका भाव रहता था? उसकी दृष्टिमें तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सर्व जगत् ब्रह्मस्वरूप ही था। यह आत्मनिष्ठ पुरुष शोक, मोह, दौर्बल्य, राग, द्वेष, मान और अपमानादि दोषोंसे ऊपर उठा हुआ होता था। यह ब्रह्मविद्या ही संसारमें मनुष्यमात्रके अन्तःकरणसे अविद्याका नाशकर मनुष्यमात्रको आत्मज्योतिसे प्रकाशित करती थी। इस विद्याका विज्ञाता सदा आनन्दमें मग्न रहता था। श्रुति—

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

अर्थात् स्वरूपमें स्थित एकत्वदर्शी पुरुषको क्या मोह और क्या शोक हो सकता है? इस संसारमें इस ब्रह्मविद्याको पाकर पुरुषके लिये न तो कुछ भी प्राप्तव्य शेष रहता है और न किसी दुःखसे वह चलायमान हो सकता है।

गीता—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

उपनिषद्—

यल्लाभान्नापरं लाभं यत्सुखान्नापरं सुखम्।
यज्ज्ञानान्नापरं ज्ञानं तद्ब्रह्म इत्यवधारयेत् ॥

अर्थात् जिस ब्रह्मज्ञानसे बढ़कर कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है, जिससे बढ़कर कोई सुख भी नहीं है और जिसके ज्ञानसे बढ़कर संसारमें कोई ज्ञान नहीं है उसीको ब्रह्म समझो।

यह अत्युत्तम अलौकिक ब्रह्मविद्या परम आनन्ददायिनी है। इसका विज्ञाता सदा आनन्दकी मस्तीकी लहरमें मग्न रहता है और उसे सांसारिक कष्ट विचलित नहीं कर सकते। मृत्यु तो उसे अजर-अमर परमानन्दका पद दिखायी देती है। इसीके प्रभावसे दधीचि और द्रोणाचार्य आदि ऋषियोंने इस हाड़-मांसके पिंजरसे हाथसे पक्षी उड़ानेके समान अपने प्राण-पखेरूको उड़ा दिया था। मंसूरने सूलीपर चढ़कर 'अनलहक' अर्थात् 'शिवोऽहम्' शिवोऽहम्' पुकारा था। और इसीके बलसे वीर बन्दा वैरागीने अन्त समयतक तप्त लोहेके फालोंसे स्थूल शरीरके दग्ध होनेपर भी हँसते-हँसते अपने धर्मके ज्ञानको ऊँचा किया था। श्रीगुरु गोविन्दसिंहजीके दुलारे अपनी माताकी गोदमें खेलते हुए और दुग्धपान करते हुए 'शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि' की लोरीके बलसे नौ और दस वर्षकी आयुमें अपने मान और धर्मकी मर्यादाको रखते हुए दीवारोंमें चुने गये और सदाके लिये अजर-अमर हो गये। यह अध्यात्मविद्या तेज, बल, शक्ति और आनन्दप्रदायिनी है। इसीके आधारपर स्वामी रामने अपनी आनन्दमयी मस्तीमें मस्त होकर यह गीत गाया था—

हर आन हँसी, हर आन खुशी, हरवक्त अमीरी है बाबा।
जब आशिक मस्त फकीर हुए, फिर क्या दिलगीरी है बाबा॥
हैं आशिक और माशूक जहाँ, वहाँ शाह वज़ीरी है बाबा।
नहि रोना है, नहि धोना है, नहि दरदे-असीरी है बाबा॥
दिन-रात बहारें चोहलें हैं, अरु इश्क-सफीरी है बाबा।
जो आशिक होय सो जाने है, यह भेद फकीरी है बाबा॥

इस प्रकार ज्ञानी स्वमहिमामें स्थित हुआ सर्वत्र ही अपने आत्माको देखता है।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।

(गीता) इत्यादि।

प्यारे बन्धुओ! इस अत्युत्तम आनन्ददायिनी ब्रह्मविद्याको भूलकर ही आज दर-दर भीख माँगते हुए देश-परदेशके मुहताज हो रहे हो। कायरता-दुर्बलता आदि दोषोंने तुम्हारे अन्तःकरणको मलिन कर रक्खा है। विषय और वासनाओंकी गुलामीने तुम्हें मनुष्यत्वसे दूर कर दिया है। इस मुक्त और वीर पुरुषोंके देशकी तुमने क्या दुर्गति कर रक्खी है। मेरा यह विश्वास है, इस देशकी दुर्गतिको देखकर वे मुक्त आत्माएँ ब्रह्मलोकमें भी रुधिरके अश्रु बहा रही होंगी। प्यारे! आपकी इस उपनिषद्विद्यापर भ्रमरकी तरह सारा संसार मुग्ध था। आपके ही पास दूर देशान्तरोंसे लोग आकर ब्रह्मविद्याकी शिक्षा प्राप्त किया करते थे। और आज भी सभ्यसमाज भारतके बाहरके विद्वान् शोपेनहर, श्लेगल, वि० कज़िन आदि इस उपनिषद्धर्मपर मोहित होकर ब्रह्मविद्याके गीत गा रहे हैं। और आज भी डा० स्टोक्स-जैसे सत्यपरायण पुरुषोंने शिमला प्रान्तमें वर्षों ईसाइयतका प्रचारकर अब इस उपनिषद्धर्मपर मोहित होकर इस अनादि एवं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सर्वोत्तम हिन्दूधर्मको ग्रहणकर अपना नाम सत्यानन्द रक्खा है।

प्यारे ! नवयुवको !! यह तुम्हीं हो जिन्हें आज यह कहते हुए लज्जा नहीं आती कि हिन्दूधर्ममें क्या रक्खा है। किन्तु भाइयो ! यह तुम्हारा दोष नहीं है। यह तुम्हारी सौतेली माताका दोष है, जिसने तुम्हारे मुखोंसे अमृतका प्याला छीनकर विषके प्यालेका प्रयोग किया है, जिससे आज तुम स्व-स्वरूपको भूलकर पामर, कायर और नपुंसक बनकर पराधीनताकी बेड़ियोंमें जकड़े हुए हो। यदि चाहते हो अब भी भारतका कल्याण करना, इस दुर्बलतासे ऊपर उठना, प्राणीमात्रको गले लगाना, भारतको गयी हुई स्वतन्त्रताको लौटा लाना, और भारतमें प्रेमका दरिया बहाना, तो बन्धुओ ! उपनिषद् एवं गीताके उपदेशामृतका पान करो। फिर देखोगे कि तुम्हीं भूपोंके भूप होगे, और तुम्हीं पूर्व ऋषियोंके समान संसारको मार्ग दिखलानेवाले होगे। तुम्हारे अन्तःकरणसे नीच और ऊँचका भाव उठकर 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का भाव उत्पन्न होगा। और इन मुक्त पुरुषोंके देशकी स्वतन्त्रताको अपने चरित्रबल तथा बाहुबलसे सुरक्षित करोगे। उठो ! जागो !! चेतो !!! उपनिषद्माता आपको जगा रही है, गीता-माता आपको ज्ञानरूपी अमृतका प्याला पिलाती है, श्रीगङ्गामाता शिवोऽहं और ॐकी लोरी देकर आपको आनन्दकी लहरोंमें मग्न कर रही है तथा गायत्रीमाता आपको ओजस्वी एवं तेजस्वी होनेका आशीर्वाद दे रही है। जिस देश तथा जातिमें उपनिषद्-धर्म, गीताज्ञान, गङ्गास्नान और श्रीगायत्रीका महत्त्व हो वह देश इस दुर्गतिको प्राप्त हो—प्यारे ! इसमें ठीक वही मिसाल है कि घरमें हीरे-जवाहरातके खज़ाने हों और स्वयं घरकी सम्पत्तिका ज्ञान न होनेसे, भीख माँगे !

बुझाने दो

सुरतियाँ प्राणप्यारेसे, लगाते हैं, लगाने दो।
उन्हींके रंगमें खुदको, रँगाते हैं, रँगाने दो॥

तुड़ाकर मोहका बन्धन, उदासी रहके दुनियासे।
सलोने श्याममें मनको, रमाते हैं रमाने दो॥

नहीं है चाह धन, दौलत, बड़ाई, मानकी कुछ भी।
नंदके लालपर सरबस, लुटाते हैं, लुटाने दो॥

नहीं है लोभ भोगोंका, नहीं है स्वर्गकी बांछा।
मदनमोहनकी छबिपर, बस, लुभाते हैं, लुभाने दो॥

हमें क्या, फेर दुनियाके उलझते या सुलझते हैं।
पियाके नामकी माला, फिराते हैं, फिराने दो॥

जगतके नाम-रूपोंको, है हमने जाँचकर देखा।
'उन्हींसे' प्रेमका नाता, निभाते हैं, निभाने दो॥

'अहं' के ढोंग, आडम्बर, रचे लाखों हि हमने हैं।
खुदीको खाकमें अब तो, मिलाते हैं, मिलाने दो॥

पिघलकर विरह-ज्वालासे चित्तके बन गये आँसू।
हृदयकी तापको रो-रो, बुझाते हैं, बुझाने दो॥

—भोलादत्त देवरानी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याण फाल्गुन संवत् १९९२ की

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-मीराको दर्शन [कविता]	... १२०५
२-कल्याण ('शिव')	... १२०६
३-ईश-स्तवन [कविता] (महात्मा श्रीजयगौरी-शङ्कर सीतारामजी)	... १२०७
४-श्रीमद्भगवद्गीता और योगतत्त्वसमन्वय-मीमांसा (श्रीगोवर्धनपीठाधीश्वर श्रीजगद्-गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री ११०८ श्री-भारतीकृष्णतीर्थजी महाराज)	... १२०८
५-साधनकी आवश्यकता (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानके आधारपर)	... १२१९
६-कर्म और यज्ञ (श्रीअरविन्द)	... १२२५
७-पञ्चसंस्कार (हनुमानप्रसाद पोद्दार)	... १२३०
८-भक्त-गाथा	... १२३३
९-पथिक [कविता] (श्रीमुरलीधरजी दीक्षित 'भ्रान्त')	... ... १२३५
१०-समाधि और संयमतत्त्वसार (श्रीश्रीभार्गव श्रीशिवरामकिङ्कर स्वामी योगत्रयानन्दजी महाराजके उपदेश)	... १२३६
११-परमहंस-विवेकमाला (स्वामीजी श्रीभोले-बाबाजी)	... ... १२३७
१२-भक्तविजय (श्रीचन्द्रकान्तजी शाण्डिल्य, शास्त्री 'मधुर')	... १२४२
१३-कृष्णसे [कविता] (कुमार श्रीकाशीप्रसाद सिंह 'प्रभाकर')	... १२४६
१४-न्यासयोग (श्रीयशोदानन्दजी अखौरी)	... १२४७
१५-श्रीरासलीला-रहस्य (महात्माका उपदेश)	१२५७
१६-'आज तो हमने तुम्हें पर्दानशीं देख लिया' (श्रीगोपीनाथजी)	... १२६२
१७-उसके प्रति [कविता] (डी० आर० गुप्त, एम० ए०)	... १२६३
१८-श्रीकौशल्या माताके चरित्रसे शिक्षा (श्री-जयरामदासजी 'दीन' रामायणी)	... १२६४
१९-ज्ञान (श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव)	... १२६९
२०-गंगा-महिमा [कविता] (बीकानेरनरेश महाराजा श्रीरायसिंहजीके भ्राता इतिहास-प्रसिद्ध महाराज श्रीपृथ्वीराजसिंहजी कृत, संग्रहकार और सम्पादक पं० श्रीमुरलीधरजी व्यास लालाणी एवं पं० फकीरचन्दजी पुरोहित)	... ... १२७९
२१-तलाक़ सभ्यताका चिह्न है ! (श्रीमती रूप-रानी 'श्यामा' बी० ए०)	... १२८०
२२-शिव-रात्रि-अनुभव [कविता] (श्रीब्रह्मदत्त-जी शर्मा 'शिशु')	... १२८४

पूजाके फूल

लेखक—श्रीभूपेन्द्रनाथ देवशर्मा

भावग्राही भगवान्‌के 'पूजाके फूल' भावयुक्त ही होने चाहिये। इस 'माली' ने भी भक्तिभावमकरन्दमय फूलोंका ही चयन किया है। इनकी दिव्य गन्धसे प्रत्येक नर-नारी अपने जीवनको सुरभित कर सकता है। सुन्दर भाषामें सोलहपेजी, सचित्र, पृष्ठ ४१४, मूल्य ॥।-)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दाम घटा दिये गये हैं

ता० १४ फरवरीसे निम्नलिखित पुस्तकोंके दाम घटा दिये गये हैं। निवेदन है कि ग्राहकगण और पुस्तक विक्रेता लोग इस सुविधासे लाभ उठाकर इन पुस्तकोंके प्रचारमें हमारी विशेष सहायता करें।

पुस्तकोंके नाम	पहलेका मूल्य	घटाया हुआ मू०		पहलेका मूल्य	घटाया हुआ मू०
नैवेद्य	॥=)	॥)	सजिल्द	।॥–)	॥≡)
गीता और विष्णुसहस्रनाम (मूल)	...	...	[सचित्र, सजिल्द]	=)	–)॥
सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय	–)॥	–)			

निवेदक—गीताप्रेस, गोरखपुर।

श्रीगीतापरीक्षासमितिकी सूचना

परीक्षाफल तैयार है। देर होनेसे इस अंकमें नहीं छप सका, अगले अंकमें प्रकाशित होगा। —संयोजक

दमा (श्वास) की दवा पीनेके नियम

(१) अगर रोगीको तंबाकू खाने-पीने या सूँघनेकी आदत हो तो उसको बिल्कुल छोड़कर तीन हफ्तेके बाद दवा पीना चाहिये। (२) दवा एक ही बार पी जाती है। (३) शनिवारके दिन शामको दवा अंदाजन डेढ़ पाव गंगाजलमें (गंगाजल न मिले तो किसी नदी या कुएँके शुद्ध जलमें) एक पत्थरके बरतनमें भिगो देना चाहिये। (४) दूसरे दिन रविवारको सबेरे कोई आदमी नहाकर कपड़े बदलकर इस दवाको २॥ (ढाई) दाना जीराके साथ उसी पानीमें, जिसमें कि दवा भिगोई गयी है, चन्दनके माफिक घिस डाले। (५) रोगी कपड़ा बदलकर मुँह धोकर बासी मुँह दवा पी जावे। (६) दवा पीनेसे पहले पाँच पैसे (या अधिक अपनी हैसियतके अनुसार) भगवान्‌के नामपर निकालकर अलग रख दे और दवा पीनेके चौथे दिन वह पैसे (मन्दिर, मसजिद या गिरजामें) जहाँके नाम निकाले हों, वहीं चढ़ा देवे। (७) दवा पीनेके बाद २॥ (ढाई) घंटा थूकना नहीं चाहिये। (८) दवा पीनेके दिन और उसके बाद दो दिन दुपहरको एक नये मिट्टीके बरतनमें (एक ही बरतनमें जो कुछ पक जाय जैसे मूँगकी खिचड़ी, दलिया आदि) भोजन बनाकर खाना चाहिये, रातको सिर्फ थोड़ा दूध पीकर सो रहना चाहिये। (९) दवा पीनेके बाद एक हफ्तातक रोगी पाँच चीजोंसे परहेज करे–दही, खटाई, तेल, लाल मिर्च और पत्तीका साग (पालक, मरसा आदि)। (१०) उसके बाद जिंदगीभर पाँच चीजोंसे परहेज करे। तंबाकू, उरद, पेठा (जिसको छवा या सफेद कोंहड़ा भी कहते हैं), मांस और शराब। ये पाँच चीजें किसी भी सूरतमें इस्तेमाल न करे। (११) जिनको दवाकी जरूरत हो वे नीचे लिखे पतेपर पत्र लिखकर दवा मँगवा लें। (१२) एक खुराक दवाके लिये पाँच पैसेके टिकट या लिफाफा अवश्य भेजें। (१३) दवा लेनेपर जो फल हो, उसे अवश्य लिखें। (१४) जो नियमोंका पालन कर सकते हों वही दवा मँगवायें।

हनुमानप्रसाद पोद्दार
गीताप्रेस, गोरखपुर

सूचना

झूसीके अखण्ड कीर्तनयज्ञकी समाप्ति चैत्र शु० १ को होगी, उसके पहले—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

इस मन्त्रके ३॥ करोड़ मन्त्र लिखकर स्थापित करनेका विचार किया गया है। आप स्वयं लिखकर और दूसरोंसे लिखवाकर भेजनेकी कृपा करें।

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी
संकीर्तन-भवन, झूसी (प्रयाग)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

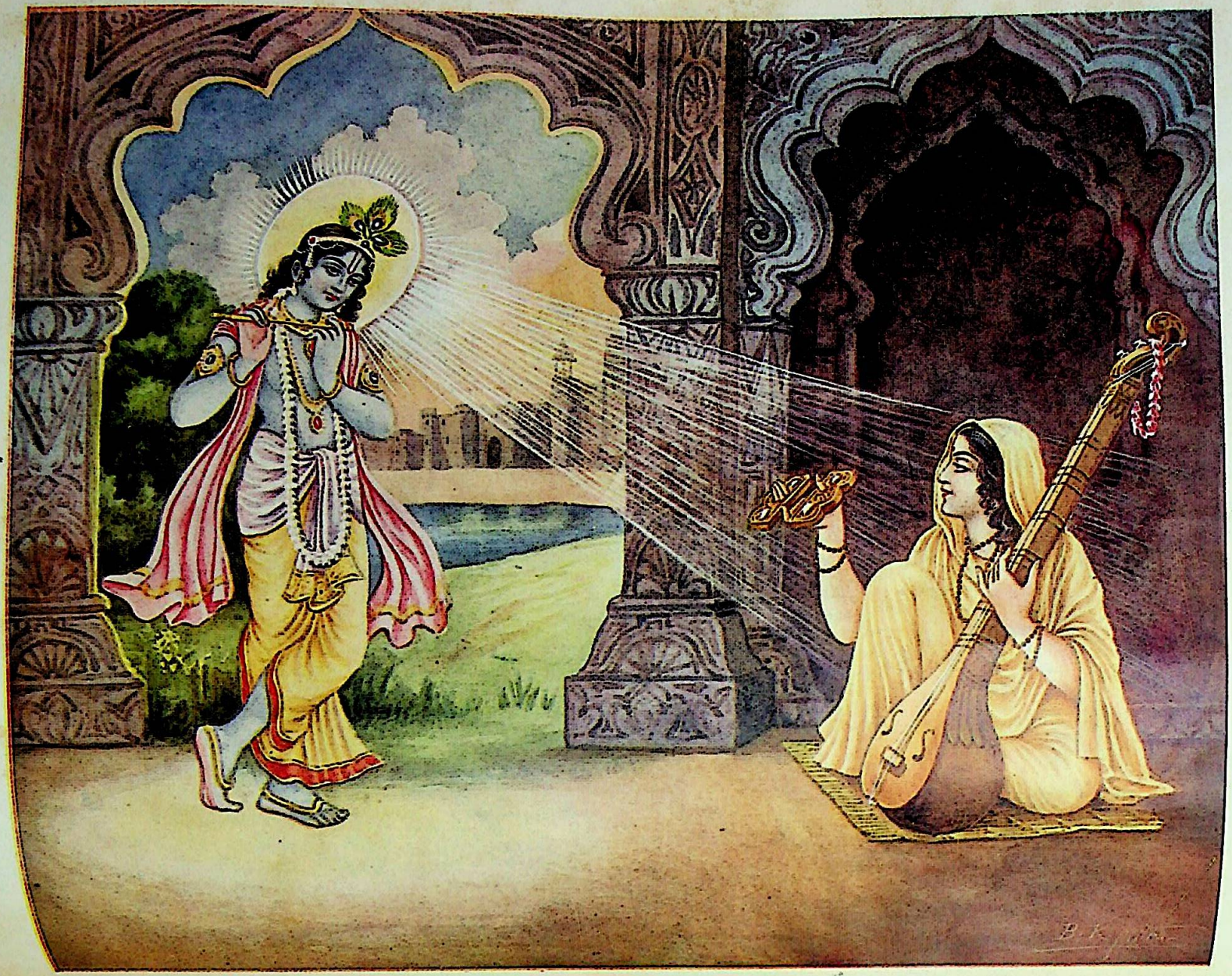

मोरा—आज मैं देख्यो गिरधारी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(भगवान् श्रीकृष्ण)

वर्ष १० | गोरखपुर, फाल्गुन १९९२, मार्च १९३६ | संख्या ८ पूर्ण संख्या ११६

मीराको दर्शन

आजु मैं देख्यो गिरधारी ।
सुंदर बदन मदनकी सोभा चितवन अनियारी ॥
बजावत बंसी कुंजनमें,
गावत ताल तरंग रंग ध्वनि नचत ग्वालगनमें ॥
माधुरी मूरति वह प्यारी,
बसी रहै निसिदिन हिरदै बिच टरे नहीं टारी ॥
वाहिपर तन मन हैं वारी,
वह मूरति मोहिनी निहारत लोक-लाज डारी ॥
तुलसिवन कुंजन संचारी,
गिरधरलाल नवल नट-नागर मीरा बलिहारी ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कल्याण

दूसरोंको चाहे जितना शान्तिका उपदेश दो, सुखदुःखोंमें सम रहकर आनन्दमग्न रहनेकी चाहे जितनी मीमांसा करो, जबतक तुम्हारा हृदय शान्त नहीं है, जबतक तुम्हारा हृदय आनन्दसे पूर्ण नहीं है, तबतक सब व्यर्थ है। धनी कहलानेसे तो बखेड़ा बढ़ता है। धनी बनो, फिर चाहे कोई तुम्हें कंगाल ही क्यों न समझे।

× × ×

अपना काम बनानेमें जल्दी करो, जीवनके दिन बहुत ही जल्दी-जल्दी बीते जा रहे हैं। परोपदेशमें ही उम्र बिता दोगे तो न तुम्हारा कल्याण होगा और न कोरे जुबानी जमाखर्च दूसरोंका ही दुःख दूर होगा। पहले धनी बनो, फिर बाँटो। बिना हुए क्या बाँटोगे ?

× × ×

अपने हृदयको सदा पैनी नजरसे देखते रहो, याद रक्खो, जहाँ तुम्हारा मन है तुम वहीं हो। मन्दिरमें रहो या वनमें, मन यदि कारखानेमें या बाजारमें है तो तुम भी वहीं हो। जिसके मनमें भगवान् बसते हैं वह भगवान्‌के मन्दिरमें है और जिसके मन विषय बसते हैं वह संसारमें है।

× × ×

वृत्तियोंको विषयोंसे हटाकर भगवान्‌में लगाओ, या जहाँ वृत्ति जाय वहीं भगवान्‌को देखो। पल-पलमें सँभालते रहो, वृत्ति कहाँ है। द्रष्टा बने देखो। फिर वृत्तियाँ स्वतः ही भगवन्मुखी हो जायँगी।

× × ×

शास्त्रार्थ न करो, विवादमें मत पड़ो, किसीको हरानेकी नीयत न रक्खो; अपने काममें लगे रहो। अपना भजन, ध्यान, स्मरण, पूजन न छूटे। शास्त्रार्थमें जीत जाओगे तो अभिमान भर बढ़ेगा। उतनी देर जो बहिर्मुख वृत्ति रहेगी, वह तो बड़ी हानि होगी ही।

× × ×

जानपहचान ज्यादा बढ़ानेकी कोशिश न करो; चुपचाप भजन करते रहो। ख्यातिसे प्रपञ्च बढ़ेगा। परिवार बढ़ेगा। भजनमें बाधा आवेगी। मान-पूजा होने लगेगी और कहीं मान-पूजाको मन स्वीकार कर लेगा, तब तो समझो कि पतनके लिये गड्ढा ही खुद गया।

× × ×

कम बोलो, कम सुनो, कम देखो, कम मिलो-जुलो, यह सब उतना ही करो जितना अत्यन्त जरूरी है। एक पल भी बिना जरूरत इन कामोंमें मत लगाओ !

× × ×

घरमें अतिथिको-ज्यों रहो; कुछ भी अपना मत समझो। सेवा करानेमें संकोच करो; डर-डरकर व्यवहार करो। सबका हित चाहो। किसीको दुःख न पहुँच जाय, इस बातका खयाल रक्खो। ममता मत बढ़ाओ। अतिथिको घरसे चले ही जाना है, इस बातको याद रक्खो।

× × ×

अपने लिये पापको छोड़कर अन्य किसी भी विषयमें

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

से न डरो; डरो दूसरोंको संकोचमें डालनेमें, डरो दूसरोंको बाध्य करनेमें, डरो दूसरोंको दुःख पहुँचानेमें, डरो दूसरोंका अहित करनेमें, डरो दूसरोंसे पूजा करानेमें, डरो दूसरोंसे सेवा करानेमें, डरो दूसरोंको चरण-धूलि देनेमें, डरो दूसरोंसे स्तुति सुननेमें और डरो भगवान्‌को भूलनेमें।

× × ×

ऐसा प्रयत्न करते रहो कि क्षणभर भी भगवान् न भूले जायँ। वे मनमें, वाणीमें तथा नेत्रोंमें बसे ही रहें। और किसी बातमें भले ही भूल हो जाय, पर इसमें भूल न हो।

× × ×

साधनमें सन्तोष न करो, सदा आगे बढ़ते ही रहो, देखते रहो आज कितना आगे बढ़े, रुको नहीं। पीछे फिरनेकी तो कभी कल्पना ही मनमें मत उठने दो।

× × ×

भगवान्‌पर विश्वास रक्खो, उनकी तुमपर बड़ी दया है, वे सदा तुम्हारे साथ हैं, उनका हाथ सदा तुम्हारे सिरपर है। तुम उनकी प्रत्यक्ष देखरेखमें हो। वे सदा तुम्हारी खुद सँभाल करते हैं। तुम यह विश्वास कभी मनसे मत हटने दो। फिर उनके कोमल करका स्पर्श पाकर कृतार्थ हो जाओगे।

'शिव'

ईश-स्तवन

(लेखक—महात्मा श्रीजय गौरीशंकर सीतारामजी)

हे प्रभो! विश्वोत्पादक हैं, विधारक आप हैं।
सृष्टिपालक हैं, विनाशक हैं, सुरक्षक आप हैं॥
हैं प्रकाशित सूर्य, तारे, चन्द्रमा सब आपसे।
हो रहा है मानवी मस्तिष्क-चालन आपसे॥
अग्नि-ज्वाला मेघ-माला, व्योमके विस्तारमें।
अमित शक्ति प्रचण्ड विद्युत्, वायुकी रफ्तारसे॥
सृष्टि सारी है बताती, आपके व्यापारको।
पूर्ण सत्य विचारसे अद्भुत अटल व्यवहारको॥
रोगनाशक औषधीमें आपहीकी शक्ति है।
भक्तके निर्मल हृदयमें भी भरी तव भक्ति है॥
कर रही अविराम श्रम प्रकृती सकल संसारमें।
है दिखाती नित्य ही नूतन छटा उपहारमें॥
लेशमात्र दयालुताकी दृष्टि शुभ जिसपर पड़ी।
ऋद्धियाँ सब सिद्धियाँ कर जोड़कर द्वारे खड़ी॥
है विनय निज पद कमल अनुरक्ति हमको दीजिए।
'कबलवास' है पतित नामी पार भवसे कीजिए॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीमद्भगवद्गीता और योगतत्त्वसमन्वयमीमांसा

(लेखक—श्रीगोवर्द्धनपीठाधीश्वर श्रीजगद्गुरु श्रीशङ्कराचार्य स्वामी श्री ११०८ श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज)

(गतांकसे आगे)

वर्णाश्रम-व्यवस्था

क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीतारूपी उपनिषत्सारांश और योगशास्त्रग्रन्थमें यह आज्ञा मिलती है कि—

१ यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
२ तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
(१६ । २३-२४)

'जो आदमी शास्त्रकी विधिको छोड़कर अपनी इच्छाके अनुसार व्यवहार करता है, वह न तो कार्यसिद्धि-को, न सुखको और न सद्गतिको ही प्राप्त करता है ।'

'अतः कर्तव्य और अकर्तव्यका निर्णय करनेके लिये शास्त्र ही प्रमाण हैं । शास्त्रकी विधिको जानकर तुझको शास्त्रके बताये हुए काम ही करना चाहिये ।'

और चूँकि यह भी सिद्ध हो गया है कि यह आदेश कर्मकाण्डी, भक्तिकाण्डी और ज्ञानकाण्डी साधकोंके लिये भी लागू होता है, इसलिये अब इस बातका विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है कि ज्ञानीको वर्णाश्रम-व्यवस्था माननी चाहिये या नहीं । फिर भी आजकल ऐसे प्रचारक बहुत हो गये हैं जो इस बातका प्रचार किया करते हैं कि ज्ञानीको वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी परवा करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है; और आजकल ज्ञान इतनी सस्ती चीज हो गयी है कि चाहे जो आदमी अपनेको ब्रह्मनिष्ठ-ज्ञानी बताकर वर्णाश्रम-व्यवस्थासे अतीत मानने या लोगोंमें प्रचार करने लगा है । अतएव यहाँ इस विषयपर श्रीमद्भगवद्गीताके यथार्थ सिद्धान्तका संक्षिप्त वर्णन देना आवश्यक मालूम होता है । इस विषयमें श्रीभगवान्‌के कुछ उपदेश इस प्रकार हैं—

१—स्वधर्मके खयालसे भी तुझको अपने इस युद्धरूपी कर्तव्यपर अटल रहना चाहिये, क्योंकि क्षत्रियके लिये धर्म-युद्धके अतिरिक्त कोई दूसरा श्रेयःसाधन नहीं है । (२।३१)

२—दैवयोगसे स्वर्गका द्वार अपने-आप खुल गया है । वे क्षत्रिय भाग्यवान् हैं जिनको इस प्रकारका युद्ध करनेका मौका मिलता है । (२ । ३२)

३—अगर तू यह धर्मयुद्ध नहीं करेगा तो स्वधर्म एवं कीर्तिको भी छोड़कर पाप पावेगा (और नरकमें पहुँचेगा)। (२ । ३३)

४—मारे जानेपर तू स्वर्गमें पहुँचेगा, जीत जानेपर राज्य भोगेगा । अतः युद्धके लिये निश्चय करके उठ खड़ा हो । (२ । ३७)

५—अगर मैं कर्म नहीं करूँगा तो सारी प्रजाका नाश हो जायगा । वर्णसंकरका मैं ही कारण बन जाऊँगा और इनका नाश करनेवाला भी मैं ही बन जाऊँगा। (३ । २४)

६—गुणयुक्त परधर्मानुष्ठानसे गुणहीन स्वधर्मानुष्ठान श्रेष्ठ है । स्वधर्ममें मरना अच्छा है, परधर्ममें जिन्दा रहना भी भयंकर (नरकका कारण) है । (३ । ३५)

७—मेरी शरणमें आनेपर पापयोनि (चाण्डाल) भी, स्त्रियाँ भी एवं वैश्य और शूद्र भी परम गतिको प्राप्त होते हैं । अतः पवित्र ब्राह्मणों एवं भक्त राजर्षियोंकी बात कैमुतिकन्यायसे सिद्ध होती है । (९ । ३२-३३)

८—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्तव्य उनके स्वाभाविक गुणोंके आधारपर ही नियत किये गये हैं। (१८ । ४१)

९—अपने-अपने स्वधर्माचरणसे सिद्धिकी प्राप्ति होती है । (१८ । ४२)

१०—विगुण होनेपर भी स्वधर्म तो गुणयुक्त परधर्मसे श्रेष्ठ ही है । अपने स्वभावसे ही शास्त्रद्वारा नियत किये हुए कर्मोंके करनेपर दोष नहीं लगता । (१८ । ४७)

११—अपने सहज कर्मको सदोष होनेपर भी नहीं छोड़ना चाहिये, क्योंकि जैसे सब अग्निके साथ धुआँ रहता ही है, वैसे ही समस्त कर्मोंके साथ दोष लगा ही रहता है । (१८ । ४८)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१२-अतः यदि तू अहङ्कारके कारण न सुनेगा तो तेरा विनाश हो जायगा। (१८ । ५८)

१३-अहङ्कारके वशमें आकर जो तू यह समझता है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा, वह मिथ्या अहङ्कारके अध्यवसायके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। तेरी (सहज क्षत्रिय) प्रकृति इस काममें तुझे जबर्दस्ती लगानेवाली है। (१८ । ५९)

१४-मोहके वशमें होकर जिस कामको तू करना नहीं चाहता, उसीको तू अपने (क्षत्रिय) स्वभावसे उत्पन्न हुए कर्मसे बद्ध होनेके कारण विवश होकर करेगा। (१८ । ६०) इत्यादि।

इन थोड़े-से दृष्टान्तोंसे स्पष्ट होता है कि वर्णाश्रम-व्यवस्था श्रीभगवान्‌की ही बनायी हुई है और इसलिये आदरणीय है।

गुणकर्मविभागशः

ऐसे-ऐसे अति स्पष्ट भगवद्वाक्योंके होते हुए भी कुछ ऐसे पूर्वपक्षी आजकल निकल आये हैं जो—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
(४ । १३)

—का अपार्थ करते हुए यह कहते हैं कि श्रीभगवान्‌ने जिस वर्णव्यवस्थाको बनाया है वह गुणकर्मके आधारपर है, जन्मके आधारपर नहीं है। यह कहना बिल्कुल गलत है। यदि जन्मकी परवा न कर गुणकर्मके आधारपर ही व्यवस्था करनेका सिद्धान्त ठीक होता तो श्रीभगवान्‌को अर्जुनके क्षत्रिय-कुलमें जन्म लेनेकी बातको लेकर क्षत्रियोंके स्वधर्मादिके ऊपर कुछ भी नहीं कहना चाहिये था, बल्कि उसके द्वारा प्रकट की हुई अत्यन्त वैराग्यमयी चित्त-वृत्तिको देखकर उसे केवल ब्राह्मण ही नहीं, परं च परम संन्यासी मान लेना चाहिये था और उसे युद्ध करनेके लिये मजबूर न कर भीख माँगनेके लिये भेज देना चाहिये था। परन्तु वैसा न कर उन्होंने क्षत्रियके परम कर्तव्यरूपी कर्मयुद्धमें लगानेकी उसे जबर्दस्त आज्ञा की और फलस्वरूप दुनियामें श्रीमद्भगवद्गीता-जैसे अजर-अमर ग्रन्थने जन्म लिया। इससे स्पष्ट होता है कि श्रीभगवान्‌के सिद्धान्तमें वर्णव्यवस्था केवल गुणकर्मसे न होकर जन्मके आधारपर ठहरती है।

यथार्थ अर्थ

तो फिर श्रीभगवान्‌के—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

इस वाक्यका सच्चा अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि 'चातुर्वर्ण्यकी मैंने ही सृष्टि की है और हर एक आदमीको उसके पिछले गुणों एवं कर्मोंसे प्राप्त योग्यताके अनुसार अगले वर्णका निश्चय करके उस वर्णमें जन्म देता हूँ।' अन्यथा श्रीभगवान्‌ने—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

न कहकर—

चातुर्वर्ण्यं त्वं निश्चिनु गुणकर्मविभागशः।

—कहा होता। परन्तु ऐसा नहीं कहा है। इसलिये श्रीभगवान्‌के इस कथनका यही समुचित अर्थ है कि प्रत्येक आदमीको अपने पूर्वजन्मके गुणों एवं कर्मोंके अनुसार जिस वर्णमें अगले जन्ममें उत्पन्न होनेकी योग्यता प्राप्त होती है, उसीमें श्रीभगवान् उसे अगला जन्म दिया करते हैं और इस प्रकार जन्मसे ही (अर्थात् माता-पिताके रक्तसे ही) सिद्ध स्वरूपयोग्यताकी रक्षाके लिये शास्त्रविहित गुणों तथा कर्मोंसे काम लेना चाहिये। जन्म और गुण-कर्मोंकी यही शास्त्रसम्मत व्यवस्था और समन्वय है। अतः यही श्रीमद्भगवद्गीताका सिद्धान्त है कि वर्णाश्रम-व्यवस्थाके अनुसार अपने-अपने स्वकर्मका भगवद्भक्ति एवं निष्कामभावके साथ आचरण करना ही श्रेयका मार्ग है।

अन्यथानुपपत्ति

इन पूर्वोक्त प्रमाणों, युक्तियों और तर्कोंके अतिरिक्त सिद्धान्त-ज्ञानकी प्राप्तिके लिये हम इस प्रकार अति सरल ढंगसे भी विचार कर सकते हैं कि यदि यही सच्चा सिद्धान्त होता कि त्याग, संन्यास, वैराग्य, ज्ञानकाण्ड आदि-के नामपर स्वधर्मको भी त्यागा जा सकता है, तो—

न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा॥

मैं जय नहीं चाहता, राज्य नहीं चाहता, सुख भी नहीं चाहता। राज्यसे या सुखसे या जिन्दगीसे भी हमें क्या (लाभ) है? इत्यादि कहते हुए, पहलेसे भी अधिक रोते हुए, परम वैराग्यकी बातें करनेवाले अर्जुनको अत्यन्त

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

निर्दयता, जबर्दस्ती और जुल्मके साथ खूब डाँटते हुए श्रीभगवान् द्वितीयाध्यायके आरम्भमें क्यों कहते कि—

१ कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
२ क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥
(२।२-३)

हे अर्जुन ! इस विषम (युद्धके) प्रसंगमें यह मालिन्य (जो मोक्षेच्छुके लिये मुनासिब नहीं, नरकमें पहुँचानेवाला है और इहलोकमें भी अपयशका कारण है) तुममें कहाँसे आ गया !

हृदयकी इस क्षुद्र दुर्बलताको छोड़कर उठो। और जब अर्जुनने फिर आँसू गिराते हुए कहा कि—

१ कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ॥
(२।४)

२ श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके। (२।५)

जो भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य पुष्पोंसे पूजने योग्य हैं, उन्हें मैं बाणोंसे कैसे मारूँ !

भीख माँगकर गुजारा करना इससे अच्छा है। तब भी श्रीभगवान्ने उसपर दया न कर, किसी एक ही दृष्टिसे नहीं, बल्कि—

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
(२।३९)

सांख्य, योग, नास्तिकता, दुनियामें मानापमानका विचार आदि सब प्रकारकी दृष्टियोंसे सिद्धान्त बताते हुए, स्वधर्म न छोड़नेके अत्यन्त आग्रहके साथ केवल एक ही आज्ञा देते हुए कि 'तस्माद्युध्यस्व भारत' बेचारे दुखी अर्जुनको और भी दुखी बनाते हुए, इस तरह तंग करते हुए क्यों कहा होता कि—

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥
(२।३३)

अगर तुम धर्मयुद्धरूपी अपने इस कर्तव्यको न करोगे तो स्वधर्म और कीर्तिको भी छोड़कर पापको प्राप्त करोगे (नरकमें जाओगे)। इत्यादि। यदि स्वधर्मका त्याग ही सिद्धान्तानुमत होता तो भगवद्गीताका जन्म ही नहीं हुआ होता। अतः अन्यथानुपपत्तिरूपी प्रमाणसे यही निष्काम कर्मयोग ही साधकोंके लिये आदरणीय है (कर्मत्याग नहीं)।

सिंहावलोकन

द्वितीयाध्यायमें स्वधर्माचरणपर इतना अधिक जोर देते हुए भी जब श्रीभगवान्ने बीचमें कहा था कि 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय' (२।४९)—ज्ञानयोगसे कर्म केवल नीचा ही नहीं, बल्कि अत्यन्त नीचा है और आगे चलकर अध्यायके अन्तमें स्थितप्रज्ञकी महिमा भी खूब बतायी, तब इसके आधारपर ज्ञानके नामपर स्वकर्माचरणसे बच सकनेकी पुनः आशा करते हुए तृतीयाध्यायके आरम्भमें अर्जुनने पूछा कि—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥
(३।१)

तब भी, चूँकि द्वितीयाध्याय ही सारी भगवद्गीताका संक्षेपाध्याय है, इसलिये श्रीभगवान्ने दूसरे अध्यायमें बताये हुए सिद्धान्तका तीसरेसे लेकर अठारहवेंतकके सोलह अध्यायोंमें विस्तारके साथ समर्थन और वर्णन करते हुए स्वधर्माचरणकी ही आरम्भसे अन्ततक बारंबार आज्ञा दी, जिसमेंसे हमने पहले ही बहुतसे वचनोंको उद्धृत करके यह दिखाया है कि श्रीभगवान्का इस विषयपर बताया हुआ सिद्धान्त क्या है। अतः उन्हीं बातोंका यहाँ पुनः वर्णन करनेकी जरूरत नहीं है। यहाँपर केवल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि श्रीभगवान्ने जो अपने उपदेशका उपसंहार करते समय यह कहा कि 'न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि' (१८।५८)। न सुनोगे तो तुम्हारा विनाश हो जायगा—इस कठोर वाक्यसे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रीमद्भगवद्गीतामें स्वधर्मानुष्ठानकी जो आज्ञा बार-बार दी गयी है वह अर्थवाद नहीं है, बल्कि नरके परम कल्याणके लिये अर्थात् श्रीनारायणमें नरको पहुँचानेवाला अर्थात् रास्ता बतानेके ही विशेष उद्देश्यसे श्रीनारायणकी अर्जुन-रूपी नरके द्वारा हम सब नरोंको दी हुई साधनबोधक (स्वार्थे तात्पर्यवती) सच्ची आज्ञा है।

स्वकर्माचरणकी आज्ञामें चमत्कार

श्रीभगवान्द्वारा इस प्रकार बीच-बीचमें और बार-बार अर्जुनको दी हुई आज्ञाके सम्बन्धमें यह एक चमत्कार

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

की बात भी है कि जहाँ वह भक्तिकाण्ड और ज्ञानकाण्ड-का अत्यन्त जोरदार उपदेश करती हुई मालूम देती है, वहाँ भी 'तस्माद्युध्यस्व भारत' या इसी मतलबके दूसरे शब्द एकाएक लाकर कर्मकाण्डको (परन्तु निष्काम कर्मकी दृष्टिसे) घुसा दिया करती है।

अन्तिम स्मरणके प्रसङ्गका दृष्टान्त

उदाहरणार्थ, आठवें अध्यायमें जहाँ श्रीभगवान्‌ने कहा कि—

१ अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः॥
२ यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥
(८। ५-६)

अन्तकालमें भी मेरा स्मरण करते हुए जो आदमी शरीर छोड़ता है, वह मेरे साथ एक हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं।

जिस-जिस भावका स्मरण करते हुए शरीर छोड़ता है उसी-उसीकी भावनासे सर्वदा भावित होकर उसी-उसीको प्राप्त होता है।

वहाँ भी अव्यवहितोत्तर (अगले ही) श्लोकमें एकदम यही बात आ जाती है कि—

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥
(८। ७)

इसलिये सब समयमें मेरा ही अनुस्यूत सतत धारा-प्रवाहसे स्मरण करो और युद्ध करो। मुझमें मन और बुद्धिको सर्वदा अर्पण किये रहनेके कारण मुझमें ही तुम पहुँच जाओगे।

इसमें आश्चर्य यह है कि पिछले दो श्लोकोंमें दी हुई दलील (युक्तिवाद) के ऊपर 'तस्मात्' (इसलिये) शब्द लगाकर, श्रीभगवान्‌के ही सतत स्मरणकी जो आज्ञा दी है, वह तो बिल्कुल ठीक है, मगर इस बातका पता नहीं चलता कि उक्त दलीलके बाद 'तस्मात्' शब्द लगाकर 'युध्य च' को श्रीभगवान् कहाँसे ले आये!

विश्वरूपाध्यायका दृष्टान्त

ऐसा ही आश्चर्यजनक दूसरा दृष्टान्त यह है कि एकादशाध्यायमें, विश्वरूपदर्शनयोगमें श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको दिव्य चक्षु देकर अपना विश्वव्रह्माण्डव्यापी रूप दिखाया और उस प्रसङ्गमें भी अर्जुनके कर्तव्यरूपी कुरुक्षेत्र-युद्धको न भूलकर, विश्वरूप दिखाते समय बीचमें ही एकदम कहा—

१ तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व
जित्वा शत्रून् भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥
२ मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥
(११। ३३-३४)

इसलिये उठो, कीर्ति प्राप्त करो, शत्रुओंको हराकर समृद्धिपूर्ण राज्यसुखको भोगो। पहलेसे ही मेरेद्वारा ये सब मारे गये हैं। तुम केवल निमित्त बनो।

इन मेरेद्वारा मारे हुओंको तुम मार डालो, दुःख न करो, लड़ो, युद्धमें तुम शत्रुओंको जीतनेवाले हो।

इस आश्चर्यजनक प्रसङ्गका यही तो मतलब है कि श्रीभगवान्‌के विराट् विश्वरूपके दर्शनके समाप्त होनेके बाद नहीं, बल्कि दर्शन करते समय भी नरको युद्धादिरूप अपने स्वधर्माचरणसे छुट्टी नहीं है! इस बातमें भगवान्‌की कितनी कठोरता है!

पूर्ण आत्मज्ञानीका दृष्टान्त

यहाँपर यह प्रश्न उठ सकता है कि भक्तिकाण्डमें कुछ भी हो, पूर्ण ज्ञानीकी बात तो ऐसी नहीं है? क्योंकि स्वयं श्रीभगवान्‌ने ही कहा है कि—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
(३। १७)

जो आत्मामें ही रमनेवाला, उसीसे तृप्त और उसीसे सन्तुष्ट रहनेवाला है, उसका कोई कर्तव्य नहीं है।

इस बातका उत्तर यह है कि अवश्य ही इस श्लोकका अर्थ यही मालूम होता है; परन्तु इसमें भी खूब रहस्य है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पहली बात इसमें यह है कि आत्मरति और आत्मतृप्त शब्दोंसे ही 'असति बाधके सर्वं सावधारकम्' इस नियमके अनुसार अपने-आप 'आत्मन्येव रतिर्यस्य सः' 'आत्मनैव तृप्तः' करके अवधारणा आ जाती है, फिर भी श्रीभगवान्‌ने 'आत्मरतिरेव', 'आत्मन्येव च सन्तुष्टः' कहते हुए दो बार 'एव' शब्दको जोड़कर यह स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ अन्तर्मुखावस्थामें रहनेवाले आत्मज्ञाननिष्ठका जिक्र है; और यह निर्विवाद बात है कि अन्तर्मुखावस्थामें या निर्विकल्प समाधिमें (जहाँ त्रिपुटी है ही नहीं) कोई कर्म हो ही नहीं सकता। परन्तु अन्तर्मुखावस्थामें बार-बार रहनेवाला महायोगी और महाज्ञानी पुरुष भी जब अपने प्रारब्ध कर्मके कारण निर्विकल्प समाधिसे निकलकर बहिर्मुखावस्थामें आता है तब तो उसके लिये श्रीभगवान्‌का बताया हुआ यह न्याय ही लागू हो जाता है कि—

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।

(१८ । ११)

और 'तस्य कार्यं न विद्यते' (३ । १७) यह श्लोक उस आदमीपर नहीं घट सकता; क्योंकि बहिर्मुखावस्थामें 'आत्मरतिरेव, आत्मतृप्तः, आत्मन्येव च संतुष्टः' इन तीन विशेषणोंमेंसे एक विशेषणका भी उसके साथ समन्वय नहीं हो सकता। फिर भी यदि ऐसे आत्मनिष्ठ ज्ञानीको बहिर्मुखावस्थामें भी 'तत्र तत्र समाधयः' न्यायके अनुसार अन्तर्मुखावस्थावाला आत्मनिष्ठ ही माननेका और 'आत्मरति, आत्मतृप्त और आत्मसन्तुष्ट' शब्दोंको उसपर घटानेका किसीको आग्रह हो तो श्रीभगवान्‌के ही बताये हुए 'न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः' (१८ । ११) इस नियमके विरुद्ध होनेके कारण 'तस्य कार्यं न विद्यते' (३ । १७) वाले श्लोकका दूसरा ऐसा अर्थ निकालना होगा जो श्रीभगवान्‌के गीतामें बताये हुए किसी सिद्धान्तके विरुद्ध न हो। और ऐसा अर्थ भी आसानीसे किया जा सकता है कि 'तस्य' शब्दका अर्थ 'उसको' नहीं है, बल्कि 'उसके लिये' है। इसीका नाम संस्कृत व्याकरणमें तादर्थ्ये षष्ठी है। अर्थात् जो आत्मज्ञाननिष्ठ है, उसे अपने लिये कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है।

दूसरे अर्थका निरूपण

इस श्लोकके इस दूसरे अर्थका निरूपण अगले दो श्लोकोंके द्वारा स्वयं श्रीभगवान्‌ने किया है। अगले पहले श्लोकमें तो कहा है कि—

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

उसका किसी कर्मसे या अकर्मसे कोई स्वार्थ नहीं सधता है। उसका किसीके आश्रयसे कोई स्वार्थ नहीं है।

इससे सिद्ध होता है कि इसके पीछेके श्लोकमें 'तस्य' शब्द तादर्थ्ये षष्ठी है (जैसे, धर्मार्थं पत्नी धर्मपत्नी, मुनिहोमार्थं धेनुः मुनिहोमधेनुः इत्यादि शब्द होते हैं), अर्थात् आत्मनिष्ठ ज्ञानीको अपने लिये कुछ नहीं करना है, फिर भी 'उभे पुण्यपापे विधूय' के हिसाबसे कर्ममार्गसे निवृत्त ज्ञानी भी 'लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि (३ । २०) इस न्यायके अनुसार जगत्‌के कल्याणके लिये निष्काम कर्म करता ही रहता है।

स्पष्टीकरण

यह अर्थ अगले दूसरे श्लोकमें और भी स्पष्ट हो गया है, क्योंकि उसमें तो श्रीभगवान्‌ने पुनः 'तस्मात्' शब्द लगाकर यह कहा है कि—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।

(३ । १९)

इसलिये अनासक्त होकर अपने स्वधर्मरूपी कर्तव्यको सर्वदा करते रहो।

यदि ऐसी आनुपूर्वीमें 'तस्य कार्यं न विद्यते' (३ । १७) का मतलब कर्मत्यागसे हो तो उसके आगे 'तस्मात्' शब्दके साथ 'कार्यं कर्म समाचर' उपदेशका एकदम सामञ्जस्य नहीं होता है। इसलिये स्पष्ट है कि आत्मज्ञाननिष्ठ महायोगी पुरुष भी बहिर्मुखावस्थामें आनेपर निष्काम कर्मके ही अधिकारी होते हैं।

पापकृत्तमका प्रसङ्ग

इस प्रसङ्गपर श्रीमद्भगवद्गीताके—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥

(४ । ३६)

इस श्लोकके अर्थका भी विचार करना चाहिये। इसका अर्थ यह नहीं है कि पापीशिरोमणि रहते हुए ही कोई आदमी ज्ञानकाण्डका यदि नामोच्चार करे तो उसीसे उसका काम बन जायगा। बल्कि यथार्थ तो यह है कि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चतुर्थाध्यायमें जिस निष्काम कर्मका अत्यन्त विस्तारके साथ निरूपण किया गया और जिसका नाम वहाँ ज्ञान बताया, उसके द्वारा पिछले पापोंका भी नाश धीरे-धीरे हो जाता है। अर्थात् भक्तिसहित स्वधर्मका आचरण निष्कामभावसे करनेवाला व्यक्ति सच्चा ज्ञाननिष्ठ हो जाता है। और इस श्लोकके बादके श्लोकोंमें श्रीभगवान्‌ने बताया है कि—

१ यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा॥
२ न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति॥
(४। ३७-३८)

जैसे प्रदीप्त अग्नि लकड़ीको भस्म कर देती है, वैसे ही ज्ञानरूपी अग्नि कर्मरूपी इन्धनको भस्म कर देती है; क्योंकि अन्तःकरणकी शुद्धिका ज्ञानके समान दूसरा कोई साधन नहीं है और उसकी प्राप्ति तो निष्कामभावसे स्वकर्माचरण-रूपी योगसे नियत कालपर अपने आप हो जाती है।

इस आनुपूर्वीसे भी स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त श्लोकका यह मतलब नहीं है कि ज्ञानी पाप करते ही रहें; तात्पर्य तो बिल्कुल उलटा है कि जो अत्यन्त पापी रहा हो वह भी निष्काम कर्मनिष्ठारूपी योगके द्वारा अन्तः-करणकी शुद्धि करके ज्ञान प्राप्त कर सकता है और उसके ज्ञानी हो जानेपर उसकी कर्मयोगप्राप्त ज्ञानाग्नि उसके सञ्चित और आगामी कर्मोंको जला देती है (जैसा कि श्रीवेदव्यासने वेदान्तसूत्रोंमें—

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ।

—सूत्रके द्वारा बताया है)। अतः इस पापकृत्तमके प्रसङ्गका भी निष्काम कर्मनिष्ठासिद्धान्तके साथ विरोध नहीं है, बल्कि समन्वय ही हो जाता है।

सुदुराचारका प्रसंग

अबतक विचार हुआ उन लोगोंकी बातोंपर जो ज्ञानकाण्डके नामपर कर्मकाण्डको उड़ा देना चाहते हैं। अब थोड़ा उनकी बातोंपर भी विचार कर लेना चाहिये जो भक्तिकाण्डका नाम लेकर कर्मकाण्डसे शत्रुता रखते हैं और यह कहते हैं कि श्रीमद्भगवद्गीताके नवमाध्यायमें (जिसका नाम ही राजविद्या राजगुह्ययोग है) श्रीभगवान्‌ने कहा है कि—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः..... ॥
(९। ३०)

अत्यन्त दुराचारी पुरुष भी हो, अगर अनन्य भावसे वह मेरा भक्त बन जाय, तो उसे सत्पुरुष ही मानना चाहिये।

इस श्लोकका अर्थ करते हुए एक बड़े महाशयने तो यहाँतक लिख मारा है कि 'अतो भगवद्भक्तः कस्यापि विहितस्य कर्मणोऽननुष्ठानेन निषिद्धस्य कर्मणोऽनुष्ठानेन वा प्रायश्चित्ती न भवति।' (अतः भगवद्भक्तको किसी स्वधर्मके छोड़नेपर या किसी निषिद्ध कर्मके करनेपर भी कोई पाप नहीं लग सकता) इत्यादि। यह बड़ा ही अपसिद्धान्त है; क्योंकि श्रीभगवान्‌ने उसी श्लोकके चौथे चरणमें 'सम्यग्व्यवसितो हि सः' (९। ३०) कहकर कारण बताया है कि 'जो अत्यन्त पापी अनन्य भावसे मेरा भक्त हो जाता है, वह अच्छे प्रयत्नके मार्गपर आ जाता है (अर्थात् भक्तिके प्रभावसे इस बातका अवश्य खयाल रखने लगता है कि जिस भगवान्‌की मैं भक्ति करता हूँ, उसकी आज्ञाका पालन करना मेरा प्रथम कर्तव्य है और इसलिये वह धीरे-धीरे पापको छोड़ते-छोड़ते और पुण्य करते-करते अन्तमें बिल्कुल निष्पाप होकर निर्मल सत्पुरुष हो जाता है), इसलिये उसे सत्पुरुष जानो।'

अगले श्लोकद्वारा अर्थनिर्णय

यहाँ कोई यह न समझे कि हमने स्वकर्मनिष्ठाके सिद्धान्तके साथ इस श्लोकका समन्वय करनेके लिये कृत्रिम और क्लिष्ट अर्थ निकाला है। श्रीभगवान्‌ने ही इस श्लोकके अर्थको अव्यवहित उत्तर (अगले) श्लोकमें स्पष्ट करते हुए कहा है कि—

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
(९। ३१)

वह अति शीघ्र धर्मात्मा हो जाता है और भक्तिसहित स्वधर्माचरणसे जो अन्तःकरणकी शुद्धि होकर ज्ञानकी प्राप्ति होती है, उसके लक्षणस्वरूप शाश्वत शान्तिको प्राप्त कर लेता है।

इससे सिद्ध होता है कि भगवद्भक्तको इच्छानुसार पाप करते रहनेकी एकदम छूट नहीं दे दी गयी है, बल्कि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उसके लिये भी अत्यन्त दुराचारीपनसे धीरे-धीरे निकलकर क्रमशः साधारण पापी, निष्पाप, साधारण सज्जन, अत्यन्त पुण्यवान् और अन्तमें धर्मात्मा (धर्मः आत्मा स्वरूपं यस्य सः, अर्थात् धर्ममूर्ति) भी बन जानेका, भगवद्भक्तिकी महिमासे, रास्ता खुला हुआ है। और जब भक्ति और कर्म मिल जाते हैं तब तो अन्तःकरणकी शुद्धि होनेसे ज्ञान (अर्थात् जीवन्मुक्ति) मिल जानेपर सब स्थानोंमें, सब समयोंमें एवं सब अवस्थाओंमें एकाकार, निर्विकार शान्ति और आनन्दमें रहनेका सौभाग्य मिल ही जाता है। इस तरह नवमाध्यायके इस 'सुदुराचार' वाले प्रसङ्गसे भी स्वधर्माचरणके सिद्धान्तका विरोध नहीं है, बल्कि समन्वय ही सिद्ध हुआ है।

पर्यवसितार्थ

इस तरह इन सब प्रमाणों और विचारोंसे यह सिद्ध होता है कि श्रीमद्भगवद्गीतामें तीनों काण्डोंमेंसे केवल निष्काम कर्मयोगकी ही आज्ञा सब साधकोंको दी गयी है।

अर्जुनका प्रारम्भमें सिद्धान्तोपक्रम

यथार्थमें तो अर्जुनने द्वितीयाध्यायके आरम्भमें ही जो यह प्रार्थना की थी कि—

यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्॥
(२।७)

उसीमें उसने ही अनजानमें (न जानते हुए कि मैं यह काम कर रहा हूँ) तीनों काण्डोंका सम्बन्ध बतानेवाले यथार्थ सिद्धान्तको स्पष्ट कर दिया था; क्योंकि 'शिष्य' शब्दसे ही आज्ञा पालने (अर्थात् भगवदाज्ञारूपी शास्त्रोक्त स्वधर्म करने) और 'प्रपन्न' शब्दसे ही केवल भक्ति (अर्थात् निष्कामभाव) की बात आ गयी है। मतलब यह कि भक्तियुक्त निष्काम कर्मसे ही श्रेय (अर्थात् ज्ञान और मोक्ष) के मिल सकनेकी सूचना अर्जुनकी उस शिष्यता और प्रपन्नतावाली चित्तवृत्तिसे ही पहले ही अपने आप मिल चुकी है।

श्रीकृष्णका मध्यमें सिद्धान्तोद्घाटन

उसके बाद सिद्धान्त बताते हुए भगवान् श्रीकृष्णने सारी गीताजीमें जिस सिद्धान्तका अत्यन्त विस्तारके साथ निरूपण, समर्थन और वर्णन किया है, उसका सारांश उन्होंने एक ही श्लोकके भीतर सप्तमाध्यायका आरम्भ करते हुए बता दिया कि—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु॥
(७।१)

मेरी भक्ति करते हुए, मेरी शरण होकर, अपने स्वकर्मानुष्ठानरूप कर्मयोगको करनेसे तू मेरे सन्देह-विकल्प-विपरीतभावनारूपी दोषत्रयरहित और परिपूर्ण ज्ञानको जिस तरह प्राप्त कर सकेगा, उसे सुन।

इसमें 'मय्यासक्तमनाः' एवं 'मदाश्रयः' इन दोनों शब्दोंमें भक्तियोग और 'योगं युञ्जन्' विशेषणमें निष्काम कर्मयोग भी आ गया। फिर इनका परिणाम ज्ञान ही बताया गया है। अतएव ज्ञानकाण्ड भी आ गया। अर्थात् इन तीनोंका आपसमें सम्बन्ध यह है कि भक्ति-सहित कृत निष्काम कर्मयोगसे ज्ञानकी प्राप्ति होती है। यही है श्रीमद्भगवद्गीताका असली सिद्धान्त। और सातवें अध्यायके केवल एक पहले श्लोकके बताये हुए इस सिद्धान्तको ही नवमाध्यायके पूर्वोदाहृत दो श्लोकोंके—

(१) भजते मामनन्यभाक्;
(२) क्षिप्रं भवति धर्मात्मा ; और—
(३) शश्वच्छान्तिं निगच्छति। (९।३०-३१)

—इन तीन वाक्योंने भी स्पष्ट किया है।

अर्जुनका अन्तमें सिद्धान्त स्वीकार करना

अतएव इस बातका सामञ्जस्य होता है कि साक्षात् श्रीभगवान्‌के श्रीमुखसे सब योगों और विशेषकर अन्तिम-ध्यायमें मोक्षसंन्यासयोगका भी श्रवण करके उपसंहारमें श्रीभगवान्‌के यह प्रश्न करनेपर कि—

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय॥
(१८।७२)

क्या तूने इन सब बातोंको एकाग्र मनसे सुना और अज्ञानसे उत्पन्न हुआ मोह तेरे चित्तसे नष्ट हो गया!

उत्तरमें अर्जुन कहता है कि—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव॥
(१८।७३)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हे अच्युत ! मोह नष्ट हो गया, स्मरण हो आया, सन्देह सब चले गये, तेरी आज्ञाके अनुसार करूँगा ।

—और श्रीभगवान्‌के आज्ञानुसार अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये तैयार हो जाता है ।

गीताके अन्तिम श्लोकका सामञ्जस्य

अतएव श्रीमद्भगवद्गीताके उपसंहारस्वरूप अन्तिम श्लोकका भी सामञ्जस्य होता है, जिसमें गीताका सारांश बताता हुआ संजय भी यही कहता है कि—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥
(१८ । ७८)

जहाँ श्रीयोगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण—सारथीरूपसे—और धनुर्धारी अर्जुन—रथीरूपसे—आपसमें सम्बन्ध रखते हैं वहाँ श्री, विजय, भूति इत्यादि ऐहिक, आमुष्मिक और पारमार्थिक कल्याण होता है ।

यहाँपर हमें खास तौरपर इस बातको ध्यानमें रखना चाहिये कि संजय इस श्लोकमें उसी अर्जुनका जिक्र करता है जो धनुर्धर था। सफलता उस अर्जुनको नहीं मिलती जो 'विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः' (१ । ४७) होकर खूब आँसू गिराते हुए रोता है, बल्कि उस अर्जुनको मिलती है जो श्रीभगवान्‌की आज्ञाके अनुसार, निर्लिप्त होकर ईश्वराज्ञाका पालन करने और ईश्वरार्पणबुद्धिसे अपने कर्तव्यको पूरा करनेके लिये धनुर्धारी बनता है । अर्थात् हम सब नरोंको भी परम श्रेयरूपी कल्याणकी तभी प्राप्ति हो सकती है, जब हम निष्कामभावसे और ईश्वरार्पणबुद्धिसे श्रीभगवान्‌की आज्ञारूपी अपने कर्तव्यका पालन करनेके लिये उद्युक्त होंगे । यही है नरके रथी बनकर नारायणको अपने रथका सारथी बनानेके तत्त्वका रहस्य, जिसे श्रीमद्-भगवद्गीतासे हमलोगोंको सीखना चाहिये और अपने आचरणमें लाकर अपने पारमार्थिक एवं शाश्वत कल्याणका साधन बनाना चाहिये ।

आनुषंगिक फलितार्थ

इन सब विचारोंसे सिद्ध होता है कि तीनों काण्डोंमें (यानी कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगमें) निष्काम कर्मयोगका ही उपदेश मिलता है; अर्थात् तीनों काण्डोंका समन्वय निष्काम कर्मयोगमें ही होता है, किसीका इसके साथ विरोध नहीं है ।

योगनिर्वचनसमन्वय

अतः इस लेखमें पहले एक भागमें जो यह प्रश्न उठाया था कि श्रीमद्भगवद्गीतामें ही योगके अनेक प्रकारके निर्वचन मिलते हैं, इनका ही आपसमें समन्वय होना कठिन मालूम होता है उस प्रश्नका भी उत्तर मिल गया; अर्थात् कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोगके उपर्युक्त विस्तृत समन्वयसे श्रीमद्भगवद्गीताके सब योगनिर्वचनोंका आपसमें समन्वय हो गया ।

पातञ्जल योगसे समन्वय

अब बाकी रहा इन निर्वचनोंका भगवान् पतञ्जलिके योगसूत्रवाले योगनिर्वचनके साथ समन्वय करना । परन्तु वह भी ऊपर किये हुए विस्तृत विवेचनसे यथार्थमें सिद्ध हो गया है । श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने अपने बताये हुए सब प्रकारके योगोंके विषयमें (जो असलमें एक ही योगके वस्तुसम्बद्ध दृष्टिकोणोंके भेदोंसे अनेक नाममात्र हैं) स्थान-स्थानपर एकाग्रतापर जोर देते हुए कहा है कि—

१ व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥ (२।४१)
२ समाधौ न विधीयते । (२ । ४४)
३ समाधावचला बुद्धिः । (२ । ५३)
४ समाधिस्थस्य केशव । (२ । ५४)
५ तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः । (६।१२)
६ यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते । (६।१८)
७ यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।(६।१९)
८ यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया । (६।२०)
९ न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः । (६ । २१)
१० शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया ।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥(६।२५)
११ यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥ (६ । २६)
१२ प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं·····। (६ । २७)
१३ सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च । (८।१२)
१४ अनन्यचेताः सततं····· । (८ । १४)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१५ भजन्त्यनन्यमनसो·····। (९। १३)
१६ अनन्याश्चिन्तयन्तो मां·····। (९। २२)
१७ भजते मामनन्यभाक्·····। (९। ३०)
१८ मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। (९।३४)
१९ सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः। (१०।७)
२० मच्चिता मद्गतप्राणाः·····। (१०। ९)
२१ तेषां सततयुक्तानां·····। (१०। १०)
२२ भक्त्या त्वनन्यया शक्य·····। (११। ५४)
२३ मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः·····। (११। ५५)
२४ संनियम्येन्द्रियग्रामं·····। (१२। ४)
२५ अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥ (१२। ६)
२६ मय्यावेशितचेतसाम्। (१२। ७)
२७ मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय। (१२। ८)
२८ मय्यर्पितमनोबुद्धिः·····। (१२।१४)
२९ मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी। (१३।१०)
३० उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते। (१४।२३)
३१ धृत्या यया धारयते···योगेनाव्यभिचारिण्या··· (१८। ३३)
३२ धृत्यात्मानं नियम्य च। (१८। ५१)
३३ शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा···। (१८। ५१)
३४ ध्यानयोगपरो नित्यं·····। (१८। ५२)
३५ मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। (१८। ६५)
३६ मामेकं शरणं व्रज···। (१८। ६६)

कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग इन तीनों काण्डोंमें एक ही प्रकारसे समाधि, अनन्यभक्ति, एकाग्रता आदि शब्दोंके द्वारा भगवान् श्रीकृष्णने उसी योगका वर्णन किया है जिसका भगवान् पतञ्जलिने 'चित्तवृत्तिनिरोध' शब्दसे निर्वचन किया है। अतः श्रीमद्भगवद्गीताके योगनिर्वचनोंका आपसमें एवं पतञ्जलिकृत निर्वचनके साथ भी समन्वय है। यहाँ भी किसी बातका यथार्थमें विरोध नहीं है।

सातवीं सीढ़ी—अद्वैतज्ञाननिष्ठा

इस प्रकार सकाम कर्मयोग, अर्जुनविषादयोग, शिष्यभावसे शरणागति, नित्यानित्यवस्तुविवेचन, तितिक्षा और फलेच्छात्यागपूर्वक श्रद्धाभक्तिसहित स्वकर्माचरणरूपी सब साधनोंके होनेपर सातवीं सीढ़ी वही है जो इन सब साधनोंमें अन्तिम साधन (निष्काम कर्म) से मिलनेवाली अद्वैतज्ञाननिष्ठा है और जिसका मिलना और अपने नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सच्चिदानन्दघन परमात्मरूपी लक्ष्यमें पहुँचना एक ही बात है।

अद्वैतके प्रमाण

यह तो जगत्प्रसिद्ध बात है कि अद्वैत ही उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों और श्रीमद्भगवद्गीताका सिद्धान्त है। इस अद्वैत सिद्धान्तके विषयमें हम अनेक लेखोंमें और 'कल्याण' के ईश्वराङ्कमें भी बहुत कुछ लिख चुके हैं। इसलिये इस लेखमें इस विषयका वर्णन नहीं किया जाता। हाँ, आजकल अद्वैतके सम्बन्धमें जो भ्रम सर्वत्र फैला हुआ है उसके निवारणके लिये कुछ लिखनेकी आवश्यकता है।

साम्यवादका प्रश्न

आजकल अद्वैत सिद्धान्तकी अपार्थ कल्पना करके बहुत पाखण्ड फैला हुआ है, जिसका कहना है कि श्रीभगवान्‌ने गीतामें अद्वैत सिद्धान्त बताते हुए साम्यवादका उपदेश दिया है और उसके विचारमें साम्यवादका यही अर्थ है कि वर्णाश्रमादिके भेदोंको दूरकर, स्पर्शास्पर्श-सम्बन्धी शास्त्रीय विचारोंको त्यागकर खाने-पीने तथा विवाहादि सब विषयोंमें सब लोग एक हो जायँ इत्यादि। परन्तु भगवद्गीताका सिद्धान्त यह नहीं है, बल्कि उसके बिल्कुल (diametrically) विपरीत है।

गीतामें साम्यवाद

श्रीमद्भगवद्गीतामें अनेक स्थानोंमें 'सम' शब्द आता है और उसके भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। इनके अनुसार गीताजीमें श्रीभगवान्‌का बताया हुआ एक यथार्थ साम्यवाद भी है, जिसे समझ लेनेपर नकली साम्यवादका अपने आप खण्डन हो जायगा। इसलिये यहाँ संक्षेपमें उसका विवेचन किया जाता है।

'सम' शब्दका पहला अर्थ

गीताजीमें जो यह कहा है कि—

१ विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥ (५। १८)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

२ समबुद्धिर्विशिष्यते । (६ । ९)
३ ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ॥ (६ । २९)
४ आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन । (६ । ३२)
५ योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन !
(६ । ३३)
६ अहिंसा समता तुष्टिः । (१० । ५)
७ सर्वत्र समबुद्धयः । (१२ । ४)
८ समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् । (१३ । २७)
९ समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम् ।
(१३ । २८)

—इत्यादि, उसीके आधारपर आजकलके नूतनाद्वैती कहते हैं कि सबको समान दृष्टिसे देखते हुए वर्णभेदादिको छोड़ देना चाहिये, इत्यादि । परन्तु ऐसा करना बिल्कुल गलत है । क्योंकि उपर्युक्त उदाहरणोंमें पहलेसे लेकर अन्ततक सबमें जो 'सम' शब्द आया है, उसका अर्थ श्रीभगवान्‌ने प्रथम श्लोकके बादके श्लोकमें ही स्पष्ट बता दिया है कि—

निर्दोषं हि समं ब्रह्म । (५ । १९)

अतः इन उदाहरणोंमें 'सम' शब्दका अर्थ 'समान' नहीं है, बल्कि 'परब्रह्म' है । अतएव इन सब वाक्योंसे केवल यह अद्वैत सिद्धान्त ही सिद्ध होता है कि सब चीजें परमात्माके ही अनेक रूप हैं । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सबके साथ एक ही प्रकारका व्यवहार हो ।

'सम' शब्दका दूसरा अर्थ

अगर कोई यह आग्रह करे कि 'सम' बुद्धिका यही अर्थ है कि सबमें परमात्माको देखकर समान दृष्टिसे व्यवहार भी किया जाय, तो यह बड़ी भूल होगी । क्योंकि साधन बतानेके समय स्थान-स्थानपर जो 'सम' बुद्धिकी आज्ञा दी गयी है, उसमें तितिक्षाभ्यास और कामनात्यागके लिये सुख-दुःख, लाभालाभ, जयाजय आदि द्वन्द्वोंमें 'समान' रहनेको कहा है । जैसे—

१ सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
(२ । ३८)
२ सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥
(२ । ४८)
३ समः सिद्धावसिद्धौ च·····। (४ । २२)
४ समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥ (६ । ८)
५ समदुःखसुखः क्षमी ॥ (१२ । १३)
६ शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ॥
(१२ । १८)
७ तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी·····॥ (१२ । १९)
८ नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥
(१३ । ९)
९ समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
(१४ । २४)
१० मानापमानयोस्तुल्यः·····। (१४ । २५)
११ सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः·····। (१८ । २६)

—इत्यादि (जिनका हमने पहले ही कामना-त्याग और तितिक्षाके प्रकरणमें हिन्दी अर्थ बता दिया है ।) यही साम्य श्रीभगवान्‌के उपदेशमें आता है जिससे तितिक्षा और कामना-त्यागका अभ्यास करनेकी आज्ञा मिलती है । किसी स्थानमें भी ऐसा एक वचन भी नहीं आता जिससे सबके साथ एक ही प्रकारका व्यवहार करनेकी आज्ञाका भ्रमतक होता हो ।

अनभीष्ट साम्यवाद

इसपर भी यदि कोई दुराग्रह करे कि अद्वैत सिद्धान्त बतानेपर व्यवहारमें साम्यकी बात अपने आप आ जाती है; उसके लिये विधिवाक्यकी कोई जरूरत नहीं रहती इत्यादि, तो इसका उत्तर यह है कि ऐसे साम्यवादका तो गीतामें प्रत्यक्ष निषेध भी किया गया है । अतः वह सर्वथा त्याज्य है । 'साधुष्वपि च पापेषु'

अब इस बातपर विचार करना है कि श्रीभगवान्‌ने तो यह कहा है कि—

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ॥
(६ । ९)

तो क्या इसका यही अर्थ है कि सज्जन और पापीको समान दृष्टिसे देखते हुए दोनोंका समान रीतिसे सत्कार

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

करना चाहिये या दण्ड देना चाहिये ? ऐसा करनेपर तो भगवान् श्रीमनुकी इस आज्ञाका कोई मूल्य ही नहीं रह जाता कि—

अदण्ड्यान्दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरयं चापि गच्छति॥

जो निर्दोषको दण्ड देता है और अपराधीको दण्ड नहीं देता, वह राजा इहलोकमें अपकीर्ति और परलोकमें नरकको प्राप्त होता है।

भगवान्‌की समता

इसके अतिरिक्त श्रीमद्भगवद्गीतामें श्रीभगवान्‌ने अपने बारेमें यह कहा कि—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(९। २९)

इसका अर्थ तो यही हो सकता है कि व्यवहारमें सच्ची समता यही है कि अपने मनमें किसीके प्रति प्रेम या द्वेषका भाव न रख शास्त्रकी आज्ञाके अनुसार जिसके साथ प्रेम करना उचित हो उसके साथ प्रेम और जिसका विरोध मुनासिब हो उसका विरोध किया जाय। यही वास्तविक समता है। नहीं तो 'साधुष्वपि च पापेषु' समबुद्धिसे व्यवहार करनेपर बड़ा भारी पाप ही होगा।

फिर अन्यथानुपपत्ति

इसके अतिरिक्त इस नकली साम्यवादके निर्मूलनके लिये यह एक ही विचार पर्याप्त होगा कि अगर वर्णाश्रमादिके भेदको छोड़कर, शास्त्रमर्यादाको तोड़कर, 'साधुष्वपि च पापेषु' समबुद्धि (परमात्मबुद्धि) से तृप्त न होकर, समान व्यवहार करना ही श्रीभगवान्‌का सिद्धान्त होता तो शुरूसे ही दुर्योधनादिसे लड़नेके लिये अर्जुनको श्रीभगवान् बार-बार आज्ञा क्यों देते और विश्वरूप दिखाते हुए भी यह क्यों कहते कि—

द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च
कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा
युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्॥
(११। ३४)

—क्या इस उपदेशके साथ श्रीभगवान्‌के ही कहे हुए—

१ समः शत्रौ च मित्रे च। (१२। १८)
२ तुल्यो मित्रारिपक्षयोः। (१४। २५)

—इन वचनोंका विरोध नहीं होगा ? और अन्तमें 'करिष्ये वचनं तव' (१८। ७३) कहकर भीष्मद्रोणादिको मारनेके लिये भगवान्‌की आज्ञाके अनुसार अर्जुनके उठनेकी बात भी असंगत क्यों नहीं होगी ? इसलिये स्पष्ट है कि अद्वैत सिद्धान्तसे उक्त नकली साम्यवादका समर्थन नहीं हो सकता, बल्कि वर्णाश्रमव्यवस्थाके अनुसार भक्तिश्रद्धापूर्वक स्वधर्मका आचरण करना ही अद्वैत वेदान्तसिद्धान्तके अनुसार मनुष्यके अन्तिम और असली लक्ष्य-रूप परमात्मस्वरूपकी प्राप्तिका साधन है।

उपसंहार

तीनों काण्डोंके समन्वयका श्रीमद्भगवद्गीताके अनुसार इस प्रकार निरूपण करके इस लेखका उपसंहार करते हुए हम उसी त्रिकाण्डप्रतिपाद्य और स्वप्रतिपादित योगलक्ष्य योगेश्वर भगवान्‌से प्रार्थना करते हैं—

१ ऐहिकौर्ध्वदैकफलालिविरक्तिं
भक्तियुक्तनिजधर्मनिषक्तिम्।
शान्तिदान्त्युपरमात्तितितिक्षा-
मुख्यषड्गुणविवेकमुमुक्षाः॥
२ शास्त्रपूगविधितत्यनुरोधं
स्वान्तवृत्तिनिकुरुम्बनिरोधम्।
द्राग्वितीर्य पुरुषोत्तमयोगं
मद्भक्षु नाशय जनुर्मृतिरोगम्॥

ॐ तत्सत्

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

साधनकी आवश्यकता

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके एक व्याख्यानके आधारपर)

संसारमें सभी लोग सुखकी खोजमें हैं, सभी परमानन्द पाना चाहते हैं। रात-दिन सुख ही प्राप्त करनेकी चेष्टामें लगे हुए हैं, परन्तु सुख तो दूर रहा, असली सुखकी तो छाया भी नहीं मिलती। इसमें क्या कारण है ? इतना प्रयत्न करनेपर भी सुख क्यों नहीं मिलता ?

इस प्रश्नपर विचार करनेसे यह मालूम होता है कि हमारे सुखकी प्राप्तिमें तीन बड़े बाधक शत्रु हैं। उन्हींके कारण हम सुखके समीप नहीं पहुँच पाते। वे हैं मल, विक्षेप और आवरण।

मल है मनकी मलिनता, विक्षेप है चञ्चलता, और आवरण है अज्ञानका पर्दा। जबतक इन तीनोंका नाश नहीं होता तबतक यथार्थ सुखकी प्राप्ति असम्भव है। इनमें आवरणका नाश तो सहज ही हो सकता है। आवरणको हटानेके लिये खास प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् स्वयं बुद्धियोग प्रदान करके सारा मोह हर लेते हैं। भगवान् कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(गीता १०। ९-१०)

'निरन्तर मेरेमें मन लगानेवाले, मेरेमें ही प्राणोंको अर्पण करनेवाले भक्तजन सदा ही मेरी भक्तिकी चर्चाके द्वारा आपसमें मेरे प्रभावको जनाते हुए तथा गुण और प्रभावसहित मेरा कथन करते हुए ही सन्तुष्ट होते हैं और मुझ वासुदेवमें ही निरन्तर रमण करते हैं, उन निरन्तर मेरे ध्यानमें लगे हुए और प्रेमपूर्वक भजनेवाले भक्तोंको मैं वह तत्त्वज्ञानरूप बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

जबतक मन मलिन और चञ्चल है तबतक इसका प्रेमपूर्वक भजन ही नहीं होता फिर बुद्धियोग कहाँसे मिले। मनमें जो अनेकों प्रकारके मलिन विचार उठा करते हैं, एकान्तमें ध्यानके लिये बैठनेपर जो बुरे-बुरे भाव मनमें उत्पन्न होते हैं, यही मनकी मलिनता है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर, अभिमान, कपट, ईर्ष्या आदि दुर्गुण और दुर्भाव मलके ही कारण होते हैं। जिस व्यक्तिमें ये दोष जितने अधिक हैं, उसका चित्त उतना ही मलसे आच्छन्न है।

मल-दोषके नाशके लिये कई उपाय बतलाये गये हैं। इनमेंसे प्रधान दो हैं—भगवान्‌के नामका जप और निष्काम कर्म। भगवान्‌का नाम पापके नाशमें जादूका-सा काम करता है। नाममें पापनाशकी अपरिमेय शक्ति है। परन्तु नाममें प्रीति, श्रद्धा और विश्वास होना चाहिये। जैसे लोभी व्यापारीका एकमात्र ध्येय रुपया पैदा करना और इकट्ठा करना होता है और वह जैसे निरन्तर उसी ध्येयको ध्यानमें रखकर सब काम करता है, ठीक इसी प्रकार भगवत्-प्रेमका लक्ष्य बनाकर हमें रामनामरूपी धन एकत्र करना चाहिये—

कबिरा सब जग निरधना, धनवंता नहिं कोय।
धनवंता सो जानिये, जाके रामनाम धन होय॥

इसी प्रकार निष्काम कर्मयोगसे भी मलका नाश होता है। निष्काम कर्मयोगके प्रधान दो भेद हैं—भक्तिप्रधान कर्मयोग और कर्मप्रधान कर्मयोग। पहलेमें भक्ति मुख्य होती है और दूसरेमें कर्मकी मुख्यता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होती है। इन दोनोंमें भक्तिप्रधान कर्मयोग विशेष-रूपसे श्रेष्ठ है। वास्तवमें दोनोंमें ही भगवत्-प्रीति ही लक्ष्य है। अन्य कोई भी स्वार्थ नहीं है। स्वार्थका अभाव हुए बिना कर्मयोग बनता ही नहीं। फला-सक्तिको त्यागकर भगवत्प्रेमके लिये जो शास्त्रोक्त कर्म किये जाते हैं, उन्हींको निष्काम कर्मयोग समझना चाहिये। इस निष्काम कर्मयोगसे हमारे मनके मलरूप दुर्गुणोंका नाश होकर सद्गुण, सदाचार, शान्ति और सुखकी प्राप्ति होती है। सात्त्विक भावों और गुणोंका परम विकास होता है। इस प्रकार मल-दोषका नाश होनेपर विक्षेप अपने आप ही मिट जाता है और चित्त परम निर्मल और शान्त होकर भगवान्‌की भक्तिमें लग जाता है। तदनन्तर भगवत्कृपासे आवरणका भंग हो जाता है। आवरणका नाश होते ही परमानन्दकी प्राप्ति होती है और मानव-जीवन सफल हो जाता है। मुक्ति अथवा भगवत्-साक्षात्कार करनेके लिये निष्कामभावसे की हुई भगवान्‌की भक्तिसे बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं है। हमारा लक्ष्य यही रहे कि भगवान्‌में हमारा अनन्य प्रेम हो। इसीके लिये तत्परतासे चेष्टा हो। सफलता चाहनेवाले सभी लोग अपना लक्ष्य बनाकर चलते हैं, सब अपने जीवनका एक ध्येय रखते हैं और अपनी बुद्धिके अनुसार उसी ध्येयको परम श्रेष्ठ, सर्वोत्तम मानते हैं। ध्येयमें सर्वश्रेष्ठ बुद्धि न होगी तो उस ओर बढ़ना कठिन ही नहीं, असम्भव है। संसारमें सबसे बढ़कर हमारा लक्ष्य हो, उस लक्ष्यसे विचलित करनेवाला रागद्वेषसे उत्पन्न हुआ मोह है क्योंकि मोहके वश होकर हम अपने यथार्थ लक्ष्यको नहीं देख पाते—

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परंतप॥

(गीता ७। २७)

'हे भारत! संसारमें इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न हुए सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे सम्पूर्ण प्राणी अति अज्ञानताको प्राप्त हो रहे हैं।' यह प्रायः सभी प्राणियोंकी दशा है।

बहुत-से भाई यह कहते सुने जाते हैं कि इतने दिनोंसे साधन कर रहा हूँ पर भगवत्प्राप्ति नहीं होती। इसका एकमात्र कारण यही है कि मन-बुद्धि पवित्र और स्थिर नहीं है। साधनकी सफलता मन-बुद्धिकी पवित्रता और स्थिरतापर ही निर्भर है। मन और बुद्धि पवित्र और स्थिर नहीं है तो फिर साधनका फल प्रत्यक्ष होगा ही कैसे? निष्ठापूर्वक साधनसे ही मन और बुद्धिमें निर्मलता तथा स्थिरता आती है। मन और इन्द्रियाँ शुद्ध और स्थिर होकर भगवत्‌में प्रवेश कर जायँ इसके लिये पहले आवश्यकता इस बातकी है कि मन और इन्द्रियोंको अपने वशमें किया जाय। जबतक ये काबूमें नहीं आते तबतक भगवान्‌के स्वरूपमें स्थिर होकर भगवान्‌की प्राप्ति हो नहीं सकती।

महर्षि पतञ्जलिने मनके वशमें करनेका उपाय बतलाया है—अभ्यास और वैराग्य। इससे चित्त वशमें होता है। वृत्तियाँ एकाग्र होती हैं और चित्तका 'निरोध' होता है। यही भाव भगवान्‌ने गीतामें व्यक्त किया है—

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।
(६। ३५)

अभ्यास और वैराग्यके द्वारा यह पकड़ा जाता है। जिसका चित्त संयत है वही प्रयत्न करनेपर भगवान्‌की प्राप्ति कर सकता है। व्यभिचारिणी वृत्तियोंसे भगवान्‌को पकड़ना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है।

जबतक चित्तमें विषयासक्ति है, तबतक चित्तका वशमें होना कठिन है। विषयासक्तिके नाशके लिये वैराग्य ही प्रधान उपाय है। विचार करना चाहिये कि संसारके विषय सभी दुःखरूप हैं। भगवान्‌ने संसारके भोगोंको दुःखमूलक और क्षणिक बतलाकर यह कहा है कि बुधजन इनमें नहीं रमते—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥
(गीता ५। २२)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि सभी दुःखके कारण हैं, आदि और अन्तवाले हैं। ऐसे विषयोंमें मूर्ख ही पड़ते हैं। अतएव बुद्धिमान् मनुष्योंको विचार करना चाहिये कि जब मूर्ख ही इन विषयोंमें रमते हैं तब हम समझदार कहलाते हुए मूर्ख क्यों बनें? विषयोंमें जो रमता है वह मूर्ख इसलिये है कि उसका समय व्यर्थ जाता है, जीवन पापमय होता है, और पापके कारण उसे दुःख उठाना पड़ता है।

जो मनुष्य अपने आप दुःखका कारण बनता है वही मूर्ख है। इसलिये चित्तकी वृत्तियोंको विषयोंसे बराबर हटाते रहना चाहिये। संसारके जितने भोग हैं उनमें दुःख और दोषका दर्शन करे। यद्यपि आसक्तिके कारण विषय अमृतके समान सुखकारी लगते हैं परन्तु परिणाममें विषके समान घातक हैं, प्राण हर लेनेवाले हैं, लोक-परलोक बिगाड़नेवाले हैं। विषयोंका भोक्ता संसारमें बार-बार जन्मता-मरता है और नाना प्रकारके दुःखोंमें घुलता रहता है। विषयोंका भोग विष-भक्षणसे भी अधिक बुरा है। विचारके द्वारा विषयोंमें जो केवल दुःख-ही-दुःख देखता है वही बुद्धिमान् है। दोष-दर्शनका अभिप्राय यही है कि सारे विषय अत्यन्त अपवित्र हैं, घृणा करने लायक हैं; और केवल भगवान्‌का तत्त्व परम पवित्र है। भगवान्‌को छोड़कर भोगोंमें रमना पाप है। साथ ही यह भी विचार करना चाहिये कि यदि ये विषय स्थायी होते तो कदाचित् सदा सुख देनेवाले होते, परन्तु ये क्षणभङ्गुर हैं; पल-पलमें इनका रूप बदलता रहता है। इसके सिवा इनमें सुख भी क्षणिक ही होता है (यद्यपि वह भी भ्रमसे ही होता है)। क्षणभरके लिये सुख देकर महान् दुःखके सागरमें डुबा जाते हैं। वे यदि वस्तुतः सुखरूप होते तो सदा ही सुखरूप ही होते। अतएव विषय अनित्य हैं, अस्थायी हैं, असुख हैं, विषरूप हैं, नरकमें गिरानेवाले हैं। विषयोंके प्रति जो हमारी रागदृष्टि है और वैराग्यके प्रति जो हमारी विरक्ति है इसीके कारण सारी व्यवस्था उलटी हो गयी है और विषयोंमें हमें सुख भासता है और वैराग्यमें दुःख।

असलमें तो नित्य न होनेके कारण विषय सर्वथा असत् हैं।

विषयोंकी यह अनित्यता और उनका असत्पन प्रत्यक्ष देखते हुए और अनुभव करते हुए भी हम उनके उपभोगके लिये प्रवृत्त होते हैं, यही हमारी मूर्खता है। इस मूर्खताको विचारसे हटाना चाहिये। विचारसे विवेक उत्पन्न होगा और फिर विवेकसे ही वैराग्यका शुभोदय होगा। इस दृढ़ वैराग्यशस्त्रसे विषयरूप संसार-वृक्षको काटना गन्नेको काटनेके समान सुगम सहज हो जाता है। विषयोंकी ओर वृत्तियोंका कदापि न जाना, उनसे परम उपरामता हो जाना, उनका चिन्तन न होना ही इनका काटना है। सारे अनर्थोंकी उत्पत्ति इन्हींके चिन्तनसे होती है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
(गीता २।६२-६३)

मनके द्वारा विषयोंका चिन्तन होता है और विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है, कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है, क्रोधसे अविवेक अर्थात् मूढ़भाव उत्पन्न होता है, अविवेकसे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जाती है, और स्मृतिके भ्रमित हो जानेसे बुद्धि अर्थात् ज्ञानशक्तिका नाश हो जाता है। और बुद्धिके नाशसे यह पुरुष अपने श्रेय-साधनसे गिर जाता है।

सत्ता और आसक्तिको लेकर विषयोंका चिन्तन करना ही गिरनेका कारण है। नाशवान्, क्षणभङ्गुर और

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अनित्य समझकर इनको देखें तो ये हमें स्पर्श भी नहीं कर सकते ।

भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—जिसके सारे कर्म और सारे पदार्थोंमें आसक्ति नहीं है वही सर्व संकल्पों-का संन्यासी है—

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥

जिस कालमें न तो इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्त होता है तथा न कर्मोंमें ही आसक्त होता है उस कालमें सर्व संकल्पोंका त्यागी पुरुष योगारूढ़ कहा जाता है ।

जिसका मन पदार्थों और कर्मोंमें आसक्त नहीं होता वही योगी है । क्रिया करता है पर आसक्त नहीं होता । स्फुरणा हो पर आसक्ति नहीं, संकल्प नहीं । ऐसा सर्व संकल्पोंका त्यागी ही योगारूढ़ है । इससे यही सिद्ध हुआ कि पदार्थोंके अस्तित्वको क्षणभङ्गुर, नाशवान् समझना स्फुरणामात्र है अतएव यह अनर्थकारी नहीं है । सत्ता होनेपर ही आसक्ति होगी, असत् अर्थात् अभावमें आसक्ति नहीं होती । इससे यह नहीं समझना चाहिये ये चराचर भूत असत् हैं । वे असत् नहीं हैं, कार्यरूप संसार असत् है । कार्य-रूप हमारा यह शरीर भी असत् है, क्षणभङ्गुर है, नाशवान् है, आदि और अन्तवाला है । जो असत् है उसका भाव नहीं होता, जो सत् है उसका कभी अभाव नहीं होता—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।

भगवान्‌ने कहा है—

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥

(गीता २ । १८)

देह नाशवान् है पर देही (आत्मा) अविनाशी है । देह असत् है, देही सत् है । देहके सभी पदार्थ अनित्य और क्षणभंगुर हैं । संसारमें जो कुछ भी सत्ता-स्फूर्ति हम देख रहे हैं वह सब परमात्माकी ही है । वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा नित्य है, शाश्वत है, सनातन है, अव्यय है । उसी एकसे सब सत्ता, सब स्फूर्ति है । सारी चेतना और स्फुरणा उसीकी है । वही नित्य-सत्यस्वरूप है । संसारकी सत्ताके मूलमें परमात्माका निवास है । यह सारी दमकती हुई चेतनता परमात्माकी स्फूर्ति है । यह सब परमात्माका स्वरूप है । सबके नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता । वह सर्वदा, सर्वत्र प्रत्यक्ष विद्यमान है । ऐसे उस परमेश्वरकी शरण ग्रहण करके आनन्दके समुद्रमें गोते लगाना चाहिये । इसके लिये प्रभुने कई उपाय बतलाये हैं—

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥
अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते ।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥

(गीता १३ । २४-२५)

उस परमपुरुष परमात्माको कितने ही मनुष्य तो शुद्ध हुई सूक्ष्मबुद्धिसे ध्यानके द्वारा हृदयमें देखते हैं तथा अन्य कितने ही ज्ञानयोगके द्वारा देखते हैं, अपर कितने ही निष्काम कर्मयोगके द्वारा देखते हैं परन्तु इनसे दूसरे अर्थात् जो मन्दबुद्धिवाले हैं, वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुन-कर ही उपासना करते हैं अर्थात् उन पुरुषोंके कहनेके अनुसार ही श्रद्धासहित तत्पर हुए साधन करते हैं और वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूप संसार-सागरको निःसन्देह तर जाते हैं ।

महात्माजन क्या उपाय बतलाते हैं ? वे एक अंगमात्रको अर्थात् कर्म, भक्ति, ज्ञानमें किसी एकके अंग-मात्रको बतला देते हैं—उस एक अंगमात्रके साधनसे भी उस साधकका कल्याण हो जाता है ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

छान्दोग्य-उपनिषद्में उद्दालकने सत्यकामको गौओंकी सेवा ब्रह्मज्ञानके लिये बतलायी। केवल गौओंकी सेवामात्रसे सत्यकामको भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी। महात्माके द्वारा बतलाये जानेके कारण गौकी सेवा ही परम साधन हो गया। महर्षि पतञ्जलिके बतलाये हुए अष्टांगयोगमेंसे भी किसी-किसी अंग अथवा किसी उपांगमात्रसे भी ब्रह्मकी प्राप्ति हो सकती है। केवल ध्यानसे या प्राणायामसे भी भगवान्‌की प्राप्ति हो सकती है। नियमके एक अंग स्वाध्याय अथवा ईश्वरप्रणिधानसे भी परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

ईश्वरप्रणिधानाद्वा।

अतएव इससे यही प्रमाणित हुआ कि एक अंग अथवा एक उपांगसे भी भगवत्प्राप्ति हो सकती है। हृदयको पवित्र, मन-बुद्धिको स्थिर करनेके लिये शास्त्रोंमें बतलाये हुए विभिन्न मार्गोंमेंसे किसी भी मार्गको निश्चित कर प्राणपणसे प्रयत्न करना चाहिये। भगवत्कृपासे विजय निश्चित है, सफलता मिलेगी ही।

बारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने यह बतलाया है कि जो मेरे परायण हुए भक्तजन सम्पूर्ण कर्मोंको मेरेमें अर्पण करके मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही तैलधाराके सदृश अनन्य ध्यानयोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, उन मेरेमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूपी संसारसागरसे उद्धार कर देता हूँ। इसके अनन्तर भगवान्‌ने अर्जुनको उपदेश दिया कि तू मेरेमें मन लगा, मेरेमें ही बुद्धिको लगा, इसके अनन्तर तू मेरेमें ही निवास करेगा अर्थात् मेरेको ही प्राप्त होगा इसमें कुछ भी संशय नहीं है। फिर यदि तू मनको अचलरूपसे मुझमें नहीं लगा सकता तो अभ्यासके द्वारा मेरेको प्राप्त होनेके लिये इच्छा कर। यदि तू इस अभ्यासको करनेमें भी असमर्थ है तो केवल मेरे लिये कर्म करनेके ही परायण हो। इस प्रकार मेरे अर्थ कर्मोंको करता हुआ मुझे ही प्राप्त होगा, यदि इसको भी करनेमें तू अपनेको असमर्थ पाता है तो मेरी शरणमें आकर सब कर्मोंके फलका मेरे लिये त्याग कर। ऐसे त्यागसे तत्काल ही परमशान्ति होती है।

ऊपरके अवतरणमें भगवान्‌ने साधनाके विभिन्न मार्ग सुझाये हैं। जिसको जो रुचे, जिसकी जैसी योग्यता हो वह उसीको कर सकता है। इसी प्रकार चौथे अध्यायमें भी भगवान्‌ने यज्ञके नामसे साधनकी कई युक्तियाँ और मार्ग बतलाये हैं—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥
श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥
द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः॥
अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः॥
(गीता ४। २४—३०)

उन यज्ञके लिये आचरण करनेवाले पुरुषोंमेंसे कोई तो इस भावसे यज्ञ करते हैं, कि अर्पण अर्थात् स्रुवादिक भी ब्रह्म है और हवि अर्थात् हवन करने योग्य द्रव्य भी ब्रह्म है और ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मरूप

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कर्ताके द्वारा जो हवन किया गया है वह भी ब्रह्म ही है, इसलिये ब्रह्मरूप कर्ममें समाधिस्थ हुए उस पुरुषद्वारा जो प्राप्त होने योग्य है, वह भी ब्रह्म ही है। और दूसरे योगीजन देवताओंके पूजनरूप यज्ञको ही अच्छी प्रकार उपासते हैं, अर्थात् करते हैं और दूसरे ज्ञानीजन परब्रह्म परमात्मारूप अग्निमें यज्ञके द्वारा ही यज्ञको हवन करते हैं*। अन्य योगीजन श्रोत्रादि सब इन्द्रियोंको संयम अर्थात् स्वाधीनतारूप अग्निमें हवन करते हैं, अर्थात् इन्द्रियोंको विषयोंसे रोककर अपने वशमें कर लेते हैं और दूसरे योगीलोग शब्दादि विषयोंको इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करते हैं, अर्थात् राग-द्वेषरहित इन्द्रियोंद्वारा विषयोंको ग्रहण करते हुए भी भस्मरूप करते हैं। दूसरे योगीजन संपूर्ण इन्द्रियोंकी चेष्टाओंको तथा प्राणोंके व्यापारको ज्ञानसे प्रकाशित हुई, परमात्मामें स्थितिरूप योगाग्निमें हवन करते हैं †। और दूसरे (कई पुरुष) ईश्वर अर्पण बुद्धिसे लोकसेवामें द्रव्य लगानेवाले हैं, वैसे ही (कई पुरुष) स्वधर्म-पालनरूप तपयज्ञको करनेवाले हैं (और कई) अष्टाङ्ग योगरूप यज्ञको करनेवाले हैं और (दूसरे) अहिंसादि तीक्ष्ण व्रतोंसे युक्त यत्नशील पुरुष भगवान्‌के नामका जप तथा भगवत्प्राप्तिविषयक शास्त्रोंका अध्ययनरूप ज्ञानयज्ञके करनेवाले हैं। (और दूसरे योगीजन) अपानवायुमें प्राणवायुको हवन करते हैं, वैसे ही अन्य योगीजन प्राणवायुमें अपानवायुको हवन करते हैं (तथा) अन्य योगीजन प्राण और अपानकी गतिको रोककर प्राणायामके परायण (होते हैं) और दूसरे नियमित आहार‡ करनेवाले योगीजन प्राणोंको प्राणोंमें ही हवन करते हैं (इस प्रकार) यज्ञोंद्वारा नाश हो गया है पाप जिनका (ऐसे) ये सभी (पुरुष) यज्ञोंको जाननेवाले हैं।

ऊपरके श्लोकोंमें भगवान्‌ने साधनाके भिन्न-भिन्न मार्ग तथा कल्याणके अनेक उपाय बतलाये हैं। इनमेंसे किसी एकको भी चरितार्थ करनेवाला व्यक्ति परमात्माको प्राप्त कर सकता है। यहाँ 'यज्ञ' शब्द साधनका वाचक है जिसके द्वारा सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। कर्मनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा—इन्हीं दोके भेद विस्तारसे बतलाये गये हैं। इनके अनेक अंग-उपांग हैं। उनमेंसे एक किसी भी मार्गका साधन महात्मा पुरुष बतला दें तो हम संसार-सागरसे तर जायँ और हमें भगवत्‌की प्राप्ति हो जाय। कर्मयोग और सांख्ययोगके साधनोंसे जो अध्यात्मपथमें प्रवेश करते हैं उनकी सफलता तो निश्चित है ही। पर संत महापुरुषोंके बतलाये हुए किसी एक मार्गका भी जो अनुसरण करते हैं वे भी परम पदको प्राप्त हो जाते हैं।

ऊपर बताये हुए साधनोंमेंसे किसी एक साधनका अवलम्बन करनेसे मल विक्षेप और आवरणका सर्वथा नाश हो जाता है अर्थात् उसके सारे दुर्गुण, दुराचार, दुःख और विघ्नोंका अत्यन्त अभाव हो जाता है, और मन बुद्धि स्थिर होकर भगवत्कृपासे भगवत्तत्त्वको जानकर साधक परम शान्ति और परम आनन्दको प्राप्त हो जाता है।

---

* परब्रह्म परमात्मामें ज्ञानद्वारा एकीभावसे स्थित होना ही, ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञके द्वारा यज्ञको हवन करना है।

† सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा अन्य किसीका भी न चिन्तन करना ही उन सबका हवन करना है।

‡ गीता अध्याय ६ श्लोक १७ में देखना चाहिये।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कर्म और यज्ञ

(श्रीअरविन्द)

बुद्धियोग एवं उसके परिणाम ब्राह्मी स्थिति-को लेकर गीताके द्वितीय अध्यायका अन्तिम भाग लिखा गया है। यहींपर गीताकी अनेक शिक्षाओंका बीज निहित है, गीताके निष्काम कर्म, समता, बाह्य संन्यासके परित्याग, भगवान्‌में भक्ति—इन सब शिक्षाओंका सूत्रपात इसी स्थल-पर हुआ है। किन्तु ये शिक्षाएँ यहाँपर बहुत संक्षिप्त रूपमें हैं और दुर्बोध हैं। अबतक जिस शिक्षाके ऊपर सबसे अधिक जोर दिया गया है, वह यह है कि मनुष्य साधारणतः कामनासे प्रेरित होकर कार्य करता है, उससे बुद्धिको हटा लेना होगा; इन्द्रियसुखकी तलाशमें साधारणतः मनुष्यके मन-चित्तमें जो उद्वेग और अज्ञानता उत्पन्न होती है, उससे छुटकारा पाना होगा, लाखों वासनाओंके पीछे दौड़नेवाली बुद्धि और इच्छाको उधरसे फेरकर ब्राह्मी स्थितिके निष्काम ऐक्य, उद्वेगहीनता, शान्तिमें प्रतिष्ठित करना होगा। अर्जुन यहाँतक तो समझ गया; ये बातें उसके लिये एकदम नयी नहीं थीं। उस समयकी प्रचलित शिक्षाका सार-मर्म यही था। यह शिक्षा मनुष्यको ज्ञानका मार्ग दिखाती है, पुरुषार्थ-साधनके लिये संसारत्याग और कर्मत्यागका पथ, संन्यासका पथ दिखाती है। इसमें सन्देह नहीं कि इन्द्रियसुख, कामना और मानवीय कर्मका त्याग करके बुद्धिको ईश्वरमुखी बनाना, उसी एक निष्क्रिय पुरुष, अचल अरूप ब्रह्मकी ओर लगाना ज्ञानका सनातन बीज है। यहाँपर कर्मको स्थान नहीं है; क्योंकि कर्मका सम्बन्ध अज्ञानसे है, कर्म ज्ञानके एकदम विपरीत है; कामना इसका बीज है और बन्धन इसका फल है। यही उस समयका प्रचलित दार्शनिक मत था और जब श्रीकृष्णने कहा कि बुद्धियोग-की अपेक्षा कर्म अत्यन्त निकृष्ट है, उस समय, ऐसा मालूम होता है, उन्होंने भी इसी मतको स्वीकार किया था। किन्तु जब वह बड़े जोरदार शब्दोंमें यह कहते हैं कि कर्म योगका अङ्ग है तब इस शिक्षामें एक प्रकारका विषम असामञ्जस्य मालूम पड़ता है। केवल इतना ही नहीं; क्योंकि कुछ कालतक अत्यन्त सामान्य, नितान्त निर्दोष कर्म किया जा सकता है, किन्तु यहाँपर तो अर्जुनके सम्मुख जो कर्म है, वह पूर्णरूपेण आत्माकी अचल शान्ति और ज्ञानके विरुद्ध है—यह कर्म भीषण है, यहाँतक कि पैशाचिक है, वह निष्ठुर, रक्तपातपूर्ण युद्ध है, एक विराट् हत्याकाण्ड है। तथापि आन्तरिक शान्ति, निष्काम समता और ब्राह्मी स्थितिसम्बन्धी शिक्षाके द्वारा इस भीषण कर्मका समर्थन करनेकी चेष्टा हो रही है। यह जो विरोध है, इसका सामञ्जस्य अभी नहीं हुआ है। अर्जुनका यह अभियोग है कि उसको जो शिक्षा दी गयी है वह विरोधपूर्ण और गड़बड़ीमें डालनेवाली है—यह शिक्षा ऐसी नहीं है जिसकी सहायतासे सीधे निश्चित श्रेयकी ओर मनुष्य जा सके। इस आपत्तिके उत्तरमें श्रीकृष्ण भगवान्‌ने कर्मकी वास्तविक नीतिको बतलाना आरम्भ किया है।

भगवान्‌ने आरम्भमें ही परमार्थ-प्राप्तिके दो मार्गोंका अन्तर स्पष्ट किया है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥
(गीता ३। ३)

इस संसारमें मुक्ति प्राप्त करनेके लिये मनुष्य ज्ञानयोग या कर्मयोग किसी एकका अवलम्बन कर सकता है। साधारणतः लोगोंकी ऐसी धारणा है कि ज्ञानमार्ग कर्मको मुक्तिका विरोधी समझकर इसका परित्याग करता है और कर्ममार्ग कर्मको मुक्तिका सहायक समझकर इसको ग्रहण करता है। भगवान्‌ने अभीतक इन दोनोंको मिलाने या दोनोंका सामञ्जस्य करनेकी विशेष चेष्टा नहीं की है, उन्होंने केवल यह दिखाना आरम्भ किया है कि सांख्य-वादियोंका जो त्याग, शारीरिक त्याग, 'संन्यास' है, वही एकमात्र पथ नहीं है और न वह अन्य पथोंकी अपेक्षा उत्तम ही है। अवश्य ही आत्माको, पुरुषको 'नैष्कर्म्य' अर्थात् शान्त कर्मशून्यताका भाव प्राप्त करना होगा; क्योंकि प्रकृति ही कर्म करती है, आत्माको इस कर्म-स्रोतसे ऊपर उठना होगा एवं स्वाधीनता और शान्तिमें प्रतिष्ठित

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होकर प्रकृतिकी क्रियाओंका अविचलभावसे अवलोकन करना होगा। आत्माके नैष्कर्म्यका वास्तविक अर्थ यही है, प्रकृतिकी क्रियाओंका अन्त इसका अर्थ नहीं है। अतएव यह समझना गलत है कि किसी प्रकारका कर्म न करनेसे ही नैष्कर्म्यकी प्राप्ति हो सकती है। केवल कर्म-परित्याग यथेष्ट नहीं है यहाँतक कि यह मुक्ति प्राप्त करनेका उचित पथ भी नहीं है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
(गीता ३। ४)

'कर्म किये बिना कोई भी निष्क्रिय भावको प्राप्त नहीं करता, केवल संन्याससे सिद्धिकी प्राप्ति नहीं होती।'

किन्तु क्या यह मोक्ष प्राप्त करनेका एक अपरिहार्य और आवश्यक उपाय नहीं है? क्योंकि यदि प्रकृतिका कार्य जारी रहेगा, तो फिर आत्मा उसमें बद्ध हुए बिना किस प्रकारसे रह सकेगा? यह कैसे हो सकता है कि मैं तो युद्ध करूँ, परन्तु मेरा आत्मा 'मैं युद्ध कर रहा हूँ' ऐसा न सोचे, विजयकी आकांक्षा न करे, पराजयसे विचलित न हो? सांख्यवादियोंकी यही शिक्षा है कि जो व्यक्ति प्रकृतिकी क्रियामें नियुक्त होता है, उसकी बुद्धि अहंकार, अज्ञान और कामनासे बँध जाती है और इस कारण कर्मकी ओर आकृष्ट होती है—किन्तु बुद्धि यदि हट जाय तो ऐसी दशामें कामना और अज्ञानका अन्त होनेके साथ ही कर्मका भी अन्त हो जाता है। अतएव मुक्ति प्राप्त करनेके लिये अन्तमें संसार और कर्मका परित्याग करना ही होगा। अर्जुनके व्यक्त न करनेपर भी उसके बादके कथनसे ऐसा प्रकट होता है कि उसके मनमें उस समयमें प्रचलित यह आपत्ति उठी थी, और भगवान्‌ने तुरत इस बातको ताड़कर उत्तर दिया। उन्होंने कहा, इस प्रकारका त्याग अपरिहार्य नहीं है और न सम्भव ही है।

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥
(गीता ३। ५)

'कोई भी व्यक्ति बिना कर्म किये क्षणभर भी नहीं रह सकता। प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणोंसे विवश होकर प्रत्येक मनुष्यको कर्म करना पड़ता है।'

सारे विश्वमें चिरकालसे विश्वशक्तिकी जो विराट् क्रिया चल रही है, उसकी तीव्र अनुभूति ही गीताकी एक उल्लेखनीय विशेषता है। परवर्ती कालमें तान्त्रिक शाक्तोंने इस ओर विशेष जोर दिया था—यहाँतक कि उन्होंने प्रकृति या शक्तिको पुरुषसे भी श्रेष्ठ माना था। यद्यपि गीतामें इस भावका उतना विकास नहीं हुआ है, तथापि गीताके ईश्वरवाद और भक्तितत्त्वके साथ संयुक्त होकर इसने प्राचीन वेदान्तके कर्मत्यागकी प्रवृत्तिका विशेषरूपसे दमन किया है। प्राकृतिक जगत्‌में देहधारी मनुष्य कर्म किये बिना नहीं रह सकता—एक मुहूर्तके लिये, एक सेकंडके लिये भी नहीं रह सकता; स्वयं उसका यहाँ जीवित रहना भी एक कर्म है; समग्र विश्व भगवान्‌का एक कर्म है, केवल जीवित रहना भी उनकी क्रिया है।

हमारा शारीरिक जीवन, इसका पालन तथा इसकी रक्षा करना एक प्रकारकी यात्रा है; यही 'शरीर-यात्रा' है और कर्म किये बिना यह यात्रा पूरी नहीं की जा सकती। यदि कोई मनुष्य शरीरका पालन किये बिना भी रह सके, यदि सर्वदा वृक्षकी भाँति निश्चल होकर खड़ा रह सके या पत्थरकी भाँति जड़वत् बैठा रह सके—'तिष्ठति' तथापि इस प्रकार निश्चल या जड़की तरह रहनेसे ही वह प्रकृतिके हाथसे परित्राण नहीं पा सकता, प्रकृतिकी क्रियाओंसे मुक्ति नहीं पा सकता। क्योंकि कर्म शब्दसे केवल हमारी शारीरिक क्रिया और गतिका ही बोध नहीं होता है, हमारा मानसिक जीवन भी एक बहुत बड़ा जटिल कर्म है—वरं विश्रामहीन शक्तिका एक बृहत्तर तथा और भी आवश्यक कर्म है—यह मानसिक क्रिया ही शारीरिक क्रियाका कारण और निर्देशक है। यदि हम बाह्य कार्यका परित्याग कर दें, किन्तु आन्तरिक कारणको बना रहने दें तो इससे कुछ लाभ नहीं होगा। इन्द्रियोंके विषय हमारे बन्धनके प्रसङ्ग-मात्र हैं, उनको ग्रहण करनेके लिये मनका जो आग्रह है, वही हम लोगोंके बन्धनका निमित्तकारण है। मनुष्य अपने कर्मेन्द्रियोंको संयत कर सकता है और उनकी स्वाभाविक क्रियाओंको रोक सकता है, किन्तु यदि उसका मन इन्द्रियोंके विषयोंका चिन्तन करता रहे, तो इससे उसको कुछ भी लाभ नहीं होगा। ऐसा मनुष्य आत्म-संयमकी भूल धारणा बनाकर स्वयं अपनेको धोखेमें डालता है; वह इसके उद्देश्य या वास्तविक तथ्यको नहीं समझता और न अपने ही आन्तरिक जीवनके मूल तत्त्वोंको

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

समझता है; अतएव ऐसे मनुष्यके आत्मसंयमकी सारी प्रणाली मिथ्या और व्यर्थ है।*

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
(गीता ३।६)

केवल शारीरिक कर्म ही नहीं, बल्कि मानसिक कर्म भी स्वयं कुछ नहीं हैं, वे न तो बन्धन ही हैं, न बन्धनके प्रथम कारण ही हैं। प्रकृतिकी महाशक्ति मन, प्राण और शरीररूपी अपने विराट् क्षेत्रमें तो क्रीड़ा करेगी ही; उसके अंदर जो विषजनक चीज है, वह है उसके तीन गुणोंकी मुग्ध करनेकी शक्ति—ये ही तीन गुण बुद्धिको भ्रममें डालकर आत्माको ढक देते हैं। हम आगे देखेंगे कि गीतामें कर्म और मुक्तिकी सारी बातें इसी बातको लक्ष्यमें रखकर कही गयी हैं। त्रिगुणकी मोहकारिणी क्रियासे मुक्त होओ—इसके बाद कर्म रह सकता है, रहेगा ही, यहाँतक कि अत्यन्त महान् और प्रचण्ड कर्म भी चल सकता है; उससे कोई हानि नहीं होगी, क्योंकि आत्माके नैष्कर्म्य प्राप्त कर लेनेपर कुछ भी पुरुषको स्पर्श नहीं कर सकता।

किन्तु गीता अभी इस बड़े प्रश्नको नहीं छेड़ रही है। मन ही जब निमित्तकारण है, कर्महीनता जब असम्भव है, तब शारीरिक और मानसिक क्रियाको संयत और नियमित करना ही उचित आवश्यक और युक्तियुक्त है। मन बुद्धिके यन्त्रके रूपमें इन्द्रियोंको वशमें लावेगा और उन्हें उपयुक्त कर्ममें नियुक्त करेगा—किन्तु योगरूपसे ही यह कर्म करना होगा।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते॥
(गीता ३।७)

परन्तु इस आत्मसंयमका तात्पर्य क्या है? योगरूपमें कर्म करने अर्थात् कर्मयोगका क्या अर्थ है? इसका अर्थ है अनासक्तिपूर्वक इन्द्रियोंके विषयों और कर्मफलमें मनको न लगाकर कर्म करना। इसका अर्थ पूर्णरूपसे कर्मशून्यता नहीं है—यह तो भ्रम, मोह और आत्मप्रवञ्चना है, असम्भव है। पूर्णरूपसे और स्वाधीनताके साथ कर्म करना होगा, इन्द्रियों और षड्रिपुओंकी अधीनताको त्याग कर कर्म करना होगा, कामनाशून्य होकर, अनासक्तभावसे कर्म करना होगा—यही सिद्धिप्राप्तिके प्रथम गूढ़ रहस्य हैं। श्रीकृष्णने कहा—इस प्रकार आत्मसंयमके साथ कर्म करो, 'नियतं कुरु कर्म त्वम्'। मैंने कहा है कि ज्ञान, बुद्धि कर्मकी अपेक्षा बड़ी है, 'ज्यायसी कर्मणो बुद्धिः', किन्तु यह बात मैंने नहीं कही है कि कर्मकी अपेक्षा कर्महीनता बड़ी है, वरं इससे उल्टी बात ही सत्य है 'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः'। क्योंकि ज्ञानका अर्थ कर्मत्याग नहीं है; इसका अर्थ है समता और इन्द्रियोंके विषयों और कामनाके प्रति अनासक्ति तथा बुद्धिकी वह अवस्था जिसमें वह प्रकृतिकी निम्न क्रिया, इन्द्रियोंकी अधीनतासे मुक्त होकर ऊर्ध्वमें आत्मामें प्रतिष्ठित होती है और आत्मज्ञानकी शक्ति तथा शुद्ध विषयशून्य आध्यात्मिक अनुभूतिके निजानन्दमें मन, इन्द्रियों और शरीरकी क्रियाओंको नियमित करती है, नियतं कर्म*। कर्मयोगके द्वारा बुद्धियोग पूर्णताको प्राप्त होता है; आत्ममुक्तिदायक बुद्धियोग कामनाशून्य कर्मयोगके द्वारा सार्थक होता है। इस प्रकार गीताने

* 'मिथ्याचारी' शब्दका अर्थ कपटाचारी (hypocrite) मुझे ठीक नहीं मालूम होता। जो मनुष्य इस प्रकार पूर्ण एवं कठोररूपसे अपनेको सुखोंसे वञ्चित करता है, वह कपटाचारी कैसे हो सकता है? वह भ्रममें पड़ा हुआ है, 'विमूढात्मा' है और उसका आचार, उसके आत्मसंयमकी प्रणाली मिथ्या और व्यर्थ है। यही गीताका अर्थ है, इसमें सन्देह नहीं। —ग्रन्थकार

* 'नियतं कर्म' की साधारणतः जिस प्रकारकी व्याख्या की जाती है, उसको मैं नहीं ग्रहण कर सकता। साधारणतः टीकाकारोंने 'नियतं कर्म' का अर्थ सन्ध्या-उपासनाप्रभृति वेदोक्त नित्यनैमित्तिक कर्म समझा है। इसमें सन्देह नहीं कि इसके पूर्वके श्लोकके 'नियम्य' शब्दको लेकर ही इस श्लोकमें 'नियतम्' कहा गया है। पहले श्रीकृष्णने एक तत्त्वका वर्णन किया—जो व्यक्ति मनके द्वारा इन्द्रियोंको नियमित करके कर्मेन्द्रियोंके द्वारा कर्मयोगका अनुष्ठान करता है, वही श्रेष्ठ है—'मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन कर्मयोगम्।' और ठीक इसके बाद ही इस तत्त्ववर्णनसे उन्होंने एक उपदेश निकाला, इसके सारको लेकर इसे एक नियममें परिणत किया—'नियतं कुरु कर्म त्वम्'—तुम नियत कर्म करो। यहाँपर 'नियतम्' शब्दमें 'नियम्य' को लिया गया है, 'कुरु कर्म' में 'आरभते कर्मयोगम्'को लिया गया है। बाह्य विधिके द्वारा निर्दिष्ट नैमित्तिककर्म गीताकी शिक्षा नहीं है, वरं मुक्त बुद्धिके द्वारा नियत कामनाशून्य कर्म ही गीताकी शिक्षा है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

निष्काम कर्मकी प्रयोजनीयता समझायी है और सांख्योंकी बाह्यिक विधिका परित्याग करके उनके आभ्यन्तरीय ज्ञान-प्रणालीके साथ योगकी प्रणालीको जोड़ दिया है।

किन्तु अभीतक एक मूल समस्याका समाधान बाकी ही है। साधारणतः मनुष्य वासनासे प्रेरित होकर कर्म करता है; अन्तःकरण यदि कामनारहित हो जाय तब तो फिर कर्मकी कोई प्रवृत्ति या प्रयोजनीयता ही नहीं रह जाती। शरीर-रक्षाके निमित्त कुछ कर्म करनेके लिये हम बाध्य हो सकते हैं, किन्तु यह भी शारीरिक कामनाकी पराधीनता है और सिद्धि प्राप्त करनेके लिये इससे भी मुक्त होनेकी आवश्यकता है। किन्तु यदि मान लिया जाय कि यह सम्भव नहीं है तो ऐसी दशामें हमारे लिये (अन्तःकरणके द्वारा परिचालित न होकर) कर्मकी किसी बाह्य विधिको मानकर चलनेके सिवा और कोई उपाय नहीं है। वैदिक नित्यकर्म, यज्ञानुष्ठान, निर्दिष्ट दैनिक कार्य, सामाजिक कर्तव्य ये सब इसी प्रकारकी बाह्य विधिके द्वारा नियन्त्रित हैं; जो मुक्ति चाहते हैं उन्हें ये सब कर्म करने होंगे, परन्तु इसलिये नहीं कि ये कर्म उनके कामनानुयायी एवं मनोमत हैं, वरं इसलिये कि शास्त्रमें मुक्तिकामियोंको इन कर्मोंको करनेके लिये आदेश दिया गया है। किन्तु यदि कर्मकी नीतिको इस प्रकार बाह्य न रख आन्तरिक बनाना हो, यदि मुक्त एवं ज्ञानी व्यक्तियोंका कार्य उनके स्वभावके द्वारा नियन्त्रित (स्वभावनियतम्) करना हो—तो ऐसी दशामें कामनाके सिवा कर्मकी कोई दूसरी आन्तरिक नीति नहीं हो सकती; यह कामना उच्च अथवा नीच हो सकती है—शारीरिक भोगकी कामना हो सकती है, हृदय-मनकी उच्च-भावमयी कामना हो सकती है। परन्तु यह सब प्रकृतिके गुणोंके अधीन है। अतएव गीताके 'नियत कर्म' का अर्थ वेदका 'नित्य कर्म' समझना चाहिये, गीताके 'कर्तव्य कर्म' का अर्थ सामाजिक कर्तव्य-सम्बन्धी आर्यनीति समझना चाहिये और यज्ञार्थ कर्मका अर्थ वेदोक्त यज्ञादिके अनुष्ठान तथा व्यक्तिगत स्वार्थ और कामनासे शून्य होकर इस स्थिर सामाजिक कर्तव्यका (duty) पालन समझना चाहिये। गीताके निष्काम कर्मकी व्याख्या अधिकतर इसी रूपमें की जाती है। किन्तु मेरी समझमें गीताकी शिक्षा इतनी स्थूल और सरल नहीं है, इस प्रकार संकीर्ण और देश, कालसे सीमित नहीं है। गीताकी शिक्षा उदार, मुक्त, सूक्ष्म और गम्भीर है; यह सभी युगके लिये और सभी मनुष्योंके लिये उपयोगी है, यह केवल किसी विशेष युग या किसी विशेष देशके लिये नहीं है। विशेषतः यह सर्वदा ही बाह्यविधिनिषेध, कृत्रिम कानून-कायदे, तुच्छ अनुष्ठानोंके बन्धनोंको त्याग करके मूल्य सत्यकी ओर गयी है, इसने मनुष्य-स्वभाव और जीवनके प्रधान बातोंपर ध्यान रखा है। गीता उदार दार्शनिक सत्य तथा आध्यात्मिक व्यावहारिकताकी शिक्षा देती है; इसमें साम्प्रदायिक कट्टरता नहीं है, नपे-तुले विधिनिषेध या विशेष मतवादसे यह सीमित नहीं है।

अब समस्या यह है कि हमारा स्वभाव जब इस प्रकारका है और जब कामनासे ही प्रेरित होकर हम साधारणतः कर्म करते हैं, तब वस्तुतः निष्काम कर्म किस प्रकार सम्भव है? क्योंकि साधारणतः जिन कर्मोंको निःस्वार्थ कहा जाता है वे वास्तवमें निष्काम कर्म नहीं हैं; क्षुद्र स्वार्थके बदले महान् स्वार्थके लिये, देशके लिये, मानव-जातिके कल्याणके लिये वे सब कर्म किये जाते हैं। और श्रीकृष्णने बार-बार कहा है कि सभी कर्म हमारे स्वभावके द्वारा, प्रकृतिके गुणोंके द्वारा सम्पादित होते हैं। जब हम शास्त्रानुसार कर्म करते हैं उस अवस्थामें भी हम अपने स्वभावके वशमें होकर ही कर्म करते हैं। साधारणतः जिन कर्मोंकी विधि शास्त्रमें है, वे भी परोक्षभावसे हमारे स्वार्थके ही अनुकूल हैं—हमारे व्यक्तिगत, जातिगत या सम्प्रदायगत भाव, स्वार्थ या अहंकारके अनुकूल हैं। यदि ऐसा न भी माना जाय—यदि शास्त्रोक्त उन्हीं कर्मोंकी बात ली जाय जिनके साथ हमारे छोटे या बड़े किसी भी प्रकारके स्वार्थका सम्बन्ध नहीं है, तो भी हम देखेंगे कि उनको भी हम अपने स्वभावके वशमें होकर ही करते हैं; क्योंकि यदि हमारा स्वभाव भिन्न प्रकारका होता तो वैसी दशामें या तो हम इन शास्त्रोक्त कर्मोंको करते ही नहीं या हम शास्त्रविधिका परित्याग करके अपने सुखकी तलाशके लिये कर्म करते या अपनी बुद्धिके द्वारा कर्म चुन लेते अथवा समाजके बन्धनको तोड़कर एकान्तमें तपस्वी या संन्यासीका जीवन व्यतीत करते। अतएव अपने बाहरके किसी कानून-कायदेका पालनकर हम कभी अहंभाव या स्वार्थसे मुक्त नहीं हो सकते; क्योंकि हम किसी प्रकार भी अपनेसे बाहर नहीं जा सकते। केवल हमारे भीतर जो श्रेष्ठ सत्ता है, उसीमें उठ जानेपर, सब भूतोंका जो एक आत्मा है और जो हमारे अंदर भी वर्तमान है, उसी मुक्त एवं 'स्वार्थ' शून्य आत्माके भीतर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चले जानेपर हम वास्तवमें स्वार्थ और अहंभावसे ऊपर उठ सकते हैं। जब हम यह समझेंगे कि संसारमें जो कुछ है, उसकी सत्ता और हमारी सत्ता एक है, तभी हमारे 'स्वार्थ' और 'परार्थ' का द्वन्द्व दूर होगा, तभी हम वास्तवमें व्यक्तित्वशून्य होंगे, क्षुद्र नामरूपके बाहर जा सकेंगे, अहंभाव-से रहित हो सकेंगे। विश्वातीत ईश्वर जो हमारे भीतर हैं और जो अपने विश्वकर्म या व्यक्तिगत कर्मके द्वारा बद्ध नहीं हैं, उन्हींमें हमें उठना होगा। गीताने यही शिक्षा दी है—कामना-शून्यता इसीका उपायमात्र है, केवल कामनाशून्यता ही जीवनका लक्ष्य नहीं है। किन्तु किसी प्रकारसे इसको प्राप्त किया जाय? भगवान्‌ने कहा कि यज्ञको ही एकमात्र लक्ष्य बनाकर सब कर्म करनेसे यह प्राप्त हो सकता है।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥
(गीता ३। ९)

'यज्ञार्थ कर्म करनेके अतिरिक्त अन्य कर्म करनेसे मनुष्य कर्ममें बँधते हैं; अतएव हे कौन्तेय! आसक्तिशून्य होकर यज्ञके लिये कर्म करो।'

केवल यज्ञ और सामाजिक कर्तव्य ही नहीं, वरं सभी कर्म यज्ञार्थ किये जा सकते हैं; प्रत्येक कर्म चाहे छोटा हो या बड़ा, स्वार्थके लिये किया जा सकता है अथवा ईश्वरार्थ किया जा सकता है। प्रकृतिकी सारी वस्तुएँ और सारे कर्म ईश्वरके लिये हैं। ईश्वरसे ही इसकी उत्पत्ति हुई है, उन्हींके द्वारा यह चालित होती है और उन्हींकी ओर इसका लक्ष्य है। किन्तु जबतक हमलोग अहंभावके अधीन हैं, तबतक हम इस सत्यकी उपलब्धि नहीं कर सकते, तबतक हम अहंभावके वशीभूत होकर स्वार्थके लिये कर्म करते हैं, यज्ञार्थ नहीं करते। अहंकार ही सारे बन्धनोंकी ग्रन्थि है। अहंभावका कोई विचार न कर, भगवान्‌के उद्देश्यसे कर्म करनेसे हम इस ग्रन्थिको शिथिल कर सकते हैं और अन्तमें मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं।

जो हो, गीताने सर्वप्रथम यज्ञके वेदोक्त वर्णनको ही ग्रहण किया है और उस समयकी प्रचलित भाषामें यज्ञके स्वरूपको व्यक्त किया है। गीताने एक विशेष उद्देश्यसे ही ऐसा किया है। हमने पहले देखा है कि संन्यास और कर्मका विरोध दो प्रकारका है—पहला सांख्य और योगके अंदर जो विरोध है, जिसका समाधान सिद्धान्ततः इससे पूर्व किया गया है; दूसरा, वेदवाद और वेदान्तवादके अंदर जो विरोध है, जिसका समाधान करना अभी बाकी है। पहलेमें यह विरोध साधारणभावसे प्रकट हुआ है और 'कर्म' शब्द-का साधारणतः व्यापक अर्थमें व्यवहार किया गया है। सांख्यका आरम्भ अक्षर तथा निष्क्रिय पुरुषके दिव्यभावको लेकर होता है—प्रत्येक आत्मा ही वास्तवमें इस प्रकारका पुरुष है; सांख्यने पुरुषकी निष्क्रियता और प्रकृतिकी क्रियाशीलतामें भेद कर दिया है; अतएव कर्म-त्याग ही सांख्यमतके अनुसार युक्तिसंगत परिणति है। योगका आरम्भ ईश्वरवादको लेकर होता है—ईश्वर प्रकृतिके कार्योंके प्रभु हैं, अतएव वह उनके ऊपर हैं; सुतरां कर्म संन्यास योगकी परिणति नहीं है, कर्मके ऊपर आत्माकी श्रेष्ठता प्राप्त करना एवं सब कर्म करते हुए बन्धनसे मुक्त होना ही योगका लक्ष्य है। वेदवाद और वेदान्तवादमें जो विरोध है, उसमें कर्मका अर्थ वैदिक कर्म है, यहाँतक कि कहीं-कहीं वैदिक यज्ञ और अनुष्ठानको ही कर्मके अर्थमें लिया जाता है—अन्यकर्म मुक्तिके लिये उपयोगी न होनेके कारण परित्याज्य हैं। मीमांसकोंके वेदवादके अनुसार इन वैदिक कर्मोंको मुक्तिके साधनके रूपमें करना चाहिये; उपनिषदोंके ऊपर प्रतिष्ठित वेदान्तवादके अनुसार अज्ञाना-वस्थामें प्राथमिक प्रक्रियारूपमें ही कर्मकी उपयोगिता है, अन्तमें कर्मका अतिक्रमण तथा परित्याग करना होगा, क्योंकि यह मुक्तिका विरोधी है। वेदवाद यज्ञके द्वारा देवताओंकी पूजा करता एवं विश्वास करता है कि वे हमारी मोक्ष-प्राप्तिमें सहायता करते हैं। वेदान्तवादके मतानुसार सब देवता मानसिक जगत् और जड-जगत्‌के मालिक हैं और हमारी मुक्तिके विरोधी हैं (उपनिषद्‌में कहा गया है कि मनुष्य देवताओंके गोधन हैं—वे नहीं चाहते कि हम ज्ञान प्राप्त करें अथवा मुक्त हों); वेदान्तमतानुसार भगवान् अक्षरब्रह्म हैं—उन्हें यज्ञ और पूजादि कर्मोंके द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, ज्ञानके ही द्वारा उन्हें प्राप्त किया जा सकता है। कर्मके द्वारा केवल ऐहिक फल एवं निम्न-कोटिका स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है, अतएव कर्मका परित्याग करना ही होगा।

गीताने इस विरोधकी मीमांसा की है—गीताने बार-बार कहा है कि देवता सब यज्ञ, पूजा, उपासनाके प्रभु, उसी एक देव, ईश्वरके विभिन्न रूपमात्र हैं; और यदि यह सत्य है कि देवताओंके उद्देश्यसे यज्ञ करनेसे ऐहिक सुख

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

और स्वर्ग प्राप्त होता है तो यह भी सत्य है कि ईश्वरके उद्देश्यसे यज्ञ करनेसे इन लाभोंसे ऊपर जाकर परम मुक्ति प्राप्त की जाती है। क्योंकि ईश्वर और अक्षरब्रह्म विभिन्न नहीं हैं, दोनों एक हैं—दोनोंमेंसे किसीको लक्ष्य करनेसे एक ही दिव्य जीवनकी ओर हम अग्रसर होते हैं। सभी कर्मोंकी परिसमाप्ति और पूर्णता ज्ञानमें होती है—

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

कर्म बाधा नहीं हैं, वे चरम ज्ञानकी प्राप्तिके पथ हैं। इस प्रकार यज्ञ शब्दकी उदार व्याख्या करके इस विरोधका भी सामञ्जस्य किया गया है। वास्तवमें यह विरोध सांख्य और योगके महान् विरोधका ही एक विशिष्ट रूप है। वेदवाद एक तरहसे संकीर्ण और विशिष्ट प्रकारका योग है; वैदान्तिकोंकी मूल नीति और सांख्यवादियोंकी मूल नीति एक ही है, क्योंकि दोनों मतोंके अनुसार बुद्धिको प्रकृतिके बहुत्वसे, अहङ्कार, मन और इन्द्रियोंसे हटाकर उसी अभिन्न और अक्षरमें ले आना ही मुक्तिप्राप्तिकी साधना है। इस प्रकारका सामञ्जस्य सिद्ध करनेका उद्देश्य मनमें रखकर ही गीताके गुरुने सर्वप्रथम यज्ञका वर्णन किया है; किन्तु प्रारम्भसे ही बराबर उनका लक्ष्य वेदोक्त यज्ञ और अनुष्ठानके अंदर सीमाबद्ध नहीं था, बल्कि उसके उदार, व्यापक अर्थके ऊपर था। इस प्रकार संकीर्ण आनुष्ठानिक धारणाओंको विस्तृत करके उनके अंदर बृहत् साधारण सत्योंको ले आना ही सदा गीताकी प्रणालीकी विशेषता रही है।

पञ्चसकार

[गतांकसे आगे]

(५) समता

यह सारा संसार श्रीभगवान्‌का पसारा है। भगवान्‌के सिवा कहीं कुछ भी नहीं है। भगवान् स्वयं अपने ही अन्दर जगत्‌रूपसे प्रकट हैं। भगवान् ही स्वयं जगत्‌के अन्दर परिपूर्ण हैं। भगवान् ही जगत्‌के समस्त प्राणियोंके हृदयमें आत्मारूपसे विराजमान हैं। भगवान् ही नाना प्रकारके विचित्र भावों, पदार्थों, द्वन्द्वों और देश-कालादिके रूपमें प्रकाशित हैं, अतएव जो पुरुष सर्वत्र निर्दोष और समरूपसे श्रीभगवान्‌को देखता है, वही यथार्थ देखता है। इसी यथार्थ दर्शनका नाम वास्तविक समता है। इस समताका सम्बन्ध आत्मासे है। इसी सम्बन्धको सदा ध्यानमें रखकर मन, वाणी और शरीरसे संसारमें व्यवहार करना चाहिये। व्यवहारमें बाहरसे उचित विषमता रहनेपर भी आत्मदृष्टिसे कोई विषमता नहीं रहनी चाहिये। जैसे एक ही शरीरके मस्तक और चरण, हाथ और पैर, मुख और गुदा आदि अङ्गोंकी बनावटमें, उनकी क्रियाओंमें, उनके व्यवहारमें, उनकी उपयोगितामें और उनमेंसे कुछके पवित्र या अपवित्र स्वरूपमें बड़ी भारी विषमता रहनेपर भी शरीरमें सर्वत्र समरूपसे आत्मभाव होनेके कारण मनुष्य इन सभी अङ्गोंके सुख-दुःखको समदृष्टिसे देखता है। इसीलिये वह अपने प्रत्येक अङ्गसे प्रत्येक अङ्गकी पुष्टि, रक्षा और सहायतार्थ उनका यथायोग्य व्यवहार करनेके लिये स्वाभाविक ही सदा तैयार रहता है। मस्तक हो या चरण, उदर हो या उपस्थ किसी भी उच्च या नीच अङ्गपर आघात लगनेकी सम्भावना होते ही हाथ सदा उसे बचानेको तैयार रहते हैं। पैरमें कहीं काँटा न चुभ जाय, इसके लिये आँखें सदा सतर्क रहती हैं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

और तीखी नजरसे राहकी ओर देखा करती हैं। काम सब अपनी-अपनी योग्यतानुसार करते हैं, और इनमें परस्पर ऊँचा-नीचा स्थान और पद भी है, परन्तु सभी परस्पर सम्बन्धित हैं, सभी एक ही शरीरके विभिन्न अङ्ग हैं और अपने-अपने स्थानपर सभीकी एक-सी उपयोगिता है। मनुष्य इन अपने अङ्गोंसे अलग-अलग काम लेता हुआ भी न तो किसी अङ्गकी अवहेलना ही करता है और न किसीके साथ विशेष प्रेम या किसीके साथ घृणा या द्वेष ही करता है। उसका सभीमें समान प्रेम है। यहाँतक कि गुदा और उपस्थ इन्द्रियके छू जानेपर वह हाथ धोना तो आवश्यक समझता है परन्तु उनमें उसका अपनापन या ममत्व किसी प्रकार भी कम नहीं है। इसी प्रकार समतायुक्त पुरुष समस्त विश्वके प्राणियोंको अपने ही विराट् शरीरके विभिन्न अंग मानकर उनमें यथायोग्य विषम व्यवहार करता हुआ भी सबके प्रति समभाव रखता है और सबके सुख-दुःखको अपने ही समान समझता है। श्रीभगवान् कहते हैं—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(गीता ६। ३२)

'हे अर्जुन! जो पुरुष अपनी ही तरहसे सब जगत्में और सबके सुख-दुःखमें समरूपसे देखता है वही श्रेष्ठ योगी माना जाता है।'

अवश्य ही इस समतामें भी बाहरी व्यवहारमें तो विषमता रहती ही है क्योंकि व्यवहार सारा प्रकृतिमें होता है, और प्रकृतिका यह व्यक्त स्वरूप ही विषमताके कारण बना है। जिस समय प्रकृति साम्यावस्थामें होती है उस समय तो वह अव्यक्त ही रहती है। प्रकृतिकी यह विषमता नष्ट हो जाय तो जगन्नाटकके स्वामी लीलामय भगवान्का यह सारा चित्र-विचित्र खेल ही खतम हो जाय। परन्तु ऐसा होता नहीं। विभिन्न प्रकृतिके मनुष्य, पशु, पक्षी व्यवहारोपयोगी सब बातोंमें समान कभी नहीं हो सकते। उनमें आत्माके भावसे समता देखी जाती है, और इसीलिये उनके सुख-दुःखका खूब खयाल रखकर उनको सुख पहुँचाना समतायुक्त पुरुषका स्वभाव हो जाता है। भगवान्ने ऐसे ही सर्वत्र आत्मदर्शी समतायुक्त पुरुषको पण्डित बतलाया है, और वहाँ ऐसे पाँच जीवोंका नाम लिया है जिनमें परस्पर ऐसा भेद है जो मिटाया नहीं जा सकता। भगवान्ने कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

(गीता ५। १८)

'विद्याविनयसम्पन्न ब्राह्मणमें, गौमें, हाथीमें, कुत्तेमें और चाण्डालमें समभावसे देखनेवाले ही पण्डित हैं।'

इस श्लोकमें बतलाये हुए पशुओंमें तो आकार-प्रकार, व्यवहार-आहार, उपयोगिता और गुण आदिमें अपरिहार्य भेद है ही। विद्याविनयसे युक्त ब्राह्मण, और कुत्तेका मांस खानेवाले चाण्डालमें भी भेद स्पष्ट ही है। इतने भेदवाले प्राणियोंमें समदृष्टि रखनेकी बात आत्माकी दृष्टिसे ही कही जा सकती है। क्योंकि व्यवहारमें तो इनमें समता असम्भव ही है। प्रकृतिके किसी भी क्षेत्रमें यह विषमता कभी नहीं मिट सकती। रात और दिनमें, सुबह और शाममें, आग और पानीमें, सोने और मिट्टीमें, गर्मी और सरदीमें, मीठे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

और कड़ुवेमें, वृद्ध और बालकमें, लाभ और हानिमें व्यावहारिक दृष्टिसे भेद रहेगा ही। सोना सब सोना ही है परन्तु कानमें सोनेकी बाली पहनी जायगी, अँगुलीमें अँगूठी पहनी जायगी और हाथोंमें कड़े ही पहने जायँगे। न हाथोंके कड़े नाक-कानमें पहने जायँगे और न कान-नाककी बाली और अँगूठी हाथोंमें ही। लोटा और थाली दोनों ही पीतलके हैं परन्तु पाखानेमें थाली कोई नहीं ले जायगा। मा, बहिन और पत्नीके अवयव एक-से ही हैं परन्तु पत्नीको जिस दृष्टिसे देखा जाता है उस दृष्टिसे मा-बहिनको देखना महापाप माना जाता है और स्वाभाविक ही वैसी दृष्टि ही नहीं होती। आजकल कुछ लोगोंकी ऐसी धारणा हो रही है कि स्त्री-पुरुष—सभी मनुष्योंका सभी कामोंमें पूर्ण अधिकार है। परन्तु यह भ्रम है। अधिकार योग्यतानुसार ही होता है। सभी मनुष्योंमें बुद्धि, बल, स्वास्थ्य, क्रियाशक्ति, धारणाशक्ति, विवेक आदि एक-से नहीं होते। पूर्वजन्मोंके कर्मानुसार स्वाभाविक ही इनमें न्यूनाधिकता होती है। अतएव जिसकी जिस कार्यमें जैसी स्वाभाविक योग्यता हो, उसके लिये वही काम स्वाभाविक है, और उसीको वह आसानीसे कर सकता है। कहीं-कहीं इसमें व्यतिक्रम भी होता है परन्तु वह अपवादमात्र है। इस प्रकार योग्यतानुसार कर्मोंमें और बाहरके व्यवहारमें बड़ा भारी भेद होनेपर भी आत्मामें कुछ भी भेद नहीं है। अतएव इस आत्मदृष्टिसे ही सबको सम देखते हुए हमें संसारमें व्यवहार करना चाहिये। समताका व्यवहार करनेवालेमें क्या-क्या विशेषताएँ होती हैं, संक्षेपमें नीचे उनका दिग्दर्शन कराया जाता है।

१—वह स्वाभाविक ही सब भूतोंके हितमें लगा रहता है।

२—वर्ण, जाति, धन, पद आदिमें कितना ही ऊँचा क्यों न माना जाता हो, वह अपनेमें उच्चताका अभिमान तनिक भी नहीं रखता।

३—किसी भी मनुष्यका अपमान नहीं करता।

४—किसी भी जीवसे घृणा नहीं करता।

५—वह सहिष्णु होता है, सबकी सेवा करना चाहता है, सबका सम्मान करता है, और स्वार्थका त्यागी होता है।

६—दूसरेके दुःख और अभावको मिटानेमें सदा सचेष्ट रहता है और उसे अपने ही समान समझकर क्रियात्मक सहानुभूति रखता है।

७—मानापमान, निन्दा-स्तुति, लाभ-हानि आदिमें समदृष्टि रखता है।

८—यथायोग्य न्याययुक्त व्यवहार करता है परन्तु मनमें सदा सर्वत्र समता बनाये रखता है।

९—सुखकी घटनामें फूलता नहीं और दुःखकी घटनामें दुखी नहीं होता।

१०—किसीसे द्वेष नहीं करता, और सबका मित्र होता है।

११—अहङ्कार, ममता और रागद्वेषका त्यागी होता है।*

हनुमानप्रसाद पोद्दार

* पञ्चसकारका दूसरा लेख शीघ्र ही आरम्भ होनेवाला है, उसमें सत्सङ्ग, सदाचार, सन्तोष, सरलता और सत्यपर विचार किया जायगा।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दो मित्र भक्त

कुरुक्षेत्रमें दो मित्र थे। एक ब्राह्मण और दूसरा क्षत्रिय। ब्राह्मणका नाम था पुण्डरीक और क्षत्रियका अम्बरीष। दोनोंमें गाढ़ी मित्रता थी। खाना, पीना, टहलना, सोना एक ही साथ होता था। जवान उम्रमें पैसे पास हों और कोई देख-रेख करनेवाला न हो तो मनुष्यको बिगड़ते देर नहीं लगती। कुसङ्ग मिल जाय तब तो कहना ही क्या। ये दोनों मित्र भी कुसङ्गमें पड़ गये। देवपूजा, स्वाध्याय, श्राद्ध-तर्पण, पढ़ना-लिखना सबको छोड़-छाड़कर रात-दिन वेश्या और शराबमें ही मतवाले रहने लगे। कभी स्वप्नमें भी ये परलोककी चिन्ता नहीं करते थे। इस प्रकार कुमार्गमें दोनोंकी आधी उम्र बीत गयी।

पापमें दोनोंका धन नष्ट हो गया। घर-द्वार नीलाम हो गये। गिड़गिड़ाकर माँगनेपर भी कहीं एक पैसा मिलना मुश्किल हो गया। धनहीन समझकर कुसङ्गी मित्रों और वेश्याओंने घरसे निकाल दिया। कुलक्षणी होनेसे समाजमें तो कोई इनसे बोलना भी नहीं चाहता था। नितान्त दुःखी और निराश होकर दोनों गाँवसे निकल गये। पश्चात्तापकी अग्निसे सञ्चित पाप कुछ दग्ध हुए। भटकते-भटकते दोनों एक यज्ञमण्डपके समीप जा पहुँचे। पापोंके जल जानेसे नीचे दबा हुआ कोई पूर्वका पुण्य प्रकट हुआ। ऋषियोंकी वेदध्वनिके शब्द इनके कानोंमें पड़े, कुछ पुण्य सञ्चय हुआ। यज्ञ देखनेकी इच्छा हुई। दोनों यज्ञशालामें जा पहुँचे और श्रद्धा-पूर्वक यज्ञका दर्शन करने लगे। पवित्र वातावरणमें आनेसे और यज्ञदर्शनसे चित्तकी कुछ शुद्धि होनेपर दोनों अपने पापोंको याद कर-करके पछताने लगे। 'हाय! हमारा इस दुष्कृतिरूप समुद्रसे कैसे उद्धार होगा? हमने विषयलोलुप होकर जान-बूझकर जो भयंकर पाप किये हैं वे कैसे नष्ट होंगे? अब हम क्या करें? कौन हमें पापोंसे छुड़ाकर शान्तिकी राह बतलावेगा? हम-जैसे अभागे और कौन होंगे जिन्होंने अपने कुलके और माता-पिताके धर्मको छोड़कर केवल पाप कमानेमें ही उम्र बिता दी? इस सभामें ये ब्रह्मनिष्ठ महात्मा ब्राह्मण बड़े ही दयालु मालूम होते हैं; पापोंसे छूटनेका कोई उपाय ये जरूर बतला देंगे।'

मनमें ऐसा निश्चय करके पुण्डरीक और अम्बरीष दोनों मित्र ऋषियोंके चरणोंमें गिर पड़े और अपने-अपने पापोंको सरल चित्तसे भलीभाँति बखान-बखान-कर बतलाने लगे और रोते हुए कातरकण्ठसे पापोंसे छूटनेका उपाय पूछने लगे। पाप और पुण्य दोनों ही ऐसी चीज हैं जो छिपानेसे बढ़ते हैं और प्रकट करनेसे घटते हैं। ज्यों-ज्यों इनके पाप इन्हींके मुँहसे प्रकट हुए त्यों-ही-त्यों वे मानो नष्ट होने लगे। ब्राह्मण बड़े दयालु थे, उन्होंने बड़ी धीरजसे दोनोंकी बातें तो सुनीं परन्तु वे कुछ व्यवस्था नहीं दे सके, परस्पर एक दूसरेकी ओर ताककर चुप रह गये। उन्हें ऐसा कोई

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रायश्चित्त ही नहीं सूझ पड़ा जिससे इनके प्रबल पापोंका नाश हो सकता हो। ब्राह्मणोंको चुप देखकर दोनों मित्र और भी हताश होकर रोने लगे। तब ब्राह्मणोंके समूहमें बैठे हुए एक दयार्द्रहृदय भक्तने बड़े ही स्नेहके साथ मुस्कराते हुए उन्हें धीरज बँधाकर कहा 'हे ब्राह्मण और क्षत्रिय! घबराओ नहीं; भगवान्‌की शरण हो जाओ। भगवत्कृपासे शरणागतके सारे पाप तुरन्त नष्ट हो जाते हैं। तुम अपने पापोंके लिये जो पश्चात्ताप कर रहे हो यह बड़ा ही शुभ लक्षण है। जो मनुष्य पूर्वमें किये गये पापोंके लिये पश्चात्ताप करता है, आगे पाप न करनेका दृढ़ संकल्प कर लेता है और अपना शेष जीवन भगवान्‌के चरणोंमें सौंपकर भगवान्‌का भजन करने लगता है उसके सारे पाप तुरन्त नष्ट हो जाते हैं और भगवत्कृपासे वह भगवान्‌के दुर्लभ दर्शन पाकर कृतार्थ होता है। अतएव यदि तुम पापोंसे छूटना चाहते हो तो शीघ्र ही श्रीजगन्नाथधाम पुरीमें जाओ और वहाँ भगवान् दारुमय पुरुषोत्तमके दर्शन करो। उन शङ्ख-चक्र-गदाधारी जगन्नाथके शरण होनेपर तुम्हारे पाप नष्ट हो जायँगे। तुम उन विभु भगवान्‌की शरणागत हो जाओ वे कृपासागर तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करेंगे।'

भक्त महर्षिसे इस प्रकार उपदेश प्राप्तकर दोनों मित्र बड़े हर्षसे पुरुषोत्तमक्षेत्रको चले, और मन-ही-मन भगवान् विष्णुका ध्यान करते हुए अपने पूर्वके पापोंके लिये अत्यन्त ही अनुतप्त हुए दोनों कुछ दिनोंमें भगवान्‌के धामपुरीमें जा पहुँचे। उन्होंने तीर्थराज समुद्रके जलमें स्नान किया और भगवान्‌के मन्दिरके दरवाजेपर साष्टांग प्रणाम करते हुए वे भगवान्‌की ओर देखने लगे। परन्तु उन्हें भगवान्‌की मूर्तिके दर्शन नहीं हुए। भगवत्-मूर्तिके दर्शन न होनेसे उन्हें बड़ा दुःख हुआ और वे भगवान्‌के पापनाशक नामका अत्यन्त आर्त्तभावसे कीर्तन करते हुए वहीं पड़े रहे। तीसरे दिन रातको उन्हें एक ज्योति दर्शन हुए। उसके बाद तीन दिन वे निश्चल भावसे फिर कीर्तन करते हुए वहीं रहे। सातवीं रात्रिको उन्हें भगवान्‌की मूर्तिके दर्शन हुए। फिर देवताओंका स्तव सुनायी दिया। तब वे पापसे छूटकर साक्षात् भगवान्‌का दर्शन पाने लगे।

उन्होंने देखा भगवान्‌के हाथोंमें शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म हैं। दिव्य अलङ्कारोंसे भगवान् सजे हुए हैं। भगवान्‌के चरणोंमें रत्नजटित पादुकाएँ हैं। खिले हुए कमलके समान भगवान्‌के नेत्र हैं और वे प्रसन्न-मुख हैं। बायीं ओर भगवती लक्ष्मीजी विराजिता हैं और भगवान्‌को पानकी बीड़ी दे रही हैं। अनेकों परिचारिकाएँ भाँति-भाँतिसे भगवान्‌की सेवा कर रही हैं। देवता, सिद्ध और सनकादि दिव्य मुनिगण सिर झुकाये और हाथ जोड़े भगवान्‌का स्तवन कर रहे हैं। भगवान् मुस्कराते हुए और कृपाकी नजरसे उन्हें देखते हुए अनुग्रहीत कर रहे हैं। नारदादि मुनि और गन्धर्वगण सामने बैठे हुए मनोहर सङ्गीत गा रहे हैं। भगवान् भक्तोंके गाये हुए सङ्गीतमें मन लगाकर उनपर अत्यन्त अनुकम्पा प्रकट कर रहे हैं। प्रह्लाद आदि भक्तशिरोमणि सामने बैठे हुए उनके स्वरूपका एकाग्र-भावसे ध्यान कर रहे हैं और भगवान् मानो उन्हें अपनेमें लीन किये लेते हैं। भगवान्‌के वक्षःस्थलपर स्थित कौस्तुभमणिमें सामने बैठे हुए देव-गन्धर्वादिका प्रतिबिम्ब पड़नेसे मानो साक्षात् विश्वरूप मूर्ति प्रकट हो रही है। भगवान्‌के मस्तकपर अनवरत पुष्पवृष्टि हो रही है। इस प्रकार नाना भाँतिसे दिव्य लीला-विलासी भगवान्‌के दर्शन करते ही उसी क्षण पुण्डरीक और अम्बरीषको सारी विद्याएँ प्राप्त हो गयीं। सरस्वती मानो उनकी जीभपर आकर बैठ गयीं। वेदोंने उनके हृदयमें स्थान कर लिया और वे हाथ जोड़कर भगवान्‌की बारंबार प्रदक्षिणा करके अत्यन्त हर्षपूर्वक साष्टांग

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दण्डवत्कर भाँति-भाँतिसे भगवान्‌का स्तवन करने लगे।

उन दोनोंके स्तुति करनेके बाद देवताओंने भगवान्‌का स्तवन और पूजन किया। अनन्तर सब देवता वहाँसे चले गये। तब पुण्डरीक और अम्बरीष-की आँखें खुलीं और उन्होंने ज्ञानचक्षुओंके द्वारा स्वप्नकी भाँति भगवान्‌की दिव्य लीलाओंको देखा। कुछ कालके लिये वे दिव्य भावापन्न हो गये। इसके बाद उन्होंने फिर भगवान्‌का दिव्य दर्शन किया। अबकी बार उन्होंने देखा,—भगवान् दिव्य सिंहासनपर विराजमान हैं। उनके शरीरकी कान्ति नील मेघके समान है। दोनों नेत्र खिले हुए कमलकी भाँति शोभा पा रहे हैं। लाल-लाल होठ, मनोहर नासिका और कानोंमें दिव्य कुण्डल शोभित हैं। गलेमें वनमाला, भुजाओंमें शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म धारण किये हुए हैं, चौड़ी छाती है। गलेमें मनोहर हार है! मस्तकपर अमूल्य मणियोंका मुकुट शोभा पा रहा है। वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न और कौस्तुभमणि और हाथोंमें दिव्य बाजूबन्द धारण किये हुए हैं। भगवान्‌की लम्बी भुजाएँ हैं जो दीन और आर्त्त प्राणियोंके परित्राणके लिये सदा ही तैयार हैं। भगवान् दिव्य पीताम्बर पहने हुए हैं। कटिदेशमें सुवर्णसूत्र है। दिव्य माला और दिव्य गन्धसे भूषित हुए सुवर्णपद्मासनपर विराजमान हैं। पास ही हलायुधधारी श्रीबलदेवजी दाहिनी ओर तथा सुभद्रादेवीजी बीचमें शोभित हैं। भगवान्‌के बायीं ओर सुदर्शन चक्र है। इस प्रकार उन्होंने भगवान्‌के दर्शन करके उनका स्तवन किया और दोनों कृतार्थ हो गये। तदनन्तर वे भगवान् विष्णुके प्रति भक्तिपरायण होकर निरन्तर नारायणका नामजप करते हुए अन्तमें भगवान्‌के परम धामको प्राप्त हुए।

कोई कितना भी पापी क्यों न हो। पूर्वके पापोंके लिये पश्चात्ताप करे, रो-रोकर अपने पापोंको प्रकट करे, और भगवान्‌के अनन्यशरण हो जाय तो भगवत्कृपासे उसके पापोंका शीघ्र ही नाश हो जाता है और वह भगवान्‌के दुर्लभ दर्शनकर कृतार्थ होता है। पुण्डरीक और अम्बरीषका यह इतिहास इस सिद्धान्तका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय।

पथिक

(लेखक—श्रीमुरलीधरजी दीक्षित 'भ्रान्त')

अरे! क्यों इधर अटकता है?
मूढ़ पथिक! क्यों इस अटवीके—निकट फटकता है? अरे०

पथरीली है भूमि, खड़े हैं यहाँ झाड़-झंखाड़।
सिरके ऊपर देख तनिक निज दोनों आँखें फाड़॥
भयानक नाग लटकता है॥अरे०

एक लुटेरोंका समूह है करता यहाँ निवास।
अवसर पाते ही पथिकोंके डाल गलेमें फाँस—
झपट सब रकम झटकता है॥अरे०

इस बनके भीतर रहता है एक सिंह बलवान।
बड़े बड़े भी करि हैं उससे थर्राते भय मान॥
सहज वह उन्हें पटकता है॥अरे०

खाता है ठोकर पर ठोकर पाता है संताप।
आता है फिर भी फिरफिरकर पथिक! यहीं तू आप॥
नहीं क्यों शीघ्र सटकता है?अरे०

तुझसे दूर नहीं है तेरा वह उद्धारक राम।
देगा मोक्ष तुझे, तू उसका अन्तस्‌से ले नाम॥
व्यर्थ ही 'भ्रान्त' भटकता है॥अरे०

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

समाधि और संयमतत्त्वसार

(श्रीश्रीभार्गव श्रीशिवरामकिङ्कर स्वामी योगत्रयानन्दजी महाराजके उपदेश)

[गतांकसे आगे]

चतुर्थ अनुप्रकाश

संयम और संयमसिद्धिका मूलतत्त्व

जिज्ञासु—पतञ्जलिदेवने विभूतिपादमें संयमशील योगीकी ऐसी विभूतियोंका वर्णन किया है, जिसपर हम लोगोंमेंसे बहुत-से लोग विश्वास नहीं कर सकते। इसका तत्त्व या युक्ति (Rationale) थोड़ी जान लेनेपर मालूम होता है, बहुत-से लोग उनकी बातपर विश्वास कर सकते हैं। मान लीजिये, पतञ्जलिदेवने कहा है, 'बलेषु हस्तिबलादीनि', मनुष्यमें हस्तीका बल आ सकता है, इसपर विश्वास करना बहुत-से लोगोंके लिये कठिन है।

वक्ता—विश्वासतत्त्वका यथार्थ रूपमें विचार करनेपर तुम्हें मालूम हो सकता है कि जिसने जिसे देखा नहीं है, वह उसपर विश्वास नहीं कर सकता, चित्तका विशिष्ट संस्कार किसी विषयपर विश्वास करने देता है और किसीपर नहीं करने देता। संस्कार अनुकूल हुए बिना कोई किसी विषयको देखनेपर भी उसपर विश्वास नहीं कर सकता। एक अपेक्षाकृत मामूली बात ही तुम्हें स्मरण करनेको कहता हूँ। राममूर्त्तिकी कृतियाँ तो तुमने देखी ही हैं? जितने दिनोंतक नहीं देखी थीं, उतने दिनोंतक क्या, कोई ऐसा कर सकता है, ऐसा विश्वास करते?

जिज्ञासु—नहीं।

वक्ता—इससे तुम यह समझ सकते हो कि मनुष्य पहले जो कर नहीं सकता या असम्भव समझता है, पीछे किसी उपाय या प्रक्रियाविशेषके द्वारा उसे भी किया जा सकता है। प्रकृतिमें जो शक्ति नहीं है, उसे मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकता। प्रकृतिमें जो है, उसे मनुष्य उपायविशेषके द्वारा प्राप्त कर सकता है। वह उपाय क्या है, अब इसका विचार करो। सांख्यदर्शनका कहना है कि 'भावनोपचयात् शुद्धस्य सर्वं प्रकृतिवत्।' पहले शुद्ध होनेकी चेष्टा करो, तत्पश्चात् भावनाका अभ्यास करो। पतञ्जलिदेवने कहा है, योगाङ्गके अनुष्ठानके द्वारा अशुद्धिका क्षय होता है। पातञ्जलोक्त 'संयम' और सांख्योक्त भावनाका उपाय मूलतः एक ही चीज है। अब सोचो, हस्तीके समान बल प्राप्त करनेके लिये क्या करना होगा। हस्तिबल प्रकृतिके बाहरकी वस्तु नहीं है, हस्तिबल प्रकृतिमें है, प्रकृतिसे हस्तिगत संस्कारद्वारा उस बलका आकर्षण करना होगा।

जिज्ञासु—बात ठीक तरहसे समझ न सका; हस्तीका संस्कार हस्तीमें ही रह सकता है, मनुष्यमें किस प्रकार रह सकेगा?

वक्ता—संस्कार अनादि हैं। जीवमें अनादि कालके संस्कार विद्यमान हैं। मनुष्यमें भी हस्ती प्रभृति जीवके संस्कार सूक्ष्मरूपमें विद्यमान हैं, संयम या भावनाद्वारा उनका उद्बोधन किया जा सकता है। साधारण मनुष्यमें 'मैं यह कर सकता हूँ या ये-ये कार्य कर सकता हूँ, और वह या उस-उस कार्यको नहीं कर सकता' इस प्रकारका एक ज्ञान या संस्कार रहता है। इस संस्कारका लोप करने, इस बन्धनको तोड़ देनेका ही नाम 'संयम' है। पहले यम-नियमका अभ्यास करके, फिर धारणा-ध्यान समाधिका अभ्यास करनेपर यह बाँध टूट जाता है। मैं अपरिच्छिन्न शक्तिवाला हूँ, मैं अपरिच्छिन्न ज्ञानवाला हूँ, मैं सब कर सकता हूँ, सब जान सकता हूँ, इस विश्वासको (इस आदिभूत श्रद्धाको) अपने अन्दर वापस लानेका नाम ही संयमसिद्धि है। तत्पश्चात् इस संयमसिद्धिलब्ध शक्तिको तुम जिस विषयमें प्रयोग करोगे, वह विषय ही तुम्हें सिद्ध होगा, तुम जो जानना चाहोगे, जो करना चाहोगे, वही जान सकोगे, वही कर सकोगे।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि १०]

मनकी जडता

हे जनक ! जाग्रत्-अवस्थामें एक पुरुष जब दूसरेसे कुछ बात कहता है और उसका मन और कहीं होता है, तो वह प्रथम मनुष्यकी बातको नहीं सुनता और कहता है कि जिस समय तुमने कुछ कहा था, उस समय मेरा मन दूसरे पदार्थमें लग रहा था, इसलिये तुम्हारी बातको मैं ठीक-ठीक न सुन सका, इसलिये फिर कहो। इस प्रकारके अनुभवसे सब लोग अपने मनको विषय करते हैं, इसलिये घटादि पदार्थोंके समान मन भी जड है, वेदको न माननेवाले नास्तिकोंके सिवा कोई भी आस्तिक मनको चैतन्यरूप नहीं मानता। सभी आस्तिक मनको जड मानते हैं। जो नास्तिक मनको चैतन्य मानता है, उससे पूछना चाहिये कि जिस मनको तुम चैतन्य मानते हो, वह मन आत्मारूप है अथवा अनात्मारूप ? मन अनात्मारूप है, यह दूसरा पक्ष सम्भव नहीं है क्योंकि मनको अनात्मारूप मानकर फिर चेतनरूप माने तो मनके समान अनात्मरूप घटपटादि जड पदार्थ भी चेतनरूप होने चाहिये। यदि घटपटादि जड पदार्थोंकी चेतनरूपतामें वादी इष्टापत्ति करे, तो उसका चैतन्यपना मानना ही व्यर्थ जाय क्योंकि मनके समान घटपटादि सर्व अनात्मा पदार्थ चेतनरूप हों तो इन घटादि चेतनोंसे व्यवहारकी सिद्धि हो सकती है, इसलिये मनको चेतनरूप मानना व्यर्थ है। जैसे कि एक दीपकसे घटादि पदार्थोंका प्रकाश हो सकता है, घटादिके प्रकाशके लिये दूसरे दीपककी जरूरत नहीं पड़ती, अतः अन्य पदार्थको चेतन मानना व्यर्थ है।

जनक—हे भगवन् ! श्रुतिमें सर्व जगत्को चेतनरूप कहा है, इसलिये सर्व जगत्को चेतनरूप क्यों न माना जाय ?

याज्ञवल्क्य—हे जनक ! सर्व जगत्में चैतन्यरूपता कहनेवाली श्रुति अनुवादरूपसे सर्व जगत्में चैतन्यरूपता बताती है अथवा विधिरूपसे सर्व जगत्में चैतन्यरूपता जताती है ? यहाँ प्रथम पक्ष सम्भव नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाणसे सर्व लोगोंके जाने हुए अर्थको बतानेवाला जो वचन होता है, उसको अनुवाद कहते हैं, जैसे अग्नि हिमका औषध है, यह वचन अग्निमें हिमके नाशकी कारणता बताता है। यह कारणता लोकप्रसिद्ध है, इसलिये अनुवादरूप है। इसी प्रकार जब सब जगत्में अस्मदादि जीवोंको प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे चैतन्यरूपता सिद्ध हो जाय, तो सर्व जगत् चेतनरूप है, इस प्रकारका श्रुतिका वचन भी अनुवादरूप माना जाय किन्तु सर्व जगत्में प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जगत्में चैतन्यरूपता अस्मदादि जीवोंको प्रसिद्ध नहीं है, इसलिये सर्व जगत्में चैतन्यरूपताको वर्णन करनेवाली श्रुति अनुवादरूप नहीं है। इसी प्रकार विधिरूपसे चैतन्यताका वर्णन है, यह दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है क्योंकि जो अर्थ प्रथम प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे जाना हुआ न हो, और जिस अर्थके ज्ञानसे फलकी प्राप्ति हो, तथा जिस अर्थका प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे बाध न हो, ऐसे अर्थका विधिरूपसे श्रुति बोधन करती है। इस प्रकारका अर्थ आत्मा है, इसलिये सर्व जगत् चेतनरूप है, इस अर्थका बोध करानेवाली श्रुति जडकी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चैतन्यरूपताका बोधन नहीं करती किन्तु जैसे 'यह रज्जु है' इस प्रकारका वचन सर्पपनेके भ्रमको निवृत्त करके रज्जुत्वका बोधन करता है, इसी प्रकार 'यह सर्व जगत् चेतनरूप आत्मा है' इस प्रकारका श्रुतिवचन भी द्वैतभ्रमकी निवृत्ति करके अद्वितीय आत्माका बोध कराता है। 'यह सर्व जगत् अद्वितीय ब्रह्मस्वरूप है' इस प्रकारके अर्थको बोधन करनेवाली श्रुति तत्पदार्थके शोधनका विधान करती है और 'यह चराचररूप सर्व जगत् चेतनरूप है'—इस प्रकारके अर्थको बोधन करनेवाली श्रुति तत्पदार्थरूप परमात्मामें चैतन्यरूपताका बोधन करती है, 'यह सर्व जगत् आत्मारूप है' इस प्रकारके अर्थका बोध करानेवाली श्रुति आत्मामें सर्वरूपताके बोधनद्वारा त्वंपदार्थके शोधनका विधान करती है और 'तत्पदका अर्थ परमात्मा आत्मारूप है' इस प्रकारके अर्थको बोधन करनेवाली श्रुति जीव-ईश्वरके अभेदका बोध कराती है। इस प्रकार श्रुतियोंके वचनोंमें कितने ही वचन तत्पदार्थके शोधनका प्रकार बताते हैं और कितने ही वचन त्वंपदार्थके शोधनकी रीति दर्शाते हैं और कितने ही वचन तत्त्वंपदार्थके अभेदका बोधन करते हैं, अज्ञान तथा अज्ञानके कार्यरूप उपाधिको त्यागकर उपाधिसे भिन्न करके चैतन्यको जानना, यह तत्त्वंपदार्थका शोधन कहलाता है। श्रुतिके इस प्रकारके अभिप्रायको न जानकर जो वादी पुरुष पूर्वोक्त श्रुतिके वचनका तात्पर्य जड-चेतनके तादात्म्यबोधकी कल्पना करता है तथा चेतन आत्माके तादात्म्यसे सर्व जड जगत्को चेतनरूप मानता है, उससे पूछना चाहिये कि चेतन आत्मा तथा जड आत्माके तादात्म्य सम्बन्धका सम्बन्धीपना चेतन आत्मामें तथा जड जगत्में समान है, इसलिये जैसे चेतन आत्माके तादात्म्य सम्बन्धसे जड जगत्को वादी चेतनरूप मानता है, इसी प्रकार जड जगत्के तादात्म्य सम्बन्धसे वादी चेतन आत्माको भी जड जगत्रूप क्यों नहीं मानता? वादीको चेतन आत्मामें भी जड जगत्रूपता माननी चाहिये। चेतनको जड मानना अत्यन्त विरुद्ध है। सब कारणोंसे जड प्रपञ्चकी चैतन्यरूपताके ज्ञानमें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है। और जड जगत्में चैतन्यरूपता है, ऐसा श्रुति भगवतीका तात्पर्य सम्भव भी नहीं है क्योंकि जिस-जिस अर्थमें बुद्धिमान् पुरुषोंके अनुभवका विरोध नहीं होता, उस-उस अर्थमें वेदका तात्पर्य होता है, अनुभवविरुद्ध अर्थमें वेदका तात्पर्य नहीं होता, यदि अनुभवविरुद्ध अर्थमें भी वेदका तात्पर्य हो, तो 'आदित्यो यूपः' यज्ञ-भूमिका काष्ठस्तम्भरूप यूप आदित्य है। इस प्रकारके श्रुतिके वचनसे आकाशमें स्थित प्रकाशरूप सूर्यका अप्रकाशरूप यूपके साथ तादात्म्य सम्बन्ध होना चाहिये। सूर्यका काष्ठमय यूपके साथ तादात्म्य सम्बन्ध अनुभवविरुद्ध है। इसलिये उस विरुद्ध अर्थमें श्रुतिके वचनका तात्पर्य नहीं है किन्तु यूपकी स्तुतिमें ही तात्पर्य है। इसी प्रकार 'यजमानः प्रस्तरः'—'दर्भकी मुष्टिरूप प्रस्तर यजमानरूप है' इस वेदवचनसे यजमानका प्रस्तरके साथ तादात्म्य सम्बन्ध सिद्ध होना चाहिये, यजमान पुरुषका प्रस्तरके साथ तादात्म्य सम्बन्ध लोकके अनुभवसे विरुद्ध है, इसलिये विरुद्ध अर्थमें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है किन्तु प्रस्तरकी स्तुतिमें तात्पर्य है। यदि प्रस्तर तथा यजमानके अभेदमें श्रुतिका तात्पर्य हो, तो प्रस्तरको अग्निमें जलानेसे यजमानका भी दाह होना चाहिये और यजमानका दाह होनेसे सर्व यज्ञादिका ही लय हो जाना चाहिये। इससे सिद्ध होता है कि बुद्धिमान् पुरुषोंके अनुभवसे अविरुद्ध अर्थमें श्रुतिका तात्पर्य है, और जड जगत्में चैतन्यरूपता माननी, यह सब लोगोंके अनुभवसे विरुद्ध है, इसलिये अनुभवविरुद्ध अर्थमें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है और जो अर्थ अधिकारी पुरुषके पुरुषार्थका साधन होता है, उस अर्थका वेदवचन बोधन

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

करता है, यह वेदवेत्ताओंका सिद्धान्त है। चेतन आत्मा जड जगत्‌रूप है और जड जगत् चेतन आत्मारूप है, इस प्रकारके अर्थके ज्ञानसे जीवका कुछ भी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता, इसलिये निष्फल अर्थके बोधनमें श्रुतिका तात्पर्य हो ही नहीं सकता। जैसे प्रिय पदार्थको देखनेके लिये खोले हुए नेत्र अप्रिय पदार्थको भी दिखाते हैं, इस प्रकार पुरुषार्थसे रहित अर्थको वेद भगवान् कभी नहीं कहते, यदि पुरुषार्थसे रहित अर्थका वेद बोधन करे तो वेद शब्दका अर्थ वेद भगवान्‌में घटे ही नहीं। क्योंकि अधिकारीके पुरुषार्थको जो बतावे, उसको वेद कहनेमें आता है। वेद यह शब्द 'विद्' धातुसे निकला है, विद्का अर्थ है ज्ञान। ज्ञानमें अधिकारीको प्रेरणा करनेवाला वेद कहलाता है, प्रेरणा करनेवाले प्रयोजक दो प्रकारके हैं, एक मुख्य प्रयोजक और दूसरा गौण प्रयोजक। प्रेरणाके विषयरूप प्रयोज्य पुरुषका जिस क्रियामें राग होता है, उस क्रियामें जो प्रयोज्य पुरुषको प्रेरणा करे उसको मुख्य प्रयोजक कहते हैं। जैसे भोजन-रूप क्रियाकी इच्छावाले क्षुधार्थी पुरुषको भोजनरूप क्रियामें जो पुरुष प्रेरणा करे, उसको शास्त्रवेत्ता मुख्य प्रयोजक कहते हैं। राग न होनेवाली क्रियामें प्रेरणा करनेवाले पुरुषको गौण प्रयोजक कहते हैं, जैसे कि मरणरूप क्रियामें प्रेरणा करनेवालेको मारी कहते हैं। मरणरूप क्रियामें जीवको अनुराग नहीं होता और काल भगवान् जीवको मरणरूप क्रियामें प्रेरणा करते हैं। इसलिये कालरूप मारी गौण प्रयोजक है। जो पदार्थ पुरुषार्थरूप होता है, उस पदार्थमें प्रयोज्य पुरुषका राग होता है, पुरुषार्थसे भिन्न पदार्थमें प्रयोज्य पुरुषका राग नहीं होता। पुरुषार्थ भी दो प्रकारके हैं, एक मुख्य पुरुषार्थ, दूसरा गौण पुरुषार्थ। सुखरूप फल मुख्य पुरुषार्थ है और सुखका साधनरूप फल गौण पुरुषार्थ है, आत्मामें जड जगत्‌रूपता और जड जगत्‌में चेतनरूप आत्मरूपता, ये दोनों प्रकारके अर्थ सुखरूप नहीं हैं और किसी सुखके साधन भी नहीं हैं, उलटे जन्म-मरणरूप दुःखके साधन हैं। ऐसे अपुरुषार्थरूप अर्थमें अधिकारीको वेद भगवान् क्यों प्रेरणा करेंगे ? नहीं करेंगे। जैसे अपने पुत्रका हित करनेवाला पिता अपुरुषार्थरूप अर्थमें पुत्रको प्रेरणा नहीं करता, इसी प्रकार सब जीवोंके कल्याणकी इच्छा-वाले वेद भगवान् अपुरुषार्थरूप अर्थमें जीवको प्रेरणा नहीं करते। यदि वेद अप्रमाणरूप अर्थको बोधन करें, तो वे अप्रमाणरूप हो जायँ।

जनक—हे भगवन् ! यह सर्व जगत् चैतन्य आत्मारूप है, इस श्रुतिके वचनका यदि जड-चेतनके अभेदमें तात्पर्य नहीं है, तो किस अर्थमें इस वचनका तात्पर्य है ?

याज्ञवल्क्य—हे राजन् ! पूर्वमें जो अर्थ प्रत्य-क्षादि प्रमाणोंसे जाननेमें न आया हो, जिस अर्थका दूसरे किसी प्रमाणसे बाध न हो और जिस अर्थसे फलकी प्राप्ति हो, उस प्रकारके अर्थके बोधनमें वेदका तात्पर्य है, यह बात ऊपर कह आया हूँ। इस प्रकारका अर्थ स्वप्रकाश आनन्द-स्वरूप आत्मामें घटता है। अद्वितीय आत्माके बोधनमें वेद भगवान्‌का तात्पर्य है। अद्वितीय आत्माको प्रपञ्चरूप द्वैत माननेवाले कुतर्की पुरुष अनन्त जन्म धारण करनेपर भी आनन्दस्वरूप अद्वितीय आत्माको जान नहीं सकते। यदि वेद-प्रमाणके सिवा किसी अन्य प्रमाणसे आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होता हो तो तर्कमें अत्यन्त कुशल नैयायिकोंको भी आत्माका यथार्थ स्वरूप बतलाना चाहिये परन्तु श्रुतिप्रमाणसे भिन्न केवल तर्कसे आत्माका यथार्थ स्वरूप नैयायिक कदापि बता नहीं सकते।

जनक—हे भगवन् ! यह सर्व जगत् चेतन आत्मारूप है, इस श्रुतिके वचनका अर्थ जड-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चेतनका अभेदरूप नहीं है, तो इस वचनका क्या अर्थ है ?

याज्ञवल्क्य—हे राजन् ! मुमुक्षु पुरुषोंकी बुद्धिमें प्रपञ्चका अभाव आरूढ करनेके लिये माताके समान श्रुति भगवती कृपा करके मुमुक्षुओंको इस प्रकार उपदेश करती है—'हे मुमुक्षुजनो ! जैसे रज्जुमें अज्ञानसे प्रतीत हुए सर्प, दण्ड, जलधारा, माला इत्यादि द्वैत रज्जुमात्र है, द्वैतरूप सर्पादि तीनों कालमें नहीं हैं, यह सर्व दृश्य प्रपञ्च तुम्हारा आत्मा है, आत्मासे भिन्न द्वैत प्रपञ्च तीनों कालमें नहीं है।' इस प्रकार द्वैत प्रपञ्चका निषेध करके श्रुति भगवती मुमुक्षुजनोंको अद्वितीय आत्माका बोधन करती है, इसलिये आनन्दस्वरूप अद्वितीय आत्मामें ही श्रुतिके वचनका तात्पर्य है।

जनक—हे भगवन् ! जड जगत्की चैतन्यतामें यद्यपि श्रुतिप्रमाण नहीं है, परन्तु अनुमानप्रमाणसे जड जगत्में चैतन्यता क्यों नहीं सिद्ध होती ?

याज्ञवल्क्य—हे राजन् ! जैसे धूमरूप चिह्नसे पर्वतमें अग्निका अनुमान होता है, इस प्रकार जगत्की चैतन्यतामें कोई चिह्न नहीं है, इसलिये अनुमानप्रमाणसे जगत्में चैतन्यता सिद्ध नहीं होती किन्तु इससे विरुद्ध प्रत्यक्ष और अनुमान-प्रमाणसे दृश्यत्वरूप लिङ्गसे जगत्में जडता सिद्ध होती है।

जनक—हे भगवन् ! श्रुतिप्रमाण तथा अनुमान-प्रमाण यद्यपि जगत्की चैतन्यताको सिद्ध नहीं करते तो भी किसी पुरुषका प्रत्यक्ष प्रमाण जगत्की चैतन्यरूपताको क्यों नहीं सिद्ध कर सकता ?

याज्ञवल्क्य—हे जनकराज ! जिस पुरुषका प्रत्यक्ष प्रमाण जगत्में चैतन्यरूपता सिद्ध करता है, वह पुरुष अस्मदादि पुरुषोंके समान जातिवाला है अथवा अस्मदादि पुरुषोंसे विलक्षण है ? इन दोनोंमें प्रथम पक्ष सम्भव नहीं है, क्योंकि अस्मदादि पुरुषोंमें किसी भी पुरुषको जगत्की चैतन्यरूपता प्रत्यक्ष नहीं होती, इसलिये अस्मदादि पुरुषोंके प्रत्यक्ष प्रमाणसे जगत्में चैतन्यरूपता सिद्ध नहीं हो सकती। और अस्मदादि पुरुषोंसे विलक्षण किसी पुरुषके प्रत्यक्ष प्रमाणसे जगत्की चैतन्य-रूपता सिद्ध है, यह दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है क्योंकि अस्मदादि पुरुषोंसे विलक्षण किसी पुरुषमें जगत्की चैतन्यरूपता प्रत्यक्ष है, यह कैसे जाना जा सकता है ? तात्पर्य यह है कि नृश्रृङ्गका साधक कोई प्रमाण नहीं है, इसी प्रकार विलक्षण पुरुषका साधक कोई भी प्रमाण नहीं है।

जनक—हे भगवन् ! जगत्की चैतन्यरूपताको विषय करनेवाले विलक्षण पुरुषका प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञान यद्यपि प्रमाणसे सिद्ध नहीं है तो भी वह प्रमाण अस्मदादि पुरुषोंमें क्यों नहीं है ?

याज्ञवल्क्य—हे राजन् ! विलक्षण पुरुषके प्रत्यक्षका साधक प्रमाण अस्मदादि पुरुषोंको प्रमाणरूप क्यों नहीं होता ? इसका उत्तर यह है कि सर्व कारणोंसे युक्त अस्मदादि पुरुषोंमें जब प्रमाण अप्रसिद्ध हो तब वह प्रमाण किसी भी पुरुषमें नहीं होना चाहिये। यदि अप्रसिद्ध प्रमाणोंकी सिद्धि मानें तो लोकमें प्रसिद्ध मीठा, खट्टा, खारी, तीखा, कसैला और कड़वा, इन छः रससे भिन्न कोई सातवाँ रस भी सिद्ध होना चाहिये, इसलिये जो वादी ऐसा कहता है कि अस्मदादि पुरुषोंमें प्रमाण नहीं है, उस वादीके अर्थमें दैवकी कोई विचित्र घटना है। और जगत्में चैतन्यरूपताको विषय करनेवाला प्रत्यक्ष किसी पुरुषविशेषमें रहता है और किसी पुरुषमें नहीं रहता, इस अर्थको यदि वादी माने तो वादीको व्याघात दोषकी प्राप्ति होगी क्योंकि चैतन्यरूपसे विषय होने योग्य जगत् चैतन्यरूपसे किसी पुरुषके ज्ञानका विषय होता है और वही जगत् चैतन्य-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रूपसे अस्मदादि पुरुषोंके ज्ञानका विषय नहीं होता, इस प्रकार एक ही जड जगत्में चैतन्यतारूप स्वभावसे विषयता तथा अविषयता मानें तो अपने वचनसे अपने वचनका बाधरूप व्याघातदोष प्राप्त होगा। इसी प्रकार यदि मनको अनात्मारूप मानें और पीछे उस मनको चेतनरूप मानें तो अनात्मारूप होनेसे घट-पटादि पदार्थ भी मनके समान वादीके मतानुसार चैतन्यरूप मानने पड़ेंगे और यदि अनात्मारूप मनके समान घटादि जड पदार्थोंको चेतन न मानकर केवल मनको चेतन मानें तो दोनोंमेंसे एक दुराग्रह कहा जाय, इसलिये चेतनरूप मन अनात्मारूप है, यह दूसरे पक्षका खण्डन किया।

चेतनरूप मन आत्मारूप है, इस प्रथम पक्षका खण्डन इस प्रकार है—यदि चेतनरूप मन आत्मारूप है, यह पक्ष जो वादी माने, तो उससे पूछना चाहिये कि चेतन आत्मारूप मन परिच्छिन्न है अथवा विभु है? इनमें प्रथम पक्ष सम्भव नहीं है क्योंकि जो पदार्थ परिच्छिन्न होता है वह भेदवाला होता है। जैसे घटादि पदार्थ परिच्छिन्न होनेसे भेदवाले हैं इसी प्रकार मन भी परिच्छिन्न होनेसे भेदवाला कहा जाय। और भेदवाला पदार्थ कार्यरूप होता है, जैसे कि घटादि पदार्थ भेदवाले होनेसे कार्यरूप हैं। इसी प्रकार मन भी भेदवाला होनेसे कार्यरूप गिना जायगा। जो पदार्थ कार्यरूप होता है, वह किसी कारणसे उत्पन्न होता है, जैसे घटादि पदार्थ कार्य होनेसे मृत्तिकारूप कारणसे उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार मन भी कार्यरूप होनेसे भूत-भौतिकरूप कारणसे उत्पन्न हुआ मानना पड़ेगा। यहाँ भूत शब्दसे सत्त्वगुणप्रधान आकाशादि पञ्चभूतोंका ग्रहण है और भौतिक शब्दसे भोजन किये हुए अन्नका ग्रहण है। जो पदार्थ किसी कारणसे उत्पन्न होता है, वह जड होता है। जैसे मृत्तिकारूप कारणसे उत्पन्न हुए घटादि जड हैं, इसी प्रकार भूत-भौतिक कार्यसे उत्पन्न हुआ होनेसे मन भी जड समझा जाय, कार्यरूप जड मनको चेतनरूप कहना और आत्मारूप कहना अत्यन्त विरुद्ध है। और चेतन आत्मारूप मन विभु है, यह दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है क्योंकि विभु पदार्थ किसी देश, काल और वस्तुमें नहीं रहता, वह देश, काल, वस्तु-परिच्छेदसे रहित होता है, मनको विभु माननेसे उसे स्वयंज्योति आत्मारूप मानना पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि अनेक प्रकारके सङ्कल्पोंके कारणको तथा सत्त्वगुणप्रधानको सब लोग मन कहते हैं। और वादीने स्वयंज्योति आत्माका मन नाम रक्खा है। शास्त्रवेत्ताओंका नाममात्रमें विवाद नहीं होता किन्तु पदार्थमें विवाद होता है। यहाँ पदार्थका भेद नहीं है किन्तु जिस विभु चेतनको हम आत्मा कहते हैं, उसीको वादी मन नामसे पुकारता है, इसलिये चेतन मन विभु है, इस प्रकार कहनेसे उसके और हमारे पक्षमें कोई भेद नहीं है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भक्तविजय

(लेखक—श्रीचन्द्रकान्त शाण्डिल्य, शास्त्री 'मधुर')

एकांकी नाटक

प्रथम दृश्य

[अयोध्यानगरी—
स्थान राजसिंहासन—समय प्रातःकाल]

अम्बरीष—सामन्तगण ! आज परम पुनीत एकादशीका व्रत है। न्यायकर्म समस्त स्थगित है, अतएव पुनः सभी सामन्तगण श्रद्धास्पद मान्य गुरुजनोंसे एकादशीका माहात्म्य सुनकर अपने जीवनको सफल करें ! क्यों, क्या शुभ सम्मति है प्रधानजी ?

प्रधान—आर्य ! आपकी आज्ञा सदा पालन करने योग्य है। आपके मन्तव्यका, कर्तव्यका सदा हम अनुयायियोंको पालन करना चाहिये; कहा भी है—

वृद्धाः प्रौढजनाः सदा स्वसरणीं शिक्षाप्रदां कुर्वते।

अस्तु—आपकी शुभाज्ञाका ही विलम्ब है।

[पहरेदारका आना]

पहरेदार—महाराजकी जय। कृपानिधान, गुणविधान, भक्तसुजान ! सहज ही कोप करना जिनका स्वभाव है, वे महातपस्वी महर्षि श्रीदुर्वासाजी पधारे हैं। महाराजकी क्या आज्ञा है ?

अम्बरीष—अहो ! धन्य हो भक्तवत्सल ! आज आपने तुच्छ मुझ दासकी एकादशीके पारायणको सफल बनानेके लिये ऋषिवरको यहाँ भेजकर उनके चरण छूनेका सौभाग्य दानकर अपार दया की है। साधु प्रतिहारिन् ! मैं भी महर्षिके स्वागतके लिये तुम्हारे साथ चलता हूँ।

पहरेदार—जो महाराजकी आज्ञा ?

[राजा अम्बरीषका प्रस्थान तथा ऋषिसहित प्रवेश]

दुर्वासा—विजय हो राजन् ! धर्मसे प्रजापालन करो।

अम्ब०—पूज्यपाद आचार्य ! मेरे अहोभाग्य हैं, आज तुच्छ चींटीके घर स्वयं भगवान् पधारे हैं।

दुर्वासा—धन्य हो राजन् ! तुम्हारे जैसे ही धर्मात्मा राजा इस सूर्यवंशके द्वारा पालित पृथ्वीके यथार्थ शासनाधिकारी हैं। धन्य है यह भूमि, जो महात्मा नरपतियोंके चरणस्पर्शसे पुनीत होकर तुम्हारी यशोधारासे धवल हो रही है।

अम्ब०—आचार्यचरण ! सब आप लोगोंके ही चरणोंका प्रताप है। आज यह दास श्रीचरणोंसे कुछ विनयकी इच्छा रखता है। आपकी आज्ञा हो तो—

दुर्वासा—हाँ हाँ—कहो भक्तवर ! शीघ्र कहो। क्या इच्छा है ?

अम्ब०—आचार्य ! आज एकादशीका शुभ व्रत है, तदर्थ पारायणका अभिलाषी मैं श्रीचरणोंको आमन्त्रित करता हूँ।

दुर्वासा—एवमस्तु ! यही होगा, मैं नित्यकर्म आदिसे निवृत्त होकर अभी लौटकर आता हूँ।

अम्ब०—जो श्रीचरणोंकी शुभाज्ञा।

[दुर्वासाका प्रस्थान]

सामन्त—महाराज ! दुर्वासाजी बड़े क्रोधी हुये गये हैं।

अम्ब०—शान्तं पापम्—शान्तं पापम् ! सामन्तजी !

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रायश्चित्त करना होगा। स्मरण रहे, परनिन्दाके समान संसारमें कोई पाप नहीं?·····मैं महापातकी हूँ इसीलिये ऋषिकी निन्दाके ये शब्द मेरे कानोंमें पड़े।·····हे भगवन्! क्षमा करो! मैंने किन पापकर्मोंसे आज यह ऋषिनिन्दा सुनी। हे घटघटवासी प्रभो! क्षमा करो—क्षमा करो। सामन्तजी! भविष्यमें सावधान रहिये। किसीकी भी निन्दा वाणीसे न हो। न मनमें ही निन्दाके भाव आवें।

[पहरेदारका प्रवेश]

पहरेदार—प्रणाम नरनाथ! प्रणाम। बाहर पूज्य पुरोहितजी पधारे हैं। जो आज्ञा—

अम्ब०—साधु साधु! तुमने बड़ा शुभ संवाद सुनाया, जाओ आदरपूर्वक ले आओ।

पहरेदार—जो आर्यषभकी आज्ञा।

[पुरोहितका प्रवेश—अम्बरीषका सम्मानार्थ उठना और प्रणाम करना]

अम्ब०—प्रणाम आचार्यवर प्रणाम!

पुरोहित—स्वस्ति! नृपवर! विजयस्व!

अम्ब०—गुरुवर! आज किस सदुद्देश्यसे मुझे पवित्र करनेके लिये आपके शुभ चरणोंने यह कष्ट स्वीकार किया?

पुरोहित—राजन्! तुम्हें शायद पता हो, पारायणके लिये आज एक ही मुहूर्त शेष था वह समाप्त हो रहा है।

अम्ब०—पर मुनिवर जो अभीतक नहीं पधारे!

पुरोहित—राजन्! बिना पारायणके व्रत खण्डित होता है।

अम्ब०—(काँपकर) भगवन् बचाओ। इस धर्मसंकटमें मैं क्या करूँ? आचार्यके आदेशका पालन करूँ या मुनिवरकी बाट देखूँ। पाहि पाहि नाथ! आचार्य! रक्षा करो रक्षा करो!

[अम्बरीषका पुरोहितके चरणोंमें गिरना और राना]

पुरोहित—नृप! निर्भय रहो, कुछ जलपान कर सकते हो, भगवच्चरणामृत लेकर पारायण करनेमें दोनों कार्य सध जायँगे। पारायण भी होगा और मुनिका अपमान भी नहीं होगा।

अम्ब०—आचार्य! जो आपकी शुभ सम्मति हो। 'ब्रह्मवाक्यं जनार्दनः' आचार्यचरण! मुझे इस घोरान्धकारसे बचाना। जो आपकी आज्ञा····।

[अम्बरीष चरणामृत पान करता है]

पुरोहित—राजन्! मैं केवल कर्तव्य पालनार्थ आया था, अच्छा—सुखी रहो—स्वस्ति।

अम्ब०—भगवन्! चरणोंमें प्रणाम!

[पुरोहितका प्रस्थान]

अम्ब०—सामन्तगण! बहुत विलम्ब हो चुका है, परन्तु मुनिवरके अभी दर्शन नहीं हो रहे हैं क्या कारण····।

[दुर्वासाका प्रवेश]

दुर्वासा—विजयस्व राजन्!

अम्ब०—(उठकर और चरणोंपर गिरकर) भगवन्! चरण स्पर्श करता हूँ।·····आपको विलम्ब हो गया है·····।

दुर्वासा—(ध्यान लगाकर) क्या तुमने व्रतका पारायण कर लिया है (क्रोधसे लाल होकर) नृपाधम! भक्ताडम्बर! ठहर, दुर्वासा अभी तुझको इस मिथ्याभिमानका, कपट भक्तिका और अतिथि-तिरस्कारका फल चखाये देता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अम्ब०—पाहि भगवन् ! पाहि ।

[दुर्वासा जटा उखाड़कर कृत्या उत्पन्न करते हैं, भगवान्‌का चक्र कृत्याको मारकर दुर्वासाके पीछे दौड़ता है]

अम्ब०—(कुछ भी न समझकर) हा भगवन् !

[नेपथ्यमें—पाहि-पाहि]

अम्बरीष (उठकर घबड़ाकर) हैं, यह क्या····।

[पहरेदारका प्रवेश]

पहरेदार—राजन्, दुर्वासाने अपनी करनीका फल पा लिया। उसपर सुदर्शन चक्र टूट पड़ा है।

अम्ब०—शिव ! शिव ! यह क्या सुन रहा हूँ ! भगवन् ! क्षमा करो। मुझ तुच्छ जीवके कारण महात्मा मुनिपर इतनी घोर विपत्ति ! ····· हा ! नाथ ! मुझ कुकर्मीपर क्षमा करो·····। (सर्वप्रस्थान)

दूसरा दृश्य

[स्थान कैलासगिरि, समय सन्ध्या काल—ध्यानस्थ श्रीशम्भुजी]

[नेपथ्यमें—त्राहि-त्राहि भगवन् ! त्राहि]

शिवजी—(आँख खोलकर) देवि ! यहाँ आज कौन दुखी आ रहा है ? किसके आर्तनादसे कैलास गूँज रहा है ?

गिरिजा—नाथ ! होगा कोई बेचारा मायाका सताया हुआ !

[दुर्वासाका प्रवेश]

दुर्वासा—शूलिन् ! त्रिपुरारे, दक्षमखारे, रक्ष रक्ष। भगवन् ! त्राहि त्राहि !

शिवजी—दुर्वासा ! अहो, तुमपर यह विपत्ति कैसी ? अहो, आज श्रीसुदर्शनका तुमपर इतना प्रकोप क्यों ?

दुर्वासा—बचाओ भगवन्, मैंने अभिमानवश महान् हरिभक्तका तिरस्कार किया है। इसी पापका फल इस विपत्तिके रूपमें प्रकट हुआ है, भोलेनाथ ! दासको बचाओ बचाओ···। (दुर्वासा चरण पकड़ता है)

शिवजी—ऋषि ! क्षमा करो, मैं श्रीहरिको समझा सकता हूँ परन्तु उनके अनुगत सेवकका अपमान करनेवालेको बचाना मेरी शक्तिके बाहरकी बात है। मैं निरुपाय हूँ।

दुर्वासा—नाथ ! मैंने त्रिलोकी छान मारी है। इन्द्रादिसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त किसीने मुझपर दया नहीं दिखलायी। किसीने मुझे आश्रय नहीं दिया, मैं मरता हूँ नाथ, कोई उपाय तो बताओ !

शिवजी—ऋषिवर ! जिसने 'दर्द' दिया, वही 'दवा' भी देगा। हरिभक्तके तिरस्कारसे स्वयं हरि ही क्षमा कर सकते हैं। उन्हींकी शरण जाओ विप्रवर !

दुर्वासा—जो आज्ञा कैलासनाथ ! (दुर्वासाप्रस्थान)

गिरिजा—प्राणेश ! सचमुच हरिभक्तके अपमानका इतना कठोर परिणाम है ?

शिवजी—मधुरे ! अभी थोड़ा है। भगवद्भक्तका तिरस्कार भगवान्‌के द्वारा भी क्षम्य होना कठिन है। देवि ! यदि भक्त प्रसन्न हो जाय तो ही मुक्ति है, नहीं तो दुर्वासाका इस विपत्तिसे छूटना कठिन है।

गिरिजा—भक्तरक्षक भगवान्‌की जय हो।

शिवजी—भगवद्भक्तोंकी जय हो। (सर्वप्रस्थान)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तीसरा दृश्य

[स्थान—क्षीरसागर, समय उषाकाल, नारायण और लक्ष्मी विराजमान] (त्राहि भक्तवत्सल त्राहि !)

लक्ष्मी—नाथ, यह करुणक्रन्दन किसका है ?

नारायण—भूल गयी, कमले ? मेरे परमप्रिय भक्तका अपमान करनेवाला तपोमूढ़ दुर्वासा रो रहा है।

लक्ष्मी—(गद्गद होकर) स्वामिन् क्षमा कर दो । अतीव करुण ध्वनि है । (त्राहि भक्तप्राण त्राहि)

नारायण—वल्लभे, याद रक्खो, मैं अपना अपमान क्षमा कर सकता हूँ परन्तु अपने प्रिय भक्तका नहीं । भक्त अम्बरीष-जैसे निर्भर भक्तका अपमान और क्षमा ? कदापि नहीं । (त्राहि भक्तेश्वर त्राहि)

लक्ष्मी—महाराज ! दोष किसका है ?

नारायण—प्रिये, दोष ? दोष दुर्वासाका है, यह तपस्याके घमण्डमें चूर हो रहा है । इसने इतना विलम्ब ही क्यों किया जो मेरे भक्तको कष्ट सहना पड़ा ।

[दुर्वासाका प्रवेश]

दुर्वासा—त्राहि भक्तवत्सल, भक्तप्राण, भक्तेश्वर त्राहि ।

नारायण—दुर्वासा ! तपस्याका कितना घमण्ड शेष है ?

दुर्वासा—बस, मैं मूढ हूँ । क्षमा करो प्रभो !

नारायण—इस अपराधका कोई प्रायश्चित्त नहीं ।

दुर्वासा—त्राहि नाथ त्राहि ! (दुर्वासा चरणोंपर गिरता है)

नारायण—ऋषे ! मैं क्षमा नहीं कर सकता । मैं तो भक्तके हाथ बिक चुका हूँ, हाँ—यदि भक्तरत्न अम्बरीष चाहे तो क्षमा हो सकती है । जाओ शीघ्र भक्त अम्बरीषकी शरण जाओ—ऋषिवर !

दुर्वासा—जो प्रभुकी आज्ञा । (दुर्वासाका प्रस्थान)

लक्ष्मी—नाथ, विप्र होकर क्षत्रियसे क्षमा ? यह कैसे ?

नारायण—चञ्चले ! विप्रका ऊँचापन केवल लोकमर्यादामें —वर्णधर्ममें है । भक्तिमें सबका स्थान एक-सा है । भक्तिमें ऊँच-नीच कुछ भी नहीं । वहाँ तो वही ऊँचा है जो भक्तिसे भरपूर है ।

लक्ष्मी—नाथ ! कोई उपाय है जिससे विप्रराजका कष्ट हरण हो ?

नारायण—यही, अम्बरीष क्षमा कर दे तो कष्ट हरण हो सकता है । जबतक अम्बरीष कष्टमें है, तबतक मुझे आराम नहीं ।

लक्ष्मी—क्या अम्बरीष क्षमा करेंगे ।

नारायण—अवश्य । मेरे भक्त करुणा और क्षमाकी तो मूर्ति ही होते हैं । (सर्वप्रस्थान)

चौथा दृश्य

(अयोध्या नगरी, स्थान—राजसभा, समय मध्याह्न)

अम्बरीष—सामन्तगण ! मेरा मन बड़ा अशान्त है । हा ! कितने दिन बीत गये । ऋषि पर न मालूम क्या बीत रही होगी ! हाय ! मैंने ब्राह्मणको बड़ा कष्ट पहुँचाया । क्या करूँ, कैसे मुझे शान्ति मिले ? (त्राहि भक्तवर त्राहि)

अम्बरीष—हँ, आज यह करुणक्रन्दन किसका ?

सामन्त—चलिये महाराज, रक्षा करना क्षत्रियधर्म है ।

[दुर्वासाका प्रवेश]

दुर्वासा—(चरणोंपर गिरते हुए) क्षमा-क्षमा राजन् क्षमा !

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अम्बरीष—(उठाकर चरण पकड़ते हुए) विप्रर्षभ ! (काँपकर) आचार्य ! मुझ अधमके कारण ही आपपर ऐसी यह पड़ी । हा, श्रीसुदर्शनकी यह कैसी प्रकोप प्रगति है ! हे नाथ ! श्रीसुदर्शन !—क्षमा करो ! मुझ दीनकी ओर देखकर क्षमा करो !

भो दैत्यदम्भदलनेऽसि सदा प्रकोपी
चेदीश्वरस्य शिरसो ननु रक्तपायिन् ।
त्रायस्व भो मधुरिपोः करजाततेजः
विप्रं नु रक्ष कुरु शान्तिमहो सुचक्र ॥

[चक्रशान्ति]

दुर्वासा—(स्वस्थ होकर) अहो भक्तराट् ! क्षमा करना, मैंने अपने कियेका फल पा लिया । और यह भी देख लिया कि भक्तद्वेषीको कोई भी ठौर देनेके लिये तैयार नहीं । उसे कहीं आश्रय मिलता है तो भक्तके चरणोंमें ही मिलता है !

अम्बरीष—विप्रर्षभ ! क्षमा करना, मुझ मूढ़के कारण आपको इतना कष्ट सहना पड़ा ! मैं लज्जित हूँ ! अनुतप्त हूँ ।

दुर्वासा—नहीं, यह तो तुम्हारा बड़प्पन है जो अपनी विनम्रता जतलाये जाते हो । मुझे अब पता चला कि भक्तिका प्रभाव तपस्यासे भी कितना अधिक है । अबतक मैं तपोमूढ़ बना रहा ।

अम्बरीष—आचार्य, अगर कष्ट क्षमा हो, कुछ जलपान तो कर लीजिये ।

दुर्वासा—भक्तराट् ! सो तो होगा ही । कुछ माँगो—मैं प्रसन्न हो गया हूँ—कहो तुम्हारी कौन-सी आशा पूरी करूँ ?

अम्बरीष—भगवन् ! आपका दिया सब कुछ है । यदि आप कृपा करनेमें सस्नेह हैं तो मेरा नहीं, यह 'भरतवाक्य' पूर्ण हो—

जनाः सदा भक्तिरसामृतेच्छुका
भवन्तु भूयो हरिलग्नमानसाः ।
धरापि पुण्यैः सुजनैः शुभैश्चिरं
प्रयातु शान्तिं खलमानवैर्गता ॥

दुर्वासा—तथास्तु ।

अम्बरीष—भगवान्‌की जय । ऋषिवरकी जय !

दुर्वासा और सामन्तगण—भगवान्‌की जय ! भगवद्भक्तकी जय ! महाराज अम्बरीषकी जय ।

(प्रस्थान पटाक्षेप)

कृष्णसे

फिर मुरली मधुर बजा जा रे ।
रुन झुन रुन झुन ठुमुक-ठुमुक कर ब्रज-जन-मन बिकसा जा रे ॥
ग्वाल बाल सब ढूँढ़ थके हैं पा न सके सब खूब छके हैं ।
किस कारन है छिपा हुआ फिर माखन मिश्री खा जा रे ॥
व्याकुल हो फिरतीं बन-बनमें, गायें छीन हुईं छन-छनमें ।
एक बार तो यमुना तटपर अपनी तान सुना जा रे ॥
अर्जुनको उत्साह दिलाया कैसा विजयी वीर बनाया ।
परम पुनीता गीताका वह गौरव-ज्ञान सिखा जा रे ॥
भीर परी भक्तोंपर भारी याद नहीं क्या अब गिरधारी ।
तरस रहे हैं प्रान प्रभाकर प्यारे दरस दिखा जा रे ॥
फिर मुरली मधुर बजा जा रे ।

—कुमार काशीप्रसादसिंह 'प्रभाकर'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

न्यासयोग

(लेखक—श्रीयशोदानन्दजी अखौरी)

उपोद्घात ।

'योग' शब्दका व्युत्पत्तिक अर्थ है—दो या इससे अधिक भिन्न-भिन्न पदार्थोंका एक साथ सम्मिश्रण या सम्मेलन । इसी मूल अर्थके अनुकूल संस्कृत-साहित्यमें 'योग' शब्द भिन्न-भिन्न पारिभाषिक अर्थोंमें प्रयुक्त होनेके कारण बड़ा ही व्यापक हो गया है । इसका प्रयोग नाना शास्त्रोंमें नाना अर्थोंमें हुआ है । किन्तु अन्तमें सब पारिभाषिक अर्थ इसी मूल व्युत्पत्तिक अर्थपर आ घटते हैं । ज्यौतिष शास्त्रमें भी योग है, पर वहाँ कालके भिन्न-भिन्न विशेष विभागों एवं खगोलस्थ ग्रहादिकोंके सम्मेलनको 'योग' कहते हैं । आयुर्वेद या चिकित्साशास्त्रमें भी 'योग' है, पर वहाँ दो या दोसे अधिक भिन्न द्रव्योंके सम्मेलन या रासायनिक योगसे उत्पन्न अथवा निर्मित ओषधिविशेषका नाम 'योग' है । इसी प्रकार शब्दशास्त्रमें (व्याकरण-शास्त्रमें), वार्त्ताशास्त्रमें (व्यवहारनीतिमें), राजनीति-शास्त्रमें, अध्यात्मशास्त्रमें एवं अन्यान्य शास्त्रोंमें भी 'योग' शब्द व्यवहृत है । * पर सबमें भिन्न-भिन्न पारिभाषिक अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है । यहाँ औरोंको छोड़ अध्यात्म-शास्त्रके 'योग' से अभिप्राय है । इस अध्यात्मशास्त्रमें भी नाना प्रकारके अधिकारियोंके लिये नाना 'योगों' का प्रयोग है । किन्तु इसमें भी सभी योगोंका उसी मूल अर्थ-से सम्बन्ध है । यहाँ भी 'परमात्मा' और 'जीवात्मा' इन दो पदार्थोंका 'योग' या सम्मेलन अभिप्रेत है । हठयोग, राजयोग, नादयोग, सुरतयोग, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्ति-योग, प्रपत्तियोग आदि कितने ही प्रकारके योग कहे गये हैं । ये सभी 'योग' भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके भेदसे भिन्न-भिन्न हैं । सबकी प्रक्रियाएँ और पद्धतियाँ या प्रणालियाँ पृथक्-पृथक् हैं । प्रत्येक 'योग' अपने स्वरूपसे ही सम्पूर्ण है । इससे किसी 'योग' को किसी दूसरे 'योग' की अपेक्षा करनेका प्रयोजन ही नहीं पड़ता । यही तो सनातन हिन्दू-धर्मकी विशेषता और उत्तमता है और इसीमें इसके प्रचारक हमारे तत्त्ववेत्ता महर्षियों और पूर्वाचार्योंकी बुद्धिमत्ता और दूरदर्शिता है । इन 'योगों' में कौन बड़ा और कौन छोटा है, यह बताया नहीं जा सकता । इनमें बड़े-छोटेका भेद करना 'बुद्धिभेद' उत्पन्न करनेका पातक सिर चढ़ाना है । जो 'योग' जिस अधिकारीको अच्छा और सुगम जान पड़े, वही 'योग' उसके लिये उत्तम है । ठीक ही तो है—'काम जो आवै कामरी का लै करै कमाच ।' इसलिये चाहे जिस योगकी ओर अधिकारीकी रुचि हो, उसीका वह एकान्त और अनन्य भावसे अवलम्बन करे । उसे अपने मार्गमें कहीं भी भटकने और अटकनेका काम नहीं पड़ेगा । वह सीधे अपने निर्दिष्ट मार्गसे गन्तव्य स्थानको पहुँच सकता है । पर एक बात है, चाहे कोई 'योग' हो, सद्गुरुके बिना काम नहीं चल सकता । अपने बुद्धिबलसे, सम्भव है, मार्गमें धोखा हो जाय । शास्त्रोंमें इस सम्बन्धमें जो बातें बतायी गयी हैं, वे किसी सद्गुरुके बिना यथातथ्य समझमें नहीं आ सकतीं । इसलिये सद्गुरुका आश्रय लेना बहुत ही आवश्यक है । यह तो अध्यात्मशास्त्रगत समस्त योगोंके सम्बन्धमें सामान्य बातें हुईं । प्रस्तुत लेखका नाम है, 'न्यासयोग' । अब आगे इसी 'न्यासयोग' पर निवेदन किया जाता है ।—

'न्यासयोगसे' हमारे पाठक संन्यासयोग न समझें । उस संन्यासयोगसे इसका कोई सम्पर्क नहीं है । दोनोंकी पगडण्डियाँ निराली-निराली हैं । संन्यासयोग स्वतन्त्र साधन है और न्यासयोग परतन्त्र साधन है । संन्यासयोग निवृत्तिमार्गका है और न्यासयोग प्रवृत्तिमार्गका । स्वतन्त्र साधन और परतन्त्र साधन इन दोनोंकी व्याख्या आगे आवेगी । इस 'निवृत्ति' और 'प्रवृत्ति' पर भी बहुतोंको सन्देह होना सम्भव है । किन्तु इसका समाधान करनेमें एक तो विषयान्तर हो जायगा और दूसरे लेखका कलेवर भी बेहद बढ़ जानेका डर है । इससे उसके समाधानमें

* लोकमान्य तिलक महाराजने अपने 'गीता-रहस्य' नामक बृहद्ग्रन्थमें 'योगः कर्मसु कौशलम्' इस श्रीभगवद्-वचनके आधारपर 'योग' का अर्थ कर्म करनेकी 'युक्ति' या 'कुशलता' किया है । किन्तु गम्भीर विचारसे जान पड़ेगा कि यह लक्षण प्रधानतः वार्त्ताशास्त्र या व्यवहारशास्त्र या व्यवहार-नीतिकी कोटिका है । —लेखक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विशेष रूपसे हाथ डालनेके बदले यहाँ विज्ञ पाठकोंकी सेवामें लो० तिलक महाराजके 'गीतारहस्य' का ही केवल हवाला देकर बस करते हैं जिसमें उन्होंने महाभारतके शान्तिपर्वसे 'नारायणीयोपाख्यान' का कुछ अंश उद्धृत करके यह विषय बड़ी उत्तमतासे प्रतिपादित किया है कि वस्तुतः प्रवृत्तिमार्ग क्या है ? अगर पाठक वह प्रकरण देखनेका कष्ट उठावेंगे तो दोनों मार्गोंका भेद उन्हें झट अवगत हो जायगा। किन्तु फिर भी लेखक दो-चार वाक्योंमें ही यह विषय निपटा डालनेका प्रयास करता है। सम्भवतः इससे कुछ भी तो प्रकाश हो ही जायगा।

यह सृष्टि सर्वेश्वर और सर्वात्मा भगवान्‌के ही सत्सङ्कल्पसे उत्पन्न उनकी लीलाविशेष है। 'लोकवत्तु लीला कैवल्यम्' (ब्रह्मसूत्र २ । १ । ३३) यह सूत्र इसी सिद्धान्तका समर्थन करता है। स्रष्टा भगवान्‌ने तो अपनी अपार करुणाका विस्तार करके जीवोंके उद्धारके लिये ही इस सृष्टिकी रचना की है यानी यह लीला रची है। पर जीवात्मा अपनी अल्पज्ञताप्रसूत अज्ञानतावश उद्धार करनेके बदले और भी कर्मबन्धनमें बँधता ही जा रहा है। कर्मबन्धनसे छूटनेके दो ही प्रकारके उपाय जीवात्माकी ओरसे हो सकते हैं। ठीक उसी तरह जिस तरह प्रखर वेगसे प्रवाहित नदीको पार करनेके लिये दो ढंगके उपाय हो सकते हैं—एक नदीकी गतिके साथ ही अपनी गति मिलाकर तैरना और दूसरा उसके वेगके विरुद्ध उलटी चालसे तैरना। पहला ढंग सुगम और सरल है और दूसरा दुर्गम और कठिन। पहलेमें नदीकी गति तैरनेवालेकी सहायता करेगी और दूसरेमें वह बाधा डालेगी। दूसरे ढङ्गसे तैरनेवाले पुरुषको अपने ही पौरुष, अध्यवसाय और बलपर भरोसा करना पड़ेगा और पहले ढंगसे तैरनेवालेको अपने अध्यवसाय, पौरुष और बलकी विशेष आवश्यकता नहीं है। नदीके वेगके प्रतिकूल तैरना निवृत्तिमार्ग है (क्लेशोऽधिकतरस्तेषामित्यादि—गीतावचन विचारिये) और वेगके अनुकूल तैरना प्रवृत्तिमार्ग है (तस्याहं सुलभः पार्थेत्यादि वचनका अनुसन्धान करें।) निवृत्तिमार्ग स्वतन्त्र साधनकी कोटिका है और प्रवृत्तिमार्ग परतन्त्र साधनकी कोटिका।* बस, यही दोनों मार्गोंका पृथक्-पृथक् लक्षण और भेद है। विशेष जाननेकी इच्छा रखनेवाले सज्जन लोकमान्यकृत 'गीतारहस्य' देखनेका कष्ट करें। अब पाठक कृपाकर अपने प्रकरणपर आवें।

न्यासयोग क्या है और इसका यह नाम क्यों पड़ा?

अब देखें न्यासयोग क्या है और इसका यह नाम क्यों रक्खा गया ? 'न्यास' शब्दका अर्थ 'निक्षेप' या डाल देना है। कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तुपर डाल देनेका नाम 'न्यास' है। 'निक्षेपापरपर्यायो न्यासः' अर्थात् निक्षेपका ही दूसरा पर्यायवाचक नाम 'न्यास' है। अभिप्राय यह है कि इस योगकी क्रियामें सर्वेश्वर सर्वात्मा भगवान्‌पर ही समस्त भार डाल दिया जाता है, इसीसे इस योगका नाम 'न्यासयोग' रक्खा गया है। भारद्वाजसंहितामें भगवान् भारद्वाज महर्षि कहते हैं—'अयमात्मभरन्यासः प्रपत्तिरिति चोच्यते' एवं 'आत्मानं निक्षिपेद्धीमान् धिया देवस्य पादयोः।' आशय यह कि इस 'न्यासयोगका' नाम 'आत्मभरन्यास' (अर्थात् अपना समस्त भार परमात्मापर डाल देना) और 'प्रपत्ति' (शरणागति) भी है। क्योंकि इस योगके अधिकारीको अपने ज्ञानबलसे अपने आत्माको परमात्मदेवके चरणोंपर निक्षिप्त कर देना या डाल देना है। सारांश यह कि सर्वनियन्ता सर्वेश्वर सर्वात्मापर ही ऐहलौकिक और पारलौकिक समस्त भार 'न्यस्त' कर देने अर्थात् सौंप देने या डाल देनेके कारण इस योगका नाम 'न्यासयोग' पड़ा है। यानी परमात्माके योग अर्थात् मिलनमें भी अपना अध्यवसाय या उपाय करनेका कोई काम नहीं, ऐसी निष्ठा या भावनाका अभ्यास इस योगमें किया जाता है। अधिकारीको आरम्भसे ही निरुपायता एवं परमात्मनिर्भरताका पाठ अभ्यस्त करना पड़ता है।

विवेचन, प्रतिपादनप्रभृति

यदि अच्छी तरह डूबकर सोचा जाय तो जान पड़ेगा कि इस 'न्यासयोग' की नींव बड़ी ही दृढ़ भूमिपर रक्खी गयी है। इसका सिद्धान्त तत्त्वज्ञानकी उत्कृष्ट कोटिका है। हम लोग प्रत्यक्ष देखते हैं कि कर्मबन्धनसे छुटकारा पाने या

* ये दोनों नाम लेखकने अपने सुभीतेके लिये गढ़ लिये हैं। विज्ञ पाठक अपने मनसे इन दोनोंके आशय समझकर दूसरे नाम भी रख सकते हैं, कोई आपत्तिकी बात नहीं है। लेखकका विचार है कि मोक्षके विषयमें सृष्टिके आदिसे आजतक जितने साधन आविष्कृत और निर्धारित हुए हैं, वे सब चाहे किसी देश या धर्म (मजहब) के हों, इन्हीं दोमेंसे (स्वतन्त्र और परतन्त्र साधनोंमेंसे) एक-न-एकके अन्तर्भुक्त अवश्य ठहरेंगे। —लेखक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मोक्षकी बात तो दूर रहे, हमारे जीवनकी सामान्य घटना भी हमारे अध्यवसायकी बात नहीं है। जीवधारियोंमें सबसे उत्कृष्ट मनुष्य है, कई अंशोंमें यह देवयोनिवाले जीवधारियोंसे भी बढ़ा-चढ़ा है। किन्तु यदि विचारकर देखें, तो यह निरा परतन्त्र है। एक सामान्य बातपर भी इसका अधिकार नहीं है। यह इतना भी नहीं जानता कि हमारा अगला पाँव कहाँ पड़ेगा! मनुष्य करता है कुछ और हो जाता है कुछ। जब सामान्य घटनाओंके बारेमें यह बात है, तो अन्तिम साध्य मोक्षकी तो बात ही निराली है। मनुष्य अगर ऐसे परम साध्यको अपने अध्यवसायसे प्राप्य समझे तो यह उसकी निरी मूर्खता है। वस्तुतः मोक्ष हमलोगोंके उपाय या अध्यवसायसे प्राप्त होनेका पदार्थ नहीं है। उसका मिलना तो केवल भगवत्कृपापर ही निर्भर है। कठोपनिषद्में कहा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो
न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
(१।२।२३)

आशय यह है कि यह सर्वात्मा न तो वेदाध्ययनसे, न वैदिक विवेचनसे और न बहुत शास्त्रों या पोथियोंके पढ़ने-सुननेसे प्राप्त होता है, यह तो उसीको मिलता है जिसका वरण वह स्वयं कृपा करके करता है अर्थात् जिसका हाथ वह स्वयं अपनी अहैतुकी कृपासे पकड़ लेता है। वेदसे लेकर सूत्र, स्मृति, पुराणादि सभी इस सिद्धान्तके समर्थनमें एकमत हैं। यहाँतक कि गोस्वामी तुलसीदासजी-ने भी अपने ग्रन्थोंमें स्थान-स्थानपर इसी बातपर जोर दिया है कि भगवान्की कृपाके बिना कितने ही साधन या उपाय करो वह मिलनेका नहीं। बात भी ठीक ही है, जब वह लीलाधारी हमें इस लीलासे पृथक् करना चाहेगा, तभी तो छुटकारा या मोक्ष हो सकता है, अन्यथा कैसे हो सकता है? जब ऐसी परिस्थिति है, तब हम अपने हाथ-पैर पटकनेकी माथा-पच्ची क्यों करें? हमारे लिये तो सबसे बढ़िया उपाय यही है कि हम अपने पूर्ण उत्साह और परम प्रीतिके साथ उस लीलाभिनयके पात्रका काम, जो हमें उस लीलाधारीने सौंपा है, करते चले जायँ। उसमें किसी प्रकारका अगर-मगर न करें। मोक्ष या छुटकारेकी कोई चिन्ता या परवा ही नहीं करें। इसीका नाम 'न्यासयोग' है। यह केवल भावात्मक या मनोभावके ही आधारपर नहीं है, बल्कि तत्त्वज्ञान भी इसी सिद्धान्तका समर्थन करता है। तत्त्वज्ञानकी अनेक शाखाएँ हैं। सभी शाखाओंके अपने अलग-अलग सिद्धान्त हैं। आध्यात्मिक सभी योग इन्हीं सिद्धान्तोंमेंसे एक-न-एक सिद्धान्तके आधारपर खड़े हैं। यह न्यासयोग भी इन्हीं सिद्धान्तोंमेंसे एकके आधारपर अवलम्बित है और योगोंकी भाँति इनमें भी (इन सिद्धान्तोंमें भी) किसी प्रकारकी बड़ाई-छोटाई अथवा उत्कृष्टता-निकृष्टताका भेद करके 'बुद्धिभेद' उत्पन्न करना उपयुक्त नहीं है। लेखकने अपने विचारसे तो इसीको उत्कृष्ट समझा है। बस इतना ही समझ लें, इस तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तानुसार इस न्यासयोगसे सम्बन्ध रखने-वाले कुछ तथ्य नीचे निवेदित किये जाते हैं—

(१) स्वतन्त्र सत्तावान् एक ही अद्वैत तत्त्व है जो परब्रह्म, परमात्मा, परमपुरुष, परमचेतन आदि शब्द-वाच्य हैं।

(२) यह अद्वैत परब्रह्मतत्त्व विशिष्ट है अर्थात् इसके कुछ विशेषण भी हैं। ये विशेषण धर्म, गुण, प्रकार, शरीर, शेष, उपकरण आदि नामोंसे भी अभिहित हैं।

(३) ये विशेषण दो हैं—१ आत्मा या चेतन, और २ अनात्मा या अचेतन।

(४) इस अचेतन या अनात्माका ही एक भेद जड प्रकृति है।

(५) परमात्मा आत्मा और अनात्मा इन दोनोंका नियामक है।

(६) परमात्मा, इन आत्मा और अनात्मारूप अपने नियाम्य उपकरणोंसे सृष्टिरूप लीला या क्रीड़ा करता है।

(७) सृष्टिरूप लीलामें चेतनात्मा या जीवात्माकी सब चेष्टाएँ और क्रियाएँ लीला करनेवाले परमात्माके भोगार्थ या मुखोल्लासार्थ हैं।

(८) सृष्टिरूप लीलामें जीवात्माका अपना कोई स्वार्थ नहीं है।

(९) अभी जो जीवात्माका इस सृष्टिकार्यमें निजी स्वार्थ देख पड़ता है, वह उसकी अल्पज्ञताजनित अज्ञान-तासे देख पड़ता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(१०) इसी अज्ञानतासे स्वातन्त्र्याहंकारकी उत्पत्ति है और उससे अन्य अहंकारोंकी ।

(११) देव, मनुष्यादि शरीरोंमें स्थित जीवात्माओंका परस्पर सम्बन्ध और तज्जनित क्रियादि या कर्मादि स्वतन्त्रभावसे या स्वतन्त्ररूपसे नहीं, बल्कि सर्व शरीरी सर्वात्माके ही सम्बन्धसे है ।

(१२) जड प्रकृतिके दो स्वरूप हैं—१ शुद्ध सत्त्व-मय और २ मिश्र सत्त्वमय ।

(१३) आत्मा या जीवात्मा जबतक शुद्ध सत्त्वमय स्वरूपके बीच रहता है, तबतक उसे अपने शुद्ध स्वरूपका ज्ञान रहता है। पर जब वह मिश्र सत्त्वके घेरेमें पड़ जाता है, तब वह अपनेको स्वतन्त्र सत्तावान् समझता हुआ परमात्मासे पृथक् जानता है ।

(१४) जीवात्माका अपनेको पृथक् सत्तावान् समझना और उसी समझके अनुकूल क्रियादि करना ही कर्मबन्धन या बन्धन है और उसके विरुद्ध अपनेको परम परतन्त्र समझता हुआ परमात्माका अपृथक् सिद्ध विशेषण या प्रकारमात्र जानकर तदनुकूल क्रियादि करना ही मोक्ष है ।

(१५) मोक्ष जीवात्माका स्वतन्त्र प्रयत्नसाध्य नहीं, बल्कि नियामक सर्वात्माका सत्संकल्पसाध्य है, जैसे विशेषणका विशेष साध्य है ।

(१६) आत्मा और अनात्मा इन दो विशेषणोंसे विशिष्ट होनेके कारण इस सिद्धान्तमें वह अद्वैत तत्त्व विशिष्टाद्वैत कहलाता है । एवं इस तत्त्वज्ञानका भी नाम विशिष्टाद्वैत पड़ा है ।

(१७) विषय गहन है, लेखक-जैसे अल्पमतिकी इस गम्भीर विषयमें गति असम्भव है, जो कुछ तोतली वाणीमें कहा जा सका है, उसमें अनेक त्रुटियाँ होनी सम्भव हैं । हमारे विज्ञ पाठक एवं शास्त्रपारंगत विद्वान् महानुभाव हमारी इस धृष्टताजनित भूल-चूकको सुधार लेंगे । वस्तुतः हमने यह अनधिकार चर्चा की है । केवल इतनेसे ही यह विषय पूरा भी न हो सका है । यह अधूरापन भी क्षन्तव्य है ।

यहाँ इतना कह देना अप्रासंगिक न होगा कि तत्त्वज्ञान-का सर्वोत्कृष्ट शास्त्र वेदान्त है । कहा भी है—

तावद्गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा ।
नहि गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्तकेसरी ॥

श्लोक प्रसिद्ध और सरल है, पाठक स्वयं समझ लेंगे । इस वेदान्तशास्त्रके प्रतिपादक तीन प्रकारके ग्रन्थ हैं—(१) उपनिषत्समूह, (२) भगवान् व्यासकृत ब्रह्मसूत्र और भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ और भाष्यादि और (३) श्रीमद्भगवद्गीता और उसके भाष्यादि । वृत्तियाँ, भाष्य एवं टीकाएँ इस शास्त्रके प्रायः सभी सिद्धान्तोंके आचार्यादि-कृत हैं । एवं इस विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तके आचार्योंके भी हैं। विशेष जिज्ञासावाले पाठक उन ग्रन्थोंका अवलोकन करनेका कष्ट करें ।

न्यासयोग जिस तत्त्वज्ञानपर प्रतिष्ठित है उसकी एक झलकमात्र दिखला देनेका प्रयास किया गया है । न्यास-योगमें साधना और अभ्यासद्वारा चेतनात्माका वही परम परतन्त्र स्वरूप प्राप्त करना है । पर वह स्वरूपावस्था इस निरी बद्धावस्थामें लाना कोई हँसी-खेल नहीं है । कहाँ तो यह दशा है कि उस सर्वात्मासे इस जीवात्माका एक प्रकारसे निरा सम्बन्ध-विच्छेद है और कहाँ उस परमात्माके परम पारतन्त्र्यवशतः जीवनके समस्त कार्य करते रहना, यह क्या सहज बात है ? यह तो बिल्कुल ही दुष्कर है कि जो मनुष्य अहंकारवश आज अपनेको स्वतन्त्र वा परम स्वतन्त्र समझ रहा है और उसीके अनुसार अपने सब कार्य, क्या लौकिक और क्या पारलौकिक, करते हुए जीवन यापन कर रहा है वही देहाभिमानी मनुष्य कल परमात्मसम्बन्ध-का साक्षात् करके परम पारतन्त्र्यके वशीभूत हो जायगा । जैसे गुण गुणीके आश्रय हो जाकर अपनी सत्ता उसी गुणीके अन्तर्भूत कर डाले । इसीसे क्रम-क्रमसे उस परम पारतन्त्र्य-का अभ्यास डालना होगा । इस न्यासयोगकी पद्धति या प्रणाली ही ऐसी बनायी गयी है कि अधिकारी धीरे-धीरे आगे बढ़ता हुआ भी एक-न-एक दिन उस परम पारतन्त्र्य-पदको प्राप्त कर सकता है । किन्तु अपना स्वातन्त्र्य रखकर जो साधन किया जायगा उससे भला यह परमात्मपारतन्त्र्य कैसे आ सकता है ? क्या अग्निसे कहीं शीतलता उत्पन्न हो सकती है, कहीं विषसे अमृत निकल सकता है ? बिल्कुल असम्भव है । प्रणाली तो ऐसी होनी चाहिये जिसमें आरम्भसे ही परमात्म-पारतन्त्र्यका चसका या अभ्यास लगता जाय । आगे इसीके सम्बन्धमें निवेदन किया जाता है ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इस न्यासयोगके अंगों और प्रक्रियाओं या प्रणालियोंके सम्बन्धमें कुछ कहनेके पहले यहाँ यह कह देना अनुपयुक्त न होगा कि यह 'न्यासयोग' भक्तियोगकी ही उन्नतावस्था है। भक्ति परिपक्व होनेपर भक्तगण इसी न्यासयोगमें प्रवेश करते हैं। तत्त्ववेत्ता आचार्योंने अपनी दूरदर्शिता और बहुज्ञतासे इस योगको औरोंकी भाँति कुछ विशेष प्रक्रियाओंका आविष्कार करके इसे सांगोपांग और स्वतन्त्र रूप दे दिया है जिससे यह भक्तियोगसे पृथक् और स्वतन्त्र जान पड़ता है। इस पृथक्ता और स्वतन्त्रतासे जनताका बड़ा उपकार हुआ है। जहाँ भक्तियोगमें केवल त्रैवर्णिकोंका ही अधिकार था, वहाँ इस न्यासयोगमें वर्ण-अवर्ण सभी श्रेणियोंके लोगोंका अधिकार है। इसके सम्बन्धमें आगे शास्त्र-वचन दिये जायँगे। किन्तु विचारकर देखनेसे जान पड़ेगा कि यह वस्तुतः भक्तिका ही उन्नत और परिपक्व रूप है। भक्तिकी उन्नतावस्था 'आत्मनिवेदन' है। नवधा भक्तिमें यही सबसे अन्तिम है। और यहींसे 'न्यासयोग' की पहली सीढ़ी आरम्भ होती है। यह लेखकका विचार है। हो सकता है, कुछ महानुभाव लेखकके इस विचारसे सहमत न हों। हमारे विचारसे तो श्रीमद्भगवद्गीताका प्रतिपाद्य विषय यही 'न्यासयोग' या 'शरणागतियोग' है। यहाँ कुछ लोगोंके मनमें यह स्वभावतः प्रश्न उठ सकता है कि जब समस्त भार, क्या लौकिक और क्या पारलौकिक, सर्वेश्वर भगवान्पर ही डाल दिया गया, तब फिर उस अधिकारीके लिये अब कौन-सा कर्त्तव्य शेष रहा जिसका सम्पादन वह अपने जीवनमें करे? प्रश्न देखनेमें तो ठीक जँचता है, पर वस्तुतः यह बिल्कुल बच्चोंका-सा है। जिसके जीमें ऐसा सन्देह हुआ, समझना चाहिये कि उसने इस योगका ककहरा भी न समझा। क्यों नहीं समझा सो भी तनक गम्भीरतासे विचार लें। इस योगमें तो आरम्भमें ही अपने स्वार्थको तिलाञ्जलि दे देनी पड़ती है और आप निश्चिन्त हो जाना पड़ता है। फिर जब अपना कोई निजी स्वार्थ ही न रहा, चाहे वह लौकिक हो या पारलौकिक, तब भला क्या इतनेसे ही उसे लीलाकी पात्रताका कार्य भी करना न पड़ेगा? क्या इससे भी उसका छुटकारा हो गया? मतलब यह कि चाहे अपने लिये वह काम न करे पर भगवदर्थ तो कार्य उसे हर हालतमें करना ही पड़ेगा। श्रीभगवान् गीतामें आज्ञा करते हैं—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥
(९। २७)

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥
(१८। ६५)

सारांश यह कि अपने जीवनमें आप जो विहित कर्म करेंगे वे सब भगवान्के लिये ही और उन्हींको उद्दिष्ट करके करेंगे। विहित कर्म कहनेका आशय यह है कि जिनका विधान शास्त्रोंमें किया गया है। जिन कर्मोंका शास्त्रोंमें निषेध है वे कर्म तो करने ही न चाहिये। न्यासयोगके अधिकारी उन समस्त कार्योंको अपना समझकर अर्थात् उनमें अपना स्वत्व रखकर भगवान्को समर्पित नहीं करते बल्कि उनको स्वभावतः भगवान्के ही कार्य या कैंकर्य या सेवा समझकर उनका सम्पादन करते हैं। उनकी मानसिक वृत्ति या निष्ठा कैसी होती है, सो देखिये—

मम नाथ यदस्ति योऽस्म्यहं सकलं तद्धि तवैव माधव।
नियतः स्वमिति प्रबुद्धधीरथवा किन्नु समर्पयामि ते॥
(भगवान् यामुनमुनिकृत आलवन्दारस्तोत्ररत्न)

आशय यह है कि हे नाथ! मैं जो स्वयं हूँ और मेरा जो सब कुछ है सो सब तो आपका ही है, यह बात उन्नत बुद्धिसे निश्चित हो गयी है, तो फिर अब क्या बच रहा जो आपको समर्पित करूँ। यह तो हुआ देववाणीका (संस्कृतका) वचन। इसीकी प्रतिध्वनि संतबानी भी करती है, देखिये—

मेरा मुझमें कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपते क्या लागेगा मोर॥
(कबीर साहब)

निदान इस योगकी आरम्भिक अवस्थामें अधिकारीको 'त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये।' इसी निष्ठासे सब कुछ करना होगा। यही इस न्यासयोगकी पहली सीढ़ी है। * अब आगे क्या और कैसे करना और चलना चाहिये सो देखें—

* लेखकने 'निष्ठाचतुष्टयलहरी' नामकी पोथीमें इन बातोंका स्पष्टीकरण करके विवरण दिया है। वह शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाली है। —लेखक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

न्यासयोगके अङ्ग और विधान

भारद्वाजसंहितामें इस योगके प्रथम छः अङ्ग कहे गये हैं जिनका अभ्यास करना चाहिये—

आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्।
विश्वासो वरणं न्यासः कार्पण्यमिति षड्विधा॥

अर्थात् (१) अपने सर्वेश्वर भगवान्‌के अनुकूल विषयों या कर्मोंके सम्पादनका संकल्प करना। (२) भगवान्‌के प्रतिकूल विषयोंका त्याग करना। (३) सर्वेश्वर भगवान्‌में दृढ़ विश्वास। (४) उन्हींको अपना रक्षक वरण कर लेना। (५) उन्हींपर अपने लोक-परलोककी रक्षाका भार डाल देना और (६) सदा कार्पण्य अर्थात् अकिञ्चनभाव हृदयमें रखना। जैसे अष्टाङ्गयोगके अन्तर्गत आठ विभागकर उसे सम्पूर्णरूपसे स्वतन्त्र कर दिया गया है, वैसे ही इस न्यासयोगके भी छः अङ्ग मानकर इसे भी स्वतन्त्र कर दिया गया है। यहाँ इतना निवेदन कर देना अप्रासङ्गिक न समझा जायगा कि इस न्यासयोगकी प्रक्रियाओंमें अष्टाङ्गयोगका कुछ अंश रक्खा गया है, पर वह स्वतन्त्ररूपसे नहीं, बल्कि इसीके अवयवरूपमें। इसके सम्बन्धमें आगे प्रसङ्गवशतः कहा जायगा। उक्त छः अङ्ग सब मिलाकर नौ अन्तराङ्गोंमें विभक्त हैं। ये नौ दो कोटिके हैं—एक करणत्रयके भेदसे (मन, वचन, और कर्म) और दूसरा गुणत्रय (सत्त्व, रज और तम.) भेदसे। इन नौओंमें मानसिक सत्त्वगुणी ही उत्कृष्ट है और यही प्रधानतः न्यासयोगका अङ्ग कहलानेके योग्य है। इस लेखकका अपना विचार है कि और आठ विभाग केवल भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके उपकारार्थ इसे सर्वाङ्गपूर्ण और सर्वगम्य बनानेके विचारसे किये गये हैं। जिसमें भक्तिके अपरिपक्व अर्थात् अधकचरे अधिकारी भी इनसे आकर्षित होकर इस न्यासयोगमें प्रवेश कर सकें और इससे लाभ उठा सकें। अस्तु, यहाँ उन आठोंका वर्णन न करके केवल एक मानसिक सत्त्वगुणीको ही उद्दिष्ट करके वर्णन किया जाता है। जिन्हें विशेष जानना हो वे भारद्वाजसंहिता देखें। भारद्वाजसंहितामें कहा है—

परित्यज्याखिलान् कामान् भक्त्यैवात्मेश्वरं हरिम्।
प्रपद्यते दास्यरतिर्यदेषा सा तु सात्त्विकी॥
हीना हीनतमाश्चैव रजसा तमसा कृताः।
सत्त्वेन याः प्रयुज्यन्ते मुख्यास्ताः परिकीर्तिताः॥
सत्त्वजा मानसी त्वेका तत्र मुख्यतमा मता।
तया हि परमां सिद्धिं सद्यो यान्ति मनीषिणः॥
(१। २७-३१)

समुच्चयार्थ यह कि सात्त्विक मानसिक यही परम सिद्धिदायक हैं। इसमें समस्त कामनाओंका परित्यागकर केवल आत्मेश्वर हरि भगवान्‌की सेवारूप फलकी प्राप्तिके लिये ही शरणागति की जाती है। इस मानसिक सात्त्विक न्यासके सिवा राजसी और तामसी हीन और हीनतम हैं अर्थात् राजसी हीन है और तमोगुणी हीनतम है। ऊपर बताये हुए न्यासयोगके छः अङ्ग अपने रक्षक सर्वेश्वर भगवान्‌की सन्निधिमें अर्पित किया हुआ एक प्रकारका प्रतिज्ञापत्र है। लोकमें भी यह प्रथा है कि किसी महान् पुरुषकी शरणमें जानेवालेको कुछ-न-कुछ प्रतिज्ञा करनी ही पड़ती है, फिर भी यदि वह सर्वदासे उस महान् पुरुषके विमुख और प्रतिकूल रहता आया हो तब तो उसके लिये प्रतिज्ञा करना अनिवार्य हो जाता है। वही परिस्थिति यहाँ भी है। अबतक जिस चेतनात्माने आत्मेश्वर भगवान्‌के सम्मुखी न होकर उनके अनुकूल कार्य न किया, बल्कि यह सदा विमुख और प्रतिकूल ही रहा तो उसे यह प्रतिज्ञा करनी ही पड़ेगी। इसीसे इस योगके नवीन अधिकारीको इन छः अङ्गोंके पालनका सदा ध्यान रखना चाहिये। क्योंकि अगर प्रतिज्ञा करके पालन करनेमें असमर्थ होगा तब तो वह योगभ्रष्ट समझा जायगा। वस्तुतः इस कामनारहित योगकी ओर सर्व-साधारणकी प्रवृत्ति ही नहीं होती, दूसरे थोड़ी प्रवृत्ति होनेपर भी उनका पालन कठिन हो जाता है। भारद्वाज-संहितामें कहा है—

अनादेर्वासनायोगाद्विपरीतादिहात्मनः।
स्मृतिर्न जायते विष्णौ कुत एवार्पणे मतिः॥
स्वपापसम्भवादेव कुलात्संसर्गतोऽन्यतः।
देशात्कालात्स्वभावाच्च प्रपद्यन्ते न केशवम्॥
(१। ६१-६२)

अभिप्राय यह कि अनादिकालसे वासनायुक्त रहने आनेसे इस जीवात्माकी समस्त गतिविधि भगवान्‌के विपरीत ही होती आयी है, उसके परिणामसे उसे परमात्माकी स्मृति ही नहीं आती कि कोई सर्वेश्वर है, तब भला अर्पणकी बात ही क्या? अपने कुकृत्योंके कारण और विमुखोंके संसर्गसे, देश, काल और स्वभावके दोषसे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यह जीवात्मा भगवान्‌की शरण जाना ही नहीं चाहता। ऐसी दशामें अगर कभी उसकी प्रवृत्ति इस ओर हुई भी तो फिर पीछे भगवद्विमुख न रहे, इसके लिये उसे प्रतिज्ञाबद्ध होना अनिवार्य समझा गया है।

हम ऊपर इस बातका उल्लेख कर आये हैं कि भक्तियोगसे इस प्रपत्तियोगको पृथक् करनेका मुख्य तात्पर्य पूर्वाचार्योंका यही है कि भक्तियोगमें भी वर्ण-भेदादिका अड़ंगा बहुत है। पर इसमें उन सब बातोंकी अड़चन नहीं, केवल अकिञ्चनता और तीव्र श्रद्धा तथा प्रीति चाहिये। भारद्वाजसंहितामें इसी प्रसङ्गपर जो लिखा है वह नीचे उद्धृत किया जाता है—

प्रासुमिच्छन् परां सिद्धिं जनः सर्वोऽप्यकिञ्चनः।
श्रद्धया परया युक्तो हरिं शरणमाश्रयेत्॥
न जातिभेदं न कुलं न लिङ्गं न गुणक्रियाः।
न देशकालौ नावस्थां योगो ह्ययमपेक्षते॥
ब्रह्मक्षत्रविशः शूद्राः स्त्रियश्चान्तरजास्तथा।
सर्व एव प्रपद्येरन्सर्वधातारमच्युतम्॥
(१। १३–१५)

उक्त वचनोंका सारांश यह कि जो अकिञ्चन पुरुष परम सिद्धि प्राप्त करना चाहते हों वे परम श्रद्धा-भक्तिके साथ हरिकी शरणका आश्रय लें। इसमें जातिभेद, कुल, गुण, वेशादि किसी विषयका अड़ंगा नहीं। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र एवं स्त्रियाँ एवं अन्त्यजोंतक सभी सर्वात्मा अच्युत भगवान्‌की प्रपत्तिमें अधिकारी हैं। भक्तिशास्त्र एवं अन्यान्य स्थलों और श्रीमद्भगवद्गीतामें भी जहाँ ऐसा प्रसङ्ग आया है वहाँ जो कुछ कहा गया है वह इसी प्रपत्त्यङ्गभूत भक्तिसे सम्बद्ध है। वेदों और उपनिषदोंमें भी जहाँ विधिवत् उपासना और वर्णादि बन्धनोंका उल्लेख है वह भक्तियोग दूसरा ही है, और वहाँ-वहाँ उक्त बन्धनोंका अड़ंगा नहीं है, वहाँ-वहाँ यही भक्तिप्रपत्तिमिश्रित योग अभीष्ट है। श्रीमद्भगवद्गीताके नवें अध्यायमें निम्नोद्धृत वाक्य है, वह भी इसी योगका परिपोषक है।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥

अर्थात् हे अर्जुन! पाप योनिवाले भी मेरे आश्रित होनेसे परम गतिको प्राप्त करते हैं। इस न्यासयोगके सौलभ्य और सौकर्यके प्रतिपादक और भी वचन हैं जिनका उल्लेख किये बिना आगे बढ़ना ठीक नहीं है। जरा देखिये—

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये॥
(श्वेता० ६। १८)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता १८। ६१-६२)

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(गीता १८। ६६)

इत्यादि कितने ही वचन इस न्यासयोगके समर्थक हैं।

उक्त वचनोंके आशय बहुत ही स्पष्ट और सरल हैं। इससे यहाँ उनके अर्थ लिखकर लेखका कलेवर बढ़ाना ठीक नहीं है। अब आगे ऊपर कहे हुए न्यासयोगके अङ्गोंके बारेमें निवेदन किया जाता है। जिस प्रकार इस न्यासयोगके छः अङ्ग हैं उसी प्रकार इन छओंकी उद्दीपिनी छः वृत्तियाँ हैं—

वृत्तिश्च विहिताचारः प्रतिषिद्धविवर्जनम्।
दृष्टिर्भक्तिस्तथा लक्ष्म सतां सेवेति षड्विधा॥

अर्थात् (१) विहिताचार, (२) प्रतिषिद्धवर्जन, (३) दृष्टि, (४) भक्ति (श्रद्धा), (५) लक्ष्म (भगवच्चिह्न) और (६) सत्सेवा ये ही छः वृत्तियाँ छओं अङ्गोंका उद्दीपन करनेवाली हैं। शास्त्रविहित आचार आनुकूल्य सङ्कल्पका उद्दीपक है, शास्त्रनिषेधका परित्याग यह प्रातिकूल्यवर्जनका, दृष्टि अर्थात् तत्त्वज्ञान भगवद्विश्वासका, भक्ति (श्रद्धा) भगवद्रक्षकत्वके वरणका, भगवच्चिह्नधारण न्यासका और सत्सेवा अर्थात् सद्गुरु और संतोंकी सेवा कार्पण्यका उद्दीपक है। दृष्टि अर्थात् तत्त्वज्ञान ही भगवान्‌में विश्वास जमानेका साधन है। ऊपर इसके बारेमें कहा भी गया है। पर फिर भी प्रसङ्गवश आगे कहा जायगा। अब छः अङ्गों और छः वृत्तियोंके बारेमें बारी-बारीसे निवेदन किया जाता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

या स्वधर्मेष्वभिरतिः सा भवत्यनुकूलता ।
वर्जनं प्रतिषिद्धानां तथैषा प्रतिकूलता ॥
(भा० सं० १ । ७७)

अर्थात् स्वधर्ममें (वर्णाश्रमधर्ममें) जो अभिरति या अनुराग है वही अनुकूल विषय है । जो शास्त्रमें (वेदादि सच्छास्त्रोंमें) वर्जित है वही प्रतिकूल है । तात्पर्य यह कि न्यासयोगके अधिकारीको पहले स्वधर्माचरण करनेका सङ्कल्प यानी प्रतिज्ञा करनी पड़ती है । यह तो लोकमें भी देखा जाता है कि जब कोई किसी संस्थामें प्रवेश करना चाहता है तो उसे यह प्रतिज्ञा कर देनी पड़ती है कि 'मैं इस संस्था-के नियमानुकूल चलनेकी प्रतिज्ञा या सङ्कल्प करता हूँ ।' उसी प्रकार न्यासयोगकी संस्थामें भी स्वधर्ममें अभिरति करने अर्थात् प्रीतिपूर्वक स्वधर्माचरण करनेका सङ्कल्प करना अनिवार्य है । इसके सम्बन्धमें ऊपर भी थोड़ा लिखा जा चुका है । निदान स्वधर्माचरण करना ही इस योगके अधिकारीके लिये भगवदनुकूल है । क्योंकि जिस भगवान्‌के सामने यह चेतन शरणागत होना चाहता है, उनके शासन-नियम वेदादि शास्त्र ही हैं ('श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे' आदि वाक्योंका अनुसन्धान करना चाहिये) श्रीभगवान्‌ने भी श्रीमद्भगवद्गीतामें आदेश दिया है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥
(१६ । २३-२४)

आशय यह है कि जो मनुष्य शास्त्रके विधानोंको छोड़-कर अपनी इच्छासे चलता है, वह न तो सिद्धि प्राप्त करता है, न उसे लोकमें सुख प्राप्त होता है और न परलोकमें ही गति मिलती है । इसलिये कार्याकार्यकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें शास्त्रविधानमें विहित कर्मको जानकर और समझकर ही कर्म करना चाहिये, मनमाने तौरपर कभी न करना चाहिये । इसमें कई तरहकी शङ्काएँ उठ सकती हैं । पहली शङ्का तो यह है कि ऐसे कितने ही संत-महात्मा हो गये हैं, जिन्होंने शास्त्रकी कुछ परवा न करके मनमाने कार्य किये हैं । दूसरी शङ्का यह हो सकती है कि वेदादिको ही हम क्यों ईश्वरकी आज्ञा मानें ? क्या अन्य मजहबवालों-की धर्म-पुस्तकें मान्य नहीं हैं ? तीसरी शङ्का यह उठायी जा सकती है कि हम अपनी हिताहित बुद्धिसे ही क्यों न विचार लिया करें ? तीनों शङ्काएँ ठीक हैं । इनके सिवा और भी शङ्काएँ सम्भवतः उठ सकती हैं । इन सब शङ्काओंके समाधानमें अगर थोड़ा-थोड़ा भी कहा जाय तो एक बड़ा-सा प्रबन्ध बन जाय । किन्तु हम यहाँ कुछ ही वाक्योंमें इन तीनोंके क्रमानुसार समाधान कर डालनेका प्रयास करते हैं । पहली शङ्का संतों और महात्माओंके शास्त्रविधानोंके उल्लंघनके बारेमें है । सनातन हिन्दू-धर्ममें खुला आदेश है कि जो महापुरुष ज्ञानाधिक्य और भगवत्प्रेममत्त हो जायँ, वे सम्भवतः विधि-निषेधसे परे हो जाते हैं । सभी मजहबोंमें यही बात है । एक शास्त्रका वचन है—

अत्यन्तभक्तियुक्तानां नैव शास्त्रं न च क्रमः ॥

अर्थात् अत्यन्त भक्तियुक्त महापुरुषोंके लिये शास्त्रका कोई विधान नहीं है, वे इसके परे हो जाते हैं । किन्तु अत्यन्त भक्तियुक्त होना चाहिये । ढोंगी और दाम्भिक पुरुषोंके लिये यह वचन नहीं है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण तो उन महापुरुषोंकी जीवनचर्याएँ हैं । उनको देखनेसे ही इसका निर्णय हो सकता है, अन्यथा नहीं । परन्तु—

भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् ।
(नारदसूत्र)

यानी निश्चय दृढ़ होनेके पहले अर्थात् अत्यन्त भक्ति-युक्त होनेके पहले तो वे अवश्य शास्त्रके बन्धनमें हैं । दूसरी शङ्का यह है कि सनातनधर्मके वेदादि शास्त्रोंको ही ईश्वरीय आज्ञा क्यों मानी जाय, इसमें हमारा कहना है कि चाहे आप किसी मजहबके सच्छास्त्रको मानिये । कोई आपत्तिकी बात नहीं । सभी मजहबोंमें सामान्य और विशेष ये दो तरहके विधान होते हैं । सामान्य विधानोंमें तो सभी मजहब एक हैं । केवल विशेषमें विभेद है, सो वह विभिन्नता भी थोड़ी ही गम्भीरतासे दूर हो जा सकती है, पर समन्वयी दृष्टि चाहिये । जो समन्वय करना चाहता है, उसके लिये वे विशेषताएँ बिल्कुल अनुकूल हैं, बाधक और प्रतिकूल नहीं हो सकतीं । लेकिन अगर हम किसीको चिढ़ाने या उसको हेठी करनेके उद्देश्यसे हठधर्मी करेंगे तो वह सब मजहबोंके विधानसे अधर्म है । निदान शास्त्रोंमें वस्तुतः कोई अन्तर नहीं है । केवल लोगोंकी समझकी भूल है । तीसरी शङ्का हिताहित-विवेचनके सम्बन्धकी है । सो अगर यथार्थ रूपसे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विचार किया जायगा तो शास्त्रों और हिताहित विवेकमें बाल बराबर भी अन्तर नहीं आ सकता। इस लेखकने कई बार आजमाकर देख लिया है कि अपनी परिस्थितिके अनुकूल अगर उस अन्तर्विवेकसे पूछिये तो वह शास्त्र-वचनकी प्रतिध्वनि ही करेगा। जरा भी दोनोंमें विभेद न पड़ेगा। मगर निष्पक्ष और निराग्रह हृदयसे विचारेंगे तब। यों ही नहीं। तात्पर्य यह कि वेदादि शास्त्रोंके विधान ही भगवदनुकूल विषय हैं। जबतक योगी साक्षात् भगवान्‌को प्रत्यक्ष नहीं कर लेता, तबतक ये शास्त्र ही उनकी आज्ञाओंकी प्रतिनिधिरूप हैं। इसमें किसी प्रकारके तर्क या शङ्का-समाधान करनेकी गुंजाइश नहीं है।

न्यासयोगके छः अङ्गों और उनकी छओं वृत्तियोंमेंसे आनुकूल्यसङ्कल्प और प्रतिकूलवर्जनके सम्बन्धमें निवेदन किया गया। आगे चार अङ्गों और उनकी उद्दीपिनी वृत्तियोंकी बाबत कहते हैं।

वेदादि शास्त्रोंके श्रवण-मननादिसे निश्चित भगवत्स्वरूप-ज्ञान एवं भगवदात्मसम्बन्धादिका ज्ञान ही 'विश्वास'रूप अङ्गकी वृत्ति 'दृष्टि' कही जाती है। इन स्वरूपज्ञानोंसे विश्वासकी पुष्टि होती है। क्योंकि जबतक कोई किसीको जानेगा ही नहीं, तबतक उसके सम्बन्धमें विश्वास ही कैसे हो सकता है। इसीसे तीसरे अङ्ग 'भगवद्विश्वास' की उद्दीपिनी वृत्ति 'दृष्टि' है। और यह वृत्ति वह तत्त्वज्ञानस्वरूपा है जिसका संक्षेपमें विवरण ऊपर किया गया है। चौथा अङ्ग 'भगवद्रक्षकवरण' अर्थात् भगवान्‌को अपना रक्षक मान लेना है। इसकी वृत्ति 'भक्ति'* अर्थात् 'श्रद्धा' है। भगवान्‌के विषयमें भक्ति या श्रद्धा करनेसे ही वह भाव उद्दीपित होता है। पाँचवाँ 'न्यास' यानी 'आत्मभरन्यास' है इस अङ्गकी उद्दीपिनी वृत्ति 'लक्ष्म' यानी भगवच्चिह्नलाञ्छन है। इससे आत्मभरन्यासकी भावनाकी पुष्टि होती है और छठा कार्पण्य या अकिञ्चनता है इसकी उद्दीपिनी वृत्ति सद्गुरुसेवा एवं दासत्व है। इसी सत्-सेवासे अकिञ्चनताकी पुष्टि होती है। न्यासयोगके समस्त विषयोंका एक छोटे-से समीकरणमें इस प्रकार सन्निवेश किया गया है—

अर्थपञ्चकतत्त्वज्ञः पञ्चकालपरायणः।
अकारत्रयसम्पन्नो नवेज्याकर्मकारकः॥

* यहाँ भक्तिशब्द श्रद्धाके पर्यायमें पारिभाषिकरूपसे प्रयुक्त हुआ है।—लेखक

अर्थात् न्यासयोगीको अर्थपञ्चकका तत्त्वज्ञ होना, पञ्चकालपरायण होना, अकारत्रयसम्पन्न होना एवं नवेज्या-कर्मोंका करनेवाला होना चाहिये। अब क्रमानुसार इनका विवरण दिया जाता है—

(१) अर्थपञ्चकका स्वरूपज्ञान—अर्थपञ्चक क्या है, इसके सम्बन्धमें वृद्धहारीतसंहितामें ये वचन हैं—

प्राप्यस्य ब्रह्मणो रूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः।
प्राप्त्युपायं फलं चैव तथा प्राप्तिविरोधि च॥
ज्ञातव्यमेतदर्थस्य पञ्चकं योगवित्तमैः॥
(११।१५२-१५३)

अर्थात् (१) प्राप्य (ब्रह्मस्वरूप), (२) प्राप्ता प्रत्यगात्मा या जीवात्माका स्वरूप, (३) प्राप्ति-उपाय, (४) प्राप्तिफल और (५) प्राप्तिविरोधी इन पाँच अर्थोंका ज्ञान इस न्यासयोगके अधिकारीको होना चाहिये। इन्हीं पाँचोंका ब्योरा आगेके वचनोंमें दिया जाता है।

जगतः कारणत्वं च तथा स्वामित्वमेव च।
श्रीशत्वं सद्गुरुत्वं च ब्रह्मणो रूपमुच्यते॥ १॥
देहेन्द्रियादिभ्योऽन्यत्वं नित्यत्वादिगुणौघता।
हरेः कैङ्कर्यधर्मत्वं स्वरूपं प्रत्यगात्मनः॥ २॥
उपायाध्यवसायेन त्यक्त्वा कर्मौघमात्मनः।
हरेः कृपावलम्बित्वं प्राप्त्युपाय इहोच्यते॥ ३॥
सर्वैश्वर्यफलं त्यक्त्वा शब्दादिविषयानपि।
दास्यैकसुखसङ्गित्वं विष्णोः फलमिहोच्यते॥ ४॥
तज्जनस्यापराधित्वं शब्दादिष्वनुरक्तता।
कृत्यस्य च परित्यागो ह्यकृत्यकरणं तथा॥ ५॥
द्वादशीविमुखत्वं च विरोधि स्यात्फलस्य हि।
अर्थपञ्चकमेतद्धि ज्ञातव्यं स्यान्मुमुक्षुभिः॥ ६॥

उक्त छः वचनोंका तात्पर्यार्थ यह है कि जगत्का कारणत्व, स्वामित्व, श्रीशत्व और गुरुत्व यही ब्रह्मके स्वरूप हैं अर्थात् ब्रह्म ही जगत्का त्रिविध कारण है, वही जगत्का स्वामी है, वही लक्ष्मीपति भी है और वही चेतनात्माका उपदेशक गुरु भी है। ब्रह्मके अनन्त कल्याण गुणोंमेंसे न्यास-योगका इन्हीं चार गुणोंसे विशेष सम्बन्ध है। प्राप्ता चेतनात्मा या प्रत्यगात्मा देह और इन्द्रियादिसे भिन्न, नित्यत्वादि गुणयुक्त एवं प्राप्य ब्रह्मका दासभूत है। समस्त अध्यवसाययुक्त कर्मोंको उपायबुद्धिसे न करके भगवान्‌की कृपाका ही अवलम्बन करना यही तो प्राप्त्युपाय

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है। समस्त ऐश्वर्य, ऐहलौकिक और पारलौकिक एवं शब्दादिविषयजनित सुखरूप फलका त्यागकर भगवद्भक्ति या भगवत्सेवाको ही सुख और आनन्द समझना यही फल है। ऐहलौकिक और पारलौकिक समस्त विषयमें अनुरक्ति, एवं तज्जनित प्रवृत्तिसे कृत्यों अर्थात् विहित कर्मोंका त्याग और अकृत्य अर्थात् निषिद्ध कर्मोंके करनेमें अभिरुचि यही प्राप्तिके विरोधी दोष हैं। ये ही पाँच अर्थपञ्चक नामसे ख्यात हैं जिनका पूरी रीतिसे न्यासयोगीको ज्ञान होना चाहिये। ज्ञानके बाद न्यासयोगीको अपनी जीवन-चर्याका क्रम पाँच भागोंमें विभक्त करके बाँधना चाहिये। नित्य उसे अपना काल पाँच कर्मोंके सम्पादनमें बाँट देना चाहिये। इस दिनचर्याके क्रमका नाम 'पञ्चकाल' रक्खा गया है। यह पञ्चकाल इस प्रकार है—

श्रीमुकुन्दाश्रितोऽनन्योऽकिञ्चनो ह्यात्मन्यासकृत्।
पञ्चकालपरो भक्तश्चायुःशेषं समर्पयेत्॥
कृत्वाभिगमनं पूर्वमुपादाय च सम्पदः।
इष्ट्वार्धित्य च युञ्जानो भागैः कालं नयेद्यतिः॥

भगवान्‌के आश्रित न्यासयोगी अकिञ्चन भक्तको पञ्चकालमें रत हो अपनी आयु बितानी चाहिये अर्थात् (१) अभिगमन, (२) उपादान, (३) इज्या (भगवत्पूजा), (४) स्वाध्याय और (५) योग ये ही पाँच दिनचर्याके पाँच क्रम कहे जाते हैं। पहला अभिगमन है। इसका अभिप्राय यह है कि ब्रह्मवेलामें नींदसे जगते ही ध्यानमें भगवान्‌की सन्निधिमें नित्यक्रियादि समस्त दैनिक कर्म करनेका आदेश माँगना ठीक उसी तरह जिस तरह कोई पुरुष अपने सम्राट्‌के दरबारमें काम करनेकी आज्ञा माँगे। उसके बाद भगवान्‌की सेवाके लिये सम्पदादि-का उपादान करे अर्थात् उनके जुटानेका प्रबन्ध करे। उसके बाद तीसरा क्रम भगवत्पूजन यानी इज्या है। उसके बाद चौथा स्वाध्याय और ज्ञानोत्पादक ग्रन्थोंका अध्ययन और पाँचवाँ परमात्मयोग अर्थात् भगवान्‌से जो अनन्तकालसे सम्बन्धविच्छेद हो गया है उस सम्बन्धको फिर जुटानेके लिये भगवान्‌के परत्वादि गुणोंका अनुसन्धान करना एवं उनके रूपका हृदयमें ध्यान करना* इन पाँचोंके ऊपर व्याख्या करते हुए बड़े-बड़े ग्रन्थ बने हैं। निदान न्यास-योगीको अपनी दिनचर्या इन्हीं पाँच कर्मोंमें लगानी चाहिये। भगवान्‌की इज्या यानी अर्चाके नौ क्रम हैं जो 'नवेज्या' नामसे प्रसिद्ध हैं। वे ये हैं—

अर्चनं मन्त्रपठनं ध्यानं होमं च वन्दनम्।
स्तुतिर्योगं समाधिं च तथा मन्त्रार्थचिन्तनम्॥

अर्थात् (१) भगवदर्चन, (२) मन्त्रजप, (३) भगवान्‌का मानसिक ध्यान, (४) होम, (५) वन्दन, (६) स्तुति, (७) योग (प्राणायाम, ध्यान, धारणा), (८) समाधि (भगवत्सम्बन्धचिन्तन) और (९) मन्त्रोंके अर्थका अनुसन्धान। इन सबके अर्थ स्पष्ट हैं। इनकी व्याख्यामें भी बहुत-से ग्रन्थ हैं। यहाँ विशेष कहकर लेख बढ़ाना अभीष्ट नहीं है। ये ठीक नवधा भक्ति अथवा षोडशधा भक्तिके अंगोंकी तरह हैं। भक्तिसे इनकी पृथक् व्यवस्था केवल प्रारम्भिक अधिकारियोंके उपकारार्थ की गयी है। वहाँ एक विषय 'अकारत्रयसम्पन्न'का उल्लेख किया गया है। न्यासयोगीको अकारत्रयसम्पन्न होना चाहिये। वह अकारत्रय क्या है, वह निवेदन किया जाता है।

विष्णोरनन्यशेषत्वं तथैवानन्यसाधनम्।
तथैवानन्यभोग्यत्वमकारत्रयमुच्यते॥

अर्थात् न्यासयोगीको अनन्यशेष, अनन्यसाधन और अनन्यभोग्य होना चाहिये। ये ही अकारत्रय हैं। न्यासयोगीको समझना चाहिये कि यह चेतनात्मा किसी अन्यका शेष यानी दास नहीं है, उसके लिये भगवान्‌को छोड़ कोई साधन भी नहीं है और उसके लिये भगवान्‌को छोड़ कुछ अन्य वस्तु भोग्य भी नहीं है। अपने जीवनमें उसे हर विषयमें इस अकारत्रयका ध्यान रखना चाहिये। इस प्रकार (१) अर्थपञ्चकका ज्ञान सद्गुरुद्वारा प्राप्त करके (२) अपनी दिनचर्या पाँच कर्मोंमें बाँधकर यानी पञ्चकालरत होकर (३) अकारत्रयसे सदा सम्पन्न रहते हुए (४) नवेज्याकर्ममें निरत रहे। यही इस न्यासयोगीके लिये कर्त्तव्य है। इन चारों विषयोंकी व्याख्यामें इस योगके सूत्र ओतप्रोत हैं। यहाँ विस्तारसे कहनेका स्थान नहीं है। पाठक इस योगके सम्बन्धमें समुच्चयार्थरूपसे इतना ही समझें कि इसमें किसी प्रकारकी कामनाके बिना ही, चाहे वह अपने परमानन्दकी हो या मोक्षकी हो, स्वर्गादि लोकविशेषोंकी हो अथवा ऐहलौकिक ऐश्वर्य या सुखानन्दकी हो अथवा इन्द्रियजन्य सुखोंकी हो, सबसे रहित होकर केवल भग-

* योगो नाम प्रत्यगात्मनः श्रीभगवता सह योजनम्। (पञ्चकालानुष्ठानमीमांसा)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वदाता एवं भगवत्सेवा-सम्बन्धसे ही सब विहित कार्य करते हुए निषिद्धोंका त्याग करे। इस योगकी निष्ठा भी कई श्रेणियोंकी है जिनके सम्बन्धमें लेखान्तरमें निवेदन करनेका प्रयास किया जायगा। हाँ, अहंकार और ममकारकी तो पहले तिलाञ्जलि देनी पड़ेगी। इसके बिना तो ऊपर कही कामनाओंसे रहित होना निरा असम्भव है। यहाँ केवल वाचक ज्ञानी होनेसे काम चलनेका नहीं। यहाँ तो चींटीकी चालसे चलकर पहले अहंकार-ममकारको निर्मूल करे। अगर इस योगके विधानोंका क्रमानुसार अनुसरण किया जाय तो यह सुलभ भी हो सकता है। पाठक स्वयं इन बातोंपर मनन और विवेचन कर सकते हैं।

श्रीरासलीलारहस्य

(महात्माका उपदेश)

[गतांकसे आगे]

पहले कहा जा चुका है कि रासपञ्चाध्यायी श्रीमद्भागवतका प्राण है। इसमें सर्वान्तरतम वस्तुका प्रतिपादन किया गया है। याज्ञिकोंके यहाँ इसका बड़ा अच्छा क्रम है। वेदीके सबसे निकट यूप होता है। पात्र उसकी अपेक्षा भी अन्तरतम है। देवताओंका अन्तरङ्ग हविष्य है और पात्र उसकी अपेक्षा बहिरङ्ग हैं, तथा अध्वर्यु उनकी अपेक्षा भी बहिरङ्ग हैं। इसलिये यदि ऋत्विक्‌गण कोई पात्र लाते हैं तो स्वयं तो यूपके बाहर होकर निकलते हैं, किन्तु पात्रको यूप और वेदीके बीचमें होकर निकालते हैं।

यद्यपि यह दशम स्कन्ध सारा ही आश्रयरूप है, तथापि लीलाविशेषके विकासके लिये इसमें भी अन्तरङ्ग-बहिरङ्गकी कल्पना की गयी है। जिनका भगवान्‌से जितना ही अधिक संसर्ग है वे उतने ही अधिक अन्तरङ्ग हैं। इसका वर्णन उज्ज्वल-नीलमणि नामक ग्रन्थमें बहुत स्पष्टतया किया है। मथुरावासियोंकी अपेक्षा गोकुल-निवासी अधिक अन्तरङ्ग हैं, उनसे भी श्रीदामादि नित्य-सखा अन्तरङ्ग हैं, उनकी अपेक्षा गोपाङ्गनाएँ अन्तरङ्ग हैं, गोपाङ्गनाओंमें ललिता-विशाखा आदि प्रधान यूथेश्वरियाँ अधिक अन्तरङ्ग हैं और उन सभीकी अपेक्षा श्रीवृषभानु-नन्दिनी अन्तरतम हैं। इस क्रमसे, क्योंकि रासलीलामें सर्वान्तरतम व्रजाङ्गनाओंका ही प्रसङ्ग है इसलिये यह सर्वान्तरतम लीला है।

इससे पूर्व भगवान्‌ने गोपोंको अपना स्वरूप-साक्षात्कार कराया था। यद्यपि कालियदमन, गोवर्धनधारण, अघासुरादिके वध तथा अन्य अनेकों अतिमानुष लीलाओंके कारण गोपगण यह समझ चुके थे कि कृष्ण कोई साधारण पुरुष नहीं हैं। फिर वरुणलोकमें उनका ऐश्वर्य देखकर तो उन्हें यह निश्चय हो ही गया था कि ये साक्षात् भगवान् हैं तथापि अन्तमें भगवान्‌ने अपने योगबलसे उन्हें अपने निर्विशेष स्वरूपका साक्षात्कार कराया और फिर वैकुण्ठ-लोकमें ले जाकर अपने सगुण स्वरूपका भी दर्शन कराया। इस प्रकार उन्होंने उन्हें रासदर्शनका अधिकारी बनाया। यह अधिकार बिना स्वरूप-साक्षात्कारके प्राप्त नहीं होता। आजकल व्रजमें इसे छठी भावना कहते हैं 'छठी भावना रासकी'। पहली पाँच भावनाको क्रमशः पार कर लेनेपर ही रासदर्शनका अधिकार प्राप्त होता है। पाँचवीं भावनामें देह-सुधि भूल जाती है 'पाँचे भूले देह-सुधि'। अर्थात् इस भावनामें निर्विशेष परब्रह्ममें स्थिति हो ही जाती है। ऐसी स्थिति हुए बिना पुरुष रासदर्शनका अधिकारी नहीं होता।

श्रीमद्भागवतमें जहाँ गोपोंको वैकुण्ठधाममें ले जाकर अपने सगुण स्वरूपका साक्षात्कार करानेकी बात आती है वहाँ उनके प्रत्यावर्तनके विषयमें कोई उल्लेख नहीं है। इससे कुछ लोगोंका ऐसा मत है कि यह भगवान्‌के नित्य-धामकी नित्यलीलाका ही वर्णन है। इस लोकमें यह

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लीला हुई ही नहीं थी। यदि ऐसी बात हो तब तो भगवान्‌की इस लोकोत्तर लीलाके विषयमें कोई आपत्ति हो ही नहीं सकती, क्योंकि इस लोकमें न होनेके कारण इसमें इस लोकके नियमोंकी रक्षा करना आवश्यक नहीं हो सकता।

किन्तु यदि भगवान्‌ने इस लोकमें ही यह लीला की हो तब भी उनके—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

—इस कथनसे जो विरोध प्रतीत होता है वह ठीक नहीं, क्योंकि भगवान्‌के विषयमें ऐसा नियम नहीं है कि वे लोकमर्यादाका अतिक्रमण करते ही न हों। जब उनके अनन्य भक्त और तत्त्वनिष्ठ मुनिजन भी मर्यादातिलङ्घन करते देखे गये हैं तो साक्षात् भगवान्‌के विषयमें तो कहना ही क्या है। उनके पादपद्ममकरन्दका सेवन करनेवाले मुनिजनोंकी गति-विधि भी सर्वसाधारणके लिये सुबोध नहीं हुआ करती।

यत्पादपद्ममकरन्दजुषां मुनीनां
वर्त्मास्फुटं नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यम्।

वस्तुस्थिति तो ऐसी है कि आत्मतत्त्व सभी प्रकारके शुभाशुभ कर्मोंसे शून्य है। जब कि उस आत्मतत्त्वको जाननेवाले महापुरुषोंकी अविलुप्त महिमा भी कर्मोंसे न्यूनाधिक नहीं होती तो श्रीकृष्णरूपमें अवतीर्ण साक्षात् परमात्मतत्त्वका किसी भी शुभाशुभ कर्मसे किस प्रकार संश्लेष हो सकता है? कूटस्थ स्वयंप्रकाश परब्रह्ममें अध्यस्त देह, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि उपाधियोंके व्यापारयुक्त होनेसे ही उस निर्व्यापार आत्मतत्त्वमें व्यापारवत्ताकी कल्पना होती है। इस प्रकारके कल्पित गुण या दोषोंसे अधिष्ठानमें कोई गुण या दोष नहीं हो सकता। 'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्' 'घनैरुपैतैर्विगतै रवेः किम्' इत्यादि श्रुति-स्मृति भी परमात्माको सब प्रकारके कर्मोंसे असंस्पृष्ट बतलाती हैं। अतः प्रकृति और प्राकृत सब प्रकारके प्रपञ्चसे अतीत परमात्मा सब प्रकारकी शृङ्खलाओंसे शून्य है।

वस्तुस्थिति ऐसी होनेपर भी अनादि एवं अनिर्वचनीय अविद्याजनित मायामय शोकमोहादि सन्तापोंसे सन्तप्त प्रत्येक प्राणीको दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्तिके लिये अनेक उपायोंका अन्वेषण करना ही पड़ता है; इसीसे मायामय देहादिकी चेष्टारूप कर्मोंमें उनके शुभाशुभ भेदसे विधि या निषेध किया जाता है। जिस प्रकार विषयोंकी निवृत्ति विषसे ही की जाती है उसी प्रकार मायामयी उच्छृङ्खल प्रवृत्तियोंके निराकरणके लिये वैदिक और स्मार्त शृङ्खलाओंको स्वीकार किया जाता है। अभिप्राय यह है कि प्रपञ्चके हेतुभूत अनादि अज्ञानकी निवृत्ति परमात्मतत्त्वके ज्ञानके बिना नहीं हो सकती; परमात्माके ज्ञानके लिये मनःसमाधानकी आवश्यकता है, क्योंकि उस परमतत्त्वका अपरोक्ष साक्षात्कार निर्वृत्तिक चित्तद्वारा ही हो सकता है। मनोनिरोधके लिये देह और इन्द्रियादिकी चेष्टाओंका निरोध होना चाहिये। इनका निरोध सहसा नहीं हो सकता; पहले उनकी प्रवृत्तिको नियमित करना होगा और उन्हें नियमित करनेके लिये ही विधि-निषेधात्मक वैदिक-स्मार्त कर्मोंका विधान किया गया है। इसीसे कहा है—

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विधि-निषेधकी अपेक्षा अज्ञानियोंको ही है; जो जन्म-मरणरूप संसारसे अतीत मृत्युञ्जय तत्त्वदर्शी हैं उन्हें भी इस प्रकारकी शृङ्खला अपेक्षित नहीं है; फिर जो उन मुक्तात्माओंके भी गन्तव्य हैं उन श्रीभगवान्‌के लिये तो ऐसी कोई शृङ्खला हो ही कैसे सकती है? भगवान्‌में तो दो विरुद्ध धर्मोंका आश्रयत्व देखा ही जाता है। वे 'अणोरणीयान्' भी हैं और 'महतो महीयान्' भी। भगवान्‌में ही नहीं, यह बात तो कारणमात्रमें रहा करती है। देखो, एक ही पृथिवीतत्त्वमें दुर्गन्ध और सुगन्ध दोनों ही रहते हैं। अतः भगवान् एक ही साथ दोनों प्रकारके आचरण दिखलावेंगे। वे योगारूढोंके लिये समस्त वैदिक और स्मार्त शृङ्खलाओंका उच्छेद करके एकमात्र भगवान्‌में ही स्वारसिकी प्रीतिका उपदेश करेंगे, तथा आरुरुक्षुओंके लिये अपने वर्णाश्रम धर्मका यथावत् पालन करनेकी आवश्यकता प्रदर्शित करेंगे।

जो भगवच्चरणानुरागी हैं वे भी अपने वर्णाश्रमधर्मका तिरस्कार नहीं किया करते। हाँ, यह अवश्य है कि उनकी मुख्य लगन भगवत्प्रेमके लिये ही होती है। उनकी यह भावना रहती है कि—

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वनपायिनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वे यह भी चाहते हैं कि उनकी लौकिक-वैदिक प्रवृत्ति यथावत् बनी रहे। तथापि भगवत्प्रेमका अतिरेक होनेपर उसमें विशृङ्खलता हो ही जाती है। यही बात आत्माराम तत्त्वज्ञोंके विषयमें भी समझनी चाहिये। भगवान्‌के दिव्य मङ्गलमय रूपमें प्रादुर्भूत होनेके जो मुख्य उद्देश्य हों सबसे पहले उन्हींका निश्चय करना उचित भी है; इसलिये अब हमें यह विचार करना है कि भगवान्‌के अवतारका प्रधान प्रयोजन क्या है? भगवान् स्वयं कहते हैं—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

परन्तु यह बात ऐसी है जैसे मच्छरको मारनेके लिये तोप लगायी जाय। भला जो भगवान् सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् हैं, जिनके सङ्कल्पमात्रसे सम्पूर्ण प्रपञ्च बन गया है तथा जिनके विषयमें यह कहा जाता है कि—

निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि स्मित-
मेतस्य चराचरम् अस्य च सुप्तं महाप्रलयः।

उन्हें क्या इस तुच्छ कार्यके लिये अवतार लेनेकी आवश्यकता है? अतः इसका तो कोई ऐसा कारण होना चाहिये जहाँ भगवान्‌की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता कुण्ठित हो जाती हो और जिसके लिये उन्हें दिव्य मङ्गल विग्रह धारण करना अनिवार्य हो जाता हो।

हमें इसका उत्तर महारानी कुन्तीके इन शब्दोंसे मिलता है—

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्।
भक्तियोगविधानार्थं कथं पश्येमहि स्त्रियः॥

कुन्ती कहती हैं—भगवन्! जो अमलात्मा परमहंस मुनि हैं उनके लिये भक्तियोगका विधान करनेके लिये आपका अवतार होता है; हम स्त्रियाँ इस रहस्यको कैसे समझ सकती हैं। अब हम इस हेतुकी महत्ताका विचार करते हैं। यहाँ भगवान्‌के अवतारका प्रयोजन अमलात्मा मुनियोंके लिये भक्तियोगका विधान करना बतलाया गया है। जैसे कर्मका स्वरूप द्रव्य और देवता हैं उसी प्रकार भक्तिका स्वरूप भजनीय है। भजनीयके बिना भक्ति नहीं हो सकती। प्रेमलक्षणा भक्तिका आलम्बन कोई अत्यन्त चित्ताकर्षक और परम अभिलषित तत्त्व ही हो सकता है। जो महामुनीश्वर प्रकृति-प्राकृत प्रपञ्चातीत परमतत्त्वमें परिनिष्ठित हैं उनके मनका आकर्षक भगवान्‌के सिवा प्राकृत पदार्थोंमें तो कोई नहीं हो सकता। अतः इस बातकी आवश्यकता होती है कि उनके परमाराध्य भगवान् ही अचिन्त्य एवं अनन्त सौन्दर्यमाधुर्यमयी मङ्गलमूर्तिमें अवतीर्ण होकर उन्हें भजनीयरूपसे अपना स्वरूप समर्पणकर भक्तियोगका सम्पादन करें क्योंकि जो कार्य पूर्ण परब्रह्म परमात्माके अवतीर्ण हुए बिना सम्पन्न न हो सकता हो, जिसके सम्पादनमें उनकी सर्वशक्तिमत्ता और सर्वज्ञता कुण्ठित हो जायँ उसीके लिये उनका अवतीर्ण होना सार्थक हो सकता है।

वस्तुतः उन महात्माओंके लिये भजनीय स्वरूप समर्पण करनेमें भगवान्‌की सर्वज्ञता एवं सर्वशक्तिमत्ता कुण्ठित हो जाती है, क्योंकि ये शक्तियाँ शुद्ध परब्रह्मसे व्यतिरिक्त नहीं हैं ये उन्हींके अन्तर्गत हैं। अतः जो लोग शुद्ध परब्रह्ममें ही निष्ठा रखनेवाले हैं उनपर इनका प्रभाव नहीं पड़ सकता। यदि हम वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार स्पष्टतया कहें तो यों समझना चाहिये कि ये सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता प्रकृति और प्राकृत अंशको लेकर ही हैं। ये मायाविशिष्ट ब्रह्मके गुण हैं। इसीसे तत्त्वज्ञोंपर इनका प्रभाव नहीं होता, क्योंकि वह गुणातीत होता है; इसलिये गुण उसे अपनी स्थितिसे विचलित नहीं कर सकते। 'गुणैर्यो न विचाल्यते'।

किन्तु फिर भी कहा जा सकता है कि तत्त्वज्ञका प्रारब्ध तो शेष रह ही जाता है। इसीसे प्रारब्धभोगके निर्वाहक पदार्थ उसके भी मन और इन्द्रियादिको अपनी ओर खींच लेते हैं। जिस प्रकार प्रारब्धभोगके लिये उसकी विषयोंमें प्रवृत्ति होती है उसी तरह विलक्षण कोई रूपमाधुरी उसे अपनी ओर खींच ले सकती है। तत्त्वज्ञको भी क्षुधातुर होनेपर अन्नभक्षणमें प्रवृत्त होना ही पड़ता है तथा तृषित होनेपर उसे जलकी इच्छा भी होती ही है, क्योंकि 'पश्वादिभिश्चाविशेषात्' इस सूत्रके अनुसार भोजनाच्छादनादिमें तो पशु आदिसे उनकी समानता ही है। फिर भगवान्‌के अवतरणकी क्या आवश्यकता है और उनकी सर्वशक्तिमत्तादि क्यों कुण्ठित होंगी? इसका निराकरण करनेके लिये उपर्युक्त श्लोकमें 'अमलात्मनां परमहंसानां मुनीनाम्' ऐसा कहा गया है। जिस प्रकार हंस परस्पर मिले हुए दूध और पानीको अलग-अलग कर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

देता है उसी तरह जो आत्मा-अनात्मा, दृक्-दृश्य अथवा पुरुष-प्रकृतिका विवेक कर सकता है वह हंस कहलाता है। यह योग्यता सांख्यवादियोंमें भी देखी जाती है। इसलिये वे भी 'हंस' कहे जा सकते हैं। वे क्षीर-नीर-विवेकके समान दृक्-दृश्य अथवा आत्मा-अनात्माका विवेक कर सकते हैं; किन्तु उनकी दृष्टिमें वे दोनों ही तत्त्व सत्य रहते हैं। वेदान्तियोंकी दृष्टिमें दृश्यकी सत्ता नहीं रहती। इसलिये उन्हें परमहंस कहा जाता है। इस प्रकार जिसकी दृष्टिमें सम्पूर्ण दृश्यका बाध होकर केवल शुद्ध चेतन ही अवशिष्ट रह गया है उसे परमहंस कहते हैं। ऐसी स्थितिमें भी विचारदृष्टिसे तो दृश्यका अत्यन्ताभाव निश्चित हो जाता है किन्तु उसकी प्रतीति तो बनी ही रहती है। कहा है—

'आरूढयोगोऽपि निपात्यतेऽधः
सङ्गेन योगी किमुताल्पसिद्धिः।'
'तावन्न योगगतिभिर्मतिरप्रमत्ता
यावद्गदाग्रजकथासु रतिं न कुर्यात्॥'

इससे सिद्ध होता है कि तत्त्वज्ञको भी कभी-कभी भगवान्‌की विश्वविमोहिनी मायाके अधीन हो जाना पड़ता है। दुर्गासप्तशतीमें कहा है—

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥

श्रीगोसाईंजी महाराज कहते हैं—

सो ग्यानिहुकर मन अपहरई। बरियाईं बिमोहबस करई॥

अतः सिद्ध हुआ कि प्रारब्धवश तत्त्वज्ञका भी पतन हो जाता है। मनुजीने भी कहा है 'ज्ञानं क्षरति' अर्थात् ज्ञान बह जाता है। इसीलिये ऐसा कहा जाता है कि तत्त्वज्ञ होनेपर भी सदा सावधान रहना चाहिये। अतः यहाँ 'अमलात्मनाम्' ऐसा पद और दिया है। अर्थात् जो मल-विक्षेप यानी रजोलेश-तमोलेशसे निर्मुक्त हैं; जिन महानुभावोंके चित्तोंको खींचनेवाली कोई भी लौकिक सत्ता नहीं है और जो सदा ही दृश्यातीत शुद्ध चेतनमें ही परिनिष्ठित रहते हैं उनका आकर्षण किसी लौकिक पदार्थसे नहीं हो सकता। अतः उन्हें अपनी परमानन्द-मयी अहैतुकी भक्ति प्रदान करनेके लिये उनके परमाराध्य और एकमात्र ध्येय-ज्ञेय शुद्ध परब्रह्म ही अपनी लीला-शक्तिसे सगुण विग्रह धारण करते हैं।

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि उन्हें भक्ति प्रदान करनेकी ऐसी आवश्यकता ही क्या है? इसका उत्तर यही है कि भगवान् ऐसा करके उन्हें परमहंससे श्रीपरमहंस बनाते हैं। तत्त्वज्ञ लोग यद्यपि सजातीय, विजातीय एवं स्वगतभेद-शून्य शुद्ध परब्रह्मका अनुभव करते हैं परन्तु प्रारब्धक्षय-पर्यन्त निरुपाधिक नहीं होते। यद्यपि उन्होंने देहेन्द्रियादि-का मिथ्यात्व निश्चय कर लिया होता है तथापि व्यवहार-कालमें इनकी सत्ता बनी ही रहती है। समाधिकालमें भी निर्वृत्तिक मनरूप उपाधि रहती ही है। इसीसे वाचस्पति मिश्रने कहा है कि निरुपाधिक ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं होता। संक्षेपशारीरककार भी अविद्याका आश्रय शुद्ध चेतनको ही मानते हैं। उनका कथन है—

आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला।

अर्थात् अज्ञानका आश्रय और विषय अखण्ड शुद्ध चेतन ही है। किन्तु जिस समय शुद्ध चेतन अज्ञानका आश्रय और विषय होता है उस समय वह अज्ञानोपहित तो होना ही चाहिये। अतः इसका तात्पर्य यही है कि अज्ञान अज्ञानातिरिक्त उपाधिशून्य ब्रह्मको ही विषय करता है। जिस प्रकार संसारका आदि मूलाज्ञान है उसी प्रकार उसका अन्त भी चरमावृत्ति है। वस्तुतः मूलाज्ञान और चरमावृत्तिमें कोई अन्तर नहीं है। चरमावृत्ति परब्रह्मको विषय करती है—इसका तात्पर्य यही है कि वह चरमावृत्तिसे व्यतिरिक्त उपाधिहीन ब्रह्मको विषय करती है, क्योंकि चरमावृत्ति तो वहाँ मौजूद ही है। निरुपाधिक ब्रह्मका अनुभव तो प्रारब्धक्षयके अनन्तर उपाधिका नाश होनेपर ही होता है।

किन्तु जिस समय वे ही शुद्ध परब्रह्म अपनी अचिन्त्य लीलाशक्तिसे कोटिकामकमनीय महामनोहर श्रीकृष्ण-मूर्त्तिमें प्रादुर्भूत होंगे उस समय उस तत्त्वज्ञको भी उनका वह दिव्य दर्शन निर्विशेष ब्रह्मदर्शनकी अपेक्षा अधिक आनन्दप्रद प्रतीत होगा। जिस प्रकार सूर्यको दूरवीक्षण यन्त्रद्वारा देखनेपर उसमें जो विचित्रता प्रतीत होती है वह केवल नेत्रोंसे देखनेपर प्रतीत नहीं होती, उसी प्रकार लीलाशक्त्युपहित सगुण ब्रह्मदर्शनमें जो आनन्दानुभव होता है वह अशेष-विशेषशून्य शुद्ध परब्रह्मके साक्षात्कारमें

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भी नहीं होता। इसीसे श्रीरामचन्द्रका दर्शन होनेपर तत्त्वज्ञशिरोमणि महाराज जनकने कहा था—

इनहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा॥
सहज बिरागरूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद्र चकोरा॥

महाराज जनकके इस बरबस ब्रह्मसुखत्याग और रामदर्शनानुरागमें क्या कारण था? केवल यही कि अबतक वे शुद्ध परब्रह्मरूप सूर्यको अपने नेत्रोंसे ही देखते थे, किन्तु इस समय वे उसके लीलाशक्तिरूप दूरवीक्षणोपहित स्वरूपका दर्शन कर रहे थे। केवल नेत्रसे दीखनेवाले आदित्यकी अपेक्षा दूरवीक्षणोपहित आदित्य-दर्शनमें विशेषता है ही।

यहाँ एक बात और स्मरण रखनी चाहिये। आदित्यका वास्तविक स्वरूप कितना वैचित्र्यमय है—यह बात हमारे अनुमानमें भी नहीं आ सकती। इसका अनुभव तो आदित्यकी पूर्ण सन्निधि प्राप्त होनेपर ही हो सकता है। इस समय हमें उसका जो कुछ रूप दिखायी देता है वह किसी-न-किसी उपाधिसे संश्लिष्ट ही होता है। जिस प्रकार दूरवीक्षण यन्त्र उसकी उपाधि है उसी प्रकार मेघ भी है। किन्तु वह उसके स्वरूपकी आवरक है; उसके कारण हमें उसकी स्फुट प्रतीति नहीं हो सकती। इसी प्रकार इधर ब्रह्मदर्शनमें भी जहाँ भगवान्‌की लीलाशक्ति भगवद्दर्शनमें पटुता प्रदान करनेवाली है वहाँ मल, विक्षेप और आवरण उसके प्रतिबन्धक हैं। इसीलिये अञ्जन वस्तुतः ब्रह्मदर्शन करते हुए भी उसे अदृष्ट ही समझते हैं। किन्तु भगवान्‌के स्वरूपकी स्फुट और यथावत् अनुभूति तो सम्पूर्ण उपाधियोंसे मुक्त होकर उनके साथ तादात्म्य होनेपर ही होगी।

उपर्युक्त कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मदर्शी तत्त्वज्ञगण जिस निर्विशेष शुद्ध ब्रह्मका साक्षात्कार करते हैं उसकी अपेक्षा भगवान्‌का सगुण दिव्य मङ्गलविग्रह अधिक आकर्षक क्यों है। इस विषयमें भावुकोंका ऐसा कथन है कि जिस प्रकार पार्थिवत्वमें समानता होनेपर भी पाषाणादिकी अपेक्षा हीरा अधिक मूल्यवान् होता है तथा कपासकी अपेक्षा उससे बना हुआ वस्त्र बहुमूल्य होता है उसी प्रकार शुद्ध परब्रह्मकी अपेक्षा उसीसे विकसित भगवान्‌की दिव्य मङ्गलमयी मूर्ति कहीं अधिक माधुर्यसम्पन्न होती है। इक्षुदण्ड स्वभावसे ही मधुर है किन्तु यदि उसमें कोई फल लग जाय तो उसकी मधुरिमाका क्या कहना है? मलयाचलोत्पन्न चन्दनके वृक्षमें यदि कोई पुष्प आ जाय तो वह कैसा सौरभसम्पन्न होगा? इसी प्रकार भगवान्‌की सगुण मूर्तिके सम्बन्धमें समझना चाहिये।

यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि भगवान्‌के निर्गुण निर्विशेष स्वरूपमें वह परमानन्द है ही नहीं जो कि उनकी सगुण मूर्तिमें है। कारण, इक्षुदण्डकी मधुरिमा, पाषाणादिका मूल्य और चन्दनादिकी सुगन्धि—ये सब सातिशय हैं। इनमें न्यूनाधिकता हो सकती है। परन्तु भगवान्‌में जो सौन्दर्य, माधुर्य एवं आनन्दादि हैं वे निरतिशय हैं। इसलिये चाहे भगवान्‌की सगुण मूर्ति हो चाहे निर्गुण, इनमें कोई तारतम्य नहीं हो सकता; क्योंकि जो तत्त्व निरतिशय बृहत् और निरतिशय आनन्दमय है उसीको तो निर्गुण ब्रह्म कहते हैं। जहाँ बृहत्ता अथवा आनन्दका तारतम्य है वह तो ब्रह्म ही नहीं हो सकता। जहाँ यह तारतम्य समाप्त हो जाता है उस अपार संवित्सुखसागरहीको तो परब्रह्म कहते हैं। जो तत्त्व देश-कालवस्तुकृत परिच्छेदसे रहित है वही अनन्त ब्रह्म है; 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।' तथापि यहाँ जो विलक्षणता बतलायी गयी है वह भगवदभिव्यक्तिके तारतम्यको लेकर भावुक भक्तोंके हृदयकी भावना भी हो सकती है। तात्पर्य यह है कि तत्त्वज्ञके अन्तःकरणपर अभिव्यक्त परब्रह्मके माधुर्यादिकी अपेक्षा स्वयं उन्हींकी परमाह्लादिनी लीलाशक्तिपर अभिव्यक्त भगवत्स्वरूपके सौन्दर्य-माधुर्यादि अत्यन्त विलक्षण हो सकते हैं। किन्तु वास्तवमें तो सगुणोपासकके लिये जैसा सगुण स्वरूप परमानन्दमय है वैसा ही निर्गुणोपासकके लिये भगवान्‌का निर्गुण-निर्विशेष स्वरूप भी है। (क्रमशः)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

'आज तो हमने तुम्हें पर्दानशीं देख लिया'

(लेखक—श्रीगोपीनाथजी)

पागल हो गया था। तेरे ही कारण मैंने घर-बार छोड़ा था। माता, पिता, भाई, बन्धु, सगे, सजाती सबसे नाता तोड़ा था। तेरे ही लिये मैं दर-दरका भिखारी बना। तुझे ही पानेके लिये मैंने जङ्गलोंकी खाक छानी। तेरे ही वियोगमें मैंने रेगिस्तानोंके चक्कर लगाये। तुझे पानेके लिये मैंने रातको रात न समझा। कौन-सा स्थान था जो मुझसे छूटा? ढूँढ़ा बहुत मगर तू न मिला!

चन्द्र मेरी मूर्खतापर खिलखिलाकर हँसता था। तारे मेरी मादकतापर मुस्कुराते थे। झरने मेरे पागलपनपर अट्टहास करते थे। वृक्ष मेरे मतवालेपनपर अँगुलियाँ उठाते थे। उच्च शिखर मेरी बदहोशीपर रहम खाते थे। बादल मेरी दशा देख आँसू बहाते थे। वनके जीव-जन्तु मुझपर दया दर्शाते थे, किन्तु तू?

मैं थक गया। ज्येष्ठकी दुपहरी। पक्षी भी साँस रोके अपने घोंसलोंमें पड़े थे। चीलें पानीके लिये बिलबिला रही थीं। मैं प्यासा था। लू 'साँय साँय' कर खानेको दौड़ती थी। चलता रहा। किनारेपर पहुँचा। देखकर कुछ भय-सा लगा। रेतका सागर। चारों ओर रेत-ही-रेत! वायु रेतकी सहायता पा मुँहपर झपटा मारता था। 'साँय साँय' का शब्द अधिक प्रचण्ड हो गया। पैरोंके छालोंसे रक्त बह रहा था। होंठ सूख गये। साहस टूट गया। मैं बैठनेही-वाला था कि मधुर ध्वनि सुनायी पड़ी। 'अ हा! हा! हा! तेरा ही मधुर शब्द था। तू मेरी दुर्दशापर हँस रहा था। मैं दौड़ पड़ा। गिरा। फिर उठा। गिरा। मुँह और आँखोंमें रेत भर गयी। दौड़ा। फिर गिरा। जलने लगा। उठा न गया। छटपटाने लगा। मूर्च्छित हो गया। किन्तु वाह रे तू!

बादल भी हटनेका नाम नहीं लेते थे और मैं भी। वे बरसानेसे नहीं हटते थे मैं चलनेसे। घनघोर वन। पानी-ही-पानी भरा था! सिंहोंकी दहाड़ विद्युत्-गर्जनसे अधिक प्रचण्ड न हो सकी। कन्दराओंमें भी भयानक गर्जन थी किन्तु उधार ली हुई। ग्रीष्म ऋतुमें मस्त और धीमी चालसे चलनेवाली भागीरथी भी भयानक वेशमें थी। ओह! बड़ा विकराल रूप था। दूर खड़ेको जल अन्तरिक्ष-रेखासे मिला दीख पड़ता था। चल रहा था। रपट जाता था। चोट लगती थी। खून निकल आता था। फिर चल देता था। मुँहके बल गिर पड़ता था किन्तु उठता था। किनारेपर पहुँचा। मीलोंतक जल-ही-जल। जल और स्थलमें होड़ लगी थी। जल स्थलसे ग्रीष्म ऋतुका बदला ले रहा था। बूँदोंके आघातका शब्द भयङ्करताको और भी भयङ्कर कर रहा था। मार्ग बन्द। 'अभीतक नहीं मिले। क्यों?' कहकर मैं सुरसरी पार देखने लगा। 'पगले! मैं यहाँ हूँ' पारसे सुधा-स्वर आया। मुझमें ताब कहाँ। कूद पड़ा। भीषण जलका ज़ोर। नीचे गया। किन्तु महिमा तेरी!

मनुष्य घरसे बाहर निकलते डरते थे। यदि निकलते थे तो पूरे साज़ोसामानके साथ। दाँत कट-कटाते थे। शरीर थरथराता था। हाथ-पैर जमे जाते थे। जाड़ा क्या काल था। माघका महीना। उसपर बर्फ़ीले पर्वतका शिखर। पैर उठाये नहीं उठता था किन्तु रुका भी नहीं जाता था। शरीर दर्द कर रहा था। 'अभीतक पर्दा' मुँहसे बार-बार निकलता था। रात्रिका अन्धकार। चन्द्रदेवको भी दया न आयी।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तारोंने भी साथ न दिया। किन्तु मेरा तो जीवन ही 'खोजमय' था। चलनेके सिवा कुछ सूझता ही न था। चोटीपर था। पैर आगे बढ़ाया। टिकाव न मिला। पीछे हटा लिया। पुनः आगे बढ़ाया। पीछेवाला भी डिगा। प्यारे, 'पर्दा'-शब्दोंके साथ तारा-जैसा टूटा। धम्मसे गिरा। लुढ़का। बेहोश हो गया, क्या हुआ? किन्तु धन्य है तुझे!

आँखें खुलीं। घोर आश्चर्य। सामने सुन्दर नवयुवक साधु। दूसरे ही पल वह वहाँ न था। सामने पेड़के ऊपर वही। मैं उठकर टकटकी बाँध निहारने लगा। बसन्तकी सरस ऋतु। कुटियामें चारपाईपर था। न जाने कितने दिनोंसे यहाँ पड़ा था। पहिले कई बार भी क्या इसीने तो नहीं बचाया था। निगाह घूमी। दीवारके सहारे वह खड़ा था। मैं दौड़ा। वृक्षका पत्ता तोड़ा। चीरा। उसीका चित्र। कुटियाके ऊपर निगाह गयी। 'वही था वहाँ भी'। सामने बहती कालिन्दीका जल दीख पड़ा। हाथमें उठाया 'उसीकी तस्वीर'। नीले आकाशपर निगाह गयी, 'उसीके शरीरकी नीलिमा'। गुलाबकी पंखड़ियाँ नोची 'वही बैठा'। कमलके पत्तेपर 'उसीका आसन'। कोयल कूकी 'उसीका शब्द'। सूर्यकी ओर देखा 'उसीकी ज्योति'। शेर आकर सामने खड़ा हो गया 'उसीका नक़्शा'। अपने हाथको देखा 'उसीका फ़ोटो'। पैरपर निगाह पड़ी 'वही' जहाँ देखा 'वही'। आँखें बन्द हो गयीं 'हृदयमें वही, होठोंपर मधुर मुरली और सरस तान।' मैंने भी मुरलीकी तानसे गलेकी तान मिलायी और नाचता गाने लगा। वह बजा रहा था मैं गा रहा था 'आज तो हमने तुम्हें परदानशीं देख लिया।'

उसके प्रति

(रचयिता—डी० आर० गुप्त, एम० ए०)

मैं सूर्य! तेरी कोई, भूली हुई किरण हूँ
मैं धूसरित हूँ सागर! पर तेरे जलका कण हूँ।
अस्थिर पयस्विनी मैं हूँ शान्त! तेरी छाया
सुन्दर! मैं तेरी कोई बिछुड़ी हुई फबन हूँ।
हल्की, अमर-सी गुञ्जन हूँ दिव्यगान! तेरी
वक्ता! मैं तेरा कोई, भटका हुआ वचन हूँ।
तुझ प्रेमके सरोवरको ढूँढ़ता हूँ प्यासा
मेरे पिता! मैं तेरा खोया हुआ सुवन हूँ।
तुझ प्राणधनमें मिलके मैं नाथ क्या नहीं हूँ?
तुझसे पृथक् न कुछ हूँ, बस एक आवरण हूँ।
तेरा हूँ तुझसे आया तुझहीमें जा मिलूँगा
पर तत्त्व मैं सदा ही तुझसे अभिन्न तन हूँ।
जबतक कि 'मैं' बना है सम्बन्ध हैं बहुत-से,
'मैं' के प्रयाण करते ही मैं स्वयं सजन हूँ।
इस खोखले जगत्से अब तो हटाओ मनको
कह दो मैं 'राम' पर सब कुछ वारकर मगन हूँ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीकौशल्यामाताके चरित्रसे शिक्षा

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

स्वायंभुव मनु अरु सतरूपा। जिन्ह तें भइ नर-सृष्टि अनूपा॥
दंपति धर्म आचरन नीका। अजहुँ गाव स्रुति जिन्हकर लीका॥
तेहि मनु राज कीन्ह बहुकाला। प्रभु आयसु सब बिधि प्रतिपाला॥
बरबस राज सुतहि नृप दीन्हा। नारिसमेत गवन बन कीन्हा॥
तीरथबर नैमिष बिख्याता। अति पुनीत साधक सिधिदाता॥

द्वादस अच्छर मंत्रवर जपहिं सहित अनुराग।
बासुदेव पदपंकरुह दम्पति मन अति लाग॥

करहिं अहार साक फल कंदा। सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा॥
पुनि हरिहेतु करन तप लागे। बारि अहार मूल फल त्यागे॥
उर अभिलाष निरंतर होई। देखिय नयन परम प्रभु सोई॥

× × ×

प्रभु सरबज्ञ दास निज जानी। गति अनन्य तापस नृप-रानी॥
माँगु माँगु बर भइ नभ बानी। परम गँभीर कृपामृत सानी॥

× × ×

स्रवन सुधासम बचन सुनि, पुलक प्रफुल्लित गात।
बोले मनु करि दंडवत, प्रेम न हृदय समात॥

सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू। बिधि-हरि-हर-बंदित पद-रेनू॥
जो स्वरूप बस सिव मनमाहीं। जेहि कारन मुनि जतन कराहीं॥
जो भुसुंडि मन मानस हंसा। सगुन अगुन जेहि निगम प्रसंसा॥
देखहिं हम सो रूप भरि लोचन। कृपा करहु प्रनतारतिमोचन॥
दंपति-बचन परम प्रिय लागे। मृदुल बिनीत प्रेमरस पागे॥
भगतबछल प्रभु कृपानिधाना। बिस्वबास प्रगटे भगवाना॥

× × ×

हरष बिबस तनु दसा भुलानी। परे दंड इव गहि पद पानी॥
सिर परसे प्रभु निज करकंजा। तुरत उठाये करुनापुंजा॥

बोले कृपानिधान पुनि, अति प्रसन्न मोहि जानि।
माँगहु बर जो भाव मन, महादानि अनुमानि॥

× × ×

दानिसिरोमनि कृपानिधि, नाथ कहौं सतिभाउ।
चाहौं तुमहिं समान सुत, प्रभुसन कौन दुराउ॥

देखि प्रीति सुनि बचन अमोले। एवमस्तु करुनानिधि बोले॥
आप सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई॥

सतरूपहिं बिलोकि कर जोरे। देबि माँगु बर जो रुचि तोरे॥
जो बर नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपालु मोहि अति प्रिय लागा॥
प्रभु परंतु सुठि होत ढिठाई। जदपि भगत हित तुमहिं सुहाई॥
तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी। ब्रह्म सकल उर अंतरजामी॥
अस समुझत मन संसय होई। कहा जो प्रभु प्रमान पुनि सोई॥
जो निज भगत नाथ तव अहहीं। जो सुख पावहिं जो गति लहहीं॥

सो सुख सो गति सो भगति, सो निज चरन-सनेहु।
सो बिबेक सो रहनि प्रभु, मोहिं कृपा करि देहु॥

जिस समय श्रीस्वायम्भुव मनु और रानी शतरूपा-ने भगवत्प्राप्तिके लिये राज्य त्यागकर श्रीनैमिषारण्य-तीर्थमें घोर तपस्या की और परम प्रभु भगवान्‌को रामरूपमें पाकर उनसे अपना पुत्र बननेका वर प्राप्त किया, उस समय वर-याचनामें श्रीशतरूपा(कौशल्याजी) अपने पतिदेव महाराज मनुजीसे इतना और अधिक बढ़ गयीं कि 'हे नाथ! निज भक्तोंकी भाँति मुझको विवेकादि सुखोंको भी प्रदान कीजिये।' भगवान्‌ने उनकी ऐसी रुचि देखकर परम उदारताके साथ यहाँ-तक स्वीकार कर लिया कि 'इस समय जो कुछ भी तुम्हारे मनमें इच्छाएँ हो रही हैं—कथनसे जो कुछ भी छूट गया है, उन सबको मैंने प्रदान कर दिया। हे माता! मेरे अनुग्रहसे तुम्हारा अलौकिक विवेक अब कभी नहीं मिटेगा।' यथा—

सुनि मृदु गूढ़ रुचिर बर रचना। कृपासिंधु बोले मृदु बचना॥
जो कछु रुचि तुम्हरे मनमाँहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं॥
मातु बिबेक अलौकिक तोरे। कबहुँ न मिटै अनुग्रह मोरे॥

इसपर जब श्रीस्वायम्भुव मनुने देखा कि उनकी पत्नी 'शतरूपाजीने 'जो बर नाथ चतुर नृप माँगा' कहकर 'चतुर' शब्दसे यद्यपि मुझको आदर दिया है तथापि इनके मनमें यह बात अवश्य बैठ गयी है कि 'केवल पुत्र बननेका वर अपर्याप्त है, इसलिये मैं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विवेकादि सुखोंको भी क्यों न माँग लूँ ?' इससे यह टपक रहा है कि ये केवल पुत्र बननेका वर माँगनेसे हमारी अदूरदर्शिता समझ रही हैं।' अतः अपने माँगे हुए वरपर जोर देनेके लिये मनुजी फिर बोले—

अदि चरन मनु कहेउ बहोरी। और एक बिनती प्रभु मोरी॥
सुत बिषइक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ॥
मनिबिनुफनिजिमिजलबिनुमीना। ममजीवनतिमितुम्हहिंअधीना
अस बर माँगि चरन गहि रहेऊ। एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ॥

'हे प्रभो ! मेरी एक और 'विनती' है। आपके चरणोंमें मुझको पुत्रभावकी ही प्रीति हो। चाहे मुझे कोई महामूढ़ ही क्यों न कहे, परन्तु जिस प्रकार बिना मणिके सर्पके प्राण नहीं रहते, बिना जलके मछली नहीं जी पाती, उसी प्रकार आपके वियोगमें मेरे प्राण न रह सकें।' ऐसा वर माँगकर उन्होंने चरण पकड़ लिया, तब करुणानिधान भगवान्‌ने 'एवमस्तु' कहकर उसको भी स्वीकार कर लिया और आज्ञा दी कि 'अभी आप दोनों इन्द्रपुरमें वास करें, जब अयोध्यामें आपलोग राजा दशरथ और कौशल्या होंगे तब मैं वहाँ आकर आपलोगोंका पुत्र बनूँगा।'

तहँ करि भोग बिसाल, तात गये कछु काल पुनि।
होइहौ अवध-भुआल, तब मैं होब तुम्हार सुत॥

समय आनेपर भगवान् रामजीने श्रीचक्रवर्ती दशरथजी (स्वायम्भुव मनुजी) के यहाँ श्रीकौशल्याजी (शतरूपा) के गर्भसे अवतार लिया और अपने पूर्व प्रदान किये हुए वरके अनुसार विवेकजनित सुखोंको माता कौशल्याके भागमें रखकर पुत्र-विषयक आनन्द दम्पतिको दिया—

भये प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसिल्या-हितकारी।
हरषित महतारी मुनिमनहारी अदभुत रूप निहारी॥
लोचन अभिरामं तनु घनस्यामं निज आयुध भुज चारी।

प्रकट होते समय भगवान्‌ने अपना जो चतुर्भुज रूप दिखाया, उसको केवल कौशल्याजीने ही देखा—'हरषित महतारी·····अदभुत रूप निहारी।' इसीसे यहाँ केवल 'कौसिल्या-हितकारी' पद आया है। जब भगवान्‌ने पूर्व वरदानकी कथाको श्रीकौशल्याजीसे सुनाकर उनको सन्तुष्ट कर दिया—

कहि कथा सुनाई मातु बुझाई जेहि प्रकार सुत-प्रेम लहै।

तब उन्होंने प्रार्थना की कि प्रभो ! अब आप शिशुलीला करें—

कीजिय सिसुलीला अति प्रियसीला यह सुख परम अनूपा।

उसके पश्चात् भगवान् जब नर-बालक बनकर रुदन करने लगे—

सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर-भूपा॥

—तब दूसरोंको ज्ञात हुआ। श्रीदशरथादिको भी नर-बालकरूपका ही दर्शन मिल सका। परन्तु वह रूप केवल कौशल्याके ही लिये नहीं हुआ बल्कि गौ, ब्राह्मण, देवता और संत आदि सबका हितकारी हुआ। इसीलिये नीचेके दोहेमें—

बिप्र धेनु सुर संतहित लीन्ह मनुज अवतार।

—दिया गया है।

इस प्रकार भगवान्‌के नरवत् बाल-चरित्रमें यों तो दशरथ और कौशल्या दोनोंका भाग्य था—

दम्पति परम प्रेमबस कर सिसु चरित पुनीत।

परन्तु विवेकादिसम्बन्धी सुखपूर्ण लीलाएँ अकेले कौशल्यामाताके ही साथ होती रहीं। यथा—

एक बार जननी अन्हवाये। करि सिंगार पलना पौढ़ाये॥
निज कुल इष्टदेव भगवाना। पूजा हेतु कीन्ह असनाना॥
करि पूजा नैवेद्य चढ़ावा। आप गई जहँ पाक बनावा॥
बहुरि मातु तहँवा चलि आई। भोजन करत देखि सुत जाई॥
गइ जननी सिसुपहँ भयभीता। देखा बाल तहाँ पुनि सूता॥
बहुरि आइ देखा सुत सोई। हृदय कंप मन धीर न होई॥
इहाँ उहाँ दुइ बालक देखा। मतिभ्रम मोरि कि आन बिसेखा॥
देखि राम जननी अकुलानी। प्रभु हँसि दीन्ह मधुर मुसकानी॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दिखरावा मातहिं निज, अद्भुत रूप अखंड ।
रोम रोम प्रति लागे, कोटि कोटि ब्रह्मंड ॥

सूर्यवंशी कुलके इष्टदेव भगवान् श्रीरंगनाथजीकी पूजाके समय जब नैवेद्यका भोग लगाया गया तो श्रीरामजी जो श्रीरंगनाथजीके ही स्वरूप हैं, स्वयं भोजन करते पाये गये और इधर पालनेपर भी सोते हुए दिखायी पड़े । अतः दोनों जगह एक ही समान दो बालकोंक देखकर माता श्रीकौशल्याजी आकुल हो उठीं । तब श्रीभगवान्ने मुसकाकर अपने उस अद्भुत रूपको, जिसके रोम-रोममें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड थे, दिखाया । परन्तु इस रूपमें केवल कौशल्याजीको दर्शन दिया गया, श्रीदशरथजीको नहीं । बल्कि श्रीमुखसे इस रहस्यको दूसरोंसे बतलाना भी रोक दिया गया—

हरि जननिहि बहुविधि समुझाई।यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई

अतएव भगवान्के माधुर्यचरित्र, जैसे बाललीला, कर्णवेध, उपवीत, विवाहादिका सुख दम्पतिको मिला तथा ऐश्वर्यलीला अर्थात् चतुर्भुजरूप और विश्वरूपके दर्शनादिका आनन्द केवल कौशल्याजीको प्राप्त हुआ । जब वनगमनकी लीलाका अवसर आया और श्रीरघुनाथजी माता कौशल्यासे विदा होने लगे तब श्रीअम्बाजीने विवेकसूचक वचनोंसे रीति-नीतिकी कैसी शिक्षा दी, उसे देखिये—

राखि न सकहि न कहि सक जाहू। दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू॥
धर्म-सनेह उभय मति घेरी । भइ गति साँप छछूँदर केरी ॥
राखौं सुतहिं करौं अनुरोधू । धरम जाइ अरु बंधु बिरोधू ॥
कहौं जान बन तौ बड़ि हानी । संकट-सोच-बिबस भइ रानी ॥
बहुरि समुझि तियधर्म सयानी । राम भरत दोउ सुत सम जानी
सरल सुभाव राममहतारी । बोली बचन धीर धरि भारी ॥
तात जाउँ बलि कीन्हेउ नीका । पितु आयसु सब धरमक टीका॥

राज देन कहि दीन्ह बन, मोहि न सो दुख लेस ।
तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि, प्रजहिं प्रचंड कलेस ॥

जौ केवल पितु आयसु ताता । तौ जनि जाहु जानि बड़ि माता॥
जौ पितु-मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥
पितु बनदेव मातु बनदेवी । खग मृग चरन सरोरुह सेवी॥
अंतहु उचित नृपहि बनबासू । बय बिलोकि हिय होत हरासू॥
बड़भागी बन अवध अभागी । जो रघुबंस तिलक तुम्ह त्यागी॥
जौं सुत कहौं संग मोहि लेहू । तुम्हरे हृदय होय संदेहू ॥
पूत परम प्रिय तुम सबहीके । प्रान प्रानके जीवन जीके ॥
जो तुम्ह कहहु मातु बन जाऊँ । मैं सुनि बचन बैठि पछिताऊँ॥

यह बिचारि नहिं करउँ हठ, झूठ सनेह बढ़ाइ ।
मानि मातु कर नात बलि,सुरति बिसरि जनि जाइ॥

परम विवेकशीला श्रीकौशल्यामाताजीकी बुद्धिने जब धर्मका विचार किया तो 'नारिधर्म पतिदेव न दूजा' ही समुचित जान पड़ा, परन्तु हृदयमें पुत्र-स्नेहकी भी पराकाष्ठा थी ! अतएव धर्म और स्नेह दोनोंने उनकी बुद्धिको घेर लिया, न रोकते बनता था और न जानेकी आज्ञा देनेका ही साहस होता था । सोचने लगीं कि 'यदि पुत्रको रोकती हूँ तो अपना पातिव्रत धर्म जाता है, आपसमें बन्धु-विरोध भी होता है और यदि जानेके लिये कह देती हूँ तो बड़ी भारी हानि होती है ।' ऐसे धर्म-संकट और वियोग-दुःखकी चिन्तामें पड़कर रानी विवश हो गयीं, उनकी दशा साँप और छछूँदरकी-सी हो गयी*परन्तु सयानी—विवेकशीला होनेके कारण उनको शीघ्र ही अपना स्त्रीधर्म समझमें आ गया । उन्होंने (पातिव्रत-धर्मको प्रधानता दी और) अपने सगे पुत्र राम तथा सौतेले पुत्र भरतको एक समान माना । इससे बन्धु-विरोधकी जड़ उखड़ गयी और स्नेहके लिये उन्होंने मनमें खूब धैर्य धारण कर लिया । पश्चात् अपने सरल स्वभावसे बोलीं—'हे तात ! तुमने बहुत उत्तम निश्चय

* यदि साँप छछूँदरको पकड़कर निगल जाता है तो उसको कुष्ठरोगसे पीड़ित होकर मर जानेका भय रहता है और यदि छोड़ देता है तो उसकी हवासे अन्धा हो जानेकी आशंका रहती है । अतएव दोनोंमेंसे उसे कोई भी करते नहीं बनता ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

किया है, क्योंकि पिताकी आज्ञाका पालन करना ही सब धर्मोंमें श्रेष्ठ है। तुमको पिताने राज्य देनेका वचन दिया था, परन्तु वन दे दिया—इसका मुझको लेशमात्र भी दुःख नहीं है, (परन्तु चिन्ता इस बातकी है कि) तुम्हारे बिना भरत, स्वयं श्रीराजाजी और समस्त प्रजा आदि सबको बड़ा भारी कष्ट होगा। अतएव यदि केवल पिताकी आज्ञा है, तो माताकी आज्ञा न होनेके कारण तुम अपने इस धर्मका विचार करके रुक सकते हो कि 'पुत्रको पिता-माता दोनोंकी आज्ञाओंमेंसे माताकी आज्ञाको दसगुना अधिक गौरव देना चाहिये—

पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते।

(मनुस्मृति)

(इस कथनसे श्रीकौशल्या माता न तो पतिके विरुद्ध रोकती ही हैं क्योंकि ऐसा करनेसे उनका पातिव्रतधर्म चला जायगा और न वनगमनकी आज्ञा ही देती हैं) परन्तु यदि पिता और माता—

मातुर्दशगुणा मान्या विमाता धर्मभीरुणा।

—दोनोंकी आज्ञा है, तो तुमको सौ अयोध्याके समान वनको ही मानना उचित है। वनमें वनदेव ही तुम्हारे पिता बनेंगे और वनदेवियाँ ही तुम्हारी माता बनेंगी तथा वहाँके समस्त 'खग-मृग' तुम्हारे चरण-कमलोंकी सेवा करेंगे। यद्यपि वनवास राजाओंके चौथेपनका धर्म ही है, परन्तु तुम्हारे इस अल्प वयको देखकर हृदयमें हास उत्पन्न हो जाता है। अब वन ही बड़भागी है, अयोध्याका भाग्य फूट गया, क्योंकि तुम उसका त्याग कर रहे हो। यदि मैं तुम्हारे साथ चलनेके लिये कहती हूँ तो तुम्हारे मनमें सन्देह पैदा हो जायगा (जैसे, माताजी मुझको तो ऐसी धर्म-शिक्षा दे रही हैं और स्वयं पातिव्रत धर्मसे हट रही हैं। ऐसी धर्मज्ञा माताके इस कथनमें अवश्य कोई सन्देहकी बात है। अथवा पिताकी आज्ञा उदासीन होकर रहनेकी है और एक माता साथमें चलनेके लिये कहती हैं तो मैं किसकी आज्ञाका पालन करूँ?' अतएव मैं साथ चलनेके लिये नहीं कहती हूँ) हे पुत्र! तुम सबको परम प्यारे हो,—सबके आत्मा हो। सबके प्राणोंके प्राण हो और सब जीवोंके जीवन अर्थात् साक्षात् परमात्मा हो। फिर भी तुम मुझको अपनी माता बनाकर—स्वयं पुत्र बनकर मुझसे कह रहे हो कि 'मैं वनको जा रहा हूँ' और ऐसे हृदय-वेधक वचनको सुनकर भी मैं जीवित हूँ—बैठी-बैठी पछता रही हूँ (अर्थात् ऐसी अवस्थामें मुझको मर जाना उचित था)। अतः मैं अपने स्नेहको झूठा मानती हूँ और ऐसे झूठे स्नेहको बढ़ाकर हठ करना अनुचित समझती हूँ। तुमको पुत्र माननेका मेरा नाता तो झूठा हो गया, परन्तु तुम जो मुझको अपनी माता मान चुके हो, उस नाते मेरी स्मृति न भुला देना।'

श्रीकौशल्यामाताके चरित्रमें प्रबल पातिव्रतधर्मकी शिक्षाके साथ-साथ, जिसका रहस्य अन्तमें प्रकट होगा, दो और बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात यह है कि स्त्रियोंको अपनी छोटी-बड़ी सभी सौतों—जेठानी-देवरानियोंके साथ, कैसा व्यवहार रखना चाहिये—इसकी शिक्षा श्रीकौशल्या-माताके चरित्रसे ही मिलती है। यद्यपि कैकेयीजीकी घोर अनीति उनके सामने थी, वे बिना अपराधके ही प्यारे पुत्र रामजीको वनमें भेजवाकर कोई भी हक न रखनेवाले अपने बेटे भरतको राजगद्दी दिलवा रही थीं, तथापि श्रीकौशल्यामाताके हृदयमें तनिक भी द्वेषका सञ्चार नहीं हुआ। बल्कि वे अपने प्राणप्रिय पुत्रको ही शिक्षा देने लगीं—

जौ पितु-मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना॥

दूसरी बात यह है कि सारे जगत्की माताओंको अपने सगे, सौतेले आदि लड़कोंके साथ कैसा प्रेम रखना उचित है इसकी भी शिक्षा श्रीकौशल्यामातासे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ही मिलती है—जिन्होंने वैसी द्वेषजनक परिस्थितिमें पड़कर भी—'राम भरत दोउ सुत सम जानी' के निश्चयको दृढ़ रक्खा। इतना ही नहीं—दोनों पुत्रोंको समानरूपसे जाननेका प्रमाण भी दे दिया। जिस समय श्रीभरतजी अपने ननिहालसे लौटकर आये और विकल होकर श्रीकौशल्यामातासे मिलने गये, उस समयकी अवस्था देखिये—

भरतहिं देखि मातु उठि धाई। मुरछित अवनि परी झँइ आई॥
सरल सुभाय माय हिय लाये। अति हित मनहुँ राम फिरि आये॥

× × × ×

मत तुम्हार यह जो जग कहई। सो सपनेहु सुख सुयस न लहई॥
अस कहि मातु भरत उर लाये। थन पय स्रवहिं नयन जल छाये॥

श्रीभरतजीको देखते ही श्रीकौशल्याअम्बा आतुर होकर दौड़ीं परन्तु निर्बलताके कारण मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ीं। जब भरतजी जल्दीसे उनके समीप पहुँचे, तब उनको हृदयसे लगाकर इस तरह सुखी हुईं मानो श्रीरामजी वनसे लौटकर आ गये। श्रीभरतजी नाना प्रकारसे शपथ खा-खाकर अपनेको निर्दोष साबित करने लगे, इसपर श्रीकौशल्यामाताजीने यह कहा कि 'इस कार्यमें जो कोई तुम्हारी सम्मति बतलायेगा, वह स्वप्नमें भी सुख और सुयशका भागी न होगा' और फिर श्रीभरतजीको हृदयसे लगा लिया। उस समय उनके दोनों स्तनोंसे दूधकी धारा बहने लगी और नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर गये। अस्तु 'राम भरत दोउ सुत सम जानी' का इससे अधिक प्रबल प्रमाण और क्या होगा? माताके स्तनोंसे अपने ही बच्चेके लिये दूध टपकता है, दूसरेके बच्चेके लिये नहीं। इसके अतिरिक्त जब चित्रकूटमें जनकजीकी धर्मपत्नी सुनयना-से भेंट हुई, उस समयके 'मोरे सोच भरतकर भारी' तथा—

गूढ़ सनेह भरत मनमाहीं। रहे नीक मोहिं लागत नाहीं॥

—आदि वचन इस कथनकी और भी पुष्टि कर रहे हैं।

श्रीकौशल्याजीके चरित्रमें पातिव्रतधर्मकी शिक्षा कूट-कूटकर भरी पड़ी है। उनके सम्पूर्ण आदर्श चरित्र एकमात्र पतिदेवताकी अनुकूलताके लिये ही थे। ग्रन्थमें प्रमाण देखिये—

कौसल्यादि नारि प्रिय, सब आचरन पुनीत।
पति अनुकूल प्रेम दृढ़, हरि पद कमल बिनीत॥

परन्तु उनके चरित्रसे एक और भी शिक्षा निकल रही है। वह यह कि लोकहितके लिये पतिका अनुगमन छोड़कर दूसरी राह पकड़नेकी धृष्टताको कौन कहे, परलोक-हितके लिये भी यदि कोई स्त्री अपने पतिके अनुगमनको छोड़कर आगे बढ़ती है, तो उसके परिणाममें उसको पश्चात्ताप करना पड़ेगा। उदाहरणमें श्रीकौशल्यामाताको ही लीजिये। वे जब श्रीशतरूपाजीके रूपमें थीं, तब उन्होंने श्रीमनु महाराजसे आगे बढ़कर विवेकादिका वरदान माँगा था। अतः उसके फलस्वरूप श्रीकौशल्यारूपमें उनको पश्चात्ताप करना पड़ा, अपने ही मुँहसे अपने स्नेहको झूठा बतलाना पड़ा और प्राण न दे सकनेके कारण—

अस बिचारि नहिं करउँ हठ, झूठ सनेह बढ़ाइ।

—तक कहना पड़ा। साथ ही अपने पतिदेव श्रीदशरथजीके उसी 'सुत बिषइक····पदरति····' के वरदानके नाते जो उनको मनुरूपमें 'फनि बिनु मनि जिमि जल बिनु मीना' की तरह प्राप्त हुआ था, उनकी खुले मुँह सराहना करनी पड़ी—

जिअइ मरइ भल भूपति जाना। मोर हृदय सत कुलिस समाना॥

इसलिये धर्मज्ञ और पतिव्रता स्त्रियोंको श्रीकौशल्या-के चरित्रसे शिक्षा लेकर लोक-परलोक दोनों अर्थोंमें पतिकी अनुगामिनी बनना चाहिये। इसीमें कल्याण है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ज्ञान

(लेखक—श्रीमावलीप्रसादजी श्रीवास्तव)

जिस श्रीमद्भगवद्गीताको करोड़ों भारतवासी ईश्वर-वाणी मानते हैं और जिस रामचरित-मानसको हिन्दू जाति अपनी परमनिधि समझती है उनमें ज्ञानकी बड़ी महिमा बतलायी गयी है। कहा है कि 'संसारमें ज्ञानके समान दूसरी कोई पवित्र* वस्तु है ही नहीं। यही बात उत्तरकाण्ड रामायणमें यों कही गयी है—

कहहिं संत मुनि वेद पुराना। नहिं कछु दुरलभ ग्यान समाना॥

यह भी स्पष्ट वचन है कि चार प्रकारके भक्तोंमें ज्ञानी भक्त परमात्माको विशेष प्रिय है—

ग्यानी प्रभुहिं बिसेष पियारा †।

श्रीरामचन्द्रजीने तो आरण्यकाण्डमें यहाँतक कहा है कि—

मोरे प्रौढ़ तनय सम ग्यानी।

ज्ञानी भक्त मेरे प्रौढ़ (अनुभवी, विकसित, विश्वसनीय) पुत्रके बराबर है अर्थात् उसके लिये मुझे विशेष उत्तरदायित्व, चिन्ता, सङ्कट आदिका सामना नहीं करना पड़ता। निर्मल ज्ञान कोई साधारण तत्त्व नहीं है—गोसाईंजीने स्वयं श्रीरामजीकी तुलना ज्ञानसे की है; लक्ष्मणको मूर्तिमान् वैराग्य, सीताको मूर्तिमती भक्ति और रामको मूर्तिमान् ज्ञानकी उपमा दी है *। जब बात ऐसी है, तब ज्ञानके सम्बन्धमें कुछ विचार करना अनुचित न होगा। अतएव इस विषयपर हम मुख्यतः भक्तश्रेष्ठ गोसाईं तुलसीदासजीकी रामायणके आधारपर कुछ तात्त्विक विचार करेंगे।

अच्छा, ज्ञानका अर्थ क्या है? आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें ज्ञान किसे कहते हैं? क्या रामायण और गीताका हजार बार पाठ कर लेना ज्ञान है? नहीं, यह तोतारटन्त ज्ञान है। पाठ करना उत्तम है इससे ज्ञानकी प्राप्तिमें सहायता मिलती है पर यही ज्ञान नहीं है। तो क्या शास्त्रोंका अर्थ समझकर धार्मिक विषयोंपर अच्छा भाषण दे देना, सुन्दर कीर्तन कर लेना या उत्तम लेख लिख लेना ज्ञान है? नहीं, यह भी ज्ञान नहीं है—यह केवल शब्दज्ञान और शास्त्रज्ञान है। तब ज्ञान कहते किसे हैं? ज्ञानका अर्थ है जानना। जानना किस बातका? जो जाननेयोग्य (ज्ञेय) है उसका जानना और उसकी प्राप्तिमें लग जाना ही ज्ञान है। (अवश्य ही यह भी साधनज्ञान है।) जाननेयोग्य कौन है? परमात्माके अतिरिक्त जाननेयोग्य परम तत्त्व और क्या हो सकता है? शास्त्रोंमें ज्ञानका रूप इस तरह बतलाया गया है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्मेति एकत्वप्रतीतिर्ज्ञानम्।

अर्थात् जो कुछ है सब ब्रह्म ही है, ऐसा अद्वैतबोध ही ज्ञान† है। यह जानना और अनुभव करना ज्ञान कहलाता है कि मैं देह (जड पदार्थ) नहीं हूँ—मैं चैतन्यस्वरूप आत्मा हूँ—मुझमें और निर्विकार तथा आनन्दस्वरूप परमात्मामें कोई भेद नहीं। यही बात

---

* नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
(गीता ४। ३८)

† रामभगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ अपारा॥
चहूँ चतुरकहँ नाम अधारा। ग्यानी प्रभुहिं बिसेष पियारा॥
(बालकाण्ड)

इसका मिलान श्रीमद्भगवद्गीतासे कीजिये—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

और,

प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः॥
(७। १६-१७)

* उदाहरण—

(१) ग्यान अखंड एक सीतावर। मायाबस्य जीव सचराचर॥
(उत्तरकाण्ड)

(२) सानुज सीयसमेत प्रभु, राजत परनकुटीर।
भगति ग्यान बैराग्य जनु सोहत धरे सरीर॥

(३) ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। (गीता ७। १८)

† ग्यान मान जहँ एकौ नाहीं। देखत ब्रह्मरूप जगमाहीं॥
(आरण्यकाण्ड)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रामायणमें भी बतलायी गयी है; लोमशमुनि पक्षिराज गरुड़से कहते हैं—

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥
(उत्तरकाण्ड)

अर्थात् वेदका वाक्य है कि परमात्मा और आत्मा अथवा ब्रह्म और जीव एक ही हैं—उसमें और तुझमें उसी प्रकार कोई भेद नहीं है जैसे पानी और उसकी लहरमें कोई भेद नहीं है—नाममात्रका भेद है। यथार्थ ज्ञान यही है जिसे तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान, स्वरूप-ज्ञान भी कहते हैं। सम्यक् ज्ञानके लिये विज्ञान (अनुभव) का होना आवश्यक है और आचरणके बिना विज्ञान हो नहीं सकता।

श्रीमद्भगवद्गीतामें योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं—'हे अर्जुन! क्षेत्र (शरीर) और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है वही मेरा (परमेश्वरका) ज्ञान माना* गया है।' केवल अध्ययन, तार्किकता, वाक्पाण्डित्य, शुष्क वेदान्त अथवा शास्त्र-ज्ञान सच्चा ज्ञान नहीं है—ज्ञान तभी उच्च श्रेणीका साधनात्मक समझा जा सकता है जब आचरण और दैनिक जीवनमें शुद्ध (क्रियामय) ज्ञानके लक्षण प्रकटरूपसे दिखलायी पड़ने लगें। इसीलिये गीतामें इस ज्ञानके लक्षणों-को इस तरह बतला दिया गया है—

'मानहीनता, दम्भहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, गुरुसेवा, पवित्रता, स्थिरता, मनोनिग्रह, इन्द्रियोंके विषयोंमें विराग, अहङ्कारहीनता और जन्म-मृत्यु-बुढ़ापा-व्याधि एवं दुःखोंको (अपने पीछे लगे हुए) दोष समझना, (कर्ममें) अनासक्ति, बालबच्चों और घर-गृहस्थी आदिमें लम्पट न होना, इष्ट या अनिष्टकी प्राप्तिमें चित्तकी सर्वदा एकहीसी वृत्ति रखना, मुझमें (परमात्मामें) अनन्य भावसे अटल भक्ति, चुने हुए अथवा एकान्त स्थानमें रहना, साधारण लोगोंके जमाव-को पसंद न करना, अध्यात्मज्ञानको नित्य समझना और तत्त्वज्ञानके सिद्धान्तोंका परिशीलन—इनको ज्ञान कहते हैं; इसके अतिरिक्त जो कुछ है वह सब अज्ञान है।'† यहाँपर ज्ञानके स्पष्ट लक्षण विस्तारपूर्वक बतला दिये गये हैं—इनसे अधिक स्पष्ट और सरल ढंगसे क्रियात्मक ज्ञानके साधन बतलाये नहीं जा सकते। जिस व्यक्तिमें ये साधनात्मक लक्षण न पाये जाते हों, वह ज्ञानवान् (ज्ञानी अथवा ज्ञाता) कदापि नहीं है—वह कितना भी प्रतिष्ठित हो परन्तु किसी-न-किसी दर्जेका अज्ञानी है।

गीता और रामायणमें ज्ञानकी तरह विज्ञान शब्दका प्रयोग* भी बार-बार हुआ है जिससे मालूम होता है कि दोनोंके अर्थमें कुछ भिन्नता है। रामचन्द्रजी कागभुशुण्डिसे कहते हैं—

तिन्ह महँ प्रिय बिरक्त पुनि ग्यानी। ग्यानिहुँते अति प्रिय बिग्यानी॥
(उत्तरकाण्ड)

थोड़ी दूर आगे चलकर यह चौपाई मिलती है—

बिन बिग्यान कि समता आवै। कोउ अवकास कि नभ बिनु पावै॥

विज्ञानका अर्थ है विशेष ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव। ज्ञानसे विज्ञान कुछ अधिक मूल्यवान् वस्तु है। जगत्का प्रकार-भेदसे यथार्थ ज्ञान होना ही विज्ञान है—

जगतो नानात्वेन प्रतीतिर्विज्ञानम्।

गीताका रहस्य बतलाते हुए स्वर्गीय लोकमान्य तिलकने प्रस्तुत प्रश्नपर जो विचार प्रकट किये हैं वे जानने योग्य हैं; लोकमान्य कहते हैं—'कुछ लोग विज्ञानका अर्थ आनुभविक ब्रह्मज्ञान अथवा ब्रह्मका साक्षात्कार करते हैं, परन्तु·····हमें ज्ञात होता है कि परमेश्वरीय ज्ञानके ही समष्टिरूप (ज्ञान) और व्यष्टिरूप (विज्ञान) ये दो भेद हैं' (हिन्दीगीतारहस्य पृष्ठ ७१७); वे पृष्ठ ७१६ में कहते हैं—'सृष्टिमें अनेक प्रकारके अनेक विनाशवान् पदार्थोंमें एक ही अविनाशी परमेश्वर समा रहा है—इस समझका नाम है 'ज्ञान' और एक ही नित्य परमेश्वरसे

---

*-क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।
(१३।२)

† देखिये श्रीमद्भगवद्गीता १३ वाँ अध्याय श्लोक ७ से ११ तक।

* उदाहरण—

(१) वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ। (बालकाण्ड)

(२) अर्थ धर्म कामादिक चारी। कहब ग्यान बिग्यान बिचारी॥
(बालकाण्ड)

(३) ग्यान बिबेक बिरति बिग्याना। मुरदुर्लभ गुन जे जग जाना॥
(उत्तरकाण्ड)

(४) भगति ग्यान बिग्यान बिरागा। जोग चरित्र रहस्य बिभागा॥
जानब तैं सबही कर भेदा। मम प्रसाद नहिं साधन खेदा॥
(उत्तरकाण्ड)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विविध नाशवान् पदार्थोंकी उत्पत्तिको समझ लेना 'विज्ञान' कहलाता है (गीता १३।३०), एवं इसीको क्षर-अक्षरका विचार कहते हैं।' प्रेमी पाठको, हम यहाँ विस्तारभयसे क्षर-अक्षरके विचारको छोड़ देते हैं—जो इस महत्त्वपूर्ण विचारको देखना चाहें वे गीताके ७ वें अध्यायको (विशेषतः चौथेसे लगाकर सातवेंतक चार श्लोकोंको) ध्यानपूर्वक देखनेका कष्ट उठावें।

ज्ञानको कहीं तो अनल* (आग) कहा है, कहीं नयन† (आँख) और कहीं जल‡। आगका धर्म है जलाना। ज्ञानरूपी अग्नि जब प्रज्वलित हो जाती है तब मनोविकार (काम, क्रोध, लोभ, मोह-ममता, मद, मत्सर) भस्म होने लगते हैं। ज्ञानाग्नि मनोविकार, वासना, भेद-भाव और देहाभिमानको जला देती है। इस दृष्टिसे ज्ञान सचमुच अग्नि है। ज्ञान आँख भी है। अज्ञानी और मूर्ख अन्धेके बराबर होते हैं। जबतक हम ज्ञानरूपी नेत्रसे काम नहीं लेते तबतक बहुत भटकते हैं, गिरते-पड़ते हैं और चारों ओरके प्रकाशसे लाभ उठा नहीं सकते। सदसद्विवेकरहित प्राणी अन्धेसे भी अधिक अभागी होता है। ज्ञानको निर्मल जल कहना भी उचित ही है। निर्मलता, शीतलता और शान्ति शुद्ध ज्ञानरूपी जलके बिना मिल कैसे सकती है? ज्ञान मानस-रोगोंकी एक चिरपरिचित ओषधि है, एक 'सुरदुर्लभ गुण' है। वेदोंके कथनानुसार ज्ञान चिरशान्ति अथवा मोक्ष प्राप्त करनेका एक साधन§ भी है—

धरम ते बिरति* जोग ते ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

कैवल्य परमपदकी प्राप्ति ज्ञानमार्गसे भी हो सकती है।

मनुष्यमें सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुणका जैसा विकास हुआ हो उसके अनुसार ज्ञान तीन प्रकारका होता है; सात्त्विक, राजस और तामस। तीनों प्रकारके ज्ञानके लक्षण गीतामें (अध्याय १८ श्लोक २० से २२ तक) बतलाये गये हैं। जैसा ज्ञान होता है वैसा ही कर्म होता है अतएव कर्म भी सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकारके होते हैं। तीनों प्रकारके कर्मके लक्षण गीतामें (अध्याय १८ श्लोक २३ से २५ तक) मिलेंगे। इन्हें समझ लेनेपर यह निर्णय करना सरल हो जायगा कि अमुक व्यक्तिका अमुक काम सात्त्विक कर्म है या राजस अथवा तामस। परन्तु स्मरण रहे कि निर्णय करते समय उस कार्यके केवल परिणामको देखना काफी न होगा—यह भी देखना परम आवश्यक है कि वह काम किस बुद्धिसे किया गया है।

ज्ञानी किसे समझना चाहिये? आजकल अव्वल दर्जेका ज्ञानी वह है जिसमें ये लक्षण मिलते हों—

निराचार जो श्रुतिपथत्यागी। कलिजुग सोइ ग्यान बैरागी॥

(उत्तरकाण्ड)

वेदके मार्गको ठोकर लगाकर आचाररहित और स्वच्छन्द रहनेसे हम सच्चे ज्ञानी बन सकते हैं! और यदि ब्रह्मज्ञानकी सिद्धावस्थामें पहुँचना हो तो? उस अवस्थामें हममें ये गुण होने चाहिये—

परतिय लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने॥
तेइ अभेदबादी ग्यानी नर। देखेउँ मैं चरित्र कलिजुगकर॥

(उत्तरकाण्ड)

लीजिये; ज्ञानी, विज्ञानी और अद्वैतवादी बननेका कैसा मीठा नुसखा है!

राम नाम जपना। पराया माल अपना॥†

जब संसारमें और हममें कोई भेद-भाव नहीं है—

---

* राम और भरतकी अलौकिक प्रीतिके प्रसङ्गपर—

मुनिगन गुरु धुर धीर जनकसे। ग्यान अनल मन कसे कनकसे॥
जे बिरंचि निर्लेप उपाये। पद्मपत्र जिमि जग जल जाये॥

(अयोध्याकाण्ड)

† ममी सज्जन सुमति कुदारी। ग्यान बिराग नयन उरगारी॥
भावसहित खोजइ जे प्रानी। पाव भगति मनि सब सुख खानी॥

(उत्तरकाण्ड)

‡ बिमल ग्यानजल जब सो न्हाई। तब रह रामभगति उर छाई॥

(उत्तरकाण्ड)

§ आध्यात्मिक उन्नति, आत्मबोध, स्वरूप-ज्ञान अथवा भगवत्-प्राप्तिके लिये जो पुरुषार्थ किया जाता है उसे धर्मशास्त्रोंमें 'साधन' कहते हैं। भक्ति, ज्ञान, कर्म और योग मोक्षदायक साधन माने गये हैं।

* इस संसारमें तथा स्वर्गमें भी अपने सत्कर्मोंके फलोंका भोग त्याग देना 'विरति' कहलाता है।

† ब्रह्मग्यान बिनु नारि नर, करहिं न दूसरि बात।
कौड़ी कारन मोहबस, करहिं बिप्र-गुरु घात॥

(उत्तरकाण्ड)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

एक ब्रह्मका भाव है, तब परायी चीज़ोंकी ताकमें रहनेसे क्या हर्ज है ? गोसाईंजीने—

ग्यानक पंथ कृपाणकै धारा।

कहकर बड़ी गलती की है !! ज्ञानका मार्ग भी कहीं तलवारकी धार हो सकता है ? वह तो—

परतिय-लंपट कपट सयाने।

और—

मोह द्रोह ममता लपटाने॥

—का सुगम और प्रिय मार्ग है !!! परन्तु रामायण भी एक जगह कुछ कहकर और दूसरी जगह कुछ कहकर चट बात बदल देती है; गोसाईंजी आगे चलकर शङ्कर भोलानाथसे यह कहलाते हैं—

सोइ सरबग्य गुनी सोइ ग्याता। सोइ महिमंडित पंडित दाता॥
धर्मपरायन सोइ कुल त्राता। रामचरन जाकर मन राता॥
(उत्तरकाण्ड)

यहाँ तो ज्ञानीकी कुछ दूसरी ही पहचान* बतला दी गयी है। वह सारे सांसारिक काम अहङ्काररहित, फलाशाशून्य और अनासक्त बुद्धिसे करता है। अज्ञानी लोग कर्म और वासनाओंमें लिप्त रहकर, विषयासक्तिपूर्वक फलकी इच्छासे, अपने-आपको कर्ता मानकर सारे काम किया करते हैं। ज्ञानी और अज्ञानीमें यही अन्तर है।

ज्ञानका उदय कब होता है ? बाहरसे सद्गुरुकी कृपा प्राप्त हुए बिना और भीतरसे विषयोंसे विराग हुए बिना ज्ञानका उदय कभी नहीं हो सकता—

गुरु बिन होइ कि ग्यान, ग्यान कि होइ बिराग† बिनु।
गावहिं बेद पुरान, सुख कि लहहिं हरिभगति बिनु॥
(उत्तरकाण्ड)

कोई व्यक्ति तबतक ठीक-ठीक ज्ञान कभी प्राप्त नहीं कर सकता जबतक वह धर्मशील (निज-निज धर्मनिरत) नहीं बन जाता और जबतक वह धर्मशील न बन जाय तबतक सम्भव नहीं कि वह कभी 'विषयविमुख और विरागरत' हो सके; रामायण* का निश्चित मत यही है कि विराग उत्पन्न होनेपर ही यथार्थ ज्ञानका उदय होता है।

धर्मते बिरति जोग ते ग्याना। ज्ञान मोच्छप्रद बेद बखाना॥

योग† (अष्टाङ्गयोग) की क्रियाओंसे समता (अथवा स्थितप्रज्ञ अवस्था) प्राप्त कर लेनेपर भी सच्चे ज्ञानका उदय होता है। सत्सङ्ग करनेसे भी ज्ञानका उदय होता है। क्योंकि सज्जन‡ चलता-फिरता योग और सजीव विराग है—

उपजै बिनसै ग्यान जिमि, पाइ सुसंग कुसंग।

ज्ञानका उदय होनेपर भ्रम और संशय नहीं रह जाता। ज्ञानका प्रकाश बड़ा प्रखर होता है।

भयउ प्रकास कतहुँ तम नाहीं। ग्यान उदय जिमि संसय जाहीं॥
(लंकाकाण्ड)

---

*सोइ पंडित सोइ पारखी, सोई संत सुजान।
सोई सूर सचेत सो, सोई सुभट प्रमान॥
सोइ ग्यानी सोइ गुनीजन, सोई दाता ध्यानि।
तुलसी जाके चित भई, राग द्वेषकी हानि॥

†प्रथमहिं बिप्रचरन अति प्रीती। निज-निजधरमनिरतश्रुतिरीती
इहिकर फल मन विषयबिरागा। तबममचरन उपज अनुरागा॥
(आरण्यकाण्ड)

और—

कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीन गुन त्यागी॥
(आरण्यकाण्ड)

* नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ इक होइ धरमब्रत धारी॥
धरमशील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिरागरत होई॥
कोटि बिरक्तमध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई॥
(उत्तरकाण्ड)

इसे गीतासे मिलान कीजिये—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
(७।३)

† योग आठ प्रकारके बतलाये गये हैं। अष्टाङ्गयोगके नाम ये हैं—१ यम (उन्मत्त इन्द्रियोंको युक्ति और अभ्याससे रोकना) २ नियम ३ आसन ४ प्राणायाम (तीन प्रकारके रेचक, पूरक और कुम्भक) ५ प्रत्याहार ६ धारणा ७ ध्यान और ८ समाधि।

‡ सज्जनके लक्षण रामायण सुन्दरकाण्डमें (नीचे लिखी चौपाईके पूर्व) देखो—

अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसत धन जैसे॥
(सुन्दरकाण्ड)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जबतक संशय और भ्रम रहता है तबतक यह समझना भूल है कि ज्ञानका उदय हो चुका। इसीलिये कहा गया है कि संशयग्रस्त प्राणी नष्ट हो जाता है—'संशयात्मा विनश्यति।' अर्थात् दुविधामें फँसे हुए निश्चयहीन जीवका नाश अवश्यम्भावी है। ज्ञानके उदयकी पहचान क्या है? पहचान बड़ी सरल है; जब इन्द्रियोंमें विवेक-जनित (आलस्य और प्रमादजनित नहीं) स्थिरता आ जाय तब समझिये कि शुद्ध ज्ञानका उदय हो चुका है—

जहँ तहँ पथिक रहे थकि नाना। जिमि इन्द्रियगन उपजे ग्याना॥

(किष्किन्धाकाण्ड)

इन्द्रियोंको विलास और विषय अत्यन्त प्रिय हैं—सर्वदा प्रिय हैं अतएव यह शीघ्र सम्भव नहीं कि वे अपनी-अपनी चञ्चलता, लोलुपता, प्रचण्डता और उन्माद यों ही छोड़ दें। ज्ञानोदयकी एक पहचान और है; जिस तरह अत्यन्त लोभी आदमीपर वैराग्यकी बातोंका कोई असर नहीं हो सकता उसी तरह सांसारिक ममतामें डूबे हुए प्राणीमें ज्ञानका उदय कभी हो नहीं सकता—निर्मल ज्ञानकी प्राप्ति ममता-त्यागके बिना असम्भव है—

ममता-रत सन ग्यान कहानी। अति लोभी सन बिरति बखानी॥

(सुन्दरकाण्ड)

जिसने ममताका त्याग नहीं किया, वह ज्ञानहीन है। साधक जीव जब मोह-निशासे जागृत होकर अपने भयङ्कर शत्रुओंसे (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सरसे) निरन्तर संग्राम छेड़ देता है तब समझिये कि ज्ञानका उदय होना आरम्भ हुआ है।

जीव किसे कहते हैं? जो अपनेको मायाका स्वामी नहीं समझता, जो अपने शुद्ध रूपको नहीं पहचानता, वही 'जीव' कहलाता* है। जीव तीन प्रकारके होते हैं—विषयी, साधक और सिद्ध†। जीवका शुद्ध रूप क्या है?

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥

(उत्तरकाण्ड)

* माया ईसु न आपु कहँ जान कहिय सो जीव।
बन्ध मोच्छप्रद सर्वपर मायाप्रेरक सीव॥

(आरण्यकाण्ड)

† बिषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव जग बेद बखाने॥

(अयोध्याकाण्ड)

जीव* ईश्वरका अंश है, नाशरहित है, ज्ञानस्वरूप है, विकाररहित है और आनन्दमय है। जब वह आनन्द-स्वरूप, समर्थ परमात्माका अंश और चैतन्य है तब दुःख क्यों पाता है, कुकर्मोंमें क्यों फँस जाता है? इसका कारण यह है कि वह संसारी (देहधारी) बनकर जड देह और जड मायाके साथ (आकाशसे गिरनेवाले निर्मल जल†की तरह) सम्बन्ध जोड़ लेता है और अपने मूल रूपको भूल जाता है। क्यों भूल जाता है? इसलिये कि स्थूल देहधारी जीवका धर्म ही हर्ष-विषाद, ज्ञान-अज्ञान, अहंभाव, मोह-ममता इत्यादि है।‡ यदि इस द्वैतभावको जीव छोड़ दे तो उसे न क्लेश हो न पीड़ा, न दुःख हो न विषाद।

जीवकी स्थिति क्या है? ईश्वरका अंश होकर भी वह ईश्वरसे बहुत दूर रहता होगा? नहीं, जीव ईश्वरसे बहुत दूर नहीं है—वह बिल्कुल नजदीक है परन्तु मायाके परदेके कारण सच्चिदानन्द-स्वरूपको देख नहीं सकता—

मायाछन्न न देखियत, जैसे निरगुन ब्रह्म॥

जीव और ईश्वर ठीक उसी तरह नजदीक हैं जैसे आरण्यकाण्डमें कहा है—

'उभय बीच सिय सोहति कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी॥

जीवकी यही अवस्था है; ईश्वर और जीव एक दूसरेके अत्यन्त निकट हैं—दोनोंके बीचमें मायाका परदा आड़ है—अज्ञानका अन्धकार बाधक है—परदा किसी तरह हटा लिया जाय तो निर्मल ब्रह्मके दीखनेमें देर नहीं। इस परदेको हटाना ज़रा मुश्किल होता है—कभी-कभी तो यह परदा अनेक जन्मोंके अभ्यास और दृढ़ प्रयत्नसे

* परब्रह्म परमात्माके शुद्ध अंशका नाम आत्मा है। कहावत है 'आत्मा सो परमात्मा।' मायाके साथ सम्बन्ध होनेपर वही आत्मा 'जीव' अथवा 'जीवात्मा' कहलाता है। यही जीवात्मा देह धारण करने और अपने मूल स्वरूपको भूल जानेपर जन्म-मरणके बन्धन और सुखदुःखका भोग करता है। निर्विकार आत्माको न दुःख है न सुख।

† भूमि परत भा डाबर पानी। जिमि जीवहिं माया लपटानी॥

(किष्किन्धाकाण्ड)

‡ हरष-बिषाद ग्यान अग्याना। जीवधर्म अहमिति अभिमाना॥

(बालकाण्ड)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दूर होता है। कल्पना कीजिये कि निर्मल जलसे लबालब भरा हुआ एक तालाब है जिसमें पानीके भीतर मिट्टीका घड़ा रक्खा है। घड़ेकी दसों दिशाओंमें तालाबका पानी है—भीतर भी, बाहर भी। घड़ेके भीतरका पानी उसी तरह निर्मल है जैसे बाहरका, तालाबके भीतरका पानी। घड़े और तालाबका पानी वस्तुतः एक है परन्तु उस घड़ेका परदा एक ही जलको दो-सा बना रहा है! परदेको हटाना हो तो जड़ देहमें निवास करनेवाले आत्मा और चैतन्य-स्वरूप घट-घट-वासी परमात्माकी एकरूपता पर सूक्ष्म विचार करना चाहिये। यदि सब प्राणियोंको एक-सरीखा ज्ञान हो जाय तो ईश्वर और जीवमें फिर भेद ही क्या रहे—

जो सबके रह ग्यान एकरस। ईश्वर जीवहिं भेद कहहु कस॥
(उत्तरकाण्ड)

परन्तु दैवी सम्पत्तिवाला अधिकारी जीव ईश्वरके समान होता है कि आसुरी सम्पत्तिवाला मायाग्रस्त जीव!—

मायाबस प्रच्छन्न जड जीव कि ईस समान।
(उत्तरकाण्ड)

ध्यान रहे, अहङ्कार-ग्रस्त और अनधिकारी जीव मायाके अधीन और परवश है—गुणवती माया ईश्वरके अधीन है; ईश्वर किसीके अधीन नहीं—स्वाधीन* है।

यह माया क्या बला है? क्या कोई दुष्टा राक्षसी और शरीरधारी पिशाचिनी है? नहीं, अज्ञान, अविद्या, असत्य और द्वैत बुद्धिका ही दूसरा नाम माया है। ईश्वर और जीवके बीचका मिथ्या आवरण और ज्ञानका परम शत्रु यही है। लक्ष्मणने पूछा था—माया किसे कहते हैं? रामका उत्तर सुनिये—'सभी मनुष्योंमें यह विचार उत्पन्न होता है कि मैं एक व्यक्ति हूँ और ये चीज़ें मेरी हैं—तू कोई दूसरा व्यक्ति है और तेरे पदार्थ अलग हैं—यह विचार ही माया है यह भेदबुद्धिवाला विचार सभी जीव-धारियोंके मनमें आया करता है—इस विचारके वश सभी हैं। इन्द्रियोंकी और इन्द्रियोंमें विचरनेवाले मनकी जहाँतक पहुँच हो सकती है वहाँतक सब माया है अर्थात् वे सभी पदार्थ मायाकृत हैं जिनका ज्ञान मन और इन्द्रियोंसे होता है*।' फिर, राम मायाके भेद बतलाते हुए कहते हैं—'मायाके दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। अविद्यारूपी माया बड़ी दुष्ट और दुःख देनेवाली है, जीव इसीके अधीन होकर संसाररूपी गड्ढेमें गिरता है अर्थात् अज्ञानके कारण बार-बार जन्म लेता है—बार-बार मरता है। और दूसरी, विद्यारूपी गुणवती माया संसारको (ईश्वरकी प्रेरणासे, अपनी निजी ताकतसे नहीं) उत्पन्न करती है†।' हमारे मनमें ऐसा भाव उत्पन्न होता है कि हम बड़े ज्ञानी हैं—हमने अनेक शास्त्र पढ़े हैं—सज्जनोंका साथ किया है—हमारा विवेक चढ़ा-बढ़ा है इसलिये वह प्रबल और दुष्ट माया हमारा कुछ भी नहीं कर सकती—हमें अपने जालमें कभी नहीं फँसा सकती। इस अभिमानपूर्ण भावनाको ज़ोरका धक्का देते हुए उत्तरकाण्डमें कहा गया है कि—

चिन्ता साँपिनि काहि न खाया। को जग जाहि न व्यापी माया‡॥

और—

सिव चतुरानन जाहि डराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं॥

वासनाओं और विकारोंमें सिरसे पैरतक डूबा हुआ बेचारा मनुष्य प्राणी! तू अपने ज्ञानका कहाँतक घमंड

* मायाबस्य जीव अभिमानी। ईसबस्य माया गुनखानी॥
परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकन्ता॥
(उत्तरकाण्ड)

* मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया॥
गो-गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥
(आरण्यकाण्ड)

† तेहिकर भेद सुनहु तुम सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥
एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभुप्रेरित नहिं निज बल ताके॥
(आरण्यकाण्ड)

‡ और उदाहरण महादेव पार्वतीसे कहते हैं—

(१) प्रभु माया बलवंत भवानी। जाहि न मोहि कवन अस ग्यानी॥
ग्यानी भगतसिरोमनि, त्रिभुवनपति कर यान।
ताहि मोह माया प्रबल, पामर करहिं गुमान॥
(उत्तरकाण्ड)

(२) नारदजी गरुड़से कहते हैं—

जो ग्यानीकर चित अपहरई। बरिआई बिमोह मन करई॥
जेहि बहु बार नचावा मोही। सोइ व्यापी बिहंगपति तोही॥
(उत्तरकाण्ड)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रक्खेगा ? कभी-न-कभी, किसी-न-किसी कारण तू भी मनोविकारके लज्जाजनक और प्रबल जालमें फँसेगा ही। यदि आजन्म सावधान रह सका तो तू धन्य है।

छः प्रधान मनोविकारोंको जीवका प्रबल शत्रु* कहा है। क्या इस लोकमें कोई ऐसा प्राणी है जिसमें किसी-न-किसी दर्जेका काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर कभी भी न रहता हो ? मायाकी इस प्रचण्ड सेनाके आक्रमणसे कौन बच सकता है ? कोई नहीं—सिद्धावस्थामें पहुँचे हुए स्थिर बुद्धिवाले आत्मदर्शीके अतिरिक्त और कोई भी नहीं बच सकता। इन शत्रुओंको सदैव शत्रु न समझनेसे और इनसे असावधान रहनेसे सर्वनाश होता है क्योंकि हम विषयी जीवोंको ये अधिकाधिक विषय-विषकी ओर प्रवृत्त करते हैं और, विषय-सेवनका अन्तिम फल क्या है ? सुनिये—'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषका इन विषयोंमें सङ्ग (आसक्ति) बढ़ता जाता है फिर इस सङ्गसे यह वासना उत्पन्न होती है कि हमको काम (अर्थात् वह विषय) चाहिये। और (इस कामकी तृप्ति होनेमें विघ्न होनेसे) उस कामसे ही क्रोधकी उत्पत्ति होती है; क्रोधसे संमोह अर्थात् अविवेक होता है, संमोहसे स्मृतिभ्रम, स्मृतिभ्रमसे बुद्धि-नाश और बुद्धिनाशसे (मनुष्यका) सर्वनाश हो जाता है।*' इस तरह जहाँ एक ओर हम यह देखते हैं कि विषय-सेवनसे सर्वनाश होता है वहाँ दूसरी ओर यह भी देखते हैं कि काम-क्रोध आदि षड्रिपुओंसे सदैव बचे रहना भी अत्यन्त कठिन है। यह मूढ़ और विषयी जीव-की कैसी करुण दशा है ! इधर गहरी खाई और उधर गहरा कुआँ ! ! इस विषम दशासे बचनेके लिये ही ज्ञान-रूपी साधनकी आवश्यकता है। ज्ञानके बिना संयम, इन्द्रिय-दमन और मनोनिग्रह हो नहीं सकता; संयम और इन्द्रिय-निग्रहके बिना जीवके छः शत्रु उसके मित्र बनाये नहीं जा सकते। बद्ध जीव इन शत्रुओंका दास होता है और मुमुक्षु तथा साधक जीव इनका उपयोग उसी तरह करता है जैसे प्राणरक्षा करनेमें प्राणघातक विषका उपयोग किया जाता है। आगसे आप युक्तिपूर्वक बढ़िया रसोई भी बना सकते हैं और असावधानीसे अपने घरमें आग भी लगा सकते हैं। काम, क्रोध, लोभ आदि रिपुओंका सर्वथा त्याग बड़े-बड़े लोग भी नहीं कर सकते—फिर इनका गुलाम बेचारा मनुष्य प्राणी कैसे कर सकता है ? अतएव विवेकके साथ इनका उचित उपयोग करना

---

* तात तीन अति प्रबल खल, काम क्रोध अरु लोभ।
मुनि बिग्यान-निधान मन, करहिं निमिष महँ क्षोभ॥
(आरण्यकाण्ड)

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥
(गीता १६। २१)

तीन अति-प्रबल—
विषय-बिबस सुर नर मुनि स्वामी।
मैं पामर पसु कपि अति कामी॥
नारि-नयन-सर जाहि न लागा।
घोर क्रोध-तम निसि जो जागा॥
लोभपास जेहि गर न बँधाया।
सो नर तुम समान रघुराया॥
यह गुन साधन ते नहिं होई।
तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई॥
(किष्किन्धाकाण्ड)

१ २ ३
काम वात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥
प्रीति करहिं जो तीनिउ भाई। उपजै सन्निपात दुखदाई॥
(उत्तरकाण्ड)

४ मोह—सुनु मुनि मोह होइ मन ताके। ग्यान बिराग हृदय नहिं जाके॥
(बालकाण्ड)

और, देखो उत्तरकाण्डमें 'मानसरोगों' का वर्णन—
मोह सकल ब्याधिनकर मूला। तेहिते पुनि उपजै बहु सूला॥
(उत्तरकाण्ड)

५ मद—आठ प्रकारके, यथा कुलमद, जातिमद, युवा अवस्थाका मद, रूपमद, ज्ञानमद, ध्यानमद, विद्यामद और धनमद (राजमद)।

६ मत्सर—दूसरोंकी भलाई देख जलना ही मत्सर (डाह) है; 'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे।'

इनका बल—
लोभके इच्छा दम्भ बल, काम के केवल नारि।
क्रोधके परुष बचन बल, मुनिवर कहहिं बिचारि॥
(आरण्यकाण्ड)

---

* ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
(गीता २। ६२-६३)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ही इनका दमन और त्यागके सदृश है। मायाकी जालिम फौजके हमलेसे बचनेका और सर्वनाशका मौका न आने देनेका मार्ग ही ज्ञानमार्ग है। विषय-वासनासे निवृत्ति ज्ञानका सहारा लिये बिना असम्भव है, इसलिये जबतक ज्ञान नहीं तबतक मुक्ति नहीं—'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।'

'काम' एक भयानक शत्रु है! तो क्या किया जाय? क्या उसका पूर्ण त्याग और दमन हो सकता है? अधर्म-पूर्ण कामको अभ्याससे छोड़ना चाहिये और श्रीकृष्णके इस वचन* के अनुसार कि "मैं धर्मानुकूल 'काम' हूँ" शास्त्रानुमोदित कामका व्यवहार भी करना चाहिये, परन्तु वासनापूर्वक नहीं, भगवान्‌की आज्ञा-पालनके लिये अनासक्तिपूर्वक। क्रोध भयङ्कर रिपु और सब पापोंका मूल है। तो क्या कभी क्रोध उत्पन्न होना ही न चाहिये? हाँ, नहीं होना चाहिये, क्रोध तो नरकका मूल ही है परन्तु अत्याचार, अधर्म और अनीति देखकर उसके नाशके लिये क्रोधका नाट्य अवश्य करना चाहिये। ऐसा क्रोध क्रोध नहीं है। अभिमान भी एक शत्रु है। तो क्या किया जाय? क्या अभिमान छोड़ दिया जाय? नहीं—अभिमान तो रखना ही होगा।

अस अभिमान जाइ नहिं भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे॥

क्या ईश्वरार्पणबुद्धि और फलाशात्यागकी चित्तवृत्ति एक क्षणमें उत्पन्न और स्थिर हो जायगी? कभी नहीं। दीर्घकालीन प्रयत्न और निरन्तर अभ्यासकी जरूरत होगी। ममता बुरी चीज है—होगी। परन्तु रामायणके नायक राम ममता रखनेकी आज्ञा देते हैं; कहाँ? 'ममता मम पद कंज।†' यदि हम दैनिक जीवन-निर्वाह और प्रपञ्च-साधनके लिये उचित उपायोंसे, एक सीमातक, धनोपार्जन करना चाहें तो क्या यह लोभ समझा जा सकता है? विद्या, आत्मरक्षा और सत्संगके लोभी न बनें तो हमारा उद्धार कैसे हो? दूसरोंकी भलाई, उन्नति और अभ्युदय देखकर यदि हम मत्सर (डाह या जलन) छोड़ दें परन्तु अपनी भी आत्मिक उन्नतिके लिये द्वेषरहित स्पर्धा करें तो क्या हर्ज है? विषयी जीव एक छलांगमें पूर्ण सत्त्वगुणी हो नहीं सकता, सिद्धावस्थाका व्यवहार अन्तिम सीढ़ी है—पहले तो हमें साधकका-सा व्यवहार ही करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि इस गुण-दोषमय और जड़-चेतन-मिश्रित सृष्टिमें नीरक्षीरन्याय, सूक्ष्म बुद्धि और विवेकके बिना निर्वाह नहीं हो सकता। भक्तिमार्गमें जो स्थान श्रद्धा* और विश्वासको प्राप्त है वही आदरणीय स्थान ज्ञानमार्गमें बुद्धि† और विवेक‡ को प्राप्त है। इसीलिये कहा है कि 'जिसे न स्वयं ज्ञान है और न श्रद्धा ही है उस संशयग्रस्त मनुष्यका नाश हो जाता है§।'

ज्ञानी बनना और ज्ञानमार्गमें चलना कठिन काम है—यह सचमुच तलवारकी धारपर चलना है। प्रौढ़ ज्ञानी बनना हँसीखेल नहीं। कर्म, अकर्म, विकर्मके अनन्त और गूढ़ भेदोंको देखकर बुद्धि चकरा जाती है—ईश्वरी हेतुको न समझ सकनेपर विवेक नष्ट होकर भ्रम उत्पन्न हो जाता है। रामके सामने स्त्री (शूर्पणखा) की नाक काटी गयी—राम तमाशा देखते रहे! क्या यही मर्यादा-स्थापन है? सती सीताका परित्याग कर रामने राजधर्मका निर्वाह भले किया हो परन्तु दया और दम्पति-प्रेमका त्याग कर दिया!! कैसी निष्ठुरता है? बिहार और केटामें भूकम्प होनेमें भला ईश्वरका क्या हेतु हो सकता

---

* वेदान्त और सद्‌गुरुके वचनोंमें किया जानेवाला विश्वास 'श्रद्धा' कहलाता है।

† ज्ञानका प्रकाश होनेपर बुद्धि सिद्धियोंके फेरमें नहीं पड़ती—
होइ बुद्धि जो परम सयानी। तिन तन चितव न अनहित जानी॥
(उत्तरकाण्ड ज्ञानदीपक)

और आगे चलकर—
विषय-समीर बुद्धिकृत भोरी। तेहि बिधि दीपको बारि बहोरी॥
(उत्तरकाण्ड)

‡ नव पल्लवमय बिटप अनेका। साधक मन जस मिले बिबेका॥
(किष्किन्धाकाण्ड)

सार और असार वस्तुओंका अलग-अलग ज्ञान ही विवेक है—'सारासारयोः पार्थक्येन ज्ञानं विवेकः।'

§ अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥
(गीता ४। ४०)

---

* धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ॥
(गीता ७। ११)

† निंदा-अस्तुति उभय सम, ममता मम पदकंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय, गुनमंदिर सुखपुंज॥
(उत्तरकाण्ड)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है! बंबई और ब्रह्मदेशमें भूकम्प क्यों न हुआ ? इस तरहकी निरी तार्किक बुद्धि और ठूठे ज्ञानसे तो मोह पैदा होगा ही। अल्पज्ञ जीव किन-किन सूक्ष्म बातोंको तुरन्त और ठीक-ठीक समझ सकता है ? अनेकतामें पूर्ण एकता-का अनुभव अचानक कैसे हो जायगा ? संहारमें भी सृष्टि क्या यों ही दिखलायी पड़ सकती है ? मनुष्य प्राणीकी शक्ति और आयु ही कितनी है जो इस अज्ञानकी भूल-भुलैयासे जल्द बाहर आ जाय ? अमुक अत्याचारी और दुष्ट धन-धान्यसे परिपूर्ण और सुखी है—अमुक पापभीरु सज्जन निर्धन और चिन्ताग्रस्त है; क्या यही ईश्वरका न्याय है! इन जटिल बातोंके रहस्य और धर्माधर्मके सूक्ष्म तत्त्वको समझनेमें कभी-कभी हमारा विवेक स्वयं अन्धा हो जाता है। युग-धर्म और देश-काल-पात्रकी बारीकियोंको ठीक-ठीक समझ लेनेमें बड़े-बड़े समझदार चूक जाते हैं। कालकी कुटिल गति, कर्मकी गहन गति, स्वभावकी दुर्दमनीय गति और 'अति विचित्र भगवन्त-गति' सहज ही समझमें नहीं आती। इन्हें विषयी तथा साधक जीव तभी समझ सकते हैं जब उस समर्थ मायापति और दयालु परमात्माकी कृपा होती है। इसीलिये भक्तिमार्गका प्रति-पादन करनेवाले गोसाईंजी स्पष्ट कहते हैं—

नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू॥
(बालकाण्ड)

पुरुषार्थहीन, अल्पायु, बुद्धिरहित, दीन और आर्त प्राणियोंके लिये गोसाईंजीने यही एक रास्ता चुनकर बतलाया है—दूसरे अच्छे-अच्छे सब मार्ग इन प्राणियोंके लिये बन्द-से हैं—भयानक विघ्न-बाधाओंसे भरे हैं।

क्या हम ज्ञानमार्गमें चलना चाहते हैं ? तो पहले हमें अपने घोर अज्ञानका ज्ञान होना चाहिये। क्या हमने विद्वानों, ऋषि-मुनियों और शास्त्रोंके दिव्य वचनोंका रहस्य साररूपसे सुन-समझ लिया है ? यदि नहीं, तो पहले इस ओर धीरजके साथ अविश्रान्त श्रम करना होगा। यदि ठीक-ठीक समझ लिया हो तो यह और समझना पड़ेगा कि यह केवल परोक्ष ज्ञान है—प्रत्यक्ष नहीं। सेर भर शब्दज्ञानकी अपेक्षा मासा भर सत्कर्म श्रेष्ठ है; अतएव क्रियात्मक ज्ञानके अखाड़ेमें कूद पड़नेकी जरूरत होगी। प्रत्यक्ष ज्ञान कण्ठाग्र श्लोकों और नित्य पाठसे ही नहीं होगा—वह होगा दैनिक आचरणसे—सत्कर्ममय जीवनसे। कर्म ही ज्ञानकी परिपक्वताका साधन है। विघ्न-बाधाओं, कठिनाइयों और प्रलोभनोंका पता तो तब चलेगा जब हम नैतिक जीवनको अपना स्वभाव बनाकर क्रमशः आगे बढ़ना चाहेंगे—धीरे-धीरे मंजिलें* तय करना चाहेंगे। जब हम क्रियात्मक ज्ञानी बननेका अभ्यास करने लगेंगे तब हमारा प्रत्यक्ष अनुभव बतला देगा कि हम कितने शक्तिहीन, क्षुद्र और अल्पज्ञ हैं। अभिमान और मृगतृष्णाको ज़ोरका धक्का लगनेपर हम ज्ञानमार्गमें चलनेके अधिकारी होंगे। अहंभावके स्टेशनको पीछे छोड़कर सोऽहंभावके स्टेशनकी ओर यात्रा करना ही ज्ञानमार्गकी मुसाफिरी है। साथमें रास्तेके लिये कुछ सामान चाहिये। विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति (अर्थात् शम†, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा तथा समाधान) और मुमुक्षुत्वकी सामग्री साथ रख लेनेपर हम अपने इच्छित स्टेशनकी ओर निश्चयपूर्वक आगे बढ़ते चले जायँगे। फिर इस बातकी कोई गारन्टी नहीं कि बीचमें हमारी रेलगाड़ी किसी कारण (काल-कर्म-स्वभावके दोषसे, संसर्ग-दोषसे अथवा बुद्धि-दोषसे) कहीं पटरीसे उतर न जाय या कहीं टकराकर चकनाचूर न हो जाय। सम्भव है हम अपने अभीष्ट स्टेशनपर पहुँच जायँ; यह भी सम्भव है कि हम मार्गभ्रष्ट हो जायँ। ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेयका एका-कार होना ही सिद्धि है। यह सिद्धि किसी बिरले जीवको मिलती है। यह सिद्धि तभी मिलती है जब हम कोरे ज्ञानके प्रेमी न होकर रामके प्रेमी हों। भक्तिहीन साधक बे-पूँछ-सींगका पशु है।

---

* वेदान्त-ज्ञानीलोग ज्ञानमार्गकी सात मंजिलें (सप्तभूमिका) बतलाते हैं—१ शुभ इच्छा २ सुविचार ३ तनुमानसा ४ सत्त्वापत्ति ५ असंशक्ति ६ पदार्थाभावनी और ७ तुरीया। यदि ये सात मंजिलें बिना विघ्नके तय हो जायँ तो ब्रह्म-साक्षात्कार होता है। इनका भेद अधिकारी सन्त ही बतला सकते हैं।

† शम—मन आदि भीतरकी इन्द्रियोंका दमन 'शम' कहलाता है।

दम—निन्दनीय कर्मोंसे मनको रोकना और बाहरकी इन्द्रियोंका जीतना 'दम' कहलाता है।

उपरति—विषय-वासनासे निवृत्ति।

तितिक्षा—दूसरोंके कटुवचनको और शीत-उष्ण-भूख-प्यासको सह लेना तितिक्षा (सहनशीलता) है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हम यहाँ ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्गकी तुलनाके फेरमें नहीं पड़ना चाहते। पहला कारण तो यह है कि यह लेख कुछ लंबा हो गया है और इसे अब समाप्त करना है और दूसरा कारण यह है कि इस तरह की विशद तुलना रामायणके उत्तरकाण्डमें मौजूद है, जिसे पाठक चाहें तो उत्तरार्द्ध*में देख सकते हैं। यहाँ कुछ मुख्य-मुख्य बातोंका ही उल्लेख करेंगे।

तुलसीकृत रामायणमें यह निष्पक्षभावसे स्वीकार किया गया है कि—

ग्यानहिं भगतिहिं नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव-संभव खेदा॥

परन्तु आगे चलकर थोड़ा अन्तर बतलाया गया है। कहा गया है कि—

(१) ज्ञान दीपक है जिसमें घी, बत्ती, पात्र, अग्नि आदि कई चीज़ोंकी आवश्यकता होती है; भक्ति मणि है जो स्वयं प्रकाशमान और स्वतन्त्र है। दीपक कभी बुझ भी सकता है। मणिकी ज्योति अखण्ड रहती है।

(२) ज्ञानमार्ग अगम और कठिन है; भक्तिमार्ग सुगम और शीघ्रसाध्य है। भक्तिपूर्ण ज्ञानमार्ग ईश्वरको अत्यन्त प्रिय है।

(३) ज्ञान सत्ययुगका धर्म है। कलियुगमें ज्ञानका साधन सहज हो नहीं सकता। जो कलियुगमें सफलता-पूर्वक ज्ञानमार्गपर चले, वह सत्ययुगी जीव है।

(४) वह ज्ञान शुद्ध ज्ञान नहीं है, जिसका आधार भगवत्-प्रेम न हो; शुष्क ज्ञान और ईश्वरभक्तिरहित वेदान्त व्यर्थ है, और—

(५) भक्ति स्वतन्त्र साधन है—ज्ञान भक्तिके अधीन है। इन्हीं कारणोंसे तुलसीदासजी कहते हैं—

कामसे रूप प्रताप दिनेससे सोमसे सील गनेससे माने।
हरिचन्द्रसे साँचे बड़े बिधिसे मघवासे महीप बिषयसुख साने॥
सुकसे मुनि सारदसे बकता चिरजीवन लोमस तें अधिकाने।
ऐसे भये तो कहा तुलसी जो पै राजिवलोचन राम न जाने॥

---

* ज्ञान और भक्तिकी तुलना इस चौपाईसे शुरू होती है—

ग्यानहिं भगतिहिं अंतर केता। सकल कहहु प्रभु कृपानिकेता॥ (उत्तरकाण्ड)

(१) देखो रामायण उत्तरकाण्डमें 'ज्ञानदीपक' का वर्णन और उसीके बाद 'भक्तिमणि' की प्रभुताका वर्णन।

(२) कहत कठिन समुझत कठिन, साधन कठिन बिबेक। होइ घुनाक्षर न्याय जो, पुनि प्रत्यूह अनेक॥
ग्यानक पंथ कृपान कै धारा। परत खगेस होय नहिं बारा॥
और,
ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहु टेका॥ (उत्तरकाण्ड)
और,
भगतिके साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी॥
जातें बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई॥ (आरण्यकाण्ड)

(३) नित जुग होहिं धरम सब केरे। हृदय राम मायाके प्रेरे॥
सुद्ध सत्त्व समता बिग्याना। कृतप्रभाव प्रसन्न मन जाना॥ (उत्तरकाण्ड)
और,
कलिजुग जोग न जग्य न ग्याना। एक अधार राम गुन गाना॥ (उत्तरकाण्ड)

(४) सोह न राम प्रेम बिनु ग्याना। करनधार बिनु जिमि जलजाना॥ (अयोध्याकाण्ड)
रामचंद्रके भजन बिनु जो चह पद निरवान। ग्यानवंत अपि सोपि नर पसु बिनु पूँछ बिषान॥
तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ग्यान निपुनाई॥
नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संयम नियम जग्य जप नाना॥
भूतदया द्विज गुरु सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥
जहँ लगि साधन बेद बखानी। सबकर फल हरिभगति भवानी॥ (उत्तरकाण्ड)

(५) भगति स्वतंत्र सकल सुखखानी। बिनु सतसंग न पावहिं प्रानी॥ (आरण्यकाण्ड)
सो स्वतंत्र अवलंब न आना। जेहि आधीन ग्यान बिग्याना॥ (आरण्यकाण्ड)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गंगा-महिमा

(बीकानेरनरेश महाराजा श्रीरायसिंहजीके भ्राता इतिहासप्रसिद्ध महाराज श्रीपृथ्वीराजसिंहजीकृत)

काया लागे काठ सिकलीघर सुधरे नहीं।
निरमल हुवे निराट भेट्या सूं भागीरथी ॥ १ ॥
गंगा ऊजल गात सिर सोहे शंकरतणी।
मुकट जटामें मात भलकै तूँ भागीरथी ॥ २ ॥
गंगाजल गुटकीह निरणेही लीधो नहीं।
भव-भवमें भटकीह भूत हुवा भागीरथी ॥ ३ ॥
गंगा अरु गीताह श्रवण सुणी अरु सांभली।
जुग नर वह जीताह वेद कहे भागीरथी ॥ ४ ॥
मौड़ो आयो मात तें वेगो ही तारियो।
पड़ियो रहसूँ पाँय, भाठो हुय भागीरथी ॥ ५ ॥
जाल्या पुत्र जकेह, साठ सहस सागर तणा।
तैं तारिया तकेह भेला ही भागीरथी ॥ ६ ॥

लाखाँ देवाँ लोय, मातन व्है भजतां मुगत।
हाडाँ पडिया होय, भीतर तोय भागीरथी ॥ ७ ॥
हरि गंगा हेकार, कहे जकै मंजण करै।
भूँडा ही क्रम भार भव न हुवे भागीरथी ॥ ८ ॥
कीया पाप जकेह, जनम-जनममें जूजवा।
तैं भाँजिया तकेह भेला ही भागीरथी ॥ ९ ॥
सुरसरि दीपै सात, नव खंडै चहवे निगम।
तूँ मानीजे मात, भवने ही भागीरथी ॥ १० ॥
देवी तूँ देवेह, जननी करि सारी जगति।
मानी मान वियेह, भम गैही भागीरथी ॥ ११ ॥
सुरसरि बांछे श्रेव, थहरे तट कीटहि थयो।
देवन वांछूं देवि, भूपति हुय भागीरथी ॥ १२ ॥

धातुपर लगे हुए काठ (जंग) को तो सिकलीगर भी दूर कर सकता है परन्तु कायामें लगे हुए पाप-रूपी काठको वह भी दूर नहीं कर सकता। हे माता भागीरथी! वह तो केवल तेरे पवित्र सलिलके स्पर्शसे ही दूर हो सकता है ॥ १ ॥ हे भागीरथी! तेरी निर्मल जलराशि भगवान् शंकरकी जटामें मुकुटकी तरह दीप्तिमान् है ॥ २ ॥ हे भागीरथी! जिसने प्रातःकाल मुखमें कुछ डालनेके पूर्व ही गंगाजलका घूँट पान नहीं किया है वह प्रेतयोनिको प्राप्त होकर जन्म-जन्मान्तरतक दुःख भोगता रहेगा अर्थात् उसकी मुक्ति नहीं होगी ॥ ३ ॥ हे भागीरथी! जिसने तुम्हारी तथा गीताकी पावन कथाओंका श्रवण तथा मनन किया है उसने मानो संसारको जीत लिया है अर्थात् ज्ञानप्राप्तिद्वारा वह पाप और दुःखसे छूट जाता है ऐसी वेद भगवान्की आज्ञा है ॥ ४ ॥ हे भागीरथी! मुझे आनेमें अवश्य विलम्ब हुआ परन्तु तूने तो तारनेमें शीघ्रता ही की है। मैं तो तुम्हारे चरणप्रान्तमें शिला होकर पड़ा रहना चाहता हूँ। (जिससे तुम्हारी पवित्र लहरें मेरे कलेवरको पखारती रहें) ॥५॥ हे भागीरथी! सगरके साठ हजार पुत्र जो कपिल महामुनिकी शापाग्निमें पड़कर भस्मीभूत हो गये थे उन सबका एक साथ ही तैंने उद्धार कर दिया है ॥ ६ ॥ हे भागीरथी! जो मुक्ति लाखों देवताओंकी आराधना करनेसे भी नहीं मिलती है वही तुम्हारी पावन जलराशिमें अस्थि-समर्पण हो जानेमात्रहीसे प्राप्त हो जाती है ॥ ७ ॥ हे भागीरथी! हरि और गंगा इन शब्दोंका, स्नान करते समय जो कोई मुखसे उच्चारण करता है उसको पापकर्मोंका भार वहन नहीं करना पड़ता ॥ ८ ॥ हे भागीरथी! जन्म-जन्मान्तरमें जो विभिन्न प्रकार पाप किये थे उनको तुमने एक साथ ही नष्ट कर दिया है ॥ ९ ॥ हे भागीरथी! सात द्वीप, नव खण्ड, चौदह भुवन और शास्त्रोंमें तू माननीय है ॥ १० ॥ हे भागीरथी! देवता तथा कीटाणुओंने भी तुझको माता मानकर श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक तेरा सम्मान किया है ॥ ११ ॥ हे सुरसरि! मेरी इच्छा है कि तेरे तटपर कीट होकर भी रहूँ यही श्रेयस्कर है परन्तु देवलोकमें भूपति होकर भी रहनेकी मैं इच्छा नहीं करता ॥ १२ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नित नित नवाँ नवाँ, मंजण करताँ मानव्याँ।
भव टालियै भवाँह, भव कीजै भागीरथी ॥१३॥
तूझ सिनानां तोय, माता ह्याँ लाभइ मुगति।
हरि अधिकारी होय, तइ भजताँ भागीरथी ॥१४॥
अनि तीरथे अघात, अनि देवते न आपियइ।
मात मुगति तिल मात, तो भायै भागीरथी ॥१५॥
लागी सांकल लोय, छूटे छाँट तुहायली।
तणी करम्मा तोय, भौले ही भागीरथी ॥१६॥
जव तिल जितरो जाय, हेक कणूँ को हाडरी।
मुवाँ पछे ही माय, भेलै गत भागीरथी ॥१७॥
पुलियै मग पुलियाह, हुवै दरस अदरस हुवा।
जल पैठाँ जलियाह, मंदा क्रम मंदाकिनी ॥१८॥

हे भागीरथी ! तुम्हारे पवित्र जलमें स्नान करते ही तुमने नित-नित नये-नये मनुष्योंके जन्म-जन्मके पापोंका मोचन किया है ॥ १३ ॥ हे भागीरथी ! तुम्हारे पवित्र जलमें स्नान करनेसे मुक्ति मिलती है और तुम्हारा भजन करनेसे ईश-प्राप्ति होती है ॥ १४ ॥ हे भागीरथी ! जो मुक्ति अन्य तीर्थोंका स्नान करने तथा अन्य देवताओंका भजन करनेसे नहीं मिलती है उसीको तू तिलमात्रकी तरह सहजमें प्रदान कर देती है ॥ १५ ॥ हे भागीरथी ! कर्मोंकी तनी जो लोहशृंखलाकी तरह टूटनेमें कठिनतम होती है वही तेरे पवित्र जलबिन्दुसे सहज ही टूट जाती है ॥ १६ ॥ हे भागीरथी ! मरणोपरान्त तिल व यवतुल्य अस्थिके एक कणका भी तुम्हारे जलमें समर्पित हो जानेपर मृतकका काम बन जाता है अर्थात् उसकी मुक्ति हो जाती है ॥ १७ ॥ हे मन्दाकिनी ! तुम्हारी यात्राके निमित्त प्रस्थान करते ही पाप साथ-साथ रवाना हो जाते हैं, तुम्हारे दर्शन होते ही अदृश्य हो जाते हैं और तुम्हारे जलमें प्रवेश करनेपर जल जाते हैं ॥ १८ ॥

(संग्रहकार और सम्पादक पं० मुरलीधरजी व्यास लालाणी एवं पं० फकीरचन्दजी पुरोहित)

तलाक़ सभ्यताका चिह्न है ?

(लेखिका—श्रीमती रूपरानी 'श्यामा' बी० ए०)

साँझ रही या सबेरा, पर हाँ, इतना तो था कि हल्के-हल्के सुनहले बादल खेल रहे थे। रंग-बिरंगे कपड़े पहने हुए वे कभी भेड़ बनते, कभी बकरी, कभी ऊँट बनते, कभी हाथी। मनुष्यताके बच्चोंको रिझानेके लिये नया स्वाँग रच रहे थे। इसी समय एक बहेलियेने अपने धनुषपर तीर चढ़ाया और छोड़ दिया। एक तालाबके किनारे क्रौञ्च पक्षीका जोड़ा जलमें बादलों-का तमाशा देखकर आनन्द ले रहा था। अचानक बहेलियेका तीर उनमेंसे एकको लगा। बड़े दर्दके साथ चिल्लाकर वह वहीं ढेर हो गया। दूसरा पक्षी भी पंख फड़फड़ाकर, ऐंठकर वहीं गिर गया और मर गया। कहते हैं कि आदिकवि वाल्मीकिने बहेलियेको शाप दिया और यही घटना विश्वकाव्यकी नींव है। वाल्मीकिजीने शाप दिया या नहीं, उस शापका फल कुछ हुआ कि नहीं और वही काव्यका उद्गम कारण है या नहीं, यह मेरी पहुँचसे बाहरकी बात है। मैं केवल यही पूछना चाहती हूँ कि एकके मर जानेपर दूसरे पक्षीने अपने प्राण क्यों दिये ? सच पूछिये तो यही प्रश्न तलाक़का प्रचार करनेवालोंके लिये उत्तर है।

हिन्दुस्तानमें तलाक़ जारी करानेवाले लोग यह दलील देते हैं कि वर और कन्याकी आपसमें जान-पहचान कराये बिना ही यहाँ विवाह हो जाता है, इसलिये यहाँ तलाक़का अधिकार मिलना ही चाहिये। पर मैं पूछती हूँ कि विलायतमें तो भली प्रकार परिचय हो जाता है फिर वहाँ तलाक़की नौबत क्यों आती

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है। इसका अर्थ यही है कि विवाहका ठीक रहस्य ही उन लोगोंने नहीं जाना है।

जिस भारतका इतिहास जौहरों और सतीदाहोंसे भरा पड़ा हो उसके आँगनमें ऐसी गन्दी दुश्चरित्रताकी बात करना वहाँकी महिलाओंका अपमान करना है। भारतीय महिला किसी पुरुषके साथ रहनेका ठेका नहीं करती। वह उसे अपनी देह और अपनी आत्मा दे डालती है। वह अपनेपनको अपने पतिमें मिला देती है, फिर स्त्री अपना अलग व्यक्तित्व नहीं रखती, वह अपने पतिकी अङ्ग बन जाती है। वह केवल नाममात्रको 'श्रेष्ठतर अर्द्धाङ्ग' कहलाकर ही नहीं फूल जाती वरं वह अपने पतिके दुःखमें और सुखमें, लाभमें या हानिमें उससे हिस्सा बँटाती है। जो स्त्री अपने पतिके दुःखमें उसे तलाक़ देकर चली जाती है उसका सभ्य कहलाना तो दूर रहा उसके लिये यह भी सन्देह हो सकता है कि यह मनुष्यकी कन्या है या राक्षस अथवा पशुकी। क्योंकि जब हम मनुष्यताकी बात करते हैं तो हम मनुष्यके कुछ गुणोंकी भी कल्पना करते हैं। वे गुण हैं सचाई, सेवा और त्याग। जिसमें ये गुण नहीं हैं वह अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनकर भले ही अपनेको सभ्य और मनुष्य कहे किन्तु वह क्या है यह सभी जान सकते हैं। हिन्दू-कन्याका विवाह केवल इसीलिये नहीं होता कि वह अपने पतिकी कामुकताकी सामग्री मात्र बने। वह भगवान्‌की सृष्टिके एक पुरुषकी सेवा करने जाती है। अपना सुख भूलकर, अपने मानापमानका ध्यान छोड़कर, कष्ट सहकर अपनी आत्मा और देहको सौंपकर वह आत्मत्यागके पथपर चलती है। सचाई और लगनके साथ वह एक पुरुषकी सेवा करने चलती है। 'सेवा' कितनी बड़ी बात है। किन्तु सृष्टिके प्रारम्भसे ही स्त्रीने सेवाव्रत लिया। 'अबला' कहलानेवाली स्त्रीने दुःख सहकर, यन्त्रणा सहकर, अपमान सहकर ही 'माता' का पद पाया है। जब बालक अपनी जननीके पास 'माँ, माँ' कहकर दौड़ता हुआ आता है, माँ फूली नहीं समाती। यह उसकी तपस्याका फल है। गर्भ धारण करके, बालकको जन्म देकर, मल-मूत्रमें पड़ी रहकर, रातदिन जागकर, भूख-प्यास सहकर वह पहली बार जब कोमल दुधमुँहे बच्चेकी दुँतुलियोंके बीचसे 'माँ' शब्द सुनती है और उसकी कोमल पुतलियोंकी कोरपर हँसी देखती है तो कितनी तन्मयताके साथ वह उस बालकका मुँह चूम लेती है और गलेसे लगा लेती है। यह स्वर्ग, तपस्या और त्याग, सचाई और सेवासे ही तो मिला है।

बाहरसे थके आये हुए पतिको पंखा झलकर, उनके लिये मधुर भोजन परोसकर, उनके पाँव दाबकर स्त्री केवल प्रेम पाती हो यही बात नहीं है। उसे वही आनन्द मिलता है जो प्यासेको पानी पिलाकर, भूखेको भोजन कराकर, ठिठुरते हुएको वस्त्र देकर और रोगीको दवा पिलाकर मिलता है। वह समझती है कि यह सेवा मैं स्वयं भगवान्‌की, नारायणकी कर रही हूँ। कभी समय था जब लोग तड़पते थे कि उन्हें सेवा करनेका अवसर मिले। पर भगवान्‌ने स्त्रीको सेवाका स्वरूप बनाया है, उसके साथ पक्षपात करके उसे यह सौभाग्य दिया है। भला कौन मूर्ख स्त्री होगी जो यह सुख छोड़कर इधर-उधर मारी-मारी फिरे। और कौन ऐसे मूर्ख पुरुष होंगे जो अपनी माताओं और बहिनोंको इस ऊँचे सिंहासनसे ढकेलकर कीचड़में फेंकना चाहेंगे।

स्त्रीका पद ऐसा ही है जैसा एक स्वयंसेवकका। वह सेवा करनेका इनाम नहीं चाहता, वेतन नहीं चाहता। गाली खाकर, चोट सहकर, भूख-प्यास सहकर, घिनका ध्यान न करके अन्धे-कोढ़ी, मरे-गिरे यात्रियोंको कन्धेपर उठाकर अस्पताल पहुँचाता है, उनके मैले कपड़े धोता है, कड़ी गर्मीमें अपने

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

काममें मुस्तैद हँसता हुआ अपना कर्त्तव्य पालन करता है। सब मुसीबतोंका सामना करता है पर उसकी भौंहोंपर बल नहीं आता, वह शिकायत नहीं करता, वह यही नहीं जानता कि कठिनाई और मुसीबत किसे कहते हैं। वह कर्त्तव्यको जानता है। वह यह जानता है कि उसका जन्म परोपकार और सेवाके लिये हुआ है। बस यही स्वयंसेवक देवता है। इसी तरह जो स्त्री अपने जीवनको त्यागमय, तपोमय, सेवामय समझती है वही देवी है।

अब आइये, दूसरी ओर। ये स्त्रियाँ तलाक़ चाहती हैं क्योंकि उनके पतिने इनको गाली दी या मारा या ये कुमार्गी हैं इत्यादि। यूरोप और अमेरिकाके समाचार-पत्र ऐसी सैकड़ों घटनाओंसे नित्य भरे रहते हैं। क्यों? क्योंकि उनके यहाँ विवाह एक ठेका है। जबतक हमें ठीक खाने-पीने, पहरने, ओढ़नेको मिलेगा तथा स्वेच्छा-विहार करनेको मिलेगा तबतक हम तुम्हारी हैं। जिस दिन हमारी स्वच्छन्दतामें बाधा पड़ेगी उसी दिन हमारा-तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं। ऐसे विचारवाली, चञ्चला, बहुमना, स्वेच्छाचारिणी स्त्रियाँ अपने देश और समाजके लिये कलङ्क हैं। जरा-से कष्टसे घबरा जाना भी क्या मनुष्यता है? मुसीबतोंका वीरतासे सामना करना, उनपर विजय पाना मनुष्यता है। तलाक़-प्रेमी स्त्रियाँ इधर बिना पेंदीके लोटेकी तरह ढुलकती फिरती हैं और इनका अन्त यही होता है कि ऐसी स्त्रियाँ या तो आत्मघात कर लेती हैं या फिर पश्चात्ताप करती हैं।

हमारे देशकी स्त्रियोंके सामने अब दो प्रश्न हैं? क्या वे सेवा और त्यागका व्रत लेकर मनुष्यताकी सेवा करके पूजनीया माता और आराध्या देवी बनकर स्वर्गका राज्य करना चाहती हैं अथवा निकम्मे पशुओंके समान इधर-उधर कामुकताका व्यवहार करते हुए नरकके कीड़ोंके साथ रहना चाहती हैं। एक ओर सारा संसार तुम्हारी ओर देखकर श्रद्धासे, भक्तिसे नतमस्तक होकर हाथ जोड़कर प्रणाम करेगा और तुम्हारे चरणोंकी धूलि अपने मस्तकमें लगाकर अपना जीवन धन्य समझेगा और दूसरी ओर सारा संसार तुम्हें देखकर तुम्हारे मुखपर कामुकता-पूर्ण दृष्टिपात करेगा, तुम्हें देखकर उँगली उठायेगा और तुम्हारे चरित्रकी आलोचना करेगा। एक ओर तुम माता, देवी, जननी कहलाकर पूजी जाओगी, दूसरी ओर कामिनी, मानिनी और कुलटा कहाकर लोगोंकी आँखोंमें गिर जाओगी। उत्तर बिल्कुल स्पष्ट है। भारतीय नारी अपनी परम्परागत प्रतिष्ठा और सेवाको, अपने सत्य और त्यागको, क्षणिक सुख और आनन्दके लिये बलिदान करनेको तैयार नहीं है। वह सम्पूर्ण कष्ट और यातनाएँ सहकर भी तलाक़-जैसे निन्दनीय और घृणित प्रस्तावकी ओर आँख उठाकर भी नहीं देखना चाहती। वह नहीं चाहती कि अपने जरासे सुखके लिये अपने सतीत्वको कामी पशुओंकी भोग-सामग्री बना दें अथवा उसके लिये बाजारमें दर-दर ग्राहक ढूँढ़ती फिरे।

अब दूसरा पहलू यह है कि पुरुष क्यों तलाक़ चाहते हैं? उनकी दलील यह है कि बहुत-सी स्त्रियाँ झगड़ालू और कर्कशा होती हैं और जीवनको नीरस बना देती हैं, उनसे छुटकारा पाना ही अच्छा। परन्तु यदि आप अपनी स्त्रीको सीता बनाना चाहते हैं तो आप भी तो राम बनिये। यदि आप सज्जनता, उदारता और स्नेह दिखलायेंगे तो स्त्रीका कोमल हृदय आपका अवश्य स्वागत करेगा। मैं देख चुकी हूँ कि जहाँ-जहाँ पुरुषोंने सज्जनताका व्यवहार किया है उन घरोंकी कर्कशा स्त्रियोंको लाचार होकर अपना उग्र स्वभाव और दुर्व्यवहार बदलना ही पड़ा है।

पर सच पूछें तो जो लोग तलाक़का प्रचार कर रहे हैं वे लोग अपनी कामुकताकी धारा निर्बाध बनाये

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चाहते हैं। समाजकी अनेक व्याधियोंके साथ एक यह भी व्याधि लगाना चाहते हैं। वे चाहते हैं कि यह सुसंगठित हिन्दूसमाज छिन्न-भिन्न हो, जाति-कलह, भ्रातृ-कलहके बाद पति-पत्नी-कलह, गृह-कलह और परित्याग होने लगे, और भारतका बचा-खुचा गृह-सुख भी समाप्त हो जाय। हाँ, वकीलोंको कुछ काम मिल जायगा और लम्पट पुरुषोंकी कामपिपासा बुझनेका राजद्वार खुल जायगा। कितनी हास्यास्पद यह स्थिति होगी जब लोग कहेंगे कि अमुक स्त्री तो बड़ी सभ्य है क्योंकि उसने अपने पतिका परित्याग कर दिया है, अथवा अमुक पुरुष बड़े सभ्य हैं जिन्होंने अपनी स्त्रीका परित्याग कर दिया है। परित्यक्त पुरुष तो खैर निर्वाह कर भी लेंगे किन्तु स्मरण रखिये यह चेतावनी है कि यदि तलाक़की प्रथा यहाँ भी प्रारम्भ हुई तो बेचारी कितनी ही परित्यक्ता स्त्रियाँ निराधार होकर आत्मसंयम और सुशिक्षाके अभावमें अपना सतीत्व उन विधर्मियोंके चरणोंमें अर्पित कर देंगी जो कबीसे उस अवसरके लिये ताक लगाये बैठे हैं। इतना ही नहीं बल्कि वे लोग ऐसे साधन उपस्थित करनेमें भी बाज़ नहीं आवेंगे जिससे बहुत-से लोग परित्यागके लिये विवश हो जायँगे। उस समय किसी सुधारकका किया कुछ भी न होगा।

आवश्यकता इस बातकी नहीं है कि हम एक दूसरेकी कमी और उसका दोष निकालकर अलग हों बल्कि आवश्यकता इस बातकी है कि बालकों और बालिकाओंको सच्चरित्रता, त्याग, सेवा, परोपकार, सद्भाव, सहयोग और सचाईकी शिक्षा दें जिससे कि वे ऐसे श्रेष्ठ नागरिक बनें, ऐसे सुन्दर गृहस्थ बनें कि घर-घर प्रेम और सद्व्यवहारका साम्राज्य हो, सब अपनी ज़िम्मेदारी समझें और इस प्रकार अपने आचार और विचारसे दिखला दें कि हममें संयम है। हम अन्य देशोंके पुरुषों और स्त्रियोंके समान कामासक्ति-के उपासक नहीं हैं। हमारा विवाह-बन्धन त्याग तथा परस्पर कर्त्तव्य और सहयोगका पवित्र बन्धन है और एक बारका बँधा हुआ यह बन्धन हम किसी कारणसे भी तोड़नेके लिये तैयार नहीं हैं।

सिंह एक सिंहिनीके साथ वनका राज्य करता है। वह सिंहिनीके सौन्दर्यकी आलोचना नहीं करता, उसके गुणोंकी परीक्षा नहीं लेता फिरता। वह उसकी सिंहिनी है यही बहुत है। जब पशुओंमें इतनी सचाई, स्नेह, लगन और आत्मीयता मौजूद है तब यह बुद्धि-धारी मनुष्य पशुसे भी गया-गुज़रा क्यों बन रहा है। पशुओंकी सभ्यतामें भी तलाक़-जैसी निन्दनीय बात नहीं है फिर किस मुँहसे लोग यह कहनेका दुःसाहस करते हैं कि तलाक़ सभ्यताका चिह्न है। (सनातनधर्म)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शिव-रात्रि-अनुभव

(रचयिता—श्रीब्रह्मदत्तजी शर्मा 'शिशु')

अर्द्ध निशान्तर-
नीरव निशीथिनीमें
ऋतुपति-नव-कुञ्ज-मध्य-
निविड़तममें भी जगमग-
विशुभ्र मन्दिरमें,
शुभ्र स्फटिक परमोज्ज्वल दिव्यमूर्ति,
शंकर ! प्रिय शंकर-
प्रियतम शंकर पुण्यमूर्ति,
नहीं, नहीं, साक्षात्-
चन्द्रोज्ज्वल हिमकान्तिमान्-
विश्वनाथ निश्चल समाधिमग्न-
दिव्य प्रभमण्डलासीन-नीलकण्ठ-
त्रिभुवन विभूतिमय ।
और-
एक हिरण्य-शिख-अचञ्चल-
गोघृतमय मञ्जुदीप, मधुर सौम्य ज्योतिर्मान् ।
पास ही-
ऐहिक वैभवविहीन-
नग्न निर्धन एक द्विज शिशु
विभूतिमय मस्तकपर
वैष्णव तिलकांकित,
पादपद्मोंमें विनत-
शून्यचित्त,
श्रेय-चिरकालाभाव-त्रस्त,
ओह ! नहीं-
अतुल विरहानलध्वस्त-
रो उठा हुबक हुबक,
आसिक्त वक्षस्थल-ढुलक गया-
अभाव-विस्मृत,
व्यक्ताव्यक्त चरणोंपर ।
प्रत्यक्ष, ठीक अंशुमान्वत्-
देखा—
अहह ! नहीं, अनुभव किया,
रसनाके स्वाद-सा-
जगती-सा प्रत्यक्ष,
पर, जगतीका नहीं-
"भाव" अभावमें,
जडमें चैतन्य,
मर्त्यमें अमर्त्य,
अविभुमें विभु ।
और—
आनन्दार्थ द्वार द्वारके भिक्षुक-
कण कणसे रिक्त-अभाव पतित-
हृदयमें,
भाव प्रत्यक्ष भाव,
आनन्द ! असीमानन्द !!
लोकेतर दिव्यानन्द,
आश्चर्य महद् आश्चर्य,
आलोक अद्भुत आलोक
और—कम्पन-विभोर,
माँका विद्युल्लतिका सम-
चमत्कृत लास्य नृत्य,
और-अनन्त व्योम मध्य-
एकमात्र जीवन ध्वनि-
"हर हर हर मृत्युञ्जय चन्द्रमौलि-
गिरजेश्वर-आशुतोष । ॐ !"

॥ श्रीहरिः ॥

कल्याण चैत्र संवत् १९९२ की

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-विनय [कविता] (श्रीतुलसीदासजी)	१२८५
२-एक वयोवृद्ध विरक्त महात्माके उपदेश	१२८६
३-अमूल्य वचन (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके व्याख्यानोंसे संकलित) ...	१२८७
४-कल्याण ('शिव')	१२८७
५-वर्तमान शिक्षा (हनुमानप्रसाद पोद्दार)	१२८९
६-श्रीरासलीलारहस्य (महात्माका उपदेश)	१३०१
७-परमहंस-विवेकमाला (स्वामीजी श्रीभोले-बाबाजी)	१३०८
८-ईश्वरका अस्तित्व (स्वामी श्रीएकरसानन्द-जी सरस्वती)	१३१४
९-अक्रूरजीका भावुक हृदय (पं० श्रीमथुरा-नाथजी शर्मा शास्त्री भट्ट) ...	१३१७
१०-नीको [कविता] (श्रीललितकिशोरीजी)	१३२३
११-श्रीकैकेयी और सुमित्रामाताके चरित्रसे शिक्षा (श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)	१३२४
१२-महात्मा सुन्दरदासकी अनन्यता (पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम० ए०)	१३२९
१३-पवित्र जीवनका रहस्य (पं० श्रीकृष्ण-दत्तजी भट्ट) ...	१३३४
१४-धर्मसूत्र (योगिराज श्रीगंभीरनाथजी) ...	१३३९
१५-नेक कमाईकी बरकत (श्रीनारायणदासजी बाजोरिया)	१३४०
१६-भगतके वशमें हैं भगवान (श्रीपारसचन्दजी)	१३४२
१७-यज्ञका मर्म (श्रीअरविन्द) ...	१३४४
१८-भक्त-गाथा	१३५०
१९-परमहंस श्रीरामकृष्ण	१३५३
२०-एक बड़ा पाप (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ...	१३५५
२१-सम्राट् पञ्चम जार्ज	१३५८
२२-कृपालु संत महात्मा भक्त और विद्वान् लेखकों-से प्रार्थना (हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक)	१३५९
२३-वेदान्ताङ्कके लेखोंकी विषय-सूची ...	१३६०

क्षमाप्रार्थना

कल्याणके 'योगाङ्क' पृष्ठ ७७५ में पूज्यपाद श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराजके सम्बन्धमें एक छोटा-सा लेख निकला था। उसमें लेखकने हिन्दी विश्वकोषके आधारपर श्रीआचार्यके सम्बन्धमें कुछ बातें लिखी थीं। और जिस रूपमें वह लेख मिला था उसी रूपमें वह छाप दिया गया था। अब मालूम हुआ है कि उक्त लेखमें छपी बातें श्रीरामानन्दसम्प्रदायके बहुत-से गण्य-मान्य पुरुषोंको मान्य नहीं हैं और उन्हें उस लेखको पढ़कर बड़ा दुःख हुआ है। इस विषयमें सत्य क्या है, हमें इस बातका पता नहीं है, और न किसीको दुःख पहुँचानेकी नीयतसे कोई बात छापी ही गयी है। हमें बड़ा खेद है कि कल्याणमें प्रकाशित लेखसे श्रीरामानन्दसम्प्रदाय-के अनेकों महानुभावोंको दुःख पहुँचा और इसके लिये हम उनसे विनयपूर्वक क्षमाप्रार्थी हैं। आशा है कि वे हमारी नीयतकी ओर देखकर हमें कृपया क्षमा करेंगे। उनका लिखना है कि आचार्य श्रीरामानन्दजीके सम्बन्धमें कल्याणके भक्ताङ्कमें जो लेख छपा है, उसमें छपी बातें सत्य हैं। साथ ही हमें ऐसे पत्र भी मिले हैं जिनमें उन बातोंको सत्य नहीं भी बतलाया गया है। परन्तु 'कल्याण' इस विवादसे अपनेको सर्वथा अलग रखना चाहता है अतएव प्रार्थना है कि अब इस सम्बन्धमें कोई सज्जन पत्रव्यवहार न करें। जिन्हें भक्ताङ्कका उक्त लेख पढ़ना हो वे कल्याण-कार्यालयसे भक्ताङ्कका नया संस्करण मँगाकर पढ़ सकते हैं।

—सम्पादक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीहरिः

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

दमा (श्वास) की दवा

जबसे 'कल्याण' में सूचना निकली है, तबसे दवाकी माँग बहुत जोरोंसे आ रही है। अबतक २००० से ऊपर लोगोंके लिये दवा भेजी जा चुकी है। इनमेंसे बहुत लोगोंके पत्र आये हैं; कुछ लिखते हैं, 'दवा ली गयी कोई आराम नहीं हुआ,' कुछने लिखा है 'बहुत आराम है परन्तु रोग कुछ शेष रह गया है', बहुत-से ऐसे पत्र आये हैं, जिनमें पुरानी बीमारी भी बिल्कुल नष्ट हो जानेकी बात लिखी है, और प्रसन्नतासे आशीर्वाद दिया गया है। इससे मालूम होता है, बहुत लोगोंको पूरा लाभ पहुँचा है, बहुतोंको आंशिक लाभ हुआ है, और बहुतोंको कुछ भी लाभ नहीं हुआ। जिनको लाभ नहीं हुआ वे मुझसे अन्य उपाय पूछते हैं, मैं वैद्य नहीं हूँ, इससे उनको कोई दूसरा उपाय नहीं बतला सकता। जिनको आंशिक लाभ हुआ है, वे फिरसे दवा लेनेकी बात पूछते हैं, यद्यपि एक ही बार दवा लेनी चाहिये, ऐसा मुझको बतलाया गया था, परन्तु मेरी समझसे पूर्ण आरोग्य न हो तो उसी नियमसे दुबारा लेनेमें कोई हानि नहीं जान पड़ती। अतएव जिनको पूरा आराम नहीं हुआ है, वे चाहें तो फिर दवा मँगाकर ले सकते हैं। बात यह है कि मुझको इस दवासे आराम हुआ था, और जो नियम मुझको बतलाये गये थे, प्रायः वही नियम मैं भी बतला रहा हूँ। इसके सिवा मैं कुछ भी नहीं जानता। दवा लेनेसे सभीको आराम होगा ऐसी आशा तो किसी भी दवासे नहीं की जा सकती। कुछ लोगोंका कहना है कि दवा घिसनेमें बड़ी तकलीफ होती है, बहुत समय लगता है, अतएव यदि इसे कुचलकर सिल-बट्टेपर पीस दिया जाय तो क्या हर्ज है? बात ठीक है परन्तु मैं इस सम्बन्धमें कुछ कह नहीं सकता। मुझे ऐसा ही बतलाया गया था। सिल-बट्टेपर कूट-पीसकर लेनेकी भी परीक्षा करनी चाहिये। जो सज्जन इस प्रकार लें, वे जो कुछ फल हो सो जरूर लिखें। दवासे लाभ हो जानेपर कुछ खाँसी रह जाय तो उसके लिये दूसरी दवा, इस दवा लेनेके तीन दिन बाद ले सकते हैं। हमलोग दवाकी सूक्ष्म मात्रा बनानेकी वैज्ञानिक तरकीब भी सोच रहे हैं, परन्तु जबतक उसमें सफल न हो जायँ, तबतक ऐसे ही दवा लेनी चाहिये।

दवा पीनेके नियम

(१) अगर रोगीको तंबाकू खाने-पीने या सूँघनेकी आदत हो तो उसको बिल्कुल छोड़कर तीन सप्ताह (२१ दिन) के बाद दवा पीना चाहिये। (२) सारी दवा एक ही बार पी जाती है। यह दवा एक खूराक है। बच्चोंको आधी खूराक देनी चाहिये। (३) शनिवारके दिन शामको दवा अंदाजन आधा सेर गंगाजलमें (गंगाजल न मिले तो किसी नदी या कुएँके शुद्ध जलमें) एक पत्थरके बर्तनमें भिगो देनी चाहिये। (४) दूसरे दिन रविवारको सवेरे कोई आदमी नहाकर कपड़े बदलकर सारी दवाको २॥ (ढाई) दाना सफेद जीराके साथ उसी पानीमें, जिसमें कि दवा भिगोई गयी है, चन्दनके माफिक घिस डाले। घिसनेमें ६-७ घंटे लग सकते हैं, घबराये नहीं। दो-तीन आदमी पारी-पारीसे घिस सकते हैं, घिसनेसे कुछ बच रहे तो उसे रहने दें। (५) रोगी कपड़ा बदलकर मुँह धोकर बासी मुँह (बिना कुछ खाये-पिये) दवा पी जावे। (६) दवा पीनेसे पहले पाँच पैसे (या अधिक अपनी हैसियतके अनुसार) भगवान्‌के नामपर निकालकर अलग रख दे और दवा पीनेके चौथे दिन वह पैसे (मंदिर, मसजिद, अगियारी या गिरजामें) जहाँके नाम निकाले हों, वहीं चढ़ा देवे। (७) दवा पीनेके बाद २॥ (ढाई) घंटा थूकना नहीं चाहिये। (८) दवा पीनेके दिन और उसके बाद दो दिन दुपहरको एक नये मिट्टीके बरतनमें (एक ही बरतनमें जो कुछ पक जाय जैसे मूँगकी खिचड़ी, दलिया आदि) भोजन बनाकर खाना चाहिये, रातको सिर्फ थोड़ा दूध पीकर सो रहना चाहिये। (९) दवा पीनेके बाद एक सप्ताह (सात दिनतक) रोगी पाँच चीजोंसे परहेज करे—दही, खटाई, तेल, लाल मिर्च और पत्तीदार साग (पालक, मरसा आदि)। (१०) उसके बाद जिंदगीभर पाँच चीजोंसे परहेज करे—तंबाकू, उरद (माष), पेठा (जिसको श्वेत कूष्माण्ड, छवा या सफेद कोंहड़ा भी कहते हैं), मांस और शराब। ये पाँच चीजें किसी भी सूरतमें इस्तेमाल न करे। (११) जिनको दवाकी जरूरत हो वे नीचे लिखे पतेपर पत्र लिखकर दवा मँगावा लें। (१२) दवा मँगानेवाले पैकिंग, आदमीखर्च, तथा डाकखर्चके लिये एक खूराकके लिये पाँच पैसेका टिकट जरूर भेज दें। (१३) दवा लेनेके बाद जो कुछ फल हो सो जरूर लिखें।

हनुमानप्रसाद पोद्दार
गीताप्रेस, गोरखपुर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

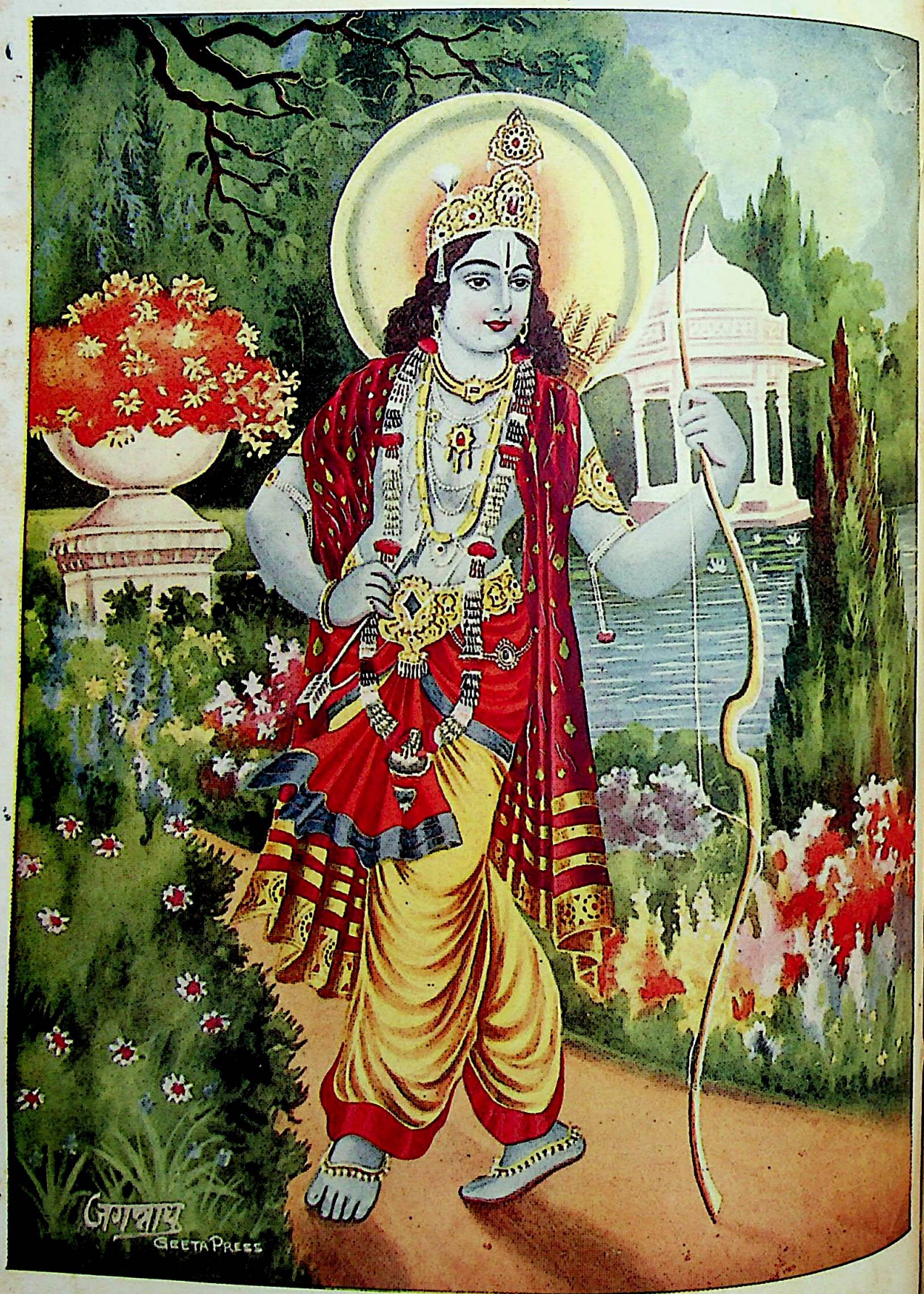

त्रिभुवनमोहन राम

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(भगवान् श्रीकृष्ण)

वर्ष १० | गोरखपुर, चैत्र १९९२, अप्रैल १९३६ | संख्या ९ पूर्ण संख्या ११७

विनय

जानकी-जीवन, जग-जीवन, जगतहित, जगदीस, रघुनाथ, राजीवलोचन राम ।
सरद-बिधु-बदन, सुखसील, श्रीसदन, सहज सुंदर तनु, सोभा अगनित काम ॥
जग-सुपिता, सुमातु, सुगुरु, सुहित, सुमीत, सबको दाहिनो, दीनबंधु, काहूको न बाम ।
आरतिहरन, सरनद, अतुलित दानि, प्रनतपालु, कृपालु, पतित-पावन नाम ॥
सकल बिस्व-बंदित, सकल सुर-सेवित, आगम, निगम कहैं रावेरई गुनग्राम ।
इहै जानि तुलसी तिहारो जन भयो, न्यारो कै गनिबो जहाँ गने गरीब गुलाम ॥

—तुलसीदासजी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

एक वयोवृद्ध विरक्त महात्माके उपदेश

प्रश्न–भगवान्‌में प्रेम कैसे हो ?

उत्तर–भगवान्‌के उपकारोंको याद करनेसे उनमें प्रेम हो सकता है। भगवान्‌के उपकार अनन्त हैं, उनकी गणना नहीं की जा सकती। देखो, यह जो शरीर दिखायी दे रहा है उसका कारण रज और वीर्य हैं, जिनके वस्त्रोंसे भी स्पर्श होनेपर शरीर अपवित्र समझा जाता है; किन्तु भगवान्‌की कृपासे आज इसे यह गौरव प्राप्त हुआ है। यह बात इसे माता-पिताके कारण प्राप्त नहीं हुई; यह तो ईश्वरकी ही कृपा है।

शरीरमें भी नेत्रोंको देखिये। इनका प्राप्त होना इतना दुर्लभ है कि बम्बई-कलकत्ता आदि बड़े-बड़े नगरों-में जाकर ढूँढ़ा जाय तो बड़े-से-बड़े व्यापारीके यहाँ भी करोड़ों रुपयोंमें भी इनका मिलना कठिन है। ये ऐसे प्रकाशमय हैं कि रात-दिन बिना किसी प्रकारके तेल-बत्तीके समस्त पदार्थोंको प्रकाशित किया करते हैं। ये कभी नहीं बुझते और अन्य दीपकोंकी भाँति इन्हें जगाने या बुझानेकी भी आवश्यकता नहीं होती।

इसी प्रकार पैर भी हमारे अत्यन्त उपकारी हैं। यदि हम कोई अच्छा घोड़ा खरीदना चाहें तो उसके लिये हजार-दो-हजार अथवा दस-बीस हजार रुपयेतककी आवश्यकता हो सकती है। किन्तु भगवान्‌ने हमें चरणरूप ऐसे घोड़े दिये हैं जो किसी प्रकारकी साईसगीरीकी भी परवा नहीं करते और न कुछ खाने-पीनेको ही माँगते हैं। घोड़ेको यदि एक दिन भी न खिलाया-पिलाया जाय तो वह काम नहीं दे सकता। किन्तु ये ऐसे घोड़े हैं कि बिना किसी प्रकारकी रसद लिये इस शरीररूप बोझेको लेकर पर्वत-वन आदि विकट-से-विकट स्थानमें जा सकते हैं।

इसी तरह हाथोंसे भी हमारे अनेकों कार्य सधते हैं। एक अच्छे-से-अच्छा सेवक भी ऐसी सेवा नहीं कर सकता। यदि साधारण सफाईके लिये एक नौकर रखा जाय तो उसे भी दस-बीस रुपया मासिक वेतन देना पड़ता है और वह भी हमारे मनके अनुसार सफाई कर सकेगा ऐसी सम्भावना नहीं है। जिह्वाको देखिये। यह मांसका एक टुकड़ा ही तो है तथापि इससे वह काम हो सकता है जिससे मनुष्य कृतार्थ हो जाता है। यदि इससे भगवन्ना-मोच्चारण किया जाय तो हमारे जन्म-जन्मान्तरके पाप क्षीण हो सकते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान्‌ने हमें एक-एक अवयव प्रदानकर हमारे ऊपर अनन्त उपकार किया है। हमें निरन्तर उनके उपकारोंका स्मरण करना चाहिये। ऐसा करते-करते हमारा उनके प्रति अनुराग हो सकता है। फिर भगवत्प्रेम प्राप्त होनेपर हमें दुर्लभ ही क्या रह सकता है ? हमें प्रभुसे कुछ माँगना नहीं पड़ेगा, वे स्वतः ही हमारा सारा योग-क्षेम चलाते रहेंगे। जो लोग वृक्ष लगाते हैं और उसे जल आदिसे सींचकर पल्लवित करते हैं उन्हें परिणाममें उसके सुस्वादु फल मिलेंगे ही। इसी प्रकार जो भगवत्प्रेमरूपी वृक्ष लगाते हैं उन्हें उसके फल स्वयं मिल जाते हैं। जो गौ पालता है उसे स्वतः ही दूध, दही और मक्खन आदि प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार भगवत्प्रेम मिलनेपर स्वयं ही सारे पदार्थ करतलगत हो जाते हैं। सच्चे भक्त भगवान्‌से कोई भी वस्तु नहीं माँगते, वे तो उनके भक्तोंके दासोंके दासोंकी चरणधूलि ही चाहते हैं।

प्रश्न–महात्मा लोग अपनी कृपासे ही प्रेमदान कर देते हैं या उनके प्रति श्रद्धा होनेसे ही लाभ हो सकता है ?

उत्तर–उच्च कोटिके महात्मा अपनी कृपासे ही सारे तापोंको दूर कर देते हैं; परन्तु हमारे ऐसे पुण्य कहाँ हैं जो उनके दर्शन हों।

प्रश्न–हम देखते हैं कि महात्माओंके दर्शन करनेपर भी हमारे चित्त शान्त नहीं होते—इसका क्या कारण है ?

उत्तर–एक हलवाईके यहाँ भट्टीपर कढ़ाई चढ़ी हुई है। किसी समय ऐसा होता है कि उसमें पकौड़े नहीं पकते। उस समय कहा जाता है कि अग्निकी शक्ति प्रतिबद्ध हो गयी है। इसी प्रकार महात्माके पास रहनेपर भी यदि शान्ति प्राप्त न हो तो समझना चाहिये कि इसमें हमारे चित्तका ही दोष है। देखो, चन्दनकी सन्निधिमें रह प्रकारकी लकड़ीमें चन्दनकी गन्ध आ जाती है, किन्तु बाँसपर उसका कोई असर नहीं होता, क्योंकि उसमें पोल है, गाँठ है और ऊँचाई है। इसी प्रकार हमारे भीतर जो नाना प्रकारके दोष हैं वह थोथ है, भगवान्‌में और अपने-में अन्तर मानना गाँठ है तथा अहंकाररूपी ऊँचाई है। इन्हींके कारण हमारे ऊपर संतोंकी सन्निधिका भी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः हमें चाहिये कि हम इन दोषों-को दूर कर दें। ऐसा होनेपर फिर संतकृपा और उसके साथ-ही-साथ भगवत्कृपा होनेमें भी कोई विलम्ब नहीं होता।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अमूल्य वचन

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके व्याख्यानोंसे संकलित)

'परमात्माके शरण होना साधकका कर्तव्य है, शरण होनेके बाद तो प्रभु स्वयं ही सारा भार सँभाल लेते हैं।'

'सात्त्विक आचरण और भगवान्‌की विशुद्ध भक्ति-से अन्तःकरणकी शुद्धि होनेपर जब भ्रम मिट जाता है, तभी साधक कृतकृत्य हो जाता है।'

'भगवान् गुणातीत हैं, बुरे-भले सभी गुणोंसे मुक्त हैं और केवल सद्‌गुणसम्पन्न हैं।'

'भगवान् चाहें जैसे, चाहें जब, चाहें जहाँ, चाहें जिस रूपमें प्रकट हो सकते हैं।'

'चराचर ब्रह्माण्ड ईश्वर है, उसकी सेवा ईश्वरकी सेवा है। संसारको सुख पहुँचाना परमात्माको सुख पहुँचाना है।'

'निष्कामभावसे प्रेमपूर्वक विधिसहित जप करनेवाला साधक बहुत शीघ्र अच्छा लाभ उठा सकता है।'

'भारी-से-भारी संकट पड़नेपर भी विशुद्ध प्रेमभक्ति और भगवत्-साक्षात्कारके सिवा अन्य किसी भी सांसारिक वस्तुकी कामना, याचना या इच्छा कभी नहीं करनी चाहिये।'

'भगवान्‌में सच्चा प्रेम होने तथा भगवान्‌की मनो-मोहिनी मूर्तिके प्रत्यक्ष दर्शन मिलनेमें विश्वास ही मूल कारण है।'

'निराकार-साकार सब एक ही तत्त्व है।'

'वह सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वसमर्थ, सर्वसाक्षी, सत्, चित्, आनन्दघन परमात्मा ही अपनी लीलासे भक्तोंके उद्धारके लिये उनकी इच्छानुसार भिन्न-भिन्न स्वरूप धारण करके अनेक लीलाएँ करता है।'

कल्याण

भगवान् हैं, वे सच्चिदानन्दघन हैं, सर्वत्र हैं, सर्वदा हैं, किसी भी देश-काल-पात्रमें उनका अभाव नहीं है। इतना होनेपर भी उनका अनुभव सबको क्यों नहीं होता? इसीलिये नहीं होता कि उनका तत्त्व-स्वरूप अत्यन्त ही पवित्रतम और सूक्ष्मतम है। उस सूक्ष्म तत्त्वको जानने और अवधारण करनेके लिये हमें शरीर, मन और बुद्धिरूप आधारको उसके उपयुक्त बनाना पड़ेगा। जबतक शरीर अशुद्ध है, चित्त चञ्चल और अपवित्र है, और बुद्धि स्थूल एवं व्यभिचारिणी है, तबतक भगवान्‌की यथार्थ अनुभूति नहीं हो सकती। तप, शौच और आचारसे शरीरको शुद्ध करो। सत्संग, भगवन्नाम-जप और भगवद्गुणोंके चिन्तनसे चित्तको शुद्ध और संयत करो, एकमात्र परमसत्य परमात्माके स्वरूपके ध्यानसे बुद्धिको सूक्ष्म और अव्यभिचारिणी बनाओ। फिर परमात्माका अनुभव होनेमें—भगवान्‌के दर्शनमें देर नहीं होगी।

इसीलिये आधारकी शुद्धिपर इतना जोर दिया गया है। अशुद्ध आधारसे होनेवाला भगवत्प्रतिष्ठाका साधन यथार्थ आनन्द नहीं देता। क्योंकि परमशुद्ध-का प्रतिबिम्ब भी अशुद्धमें नहीं दीखता। परन्तु

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

साधन करते रहो। श्रद्धापूर्वक साधन करते-करते ज्यों-ज्यों आधार शुद्ध होगा, त्यों-ही-त्यों उसे भगवान्‌के पवित्र निवास-स्थान बननेकी योग्यता मिलती जायगी और त्यों-ही-त्यों आनन्द भी आने लगेगा। थोड़े आनन्दके लाभसे फिर, अधिक आनन्दकी कामना बढ़ेगी, और वह कामना साधनाग्निमें ईंधनका काम देगी।

याद रक्खो, आधारकी शुद्धि उस परम सत्यकी प्रतिष्ठाके लिये अत्यन्त आवश्यक है। तुम अशुद्ध आधारमें उसकी धारणा करना चाहते हो, और जब वह नहीं होती तब आधारकी अपरिणतिकी ओर तो ध्यान नहीं देते, सत्यमें ही सन्देह करने लगते हो। ऐसा न करो। शरीर, मन और बुद्धिको यमनियमोंके द्वारा शुद्ध करनेके प्रयत्नमें पूर्णरूपसे लग जाओ। जब भगवान् इस आधारमन्दिरको शुद्ध, स्वच्छ और दैवी गुणोंसे सुसज्जित पायेंगे, तब अपने-आप ही इसमें आ विराजेंगे। अब भी हैं तो सही 'परन्तु छिपे हैं। फिर पर्दा हट जायगा और तुम अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे उनका सुख-स्पर्श पाकर निहाल हो जाओगे।

जबतक आधारकी यथायोग्य शुद्धि और परिणति न होगी, तबतक उसमें किसी महात्माके द्वारा भी शक्तिसञ्चार किया जाना बड़ा कठिन है। क्योंकि अशुद्ध और अपरिणत आधारमें शक्तिपात होना सहज नहीं। यदि किया जाता है तो शक्तिको वहाँसे प्रतिहत होकर लौट आना पड़ता है, और बलपूर्वक शक्तिको रक्खे जानेकी कोशिश होती है, तो आधार उसे सहन न करके फटने लगता है, क्लेश बढ़ जाता है। कहीं शक्ति रह जाती है तो उसके निष्फल जानेकी ही नहीं, उससे कुफल होनेकी भी खूब सम्भावना रहती है। जैसे उदरामयके रोगीके लिये घृत विषका काम करता है, अथवा ताम्रके पात्रमें बनायी हुई खीर जहर-सी हो जाती है, उसी प्रकार अयोग्य पात्रमें उत्तम वस्तु भी प्रतिकूल फल देनेवाली बन जाती है। इसीलिये महात्मा लोग जबतक आधारकी उचित परिणति नहीं देख लेते, तबतक उसमें न रह सकने लायक उत्तम वस्तुको नहीं देते। हाँ, आधारकी शुद्धि और परिणतिके लिये महात्माओंका संग करो और उनकी कृपाका आश्रय ग्रहण करो। महत्पुरुषोंकी कृपासे और उनकी आज्ञानुसार आचरण करनेसे आधारकी शुद्धि शीघ्र हो जायगी, और आधारकी शुद्धि होनेपर वे सहज ही शक्तिपात कर सकेंगे।

यह भी नहीं समझ लेना चाहिये कि सभी महात्मा शक्तिपात करते हैं या कर सकते हैं। न तो सबका स्वभाव एक-सा होता है और न सबकी शक्तिमें ही समता होती है। कई महात्मा शक्ति होनेपर भी उसको काममें नहीं लाते, कई न्यून शक्तिसे भी काम लेनेकी चेष्टा करते हैं। जिन महात्माओंकी शक्तिपात करनेकी चेष्टा होती है, उनमें कुछ तो ऐसे बहुत बढ़ी हुई शक्तिवाले हो सकते हैं जो आंशिकरूपसे अपरिणत आधारको भी अपनी शक्तिके द्वारा सहज ही शुद्ध करके उसमें शक्ति स्थापन कर देते हैं। और जिनकी शक्ति कम बलवती होती है वे शुद्ध आधारमें भी बड़ी कठिनतासे शक्तिको पहुँचा सकते हैं। कुछ भी हो, आधारको शुद्ध और परिणत करनेकी चेष्टा प्राणपणसे करते रहो। शुद्ध आधारमें स्वयं ही परमात्मशक्तिका प्रकाश हो जायगा।

'शिव'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वर्तमान शिक्षा

वर्तमान शिक्षित नवयुवकोंके आचरणों और कार्योंको देखकर दुखी हुए कितने ही सज्जनोंने मुझसे इस विषयपर कुछ लिखनेके लिये अनुरोध किया है, इनमें कई सज्जन तो स्वयं भुक्तभोगी हैं, लड़के-लड़कियोंके पढ़ानेमें गाढ़ी कमायी-का पैसा खर्च करके आज वे उनको दूसरे ही ढाँचेमें ढले देखकर दुखी हो रहे हैं। अपने शिक्षित पुत्र-कन्याओंका जीवन विलासी, खर्चीला, अकर्मण्य और धर्मशून्य देखकर वे बेचारे मर्माहत होकर कई बातें पूछते हैं। उनके समाधानके लिये यथासाध्य कुछ बातें उन्हें लिख दी जाती हैं परन्तु यह रोग तो अब इतना व्यापक हो गया है कि जो छूटना असम्भव-सा जान पड़ता है। गुण-दोष सभी कार्योंमें होते हैं। इस न्यायसे इस शिक्षामें भी कुछ गुण अवश्य हैं, और उनसे लाभ भी पहुँचा है, परन्तु ध्यान देकर तौलने-पर लाभकी अपेक्षा हानिका ही पलड़ा अधिक नीचा दिखायी देता है। पहले तो मोहवश सोचा नहीं, परिणाम-पर ध्यान दिया नहीं, अब, जब कि चारों ओर इस शिक्षाके साँचेमें ढले हुए लोगोंकी संख्या बढ़ गयी, और उनकी चेष्टासे जब कि चारों ओर शिक्षाकी प्रगतिके नामपर इसका विस्तार करनेवाले स्कूल-कालेज बढ़ गये, दृष्टिकोण बदल जानेसे लाखों नरनारी इस शिक्षाको परम लाभकारी समझकर सम्मानकी दृष्टिसे देखने लगे, तब ध्यान देनेसे कुछ विशेष लाभकी आशा नहीं रही! अब तो इस रोगकी जड़ बहुत दूर-दूरतक फैल गयी है, और जबतक इसके विषमय कुफलोंसे भलीभाँति हमारा समाज जर्जरित होकर निरुपाय हो भगवान्‌की शरण नहीं हो जायगा, तबतक इससे मुक्त होना बहुत ही कठिन है। विश्वविद्यालयोंके दीक्षान्त भाषणोंमें इस शिक्षापद्धतिके कुफलपर प्रायः बहुत कुछ कहा जाता है। इस पद्धतिको सत्यसे दूर, बेकारी पैदा करनेवाली, धर्महीन, और विलासिताको बढ़ानेवाली बतलाया जाता है परन्तु फल कुछ नहीं होता। कारण प्रत्यक्ष है, परिणाम देखकर उन लोगोंको कहना तो पड़ता है लेकिन दृष्टिकोण वही बना रहनेके कारण पुनः-पुनः विचार करनेपर भी उन्हें इसीमें लाभ दीखता है, और अनेक कारणोंसे इसकी आवश्यकता भी प्रतीत होती है, अतएव कोई क्रियात्मक सुधार नहीं होता। दिनोंदिन शिक्षालयोंकी, शिक्षितोंकी और शिक्षार्थियोंकी संख्या बढ़ती जाती है और उसीके साथ-साथ समाजशरीरमें रोगके परमाणुओंका प्रवेश भी होता जाता है। परन्तु उपाय कुछ भी नहीं सूझता। ऐसी हालतमें केवल शिक्षाके दोषोंपर ही आलोचना करनेसे कोई विशेष लाभ नहीं दिखायी देता। जो लोग दृष्टिकोणके भेदसे इस शिक्षासे परम लाभ समझते हैं, उनपर भी दोष नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वे ऐसा ही देखते हैं। न किसीको उलाहना देने या किसीका तिरस्कार करनेसे ही कोई सुफल होनेकी सम्भावना दीखती है। इतनेपर भी जो कुछ लिखा जाता है, सो केवल मित्रोंकी आग्रहपूर्ण आज्ञा पालन करनेके लिये ही अपने मतमें जो-जो कुछ ठीक जँचता है, लिखा जाता है। किसी व्यक्तिविशेषपर कोई आक्षेप करनेकी नीयतसे नहीं। भाषामें कहीं कटुता आ जाय तो उसके लिये पहलेहीसे मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

शिक्षाका यथार्थ उद्देश्य

आर्यसभ्यताके अनुसार शिक्षाका उद्देश्य है उसके द्वारा इहलोकमें सर्वाङ्गीण (शारीरिक, मानसिक, साम्पत्तिक और नैतिक) अभ्युदय और परलोकमें परम निःश्रेयस—मोक्षकी प्राप्ति। ऋषियोंकी दृष्टिमें विद्या वही है जो हमें अज्ञानके बन्धनसे विमुक्त कर दे। 'सा विद्या या विमुक्तये।' भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें 'अध्यात्मविद्या विद्यानाम्' कहकर इसी सिद्धान्तका समर्थन किया है। इसी उद्देश्यसे आर्यजातिके पवित्रहृदय और समदर्शी त्रिकालज्ञ ऋषियोंने चार आश्रमोंकी (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यासकी) सुन्दर व्यवस्था की थी। ब्रह्मचर्यके कठोर नियमोंको पालन करता हुआ ब्रह्मचारी विद्यार्थी संयमकी व्यावहारिक शिक्षाके साथ-ही-साथ लौकिक और पारलौकिक कल्याणकारी विद्याओंको पढ़कर, सब प्रकारसे शरीर मन और वाणीसे स्वस्थ एवं संयमी होकर गुरुकुलसे निकलता था; और तब वह गृहस्थमें प्रवेशकर क्रमशः जीवनको और भी संयममय, सेवामय और त्यागमय बनाता हुआ अन्तमें सर्वत्याग

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

करके परमात्माके स्वरूपमें निमग्न हो जाता था। यही आर्यसंस्कृतिका स्वरूप था। जबतक देशमें यह आश्रम-सम्मत शिक्षापद्धति प्रचलित थी, तबतक आर्यसंस्कृति सुरक्षित थी, और सभी श्रेणीके लोग प्रायः सुखी थे। जबसे, अनेक प्रकारकी विपरीत परिस्थितियोंमें पड़कर मोहवश हमने अपनी इस आश्रमसम्मत शिक्षापद्धतिको ठुकराया, तभीसे हमारी आदर्श आर्यसंस्कृतिमें विकार आने लगे। आज बीसवीं शताब्दीमें तो हमारी उस संस्कृतिकी सुदृढ़ नौका हमारे ही हाथों नष्ट-भ्रष्ट होकर डूबने जा रही है। ऐसा मतिभ्रम हुआ है कि विनाशके गहरे गर्तमें गिरना ही आज हमारे मन उन्नतिका निदर्शन हो गया है। जिस चोटी और जनेऊको मुसलमानोंकी तलवार नहीं काट सकी, उसीको आज हम शिक्षाभिमानी हिन्दू स्वयं ही उन्नतिके नामपर कटवा रहे हैं। अग्निकुण्ड-की लाल-लाल लपटोंमें पड़कर भी हिन्दूनारीके जिस सतीत्वको जरा-सी आँच नहीं लगी, वरं उससे वह और भी चमक उठा, वही सतीधर्म आज शिक्षाके फलस्वरूप हमारी बहिन-बेटियोंके लिये भाररूप हो चला है, और उसको उतार फेंकनेके लिये चारों ओर सुसंगठितरूपसे कमर कसी जा रही है। जिस धर्म और ईश्वरको हमने अपने समाजशरीरका मेरुदण्ड समझ रक्खा था, आज उसी धर्मकी आवश्यकता और ईश्वरके अस्तित्वको अपने शिक्षितसमुदायके सामने स्वीकार करनेमें हमारे शिक्षित युवकोंको संकोच और लज्जाका अनुभव होता है। मानो वे किसी मूर्खतापूर्ण कुसंस्कारका समर्थनकर अपनी विद्वत्तामें बट्टा लगा रहे हैं अथवा कोई गुरुतर अपराध कर रहे हैं। कामोपभोग ही आज हमारे जीवनका चरम लक्ष्य बन गया है। कामपरायण होकर आज हम अदूरदर्शी शिक्षाभिमानी लोग आपात इन्द्रियसुखको ही परम सुख समझकर अग्निशिखामें पड़कर भस्म हो जानेवाले मूढ पतंगोंकी भाँति कामाग्निमें भस्म होनेके लिये अन्धे होकर उड़ने लगे हैं। इसमें युगप्रभाव तो प्रधान कारण है ही। परन्तु उसकी सिद्धिमें एक बड़ा निमित्त है हमारी यह वर्तमान धर्महीन शिक्षापद्धति। इस शिक्षाके पीछे एक जबरदस्त 'संस्कृति' की प्रेरणा है, जिसने हमारी आँखोंको चौंधिया दिया है। और इसीसे हम आज मायामरीचिकामें फँसकर उसे अपनानेके लिये बेतहाशा दौड़ लगा रहे हैं। और इसीसे आज हम अपने सरलहृदय बालक-बालिकाओं-के हृदयमें कामोपभोगमयी उस 'सभ्यता'का भीषण विष प्रवेश कराकर उन्हें ध्वंसके मुखमें ढकेल रहे हैं और इसीमें उनका और अपना कल्याण मान रहे हैं! जिन देशोंकी यह 'सभ्यता' है, वे तो आज तंग आकर इससे मुक्त होनेकी राह ढूँढ़ने लगे हैं और हम भाग्यहीन उसीको अपनानेके लिये आँख मूँदे दौड़ रहे हैं!! भगवान् हमारी बुद्धिका यह विभ्रम कब दूर करेंगे?

वर्तमान शिक्षासे उत्पन्न दोष

आजकलके कालेजोंमें पढ़नेवाले अधिकांश विद्यार्थियोंमें न्यूनाधिकरूपसे—क्रियारूपमें अथवा विचाररूपमें आपको निम्नलिखित दोष प्रायः मिलेंगे, जो विद्यार्थी—ब्रह्मचारी-जीवनसे सर्वथा प्रतिकूल हैं।

१–ईश्वर और धर्ममें अविश्वास।

२–संयमका अभाव।

३–ब्रह्मचर्यका अभाव।

४–मातापिता आदि गुरुजनोंमें अश्रद्धा।

५–प्राचीनताके प्रति विद्वेष।

६–विलासिता और फिजूलखर्ची।

७–खेती, दूकानदारी और घरेलू कलाकौशल-के कार्योंके करनेमें लज्जा। और

८–सरलताका अभाव।

इनको कुछ विस्तारसे देखिये।

१–'ईश्वर मनुष्यकी कल्पना है।' 'ईश्वरकी चर्चा करना समय नष्ट करना है।' 'ईश्वरको किसने देखा है!' 'धर्म ढोंग है।' 'स्वार्थी मनुष्योंने भोले लोगोंको ठगनेके लिये ईश्वर और धर्मका बहम रचकर लोगोंको डरा रक्खा है।' 'धर्म एक कुसंस्कार है।' आदि बातें आजका शिक्षित मनुष्य बड़े गर्वसे कहता है। इन विचारोंका माननेवाला होनेपर भी जो कुछ साधु हृदयका होता है और दूसरोंकी मान्यताको ठुकराकर उनके हृदयको ठेस नहीं पहुँचाना चाहता, वह बड़ी बुद्धिमानीके साथ मानो मूर्खोंको समझाता हुआ-सा कहता है—'होगा ईश्वर, हम उसका विरोध नहीं करते। परन्तु वह किसीको दीखता थोड़े ही है। परन्तु सारा जगत् जब ईश्वरसे पूर्ण है, तब जगत्की सेवा ही ईश्वरकी सेवा है, अतएव भजन-पूजनमें व्यर्थ समय न बिताकर जनताकी सेवा करनी चाहिये। गीतामें

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भी तो सर्वभूतस्थित भगवान्‌को अपने कर्मोंसे पूजनेकी बात कही गयी है।' यों समझानेवाला स्वयं तो भगवान्‌को नहीं मानता, परन्तु अपनी बुद्धिमानीका प्रयोग करके ईश्वरका प्रत्यक्ष खण्डन न कर परोक्षरूपसे भजन-पूजनरूपी कार्योंको व्यर्थ सिद्धकर मानों ईश्वरसम्बन्धी कुसंस्कारोंसे हमें मुक्त करनेके लिये इस युक्तिवादसे काम लेता है। वह इस बातको नहीं समझता कि सच्ची भगवदनुभूतिके बिना—जीवमें शिवके दर्शन किये बिना यथार्थ सेवा कभी बन ही नहीं सकती। जो सेवा अहंकारकी जननी है, वह तो सेवा ही नहीं है। और शिवज्ञानशून्य सेवासे तो अहंकार ही उत्पन्न होगा। शिवहीन यज्ञका परिणाम तो सर्वध्वंस ही होगा! इस प्रकार ईश्वर और धर्मकी अवहेलनासे धीरे-धीरे उच्छृङ्खलता और यथेच्छाचारकी वृद्धि हो रही है परन्तु इसीको उन्नति समझा जाता है!

२—संयम तो किसी बातमें भी नहीं दिखायी देता। बोल-चाल, हँसी-मजाक, रहन-सहन, वेशभूषा, खानपान, सोना-उठना, आचार-विचार सभीमें मनमानी होती है। शिष्टाचारका आदर नहीं। जबानपर लगाम नहीं। कुछ वर्षों पहले एक बार मैं पटनेसे स्टीमरमें आ रहा था। उसी स्टीमरमें कालेजके विद्यार्थियोंका एक दल सवार हुआ, कुछ नववयस्क अध्यापक भी साथ थे। वहाँ उनका जो हँसी-मजाक शुरू हुआ, वह सभ्यताकी सीमाको पार कर गया। पास ही कुछ भद्रमहिलाएँ बैठी थीं। वे लज्जासे सिकुड़ने लगीं, परन्तु बाबुओंका इस ओर कोई ध्यान ही नहीं था। मालूम होता था मानो उनके मन स्टीमरमें दूसरा कोई है ही नहीं। गंदी भाषा, गंदे इशारे, सामूहिक विकट हास्य, चिल्लाना, और कुत्ते-बिल्लीकी बोली बोलना कुछ भी बाकी न रहा। एक बूढ़े मौलवी साहेबने तंग आकर जब उनको कुछ समझानेकी चेष्टा की तो उन बेचारेकी शामत आ गयी। दल-का-दल उनकी दाढ़ी, चश्मे और अचकनकी दिल्लगी उड़ाने लगा। ज्यों ही मौलवी साहेब कुछ बोलते त्यों ही हँसीका भयानक बवंडर उठता! आखिर मौलवी साहेबको वहाँसे उठकर दूसरी ओर चले जाना पड़ा!

खानपानमें तो कोई विचार ही नहीं, कैसी ही चीज हो, किसीकी जूँठन हो, जिस रकाबीमें खाँसाहेबके लिये अभी गोमांस आया, उसीमें दूसरे ही क्षण बाबूसाहेबके लिये पकौड़ियाँ आ गयीं। सोडावाटरकी बोतल तो मानो एक माँके कई बच्चोंके लिये माँका स्तन-सी ही बन गयी है। किसीकी जूँठन खानेमें कोई झिझक नहीं। एक दिन मैंने एक रेलवे स्टेशनपर देखा, कुछ विद्यार्थी नवयुवक चप्पल पहने, चश्मा चढ़ाये, पंजाबी कुरतेपर जाकेट पहने ठहाका मारते और उछलते हुए आये और एक जनाना डब्बेके सामने एक खोनचेवालेके पास खड़े होकर तरह-तरहकी गंदी बातें करने लगे मानो उनके घर माँ, बहिन हैं ही नहीं; फिर उनमेंसे एकने खोनचेवालेसे दहीबड़े खरीदे, दूसरेने पकौड़ियाँ लीं और फिर लूट-खसोट शुरू हुई। एकका जूँठा दूसरेके मुँहमें ठूँसा जाने लगा। हँसीके मारे सब पसीने-पसीने हो रहे थे। इतनेमें चाय-बिस्कुट और न मालूम क्या-क्या मुसलमान खोनचेवालोंसे खरीदा गया। भक्ष्याभक्ष्यका और आचार-शुद्धिका कुछ विचार ही नहीं। इस तरहकी घटनाएँ प्रायः रोज ही होती हैं।

घरमें गरीबी है, पिता बड़ी मुश्किलसे खर्च भेज पाते हैं, परन्तु बात-बातमें बाबूगिरी चाहिये। और चीजोंकी बात तो दूर रही, जूतेकी भी तीन-तीन जोड़ियोंके बिना काम नहीं चलता। बाहर जानेके लिये अलग, टेनिसके लिये अलग और कमरेके लिये चट्टी अलग! कहीं भी किसी भी बातमें आत्मसंयमकी गुंजाइश नहीं। कहाँ तो गुरुकुलवासी विद्यार्थियोंके छात्रजीवनको संयमित रखनेके लिये मनु महाराज इन नियमोंका विधान करते हैं—'ब्रह्मचारी प्रतिदिन नहाकर शुद्ध भावसे देवर्षिपितृ-तर्पण करे, देवताओंकी पूजा करे, सुबह-शाम हवन करे, मद्य-मांसका सेवन न करे, इत्र-फुलेल न लगावे, हार-माला आदि न पहने, रस न खाय, स्त्रीके पास न जाय, उत्तेजक वस्तु न खाय, प्राणिहिंसा न करे, तेल न लगावे, आँखोंमें सुरमा न डाले, जूते न पहने, काम, क्रोध लोभके वश न हो, अकेला सोवे। नाचना, गाना, बजाना, जूआ आदि खेलना, कलह करना, दूसरोंकी बातें जानना, असत्य बोलना, दूसरोंका अहित करना, स्त्रियोंकी ओर देखना, उनका आलिंगन करना आदि बातोंसे बचा रहे।' और कहाँ आज उनमें इन नियमोंके सर्वथा विपरीत सूर्योदयके बाद उठना, चाय पीकर पीछे स्नान करना, देवर्षि-पितरोंका मजाक उड़ाना, अभक्ष्य खाना, सेंट लगाना, सिनेमा देखना, गंदे उपन्यास पढ़ना आदि संयमका नाश करनेवाली बातें बढ़ी हुई हैं।

३—बड़े ही खेदकी बात है कि इस विषयमें तो आज हम सबसे बढ़कर पतित हो चले हैं। पाठ्यपुस्तकोंमें खुला

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शृंगार, गंदे नाटक-उपन्यासोंका पढ़ना, यौनसाहित्यका प्रचार, विलासितापूर्ण रहन-सहन, अनुभवहीन असंयमी युवक अध्यापकोंका संग, सहशिक्षाका प्रचार, भोगोंकी लीला-भूमि पाश्चात्यपद्धतिके विद्यालय और होस्टल, एवं परस्पर गंदे पत्रव्यवहारकी कुचाल, मनमें खामखाह विकार पैदा करनेवाले चटकीले चित्रपट आदि वस्तुएँ हमारे विद्यार्थियोंके उच्छृङ्खल जीवनको दिनोंदिन और भी उच्छृङ्खल बना रही हैं मुझे एक बहुत विश्वस्त सज्जनने बतलाया था कि शिक्षाक्षेत्रमें सबसे बढ़कर अग्रसर प्रान्तकी युनिवरसिटीके विद्यार्थियोंमें लगभग आधेसे अधिक जननेन्द्रियसम्बन्धी रोगोंसे ग्रस्त हैं ! जातीय जीवनके आधार नवयुवकोंकी यह दुर्दशा निस्सन्देह खूनके आँसू बहानेवाली है ।

४– मातापिता आदि गुरुजनोंको मूर्ख समझना, उनके कार्योंमें दोष देखना, कर्तव्यवश या अच्छा कहलानेके लिये शरीरसे उनकी कुछ सेवा करते हुए भी उनकी बुद्धिका अनादर करना आजकलके पढ़े-लिखे लोगोंका स्वभाव-सा बन गया है । घरमें जहाँ नित्य बड़े-बूढ़ोंके चरणोंमें प्रणाम करनेकी आर्यप्रथा थी, वहाँ आज उनकी सन्तान कहलानेमें भी किसी-किसीको लज्जाका अनुभव होता है । एक पढ़े-लिखे भाईने एक बार मुझसे कहा था कि 'इन मूर्खोंका बेटा-पोता न होकर स्वतन्त्र विचारवाले देशोंमें मेरा जन्म हुआ होता तो आज मैं कितना सौभाग्यशाली होता । यद्यपि ऐसे विचार बहुत थोड़े ही युवकोंके होंगे, परन्तु मातापिता आदिके विचारोंमें तो श्रद्धा बहुत ही कम रह गयी है । बल्कि उनकी अवज्ञा करनेमें ही कहीं-कहीं उन्नति मानी और बतलायी जाती है । जो मातापिता जन्म देते हैं, पालते-पोसते हैं, कष्ट उठाकर पढ़ाते हैं, उन्हींको जब पुत्र मूर्ख मानता है और उनके विचारों एवं वचनोंका अनादर कर उन्हें सन्ताप पहुँचाता है, तब उन मातापिताके हृदयोंमें कैसी मर्मभेदी व्यथा होती है, इसका अनुमान उन पुत्रोंको कभी नहीं हो सकता । मेरे सामने एक बार एक पिताने जब रो-रोकर अपना दुःख सुनाया था तब मेरी आँखोंमें भी आँसू आ गये थे ।

५–एक बार एक मेरे नवयुवक मित्रने कहा था कि हम तो पुराने मात्रका ध्वंस करके सब कुछ नवीन निर्माण करना चाहते हैं । वेद-पुरान-कुरान-बाइबल, किसीको भी हम नहीं मानते । ऐसी मनोभावना प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे नवयुवकोंके हृदयोंमें उत्पन्न होने लगी है । इसीसे वे सुधारके नामपर संहार करना चाहते हैं । प्राचीनताके प्रति ऐसा अविवेक-मूलक विद्वेष और नवीनताका यह प्रबल आकर्षण इस शिक्षाका ही फल है ।

६–कालेजके पढ़नेवाले विद्यार्थीका औसतन मासिक खर्च आजकल लगभग ५०) माना जाता है । बम्बई-सरीखी जगहोंमें इससे कहीं अधिककी आवश्यकता होती है । कालेज और उनके छात्रावासोंका निर्माण ही इस ढंगसे हुआ है—उनकी पद्धति और आदर्श ही इतना खर्चीला है कि जहाँ इससे कम खर्चमें रहना विद्यार्थी अपनी बेइज्जती समझता है । इनमें फैशन तो इतना बढ़ जाता है कि जितना खर्च उनके फैशनमें होता है, उतनेमें दो-तीन गरीब गृहस्थोंका गुजर हो सकता है । तरह-तरहके जूते, जूते रंगनेकी स्याही, विलायती दन्तमञ्जन, आईना, कंघी, ब्रश, रिष्टवाच, क्रिकेटके लिये फलालैनका सूट, टेनिस-के लिये पतलून और ब्लेजर, होटलोंका जलपान, सैलूनोंकी हजामत, कम्पनियोंकी कपड़ा धुलाई, नये-नये नावेल, दोस्तोंको दावत, प्रेमियोंको प्रेमोपहार, सिनेमा, मैच, आदि-आदि न मालूम कितनी फैशनकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेमें उन्हें आँख मूँदकर धन खर्च करना पड़ता है। विद्यार्थियोंके गरीब माता-पिता गहने बेचकर, घर-द्वार बंधक रखकर, भीख माँगकर बड़ी आशासे बच्चोंको पढ़ानेके लिये खर्चका यह भारी बोझ उठाते हैं । परन्तु वहाँ एक दूसरेकी देखादेखी कालेजके विद्यार्थीको इस बातकी चिन्ता ही नहीं होती कि घरमें माता-पिताकी क्या हालत है । कभी छुट्टियोंमें घर आना होता है तो विवाहित युवक बीबियोंके लिये तरह-तरहके शौकके सामान लाना चाहते हैं, उसके लिये माता-पिताको अलग तंग होना पड़ता है । पुत्र नाराज न हो, उसके मनमें दुःख होगा तो वह फेल हो जायगा, इस डरसे मातापिता जहरकी घूँट पी जाते हैं, परन्तु घर आये हुए पुत्रके सामने अपना दुःख कभी प्रकट नहीं करते । घर आकर कालेजके विद्यार्थी घर-गृहस्थीकी तो बात ही क्यों पूछने लगे ! क्यों वे घरके मोटे-सोटे काममें मन लगाकर मातापिताको सहायता देने लगे ! मित्रोंसे मिलना-जुलना, हँसी-मजाक, प्रेमपत्र, ताश-शतरंज, कलेवा-जलपान आदिमें ही उनका समय बीत जाता है । पितामाता इसी आशापर यह सब सह लेते हैं कि बेटा पास होकर हमें कमाकर देगा ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गाँवोंके उन गरीब मातापिताको क्या पता कि अभी जिस बेटेको पढ़ानेकी नीयतसे उसकी उचित-अनुचित माँगका कुछ भी विचार न करते हुए ही हृदयका खून दे-देकर खर्च जुटाकर भेजते हो, वही जब पढ़कर—पास होकर आवेगा, तब तुमलोगोंको मूर्ख समझेगा और यदि कहीं नौकरी न लगी तो परिवारभरको और भी मुश्किलमें पड़ना होगा।

गरीबका गुजर ऐसी अर्थनाशकरी शिक्षासे कैसे होगा, भगवान् ही जानें!

७–मैंने देखा है परीक्षोत्तीर्ण लड़के घरकी खेतीका काम नहीं कर सकते, वे दूकानदारी नहीं कर सकते। सुनार, कुम्हार या चमारका पढ़ा-लिखा लड़का, अपने घरकी कारीगरीका काम करनेमें अपनी तौहीनी समझता है। आफिसकी नौकरीके सिवा वे सभी कामोंमें प्रायः असमर्थ हो जाते हैं। झूठे आत्माभिमानके वश होकर अपना काम अपने हाथों करनेमें उन्हें शरम मालूम होती है। बाजारसे दो-चार सेर चीज खरीदकर लानेमें उन्हें कुलीकी जरूरत होती है। बोझ लाना उन्हें अपनी शानके खिलाफ जँचता है। घरमें झाड़ू देना, कपड़े धोना आदि कार्य करनेमें तो लाज मानों मूर्तिमान् होकर खड़ी हो जाती है। घरका काम तो अलग रहा, कई लोगोंको तो असभ्य-से लगनेवाले मातापिता और बहिन-भाइयोंके साथ रहना-तक बुरा मालूम होता है। सच पूछिये तो इसी कारण आजकल बेकारी भी ज्यादा बढ़ रही है। सभीको नौकरी चाहिये। झूठी इज्जतके मोहमें खर्च बढ़ा ही रहता है। परिणाममें आत्महत्याकी नौबत आती है। किसी कारीगर या मजदूरने आत्महत्या की हो ऐसी बात शायद नहीं सुननेमें आती। आत्महत्या बेकार बाबू ही करते हैं जो नौकरी और वकीली आदिके सिवा अन्य काम नहीं कर सकते। उनको हेय दृष्टिसे देखते हैं। इस मनोभावनाको लिये हर साल विश्वविद्यालयोंसे हजारों विद्यार्थियोंका पास होकर निकलते रहना, भविष्यमें बेकारीका कैसा भयंकर रूप सामने लावेगा और उसका परिणाम कितना भयंकर होगा यह कौन कह सकता है?

८–हमारे बड़े बूढ़ोंमें जितना निष्कपट भाव है, हम लोगोंमें उतनी ही कपट-चातुरी आ गयी है। पुराने लोग शत्रुको शत्रु कहेंगे और मित्रको मित्र, परन्तु आज ऊपरसे मित्र कहते रहकर भी भीतरसे हम शत्रुताका बर्ताव करेंगे। कपटपूर्ण मैत्री, मधुर वचनोंके पीछे छिपी हुई कठोरता आजकी सभ्यताका एक अङ्ग-सी बन गयी है। सरलताका नाम आज मूर्खता है और मक्कारीका बुद्धिमत्ता!

स्त्री-शिक्षा

पुरुषोंकी भाँति ही स्त्री-शिक्षाका भी काफी प्रचार बढ़ रहा है। पुरुषोंमें शिक्षा बढ़नेके साथ-ही-साथ हमें स्त्री-शिक्षाकी भी आवश्यकता प्रतीत हुई। स्त्रियोंके लिये भी विद्यालय, स्कूल और कालेजोंकी स्थापना हुई। स्त्री-शिक्षाका भी वही आदर्श माना गया जो पुरुषोंके लिये था क्योंकि दृष्टिकोण ही ऐसा था। उच्च शिक्षा होनी चाहिये, और उच्च शिक्षाका अर्थ ही है कालेजोंकी शिक्षा, बी० ए०, एम० ए० की डिग्री प्राप्त करना, वकालत या डाक्टरी पास करना! स्त्रियाँ भी इसी पथपर चलीं और चल ही रही हैं। वे भी पढ़-लिखकर अध्यापक, मास्टर, क्लर्क, वकील, बैरिस्टर, लेखिका, नेता, म्युनिसिपलिटी या कौंसिलोंकी मेम्बर बन रही हैं। यही उन्नतिका स्वरूप है। चारों ओर इस उन्नतिके लिये उल्लास प्रकट किया जा रहा है, और यह उन्नति पूर्णरूपसे हो जाय इसके लिये अथक चेष्टा हो रही है। ऐसी स्त्री-शिक्षा देनेवाले स्कूल-कालेजोंकी और विद्यार्थिनियोंकी संख्या दिनोंदिन बढ़ ही रही है। शिक्षाके साथ-साथ शिक्षाके अवश्यम्भावी फलरूप उपर्युक्त दोष स्त्रियोंमें भी आ रहे हैं। वे भी ईश्वर और धर्मका विरोध करने लगी हैं। सरलता, कोमलता, श्रद्धा, संकोच, प्राचीनतासे प्रेम आदि स्वाभाविक गुणोंके कारण यद्यपि पुरुषोंकी तरह ईश्वर और धर्मका खुला और आत्यन्तिक विरोध करनेवाली स्त्रियाँ अभी नहीं पैदा हुई हैं, परन्तु सूत्रपात हो चला है। संयमका अभाव भी बढ़ रहा है। पुरुषकी अपेक्षा स्वभावसे ही स्त्री कई बातोंमें अधिक संयमी होती है, इससे उसकी इधर प्रगति यद्यपि रुक-रुककर होती है, परन्तु उसका देखादेखी करनेका स्वभावदोष उसे असंयमकी ओर खींचे लिये जाता है, इसीसे आज शिक्षित स्त्रियोंमें असंयमकी मात्रा बढ़ रही है। जिस बातको मनमें लानेमें भी स्वभावसे ही शुद्ध और लज्जाशील स्त्रीका हृदय काँप उठता था आज वही बात पुकार-पुकार कहनेमें उसे लज्जा नहीं आती। परपुरुषोंसे पत्र-व्यवहार करने, उनके साथ हँसी-मजाक करने, परपुरुषोंके साथ ताश-शतरंज खेलने और नाचने आदिमें भी संकोच उठता जा रहा है। ब्रह्मचर्यका अभाव तो भीषण रूपसे हो रहा है। कुछ दिनों पूर्व लाहौरके एक सुधारक पत्रमें लड़के-लड़कियोंकी सहशिक्षाके विरोधमें एक जिम्मेदार

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सज्जनका लिखा हुआ एक लेख निकला था जिसमें लिखा था कि '.....की लेडी हेल्थ आफिसरकी घोषणाका स्वाध्याय किया जाय जो उन्होंने.....के विद्यालयोंमें पढ़नेवाली विद्यार्थिनियोंके स्वास्थ्यकी देखभाल करके की है, कि बारह वर्षसे ऊपरकी आयुवाली कँवारी लड़कियोंमेंसे ९० प्रतिशतके लगभग आसवती (गर्भवती) और गर्भपात करनेवाली पायी जाती हैं। यदि निष्पक्षतासे देखा जाय तो सब ओर यही आग लगी हुई है, परन्तु मातापिता और देशके नेता क्या सोच रहे हैं, यह हमारी समझसे बाहर है !'

९० प्रतिशत तो बहुत दूरकी बात है १० प्रतिशत भी हो तो बहुत ही भयानक है। विश्वास नहीं होता कि यह संख्या सत्य है। सम्भव है छपनेमें भूल हुई हो, परन्तु इतना तो अवश्य ही मानना पड़ेगा कि आजकल स्कूलोंमें पढ़नेवाली कँवारी कन्याओंके चरित्रोंके बिगड़नेकी सम्भावना बहुत अधिक है, और इसीलिये ऐसी घटनाओंकी संख्या दिनोंदिन बढ़ रही है। जब लड़कियोंका यह हाल है, तब स्वेच्छाचारको ही आदर्श माननेवाली शिक्षिता वयस्का स्त्रीका क्या हाल हो सकता है, यह सोचते ही हृदय काँप उठता है।

आजकी पढ़ी-लिखी स्त्रियाँ मातापिताको नहीं मानतीं। समाचारपत्रोंमें छपा है कि नागपुरके एस० आर० गोखले नामक एक वृद्ध सज्जनने स्त्रीसहित इसलिये महान् दुखी होकर अपने प्राण दे दिये हैं कि उनकी शिक्षिता युवती कन्या मातापिताकी आज्ञाके प्रतिकूल अपना मनमाना विवाह करना चाहती थी। आजके युवक-युवती कह सकते हैं कि 'विवाह लड़कीका था। माँ-बापका तो था ही नहीं। लड़की स्वतन्त्रतासे मनमाना पति वरण करती। माँ-बापको बीचमें बोलनेकी क्या आवश्यकता थी।' ठीक है। यही तो अहिन्दू आदर्श है। इसी आदर्शके कारण आज अदूरदर्शी नवयुवक और नवयुवतियोंके द्वारा इन्द्रियोंके आकर्षणसे उत्पन्न बुद्धि-शून्य और मर्यादारहित प्रेमस्वातन्त्र्य (free love) को महत्त्व दिया जा रहा है, और उसमें जरासी बाधा आते ही वे आत्महत्या कर लेते हैं। यही अहिन्दू आदर्श मातापितामें, उनकी बुद्धिमें और विवेचनाशक्तिमें अश्रद्धा उत्पन्न कराकर तमाम प्राचीनताके प्रति मनको विद्रोही बना रहा है। आजकी शिक्षिता स्त्री इसीलिये अपनी सासके पैरोंपर सिर झुकानेमें या पतिकी सेवा करनेमें अपना अपमान समझती है। इस उच्च शिक्षाका आदर्श तो वही यूरोप है न, जहाँ संगठित रूपसे पतियोंके विरुद्ध जेहादका झंडा उठाया जाता है और पतिघातिनी समितियाँ बनती हैं ! स्त्री किसीके साथ हँसे-खेले, घूमने जाय, सिनेमामें जाय, शराब पीये, कुछ भी करे, पति या पिता-माता उसे कुछ कह ही नहीं सकते, क्योंकि यही तो 'सभ्यता' का चिह्न है। हा ! भारतकी सतीशिरोमणि देवी ! तू आज अपने पवित्र लक्ष्यसे भ्रष्ट होकर किस नरक-कुण्डकी ओर अग्रसर हो रही है !!!

विलासिता और फिजूलखर्चीका तो कहना ही क्या है। पतिको चाहे बीस रुपये मासिककी नौकरी न मिलती हो, बीवीको तो अपनी मौजशौक पूरी करने, फैशनका सामान खरीदने और सिनेमामें जानेके लिये पैसे जरूर चाहिये। कालेजकी लड़कियोंका यह हाल है कि आज वे केवल फैशनके पीछे पगली हो रही हैं। करोड़ों रुपयेकी व्यर्थ शृङ्गारकी वस्तुएँ इस फैशनके लिये विदेशोंसे आती हैं। घरका काम करना, झाड़ू देना, चक्की पीसना और रसोई बनाना उनके लिये अपमानका कारण बन गया है। भारत-सरीखे निर्धन देशमें कन्याओंको इस प्रकार शौकीन और खर्चालू बनाना और घरके कामोंसे विमुख करना अपार दुःखोंको निमन्त्रण देना है। यह बहुत बड़ा सामाजिक पाप है।

इससे मेरा यह मतलब नहीं है कि स्त्री अपने शरीरको मैला रक्खे, सफाईसे न रहे, गंदे कपड़े पहने या स्त्री-सुलभ उचित शृङ्गार न करे। ये सब कार्य तो विलासिताकी भावनाके बिना भी हो सकते हैं और होने चाहिये तथा इनमें खर्च भी अधिक नहीं होता। याद रखना चाहिये कि सौन्दर्य फैशनमें नहीं है, सौन्दर्य हृदयके आदर्श गुणोंमें है, सौन्दर्य बोलचाल, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, विनय-नम्रता, सचाई-सफाई, स्वास्थ्य और शक्ति आदिकी स्वाभाविक उच्चतामें है। जिसका हृदय सुन्दर और मधुर है, जिसके कार्य सुन्दर और मधुर हैं, वही सबसे बढ़कर सुन्दर है। फिर, शारीरिक सौन्दर्यकी रक्षाके लिये भी उचित और कमखर्चीके पदार्थोंका यथासाध्य उपयोग करनेमें कोई बुराई नहीं है। बुराई तो फैशनकी गुलामीमें है। जहाँ फैशनकी गुलामी होगी, वहाँ उसकी पूर्तिके लिये धनकी भी विशेष आवश्यकता होगी और वह धनकी आवश्यकता ही आज स्त्रियोंके स्वाभाविक गुण सरलताको कपटाचारके द्वारा पराजित करवा रही है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उपर्युक्त दोषोंके अतिरिक्त स्त्रियोंमें कुछ स्त्रियोचित खास दोष और आ गये हैं, जिनमें सबसे प्रधान विवाह-विच्छेद और सन्ततिनिरोधकी भावना, सब बातोंमें समान अधिकारकी अव्यावहारिक इच्छा, और सिनेमाओं-में नाचनेका शौक है !

तलाक और सन्ततिनिरोध

विवाहविच्छेदकी भावना ही पवित्र दाम्पत्य-प्रेमका समूल नाश करनेवाली है। जिस हिन्दू संस्कृतिमें 'सपनेहुँ आन पुरुष जग नाहीं' सतीत्वका आदर्श था, जहाँ हजारों कुल-ललनाएँ पवित्र सतीत्वकी रक्षाके लिये जलती आगमें सहर्ष कूद पड़ती थीं, जहाँ दुर्दान्त रावणके चंगुल-से छूटनेकी सम्भावना होनेपर भी पुत्रके समान हनुमान्‌का इच्छापूर्वक स्पर्श करना सीताने अपने सतीत्वके लिये कलंक समझा था; जहाँ मृत पतिकी लाशको गोदमें रखकर देहको सहर्ष भस्म कर डालनेमें गौरव माना जाता था, वहाँकी कुलदेवियाँ आज अन्तःपुरके पर्दोंको फाड़कर परपुरुषोंके बीचमें सभाओंमें खड़ी होकर यह कहनेमें भी नहीं हिचकतीं कि "सतीत्व एक 'कुसंस्कार' है, यह पुरुषोंकी गुलामी है, इस गुलामीसे छूटनेके लिये तलाक करनेका हमें हक है।"

लगभग ८६ वर्ष पहलेकी एक सच्ची घटना है। बंगालके राजशाही जिलामें पुँठिया नामक एक गाँव है। रानी शरत्सुन्दरी उसी गाँवके जमींदार योगेन्द्रनारायणकी पत्नी थीं। योगेन्द्रनारायणकी मृत्यु हो गयी। रानी विदुषी थीं। सोलह वर्षकी अवस्थामें कोर्ट आफ वार्डस्‌से अधिकार मिलनेपर वह जमींदारीका काम बड़ी सावधानीसे चलाने लगीं। एक बार राजशाहीके कलक्टर मि० वालेसकी पत्नी रानीके गुण सुनकर उससे मिलने आयीं। इतनी छोटी उम्रमें मुँड़ा हुआ मस्तक, मोटे कपड़े और जमीनपर कम्बलके आसनपर रानीकी तपस्विनी मूर्तिको बैठी देखकर सहृदया मिसेज वालेसका हृदय भर आया। वह स्नेहके वेगको रोक न सकीं। सरल भावसे उन्होंने कहा, "रानी ! आपकी उम्र तो अभी बहुत छोटी है, आप विवाह क्यों नहीं कर लेतीं ?" शरत्सुन्दरीने कोई उत्तर नहीं दिया, परन्तु उसकी आँखों-से आँसुओंकी धारा वह चली। मेम साहिबा उसे दुखी देखकर घबरायीं और क्षमा माँगकर चली गयीं। रानीको बड़ा दुःख हुआ। वह सोचने लगी कि हिन्दू विधवा स्त्रीके लिये पुनर्विवाहकी बात सुननेसे बढ़कर और क्या पाप होगा। रानीने इसका प्रायश्चित्त करनेके लिये कई दिनोंतक निर्जल उपवास किया ! कहाँ तो पतिके मर जानेपर विवाहका नाम सुननेसे हिन्दू-स्त्रीका हृदय इस प्रकार पापकी भावनासे काँप उठता था, कहाँ आज जीते पतिको त्यागकर परपुरुषको वरण करनेकी घोषणा हिन्दूमहिलाएँ भरी सभामें अपने मुँहसे करने लगीं !!

इसीके साथ सन्ततिनिरोधका भी प्रश्न छिड़ा हुआ है। माना कि भारतके समान गरीब देशमें अधिक सन्तान माता-पिताके सन्तापका हेतु होती हैं, परन्तु यह तो विधिका विधान है। पूर्वकर्म भी कोई वस्तु है, उसका फल सहज ही टल नहीं सकता। जिस जीवका जहाँ जन्म बदा है, वहाँ होगा ही। यह सिद्धान्त है। परन्तु यदि कोई इसे न माने तो भी सन्ततिनिरोधका सबसे बढ़िया तरीका इन्द्रिय-संयम है। सन्ततिनिरोधकी आवश्यकता और साधन बतलानेवाली मिस सेंगर-जैसी विदेशी रमणीके सद्‌भावों-का अनादर न करते हुए भी यह कहना ही पड़ता है कि वे साधन भारतीय संस्कृतिके अनुसार नीति और धर्म दोनों ही दृष्टियोंसे हानिकर ही नहीं, वरं बड़े पापपूर्ण हैं। इस प्रकारकी सन्ततिनिरोधकी प्रणालीमें व्यभिचारकी वृद्धि और कामवासनाकी निष्कंटक चरितार्थताकी सम्भावना ही प्रत्यक्ष रूपसे छिपी है। मनुष्योंके हृदयमें पवित्रताके स्थानपर घृणित कामका आधिपत्य होने लगा है। सब बातोंमें समानता, तलाक और सन्ततिनिरोध आदि आन्दोलनमें बहुत अंशमें कामकी प्रेरणा ही प्रधान कारण दिखायी पड़ता है।

समानाधिकार

आज यह कहा जाता है कि 'स्त्री-पुरुष दोनोंका समान अधिकार है, अतः स्त्रीको सब बातोंमें समानता मिलनी चाहिये। पुरुष बाजारमें जाता है, नौकरी करता है, खेल-तमाशेमें जाता है, सभा-समितिमें जाता है, कौंसिलका मेम्बर बनता है, और वकील-बैरिस्टर या जज बनता है। स्त्रीका इन सब बातोंमें ऐसा ही अधिकार क्यों नहीं होना चाहिये ? यह पुरुषोंकी स्वार्थपरता है जो उन्होंने स्त्रियोंको आरम्भसे ही अपना गुलाम बनाये रखनेके लिये उनको धोखा देकर उलटा समझाया।' इस प्रकार आजकल पुरुष-विद्वेषकी भावना उत्पन्न कर स्त्रियोंको उकसाया जाता है और शिक्षिता कहलानेवाली माताएँ काफी उकसने भी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लगी हैं। वे कहती हैं कि 'हम लड़कपनमें माता-पिताकी, जवानीमें पतिकी और वृद्धावस्थामें पुत्रकी संरक्षकतामें क्यों रहें? क्या हम मनुष्य नहीं हैं? क्या हमें उतना ही हक नहीं है जितना पुरुषको है?' मायाका ऐसा ही चमत्कार है, शिक्षावारुणीका ऐसा ही नशा है जो इस बातको समझने ही नहीं देता कि समानाधिकारकी बात तो तब उठ सकती जब दो चीजें वस्तुतः अलग-अलग होतीं। हमारी संस्कृतिमें तो दम्पति स्त्री-पुरुषका एक सम्मिलित नाम है। दोनों परस्पर अर्द्धांग हैं। एक ही आत्माके दो व्यक्त स्वरूप हैं। ऐसी अवस्थामें पुरुषके साथ प्रतिस्पर्धा करनेकी कोई आवश्यकता ही नहीं है। रही शारीरिक स्वाधीनताकी बात, सो विधाताने स्त्री और पुरुषकी देहकी रचना ही ऐसे ढंगसे की है जिससे दोनोंकी सब बातोंमें कदापि समानता हो नहीं सकती। घरमें स्त्री रानी है, पुरुष उसकी रक्षामें है, उसका दिया हुआ भोजन पुरुषको खानेको मिलता है। परन्तु बाहर स्त्रीको पुरुषकी संरक्षकतामें रहना चाहिये। स्त्रीका शरीर सम्पूर्ण रूपसे कभी स्वाधीन होने योग्य बना ही नहीं है। पुरुष बदन खोलकर आम रास्तोंपर घूम सकता है, स्त्री वैसे नहीं घूम सकती। जंगली स्त्रियाँ भी छातीपर कपड़ा डालकर बाहर निकलती हैं। हाँ, आजकलकी नंगे सम्प्रदायकी पाश्चात्य स्त्रियाँ नंगी रहना चाहती हैं। यह दूसरी बात है। परन्तु वहाँ भी आम तौरपर रास्तोंमें पुरुषकी भाँति स्त्री खुले अंग निर्भीक नहीं घूम-फिर सकती। ऋतुकालसे ही स्त्रीके सब अंगोंमें पुरुषके अंगोंके साथ विलक्षण रूपसे भेद बढ़ने लगता है। ऋतुकालमें उसकी रक्षाकी आवश्यकता होती है। उसे गर्भ धारण करना पड़ता है। गर्भकालमें उसकी देहमें कितने ही परिवर्तन होते हैं। कई तरहके विघ्नोंकी सम्भावना रहती है। उस समय उनसे बचनेके लिये दूसरेकी सहायता आवश्यक होती है। उसे कठोर शारीरिक और मानसिक श्रम तथा उद्वेगसे बचाव रखना पड़ता है। प्रसवके समय खास तौरपर देखरेखकी जरूरत होती है। गर्भ और प्रसव दोनों ही समय उसके लिये कई आवश्यक नियमोंका पालन अनिवार्य हो जाता है। वह सन्तानकी जननी बनती है। भगवान् उसके स्तनोंमें दूध उत्पन्न करते हैं। वह स्नेहपूर्ण हृदयसे बच्चेका पालन-पोषण करती है। परन्तु पुरुषको इनमेंसे कुछ भी नहीं करना पड़ता।

नारी-हरणका नाम सुनते ही हमारा खून खौलने लगता है। पुरुष-हरणकी बात तो 'अमेरिकाको छोड़कर' कहीं नहीं होती। स्त्रीके शरीरमें तप, धीरज, तितिक्षा और पोषणकी शक्ति है, इसीसे वह इतना त्याग करती है। पुरुष वैसा नहीं कर सकता। परन्तु यह सत्य है कि देहकी दृष्टिसे स्त्री सदा निराश्रय है। हृदयकी दृष्टिसे वह पिता, पुत्र और पतिकी आश्रयस्वरूपा है। उसकी स्वाधीनता हृदयके क्षेत्रमें है, देहके क्षेत्रमें नहीं। इसी हृदयके बलपर स्त्री पुरुषपर सदा ही विजयिनी है। वह स्नेहकी मूर्त्ति, प्रेमका अवतार और वात्सल्यकी प्रतिमा है। इसीसे विद्या, पद, गौरव, मान-सम्मान आदिमें बहुत बढ़े-चढ़े पुरुष भी सन्ध्याके समय घर आकर स्त्रीका आश्रय लेते हैं। स्त्रीका यह प्रताप शारीरिक शक्तिसे नहीं है; प्रेमशक्तिसे, हृदयशक्तिसे, सेवाशक्तिसे है। स्त्री यदि इस अनुपम हृदय-सम्पत्तिका तिरस्कार करके शारीरिक सम्पत्तिमें पुरुषकी प्रतिद्वन्द्विता करने लगेगी तो इससे दोनोंका ही अमंगल अनिवार्य है। स्त्री अपने इस विजयपदसे गिर जायगी, निराश्रय हो जायगी। और वह जितना ही इस क्षेत्रमें आगे बढ़ेगी उतना ही अपनी स्वाधीनता खोकर पुरुषके चंगुलमें फँस जायगी। आज वह पुरुषको नचाती है, अपने चरणोंपर गिराती है, फिर उसे नाचना पड़ेगा। और पुरुष अपने एक परम मित्रको खोकर—दिनभरका थका-माँदा घर आकर जिसके आश्रयसे, कुछ समयके लिये अपने सब दुःखोंको भूलकर सुखी हो जाता है—सर्वथा निराश्रय हो जायगा। परन्तु क्या किया जाय, वर्तमान शिक्षाने स्त्रियोंको विपथगामिनी बना दिया है, इसीसे वे समानाधिकारके मोहमें पड़कर पुरुषविद्वेषका चश्मा चढ़ानेके कारण अपना हिताहित भूल रही हैं और पुरुषोंकी प्रतिद्वन्द्विता करनेके लिये अपने रानी-पदका परित्याग कर बाजारमें निकल पड़ी हैं। इसीसे वे आज थियेटर, सिनेमा, सभा-समिति, कौंसिल, अदालत और आफिसके फेरमें पड़कर अपने-आपको घृणित पराधीनताके पंजेमें फँसा देना चाहती हैं। इसीसे वे अपनी पोषणमयी प्रतिमाको बिगाड़कर शोषणका भीषण रूप धारण करना चाहती हैं। याद रखना चाहिये कि स्त्रीको कभी स्वतन्त्र न रहनेकी व्यवस्था इसलिये नहीं है कि स्त्री गुलाम है, उसे परतन्त्र रखना चाहिये। वह परतन्त्रता तो उसकी शोभा है। रानी ही पहरेदारोंमें रहती है। उसके गुणोंकी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उसके सुन्दर शरीरकी, उसके जरा-से स्पर्शसे ही अपावन हो जानेवाले पवित्र सतीत्वकी, और आदर्श मातृत्वकी रक्षाके लिये उस परतन्त्रताकी आवश्यकता है। यह उसकी सम्मानरक्षाके लिये दिया हुआ विधाताका दान है।

समान शिक्षा और सहशिक्षा

एक और बहुत बुरी बात बढ़ रही है, वह है युवक-युवतियोंकी सहशिक्षा। अर्थात् एक ही विद्यालयमें इकट्ठे बैठकर एक-सी ही पुस्तकोंको पढ़ना। प्रथम तो यह धर्महीन शिक्षाप्रणाली ही हिन्दू स्त्रियोंके आदर्शके सर्वथा प्रतिकूल है, फिर जवान लड़के-लड़कियोंका एक साथ पढ़ना तो और भी अधिक हानिकर है। इस सहशिक्षाका भीषण परिणाम प्रत्यक्ष देखनेपर भी मोहवश उसी मार्गपर चलनेका आग्रह किया जा रहा है। इसका कारण प्रत्यक्ष है। जिन बातोंको हम पतन समझते हैं, वही बातें उनकी दृष्टिमें उत्थान या उन्नतिके चिह्न हैं। पश्चिमीय सभ्यताका आदर्श ही उनके हृदयमें सबसे ऊँचा आसन प्राप्त कर चुका है, अतएव उसकी ओर उनका अग्रसर होना और दूसरोंको ले जानेकी चेष्टा करना स्वाभाविक ही है। परन्तु जो लोग अभी इसका विचार करते हैं, उन्हें बुद्धिपूर्वक कुछ सोचनेकी चेष्टा अवश्य करनी चाहिये।

पहले समान शिक्षापर कुछ विचार करें। शिक्षाका साधारण उद्देश्य है मनुष्यके अंदर छिपी हुई शक्तियोंका उचित विकास करना। परन्तु क्या पुरुष और स्त्रीमें शक्ति एक-सी है? क्या पुरुष और स्त्रीकी शक्तिके विकासका क्षेत्र एक ही है? क्या सब बातोंमें पुरुषके समान ही स्त्रीको शिक्षा ग्रहण करनेकी आवश्यकता है? विचार करनेपर स्पष्ट उत्तर मिलता है—'नहीं।' दोनोंके शरीर-सङ्गठनमें भेद है, दोनोंके कार्यमें भेद है, दोनोंके हृदयोंमें भेद है। इस भेदको ध्यानमें रखकर ही शिक्षाकी व्यवस्था करनी चाहिये। इस प्रकृति-वैचित्र्यको मिटाकर आज हम प्रमादवश स्त्री-पुरुषको सभी कार्योंमें समान देखना चाहते हैं। इस असम्भव साम्यवादकी मोहिनी आशाने हमें अन्धा बना दिया है, इसीसे हमें आज प्रत्यक्ष भी अप्रत्यक्ष हो रहा है। ध्यानसे देखनेपर दोनोंमें दो प्रकारकी शक्तियाँ माननी पड़ती हैं और दोनोंके दो क्षेत्र साबित होते हैं। स्त्रियोंका क्षेत्र है घर, पुरुषका क्षेत्र है बाहर। स्त्री घरकी स्वामिनी है, पुरुष बाहरका मालिक है।* दफ्तर, बाजार, सभा, कचहरी, कौंसिल ये सब पुरुषोंकी चीजें हैं, स्त्री इनमें जाकर क्यों माथापच्ची करेगी? उसे मातृत्वमें जो सुख है, घरकी स्वतन्त्रतामें जो आनन्द है, वह दफ्तरकी क्लर्कीमें कहाँसे मिलेगा? स्त्रीका खास क्षेत्र मातृत्व है। उसके सारे अंग आरम्भसे इस मातृत्वके लिये ही सचेष्ट हैं। वह मातृत्वका पोषण करनेवाले गुणोंसे ही महान् बनी है। बहुत बड़ा त्याग करके स्त्री इस मातृत्वके पदको प्राप्त करती और सुखी होती है। जिस शिक्षासे इस मातृत्वमें बाधा पहुँचती है, जिस शिक्षामें स्त्रीके पवित्र मातृत्वके आधारस्वरूप सतीत्वपर कुठाराघात होता है, वह तो शिक्षा नहीं, कुशिक्षा है। एक पत्रमें प्रकाशित हुआ था कि एक फैशनेबल पाश्चात्य युवतीने अपने बालकको इसलिये मार डाला कि उसको रात्रिके समय खाँसी अधिक आती थी, इस कारण वह बहुत रोता था और इससे युवतीके सोनेमें विघ्न होता था। एक युवतीने बच्चेके पालन-पोषणसे पिंड छुड़ानेके लिये आत्महत्या कर ली। मातृत्वका यह विनाश कितना भयङ्कर है? परन्तु जिस उच्च शिक्षाके पीछे आज हम व्याकुल हैं, जिस सभ्यताका प्रभाव आजकी हमारी स्त्रीशिक्षाको सञ्चालित करता है, उस सभ्यताके मातृत्वनाशका तो यही नमूना है! आज हम स्त्रियोंके मातृत्वभावका विनाश कर उन्हें तलवार चलाना सिखाते हैं, परन्तु यह भूल जाते हैं कि यदि मातृत्व या सतीत्वका आदर्श न रहा, यदि स्त्री अपने स्वाभाविक त्यागके आदर्शको भूल गयी—वह स्नेहमयी माँ, प्रेममयी पत्नी या त्यागमयी देवी न रही तो उसकी तलवारका शिकार उसीकी सन्तान, उसीका पति या उसीका शरीर होगा।

---

* 'घर' और 'बाहर' से यह मतलब नहीं कि स्त्री सदा घरके अंदर बंद रहे और पुरुष सदा बाहर ही रहे। स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर ही एक सच्चा 'घर' है। पति बाहर जाता है उसी 'घर' के लिये, और स्त्री घरमें रहती है उसी 'घर' के लिये। इसी प्रकार आवश्यक होनेपर धार्मिक या सामाजिक कार्यके निमित्त स्त्री घरकी मर्यादाके अनुसार पति-पुत्रादिके साथ बाहर जाती है उसी 'घर' के लिये—'घर' को भूलकर स्वतन्त्र शौकसे नहीं। पति घरमें आता है 'घर' के लिये। 'घर' को भूलकर, बाहरकी सफलतामें फूलकर, अभिमानमें डूबकर, हुकूमत करनेके लिये नहीं। घर-बाहरकी यह व्यवस्था जाना-आना, मिलना-जुलना, कमाना-खाना, पाठ-पूजन, दान-पुण्य, आचार-व्यवहार सब इस एक ही 'घर' को सुरक्षित और समुन्नत बनानेके लिये है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तलवार चलाना तो जरूर सिखाया जाय, परन्तु पहले मातृत्वको कायम रखकर। जिसमें उसका प्रहार शत्रुओंपर ही हो, अपनोंपर नहीं!—माता शत्रुविनाशिनी बनें, पतिपुत्रग्रासिनी नहीं! वर्तमान शिक्षापद्धतिसे मातृत्वका बुरी तरह विनाश हो रहा है। इससे यह सिद्ध होता है कि स्त्री-पुरुषके लिये एक-सी शिक्षा सर्वथा अव्यावहारिक और हानिकारक है।

अब सहशिक्षापर विचार कीजिये। स्त्रियोंमें बहुत-से स्वाभाविक गुण हैं। उन्हीं गुणोंके कारण वे महान् पुरुषोंकी माताएँ बनती हैं। उन्हीं गुणोंका विकास करना स्त्री-शिक्षाका उद्देश्य होना चाहिये। परन्तु साथ ही यह भी याद रखना चाहिये कि जो चीज जितनी बढ़ी-चढ़ी होती है, वह उलटे मार्गपर चले तो उससे नुकसान भी उतना ही अधिक होता है। स्त्रीको उन्नत बनानेवाले त्याग, सहनशीलता, सरलता, तप, सेवा आदि अनेक आदर्श गुण हैं। परन्तु स्त्री यदि चरित्रसे गिर जाती है तो फिर उसके यही गुण विपरीत दिशामें पलटकर उसे अत्यन्त भयङ्कर बना देते हैं। और सहशिक्षासे प्रत्यक्ष ही व्यभिचारकी भावना उत्पन्न होती है जिससे कोमलहृदया कन्याओंके चरित्रका नाश होते देर नहीं लगती।

स्त्री-पुरुषके शरीरका संगठन ही ऐसा है कि उनमें एक दूसरेको आकर्षित करनेकी विलक्षण शक्ति मौजूद है। नित्य समीप रहकर संयम रखना असम्भव-सा है। प्राचीन कालके तपोवनमें निर्मल वातावरणमें रहनेवाले जैमिनि, पराशर-सरीखे महर्षि, और न्यूटन और मिल्टन-जैसे विवेकी पुरुष, और वर्त्तमान कालके बड़े-बड़े साधक पुरुष भी जब संसर्ग-दोषसे इन्द्रिय-संयम नहीं कर सके, तब विलास-भवनरूप सिनेमाओंमें जानेवाले, गंदे उपन्यास पढ़नेवाले, तन-मन और वाणीसे सदा शृङ्गारका मनन करनेवाले, मौज-शौक तथा उच्छृङ्खलताके आदर्शको लक्ष्य माननेवाले, भोगवादको प्रश्रय देनेवाली केवल अर्थकरी (?) विद्याके क्षेत्र कालेजोंमें पढ़नेवाले और यथेच्छ आचरणके केन्द्रस्थान छात्रावासोंमें निवास करनेवाले विलासिताके पुतले युवक-युवतियोंसे शुकदेवके सदृश इन्द्रिय-संयमकी आशा करना अपने आपको धोखा देना है। परन्तु आज तो बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् यूरोपका उदाहरण देकर सहशिक्षाका समर्थन कर रहे हैं, मतिवैचित्र्य है!!

कुछ लोग संस्कृत नाटकोंके आधारपर प्राचीन गुरुकुलोंमें सहशिक्षाका होना सिद्ध करते हैं परन्तु उन्हें यह जानना चाहिये, कि प्राचीन ग्रन्थोंमें कहीं कन्याओं और स्त्रियोंका ऋषियोंके आश्रमोंमें जाकर पढ़नेका प्रमाण नहीं मिलता; गुरुकन्याओंके साथ भाई-बहनके नाते ब्रह्मचारी गुरुकुलमें अवश्य रहते थे। परन्तु गुरुकुलोंमें अत्यन्त कठोर नियम थे। सभी बातोंमें संयम था और आजकलके कालेज-होस्टलोंकी तरह विलासिता और स्त्री-पुरुषकी परस्पर कामवृत्ति जगानेवाले साधन वहाँ नहीं थे। इतने-पर भी कच-देवयानीके इतिहासके अनुसार कहीं-कहीं आकर्षण होनेकी संभावना थी ही। अतः आजकलकी सह-शिक्षाका समर्थन इससे कदापि नहीं हो सकता।

सिनेमा

सिनेमा भी आजकलकी सभ्यताका एक अंग है, और शिक्षित स्त्री-पुरुष सभ्यताके सभी अङ्गोंमें प्रवेश करना चाहते हैं, अतएव स्वाभाविक ही इधर भी उनका प्रवेश खूब हो रहा है। निःसन्देह चित्रपट एक कला है, और संयमी सदाचारी तथा निःस्वार्थ पुरुषोंके द्वारा इसका सदुपयोग हो तो इससे मनोरञ्जनके साथ ही बहुत कुछ उपकार भी हो सकता है। परन्तु उपकारकी जितनी सम्भावना है उससे अधिक अपकारकी है। जन्म-जन्मान्तर-के बुरे संस्कारोंके कारण प्रायः मनुष्य बुरी बातोंको जितनी जल्दी ग्रहण करता है, उतनी अच्छी बातोंको नहीं करता। कथानक अच्छे-से-अच्छा हो, सब बातें शिक्षाप्रद हों तथापि उसमें कुछ-न-कुछ तो शृङ्गार-रस रखना ही पड़ेगा। जहाँ स्त्रियोंके पार्ट पुरुष करते हों वहाँ तो विशेष आपत्तिकी बात नहीं है, परन्तु जहाँ स्त्रियोंके पार्ट स्त्रियाँ करेंगी, वहाँ, वे चाहे कितने ही उच्च घरानेकी हों, और पुरुष पात्र कितने ही सच्चरित्र हों, नित्यके सङ्गसे उनके द्वारा प्रमाद होनेकी सम्भावना है ही। नर और नारीके शरीरोंकी प्रकृतिने रचना ही ऐसी की है कि उनमें परस्पर शारीरिक मिलनकी इच्छा उत्पन्न हो ही जाती है! फिर युवावस्थामें तो यह मिलनेच्छा बड़ी तीव्र होती है, ऐसी अवस्थामें नित्य साथ रहकर, शृङ्गारके पार्ट कर-कर पद्मपत्रवत् निर्लेप बने रहना असम्भव-सा ही है। नित्यके अबाध सङ्गमें इन्द्रियसंयम बना रहना मामूली बात नहीं है। बड़े-बड़े वनवासी फलमूलाहारी तपस्वी, महान् विद्वान् और ऊँचे साधक भी तीव्र आकर्षणके प्रभावसे इन्द्रियोंके वश हो जाते हैं तब शृङ्गारकी लीलाभूमि सिनेमामें रहनेवाले जवान उम्रके साधारण अभिनेताओं और अभिनेत्रियोंकी तो बात ही

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कौन-सी है! इस भारी पतनकी आशंका तो सिनेमा-जगत्‌में पर्याप्त सुधार—जिसकी आशा नहीं है—होनेपर भी रहेगी ही; वर्तमान सिनेमाओंमें तो पद-पदपर सबके पतनके लिये गहरी खाइयाँ खुदी हैं। गंदे गाने, अश्लील मजाक, अर्द्धनग्नावस्थाके नाच, शृङ्गारसे पूर्ण कथानक, मिस कहलानेवाली एक्ट्रेसोंके गंदे हावभाव सभी चीजें नरकके दरवाजे हैं। चित्रपट इस समय धन कमानेका पूरा साधन बन गया है; अधिक-से-अधिक धन कमाना ही सञ्चालकोंका उद्देश्य है। करोड़ोंकी पूँजी लगाकर व्यापारी इस क्षेत्रमें धन कमानेके लिये कूद पड़े हैं। कलाका विकास और शुद्ध भावोंका प्रचार प्रायः किसीका उद्देश्य नहीं है। इसीलिये जिन-जिन सामग्रियोंसे जनता अधिक आकर्षित होती है, उन्हींको एकत्रकर प्रदर्शन करना सिनेमा-सञ्चालकोंका कर्तव्य हो गया है। फिर चाहे उनसे जनताकी रुचि बिगड़े, वह आचरणभ्रष्ट हो और सदाके लिये नरकके गढ़ेमें क्यों न गिर पड़े। जनताके पतनकी जिम्मेदारीका खयाल किसीको नहीं है। ध्यान है तो केवल धनका है। और यह धनका ध्यान केवल सञ्चालकोंको ही नहीं है, सिनेमाओंसे संलग्न प्रायः सभी लोगोंको है। नहीं तो गंदे साहित्यके द्वारा गंदे फिल्म कैसे बनते और लोंकर उनका प्रदर्शन सम्भव होता? खेदकी बात है कि इस समय भले घरोंकी शिक्षिता कहलानेवाली महिलाएँ भी अपनी आर्योचित उच्च कुलमर्यादाको त्यागकर सिनेमाओंमें परपुरुषोंके साथ मिलकर अभिनय करनेमें गौरवका अनुभव तथा उन्नतिका गर्व करने लगी हैं। यह पतनका प्रत्यक्ष चिह्न है। पता नहीं, वे किसी भुलावेमें आकर ऐसा कर रही हैं या कलाकी आड़में आर्थिक प्रलोभनमें पड़कर! अभी कुछ दिनों पहले एक एक्ट्रेसका अनुभव पत्रोंमें छपा था; उसके अनुसार यह कहा जा सकता है कि एक्ट्रेस बनकर सिनेमामें अभिनय करनेवाली नारियोंका चरित्रवान् रहना अत्यन्त ही कठिन है। प्रायः यही हाल पुरुष एक्टरोंका समझना चाहिये। अधिकांश सञ्चालकोंके लिये भी कुसंगतिका शिकार होना अनिवार्य है। समाजका दुर्भाग्य है कि स्कूलकालेजोंके छात्र-छात्राओंका सिनेमा-शौक दिनोंदिन बढ़ रहा है और वे बुरी तरह कुप्रवृत्तियोंके शिकार हो रहे हैं। सिनेमाके साथी शराब और वेश्याओंके फेरमें पड़कर उनका सर्वनाश हो रहा है। गतवर्ष कुछ धर्मशीला युवती स्त्रियोंने पूछा था कि हमारे शिक्षित पति हमें जबरदस्ती सिनेमाओंमें और क्लबोंमें ले जाकर गंदे खेल दिखलाना और मांस-शराब खिलाना-पिलाना चाहते हैं, ऐसी अवस्थामें हम क्या करें!!

आजकल पत्रोंके द्वारा भी इन सिनेमाओंके प्रचारमें काफी सहायता मिल रही है। विज्ञापनोंकी आमदनीके प्रलोभनसे पत्र-पत्रिकाओंके सञ्चालक-सम्पादकगण भी सिनेमासम्बन्धी साहित्य और सिनेमाके पात्र-पात्रियोंके चित्र खास करके पात्रियोंके आकर्षक चित्र छापकर जनताका चित्त उधर खींच रहे हैं। मैं अपने सम्मान्य पत्र-सम्पादक भाइयोंको उनके नैतिक दायित्वकी बात याद दिलाकर प्रार्थना करना चाहता हूँ कि वे इस ध्वंसकारी प्रवाहके रोकनेमें सहायक हों। जो साहित्य कोमलमति बालकोंके और प्रबल इन्द्रियोंके वेगको न सह सकनेवाले अनुभवहीन नयी उम्रके युवक-युवतियोंके हृदयमें कलाके नामपर जघन्य वृत्तियोंको जागृत कर देता है, जो उनके हृदयमें कुवासना और कुप्रवृत्तियोंकी आग सुलगाकर उसमें बार-बार ईंधन डालकर उसे भड़काता है, वह साहित्य कदापि हितकर नहीं हो सकता। समाजरूपी वाटिकामें खिलते हुए तरलमति युवक-युवतियोंके कोमल हृदयमेंसे दैवी सद्भावोंको हटाकर उनकी जगह आसुरी भावोंको पैदाकर उसमें नरककी आग जला देनेवाली कला तो प्रत्यक्ष काल ही है। साहित्यकारोंको चाहिये कि नवयुवक और नवयुवतियोंके सामने पवित्र वस्तुएँ रक्खें, उनके हृदयमें वीरता, धीरता, संयम और सदाचारकी वृद्धि हो, ऐसा साहित्यामृत उन्हें पिलावें। हमारी प्राचीन गुरुकुलकी शिक्षापद्धतिके अनुसार तो किसी भी छात्र युवकके सामने शृङ्गारी साहित्य नहीं आना चाहिये। मलयसमीर, मधुयामिनी, कुसुमसायक और नायक-नायिकाओंके तथा कामकलाके भेद जाननेकी उन्हें आवश्यकता नहीं है। उनके सामने तो पवित्र इन्द्रिय-संयमका पाठ रखना चाहिये। क्या मैं आशा करूँ कि कृपालु साहित्यिक महानुभाव मेरी इस प्रार्थनापर नाराज न होकर सच्चे हृदयसे कुछ ध्यान देंगे? मुझे तो ऐसा लगता है कि वर्तमान चित्रपट एक प्रकारका मधुर विष है, जो समाजशरीरमें सुखपूर्वक पहुँचकर अंदर-ही-अंदर बड़े जोरसे फैल रहा है और उसे विषाक्त कर रहा है। स्त्रियोंको खास तौरपर इस विषयसे बचना चाहिये था; परन्तु खेद है कि आज वही खास तौरपर इसका शिकार बनने जा रही हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शिक्षा कैसी हो ?

तब क्या बालकोंको शिक्षा नहीं देनी चाहिये ? यह कौन कहता है ? शिक्षा तो जरूर देनी चाहिये; परन्तु बालकोंको वैसी शिक्षा देनी चाहिये जिससे उनमें ईश्वर-भक्ति, धर्म, सदाचार, त्याग, संयम आदिका विकास हो—वे ईश्वरसे डरनेवाले, आत्मामें विश्वास करनेवाले वीर, धीर और परदुःखकातर यथार्थ मनुष्य बनें। और इसीके साथ-साथ वे अन्यान्य बातोंको भी सीखें। खर्चीली शिक्षा कम हो जाय तो अच्छा है, परन्तु उसकी सम्भावना बहुत कम मालूम होती है। विचारशील विद्वानोंको इस ओर विशेषरूपसे ध्यान देकर शिक्षाके सुधारका कोई क्रियात्मक उपाय शीघ्र-से-शीघ्र शोधना चाहिये।

कन्याओंके लिये तो जहाँतक हो सके मेरी तुच्छ सम्मतिमें पाश्चात्य शिक्षाका मोह छोड़ देना ही उत्तम मालूम होता है। कन्याओंको घरोंमें माता-पिता पढ़ावें और विवाह होनेपर उन्हें पति पढ़ावें। स्त्रियोंके लिये घर ही विश्वविद्यालय है। याद रखना चाहिये कि विदेशी भाषामें बी० ए०, एम० ए० हो जाना कोई खास विद्या नहीं है। परायी भाषा सीखकर ही कोई स्त्री विदुषी नहीं हो जाती, इसीसे उसमें कोई गुण नहीं आ जाता। विदेशी भाषा सीखनेमें भी आपत्ति नहीं होती यदि उससे कोई हानि न होती। परन्तु अपनी शुद्ध संस्कृतिका बलिदानकर उसके बदले विदेशी भाषा सीखकर शिक्षिता कहलाना तो बहुत ही घाटेका सौदा है। जो शिक्षा हमारे युवकोंका कोई भला न कर सकी, उससे हमारी बहिन-बेटियोंका क्या कल्याण होगा ? मेरी समझसे इस शिक्षाके फलस्वरूप स्त्रियोंमें जो नवीन सामाजिक प्रयोग शुरू हुए हैं, उनसे भी उनकी और समाजकी नैतिक और धार्मिक दोनों ही दृष्टियोंसे यथेष्ट हानि हुई है और हो रही है तथा यह हानि कदापि हमें वाञ्छनीय नहीं है और न होनी चाहिये। इससे मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि स्त्रियोंको पढ़ना-पढ़ाना नहीं चाहिये। द्रौपदी बड़ी विदुषी थी, राज्यका सञ्चालन कर सकती थी और लड़ाईकी मन्त्रणा-सभामें भी वह रहती थी। परन्तु वह आदर्श सद्गृहिणी भी थी। अहल्याबाई विदुषी और धर्मशीला थी। अतएव सद्गृहिणी होकर ही स्त्रियाँ विदुषी बनें। ऐसी ही पढ़ाईकी आवश्यकता है। जबतक ऐसी पढ़ाईकी व्यवस्था न हो तबतक युनिवर्सिटियोंकी निरर्थक ही नहीं, वरं अत्यन्त हानिकर वर्तमान उच्च (?) स्त्रीशिक्षा-से स्त्रियोंका अलग रहना ही समाजके लिये हितकी बात है। जो शिक्षा स्त्रियोंके स्वाभाविक गुण मातृत्व, सतीत्व, सद्गृहिणीपन, शिष्टाचार, स्त्रियोचित हार्दिक उपयोगी सौन्दर्य-माधुर्यको नष्ट कर देती है, उस शिक्षाकी अपेक्षा तो उनका अशिक्षिता रहना कहीं अच्छा है। जिस विद्यासे सद्गुण रह सकें और बढ़ सकें, उसी विद्याको पढ़ाकर नारियोंको विदुषी बनाना चाहिये, और इसकी आवश्यकता भी है। क्योंकि सद्गुणोंका विकास और उनके उचित प्रयोगोंके द्वारा यथेष्ट लाभ सद्विद्यासे ही हो सकता है। परन्तु जिस विद्याके प्रभावसे सद्गुण नष्ट होते हों, वह विद्या तो हानिकर ही है। ऐसी हालतमें तो सद्गुणोंको बचानेके लिये विद्याका मोह छोड़ देना ही बुद्धिमानी है। आजकल जिस प्रकारकी स्त्रीशिक्षाका प्रचार हो रहा है, उससे तो समाजका अमङ्गल ही दिखायी देता है।

क्षमाप्रार्थना

दोष देखना एक घृणित कार्य है, और इसलिये कर्तव्यवश इस कार्यको करनेवाला मैं अपना दोष स्वीकार करता हूँ और उन महानुभावोंसे सविनय क्षमा चाहता हूँ जिनको इस लेखके पढ़नेपर कुछ भी मेरा अपराध जान पड़े। एक बात और है। इस लेखसे मेरा यह मतलब कदापि नहीं है कि मैं पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त पुरुष और स्त्रीमात्रको ही उपर्युक्त दोषोंसे युक्त मानता हूँ। मुझे ऐसे बहुत-से नररत्नों और पूज्य पुरुषोंसे परिचय करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ है जो इस शिक्षामें बहुत आगे बढ़े हुए होनेपर भी सब तरहसे आदर्श हैं और तपस्वी जीवन बिता रहे हैं। ऐसी माताओं और बहिनोंको भी मैं जानता हूँ जो पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त होनेपर भी परम सती-साध्वी हैं और ईश्वर, धर्म तथा सदाचारमें परम श्रद्धा रखती हैं। परिचय तो थोड़ोंसे ही होता है। मुझसे अपरिचित पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त पुरुषोंमें ऐसे अनेकों शुद्ध संस्कारी महानुभाव और अनेकों पवित्रहृदया बहिनें होंगी जिनके सामने मुझे श्रद्धापूर्वक सिर झुका देना चाहिये; परन्तु मेरी समझसे इनमें अधिकांश वही हैं जो अधिक उम्रके हैं या जो सौभाग्यसे घरके या सत्संगके शुद्ध वातावरणमें रहे हैं और माता-पिताके शुद्ध आदर्शको लड़कपनमें देखा है। तरुणवयस्क आजके छात्रों और छात्राओंमें ऐसे पुरुषों और स्त्रियोंकी संख्या क्रमशः घटती जा रही है, यह सभी स्वीकार करेंगे और प्रत्यक्ष प्रमाणसे भी यही सिद्ध है।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीरासलीलारहस्य

(महात्माका उपदेश)

[गतांकसे आगे]

जो लोग निर्विशेष परब्रह्मका अपरोक्ष साक्षात्कार कर चुके हैं उन्हें कैवल्य तो ज्ञानसे ही प्राप्त होता है; किन्तु वे जीवन्मुक्तिकालमें भी भगवान्‌की अचिन्त्य लीलामयी शक्तिके योगसे दिव्य मङ्गलमय विग्रहमें आविर्भूत हुए परमात्मा श्रीकृष्णचन्द्रके सौन्दर्य-माधुर्य-सुधाका समास्वादन किया करते हैं। अचिन्त्यानन्द-सुधासिन्धु श्रीभगवान्‌के जिस माधुर्यका समास्वादन केवल वृत्ति-शून्य अन्तःकरणसे नहीं किया जा सकता उसे भी तत्त्वज्ञ भावुकगण भगवान्‌की दिव्य लीलाशक्तिकी सहायतासे अनुभव कर लेते हैं। ऊपर यह कहा जा चुका है कि केवल नेत्रोंसे सूर्यको वैसी दीप्तिमत्ता अनुभव नहीं होती जैसी कि स्वच्छ काँच आदिकी सहायतासे होती है। उपाधि-निर्शुद्धिके तारतम्यसे माधुर्यविशेषके प्राकट्यका भी तारतम्य रहता है। यद्यपि प्राण और इन्द्रियादिकी अपेक्षा जो शुद्ध निर्वृत्तिक अन्तःकरणकी स्वच्छता विशेष है, तथापि भगवान्‌की जो लीलाशक्ति उनके अशेष विशेषातीत परमानन्दात्मक शुद्ध स्वरूपको ही अचिन्त्य एवं अनन्त आनन्दमय सौन्दर्यसुधानिधि, परम दिव्य श्रीकृष्णविग्रहमें अभिव्यक्त कर देती है वह उस निर्वृत्तिक अन्तःकरणकी अपेक्षा भी अनन्त गुण स्वच्छ है; क्योंकि उसमें रजोगुण या तमोगुणका थोड़ा-सा भी संस्पर्श नहीं है। अन्तःकरण चाहे कितना भी स्वच्छ हो परन्तु वह रजोगुण-तमोगुणसे सर्वथा शून्य नहीं हो सकता, क्योंकि वह तमःप्रधाना प्रकृतिके परिणामभूत पञ्चभूतोंका ही कार्य है और कार्यमें कारणांशकी अनुवृत्ति अनिवार्य है। अतः सिद्ध हुआ कि तत्त्वज्ञगण केवल निर्वृत्तिक अन्तःकरणसे वैसी मधुरताका अनुभव नहीं कर सकते जैसी कि लीलाशक्तिके योगसे आविर्भूत हुए भगवान्‌के सगुण स्वरूपका साक्षात्कार करनेपर होती है। इसीसे अमलात्मा तत्त्वज्ञ मुनियोंको उनका भजनीय स्वरूप समर्पण कर भक्तियोगके द्वारा उन्हें अपने सौन्दर्य-माधुर्यका समास्वादन करानेके लिये ही परब्रह्म परमात्मा अवतीर्ण होते हैं। उन्हें यदि सगुण साकार ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाय तो भी देह-पातके अनन्तर वे कैवल्यपद ही प्राप्त करेंगे। किन्तु सगुणोपासक अपने इष्टदेवका नित्यधाम प्राप्त करेंगे; इसीसे भक्तिरसायनादि ग्रन्थोंमें तत्त्वज्ञको सगुण दर्शनसे केवल दृष्ट फल माना है और उपासकको दृष्ट और अदृष्ट दोनों।

अतः ऊपर जो बतलाया गया है इससे यही निश्चय होता है कि भगवान्‌के अवतारका प्रधान प्रयोजन अमलात्मा परमहंसोंके लिये भक्तियोगका विधान करना है। इसी उद्देश्यकी पूर्तिके लिये वे अपनी लीलाशक्तिसे दिव्य मङ्गलमय देह धारण करते हैं। यह लीलाशक्ति भगवान्‌की परम अन्तरंगा है। जिस प्रकार वृक्षके बीजमें उसके शाखा, पल्लव, पुष्प और फल आदि सभी अङ्गोंको उत्पन्न करनेकी अनेक शक्तियाँ रहती हैं उसी प्रकार महाशक्तिमें ही विश्वविकासकी समस्त शक्तियाँ निहित हैं। अर्थात् वह भगवदीय महामायाशक्ति अनन्त शक्तियोंका पुञ्ज है। उसमें जिस प्रकार अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड और उसके अन्तर्वर्ती विचित्र भोग्य, भोक्ता और उनके नियामक आदि प्रपञ्चको उत्पन्न करनेकी अनन्त शक्तियाँ हैं, उसी प्रकार उन अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके अधीश्वर श्रीभगवान्‌के दिव्य मङ्गलमय विग्रहमें आविर्भूत होनेके अनुकूल भी एक परम विशुद्धा अन्तरंगा शक्ति है और वह भगवान्‌की अनिर्वचनीया आत्मयोगभूता महाशक्तिके अन्तर्गत होनेके कारण अनिर्वचनीयतामें अन्य प्रपञ्चोत्पादनानुकूल शक्तियोंके समान होनेपर भी उनकी अपेक्षा कहीं अधिक स्वच्छ और दिव्य है। इसे दृष्टान्तद्वारा इस प्रकार समझा जा सकता है—जैसे किसी अत्यन्त दिव्य पुष्पके बीजमें अंकुर, स्कन्ध, पत्र और कण्टकादि उत्पन्न करनेकी भी शक्तियाँ रहती हैं, तथापि उन सबकी अपेक्षा उसमें जो महामनोहर सुरभित सुमन उत्पन्न करनेकी शक्ति है वह उन सबकी अपेक्षा उत्कृष्टतर है। यदि एक ही बीजमें अनेकों अतीन्द्रिय शक्तियाँ न होतीं तो उससे पत्र, पुष्प, कण्टक और शाखा आदि परस्पर अत्यन्त विलक्षण वस्तुएँ उत्पन्न नहीं हो सकती थीं। अतः जिस प्रकार कण्टकादि उत्पन्न करने-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वाली शक्तियोंकी अपेक्षा सुकोमल एवं सुगन्धित पुष्प उत्पन्न करनेवाली शक्ति अत्यन्त उत्कृष्ट और विशुद्ध होती है उसी प्रकार प्रपञ्चोत्पादिनी शक्तियोंकी अपेक्षा भगवान्‌की दिव्य मंगलमयी मूर्तिका स्फुरण करनेवाली शक्ति परम विलक्षण होनी ही चाहिये। उसीके द्वारा भगवान् अचिन्त्य सौन्दर्य-माधुर्य सुधामयी मंगलमूर्ति धारण करते हैं। इसीसे प्रपञ्चातीत प्रत्यगभिन्न परमात्मतत्त्वमें निष्ठा रखनेवाले महामुनीन्द्र और योगीन्द्रोंके मन भी अनायास ही उस भगवन्मूर्तिकी ओर आकृष्ट हो जाते हैं। उसी विलक्षण शक्तिका निर्देश पराशक्ति एवं अन्तरंगा शक्ति आदि शब्दोंसे भी किया जाता है। वह शक्ति भी भगवत्-स्वरूपमें अप्रविष्ट रहती हुई ही उसके प्राकट्यका निमित्त होती है, जिस प्रकार उपाधिविरहित, अतएव दाहकत्व-प्रकाशकत्वरहित अग्निके दाहकत्व-प्रकाशकत्वविशिष्ट दीप-शिखादि रूपकी अभिव्यक्तिमें तेल और वत्ती आदि केवल निमित्तमात्र ही हैं, मुख्य अग्नि तो दीपशिखा ही है, अथवा जैसे-जैसे तरंगविरहित नीरनिधिके तरंगयुक्त होनेमें वायु केवल निमित्तमात्र ही है, वास्तवमें तो तरंगयुक्त समुद्र विलक्षणरूपमें प्रतीत होनेपर भी सर्वथा वही है जो कि निस्तरंगावस्थामें था, ठीक उसी प्रकार विशुद्ध लीलाशक्तिरूप निमित्तसे शुद्ध परब्रह्म ही अनन्त कल्याण गुणगणविशिष्ट सगुण विग्रहमें अभिव्यक्त होते हैं; किन्तु वस्तुतः उनका वह विग्रह मूर्तिमान् शुद्ध परमानन्द ही है। उसमें उस दिव्य शक्तिका भी निवेश नहीं है, वह तो तटस्थरूपसे ही उसकी निमित्त होती है। इसीसे भगवान्‌की सगुणमूर्तिके विषयमें 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि' 'आनन्दैकरसमूर्त्तयः' इत्यादि उक्तियाँ हैं। इसीसे उसकी मधुरिमा बड़े-बड़े सिद्ध मुनीश्वरोंके भी मनोंको मोहित कर देती है। जिस समय बालयोगी सनकादि वैकुण्ठ-धाममें भगवान्‌की सन्निधिमें पहुँचे उस समय प्रभुके पादारविन्द-मकरन्दके आघ्राण मात्रसे उनका प्रशान्त चित्त क्षुभित हो गया—

तस्यारविन्दनयनस्य पदारविन्द-
किञ्जल्कमिश्रतुलसीमकरन्दवायुः ।
अन्तर्गतः स्वविवरेण चकार तेषां
संक्षोभमक्षरजुषामपि चित्ततन्वोः ॥

इसीसे बहुत-से सहृदय महानुभाव निर्विशेष परब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर भी प्रभुके प्रेमपथके पथिक होते हैं। श्रीगोसाईंजी उन्हें 'सयाने सन्त' कहते हैं—

अस बिचारि जे सन्त सयाने। मुकुति निरादरि भगति लुभाने॥

वे भगवान्‌से भगवत्सेवाके सिवा और कुछ नहीं चाहते; यहाँतक कि मुक्ति और अपुनर्जन्मको भी अस्वीकार कर देते हैं—

न किञ्चित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥

वस्तुतः भोग-मोक्षादिकी वासना रहते हुए तो भगवद्-भक्तिकी प्राप्ति ही नहीं हो सकती।

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत्पिशाची हृदि वर्तते।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

अतः जिनका चित्त केवल भगवान्‌के सौन्दर्य-सुधा-समास्वादनके लिये ही लालायित हो रहा है उन्हें केवल सङ्कल्पमात्रसे भगवान् सन्तुष्ट नहीं कर सकते, क्योंकि वे तो मोक्षका भी तिरस्कार कर देते हैं—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।

भला, जब उनका सन्तोष कैवल्य भी नहीं कर सकता तो भगवान् क्या करें? उन्हें स्वयं आविर्भूत होना ही पड़ता है। यहाँ गोपांगनाओंको भी भगवद्दर्शनके बिना 'त्रुटिर्युगायते'—एक-एक पल युगके समान हो रहा था। उन्हें सन्तुष्ट करनेमें भगवान्‌का निर्विशेष रूप असमर्थ था। इसलिये ऐसी अवस्थामें भगवान्‌को मूर्तिमान् होकर अवतीर्ण होना ही पड़ा। क्योंकि उनकी तृप्ति तथा जीवन बिना इसके नहीं हो सकते। भगवान्‌के अवतीर्ण हुए बिना वे कार्य नहीं हो सकते थे। इसीसे प्रभुका प्रादुर्भाव हुआ।

अब, साथ ही यह भी सोचना चाहिये कि—

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

यह श्लोक भी ठीक ही है। यहाँ 'साधु' शब्दसे गोपांगना-जैसे साधु ही समझने चाहिये, जिनका परित्राण भगवान्‌के दर्शनोंके बिना हो ही नहीं सकता था। तथा दुष्कृती भी साधारण नहीं बल्कि भगवान्‌के परम अन्तरंग जय-विजय-जैसे दुष्कृती समझने चाहिये, जिनका दुष्कृत भगवान्‌की लीलाविशेषके विकासके ही लिये था; अन्य दुष्कृतियोंको तो उनका दुष्कर्म ही नष्ट कर देगा। इसके

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बिना धर्म-संस्थापनसे भी भक्तियोगरूप धर्मकी ही स्थापना समझनी चाहिये; जो कि ऐसे भजनीयके बिना नहीं हो सकती।

इस श्लोककी व्याख्या करते हुए भगवान् भाष्यकारादिने भगवान्के अवतारका प्रयोजन सर्वसाधारणके कल्याणोपयुक्त धर्मकी स्थापना ही बतलाया है। इस प्रकार यद्यपि उनके प्रादुर्भावका प्रधान प्रयोजन अमलात्माओंके भक्तियोगका विधान करना ही है तथापि अवान्तर प्रयोजन सन्मार्गस्थ साधुओंकी रक्षा और वैदिक-स्मार्त्तादि कर्मोंकी स्थापना भी हो सकता है। आगेके कथनानुसार भगवान्में लोक-शिक्षादि भी देखे ही जाते हैं। भगवान् तो सर्व-नियन्ता हैं; इसलिये उनका प्रादुर्भाव योगारुरुक्षुओंके लिये भी था और योगारूढोंके लिये भी। योगारुरुक्षुओंको वैदिक-स्मार्त्त कर्मोंमें प्रवृत्त करना था और योगारूढोंको सर्वकर्मसंन्यासपूर्वक केवल भगवन्निष्ठामें नियुक्त करना था। अतः भगवान्की यह उक्ति उचित ही है—

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

वस्तुतः भगवान् तो विधि-निषेधातीत हैं। वे केवल लोक-शिक्षाके लिये ही शास्त्रीय शृङ्खलाका अवलम्बन करते हैं; क्योंकि शास्त्रादि लोगोंको मर्यादापालनमें वैसा परिनिष्ठित नहीं कर सकते जैसा कि उस मर्यादाका पालन करनेवाले महापुरुष कर सकते हैं। अतः शास्त्रके अर्थज्ञान-के साथ शास्त्रार्थके अनुष्ठानमें परिनिष्ठित व्यक्तियोंके सहवासकी भी बहुत आवश्यकता है। अतः लोगोंको वैदिक-स्मार्त्त कर्मोंमें प्रवृत्त करनेके लिये ही भगवान् स्वयं भी उनका यथाविधि अनुष्ठान किया करते थे—

अथाप्लुतोऽभ्यस्यमले यथाविधि
क्रियाकलापं परिधाय वाससी।
चकार सन्ध्योपगमादि सत्तमो
हुतानलो ब्रह्म जजाप वाग्यतः॥

इस प्रकार वे लोकसंग्रहके लिये ही इन सारी वैदिक एवं स्मार्त्त मर्यादाओंका पालन किया करते थे। जो बन्दर बहुत चञ्चल होता है उससे संयत करनेके लिये बहुत लंबी शृङ्खला बाँधी जाती है। फिर वह जैसे-जैसे शान्त होता जाता है वैसे-वैसे ही उसकी शृङ्खला छोटी कर दी जाती है। यहाँतक कि अन्तमें उसे खुला छोड़ देनेपर भी वह चुपचाप बैठा रहेगा। इसी प्रकार अत्यन्त चञ्चल चित्तके निरोधके लिये विधि-निषेधरूप लंबी शृङ्खलाकी आवश्यकता है। कारण, शास्त्रीय शृङ्खलाशून्य पुरुषके देहेन्द्रियादिकोंकी चेष्टाओंका भी नियमन अशक्य है फिर उनके मनकी चेष्टाओंका निरोध कैसे हो सकता है? इसीसे मनको सर्वथा निश्चेष्ट करनेके लिये पहले देहादिकी शास्त्रीय शृङ्खलानिबद्ध चेष्टा सम्पादन करनी चाहिये परन्तु पीछे जैसे-जैसे उसकी उच्छृंखलता कम होती जाती है वैसे-वैसे ही उसकी शृङ्खला भी छोटी होती जाती है। वह पहले तो काम्य कर्मद्वारा स्वाभाविक काम और कर्मका निराकरण करता है। फिर पारलौकिक महत्फलवाले कर्मोंसे क्षुद्रफलदायक काम्य कर्मोंको त्यागता है। तत्पश्चात् निष्काम कर्मद्वारा सभी काम्य कर्मोंको छोड़ देता है और फिर ध्यान-समाधि आदिसे सब प्रकारकी चेष्टाओंका निरोधकर ठीक-ठीक नैष्कर्म्यको प्राप्त होता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर साधनका अभ्यास करते-करते अन्तमें समाधिस्थ होता है। उस समय कोई आलम्बन न रहनेपर भी उसका मन सर्वथा निश्चेष्ट रहता है; और फिर उसे किसी प्रकारकी शृङ्खलाकी अपेक्षा ही नहीं रहती।

इसका तात्पर्य यही है कि जो लोग आरुरुक्षु हैं, जो संसारसागरसे पार नहीं हुए हैं उनके उपदेशार्थ तो भगवान् लौकिक-वैदिक मर्यादाओंका पालन करते हैं। इसलिये जिन्हें संसाररूप स्वाभाविक मृत्युको पार करना है उन्हें तो मर्यादापालनरूप महौषधिका सेवन करना चाहिये। उनके लिये तो भगवान् भी मर्यादापालन करते हैं; किन्तु जो योगारूढ हैं उनके लिये ऐसी कोई विधि नहीं है; उन्हें एकमात्र भगवन्निष्ठामें ही स्थिर करनेके लिये भगवान् मर्यादाका उल्लङ्घन कर देते हैं, क्योंकि वे स्वयं तो समस्त विरुद्ध धर्मोंके आश्रय ही हैं। उनके लिये मर्यादापालन और मर्यादातिलङ्घन दोनों ही समान हैं।

जो अमलात्मा परमहंस योगारूढ हैं उनके लिये तो मर्यादापालनकी अपेक्षा भगवान्का मर्यादातिलङ्घन ही अधिक श्रेयस्कर है, क्योंकि उन्हें तो भगवत्तत्त्वमें स्वारसिकी प्रीति ही अभिलषित है और वह तभी हो सकती है जब किसी प्रकारकी शृङ्खला न रहे। जहाँ कोई शृङ्खला होती है अर्थात् जहाँ किसी विधिका बन्धन होता है वहाँ

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्वारसिक प्रेम नहीं होता। लोकमें यह देखा जाता है कि वैषयिक सुखके अभिव्यञ्जक स्त्री-पुत्रादिमें मनुष्योंका जैसा स्वाभाविक राग होता है वैसा श्रौत-स्मार्तादि कर्मोंमें नहीं होता। यही नहीं, जिन्होंने मनोनिरोधपूर्वक अपनी बुद्धिको शुद्ध परब्रह्ममें स्थापित कर दिया है, देखा जाता है कि विषय उन्हें भी आकर्षित कर लेते हैं। दृष्ट दुःख उन्हें भी बना ही रहता है। वस्तुतः सुखी तो वे ही हैं जो नारायण-परायण हैं। ऐसे नारायण-परायण महानुभाव विरले ही होते हैं। करोड़ोंमें कोई एक-ही-एक भाग्यशाली होता है।

मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥

तथापि सुखी वे ही हैं जो नारायण-परायण हैं। वे नारायण कौन हैं?—

'नारो जीवसमूहस्तस्य अयनं प्रवृत्तिर्यस्मात् स नारायणः'

—नार जीवसमूहको कहते हैं उसकी जिससे प्रवृत्ति होती है वह नारायण है; अथवा—

'नारो जीवसमूहः अयनं यस्य असौ नारायणः'

—नार यानी जीव समूह है आश्रयस्थान जिसका अर्थात् जो अन्तर्यामीरूपसे समस्त जीवोंमें बसा हुआ है वह नारायण है।

'नारं जीवसमूहमयते साक्षित्वेन विजानातीति नारायणः'

अर्थात् प्रमात्रादि समस्त प्रपञ्चके साक्षीको नारायण कहते हैं।

इस प्रकार शुद्ध परमात्मा ही नारायण है वही जिसका परायण—आश्रय है अर्थात् जिसका एकमात्र ध्येय-गेय श्रीनारायण ही हैं वह नारायण-परायण कहलाता है, उसे विषय अपनी ओर आकर्षित नहीं कर सकते, क्योंकि उसकी तो एकमात्र श्रीनारायणमें ही स्वारसिकी प्रीति होती है। अतः भगवान्‌के अवतारका मुख्य प्रयोजन यही है कि जो अमलात्मा मुनि हैं उनकी श्रीनारायणमें स्वारसिकी प्रीति हो।

वस्तुतः, ब्रह्मतत्त्वके चिन्तनमें तत्त्वज्ञोंकी भी ऐसी स्वारसिकी प्रवृत्ति नहीं होती जैसी विषयी पुरुषोंकी विषयोंमें होती है। इस स्वारसिकी प्रवृत्तिके तारतम्यसे ही तत्त्वज्ञोंकी भूमिकाका तारतम्य होता है। चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ और सप्तम भूमिकावाले तत्त्वज्ञोंमें केवल बाह्य विषयोंसे उपरत रहते हुए तत्त्वोन्मुख रहनेमें ही तारतम्य है। ज्ञान तो सबमें समान ही है। जितनी ही प्रयत्नशून्य स्वारसिकी भगवदुन्मुखता है उतनी ही उत्कृष्ट भूमिका होती है। जिनकी मनोवृत्ति, अत्यन्त कामुककी कामिनीविषयक लालसाके समान, ब्रह्मके प्रति अत्यन्त स्वारसिकी होती है वे ही नारायण-परायण हैं। वे उसकी अपेक्षा भिन्न भूमिका-वाले जीवन्मुक्तोंसे उत्कृष्टतर हैं।

अजी, निर्विशेष परब्रह्ममें हमारी जो प्रवृत्ति होती है वह तो शास्त्रविधिके कारण है, किन्तु मनोरमा नारीमें चित्त स्वयं ही आकर्षित हो जाता है। हमें शास्त्रविधिके कारण परब्रह्ममें तो बलपूर्वक चित्तको लगाना पड़ता है और निषेधके भयसे परस्त्रीकी ओरसे उसे बलात्कार हटाना पड़ता है। विधि कहाँ होती है?—'विधिरत्यन्तमप्राप्तौ'-जो वस्तु स्वतः सर्वथा प्राप्त न हो उसके लिये विधि होती है। अग्निहोत्र स्वतः प्राप्त नहीं है; इसीसे वेद भगवान् 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' ऐसा विधान करते हैं। इसी प्रकार आत्मदर्शनके लिये भी विधि की गयी है—'आत्मा वारे द्रष्टव्यः'। अतः आत्मदर्शनमें स्वारसिकी प्रीति नहीं है और जहाँ स्वारसिकी प्रीति नहीं होती वहाँ निरतिशय प्रेम भी नहीं हुआ करता।*

यद्यपि वेदान्तियोंने आत्मदर्शनमें विधि नहीं मानी, क्योंकि विधि पुरुषाधीन क्रियामें ही हुआ करती है, जिसके कि करने-न-करनेमें पुरुषकी स्वतन्त्रता होती है, जिस प्रकार अमुक पुरुष घोड़ेपर चढ़कर जाता है, पैदल जाता है अथवा नहीं जाता। किन्तु वस्तु या प्रमाणाधीन ज्ञानमें विधि नहीं

* यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि आत्मा तो परप्रेमका ही आस्पद बतलाया गया है और इस कथनसे वह ऐसा सिद्ध नहीं होता परन्तु बात ऐसी नहीं है। यहाँ केवल आत्मदर्शनमें ही स्वारसिकी प्रीतिका अभाव बतलाया गया है, आत्मामें नहीं। वस्तुतः अज्ञानी पुरुषोंकी भी जो शब्दादि विषयोंमें स्वारसिकी प्रवृत्ति होती है वह अज्ञानवश आत्मारूपसे माने हुए देहेन्द्रियादि-की तुष्टिके ही लिये होती है। वे अपने परमार्थस्वरूपसे अनभिज्ञ होते हैं इसलिये देहेन्द्रियादि मिथ्यात्माके ही परितोषका प्रयत्न करते हैं; परन्तु वस्तुतः उस समय वैसा करके भी वे अपने सत्यात्माकी ही प्रीतिका सम्पादन करते हैं, क्योंकि देहेन्द्रियादि मिथ्यात्माकी प्रसन्नताका साक्षी तो शुद्ध चेतन ही है। शास्त्र तो केवल इतना ही करता है कि उन्हें सत्यात्माका ज्ञान करा देता है; इसीसे फिर वे मिथ्यात्माकी प्रसन्नताके लिये उद्विग्न नहीं होते।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हुआ करती, क्योंकि वह तो विधिकी अपेक्षा न रखकर केवल प्रमाणके अधीन है। यदि प्रमाणको अपने प्रमेयके प्रकाशनमें किसी विधिकी अपेक्षा मानी जाय तो विधिको भी अपने अर्थका बोध करानेके लिये दूसरी विधिकी आवश्यकता होगी। अतः आत्मदर्शन तो प्रमाणसे ही होता है, उसके लिये विधिकी आवश्यकता नहीं है। तथापि तत्त्वदर्शनके लिये प्रमाणके व्यापारकी अपेक्षा तो है ही और वह प्रमाण-व्यापार पुरुषाधीन है; इसलिये केवल उसीकी विधि मानी गयी है। अतएव भगवान् भाष्यकारने बहिर्मुखतादिका व्यावर्तन करनेवाले द्रष्टव्य आदि वचनोंको 'विधिच्छाय' (विधिकी छायामात्र) कहा है।

वास्तवमें यही कारण है कि प्राणियोंकी मनोवृत्ति शब्दस्पर्शादिमें समासक्त है; वह शुद्ध परब्रह्मकी ओर जाती ही नहीं। अतः भगवान् उनकी स्वारसिकी प्रवृत्ति सम्पादनके लिये ही, शब्द-स्पर्श-रूप-रसादिविरहित होनेपर भी उनके मन और इन्द्रियोंको आकर्षण करनेके लिये दिव्य रूप दिव्य गन्ध और दिव्य स्पर्शवान् होकर अभिव्यक्त होते हैं, क्योंकि परमपुरुषार्थ तो यही है। जबतक भगवान्के प्रति जीवकी स्वारसिकी प्रवृत्ति नहीं होती तबतक तो वह अकृतार्थ ही है। जिस प्रकार रसनाके पित्तादि दोषसे दूषित हो जानेपर जब किसी बालकको मधुरातिमधुर पदार्थ भी, जो उसकी रोगनिवृत्तिके भी हेतु होते हैं, अरुचिकर प्रतीत होने लगते हैं तो उसकी माता उन्हें उसी वस्तुमें मिलाकर देती है, जो कि उसे रुचिकर होती है उसी प्रकार जो परब्रह्म परमात्मा मधुरातिमधुर है, जिससे बढ़कर और कोई मधुर नहीं है, उसमें जीवोंको मोहवश प्रेम नहीं होता; बल्कि विषके समान कटु विषयोंमें आसक्ति हो जाती है। अतः अपने तत्त्वज्ञ भक्तोंको प्रेमानन्द प्रदान करनेके लिये ही वे अशब्द एवं रूपरसादिविरहित होनेपर भी महामनोहर दिव्य मङ्गलमयी मूर्ति धारणकर अवतीर्ण होते हैं। हाँ, इतना अन्तर अवश्य रहता है कि प्राकृत रूप-रसादि वस्तुतः विषरूप ही हैं; किन्तु भगवदीय रूपादि स्वरूपसे भी निरतिशय माधुर्यसम्पन्न परमानन्द ही हैं। अतः उनके प्रति अमलात्मा मुनिजन एवं अन्य साधारण प्राणियोंकी भी समान-रूपसे स्वारसिकी प्रीति हो जाती है।

देखो, देवताओंके प्रति स्वाभाविक प्रेम नहीं होता, क्योंकि वे अदृष्ट होते हैं। इसीलिये उनमें प्रेम करनेके लिये शास्त्रको विधान करना पड़ा है। गुरु दृष्ट हैं, इसलिये देवताओंकी अपेक्षा उनके प्रति अनुराग होना अधिक सुगम है। परन्तु उनमें आत्मीयताका अभाव है, इसीसे स्वारसिक प्रेम उनमें भी नहीं होता। इसी प्रकार पिता, माता और पत्नीमें उत्तरोत्तर आत्मीयताकी अधिकता होनेके कारण प्रेमकी भी अधिकता होती है; तथापि स्वारसिकी प्रीति उनके प्रति भी नहीं होती; इसीसे उनके प्रति प्रेम करनेके लिये भी विधि है। यहाँतक कि विधिनियन्त्रित सर्वापेक्षया अधिक कामुककी कामिनीविषयिणी प्रीति भी शृङ्खलाशून्य परकीया कामिनीमें होनेवाली प्रीतिसे न्यून ही है। यह बात प्रायः देखी जाती है कि जहाँ-जहाँ विधि है वहाँ-वहाँ स्वारसिकी प्रीतिकी न्यूनता होती है।

इस दृष्टिसे, यदि भगवान्की प्रवृत्ति वैदिक अथवा स्मार्त्त शृङ्खलाओंसे नियन्त्रित हो तो वह स्वारसिकी प्रीतिको बढ़ानेवाली नहीं होगी और ऐसा न होनेपर उनके अवतारका मुख्य प्रयोजन ही सिद्ध न हो सकेगा। यह ठीक है कि वे मर्यादापालन करते हुए आरुरुक्षुओंको तो मार्ग प्रदर्शन कर देंगे परन्तु अमलात्मा परमहंसोंको अपने निरपेक्ष अनन्य प्रेमका पथ न दिखला सकेंगे।

व्यवहारमें देखा जाता है कि कितने ही स्थलोंमें चाञ्चल्य ही रसकी अभिव्यक्ति करनेवाला है। जैसे एक बालक है। उसकी तो चञ्चलता ही माता-पिताकी प्रसन्नताको बढ़ानेवाली है। यदि वह समाहित मुनियोंके समान शान्तभावसे बैठा रहे तो यह माता-पिताके मोदमें बाधक ही होगा। अतः जो रसज्ञ हैं उनसे यह बात छिपी हुई नहीं है कि बहुत स्थानोंमें तो अचाञ्चल्य रसका विघातक ही है।

इसलिये यदि भगवान्की चेष्टाएँ वैदिक-स्मार्त्त शृङ्खलाओंसे बँधी हुई होंगी तो वे अमलात्मा परमहंसोंका परप्रेमसे छादन न कर सकेंगी। उन महात्माओंको मर्यादापालनका आदर्श अपेक्षित ही नहीं है क्योंकि ऐसा तो वे पहले ही कर चुके होते हैं। उन्हें तो भगवान्में विशुद्ध प्रेम ही अपेक्षित है। किन्तु जहाँ भगवान् अपने ऐश्वर्ययोगसे सम्पन्न होंगे वहाँ उसका आविर्भाव होना प्रायः असम्भव है। जिस प्रकार शिशुका अद्भुत चाञ्चल्य माता-पिताके हृदयको आकर्षित कर लेता है, प्रियतमाके मर्यादातीत रसमय हाव-भाव-कटाक्षादि प्रियतमका मोद बढ़ाते हैं, उसी प्रकार यदि भगवान् परमदिव्य मंगलमय विग्रह धारणकर रसमयी उच्छृङ्खल चेष्टाएँ करें तो उन्हींसे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उनके प्रति उनकी स्वारसिकी प्रीति होनी सम्भव है। इस दृष्टिसे विचार करें तो यही निश्चय होता है कि भगवान्‌का शास्त्रातिलङ्घन दूषण नहीं प्रत्युत भूषण है।

बहुत-से भाव ऐसे होते हैं जो ऊपरसे अन्य प्रकारके जान पड़ते हैं किन्तु भीतरसे उनका और ही रहस्य होता है। यह बात स्पष्ट ही है कि भगवान् प्राकृत नहीं हैं। वे शुद्ध परब्रह्म ही उस रूपसे आविर्भूत हुए हैं। तथा ये मुनिजन भी पञ्च कोशातीत होनेके कारण प्राकृत प्रपञ्चसे परे हैं।

इस प्रकार घटाकाश और महाकाशके समान स्वरूपसे उनका सम्मिलन है ही। उनका ऐक्य सभीको अभिमत है। किन्तु इस समय वह तत्पदार्थ परमात्मा ही दिव्य मंगलमय भगवद्विग्रहरूपसे आविर्भूत हुए हैं और उसी प्रकार त्वं पदार्थ अमलात्मा परमहंसोंके रूपमें स्थित है। ऐसी स्थितिमें, जैसे अव्यक्तरूपसे उनका तादात्म्य है उसी प्रकार, यदि व्यक्तरूपसे भी तादात्म्य हो तो क्या अभिज्ञोंकी दृष्टिमें वह प्राकृत सम्भोग होगा? स्वरूपसे तो उनका नित्य-सम्भोग है ही। 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति' 'अत्र ब्रह्म समश्नुते' इत्यादि वाक्योंसे यही बात कही गयी है।

यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण तत्पदार्थ हैं और गोपाङ्गनाएँ त्वं पदार्थ हैं। यदि इन दोनोंका परस्पर संश्लेष हो तो क्या वह कामक्रीडा कही जायगी? स्थूलदृष्टिसे तो अवश्य यह कामक्रीडा-सी मालूम होती है, परन्तु अन्तरङ्ग दृष्टिसे तो यह जीव और ब्रह्मका अद्भुत संयोग ही है।

श्रीमद्भागवतमें यह कई स्थानोंमें देखा जाता है कि गोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्णचन्द्रके वियोगमें सन्तप्त रहती थीं और हर समय उनके दर्शनोंके लिये लालायित रहती थीं। और इसी प्रकार भगवान् भी व्रजसुन्दरियोंकी विरहव्यथासे व्याकुल रहते थे। उन दोनोंहीको पारस्परिक संयोग बहुत अभीष्ट था। प्रेमका यह स्वभाव है कि प्रेमी परस्पर गाढालिङ्गनके लिये उत्सुक रहा करते हैं। देखो, माता अपने सुकुमार शिशुको हृदयसे लगानेमें कितना सुख अनुभव करती है। जो जितना अधिक प्रेमास्पद होता है उसका व्यवधान उतना ही अधिक असह्य होता है। यहाँ ऐसा भी कहा जाता है कि जिस समय व्रजाङ्गनाएँ भगवान्‌का आलिंगन करती थीं उस समय उन्हें अपने हार, आभूषण और कञ्चुकीका व्यवधान तो असह्य था ही, प्रत्युत प्रेमातिरेकके कारण जो रोमाञ्च होता था वह भी अत्यन्त अप्रिय जान पड़ता था। अतः सिद्धान्त यही है कि प्रेमका पर्यवसान अभेदमें ही होता है, भेदमें नहीं होता।

बात क्या है? भगवान् गोपाङ्गनाओंके आत्मा हैं; आत्माका व्यवधान भला कैसे सह्य हो? द्वारकामें जो भगवान्‌की पट्टमहिषी थीं उनके विषयमें कहा जाता है कि जिस समय भगवान् दीर्घकालीन प्रवासके पश्चात् हस्तिनापुरसे आये उस समय उन्हें देखकर वे तुरन्त आसन और शय्यासे उठीं। किसलिये?—देशकृत व्यवधानको दूर करनेके लिये। किन्तु उस समय उन्हें यह विचार हुआ कि हम तो अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँच कञ्चुकोंको पहिनकर अपने प्रेमास्पदसे मिल रही हैं। अतः हमारा यह सम्मिलन समुचित आनन्दवर्द्धक नहीं हो सकता। इसलिये वे उन सब कञ्चुकोंको उतारकर सच्चिदानन्दरूपसे भगवान्‌से मिलीं।

यहाँ गोपाङ्गनाएँ और भगवान् दोनों ही सच्चिदानन्दस्वरूप थे। अतः उनकी लीला प्राकृत है ही नहीं। इसलिये इसमें मर्यादातिलङ्घनका प्रश्न ही नहीं हो सकता। यह तो वह स्थिति है जिसकी प्राप्तिके लिये सारी मर्यादाओंका पालन किया जाता है।

अतः जिस समय भगवान्‌का प्रादुर्भाव हुआ उस समय उन्होंने यही विचार किया कि पहले अवतारके प्रधान प्रयोजनकी ही पूर्ति करनी चाहिये। इसीसे पहले उन्होंने अमर्यादित दिव्य लीलाएँ कीं और पीछे मर्यादित लोकसंग्रहमयी। लोकमें भी यह प्रायः देखा जाता है कि उपनयन संस्कारसे पूर्व उच्छृङ्खल प्रवृत्ति रहती है और उसके पीछे मर्यादानुसार आचरण किया जाता है। यही बात भगवान्‌के विषयमें भी देखी जाती है। इस प्रकार प्रधान प्रयोजनकी पूर्तिके लिये स्वीकार की हुई भगवान्‌की उच्छृङ्खलतामें भी एक प्रकारकी सुशृङ्खलता ही है; इस मर्यादातिलङ्घनमें भी एक प्रकारका मर्यादापालन ही है।

वेद जो कहता है कि 'जायमानो वै ब्राह्मणः त्रिभिर्ऋणवान् जायते'—उत्पन्न होते ही ब्राह्मण तीन ऋणोंसे ऋणवान् हो जाता है—सो इन तीन ऋणोंमें स्वाध्यायद्वारा ऋषिऋणकी निवृत्ति होती है, प्रजोत्पादनसे पितृऋणका अपाकरण होता है और यज्ञ-यागादिसे देवऋणका शोधन होता है। यहाँ यदि 'जायमान' शब्दका अर्थ 'जन्म लेते ही' किया जाय तो बालक प्रत्यवायी सिद्ध होगा, क्योंकि उपनयन होनेसे पूर्व वह इनमेंसे न तो कोई

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

क्रिया करनेमें समर्थ ही है और न इनका अधिकारी ही। इसलिये इसका अर्थ 'गृहस्थः सम्पद्यमानः'—गृहस्थावस्थाको प्राप्त होनेपर—ऐसा करना चाहिये। अतएव संस्कारादिसे पहले अमलात्मा परमहंसोंके प्रेम-रसाभिवर्धनके लिये उच्छृङ्खल लीलाओंका ही प्रदर्शन किया तथा संस्कारादिके पश्चात् मर्यादित लीलाओंका प्रदर्शन किया।

इस प्रकार यद्यपि इस मर्यादातिक्रमणमें भी मर्यादाकी रक्षा ही है तथापि भगवान् तो समस्त विरुद्ध धर्मोंके आश्रय हैं। इसलिये वे एक कालमें भी दोनों प्रकारके कार्य कर सकते हैं। जिस प्रकार सर्वाधिष्ठान होनेके कारण आत्मा एक ही समयमें एक (अपवाद) दृष्टिसे तो अकर्ता-अभोक्ता है किन्तु दूसरी (अध्यारोप) दृष्टिसे सर्वकर्ता और सर्वभोक्ता भी है उसी प्रकार भगवान्‌में भी एक ही साथ दो विरुद्ध धर्म रहा करते हैं। निर्व्यापार रहते हुए व्यापार करना और व्यापार करते हुए भी निर्व्यापार रहना—ये यद्यपि परस्पर विरुद्ध धर्म हैं तथापि तत्त्वज्ञ महापुरुषोंकी तो यही दृष्टि है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥

यहाँ 'पश्येत्—देखे' यह भी क्रिया ही है। ध्यानयोगी जो सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी गतिको रोककर निश्चल भावसे अपने निर्विशेष स्वरूपका साक्षात्कार करता है वह भी तो एक प्रकारकी क्रिया ही है। देखो, जो भगवान् अपने भावुक भक्तोंके लिये रसस्वरूप हैं, जिनका 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति' इस श्रुतिद्वारा प्रतिपादन किया गया है, वे ही अज्ञानियोंके लिये भयके स्थान हैं 'तत्त्वेव भयं विदुषोऽमन्वानस्य' जो आत्मज्ञोंके लिये परम सन्निकृष्ट हैं वे ही अज्ञोंके लिये दूरसे भी दूर हैं। अतः भगवान्‌में तो स्वभावसे ही सम्पूर्ण विरुद्ध धर्म रहते हैं इसलिये यदि एक कालमें ही वे विरुद्ध प्रकारके आचरण करें तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

यही नहीं, जिस प्रकार भगवान्‌के अवतार मर्यादापालनके लिये अपेक्षित होते हैं उसी प्रकार कर्मसंन्यासके लिये भी उनकी अपेक्षा हुआ करती है। भगवान् रामका अवतार मर्यादापालनके लिये था और ऋषभदेवजीका सर्वकर्मसंन्यासके लिये। यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि एक ही भगवान्‌ने दो प्रकारकी चेष्टाएँ क्यों की? इस विषयमें हमारा यही कथन है कि वे भिन्न-भिन्न चेष्टाएँ भिन्न-भिन्न अधिकारियोंके लिये थीं। जो मर्यादापालनका अधिकारी है उसके आदर्श श्रीरामचन्द्र हैं और जो सर्वकर्मसंन्यासके अधिकारी हैं उनके पथप्रदर्शक भगवान् ऋषभदेव हैं।

सर्वकर्मसंन्यासी तत्त्वज्ञ महानुभावोंकी भी दो प्रकारकी चर्या देखनेमें आती है। उनमें अधिकांश तो ऐसे हैं जो कामिनी-काञ्चनादि भोग्य पदार्थोंका स्वरूपसे त्याग कर देते हैं और सर्वदा अलक्षित गतिसे एकान्तसेवन किया करते हैं, उनमें साधकोंके आदर्श तो बदरिकाश्रमनिवासी भगवान् नर-नारायण हैं और सिद्धोंके भगवान् ऋषभदेव। वे लोग स्वप्नमें भी स्त्री आदि भोग्य विषयोंका सङ्ग नहीं करते। उनका नियम होता है कि—

सङ्गं न कुर्यात् प्रमदासु जातु योगस्य पारं परमारुरुक्षुः।

किन्तु कोई-कोई महानुभाव ऐसी विलक्षण धारणावाले होते हैं कि अनेक विध भोग्यसामग्रियोंके सान्निध्यमें रहकर भी वे उनसे अक्षुण्ण रहते हैं।

ऐसे सिद्धकोटिके महानुभावोंके लिये ही भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाएँ हैं। किन्तु वे लीलाएँ अनुकरणीय नहीं हैं, उनके द्वारा तो इस कोटिके महापुरुषोंकी उच्चतम स्थितिका केवल दिग्दर्शनमात्र होता है।

यद्यपि साधकोंके लिये तो स्त्रियोंका चिन्तनमात्र भी महान् अनर्थका हेतु होता है, तथापि भगवान्‌ने तो कामजयके लिये ही यह अद्भुत लीला की थी।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि १०]

जनक—हे भगवन् ! आपके मतानुसार अस्मदादि शब्द शक्तिवृत्तिसे विभु चेतनका बोधन करते हैं तथा मन शब्द लक्षणावृत्तिसे विभु चेतनका बोधन करता है, इसी प्रकार मेरे मतानुसार मन शब्द शक्तिवृत्तिसे विभु चेतनका बोधन करता है और अस्मदादि शब्द लक्षणावृत्तिसे विभु चेतनका बोधन करते हैं। फिर आपका और मेरा विवाद क्यों नहीं हो सकता ?

याज्ञवल्क्य—हे राजन् ! यदि मैं अस्मदादि शब्दोंकी शक्तिवृत्तिसे विभु आत्मामें प्रवृत्ति मानता होऊँ, तो तेरा-मेरा विवाद हो सकता है किन्तु मैं इस प्रकार नहीं मानता। जैसे मन शब्द लक्षणावृत्तिसे आत्माका बोधन करता है, इसी प्रकार आत्मा चेतन इत्यादि नाम भी भाग-त्याग-लक्षणावृत्तिसे आत्माका बोधन करते हैं। शक्ति-वृत्तिसे कोई भी शब्द आत्माका बोधन नहीं करता, क्योंकि 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'—'अद्वितीय आत्माको न प्राप्त होकर मनसहित वाणी निवृत्त हो जाती है।' इस श्रुतिसे आत्मामें शब्दकी शक्तिवृत्तिकी अविषयता कही है। आत्माके वास्तविक स्वरूपको जाननेवाले विद्वान् जैसे अस्मदादि नामोंका चेतन आत्मामें आरोप करते हैं, इसी प्रकार यदि तुम एक मन शब्दका चेतन आत्मामें आरोप करो तो, इससे सिद्धान्तकी हानि नहीं होती।

हे जनक ! पूर्वमें किसी वादीने स्वप्नमें मनको स्वयंज्योति आत्मा माना था, उसका इस प्रकार खण्डन किया गया था। स्वप्नावस्थामें सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि, वाक्, अविद्या तथा मन—इन सबको उपर्युक्त दिखलायी हुई रीतिसे ज्योतिरूपता सम्भव नहीं है, इसलिये परिशेषसे आत्मा ही स्वप्नमें स्वयंज्योति-रूप है। जैसे मीमांसकके मतानुसार प्रकाश आत्माका धर्म है, इसलिये स्वप्रकाश ज्ञान आत्मासे भिन्न है, इस प्रकार सिद्धान्तमतमें स्वप्रकाशरूप ज्ञान आत्मासे भिन्न नहीं माना है क्योंकि यदि स्वप्रकाश ज्ञानको आत्मासे भिन्न मानें तो भेदरूप वस्तुपरिच्छेदवाला पदार्थ अनात्मारूप होता है, जैसे घटादि पदार्थ भेदरूप वस्तुपरिच्छेदवाले होनेसे अनात्मरूप हैं, इसी प्रकार यदि आत्मा और स्वप्रकाश ज्ञान भेदरूप वस्तुपरिच्छेदवाले हों तो अनात्मरूप हो जायँ। आत्माकी अनात्मरूपता कोई भी वादी नहीं मानता, इसलिये स्वप्रकाश ज्ञान तथा आत्माका भेद नहीं है, अभेद है। ज्ञानको सभी वादी स्वप्रकाश मानते हैं, इसलिये स्वप्रकाश ज्ञानके साथ अभिन्न आत्माको भी स्वप्रकाश मानना चाहिये। इस प्रकारकी युक्तिसे यद्यपि आत्मामें स्वयंज्योतिरूपता सिद्ध होती है, तो भी स्वप्नावस्थामें आदित्यादि ज्योतियोंका अभावरूप व्यतिरेक है तथा आत्माका साक्षीरूपसे अन्वय है। इस प्रकार अन्वयव्यतिरेकसे मुमुक्षुओंको आत्माका बोध भली प्रकारसे हो सकता है।

हे जनक ! जैसे काष्ठसमूहको जलानेवाले अग्नि-को लोग स्वयंज्योति कहते हैं किन्तु काष्ठमें रहे हुए तथा भस्मसे ढके हुए अग्निको कोई स्वयंज्योति नहीं कहता, इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें सब व्यवहार-के साधक आत्माको श्रुति स्वयंज्योति कहती है। प्रलयकालमें अस्पष्ट नामवाले जगत्के अभिन्न-निमित्त-उपादानकारण, वस्तुतः नाम-रूपसे रहित

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तथा सर्व शरीरोंमें व्यापक परब्रह्मको वेदान्त-शास्त्रमें स्वयंज्योति कहते हैं, इस स्वयंज्योति ब्रह्म-को स्वप्नावस्थामें श्रुति जीवका आत्मारूप कहती है।

आत्माके लक्षण

जनक-हे भगवन्! जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयका कारण स्वयंज्योति ब्रह्म स्वप्नावस्थामें जीवका आत्मारूप है, यह किस प्रकार जाननेमें आता है?

याज्ञवल्क्य-हे जनक! जसे स्वयंज्योति ब्रह्म जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करता है, इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें स्वयंज्योति आत्मा भी जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लय करता है। जैसे स्वयं-ज्योति ब्रह्म सच्चिदानन्दरूप है, इसी प्रकार आत्मा भी सच्चिदानन्दस्वरूप है। इस प्रकार जगत्की कारणतारूप तटस्थ लक्षण तथा सच्चिदानन्दरूपता स्वरूपलक्षण स्वयंज्योति ब्रह्मके तथा आत्माके समान हैं, इसलिये आत्मा स्वयंज्योति परब्रह्म-रूप है।

आत्माके तटस्थ लक्षण

हे जनक! स्वप्नमें प्रतीत होनेवाला रथ स्वप्नमें नहीं होता। सुवर्ण तथा मणियोंसे सजा हुआ, आकाशतक फर्रानेवाली ध्वजाओं-वाला, मेघके समान ध्वनिवाला तथा नाना प्रकारकी सामग्रीवाला रथ स्वप्नमें नहीं होता। विचित्र गतिवाले, विचित्र कर्णके भूषणवाले, वायुके समान वेगवाले, भूमिपर पैर न रखनेवाले, आकाशमें उड़नेवाले तथा पादोंसे भूमिको खोदकर आकाशको धूलियुक्त करनेवाले अश्व स्वप्नमें नहीं होते। मनको प्रसन्न करनेवाला जल तथा चन्दनसे छिड़का हुआ, अतिशय कोमल, शीतल, घनी दूकानों और मकानोंके बीचमें होकर जानेवाला, अरोंके दीपकोंसे प्रकाशवाला, अप्सरा तथा अनेक स्त्रियोंसे शोभायमान, अश्वोंके चलनेका मार्ग भी स्वप्नमें नहीं होता। जाग्रत्-अवस्थामें भोगसे तथा अन्न, पान, वस्त्र, आभूषणों आदि प्रिय पदार्थोंके भोगसे होनेवाला आनन्द भी स्वप्नमें नहीं होता, इसी प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें प्रिय वस्तुके समागमसे तथा अप्रिय वस्तुके वियोगसे होने-वाला हर्ष भी स्वप्नमें नहीं होता। जाग्रत्में पुत्रादि पदार्थोंसे रहित पुरुषको पुत्रादि पदार्थोंकी प्राप्ति-से अत्यन्त हर्ष होता है, यह भी स्वप्नमें नहीं होता। जाग्रत्-अवस्थामें जलसे पूर्ण अल्प तालाव तथा कूपादि स्वप्नमें नहीं होते। जाग्रत्-अवस्थामें दीखने-वाले विचित्र घर, विन्ध्याचलादि पर्वत, इन्द्रके नन्दनवनके समान अनेक वन, गंगा आदि अनेक नदियाँ, क्षीरसमुद्र आदि अनेक समुद्र इत्यादि पदार्थ स्वप्नमें नहीं होते। जाग्रत्-अवस्थामें विद्यमान भूरादि चौदह लोक, उनके पालन करनेवाले चौदह लोकपाल, पूर्वादि दस दिशाएँ, आकाशादि पञ्च-भूत, जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज, ये चार प्रकारके प्राणी तथा ब्रह्माण्डके अनेक स्थूल-सूक्ष्म पदार्थ तथा बाह्यके स्थूल, सूक्ष्म पदार्थ, इन सब पदार्थोंमेंसे कोई पदार्थ स्वप्नमें नहीं होता। एक मन ही स्वप्नावस्थामें रहता है। जैसे जगत्की उत्पत्तिके कालमें ईश्वर समस्त जगत्की उत्पत्ति करता है, इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें स्वयंज्योति आत्मा ही ऊपर दिखलाये हुए रथ, अश्व, मार्ग तथा अन्य सर्व पदार्थों-को उत्पन्न करता है। हे जनक! जैसे लोकमें चित्रकार पुरुष भीतपर नाना प्रकारके चित्र अंकित करता है, इसी प्रकार स्वप्नमें स्वयंज्योति आत्मा मनरूप भीतपर जगत्रूपी चित्रोंको चित्रित करता है, इसलिये स्वयंज्योतिरूप आत्मा जगत्का कर्तारूप ईश्वर है?

जनक-हे भगवन्! यदि स्वयंज्योति आत्मा सर्व जगत्का कारण हो तो माया निष्फल क्यों न हो जाय?

याज्ञवल्क्य-हे राजन्! देश-कालादिसे रहित निर्गुण आत्माको यदि जगत्का कारण मानें तो माया निष्फल हो जाय, परन्तु निर्गुण आत्मा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जगत्‌का कारण नहीं माना जाता, किन्तु माया-युक्त परमात्मा ही जगत्‌का कारण माननेमें आता है, इसलिये माया व्यर्थ नहीं है। हे राजन्! जैसे सृष्टिके आदिकालमें मायाविशिष्ट परमात्मा देश-कालादि कारणोंको रचकर समस्त जगत्‌को रचता है, इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें स्वयंज्योति आत्मा भी देश-कालादि कारणोंको रचकर रथादि पदार्थोंको रचता है,जाग्रत्-अवस्थामें विद्यमान स्थूल शरीर तथा स्थूल शरीरके सम्बन्धी नेत्रादि इन्द्रियाँ तथा नेत्रादि इन्द्रियोंके विषय रूपादि पदार्थोंको त्यागकर स्वयंज्योति आत्मा स्वप्नावस्थाको प्राप्त होता है और अपने स्वप्रकाशरूपसे मन तथा मनके परिणामरूप रथादि पदार्थोंको प्रकाशता है और मनके कारणरूप अज्ञानको भी प्रकाशता है। जब स्वप्नावस्थाके भोग देनेवाले पुण्य-पापरूप कर्मोंका भोगसे क्षय हो जाता है और जाग्रत्-अवस्थाके भोग देनेवाले कर्मोंका प्रादुर्भाव होता है, तब स्वयंज्योति आत्मा स्वप्नावस्थाको त्यागकर जाग्रत्-अवस्थाको प्राप्त होता है और जब जाग्रत्-अवस्थाके भोग देनेवाले कर्मोंका क्षय हो जाता है और स्वप्नके भोग देनेवाले कर्मोंका प्रादुर्भाव होता है, तब स्वयंज्योति आत्मा जाग्रत्-अवस्थाको त्यागकर फिर स्वप्नावस्थाको प्राप्त होता है। जैसे क्रीडा करनेवाला बालक एक पदार्थको त्यागकर दूसरे पदार्थको ग्रहण करता है, उसी प्रकार यह स्वयंज्योति आत्मा पूर्व-पूर्व अवस्थाओंको त्यागकर उत्तरोत्तर अवस्थाओं-को ग्रहण करता है, इसलिये स्वयंज्योति आत्मा-को श्रुतिने हंस कहा है।

हे जनक! इस लोकमें रहनेवाले वृक्षादि स्थावर शरीर तथा मनुष्यादि जंगम शरीरोंको जल तथा अन्नसे जीव पूर्ण करता है, इसलिये वेदवेत्ता पुरुष शरीरोंको पुरी कहते हैं। शरीररूप पुरियोंमें स्वयंज्योति आत्मा रहता है, इसलिये आत्माको भी पुरुष कहते हैं। जैसे एक महाराजा अपनी पुरी छोड़कर जब दूसरे देशमें जाता है, तब अपनी पुरीकी रक्षाके लिये किसी प्रधान अथवा मन्त्रीको उस पुरीमें नियत कर जाता है, इसी प्रकार स्वयं-ज्योति आत्मा स्थूल शरीरको त्यागकर जब स्वप्न-को प्राप्त होता है, तब स्थूल शरीरकी रक्षाके लिये प्राणको छोड़ जाता है और जब स्वयंज्योति आत्मा कारण-अवस्थाको प्राप्त होता है, तब प्राणको साथ लकर परलोकमें जाता है। इस स्थूल शरीरके अभिमानको त्यागकर स्वयंज्योति आत्मा स्वप्ना-वस्थामें हिता नामकी नाड़ियोंमें अपनी इच्छानुसार विचरता है और अनेक पदार्थोंकी कल्पना करता है। जैसे कोई मायावी पुरुष नाना प्रकारके पदार्थोंको रचता है, इसी प्रकार यह स्वयंज्योति आत्मा भी स्वप्नावस्थामें सुख-दुःखके भोगकी प्राप्तिके लिये कभी ब्रह्मादि उच्च शरीरोंको और कभी वृक्षादि नीच शरीरोंको प्राप्त होता है तथा उन शरीरोंका त्याग करता है।

हे राजन्! स्वप्नावस्थामें स्वयंज्योति आत्मा जिन शरीरोंको प्राप्त होता है, उन-उन शरीरोंके अन्न-पानादि भोगके साधनोंको वहाँ रचता है, आप ही पिता-मातारूप, आप ही गुरुरूप और आप ही स्त्री, पुत्र, शत्रु, मित्र इत्यादि सर्व पदार्थरूप हो जाता है। हे राजन्! स्वयंज्योति आत्मा यद्यपि वास्तविक सुख-दुःखका भोक्ता नहीं है तो भी स्वप्नावस्थामें अपने भोक्तापनेकी सिद्धिके लिये अन्तःकरणकी वृत्तिरूप भोगकी कल्पना करता है और अनेक प्रकारके शरीरोंकी कल्पना करता है और उन शरीरोंके भोगनेयोग्य नाना प्रकारके भोग्य पदार्थों-की भी कल्पना करता है। हे राजन्! स्वयंज्योति आत्मा यद्यपि कामादि विकारोंसे रहित है तो भी जब वह अपनेमें कामीपनेकी कल्पना करता है तब वह स्वप्नावस्थामें स्त्रियोंकी कल्पना करता है और उन सुन्दर स्त्रियोंके आलिंगनसे आनन्दको प्राप्त होता है इस प्रकार पुण्यका फल स्वप्नावस्थामें देखनेमें आता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हे जनकराज! जैसे जाग्रत्-अवस्थामें कोई पुरुष किसी पुण्यकर्मके प्रभावसे स्त्री आदि अनुकूल पदार्थोंको देखकर सुखको प्राप्त होता है और दुर्गन्धादि प्रतिकूल पदार्थोंको तथा अपने अंगोंको असुन्दर देखकर दुःखको प्राप्त होता है, इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें स्वयंज्योति आत्मा भी पुण्य-पापके वशसे अनुकूल तथा प्रतिकूल पदार्थोंको देखकर सुख-दुःखको प्राप्त होता है। हे राजन्! जैसे जाग्रत्-अवस्थामें केवल पापरूप कर्मके वशसे कोई पुरुष चोर-व्याघ्रादि प्रतिकूल पदार्थोंको देखकर अत्यन्त दुखी होता है इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें भी केवल पापकर्मके वशसे वह चोर-व्याघ्रादि अप्रिय पदार्थोंको देखकर अत्यन्त दुःखको प्राप्त होता है।

अधिष्ठान आत्मामें अभेद

हे जनक! स्वप्नावस्थाको प्राप्त होनेवाला स्वयंज्योति आत्मा ही जाग्रत्-अवस्थाको प्राप्त होता है इसलिये स्वप्न तथा जाग्रत्-अवस्थामें आत्माका भेद नहीं है। यदि स्वप्न तथा जाग्रत्में आत्माका भेद हो, तो 'जिन स्वप्नके पदार्थोंका मैंने अनुभव किया था, उन्हीं स्वप्नके पदार्थोंका स्मरण मैं जाग्रत्-अवस्थामें करता हूँ' ऐसा अनुभव जो सब लोगोंको होता है, वह व्यर्थ हो जाय। जो पुरुष जिस पदार्थका अनुभव करता है, वही पुरुष कालान्तरमें उसका स्मरण भी करता है, अन्य पुरुषके अनुभव किये हुए पदार्थका अन्यको स्मरण नहीं होता, इसलिये लोगोंके अनुभवसे जाग्रत् तथा स्वप्नके आत्माका अभेद सिद्ध होता है। शास्त्रवेत्ता कहते हैं कि जाग्रत्-अवस्थामें तथा स्वप्नावस्थामें देश-कालादि जितने दृश्य पदार्थ हैं, वे सब प्रकारके दृश्य पदार्थ अधिष्ठान आत्मासे भिन्न नहीं हैं, इसलिये जाग्रत् तथा स्वप्नके सब पदार्थ असत्य हैं, असत्य पदार्थोंका अधिष्ठानसे तथा परस्पर भेद नहीं होता। जैसे रज्जुमें कल्पित सर्प, दण्ड, माला, जलधारादि असत्य पदार्थोंका रज्जुरूप अधिष्ठानसे तथा परस्पर भेद नहीं हो सकता, इस प्रकार अधिष्ठान आत्मामें कल्पित जाग्रत् तथा स्वप्नके पदार्थोंका अधिष्ठान आत्मासे तथा परस्पर भेद सम्भव नहीं है और उपाधिसे किया हुआ आत्माका भेद उपाधि निवृत्त होनेके बाद रहता नहीं, इसलिये सर्व अवस्थाओंमें आत्माका अभेद है।

पदार्थोंका अभेद

हे जनक! जैसे जाग्रत्-अवस्थामें सर्व भूत-भौतिक दृश्य पदार्थोंसे युक्त देश तथा काल अधिष्ठान आत्मामें अध्यस्तरूपसे रहते हैं, इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें भी भूतभौतिक दृश्य प्रपञ्चयुक्त देश तथा काल अध्यस्तरूपसे अधिष्ठान आत्मामें रहते हैं, इसलिये आत्मारूप अधिष्ठानकी दृष्टिसे तथा स्वभावसे उन जाग्रत् तथा स्वप्नके देश-कालादिका परस्पर भेद सम्भव नहीं है, अतएव तर्ककुशल नैयायिक भी एक दिशामें दूसरी दिशाका तथा एक कालमें दूसरे कालका भेद नहीं मानते। देश तथा कालरूप एक वस्तु दूसरे किसी देश तथा कालमें नहीं रहती किन्तु अपने व्यवहारकी सिद्धिके लिये वह देश तथा कालरूप वस्तु तादात्म्य सम्बन्धसे अपने स्वरूपमें रहती है, यह सिद्धान्त है।

जनक—हे भगवन्! नैयायिकोंके मतानुसार दिशा तथा काल विभु और नित्य हैं। जो पदार्थ सब देशमें रहता है, वह विभु कहलाता है, और जो पदार्थ सर्व कालमें रहता है, वह नित्य कहलाता है, इस प्रकारके लक्षणमें देशकी देशमें आधारता और कालकी कालमें आधारता प्रतीत होती है। और अभिन्न पदार्थोंका परस्पर आधार-आधेयभाव नहीं होता, इसलिये एक देशका कोई दूसरा देशरूप आधार और एक कालका दूसरा कालरूप आधार क्यों नहीं हो सकता?

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! जैसे नैयायिकोंके मतमें घटके अभावमें स्थित पटका अभाव घटके अभावसे भिन्न नहीं है किन्तु पटाभाव घटाभावरूप ही है तो भी घटाभाव पटाभावरूप है, इसी प्रकार आधार-आधेयभाव प्रतीत होता है, इसलिये देशमें देश, कालमें काल तथा घटमें घट, ऐसा व्यवहार

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भेद बिना हो सकता है, इसलिये देश-काल आदि-का वास्तविक रीतिसे भेद नहीं है।

जनक—हे भगवन्! देश-कालादिके भेद व्यवहार उत्पन्न करनेवाले भेदको असत्यरूपता नहीं हो सकती, क्योंकि असत्य पदार्थ किसी व्यवहारका कारण नहीं हो सकता।

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! सत्य वस्तु ही व्यवहार-का कारण होती है, ऐसे माननेवालेसे पूछना चाहिये कि जहाँ-जहाँ व्यवहार होता है, वहाँ-वहाँ सत्य वस्तु ही हो, ऐसा नियम है अथवा जहाँ-जहाँ सत्य वस्तु हो, वहाँ-वहाँ व्यवहार होता है? इनमेंसे प्रथम पक्ष सम्भव नहीं है क्योंकि जब कोई पुरुष अन्य पुरुषको गाली देता है, तब वह गालीको सुनकर क्रोध करता है, वहाँ गालीरूप वचनका अर्थ यद्यपि असत्य है, तो भी वह क्रोध-रूप सत्य अर्थके व्यवहारको उत्पन्न करता है। जैसे किसी पतिव्रता स्त्रीको कोई व्यभिचारिणी कहे तो व्यभिचार शब्दका अर्थ परपुरुषगमन पतिव्रता स्त्रीमें नहीं होता तो भी उस वचनको सुनकर पतिव्रताको क्रोध उत्पन्न होता है, इसलिये जहाँ-जहाँ व्यवहार होता है, वहाँ-वहाँ सत्य वस्तु ही हो, ऐसा नियम सम्भव नहीं है। इसी प्रकार दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है, क्योंकि सत्यरूप ब्रह्मानन्द सबके हृदयमें विराजता है तो भी उस ब्रह्मानन्दका ज्ञानरूप व्यवहार तथा शब्द-रूप व्यवहार किसी अज्ञानीको नहीं होता। व्यवहार-से वस्तुका सत्यपना सिद्ध नहीं होता। मीमांसक सर्व व्यावहारिक पदार्थोंको सत्य मानते हैं। उनके मतानुसार भी जिसका तीनों कालमें नाश न हो, वह पदार्थ सत्य कहलाता है। इस प्रकारके सत्य शब्दका मुख्य अर्थ व्यावहारिक जगत्में सम्भव नहीं है, इसलिये चिरकालतक स्थायीपना, इस प्रकारकी उनकी मानी हुई गौण सत्यता होनी चाहिये। जो वादी भेदमें अभिनिवेश—अध्यास करके देशकालके विभुत्व तथा नित्यकी सिद्धिके अर्थ एक देशमें दूसरा देश, एक कालमें दूसरा काल तथा एक घटमें दूसरा घट मानते हैं, उनको बलात्कारसे अनवस्था दोषकी प्राप्ति होती है। जैसे प्रथम देश-काल दूसरे देश-कालमें रहता है, दूसरा देश-काल तीसरेमें, तीसरा चौथेमें; इस प्रकार अनवस्था दोष प्राप्त होता है। इसी प्रकार जो वादी अर्हत्के समान एक ही वस्तुके अनेक रूप माने तो उष्ण अग्निको शीतलता होनी चाहिये और शीतल जलको उष्णता होनी चाहिये, इस प्रकार अव्यवस्था प्राप्त होती है। लोकमें ऐसी अव्यवस्था नहीं है किन्तु जीवोंके सुख-दुःखके भोगके लिये देश तथा काल आदि पदार्थोंकी व्यवस्था है।

जनक—हे भगवन्! जैसे द्वैतवादीके मतानुसार व्यवस्था नहीं हो सकती, वैसे अद्वैतवादीके मतानुसार जगत्की व्यवस्था किस प्रकार हो सकती है?

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! अद्वैतवादीके मतानुसार आत्मसाक्षात्कार होनेके बाद पूर्व-पूर्वके सब पदार्थों-की व्यवस्था हो सकती है किन्तु जगत्की व्यवस्था किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं होती। जैसे स्वप्नके पदार्थ भ्रमसे सिद्ध हैं, इसी प्रकार जाग्रत्-प्रपञ्चकी व्यवस्था भी भ्रमसे सिद्ध है, इसलिये जाग्रत् तथा स्वप्नमें विद्यमान देश-कालादिमें रहे हुए स्थूल, सूक्ष्म सर्व पदार्थ अद्वितीय आत्मामें कल्पित हैं और अधिष्ठान आत्माकी सत्तासे जाग्रत् तथा स्वप्नके पदार्थ अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं, इसलिये जाग्रत् तथा स्वप्नके पदार्थ समान हैं। हे जनक! जैसे रज्जुरूप अधिष्ठानमें सर्प, दण्ड, माला, जलधारा आदि कल्पित हैं, इसी प्रकार अधिष्ठान साक्षी आत्मामें देश-काल आदि सब जगत् कल्पित है, इसलिये देश-काल आदि सब जगत् अधिष्ठान आत्मामें लयभावको प्राप्त होता है, जैसे रज्जुमें कल्पित सर्प-दण्डादिका परस्पर भेद रज्जुरूप अधिष्ठानके भेद बिना सम्भव नहीं है, इसी प्रकार अधिष्ठान आत्माके भेद बिना जाग्रत्के स्वप्न-प्रपञ्च-का भेद सम्भव नहीं है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जनक—हे भगवन्! परमार्थ दृष्टिसे जगत्में अभेद है किन्तु कार्यरूप दृष्टिसे मुझे भेदभ्रम प्रतीत होता है, इसका क्या समाधान है?

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! इस लोकमें आश्रय तथा ज्ञानके भेदसे पदार्थोंका भेद होता है। जैसे 'यह घट' इस ज्ञानका विषय घट है और घटका आश्रय मृत्तिका है, इसी प्रकार 'यह पट है' इस ज्ञानका विषय पट है और पटका आश्रय तन्तु है। इस प्रकार ज्ञान तथा आश्रयके भेदसे घट-पटादि पदार्थोंका परस्पर भेद लोकमें दिखायी देता है किन्तु आश्रय तथा ज्ञानका भेद जगत्में नहीं है क्योंकि देशकालादि सर्व स्थूल सूक्ष्म जगत्का एक मायाविशिष्ट परमात्मा ही आश्रय है। और नेत्रादि इन्द्रियोंद्वारा वृत्तिरूपसे घटादि पदार्थोंका उत्पन्न करनेवाला अन्तःकरणरूप गौण ज्ञान भी एक है तथा वृत्तिमें उत्पन्न हुआ चैतन्य-रूप मुख्य ज्ञान भी एक ही है, इसलिये एक आश्रय-वाले तथा एक ही ज्ञानके विषयरूप जगत्का परस्पर भेद सम्भव नहीं है किन्तु उपाधिके भेदसे आत्माका भेद प्रतीत होता है। जगत्रूप उपाधिके भेदके नाश होनेपर आत्माका भेद सम्भव नहीं है, इसलिये जाग्रत् तथा स्वप्न-प्रपञ्चका एक आत्मा ही अधिष्ठान है, जैसे आकाशमें प्रतीत हुए मेघ विद्युदादि पदार्थोंके भेदसे अधिष्ठान आकाशका भेद नहीं होता, इसी प्रकार अधिष्ठान आत्मामें प्रतीत होनेवाले देशकालादि पदार्थोंसे अधिष्ठान आत्माका भेद सम्भव नहीं है। इसलिये आधेय पदार्थोंका भेद माननेपर भी आधाररूप आत्माकी एकता है।

आधेयकी एकता

हे जनक! जैसे एक ही घट मृत्तिकारूप अवयवमें, घरमें तथा आँगनमें रहा हुआ प्रतीत होता है। इनमें मृत्तिका, घर तथा आँगन इत्यादि घटके आधारोंका भेद होनेपर भी आधेयरूप घटका भेद नहीं है, इसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति इत्यादि अवस्थाओंका भेद होनेपर भी स्वयंज्योति आत्माका भेद नहीं है। हे जनक! जो स्वयंज्योति आत्मा जाग्रत्के पदार्थोंका अधिष्ठान है, वही आत्मा स्वप्नके पदार्थोंका अधिष्ठान है। इसलिये जाग्रत् तथा स्वप्न-प्रपञ्चकी कुछ भी विलक्षणता नहीं है। कल्पित रूपसे दोनों समान हैं, इस प्रकार भेदरहित स्वयं ज्योति आत्मा स्वप्नावस्थामें स्वयंज्योतिरूपसे रहता है, यह मैंने तुझसे कहा, अब और जो कुछ तुझे पूछनेकी इच्छा हो, वह पूछ!

देवी—हे वत्स! जब इस प्रकारका वचन याज्ञवल्क्य मुनिने राजासे कहा, तो राजा मुनिसे इस प्रकार कहने लगा।

जनक—हे भगवन्! साधारण विद्याका उपदेश करनेवाले ब्राह्मणोंको एक हजार गौ देनेका मेरा नियम है, आपने मुझे साधारण विद्याका उपदेश किया है, इसलिये उस उपदेशकी गुरुदक्षिणा हजार गौ आप लीजिये और पश्चात् आत्माके वास्तविक स्वरूपका मुझे उपदेश कीजिये!

जब इस प्रकार राजाने तीन बार मुनिसे कहा तब वे मनमें विचारने लगे—

याज्ञवल्क्य—(मनमें) मैंने जनक राजाको सम्पूर्ण ब्रह्मविद्याका उपदेश किया है, तो भी यह ब्रह्मविद्याको यथार्थ नहीं समझता किन्तु दूसरी विद्याओंके समान इस विद्याको भी साधारण विद्या जानता है।

इस प्रकार मनमें विचारकर मुनि राजासे कहने लगे—

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! मैंने तुझे जो उपदेश किया है, उसको तू साधारण विद्या समझकर मुझे एक हजार गौ देता है और कहता है कि आत्माके यथार्थ स्वरूपका मुझे उपदेश करो। इस प्रकार-का तेरा वचन सुनकर मुझे संशय होता है कि पूर्वमें जिस स्वयंज्योति आत्माका मैंने तुझे उपदेश किया है, उसको तूने यथार्थ समझा नहीं है। बोल, आत्माको यथार्थ तूने समझा है या नहीं? (क्रमशः)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ईश्वरका अस्तित्व

(लेखक—स्वामी श्रीएकरसानन्दजी सरस्वती)

१—ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?

प्रत्येक मनुष्यको सुखकी इच्छा रहती है और वह यह समझता है कि यदि हम दूसरोंको सुख पहुँचायेंगे तो उसके बदलेमें न्यायकर्ता ईश्वरकी ओरसे हमको अगले जन्ममें सुख मिलेगा और इस जन्ममें भी हम सुखी रहेंगे। वास्तवमें, ईश्वरको न्याय करनेवाला और सर्वज्ञ माननेसे मनुष्यमें सहज ही दूसरोंको सुख देनेकी रुचि उत्पन्न हो जाती है। और जो दूसरोंको सुख पहुँचाते हैं वे धर्मात्मा समझे जाते हैं—संसारभरमें उनकी कीर्तिकी गन्ध फैल जाती है। आगे चलकर उनका स्वभाव ही दूसरोंको सुखी बनानेका हो जाता है फिर अपने परोपकारी स्वभावसे वे जिनको सुखी बनाते हैं वे भी 'तुख्म तासीर सुहबते असर' के अनुसार दूसरोंको सुख पहुँचाने लगते हैं और इस तरह समस्त संसारका कल्याण हो जाता है।

पूर्व जन्मोंके कर्मानुसार ही ईश्वर हमको धनी या दरिद्रके घरमें जन्म देता है, अन्धा, कोढ़ी या पंगु बनाता है। यदि हमारे पुण्य अधिक होते हैं तो हम अगले जन्ममें सुखी होते हैं और यदि पाप अधिक होते हैं तो दुःखी बनते हैं। इससे यह सिद्ध है कि हमारे ऊपर न्यायकर्ता ईश्वर अवश्य है। उसको हमें अवश्य मानना चाहिये। उसको माननेसे हम पापोंसे डरेंगे और हममें स्वाभाविक ही पुण्यकर्म करनेकी रुचि हो जायगी।

२—ईश्वरको न माननेमें कौन-कौन-सी हानियाँ हैं ?

ईश्वरको न माननेसे संसारमें भयङ्कर कुकर्म होने लगेंगे—नास्तिकोंको किसी भी पापसे भय न रहेगा। वे एकान्तमें परस्त्रीके साथ गमन करेंगे—फलतः उपदंश आदि बीभत्स व्याधियोंके शिकार होकर उन्हें सड़ना पड़ेगा। दो चार रुपयोंके लोभसे भी पथिकोंकी हत्या होने लगेगी। थोड़े-से भी स्वार्थके लिये असत्य भाषण करनेमें किसी प्रकारका संकोच न होगा। खुदगर्जी फैल जायगी। सारा समाज आसुरी (राक्षसी) सम्पदावाला बन जायगा। 'किसी भी पुण्यकर्मका बदला देनेवाला कोई है ही नहीं' यह मूर्खतापूर्ण विचार लोगोंके मस्तिष्कमें घर कर जायगा। परिणाम यह होगा कि कोई भी पुण्यकर्म जैसे—यज्ञ, दान, अन्नक्षेत्र, विद्यादान, कुआँ-तालाब खुदवाना आदि न हो सकेंगे। इस प्रकार ईश्वरको न माननेवाला मनुष्य, समाज या देश अवगुणों और पापोंका केन्द्र बन जायगा।

३—ईश्वरके होनेमें कौन-कौन-से प्रबल प्रमाण हैं?

ज्योतिषशास्त्रके विद्वान् दस-दस, बीस-बीस वर्षोंके पञ्चाङ्ग पहले ही बना डालते हैं और उनमें बुध, गुरु, शुक्र आदि नक्षत्रोंके उदयास्तकी जो तिथियाँ लिख देते हैं, उनमें जरा भी फर्क नहीं पड़ता। इस प्रत्यक्ष प्रमाणसे यही सिद्ध होता है कि इन ग्रहोंउपग्रहोंको नियमितरूपसे सञ्चालित करनेवाला कोई सर्वज्ञ चेतन अवश्य है। तभी तो हजारों-लाखों वर्षोंसे इनका नियमितरूपसे सञ्चालन हो रहा है। नहीं तो, उन जड़ पदार्थोंको अपने और परायेका भी ज्ञान नहीं है। यदि कोई कहे कि प्रकृति (नेचर) ही इन ग्रहोंका सञ्चालन करती है, तो यह कथन असत्य है। क्योंकि प्रकृति भी तो उसी प्रकार जड़ है—इसमें भी किसी तरहका ज्ञान नहीं है। परन्तु यदि कोई प्रकृतिवादी प्रकृतिको चेतन मानता है, तो उसी चेतनको हम अपने शब्दोंमें 'सर्वज्ञ ईश्वर' मानते हैं। ग्रहोंकी चालोंको देखकर पृथ्वीभरके चतुर विद्वान् 'सर्वज्ञ चेतन' की सत्ता निःसंशय स्वीकार करेंगे।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बालक माताके गर्भमें रहता है—उस समय उसके शरीरके अवयवों—जैसे फेफड़ा, हृदय, नेत्र, यकृत, आँत आदिको कौन बनाता है? उसके माता-पिता! उन बेचारे अल्पज्ञोंको तो इन अवयवोंका ज्ञान भी नहीं होता कि कौन कहाँ स्थित रहता है! अतः मनुष्यके अवयवोंकी चमत्कारपूर्ण बनावट देखकर भी ईश्वरकी परम चतुरता और सर्वज्ञता सिद्ध होती है। यदि इसपर भी हम विचार करें तो ईश्वरका अस्तित्व निःसन्देह समझमें आ जायगा।

प्रत्येक जीव परतन्त्र है, स्वतन्त्र कोई नहीं है। सभी मनुष्य यह चाहते हैं कि हम सौ वर्ष जीवित रहें, कभी रोगी न हों और हमारे पुत्र ही हों, कन्या कभी न हो परन्तु उनकी ये कामनाएँ कभी पूरी नहीं होतीं। मनुष्य चाहता कुछ है, प्रयत्न कुछ करता है और पाता कुछ और ही है। इससे सिद्ध होता है कि उसके भाग्यका निर्णय करनेवाला और उसे कर्मानुसार फल देनेवाला उसका शासक कोई और है। उस सर्वनियन्त्री सर्वशक्तिमती सत्ताका ही नाम ईश्वर है।

परन्तु हम अपने पूर्वजन्मके पाप और ज्ञानकी कमीके कारण यों ही ईश्वरके अस्तित्वपर सन्देह करते हैं। जिन महात्माओंने योगबलसे ईश्वरकी सत्ताको देखा है, उनके अनुभव निम्नलिखित शब्दोंमें पढ़िये—

ऐसा तो रंगरेज ना ऐसा छीपी नाँह।
ऐसा कारीगर नहीं या दुनियाके माँह॥
बाजीगर बाजी रची सब गति पूरन साज।
किये तमासे बहुत ही तोहि दिखावन काज॥
बहुत प्यार तो पै करें तू नहि जानत सार।
वाहि भुलायो ही फिरै नेक न करे सँभार॥
देखि देखि देखत रहो स्तुति ही मुखसूँ भाख।
बाकी चतुराई सबै लेकर मनमहँ राख॥
कबहूँ जग प्रगटित करे, कबहूँ करे अलोप।
नाना विधि बाजी करै, आप रहत है गोप॥
अजब अजब अचरज किये, अद्भुत अधिक अपार।
जल थल पवन अकासमें, देखो दृष्टि उघार॥

बिजली नेत्रोंसे नहीं दिखायी देती है, इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि बिजली है ही नहीं, प्रत्युत रसायन-शालामें जाकर विद्युत्-शास्त्रके किसी धुरन्धर विद्वान्द्वारा बिजलीका पता लगाया जा सकता है। उसी तरह किसी ज्ञानपूर्ण योगाभ्यासी महात्माके पास रहकर उसके बतलाये हुए साधनोंद्वारा ईश्वरका अस्तित्व भी थोड़े समयमें ही जाना जा सकता है। परन्तु इसके विपरीत यदि कोई चाहे कि हम तर्कोंसे उसका पता लगा लेंगे तो यह असम्भव है। उसको तो केवल योगाभ्यास और ज्ञानचक्षुसे ही देखा जा सकता है। जिस प्रकार दो लकड़ियोंका घर्षण होनेसे आग पैदा हो जाती है, उसी प्रकार परमात्माके मानसिक नामजप और शरीरका घर्षण होनेसे ब्रह्मरूपी अग्निका साक्षात्कार हो जाता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। नीचेके श्लोकोंमें देखिये—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत्॥
(श्वेताश्वतरोपनिषद्)

यस्तु द्वादशसाहस्रं नित्यं प्रणवमभ्यसेत्।
तस्य द्वादशभिर्मासैः परब्रह्म प्रकाशते॥
(यतिधर्मप्रकाश)

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे॥
(गीता)

नासा ध्यान दृष्टि भृकुटीमें सुरति श्वासके माहिं।
ईश्वर देख्यो जात है यामें संशय नाहिं॥
(शुकदेवोक्ति)

ऊपरके पहले श्लोकका अर्थ यह है कि यदि तुम अपने शरीरको नीचेकी लकड़ी और 'ॐ'को अर्थात् भगवन्नामके मानसिक जपको ऊपरकी लकड़ी बनाकर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गुरुनिर्दिष्ट मार्गानुसार घर्षण करोगे तो गुप्त रहनेवाले देवको ज्ञानचक्षुद्वारा देख लोगे। दूसरे श्लोकका भाव यह है कि जो साधक एक वर्षतक नित्य बारह हजार-के हिसाबसे 'ॐ' का जप करता है उसको ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है। श्रीकृष्ण भगवान्‌का भी कथन है कि 'यदि ब्रह्मको ज्ञानचक्षुसे देखनेकी इच्छा हो तो ध्यान करो, सांख्ययोग साधो या निष्काम कर्मयोगका साधन करो।'

ईश्वरके अस्तित्वमें सन्देह करनेवाले नास्तिकोंसे मेरी करबद्ध प्रार्थना है कि वे किसी योगाभ्यासी धुरन्धर महात्माके पास जाकर कम-से-कम एक वर्ष-तक भी योगाभ्यास करें। सच्चे साधनोंसे अवश्य ही सफलता मिलेगी। ज्ञानचक्षुसे ईश्वरका दर्शन हो जायगा। याज्ञवल्क्यसंहितामें लिखा है कि 'योगात् संजायते ज्ञानम्'—योगसे ही ईश्वरका ज्ञान होता है। अतः जिसने योगाभ्यास नहीं किया उसको ईश्वरके सम्बन्धमें कुछ कहनेका अधिकार ही नहीं है। जिस तरह जन्मान्धको सूर्यका दर्शन नहीं होता; उसी प्रकार नास्तिकको केवल उसकी मूर्खतासे ईश्वर नहीं दिखायी देता।

मुझको ईश्वरमें अटल विश्वास कबसे और कैसे हुआ, इसकी कथा सुनिये—

मैं पहले सी० पी० (मध्य प्रान्तके) एक छोटे-से गाँवमें रहता था। बाल्यावस्थासे ही मुझको ईश्वरसे प्रेम था, अतएव साक्षर होनेके बादसे नित्य ही मैं श्रीविष्णुसहस्रनामका पाठ करके भोजन करता था। जब मेरी अवस्था सोलह वर्षकी हुई, एक रातको मैंने स्वप्न देखा कि एक तेजस्वी वृद्ध महात्मा तपस्वी-वेषमें मेरे सामने खड़े हैं और मुझसे कह रहे हैं कि 'जिनके नामोंका तू नित्य पाठ करता है, वह विष्णु मैं ही हूँ। मैं सदा अपने भक्तोंकी रक्षा करता हूँ। आज आधी दो घंटेके बाद तुम्हारे गाँवमें आग लगेगी। तुम जल्दीसे अपना माल-असबाब एक बैलगाड़ीपर लाद लो और गाँवके बाहर चले जाओ।' इतनेमें मेरी नींद टूट गयी। ऐसी बातोंपर पहलेसे विश्वास था ही, अतएव मुझको बड़ी प्रसन्नता हुई कि प्रभुने दर्शन देकर आपत्तिसे बचा लिया। मैंने झटपट अपना माल-असबाब बैलगाड़ीपर लादा तथा गाँवके बाहर ले गया। इस बातको मैंने गाँवके अन्य भाइयोंसे भी कहा, परन्तु किसीने मेरी नहीं सुनी। थोड़ी देर बाद सचमुच धाँय-धाँय करके गाँव जल उठा। आगकी लपटें आकाशको छूने लगीं। हाहाकार मच गया! आग बुझानेका बहुत प्रयत्न हुआ लेकिन हवाके जोरसे सब व्यर्थ रहा। उस समय मेरी आँखोंमें आँसू थे, परन्तु भगवान्‌की कृपाका स्मरण करके मैं फूले भी न समाता था।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अक्रूरजीका भावुक हृदय

(लेखक—पं० श्रीमथुरानाथजी शर्मा शास्त्री भट्ट)

भक्तवत्सल भगवान्‌के अवतार लेकर भूमण्डलपर पधारनेके विषयमें भावुकोंने अपनी-अपनी भावनाके अनुसार नाना कारण बतलाये हैं। कोई कहते हैं—पृथिवीपर अधार्मिकोंका भार जब बहुत बढ़ जाता है तब उसके उतारनेके लिये आप यहाँ पधारते हैं। कितनोंहीका कहना है कि तपस्यादिके द्वारा जो भक्त भगवान्‌को प्रसन्न कर लेते हैं उनकी मनोरथपूर्तिके लिये ही आपको यहाँ पधारना पड़ता है। परन्तु वास्तवमें दीनदयालु भगवान् इस जगत्‌के उद्धारके लिये ही यहाँ पधारते हैं। जिन परात्पर भगवान्‌के पास सनकादि दिव्य महर्षितक अवसरपर ही पहुँच पाते हैं, बल्कि उन्हें भी कभी-कभी तो भगवत्पार्षदोंके द्वारा रुकावटका धोखा आ जाता है, दिव्यलोकविहारी उन भगवान्‌के पास भला प्रावाहिक जीवोंकी पहुँच हो सकती है? अविद्या,* नाना प्रकारकी कामनाएँ, कर्मोंका गहरा जाल, इनके कारण जो बेचारे रात-दिन चौरासीके चक्करमें पड़े हुए हैं, भला उनका कभी छुटकारा हो सकता है? उन्हें कभी भगवान्‌के दर्शन मिल सकते हैं? परन्तु भूमण्डलपर पधारनेपर भगवान्‌के चरित्रोंका दर्शन, स्मरण आदि करके उन प्रावाहिक जीवोंका भी उद्धार हो जाता है। बस, इसीलिये भक्त-वत्सल भगवान् भूमण्डलपर पधारनेकी कृपा करते हैं।

किन्तु यहाँ पधारनेपर भी जो ज्ञानी हैं, जिनके पुण्य प्रबल हैं, जिनपर भगवान्‌का अनुग्रह है वही भगवान्‌को पहचानकर उनके अभिमुख होते हैं, उनमें अनुराग करते हैं और इस चक्करसे बरी होते हैं। परन्तु जो मायामोहित हैं वे पारसके पास रहकर भी लोहे-के-लोहे रह जाते हैं। भगवान्‌को पहचान तक नहीं पाते। साधारण जीवोंकी क्या कथा, धरा-धाममें पधारे हुए भगवान्‌के जो निकट सम्बन्धी होते हैं उनमेंसे भी सभी लोग भगवद्विभूति और स्वरूपको नहीं जान पाते। ऐसोंके लिये भगवान् वेदव्यास तकको बड़ा अनुताप हुआ है। आपने कहा है कि 'हाय हाय! यह संसार बड़ा अभागा है, उसमें भी यादवगण तो बड़े भाग्यहीन निकले। जो भगवान्‌के साथ-साथ जन्मभर रहकर भी उन्हें नहीं पहचान पाये।'† यहाँ दृष्टान्त दिया है कि जिस तरह जलमें चन्द्रमाकी परछाँई पड़नेपर रात-दिन उसके साथ रहते हुए भी मत्स्य उसे एक मछली ही समझते हैं उसका स्वरूप नहीं जानते। जरा दृष्टान्तकी बारीकीपर ध्यान दीजिये—चन्द्रमाका साक्षात् मछलियोंके साथ घूमना असम्भव है केवल उसकी परछाँई ही आती है। फिर बेचारी मछलियोंकी स्वाभाविक शक्ति ही क्या हो सकती है कि चन्द्रमाको पहचान सकें। बस, अपनी मूढ़ताके कारण आप ही लाभसे वञ्चित रहते हैं। अब सर्वेश्वर भगवान्‌का और प्रावाहिक जीवोंका तारतम्य देखिये, रात-दिन साथ रहनेपर भी उनकी मूढ़ता परखिये।

अस्तु—

अक्रूर यादवोंमें बड़भागी थे। आपपर भगवान्‌का अनुग्रह था। आप भगवान्‌को जान गये, और उनकी महिमाको पहचान गये थे। परन्तु लाचार

---

* भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः।
श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन॥
५—६

† दुर्भगो बत लोकोऽयं यदवो नितरामपि।
ये संवसन्तो न विदुर्हरिं मीना इवोडुपम्॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

थे। कंसके दौरात्म्य (दुष्टता) के कारण आप प्रत्यक्ष नहीं होते थे। इसीलिये जब कंस मर गया है तब आप भगवान्‌को अपने भाग्यवान् गृहमें ले गये हैं। बड़े आनन्दसे कहते हैं—'दिष्ट्या कंसो हतः पापः'। भगवान् भी अक्रूरजीकी परिस्थिति जानते थे। भला अन्तर्यामीसे क्या छिपा है? मथुरा पधारनेपर अक्रूरजीने अपने घरको पवित्र करनेके लिये आग्रह किया किन्तु आपने समझाया—'अभी मुझको अपने घर न ले चलो। अभी समय नहीं आया है। उपयुक्त समय आनेपर मैं स्वयं आपके घर आऊँगा।'

भगवान्‌को घर न ले जा सके तो क्या हुआ, प्रत्यक्षमें सबको अपनी भक्तिका परिचय नहीं दिया तो क्या बिगड़ गया। वे चित्तसे भगवान्‌में अनुरक्त थे। इनकी दशा भगवद्भक्त विभीषणसे बहुत कुछ मिलती है। वे भी रावणके डरसे अपने हृदयका परिचय प्रत्यक्ष नहीं देते थे किन्तु भगवान्‌की महिमा जान गये थे। भगवान्‌के प्रति उनका आन्तरिक अनुराग था। वे अपनेको बचाते हुए श्रीरामके अभिमुख होनेको रावणको सलाह देते हैं। किन्तु मायामोहित रावण उन्हें दुत्कार कर निकाल देता है। रावणका दौर्भाग्य और दुष्टता समझते हुए भी विभीषण इसे अपने लिये बड़ा अच्छा मानते हैं। भगवान्‌की शरण जानेके लिये अनुकूल अवसर मानकर अपना सौभाग्य सराहते हैं। जिस समय कंस अक्रूरको श्रीकृष्ण और बलरामको लानेके लिये वृन्दावन भेजता है तब वे कंसकी दुरभिसन्धि जानते हुए भी बड़े प्रसन्न होते हैं। भला, सज्जनद्रोही कंस वैर करनेपर भी सर्वेश्वर सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका क्या बिगाड़ कर सकेगा? परन्तु मुझे जो भगवान्‌को लानेके लिये भेज रहा है यह इसने मेरे लिये बड़ा अनुग्रह किया है।* आज मैं धराधाममें अवतीर्ण हुए भगवान्‌के उस चरण-पंकजको देख सकूँगा जिसके नखमण्डलकी कान्तिसे बड़े-बड़े पापियोंके पापान्धकार दूर हो चुके हैं। आहा! आज मेरा बड़ा सुप्रभात है जो मैं आज उन हरि भगवान्‌के दर्शन करूँगा जो ब्रह्मादि बड़े-बड़े देवताओंके भी शरणदायक हैं। यही नहीं, सबके गुरु (मार्गदर्शक अथवा पिता) हैं। कदाचित् इससे यह समझा जाय कि भगवान् महामहिमशाली पूज्य जरूर सिद्ध हुए। ऐसोंका तो यहींसे ध्यान किया जा सकता है। वहाँ जानेका कौन असाधारण फल है? इसपर वे कहते हैं 'त्रैलोक्यकान्तम्' त्रिलोकीमात्रमें एकमात्र कमनीय वही हैं। उनकी भुवनमोहिनी रूपमाधुरीका दर्शन वहाँ गये बिना नहीं हो सकता। यदि त्रिलोकीभरके लिये वे सुन्दर हैं तो फिर कंसादि क्यों नहीं उस रूपमाधुरीसे प्रसन्न होते? इसके लिये आगे कहते हैं 'दृशिमन्महोत्सवम्' जिनके पास दृष्टि है उनके लिये वे मनोहर ही क्या एक अलौकिक उत्सवस्वरूप हैं। जिनके नेत्र ही नहीं, नेत्र होते हुए भी जो अन्धे हैं, उनको भगवान्‌की मधुरता भला कैसे प्रतीत हो सकती है? कंसादिके पास तो वह नेत्र ही नहीं, जिसके द्वारा वे भगवान्‌का दर्शन कर सकें। अन्धेके आगे सुन्दर रूप भला किस प्रयोजनका? किन्तु जिनको उस रूपमाधुरीको देखनेके लिये नेत्र मिले हैं वे उस पर लाहालोट हो जाते हैं। और तो क्या, भगवान्‌की

---

* कंसो बताद्याकृत मेऽत्यनुग्रहं
द्रक्ष्येऽङ्घ्रिपद्मं प्रहितोऽमुना हरेः।
कृतावतारस्य दुरत्ययं तमः
पूर्वेऽतरन्यन्नखमण्डलश्रिया॥
तं त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुं
त्रैलोक्यकान्तं दृशिमन्महोत्सवम्।
रूपं दधानं श्रिय ईक्षितास्पदं
द्रक्ष्ये ममासन्नुषसः सुदर्शनाः॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रूपमाधुरी वह है कि साक्षात् लक्ष्मी भी उसे अपना अभीष्ट स्थान समझकर कभी विलग नहीं होती।

रास्तेमें चलते-चलते अक्रूरकी वही दशा हो जाती है जो भावुक प्रेमीकी हुआ करती है। शरीरादिकी सुध-बुध भूलकर उनका विचार केवल उन भगवान्‌की तरफ ही लग जाता है, जिनके पास वे जा रहे हैं। भगवान्‌की भावना मानो सजीव होकर उनके अन्तःकरणको व्याप्त कर लेती है। वे भाँति-भाँतिके मनसूबे बाँधते हैं—*मैं रथसे उतरते ही बलराम और श्रीकृष्णके चरण-कमलोंको प्रणाम करूँगा, आहा! जिनको योगी भी भगवत्प्राप्तिके लिये सदा अपने मनमें ध्यान किया करते हैं। भाई! वृन्दावनके निवासी गोप-बालक भी बड़े धन्य हैं जिनको भगवान्‌के सखा बननेका गौरव प्राप्त हुआ है। भले ही दूसरे मनुष्य उन्हें 'वनौकसः' वनवासी समझते हों, मैं तो उनका अहोभाग्य मानता हूँ। राम-कृष्णके साथ-साथ मैं उन्हें भी प्रणाम करूँगा। अथवा केवल 'सखीन्' भगवान्‌के सखाओंको ही क्या, मैं तो 'वनौकसः' उस वृन्दावनमें जो रहते हैं उन सभीको बड़े बहुमानके साथ प्रणाम करूँगा, चाहे वे पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, पाषाण ही क्यों न हों। जिस समय मैं भगवान्‌के चरणोंमें गिर जाऊँगा उस समय वे बड़े स्नेह और दयासे मेरे मस्तकपर वह हस्त-कमल रख देंगे जिसके द्वारा घबराये हुए शरणार्थियों-को सदा अभयदान मिला करता है। यह अभय भी ऐसी-वैसी हालतमें नहीं दिया जाता। जो आतुर कालरूपी सर्पके वेगसे घबराकर चारों तरफ दौड़ते हैं और किसीको शरणयोग्य नहीं पाते उस समय आपही-के इस हस्तकमलसे यह असामान्य अभयदान मिलता है। फिर सोचते हैं—मैं तो कंसका भेजा हुआ जा रहा हूँ। मेरे ऊपर भगवान्‌का अनुग्रह अथवा विश्वास क्योंकर होगा? नहीं नहीं, भगवान्‌को मेरे ऊपर वैरिबुद्धि कभी नहीं होगी। मैं कंसका भेजा हुआ जरूर जा रहा हूँ परन्तु भगवान् मेरे हृदयको जानते हैं क्योंकि भगवान् सबको देखनेवाले हैं 'विश्वदृक्'। वह चित्तकी चेष्टाओंको अपने अमोघ चक्षुसे सदा देखते रहते हैं। कदाचित् मेरे चित्तको जानते हुए भी भगवान् कंसके कारण मेरे विषयमें टल जायँ तो? नहीं नहीं, वे 'अच्युतः' भगवान् कभी नहीं हटते। भला उनसे मेरे विषयमें भूल होगी?

मैं फिर हाथ जोड़कर भगवान्‌के चरणोंके पास बड़ी सावधानीसे बैठ जाऊँगा। आप उस समय हँसकर मेरे ऊपर करुणार्द्र दृष्टि डालेंगे। आहा, उस समय मेरे सब पातक दूर हो जायँगे। इतने कालतक जो भगवद्द्वेषियोंके सहवासमें रहा हूँ, रात-दिन जो भगवान्‌की निन्दा-ही-निन्दा सुनता रहा हूँ, वे सब पाप दूर हो जायँगे। सहवास ही कैसा? मैं तो भगवद्द्वेषी कंसके अन्नसे ही पला हूँ। मेरे रोम-रोममें अपराध व्याप्त है। मैं कैसे बचूँगा? नहीं नहीं, आपकी दयादृष्टि पड़ते ही 'अपध्वस्तसमस्तकिल्बिषः',

---

* अथावरूढः सपदीशयो रथा-
त्प्रधानपुंसोश्चरणं स्वलब्धये।
विया धृतं योगिभिरप्यहं ध्रुवं
नमस्य आभ्यां च सखीन्वनौकसः॥
अपाङ्घ्रिमूले पतितस्य मे विभुः
शिरस्य धास्यन्निजहस्तपङ्कजम्।
दत्ताभयं कालभुजङ्गरंहसा
प्रोद्वेजितानां शरणैषिणां नृणाम्॥
न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः
कंसस्य दूतः प्रहितोऽपि विश्वदृक्।
शौऽन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं
क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा॥
अपाङ्घ्रिमूलेऽवहितं कृताञ्जलिं
मामीक्षिता सस्मितमार्द्रया दृशा।
अपध्वस्तसमस्तकिल्बिषो
वोढा मुदं वीतविशङ्क ऊर्जिताम्॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चाहे कैसे भी घोर पातक हों, 'अप' जड़-मूलसे सब नष्ट हो जायँगे। मुझे पापोंके तरफकी कोई शङ्का नहीं। मैं निःशङ्क होकर अलौकिक आनन्दका पात्र बनूँगा।

मुझे दीनतासे बैठा हुआ देखकर दयालु भगवान् अपनी लंबी-लंबी भुजाओंसे मेरा आलिङ्गन करेंगे। स्नेहके कारण मुझे छातीसे लगा लेंगे। क्यों? कहते हैं 'सुहृत्तमम्' मैं भगवान्के सुहृत् सम्बन्धियोंमें हूँ। मुझपर कृपा नहीं करेंगे? केवल यही नहीं 'ज्ञातिम्' मैं भगवान्की जातिका हूँ। जातिका होनेसे क्या हुआ? जातिका तो परस्पर वैमनस्य देखा जाता है। नहीं नहीं, मैं वैसा नहीं हूँ। भगवान् जानते हैं कि 'अनन्यदैवतम्' मेरे और कोई आराध्य देवता नहीं।† भगवान् श्रीकृष्ण ही मेरे हृदयकी अधिष्ठात्री देवता हैं। आहा, जिस समय भगवान् मुझे अपनी छातीसे लगावेंगे, मेरा यह आत्मा पवित्र ही नहीं, तीर्थस्वरूप बन जायगा। तीर्थ जिस तरह दूसरोंको पवित्र करते हैं उसी तरह मैं ही क्या पवित्र होऊँगा मेरे सुहृत्-सम्बन्धी सब मेरे समागमसे पवित्र हो जायँगे। मेरा वह कर्म-बन्धन हट जायगा, जिसने अबतक मुझे निरुच्छ्वास जकड़ रक्खा था। छाती-से-छाती लगाकर जिस समय वे मुझसे मिल चुकेंगे, मैं हाथ जोड़कर प्रणत खड़ा रहूँगा, तब आप बड़े प्रेमसे मुझे 'अक्रूर' कहकर सम्बोधन करेंगे। सच कहता हूँ उस समय मेरा जन्म धारण करना सफल हो जायगा। व्यासजीके अक्षर हैं 'तदा वयं जन्मभृतः'

† सुहृत्तमं ज्ञातिमनन्यदैवतं
दोर्भ्यां बृहद्भ्यां परिरप्स्यतेऽथ माम्।
आत्मा हि तीर्थीक्रियते तदैव मे
बन्धश्च कर्मात्मक उच्छ्वसित्यतः॥
लब्धाङ्गसङ्गं प्रणतं कृताञ्जलिं
मां वक्ष्यतेऽक्रूर ततेत्युरुश्रवाः।
तदा वयं जन्मभृतो महीयसा
नैवाद्दतो यो धिगमुष्य जन्म तत्॥

उस समय हम जन्मधारी होंगे। यह क्या? अक्रूर अभी जन्मधारी नहीं हैं तो यहाँ कैसे मौजूद हैं, बोल कैसे रहे हैं? कहते हैं, यह जन्म नहीं। यह तो निरर्थक विडम्बना है। प्राणी गर्भमें स्तुति करता हुआ भगवान्से प्रतिज्ञा करता है—हे प्रभो! इस दुःखसे मुझे बचाइये, मैं जन्म लेकर आपका आश्रय लूँगा। किन्तु इसके अनन्तर यदि वह जन्म लेकर भी भगवान्से अलग रहे तो क्या यह जन्म लेना है? नहीं नहीं, जन्म पाना तो वही है जो जन्म देनेवाले भगवान्के अनुकूल हो। इसीलिये अक्रूर कहते हैं—अभीतक हम जन्म लेकर भी नहींके बराबर हैं, जिस समय हमपर भगवान्का अनुग्रह होगा तभी जन्मधारी होंगे 'तदा वयं जन्मभृतः'। यही क्यों, नीतिवाले भी तो कहते हैं कि—

'स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्'

वही उत्पन्न हुआ कहलायेगा जिसके द्वारा वंशकी उन्नति हो अर्थात् अच्छे आदमियोंमें जिसका नाम हो। इसी आशयसे भगवान् वेदव्यास भी कहते हैं—'महीयसा नैवाद्दतो यो धिगमुष्य जन्म तत्' जो ऐसे-ऐसे महापुरुषोंके द्वारा आदरपात्र नहीं बनता उसका वह जन्म लेना धिक्कार है। क्यों? भगवान्के 'अक्रूर' इतने मात्र सम्बोधनसे वह अपना जन्मसाफल्य कैसे मान रहे हैं? कहते हैं—'उरुश्रवाः'। भगवान् साधारण बड़े आदमी नहीं। वे हैं 'उरुश्रवाः'। उनकी कीर्ति बड़ी भारी है। उनकी कीर्तिका अन्त नहीं। कीर्ति भी कैसी जिसको गाते-गाते अनन्त पातकी भी उद्धार पा चुके हैं। जब लौकिक बड़े आदमियोंका बोलना दूर रहा, उनकी दृष्टि पड़ने-तकको हम अपना अहोभाग्य समझते हैं तब सर्वेश्वर भगवान् प्रेमपूर्वक सम्बोधन करें और हमें सम्मुख उपस्थित रहकर उसके सुननेका सौभाग्य मिले, फिर क्या बाकी रहा? इसीलिये अक्रूर अपनेको बड़ा भाग्यवान्

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

समझते हुए सम्बोधन करनेवाले भगवान्‌का गौरव सूचित करते हैं कि—'उरुश्रवाः' ।

अक्रूरको इस समय कंसरूपी प्रतिबन्धकका भय नहीं था। वे इस समय स्वतन्त्र हैं। फिर स्थान भी एकान्त है, वह स्थान भी क्या साधारण था, परम पावन व्रजभूमि। मार्गके चारों ओर कुसुमित वृक्ष लहलहा रहे थे। लताओंपर भौंरोंका अव्यक्त गान हो रहा था। कलिन्दनन्दिनी श्रीयमुनाके तरल तरङ्गोंसे टकराये हुए शीतल सुगन्धित मन्द पवनके झोंके रह-रहकर अगवानी कर रहे थे। भगवान् मरीचिमाली अस्ताचलकी ओर पूर्ण झुक चुके थे। उनकी सुनहरी किरणें फूलोंको केसरके गहरे रंगमें रंग रही थीं। सायंकालका सर्वसुखद समय सम्मुख उपस्थित था। भगवान् व्यासदेव कहते हैं—

इति सञ्चिन्तयन् कृष्णं श्वफल्कतनयोऽध्वनि।
रथेन गोकुलं प्राप्तः सूर्यश्चास्तगिरिं नृप॥

['मार्गमें इस प्रकार भगवान्‌का ध्यान करते हुए अक्रूर रथके द्वारा गोकुल अर्थात् नन्दराजके गोष्ठ (गायोंके निवासस्थान) में पहुँचे और सूर्यदेव अस्ताचलकी ओर।']

इस प्रकार अनुकूल देश और कालको पाकर अक्रूरका हृदय उन्मुक्त होकर भगवान्‌की तरफ दौड़ रहा था, प्रेमका स्रोत उमड़ रहा था। भावनाकी तरङ्गें एकके बाद एक उठ रही थीं। बात यह थी कि अक्रूरके लिये इस समय प्रतिबन्धक भय बिल्कुल निवृत्त था। अतएव पावनसंसर्ग, एकान्त आदि सामग्रीको पाकर उद्दीपित हुआ भक्तिप्रवाह शतमुख होकर भगवान्‌की तरफ उमड़ चला था। वे देवदुर्लभ उस व्रजभूमिके मार्गपर बड़े बहुमान और श्रद्धासे अपनी नीची नजर डाले हुए थे। आहा! यह वह पवित्र भूमि है जहाँ भगवान् गोचारणके लिये स्वयं पधारते हैं। उन्हें इस भूमिके एक-एक कण बड़े अभिनन्दनीय मालूम हो रहे थे। अचानक उनकी दृष्टि पड़ती है कि मार्गमें कुछ चरणचिह्न ऐसे हैं जिनमें कमल, यव, अङ्कुश आदिके चिह्न उभरे हुए हैं! बस, फिर क्या था, उमड़ा हुआ प्रेमप्रवाह हृदयकी सीमामें कबतक रुका रहता? अक्रूर बेकाबू हो जाते हैं। कहते हैं, आहा! यह तो उन प्रभुके चरणारविन्द हैं जिनकी धूलिको मस्तकपर धारण करनेके लिये बड़े-बड़े देवता तक तरसते हैं। 'अखिल-लोकपालकिरीटजुष्टामलपादरेणोः' एक दो नहीं, इन्द्रादि सम्पूर्ण लोकपालोंके किरीटोंने धारण की है निर्मल पदधूलि जिनकी। साधारण देवताओंकी क्या कथा, जो एक-एक लोकोंके स्वामी हैं वे भी अपने रत्नमुकुटोंपर उनकी चरणरेणुको धारण करना अपना अहोभाग्य समझते हैं। इस भूमिको अनेक देवता, अनेक मुनि, अनेक सिद्धोंके चरणचिह्नोंको धारण करनेका सौभाग्य मिलता है। परन्तु आपके चरण-चिह्नोंका जिस समय इस भूमिको स्पर्शमात्र होता है उस समय इसकी परिस्थिति दूसरी ही हो जाती है। उस सुख और बहुमानको पाकर इस भूतधात्री वसुन्धराको भी अद्‌भुत कौतुक हो जाता है। इसी-लिये श्रीव्यासने कहा है 'क्षितिकौतुकानि'।

जिस पृथ्वीने आजतक न जाने कितने चरित्र देखे हैं, कितनी-कितनी अद्‌भुत घटनाओंकी जो साक्षिणी है। रात-दिन अच्छे-बुरे सबके लिये एक-सी बरतनेके कारण जिसको 'सर्वसहा' कहा जाता है। नयी-नयी कौतुकसामग्रियोंके अभिमानको मन्द करने-के लिये जिसके विषयमें कहा जाता है कि—'विस्तीर्णा पृथिवी' [इस पृथिवीका विस्तार बहुत है], वह अचला भी जिन चरणोंके स्पर्श-कौतुकसे विचलित हो पड़ती है, भला उनकी महिमा सामान्य है?

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इसीलिये तो उनके अलौकिक महत्त्वको सूचित करते हुए श्रीव्यासदेव कहते हैं—'क्षितिकौतुकानि' ।*

परमहंसमूर्द्धन्य भगवान् शुक अक्रूरकी उस समयकी दशाको चित्रित करते हुए कहते हैं कि जैसे ही उन्होंने उन चरणचिह्नोंको देखा वैसे ही उनके हृदयमें आनन्दप्रवाह इतना उमड़ा कि वे आपेमें नहीं रहे, सम्भ्रम हो पड़ा। आह्लादका समुद्र इतना उद्वेलित हुआ कि उसमें 'सम्' बड़े-बड़े 'भ्रम' भँवर पड़ने लगे। अतएव यहाँ अक्षर हैं—'तद्दर्शनाह्लादविवृद्ध-संभ्रमः ।' भला, हृदयके सम्भ्रमका आपको कैसे पता चला? कहते हैं—उसके ऊँचे-ऊँचे निशान शरीर-पर दूरसे दिखायी देते थे 'ऊर्ध्वरोमा ।' प्रेमके कारण उनके सब शरीरमें रोमाञ्च हो गया। प्रेमप्रवाहके वे अन्दाज उमड़नेकी रोमाञ्चरूपी झंडियोंने केवल सूचना ही नहीं दी, यह भी प्रतीत हो गया कि यह प्रवाह अब रोके रुक नहीं सकता। बाहर उमड़ चला। अतएव कहते हैं—'अश्रुकलाकुलेक्षणः' अश्रुप्रवाहसे भर उठे हैं नेत्र जिनके।

जब प्रेमपयोधिमें इतना प्रबल ज्वारभाटा आया हुआ था तो क्या वह अक्रूरको निश्चल रहने दे सकता था? नहीं, अक्रूरसे न रहा गया। 'रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत' रथके जूडेसे कूदकर वे उन चरणचिह्नोंपर लोटने लगे। क्यों? कंस-सरीखे लोकातिशायी प्रभाव-शालीके वे सम्मानपात्र थे। उसके भेजे हुए राजकीय सुसज्जित रथ लेकर आ रहे थे। दिव्य वस्त्राभूषणधारी प्रतिष्ठित यादवश्रेष्ठ अक्रूर उस धूलमें भला क्यों लोट रहे थे? कहते हैं—'प्रभोरमून्यङ्घ्रिरजांस्यहो इति।' आहा! यह रज उन प्रभुके चरणोंकी है, जिन प्रभु-का ध्यान करते-करते अक्रूर अबतक चले आ रहे हैं। जिनके दर्शनके विचारसे ही इतना आनन्द हो रहा था कि उसके कारण सब कुछ भूलकर मुग्धकी तरह नाना कल्पनाओंकी इमारत बना रहे थे कि वे मुझे यों दीखेंगे, मैं उनके चरणोंपर यों गिर जाऊँगा। वे मुझे यों सम्बोधन करेंगे इत्यादि। जिनके ध्यानमें ही इतने एकतान थे कि रास्तातक नहीं मालूम पड़ा, सूर्य भी अस्ताचलको जाने लगे थे। उन्हीं हृदयाधिष्ठित भगवान्‌की यह चरणधूलि है। जिनके स्वामित्वके विषयमें बड़े गर्वसे अक्रूर पहले कह चुके हैं 'अनन्य-दैवतम्।' जिनको वह अपना एकमात्र उपास्य बता चुके हैं उनकी चरणधूलिपर वे लोटें इसमें क्या आश्चर्य। उनकी चरणधूलिको तो यावन्मात्र लोकपाल-तक अपने मुकुटोंपर बड़े गर्वसे धारण करते हैं—

अखिललोकपालकिरीटजुष्टामलपादरेणोः ।

भगवान्‌की पावन चरणधूलिपर लोटते हुए अक्रूर तो देहाद्यनुसंधान सब भूल ही जाते हैं किन्तु अक्रूर-की इस भक्ति और भाग्यवत्ताको देखकर श्रीवेदव्यासजी तक अपने कथा-प्रक्रमको भूल जाते हैं, वे भी प्रसङ्ग-को छोड़कर प्रसङ्गान्तर उठाने लगते हैं। कथाप्रवाह चल रहा था कि अक्रूर भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए नन्दराजके गोष्ठकी ओर चले। मार्गमें भगवान्‌के चरणचिह्नोंको देखकर प्रेमाप्लुत अक्रूर उन चरणोंपर लोटने लगते हैं। यों बराबर अक्रूरका कथानक चल रहा था। उसे छोड़ अक्रूरके इस अहो-भाग्यको देखकर व्यासदेव इतने प्रभावाविष्ट हो जाते हैं कि वे उनकी बात तो छोड़ देते हैं और देह-धारियोंको शिक्षा देने लगते हैं कि—देहधारियोंके लिये देह-धारणका इतना ही प्रयोजन है कि जो दम्भ (ऊपरका ढोंग) भय और शोकआदिको छोड़कर भगवान्‌के चिह्नोंके दर्शन-श्रवणादिरूप सन्देशसे पूर्ण हुआ करता है।

---

* पदानि तस्याखिललोकपाल-
किरीटजुष्टामलपादरेणोः ।
ददर्श गोष्ठे क्षितिकौतुकानि
विलक्षितान्यब्जयवाङ्कुशाद्यैः ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इस भक्तकथाके सामान्य कथनसे अक्रूरके विशेष चरित्रका श्रीवेदव्यास विशेषरूपसे समर्थन करते हैं। परन्तु वे व्यञ्जनासे अक्रूरका अभिनन्दन कर रहे हैं कि—भाई अक्रूरके देहधारणका प्रयोजन आज सर्वात्मना पूर्ण हो गया जो सब बाहरी आडम्बर, कंसादिका भय तथा भविष्यत्के सोच-विचारोंको छोड़कर वे भगवान्के चरणोंपर यों आत्मसमर्पण कर देते हैं। इसीलिये कथाक्रमको छोड़कर भी वे अक्रूरकी प्रशंसा इस तरह करने लगते हैं। यही नहीं, वे अक्रूरको और भी अधिक भाग्यवान् मानते हैं। कहते हैं कि ऐसे दुःसंगमें रहते हुए भी अक्रूर बड़े भाग्यवान् हैं जो भगवान्के अनेकानेक सम्बन्धियोंसे भी बढ़कर दर्जा पा गये। रात-दिन भगवान् श्रीकृष्णके साथ एक स्थानपर रहते हुए भी बहुतोंने उन्हें पहचाना तक नहीं। किन्तु अक्रूरने उनकी केवल महिमाको ही न समझा प्रत्युत उनको अपना सर्वस्व समर्पण कर दिया। उनके विषयमें अपनी एकान्त भावना लगा दी। इसीलिये पहले श्लोकमें व्यासजीने अक्रूरके पिताका भाग्य सराहा है कि धन्य हैं अक्रूरके पिता 'श्वफल्क' जिन्होंने अक्रूरसदृश भाग्यवान् भक्त उत्पन्न किया। तभी तो अक्रूरका नाम न लेकर कहा है—

इति सञ्चिन्तयन् कृष्णं 'श्वफल्कतनयो'ऽध्वनि।

केवल 'चिन्तयन्' ही नहीं 'सञ्चिन्तयन्' सब तरफ़से मन, बुद्धि, इन्द्रियादिके व्यापारको भगवान्में ही लगा देना। जिस तरह भगवान्का ध्यान होना चाहिये उस 'सम्यक् प्रकारसे अर्थात् तन्मयतासे चिन्तयन् विचार करते हुए' सो भी आसन लगाकर निश्चलतासे एक जगह बैठे हों सो नहीं, 'अध्वनि' मार्गमें चलते-चलते भगवान्के ध्यानमें यों एकतान हो जाना दृढ आसक्तिका चिह्न है। जिसको भगवान्में इतना अनुराग है वह क्या सामान्य भाग्यवान् है? अतएव अक्रूरके वंशको बधाई देते हुए श्रीवेदव्यास कहते हैं 'श्वफल्कतनयः' (शेष आगे)

नीको

बृन्दाबन धाम नीको, ब्रजको बिश्राम नीको,
स्यामा-स्याम नाम नीको, मंदिर अनंदको।
कालीदह न्हान नीको, जमुनाको पान नीको,
रेनुकाको खान नीको, स्वाद मानो कंदको॥
राधा-कृष्ण कुंड नीको, संतनको संग नीको,
गौर-स्याम रंग नीको, अंग जुगचंदको।
नील-पीत पट नीको, बंसीवट तट नीको,
ललितकिसोरी नीको, नट नीको नंदको॥

—श्रीललितकिशोरीजी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीकैकेयी और सुमित्रामाताके चरित्रसे शिक्षा

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

श्रीकैकेयीजी

भरतमाता श्रीकैकेयीजीके चरित्रोंसे प्रकट और गुप्त दो प्रकारकी शिक्षाएँ लौकिक तथा पारलौकिक रूपोंमें मिलती हैं। प्रथम प्रकटरूपमें लोकशिक्षाको स्पष्ट किया गया है, जैसे कोई कैसा भी भला घर क्यों न हो, घरवालोंमें परस्पर कैसी भी प्रीति क्यों न हो, घरकी स्त्रियाँ कैसी भी सुयोग्य और सुबोध क्यों न हों, परन्तु जहाँ उन्होंने चेरियों (नौकरानियों) की सेवा-शुश्रूषासे प्रसन्न होकर उनका अनुचित मान बढ़ाया कि उन मन्दबुद्धिवाली स्त्रियोंको इधर-उधर भेदभाव पैदा करने और चुगली खानेका अवसर मिल जाता है। बस, रईसोंकी रमणियाँ उसीमें अपना हित जानकर उनकी बातोंमें आ जाती हैं तथा अपनी सुशीलता और सुबोधताको खो बैठती हैं—'रहै न नीच मते चतुराई'। परिणाम यह होता है कि वे अकारण ही परस्पर विरोध और विग्रह करनेपर तत्पर हो जाती हैं तथा सब प्रकारसे हानि और दुःखका शिकार बनती हैं। श्रीकैकेयीमाताको देखिये, पहले वे किस तरह विचारशीला और सुमतिभाजन थीं! दासी मन्थराके वचनोंके उत्तरमें पहले उन्होंने कितने सुन्दर विचार प्रकट किये थे—

सुनि प्रिय बचन मलिन मन जानी। झुकी रानि अब रहु अरगानी
पुनि अस कबहुँ कहसि घरफोरी। तब धरि जीभ कढ़ावौं तोरी॥
× × ×
सुदिन सुमंगलदायक सोई। तोर कहा फुर जेहि दिन होई॥
जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सोहाई॥
राम तिलक जो साँचहु काली। देउँ माँगु मनभावत आली॥
कौसल्या सम सब महतारी। रामहिं सहज सुभाय पियारी॥
मोपर करहिं सनेह बिसेखी। मैं करि प्रीति-परीछा देखी॥
जो बिधि जनम देइ करि छोहू। होहु राम-सिय पूत-पतोहू॥
प्रानते अधिक राम प्रिय मोरे। तिन्हके तिलक छोभ कस तोरे॥

जिस समय पुरवासिनी स्त्रियाँ इकट्ठी होकर श्रीकैकेयीजीको सिखलाने लगीं, उस समयके वचनोंसे भी श्रीकैकेयी अम्बाका पूर्वस्वभाव स्पष्ट हो रहा है—

भरत न मोहि प्रिय राम समाना। सदा कहहु यह सब जग जाना
करहु रामपर सहज सनेहू। केहि अपराध आज बन देहू॥
कबहुँ न कियेहु सवति आरेसू। प्रीति प्रतीति जान सब देसू॥
कौसल्या अब काह बिगारा। तुम्ह जेहि लागि बज्र पुर जारा॥

ऐसी शुद्धहृदया और सुबोधा होते हुए भी श्रीकैकेयीजी मन्थरा चेरीकी बातोंमें आ गयीं और इतनी कठोरहृदया—इतनी अबोधा बन गयीं कि अपनी ही करतूतोंसे अपने पतिदेवकी मृत्युका कारण बनीं—

लीन्ह बिधवपन अपजस आपू। दीन्हेउ प्रजहि सोक-संतापू॥

अपने प्राणप्रिय रामजीको वनमें भेजकर अनादि कालतकके लिये अपयशका पात्र बनीं। अतएव सम्पूर्ण जगत्‌की माताओं और बहिनोंको इस शिक्षासे सचेत रहना चाहिये ताकि उन्हें भेदबुद्धि उत्पन्न करनेवाली बातोंके सुनने तकका भी अवसर न मिले।

द्वितीय, गुप्तरूपकी परलोक-शिक्षाका निरीक्षण कीजिये—

होत अयुक्त युक्त स्वामिन हित बलि छलि हरि न भिखारी।
जग स्वारथ हित प्रभुहि पठै बन तथा भरत महतारी॥
जनै भरत अस भक्त प्रेम गौरव दरसावै।
प्रभु प्रसन्न सौ बार उन्हैं कोउ बिपनि पठावै॥
राम ब्रह्म परिपूर्ण घर कि बन कहँ प्रभु नहिं जेहि ठाँर।
किन्तु भरत अस भक्त तुकीलो है त्रिभुवन नहिं और॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ज्यों त्यों आवे काम रामके आप दुखी बदनाम।
सब ते कठिन बारिबो यसको यह ऐसनिको काम॥
प्रान दै दियो जस न दै सक्यो पिया बचा गयो कंध।
सो करतूति कीन्ह कैकेयी प्रेम निगोड़ो अंध॥
भूखे भजैं अघाने गावैं रोग रटैं कोउ और।
प्रिय प्रभु हित सहि अयस जियब जग भगति मेऊँको ठौर॥

महान् व्यक्तियोंके अयुक्त—अनुचित कार्योंमें भी युक्त अर्थात् औचित्य रहता है। जैसे भगवान् वामनने राजा बलिसे छल करके भिक्षा ली तो कुछ अपने स्वार्थके लिये नहीं। क्योंकि जो भगवान् आप्तकाम हैं, वे भिखारी कैसे बन सकते हैं? अतएव उनका वह कार्य देवताओंकी रक्षा एवं जगत्-हितके लिये हुआ था। उसी प्रकार भरतमाता श्रीकैकेयीजीने भी प्रभु श्रीरामजीको संसारके हितके लिये ही वनमें भिजवाया था। जो माता भरत-सरीखे भगवद्भक्त पुत्रको पैदा करके श्रीभगवान्‌को अर्पण कर दे और जिस भक्तसे भगवद्भक्तिका गौरव बढ़े—

रामभगत अब अमिय अघाहू। कीन्हेउ सुलभ सुधा बसुधाहू॥

—वह माता यदि श्रीरामजीको सौ बार भी वनमें भेजे तो प्रभु उसपर प्रसन्न ही रहेंगे। कारण यह है कि श्रीरामजी व्यापक ब्रह्म हैं, वे घरमें अथवा वनमें सब जगह हैं। उनके लिये घर और वन सब समान हैं। किन्तु श्रीभरतजी-सरीखा भक्तभूषण तो त्रिभुवनमें भी कोई नहीं है। किसी प्रकार भगवान्‌की सेवा होनी चाहिये, चाहे सेवक दुःखी और बदनाम ही क्यों न हो? वास्तविक सेवक वही है जो किसी प्रकार स्वामी-से छल अथवा स्वार्थ नहीं रखता है—

सरल सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥

यशको छोड़कर अपयशका भागी बनना मृत्युसे भी कठिन है—

संकासित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू॥

परन्तु ऐसी सेवा करना ही कैकेयी अम्बाका काम था! उनके पतिदेव श्रीदशरथजी महाराजने प्राण दे दिये, किन्तु यश नहीं दे सके। इस कठिन सेवासे बगल ही दबा गये! और इधर भगवान् रामजीकी प्रेमान्ध भक्ता श्रीकैकेयीमाताने अपने यशको परित्याग करके अपयशभागी बननेकी कठिन सेवाको पूरा किया। यदि रामजीको उन्होंने वनमें न भेजा होता तो प्रभुका भूभार उतारनेका मुख्य कार्य नहीं हो पाता। उनको वनमें भेजकर किसीको अपयशका भागी बनना आवश्यक था। बस इसी सेवाको कैकेयी-माताने अपने जिम्मे ले लिया था। संसारमें स्वार्थी भक्तोंकी कमी नहीं है। किसीको ज्यों ही भूख लगती है कि वह क्षुधाग्निसे सन्तप्त होकर 'भगवान् भगवान्' पुकारने लगता है और कहता है कि 'हे प्रभु, कहींसे भोजन भिजवाओ!' अथवा जब किसीका पेट भरा रहता है तो वह अपने श्रवणानन्दके लिये राग-रागिनियोंद्वारा कोई भजन गाने लगता है या बहुधा रोग-पीड़ित भी 'हाय राम, हाय राम' कहने लगते हैं। परन्तु श्रीकैकेयी अम्बाजीकी जैसी कठिन भक्ति थी, उन्होंने अपने प्यारे प्रभु श्रीरामजीके लिये जिस तरह अपयश उठाया और उसको आजीवन निभाया, वह दूसरोंके लिये म्याओंका ठौर * ही है। इस कथनके भावकी पुष्टि श्रीगोस्वामीजी महाराजकी इन चौपाइयोंसे होती है—

---

*'म्याओंका ठौर' से उपमा दी गयी है। एक बार किसी बिल्लीको मारनेके लिये चूहोंने मिलकर सभा की। उसमें तय होने लगा कि कौन किस अंगपर आघात करेगा। पैर, पीठ, पूँछ आदि अङ्गोंपर तो सबने स्वीकार किया परन्तु मुँहकी चर्चा उठते ही सबोंने एक स्वरसे कहा कि 'वह तो म्याओंका ठौर है!' उसी तरह यहाँ कैकेयीकी कठिन भगवद्भक्तिको दूसरोंके लिये जानपर खेलनेके समान दुष्कर बतलाया गया है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दोष देइ जननी जड़ तेई। जिन गुरु साधु सभा नहिं सेई॥
बिनु समुझे निज अघ परिपाकू। जारेउँ जाय जननि कहि काकू॥

श्रीमुखवचन है कि (मेरे इस वनगमनके सम्बन्धमें) 'यदि कोई श्रीकैकेयीमाताको दोषभागी बतलायेगा तो वह जड़ अर्थात् अज्ञानी होगा। ऐसा वही कर सकेगा जिसने गुरु और साधु-समाजके उपदेशों तथा सत्सङ्गका सेवन नहीं किया होगा।' श्रीभरतलालजीने भी कहा है कि 'अपने अपराधको न समझ सकनेके कारण मैंने कटूक्तियोंद्वारा व्यर्थ ही माताको सन्ताप पहुँचाया।'

श्रीचित्रकूट पहुँचनेपर श्रीरामजीने माताओंमें सर्व-प्रथम कैकेयीजीसे ही भेंट किया और अपने सरल स्वभावद्वारा उनकी मतिको भक्तिसे खूब तर कर दिया। (भगवान् अपने परम प्रिय भक्तको ही अपनी दुर्लभ भक्ति प्रदान करते हैं—'कोउ कोउ पाव भगति जिमि मोरी॥')

प्रथम राम भेंटी कैकेयी। सरल सुभाय भगति मति भेई॥
पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने श्रीकैकेयी अम्बाके चरणों-में पड़कर उनको निर्दोष सिद्ध करनेके लिये काल, कर्म और ब्रह्मापर दोष लगाया।

श्रीचित्रकूटसे जब अयोध्याका समाज लौटने लगा तब भी श्रीरामजीने शुद्ध स्नेहके साथ सबसे पहले माता कैकेयीजीसे ही भेंट की—

भरतमातु पद बंदि प्रभु, सुचि सनेह मिलि भेंटि।
बिदा कीन्ह सजि पालकी, सकुच सोच सब मेंटि॥

वन-यात्राको पूरी करके श्रीअयोध्यामें पधारनेपर भी श्रीरामजी सबसे पहले माता कैकेयीके भवनमें गये—

प्रभु जाना कैकेइ लजानी। प्रथम तासु गृह गये भवानी॥

श्रीरामगीतावलीको देखनेसे पता चलता है कि श्रीकैकेयी जबतक जीवित रहीं तबतक श्रीरामजी उनको माता कौशल्यासे भी अधिक सम्मान देते रहे—

मानी राम अधिक जननीसे जननिहु गँस न गही॥

भगवान् रामजीकी ऐसी दया माता कैकेयीपर क्यों न हो? वही तो कहते हैं—

भक्त पर भजतहिं भजैं। (विनय)

ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(गीता)

जिस अम्बाने अपने प्रभुके लिये सुयशको धूलमें मिला दिया, नाना प्रकारके सोच, संकोच, लज्जा और कष्टको बरदास्त किया, उस जननीको निर्दोष बनाकर सर्वश्रेष्ठ सम्मान देनेके लिये प्रभु क्यों न तत्पर रहें? माता कैकेयीके द्वारा जीवमात्रको इस कठिन किंतु सर्वोत्कृष्ट भक्तिकी शिक्षा दी गयी है कि 'सांसारिक अपमान और बदनामीकी कुछ भी परवा न करके भगवान्‌की सेवा करनी चाहिये।'

देखिये, श्रीभरतजी क्या कहते हैं—

जानहिं राम कुटिल करि मोहीं। लोग कहैं गुरुसाहिब द्रोही॥
सीताराम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़ै अनुग्रह तोरें॥

श्रीसुमित्राजी

जिस समय श्रीलक्ष्मणजी भगवान् रामजीकी सेवामें वन-गमनकी आज्ञा लेनेके लिये माता सुमित्राजीके पास गये, उस समय उन्होंने कैसे सारगर्भित और शिक्षा-पूर्ण वचनोंद्वारा आज्ञा दी, पहले उसीका अवलोकन करें—

तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥
अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइ दिवस जहँ भानु प्रकासू॥
जौं पै सीय राम बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाहीं॥
गुरु पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहि सकल प्रानकी नाईं॥
राम प्रान प्रिय जीवन जीके। स्वारथरहित सखा सबहीके॥
पूजनीय प्रिय परम जहाँते। सब मानिअहिं रामके नाते॥
अस जिय जानि संग बन जाहू। लेहु तात जग जीवन लाहू॥

भूरि भाग भाजन भयउँ, मोहि समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरे मन छाँड़ि छल, कीन्ह रामपद ठाउँ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पुत्रवती जुवती जग सोई। रघुपति भगत जासु सुत होई॥
नतरु बाँझ भलि बादि बियानी। रामबिमुख सुततें हित हानी॥
तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं। दूसर हेतु तात कछु नाहीं॥
सकल सुकृत कर बड़फल एहू। राम सीय पद सहज सनेहू॥
राग रोष इरिषा मद मोहू। जनि सपनेहु इनके बस होहू॥
सकल प्रकार बिकार बिहाई। मन क्रम बचन करेहु सेवकाई॥
तुम्ह कहँ बन सब भाँति सुपासू। सँग पितु मातु राम सिय जासू॥
जेहिं न राम बन लहहिँ कलेसू। सुत सोइ करेहु इहै उपदेसू॥

उपदेस यह जेहि जात तुम्हरे राम सिय सुख पावहीं।
पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं॥
तुलसी प्रभुहिं सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई।
रति होउ अबिरल अमल सिय-रघुबीर पद नित नित नई॥

श्रीसुमित्राजीने लखनलालको उपदेश दिया कि हे तात! श्रीजानकीजी ही तुम्हारी माता हैं और सब प्रकारसे स्नेह रखनेवाले श्रीरामजी ही तुम्हारे पिता हैं। जहाँ श्रीरामजीका निवास हो, वहीं तुम्हारे लिये अयोध्या है, क्योंकि जहाँ सूर्यका प्रकाश होता है, वहीं दिन माना जाता है। अतएव यदि श्रीसीताराम वनको जा रहे हैं तो अयोध्यामें तुम्हारा कोई प्रयोजन नहीं है। यद्यपि गुरु, पिता, माता, भाई, देवता और स्वामी इन सबको प्राणकी तरह समझकर सेवा करनी चाहिये, परन्तु श्रीरामजी समस्त जीवोंके जीव और सबके प्राणोंके प्राण हैं। जीवमात्रपर उनकी अहैतुकी कृपा रहती है। वे सभीके रक्षक और परम हितैषी हैं। अतः संसारके सभी परम पूज्य तथा प्रिय-जनोंको श्रीरामजीके नाते ही मानना उचित है। हे तात! हृदयमें ऐसा ही निश्चय करके श्रीरघुनाथजीकी सेवामें वनको अवश्य जाओ और अपना जीवन सफल करो। तुम्हारे हृदयमें श्रीरामपदारविन्दकी जो निष्कपट भक्ति उत्पन्न हो गयी है, इसके लिये मैं तुम्हारी बलैया लेती हूँ। मेरे साथ-साथ तुम बड़भागी बन रहे हो। इस जगत्‌में वही 'जननी पुत्रवती' है, जिसका पुत्र राम-भक्त हो। नहीं तो उसका वन्ध्या रहना ही अच्छा है, क्योंकि 'राम-बिमुख-सुत' पैदा होनेके कारण उसका प्रसव करना व्यर्थ हो जाता है। 'राम-बिमुख-सुत' से सदैव अपने हितकी हानि होती है। (यहाँ 'बादि बियानी' से पशु होनेकी सूचना मिलती है क्योंकि बियाना शब्द पशुओंके लिये ही कहा जाता है। परन्तु पशु भी तो कामके होते हैं। अतएव राम-बिमुख-सुत 'बादि' अर्थात् निरर्थक पशुके समान है) हे तात! तुम्हारे ही भाग्यसे श्रीरामजी वनको जा रहे हैं इसमें अन्य कोई कारण नहीं है (क्योंकि तुम वहाँ अकेले ही सेवामें रहकर पूरी-पूरी सेवा कर सकोगे और तभी तुम्हारा 'शेष' नाम चरितार्थ होगा तथा भगवान् पृथ्वीका भार उतारकर तुम्हारा ही बोझ हलका करेंगे)। जितने भी पुण्यकार्य हैं उनका सबसे सुन्दर फल श्रीसीता-रामजीके चरणोंका स्वाभाविक स्नेह ही है। वहाँ तुम राग, रोष, डाह, अहङ्कार, मोह आदि समस्त विकारों-को सभी अवस्थाओंमें त्याग करके मनसा, वाचा और कर्मणा श्रीरामजीकी सेवामें लीन रहना। तुमको तो उस वनमें सब प्रकारका सुपास ही रहेगा, क्योंकि तुम्हारे माता-पिता श्रीसीतारामजी सदा तुम्हारे साथ रहेंगे। हे पुत्र! श्रीरामजीको तुम्हारी जिस सेवासे सुख मिल सके, जिस प्रकार उनको कोई क्लेश न हो, वही करना। हमारा यही उपदेश है। ऐसी सेवा करना जिससे श्रीसीतारामजी सुखी रहकर श्री-अवधके पिता, माता, प्रिय, परिवार आदिके सुखको कभी ध्यानमें भी न लावें। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि माता सुमित्राने श्रीलखनलाल प्रभुको ऐसी शिक्षा देकर आज्ञा और आशीर्वाद दिया कि 'जाओ, श्रीरामजीके चरणोंमें तुम्हारा नित्य नवीन, निर्मल और अचल प्रेम हो।'

धन्य, भगवान् जिसपर कृपा करें, उसको सुमित्रा-सरीखी माता दें। अधिकतर संसारमें यही देखा जाता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है कि संयोगवश किसीके पुत्रको वैराग्य उत्पन्न होता है—भगवद्भजनकी चेष्टाएँ होती हैं, तो माता उस पुत्रका पैर पकड़कर पीछेको ही खींचती है। स्पष्टरूप-से रोकती है, रोती-बिलबिलाती है, दूसरोंसे उसको संसारी शिक्षा देनेके लिये कहती है, यहाँतक कि साधु-महात्माओंके पास भी जाकर दुआ-विभूति माँगती है कि 'हमारा लड़का विरक्त न हो जाय।' आजकलकी माताएँ स्वार्थवश अपने पुत्रोंको उन्हीं प्रपञ्चोंकी शिक्षाएँ देती हैं, जिनसे सदैव नरककी यात्रा करनी पड़ती है—

जातें नरक निकाय निरंतर सो ते तोंहि सिखायो।
(विनय)

उनकी दृष्टिमें वही लड़का लायक होता है जो अनीति और अधर्मद्वारा पराये धनको उनके पास पहुँचाता है। ऐसी माताओंको श्रीसुमित्राजीसे शिक्षा लेनी चाहिये, जिन्होंने कहा था कि 'वह माता पुत्रवती ही नहीं है, जिसका पुत्र भगवद्भक्त न हो। उसको वन्ध्या रहना ही अच्छा है।' श्रीसुमित्राजीने ऐसा कथन ही नहीं किया था, बल्कि उन्होंने वैसा कार्य करके भी दिखा दिया था। वह सामने ही देख रही थीं कि एक माता (कैकेयी) अपने पुत्र (भरत) को दूसरेका हक छीनकर जबरदस्ती राज्य दिला रही है, परन्तु फिर भी उनकी निष्ठामें किसी तरहका अन्तर नहीं आया और उन्होंने अपने प्राणप्रिय पुत्र लखनलालको घोर वनवासकी सेवामें भेंट चढ़ा ही दिया! अपितु आह्लादके साथ यह भी कहा—

भूरि भागभाजन भयउँ, मोहिं समेत बलि जाउँ।
जौं तुम्हरे मन छाँड़ि छल, कीन्ह रामपद ठाउँ॥

इतना ही नहीं, और भी देखिये। लङ्काके युद्धमें श्रीलखनलालको शक्ति-बाण लगा था, उसकी ओषधि-को धवलागिरिके समेत लेकर श्रीहनुमान्‌जी उड़े जा रहे थे, परन्तु अयोध्या आते-आते श्रीभरतजीने उनको बिना फरका बाण मारकर नीचे गिरा दिया। उस समय श्रीमारुतिजीद्वारा श्रीसुमित्राजीने जब यह सुना कि 'लक्ष्मणजी घायल पड़े हैं' तो उन्होंने अपने दूसरे पुत्र श्रीशत्रुघ्नजीको भी आज्ञा दी कि 'हे तात! तुम भी हनुमान्‌जीके साथ श्रीरामजीकी सेवामें चले जाओ। यद्यपि श्रीरामजी किसीके मानके नहीं हैं, तथापि ऐसे कुअवसरमें बन्धु-विहीन रहें, यह मुझसे सहा नहीं जाता!' वाह री माता, तेरे बोध और भावभक्तिको कोटिशत प्रणाम है! भला भगवान्‌की असीम दया जिस बड़भागिनी मातापर हो उसके आदर्श विचारों-को कहना ही क्या है?

श्रीरामगीतावली—लङ्काकाण्डके १३वें पदको देखिये—

सुनि रन घायल लषन परे हैं।
स्वामिकाज संग्राम सुभटसों लोहे ललकारि लरे हैं॥
सुवन-सोक, संतोष सुमित्रहि रघुपति-भगति बरे हैं।
छिन छिन गात सुखात, छिनहि छिन हुलसत होत हरे हैं॥
कपिसों कहति सुभाय अंबके अंबक अंबु भरे हैं।
रघुनंदन बिन बंधु कुअवसर, जद्यपि धनु दुसरे हैं॥
'तात! जाहु कपि सँग,' रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।
प्रमुदित पुलकि पैंत पूरे जनु बिधिबस सुढर ढरे हैं॥
अंब-अनुजगति लखि पवनज-भरतादि गलानि गरे हैं।
तुलसी सब समुझाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं॥

अपने एक बेटेको काम आया सुनकर दूसरेको भी भेंट चढ़ानेके लिये तैयार हो जाना श्रीसुमित्रा-सरीखी विवेकशीला माताका ही काम था। उस अम्बाके हृदयमें यह दृढ़ निश्चय था कि 'पुत्र वही है जो भगवान्‌के अर्थ लग जाय और पुत्रवती स्त्री वही है जो भगवद्भक्त पुत्र पैदा करे। अन्यथा 'राम-विमुख-सुत' से कोई लाभ नहीं होता, बल्कि उलटे हितकी हानि होती है।' अस्तु।

जगत्‌की सम्पूर्ण स्त्रियोंको श्रीसुमित्राजीके सिद्धान्त-को सामने रखते हुए पुत्र-प्रसवकी अभिलाषा करनी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चाहिये। जो माता लड़कपनसे ही अपने बच्चेमें भगवद्भक्तिका संस्कार उत्पन्न करके उसको भगवद्भक्त बना देगी, वही 'पुत्रवती' कहलानेका सौभाग्य प्राप्त करेगी। संसारके समस्त पुत्रोंका भी यही कर्तव्य है कि वे अपनी-अपनी माताओंको पुत्रवती स्त्रियोंकी गणनामें परिगणित करानेके लिये भगवद्भक्त बनें। नहीं तो उनके लिये भी विनयपत्रिकाका यह पद लागू होगा—

तुलसिदास हरिनाम सुधा तजि
सठ हठि पियत बिषय बिष माँगी।
सूकर स्वान सृगाल सरिस जड़
जनमत जगत जननि दुख लागी॥

माताओंमें श्रीसुमित्रामाताजीके चरित्रपर दृष्टिपात करनेसे मुँहसे बरबस निकल पड़ता है कि श्रीसुमित्रा-माताजी धन्य हैं, धन्य हैं, धन्य हैं!

सियावर रामचन्द्रजीकी जय!

महात्मा सुन्दरदासकी अनन्यता

(लेखक—पं० श्रीभुवनेश्वरनाथजी मिश्र 'माधव' एम० ए०)

दार्शनिक सत्यकी, संत शिवकी और प्रेमी सुन्दरकी उपासना करता है। दार्शनिक, संत और प्रेमी अपनी-अपनी साधनाकी अनन्यताद्वारा परमात्माकी अनुभूति तथा प्रभुके दर्शनकी ओर ही बढ़ते हैं। प्रत्येकके हृदयमें प्यास तो है हरिके साक्षात्कारकी ही। उसी हरिको दार्शनिक परम सत्य मानकर परात्पर ब्रह्म परमात्मा कहता है; उसी हरिको संत चराचरका एकमात्र गति, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण और सुहृद् मानकर अनन्त देवेश जगन्निवास जगदाधार कहकर पुकारता है और उसी हरिको प्रेमी परम प्रियतम, हृदयवल्लभ, प्राणधन, जीवनसर्वस्व मान-कर 'मेरे प्यारे' के नामसे पुकारता है। दार्शनिक प्रभुकी सर्वव्यापी विराट् सत्ताकी अनुभूतिमें अपने भीतर एक दिव्य ज्ञानका प्रकाश पाकर कह उठता है—'अब हम अमर भये न मरेंगे'। संत पग-पगपर प्रभुकी अपार अहैतुकी दीनवत्सलताका दर्शनकर रोम-रोमसे उसी दयामय हरिके चरणोंमें प्रणिपात करके आर्त्तभावसे पूछता है—'जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे?' प्रेमी अणु-अणुमें बिखरी हुई, इठलाती हुई, छलकती हुई अपने प्राणप्यारे-की परमप्रिय माधुरीका दर्शनकर उस रसमें सराबोर होकर, प्यारेके अधरोंका अमृत पीकर, दिव्य उन्मादकी अचेतन दशामें प्राणोंकी झंकारमें गा उठता है—'बसो मेरे नैननमें नंदलाल'!

इस प्रकार दार्शनिककी उच्चतम चिन्तना, संतकी उच्चतम साधना और प्रेमीकी उच्चतम संवेदना एक साथ ही हरिके चरणोंमें जाकर निर्वाण प्राप्त करती है क्योंकि सभी-का परम लक्ष्य तो वही 'एक' है; सारी सृष्टि, समस्त चराचर, कोटि कोटि ब्रह्माण्डकी भूख-प्यास एकमात्र प्रभुके प्रसादके लिये ही है। सभी हरिचरणोंकी छायाके लिये तड़प रहे हैं। अनादि कालसे आत्माकी एक लालसा कृष्ण प्रभुसे मिलनेकी ही है और भिन्न-भिन्न मार्गसे, अबेर-सबेर हम सभी पहुँचेंगे हरिमें ही। हरिके सिवा कोई गति है ही नहीं। जीवका शिवत्व हरिको पाये बिना संभव नहीं। बंधनोंमें प्राण घुट रहे हैं इसीलिये तो हम सभी ज्ञात-अज्ञात रूपसे हरिकी ओर जानेके लिये ही बाध्य हो रहे हैं। बाध्य इसलिये कि इस पथमें आये बिना कहीं एक क्षणकी शान्ति मिलती ही नहीं, इसके सिवा कोई गति ही नहीं और—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

इसको जानकर ही हम मृत्युको लाँघ जाते हैं, परम पद-प्राप्तिके लिये दूसरा मार्ग है ही नहीं।

दार्शनिक, संत और प्रेमी आगे जाकर एक ही हो जाते हैं। प्रत्येक दार्शनिकमें संत और प्रेमी, प्रत्येक संतमें दार्शनिक और प्रेमी और प्रत्येक प्रेमीमें दार्शनिक और संत छिपा रहता है। तीनोंकी प्रणाली भिन्न अवश्य है, अनुभूति भी भिन्न-भिन्न प्रकारकी है, रसका आस्वादन भी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अपने-अपने ढंगसे होता है पर जहाँ दर्शन अथवा मिलन है वहाँ तो मूल लक्ष्य एक होनेके कारण एक साथ ही दार्शनिक, संत और प्रेमीकी साध पूरी हो जाती है। जहाँ 'ईशावास्यमिदꣳसर्वम्'की दिव्य अनुभूति है वहीं 'वासुदेवः सर्वमिति' की भी—और जहाँ यह अनुभूति है वहाँ दार्शनिक, संत और प्रेमी घुले-मिले हैं।

कोरे बौद्धिक व्यायामको भारतने कभी 'दर्शन' के रूपमें स्वीकार नहीं किया। केवल विचारके द्वारा हम जी ही नहीं सकते। मनुष्य केवल मस्तिष्क नहीं है, प्रभुने उसे हृदय भी दिया है। पूर्ण मनुष्य तो विचार और अनुभूति को मिलाकर ही है। भारतीय दर्शनने इसी लिये हृदयका बहिष्कार नहीं किया। हमारे उपनिषद् केवल 'नेति-नेति' पर जाकर रुक नहीं गये अपितु आगे बढ़कर हृदयको रसमें सराबोर कर देनेवाला मनोहर मन्त्र "रसो वै सः रसो वै सः" भी सुनाया और इसे सुनकर हमारी समस्त आत्मा, रोम-रोम प्रभुके रसमें डूब गये और उस रसानुभूतिमें हम अपने भीतर साक्षात् प्रभुके दिव्य आलिङ्गनका मधु पीकर गा उठे—

तदेतत्प्रेयः पुत्रात्प्रेयो वित्तात्प्रेयोऽन्यस्मात्सर्वस्मादन्तरतरं यदयमात्मा। (बृ० उ० । १ । ४ । ८)

सबको हटाकर, सारे स्तरोंको बेधकर मैं अपने भीतर आनन्दका जो लहराता हुआ अपार पारावार देख रहा हूँ, इस उमड़ते हुए अनन्त प्रेमसमुद्रमें जो मैं डुबकी लगा रहा हूँ, माधुर्यकी इस अजस्र अविरल महावृष्टिमें नहा रहा हूँ यही हमारे परम प्रियतमकी प्रीति है, हम उसके हृदयके वासी हैं। अब हम एक क्षणके लिये प्रेम, आनन्द और सौन्दर्यके इस पारावारको छोड़ नहीं सकते; अब छोड़कर जाना ही कहाँ है? जबतक नहीं देखा था, जबतक प्राणोंको इसकी रसानुभूति नहीं हुई थी तभीतक संसारके भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें सुख ढूँढ़ रहा था। परन्तु वहाँ सुख कैसे मिलता? सारा सुख तो केन्द्रीभूत होकर यहाँ लहरा रहा है। यही वह प्रिय है जिसे जन्म-जन्मान्तरोंसे हम खोज रहे थे, जिसे पानेके लिये वन-पर्वत, गिरि-गह्वर छानते फिरे। हमारा दिलवर तो हमारे भीतर ही छिपा था—वही तो हमारी 'आत्मा' है—वह पुत्रसे प्रिय है, धनसे प्रिय है, अन्य सबसे अत्यन्त ही भीतर है, वह हमारे प्राणोंका प्राण, हृदयका सर्वेश्वर हमारा सर्वस्व है, उसके बिना हम एक क्षण भी प्राण कैसे धारण कर सकते हैं?

आत्मदर्शनकी अनुभूतिमूलक यह मधुर प्रणाली भारतीय जीवनकी एक महान् विशेषता है। इस विशेषताके कारण ही भारतका अस्तित्व है, इसे खोकर वह सब कुछ खो देगा। कपिल, कणाद, गोतमसे लेकर आजतककी विशुद्ध भारतीय चिन्तन-धारामें एक अविच्छिन्नता रही है और वह है सर्वत्र हरिदर्शनकी भूख-प्यास। उपनिषदोंने बहुत पहले ही डंकेकी चोट यह कहा था कि अन्तमें हमें वहीं 'एक' में जाकर लय हो जाना पड़ेगा—वहाँ हम अपना नाम और रूप खोकर तन्मय, तल्लीन, तदाकार हो जायँगे। यह प्राप्ति ही जीवनका एकमात्र परम लक्ष्य है—

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे-
ऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।
(मुण्ड० उ० ३। २। २)

जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नामरूपको छोड़कर समुद्रमें मिलकर अस्त हो जाती हैं इसी प्रकार नामरूपसे विमुक्त होकर विद्वान् परसे पर दिव्य पुरुषको प्राप्त करता है।

श्रीमद्भागवतमें इसी बातको दूसरे ढंगसे कहा है—

ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मानमतस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥
(११। १२। १२)

समाधिमें स्थित होकर मुनिजन तथा समुद्रमें मिल जानेपर नदियाँ जैसे अपने नाम और रूपको गँवा देती हैं उसी प्रकार अतिशय आसक्तिवश मुझमें ही निरन्तर मन लगे रहनेके कारण उनको (भक्तोंको) अपने शरीरादिकी कोई भी सुध नहीं रहती।

ऐसे ही आत्मदर्शी हरिचरणानुरागी संतोंमें महात्मा सुन्दरदासजीका एक विशिष्ट स्थान है। ज्ञानकी चरम अवस्थामें पहुँचकर संतका जीवन हरिमय हो जाता है, उसका खाना-पीना, उठना-बैठना, सोना-जागना सब हरिके लिये, हरिके पूजा-स्वरूप होता है और उसमें प्रेरणा का अमृत भी हरिके द्वारा ही अहर्निश प्राप्त होता रहता है। संतका मुख सदा हरिकी ओर ही होता है और वह

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उस अपरूप रूपको निरख-निरखकर अलमस्त डोलता है, जहाँ आँखें गयीं वहीं हरि, जहाँ हाथ गया वहीं हरिका स्पर्श, जहाँ पैर पहुँचे वहीं हरिका मन्दिर। संत तो सदैव, चाहे जहाँ रहे, हरिके मन्दिरमें, हरिकी सेवामें ही रहता है—

बैठत रामहि ऊठत रामहि,
बोलत रामहि राम रह्यो है।
जीमत रामहि पीवत रामहि,
धामहिं रामहि राम गह्यो है॥
जागत रामहि सांवत रामहि,
जोवत रामहि राम लह्यो है।
देतहु रामहि लेतहु रामहि
'सुन्दर' रामहि राम रह्यो है॥

महात्मा सुन्दरदासजी दादूदयालके प्रमुख शिष्योंमें थे। इनके जन्मका वृत्तान्त बड़ा ही कुतूहलपूर्ण है। इन्हें अपने गुरुकी आज्ञासे सतीके गर्भमें रहना पड़ा। कहानी यों है कि दादूके एक प्रेमी शिष्य जग्गाजी आमेर नगरमें अपने वस्त्र बुननेके लिये सूत माँग रहे थे और अपनी उमङ्गमें यह हाँक लगा रहे थे—'दे माई सूत, ले माई पूत'। एक काँरी कन्याने सूत लाकर कहा 'लो बाबाजी सूत', जग्गाजीने कहा 'लो माई पूत'। गुरुको जब यह हाल मालूम हुआ तो वे चिन्तामें पड़े क्योंकि उस कन्याके भाग्य-में बालक लिखा नहीं था। अन्तमें जग्गाजीको ही उसके गर्भमें जाकर वास लेना पड़ा और दिन पूरे होनेपर उस कन्याके गर्भसे चैत सुदी नवमी १६५३ में उन्होंने जन्म लिया।

संवत् १६५९ में जब सुन्दरदासकी अवस्था छः वर्षकी थी, दादूजी इनके घर पधारे। पिताने बालकको उनके चरणोंमें डाल दिया। दादूदयाल उनके सिरपर हाथ फेरते हुए बोले—'यह बालक बड़ा ही सुन्दर है।' 'सुन्दर' नाम आपका तभीसे पड़ा। गुरुके दर्शनमात्रसे सुन्दरदासका अन्तर्ज्ञान चमक उठा। अपने श्रीगुरुदेव दादूदयालकी महिमा सुन्दरदासने बड़े ही ओजपूर्ण प्रभावशाली शब्दोंमें गायी है—

भवजलमें बहि जात हुते जिन
काढ़ि लियो अपनो करि आदू।
और सँदेह मिटाय दिये सब,
कानन टेर सुनायके नादू॥
पूरन ब्रह्म प्रकास कियो पुनि,
छूटि गयो यह बाद-बिबादू।
ऐसी कृपा जू करी हम ऊपर,
सुन्दरके उर हैं गुरु दादू॥

संसार-सागरमें मैं बहा जा रहा था। श्रीगुरुदेवने दया कर मुझे अपनाया और हाथ पकड़कर उससे काढ़ लिया। कानोंमें 'शब्द' सुनाकर सारे सन्देह मिटा दिये। शब्दकी टेर सुनते ही अन्तस्में पूर्ण ब्रह्मका दिव्य तेज जगमगा उठा, सारे वाद-विवाद छिन्न-भिन्न हो गये, जैसे सूर्यके उदयसे अन्धकार छिन्न-भिन्न हो जाता है। श्रीगुरुदेवने मुझपर ऐसी अपार कृपा की है और वे श्रीगुरुदेव दादूदयाल मेरे हृदयमें विराज रहे हैं।

ऐसे कृपालु गुरुदेवका गुण गाते-गाते सुन्दरदास थके नहीं। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि गुरुकी कृपाके बिना ज्ञान, ध्यान, भक्ति, प्रेम तथा मुक्ति असम्भव है। इस पिण्डमें गुरुदेवने ही प्राण डाला है।

गुरु बिन ज्ञान नहिं, गुरु बिन ध्यान नहिं,
गुरु बिन आतम बिचार न लहतु है।
गुरु बिन प्रेम नहिं, गुरु बिन नेम नहिं,
गुरु बिन सीलहु सन्तोष न गहतु है॥
गुरु बिन प्यास नहीं, बुद्धिको प्रकास नहिं,
भ्रमहूको नास नहिं, संसेई रहतु है।
गुरु बिन बाट नहिं, कौड़ी बिन हाट नहिं,
सुन्दर प्रगट लोक, बेद यों कहतु है॥

साधन-पथमें अविराम चलते रहनेके लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि हम जीवनके सत्य स्वरूपको पहचानें और संसारके जो नाते हैं उसके मूलमें स्वार्थका जो सम्बन्ध है उसे परखें। ऋषियोंने भी डंकेकी चोट हमें बतलाया है कि सबके लिये सब प्यारे नहीं होते, आत्माके लिये ही सब प्यारे होते हैं। जबतक इस कायामें चेतनशक्ति है तभी-तक भाई-बन्धु, हित-नातका प्यार-दुलार है, इसके लीन होते ही यह देह अपने प्रिय स्वजनोंको भी घिनौनी हो जाती है। पिंजरा रह जाता है पंछी उड़ जाता है। इस पंछी-के लिये ही लोग हमें प्यार करते हैं, पहचानते हैं, इस-लिये सब कुछका मोह छोड़कर हमें इस भीतरके पंछीसे नाता जोड़ना चाहिये क्योंकि एकमात्र वही 'अपना' है। पंछीके उड़ते ही—

मातु तौ पुकार छाती कूटि कूटि रोवति है,
बाप हू कहत मेरो नन्दन कहाँ गयो।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मैया हू कहत, मेरी बाँह आजु दूरि भई,
बहिन कहति मेरो बीर दुःख दे गयो॥
कामिनी कहति मेरो सीस सिरताज कहाँ,
उन्हें तत्काल रोइ माँग सराया लयो।
सुन्दर कहत कोऊ ताहि नहिं जानि सकै,
बोलत हुतो सो यह छिनमें कहाँ गयो॥

पिंजड़ेमें जो पंछी चहचहा रहा था वह उड़कर कहाँ चला गया।

संसारके इस अस्थिर रूपको देखते हुए भी हम द्वार-द्वार जूठी पत्तलें चाटते फिरते हैं। आज इसके आगे हाथ फैलाते हैं कल उसके आगे। संसारमें न जाने कितनोंको अपना प्रभु, स्वामी, मालिक तथा अन्नदाता बनाते फिरते हैं। मालिकोंकी इस भीड़-भाड़में हमारा एकमात्र सच्चा 'मालिक' न जाने कहाँ भूल गया है। हम इन प्रभुओंकी ओर याचनाभरी दृष्टिसे देखते हैं, पेट खलाकर माँगते हैं, इनके सामने दीन-हीन-दरिद्र, असहाय, अनाथ, अनाश्रित .....न जाने क्या-क्या बनते हैं और इनकी ओर हसरत-भरी दृष्टिसे देखते रहते हैं। एक बार इनकी दृष्टि पड़ी कि हम अपनेको निहाल मान लेते हैं और अपने भागको सराहते हैं। परन्तु हाय, हमें एक क्षणके लिये भी यह होश नहीं आता कि ये मालिक भी जिस एक मालिकसे भीखकी याचना करते हैं उसीके सामने हम हाथ पसारें और संसारमें किसीके सामने भी दीन न बनें। दीन तो एक-मात्र प्रभुके सामने ही होना चाहिये, संसारके सामने कभी दीनता लानी ही नहीं—

होइ निचिन्त करै मत चिन्तहिं
चोंच दई सोइ चिन्त करैगो।
पाउँ पसारि परयो किन सोवत,
पेट दियो सोइ पेट भरैगो॥
जीव जिते जलके थलके पुनि,
पाहनमें पहुँचाय धरैगो।
भूखहि भूख पुकारत है नर,
सुन्दर तू कह भूख मरैगो॥

एकमात्र भगवान्‌का भरोसा रखते हुए पाँव पसारकर, संसारसे आँखें हटाकर निश्चिन्त सोना है। जहाँतक भगवान्‌के सिवा और किसीका आश्रय है वहाँतक रोना ही रोना है। मनुष्य एक क्षणके लिये यह सोचता नहीं कि जन्म तो भगवान्‌ने दिया है तो उन्हींको हमारी सभी चिन्ता भी है और हमारा सारा भार उनके ऊपर ही है। हम नाहक अपना भार औरोंपर डालते फिरते हैं। संसारमें कोई हमारा भार क्या उठा सकेगा, सब अपने ही भारमें दबे जा रहे हैं। आदि, मध्य और अन्तमें केवल आश्रय हरिका ही है, वह ढलेंगे ही।

भाजन आप गढ़े जितने,
भरिहैं भरिहैं भरिहैं भरिहैं जू।
गावत हैं जिनके गुणकूँ
ढरिहैं ढरिहैं ढरिहैं ढरिहैं जू॥
आदिहु अंतहु मध्य सदा
हरिहैं हरिहैं हरिहैं हरिहैं जू।
सुन्दरदास सहाय सही
करिहैं करिहैं करिहैं करिहैं जू॥

संत-महात्माओंने साधनामें अनन्यताकी स्थापनाके लिये सदा पतिव्रता स्त्रीका दृष्टान्त सामने रक्खा है। जैसे पतिव्रता स्त्री स्वप्नमें भी अपने पतिके सिवा किसीकी ओर नहीं निहारती उसी प्रकार साधक भी हरिके सिवा किसीकी ओर देखतातक नहीं; उसकी गति और मति एकमात्र प्राणपति हरि ही है। ज्ञान, ध्यान, जपयोग, पूजापाठ, तीर्थव्रत आदि एकमात्र पतिदेव ही हैं—

पतिही सूँ प्रेम होइ, पतिही सूँ नेम होइ,
पतिही सूँ छेम होइ पतिही सूँ रत है।
पतिहीं है जग्य-जोग, पतिही है रस भोग,
पतिही सूँ मिटै सोग, पतिहीको गत है॥
पतिही है ग्यान-ध्यान, पतिही है पुन्नदान
पतिही है तीर्थस्नान पतिहीको मत है।
पति बिनु पति नाहिं, पति बिनु गति नाहिं
सुन्दर सकल बिधि एक पतिव्रत है॥

प्राणोंकी भीषण ज्वाला एकमात्र पतिदेवके दर्शन-स्पर्शसे ही मिटेगी। नदीकी भूख तो समुद्रके लिये ही है, ताल-तलैयोंसे उसकी व्यथा कैसे मिटेगी, वह वहाँ क्यों विरमेगी? प्राणपति हरिको तजकर जो किसी औरको भजता है उसकी भक्ति भक्ति नहीं—उसकी निष्ठा निष्ठा नहीं। प्रेमकी गलीमें तो 'दो' की गुज़र ही नहीं है—

जो हरिको तजि आन उपासत सो मतिमंद फजीहत होई।
ज्यूँ अपने भरतारहिं छाड़ि भई बिभचारिणि कामिनि कोई॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सुन्दर ताहि न आदर-मान, फिरै बिमुखी अपनी पत खोई।
बूड़ि मरै किन कूप मँझार, कहा जग जीवत है सठ सोई॥

हृदयमें हरिके सिवा किसीको लावे ही नहीं, अनन्य भावसे एकमात्र प्रभुको ही भजे, उसी एकके चरणोंमें अपने हृदयकी भेंट चढ़ावे। सिर झुके तो उसीके सामने नहीं तो टूक-टूक हो जाय। जिन हाथोंसे माँगमें सिंदूर पड़ा है उन्हीं हाथोंमें हृदय सौंप दिया, उसीके चरणोंमें अपने आपको उत्सर्ग कर दिया वह चाहे तारे या मारे। उसकी समस्त क्रिया, सारे व्यापारमें ही एक अपार प्यार भरा है। और किसीका आश्रय लेना ही क्यों? अमृत पाकर फिर विषके लिये क्यों तरसना?

होइ अनन्य भजै भगवंतहि और कछू उरमें नहिं राखै।
देखि रु देव जहाँ लगि हैं, डरके तिन सूँ कहिं दीन न भाखै॥
लोकहु जग्य व्रतादि क्रिया तिनको तो नहीं सुपने अभिलाखै।
सुन्दर अमृत पान कियो, तब तो कहु कौन हलाहल चाखै॥

अपने पतिके अतिरिक्त और कहीं दृष्टि जाते ही पतिव्रताका धर्म भ्रष्ट हो जाता है। वह औरकी ओर निहारती ही नहीं। उसके हृदयकी एकमात्र साध है—

लालन मेरा लाड़िला रूप बहुत तुझ माहिं।
सुन्दर राखै नैनमें, पलक उघारै नाहिं॥

मेरे सुन्दर! आ जा, मैं तुझे अपनी आँखोंमें छिपा लूँ, मैं तुझे देखता रहूँ तू मुझे। न मैं औरको देखूँ न तुझे औरको देखने ही दूँ। पत्नी पतिके प्रेमपर एकाधिपत्य चाहती है, उसी प्रकार भक्त भी चाहता है कि प्रभुकी समग्र प्रीति हमें ही मिले और किसीको इसमें भाग मिले तो नहीं। प्रभु तो प्रेमका भिखारी है। प्रेमके एक कणके लिये वह तरसता रहता है और जहाँ हमारे हृदयमें उसके लिये टीस उठी, प्रेमकी लहर जगी कि वह हमारे भीतर आकर बन्दी हुआ। पर उसे बुलानेके लिये हममेंसे कितने तैयार हैं!

पूरणकाम सदा सुखधाम, निरंजन राम सिरज्जनहारो।
लोक होइ रह्यो सबको नित, कीटहि कुंजर देत अहारो॥
मेटत दुक्ख दरिद्रनिवारण, चिंत करै पुनि साँझ सबारो।
छाँड़ि प्रभू तजि आन उपासत, सुन्दर है तिनको मुख कारो॥

जो प्रभु पूर्णकाम है, सुखका आगार है वही नित्य-निरंजन हम सबको सिरजनेवाला है और वही हम सबका सेवक होकर कीटसे कुञ्जरतकको आहार पहुँचाता है। दुःखको नाशकर, दरिद्रका निवारणकर प्रातः-सायं हर समय हमारी सुध रखता है। ऐसे परम दयालु प्रभुको छोड़कर जो दूसरेकी उपासना करते हैं उनके जीवनको धिक्कार है।

एक संतके वचन हैं—

Fling yourself upon God's providence without making any reserve whatever—take no thought for the morrow,—sell all you have and give it to the poor,—only when the sacrifice is ruthless and reckless will the higher safety really arrive.

भगवान्‌की दयापर सर्वथा अपनेको छोड़ दो, उसके चरणोंमें अपना सब कुछ सौंप दो। कोई वस्तु रह न जाय। कलकी परवा न करो। जो कुछ तुम्हारे पास है दरिद्रनारायणोंमें बाँट दो। हमारा समर्पण जितना ही सर्वाङ्गीण और सङ्कोचहीन होता है उतनी ही अधिक अनुकम्पा हमपर प्रभुकी बरसती है।

ऐसा सर्वाङ्गीण, सङ्कोचहीन अनन्य समर्पण एक-मात्र पत्नीका पतिमें होता है और इसे ही सब सन्तोंने आदर्श माना है।

सुन्दर पतिव्रत राम सों, सदा रहै इकतार।
सुख देवै तो अति सुखी, दुख तो सुखी अपार॥

प्रभुमें हमारा पातिव्रत सदा-सदैव एकतार बना रहे। यदि वह हमें सुख दें तो सुखी हों और दुःख भी दें तो अपार सुखी हों—प्रियतमकी चपतमें जो प्यार है उसका रस बहुतोंने चखा होगा।

प्रीतम मेरा एक तूँ, सुन्दर और न कोइ।
गुप्त भया किस कारने, काहि न परगट होइ॥

तुम्हीं एकमात्र मेरे प्राणवल्लभ प्रियतम हो। तुम्हारे सिवा मेरा कोई है ही नहीं। तुम भी यों छिपे हुए हो, प्राणोंकी हाहाकार देखकर तरस नहीं खाते और अपनी एक झलक नहीं दिखलाते यह तुम्हारी कैसी निष्ठुरता है। प्यारेकी इस निष्ठुरतामें भी कितनी ममता है। उसे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

धूपछाँहका खेल बहुत ही प्रिय है और एक क्षण छिपकर दूसरे ही क्षण—

सुन्दर अन्दर पैसि करि, दिलमें गोता मारि।
तो दिलहीमें पाइये, साईं सिरजनहारि॥
सखुन हमारा मानिये, मत खोजे कहुँ दूर।
साईं सीने बीच है, सुन्दर सदा हजूर॥
सुन्दर दिलकी सेजपर, औरति है अरवाह।
इसको जाग्या चाहिये, साहिब बेपरवाह॥

भीतर पैठकर दिलके भीतर गोता मारनेपर दिलमें ही साईंके दर्शन होते हैं। वह तो हमारे भीतर ही प्राणोंमें विहर रहा है, बाहर खोजनेकी आवश्यकता नहीं। दिलकी सेजपर सुरत—जीवात्मा जगकर हरिके अधरोंका अमृत पीकर छकी हुई है। परम प्रेमकी यही दिव्य मनोहर क्रीड़ा है। मिलन-मन्दिरकी यही परम गोपनीय लीला है। इसे वाणीमें व्यक्त नहीं कर सकते क्योंकि यह मूकास्वादनवत् है, स्वसंवेद्य है, अनिर्वचनीय है!

पवित्र जीवनका रहस्य

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेम॥

—ऋग्वेद

उस मङ्गलमय प्रभुने अन्य सब प्राणियोंकी अपेक्षा हमें श्रेष्ठ बनाया है, हमें बुद्धि दी है, ज्ञान दिया है, शक्ति दी है, अनेकानेक साधन दिये हैं—साथ-ही-साथ उसने इन सारी विभूतियोंके सदुपयोगके लिये हमारा कर्तव्य भी निश्चित किया है। हमारे लिये यह परमावश्यक है कि हम उस कर्तव्यको जानें जो कि उस परम पिताने हमारे लिये निर्दिष्ट किया है। हमारे जीवनकी सफलताका सारा रहस्य उसीमें निहित है। हम अपने जीवनमें जिस हदतक भगवान्‌की आज्ञाओंका पालन करते हैं, उसी हदतक हमारा जीवन सफल कहा जा सकता है। हम सब उस परम पिताकी प्यारी सन्तान हैं अतः हमारे सारे काम, हमारी सारी चिन्ताएँ, हमारी सारी शक्तियाँ—उसी प्रभुकी सेवा, आराधना तथा आज्ञाकारितामें व्यतीत होनी चाहिये। हमारे जीवनकी प्रत्येक चेष्टा उसी मङ्गलमय भगवान्‌की आज्ञानुसार हो।

प्रभुसेवाके कार्यको हमें अत्यन्त साधारण अथवा सबसे कम आवश्यक समझकर नहीं करना चाहिये प्रत्युत उसे उसी प्रकार सम्पन्न करना चाहिये जैसी कि प्रभुकी आज्ञा है। हमें उसे पूर्ण करनेमें अपनी सारी शक्ति, बुद्धि, चिन्ता तथा मनकी एकाग्रता लगा देनी चाहिये। अपने सारे उत्साह, सम्पूर्ण लगन, सारी इच्छाशक्तिको उसीपर न्योछावर कर देना चाहिये। उसके लिये भारी-से-भारी परिश्रम करने तथा अधिक-से-अधिक समय देनेमें हमें कुण्ठित न होना चाहिये। हमें उसके लिये अच्छे-से-अच्छे पथप्रदर्शक ढूँढ़ निकालने चाहिये। हमारा धर्म, सद्गुरु तथा धैर्य हमें निश्चित मार्गपर पहुँचानेमें सबसे अधिक सहायक होंगे।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ध्यानपूर्वक विचार करनेपर पता चलेगा कि हमारे जीवनका कितना अधिक समय यों ही व्यर्थ चला जाता है। हमारी शिक्षाकी सारहीनता, भ्रमपूर्ण सिद्धान्त, अवाञ्छनीय मित्रमण्डली, बुरे आदर्श तथा अनुभवहीनताद्वारा हमारा न जाने कितना अनिष्ट होता रहता है! हम न जाने कहाँसे कहाँ जा पहुँचते हैं। हमारे जीवनके न जाने कितने अमूल्य तथा आवश्यक भाग—खाने, पीने, सोने आदि आवश्यक कहे जानेवाले कार्यों तथा अनावश्यक व्यर्थताओं, सांसारिक प्रपञ्चों तथा अति साधारण बातों; भाषा, विज्ञान, कला, व्यापार आदिकी शिक्षा-दीक्षा आदिमें व्यय हो जाया करते हैं जिससे हमारे पास भगवत्-स्मरण-के लिये समय ही नहीं रह जाता है! और यदि रह भी जाता है तो हम पूर्णरूपेण उसका सदुपयोग भी करना नहीं जानते! तो भी वह परमपिता इतना दयालु है कि हमारे चन्द मिनटोंका—यदि वे पूर्णरूपेण उसके निमित्त लगाये जाते हैं—हमें आशातीत फल देकर आनन्दित कर देता है।

अतः जब हम जान गये कि प्रभुसेवा बिना जीवनका कोई मूल्य नहीं तो हमारा यह कर्तव्य हो जाता है कि हम उसी प्रभुकी इच्छानुकूल अपना जीवनक्रम बना लें। उसके लिये हमें तीन बातें करनी पड़ेंगी और वे तीन बातें इस प्रकार हैं—

१-हम यदि अपना सारा समय ईश्वराराधनामें न दे सकें तो कम-से-कम इतना तो अवश्य हीं करें कि हो अधिक-से-अधिक जितना समय प्रार्थनाके हेतु दे सकेंगे दें देवें।

२-अपनेको प्रभुका नम्र सेवक बना लें। अतः अपने कार्य उसीकी आज्ञानुकूल करें तथा उसीके लिये करें। जिस प्रकार कि—यदि अपने शरीरको भोजन दें तो वह इसलिये नहीं कि वह हमारा शरीर है वरं केवल इसलिये कि वह प्रभुसेवाका एक उत्तम साधन है। उसे हृष्ट-पुष्ट रखकर हम और भी अधिक उत्साहसे अधिक समयतक प्रभुसेवा करनेमें समर्थ हो सकेंगे। हमारे सारे कार्य ईश्वरार्पण हों तथा उसीके निमित्त हों। हमारे सारे विचार पवित्र तथा प्रभुकी आज्ञानुकूल हों।

३-प्रभुको हम सर्वव्यापी कहते हैं किन्तु हमारे दैनिक जीवनकी ओर दृष्टिपात करनेसे पता चलेगा कि हम उसे सर्वव्यापी कहतेभर ही हैं—मानते नहीं। यदि हम उसे सर्वव्यापी मानते होते तो यह पृथ्वीतल आज स्वर्ग बन गया होता। मनुष्य जब कोई पाप करता है तो उसे छिपाकर करता है। पहले देख लेता है कि कोई देख तो नहीं रहा है। सूने तथा एकान्तमें अन्धकारमें जब उसे विश्वास हो जाता है कि उसके पापको देखनेवाला कोई नहीं है तभी वह पाप करनेको उद्यत होता है। यदि हम यह मानते होते कि प्रभु सर्वव्यापी है, हमारे जीवनके क्षण-क्षणकी छोटे-से-छोटे कामकी देखभाल करनेवाला है तो हमारी कभी भी हिम्मत न होती कि हम कोई बुरा, अनुचित, निन्दनीय अथवा घृणास्पद कार्य करें। हमारा जीवन पापोंसे सर्वथा शून्य हो गया होता। यह दुःख, दैन्य, रोग, बीमारी तथा भयङ्कर पाप जो आज दिनदहाड़े आम सड़कोंतक पर देखनेमें आते हैं सुननेतकको न मिलते। सर्वत्र शान्ति और आनन्दकी ही सरिता प्रवाहित होती दीख पड़ती।

पवित्र जीवनके लिये आवश्यक होगा कि जीवनके प्रत्येक कार्यको करते समय हम समझते रहें कि हम अपने सारे कार्य प्रभुके सम्मुख ही कर रहे हैं। वह हमारे प्रत्येक कार्यका साक्षी है। हमारा न्यायाधीश सदैव ही हमारे नेत्रोंके सम्मुख विराजमान है। हम उससे छिपाकर कोई भी कार्यकी कौन कहे—विचारतक नहीं कर सकते। वह घटघटव्यापी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हमारे सब कार्य तथा विचार देख रहा है। पहाड़की गहन-से-गहन गुफा अथवा पृथ्वीके गुप्त-से-गुप्त स्थानमें भी हम उससे छिपाकर कोई भी कार्य नहीं कर सकते।

यदि हम उपर्युक्त तीनों बातें ध्यानमें रक्खेंगे तथा इनके अनुसार ही अपना जीवन व्यतीत करने लगेंगे तो हम देखेंगे कि हमारा जीवन प्रतिक्षण पवित्र होता जा रहा है और हमारे पवित्र जीवनके मार्गमें आनेवाली सारी बाधाएँ अपने-आप पलायन करती जा रही हैं। अब उनका जोर उतना नहीं रह गया है जितना पहले था। वे अब यद्यपि पहलेसे भी अधिक प्रयत्न करती हैं तो भी हमें पहलेकी भाँति विचलित नहीं कर पातीं। प्रभुकृपासे हमारा कल्याण होता जा रहा है।

अब हमें देखना है कि हम उपर्युक्त तीनों बातों-को कार्यरूपमें किस भाँति परिणत कर सकते हैं, उनके अनुसार किस प्रकार जीवनको साँचेमें ढालकर ऊर्ध्वमुखी कर सकते हैं तथा उनके अभ्याससे हमें धीरे-धीरे किस प्रकार कितनी सफलता मिलती चलती है एवं हमारा कितना लाभ होता जा रहा है।

× × × ×

पवित्र जीवनका सर्वप्रथम साधन—समयका सदुपयोग

जिसे अपने समयकी चिन्ता नहीं रहती उसे अपनी मित्रमण्डली और अपने कार्योंकी भी परवा नहीं रहती। समयकी लापरवाहीके कारण वह अपने जीवनके बहुमूल्य क्षण व्यर्थमें खोता रहता है तथा मित्रमण्डली और अपने कार्योंकी ओरसे लापरवाही उसे घसीटकर पतनके गहरे गर्तमें ले जाकर गिरा देती है। वह अपने आपको भूल जाता है। मित्रगण जिधर खींच ले जाते हैं वह उधर ही चल देता है। जो कुछ भी कार्य उसके मित्र लोग करते हैं वह भी उनमें सहयोग प्रदान करता है। वह अपने कार्योंके औचित्यपर क्षणभरके लिये भी विचार नहीं करता। उसके लिये इन कार्योंका परिणाम क्या होगा? उसकी मित्रमण्डली उसे सत्पथपर ले जा रही है अथवा पतनकी ओर?—इस बातको वह नहीं सोचता! किसीने मनुष्यसे कहा है—

जीवन तेरा क्षणभंगुर है—ज्यों वृक्ष निकट सरिता-तटके।
बादलकी लपझप छायासी, चपला ज्यों दर्शन दे सटके॥
'हा, यह जीवन व्यर्थ गया, नहिं सेवा, धर्म किया डटके!'
ले सोच मूर्ख! मरते दम तो—अरमान न यह दिलमें खटके!!

यह तो हम सभी जानते हैं कि यह जीवन क्षणभङ्गुर है, सपनेकी-सी माया है—थोड़े दिनका है पर इसका अर्थ यह थोड़े ही है कि इसे व्यर्थहीमें खो दिया जाय। प्रभुने हमें यह थोड़ा-सा समय दिया है—हमें इतनेसे ही सन्तोष कर लेना चाहिये। इतने थोड़े-से समयपर ही तो हमारा सारा दारमदार है। इतनेमें ही हमें अपने जीवनकी उपयोगिता, सार्थकता बता देनी है। हम जबसे समझने योग्य हुए (अर्थात् जिस क्षणसे हम यह जानने लगे कि भला क्या है और बुरा क्या है, उचित क्या है और अनुचित क्या है?) उसी क्षणसे मालिकके दरबारमें हमें अपने प्रत्येक घंटेके कार्यका हिसाब देना पड़ेगा। उसी क्षणसे हमें बताना पड़ेगा कि हमने अपने जीवनके कितने उपयोगी घंटे व्यर्थकी बातोंमें, सारहीन वादविवादोंमें खो दिये जिन्हें कि हम बड़ी अच्छी तरहसे ईश्वराराधनामें व्यतीत कर सकते थे।

हमें स्मरण रखना चाहिये कि हमें एक बहुत बड़े कार्यका सम्पादन करना है, बहुत-से शत्रुओंपर विजय प्राप्त करनी है, बहुत-सी बुराइयोंका मूलोच्छेद करना है, बहुत-सी मुसीबतें झेलनी हैं, बहुत-से कष्टोंपर विजयी होना है, बहुत-से आवश्यक कार्य पूरे करने हैं, बहुत-से सत्कार्य करने हैं, बहुत-से अनाथ बच्चोंको खिलाना है, बहुत-से दीनोंकी सेवा करनी है, बहुत-से मित्रोंकी सहायता करनी है—आदि-आदि न जाने कितने काम करने हैं—इसी थोड़े-से समयके भीतर—क्षणभङ्गुर जीवनहीमें।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हमें यह भूल जाना चाहिये कि हम अन्य कार्य करते हुए प्रभुकी सेवा नहीं कर सकते। माना कि तुम किसान हो। हल जोतकर अनाज पैदा करते हो। वह अनाज प्रभुके तमाम बच्चोंके भोजनके काम आता है—क्या यह प्रभुसेवा नहीं है? अतः किसी भी व्यक्तिको यह कहनेका अवसर नहीं रह जाता कि वह अपना कार्य करते हुए प्रभुसेवा नहीं कर सकता। तुम कोई भी कार्य करो यदि उसे सच्चे हृदयसे भरपूर परिश्रमसे करते हो, संसारके प्राणियोंका उससे यदि कुछ भी लाभ होता है तो वह प्रभुसेवाका कार्य है। केवल आराधना ही प्रभुसेवा नहीं है। यह व्यावहारिक कार्य भी उस महाप्रभुकी सेवाका एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है।

प्रभुने प्रत्येक मनुष्यके लिये यथेष्ट कार्य करनेको दिया है। वह वेदमें कहता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।

अर्थात् कार्य करते हुए ही सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करो। आलसी मत बनो। एक पिपीलिकातक आलसियोंकी भाँति हाथ-पर-हाथ रखकर नहीं बैठना चाहती—

मैं नन्हीं चींटीसे बोला, "क्यों यों करती है उद्योग,
पैर तले दब मर जायेगी, कर न पायगी इसका भोग।"
तिरस्कार करती वह बोली, "कौन देख आया भवितव्य?
जगमें आकर किया भला क्या जो न किया पूरा कर्तव्य?"

संसारमें आलस्यके लिये कोई स्थान नहीं है। जहाँ प्रभुने कार्यके लिये समय निर्दिष्ट किया है वहाँ आराधनाके लिये भी समयका व्यवधान किया है। जिसे थोड़ा काम करना है उसे चाहिये कि वह आत्म-निरीक्षणमें, आराधनामें अपना बाकी समय लगावे। जिसे बहुत अधिक कार्य करना हो उसे चाहिये कि वह अपना सारा कार्य प्रभुसेवार्थ, पवित्र उद्देश्यसे करता रहे, और जब कुछ समय मिले आराधना करने बैठ जावे।

जो हो, हमारे जीवनोंसे आलस्य जबतक दूर होगा—तबतक लम्पटता, कोमलता, नास्तिकता आदि पापोंसे हम सर्वथा पृथक् रह सकेंगे, फिर प्रलोभनोंके लिये समय ही नहीं रह जायगा। इसी-लिये जो मनुष्य हर समय काममें लगे रहते हैं उनपर विषयोंका प्रभाव बहुत कम होता है, उनपर कभी-कभी ही पापोंका आक्रमण हो पाता है। विशेष परिस्थितियोंमें पड़ जानेपर ही प्रलोभन उनपर विजय प्राप्त कर पाते हैं पर आलसी व्यक्ति सदैव ही उनका शिकार बना रहता है, उसके आलस्यका वे भरपूर लाभ उठाते हैं और उसे पराजित करनेमें वे अपनी सारी शक्ति लगा देते हैं। हतभागा विवश होकर उनके सम्मुख घुटने टेक देता है!

'आलसी दिमाग शैतानका घर' एक प्रसिद्ध कहावत है। वास्तवमें अकर्मण्य—आलसी व्यक्ति जीवित होते हुए भी मरेके समान है। वह अपना सारा जीवन खाने-पीने, मौज उड़ानेमें व्यतीत कर देता है। उसका जीवन बहुत-से पशुओंसे भी गया बीता रहता है। वह अपने जीवनमें कोई भी अच्छा काम नहीं करता है। वह जो कुछ करता है वह या तो सारहीन होता है अथवा शरारतसे भरा हुआ—मानवताको कलङ्कित करनेवाला! भर्तृहरिके शब्दोंमें—

येषां न विद्या न तपो न दानं
ज्ञानं न शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुवि भारभूता
मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति॥

जान-बूझकर कर्तव्यकी अवहेलना करनेवाले आलसी जीव तो इससे भी अधिक निन्दाके पात्र हैं। समय ऐसी अमूल्य वस्तु है कि जो एक बार हाथसे निकल जानेपर दुबारा हाथ नहीं आता। ऐसी अमूल्य वस्तु-का अपरिमित व्यय कितना हानिकारक हो सकता है। सोचकर आश्चर्यान्वित होना पड़ेगा। लाख प्रयत्न करके भी इस कमीको पूरा नहीं किया जा सकता। इस बहुमूल्य रत्नकी रक्षा तथा सदुपयोगके लिये हमें चाहिये कि हम निम्नाङ्कित नियमोंका पालन करें।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

समयके सदुपयोगके नियम

१—प्रातःकाल शय्या त्याग करते ही सबसे पहले तुम्हारा ध्यान जिस वस्तुपर जावे वह हो 'ईश्वरका स्मरण।' उस आनन्दकन्द भगवान्‌का स्मरण सबसे पहले करो, फिर सोचो कि उसकी सेवाके निमित्त तुम्हें आज क्या करना है? सारे दिन उस इच्छाको पूर्ण करते रहनेका प्रयत्न करो। रात्रिको जब सोनेके लिये शय्या ग्रहण करो तो उसीका स्मरण करते-करते नेत्र मूँदो। उस सच्चिदानन्दसे प्रार्थना करो वह तुम्हारी निद्राको शान्तिदायक और स्वास्थ्यवर्धक बनावे। तुम्हारी नींद आलस्यमयी तथा बेकार न हो। तुम जब सोकर उठो तो अनुभव करो कि उषाका सुन्दर आलोक तुम्हारे अन्तःस्थलमें प्रभुकी अद्‌भुत महिमाके गुणानुवादकी संगीतलहरीको भर रहा है। उससे तुम्हारे शरीरका एक-एक तार आनन्दसे गूँज रहा है। चारों ओर अखिल विश्वमें उसी जगन्नियन्ताकी आनन्दमयी क्रीड़ा दृष्टिगोचर हो रही है।

२—तुम्हें दिनमें जो कार्य करना हो उसे पूरे परिश्रमके साथ करो। परिश्रमसे मुँह न चुराओ। कामपर जानेमें कभी नागा न करो। कोई छोटा-मोटा बहाना लेकर ही कामपर जानेसे मत बैठ रहो। भरपूर परिश्रमके साथ अपना काम करो।

३—कामके बीचमें तुम्हें जो अवकाश मिले उसे प्रभुकी प्रार्थना, आराधना, दीन-दुखियोंकी सेवा, आत्मिक उन्नति आदि सत्कार्योंमें लगा दो। अपना कार्य करते समय यह मत भूल जाओ कि तुम्हें उससे भी आवश्यक—प्रभुका कार्य करना है। प्रभु-स्मरण-हीसे दिनके प्रत्येक कार्य आरम्भ तथा समाप्त करो।

४—तुम अपने छुट्टीके दिन तिथि-त्यौहार आदि भूल करके भी व्यर्थ न खोओ। बेकार खोने अथवा बुरी तरह व्यतीत करनेकी अपेक्षा तो खेतोंमें जाकर हल चलाना लाखगुना श्रेयस्कर है। ऐसे दिन हमें प्रभुकी प्रार्थना-आराधना तथा अन्य धार्मिक सत्कार्यों-हीमें बिताना चाहिये।

५—शराबी, बातूनी, दुराचारी व्यक्तियोंका सम्पर्क एकबारगी ही त्याग दो। जो व्यक्ति अपनी मित्र-मण्डलीके चुनावमें दूरदर्शितासे काम नहीं लेता वह अपने समयका कभी भी सदुपयोग नहीं कर सकता। यदि कोई भी व्यक्ति सारहीन, उकतानेवाली तथा व्यर्थ निष्प्रयोजनीय बातें करता है तो वह उससे बातें करनेवाला तथा उन लोगोंकी बातें सुननेवाला सब अपना बराबर-बराबर समय व्यर्थ खोते हैं। व्यर्थ वार्तालाप करनेवाले मित्रोंको तो दूरसे ही नमस्कार करना चाहिये। वे खुद तो डूबेंगे ही, साथ-में तुम्हें भी ले डूबेंगे।

६—केवल समय व्यतीत करनेके लिये ही किसी व्यक्तिको साथ न लो। अथवा कोई छोटा-मोटा काम करने लगो क्योंकि तुम्हें स्मरण यह रखना चाहिये कि यदि प्रत्येक दिन भली प्रकार सदुपयोगमें लाया गया है—तो वह तुम्हारे कल्याणका दिन हो सकता है। तुम्हें भली प्रकार याद रखना चाहिये कि जिस समयको तुम व्यर्थ ही सारहीन वाद-विवाद अथवा निष्प्रयोजनीय कार्योंमें व्यय कर रहे हो, वह तुम्हें अपने पापोंका प्रायश्चित्त करने, उनकी क्षमाप्राप्तिके लिये प्रभुसे प्रार्थना करने, प्रभुसे दया और प्रेमकी भिक्षा माँगने, प्रभु-सेवा-के उन तमाम शुभ कार्योंके करनेके—जिनसे कि तुम अपने दिन-प्रतिदिन बढ़ते जानेवाले पापोंके कलङ्कको धो सकते—लिये दिया गया था। पर शोक तुम उसे इस प्रकार व्यर्थ बरबाद कर रहे हो! अब इससे बढ़कर दुःखकी और क्या बात हो सकती है!

(Holy living के आधारपर)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

धर्मसूत्र

(रचयिता—योगिराज श्रीगंभीरनाथजी *)

१ सब देवता एक ही हैं, किसीमें भेदबुद्धि मत रक्खो। रूप बहुत हैं स्वरूप एक ही है।

२ सनातनधर्मको मानकर चलो।

३ देवद्विजोंपर भक्ति रक्खो।

४ 'नाम' पर विश्वास रक्खो। 'नाम' से सब कुछ हो जायगा।

५ सत्य बोलो। कपटाचरण मत करो। 'मैं' मत रक्खो।

६ परायी निन्दा न करो।

७ सब धर्मोंका सम्मान करो।

८ साधु और दीन-दुखियोंको प्रेमसे दान करो, और यह समझो कि मैं भगवान्‌की ही सेवा करता हूँ।

९ शास्त्र और महापुरुषकी वाणीको मिलाकर विचार करो। विचार करनेपर जो काम बुरा मालूम हो, वह न करो। विचारसे जो अच्छा लगे, वैसा ही करो।

१० बीत गया सो बीत गया, बीतेका विचार न करो। आगे बढ़ो, पीछे मत ताको।

११ भगवान्‌से कुछ माँगना हो तो बस प्रेमभक्ति माँगो।

१२ समदर्शी बनो, समवर्त्ती नहीं।

१३ सिद्धान्तके अनुकूल ग्रन्थ-पाठ करो। एक गीता बहुत है। गीता सब युगोंके लिये सत्य ग्रन्थ है।

१४ कोई जगह खाली नहीं है, सर्वत्र भगवान् हैं। सभी परमात्मस्वरूप है।

* योगिराज गंभीरनाथजी नाथसम्प्रदायके एक बहुत अच्छे महात्मा थे।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नेक कमाईकी बरकत

(लेखक—श्रीनारायणदासजी बाजोरिया)

जसे अनेकों दिन पूर्व भारतवर्ष एक सच्चा तथा उन्नतिशील और सब देशोंका शिरोमणि देश था। इसमें बहुत-से वीर प्रजापालक राजा तथा ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण रहा करते थे जो अपनी-अपनी विद्यामें पूर्ण निपुण तथा धर्मपालक थे। आज वैसे ही धर्मनिष्ठ ब्राह्मणकी तथा धर्मपालक राजाकी एक कहानी हम पाठकोंके सामने प्रकट करते हैं।

सन् १९२९ में मैं शिमला गया था, वहाँ शान्तिकुटीमें ठहरा था। वहींपर शान्तिकुटीमें महामना पं० मदनमोहनजी मालवीय भी पधारे थे। ईश्वरकी कृपासे मैं श्रीमालवीयजीकी बगलकी कोठीमें ही था और प्रायः उनके दर्शन करता था। एक दिन बात-ही-बातमें प्रसङ्ग छिड़ गया। मैंने कहा कि 'यदि कारनेगीके समान धन होता तो समाजकी सेवा करनेका बहुत अच्छा सुअवसर प्राप्त होता। परन्तु आजकल धन पैदा करना बड़ा ही कठिन कार्य है। धन पैदा हो सकता है परन्तु उसमें सत्यका त्याग तथा दया आदि सद्गुणोंकी तिलाञ्जलि प्रायः मनुष्यको देनी ही पड़ती है।' पण्डितजी बोल उठे 'नारायणदासजी! यह आपकी भूल है। आपको शायद सच्चे मार्गका ज्ञान नहीं है। नेकीद्वारा पैदा किया हुआ धन यदि एक पैसा भी हो तो वह लाख रुपयेसे भी ऊँचा महत्त्व रखता है।' उदाहरणार्थ उन्होंने मुझे एक बड़ी रोचक कहानी सुनायी, उसीको आज कल्याणके पाठकोंकी भेंट करता हूँ!—

प्राचीन समयमें एक बहुत बड़ा धार्मिक, बलवान् तथा प्रजापालक राजा इस देशमें राज्य करता था। उसके पास ही वनमें एक अत्यन्त दरिद्र विद्वान् ब्राह्मण रहा करता। वह अपनी जीविका किसी प्रकारसे चलाता था। गरीब होते हुए भी वह बड़ा ही ज्ञानी तथा बुद्धिमान् पुरुष था, वह वेदमार्गका अनुयायी और सर्वथा सच्चरित्र था। जिस प्रकार वेदमें ब्राह्मणोंको जीविका उपार्जनके लिये लिखा है उसी प्रकार वह जीविका उपार्जन करता था। दिनभर ईश्वराराधनामें रहनेपर सन्ध्याको जो कुछ बिना माँगे मिल जाता था, वह उसीसे सपरिवार अपना निर्वाह करता था। उसके धर्मपत्नी तथा एक कन्या भी थी। येन केन प्रकारेण वह अपना जीवन चला रहा था। कुछ दिनोंमें लड़की ब्याहनेयोग्य हो गयी। एक दिन ब्राह्मण और ब्राह्मणी अपनी कन्याके विवाहके विषयमें बातचीत कर रहे थे। ब्राह्मणने अपनी धर्मपत्नीसे कहा कि 'विवाह तो होना चाहिये परन्तु धनका संग्रह कहाँसे करें।' ब्राह्मणीने कहा 'आपका यश चारों दिशाओंमें व्याप्त है इसलिये आप जहाँ भी जाइयेगा वहीं आपको पर्याप्त धन मिल जायगा।' ब्राह्मण पत्नीकी सम्मतिके अनुसार राजाके पास गया। द्वारपालोंने जाकर राजाको समाचार दिया कि एक दरिद्र ब्राह्मण आपको दर्शन देने आया है। राजा द्वारपालसे उन महामना ब्राह्मणका नाम सुनकर स्वयं द्वारपर गया और अपने साथ भीतर लाकर राजाने उनको अपने निकट सिंहासनपर बैठाया और कुशल-क्षेम पूछा। तदुपरान्त राजाने कहा 'महाराज! आज्ञा दीजिये मैं आपकी क्या सेवा करूँ?'

ब्राह्मण बोले—'मैं भिक्षाके लिये आपके पास आया हूँ।' राजाने कहा 'जो आज्ञा' और अपने कोषाध्यक्षको बुलाकर आज्ञा दी कि अभी दस सहस्र मुद्रा लाकर महाराजको भेंट करो। ब्राह्मणने

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कहा 'यह क्या दे रहे हैं, यह तो बहुत थोड़ा है।' राजाने फिर अपने कोषाध्यक्षको आज्ञा दी कि 'बीस हजार स्वर्णमुद्रा भेंट दो।' ब्राह्मणने कहा कि 'यह भी थोड़ा है।' राजाने इसी तरह बढ़ाते-बढ़ाते अन्तमें कहा कि 'मैं अपना सर्वस्व आपको देता हूँ तथा आपका दास बनता हूँ।' यह सुनकर ब्राह्मणने फिर कहा 'यह भी अल्प है।' इतनेपर भी सन्तुष्ट न होनेपर राजाने कहा 'तो मैं अब आपके क्या अर्पण करूँ।' ब्राह्मणने कहा 'हे राजन्! 'आजतक आपने निष्कपट पापरहित और परहितकी इच्छासे स्वयं सच्चा परिश्रम करके जो कुछ कमाया हो वही मुझे दीजिये।'

राजाने सोचकर कहा, 'अच्छी बात, मैं आपको वही दूँगा, आप कृपया कलतक ठहरिये।'

अपनी प्रजाके सुख-दुःखका हाल जानने और सच्ची कमाईका पैसा लानेके लिये राजा रातके दस बजे उठा और अपनी पोशाक बदलकर शहरमें घूमने निकला। शहरमें देखा कि सब लोग चैनकी नींद सो रहे हैं परन्तु एक लोहारने अपना काम अभी जारी कर रक्खा है, उसे देखकर राजाने विचारा कि अवश्य ही इसको कुछ आर्थिक कष्ट है, यहाँ काम करके कुछ कमाना अच्छा है। फिर निकट जाकर उससे प्रार्थना की कि 'ऐ भाई! मैं बहुत गरीब आदमी हूँ अगर कोई काम तुम्हारे पास हो तो मुझे दो।' लोहारने कहा 'भाई! मेरे पास और तो कोई ज्यादा काम नहीं है यह थोड़ा-सा काम है, इसे सुबह तक कर दोगे तो मैं तुम्हें चार पैसे दूँगा।' राजाने कहा 'ठीक है'। इसके बाद राजा तो बड़ी लगनसे लोहारका बतलाया हुआ काम करने लगे और लोहार अपने घर चला गया। प्रातःकालतक राजाने लोहारका बतलाया हुआ काम तो समाप्त कर ही दिया था, उसके सिवा और भी उसके एक दो काम कर दिये थे। लोहार आया और राजाके कामको देख बहुत प्रसन्न हुआ और राजाको उसकी मेहनतके लिये चार पैसे न देकर पाँच पैसे देने लगा और बोला 'भाई अगर तुम इसी तरह रोज आकर मेरा काम कर दिया करोगे तो रोज सुबह मैं तुम्हें पाँच पैसे दिया करूँगा।' राजा बोला 'नहीं भाई! मुझसे तूने चार पैसे ठीक किये थे इसलिये मैं चार ही पैसे लूँगा। ज्यादा नहीं।' तदनुसार राजा चार पैसे लेकर चला आया। दूसरे दिन सदाकी भाँति दरबार हुआ और ब्राह्मण देवता भी पधारे। उन्हें देखकर राजाने प्रणाम किया और अपनी सच्ची कमाईके चार पैसे उनको भेंटस्वरूप दिये। ब्राह्मण देवताने भी पैसोंको सहर्ष स्वीकार किया और प्रसन्नचित्त होकर वे घर लौट आये। घर आनेपर ब्राह्मणीने प्रश्न किया कि राजासे भिक्षामें क्या लाये। ब्राह्मणदेवताने उत्तर दिया कि चार पैसे लाया हूँ। इसपर ब्राह्मणी झुँझलायी और उसने ब्राह्मणके हाथसे पैसे छीनकर आँगनमें फेंक दिये और जाकर क्रोधित-चित्तसे सो गयी। प्रातःकाल उठकर आँगनमें देखते हैं तो मालूम हुआ कि चार पैसोंके स्थानमें चार वृक्ष उत्पन्न हो गये हैं, जिनकी पत्तियाँ बिल्कुल सोनेकी हैं और फल-फूलोंके स्थानमें जगमगाते हुए हीरे और जवाहिरात लगे हैं। इस विचित्र घटनाको देखकर ब्राह्मणीकी खुशीका ठिकाना न रहा। बादमें ब्राह्मणीने देखा कि इसमें तो प्रतिदिन उसी प्रकारसे फल-फूल लगते हैं, तब तो उसका आनन्द और भी बढ़ गया। इसके बाद ब्राह्मण और ब्राह्मणीने अपनी कन्याका विवाह बड़े ही समारोहके साथ किया। विवाहके बाद भी ब्राह्मणके पास बहुत धन रह गया, जिसको वह प्रतिदिन दान देता था और जितना देता था, उतना ही धन भी उसके पास बढ़ता जाता था। उसकी कीर्ति चारों तरफ फैल गयी। राजासे भी लोगोंने जाकर कहा कि 'महाराज! जो ब्राह्मण आपसे राज्य भी लेनेकी इच्छा नहीं करता था वह

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

धनके लोभमें पड़ गया।' राजाने भी गुप्त दूतद्वारा पता लगाया तो मालूम हुआ कि बात ठीक है, ब्राह्मणके पास अतुल सम्पत्ति है। दूसरे दिन राजाने ब्राह्मणके पास जाकर उनसे पूछा कि 'महात्मन्! इतना धन कैसे प्राप्त हुआ?' ब्राह्मणने उत्तर दिया 'महाराज! आपहीने तो दिया था।' अन्तमें ब्राह्मणने राजाको सब हाल बताया। राजाको विश्वास न हुआ। अन्तमें उन्होंने पेड़ उखाड़े तो उनकी जडमें वे चार पैसे ही मिले। सारांश यह कि नेक कमाईके पैसेकी बरकत तथा वृद्धि यद्यपि पहले धीरे-धीरे होती है किन्तु पीछे तो अत्यन्त ही अधिक हो जाती है और वह मनुष्यको सब प्रकारसे सुखी और सम्पन्न कर देती है।

भगतके वशमें हैं भगवान

[कहानी]

(लेखक—श्रीपारसचन्दजी)

अरबके बादशाहका एकमात्र शाहज़ादा मर गया था। उम्र थी चौदह साल, पूरा क़ुरान कण्ठस्थ और सूरतमें फरहादकी तरह खूबसूरत था। बादशाहतमें कुहराम मच गया। बेगम साहेबा पागल हो गयीं और बादशाह सात दिनतक चुप रहा। शाहज़ादेकी लाश एक नावमें, सरसोंका तेल भराकर रखवा दी गयी।

इतवारके दिन बादशाहने दरबार किया। अरबके सब आलिम मौलवी खास तौरसे बुलाये गये थे। बादशाहने भाषण दिया—

'लिखा है क़ुरान-शरीफ़में—कि फ़क़ीर कहते हैं उसको—जो कर दे ज़िन्दाको मुरदा और कर दे मुरदेको ज़िन्दा! अगर यह सच है—तो लाओ एक सालके अन्दर—किसी ऐसे फ़क़ीरको—जो करे शाहज़ादेको ज़िन्दा! वरना—अरबकी तमाम कुतबे-क़ुरानकी होली खेली जायगी—और तमाम मौलवी चढ़ेंगे—सूलीपर।'

मौलवियोंकी बधिया बैठ गयी। चेहरोंपर दो बज रहे थे। जिस क़ुरानसे वे अपनी जीविका चला रहे थे उसके प्रति एकदम अश्रद्धा पैदा हो गयी। नशेकी हालतमें ही मुहम्मद साहबने ऐसा लिख मारा होगा! उसी नशेकी बदौलत आज सूलीका हुक्म सुनना पड़ा! गजबकी भी टाँग तोड़ दी! बेकसूर—सूली!

आलिमोंने अपना एक इजलास किया। भूगोलके समस्त देशोंमें एक-एक आलिम भेजा गया। बादशाहने उन लोगोंको सफ़र-खर्चके लिये एक-एक लाख रुपये दिये और कहा कि 'अगर तुमलोग फ़रार हो गये तो तुम्हारे बाल-बच्चोंका कत्ले-आम किया जायगा।' भारतके लिये जो मेम्बर चुना गया था उसका नाम फ़ैज़ी था।

× × ×

उस समय भारतपर बादशाह अकबरका शासन था। फ़ैज़ीने अकबरको सारी घटना सुनायी। अकबरने अपने प्रधान मन्त्री राजा बीरबलको बुलाया। सारा माजरा सुनाकर राय पूछी।

बीरबल—'ऐसे तीन फ़क़ीरोंको तो मैं जानता हूँ कि जो मुरदेको ज़िन्दा कर सकते हैं। ज़िन्देको भी वे मुरदा कर सकते हैं। तीनके अलावा और भी होंगे परन्तु उनको मैं जानता नहीं।'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अकबर—'वाह रे बीरबल ! इसीलिये आज तुम मुसल्मानी बादशाहके प्रधान मन्त्री हो। भला उन तीनों फ़क़ीरोंके नाम और धाम तो बताओ।'

बीरबल—'(१) वृन्दावनके महात्मा सूरदास, (२) अयोध्याके महात्मा तुलसीदास और (३) काशीके फ़क़ीर कबीर साहब !'

अकबर—'तीनों फ़क़ीरोंको मेरे नामसे ख़त लिख दो और बेचारे फ़ैज़ीको आज ही रवाना करो। अरबके आलिमोंके बाल-बच्चोंका क्या हाल होगा ?'

× × ×

दिल्लीसे चलकर फ़ैज़ीने वृन्दावनमें महात्मा सूरदासजीसे भेंट की। महात्माजीने उत्तर दिया—

'ब्रजमण्डलको—जो ८४ कोसके घेरेमें है—छोड़कर मैं कहीं नहीं जा सकता। अगर तुम शाहज़ादेको यहाँ ला सको तो श्यामसुन्दरकी लीलासे उसे जीवित पा सकते हो।'

वहाँसे चलकर फ़ैज़ी अवधमें आये। बादशाहका पत्र पढ़कर महात्माजीने उत्तर दिया—

'मेरा जीवन ठेठ हिन्दू-जीवन है। मेरे आचार-विचारकी रक्षा अरब-जैसे मुसल्मानी राज्यमें नहीं हो सकती। अगर तुम उस लड़केको यहाँ ले आओ तो रामजी समर्थ हैं। कोई बात नहीं—काम हो जायगा।'

वहाँसे चलकर फ़ैज़ीने काशीमें कबीर साहबसे भेंट की और बादशाह अकबरका ख़त दिया। कबीर-साहबने कहा—

'मुहम्मद साहबकी इज्ज़त बचानेके लिये मैं अरब चलनेको इसी समय तैयार हूँ। अगरचे पण्डितों और मौलवियोंसे मेरा मत नहीं मिलता, मगर, महात्माओंकी पैठको डूबने नहीं दूँगा।'

× × ×

अरबके सुल्तानने ज्यों ही फ़ैज़ीके साथ एक फ़क़ीरको आता हुआ देखा त्यों ही वह सिंहासनसे उतरकर खड़ा हो गया और बोला—

'लिखा है क़ुरान-शरीफ़में—कि मालिकने तीन लड़के पैदा किये—(१) फ़क़ीर (२) अमीर (३) ग़रीब। मुनासिब है ग़रीबको कि जब कोई अमीर उसके पास आवे तो चारपाई छोड़ खड़ा हो जावे। लाज़िम है अमीरको जब कोई फ़क़ीर सामने आवे तो तख़्त छोड़ ज़मीनपर खड़ा हो जावे। वरना मालिक होगा ख़फ़ा और ताजोतख़्त चला जायगा जहन्नममें !'

कबीर साहबने हुक्म दिया कि शाहज़ादेकी लाश लायी जावे। जब शाहज़ादेकी लाश सामने रख दी गयी तब दोनों हाथ आसमानकी तरफ़ उठाकर कबीर साहबने कहा—

'उठ ! ख़ुदाके हुक्मसे !'

परन्तु शाहज़ादा जीवित न हुआ। तब कबीर साहबने कहा—

'उठ ! क़ुदरतके हुक्मसे !'

परन्तु शाहजादा ज़िन्दा न हुआ। अन्तमें कबीर साहबने कहा—

'उठ मेरे हुक्मसे !'

तुरन्त शाहज़ादा जीवित हो गया। बादशाहने उसे छातीसे लगा लिया। दरबारमें ख़ुशी नाचने लगी। शाहज़ादेको बेगमके पास भेजकर बादशाहने कबीर साहबसे कहा—

'लिखा है क़ुरान-शरीफ़में—कि जो अपनेको साबित करे ख़ुदासे बड़ा—उसको क़ाफ़िर समझो और उसका सिर धड़से जुदा कर दो। इसलिये आप मरनेके लिये तैयार हो जाइये।'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कबीर साहब—बन्दा (जीव), ख़ुदा (परमात्मा) से बड़ा नहीं हो सकता। जो ऐसा कहता है वह जरूर पागल है और मैं पागल नहीं हूँ।

बादशाह—क़ुदरत और ख़ुदाके हुक्मसे शाहज़ादा ज़िन्दा न हुआ। आपके हुक्मसे ज़िन्दा हुआ। अब बतलाइये कि आपका रुतबा ख़ुदाके रुतबासे बड़ा साबित होता है या नहीं?

कबीर—नहीं। आपकी अक्लका फेर है। ख़ुदाने यह दिखाया कि—'भगतके वशमें हैं भगवान!' तब बादशाहका मलाल मिट गया। कबीर और फ़ैज़ी भारतमें वापस आये। वही फ़ैज़ी अकबरके नवरत्नका एक मेम्बर बना था और भारतमें रहने लगा था।

यज्ञका मर्म

(लेखक—श्रीअरविन्द)

गीताने यज्ञकी व्याख्या दो विभिन्न स्थानोंमें की है। एक व्याख्या तीसरे अध्यायमें तथा दूसरी व्याख्या चौथे अध्यायमें है। पहलीकी भाषा ऐसी है कि यदि केवल उसीका विचार किया जाय तो यज्ञका अर्थ आनुष्ठानिक यज्ञ (वैदिक) मालूम होता है। दूसरी व्याख्यामें यज्ञको उदार दार्शनिक और आध्यात्मिक सत्यके रूपकके रूपमें समझाया गया है।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः॥
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥

(गीता ३। १०—१६)

'सृष्टिके आदिमें प्रजापति ब्रह्माने यज्ञके साथ प्रजाकी सृष्टि की और कहा—'इस यज्ञके द्वारा तुमलोग उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त करो; यह यज्ञ तुमलोगोंको मनोवाञ्छित फल प्रदान करे। इसके द्वारा तुमलोग देवताओंका संवर्धन करो और देवता तुमलोगोंको संवर्धित करें; इस प्रकार पारस्परिक संवर्धनसे तुमलोग परम मङ्गल प्राप्त करोगे। यज्ञके द्वारा संवर्धित होकर देवता तुमलोगोंको अभीष्ट भोग प्रदान करेंगे; इस देवदत्त भोगको प्राप्त करके जो व्यक्ति देवताओंको प्रदान न करके स्वयं भोग करता है वह चोर है। जो लोग यज्ञावशेष अन्न भोजन करते हैं वे सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं; किन्तु जो लोग केवल अपने लिये रसोई बनाते हैं, वे पापिष्ठ पाप ही भोजन करते हैं। अन्नसे शरीर उत्पन्न होता है; मेघोंसे जल बरसनेसे अन्न पैदा होता है एवं यज्ञसे मेघ और कर्मसे यज्ञ उत्पन्न होता है; कर्मको ब्रह्मसे उत्पन्न जानो, ब्रह्म अक्षरसे उत्पन्न है; अतएव सर्वव्यापी ब्रह्म यज्ञमें प्रतिष्ठित है। इस लोकमें, इस प्रकार प्रवर्त्तित चक्रका जो अनुसरण नहीं करता है, हे पार्थ! वह पापमय जीवन बितानेवाला व्यक्ति वृथा जीवित रहता है।' इन श्लोकोंके शब्दोंको देखनेसे तो यही मालूम होता है कि यहाँपर यज्ञका अर्थ वेदानुमोदित आनुष्ठानिक यज्ञ ही है—इनका वास्तविक मर्म क्या है, यह हमलोगोंको आगे चलकर मालूम होगा। यहाँपर यज्ञकी प्रयोजनीयता समझाकर श्रीकृष्ण कर्मकी अपेक्षा आध्यात्मिक जीवनकी श्रेष्ठताका वर्णन करने लगते हैं। कहते हैं—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥
(३।१७-१८)

'किन्तु जो मनुष्य आत्मामें ही प्रसन्न, आत्मामें ही तृप्त तथा आत्मामें ही सन्तुष्ट है, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं रह जाता। इस लोकमें कर्म करनेसे उसे कोई लाभ नहीं और कर्म न करनेसे भी कोई लाभ नहीं; किसी वस्तुकी प्राप्तिके लिये उसे किसीके ऊपर निर्भर नहीं होना पड़ता।'

अतः यहाँपर दो विभिन्न विरोधी आदर्श दीख पड़ते हैं। एक वैदिक, दूसरा वैदान्तिक। एक ओर तो यज्ञके द्वारा इहलोकमें भोगसुख और परलोकमें परमार्थप्राप्तिका सक्रिय आदर्श एवं मनुष्य और देवताओंकी पारस्परिक निर्भरता है; दूसरी ओर मुक्त पुरुषके कठोरतर जीवनका आदर्श है—वह आत्मामें स्वाधीन हैं, कर्म या भोगके साथ उनका सम्पर्क नहीं है, नरलोक या देवलोकसे उनका कुछ सरोकार नहीं है—केवल परमात्माकी शान्तिमें वह निवास करते हैं, ब्रह्मके शान्त आनन्दमें वह आनन्द प्राप्त करते हैं। परवर्त्ती श्लोकमें ही इन दो विरोधी आदर्शोंके समन्वयका मार्ग निकाला गया है; उच्चतर सत्यकी ओर मुड़ते ही कर्मका त्याग नहीं करना होगा। सत्यके प्राप्त होनेके पहले तथा बादमें निष्काम कर्म करना ही गूढ रहस्य है। मुक्तपुरुषको कर्मके द्वारा कुछ प्राप्त नहीं करना है, किन्तु कर्मत्यागके द्वारा भी उन्हें कुछ प्राप्त नहीं करना है और न किसी व्यक्तिगत स्वार्थके लिये उन्हें कर्म करना या छोड़ना पड़ता है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
(३।१९-२०)

'अतएव जो कर्म करना है (जगत्के लिये, 'लोकसंग्रहार्थम्') उसे सर्वदा अनासक्त होकर करो; क्योंकि अनासक्त होकर कर्म करनेसे मनुष्य परम गतिको प्राप्त होता है। जनक प्रभृति महात्माओंने कर्मके द्वारा ही सिद्धि प्राप्त की थी।' यह सत्य है कि कर्म एवं यज्ञ श्रेयःप्राप्तिके उपाय हैं, 'श्रेयः परमवाप्स्यथ।' किन्तु कर्म तीन प्रकारके होते हैं—(१) यज्ञशून्य कर्म, जो केवल व्यक्तिगत भोगके लिये किया जाता है; यह पूर्णतः स्वार्थप्रेरित है एवं जीवनकी मूल नीतिके साथ इसका सामञ्जस्य न होनेके कारण व्यर्थ है—'मोघं पार्थ स जीवति।' (२) सकाम होनेपर भी जो कर्म यज्ञके साथ किया जाता है—इस कर्ममें जो भोगसुख प्राप्त होता है वह यज्ञके फलस्वरूप होता है, अतः उस परिमाणतक शुद्ध और पवित्र है। (३) निष्कामभावसे या बिना किसी प्रकारकी आसक्तिके जो कर्म किया जाय। इस अन्तिम प्रकारके कर्मके द्वारा परम गतिकी प्राप्ति होती है, 'परमाप्नोति पूरुषः।'

यज्ञ, कर्म, ब्रह्म—इन शब्दोंका जैसा अर्थ हमलोग करेंगे, उसीके ऊपर इस शिक्षाका सार मर्म निर्भर करता है। यदि हमलोग यज्ञका अर्थ वैदिक आनुष्ठानिक यज्ञ लें, जिस कर्मसे इसका उद्भव हुआ है वह यदि वेदोक्त कर्मविधि हो एवं जिस ब्रह्मसे सब कर्म उत्पन्न हुए हैं, उसको हमलोग यदि 'शब्दब्रह्म' या वेद समझें, तो ऐसी स्थितिमें यही मानना होगा कि यहाँपर गीताने वेदोक्त नित्य-नैमित्तिक कर्मका ही उपदेश दिया है और इससे अधिक और कुछ नहीं है। आनुष्ठानिक यज्ञ ही पुत्र, धन और भोगप्राप्तिका उत्तम उपाय है; आनुष्ठानिक यज्ञके द्वारा ही वृष्टि होती है और उसीके द्वारा प्रजाकी सम्पदा बढ़ती है और पालन-पोषण होता है। समस्त जीवन ही मनुष्य और देवताओंके बीच अनवरत आदान-प्रदानका कार्य है—यहाँपर मनुष्य देवताओंसे प्राप्त भोग्य वस्तुके द्वारा देवताओंका संवर्धन करते हैं और उसके फलस्वरूप स्वयं सम्पत्तिशाली होते हैं, रक्षित होते हैं, सम्मानित होते हैं। अतएव सभी कर्मोंको आनुष्ठानिक यज्ञके साथ करना होगा; जो कर्म इस भाँति देवताओंके उद्देश्यसे नहीं किया जाता है वह अभिशप्त है, देवताओंको उत्सर्ग किये बिना जो भोग भोगा जाता है, वह पाप है। यहाँतक कि परम श्रेयः, मुक्तिको भी आनुष्ठानिक यज्ञके द्वारा ही प्राप्त करना होगा। यज्ञका कभी त्याग नहीं होना चाहिये; यहाँतक कि मुमुक्षुको भी अनासक्त भावसे यज्ञका सम्पादन करना होगा, इस प्रकार आनुष्ठानिक यज्ञ और नित्य-नैमित्तिक कर्मोंको अनासक्त भावसे सम्पन्न करके ही जनकादि महात्माओंने मुक्ति और सिद्धि प्राप्त की है।

यह बात सहजहीमें समझी जा सकती है कि गीताका यह अर्थ नहीं है; क्योंकि यह अर्थ गीताके शेष सब अंशोंके एकदम विपरीत है। यहाँतक कि गीताके इस

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्थानपर भी जो कुछ कहा गया है (अन्य स्थानोंकी स्पष्ट व्याख्याको छोड़ देनेपर भी), उससे भी यज्ञका उदार अर्थ ही ठीक मालूम पड़ता है; क्योंकि यहाँपर यह कथन है कि 'कर्मसे यज्ञ उद्भूत होता है, कर्म ब्रह्मसे उत्पन्न होता है, ब्रह्म अक्षरसे उत्पन्न होता है, अतएव सर्वगत (सर्वव्यापी) ब्रह्म सर्वदा यज्ञमें प्रतिष्ठित है।' यहाँपर 'तस्मात्' अर्थात् अतएव शब्दका व्यवहार और 'ब्रह्म' शब्दका पुनर्व्यवहार ध्यान देने योग्य है; क्योंकि इससे साफ मालूम होता है कि 'कर्म ब्रह्मोद्भवम्' (ब्रह्मसे ही कर्मकी उत्पत्ति है) में ब्रह्मका अर्थ वेद नहीं है, वरं ब्रह्मका अर्थ सर्वव्यापी, सर्वभूतों तथा सर्व कर्मोंमें वर्तमान ब्रह्मसे है। भगवान्‌के, अनन्तके ज्ञानको वेद कहते हैं—परवर्ती १५ वें अध्यायमें श्रीकृष्णने कहा है, 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो' 'सब वेदोंका मैं ही वेद्य अर्थात् ज्ञातव्य विषय हूँ।' परन्तु वह प्रकृतिकी क्रियाओंके अंदर, त्रिगुणकी क्रियाओंके भीतर, जिस रूपमें विद्यमान हैं, वेदके द्वारा उनके उसी रूपको जाना जाता है—'त्रैगुण्यविषया वेदाः'। प्रकृतिकी क्रियाओंमें जो ब्रह्म स्थित है, वह अक्षर पुरुषसे उत्पन्न हुआ है। यह अक्षर पुरुष प्रकृतिके सारे गुणोंकी क्रियाओंके ऊपर है, 'निस्त्रैगुण्यः'। ब्रह्म एक है, किन्तु इसके आत्म-प्रकाशका स्वरूप दो प्रकारका है—अक्षर पुरुष और क्षर जगत्‌में सब कर्मोंका स्रष्टा तथा उद्भवकर्त्ता, आत्मा, सर्वभूतानि; यह सब भूतोंका अचल सर्वव्यापी आत्मा और सब भूतोंकी सचल क्रियाओंकी आध्यात्मिक सत्ता है—आत्मस्थ पुरुष और प्रकृतिमें क्रियाशील पुरुष यह अक्षर और क्षर है। इन दोनों स्वरूपोंमें ही भगवान् 'पुरुषोत्तम' ने विश्वमें अपनेको प्रकाशित किया है; सब गुणोंसे अतीत अक्षर ही उनकी शान्ति, आत्मस्थता, समताकी अवस्था है, 'समं ब्रह्म', उसीसे प्रकृतिके गुणोंमें और विश्वलीलामें उनका आत्म-प्रकाश होता है, इस प्रकृतिस्थ पुरुषसे, इस सगुण ब्रह्मसे विश्व-शक्तिके सब कर्मोंकी* उत्पत्ति होती है; इस कर्मसे ही यज्ञका तत्त्व पैदा हुआ है; यहाँतक कि देवताओं और मनुष्योंके बीचमें द्रव्यादिका जो आदान-प्रदान होता है, वह भी इसी तत्त्वके अनुसार होता है। उदाहरणस्वरूप, जिस वृष्टिसे अन्न उत्पन्न होता है, वह वृष्टि कर्मके ऊपर निर्भर करती है एवं अन्नसे प्राणियोंके शरीरका उद्भव होता है। क्योंकि प्रकृतिकी सब क्रियाएँ ही वास्तवमें यज्ञ हैं और भगवान् ही सब कर्मों और यज्ञोंके भोक्ता तथा सब भूतोंके महेश्वर हैं—'भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वभूतमहेश्वरम्।' इस 'सर्वगतं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' भगवान्‌को जानना ही सच्चा ज्ञान है, वैदिक ज्ञान है।

किन्तु भगवान्‌को निम्नस्तरकी क्रियाओंमें देवताओंके द्वारा जाना जा सकता है। देवता प्रकृतिमें रहनेवाली भगवान्‌की शक्तियाँ हैं। देव और मनुष्य पारस्परिक आदान-प्रदानके द्वारा जो वृद्धि पाते हैं, इसका अनुसरण करके मनुष्य क्रमशः श्रेयःप्राप्तिके योग्य बन जाता है। मनुष्यकी समझमें यह बात आ जाती है कि उसका जीवन भगवान्‌की विश्वव्यापी लीलाका अंशमात्र है—स्वतन्त्र कुछ नहीं है; और इस लीलाके लिये ही जीवनयापन करना होगा, अन्य किसी उद्देश्यसे नहीं। संसारमें उसको जिन भोगों और काम्य वस्तुओंकी प्राप्ति होती है, उनको वह अपनी चेष्टासे प्राप्त हुआ नहीं समझता है। उनको वह यज्ञका फल और देवताओंका दान समझकर ग्रहण करता है। यह भाव उसके अंदर जितना ही बढ़ता है उतना ही वह अपनी कामनाओंका दमन करता है, यज्ञको ही जीवन और कर्मकी नीतिके रूपमें ग्रहण करके सन्तुष्ट होता है, यज्ञके अवशेषके रूपमें जो बचता है उसीसे तृप्त होता है और अन्य अंशको निःसंकोचभावसे अपने जीवन और विश्व-जीवनके बीचके कल्याणकर महान् आदान-प्रदानमें अर्घ्यस्वरूप प्रदान करता है। जो लोग कर्मकी इस नीतिके विरुद्ध आचरण करते हैं और अपने स्वतन्त्र स्वार्थके लिये ही भोग और कर्मका अनुसरण करते

* इसी प्रकारकी व्याख्या ठीक है, यह बात अष्टम अध्यायके प्रारम्भसे मालूम होती है। वहाँपर निम्नलिखित तत्त्वोंका वर्णन किया गया है—अक्षर (ब्रह्म), स्वभाव, कर्म, क्षर, भाव, पुरुष और अधियज्ञ। जो अक्षर है, वही ब्रह्म, आत्मा (Spirit or Self) है; स्वभाव ही अध्यात्म है (स्व=ब्रह्म, भाव=उत्पत्ति, अंशतः जीवरूपमें उत्पन्न होकर ब्रह्म ही देह धारण करता है और सुख-दुःखादिको भोगता है), यह अक्षर आत्मासे उत्पन्न हुआ है; प्राणियोंकी उत्पत्ति और विकासका साधक विसर्ग ही कर्म है, अतएव संसारकी अनित्य वस्तुएँ और घटनाएँ कर्मके फल हैं; स्वभावसे ही क्षरभावकी उत्पत्ति हुई है, अन्तरात्मा ही पुरुष है—इस देहमें वही देवांश है, अधिदैवतम्; उन्हींकी उपस्थितिके कारण सब कर्म अन्तरस्थ भगवान्‌के लिये किये हुए यज्ञस्वरूप हो जाते हैं; ये जो गुप्त भगवान् यज्ञ ग्रहण करते हैं वही अधियज्ञ हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हैं, उनका जीवन व्यर्थ है; उन्हें जीवन और आत्मोन्नतिके सच्चे अर्थ और उद्देश्यका पता नहीं लगता। जिस पथसे परम श्रेयः प्राप्त किया जा सकता है उस पथके वे पथिक नहीं हैं। किन्तु परम श्रेयः तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य केवल देवताओंके उद्देश्यसे यज्ञ न करके उस सर्वव्यापी, यज्ञमें प्रतिष्ठित परमेश्वरके उद्देश्यसे करता है। देवता उस परमेश्वरके निम्नतर रूप और शक्तिमात्र हैं। परम श्रेयःकी प्राप्ति तभी होती है जब मनुष्य निम्नप्रकृतिकी कामना-वासनाका परित्याग करता है, स्वयं सब कुछ करता है, इस अहङ्कार-का परित्याग करके प्रकृतिको ही समस्त कार्योंकी प्रकृत कर्त्री समझता है और अपनेको भोक्ता न मानकर विश्वात्मा परम पुरुषकी ही, प्रकृतिके सारे कार्योंके भोक्ताके रूपमें उपलब्धि करता है। उस समय वह अपने व्यक्तिगत भोगमें नहीं, वरं उसी परमात्मामें परम शान्ति, तृप्ति और विमल आनन्दका भोग करता है; उस समय कर्म या कर्मशून्यतासे उसका कोई हानि-लाभ नहीं होता, किसी चीजके लिये वह मनुष्य या देवता, किसीका मुँह नहीं ताकता, किसीसे किसी लाभ-की प्रत्याशा नहीं करता, क्योंकि आत्मानन्दमें ही वह पूर्ण-रूपसे तृप्त रहता है, वह केवल भगवान्‌के लिये यज्ञरूपसे आसक्ति और कामनाशून्य होकर कर्म करता है। इस प्रकारसे वह समझता और प्रकृतिके गुणोंसे मुक्ति प्राप्त करता है, 'निस्त्रैगुण्यः' हो जाता है, उसका आत्मा प्रकृति-की अनिश्चयतामें नहीं रहता, बल्कि अक्षर ब्रह्मकी शान्तिमें प्रतिष्ठित रहता है, यद्यपि उस समय भी प्रकृतिकी लीलाके अंदर उसके कर्म होते रहते हैं। इस प्रकार यज्ञ ही उसके परम श्रेयःकी प्राप्तिका मार्ग होता है।

गीताके बादके कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमने जिस प्रकारकी व्याख्या की है वही ठीक है। बादमें कहा गया है कि 'लोकसंग्रहः' ही कर्मका उद्देश्य है; केवल प्रकृति ही सारे कर्मोंको करती है, परम पुरुष ही सारे कर्मोंके भर्ता (upholder) हैं और करते समय भी सारे कर्म उन्हींको अर्पित करने होंगे, (इस भाँति भीतरमें तो कर्मसमर्पण और बाहरमें कर्मसम्पादन—यही यज्ञकी पूर्णता है) इस प्रकार समतापूर्वक वासनाशून्य होकर यज्ञरूपमें कर्म करनेसे कर्मके बन्धनसे मुक्ति प्राप्त की जाती है—

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥
(४। २२-२३)

'जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीमें जो सन्तुष्ट है, कर्मकी सफलता या विफलतामें जिसका समभाव है, वह कर्म करनेपर भी बद्ध नहीं होता। जब कोई आसक्तिहीन मुक्तपुरुष यज्ञके लिये कर्म करता है तो उसके सारे कर्म लयको प्राप्त हो जाते हैं' अर्थात् उसके मुक्त, शुद्ध, सिद्ध और समताप्राप्त आत्माके ऊपर उन कर्मोंका फलस्वरूप बन्धन नहीं रह जाता या कोई दाग नहीं पड़ता। हम फिर इन श्लोकोंकी आलोचना करेंगे। इन श्लोकोंके बाद ही यज्ञकी जो विशद व्याख्या की गयी है, जिस भाषाका प्रयोग किया गया है, उससे निस्सन्देह यह मालूम होता है कि इन बातोंका रूपक-भावसे ही व्यवहार किया गया है, और गीताने जिस यज्ञकी शिक्षा दी है वह बाह्य नहीं, वरं आन्तरिक है। प्राचीन वैदिक पद्धतिमें सर्वत्र ही दो प्रकार-के अर्थ रहते थे—शारीरिक और मानसिक, बाह्यिक और रूपक, यज्ञका बाह्यिक अनुष्ठान और उसके समस्त विधानों-का गूढ़ अर्थ। परन्तु प्राचीन वैदिक योगियोंके उस गूढ़ कवित्वमय रूपकका मर्म लोग बहुत समयसे भूल गये थे और उसके स्थानपर गीतामें वेदान्त और योगकी शिक्षाके अनुसार यज्ञकी उदार दार्शनिक व्याख्या की गयी है। यज्ञकी अग्नि भौतिक अग्नि नहीं है, वह ब्रह्माग्नि है। संयम ही अग्नि है अथवा शुद्ध इन्द्रियक्रिया ही अग्नि है अथवा प्राणायामके द्वारा नियमित प्राणशक्ति ही अग्नि है या आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ यज्ञकी अग्नि है। यज्ञावशिष्ट अन्नको, जो खाया जाता है, अमृत कहा गया है—उसको भोजन करनेसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है, इस कथनमें प्राचीन वैदिक रूपकका कुछ अंश है—सोमरस अमृतका रूपक है, देवताओंको यज्ञके द्वारा सन्तुष्ट करके मनुष्य इसको प्राप्त करता है और इसको पीकर स्वर्गके चिर आनन्दका भोग करता है। मनुष्य जिस किसी कर्मको शरीर या मनके द्वारा देवताओं-के या भगवान्‌के उद्देश्यसे करता है, अथवा अपने ऊर्ध्व-तम आत्मा या मानव-जाति और सर्व भूतोंके आत्माके उद्देश्यसे करता है, वही यज्ञार्पण है।

यज्ञकी इस विशद व्याख्याके आरम्भमें कहा गया है कि यज्ञकी क्रिया, यज्ञकी सामग्री, यज्ञका कर्ता, यज्ञका ग्रहीता, यज्ञका लक्ष्य और उद्देश्य सब वही एक ब्रह्म है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्थानपर भी जो कुछ कहा गया है (अन्य स्थानोंकी स्पष्ट व्याख्याको छोड़ देनेपर भी), उससे भी यज्ञका उदार अर्थ ही ठीक मालूम पड़ता है; क्योंकि यहाँपर यह कथन है कि 'कर्मसे यज्ञ उद्भूत होता है, कर्म ब्रह्मसे उत्पन्न होता है, ब्रह्म अक्षरसे उत्पन्न होता है, अतएव सर्वगत (सर्वव्यापी) ब्रह्म सर्वदा यज्ञमें प्रतिष्ठित है।' यहाँपर 'तस्मात्' अर्थात् अतएव शब्दका व्यवहार और 'ब्रह्म' शब्दका पुनर्व्यवहार ध्यान देने योग्य है; क्योंकि इससे साफ मालूम होता है कि 'कर्म ब्रह्मोद्भवम्' (ब्रह्मसे ही कर्मकी उत्पत्ति है) में ब्रह्मका अर्थ वेद नहीं है, वरं ब्रह्मका अर्थ सर्वव्यापी, सर्वभूतों तथा सब कर्मोंमें वर्तमान ब्रह्मसे है। भगवान्‌के, अनन्तके ज्ञानको वेद कहते हैं—परवर्ती १५ वें अध्यायमें श्रीकृष्णने कहा है, 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो' 'सब वेदोंका मैं ही वेद्य अर्थात् ज्ञातव्य विषय हूँ।' परन्तु वह प्रकृतिकी क्रियाओंके अंदर, त्रिगुणकी क्रियाओंके भीतर, जिस रूपमें विद्यमान हैं, वेदके द्वारा उनके उसी रूपको जाना जाता है—'त्रैगुण्यविषया वेदाः'। प्रकृतिकी क्रियाओंमें जो ब्रह्म स्थित है, वह अक्षर पुरुषसे उत्पन्न हुआ है। यह अक्षर पुरुष प्रकृतिके सारे गुणोंकी क्रियाओंके ऊपर है, 'निस्त्रैगुण्यः'। ब्रह्म एक है, किन्तु इसके आत्म-प्रकाशका स्वरूप दो प्रकारका है—अक्षर पुरुष और क्षर जगत्‌में सब कर्मोंका स्रष्टा तथा उद्भवकर्त्ता, आत्मा, सर्वभूतानि; यह सब भूतोंका अचल सर्वव्यापी आत्मा और सब भूतोंकी सचल क्रियाओंकी आध्यात्मिक सत्ता है—आत्मस्थ पुरुष और प्रकृतिमें क्रियाशील पुरुष यह अक्षर और क्षर है। इन दोनों स्वरूपोंमें ही भगवान् 'पुरुषोत्तम' ने विश्वमें अपनेको प्रकाशित किया है; सब गुणोंसे अतीत अक्षर ही उनकी शान्ति, आत्मस्थता, समताकी अवस्था है, 'समं ब्रह्म', उसीसे प्रकृतिके गुणोंमें और विश्वलीलामें उनका आत्म-प्रकाश होता है, इस प्रकृतिस्थ पुरुषसे, इस सगुण ब्रह्मसे विश्व-शक्तिके सब कर्मोंकी* उत्पत्ति होती है; इस कर्मसे ही यज्ञका तत्त्व पैदा हुआ है; यहाँतक कि देवताओं और मनुष्योंके बीचमें द्रव्यादिका जो आदान-प्रदान होता है, वह भी इसी तत्त्वके अनुसार होता है। उदाहरणस्वरूप, जिस वृष्टिसे अन्न उत्पन्न होता है, वह वृष्टि कर्मके ऊपर निर्भर करती है एवं अन्नसे प्राणियोंके शरीरका उद्भव होता है। क्योंकि प्रकृतिकी सब क्रियाएँ ही वास्तवमें यज्ञ हैं और भगवान् ही सब कर्मों और यज्ञोंके भोक्ता तथा सब भूतोंके महेश्वर हैं—'भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वभूतमहेश्वरम्।' इस 'सर्वगतं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' भगवान्‌को जानना ही सच्चा ज्ञान है, वैदिक ज्ञान है।

किन्तु भगवान्‌को निम्नस्तरकी क्रियाओंमें देवताओंके द्वारा जाना जा सकता है। देवता प्रकृतिमें रहनेवाली भगवान्‌की शक्तियाँ हैं। देव और मनुष्य पारस्परिक आदान-प्रदानके द्वारा जो वृद्धि पाते हैं, इसका अनुसरण करके मनुष्य क्रमशः श्रेयःप्राप्तिके योग्य बन जाता है। मनुष्यकी समझमें यह बात आ जाती है कि उसका जीवन भगवान्‌की विश्वव्यापी लीलाका अंशमात्र है—स्वतन्त्र कुछ नहीं है; और इस लीलाके लिये ही जीवनयापन करना होगा, अन्य किसी उद्देश्यसे नहीं। संसारमें उसको जिन भोगों और काम्य वस्तुओंकी प्राप्ति होती है, उनको वह अपनी चेष्टासे प्राप्त हुआ नहीं समझता है। उनको वह यज्ञका फल और देवताओंका दान समझकर ग्रहण करता है। यह भाव उसके अंदर जितना ही बढ़ता है उतना ही वह अपनी कामनाओंका दमन करता है, यज्ञको ही जीवन और कर्मकी नीतिके रूपमें ग्रहण करके सन्तुष्ट होता है, यज्ञके अवशेषके रूपमें जो बचता है उसीसे तृप्त होता है और अन्य अंशको निःसंकोचभावसे अपने जीवन और विश्व-जीवनके बीचके कल्याणकर महान् आदान-प्रदानमें अर्घ्यस्वरूप प्रदान करता है। जो लोग कर्मकी इस नीतिके विरुद्ध आचरण करते हैं और अपने स्वतन्त्र स्वार्थके लिये ही भोग और कर्मका अनुसरण करते

* इसी प्रकारकी व्याख्या ठीक है, यह बात अष्टम अध्यायके प्रारम्भसे मालूम होती है। वहाँपर निम्नलिखित तत्त्वोंका वर्णन किया गया है—अक्षर (ब्रह्म), स्वभाव, कर्म, क्षर, भाव, पुरुष और अधियज्ञ। जो अक्षर है, वही ब्रह्म, आत्मा (Spirit or Self) है; स्वभाव ही अध्यात्म है (स्व=ब्रह्म, भाव=उत्पत्ति, अंशतः जीवरूपमें उत्पन्न होकर ब्रह्म ही देह धारण करता है और सुख-दुःखादिको भोगता है), यह अक्षर आत्मासे उत्पन्न हुआ है; प्राणियोंकी उत्पत्ति और विकासका साधक विसर्ग ही कर्म है, अतएव संसारकी अनित्य वस्तुएँ और घटनाएँ कर्मके फल हैं; स्वभावसे ही क्षरभावकी उत्पत्ति हुई है, अन्तरात्मा ही पुरुष है—इस देहमें वही देवांश है, अधिदैवतम्; उन्हींकी उपस्थितिके कारण सब कर्म अन्तरस्थ भगवान्‌के लिये किये हुए यज्ञस्वरूप हो जाते हैं; ये जो गुप्त भगवान् यज्ञ ग्रहण करते हैं वही अधियज्ञ हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हैं, उनका जीवन व्यर्थ है; उन्हें जीवन और आत्मोन्नतिके सच्चे अर्थ और उद्देश्यका पता नहीं लगता। जिस पथसे परम श्रेयः प्राप्त किया जा सकता है उस पथके वे पथिक नहीं हैं। किन्तु परम श्रेयः तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य केवल देवताओंके उद्देश्यसे यज्ञ न करके उस सर्वव्यापी, यज्ञमें प्रतिष्ठित परमेश्वरके उद्देश्यसे करता है। देवता उस परमेश्वरके निम्नतर रूप और शक्तिमात्र हैं। परम श्रेयःकी प्राप्ति तभी होती है जब मनुष्य निम्नप्रकृतिकी कामना-वासनाका परित्याग करता है, स्वयं सब कुछ करता है, इस अहङ्कार-का परित्याग करके प्रकृतिको ही समस्त कार्योंकी प्रकृत कर्त्री समझता है और अपनेको भोक्ता न मानकर विश्वात्मा परम पुरुषकी ही, प्रकृतिके सारे कार्योंके भोक्ताके रूपमें उपलब्धि करता है। उस समय वह अपने व्यक्तिगत भोगमें नहीं, वरं उसी परमात्मामें परम शान्ति, तृप्ति और विमल आनन्दका भोग करता है; उस समय कर्म या कर्मशून्यतासे उसका कोई हानि-लाभ नहीं होता, किसी चीजके लिये वह मनुष्य या देवता, किसीका मुँह नहीं ताकता, किसीसे किसी लाभ-की प्रत्याशा नहीं करता, क्योंकि आत्मानन्दमें ही वह पूर्ण-रूपसे तृप्त रहता है, वह केवल भगवान्‌के लिये यज्ञरूपसे आसक्ति और कामनाशून्य होकर कर्म करता है। इस प्रकारसे वह समझता और प्रकृतिके गुणोंसे मुक्ति प्राप्त करता है, 'निस्त्रैगुण्यः' हो जाता है, उसका आत्मा प्रकृति-की अनिश्चयतामें नहीं रहता, बल्कि अक्षर ब्रह्मकी शान्तिमें प्रतिष्ठित रहता है, यद्यपि उस समय भी प्रकृतिकी लीलाके अंदर उसके कर्म होते रहते हैं। इस प्रकार यज्ञ ही उसके परम श्रेयःकी प्राप्तिका मार्ग होता है।

गीताके बादके कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि हमने जिस प्रकारकी व्याख्या की है वही ठीक है। बादमें कहा गया है कि 'लोकसंग्रहः' ही कर्मका उद्देश्य है; केवल प्रकृति ही सारे कर्मोंको करती है, परम पुरुष ही सारे कर्मोंके भर्ता (upholder) हैं और करते समय भी सारे कर्म उन्हींको अर्पित करने होंगे, (इस भाँति भीतरमें तो आत्मसमर्पण और बाहरमें कर्मसम्पादन—यही यज्ञकी पूर्णता है) इस प्रकार समतापूर्वक वासनाशून्य होकर यज्ञरूपमें कर्म करनेसे कर्मके बन्धनसे मुक्ति प्राप्त की जाती है—

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते॥
(४। २२-२३)

'जो कुछ प्राप्त हो जाय, उसीमें जो सन्तुष्ट है, कर्मकी सफलता या विफलतामें जिसका समभाव है, वह कर्म करनेपर भी बद्ध नहीं होता। जब कोई आसक्तिहीन मुक्तपुरुष यज्ञके लिये कर्म करता है तो उसके सारे कर्म लयको प्राप्त हो जाते हैं' अर्थात् उसके मुक्त, शुद्ध, सिद्ध और समताप्राप्त आत्माके ऊपर उन कर्मोंका फलस्वरूप बन्धन नहीं रह जाता या कोई दाग नहीं पड़ता। हम फिर इन श्लोकोंकी आलोचना करेंगे। इन श्लोकोंके बाद ही यज्ञकी जो विशद व्याख्या की गयी है, जिस भाषाका प्रयोग किया गया है, उससे निस्सन्देह यह मालूम होता है कि इन बातोंका रूपक-भावसे ही व्यवहार किया गया है, और गीताने जिस यज्ञकी शिक्षा दी है वह बाह्य नहीं, वरं आन्तरिक है। प्राचीन वैदिक पद्धतिमें सर्वत्र ही दो प्रकार-के अर्थ रहते थे—शारीरिक और मानसिक, बाह्यिक और रूपक, यज्ञका बाह्यिक अनुष्ठान और उसके समस्त विधानों-का गूढ़ अर्थ। परन्तु प्राचीन वैदिक योगियोंके उस गूढ़ कवित्वमय रूपकका मर्म लोग बहुत समयसे भूल गये थे और उसके स्थानपर गीतामें वेदान्त और योगकी शिक्षाके अनुसार यज्ञकी उदार दार्शनिक व्याख्या की गयी है। यज्ञकी अग्नि भौतिक अग्नि नहीं है, वह ब्रह्माग्नि है। संयम ही अग्नि है अथवा शुद्ध इन्द्रियक्रिया ही अग्नि है अथवा प्राणायामके द्वारा नियमित प्राणशक्ति ही अग्नि है या आत्मज्ञान ही श्रेष्ठ यज्ञकी अग्नि है। यज्ञावशिष्ट अन्नको, जो खाया जाता है, अमृत कहा गया है—उसको भोजन करनेसे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है, इस कथनमें प्राचीन वैदिक रूपकका कुछ अंश है—सोमरस अमृतका रूपक है, देवताओंको यज्ञके द्वारा सन्तुष्ट करके मनुष्य इसको प्राप्त करता है और इसको पीकर स्वर्गके चिर आनन्दका भोग करता है। मनुष्य जिस किसी कर्मको शरीर या मनके द्वारा देवताओं-के या भगवान्‌के उद्देश्यसे करता है, अथवा अपने ऊर्ध्व-तम आत्मा या मानव-जाति और सर्व भूतोंके आत्माके उद्देश्यसे करता है, वही यज्ञार्पण है।

यज्ञकी इस विशद व्याख्याके आरम्भमें कहा गया है कि यज्ञकी क्रिया, यज्ञकी सामग्री, यज्ञका कर्ता, यज्ञका गृहीता, यज्ञका लक्ष्य और उद्देश्य सब वही एक ब्रह्म है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
(४।२४)

'अर्पण ब्रह्म है, उत्सर्गका खाद्य ब्रह्म है, ब्रह्मके द्वारा ही इसको ब्रह्माग्निमें अर्पण करते हैं, ब्रह्मकर्ममें समाधिके द्वारा ब्रह्म ही प्राप्तव्य है।' अतएव इसी ज्ञानके साथ मुक्त पुरुषको यज्ञकर्म करना होगा। 'सोऽहम्', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'अयमात्मा ब्रह्म'—इन महान् वैदिक वाक्योंद्वारा इसी ज्ञानको सूचित किया गया है। यही पूर्ण एकत्वका ज्ञान है। वही 'एक' कर्मके कर्ता, कर्म और कर्मके लक्ष्यके रूपमें आविर्भूत हुआ है, ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूपसे प्रकाशित हुआ है। जिस विश्वशक्तिमें कर्म अर्पित किया जाता है वह भगवान् है, अर्पणकी क्रिया भगवान् है, जो अर्पण किया जाता है वह भगवान्का ही एक विशेष रूप है, जो अर्पण करता है वह भी मनुष्यरूपमें भगवान् ही है। क्रिया, कर्म, यज्ञ सब कुछ गतिरूपमें, कर्म-रूपमें भगवान् ही हैं, यज्ञके द्वारा जिस गन्तव्य स्थानमें पहुँचना होगा, वह भी भगवान् हैं। जो मनुष्य इस ज्ञान-का अधिकारी है और इस ज्ञानके अनुसार जीवनयापन करता है, कर्म करता है, उसके लिये कर्म बन्धनकारक नहीं हैं, उसका व्यक्तिगत, अहंकृत कोई कर्म नहीं रह सकता, केवल दैव पुरुष अपनी ही सत्तामें दैवी प्रकृति-के द्वारा कार्य करते हैं, अपने आत्मज्ञानसम्पन्न विश्वशक्ति-रूप अग्निमें अर्पण करते हैं। इन ईश्वरमुखी कर्मोंका उद्देश्य भगवज्ज्ञान और भगवज्जीवनकी प्राप्ति है। इसको जान लेनेसे और इस ऐक्य-ज्ञानमें जीवनयापन करने, और कर्म करनेसे मुक्ति प्राप्त होती है। किन्तु योगियोंमें भी सबने इस ज्ञानको नहीं प्राप्त किया है—

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति॥
(४।२५)

'अन्य योगी देवताओंके उद्देश्यसे यज्ञानुष्ठान करते हैं; दूसरे योगी ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञके द्वारा यज्ञार्पण करते हैं।' पहले प्रकारके योगी भगवान्की विभिन्न रूपोंमें, विभिन्न शक्तियोंमें कल्पना करते हैं और विभिन्न उपायों, अनुष्ठानों तथा धर्मोंके द्वारा उनको प्राप्त करना चाहते हैं। दूसरे प्रकारके योगी जो यज्ञके सहज, सरल मर्मको जानते हैं, अपने सारे कर्मोंको भगवान्में अर्पित कर देते हैं और अपने कर्म और शक्तिको भगवज्ज्ञानके द्वारा परिचालित करते हैं—यही उनका एकमात्र उपाय है, एकमात्र धर्म है। यज्ञके उपाय विविध हैं, अर्पण नाना प्रकारके हैं। आत्मसंयमरूप जो मानसिक यज्ञ है, उसके द्वारा ऊँची आत्मविजय और ऊँचा ज्ञान प्राप्त किया जाता है—

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति॥
सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते॥
(४।२६-२७)

'कोई-कोई इन्द्रियसंयमरूप अग्निमें श्रोत्रादि इन्द्रियोंका होम करते हैं, और कोई-कोई इन्द्रियरूपी अग्निमें शब्दादि विषयोंको डालते हैं। अन्य लोग ब्रह्मज्ञान-प्रदीप्त आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें समस्त इन्द्रियकर्म और प्राणकर्मका होम करते हैं।' अर्थात् एक प्रकारकी साधना है जिसमें इन्द्रियोंके विषयोंको ग्रहण किया जाता है, किन्तु इन इन्द्रिय-क्रियाओंसे मनको विचलित नहीं होने दिया जाता; इन्द्रियाँ ही होमकी पवित्र अग्निस्वरूप होती हैं; और एक प्रकारकी साधना है जिसमें इन्द्रियोंको शान्त किया जाता है, जिसमें मनकी क्रियाकी आड़मेंसे शान्त स्थिर आत्मा अपनी पवित्रतामें आविर्भूत हो; और एक प्रकारकी साधना है,—जब आत्माको जान लेते हैं तब इस साधनाके द्वारा समस्त इन्द्रियकर्म और समस्त प्राणकर्म उसी एक स्थिर शान्त आत्मामें ग्रहण किये जाते हैं। जो लोग सिद्धिके लिये प्रयत्न करते हैं उनका यज्ञ स्थूल द्रव्यों-का अर्थात् द्रव्ययज्ञ हो सकता है—भक्त जब नैवेद्यादिके द्वारा देवताकी पूजा करता है, तब वह इसी प्रकारका द्रव्ययज्ञ करता है; अथवा आत्मसंयमकी कठोर साधना और किसी उच्च उद्देश्यको सिद्ध करनेके लिये समस्त शक्ति लगाना भी एक प्रकारका यज्ञ, तपोयज्ञ है, अथवा राजयोगियों और हठयोगियोंका प्राणायाम या अन्य किसी प्रकारका योगयज्ञ हो सकता है। ये सभी आत्मशुद्धिमें सहायक हैं; सभी प्रकारके यज्ञ श्रेष्ठ पद प्राप्त करनेके एक-एक उपाय हैं।

इन सारी विभिन्नताओंके अंदर एक प्रधान वस्तु है जो मूल नीतिके रूपमें सभीके अंदर है; वह यह कि निम्न स्तरकी क्रियाओंका दमन करना होगा, वासनाके आधिपत्यको कम करके उच्च स्तरकी शक्तिको प्रतिष्ठित करना होगा त्यागके द्वारा, आत्मोत्सर्गके द्वारा, आत्म-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

त्यके द्वारा—नीच प्रवृत्तियोंका त्याग करके उच्चतर और बृहत्तर आदर्श ग्रहण करनेसे जो स्वर्गीय आनन्द पाया जाता है, उसीका अनुसरण करना होगा—

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् ।

'जो लोग यज्ञावशिष्ट अमृत भोजन करते हैं, वे सनातन ब्रह्मको पाते हैं।' यज्ञ ही संसारकी नीति है। इस लोकमें प्रभुत्व, परलोकमें स्वर्ग या श्रेष्ठ पद कुछ भी यज्ञके बिना नहीं प्राप्त होता—

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥
एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे ।
कर्मजान् विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥
(४ । ३२-३३)

'जो यज्ञ नहीं करता उसके लिये यह लोक ही नहीं है, परलोक तो दूरकी बात है। अतएव ये समस्त यज्ञ और अन्यान्य अनेक प्रकारके यज्ञ ब्रह्माग्निमें अर्पित होते हैं 'विताता ब्रह्मणो मुखे।' (Extended in the mouth of the Brahman, the mouth of that fire which receives all offerings) ये सब यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होते हैं; ईश्वरकी एक विराट् शक्ति विश्वव्यापी कर्ममें आविर्भूत है—सब यज्ञ उससे उद्भूत हैं—इस प्रकार विश्वकी सारी क्रियाएँ परमेश्वरके उद्देश्यसे यज्ञस्वरूप बन जाती हैं और मनुष्यके लिये इसकी अन्तिम अवस्था है आत्मज्ञान एवं ब्रह्मज्ञान। 'इस प्रकार जानकर तुम मुक्ति लाभ करोगे।'

किन्तु इन विभिन्न प्रकारके यज्ञोंके विभिन्न स्तर हैं—द्रव्ययज्ञ सबसे निम्न स्तरका है, ज्ञानयज्ञ सबसे उच्चस्तरका है। ज्ञानहीमें सारे कर्मोंकी परिसमाप्ति है—निम्न स्तरके कर्ममें नहीं; उच्चतम ज्ञानमें, आत्मज्ञानमें, ब्रह्मज्ञानमें। इस ज्ञानको हमलोग उनसे सीख सकते हैं जो सृष्टिके मूल तत्त्वोंसे अवगत हैं, 'तत्त्वदर्शिनः।' इस ज्ञानको प्राप्त कर लेनेके बाद हमलोग मोहमें नहीं पड़ सकते एवं इन्द्रिय-सुख ज्ञान और इन्द्रियभोगके बन्धनमें या नीच कामना-वासनाके बन्धनमें बद्ध नहीं हो सकते। जिस ज्ञानमें समस्त कर्म परिसमाप्त होते हैं, उस ज्ञानके द्वारा 'तुम समस्त भूतोंको आत्मामें और बादको मुझमें देखोगे।' क्योंकि आत्मा ही एक अक्षर, सर्वव्यापी, सर्वमय, सद्वस्तु है—हमलोगोंके मानसिक जीवनके परे छिपा हुआ ब्रह्म है। हमलोगोंका ज्ञान जब अहंभावसे मुक्त हो जाता है, तब वह विस्तृत होकर ब्रह्मको ही प्राप्त होता है; हम सभी सत्ताको उसी एक आत्मसत्ताके अंदर विभिन्न भूतरूपमें देखते हैं—

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥
तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥
यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव ।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥
(४ । ३४—३६)

किन्तु यह जो आत्मा या अक्षर ब्रह्म है यह भी हमारे शुद्ध आन्तःकरणिक चेतनाके सम्मुख एक उत्तम पुरुषका आत्मप्रकाश है; वह उत्तम पुरुष ही हमारे अस्तित्वके मूल हैं एवं जो कुछ क्षर या अक्षर है, सब उन्हींकी अभिव्यक्ति है। वह ईश्वर देव, पुरुषोत्तम हैं। उन्हींको हमलोग प्रत्येक वस्तु यज्ञरूपसे अर्पण करते हैं, उन्हींके हाथमें हमलोग अपने कर्म समर्पित करते हैं, उन्हींकी सत्तामें हमलोग जीवन धारण करते हैं, चलते-फिरते हैं। हमलोग अपने स्वभावमें उनके साथ एवं उनमें अवस्थित सर्वभूतोंके साथ संयुक्त होकर उनके और सर्वभूतोंके साथ आत्मसत्ता और शक्तिमें एकीभूत और युक्त होते हैं। वासनाका त्याग करके, यज्ञार्थ कर्म करके हम ज्ञान प्राप्त करते हैं और आत्मा अपने स्वभावमें स्थित होता है; आत्मज्ञान और ईश्वरज्ञानके साथ कर्म करके हमलोग ऐश्वरिक सत्ताके एकत्व, शान्ति और आनन्दमें मुक्तिलाभ करते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भक्त मार्कण्डेय मुनि

महाप्रलयका भयङ्कर समय था। प्रलय-सूर्यका उदय हुआ, बादल कड़कने लगे, बिजली बरसने लगी, नक्षत्र टूटने लगे। नदी-नद सूख गये। ऊपर-नीचे आग-ही-आग हो गयी। प्रचण्ड पवनकी सहायतासे इस संवर्तक अग्निने सब कुछ भस्म कर डाला। इस महाघोर महाप्रलयके सङ्कटमें एकमात्र महर्षि मार्कण्डेय ध्याननिष्ठ रहे। परन्तु थोड़ी ही देरमें प्रलयानलने उन्हें भी व्याकुल कर दिया। वे किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर बेसुध-से हुए रक्षा पानेके लिये दौड़ने लगे। कहीं विश्रामकी जगह उन्हें नहीं दिखायी पड़ी। आगकी आकाशव्यापिनी लपटोंके सिवा कहीं कुछ नहीं दीखता था। भक्तने भगवान्‌को याद किया। इतनेमें ही उन्हें एक वटका वृक्ष दिखायी दिया। मार्कण्डेय-को उस वटके मूलमें आश्रय मिल गया। देखा, वहाँ न अग्नि थी, न अंगारे बरसते थे और न बिजली ही गिरती थी! मुनि ध्यानमग्न हो गये!

थोड़ी ही देरमें आकाश काले-पीले-भयावने बादलोंसे भर गया। प्रलयवर्षा होने लगी। भीषण प्रलयाग्नि बुझ गयी। अब धरती जलमयी हो गयी। सब ओर केवल जल-ही-जल! देव-दानव-मानव किसीका भी अस्तित्व नहीं रहा। मार्कण्डेयने आँखें खोलकर देखा—जल-ही-जल है। न वटका पेड़ है, न चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, पवन या कोई जीव है। घोर एकार्णव है, उसका कोई आश्रय नहीं है। सर्वत्र ही तमोराशि है! मुनि एकार्णव जलमें डूबने लगे—तैरनेकी चेष्टा की परन्तु सफलता नहीं मिली। आखिर प्रबल बहावमें बह चले। भगवान्‌का ध्यान किया। मन-ही-मन उनकी शरण हुए। भगवान्‌की दिव्य वाणी सुनायी दी। फिर दिखायी पड़ा—वही महान् वट-वृक्ष जलराशिपर तैरता हुआ। उसकी एक विशाल डालपर दिव्य पलंग बिछा है। पलंग दिव्य रत्नोंसे विभूषित है। नाना प्रकारके बिछौने बिछे हैं। पलंग क्या है—ऐश्वर्यका भण्डार है, प्रभामण्डलसे मण्डित है। करोड़ों सूर्योंका शीतल सुधावर्षी प्रकाश हो रहा है। पलंगपर बालरूप भगवान् श्रीकृष्ण विराजमान हैं, उनके देहकी प्रभा करोड़ों सूर्योंकी प्रभाको लजाने-वाली है; महान् तेज है; एक-एक अंग करोड़ों कामोंका दर्प चूर्ण करता है; भगवान् कमलदललोचन हैं, विशाल वक्षःस्थलपर श्रीवत्स और दिव्य वनमालाएँ सुशोभित हैं, कानोंमें दिव्य कुण्डल, गलेमें दिव्य हीरक-हार, नानाविध रत्नमय आभूषण हैं; चार भुजाएँ हैं; शङ्ख, चक्र, गदा धारण किये हैं; देवदेव भगवान् श्रीकृष्णके मुनिमनमोहन इस बालस्वरूपको देखकर मुनिवर मार्कण्डेय मोहित हो गये, और विचार करने लगे—इस एकार्णव जलमें जब कि चराचर सब नष्ट हो गया है यह निर्भय और प्रसन्नवदन तेजोमय अद्भुत

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बालक कौन है ? यद्यपि मुनि सब कुछ जानते थे परन्तु इस समय ईश्वरीय मायासे मोहित होकर वे कुछ भी तत्त्व नहीं समझ सके—

भूतं भव्यं भविष्यं च जानन्नपि महामुनिः।
न बुबोध तदा दैवं मायया तस्य मोहितः॥

मुनिवर पहले कभी न देखे हुए इस विचित्र बालकका तत्त्व न जानकर बहुत दुखी हुए और अपने तपोबल, ज्ञान, कर्म, दीर्घ जीवन और मनुष्यत्वको व्यर्थ मानने लगे। तदनन्तर बेसुध-से हो गये और लगे महासमुद्रके जलपर तैरने ! रक्षाके लिये व्याकुल मुनि अपनी महिमामें अधिष्ठित और सर्वतेजोमय बालककी ओर देख नहीं सके। मुनिको इस प्रकार विपत्तिमें पड़े देख लीलामय बालकने मुसकुराते हुए कहा—'वत्स ! तुम अब बहुत थक गये हो और इस विपत्तिसे बचनेके लिये मेरे शरण हुए हो; आओ, जल्दी आकर मेरे शरीरमें प्रवेश कर जाओ।' मुनिने कुछ भी उत्तर नहीं दिया और विवश होकर वे बालकके खुले हुए मुँहमें चले गये !

मुनिने बालकके उदरमें जाकर असंख्य विचित्र विश्व, नाना लोक, अनेकों विचित्र समुद्र, अनेकों द्वीप, विचित्र पृथ्वी, रत्न, पहाड़, वृक्ष, जीव, पशु, पक्षी, देवता, सिद्ध, ऋषि-मुनि, चारण, अप्सरा, स्वर्ग, पाताल, धरा, तीर्थ, क्षेत्र आदि देखे। वहाँ मुनिकी अबाध गति हो गयी, वे सब ओर गये। भगवान्‌की कृपासे उनकी पूर्वस्मृति बनी रही। यों वे अनन्त विश्वोंमें भटके परन्तु कहीं भगवान्‌के उस शरीरका छोर नहीं मिला। अन्तहीन उस भगवान्‌में नाना लोकोंमें घूमते और नाना प्रकारके विचित्र जगत्‌को देखते-देखते मुनि घबरा गये और अन्तमें उन्हीं देवदेवके शरण हुए। बालकने मुँह खोला और सहसा मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय बाहर निकल आये।

बाहर निकलकर देखते हैं, वही वटका वृक्ष है। उसी वृक्षशाखापर स्थित पलंगपर वही विचित्र बालक विचित्र ढंगसे बैठा हुआ अपनी मोहिनी विस्तार कर रहा है। मुनिको आश्चर्यचकित देखकर बालकरूप भगवान्‌ने हँसकर कहा—'वत्स ! तुम्हें मेरे पेटमें शान्ति मिली तो ? तुमने वहाँ क्या आश्चर्य देखा ? हे मुनिवर ! तुम मेरे भक्त हो, मैं तुम्हारे कल्याणके लिये कहता हूँ, अब तुम मेरी ओर देखो !' मुनिकी हिम्मत हुई और उन्होंने हर्षपुलकित होकर भगवान्‌की ओर देखा ! देखते ही मायाका परदा हट गया। उन्हें नवीन दिव्य दृष्टि मिल गयी। मुनि मार्कण्डेय भगवान्‌के सुरमुनिसेवित अरुण चरणकमलोंमें प्रणाम करके हाथ जोड़कर बार-बार आश्चर्यचकित होते हुए हर्षगद्‌गद कण्ठसे स्तवन करने लगे। मुनिकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर भगवान्‌ने कहा—मुनिवर ! तुम क्या चाहते हो ? बोलो ! तुम्हारी सारी मनोकामना मैं पूर्ण करूँगा।' मुनि भगवान्‌की दिव्य वाणी सुनकर बोले—'भगवन् ! मैं तुम्हारा स्वरूप जानना चाहता हूँ। तुम्हारे उदरमें मैं न मालूम कितना फिरा परन्तु कहीं तुम्हारा ओर-छोर नहीं मिला। हे पुण्डरीकाक्ष ! बताओ, तुम कौन हो ? क्यों सारे जगत्‌को पीकर यहाँ शिशुरूपमें खेल रहे हो। सारे विश्व क्यों तुम्हारे देहके अंदर हैं और तुम कबतक यहाँ रहोगे ? हे कमललोचन ! मैंने जो कुछ देखा वह बुद्धिके परे और सर्वथा अचिन्तनीय है। बताओ, इस अचिन्त्य लीलाको—उदरको धारण करनेवाले अचिन्त्यके आधार तुम कौन हो ?'

भक्त मार्कण्डेयके वचन सुनकर महातेजस्वी महान् वक्ता देवदेव भगवान् मुनिको सान्त्वना देते हुए बोले—

'हे ब्राह्मण ! मनुष्य तो क्या, देवता भी मुझको

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भलीभाँति नहीं जानते; तुम्हारी भक्तिसे प्रसन्न होकर मैं अपना किञ्चित् रहस्य तुम्हें बतलाता हूँ, सुनो ! हे विप्रर्षे ! तुमने पिताकी भक्ति की है, तुम मेरे शरणागत हो और तुमने असाधारणरूपसे ब्रह्मचर्य-का पालन किया है, यह मैं जानता हूँ, इसीसे मैं तुमपर सन्तुष्ट हूँ। प्राचीन कालमें मैंने जलका एक नाम 'नार' रक्खा था, इसीसे मेरा नाम 'नारायण' है। ये नार सदा ही मेरे अयन हैं। मैं 'नारायण' नामसे सबका प्रभव हूँ। मैं अविनाशी, नित्य, सर्व-भूतोंका विधाता और सृष्टिकर्त्ता हूँ। मैं ही विष्णु, ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, सूर्य, चन्द्र, यम, प्रजापति, धाता, विधाता और यज्ञ हूँ। अग्नि मेरा मुख है, पृथ्वी मेरे चरण हैं, सूर्य-चन्द्र मेरे नेत्र हैं, ऊर्ध्वभूमि मेरा मस्तक है, आकाश और दिशाएँ श्रोत्र हैं, समुद्र पसीना है, दिशा और नभोमण्डल काया है, वायु मन है। यज्ञोंके द्वारा मैं ही पूजित होता हूँ। वेदविद् विप्र मेरी ही अर्चना करते हैं; क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने-अपने कर्मोंके द्वारा मेरा ही पूजन करते हैं। सुमेरु और मन्दराचलसे विभूषित और समुद्रोंसे विस्तृत वसुन्धरा-को शेषरूपसे मैं ही धारण करता हूँ। प्राचीन कालमें जलमग्ना पृथ्वीका वराहरूपसे मैंने ही उद्धार किया था। मैं ही बडवानल बनकर जलराशिका पान करता हूँ। फिर मैं ही उसमें समाविष्ट होकर सबकी सृष्टि करता हूँ। चारों वर्ण मुझसे ही निकले हैं, चारों वेदोंका प्रादुर्भाव मुझसे ही हुआ है और ये मुझमें ही प्रविष्ट होते हैं।

जो समतायुक्त हैं, मन-इन्द्रियोंको जीते हुए हैं, तत्त्वजिज्ञासु, काम-क्रोध-द्वेष-रहित, आसक्तिहीन, निष्पाप, सत्त्वगुणी, निरहंकार और अध्यात्मदर्शी पुरुष हैं, वे ही मेरी तन्मयभावसे उपासना करते हैं। मैं ही संवर्त्तक नामक ज्योति, अनल, सूर्य और अनिल हूँ। नभोमण्डलमें दीखनेवाले सब तारे मेरे रोमकूप हैं। दिशाएँ और सागर सब मैं ही हूँ। भले-बुरे सब भाव मुझसे ही हैं। सत्य, दान, तप और सर्वभूतमयी अहिंसासे मनुष्य जो कल्याणको प्राप्त करते हैं उसका मूल मैं ही हूँ। सब देहधारी मेरे ही विधानसे विहित और मेरी ही आज्ञासे सञ्चालित हैं। जो भलीभाँति मेरी पूजार्चना करते हैं वे शान्तचित्त जितक्रोध पुरुष मुझको ही प्राप्त होते हैं। पापी मनुष्य कदापि मुझे नहीं पाते। लोभी, कृपण, इन्द्रियोंके दास और अशुभ कर्म करनेवाले पुरुष भी मुझे नहीं पा सकते। साधक महात्माओंका प्राप्य जो महाफल है, सो मैं ही हूँ। कुयोगी और विमूढ़ोंके लिये मैं दुष्प्राप्य हूँ। जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युदय होता है, तभी मैं प्रकट होता हूँ। जब दैत्यलोग हिंसापरायण हो जाते हैं और देवोंके द्वारा भी नहीं मरते तब मैं मानवरूपमें प्रकट होता हूँ और दैत्योंका संहारकर धर्मकी स्थापना करता हूँ। अपनी मायासे ही मैं सबका संहार और पुनः सृजन करता हूँ; मैं ही काल हूँ; मैं ही कालचक्रका प्रवर्त्तक हूँ; मैं ही ब्रह्म हूँ; मैं ही सब भूतोंका शमन करनेवाला हूँ। मैं ही सबमें आत्मारूपसे स्थित हूँ। आश्चर्य यह कि सबमें सदा स्थित होनेपर भी मुझे कोई नहीं जानता। भक्तलोग सब प्रकारसे मेरी ही पूजा करते हैं। हे विप्रर्षे ! तुमने मेरे अंदर जो क्लेश पाया है वह तुम्हारे सुख और कल्याणका ही कारण है। स्थावर-जङ्गम जो कुछ भी तुमने देखा है, भूतभावन मैं उसमें सर्वत्र ही विराजित हूँ; और सब मेरे ही विधानमें बँधे हैं। मैं ही शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी नारायण हूँ। जबतक हजार युग नहीं बीतेंगे तबतक मैं विश्वात्मा समस्त विश्वको विमोहित करके सोया रहूँगा। जबतक ब्रह्मा विबुद्ध न होंगे, तबतक मैं अशिव

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होकर भी शिशुरूपमें रहूँगा। हे विप्रर्षियोंके द्वारा पूजित मुनिवर! मैं तुम्हारे प्रति सन्तुष्ट हूँ, इसीसे तुम्हें यह रहस्य बतलाया है। जबतक ब्रह्मा नहीं प्रकट होते तबतक तुम यहीं सुखसे रहो। जब लोक-पितामह प्रकट होंगे तब मैं अकेला ही सब भूतोंकी, आकाश, पृथ्वी, ज्योति, वायु, जल इत्यादि चराचर पदार्थोंकी पुनः सृष्टि करूँगा।'

भगवान्‌की दिव्य वाणी सुनकर महान् तपस्वी भक्त मार्कण्डेय कृतार्थ हो गये।

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

परमहंस श्रीरामकृष्ण

महापुरुषोंकी महिमा कौन गा सकता है? वे वस्तुतः भगवद्‌रूप ही होते हैं, बल्कि भवतापसन्तप्त जीवोंके लिये तो उनको भगवान्‌से भी बढ़कर समझना चाहिये। संसारमें मनुष्य भगवान्‌को नहीं देख पाते, उनके चरणोंमें उपस्थित होकर उनकी सेवा नहीं कर सकते, उनसे साक्षात् उपदेश ग्रहण नहीं कर सकते, उनके प्रत्यक्ष आचरणों और व्यवहारोंको अपनी आँखोंसे देखकर उनका अनुसरण नहीं कर सकते, परन्तु महापुरुष तो मनुष्यों-जैसे ही शरीरधारी और उन्हींके जगत्‌में उनके सामने प्रत्यक्ष रहते हैं, इससे मनुष्यमात्र—चाहें जो—उनसे पूरा लाभ उठा सकते हैं। भगवान् हमारी आँखोंसे छिपे रहते हैं, परन्तु महापुरुष तो प्रत्यक्ष मूर्तिमान् भगवान् हैं। भगवान्‌ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि मुझमें और मेरे प्रेमी भक्तोंमें वास्तवमें कोई अन्तर नहीं है, जो मैं हूँ सो वे हैं और जो वे हैं सो मैं हूँ। देवर्षि नारद घोषणा करते हैं 'तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्' भगवान्‌में और उनके जनोंमें कोई भेद नहीं है। वे भगवान्‌के मूर्तस्वरूप हैं। उनके दर्शन, स्पर्श और भाषणकी बात तो दूर रही, उनके स्वरूप और आचरणोंके स्मरण मात्रसे ही हृदयमें पवित्रताका सञ्चार होता है और मनकी गति बरबस भगवान्‌की ओर हो जाती है। ऐसे महापुरुषोंके प्रकट होनेसे ही भगवान्‌की लीलाका जगत्‌में विस्तार होता है। यही लोग प्रभुके सच्चे सन्देशवाहक और प्रतिनिधि होते हैं। जिस भूमिपर ऐसे महात्मा प्रकट होते हैं, वह भूमि पवित्र हो जाती है, जहाँ ये विचरते हैं, वह देश शुद्ध हो जाता है, जहाँ ये निवास करते हैं, वहाँका वातावरण पवित्र हो जाता है, जिन स्थानोंमें ये भगवदाराधन करते हैं वे स्थान पातकियोंको पावन करनेवाले तीर्थ बन जाते हैं, जिस ग्रन्थको ये पढ़ते हैं, वह जगत्‌का आदर्श धर्म-ग्रन्थ बन जाता है, ये जो कुछ उपदेश करते हैं वही शास्त्र बन जाता है, ये जैसा आचरण करते हैं, वैसा ही वहाँके लोगोंका आचार बन जाता है। इनका प्रकाश इतना प्रखर होता है कि दूर-दूरतक

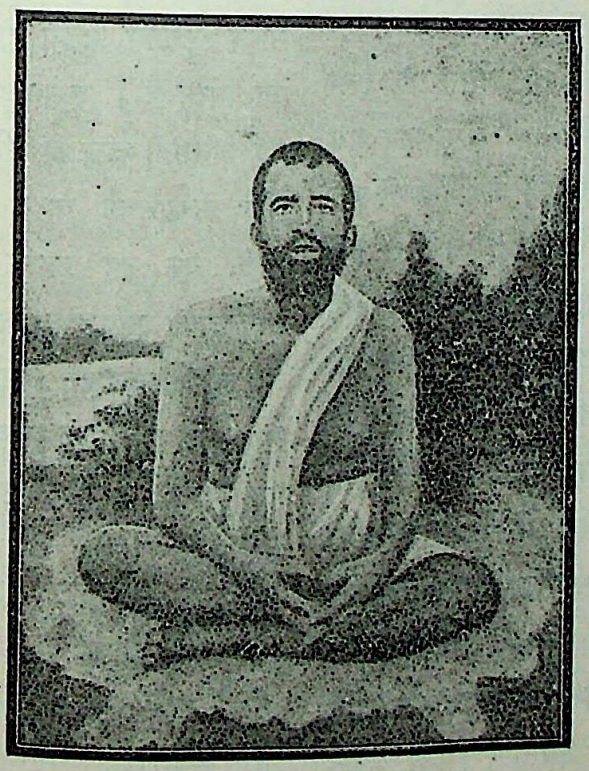

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पाप-तापरूपी अन्धकार नहीं रह सकता, आनन्द और शान्तिकी शीतल प्रफुल्लतामयी चाँदनी सर्वत्र छिटकी रहती है। जो इनके चरणोंका आश्रय ले लेते हैं, वे स्वयं तर जाते हैं और जगत्‌को तारनेवाले बन जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून्संसेवतस्तथा॥
निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥
अन्नं हि प्राणिनां प्राण आर्तानां शरणं त्वहम्।
धर्मो वित्तं नृणां प्रेत्य सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम्॥
सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि बहिरर्कः समुत्थितः।
देवता बान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च॥
(११। २६। ३१—३४)

जिस प्रकार अग्निका आश्रय लेनेपर शीत, भय और अन्धकार तीनोंका नाश हो जाता है, इसी प्रकार साधु महापुरुषोंके सेवनसे पाप, संसृतिका भय और अज्ञान आदि नष्ट हो जाते हैं। जलमें डूबते हुए लोगोंको जैसे नौका उबार लेती है, वैसे ही इस भयानक संसार-सागरमें गोते खाते हुए मनुष्योंके लिये ब्रह्मवेत्ता और शान्तचित्त महापुरुष परम अवलम्बन हैं। जैसे प्राणियोंका अन्न ही प्राण है, मैं भगवान् ही आर्त-दुखियोंका आश्रय हूँ और परलोकमें जैसे धर्म ही मनुष्यका धन होता है, उसी प्रकार संसार-भयसे व्याकुल मनुष्योंके लिये सन्त महापुरुष ही परम आश्रय होते हैं। आकाशमें उदय हुआ सूर्य मनुष्यको केवल बाह्य नेत्र ही देता है परन्तु सन्त महापुरुष तो उसे ज्ञानरूपी आन्तरिक नेत्र प्रदान करते हैं। ऐसे महापुरुष सन्तजन ही देवता, बन्धु, सबके आत्मा और साक्षात् मेरे (भगवान्‌के) स्वरूप हैं।

ये महापुरुष ही जगत्‌के आधार होते हैं और यही जगत्‌रूपी आकाशकी परम प्रकाशमयी उज्ज्वल ज्योति होते हैं, इनकी त्यागमयी प्रतिभा सर्वत्र और सर्वथा वन्दनीय होती है।

श्रीपरमहंसदेव वर्तमान युगके ऐसे ही एक आदर्श महापुरुष थे। उनके पवित्र जीवनपर जितना ही अधिक मनन किया जाता है, उतनी ही अधिक उनपर श्रद्धा-भक्ति बढ़ती है। आज भारत और विदेशोंके लाखों नर-नारी उनके आदर्श चरित्रकी पूजा करते हैं और उनकी महान् शिक्षासे लाभ उठा रहे हैं। श्रीपरमहंसदेवने जो कुछ किया और कहा, उसमें कहीं भी किसीको कोई दिखावटकी बात नहीं दीख पड़ी। उनकी शिक्षा इतनी सरल और स्वाभाविक है मानो उनका हृदय ही वाणी बनकर सबके सामने आ जाता है। उसमें पाण्डित्य नहीं, पर अनुभवकी वह अनोखी छटा है जिसके सामने बड़े-बड़े पण्डित सिर झुकानेको बाध्य होते हैं। उसमें तर्कका जाल नहीं, पर वह इतनी बलवती है कि बड़े-से-बड़े तार्किकको भगवद्भक्त बननेके लिये मजबूर कर देती है। बड़े ही आनन्दका विषय है कि भारतीय संस्कृति और साधनाके मूर्तिमान् स्वरूप, वर्तमान विश्वके इन आदर्श महापुरुषका शताब्दी-उत्सव मनानेका देश-विदेशके महानुभाव पुरुष बृहत् आयोजन कर रहे हैं। आशा है सभी देश, जाति और धर्मसम्प्रदायके लोग इस पुण्य यज्ञमें यथायोग्य रूपसे सम्मिलित होकर महापुरुषके प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पणकर पुण्यके भागी होंगे।*

* परमहंसदेवका जीवनचरित्र और उनके चुने हुए ३०१ अमूल्य उपदेशोंकी छपी पुस्तक गीताप्रेससे मँगाकर पढ़ें।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

एक बड़ा पाप

यद्यपि भगवान्‌पर विश्वास करके उनके अनन्य-शरण हो जानेपर मनुष्यके सारे दोष अपने-आप समूल नष्ट हो जाते हैं और उसके समस्त योग-क्षेमका वहन भगवान् स्वयं करते हैं, परन्तु ऐसी स्थिति बहुत सहज नहीं है। सच्चे साधनके द्वारा नित्य भगवत्-कृपाका अनुभव होनेपर ही भगवान्‌में पूर्ण और अलौकिक विश्वास पैदा होता है और तभी मनुष्य अपने समस्त बल, लोक-परलोक और भोग-मोक्ष सब प्रभुके चरणोंपर अर्पण करके उनके अनन्य-शरण होता है। क्षणविश्वासी या अल्पविश्वासी साधारण लोग इस अवस्थासे बहुत दूर रहते हैं। वे भगवान्‌के गुण और माहात्म्यको सुनकर कभी-कभी विश्वासकी ओर कुछ झुकते हैं, परन्तु पर्याप्त आगे बढ़नेसे पहले ही कई प्रकारकी बाधाएँ पाकर रुक जाते हैं। इन बाधाओंमें कुछ तो पूर्वकर्मोंके प्रतिबन्धक होते हैं और कुछ वर्तमान समाजके संग, स्थिति आदिके कारण उत्पन्न हुई रुकावटें होती हैं। ये बाधाएँ अनेक हैं, परन्तु इस समय साधारणतः उनमेंसे धनकी चिन्ता एक प्रधान बाधा है। धनकी चिन्ताका कारण उदर-पूर्ति या परिवार-पालन ही कहा जाता है परन्तु वास्तवमें मूलकारण दूसरा है,—वह है हमारी काम-भोगपरायणता। विषयोंके उपभोगको ही परम पुरुषार्थ और परम आनन्द माननेवाले मनुष्योंकी चिन्ताएँ मृत्युकालतक भी दूर नहीं होतीं। क्योंकि ऐसे लोग अपनी स्थितिके अनुकूल साधारण सादा जीवन बिताना भूल जाते हैं। फलस्वरूप उन्हें रात-दिन कमाकी इतनी चिन्ता करनी पड़ती है कि उसके सामने भगवान् और धर्मका चिन्तन या विचार तुच्छ, अनावश्यक और कभी-कभी त्याज्य हो जाता है और वे सब कुछ भूल कामक्रोधपरायण होकर अन्यायपूर्वक धन-संग्रहके कार्यमें लग जाते हैं। यों करते-करते ही उनके जीवनके दिन पूरे हो जाते हैं। बहुमूल्य, दुर्लभ मनुष्य-जीवन पाप-ताप बटोरनेमें ही व्यर्थ बीत जाता है। यह इतनी बड़ी हानि होती है, जिसकी बड़ी कठिनतासे भी पूर्ति नहीं होती और समय हाथसे निकल जानेपर पीछे बेहद पछताना पड़ता है।

मनुष्य यदि चाहे तो प्रारब्ध या सञ्चितजनित प्रतिबन्धकोंको भी दूर कर सकता है, पर वर्तमान कालके संग और स्थितिसे उपजी हुई बाधाओंको तो मिटा सकनेमें कोई सन्देह ही नहीं है। यदि वह संगको बदल डाले और हृदयमें कुछ बलसञ्चय करके कुसंग और दुर्बलतावश होनेवाले प्रमाद और अकर्तव्य कार्योंको छोड़ दे तो ये बाधाएँ सहज ही दूर हो सकती हैं। वास्तवमें हमें अपने और परिवारके लिये साधारणतः अन्न-वस्त्र संग्रह करनेमें उतनी कठिनता नहीं है। कठिनता तो यह है कि हमने अपनी आवश्यकताएँ बहुत अधिक बढ़ा ली हैं और उनकी किसी-न-किसी प्रकार पूर्ति करनेमें ही कर्तव्यकी इतिश्री समझ रक्खी है। यदि हम ध्यान देकर देखें तो व्यक्तिगत और समाजगत ऐसे हजारों अवसर हैं, जिनमें हम बहुत धन खर्च किया करते हैं परन्तु जहाँ बिना खर्च किये ही काम मजेमें चल सकता है, ऐसे अवसरोंपर खर्च करनेकी आवश्यकता हमने उत्पन्न कर ली है, वस्तुतः है नहीं। खाने-पहनने तथा गृहस्थीके दूसरे-दूसरे कार्योंके लिये हम ऐसी बहुत-सी चीजें खरीदते हैं जिनके न खरीदनेसे हमें अपने जीवन-यापनमें कोई रुकावट नहीं होती। उदाहरणके लिये, मनुष्यका दो कपड़ोंमें काम चल सकता है, पर वह चार-पाँच पहनता है, खानेमें मिठाई अथवा बहुत

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तरहकी तरकारी, अचार आदिके बिना कोई अड़चन नहीं होती परन्तु इनमें बहुत व्यय किया जाता है ! छोटे, साफ मकानमें रहा जा सकता है परन्तु दिखावेके लिये बड़ी-बड़ी इमारतें बनवायी जाती हैं। शाल-दुशाले, इत्र-फुलेल, साबुन-क्रीम, फरनीचर आदि हजारों प्रकारके शौकके सामानमें पानीकी ज्यों पैसा बरबाद किया जाता है। यह तो व्यक्तिगत बात हुई। समाजमें ब्याह-शादी, कर्णछेदन, जनेऊ, मरण आदि-पर इतना बुरी तरह खर्च किया जाता है कि जिसका दुःख पीढ़ियोंतक भोगना पड़ता है। सैकड़ों अच्छे-अच्छे घराने इस व्यय-भारसे दबकर नष्ट हो गये और होते जा रहे हैं। इधर वर्षोंसे खर्च घटानेकी तथा रीतियोंमें सुधारकी बात चल रही है और अनेक प्रकारके परिवर्तन भी हुए हैं परन्तु खर्चकी रकम घटनेके बदले बढ़ी है। खर्चके तरीके बदले हैं, खर्च नहीं घटा। बल्कि पहले जो कुछ खर्च किया जाता था, वह प्रायः ऐसी चीजोंमें खर्च होता था जो चीजें बुरे समयपर काम आती थीं और उनकी लागतसे कुछ कम कीमत, चाहे जब बेंचकर, वसूल की जा सकती थी, परन्तु अब तो जो कुछ खर्च होता है वह प्रायः स्वाहा ही हो जाता है। फैशनने सबको तबाह कर दिया है। इस सारे अनर्थका कारण हमारी कामभोगपरायणताकी वृद्धि है और इसके छूटनेका असली उपाय विषय-वैराग्यपूर्वक ईश्वरपरायणता ही है। उस ईश्वरपरायणतामें भजनकी आवश्यकता है। और भजन होनेमें आज यह धनकी 'हाय-हाय' बुरी तरह बाधक हो रही है। अतएव अपना, समाजका और देशका लौकिक-पारलौकिक हित चाहनेवाले प्रत्येक मनुष्यका यह कर्तव्य है कि वह खर्च घटावे, जीवनमें सच्च ओर सादगीका व्यवहार करे, व्यक्तिगत और समाजगत धनकी फजूलखर्चीको दृढ़ता और बलके साथ नासमझीसे होनेवाली बदनामीको सहकर भी रोके। अधिकतर लोग झूठी कीर्ति या बड़ाईके फेरमें पड़कर ही ज्यादा खर्च किया करते हैं, इस बड़ाईका रूप बदलकर खर्च कम करनेवालेकी बड़ाई करें और उसीके कार्यको अच्छा बतावें। इससे बड़ाईके लोभी भी कम खर्च करने लगेंगे। आजकल, विवाह-शादीमें तो जो अनर्थ हो रहा है सो बड़ा ही रोमाञ्चकारी है। खर्चकी भयानकताके कारण लड़कियोंका ब्याह नहीं होने पाता और अच्छे-अच्छे परिवार इसके लिये दुखी हो रहे हैं। इसीके कारण प्रायः लड़के-लड़कियोंमें जन्मकालसे ही भेददृष्टि हो जाती है और लड़कियोंके साथ बुरे-से-बुरा अन्यायभरा बर्ताव होता है। राजपूतोंमें इस खर्चकी भयानकताके कारण ही लड़कियों-को जन्मते ही विष देकर मार डालनेका नृशंस पाप शुरू हो गया। जिसके कई लड़कियाँ हैं उसका तो जीवन ही दुःखमय बन रहा है। खर्चके भारसे पीड़ित पिता-माताका दुःख न देख सकनेके कारण बंगालमें स्नेहलता आदि कुमारियोंने आत्महत्या कर ली थी, आज भी अपने कारण माता-पिताको दुखी होते देखकर सयानी लड़कियाँ मन-ही-मन कितना रोती हैं, इस बातको उनका हृदय ही जानता है। ऐसी स्थितिमें प्रत्येक हृदयवान् गृहस्थको इस विषयपर विचार करके कर्तव्य स्थिर करना चाहिये। कन्याके माता-पिता क्या करें, उन्हें तो किसी प्रकार खेत-जमीन, घर-द्वार बन्धक रखकर वरके माता-पिताको राजी करना ही पड़ता है। परन्तु वह हृदयका रक्त दिया जाता है, दहेज नहीं। मेरे मित्र एक सरयूपारी ब्राह्मण हैं, उनके घरमें कई कन्याएँ हैं, एक कन्या विवाह-योग्य है। उसकी उम्र लगभग १५ सालकी हो गयी है। कन्या सुशीला है, बहुत अच्छे ब्राह्मण हैं, परन्तु दहेजके अभावमें विवाह नहीं हो पाता। वे बड़े दुखी हो रहे हैं। हजार डेढ़ हजारसे कममें तो कोई बात ही नहीं करता। यू० पी० के एक सज्जनका पत्र मिला

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है। वे पहले वकील थे। उनके एक कन्या है। वे लिखते हैं—'कन्या विवाह-योग्य हो गयी है, परन्तु दहेजका प्रश्न सामने है। मैट्रिक-पास बालकके पिता तो मोटर बिना बात नहीं करते।' यह पाप है और आज हिन्दुओंके घर-घरमें इस पापका दावानल धधक रहा है। मैं प्रत्येक हृदयवान् सत्संगी भाई और बहनोंसे एक विनय करता हूँ, जो घरमें सम्पन्न हैं और जो परमार्थके मार्गपर आगे बढ़ना चाहते हैं, कि वे अपनी व्यक्तिगत और समाजगत आवश्यकताओं-को तुरन्त कम कर दें और अपने लड़कोंका विवाह ढूँढ़-ढूँढ़कर बिना दहेज लिये गरीब माता-पिताकी सुयोग्य कन्याओंसे करनेकी प्रतिज्ञा करें। धर्मप्रेमी अविवाहित युवक भी दृढ़ताके साथ यह प्रण करें कि वे अपना विवाह बिना दहेज लिये ही करेंगे। मेरा विश्वास है कि ऐसा करनेसे उन्हें परमार्थ-मार्गमें बड़ा बल होगा।

यह निवेदन सामाजिक दृष्टिसे नहीं, शुद्ध परमार्थ दृष्टिसे किया गया है और इसी दृष्टिसे सत्संगी सज्जनों, माताओं और धर्मप्रेमी अविवाहित युवकोंसे प्रतिज्ञा करने-की प्रार्थना की गयी है क्योंकि यह विषय भजनमें बड़ा ही बाधक सिद्ध हो रहा है और इस बाधाके दूर होनेकी बड़ी ही आवश्यकता है। क्या मैं आशा करूँ कि प्रेमी सज्जनोंमें कुछ तो ऐसी प्रतिज्ञा कर ही लेंगे?

वस्तुतः धन अत्यन्त ही तुच्छ पदार्थ है, प्रेमधन जगत्‌की तुलनामें तो यह रक्खा ही नहीं जा सकता। सूर्य और जुगनूकी उपमा भी इसके लिये ठीक नहीं है। इसलिये इस विषयमें वृत्तियोंके अधिक लगानेकी आवश्यकता नहीं है, तथापि आज इस अर्थ-युगमें चारों ओर धनकी पूजा हो रही है, सभी लोग धनचिन्तामें पड़े हुए ईश्वरको भूल रहे हैं। इसीसे ऐसा लिखा गया है। धन कम खर्च करनेकी इस प्रार्थनासे यह नहीं समझना चाहिये कि इसमें धनका महत्त्व बतलाया गया है, वरं यह समझना चाहिये कि धन अत्यन्त तुच्छ पदार्थ है, व्यर्थ खर्च-कर उसके उपार्जनमें समय लगाकर उसका महत्त्व बढ़ाना उचित नहीं। हम अपनी आवश्यकताओंको जितना कम करेंगे, उतना ही धनका महत्त्व घटेगा और उतना ही शीघ्र हम पाप-तापसे छूटकर परमात्माकी ओर अग्रसर हो सकेंगे। हमारी आवश्यकताएँ ही धनकी लालसा उत्पन्नकर हमें दरवाजे-दरवाजेपर भटकाती और भगवान्‌से विमुख करती हैं। जिस दिन चाह मिट जायगी, उस दिन हम बादशाह बन जायँगे।

चाह गयी चिंता गयी मनुआँ बेपरवाह।
जिसको कछू न चाहिये सो जग शाहंशाह॥

* * *

चार साल पहले उपर्युक्त लेख 'भजनमें बाधा' शीर्षकसे कल्याणमें छपा था और इसको पढ़कर लगभग सौसे अधिक सज्जनोंने दहेज न लेनेकी प्रतिज्ञा की थी और उससे यत्किञ्चित् लाभ भी हुआ था। परन्तु जबतक देशमें तिलक या ठहरौनीकी प्रथा जारी है, जबतक धनके अभावसे कन्याके माता-पिता अपनी प्राणोंकी पुतली कन्याके लिये सुयोग्य वर नहीं पाते, तबतक समाजमें पापकी वृद्धि ही होती जायगी। हालमें कलकत्तेमें एक दिल दहला देनेवाला समाचार मिला है। श्रीयुत किशोरी-मोहन मजूमदार नामक एक बंगाली सज्जनकी चार नवयुवती कन्याओंने अफीम खाकर आत्महत्याकी चेष्टा की, जिनमें तीन मर गयीं और एक बची। मजूमदार महोदय कुलीन ब्राह्मण हैं। उनके सात लड़कियाँ थीं, तीनका विवाह वे कर चुके थे। और उन तीन विवाहोंमें ही उनका सब कुछ स्वाहा हो गया था। अब उनके पास दहेज देनेके लिये धन नहीं था, और बिना धनके लड़के नहीं मिलते थे।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रात-दिन घरमें दुःख रहता था। पिताको इस प्रकार रात-दिन अपने लिये जलते देखकर सयानी लड़कियोंने अपना अन्त कर डालना ही उचित समझा और इसीलिये उन्होंने जहर खा लिया। यद्यपि आत्महत्या एक प्रबल नैतिक दोष है और धार्मिक दृष्टिसे भी बड़ा पाप है। इसका समर्थन नहीं किया जा सकता। तथापि गरीब पिताकी कन्याओंने जिस परिस्थितिमें पड़कर अत्यधिक मनोवेदनाकी हालतमें जो कुछ किया, उसके देखनेसे प्रत्येक सहृदय मनुष्यकी उनके प्रति सहानुभूति होगी। यह मामूली सामाजिक पाप नहीं है। बड़ा पाप है। मैं ऊपर पुराने लेखको उद्धृत करके प्रत्येक हृदयवान् अविवाहित नवयुवकसे और उनके धर्मप्रेमी माता-पिताओंसे ईश्वर और धर्मके नामपर अपील करता हूँ कि वे बिना दहेज लिये विवाह करनेका प्रण करें और इस भयानक पापकी जड़ काटनेमें क्रियाशील सहायक बनें। प्रतिज्ञाके लिये छपे कार्ड पत्र लिखकर मँगवा सकते हैं।

हनुमानप्रसाद पोद्दार

सम्राट् पञ्चम जार्ज

गत २० जनवरीको सम्राट् पञ्चम जार्जका परलोकवास हो गया। सुना जाता है वे आदर्श नरपति, आदर्श पिता, आदर्श पुत्र और आदर्श मित्र थे। अतएव ऐसे पुरुषके लिये प्रजा, परिवार और इष्ट-मित्रोंका शोकसन्तप्त होना स्वाभाविक ही है। परन्तु मनुष्यको यहीं आकर हार माननी पड़ती है। उसे विवश होकर कहना पड़ता है, जीवन हमारे हाथमें नहीं है। सम्राट् बहुत अच्छे पुरुष थे, परन्तु हम उन्हें उस रूपमें अपने बीचमें स्थित नहीं रख सके। मनुष्यको इस अपनी निर्बलतासे यह पाठ सीखना चाहिये कि हम चाहे कितने ही बड़े विद्वान्, ऐश्वर्यशाली, शक्तिसम्पन्न, और प्रचुर धन-जनके स्वामी क्यों न हों, सब कुछ छोड़कर असहायकी भाँति हमें यहाँसे जाना ही पड़ता है। हाँ, दो बातें यहाँ रह जाती हैं और दो हमारे साथ जाती हैं,—भलाई और बुराई अथवा स्तुति और निन्दा यहाँ रह जाती हैं, और अच्छे तथा बुरे कर्म साथ जाते हैं। ये अच्छे-बुरे कर्म ही भावी जन्मोंके और उनसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखके कारण होते हैं। सम्राट् भले थे इसीसे आज सर्वत्र उनकी प्रशंसा हो रही है। अतएव जगत्में सबको भला बनना चाहिये, और सत्-कर्म करने चाहिये। जिससे यहाँ कीर्ति रह जाय, और हमारे भविष्यके जन्म सुखमय हों। यह याद रखना चाहिये कि हमारा यह मृत्यु जीवनका अन्त नहीं है यह तो जीवनग्रन्थका एक अध्याय, या जीवन्नाटकका एक सीन मात्र है। इस ग्रन्थका उपसंहार या जीवन्नाटकका आखिरी सीन भी इस जन्मको हम बना सकते हैं यदि इसी ध्येयके पीछे लग जायँ। अवश्य ही इसके लिये भरपूर प्रयत्नकी और अटल श्रद्धा-विश्वासकी आवश्यकता है। परन्तु यदि हम इसे कर पावें तो फिर हमें इस अनादिकालीन ग्रन्थलेखनके चरम फलरूप परमानन्दमय अवस्थाकी प्राप्ति हो जायगी या मायाके नाटकसे निकलकर हम अपने सच्चे सुखमय घरमें प्रवेश कर जायँगे और यही तो जीव-जीवनका आखिरी ध्येय है!

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कृपालु संत महात्मा भक्त और विद्वान् लेखकोंसे प्रार्थना

वेदान्ताङ्क

आगामी श्रावणमें आपका 'कल्याण' दशम वर्ष समाप्तकर एकादशमें प्रवेश करेगा। अचिन्त्य लीलामय भगवान्‌की कृपा, प्रेरणा और शक्तिसे अबतक 'कल्याण' के द्वारा विश्वरूप भगवान्‌की किसी अंशमें जो कुछ पूजा-अर्चना हुई है उसका कुछ-कुछ हम सभीको अनुमान है। इस समय 'कल्याण' ३४०५० छप रहा है। भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंमें लोग 'कल्याण' को बड़े उत्साहसे पढ़ते हैं और अनेकों नर-नारी कल्याणके उपदेशोंका अनुकरण कर जीवनको उच्च भावयुक्त, सदाचार-परायण और भगवद्‌मुखी बनानेकी चेष्टा कर रहे हैं।

इस बार एकादश वर्षका प्रवेशाङ्क 'वेदान्ताङ्क' निकालना निश्चित हुआ है। वेदान्तसे केवल अद्वैत-सिद्धान्त ही नहीं समझना चाहिये। भारतके सभी प्रतिष्ठापाद आचार्य—श्रीशङ्कर-सरीखे अद्वैतवादी और श्रीमध्व-सरीखे द्वैतवादी सभी वेदान्ती ही माने जाते हैं। भारतके सभी सम्प्रदायोंसे वेदान्त-का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतएव इस अंकमें व्यापक-रूपसे वेदान्तसम्बन्धी प्रायः सभी विषयोंपर प्रकाश डालनेकी यथासाध्य चेष्टा की जा रही है। इसके साथ छपी लेख-सूचीको देखनेसे आप इस बातको समझ जायँगे। साथ ही इसमें बहुत-से सुन्दर रंगीन और सादे चित्र रहेंगे, जो ज्ञानी और भक्त सभी साधकोंके लिये सुखप्रद और लाभप्रद होंगे। निश्चय ही सब कुछ श्रीभगवान्‌की शक्ति और प्रेरणासे होता है और उन्हींकी कृपापर इस अंककी सफलता निर्भर है, परन्तु हम यह भी देखते हैं कि 'कल्याण' को भगवान्‌की कल्याणमयी कृपाके दानका एक महत्त्वपूर्ण अंश उन्हींकी प्रेरणासे आपके सदृश हमारे परम आदरणीय अनुभवी संत, महात्मा, भक्त और विद्वानोंके द्वारा प्राप्त होता है।

इस अंकके लिये नीचे लिखे विषयोंमेंसे किसी विषयपर या अन्य किसी भी वेदान्त-सम्बन्धी उपयोगी विषयपर लेख भेजनेके लिये पूज्यचरण महानुभावोंसे प्रार्थना की गयी है। लेख आ रहे हैं। संत, महात्मा, प्रेमी भक्त और विद्वानोंसे प्रार्थना है कि वे अपने लेख आगामी वैशाख शुक्ल १ से पहले ही भेजनेकी कृपा करें। लेख बड़ा न हो, हासिया छोड़कर साफ अक्षरोंमें कागजकी एक ही पीठपर लिखा हुआ हो। हिन्दी, संस्कृत, बंगला, मराठी, गुजराती और अंगरेजी इनमेंसे किसी भी भाषामें लेख भेज सकते हैं।

प्रार्थी

हनुमानप्रसाद पोद्दार, सम्पादक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वेदान्ताङ्कके लेखोंकी विषय-सूची

१–वेदान्त शब्दका वाच्यार्थ क्या है?
२–वेदका स्वरूप-विचार।
३–वेदके साथ वेदान्तका सम्बन्ध-निर्णय।
४–उपनिषद्-प्रतिपादित वेदान्त।
५–आरण्यक तथा उपनिषद्का परस्पर सम्बन्ध।
६–वैदिक साधनामें वेदान्तका स्थान।
७–वेदान्तका प्रस्थानत्रय (ब्रह्मसूत्र, उपनिषद् और गीता)।
८–बादरायणका ब्रह्मसूत्र।
९–बादरि, जैमिनि, काशकृत्स्न, आश्मरथ्य, औडुलोमि, कश्यप, आत्रेय, कार्ष्णाजिनि प्रभृति प्राचीन आचार्योंका वेदान्त-सिद्धान्त।
१०–बादरायणकृत ब्रह्मसूत्रका आलोच्य विषय-विचार।
११–ब्रह्मसूत्रपर प्राचीन तथा नवीन भाष्यकार और निबन्धकारोंके व्याख्यानपर विचार—
(क) द्रविडाचार्य।
(ख) भर्तृप्रपञ्च।
(ग) भर्तृहरि।
(घ) बोधायन।
(ङ) उपवर्ष।
(च) यादवप्रकाश।
(छ) श्रीकण्ठ।
(ज) श्रीशङ्कराचार्य।
(झ) श्रीभास्कराचार्य।
(ञ) श्रीरामानुजाचार्य।
(ट) श्रीमध्वाचार्य।
(ठ) श्रीनिम्बार्काचार्य।
(ड) श्रीवल्लभाचार्य।
(ढ) श्रीबलदेव विद्याभूषण आदि-आदि।
१२–भगवान् श्रीशङ्कराचार्य और वेदान्त।
१३–विज्ञानभिक्षुकृत विज्ञानामृत-भाष्य।
१४–रामायत सम्प्रदायके आनन्द-भाष्य तथा जानकीभाष्यपर विचार।
१५–राधामाधवभाष्यपर विचार।
१६–गौडपाद और माण्डूक्यकारिका।
१७–गोविन्दभगवत्पाद।
१८–अद्वैतवाद (अद्वैत सम्प्रदायाचार्य श्रीशङ्कर और तदनुवर्ती आचार्योंका संक्षिप्त विवरण तथा उनके सिद्धान्तोंका समालोचन)।
(क) पद्मपाद (पञ्चपादिकाकार)।
(ख) सुरेश्वराचार्य (नैष्कर्म्य-सिद्धि और उपनिषद्-वार्त्तिकादिकार)।
(ग) सर्वज्ञात्ममुनि (संक्षेप-शारीरककार)।
(घ) वाचस्पति मिश्र (भामतीकार)।
(ङ) श्रीहर्ष (खण्डनकार)।
(च) आनन्दबोधाचार्य (न्याय-मकरन्दकार)।
(छ) चित्सुखाचार्य (तत्त्व-प्रदीपिकाकार)।
(ज) अमलानन्द (वेदान्तकल्प-तरुकार)।
(झ) विद्यारण्य स्वामी (पञ्चदशी, विवरणप्रमेय-संग्रह प्रभृतिके निर्माता)।
(ञ) नरसिंहाश्रम (अद्वैत-दीपिकाकार)।
(ट) मधुसूदन सरस्वती (अद्वैत सिद्धिकार)।
(ठ) अप्पय्य दीक्षित (परिमल-कार) इत्यादि-इत्यादि।
१९–विशिष्टाद्वैतवाद (श्रीसम्प्रदायाचार्य श्रीरामानुज तथा तदनुवर्ती वेदान्त-देशिकाचार्य प्रभृतिका संक्षिप्त विवरण और उनके सिद्धान्तोंका समालोचन)।
२०–द्वैताद्वैतवाद (सनकादि-सम्प्रदायाचार्य श्रीनिम्बार्क तथा तदनुयायी आचार्योंका संक्षिप्त विवरण और उनके सिद्धान्तोंका समालोचन)।
२१–द्वैतवाद (ब्रह्मसम्प्रदायाचार्य श्रीमध्व तथा तन्मतानुयायी आचार्योंका संक्षिप्त विवरण और उनके सिद्धान्तोंका समालोचन)।
२२–शुद्धाद्वैतवाद (रुद्रसम्प्रदायाचार्य श्रीवल्लभ तथा तन्मतानुयायी आचार्योंका संक्षिप्त विवरण और उनके सिद्धान्तोंका समालोचन)।
२३–अचिन्त्यभेदाभेदवाद (महाप्रभु श्रीचैतन्यचिन्तित श्रीगौडीय सम्प्रदायान्तर्गत आचार्योंका संक्षिप्त विवरण और उनके सिद्धान्तोंका समालोचन)।
२४–शिवाद्वैतवाद (शिवाद्वैताचार्य श्रीश्रीकण्ठाचार्य और तदनुवर्ती आचार्योंका संक्षिप्त वर्णन और उनके सिद्धान्तोंका समालोचन)।
२५–मण्डनमिश्रके ब्रह्मवाद और शङ्करके ब्रह्मवादमें परस्पर भेद।
२६–अद्वैतवादका प्रकारभेद—
(क) ब्रह्माद्वैतवाद
शङ्कराचार्यसम्मत मण्डनमिश्रसम्मत

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(ख) शाक्ताद्वैतवाद ।
२७-शिवाद्वैतवाद (काश्मीरके त्रिक तथा प्रत्यभिज्ञादर्शनसम्मत)।
२८-शून्याद्वैतवाद (माध्यमिक आचार्य नागार्जुनसम्मत)।
२९-विज्ञानाद्वैतवाद(योगाचाराचार्य असंगादिसम्मत)।
३०-शब्दाद्वैतवाद(भर्तृहरिसम्मत)।
३१-शाक्ताद्वैतवाद (शाक्ताद्वैत-सम्मत)।
३२-मायावाद और विवर्त्तवाद ।
३३-आरम्भवाद, परिणामवाद और आभासवादसे शङ्कर-उपदिष्ट विवर्त्तवादका भेद ।
३४-अवच्छेद तथा प्रतिबिम्बवाद ।
३५-प्रपञ्च-विलयवाद ।
३६-अजातवाद ।
३७-स्पन्दवाद ।
३८-अध्यासवाद ।
३९-विकासवाद ।
४०-एकजीववाद-दृष्टिसृष्टिवाद ।
४१-नानाजीववाद-सृष्टिदृष्टिवाद ।
४२-स्वभाववाद ।
४३-ब्रह्मपरिणामवाद ।
४४-अनिर्वचनीयवाद (प्रसंगतः—
(क) ख्यातिविचार—अन्यथा ख्याति तथा विपरीतख्याति।
(ख) अख्यातिविचार ।
(ग) आत्मख्यातिविचार ।
(घ) सदसत्-ख्यातिविचार ।
(ङ) असत्-ख्याति,सत्-ख्याति और अनिर्वचनीयख्याति)।
४५-ज्ञानकर्मसमुच्चय—
(क) सम समुच्चय ।
(ख) विषम समुच्चय ।

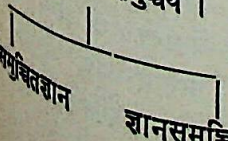

४६-विष्णुस्वामीका मत और उसके साथ वल्लभाचार्यके सिद्धान्तका सम्बन्ध-विचार ।
४७-पाञ्चरात्र और वेदान्त ।
४८-पाशुपतसिद्धान्त और वेदान्त ।
४९-सूरदासजी और अद्वैतवाद ।
५०-गोस्वामी तुलसीदासजी और अद्वैतवाद ।
५१-द्वैतमतमें पञ्चविध भेदविचार ।
५२-वेदान्तसम्मत सृष्टिप्रक्रिया ।
५३-ज्ञान और योग ।
५४-ज्ञान और भक्ति ।
५५-ज्ञान और कर्म ।
५६-असत्कार्यवाद, सत्कार्यवाद तथा सत्कारणवादका विचार ।
५७-विद्याभेद—
(क) पराविद्या (उपनिषदुपदिष्ट दहर-विद्या, सम्बन्धविद्या, मधुविद्या, पञ्चाग्निविद्या, भूमाविद्या, उद्गीथ- विद्या प्रभृतिका विचार)।
(ख) अपराविद्या ।
५८-मुक्तिका प्रकारभेद—
(क) सद्योमुक्ति ।
(ख) क्रममुक्ति ।
(ग) अपरामुक्ति (सालोक्य, सामीप्य, सार्ष्टि तथा सायुज्य)।
(घ) परामुक्ति या निर्वाणमुक्ति।
(ङ) निर्वाण, महानिर्वाण तथा महापरिनिर्वाणका विचार।
(च) जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति ।
५९-बन्धन तथा मोक्ष ।
६०-बन्धनका प्रकारभेद ।
(क) प्राकृत बन्ध ।
(ख) वैकृत बन्ध ।
(ग) दक्षिणा बन्ध ।

६१-नित्य और अनित्य वस्तुओंका स्वरूपगत भेद-निर्देश ।
६२-कूटस्थ-नित्यत्व तथा परिणामी नित्यत्वका स्वरूपभेद ।
६३-सांख्यके साथ वेदान्तका सम्बन्ध ।
६४-ब्रह्मकोटि और ईश्वरकोटिका भेद ।
६५-आचार्य, कारकपुरुष और अवतारका भेद ।
६६-ब्रह्म, आत्मा, ज्ञान, ज्ञानी और मुक्तका स्वरूपनिर्णय ।
६७-ज्ञातसत्ता और अज्ञातसत्ता ।
६८-विश्ववृक्ष ।
६९-भगवान्की स्वरूपशक्ति अथवा अन्तरङ्गाशक्ति, तटस्था अथवा जीव-शक्ति, और बहिरंगा अथवा मायाशक्तिका विचार ।
७०-परमात्माके ईक्षणका स्वरूप ।
७१-गुणमाया तथा प्रधान मायाभेदसे मायाका भेद ।
७२-माया, महामाया तथा योगमाया ।
७३-माया और त्रिगुण ।
७४-मायाका व्यक्त तथा अव्यक्त रूप।
७५-प्रलयानन्तर सृष्टिके प्रारम्भमें मायाका क्षोभप्रकार ।
७६-नित्य लीला ।
७७-सत्ताका प्रकारभेद—
(क) पारमार्थिक ।
(ख) व्यावहारिक ।
(ग) प्रातिभासिक ।
(घ) बौद्ध ।
७८-संहारप्रक्रिया तथा चतुर्विध प्रलयका विचार ।
(क) नित्यप्रलय ।
(ख) नैमित्तिक प्रलय ।
(ग) महाप्रलय ।
(घ) आत्यन्तिक प्रलय ।
७९-जीवसृष्टि तथा ईश्वरसृष्टिका परस्पर भेद ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

८०-गुणभेदसे प्रापञ्चिक सर्गका तारतम्य-विचार ।
८१-भामतीप्रस्थान तथा विवरण-प्रस्थानका परस्पर भेद ।
८२-श्रीकण्ठके विशिष्टाद्वैतवादसे रामानुजके विशिष्टाद्वैतवादका भेद ।
८३-प्रत्यभिज्ञाशास्त्रोक्त 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा' से वेदान्तोक्त 'सोऽहम्' ज्ञानका भेद ।
८४-अविद्याका स्वरूप-विचार ।
(क) मूलाविद्या ।
(ख) तूलाविद्या ।
(ग) अविद्याका आश्रय तथा विषय-विचार ।
(घ) अविद्या-निवृत्तिका स्वरूप तथा क्रम ।
(ङ) अविद्याकी द्विविधा शक्ति ।
(च) अविद्यालेश क्या है ?
८५-ज्ञानसे प्रारब्धक्षय होता है या नहीं ?
८६-जीवन्मुक्तिके विषयमें सम्प्रदाय-विशेषका सन्देह और उसका निरसन ।
८७-विदेहकैवल्यके विषयमें सम्प्रदाय-विशेषका संशय तथा उसका निरसन ।
८८-जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, तुरीयातीत अवस्थाओंका वर्णन ।
८९-अध्यारोप तथा अपवाद ।
९०-सच्चिदानन्द-तत्त्व ।
९१-साक्षीतत्त्व (जीवसाक्षी, ईश्वर-साक्षी प्रभृतिका विचार) ।
९२-गीताप्रतिपाद्य समग्र ब्रह्म या पुरुषोत्तमका स्वरूप ।
९३-ईश्वर और महेश्वर ।
९४-कालतत्त्व ।
९५-देशतत्त्व ।
९६-ब्रह्मके स्वरूपलक्षण तथा तटस्थलक्षणका विचार ।
९७-सगुण तथा निर्गुण ब्रह्मतत्त्व ।
९८-जीव और ईश्वरका परस्पर सम्बन्ध-विचार ।
९९-ईश्वर और मायाका सम्बन्ध-विचार ।
१००-जीव और मायाका सम्बन्ध-विचार ।
१०१-अखण्ड विस्मृति तथा खण्ड विस्मृतिका परस्पर भेद ।
१०२-आत्मा एक है या बहुत ?
१०३-वेदान्त शून्यवाद नहीं है ।
१०४-शङ्कर मायावादी नहीं, ब्रह्मवादी हैं ।
१०५-सर्वदर्शनसमन्वय ।
१०६-सर्वसिद्धान्तसमन्वय ।
१०७-ईशोपनिषद्की विद्या और अविद्याका तात्पर्य ।
१०८-ईशोपनिषद्की सम्भूति और असम्भूतिका तात्पर्य ।
१०९-विज्ञानका उत्क्रमणमार्ग ।
११०-अपक्वदेह तथा चित्तमें ब्रह्म-ज्ञानोदयकी सम्भावना (प्रसंगतः रसेश्वरदर्शनानुगामी शैवाचार्यों-की शङ्काओंका समाधान) ।
१११-गीतानुसार गुणातीत, भक्त और स्थितप्रज्ञके लक्षण ।
११२-गीतोक्त दिव्यदृष्टि ।
११३-जीवन्मुक्तका व्यवहार ।
११४-ब्रह्मज्ञानकी साधनसम्पत्ति ।
११५-साधनचतुष्टय ।
११६-त्रिवृत्करण तथा पञ्चीकरण ।
११७-पञ्चकोशविवेक ।
११८-देहतत्त्व—
(क) स्थूल या षाट्कौशिक देह ।
(ख) लिङ्ग या सूक्ष्मदेह-पुर्यष्टक ।
(ग) कारणदेह ।
(घ) महाकारणदेह ।
(ङ) भावदेह ।
(च) ज्ञानदेह ।
(छ) भगवद्देह या चिन्मयदेह इत्यादि ।
११९-वेदान्तवाक्यविचार ।
(क) महावाक्य ।
(ख) अवान्तरवाक्य ।
१२०-वेदान्तवाक्यजन्य ज्ञान परोक्ष है या अपरोक्ष ?
१२१-उपाधिविज्ञान—
(क) जीवोपाधि

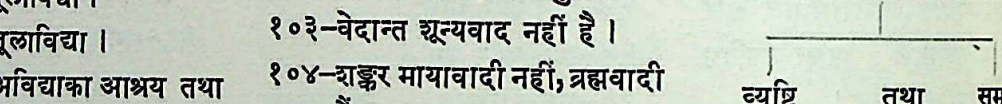

(ख) ईश्वरोपाधि

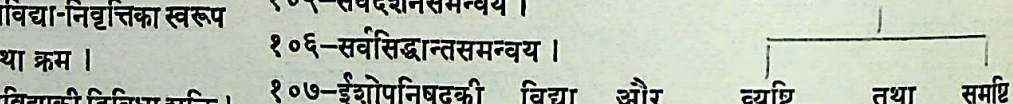

१२२-ब्रह्मविद्याका अधिकार-विचार ।
१२३-वेदान्तका अनुबन्धचतुष्टय ।
१२४-वैराग्य—
(क) अपर ।
(ख) पर ।
१२५-वैराग्यके साथ ज्ञानका सम्बन्ध ।
१२६-चित्तशुद्धिका क्रम ।
१२७-कर्तृत्व तथा भोक्तृत्वका मूलानुसन्धान ।
१२८-आत्मसाक्षात्कार और उसका उपाय ।
१२९-अपरोक्षानुभूति ।
१३०-ग्रन्थिमोचन ।
१३१-जीवन्मुक्तिका प्रयोजनविचार ।
१३२-ज्ञानकी सप्तभूमि (प्रसंगतः ब्रह्मवित्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान्, ब्रह्मविद्वरिष्ठ अवस्थाओंका सविशेष वर्णन) ।
१३३-अज्ञानकी सप्तभूमि ।
१३४-वेदान्त तथा अन्यान्य शास्त्रोंके प्रस्थान-भेदके अनुसार अज्ञान और ज्ञानका स्वरूप-विचार ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१५५-आत्मदर्शनमें श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनकी कारणता।
१५६-योगविस्मृति तथा ब्रह्मज्ञान।
१५७-देवयान तथा पितृयान (शुक्ल और कृष्णमार्गका विचार)।
१५८-संसारका अनादित्व।
१५९-विविदिषासंन्यास तथा विद्वत्संन्यासका भेद (प्रसंगतः कुटीचक, बहूदक, हंस, परमहंस-अवस्थाओंका वर्णन)।
१६०-अत्याश्रमी अवस्था।
१६१-वेदान्तका दुरुपयोग।
१६२-वेदान्तका भ्रान्त अर्थ।
१६३-पाप होनेमें प्रारब्ध कारण नहीं है।
१६४-काम, क्रोध, लोभादि अन्तःकरणके विकार हैं, धर्म नहीं।
१६५-क्रियात्मक वेदान्त।
१६६-जगद्द्वैतकी अनुपपत्ति।
१६७-श्रीकृष्ण ही वेदान्तप्रतिपाद्य अनिर्वचनीय ब्रह्मतत्त्व हैं।
१६८-उपासनारहस्य।
१६९-भक्ति और उपासना।
१७०-साधनभक्ति तथा फलरूपा पराभक्तिमें परस्पर सम्बन्ध।
१७१-भक्तिमूलक ज्ञान या ज्ञानमूलक भक्ति।
१७२-रागमार्ग तथा वैधमार्ग अथवा पुष्टिमार्ग तथा मर्यादामार्गका परस्पर सम्बन्ध अथवा वल्लभ और चैतन्यका सम्बन्ध।
१७३-शाण्डिल्यसूत्रानुसार मोक्षका कारण-निर्देश।
१७४-भगवद्भक्तिका महत्त्व।
१७५-भक्तिका स्वरूप-विचार।
(क) क्रियारूपा भक्ति।
(ख) ज्ञानरूपा भक्ति।
(ग) भावरूपा भक्ति।
(घ) नित्यभक्ति।
१५६-चतुर्व्यूह और त्रिविधपुरुष-विचार।
१५७-भक्ति रस है या भावमात्र है ?
(क) शाण्डिल्य, नारद, उद्धव, गर्ग, भीष्म, प्रह्लाद प्रभृति भक्ताचार्योंके सिद्धान्त।
(ख) शङ्कराचार्यके मतमें भक्तिका स्वरूप।
(ग) श्रीरामानुजका प्रपत्तियोग।
(घ) स्वप्नेश्वर, नारायणतीर्थ, भक्तिरसायनकार मधुसूदन सरस्वती, बोपदेव प्रभृति अभिनव आचार्योंका अभिमत।
(ङ) गौडीयमतानुवर्ती रूप गोस्वामी, जीव गोस्वामी, सनातन गोस्वामी, बलदेव विद्याभूषण, विश्वनाथ चक्रवर्ती, कृष्णदास कविराज, अलंकार-कौस्तुभकार कवि कर्णपूर प्रभृति आचार्योंका मत।
(च) वल्लभाचार्य, विट्ठलाचार्य, गोपेश्वर प्रभृति शुद्धाद्वैती वेदान्तियोंका साम्प्रदायिक सिद्धान्त।
१५८-भगवद्भक्तिके आविर्भावका प्रचार और उसकी क्रमिक पुष्टि।
१५९-आश्रयपञ्चकका सविशेष विचार।
(क) नामाश्रय।
(ख) मन्त्राश्रय।
(ग) भावाश्रय।
(घ) प्रेमाश्रय।
(ङ) रसाश्रय।
१६०-अवतार-विज्ञान।
(क) पूर्णावतार।
(ख) कलावतार।
(ग) अंशावतार।
(घ) लीलावतार।
(ङ) गुणावतार।
(च) मन्वन्तर।
(छ) शक्त्यावेश आदिका विचार।
१६१-अवतार और अवतारी।
१६२-अवतारदेह मायिक है अथवा शुद्ध सत्त्वमय अथवा चिदानन्दात्मक ?
१६३-अवतारकी संख्या-पर्यालोचन।
१६४-अवतारभेदसे इच्छा, ज्ञान, क्रियादि शक्तियोंकी अभिव्यक्तिका तारतम्य-विचार।
१६५-अवतारका प्रयोजन।
१६६-शरणापत्ति अथवा प्रपत्तिका स्वरूप, प्रयोजन, कारण तथा फलनिर्देश।
१६७-अवतारसे लिङ्ग तथा कारण देहका सम्बन्ध है या नहीं ?
१६८-महापुरुषलक्षण (प्रसंगतः बौद्धशास्त्रोक्त महापुरुषके ३२ लक्षण तथा ८४ अनुव्यञ्जन आर्षशास्त्रसम्मत है या नहीं ?)।
१६९-त्रिपुटीतत्त्व तथा त्रिपुटीभंग-रहस्य।
१७०-मनोनिवृत्ति, प्राणनिरोध तथा वासना-क्षयका परस्पर सम्बन्ध।
१७१-प्रणव अथवा ॐकारका विज्ञान (प्रसंगतः प्रणवसे वेद तथा जगत्का आविर्भाव और प्रणवमें ही जगत्के विलयनका विचार)।
१७२-प्रणवात्मक शब्दब्रह्मसे परब्रह्मका सम्बन्ध।
१७३-तपस्या, स्वाध्याय तथा ईश्वरप्रणिधानसे परमार्थप्राप्तिका क्रम।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१७४–सविकल्प तथा निर्विकल्प ध्यानका विचार।

१७५–वेदान्तसम्मत निर्विकल्प समाधि तथा पातञ्जलोक्त असम्प्रज्ञात समाधिका परस्पर भेद।

१७६–योगसमाधि, जडसमाधि, भक्तिसमाधि और ज्ञानसमाधि।

१७७–महापुरुषसंश्रय (प्रसंगतः गुरु-तत्त्वका विचार)।

१७८–ज्ञानतत्त्वसंरक्षण—

(क) गुरुतत्त्वसंरक्षण।

(ख) गुरु कौन है—
जीवन्मुक्त, विदेहमुक्त अथवा ईश्वर?

१७९–तत्त्वज्ञानकी संक्रान्ति (प्रसंगतः शिष्यकी योग्यता तथा अधिकार-का विचार)।

१८०–योगशास्त्रप्रतिपादित अनौपदेशिक तारकज्ञानसे वेदान्त-ज्ञानका भेद।

१८१–भगवत्कृपा—

(क) यह अहैतुक है अथवा सहैतुक?

(ख) जीवके प्राक्तन कर्म तथा वर्तमान पुरुषार्थसे इसका सम्बन्ध।

(ग) सामान्य कृपा तथा विशेष कृपाका भेद।

१८२–कर्मतत्त्व (क्रियमाण, सञ्चित तथा प्रारब्धकर्मका स्वरूप-विचार)

१८३–कर्मविचार—

(क) दृष्टजन्मवेदनीय तथा अदृष्टजन्मवेदनीय कर्म।

(ख) नियत अथवा अनियत विपाककर्म। अदृष्ट-जन्म-वेदनीय अनियत विपाक-कर्मकी तीन प्रकारकी जातिका विवरण।

(१) अविपक्व कर्मका नाश।

(२) प्रधान कर्ममें अवाप गमन।

(३) विरुद्ध प्रबल कर्ममें अभिभूत होकर दीर्घकाल स्थिति।

(ग) ज्ञानोदयके अनन्तर सञ्चित कर्मकी अवस्था।

(घ) ज्ञानोदयके अनन्तर क्रियमाण कर्मकी स्थिति।

१८४–इच्छा, अनिच्छा, परेच्छारूपमें प्रारब्धका भेदविचार।

१८५–निष्काम कर्म—कर्मयोग।

१८६–कर्मयोग और कर्मवाद।

१८७–सर्वकर्मसमर्पण तथा कर्मसंन्यास।

१८८–कर्मका बीज तथा कर्मविवृत्तिके स्वरूप और उपायका वर्णन।

१८९–वासना तथा संस्कार-तत्त्व (प्रसंगतः कर्माशय तथा कर्म-विपाकका विचार)।

१९०–प्रारब्ध और पुरुषार्थ।

१९१–पुरुषार्थ और दैवका परस्पर सम्बन्ध।

१९२–पुरुषार्थकी आवश्यकता, दैवका स्वरूप और प्रभाव।

१९३–प्रारब्धभोग प्रसंगमें आधिकारिक मण्डलका कर्म-विचार।

१९४–प्रयोजन तथा फलभेद-निरूपणपूर्वक नित्य-नैमित्तिक कर्मका भेदविचार।

१९५–साम्प्रदायिक गुणपरम्परा।

१९६–मठाम्नाय।

१९७–दशनामी सम्प्रदायका ऐतिहासिक विवरण।

१९८–भारतवर्षीय विभिन्न धर्म-सम्प्रदायोंमें ब्रह्मविद्यानुशीलनका क्रमविकास।

१९९–सूफी सम्प्रदायमें ब्रह्मविद्याका प्रकारनिर्देश।

२००–पाश्चात्य देशोंमें ब्रह्मविद्या-नुशीलनका ऐतिहासिक समालोचन।

२०१–भारतवर्षीय तथा पाश्चात्य विशिष्ट ज्ञानियोंकी आध्यात्मिक साधना तथा चरित्रका संक्षिप्त परिचय।

२०२–शङ्करका कालनिर्णय।

२०३–कर्माधिकार तथा ब्रह्म-ज्ञानोदयकी दृष्टिसे मनुष्यदेहका वैशिष्ट्य (प्रसंगतः स्वेदज, उद्भिज्ज, अण्डज तथा जरायुज जीवोंके उत्पत्ति-प्रकार तथा स्वरूपगत भेदका विचार)।

२०४–महापुराण, उपपुराण, रामायण (वाल्मीकीय, अध्यात्म, अग्निवेश्य, योगवासिष्ठ, गीत, तुलसीदास इत्यादि), महाभारत, पाञ्चरात्र-संहिता, शैवशाक्तादि आगम प्रभृतिमें वेदान्तप्रतिपादित ब्रह्मतत्त्वका विचार।

२०५–मनुष्यदेह-प्राप्तिके पूर्ववर्ती ८४ लाख योनियोंका संक्षिप्त विवरण।

२०६–नरकतत्त्व, नरकवर्णन और विविध नरकके कारण विविध दुष्कृत।

२०७–स्वर्गतत्त्व।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीहरिः

आपका ग्राहक-नंबर _____ कल्याणके रैपरपर आपके नामके साथ लिखे हुए ग्राहक-नंबरको उपरोक्त स्थानपर नोट कर लें। कल्याण-कार्यालयसे किसी प्रकारका भी पत्रव्यवहार करते समय और रुपया आदि भेजते समय इस संख्याको अवश्य लिखनेकी कृपा करें। इससे आपकी आज्ञाका शीघ्र पालन करनेमें हमें सुविधा होगी।

निवेदक—व्यवस्थापक

कल्याण वैशाख संवत् १९९३ की

विषय-सूची

पृष्ठ-संख्या

१-चन्द्र-दर्शन [कविता] (श्रीसूरदासजी) ... १३६५
२-पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश (प्रेषक—भक्त श्रीरामशरणदासजी) १३६६
३-गीताका अभ्यास-क्रम और रहस्य (श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका व्याख्यान) ... १३६७
४-श्रीभगवन्नाम (हनुमानप्रसाद पोद्दारके एक व्याख्यानसे) १३७६
५-परमहंस-विवेकमाला (स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी) १३८१
६-साध [कविता] (पं० श्रीरामनारायणदत्तजी पाण्डेय) १३८६
७-समाधि और संयमतत्त्वसार (श्रीश्रीभार्गव श्रीशिवरामकिङ्कर स्वामी श्रीयोगत्रयानन्दजी महाराजके उपदेश) १३८७
८-श्रीरासलीलारहस्य (महात्माका उपदेश) ... १३९०
९-श्रावण शुक्ला सप्तमी श्रीतुलसी-जयन्ती क्यों है? (श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी) ... १३९६
१०-आचार्य श्रीकृष्णदासजी स्वामी पुजारी और उनके कुछ संस्मरण (श्रीरामदासजी गौड़) १३९८
११-सरकार तुम्हारे चरणोंमें [कविता] (श्रीरामेश्वरप्रसादसिंहजी) १४०३
१२-अक्रूरजीका भावुक हृदय (पं० श्रीमथुरानाथजी शर्मा शास्त्री, भट्ट) १४०४

पृष्ठ-संख्या

१३-मेरा उलाहना [कविता] (श्री 'नयन' जी) १४०९
१४-योगवासिष्ठसार (मास्टर श्रीकन्हैयालालजी) १४१०
१५-क्या जीवन दुःखान्त है? (श्रीब्रह्मानन्दजी) १४२०
१६-भक्त तहसीलदारजी (श्रीसबनाराइन चित्रगुप्त) १४२१
१७-पहेली (श्रीनोखेरामजी शर्मा बी० ए०, काव्यतीर्थ) १४२३
१८-प्रकृति पुजारिन (श्री 'अनूप' जी) ... १४२४
१९-प्रेमकी भीख (स्वामी श्रीभोलानाथजी) ... १४२५
२०-प्रभु-विनय [कविता] (महात्मा शाहन्शाहजी) १४२७
२१-पाप-पुण्यकी परिभाषा (पं० श्रीरामावतारजी शास्त्री विद्याभास्कर) १४२८
२२-कौन गली गये श्याम? (श्री 'माधव' जी)। १४३०
२३-वर्तमान शिक्षा (हनुमानप्रसाद पोद्दार) ... १४३३
२४-विदा [कविता] (श्री 'सुदर्शन' जी) ... १४३५
२५-भक्त-गाथा १४३६
२६-गीत [कविता] (पं० श्रीमदनगोपालजी गोस्वामी बी० ए० 'अरविन्द') ... १४३८
२७-श्रीशङ्कराचार्यकृत चर्पटपञ्जरिका (अनुवादक—श्रीविनायकरावजी भट्ट) ... १४३९
२८-भगवद्दर्शनकी चाह (श्रीजयदयालजी गोयन्दका) १४४२
२९-प्रयाणकी बात [कविता] (श्री 'सुदर्शन' जी) १४४४

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीहरिः

श्रीभगवन्नाम-जप

गत पौषकी संख्यामें दस करोड़ भगवन्नाम मन्त्र-जपके लिये प्रार्थना की गयी थी। हर्षकी बात है कि लगभग इक्कीस करोड़ मन्त्रजाप हो गये हैं। स्थानाभावसे इस अंकमें स्थानोंके नाम और पूरी संख्या नहीं छापी जा सकी। अगले अङ्कमें छापनेका विचार है।

व्यवस्थापक—

नाम-जप-विभाग

गोरखपुरके अखण्ड कीर्तन-साधन-यज्ञमें सम्मिलित होनेवाले साधकोंसे

गोरखपुरमें सालभरका अखण्ड कीर्तन-यज्ञ करनेका विचार हो रहा है, इसकी सूचना गत चैत्रके 'कल्याण'में निकल चुकी है, इस यज्ञमें जो साधक सम्मिलित होना चाहें उन्हें आनेसे पूर्व पत्रव्यवहारद्वारा अपने आनेकी सभी बातें तै कर लेनी चाहिये। जो सम्मिलित होना चाहें उन्हें निम्नलिखित प्रश्नोंका उत्तर देना चाहिये।

(१) क्या नाम है। (२) क्या अवस्था है। (३) क्या व्यवसाय करते हैं। (४) कौन जाति हैं। (५) अबतक क्या करते रहे। (६) परमार्थसम्बन्धी अबतक कौन-से साधन किये हैं, यदि किन्हींको संरक्षकतामें किये हैं तो उन महात्मा या महापुरुषका पूरा परिचय। (७) भगवन्नाममें यत्किञ्चित् अनुराग यदि हुआ है तो कबसे? (८) अपने जीवनका तथा पारिवारिक संक्षिप्त परिचय। (९) यदि आप साधन करने चले आवें तो आपके जो आश्रित हैं उनका निर्वाह कैसे होगा? (१०) फलाहार अपने पाससे खायेंगे या आश्रमसे? (११) अपनी शारीरिक तथा मानसिक परिस्थितिको देखकर क्या आपको विश्वास है कि आप ६ महीने या १ साल नियमपूर्वक साधन-अनुष्ठानमें रह सकेंगे? (१२) शारीरिक स्थिति कैसी है, कोई विशेष रोग तो नहीं है। (१३) ६ महीने रहनेकी इच्छा है या सालभरतक।

इन प्रश्नोंका उत्तर आनेपर यहाँसे और भी जो बातें पूछी जायँ उनका उत्तर अति शीघ्र देना चाहिये। जबतक यहाँसे बुलाये न जायँ तबतक कोई भाई बिना बुलाये यहाँ पधारनेका कष्ट न करें। जिनकी शारीरिक-मानसिक परिस्थिति ऐसी न हो कि वे ६ महीने या सालभर न रह सकें वे व्यर्थमें पत्रव्यवहार भी न करें। अपने घरपर रहकर ही यथाशक्ति यथासाध्य नियमोंका पालन करते हुए कथा-कीर्तनमें समय व्यतीत करें।

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी
व्यवस्थापक, संकीर्तन-यज्ञ
गीताप्रेस, गोरखपुर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चाँदखिलौना

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

(भगवान् श्रीकृष्ण)

वर्ष १०

गोरखपुर, वैशाख १९९३, मई १९३६

संख्या १०
पूर्ण संख्या ११८

चन्द्र-दर्शन

ठाढ़ी अजिर जसोदा अपने हरिहि लिये चंदा देखरावत ।
रोवत कत बलि जाउँ तिहारी देखौ धौं भरि नयन जुड़ावत ॥
चितै रहे तब आपुन ससितन अपने कर लै लै जू बतावत ।
मीठो लागत किधौं यह खाटो देखत अति सुंदर मन भावत ॥
मन-मन ही हरि बुद्धि करत हैं माताको कहि ताहि मँगावत ।
लागी भूख चंद मैं खैहौं देहु देहु रिस करि बिरुझावत ॥
जसुमति कहत कहा मैं कीनौं रोवत मोहन अति दुख पावत ।
सूर स्यामके जसुदा बोधति गगनचिरैया उड़त लखावत ॥

—सूरदासजी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पूज्यपाद श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके उपदेश

कुतर्कियोंको भगवान् त्रिकालमें भी नहीं मिलेंगे। भगवान्‌से मिलनेका एकमात्र उपाय श्रद्धा ही है।

जबतक शिष्य यह न समझ ले कि गुरु ही मेरा सर्वस्व है तबतक शिष्यका कल्याण नहीं हो सकता।

(१) सत्संग (२) भगवत्सेवा (३) श्रीमद्भागवतका पाठ (४) श्रीभगवन्नाम-कीर्तन ये चारों भगवत्-प्राप्तिके साधन हैं।

अपने धर्मपर तत्पर होना चाहिये। संसार नित्य हो या अनित्य, धर्म नित्य है, अतः धर्मका पालन करना चाहिये। श्रुति-स्मृतिकी जो आज्ञा है, वही करना धर्म है और शास्त्रविरुद्ध कर्म ही पाप है।

भारतवर्षका नाश क्यों हुआ? इसीलिये कि हमलोग जड-बुद्धिके अधीन हो गये। रहना चाहिये था गुरु और शास्त्रके अधीन।

प्रश्न—क्या हठयोग ही मनके निग्रह करनेका साधन है?

उत्तर—लययोग, मन्त्रयोग, हठयोग सभीसे मनका निग्रह हो सकता है। किसी एकको पकड़ना चाहिये। जैसे इलाहाबादके कई रास्ते हैं लेकिन एकको पकड़ना चाहिये।

केवल पोथी पढ़कर कोई ज्ञानी नहीं हो सकता। ज्ञानकी आड़में आजकल लोग पाप करने लगे हैं। वे समझते हैं कि हमें पाप तो लगेगा ही नहीं।

प्रश्न—नवयुवकोंको क्या करना चाहिये?

उत्तर—जबतक प्राचीन धर्मको ग्रहण न करेंगे, उसका अवलम्बन न करेंगे, तबतक शान्ति न होगी। इसलिये प्राचीन धर्मका अवलम्बन करना चाहिये। और वर्णव्यवस्थाको मिटाकर राजनैतिक काममें लगना नवयुवकोंका धर्म नहीं है। न्याय और सत्यसे धन कमाओ और वर्णाश्रमधर्मको मानो।

प्रश्न—भजन करनेका क्या तरीका है?

उत्तर—भगवान्‌का निरन्तर चिन्तन ही भजनका तरीका है।

सच्चिदानन्दकी प्राप्ति ही मुक्ति है। सच्चिदानन्दकी प्राप्ति होगी तब जब कि मनमें कोई भी वासना न रहेगी।

इष्टदेवके अनन्त नाम और अनन्त रूप हैं, लेकिन हमको एक नाममें और एक रूपमें अनन्य प्रेम होना चाहिये।

भगवान्‌को ढूँढ़नेकी जरूरत नहीं है। भगवान् सर्वत्र हैं। प्रेमसे प्रकट हो जाते हैं।

भक्तिका फल प्रेम है, प्रेम मन-वाणीका विषय नहीं है। 'अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्' प्रेममें सब वासना नष्ट हो जाती हैं।

शिष्य वही है कि जो गुरुको सर्वस्व अर्पण कर दे और गुरु वही कि जो शिष्यसे कुछ भी न ले—

शिष्य तो ऐसा चाहिये, जो गुरुको सब कुछ देय।
गुरु भी ऐसा चाहिये, जो कौड़ी हू ना लेय॥

यह बात श्रीछत्रपति महाराजा शिवाजी और पूज्य श्रीसमर्थ गुरु रामदासजी महाराजमें घटती है। शिवाजी महाराजने रामदासजीको सब कुछ दे दिया लेकिन श्रीरामदासजीने कुछ भी नहीं लिया।

सबसे कठिन चीज क्या है? जप, और बुद्धिको पवित्र करनेवाली चीज क्या है? जप। जप अगर एकसनसे किया जाय तो बहुत अच्छा है।

(प्रेषक—भक्त रामशरणदासजी)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गीताका अभ्यास-क्रम और रहस्य

(श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका व्याख्यान)

मुझमें व्याख्यान देनेकी न तो योग्यता है और न मुझका अधिकारी ही हूँ। व्याख्यान तो वे ही दे सकते हैं जो श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ एवं सब प्रकारसे योग्य हों। श्रीरामचन्द्रजी साक्षात् भगवान्‌के अवतार थे। उन्होंने भी अपनी प्रजाके प्रति कैसे विनययुक्त प्रेम-पूर्ण शब्दोंमें कहा था—

सुनु सकल पुरजन मम बानी। कहौं न कछु ममता उर आनी॥
नहिं अनीति नहि कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुम्हहि सोहाई॥
सोइ सेवकप्रिय मोहि सम होई। दोसा नहिं कछु भाषउँ भाई॥
मोरें सबइ एक तुम स्वामी। दीनबंधु उर अंतरजामी॥
तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥

इस प्रकार जब साक्षात् भगवान् भी प्रजाजनके सामने इतने विनम्र होकर बोल रहे हैं तो इन महानुभावोंके सामने मुझे कोई बात कहनेका क्या अधिकार है? तथापि जैसे बालक अपना पाठ सुनाता है उसी प्रकार मैं भी आपलोगोंके प्रेमके कारण कुछ कहनेका साहस करता हूँ।

मेरा तो यह कहनेका विचार है कि सबको गीताजीका खूब अभ्यास करना चाहिये। वह अभ्यास किस प्रकार होना चाहिये, यह मैं अपनी बुद्धि दिखलाकर आपके सामने रखता हूँ जिससे आप भी कुछ बतला सकें कि मुझे इसमें और क्या सुधार करना चाहिये। मैं अपने साथी कुछ भाइयोंसे, जिन्होंने गीताका अभ्यास किया है, कुछ प्रश्न करूँगा। वे उनके उत्तर देंगे। यदि आपमेंसे कोई सज्जन चाहें तो वे भी उनसे प्रश्न कर सकते हैं।

(१) मेरे प्रश्नोंकी पहली शैली तो यह है कि अमुक अध्यायका अमुक श्लोक किस प्रकार है? (ऐसा कहकर आपने गीता श्लोक ६। २२, ४। ११ और १८। ६२ के विषयमें प्रश्न किया, जिन्हें आपके साथियोंमेंसे भिन्न-भिन्न पुरुषोंने ठीक-ठीक बतला दिया)।

(२) दूसरी शैली इस प्रकार होगी कि उसमें प्रथम चरणके एक-दो शब्द बतला दिये जायँगे उनसे श्लोकपूर्ति करके उनकी अध्याय और श्लोकसंख्या भी बतलानी होगी। अच्छा, अब मैं यह पूछता हूँ कि जिस श्लोकके आरम्भमें 'श्रद्धावान्' यह शब्द आता है वह किस प्रकार है और किस अध्यायका कौन-सा श्लोक है? इसपर एक सज्जनने अ० ४ का ३९ वाँ श्लोक बतलाया और दूसरेने १८ अध्यायका ७१ वाँ श्लोक बतलाया। फिर आपने 'बहिरन्तश्च' इस शब्दसे आरम्भ होने-वाला श्लोक पूछा। इसपर एक सज्जनने गीता १३। १५ का श्लोक बतलाया।

(३) तीसरी शैलीमें सारी गीतामेंसे किसी श्लोकका आधा चरण बोल दिया जायगा। उसकी पूर्ति करके उसका अध्याय तथा अङ्क बतलाना होगा तब आपने 'प्रविलीयते' इस पदवाले श्लोकको पूर्ति करनेको कहा, जिसपर एक सज्जनने चौथी अध्यायका २३ वाँ श्लोक कहा। फिर 'न सुखम्' इस पदकी पूर्ति करनेको कहा गया, जो ४। ४० और १६। २३ के द्वारा की गयी।

(४) चौथी शैलीमें एक पदकी हिन्दी बोलकर उससे श्लोकपूर्ति करायी जायगी और उसका अङ्क भी बतलाना होगा। बतलाइये, 'पाप-योनिवाले भी' यह किस श्लोकके पदका अर्थ है?

उ०—अध्याय ९ के ३२ वें श्लोकका।

प्र०—'जिस प्रकार नदियोंका पानी समुद्रमें जाता है' यह किस श्लोकके पदका अर्थ है?

उ०—अध्याय २ के ७० वें श्लोकका। इसे आपने अशुद्ध बतलाया। तब दूसरे सज्जनने अध्याय ११ का २८ वाँ श्लोक बतलाया।

प्र०—'भूतोंके बाहर-भीतर स्थित है' यह किस श्लोकके पदका अर्थ है?

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उ०—अध्याय १३ के १५ वें श्लोकका ।

(५) पाँचवीं शैलीके अनुसार किसी श्लोकका विषय बतलाकर उस श्लोकको उसके अङ्कोंसहित पूछा जायगा ।

प्र०—'ब्राह्मणोंके लक्षण' किस श्लोकमें हैं ?

उ०—१८ वें अध्यायके ४२ वें श्लोकमें ।

प्र०—शान्तिकी प्राप्ति कहाँ बतलायी गयी है ?

उ०—२ । ७१ में कर्मयोगसे और ४ । ३९ में ज्ञानसे शान्तिकी प्राप्ति बतलायी है और बहुत जगह आता है ।

प्र०—सात्त्विक त्यागके लक्षण कहाँ आये हैं ?

उ०—श्लोक १८ । ९ में ।

(६) छठी शैलीमें गीताके किसी विषयमें शङ्का करके उसका समाधान कराया जायगा ।

प्र०—गीताके अध्याय ४ श्लोक ३ में भगवान् अर्जुनसे कहते हैं, तू मेरा भक्त है । फिर ९ । ३१ में कहते हैं कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता । किन्तु १८ । ५८ में कहते हैं कि यदि तू मेरी बात नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा । इसमें परस्पर विरोध-सा प्रतीत होता है । इसकी संगति किस प्रकार लगेगी ?

उ०—भक्त वही है जो भगवान्‌की आज्ञा माने; यदि वह भगवदाज्ञा नहीं मानता तो उसे भक्त ही नहीं कहा जा सकता । इसलिये भगवदाज्ञाके विरुद्ध आचरण करनेपर नाश होनेकी बात कही है सो ठीक ही है ।

प्र०—अध्याय ५ । १५ में कहा है कि भगवान् न किसीके पाप ग्रहण करते हैं और न पुण्य ही, किन्तु आगे इसी अध्यायके २९ वें श्लोकमें कहते हैं कि जो पुरुष मुझे यज्ञादिका भोक्ता मानता है वह शान्ति प्राप्त करता है । इन दोनों परस्पर विरुद्ध वाक्योंका किस प्रकार समन्वय होगा ?

उ०—इनमें पहला कथन निर्गुण ब्रह्मकी दृष्टिसे है और दूसरा सगुणकी दृष्टिसे, क्योंकि ५ । १५ में 'विभु' शब्द है जो निर्गुण ब्रह्मका वाचक है और ५ । २९ में 'माम्' शब्द है जो सगुण परमात्माके लिये आया है ।

प्र०—(क) गीता १३ । १२ में कहा है कि परमात्मा न सत् है और न असत्; और ९ । १९ में भगवान् कहते हैं कि सत् और असत् मैं ही हूँ ।

(ख) १६ । ८ में जगत्‌को असत् माननेवालोंको असुर बतलाया है, किन्तु २ । १८ में स्वयं भगवान्‌ने ही देहोंको असत् कहा है ?

उपर्युक्त विरुद्ध प्रतीत होनेवाले वाक्योंका समन्वय कैसे होगा ?

उ०—(क) गीता अध्याय १३ । १२ में निर्गुण ब्रह्मकी दृष्टिसे कहा है—'अनादिमत्परं ब्रह्म' इसलिये वहाँ परमात्माको सत्, असत्‌से परे बतलाया है । क्योंकि निर्गुण ब्रह्म अनिर्वचनीय है, उसको सत् या असत् किसी भी शब्द से बतलाया नहीं जा सकता । तथा ९ । १९ में सगुण ब्रह्मका प्रकरण है, इसलिये भगवान्‌ने यह कहा है कि 'सदसच्चाहमर्जुन' क्योंकि गुणोंके सहित ही भगवान् यहाँ अपने स्वरूपकी व्याख्या करते हैं, अतएव सत्-असत् सबको अपना स्वरूप बतलाना युक्तिसंगत ही है ।

(ख) गीता २ । १८ में जड दृश्यवर्गको क्षणभङ्गुर होनेके कारण अनित्य बतलाना युक्तिसंगत ही है, किन्तु १६ । ८ में जगत् शब्द चराचर जीवोंका वाचक होनेके कारण उनको असत् बतलाना नास्तिकता है, इसलिये भगवान्‌ने ऐसा माननेवालोंको असुर कहा है ।

(७) सातवीं शैलीके अनुसार गीताका कोई प्रश्न विषय बतलाकर उसका पता पूछा जायगा तथा अध्याय बतलाकर प्रधान विषय पूछा जायगा, इसपर आपने ये दो प्रश्न किये—(१)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गीतामें क्षर-अक्षरका विषय कहाँसे कहाँ-तक है ? (२) बारहवें अध्यायमें कौन-कौन विषय हैं ? जिनका आपके साथियोंने समुचित उत्तर दिया ।

(८) आठवीं शैलीके अनुसार कोई शब्द बोलकर उसके विषयमें व्याकरण-सम्बन्धी प्रश्न पूछा जायगा ।

(क)-तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥

इस श्लोकमें 'भवामि' क्रियाका कर्ता कौन है ? 'मय्यावेशितचेतसाम्' इस पदका किसके साथ सम्बन्ध है ?

(ख) एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥

इस श्लोकमें 'एतद्योनीनि' यह विशेष्य है या विशेषण ? कर्ता है या कर्म ? तथा इस श्लोकमें 'उपधारय' क्रियाका कर्ता कौन है ? इन प्रश्नोंका भी योग्य उत्तर दिया गया ।

इस प्रकार और भी अनेक तरहसे पूछा जाता है, जिसे कुछ नमूनेके तौरपर आपको दिखाया गया है। इसके पश्चात् आपने इस प्रकार कहना आरम्भ किया—यहाँ गीताका विषय है, इसलिये उसीके विषयमें कुछ कहता हूँ । गीताका वास्तविक तात्पर्य भगवान् ही जानते हैं । मैं तो यदि आजन्म प्रयत्न करता रहूँ तो उसमें मुझे नये-नये रत्न मिलते ही रहेंगे । उसका अन्त नहीं होगा । भगवान् व्यास कहते हैं—

गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता ॥

गीता सुगीता करने योग्य है, अर्थात् श्रीगीताजीको भली प्रकार पढ़कर अर्थ और भावसहित अन्तःकरणमें धारण कर लेना मुख्य कर्तव्य है, क्योंकि यह स्वयं श्रीपद्मनाभ (विष्णु) भगवान्के मुखारविन्दसे निकली हुई है । फिर अन्य शास्त्रोंके विस्तारसे क्या प्रयोजन है ?

ऐसा कहकर श्रीव्यासजीने अन्य शास्त्रोंकी निन्दा नहीं की; उनका तात्पर्य तो केवल गीताकी प्रशंसामें है । यहाँ एक बात विशेष विचारणीय है । इस श्लोकमें 'पद्मनाभ' और 'मुखपद्म' इन दो शब्दोंका प्रयोग क्यों किया गया है ? 'पद्मनाभ' तो भगवान् विष्णुका नाम है और गीता भगवान् कृष्णके मुख-कमलसे निकली है । फिर उनके लिये 'पद्मनाभ' क्यों कहा गया ? इसका तात्पर्य यह है कि भगवान्ने यह स्पष्टतया गीता ४ । ६ में कहा है कि मैं अजन्मा और ईश्वर होनेपर भी संसारके उद्धारके लिये प्रकट होता हूँ । भगवान् विष्णु ही कृष्णके रूपमें प्रकट हुए हैं । अतः भगवान् विष्णु और कृष्णमें कोई अन्तर नहीं है ।

यह गीता उन्हीं भगवान्के मुखकमलसे निकली है जिनकी नाभिसे कमल निकला था । उस कमलसे ब्रह्माजी उत्पन्न हुए । ब्रह्माजीसे चारों वेद उत्पन्न हुए और उनके आधारपर ही समस्त ऋषिगणोंने सम्पूर्ण शास्त्रोंकी रचना की है । अतः गीताको अच्छी प्रकार भावसहित समझकर धारण कर लेनेपर, अन्य सब शास्त्रोंकी आवश्यकता नहीं रह जाती, क्योंकि सारे शास्त्रोंका विस्तार तो भगवान्की नाभिसे हुआ और गीता स्वयं भगवान्के मुखकमलसे कही गयी है । यही नहीं, गीता सारे उपनिषदोंका सार है ।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।

एवं गीता सर्वशास्त्रमयी है ।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ॥
(गीता १३ । ४)

'ऋषियोंद्वारा बहुत प्रकारसे कहा गया है अर्थात् समझाया गया है और नाना प्रकारके वेदमन्त्रोंसे विभागपूर्वक कहा गया है तथा अच्छी प्रकार निश्चय किये हुए युक्तियुक्त ब्रह्मसूत्रके पदोंद्वारा भी वैसे ही कहा गया है ।'

अब यह विचारना है कि गीताका सारभूत श्लोक कौन-सा है । विचार करनेपर १८ वें अध्यायका ६६ वाँ श्लोक ही उसका सार मालूम होता है, जो इस प्रकार है—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझको सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तू शोक मत कर।' इस श्लोकमें ही गीताका उपसंहार हुआ है और यह नियम है कि किसी भी ग्रन्थके उपक्रम और उपसंहार-में जो बात रहती है वह उसका मुख्य तात्पर्य हुआ करता है। अतः गीताका उपसंहाररूप होनेके कारण यह श्लोक ही मुख्य सारभूत होना चाहिये।

अब यह देखना है कि यह श्लोक किस उपक्रमका उपसंहार है। गीताका उपक्रम इस प्रकार होता है—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥
(२।११)

'हे अर्जुन! तू न शोक करने योग्योंके लिये शोक करता है और पण्डितोंके-से वचनोंको कहता है; परन्तु पण्डितजन जिनके प्राण चले गये हैं उनके लिये और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके लिये भी शोक नहीं करते।' इस श्लोकका प्रथम पद 'अशोच्यान्' है, उपसंहारमें भी अन्तिम पद 'मा शुचः' है। इससे सिद्ध होता है कि शोकनिवृत्ति ही गीता-का प्रधान उद्देश्य है।

युद्धके आरम्भमें अपने कुटुम्बियोंको ही अपने विरुद्ध खड़े हुए देखकर अर्जुन मोहग्रस्त हो गया था। उसकी मोहनिवृत्तिके लिये ही गीताका उपदेश किया गया। उस उपदेशका उपसंहार करते हुए भगवान्‌ने चार बातें कही हैं—

१—तू सारे धर्मोंको त्याग दे।
२—तू केवल एक मेरी शरण हो जा।
३—मैं तुझे पापोंसे छुड़ा दूँगा।
४—तू शोक न कर।

यहाँ 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' का भाव किन्हीं-किन्हीं महानुभावोंने सर्व कर्मोंके फलका त्याग बतलाया है, परन्तु शब्दोंसे ऐसा भाव व्यक्त नहीं होता। दूसरे पक्षका कथन है कि ऐसा कहकर भगवान्‌ने स्वधर्मके समस्त धर्मोंका त्याग बतलाया है। किन्तु ऐसा करना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि अर्जुनने भगवान्‌की आज्ञासे युद्ध ही किया—एकान्तसेवन नहीं किया। तीसरा पक्ष कहता है कि अपने कर्तव्य कर्मोंको करते हुआ उसमें अकर्तृत्वबुद्धि रक्खे यही भगवान्‌का आशय है। यह भी ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा कहना ज्ञानकी दृष्टिसे सम्भव है किन्तु यहाँ प्रकरण भक्तियोगका है।

अब हमें यह देखना है कि इसका अर्थ किस प्रकार करना चाहिये। सबसे पहले इस बातका विचार करना है कि 'शरण' शब्दका अभिप्राय क्या है? हमें इसका वही अर्थ लेना चाहिये जो भगवान्‌ने गीतामें लिया हो। नवम अध्यायके अन्तमें भगवान् कहते हैं—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।
(गीता ९।३४)

इससे पूर्व बत्तीसवें और तैंतीसवें श्लोकोंमें भगवान् कहते हैं 'हे पार्थ! मेरा आश्रय लेनेपर जो स्त्री, वैश्य, शूद्र और पापयोनिवाले हैं वे भी परमगतिको प्राप्त होते हैं; फिर परमपवित्र ब्राह्मणों और भक्त राजर्षियोंके विषयमें तो कहना ही क्या है, अतः इस अनित्य और दुःखमय लोकको प्राप्त होकर तू मेरा भजन कर।' इस प्रकार भगवदाश्रय अर्थात् शरणकी आवश्यकता बतलाकर उपर्युक्त श्लोकमें भगवान्‌ने शरणका स्वरूप बतलाया है। यहाँ भगवान् कहते हैं कि 'तू मेरेमें ही चित्त लगानेवाला हो, मेरा ही भक्त हो, मेरा ही पूजन कर * और मुझे ही नमस्कार कर। इस प्रकार मेरे शरणमें रहता हुआ मनको मेरेमें लगाकर तू मुझे ही प्राप्त होगा।' अतः भगवत्-स्मरण और भगवत्सेवा-पूजा आदिमें तत्पर रहते हुए भगवान्‌की आज्ञानुसार कर्म करने

* गीता १८।४६ तथा ९।२६-२७ के अनुसार यहाँ पूजा समझनी चाहिये।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ही गीतोक्त 'शरणागति' है। जहाँ ईश्वराज्ञा और धर्म-पालनमें विरोध-सा प्रतीत हो, वहाँ भगवच्छरणापन्न भक्तका भगवदाज्ञा मानना ही मुख्य कर्तव्य है। इस विषयमें हमें महाभारतके कर्णवध-प्रसंगपर ध्यान देना चाहिये।

वीर कर्णके रथका पहिया पृथिवीमें धँस गया है; वह उसे बाहर निकालनेमें व्यस्त है।

उस समय अर्जुनको अपने ऊपर बाण चलाते हुए देखकर कर्णने अर्जुनसे कहा, 'हे महाधनुषधारी अर्जुन! तुम जगत्प्रसिद्ध महावीर और महात्मा हो, सहस्रार्जुनके समान योद्धा हो, शस्त्र और शास्त्रोंके ज्ञाता हो। अतएव तुम क्षणभर ठहरो। जबतक मैं पहियेको न निकाल लूँ, तबतक तुम बाण न छोड़ो। क्योंकि यह धर्म नहीं है।'

(महा० कर्णपर्व ९। १०८-२१६)

तब श्रीकृष्ण भगवान्‌ने कर्णसे कहा कि 'हे राधा-पुत्र! तुमने आज प्रारब्धसे ही धर्मको याद किया, किन्तु तुमलोग अपने कर्मोंकी तरफ खयाल नहीं करते। हे कर्ण! तुमलोगोंने भीमको विष दिया, पाण्डवोंको लाक्षाभवनमें जलाया, द्रौपदीको सभामें लाकर नाना प्रकारके कुवचन कहे और उसको अपमानित किया, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था?

वनवासे व्यतीते च कर्ण वर्षे त्रयोदशे।
न प्रयच्छसि यद्राज्यं क्व ते धर्मस्तदा गतः॥

(महा० कर्णपर्व ९१। ४)

'हे कर्ण! जब तेरह वर्ष वनमें रहकर पाण्डव आये, तब भी तुमने उनको राज्य न दिया; उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था?'

यदाभिमन्युं बहवो युद्धे जघ्नुर्महारथाः।
परिवार्य रणे बालं क्व ते धर्मस्तदा गतः॥

(महा० कर्णपर्व ९१। ११)

'जब तुम अनेक महारथियोंने मिलकर बालक अभिमन्युको युद्धमें चारों तरफसे घेरकर मारा था, उस समय तुम्हारा धर्म कहाँ चला गया था?'

क्या इन सब प्रसंगोंमें धर्मकी आवश्यकता नहीं थी? इस समय ही तुम्हें धर्म याद आया है। विशेष बोलनेसे कुछ लाभ नहीं। अब तुम जीते न बचोगे।'

इस प्रकार श्रीकृष्णकी बातोंको सुनकर कर्णने लज्जासे सिर नीचा कर लिया। तब श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि इस समय तुम कर्णको दिव्य बाणसे मारो। यद्यपि उस समय शस्त्ररहित पृथ्वीपर खड़े हुए कर्णके धर्मयुक्त वचनोंको सुनकर अर्जुन बाण चलानेमें हिचकिचाता था, किन्तु भगवान्‌के वचनोंको सुनकर उसका सारा संकोच निवृत्त हो गया और वह निःशंक होकर कर्णपर बाण छोड़ने लगा।* इसी प्रकार प्रत्येक भक्तका कर्तव्य भगवदाज्ञा-पालन ही है। इसीका नाम भगवच्छरणागति है। भगवदाज्ञाके सामने अन्य किसी धर्मका न मानना ही 'सर्वधर्मपरित्याग' है। ईश्वराज्ञा और धर्मशास्त्रमें विरोध-सा प्रतीत होनेपर भगवदाज्ञा ही माननीय है क्योंकि धर्मका तत्त्व गहन है, साधारण पुरुष उसका निर्णय नहीं कर सकते।

दूसरे श्लोकार्द्धमें भगवान् कहते हैं—

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

यहाँ 'मा शुचः' यह पद उपक्रमका उपसंहार करनेके लिये है। अर्जुनको मोहवश भविष्यमें होनेवाले बन्धु-वधका शोक था। अतः भगवान्‌ने उसकी शोकनिवृत्तिके लिये ही गीताशास्त्रका उपदेश दिया। उन्होंने अर्जुनको बतलाया कि आत्मा तो अशोच्य है ही, किन्तु यदि तू शरीरोंकी ओर विचार करे तो वे भी अशोच्य ही हैं। क्योंकि—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना॥

(गीता २। २८)

'सम्पूर्ण प्राणी जन्मसे पहले बिना शरीरवाले और मरनेके बाद भी बिना शरीरवाले ही हैं, केवल

* वास्तवमें अर्जुनका कर्णपर बाण चलाना अधर्म नहीं था, क्योंकि आततायियोंको किसी प्रकार भी मारना, धर्मशास्त्रमें न्याय बताया गया है और कर्ण आततायी था, यह बात भगवान्‌के वचनोंसे सिद्ध हो चुकी है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बीचमें ही शरीरवाले प्रतीत होते हैं। फिर उस विषयमें क्या चिन्ता है ?'

अतः स्वभावतः नाशवान् होनेके कारण शरीरके लिये शोक करना व्यर्थ है। आत्माकी दृष्टिसे विचार करें तो भी शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवान्‌ने कहा है कि—

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥
(गीता २। २४-२५)

'यह आत्मा अच्छेद्य है, यह आत्मा अदाह्य, अक्लेद्य और अशोष्य है, तथा यह आत्मा निःसन्देह नित्य, सर्वव्यापक, अचल, स्थिर रहनेवाला और सनातन है। और यह आत्मा अव्यक्त अर्थात् इन्द्रियोंका अविषय, अचिन्त्य अर्थात् मनका अविषय तथा विकाररहित अर्थात् न बदलनेवाला कहा जाता है। इससे हे अर्जुन! इस आत्माको ऐसा जानकर तू शोक करनेको योग्य नहीं है अर्थात् तुझे शोक करना उचित नहीं है।'

अतः आत्माके लिये भी चिन्ता करना सर्वथा अयुक्त है। यही उपदेश भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने ताराको दिया था—

छिति जल पावक गगन समीरा, पंचरचित यह अधम सरीरा।
प्रगट सो तनु तव आगे सोवा, जीव नित्य तुम केहि लगि रोवा।
उपजा ग्यान चरन तब लागी, लीन्हेसि परम भगति बर माँगी।
(रामचरितमानस किष्किन्धाकाण्ड)

इससे यह बात सिद्ध हो गयी कि शरीर या आत्मा किसीके लिये भी शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है। भगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! यदि तू कहे कि शरीरसे आत्माका वियोग होनेके लिये मैं चिन्तित हूँ। तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥
(गीता २। २२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

इस श्लोकमें श्रीभगवान्‌ने पूर्व शरीरको त्यागकर दूसरे नवीन शरीरकी प्राप्तिके सम्बन्धमें वस्त्रोंके बदलनेका दृष्टान्त देकर अर्जुनको आत्माकी नित्यता समझायी है। वस्त्रोंके उदाहरणके विषयमें कई प्रकारकी शंकाएँ की जाती हैं, अतः यहाँ उनका समाधान किया जाता है।

शंका—पुराने, सड़े-गले, गंदे वस्त्रोंके त्यागमें भी मनुष्यको सुख होता है, और फिर नये वस्त्र धारण करनेमें भी सुख होता है, परन्तु पुराने शरीरके त्यागमें तथा नये शरीरके ग्रहणमें यानी मरने और जन्मनेमें सबको क्लेश होता है, अतएव यह उदाहरण समीचीन नहीं है।

समाधान—पुराने शरीरके त्याग और नवीनके ग्रहणमें यानी मृत्यु और जन्ममें अज्ञानीको ही दुःख होता है और अज्ञानी तो बालकके समान है। धीर, विवेकी एवं भक्तको शरीर-परित्यागमें दुःख नहीं होता। भगवान्‌ने कहा है—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥
(गीता २। १३)

'जैसे जीवात्माकी इस देहमें कुमार, युवा और वृद्ध अवस्था होती है वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है; इस विषयमें धीर पुरुष मोहित नहीं होता।' रामायणमें भी लिखा है—श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें दृढ़ प्रीति करके बालिने उसी प्रकार देहका त्याग कर दिया था जैसे हाथी अपने गलेसे फूलकी मालाका त्याग कर देता है। यानी मृत्युके दुःखका उसे पता ही नहीं लगा—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रामचरन दृढ़ प्रीति करि बालि कीन्ह तनु त्याग।
सुमनमाल जिमि कंठतें गिरत न जानै नाग॥
(रामचरितमानस किष्किन्धाकाण्ड)

पुराने वस्त्रोंको त्यागने और नये वस्त्र धारण करनेमें भी हर्ष उन्हींको होता है जो नये-पुराने वस्त्रके तत्त्वको जानते हैं। छः महीने या सालभरके बच्चेकी माँ जब उसके पुराने गंदे वस्त्रको उतारती है तब वह बालक रोता है। और नया साफ-सुथरा वस्त्र पहनाती है तब भी वह रोता है। किन्तु माता उसके रोनेकी परवा न करके उसके हितके लिये वस्त्र बदल ही देती है। इसी प्रकार मातारूप भगवान् भी अपने प्रिय बालकरूप जीवके हितार्थ उसके रोनेकी कुछ भी परवा न करके उसकी देहको बदल देते हैं। अतएव यह उदाहरण सर्वथा समीचीन है।

शंका—भगवान्‌ने यहाँ शरीरोंके साथ 'जीर्णानि' शब्दका प्रयोग किया है, परन्तु यह कोई नियम नहीं है कि वृद्ध होनेपर या शरीर पुराना होनेपर ही मनुष्यकी मृत्यु होती हो। हम नवीन उम्रके जवान और बच्चोंको भी मरते हुए देखते हैं। अतएव यह उदाहरण भी युक्तियुक्त नहीं है।

समाधान—यहाँ 'जीर्ण' शब्दसे अस्सी या सौ वर्षकी आयुसे तात्पर्य नहीं है। प्रारब्धवश युवा या बाल जिस किसी अवस्थामें प्राणी मरता है वही उसकी आयु समझी जाती है और आयुकी समाप्तिका नाम ही जीर्णावस्था है। वस्त्रके दृष्टान्तसे यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है। अमुक वस्त्र नया है या पुराना, इस बातको हम दूरसे देखकर ही नहीं पहचान सकते। धोबीके यहाँसे धुलकर आया हुआ पुराना वस्त्र भी देखनेमें नया ही मालूम होता है, किन्तु वह अधिक दिन नहीं ठहरता। इसी प्रकार जिस मनुष्यकी आयु शेष हो चुकी है उसका शरीर देखनेमें बालक अथवा युवावस्थावाला होनेपर भी वास्तवमें जीर्ण ही है, क्योंकि वह देखनेमें नवीन होनेपर भी आयुकी दृष्टिसे अधिक दिन ठहरनेवाला नहीं है। यहाँ प्रायः सब योद्धाओंकी आयु शेष हो चुकी थी। भगवान् कहते हैं—

ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे।
(गीता ११। ३२)
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्॥
(गीता ११। ३३)
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठाः।
(गीता ११। ३४)

वे तो मरनेवाले ही थे, इसलिये जवान भी जीर्ण ही थे। इस बातको भगवान् जानते थे और कोई नहीं जानता था। अतएव यह उदाहरण सर्वथा युक्तिसंगत है।

शंका—यहाँ 'वासांसि' और 'शरीराणि' ये दोनों ही शब्द बहुवचन हैं। कपड़ा बदलनेवाला मनुष्य तो एक साथ दो-चार पुराने वस्त्र त्यागकर नये ग्रहण कर सकता है, परन्तु देही यानी जीवात्मा तो एक ही पुराने शरीरको छोड़कर दूसरे एक ही नये शरीरको प्राप्त होता है। एक साथ बहुत-से शरीरोंका त्याग या ग्रहण करना युक्तिसंगत नहीं है, अतएव यहाँ शरीरके लिये बहुवचनका प्रयोग अनुचित-सा है।

समाधान—(क) यहाँ श्रीभगवान्‌का तात्पर्य यह है कि मनुष्य जैसे अपने जीवनमें अनेक बार अनेकों पुराने वस्त्रोंको छोड़ता और नये वस्त्रोंको धारण करता आया है इसी प्रकार जीवात्मा भी अबतक न मालूम कितने शरीर छोड़ चुका है और कितने नये शरीर धारण कर चुका है और भविष्यमें भी जबतक उसे तत्त्वज्ञान नहीं होगा, तबतक न जाने कितने असंख्य पुराने शरीरोंका त्याग और नये शरीरोंको धारण करता रहेगा।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(ख) अथवा स्थूल, सूक्ष्म और कारणभेदसे शरीर तीन हैं, इसलिये भगवान्‌ने शरीरके लिये बहुवचनका प्रयोग किया है। मनुष्य जैसा कर्म करता है उसके अनुसार उसका स्वभाव बनता जाता है। स्वभाव ही कारण शरीर है, इसको प्रकृति भी कहते हैं। कर्मोंके अनुसार स्वभाव बदलता रहता है। प्रायः स्वभावके अनुसार ही अन्तकालमें स्फुरणा यानी सङ्कल्प होते हैं और सङ्कल्पके अनुसार ही उसका १७ तत्त्वोंवाला * सूक्ष्म शरीर बन जाता है। कारण और सूक्ष्म शरीरके सहित ही यह जीवात्मा इस शरीरसे निकलकर अन्तकालके सङ्कल्पके अनुसार ही स्थूल शरीरको प्राप्त होता है।

कर्मोंके अनुसार कारण और सूक्ष्म शरीर तो पहले ही बदल चुके और स्थूल शरीर तदनुसार ही यथायोग्य जाति, देश, कालमें बननेवाला है। इसलिये स्थूल-सूक्ष्म-कारण-भेदसे तीनों शरीरोंके परिवर्तन होनेके कारण ही भगवान्‌ने बहुवचनका प्रयोग किया है।

शंका—आत्मा तो अचल है, उसमें गमनागमन नहीं होता; फिर देहीके दूसरे शरीरमें जानेकी बात कैसे कही?

समाधान—वास्तवमें आत्माका अचल, अक्रिय होनेके कारण किसी भी हालतमें गमनागमन नहीं हो सकता; पर जैसे घड़ेका एक मकानसे दूसरे मकानमें जानेके समय, उसके भीतरके आकाशका यानी घटाकाशका भी घटके सम्बन्धसे गमनागमन-सा प्रतीत होता है, वैसे ही सूक्ष्म शरीरका गमनागमन होनेसे उसके सम्बन्धसे आत्मामें भी गमनागमनकी प्रतीति होती है। अतएव लोगोंको समझानेके लिये आत्मामें गमनागमनकी औपचारिक कल्पना की जाती है। यहाँ 'देही' शब्द देहाभिमानी चेतनका वाचक है अतः देहके सम्बन्धसे उसमें भी गमनागमन होता-सा प्रतीत होता है। इसीलिये देहीके अन्य शरीरोंमें जानेकी बात कही गयी। देही यानी देहाभिमानी जैसे जीवनकालमें स्थूल शरीरके गमनागमनको 'मैं जाता हूँ, मैं आता हूँ' इस प्रकार अपने अंदर मानता है, उसी प्रकार स्थूल देहके वियोगके समय तथा देहान्तरकी प्राप्तिके समय, पहले स्थूल देहको छोड़कर दूसरे स्थूल देहमें सूक्ष्म और कारण शरीरके जाने-आनेको देही यानी जीवात्मा अपना गमनागमन अज्ञानसे अनुभव करता है, इसलिये समझानेके लिये ही देहीका एक शरीर से दूसरे शरीरमें जाना-आना बताया गया है।

शंका—इसमें क्रियाका प्रयोग भी ठीक नहीं हुआ है। वस्त्रोंके लिये 'गृह्णाति' कहा है और शरीरके लिये 'संयाति' कहा है। दोनों जगह समानताकी दृष्टिसे एक ही 'गृह्णाति' या 'संयाति' क्रियाका होना उचित था। और ऐसा करनेमें छन्दोभंगकी भी कोई सम्भावना नहीं थी, फिर दो तरहका प्रयोग क्यों किया गया?

समाधान—यद्यपि दोनों क्रियाओंके फलमें कोई भेद नहीं है, तथापि 'गृह्णाति' क्रियाका मुख्य अर्थ ग्रहण करना और 'संयाति' का मुख्य अर्थ गमन करना है। वस्त्र ग्रहण किये जाते हैं इसलिये वहाँ 'गृह्णाति' क्रिया दी गयी और एक शरीरको छोड़कर दूसरेमें जाना

* मन, बुद्धि, दश इन्द्रियाँ (श्रोत्र, चक्षु, रसना, त्वचा, नासिका, वाक्, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा) तथा पञ्चतन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) ये सतरह तत्त्व हैं। अहङ्कार बुद्धिके अन्तर्गत आ जाता है और प्रकृति सबमें व्यापक है ही। पञ्चप्राण सूक्ष्म वायुके अन्तर्गत होनेसे उन्हें तन्मात्राओंके अन्तर्गत ही समझ लेना चाहिये। कोई-कोई इन पञ्चतन्मात्राओंको न लेकर बदलेमें प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान इन पाँच प्राणोंको ही लेते हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रतीत होता है इसलिये नवीन शरीरमें जाने-की बात 'संयाति' क्रियाद्वारा व्यक्त की गयी। अतएव क्रियाभेद होनेपर भी फलमें अभेद होनेके कारण ऐसा करना सर्वथा युक्तिसंगत ही है।

इस प्रकार यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यही कहना होगा कि संसारमें गीताके समान कोई दूसरा ग्रन्थ नहीं है। गीतामें प्रत्येक पदार्थ, भाव और क्रियाके तीन-तीन भेद किये गये हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। जिस पदार्थ, भाव और क्रियामें यथार्थ ज्ञान, निष्काम भाव हो और जो परिणाममें कल्याणकारी हो उसे सात्त्विक समझना चाहिये। जिस पदार्थ, भाव और क्रियामें आरम्भमें सुख-सा प्रतीत हो, सकाम भाव हो और जो परिणाममें दुःखदायी हो, उसे राजसी समझना चाहिये। जिस पदार्थ, भाव और क्रियामें हिंसा, अज्ञान, शास्त्रविपरीतता हो तथा जो दुःख और मोहकारक हो उसे तामसी समझना चाहिये। इस प्रकार तत्त्व समझ लेनेपर गीताके मुख्य-मुख्य बहुत-से प्रकरण जाने जा सकते हैं।

गीतामें जितने सद्भाव यानी उत्तम गुण बतलाये गये हैं उन सबमें एक ऐसा गुण है जिस एकसे ही महापुरुष-की पहचान हो जाती है, उसका नाम है 'समता।'

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥

(गीता १४। २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ दुःख-सुखको समान समझनेवाला है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाववाला और धैर्यवान् है, जो प्रिय और अप्रियको बराबर समझता है और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है तथा जो मान और अपमानमें सम है एवं मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है वह सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हुआ पुरुष गुणातीत कहा जाता है।'

यह सुख-दुःखकी समता भावविषयक समता है, निन्दा-स्तुति, मान-अपमानकी समता दूसरेकी क्रियासे सम्बन्ध रखनेवाली क्रियाविषयक समता है और प्रिय-अप्रिय एवं सोने-मिट्टी आदिमें समान दृष्टि रखना पदार्थविषयक समता है। समता ही ज्ञानीका प्रधान गुण है।* गीतामें जहाँ-जहाँ भी प्राप्त हुए योगी, भक्त और ज्ञानीके लक्षणोंका वर्णन है वहाँ कहीं-न-कहीं समताकी बात अवश्य आ जाती है। इसलिये महात्माओंके लक्षणोंमें समता ही सर्वोत्तम गुण है।

गीताके समान संसारमें कोई ग्रन्थ नहीं है। सभी मत इसकी उत्कृष्टता स्वीकार करते हैं। अतः हमें गीताका इतना अभ्यास करना चाहिये कि हमारी आत्मा गीतामय हो जाय। हमें उसे अपने हृदयमें बसाना चाहिये। गीता गङ्गासे भी बढ़कर है, क्योंकि गङ्गा भगवान्‌के चरणोंसे निकली है और गीता भगवान्‌के मुखकमलसे निकली है; गङ्गा तो अपनेमें स्नान करनेवालोंको ही पवित्र करती है किन्तु गीता धारण करनेसे, घर बैठे हुएको पवित्र कर देती है। गङ्गामें स्नान करनेवाला स्वयं मुक्त हो सकता है पर गीतामें अवगाहन करनेवाला तो दूसरोंको भी मुक्त कर सकता है।

अतएव यह सिद्ध हुआ कि गीता गङ्गासे भी बढ़कर है। गीताका पाठमात्र करनेवालेकी अपेक्षा उसके अर्थ और भावको समझनेवाला श्रेष्ठ है और गीताके अनुसार आचरण करनेवाला तो उससे भी श्रेष्ठ है।

इसलिये सबको अर्थ और भावसहित गीताका अध्ययन करते हुए उसके अनुसार अपना जीवन बनाना चाहिये।

* क्योंकि समता साक्षात् ब्रह्मका स्वरूप है इसलिये समतामें जिसकी स्थिति है उसकी ब्रह्ममें स्थिति बतलायी गयी है। (गीता ५। १९)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीभगवन्नाम

(हनुमानप्रसाद पोद्दारके एक व्याख्यानसे)

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात्पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥

पूज्य गुरुजनो एवं महानुभावो !

परमपिता भगवान् श्रीकृष्णके और सब महानुभावोंके चरणोंमें प्रणाम करके आज्ञानुसार कुछ निवेदन करना चाहता हूँ ।

भगवान्‌का नाम कितना पवित्र है, कैसा पावन है, उसमें कितनी शान्ति है, कैसी शक्ति है, और उससे क्या हो सकता है ? यह कोई नहीं बतला सकता । अथाहकी थाह कौन ले ? जिसके माहात्म्यका आरम्भ बुद्धिसे परे पहुँचनेपर होता है, उसका वाणीसे कैसे वर्णन हो सकता है ? जिस प्रकार भगवान् अनिर्वचनीय हैं, उसी प्रकार उनके नामका माहात्म्य भी अनिर्वचनीय है । शास्त्रोंमें जो भगवन्नाम-माहात्म्य लिखा है वह वास्तविक माहात्म्यका प्रकाशक नहीं है वह तो नाम-जपसे लाभ उठानेवाले महानुभावोंके कृतज्ञ हृदयका उद्गारमात्र है । वास्तविक माहात्म्य तो कोई कह ही नहीं सकता । जो जिस भावसे भगवान्‌के नामको जपता है उसे अपने उस भावके अनुसार ही लाभ होता है । आज भी भगवन्नामसे लाभ उठानेवाले बहुत लोग हैं । इस विषयमें केवल धार्मिक क्षेत्रके ही नहीं, राजनीतिक क्षेत्रके भी कितने ही महानुभावोंसे मेरी बातें हुई हैं, उन्होंने कहा ही नहीं लिखकर भी दिया है कि 'हमें भगवन्नामसे परम लाभ हुआ ।'

आजकल एक ऐसी शंका होती है कि 'जहाँ भगवन्नामके माहात्म्यके विषयमें इतना कहा जाता है वहाँ देखनेमें उसके विपरीत क्यों आता है ? यदि भगवन्नाममें कोई वास्तविक शक्ति होती तो निरन्तर और अधिक संख्यामें नामजप करनेवाले लोगोंमें विशेष परिवर्तन क्यों नहीं देखा जाता ? शंका कई अंशोंमें ठीक है, परन्तु बहुत-से कर्म ऐसे होते हैं जिनका परोक्षमें भारी फल होनेपर भी प्रत्यक्षमें नहीं देखा जाता अथवा तत्काल न दीखकर देरसे दीखता है । कई बार पूर्ण फल न होनेके कारण आंशिक रूपमें होनेवाले फलका पता नहीं लगता । एक आदमी बीमार है और उसके कई रोग हैं, दवासे पेटका दर्द दूर हो गया पर अभी ज्वर नहीं छूटा । इससे क्या यह समझना चाहिये कि उसे दवासे कोई लाभ ही नहीं हो रहा है ? लाभ होनेमें जो विलम्ब होता है उसमें कुपथ्य ही प्रधान कारण है । हम नामजप करनेके साथ ही नामापराध भी बहुत करते हैं । इसके अतिरिक्त श्रद्धा और विश्वासपूर्वक नामजप नहीं करते । कहीं बहुत थोड़े मूल्यमें उसे बेंच देते हैं । मामूली सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्ति अथवा मान-बड़ाईके बदलेमें उसे खो देते हैं । हम कीर्तन करते हैं और फिर पूछते हैं कि 'क्यों जी ! आज मैंने कैसा कीर्तन किया ?' इस प्रकार अश्रद्धा, अविश्वास, सकाम भाव अथवा लोगोंमें बड़ाई पानेके लिये किये जानेवाले नाम-जप-कीर्तनसे वास्तविक फल देरमें हो तो क्या आश्चर्य ? नाम-कीर्तनका एक सुन्दर क्रम और स्वरूप श्रीमद्भागवतमें बतलाया गया है—

शृण्वन्सुभद्राणि रथाङ्गपाणे-
र्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके ।
गीतानि नामानि तदर्थकानि
गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥
एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः ॥
(११।२।३९-४०)

'चक्रपाणि भगवान्‌के प्रसिद्ध जन्म, कर्म और गुणोंको सुनकर और उनकी ही लीलाओंके अनुरूप नामोंको लज्जा छोड़कर गान करता हुआ, अनासक्त भावसे संसारमें विचरे। इस प्रकारके निश्चयसे प्रियतम प्रभुके नामकीर्तनमें प्रेम उत्पन्न होता है, तब वह भाग्यवान् पुरुष प्रेमावेशमें कभी खिलखिलाकर हँसता है, कभी सुबकियाँ भरता है, कभी जोर-जोरसे रोने लगता है, कभी ऊँचे स्वरसे गाने लगता है और कभी उन्मत्तकी भाँति नाच उठता है।'

अपने प्रियतम भगवान्‌के नामकीर्तनमें प्रेमावेशके कारण इस प्रकार निर्लज्ज होकर नाच उठना चाहिये परन्तु उसमें कहीं भी दिखावट या विषयासक्ति नहीं होनी चाहिये। भगवान्‌का नाम हमें आनन्द नहीं देता, इसका कारण यही है कि वह हमें प्रिय नहीं है और नाम प्रिय इसलिये नहीं है कि हमारा भगवान्‌में प्रेम नहीं है। भगवान्‌में प्रेम होता तो नामजप प्यारा लगता। प्यारेकी प्रत्येक चीज प्यारी होती है। कहीं-कहीं तो उससे बढ़कर प्यारी होती है। लौकिक सम्बन्धमें भी हम देखते हैं कि जब किन्हीं लड़के-लड़कीका सम्बन्ध हो जाता है तो घरमें किसीसे एक दूसरेका नाम सुनकर या उनके विषयमें कोई बात सुनकर वे अपने हृदयमें एक प्रकारकी गुदगुदी-सी अनुभव करने लगते हैं। प्यारेका वस्त्र, प्यारेका भोजन यहाँतक कि प्यारेकी फटी जूती भी प्यारी होती है। जब लौकिक प्रेमकी ऐसी बात है तब भगवत्प्रेमके विषयमें तो कहना ही क्या है। शृंगवेरपुरमें भरतजी भगवान्‌के शयनके स्थानमें उनके अंगसे स्पर्शित 'कुश-साथरी' को देखकर प्रेमानन्दमें मग्न हो गये थे। अक्रूरजी भगवान्‌के चरणचिह्नोंको देखकर तन-मनकी सुधि भूल गये थे। आज भी जब हम व्रजभूमिको देखते हैं तो स्वतः ही हमें भगवान् श्रीकृष्णकी स्मृति हो आती है और उसमें एक अनोखा आनन्द मिलता है। प्रेम और आनन्दका अविनाभावी सम्बन्ध है, जहाँ प्रेम है वहाँ आनन्द है ही। इसीसे गोपियोंके प्रेमका महत्त्व है। भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीमती राधारानी इसी प्रेम और आनन्दके मूर्तिमान् रूप हैं। भगवान्‌का जो आनन्दस्वरूप है वही श्रीमती राधा हैं। राधारानीके प्रेमास्पद भगवान् हैं और भगवान्‌की प्रेमास्पदा श्रीराधा हैं। प्रेमका स्वभाव है 'तत्सुखे सुखित्वम्' प्रेमास्पदके सुखमें सुखी होना, यही काम और प्रेमका अन्तर है। काममें अपने सुखकी इच्छा है और प्रेममें प्रियतमके सुखकी! राधाजी श्रीकृष्णको सुख पहुँचानेके लिये ही अवतीर्ण हुई हैं और अपनी सेवासे श्रीकृष्णको आनन्द होता देखकर परम सुखी होती हैं। इधर राधाजीको सुखी देखकर श्रीकृष्णके सुखकी वृद्धि होती है और श्रीकृष्णके सुखकी वृद्धिसे राधाजीका सुख और भी बढ़ जाता है। इस प्रकार एक दूसरेके आनन्दसे दोनोंका आनन्द उत्तरोत्तर बढ़ता रहता है। यह उत्तरोत्तर बढ़नेवाला आनन्द ही भगवान्‌का नित्यरास है। प्रेममें यही तो विलक्षणता है। इसमें कहीं अलम् नहीं होता। प्रेमका स्वरूप ही है 'प्रतिक्षणवर्धमानम्'। प्रेमास्पदका सुख ही अपना सुख है। चाहे उसका वह सुख प्रेमीके लिये लोक-दृष्टिसे कितना ही कष्टकर क्यों न हो। प्रेमी चातककी भावना है—

जौ घन बरसे समय सिर जो भरि जनम उदास।
तुलसी जाचक चातकहि तऊ तिहारी आस॥
रटत-रटत रसना लटी तृषा सूखिगे अंग।
तुलसी चातक प्रेमको नित नूतन रुचि रंग॥
बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुकटूक।
तुलसी परी न चाहिये चतुर चातकहिं चूक॥
चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोदके दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि है ताते माप न जोष॥

हम जो संसारके दुःखोंसे घबड़ा उठते हैं इसका कारण क्या है? यही कि हम उनमें प्रेमास्पद भगवान्‌की रुचिको, उनके विधानको, नहीं देखते।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कठोर आघातमें उनके सुकोमल करकमलका स्पर्श नहीं पाते। परन्तु भगवान्‌का प्रेमी भक्त किसी कष्टसे नहीं घबराता, क्योंकि वह प्रत्येक वस्तुमें भगवान्‌का स्पर्श पाता है। वास्तवमें भगवान्‌का प्रेमी भक्त सब कष्टोंसे परे पहुँचा हुआ होता है, उसका जीवन भगवत्सेवामय होता है। वह सेवाको छोड़कर मुक्ति भी नहीं चाहता। मुक्ति तो वह चाहता है जो किसी बन्धनका अनुभव करता हो। भगवत्प्रेमका बन्धन तो सारे बन्धनोंके छूट जानेपर होता है और इस प्रेमबन्धनसे भक्त कभी मुक्त होना चाहता नहीं। जो इस प्रेमबन्धनसे मुक्ति चाहता है वह भक्त कैसा? इसीसे कहा गया है—

दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः॥

अर्थात् 'भक्तजन देनेपर भी मेरी सेवाको छोड़कर मुक्ति आदिको स्वीकार नहीं करते।' इस प्रेमसाधनाके सम्बन्धमें गीताके दो श्लोक बड़े महत्त्वके हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(१०। ९-१०)

'जिनका चित्त मुझमें लगा है, जिनके प्राण मुझमें फँसे हैं, जो नित्य आपसमें मेरी ही महत्ताको समझते-समझाते प्रेम करते हैं, जो मेरी ही बात कहते हैं, मुझमें सन्तुष्ट हैं और निरन्तर मुझमें ही रमण करते हैं, उन निरन्तर मुझमें लगे हुए प्रेमपूर्वक मेरा भजन करनेवाले भक्तोंको मैं अपना वह बुद्धियोग देता हूँ जिससे वे मुझको ही प्राप्त होते हैं।'

इन श्लोकोंमें जिस साधनाकी ओर संकेत है, प्रेमियोंके जीवनका वह स्वभाव होता है। इसीसे भगवान्‌ने भागवतमें इस बातको स्वीकार किया है कि गोपियोंने अपना मन मुझे अर्पण कर दिया, गोपियोंके प्राण मद्गतप्राण हैं, गोपियाँ मेरी ही चर्चा करती हैं, मैं ही एकमात्र उनका इष्ट हूँ, मुझमें ही उनकी एकान्त प्रीति है।

गोपियोंने भगवान्‌का नाम रक्खा था चित्तचोर। क्या मधुर नाम है? अहा! हम सबकी भी यही इच्छा रहनी चाहिये कि भगवान् हमारा चित्त चुरा लें। कुछ सज्जनोंको भगवान्‌के लिये इस 'चोर' शब्दपर बड़ी आपत्ति है। उनके विचारसे श्रीमद्भागवतमें जो माखन-चोरी आदिकी बात है वह भगवान्‌के चरित्रमें कलंकरूप ही है। पर असलमें बात ऐसी नहीं प्रतीत होती। पहली बात तो यह है उस समय भगवान् बालकस्वरूप थे इसलिये उनकी चोरी आदिकी प्रवृत्ति किसी दूषित बुद्धिके कारण नहीं मानी जाती; वह केवल उनकी बालसुलभ लीला ही थी परन्तु वास्तवमें सच पूछा जाय तो क्या कोई यह कह सकता है कि भगवान् श्रीकृष्णने कभी किसी ऐसी गोपीका माखन चुराया था जो ऐसा नहीं चाहती थी। गोपियाँ तो इसीलिये अच्छे-से-अच्छा माखन रखती थीं और ऐसी जगह रखती थीं जहाँ भगवान्‌का हाथ पहुँच सके और वह हृदयकी अत्यन्त उत्कट इच्छाके साथ यह प्रतीक्षा करती रहती थीं कि कब श्यामसुन्दर आवें और हमारी इस समर्पणपद्धतिको स्वीकारकर मित्रोंसहित माखनका भोग लगावें और कब हम उस मधुर झाँकीको देखकर कृतार्थ हों। यही तो उनकी प्रेमसाधना थी। इन गोपियोंके माहात्म्यको कौन कह सकता है जो निरन्तर चितचोरकी श्यामसुन्दर मूर्तिकी झाँकीके लिये उत्सुक रहती थीं और पलकोंका अदर्शन असह्य होनेके कारण पलक बनानेवाले ब्रह्माजीको कोसा करती थीं। गोपियोंकी इस प्रेमनिष्ठाके विषयमें श्रीमद्भागवतमें कहा है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

'जो व्रजयुवतियाँ गौओंको दूहते समय, धान आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आँगन लीपते समय, बालकोंको पालना झुलाते समय, रोते हुए बच्चोंको लोरी देते समय, घरोंमें झाड़ू देते समय प्रेमपूर्ण मनसे आँखोंमें आँसू भरकर गद्‌गद वाणीसे श्रीकृष्णका नाम-गुणगान किया करती हैं उन श्रीकृष्णमें चित्त निवेशित करनेवाली गोपरमणियोंको धन्य है।'

इस प्रकार गोपियोंका चित्त हर समय श्रीश्याम-सुन्दरमें ही लगा रहता था। घरके सारे धन्धोंको करते हुए भी उन्हें अपने प्रियतम श्रीकृष्णकी एक क्षणको भी विस्मृति नहीं होती थी। उद्धवने जब गोपियोंको योगकी शिक्षा दी तो उस समय उन्होंने उद्धवसे यही कहा कि आप उन्हें योग सिखाइये जिन्हें वियोग हो, हमारा तो श्रीश्यामसुन्दरके साथ नित्यसंयोग है। वे बोलीं—

स्याम तन, स्याम मन, स्याम है हमारो धन,
आठों जाम ऊधो हमें स्याम ही सो काम है।
स्याम हिये, स्याम जिये, स्याम बिनु नाहिं तिये,
आँधेकी-सी लाकरी अधार स्याम नाम है॥
स्याम गति, स्याम मति, स्याम ही है प्रानपति,
स्याम सुखदाई सो भलाई सोभाधाम है।
ऊधो तुम भये बौरे पाती लैके आये दौरे,
जोग कहाँ राखैं, यहाँ रोम-रोम स्याम है॥

गोपियाँ हर समय सब कुछ श्याममय ही देखती थीं। इस सम्बन्धमें एक प्रसंग है। एक बार सब गोपियाँ मिलकर बैठीं। उस समय यह प्रश्न हुआ कि श्रीकृष्ण श्याम क्यों हैं? माता यशोदा और बाबा नन्द दोनों ही गौरवर्ण हैं। बलदेवजी भी गौरवर्ण हैं फिर वे साँवले क्यों हुए? इसपर किसीने कुछ कहा और किसीने कुछ। अन्तमें एक ब्रजनागरी बोली—

कजरारी अँखियानमें, बस्यो रहै दिन-रात।
प्रीतम प्यारो हे सखी, ताते साँवर गात॥

'अहो! आठों पहर काजलभरी आँखोंमें रहनेके कारण ही वह काला हो गया है।' कितना ऊँचा सिद्धान्त है? ऐसे महात्माको गीता भी परमदुर्लभ बतलाती है—'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः'; किन्तु यहाँ तो वह सिद्धान्त ही नहीं, प्रत्यक्ष प्रकट स्वरूप था। गोपियोंकी आँखोंमें श्यामके सिवा और किसीका प्रतिविम्ब ही नहीं पड़ता था। उनकी आँखोंके सामने आते ही सब कुछ साकार श्याम स्वरूप हो जाता था।

बावरी वे अँखियाँ जरि जायँ जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो।

गोपियोंका भगवान्‌के प्रति प्रियतमभाव था। उनसे बढ़कर 'मच्चित्ता मद्गतप्राणाः' और कौन हो सकता है? चित्त भगवन्मय हो जाय, उसपर भगवान्‌का स्वत्व हो जाय। यह नहीं कि हम उसके द्वारा भगवान्‌का भजन करें। उसपर भगवान्‌का ही पूरा अधिकार हो जाना चाहिये। ऐसी स्थिति उन गोपकुमारियोंको ही प्राप्त हुई थी। इसीसे उद्धवको गोपिकाओंके पास भेजते समय भगवान् उनसे कहते हैं—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्म्यहम्॥

वे करती क्या थीं? वे जहाँ बैठतीं अपने प्रियतम भगवान्‌की ही चर्चा किया करती थीं। उसीका गान करती थीं, उसीमें सन्तुष्ट रहती थीं और एकमात्र उसीमें रमती थीं। यह भगवत्प्रेमियोंका संग बहुत दुर्लभ है। एक सत्संग वह है जिससे चित्त शुद्ध होता है, फिर शुद्ध चित्तमें ज्ञानोदय होता है और उसके पश्चात् भगवत्प्राप्ति होती है। किन्तु यह वह सत्संग है जिसके लवमात्रके साथ मोक्षकी भी तुलना नहीं होती।

तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥

अर्थात् 'भगवत्प्रेमियोंका जो संग है उसके साथ हम स्वर्ग और मोक्षकी भी तुलना नहीं कर सकते, फिर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

साधारण मानवभोगोंके विषयमें तो कहना ही क्या है?' इसीसे भक्तजन कभी मोक्ष नहीं चाहते। उनकी तो यही इच्छा रहती है कि भगवत्प्रेमी मिलकर सदा प्रियतम भगवान्‌की मधुर चर्चा किया करें। यही गोपियोंका भी सत्संग था।

एक वैष्णव ग्रन्थमें श्रीमती राधाजी कहती हैं कि 'ऐसा मन होता है, मेरे लाखों आँखें हों तो श्यामसुन्दरके दर्शनका कुछ आनन्द आवे। लाखों कान हों तो श्यामनामके श्रवणका सुख मिले।' यह कोई कल्पना नहीं है। प्रेम चीज ही ऐसी है। जिस दिन हमें भगवान्‌में प्रेम हो जायगा, उस समय उनका नाम हमें इतना प्राणप्यारा होगा कि वह हमारे जीवनकी सबसे बढ़कर आवश्यक चीज बन जायगा। जबतक हमारा भगवान्‌में प्रेम नहीं होता तभीतक हमें माला आदिकी आवश्यकता है। प्रेम होनेपर तो प्रियतमके नामोच्चारणमात्रसे हमारी नस-नस नाच उठेगी। हम अपने प्रियतमके प्रेममें इतना उन्मत्त हो जायँगे कि हमारे रोम-रोमसे भगवन्नामकी ध्वनि होने लगेगी फिर यह जाननेकी इच्छा कभी नहीं होगी कि 'मैंने कैसा कीर्तन किया।' यथार्थ कीर्तनका यही स्वरूप है। मेरा यह कथन नहीं है कि वर्तमान कीर्तन करनेवालोंको ऐसी लोकैषणा रहती है। मेरा अभिप्राय केवल यही है कि कीर्तन करते समय हमारा यह लक्ष्य नहीं होना चाहिये कि सुननेवाले लोग हमारे कीर्तनको अच्छा कहें, बल्कि यही लक्ष्य हो कि भगवान्‌को यह अच्छा लगे। द्रौपदीके एक नामपर ही भगवान् प्रकट हो गये थे; परन्तु हुए उसी समय थे जब उसने सबका आश्रय छोड़कर परम निर्भरतासे भगवान्‌को पुकारा था।

एक कसौटी और है। भगवन्नामका आश्रय लेनेवालेको यह देखते रहना चाहिये कि हमारे अंदर दैवीसम्पत्ति बढ़ रही है या नहीं? यदि दैवीसम्पत्तिकी वृद्धि दिखायी न दे तो समझना चाहिये कि हमारा भगवन्नाम-कीर्तन नामापराधसहित है। भगवद्भजनसे दैवीसम्पत्तिकी वृद्धि होनी ही चाहिये। जिस प्रकार भगवत्प्रेमीमें दैवीसम्पत्ति होना अनिवार्य है उसी प्रकार दैवीसम्पत्ति भी बिना भगवत्प्रेमके टिक नहीं सकती। देवर्षि नारदने कहा है कि भगवन्नाममें एक विलक्षण शक्ति है। उससे भगवत्प्रेमकी स्वाभाविक ही वृद्धि होती है और भगवत्प्रेममें दैवीसम्पदाका पूरा प्राकट्य होना ही चाहिये। आजकल ऐसा नहीं होता। इससे जान पड़ता है कि हमारे भजनमें कोई दोष है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुमें यह विलक्षण शक्ति बहुत अधिक देखी जाती थी। बड़े-बड़े दिग्गज विद्वान् इसलिये उनके कीर्तनके समीप होकर निकलनेमें डरते थे कि वे कहीं उसी रंगमें न रँग जायँ। और यदि कोई उनके कीर्तनको देख लेता, उनका स्पर्श पा लेता तो वह उन्मत्त हुए बिना रहता नहीं। परन्तु महाप्रभुको भी बड़ी सावधानीसे यह शक्ति अर्जन करनी पड़ी थी। एक बार श्रीवासके घर कीर्तन होता था। उस दिन उसमें आनन्दकी स्फूर्ति नहीं हुई। तब श्रीमहाप्रभुजीने कहा, 'देखो यहाँ कोई बाहरका आदमी तो नहीं है।' इधर-उधर देखनेपर एक ब्रह्मचारीजी मिले, जो कीर्तनके प्रेमी नहीं थे। तब सब लोगोंने प्रार्थना करके उन्हें विदा किया। उसके पश्चात् कीर्तन किया गया। तब रस आया। कीर्तनके श्रवणसे ब्रह्मचारीजी भी पवित्र हो गये। अतः भक्तको सब प्रकारके कुसंगसे बचना चाहिये।

हमलोगोंको भी इस बातका संकल्प करना चाहिये कि हम तन्मय होकर श्रद्धाविश्वाससहित निष्काम भावसे भगवन्नामका जप, स्मरण और कीर्तन करें। निष्काम भाव यहाँतक हो कि हमें तो बस भगवन्नामका जप और कीर्तन ही करना है, यह नहीं देखना कि इससे भगवान् भी रीझते हैं या नहीं!

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि १०]

जनक-हे भगवन्! आपने जिस स्वयंज्योति आत्माका उपदेश किया है, उसको मैं अभीतक यथार्थ नहीं समझ सका इसलिये स्वयंज्योति आत्माका सम्पूर्ण उपदेश कीजिये। मैं आपसे तीन प्रश्न करता हूँ, उनका उत्तर कृपा करके दीजिये!

आत्माकी असंगरूपता

प्रथम प्रश्न-हे मुनि! आपने पूर्वमें स्वप्नावस्थामें रहनेवाले स्वयंज्योति आत्माका मुझे उपदेश किया। स्वप्नमें मैं देखता हूँ कि स्वयंज्योति आत्मा सुन्दर स्त्रियोंके साथ क्रीडा करता है, हँसता है, नाना प्रकारके भोजन करता है और अप्रिय पदार्थों-से निवृत्त होता है, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयंज्योति आत्मा भोक्ता है और भोक्ता होनेसे सङ्गवान् है। इससे सिद्ध होता है कि स्वप्नावस्थामें भी आत्मा असङ्ग नहीं है किन्तु सङ्गवान् है, क्या ऐसा ही है?

याज्ञवल्क्य-हे जनक! स्वप्नावस्थामें जिस स्वयंज्योति आत्माका मैंने उपदेश किया है, वही आत्मा कभी-कभी सम्प्रसाद नामके स्थानमें रहता है, इसलिये वेदवेत्ता सुषुप्तिको सम्प्रसाद कहते हैं, जैसे शरद् ऋतुमें मलिनताको त्यागकर जल निर्मल हो जाता है, इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्थामें आनन्दस्वरूप स्वयंज्योति आत्मा स्थूल-सूक्ष्म शरीरके अभिमानको त्यागकर प्रसन्न होता है।

जनक-हे भगवन्! सुषुप्ति अवस्थामें श्रुतिने आत्मामें रति तथा गति कही है। नाना प्रकारकी क्रीडाका नाम रति है और नाना प्रकारके विषय प्राप्त करनेके लिये पर्यटन करनेका नाम गति है, इसलिये सुषुप्तिमें भी विक्षेपका अभाव नहीं है किन्तु जाग्रत् स्वप्नके समान सुषुप्तिमें रति तथा गतिरूप विक्षेप रहता है।

याज्ञवल्क्य-हे राजन्! सुषुप्तिमें रति तथा गति नहीं है किन्तु सुषुप्तिकी प्राप्तिसे पहले रति और गति विद्यमान हैं, उनको ग्रहण करके सुषुप्तिमें रति और गति कही हैं, इसलिये सुखदुःखरूप फलके देनेवाले पुण्य-पापरूप कर्म यद्यपि सुषुप्तिमें नहीं हैं तो भी सुषुप्ति अवस्थामें पुण्य-पापरूप कर्म कारण अज्ञानमें रहते हैं। यदि सुषुप्ति अवस्थामें पुण्य-पापरूप कर्मका सर्वथा अभाव हो, तो सुषुप्तिके पीछे जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थामें सुख-दुःखरूप फलकी प्राप्ति नहीं होनी चाहिये किन्तु जाग्रत् तथा स्वप्नावस्थामें सुख-दुःखरूप फलकी प्राप्ति सब जीवोंको अनुभवसिद्ध है, इसलिये सुषुप्ति अवस्थामें पुण्य-पापरूप कर्म कारण अज्ञानमें लय होकर रहते हैं और यह स्वयंज्योति आत्मा सुषुप्तिमें अपने स्वयंप्रकाश-रूपसे कारण अज्ञानको प्रकाश करता है, इसलिये श्रुतिने कहा है कि सुषुप्तिमें आत्मा पुण्य-पापरूप कर्मोंको देखता है।

हे जनक! इस अनादि संसारमें यह जीवात्मा पूर्व-पूर्वके सम्प्रसादरूप अनेक सुषुप्ति अवस्थाओंको प्राप्त होता हुआ बारंबार सुषुप्तिरूप सम्प्रसादको प्राप्त होता रहता है। सुषुप्तिरूप सम्प्रसादमें जिस मार्गसे जीवात्मा जाता है, उसी मार्गसे उस सुषुप्ति-रूप सम्प्रसादसे लौटकर बाहर आता है। हे जनक! सुषुप्ति अवस्थासे पूर्व जिस जातिवाले शरीरसे आत्मा युक्त होता है, उसी जातिवाले शरीरको धारण करके वह सुषुप्तिको प्राप्त होकर पीछे उससे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

बाहर आता है; पूर्व शरीरसे विलक्षण दूसरे शरीरको प्राप्त नहीं होता। व्याघ्रशरीरयुक्त हुआ आत्मा यदि सुषुप्ति अवस्थाको प्राप्त होता है, तो वह व्याघ्रशरीरको ही ग्रहण करके सुषुप्तिसे बाहर आता है। इसी प्रकार सिंह, वृक, वराह, कीट, मनुष्य, आदि सर्व प्राणी जिस-जिस जातिवाले शरीरसे युक्त होकर सुषुप्तिरूप सम्प्रसादको प्राप्त होते हैं उस-उस जातिवाले शरीरको धारण करके उससे बाहर आते हैं।

जनक—हे भगवन्! यह जीवात्मा सुषुप्तिरूप सम्प्रसादसे बाहर स्वप्नकी प्राप्तिके लिये आता है, यह जो श्रुतिने कहा है, वह किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि सुषुप्तिके पीछे स्वप्न ही होता हो, यह नियम सर्वदा नहीं होता। सुषुप्तिके पीछे कभी जाग्रत् अवस्था आती है और कभी स्वप्नावस्था भी आती है।

याज्ञवल्क्य—हे जनक! यह जीवात्मा स्वप्नकी प्राप्तिके लिये सुषुप्तिसे बाहर आता है, यह श्रुतिका कथन असंगत नहीं है किन्तु यथार्थ है क्योंकि यहाँ स्वप्न शब्दसे केवल स्वप्नावस्थाका ही ग्रहण नहीं है, विपर्ययज्ञानरूप विक्षेपका ग्रहण है। विक्षेपरूप विपर्ययज्ञान जैसा स्वप्नमें है, वैसा ही जाग्रत्में भी है, इसलिये श्रुतिमें कहे हुए स्वप्न शब्दसे जाग्रत् तथा स्वप्न दोनों ग्रहण करने चाहिये। हे जनक! आनन्दस्वरूप आत्मा सुषुप्तिसे बाहर आकर विक्षेपरूप स्वप्नमें रहता है और स्वप्नमें रहा हुआ यह जीवात्मा स्त्रीके संभोगादि नाना प्रकारके विषयोंको भोगता है परन्तु जैसे घटका देखनेवाला पुरुष घटादि दृश्य पदार्थोंके साथ सम्बन्धवाला नहीं होता, इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें नाना प्रकारके विषयोंको भोगनेवाला आत्मा दृश्यरूप विषयोंके साथ सम्बन्ध नहीं रखता।

जनक—हे भगवन्! स्वप्नमें द्रष्टा पुरुष जैसे रूपादि विषयोंको देखता है, इसी प्रकार 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इस प्रतीतिमें 'मैं' शब्दके अर्थ आत्माको द्रष्टा पुरुष जानता है; इसलिये स्वप्नावस्थामें जैसे रूपादि पदार्थ ज्ञानका विषय है, इसी प्रकार आत्मा भी 'मैं' इस ज्ञानका विषय है, अतएव रूपादि दृश्य पदार्थोंके साथ यद्यपि द्रष्टा पुरुषका सम्बन्ध नहीं है, तो भी आत्मारूप दृश्य पदार्थके साथ द्रष्टा पुरुषका सम्बन्ध क्यों नहीं है?

याज्ञवल्क्य—हे जनक! आत्मविशिष्ट किसी भी पदार्थको कोई भी पुरुष देख नहीं सकता। जो वादी पुरुष आत्मविशिष्ट पदार्थमें ज्ञानकी विषयता मानता है, उसको आत्मामें भी बलात्कारसे विषयता माननी पड़ेगी क्योंकि जो धर्म विशेषण-विशिष्ट पदार्थमें रहता है, वह धर्म विशेषणमें भी अवश्य रहता है। जैसे 'नीलघट' इस ज्ञानकी विषयता नीले रंगवाले घड़ेमें है और यह विषयता नीलरंगरूप विशेषणमें भी है। इसी प्रकार आत्म-विशिष्ट पदार्थमें ज्ञानको जो विषयता है वह विशेषणरूप आत्मामें अवश्य रहनी चाहिये। जो पुरुष विशेषण, विशेष्य तथा उन दोनोंके सम्बन्धको नहीं जानता, वह पुरुष विशिष्ट पदार्थको जान नहीं सकता। इस प्रकार विशिष्ट पदार्थके ज्ञानमें विशेषण, विशेष्य और उन दोनोंके सम्बन्धका ज्ञान, ये तीन कारण हैं। जैसे दण्डविशिष्ट पुरुषको विषय करनेवाला 'दण्डी पुरुष' यह विशिष्ट ज्ञान दण्डरूप विशेषणके ज्ञान बिना, पुरुषरूप विशेष्यके ज्ञान बिना तथा दण्ड और पुरुषके संयोगसम्बन्धके ज्ञान बिना कभी नहीं हो सकता, किन्तु दण्ड, पुरुष तथा उनका संयोग इन तीन ज्ञानोंसे युक्त ही 'यह दण्डी पुरुष है' ऐसा विशिष्टज्ञान होता है, इसी प्रकार जो ज्ञान आत्मविशिष्ट पदार्थको विषय करेगा, वह ज्ञान विशेषणरूप आत्माको भी अवश्य ग्रहण करेगा, इसलिये आत्मामें भी ज्ञानकी विषयता प्राप्त होगी।

जनक—हे भगवन्! आत्मामें ज्ञानकी विषयता माननेमें क्या हानि है?

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

याज्ञवल्क्य—हे जनक ! जैसे दाहिने हाथकी अंगुलीसे दाहिने हाथकी मुट्ठी ग्रहण नहीं हो सकती अथवा जैसे कैसा भी चतुर नट हो, अपने कंधेपर नहीं चढ़ सकता, उसी प्रकार आत्मासे आत्माका ग्रहण किसी प्रकार सम्भव नहीं है। यदि आत्मामें भी ज्ञानकी विषयता मानी जाय, तो घटके समान आत्मामें भी जडता प्राप्त हो जाय क्योंकि जो-जो पदार्थ ज्ञानका विषय होता है, वह-वह जड होता है। यदि आत्मा जड हो, तो उसमें अनात्मपना आ जाय, परन्तु आत्मामें अनात्मता किसीको इष्ट नहीं है। यदि बाकी जड पदार्थोंको भी आत्मारूप मानें तो जैसे जड आत्मामें अनात्मरूपता है, उसी प्रकार जड घटादिमें भी आत्मरूपता अवश्य माननी पड़ेगी किन्तु जड घटादिमें कोई भी वादी आत्मरूपता नहीं मानता। इससे सिद्ध होता है कि आकाशादि विभु पदार्थोंमें तथा घटादि परिच्छिन्न पदार्थोंमें जहाँ-जहाँ जडता रहती है, वहाँ-वहाँ अनात्मता भी है। इसलिये आत्मामें किसी ज्ञानकी विषयता नहीं है। जो वादी 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इस ज्ञानकी विषयता आत्मामें मानते हैं, वे भ्रान्तिसे ऐसा मानते हैं क्योंकि 'मैं' इस ज्ञानकी विषयता अन्तःकरणमें है, इस अन्तःकरणकी विषयताका शुद्ध आत्मामें आरोप करके वादी आत्माको 'मैं' इस ज्ञानका विषय मानते हैं। यह वादियोंका भ्रम है, इसलिये आत्मा किसी ज्ञानका विषय नहीं है। हे जनक ! स्वप्नमें स्त्रीसम्भोगसे लेकर सर्व अन्नादि दृश्य पदार्थोंके साथ द्रष्टा आत्माका सम्बन्ध नहीं है क्योंकि इस लोकमें द्रष्टाका दृश्य पदार्थोंके साथ सम्बन्ध नहीं होता। जैसे घटादि पदार्थोंके देखनेवाले द्रष्टा पुरुषका घट-पटादि दृश्य पदार्थोंके साथ तीन लोकमें भी सम्बन्ध नहीं है, इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें स्वप्नद्रष्टा पुरुषका स्वप्नके दृश्य पदार्थोंके साथ तीनों कालमें भी सम्बन्ध नहीं है। अतः स्वप्नावस्थामें सर्व संगसे रहित असंग आत्माको स्वप्नप्रकाशरूप जाननेसे अधिकारीको मोक्षकी प्राप्ति होती है। सारांश यह है कि स्वप्नका द्रष्टा होनेसे स्वयंज्योति आत्मा स्वप्नावस्थामें भोक्ता नहीं है किन्तु असंग है। यहाँतक तेरे प्रथम प्रश्नका उत्तर हुआ। अब दूसरा प्रश्न कर।

दूसरा प्रश्न—हे भगवन् ! आपने स्वप्नावस्थामें आत्माको असंगरूप कहा, यह बात यद्यपि सम्भव है क्योंकि स्वप्नमें विद्यमान सूक्ष्म शरीर असंग होनेसे, पर्वतादिमें भी सूक्ष्म शरीरका प्रवेश होता है इसलिये असंग सूक्ष्म शरीरवाले स्वयंज्योति आत्माकी असंगरूपता सम्भव है किन्तु जाग्रदवस्थामें स्थूल शरीर विद्यमान है, स्थूल शरीर सबको संगवान् प्रतीत होता है, इसलिये जाग्रदवस्थामें स्वयंज्योति आत्माकी असङ्गता सम्भव नहीं है सो क्या जाग्रत्कालमें भी आत्मा असंग है ?

याज्ञवल्क्य—हे जनक ! जैसे द्रष्टा आत्माको स्वप्नके पदार्थ नहीं ढाँक सकते, इसी प्रकार जाग्रत्के पदार्थ भी उसका आवरण नहीं कर सकते, इसलिये स्वप्नावस्थाके समान जाग्रदवस्थामें भी आत्मा असंग है। हे जनक ! जैसे स्वयंज्योति आत्मा जाग्रत्के पदार्थोंको देखकर पीछे स्वप्नावस्थामें जाता है, इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें नाडीरूप मार्ग, पुण्यपापरूप कर्म तथा बुद्धि, इन सबको देखकर स्वयंज्योति आत्मा स्वप्नसे जाग्रदवस्थामें आता है, जिस नाडीरूप मार्गद्वारा जीवात्मा स्वप्नावस्थाको प्राप्त होता है, उसी नाडीरूप मार्गसे वह जाग्रदवस्थाको प्राप्त होता है, इसलिये जाग्रत् तथा स्वप्न दोनों समान हैं। स्वप्नावस्थासे जाग्रदवस्थामें इतनी विशेषता है कि जाग्रदवस्थामें केवल बाह्यता है और स्वप्नमें बाह्यता एवं आन्तरता दोनों हैं। जाग्रदवस्थाकी अपेक्षा स्वप्नमें आन्तरत्व है और सुषुप्तिकी अपेक्षा बाह्यता है। हे जनक ! जैसे स्वप्नावस्थामें द्रष्टा पुरुष दृश्य पदार्थोंके संगसे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रहित है, उसी प्रकार जाग्रदवस्थामें भी द्रष्टा पुरुष दृश्य पदार्थोंके सङ्गसे रहित है। इसलिये स्वप्नावस्थाके समान जाग्रदवस्थामें भी द्रष्टा आत्मा असंग है। तात्पर्य यह है कि एक मूर्त पदार्थका दूसरे मूर्त पदार्थके साथ क्रियाजन्य जो संयोग-सम्बन्ध होता है उसको शास्त्रवेत्ता संग कहते हैं, जैसे घटरूप मूर्त पदार्थका भूतलरूप मूर्त पदार्थके साथ जो क्रियाजन्य संयोगसम्बन्ध है, उसका नाम सङ्ग है। आत्माका इस प्रकारका संग किसी पदार्थके साथ सम्भव नहीं है, क्योंकि आत्मा आकाशके समान अमूर्त तथा विभु है। अमूर्त तथा विभु पदार्थमें कोई भी वादी क्रिया नहीं मानता, इसलिये विभु आत्माका क्रियाजन्य संयोगसम्बन्ध किसी पदार्थके साथ नहीं हो सकता। अतएव स्वप्नावस्थाके समान ही जाग्रदवस्थामें भी आत्मा असङ्ग है। बोल, तीसरा प्रश्न क्या है?

तीसरा प्रश्न—हे मुनि! जाग्रत् तथा स्वप्नमें प्राप्त हुए एक ही आत्माका दोनों अवस्थाओंमें रहना अत्यन्त दुर्घट है क्योंकि जैसे उज्जयनीपुरीमें बैठा हुआ राजा काशीपुरीमें नहीं रह सकता और काशीपुरीका राजा उज्जयनीपुरीके राजासे भिन्न है, उसी प्रकार जाग्रदवस्थामें रहा हुआ आत्मा स्वप्नावस्थामें नहीं रह सकता; अतः जाग्रदवस्थामें रहे हुए आत्मासे स्वप्नावस्थाका आत्मा भिन्न होना चाहिये। जाग्रदवस्था तथा स्वप्नावस्थामें एक ही आत्मा किस प्रकार हो सकता है?

याज्ञवल्क्य—हे जनक! जाग्रदवस्थामें यह आनन्दस्वरूप आत्मा स्वप्नावस्थाके समान प्रिय स्त्रीके साथ क्रीडा करता हुआ नाना प्रकारके मार्गोंमें गमन करता है, तथा पुण्य-पापरूप कर्मोंसे उत्पन्न हुए सुख-दुःखादिको देखकर स्वप्नावस्थाको प्राप्त होता है। स्वप्नावस्थामें नाना प्रकारके पदार्थोंको देखकर यह स्वयंज्योति आत्मा फिर जाग्रदवस्थाको प्राप्त होता है। इसी प्रकार एक ही स्वयंज्योति आत्मा क्रमसे जाग्रत् तथा स्वप्नको प्राप्त होता रहता है। जैसे जलसे पूर्ण महान् नदीमें कोई मगरमच्छ कभी एक किनारेपर आता है और कभी दूसरे किनारेपर जाता है। इसी प्रकार एक स्वयंज्योति आत्मा कभी जाग्रदवस्थाको और कभी स्वप्नावस्थाको प्राप्त होता है। इसलिये स्वप्नके द्रष्टा आत्मासे जाग्रत्का द्रष्टा आत्मा भिन्न नहीं है, किन्तु एक ही है। एक ही आत्मा क्रमसे जाग्रत् तथा स्वप्नको प्राप्त होता रहता है। एक कालमें आत्मा जाग्रत् तथा स्वप्नको प्राप्त होता हो, ऐसा सिद्धान्त नहीं है। उज्जयनीपुरी तथा काशीपुरीके दृष्टान्तसे जाग्रत् तथा स्वप्नके आत्माका भेद सिद्ध नहीं होता परन्तु एक तीर्थयात्रा करनेवाला पुरुष जैसे किसी कालमें काशीमें रहता है और किसी कालमें उज्जयनीमें। इसी प्रकार एक ही आत्मा कभी जाग्रदवस्थाको और कभी स्वप्नावस्थाको प्राप्त होता है।

सुषुप्तिमें आत्माकी असंगता

हे जनक! जैसे भूमिके पास आकाशमें रहनेवाला गीध अथवा गरुड़ पक्षी घोंसलेको त्यागकर अत्यन्त दूर आकाशमें जाता है। घरको त्यागकर आकाशमें जानेमें पक्षीका चार प्रकारका प्रयोजन होता है। एक स्त्रीकी प्राप्ति, दूसरे भक्षण करने योग्य पदार्थोंकी प्राप्ति, तीसरे अन्य किसी पक्षीको मारना और चौथे अपनी किसी इच्छाको पूरी करना, इन चार प्रकारके प्रयोजनोंमेंसे किसी एक प्रयोजनके लिये पक्षी अपने घोंसलेको छोड़कर आकाशमें ऊँचा चला जाता है। वहाँ जाकर जब वह अत्यन्त श्रमको प्राप्त होता है तब विश्राम करनेके लिये अपने दोनों पंखोंको शरीरमें सकोड़कर अपने घोंसलेपर उतरता है और वहाँ जाकर विश्रान्ति लेता है। इसी प्रकार यह आनन्दस्वरूप आत्मारूप पक्षी भी सुषुप्तिरूप घोंसलेको त्यागकर पुण्य-पापरूप दो पंखोंके बलसे जाग्रत् स्वप्नरूप

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दूसरे आकाशमें उड़कर जाता है और वहाँ नाना प्रकारके विषयभोगरूप व्यापारसे जब अत्यन्त श्रमको प्राप्त होता है, तब पुण्यपापरूप दोनों पंखोंको सकोड़कर विश्राम लेनेके लिये सुषुप्तिरूप घोंसलेमें लौटकर आता है। सुषुप्तिमें रहा हुआ स्वयंज्योति आत्मा किसी विषयकी इच्छा नहीं करता और न किसी विषयको देखता है। इसलिये स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरोंके साथ और उन दोनों शरीरोंके धर्मोंके साथ आत्माका वस्तुतः सम्बन्ध नहीं है। यदि उनके साथ आत्माका सम्बन्ध होता तो सुषुप्ति अवस्थामें भी आत्मामें स्थूल सूक्ष्म पदार्थ प्रतीत होते परन्तु सुषुप्तिमें वे प्रतीत नहीं होते। सुषुप्तिमें उन पदार्थोंके लय हो जानेपर भी साक्षीरूप आत्मा विद्यमान रहता है, इसलिये स्थूल सूक्ष्म पदार्थोंके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है।

नाडियोंका वर्णन

हे जनक! जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओंकी प्राप्तिके लिये तथा उनमेंसे बाहर आनेके लिये स्वयंज्योति आत्माका मार्ग मैं तुझसे पहले कह चुका हूँ। ये मार्गरूप नाडियाँ हृदयस्थानसे निकलती हैं। उनमें एक सौ एक नाडियाँ प्रधान हैं और प्रधान नाडियोंकी शाखारूप दूसरी सैकड़ों नाडियाँ हैं। एक केशके हजार भाग किये जायँ, ये नाडियाँ ऐसे हजारवें भागके समान सूक्ष्म हैं और कोई-कोई इससे भी अधिक सूक्ष्म हैं। वेदवेत्ता नाडियोंको हिता नामसे पुकारते हैं। जैसे माताके स्तनमें रहनेवाली नाडियाँ बालकको पुष्ट देती हैं, इसलिये वे बालकका हित करनेवाली हैं, इसी प्रकार ये नाडियाँ सर्व शरीरमें रहकर रसको लेकर मस्तकपर्यन्त सब शरीरमें अन्नके सूक्ष्म अंशको पहुँचाती हैं, इसलिये ये नाडियाँ जीवकी अत्यन्त हितकारिणी होनेसे हिता कहलाती हैं। जैसे नदी जलसे पूर्ण होती है, इसी प्रकार ये नाडियाँ अन्न-पानादिके विचित्र वर्णवाले रससे पूर्ण होती हैं। जैसे चितेरेके घरमें सफेद, काले, पीले इत्यादि अनेक वर्णवाले पात्र होते हैं, इसी प्रकार इस शरीरमें कफको धारण करनेवाली नाडियाँ सफेद रससे पूर्ण होती हैं, वातको धारण करनेवाली नाडियाँ नील रससे पूर्ण होती हैं और पित्तको धारण करनेवाली नाडियाँ पीले रससे पूर्ण होती हैं। अल्प रसको धारण करनेवाली नाडियाँ हरित रससे पूर्ण होती हैं और रुधिरको धारण करनेवाली नाडियाँ लोहित रससे पूर्ण होती हैं। जैसे चितेरा नील, पीतादि रंगोंको एकत्र करके अपूर्व रंग उत्पन्न करता है, इसी प्रकार वात, पित्तादिके धातुओंके समूहसे नाना प्रकारके वर्ण उत्पन्न होते हैं इसी प्रकार नाडियाँ नाना प्रकारके वर्णोंसे युक्त हैं। इन नाडीरूप मार्गोंसे जीवात्मा स्वप्न तथा सुषुप्तिको प्राप्त होता है।

दो प्रकारका स्वप्न

हे जनक! इन नाडीरूप मार्गोंद्वारा प्राप्त होने योग्य स्वप्न दो प्रकारका है। एक सुख देनेवाला और दूसरा दुःख देनेवाला। इनमें जाग्रदवस्थाके समान पुण्ययुक्त अविद्यासे होनेवाला प्रथम प्रकारका स्वप्न जीवको सुख देता है और पापकर्मयुक्त अविद्यासे होनेवाला स्वप्न जीवको दुःख देता है। हे जनक! जैसे जाग्रदवस्थामें प्रतिकूलरूपसे जाने हुए चोरादि जीवको दुःखकी प्राप्ति कराते हैं और अनुकूलरूप जाने हुए स्रक्-चन्दनादि जीवको सुखकी प्राप्ति कराते हैं। इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें भी प्रतिकूलरूप जाने हुए पदार्थ दुःख देते हैं और अनुकूल जाने हुए पदार्थ सुख देते हैं। इसलिये स्वप्न तथा जाग्रत्के पदार्थोंमें स्वरूपसे विशेषता नहीं है और सुख-दुःखकी उत्पत्तिरूप कार्यसे भी विशेषता नहीं है। अतएव जाग्रत् तथा स्वप्नके पदार्थ समान ही हैं।

हे जनक! जैसे शस्त्रादिसे आकाशका छेदन नहीं हो सकता इसी प्रकार आनन्दस्वरूप आत्मा भी शस्त्रादिसे काटा नहीं जा सकता। आनन्द-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्वरूप निर्विकारी आत्मा जब अन्तःकरणादि उपाधियोंके सम्बन्धसे स्वप्नावस्थाको प्राप्त होता है तब पूर्वकृत पापकर्मके कारण स्वप्नके चोरादि धन लेनेके लिये उस स्वप्नदर्शी पुरुषको शस्त्रोंसे मारते हैं, मांस भक्षण करनेवाले बाघ, भेड़िये आदि प्राणी तीक्ष्ण नखों तथा दाँतोंसे काटते और अपने तीखे पंजोंसे मारते हैं। जैसे युवावस्थाका क्षय होनेपर पुरुषको जरा अवस्था प्राप्त होती है, इसी प्रकार वस्तुतः सर्व जगत्‌को वश करनेवाले आनन्दस्वरूप आत्माको स्वप्नावस्थामें कोई दुर्बुद्धि धूर्त पुरुष अपने वश कर लेता है और उस धूर्त पुरुषके वशीभूत होनेसे आत्मा स्वप्नमें अत्यन्त दुःखको प्राप्त होता है। जैसे लोकमें दुर्बुद्धि राजाके चाकर धन लेनेके लिये धनवानोंको बलात्कारसे अपने वशमें कर लेते हैं, उसी प्रकार स्वप्नमें जीवात्माको कोई धूर्त बलात्कारसे अपने अधीन कर लेता है और उसके वशीभूत होनेसे आत्मा अत्यन्त दुःख पाता है। जैसे जाग्रदवस्थामें राजाके द्वारपर रहनेवाले हाथीके समान आकार-वाले काष्ठके हाथीको देखकर मूढ बालक भयको प्राप्त होता है और अपने घरकी तरफ भाग जाता है, इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें जीवात्मा मोहरूप हाथीको देखकर भयको प्राप्त होता है और अत्यन्त दुःखी होता है। हे जनक! जैसे जाग्रदवस्थामें समान भूमिको खाई जानकर कोई मूढ पुरुष उसपर गिर जाता है, उसी प्रकार स्वप्नावस्थामें जीवात्मा समान भूमिको खाई मानकर उसमें गिर जाता है और अत्यन्त दुःखको प्राप्त होता है। जाग्रदवस्थामें जिस-जिस पदार्थको देखकर पुरुष भयको प्राप्त होता है, स्वप्नमें भी उस-उस अप्रिय पदार्थको देखकर वह भयको प्राप्त होता है। इस प्रकार पापकर्मके कारण जीवात्मा अनेक प्रकारके दुष्ट स्वप्नोंको देख-देखकर दुखी होता है।

(क्रमशः)

साध

रसना रस नामका पीती रहे भरी प्याली रहे नव नेह-सुधाकी।
हँसता मुसकाता उड़ेलता-सा रस सामने हो वह साँवला साकी॥
थिरकूँ गिरूँ गाऊँ रिझाऊँ उसे कुछ जीमें रहे अरमान न बाकी।
यही चाह उछाहसे देखा करूँ मन-मोहनकी मन-मोहिनी झाँकी॥
सुधिमें उस बाँकी अदाकी सदा यह भूला हमें जग सारा रहे।
उसपै अपना सब वारा रहे वही जीवनका भी सहारा रहे॥
कुछ और न चाहिये एक वही तनसे मन-प्रानसे प्यारा रहे।
मुखचन्द निहारा करूँ सुखसे सदा नन्द-दुलारा हमारा रहे॥

—रामनारायण

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

समाधि और संयमतत्त्वसार

(श्रीश्रीभार्गव श्रीशिवरामकिङ्कर स्वामी श्रीयोगत्रयानन्दजी महाराजके उपदेश)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

सप्तम प्रकाश

प्रथम अनुप्रकाश

विक्षिप्त चित्त किस प्रकार एकाग्र होता है; समाधिपरिणाम और एकाग्रतापरिणाम; लट्टू-का दृष्टान्त; समाधिपरिणाम और ब्राह्मणत्व; जीवन्मुक्ति और मुक्ति; ब्राह्मणका तप; पतनकी आशंका; किस प्रकारकी तपस्यामें पतनकी आशंका नहीं रहती।

जिज्ञासु—जो चित्त सर्वदा नाना दिशाओंमें दौड़ता रहता है, जो क्षण-क्षणमें विविध अर्थोंको ग्रहण करता है, वह चित्त किस प्रकार एकार्थतावृत्ति अवलम्बन करता है, यह जाननेके लिये मुझे बड़ी उत्सुकता है। बाह्य प्रकृतिमें इसका कोई दृष्टान्त पाया जाता है या नहीं ?

वक्ता—पतञ्जलिदेवने 'सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः' तथा '(ततः पुनः) शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः' इन दो सूत्रोंके द्वारा यह बात समझायी है। सर्वार्थता एक चित्तधर्म है, एकार्थता भी एक चित्तधर्म है। चलायमान चित्तको प्रत्यवशेषके द्वारा लौटाकर बार-बार एक विषयमें लगाये रहनेसे क्रमशः एकार्थता धर्मका आविर्भाव होता है। पहले चित्तको एक विषयमें लगानेकी चेष्टा करनेपर भी कुछ क्षण बाद वह दूसरे विषयकी ओर चला जाता है। प्रत्यवशेषसे शिथिल न कर बार-बार चित्तको उसी एक विषयमें वापस ला रखनेपर क्रमशः सर्वार्थताका ह्रास और एकार्थताकी वृद्धि होती है*। चित्तकी ऐसी अवस्थाको 'समाधिपरिणाम' कहते हैं। क्रमशः एकार्थता स्थिर होती है। उस समय किसी एक क्षणमें चित्तका जैसा प्रत्यय (प्रतीति या ज्ञान) होता है, बादके क्षणमें भी वैसे ही (उससे भिन्न प्रकारका नहीं) प्रत्ययका उदय होता है। इसे चित्तका 'एकाग्रतापरिणाम' कहते हैं।

बाह्य प्रकृतिमें भी इसका दृष्टान्त मिलता है। तुम एक लट्टू घुमाकर पृथिवीपर पटको; देखो, इसका परिणाम क्या होता है। हाथसे गिरनेके बाद लट्टू पहले इधर-उधर दौड़कर अन्तमें किसी एक स्थानमें आबद्ध हो जायगा और उसके बाद वहाँ खड़ा होकर घूमने लगेगा। उसमें तुम्हें एक गति दिखायी देगी, एक कैन्द्रिक (Central) अर्थात् उसके अक्ष (Axis) के चारों ओर; दूसरी भूमिकी ओर झुककर चारों ओर चक्करके रूपमें (Circuitous)। पहले उसका अक्ष (Axis) समतल भूमिसे ठीक सीधा (Vertically) खड़ा नहीं रहेगा, भूमिकी ओर झुका हुआ रहेगा (At an acute angle to the surface of the ground)। इस प्रकार घूमते-घूमते क्रमशः एक ऐसी अवस्था आवेगी जब वह ठीक सीधा खड़ा होकर घूमना आरम्भ कर देगा। यही कैन्द्रिक या Central गति है। यह गति पहले विशेषरूपमें नहीं दिखायी पड़ती, पहले चारों ओरवाली (Circuitous) या नाना दिशाओंमें जो घूमनेकी गति है, वही विशेषरूपसे दिखायी देती है। यह सर्वार्थताका दृष्टान्त है; यह व्युत्थानका द्योतक है। इसी प्रकार चित्तकी पहले चारों ओर (अर्थात् नाना विषयोंमें) क्रिया होती है (The mind has its activity in all directions), चातुर्दिकी गति या Circuitous motion में रजस्तमकी क्रिया अधिक परिमाणमें होती है। क्रमशः सत्त्वगुणप्रधान क्रियाका आरम्भ होता है अर्थात् कैन्द्रिक गति (Central motion) का आविर्भाव होता है। रजस्तमकी क्रिया जबतक अधिक परिमाणमें होती रहती है, तबतक चातुर्दिकी गति रहती है; तत्पश्चात् जब सत्त्वगुण विशेषरूपसे वृद्धि प्राप्त कर लेता है तब कैन्द्रिक गति (Central motion) होती है, उस समय वह एक विषयको अवलम्बन करके घूमता है। यही एकाग्रतापरिणामका दृष्टान्त है। [यही जीवन्मुक्त अवस्थाका दृष्टान्त है।] उसके बाद गतिका एकदम अभाव हो जाता है। [यही विदेहमुक्तिका दृष्टान्त है।] बाधा (Resistance) न होनेपर किसी प्रकारकी गति

* सर्वार्थता और एकार्थता-वृत्तिके सम्बन्धमें अन्यान्य उपदेश एकोनवें बादके (नवें) प्रकाशमें मिलेंगे।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नहीं होती। कैन्द्रिक गति (Central motion) में भी बाधा (Resistance) रहती है, हाँ, बाधा या Resistance प्राप्त होनेपर भी जीवन्मुक्त पुरुषोंकी साम्यावस्थामें विच्युति (Disturbance of equilibrium) नहीं होती।

एक साधारण ब्राह्मणमें प्रतिक्षण चारों जातियोंके भाव क्रिया करते हैं। जबतक यह अवस्था रहती है, तबतक पतनकी आशंका रहती है [चित्तकी सर्वार्थता-वृत्ति और लट्टूकी चातुर्दिकी गति (Circuitous motion) की बात स्मरण करो]। इसीलिये चान्द्रायणादि तपस्या, संयम, विवेक इन सबकी आवश्यकता है। हठयोग और राजयोग इन दोनोंकी आवश्यकता है। [ब्राह्मण अन्यान्य जातियोंकी तुलनामें साम्यावस्थाप्राप्त अवश्य होता है; परन्तु यह उसकी आपेक्षिक साम्यावस्था है—Relative Equilibrium.] हठयोग और राजयोग दोनों योगोंका अनुष्ठान करते-करते ब्राह्मण जब आपेक्षिक साम्यावस्था (Relative Equilibrium) के ऊपरकी अवस्थामें पहुँच जाता है, जब स्थायी साम्यावस्था (Stable Equilibrium) को प्राप्त होता है, तब फिर उसके पतनकी आशंका नहीं रहती, उस समय वह पूर्ण ब्राह्मण हो जाता है। अतएव ब्राह्मणको सर्वदा सावधान रहना चाहिये।

जो केवल किसी एक परिच्छिन्न भावको लक्ष्य करके तपस्या करते हैं, उनकी उस तपस्याका Reaction (प्रतिक्रिया) होनेपर उनके पतनकी संभावना अधिक रहती है, किसी अपरिच्छिन्न भावको लक्ष्य करके तपस्या करनेपर सत्त्वगुणका आधिक्य अक्षुण्ण बना रहता है और उससे क्रमशः समाधिपरिणाम और एकाग्रतापरिणामकी प्राप्ति हो जाती है।

द्वितीय अनुप्रकाश

निरोध या साम्यावस्थाकी प्राप्तिकी चेष्टा भी प्राकृतिक है; निरोधपरिणाम और मुक्ति; किस प्रकारके योगाभ्यासमें पतनकी आशंका नहीं रहती।

जिज्ञासु—अपने चित्तकी साधारणतः व्युत्थित अवस्थाकी बात जब हमें स्मरण होती है, तब, किस प्रकार, किस दिन इसमें एकाग्रता आयेगी, यह सोचनेपर हृदय हताश हो जाता है, उस समय सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि अप्राप्य वस्तु मालूम होती है। बहुतोंको योगमार्गमें अग्रसर होते हुए सुना है; परन्तु लक्ष्यको प्राप्त न कर पतित होनेवाले योगियोंकी संख्या ही आजकल अधिक मालूम होती है।

वक्ता—हताश होनेका कोई कारण नहीं। निरोध करनेकी जो एक प्रकारकी चेष्टा है, वह प्रकृतिमें ही है। प्रकृति स्वयं अपने नियमके अनुसार धीरे-धीरे व्युत्थित चित्तको निरोधमार्गमें ले जाती है। सर्वार्थता जिस प्रकार एक चित्तधर्म है, उसी तरह एकार्थता भी एक चित्तधर्म है। गुणत्रय एक-दूसरेका अभिभव करनेवाले हैं, अतएव एका-एक कोई कार्य या परिणाम सिद्ध नहीं होता, क्रमानुसार ही होता है। साधारणतः चित्तमें पहले तमकी अधिकता रहती है, रजकी सहायतासे उसे अभिभूत किया जाता है, क्रमशः सत्त्वगुणका प्रादुर्भाव होता है। पहले रज और तम परस्पर युद्ध करते हैं, सत्त्व आधाररूपमें रहकर उन सब परिणामोंको प्रकट करता है। क्रमशः रज और तमका बल क्षीण होता है और अन्तमें पूर्णरूपमें व्युत्थानका अभिभव और निरोधका प्रादुर्भाव होता है। लट्टू नचानेके दृष्टान्तको स्मरण करो। पहले सर्वार्थता-वृत्तिके वशमें रहकर चलनेवाले चित्तकी तरह लट्टू एक स्थानमें स्थित होनेपर भी पृथ्वीकी ओर झुककर घूमता है। उस समय वह अपने अक्षके चारों ओर तो घूमता ही है, अपितु एक वृहत्तर वृत्तके रूपमें भी घूमता है जिसकी परिधि क्रमशः संकुचित होती जाती है (Describing a larger circle the circumference of which gradually gets smaller and smaller)। क्रमशः प्रकृतिके नियमानुसार ही मानो उसकी यह शेषोक्त गति बंद हो जाती है, सर्वार्थता चली जाती है और एकार्थता आ जाती है। उस समय वह सीधा खड़ा होकर केवल अपने अक्षके चारों ओर घूमता है, मानो एकाग्रतापरिणामको प्राप्त हो गया हो। अन्तमें लट्टूकी इस गतिका भी अन्त हो जाता है अर्थात् लट्टू जमीनपर पटकते समय तुमने उसमें जो वेग प्रदान किया था, और जिस वेग (Momentum) के कारण वह इतनी देरतक विभिन्न अवस्थाओंमें घूम रहा था, उस वेगका अन्त हो जाता है; उस समय लट्टू फिर नहीं घूमता, खड़ा भी नहीं रहता, भूमिपर गिर पड़ता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है। इसे देखकर तुम समझ सकते हो कि प्रकृतिका ही संयम सर्वार्थता है और प्रकृतिका ही नियम एकार्थता है; प्रकृति ही क्रमशः जीवको योगके पथमें अग्रसर करती है और अन्तमें मुक्ति प्रदान करती है।

पाश्चात्य विद्वान हर्बर्ट स्पेंसर (Herbert Spencer) ने इस बातको समझनेकी चेष्टा की है कि प्रवृत्ति ही प्रवृत्तिका उद्देश्य नहीं है, निवृत्ति ही प्रवृत्तिकी अन्तिम अवस्था है, प्रकृतिकी सब शक्तियाँ क्रिया करके अन्तमें शान्त होना चाहती हैं, प्राकृतिक सब गतियाँ अन्तमें साम्यावस्था (Equilibration) को प्राप्त होती हैं, परिणामक्रमका अन्त है; और इसे समझनेके लिये उन्होंने भी उक्त लट्टूके घूमनेके उदाहरणको ग्रहण किया है। उनके बनाये हुए First Principles नामक ग्रन्थके 'Equilibration' शीर्षक अध्यायको पढ़नेपर तुम्हें यह बात मालूम होगी†।

---

* यही विदेहमुक्तिकी अवस्था है। इस स्थानपर पाठकोंको वैशेषिकदर्शनोक्त 'वेगाख्य संस्कार' और सांख्यदर्शनोक्त जीवन्मुक्त पुरुषकी अवस्थाके द्योतक 'च न भ्रमणवद् धृतशरीरः' इत्यादि उपदेशोंको स्मरण करना चाहिये।

† "Towards what do these changes tend? Will they go on for ever? or will there be an end to them?.....The last of these alternative conclusions is that to which we are inevitably driven.

"In all cases, then, there is a progress towards equilibrium. That universal co-existence of antagonist forces which, as we before saw, necessitates the universality of rhythm, and which, as we before saw, necessitates the decomposition of every force into divergent forces, at the same time necessitates the ultimate establishment of a balance. Every motion, being motion under resistance, is continually suffering deductions; and these unceasing deductions finally result in the cessation of the motion.

".....In nearly all cases the motion of an aggregate is compound; and the equilibration of each of its components, being carried on independently, does not affect the rest. .....That this state may be duly realized and the state of things towards which it tends fully understood, it will be well here to cite a case in which we may watch this successive equilibration of combined movements more completely than we can do in those above instanced. Our end will best be served not by the most imposing but by the most familiar example. Let us take that of a spinning top. When the string which has been wrapped round a top's axis is violently drawn off, and the top falls on to the table, it usually happens that besides the rapid rotation two other movements are given to it. A slight horizental momentum, unavoidably impressed on it when leaving the handle, carries it away bodily from the place on which it drops; and in consequence of its axis being more or less inclined, it falls into a certain oscillation, described by the expressive though inelegant word "wabbling". These two subordinate motions, variable in their proportions to each other and to the chief motion, are commonly soon brought to a close by separate processes of equilibration. The momentum which carries the top bodily along the table, resisted somewhat by the air but mainly by the irregularities of the surface, shortly disappears; and the top thereafter continues to spin on one spot. Meanwhile, in consequence of that opposition which the axial momentum of a rotating body makes to any change in the plane of rotation, (so beautifully exhibited by the gyroscope) the "wabbling" diminishes, and like the other is quickly ended. These minor motions having been dissipated, the rotatory motion, interfered

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

योगाद्रिशिखरपर चढ़नेकी इच्छा रखनेवाले पुरुषोंमें-से बहुत-से लोग लक्ष्यभ्रष्ट होकर पतित हुए हैं, इसमें सन्देह नहीं। सत्त्वकी सम्यक् वृद्धि होते-न-होते ही वे पुनः रजस्तमके अधिकारमें आ जाते हैं, इसलिये भ्रष्ट हो जाते हैं। इस विषयमें एक बात स्मरण रखनेकी चेष्टा करो। जो लोग मुक्तिको लक्ष्य बनाकर प्रत्याहार आदिका अभ्यास करते हैं, उनकी इस चेष्टासे क्रमशः सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है, विशुद्ध सत्त्वका आश्रय लेकर चेष्टा करनेपर पतनकी आशंका नहीं रहती। उस समय प्रकृतिकी सहायतासे वे इष्टकी सिद्धि प्राप्त कर कृतकार्य हो जाते हैं।

श्रीरासलीलारहस्य

(महात्माका उपदेश)

[गतांकसे आगे]

टीकाकार श्री श्रीधरस्वामी लिखते हैं—

ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा ।
जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डलमण्डनः ॥

अर्थात् ब्रह्मादि लोकपालोंको जीत लेनेके कारण जो अत्यन्त अभिमानी हो गया था उस कामदेवके दर्पको दलित करनेवाले गोपियोंके रासमण्डलके भूषणस्वरूप श्री-लक्ष्मीपतिकी जय हो। वस्तुतः रासक्रीडामें प्रवृत्त होकर भगवान्‌ने मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं किया, बल्कि उन्होंने तत्त्वज्ञोंकी निष्ठाकी दृढता ही प्रदर्शित की है। अहो! जो साक्षात् शृङ्गाररसकी अभिवृद्धि करनेवाले हैं उन अनेक-विध दिव्य हाव भाव कटाक्षोंका सम्प्रयोग होनेपर भी उनका चित्त तनिक भी विचलित नहीं हुआ। भगवान्‌की इस स्थितिका श्रीशुकदेवजीने भिन्न-भिन्न शब्दोंमें कई जगह वर्णन किया है, जैसे—'साक्षान्मन्मथमन्मथः' 'आत्मन्यव-रुद्धसौरतः' 'आत्मारामोऽप्यरीरमत्' इत्यादि।

भगवान् सर्वेश्वर हैं; उनकी यह लीला कामजयके लिये ही हुई थी। कामने ब्रह्मादिको जीत लिया था। इससे उसका अभिमान बहुत बढ़ गया और अब उसने उन सबके स्वामी भगवान् श्रीकृष्णसे भी युद्ध करनेका निश्चय किया। भगवान्‌ने उसका यह निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। किन्तु यह नियम है कि बड़े-बड़े योद्धा दुर्बल शत्रुसे युद्ध करना उचित नहीं समझा करते। इसलिये युद्ध करनेसे पूर्व वे उसे सबल कर देते हैं। देखो, अपूर्ण चन्द्रपर राहु भी आक्रमण नहीं करता। जब एक राक्षसकी भी ऐसी नीति है तो सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ही ऐसा कैसे कर सकते थे? अतः भगवान्‌ने पहले तो श्रीमहादेवजीके कोपानलसे दग्ध हुए कन्दर्पको पुष्ट किया। वह गोपाङ्ग-नाओंके हृदयमें स्थित था। उसे वेणुनादद्वारा अपने दिव्य अधरसुधाका पान कराकर भगवान्‌ने सबल कर दिया। परन्तु गोपाङ्गनाओंके हृदयमें तो मन भी रहता है और वह भगवान् श्रीकृष्णका परम भक्त है। तथा कामदेव मनोज होनेके कारण उसका पुत्र है। अतः अपने पिताके विरुद्ध वह कोई चेष्टा कैसे कर सकता था और वृद्ध पिताके सामने उससे कोई धृष्टता भी कैसे बन सकती थी? इसलिये उसे निःसंकोच करनेके लिये भगवान्‌ने वेणुनादद्वारा उस मनको अपने पास बुला लिया। अब कामदेव स्वतन्त्र हो गया। गोपाङ्गनाओंके अंग-प्रत्यंगोंने उसके अस्त्र-शस्त्र होकर सहायता की। तथा चन्द्रमा, वसन्त, यमुनापुलिन, निकुञ्ज और मलय-मारुत भी उसके सहकारी हो गये। इस प्रकार पहले सर्वसाधन-सम्पन्न करके फिर उसे परास्त करनेके लिये ही भगवान्‌ने

with only by atmospheric resistance and the friction of the pivot, continues some time with such uniformity that the top appears stationary; there being thus temporarily established a condition which the French Mathematicians have termed "equilibrium mobile". It is true when the velocity of rotation sinks below a certain point, new motions commence and increase till the top falls; but these are merely incidental to a case in which the centre of gravity is above the point of support. Were the top, having an axis of steel, to be suspended from a surface adequately magnetized, the moving equilibrium would continue until the top became motionless, without any further change of attitude.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यह अलौकिक लीला की; इसीसे यहाँ उन्हें 'साक्षान्मन्मथ-मन्मथः' कहा गया है।

सृष्टिमात्रका प्रयोजक काम ही है। सृष्टिके आरम्भमें जैसा भाव रहता है उत्तरकालीन प्रपञ्च भी उसीका अनुसरण किया करता है। जैसे सृष्टिके आरम्भमें उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भको एकाकी रहनेपर रमण नहीं हुआ वैसे ही अब भी अकेले रहनेपर लोगोंको भय और अरमण हुआ करता है; सर्गारम्भमें परमेश्वर कामप्रयुक्त (सङ्कल्प-द्वारा प्रेरित) प्रकृतिसे संयुक्त होकर प्रपञ्चकी रचना करते हैं; इसीलिये लौकिक पुरुष भी कामप्रयुक्ता प्रकृतिरूपा स्त्रीसे संयोग करके प्रजाकी रचना करते हैं। श्रुति भी कहती है—'सोऽकामयत एकोऽहं बहु स्याम्'—भगवान्‌ने इच्छा की कि मैं अकेला हूँ, अनेक हो जाऊँ।

वह भगवदिच्छा ही आदि-काम है। आगे यह बतलाया जायगा कि जिस प्रकार एक सत्त्वत्व ही सुख-दुःखादि शुभाशुभविशेषणविशिष्ट होकर हेय और उपादेय होता है उसी प्रकार लौकिक और अलौकिक आलम्बनके कारण काम भी हेय और उपादेय हो जाता है। शुभाशुभ-विशेषणशून्य सत्त्वत्व तो निर्विशेष ब्रह्म ही है; वह न हेय है न उपादेय। यह कहनेकी भी आवश्यकता नहीं कि विशेषण भी विशेष्यसे अभिन्न ही होता है। जिस प्रकार मृत्तिकाका परिणाम अतएव उससे अविभिन्न घट मृत्तिकाके विशेषण-रूपसे व्यपदिष्ट होता है तथा जैसे घटाकाशका अवच्छेदक और उसका विशेषणभूत घट भी आकाशसे अभिन्न ही है, क्योंकि वायु, तेज और जलादिके क्रमसे आकाश ही घटरूप हो जाता है और कार्य तथा कारणमें अभिन्नता होती है—यह प्रसिद्ध ही है, उसी प्रकार शुभाशुभ विशेषण भी सत्त्वत्वसे अभिन्न ही हैं। तथापि व्यवहारमें उसके विशेषण होनेसे वे उसके भेदक भी हैं।

इस प्रकार प्रपञ्चोत्पादनके लिये प्रकृतिके संसर्गमें प्रवृत्त करनेवाली इच्छा या रस ही काम है। यही साक्षात् काम (साक्षान्मन्मथ) है। इस कामका एक बिन्दु ही अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंमें व्याप्त है। यह साक्षात्काम रसात्मक ब्रह्मका ही औपाधिक या विकृत रूप है। यह कारणब्रह्मके गुणवृत्तिरूप मनमें क्षोभ उत्पन्न करता है। फिर जिस प्रकार इस कामक्षुब्ध होकर प्रजोत्पादनके लिये स्त्रीसे संसर्गकर उसमें गर्भाधान करता है उसी प्रकार इससे क्षुब्ध हुआ ब्रह्मरूप प्रकृतिरूप अपनी योनिसे संसृष्ट होकर उसमें गर्भाधान कर देता है। जिस प्रकार स्त्रीका गर्भाशय पुरुषका वीर्य प्राप्त होनेपर ही प्रजोत्पादनमें समर्थ होता है उसी प्रकार पुरुषके चैतन्य - प्रतिविम्बरूप वीर्यके प्राप्त होनेपर ही अर्थात् पुरुषके सान्निध्यसे प्राप्त हुए चैतन्य-सामर्थ्यसे ही प्रकृति महदादि प्रजाओंको उत्पन्न कर सकती है। जिनका हृदय पाशविक संस्कारोंसे दूषित है उन नरपशुओंको जिस योनिलेश मांसपिण्डमें योनिबुद्धि है वह वस्तुतः योनि नहीं कही जा सकती। योनितत्त्व तो अतीन्द्रिय है। जिस प्रकार इन्द्रियगोलकसे इन्द्रियतत्त्व सर्वथा भिन्न और अतीन्द्रिय है उस प्रकार योनितत्त्व भी योनिगोलकसे सर्वथा भिन्न है। जो योनितत्त्वका उद्गमस्थल जागतिक सृष्टिका मूल कारण है वही मूलयोनितत्त्व है और उसीको 'प्रकृति' भी कहते हैं। पुरुषका अंशभूत चैतन्य-प्रतिविम्ब ही वीर्य है। अतः यह नियम है कि प्रकृति और पुरुषका संसर्ग होनेपर भी सृष्टि हुआ करती है। अस्तु।

इस प्रकार प्राथमिक काम साक्षान्मन्मथ है। वह विकृत रसस्वरूप है। उस विकृत रसका याथात्म्य या अधिष्ठान अविकृत रसात्मक परब्रह्म ही है। विकृत रसमें जो मन्मथत्व या मोहकत्व है वह अपने अधिष्ठानसे ही आता है। अतः उसका अधिष्ठानभूत परब्रह्म ही 'साक्षान्मन्मथमन्मथ' है। जिस प्रकार भगवान्‌को चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र और मनका मन कहा जाता है उसी प्रकार वे कामके काम अर्थात् मन्मथमन्मथ हैं। वे अव्यक्त मन्मथमन्मथ ही इस समय अत्यन्त मधुमयी मनोहर माधवमूर्तिमें विराजमान हैं। इसलिये वे 'साक्षान्मन्मथ-मन्मथ' हैं।

भगवान् जो चक्षुके चक्षु, श्रोत्रके श्रोत्र, मनके मन और प्राणके प्राण कहे गये हैं उसका क्या रहस्य है? श्रोत्र किसे कहते हैं? जो इन्द्रिय शब्दप्रकाशनमें समर्थ है उसका नाम 'श्रोत्र' है भगवान् उसे शब्दप्रकाशनका सामर्थ्य प्रदान करते हैं, इसलिये वे श्रोत्रके श्रोत्र हैं। इसी प्रकार वे चक्षुके चक्षु, मनके मन और प्राणके प्राण भी हैं। तथा वे ही साक्षात् मन्मथमन्मथ हैं। मन्मथ कामको कहते हैं। नायक-नायिकाके पारस्परिक स्नेह-विशेषका नाम 'काम' है। वह एक प्रकारका रस है और भगवान् भी रसस्वरूप हैं; 'रसो वै सः'। भगवान् सम्पूर्ण रसोंके अधिष्ठान हैं; वे निर्विशेष रसस्वरूप हैं तथा संसारमें जितने रस हैं वे उन रसमयके ही विशेष विकास हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सिद्धान्तदृष्टिसे देखा जाय तो शुद्ध सत् अशेषविशेष-निर्मुक्त परब्रह्म ही है। इसी प्रकार शुद्ध चित् भी वही है। सत् और चित्में भी कोई भेद नहीं है। जिसकी सत्ता होगी उसका भान भी अवश्य होगा और जिसका भान होगा उसकी सत्ता भी अवश्य होगी। अतः जो सत् है वही चित् है और जो चित् है वही सत् है। जिस प्रकार सच्चित् सम्पूर्ण प्रपञ्चका कारण है उसी प्रकार आनन्द भी है। 'आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'। जिस प्रकार सर्वविशेषणनिर्मुक्त सत् ब्रह्म है उसी प्रकार निर्विशेष आनन्द भी शुद्ध परब्रह्म ही है। वह हेयोपादेयसे रहित है; पुण्य या अपुण्य विशेषणसे युक्त होनेपर ही वह हेयोपादेय होता है। जो आनन्द किसी उत्तम वस्तुको आलम्बन मानकर अभिव्यक्त होता है उसे प्रेम कहते हैं और जो बन्धनकारी निकृष्ट पदार्थोंके आलम्बनसे होता है उसे काम या मोह कहा जाता है। भगवान् विष्णु, शिव एवं गुरुदेव आदि उत्तम आलम्बन हैं। भगवान् तो स्वयं ही रसस्वरूप हैं; उनमें तन्मय हुआ चित्त भी पूर्णतया रसमय हो जाता है। श्रीमधुसूदनस्वामी कहते हैं—

भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलाम्॥

प्रेमीके द्रुत चित्तपर अभिव्यक्त जो प्रेमास्पदावच्छिन्न चैतन्य है वही प्रेम कहलाता है। स्नेहादि एक अग्नि है। जिस प्रकार अग्निका ताप पहुँचनेपर जतु (लाक्षा) पिघल जाता है उसी प्रकार स्नेहादिरूप अग्निसे भी प्रेमीका अन्तःकरण द्रवीभूत हो जाता है। विष्णु आदि आलम्बन सात्त्विक हैं; इसलिये जिस समय तदवच्छिन्न चैतन्यकी द्रुत चित्तपर अभिव्यक्ति होती है तब उसे 'प्रेम' कहा जाता है और जब नायिकावच्छिन्न चैतन्यकी अभिव्यक्ति होती है तो उसे 'काम' कहते हैं। प्रेम सुख और पुण्यस्वरूप है, तथा काम दुःख और अपुण्यस्वरूप। इस प्रकार यदि मूलमें देखें तो सत्का ही रूपान्तर सुख और पुण्य हैं तथा उसीका रूपान्तर दुःख और अपुण्य हैं। एवं इन सब प्रकारके विशेषणोंसे शून्य जो सत् है वही परब्रह्म है। ठीक इसी प्रकार जो सर्वविशेषणशून्य रस है वह भी ब्रह्म ही है; वही साक्षान्मन्मथमन्मथ हैं और वही श्रीकृष्ण हैं। इसीसे कामको वासुदेवका अंश कहा है—'कामस्तु वासुदेवांशः'।

यह तो हुआ आध्यात्मिक विवेचन। आधिदैविक दृष्टिसे देखें तो भी भगवान्का रूपमाधुर्य ऐसा मोहक था कि जो काम संसारके प्रत्येक प्राणीको मोहित करनेमें समर्थ है वही जिस समय अपने दल-बलसहित भगवान्की परम सुन्दर दिव्य मङ्गलमयी मूर्तिके सामने आया तो उसका लावण्य देखकर मानो धूलिमें मिल गया। इसीसे उन्हें 'साक्षान्मन्मथमन्मथः' कहा गया है। यह भी एक आदर्श है। जिस प्रकार साधकोंके लिये चित्रलिखित स्त्रीको भी न देखना आदर्श है उसी प्रकार जो बहुत उच्चकोटिके सिद्ध महात्मा हैं उनके लिये मानो यह चेतावनी है कि भाई, तुम अभिमान मत करना; जबतक तुम ऐसी परिस्थितिमें भी अविचलित न रह सको तबतक अपनेको सिद्ध मत मान बैठना। अहो! जिनके नखमणिकी ज्योत्स्नासे भी अनन्त कोटि कन्दर्पोंका दर्प दलित हो जाता था उन परम सुन्दरी व्रजसुन्दरियोंको भी जिन्होंने रमाया उन श्रीहरिके दिव्यातिदिव्य योगका माहात्म्य कहाँतक कहा जा सकता है?

साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि कामुकोंके लिये तो नर-नारायणका आदर्श भी अनुपयुक्त है। उन्हें तो मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके ही चरणचिह्नोंका अनुसरण करना चाहिये। श्रीनर-नारायणका आदर्श साधकोंके लिये है; उन्हें ऋषभदेवजीके आदर्शका अनुकरण नहीं करना चाहिये, क्योंकि सर्वकर्मसंन्यासका अधिकार सबको नहीं है। उनका आचरण तो परमोत्कृष्ट तत्त्वज्ञोंके लिये ही है। इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके दिव्यातिदिव्य आचरणोंका तो यदि कोई मनसे भी अनुकरण करेगा तो पतित हो जायगा, 'नैतत्समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः' क्योंकि वे तो निरतिशय ऐश्वर्यवान् साक्षात् भगवान्की ही अलौकिक लीलाएँ हैं। कोई भी जीव इस स्थितिपर नहीं पहुँच सकता। भला भगवान्के सिवा ऐसा कौन है जिसने सम्पूर्ण जगत्को मोहित करनेवाले कामदेवका मान मर्दन किया हो। मदनमोहन तो एकमात्र भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। करना तो दूर, हर किसीको तो इसे सुनना भी नहीं चाहिये, क्योंकि 'छठी भावना रासकी', इसे सुनने-देखनेका अधिकार तो देहाध्याससे ऊपर उठे बिना प्राप्त ही नहीं होता।

भगवान्ने जो कहा है कि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उसका तात्पर्य यह नहीं है कि श्रेष्ठ पुरुषोंके सभी आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये; बल्कि जो अपनी योग्यताके अनुसार हो उसीका आचरण करना उचित है। भगवान् शंकर हलाहल विषका पान कर गये थे, इसलिये क्या सभीको विष-पान करना चाहिये ? तैत्तिरीयोपनिषद्में आचार्य अपने शिष्योंसे कहते हैं—

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि।

यह बहुत सम्भव है कि कोई चरित्र महापुरुषोंके लिये उचित हो किन्तु साधारण पुरुषोंके लिये उचित न हो। संन्यासीलोग सन्ध्योपासन नहीं करते, इसलिये क्या गृहस्थोंको भी उसे छोड़ देना चाहिये। फिर यहाँ तो अलौकिक लीलाकारी भगवान्की बात है, जिसका अनुकरण करना तो दूर रहा, समझना भी महाकठिन है।

इस प्रकार भगवान्की यह रासलीला उच्चकोटिके योगारूढोंके लिये ही एक उच्च आदर्श है। इसके श्रवण-मननसे पुण्य होता है। सो कैसे ?—पूर्वमीमांसामें ब्रह्मकी उपासना कई प्रकारकी बतलायी गयी है। वहाँ कहा है—

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषणात्।

इस सूत्रपर ऐसा विचार हुआ है कि ब्रह्म तो एक ही है फिर किस प्रकारकी उपासनाको किस उपासनामें सन्निहित करना चाहिये और किसका किसमें समन्वय नहीं करना चाहिये। वहाँ बतलाया गया है कि यद्यपि उपास्य ब्रह्म तो एक ही है तथापि गुणगणके भेदसे उसमें भेद हो जाता है और उपासनाका फल तत्तद्गुणविशिष्ट उपास्यके अनुरूप ही मिलता है। जैसे यदि हमारा उपास्य सत्यकामादिगुणविशिष्ट ब्रह्म होगा तो वह हमें सत्यकामादिरूप फल देगा और यदि वामनित्वादिगुणगणविशिष्ट ब्रह्म होगा तो उसमें हमें वामनित्वादि फल प्राप्त होगा।

अब यह प्रश्न होता है कि एक ही ब्रह्मकी अनेकविध उपासना क्यों बतलायी गयी है ? इसका उत्तर यही है कि फल उपास्यका भेद उपासककी योग्यता और कामनाके अनुसार है। यहाँ रासलीलामें उपास्य कामविजयी है, इसलिये इसके द्वारा कामविजयरूप फल प्राप्त होगा। इसीसे यहाँ कहा गया है कि—

विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्य।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः॥

अर्थात् 'जो पुरुष श्रद्धासम्पन्न होकर व्रजबालाओंके साथ की हुई भगवान् विष्णुकी इस क्रीडाका श्रवण या कीर्तन करेगा वह परम धीर भगवान्में पराभक्ति प्राप्त करके शीघ्र ही मानसिक रोगरूप कामसे मुक्त हो जायगा।'

किन्तु यहाँ यह सन्देह हो सकता है कि कामलीला-वर्णन या श्रवण करनेसे कामविजय कैसे होगा ? इसका उत्तर यह है कि यह रासलीला कामलीला नहीं बल्कि कामविजयलीला है। इसके श्रवण और कीर्तनद्वारा कामविजयी भगवान् ध्येय होंगे; इसलिये उपासकका चित्त कामविजयी हो जायगा।

भगवान् पतञ्जलि कहते हैं 'वीतरागविषयं वा चित्तम्' अर्थात् विरक्त पुरुषोंके विरक्त चित्तका चिन्तन करनेवाला चित्त भी स्थिरता प्राप्त करता है। इसका क्या तात्पर्य है ? यही कि विरक्त पुरुषोंका ध्यान करनेवाले पुरुषोंका चित्त भी क्रमशः उनकी आकृति और भावका आलम्बन करता हुआ विरक्त हो जाता है। इसी प्रकार भगवान्की मायाका वर्णन करनेसे मायासे उद्धार होना बतलाया गया है; जैसे—

मायां वर्णयतोऽमुष्य ईश्वरस्यानुमोदितः।
शृण्वतः श्रद्धया राजन् मायया त्मा न मुह्यति॥

इसका कारण यही है कि यहाँ मायाका वर्णन स्वतन्त्ररूपसे नहीं है अपितु मायाके नियन्तारूपसे ईश्वरका ही वर्णन है। अतः मायाधीश भगवान्का चिन्तन होते रहनेसे हम भी मायासे मोहित न होंगे। इसी प्रकार यद्यपि कामवर्णनसे कामकी वृद्धि ही हुआ करती है, तथापि यहाँ कामवर्णनके व्याजसे कामविजयी भगवान्का ही वर्णन होनेके कारण कामविजयरूप फल ही प्राप्त होगा।

किन्तु इस लीलाके श्रवण और कीर्तनके अधिकारी सभी लोग नहीं हो सकते। उनमें कुछ विलक्षणता होनी चाहिये। उनमें भी वर्णन करनेवाला तो बहुत ही विलक्षण होना चाहिये; क्योंकि भगवान्की जो दिव्यातिदिव्य लीलाएँ हैं उनके श्रवण-मननसे अधिकारियोंपर प्रभाव पड़ता ही है। जिस प्रकार वीररसपूर्ण काव्य पढ़नेपर चित्तमें वीरताका सञ्चार होता है तथा करुणरसप्रधान ग्रन्थका अनुशीलन करनेपर चित्त करुणार्द्र हो जाता है उसी प्रकार इस शृङ्गाररसप्रधान लीलाके श्रवण या कीर्तनसे चित्तमें शृङ्गाररसका उद्रेक होना भी स्वाभाविक ही है। हम देखते हैं कि यह जानते हुए भी कि भगवान् श्रीराम

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं, उनपर किसी प्रकारकी सम्पत्ति या विपत्तिका कोई अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ सकता, जिस समय उनके वनगमन आदिका वर्णन सुनते हैं तो हठात् नेत्रोंमें जल आ ही जाता है। अतः भगवान्‌की इस मधुरातिमधुर लीलाके श्रवण-कीर्तनके मुख्य अधिकारी तो वे ही हैं जो संसारकी समस्त वासनाओंको जीतकर मनोनिरोधपूर्वक परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार कर चुके हैं।

किन्तु यहाँ जो ऐसा कहा है कि 'हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः' इससे यह भी सिद्ध होता है कि कामरूप हृद्रोगके रोगी भी इसका श्रवण कर सकते हैं। परन्तु वे कम-से-कम उस हृद्रोगसे मुक्त होनेके पूर्ण इच्छुक तो होने ही चाहिये, विषयी होनेपर तो उनका उद्धार हो नहीं सकेगा। उन्हें भी इसे ऐसे वक्तासे श्रवण करना चाहिये जो पूर्ण तत्त्वनिष्ठ हो तथा जो श्रोताके कामभावकी निवृत्ति करनेमें सर्वथा समर्थ हो। तब तो अवश्य इसके द्वारा भगवान्‌के प्रति स्थायी रतिका आविर्भाव होगा और उस भगवद्रतिके कारण कामका कदापि प्रभाव न होगा।

पहले यह कहा जा चुका है कि इस प्रकरणके आरम्भमें जो श्रीवादरायणिरुवाच है उसका क्या रहस्य है। किन्तु किसी-किसी प्रतिमें इसके स्थानपर 'श्रीशुक उवाच' भी है। भगवान् शुककी तत्त्वज्ञता सुप्रसिद्ध है और इधर श्रोता भी सर्वसाधनसम्पन्न कुरुकुलभूषण महाराज परीक्षित हैं। यदि ऐसे श्रोता-वक्ता हों तो अवश्य इसका महान् फल हो सकता है।

'शुक उवाच' इस वाक्यका एक और भी तात्पर्य हो सकता है। प्रायः शुकतुण्डसे सम्बन्धित होनेपर फलमें और भी अधिक मधुरिमा आ जाती है। इसीसे कहा है—

निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्।
पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः॥

जिस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता उपनिषद्रूप गौओंका अमृतमय दुग्ध होनेसे ही परम आदरणीय है उसी प्रकार यह भागवतपुराण भी वेदमूलक होनेके कारण ही प्रमाण है। यह साक्षात् कल्पवृक्षका फल है और वह कल्पवृक्ष भी प्राकृत नहीं बल्कि स्वयं शब्दब्रह्मरूप वेद है। यह उससे तोड़ा हुआ भी नहीं है, इसलिये इसके विषयमें कच्चे या आम्ल होनेकी भी आशंका नहीं की जा सकती। यह तो स्वयं पककर गिरा हुआ है। इसलिये इसमें अत्यन्त मधुरता और सुगन्ध आ गयी है। इसपर भी शुकके मुखका संयोग हो जानेसे तो यह और भी अधिक सरस हो गया है। इसीसे कहा है 'पिबत' इसे पिओ। यद्यपि फल खाया जाता है परन्तु इसे तो पीनेके लिये कहा है। इसका तात्पर्य यही है कि अन्य फलोंके समान इसमें गुठली या छिलका आदि कोई हेय अंश नहीं है, क्योंकि यह तो एकमात्र सुमधुर रसस्वरूप ही है। इसलिये इसका पान ही करना चाहिये। कबतक पान करें? 'आलयम्' अर्थात् मोक्षपर्यन्त।

जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरिगुन सुनहिं निरंतर तेऊ॥

इस प्रकार जब शुकतुण्डच्युत श्रीमद्भागवत ही पेय है तो उसकी सारातिसारभूता रासपञ्चाध्यायीके विषयमें तो कहना ही क्या है? यही 'शुक उवाच' का गूढ़ रहस्य है।

इसके सिवा व्रजमें हमने एक और बात भी सुनी थी। वहाँके लोग कहा करते हैं—'महाराज, महलकी बात माहिलिहि जाने।' अर्थात् महलके भीतर क्या-क्या होता है? इस रहस्यको तो महलके भीतर रहनेवाले ही जान सकते हैं; बाहर जो घास खोदनेवाला है उसे अन्तःपुरकी बातोंका क्या पता लग सकता है? यह रासक्रीडा भगवान्‌की परम अन्तरंग लीला है। इसका मर्म तो वे ही जान सकते हैं जो श्रीराधारानी और नन्दनन्दनके अत्यन्त कृपापात्र हैं; अन्य निष्ठावाले इसका रहस्य नहीं समझ सकते। अतः इसका वक्ता भी वही हो सकता है जो परम अन्तरंग हो। अतः यह देखना चाहिये कि इसका वक्ता कौन है। कोई कितना ही आत्मनिष्ठ हो, किन्तु यदि वह इस रससे अनभिज्ञ हो तो कम-से-कम रसिकोंकी प्रवृत्ति तो उसके वाक्यश्रवणमें हो नहीं सकती। अतः यह देखना चाहिये कि इसके वक्ताका रसमें प्रवेश है या नहीं? इसपर वे कहते हैं— 'श्रीशुक उवाच' यहाँ जो शुक हैं वे श्रीवृषभानुनन्दिनीके लीलाशुक हैं। जिस समय श्रीनन्दनन्दन उनके पाससे चले जाते थे उस समय श्रीरासेश्वरीजी इन्हें पढ़ाया करती थीं—'कृष्ण कहो, कृष्ण कहो, राधा मति कहु रे' वे अपने अमृतमय अधरपुटसे इनकी चंचुको चुम्बनकर इन्हें भगवल्लीलाओंका पाठ पढ़ाया करती थीं। भावुकोंका ऐसा कथन है कि भगवान् श्रीकृष्णकी कृपाका पात्र वही होता है जिसपर श्रीवृषभानुसुताकी कृपा होती है; उनकी कृपा ललितादि प्रधान यूथेश्वरियोंकी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कृपापात्रोंपर हुआ करती है और ललितादिकी कृपा अपनी सखि-सहचरियोंके कृपापात्र आचार्योंके कृपाभाजनोंपर होती है। फिर जिनका चञ्चु स्वयं श्रीवृषभानुनन्दिनीके अधरसुधा-से चुम्बित होता था उन श्रीलीलाशुकके मुखारविन्दसे निःसृत इस लीलाके माधुर्यका तो कहना ही क्या है। अहो! जिनके अधरामृतका संयोग होनेके कारण उनका किया हुआ वेणुनाद सम्पूर्ण चराचर जीवोंको मन्त्रमुग्ध कर देता था वे रसराजशिरोमणि श्रीमाधव भी जिसके लिये लालायित रहते थे उस श्रीवृषभानुनन्दिनीके अधरसुधाकी माधुरीका वर्णन कौन कर सकता है? फिर उन श्रीवृषभानुनन्दिनीके अधरसुधासे पोषित परमहंसशिरोमणि श्रीशुकदेवजीसे अधिक रसिक और कौन होगा?

अतः यहाँ जो 'श्रीशुक' कहा गया है उसका तात्पर्य 'श्रियः शुक' श्रीजीका शुक समझना चाहिये। ये वे श्रीजी हैं जिनके चरणसरोरुहकी दिव्यातिदिव्य गन्धसे मुग्ध होकर सौन्दर्य-माधुर्य आदि गुणगण सर्वदा उनकी सेवामें उपस्थित रहते हैं। 'श्रीयते सर्वैर्गुणैरिति श्रीः' अतः ये शुकदेव-जी भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराधिकाजीके अत्यन्त स्नेहभाजन और उनके परम अन्तरंग हैं।

हमने ऐसा सुना है कि श्रीराधिकाजी तो उन्हें श्री-कृष्णनामका ही पाठ पढ़ाती थीं किन्तु जब वे चली जातीं तो श्रीश्यामसुन्दर प्रेमपूर्वक अपने मधुमय अधरामृतसे पोषितकर उन्हें 'राधाकृष्ण राधाकृष्ण'—ऐसा राधाकृष्ण नामका पाठ पढ़ाया करते थे। उस समय यदि श्रीराधिकाजी आ जातीं तो उन्हें बड़ा संकोच होता, और वह तोते यही कहतीं—'कृष्ण कहो, कृष्ण कहो, राधा मति कहो'। इससे जान पड़ता है कि वे दोनोंहीके कृपापात्र थे।

'श्री' शब्दका अर्थ भगवान् भी है। 'श्रीयते सर्वैर्गुणैर्यः स श्रीः' अर्थात् जो सम्पूर्ण गुणोंद्वारा आश्रित हैं वे श्री हैं। यहाँ 'सुधी' शब्दके समान 'श्री' शब्दको भी पुँल्लिंग समझना चाहिये। अतः वे जैसे श्रीराधिकाजीके लीलाशुक हैं वैसे ही भगवान्के भी हैं। इसलिये वे इस रहस्यसे खूब अभिज्ञ हैं और उसका वर्णन करनेमें भी पटु हैं, क्योंकि शुककी बोली स्वभावतः ही मधुर होती है। इसीसे किसी प्रतिमें 'श्रीवादरायणिरुवाच' है और किसीमें 'श्रीशुक उवाच' है।

जब श्रीशुकदेवजी इस कथाका वर्णन करने लगे तो उन्होंने सोचा यह तत्त्व तो परम दुरवगाह्य है, क्योंकि यह भगवत्स्वरूप है। परन्तु यह है परम श्रेयस्कर। और श्रेयमें बहुत विघ्न हुआ करते हैं 'श्रेयांसि बहुविघ्नानि'। तिसपर भी यह तो परम श्रेय है, इसलिये इसमें और भी अधिक विघ्नोंकी सम्भावना है। अतः इसके आरम्भमें कोई ऐसा मंगल करना चाहिये जो सब प्रकारके विघ्नोंकी निवृत्ति करनेवाला हो। भगवान्का नाम मंगलोंका भी मंगल और देवोंका भी देव है—

मङ्गलं मङ्गलानां च दैवतानां च दैवतम्।

उसके द्वारा मंगलको भी मंगलत्व प्राप्त होता है तथा सारे संसारका मंगल उस मंगलसिन्धुका एक बिन्दु है। मंगलमें देवताका अनुसरण किया जाता है परन्तु वे तो देवताओंके भी देवताका स्मरण करते हैं। इसीसे वे मंगलोंका भी मंगल करते हुए इस प्रकार आरम्भ करते हैं—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

(क्रमशः)

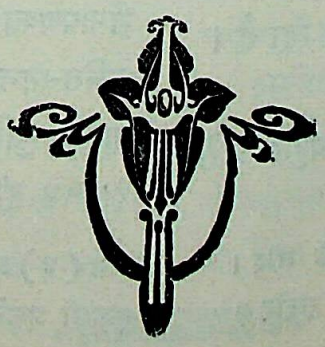

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रावण शुक्ला सप्तमी श्रीतुलसी-जयन्ती क्यों है ?

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

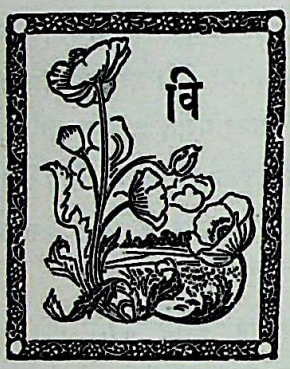

गत वर्ष श्रावण शुक्ला सप्तमी-को श्रीतुलसी-जयन्ती-महोत्सवमें प्रयाग-हाईकोर्ट-के एक प्रसिद्ध वकीलने यह शंका प्रकट की कि जब श्रावण शुक्ला सप्तमी श्री-गोस्वामी तुलसीदासजीकी परमधाम जानेकी तिथि है तब इस दिनको जयन्ती (जन्मतिथि) मानना कितनी भूलकी बात है ! फिर इस मरणतिथिको तो चाहिये यह था कि हम लोग शोक मनाते, सो उसकी जगह हम मंगल-गान-वाद्यादि-के द्वारा जय-जय करते हुए हर्ष मना रहे हैं ! यह कहाँतक उचित है ? उस समय भरी सभामें श्रीपरम-प्रकाशक प्रभु श्रीराघवेन्द्रकी प्रेरणासे उस शंकाका जो समाधान किया गया उससे प्रश्नकर्त्ता महोदय तथा समस्त सभाको बड़ा सन्तोष हुआ और सबने अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए यह सम्मति दी कि आगामी श्रीतुलसी-जयन्तीके पहले ही इसे लेखरूपमें 'कल्याण' पत्रमें प्रकाशित करा दिया जाय, जिसमें अधिकाधिक लोगोंको इससे लाभ पहुँच जावे। परन्तु यह दीन उस बातको एकदम भूल गया। सहसा भगवत्-प्रेरणासे एक दिन झूसीके स्टेशनमास्टर बाबू श्यामानन्दजीने मिलकर आग्रह किया कि श्रीतुलसी-जयन्ती-सम्बन्धी लेख बहुत शीघ्र 'कल्याण' में भेज देना चाहिये। तदनुसार लेख भेजा जा रहा है।

समाधान

इसमें सन्देह नहीं कि यह दोहा बहुत प्रसिद्ध हो रहा है कि—

संवत सोलह सै असी, असी गंगके तीर।
श्रावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो सरीर॥

इस दोहेके अनुसार श्रीगोस्वामीजीकी परधाम सिधारनेकी तिथि श्रावण शुक्ला सप्तमी ही सूचित हो रही है, यद्यपि बेनीमाधोदासकृत श्रीतुलसी-चरितमें श्यामा तीज या कोई और ही तिथि परधाम-यात्रार्की मानी गयी है। परन्तु यदि हम उपर्युक्त प्रसिद्ध दोहेको ही प्रमाण मानकर श्रावण शुक्ला सप्तमी हो परलोक-तिथि मान लें तो फिर आवश्यकता इस बात-की आ पड़ती है कि पूज्य श्रीगोस्वामीजी महाराजकी जन्मतिथि कौन-सी है, इसकी भी तो खोज करें। गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित "मूल गोसाईं-चरित" नामक पुस्तकमें, जो श्रीगोस्वामिपादके समकालीन एक महात्मा पुरुष बाबा बेनीमाधोदासजी द्वारा रचित परम विश्वसनीय और मान्य है, आपकी जन्म-तिथि और संवत्के विषयमें इस प्रकार स्पष्ट प्रमाण मिलता है—

पँदरह सै चउवन बिषे, कालिन्दीके तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी धरेउ शरीर॥

अर्थात् संवत् १५५४ की श्रावण शुक्ला सप्तमीको कालिन्दी (श्रीयमुना-नदी) के किनारे पूज्य श्री-गोस्वामी तुलसीदासजीका जन्म हुआ था। अतः यह श्रावण शुक्ला सप्तमी ही आपकी जन्मतिथि भी है। श्रीगोस्वामिपादके शिष्य-परम्परागत पं० शिवलाल पाठक काशीनिवासीद्वारा, जिन्होंने वाल्मीकि-रामायणका संस्कृत भाष्य भी लिखा है, रचित श्रीराम-चरित-मानसकी 'मानसमयंक' नाम्नी टीकासे भी इस बातकी पुष्टि होती है कि श्रीगोस्वामीजीका जन्म-संवत् १५५४ ही है। यथा—

मन (४) ऊपर शर (५) जानिये, शर (५) पर दीन्हें एक।
तुलसी प्रकटे रामवत, राम जनमकी टेक॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तुपने गुरूसे बीच शर (५), सन्त बीच मन (४०) गान।
प्रगटे सतहत्तर परे, ताते कहे चिरान॥

अर्थात् १५५४ संवत्‌में श्रीगोस्वामीजीका जन्म हुआ और ५ वर्षकी अवस्थामें अपने गुरुसे उन्होंने कथा सुनी। पुनः दुबारा ४० वर्षकी अवस्थामें वही कथा उनसे सुनी। फिर उसको ७७ वर्षकी अवस्थामें संवत् १६३१ में प्रकट कर श्रीरामचरित-मानसकी रचना प्रारम्भ की। इसीसे उस भगवत्-यश-रूप बच्चेको चिराना कहा है। इस प्रकार १५५४ में ७७ वर्ष जोड़नेसे संवत् १६३१ हुआ।—

संवत सोलह सै इकतीसा। करौं कथा हरिपद धरि सीसा॥

और संवत् १६८० में परधाम सिधारे। इस तरह १२६ वर्षकी दीर्घ आयुका पूर्ण भोग योगिराज-शिरोमणिने किया। इसका दूसरा प्रमाण नागरी-प्रचारिणी-सभाद्वारा प्रकाशित श्रीतुलसीग्रन्थावली (खण्ड ३) के पृष्ठ ९८ में इसी प्रकार मौजूद है। तीसरा प्रमाण वेलवेडियर-प्रेस, प्रयागसे प्रकाशित प्राचीन संशोधित विनय-पत्रिकामें है, जिसमें श्री-गोस्वामीजीके ३६ वर्ष, ७७ वर्ष और ९८ वर्षकी अवस्थाओंके तीनों चित्र—बादशाह अकबरकी लाइब्रेरी-सभा, डाक्टर ग्रियर्सनसाहबकी खोजमें प्राप्त, और गोस्वामीजीके अस्सी संगमका—दिये हुए हैं। उसमें भी यह दोहा मौजूद है—

पंद्रह सै चउवन बिषे, कालिन्दीके तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी धरेउ शरीर॥

अतः श्रीगोस्वामीजीकी जन्मतिथि संवत् १५५४ की श्रावण शुक्ला सप्तमी ही प्रमाणित होती है। इसलिये यह आपकी जयन्ती-तिथि है ही। महान् पुरुषोंके जीवनमें बहुधा यह बात भी देखी जाती है कि उनकी जन्मतिथि और मरणतिथि प्रायः एक ही होती है। जैसे, हालके महात्माओंमें स्वामी रामतीर्थका जन्मदिन और परधामदिन दिवाली ही प्रसिद्ध है। ऐसे बहुत-से उदाहरण ढूँढ़नेपर अन्य महात्माओंके भी मिलेंगे। हमारे श्रीगोस्वामिपादने अपनी समत्व-शक्तिसे समलीला दिखा दी। उनके लिये हर्ष-शोक समान ही था। वे जन्म-मरणकी एक ही तिथि प्रमाण करके द्वन्द्वातीत दशाको सिद्ध कर गये। और ऐसे महापुरुषके लिये १२६ वर्ष कलिकालमें भी जीवित रहना आश्चर्यजनक नहीं, जिन्हें श्रीनाभाजी अपने 'भक्तमाल' में साक्षात् वाल्मीकिजीका अवतार होना बता गये हैं—

'कलि कुटिल जीव निस्तार हित बाल्मीकि तुलसी भयो।'

वाल्मीकिका अवतार होना श्रीतुलसीकृत रामायण-से भी झलक रहा है। क्योंकि श्रीअवधकाण्डमें कुल १३ छन्द हैं। इस काण्डकी रचना नियमसे हुई है। आठ चौपाईपर दोहा, चौबीस दोहोंपर एक छन्द, और एक सोरठा रखा गया है। कुल बारहों छन्दोंमें 'तुलसी' शब्दका भोग लगा है; परन्तु इस एक छन्दमें,

'श्रुति सेत पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी।'

जो वाल्मीकिजीका ही कहा हुआ है, 'तुलसी' भोग इसलिये नहीं रक्खा गया है कि शरीरान्तरसे तो हमारा ही वचन हो रहा है, व्यर्थमें 'तुलसीदास' लिखकर दो-चार अक्षर अधिक क्यों खर्च किया जाय। और कलियुगसे तो आप मानो नोटिस देकर भिड़ गये थे। यथा—

भागीरथी जल पान करौं अरु नाम द्वै रामके लेत नितै हौं।
मोसो न लेनो न देनो कछू कलि! भूलि न रावरी ओर चितै हौं॥
जानिकै जोर करौ परिणाम तुम्हीं पछितैहौ पै मैं न भितै हौं।
ब्राह्मण ज्यों उगिल्यो उरगारिहौं त्योंही तुम्हारे हिये न हितै हौं॥

इसलिये आपसे कलियुगकी नहीं चली और १२६ वर्ष कलि-आयुसे अधिक जीवन रखकर आपने अपनी जीवन्मुक्तता और भगवत्-नामके प्रभावको प्रमाणित कर दिया।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

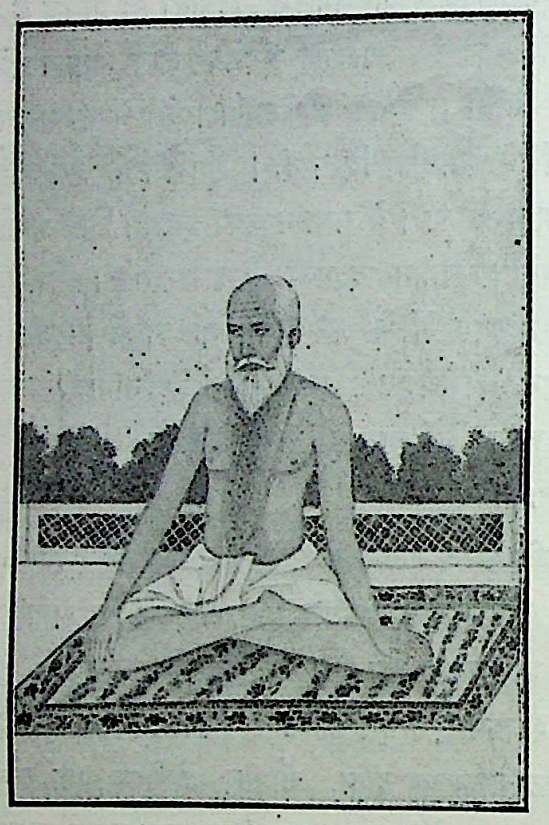

आचार्य श्रीकृष्णदासजी स्वामी पुजारी और उनके कुछ संस्मरण

(लेखक—श्रीरामदासजी गौड़)

गोदाम्बपादकमलेऽर्पितचित्तवृत्तिः
श्रीशैलवर्य्यचरितार्णवमग्नचेताः ।
श्रीयामुनार्य्यपरकालकृतप्रपत्तेः
श्रीकृष्णदासचरणौ शरणं प्रपद्ये ॥

उनका नाम किसीको न तो मालूम था और न कोई नाम लेता ही था। सभी उन्हें 'पुजारीजी' कहते थे। पण्डित दीनानाथजी जब कभी सम्बोधन करते तो 'स्वामिन्' कहते। और लोग स्वामीजी, महाराज, बाबा, आदिसे सम्बोधन करते। नाम कोई जानता न था। नाम लेनेका कोई काम भी न था।

ऊपरका पद्य जिस स्तोत्रसे उद्धृत है उसके रचयिता-को, पण्डित दीनानाथजीको, महन्तजीको, भगतजीको और इसी तरहके दो-चार और अत्यन्त अन्तरंग भक्तोंको ही उनके नामका पता था। वह दुनियाँमें 'पुजारीजी' के ही नामसे मशहूर थे।

पुजारीजी जौनपुरके राजाके बड़े हनुमान्‌जीके मन्दिर-में न जाने कबसे पुजारी थे। बूढ़े-बूढ़े भक्त भी कहते थे कि 'पुजारीजीको इसी शकल-सूरतमें हम तबसे देखते आये हैं जब हम इत्ते बड़े थे।' मैं यह तबकी बात कह रहा हूँ जब मैं स्वयं सोलह-सत्रह बरसका छात्र था और स्कूलमें पढ़ता था। पूज्यपाद पण्डित दीनानाथजी एक अपूर्व मानसी थे जो रामचरितमानस-सम्बन्धी मेरे गुरु थे। मानसकी कथा कहीं भी कहते थे, परन्तु उसी मन्दिरमें आकर टिकते थे। स्वामी भगवान्‌दासजी उस स्थानके महन्त थे, बड़े सदा-चारी महात्मा थे, परन्तु विद्या थोड़ी थी। श्रीगोपालदास-जी एक कसौंधन नवयुवक थे। बजाजीकी दूकान करते थे, परन्तु वह एक जबरदस्त भजनानन्दी और सच्चे भक्त थे। ये लोग पुजारीजीके सान्निध्यसे लाभ उठानेवालोंमें थे, जो आज उनके साथ वैकुण्ठमें सत्संग लाभ कर रहे हैं। उनके कई प्रेमी भक्त अब भी मौजूद हैं, जिनमें 'भगतजी' श्रीबालगोविन्दप्रसादजी, रासमण्डल मुहल्लेके वयोवृद्ध पेंशनर, विशेषतः उल्लेख्य हैं, जिनसे इस संस्मरण-के लिखनेमें मैंने बहुत कुछ सहायता पायी है। पुजारीजी-के भक्त अनेक थे। परन्तु इन्हींको मैं प्रमुख मानता हूँ। इनके सत्संगसे अपनी छात्रावस्थामें मैंने बहुत लाभ उठाया है। पुजारीजीकी पुण्यस्मृतिके साथ ही ये भी संस्मरणीय हैं।

बड़े हनुमान्‌जीका मन्दिर

जौनपुरमें गोमती नदीके उत्तर तटपर हनुमानघाट है। राजा शिवलाल दुबेके जामाता पण्डित जयगोपाल पाण्डे गोरखपुरके रईस थे। अब भी उनके वंशज गोरख-पुरमें मौजूद हैं। एक महात्मा बाबा सीतारामदास वैरागी तीर्थाटन करते हुए यहाँ पधारे और हनुमानघाटपर ठहर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दे। पाण्डेजी उन्हीं महात्माके शिष्य हो गये। राजा शिवलाल दुबेको कोई सन्तान न थी। उन्होंने अपना राज्य इन्हीं पाण्डेजीके नाम लिख दिया था। पाण्डेजी इस प्रकार राज्यके उत्तराधिकारी थे। कुछ काल पीछे राजा शिवलाल दुबेके एक पुत्र उत्पन्न हुआ। नाम रक्खा गया 'बालदत्त'। जब कुमार बालदत्तजी पाँच बरसके हो गये तब राजा शिवलाल दुबे इस बातपर बहुत पछताये कि रामादको राज्य क्यों लिख दिया। उन्होंने महात्मा सीतारामदाससे निवेदन किया। गुरुने शिष्यसे चर्चा की। उनकी प्रेरणासे पाण्डेजीने वसीयतनामा गुरुजीके चरणों-में अर्पण कर दिया। गुरुजीने उसे राजाको लौटा दिया। इस प्रकार गुरुदेव, श्वसुर और जामाताके बीच सुन्दर सद्भावका सञ्चार रहा। किसीके स्वार्थत्यागमें किसी प्रकारका कलुष न था।

गुरुकी प्रेरणासे शिष्यने हनुमान्‌जीकी विशालकाय मूर्ति स्थापित की और बाबा सीतारामदास वैरागी पहले महन्त हुए। श्रद्धाके उद्रेकसे कृतज्ञ भक्त राजा शिव-लाल दुबेने हनुमान्‌जीके सामने बादको राम-जानकीकी मूर्तियोंकी स्थापना करायी।

बाबा सीतारामजीके पीछे करुणासिन्धुजी महन्त हुए। इनके पीछे नागा-वैरागियोंके अधिकारसे निकलकर बाबा बदरीदासजी श्रीवैष्णवको महन्ती मिली। श्रीगदाधरदास-जीके शिष्य श्रीभगवानदासजी, उनके पीछे श्रीमोहन-दासजी, मोहनदासजीके श्रीदेवादासजी, देवादासजीके सीतारामदासजी और सीतारामदासजीके शिष्य श्रीरघुनाथ-दासजी अब वर्त्तमान महन्त हैं।

स्वामी श्रीकृष्णदासजी पुजारी, महन्त श्रीगदाधरदास-जीके समयमें आये।

संक्षिप्त जीवनी

ये महात्मा कुरुक्षेत्रमें पैदा हुए। भारद्वाज गोत्रके गौड़ ब्राह्मण थे। बाल्यावस्थामें श्रीगिरिधारीदासजी श्रीवैष्णवसे अमरकोश, चन्द्रिका और लघुकौमुदी पढ़ी। पीछे अधिक शास्त्राध्ययनके लिये लाहौर चले गये। वहाँ युवावस्थातक अध्ययन करते रहे। इनके माता-पिता कौन थे, क्या करते थे, उनका कब शरीरान्त हुआ, इत्यादि विस्तारकी बातें हमें मालूम नहीं हैं। उन्नीस बरसकी अवस्थातक ये काशीमें विद्याध्ययन करते रहे, यह बात तो स्वयं श्रीमुखसे महात्माने इन पंक्तियोंके लेखकसे एक बार कही थी।

विष्णुकांचीके एक श्रीवैष्णव महन्तने जयपुर-राज्यमें शास्त्रार्थमें विजय पायी थी, जिसके उपलक्षमें राज्यसे उन्हें एक लाख रुपया इनाम मिला था। इसी धनसे उन्होंने बदरीशधामका जगमोहन बनवाया। वह बदरिकाश्रमसे उसी यात्रासे लौट रहे थे। जब कुरुक्षेत्रमें पहुँचे तो उन्हींसे इस ब्राह्मण बालकने दीक्षा ली थी और श्रीकृष्णदास नाम उन्हींने रख दिया था।

स्वामी श्रीकृष्णदासजी लाहौरसे वृन्दावन आये। वहाँ एक बरस रहकर फिर अयोध्याजी आकर रहने लगे। वहाँ प्रमोदवनमें ये दो बरसतक रहे।

फिर जगदीशयात्राको चले। प्रायः चार कोस नित्य चलते थे। संवत् १९०३ विक्रमीयमें पहले-पहल इसी यात्रामें जौनपुर पहुँचे और महन्त श्रीगदाधरदासजीका आतिथ्य स्वीकार किया। महन्तजी इनपर ऐसे रीझ गये कि नित्य रोकते रहे। अन्ततः उन्हें आगे जाने न दिया। उनके प्रेमानुरोधसे बड़े हनुमान्‌जीके मन्दिरमें ये रह गये।

दो बरस बाद जौनपुरके ही पण्डित शिवप्रसाद दुबे और लाला महादेवप्रसाद कसौंधनसे सलाह हुई कि बदरिकाश्रम-की यात्रा की जाय। पैदल गंगाजीके किनारे-किनारे तीनों-की यात्रा हुई। राहमें कानपुर पड़ा। इस जिलेमें बदनपुर गाँवमें रामदासजी वैरागी रहते थे। ये बड़े त्यागी एवं निष्ठावान् साधुसेवी थे। रोगी साधुओंके रहनेके लिये स्थान अलग बनाया था। स्वयं शुश्रूषा करते। सबको भोजन कराकर रातको ग्यारह बजे एक बार स्वयं फलाहार किया करते थे। इन्होंने बाँधवेश राजा विश्वनाथसिंहकी सहायता अस्वीकार कर दी थी। इन्हीं महात्माके यहाँ पहुँचकर स्वामी कृष्णदासजीने कई दिन विश्राम किया था। जब बदरिकाश्रम पहुँचे तो वहाँ डेढ़ मासतक रहे। रामानुज कूटपर ठहरे हुए थे। उसी जगह पास ही पुरुषोत्तमदास नामके कोई और महात्मा रहते थे। उन्हींके साथ यह नियम कर लिया था कि नित्य नर पर्वतपर जाकर फूल चुनते, माला गूँथते, फिर वहाँसे लाकर नारायणको पहिराते थे। इस सेवामें परिश्रमके सिवा समय भी नित्य दस घंटेका लगता था। दुबेजी तो तीन दिनसे अधिक ठहर न सके। वह तो लौट आये, परन्तु महादेवप्रसाद कसौंधन स्वामीजीके साथ ही रह गये। डेढ़ मास पीछे मन्दिरका पट बन्द हो गया। सबको लौटना पड़ा। स्वामीजी-के साथ महादेवप्रसाद लौटे आ रहे थे कि राहमें बीमार पड़

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गये। स्वामीजीने स्वयं उसकी शुश्रूषा की। परन्तु वह वहीं मार्गमें परमधामका राही हुआ। स्वामीजीको अपनी बीस अशर्फियाँ सौंप गया। इस धरोहरको उसके वारिसोंको सौंप देनेके लिये स्वामीजीको अगत्या जौनपुर लौटना पड़ा।

स्वामीजी फिर हनुमान्‌जीके मन्दिरमें आये। उसके वारिसोंको बुलाकर अशर्फियाँ दीं, परन्तु महन्त गदाधरदासजीकी स्नेहरज्जुमें बँधकर यहीं फिर रह गये। फिर इसके बाद पूरे चौवन बरसतक मन्दिरसे दो फर्लांगकी परिधिके बाहर कभी कदम नहीं रक्खा।

महन्त गदाधरदासजीके सिवा स्वामीजीको एक और भी अधिक मनोमोहक आकर्षण था। वह था एक पहुँचे हुए महात्माका सान्निध्य। वह एक अत्यन्त वृद्ध योगिराज थे। वह कहींसे रमते हुए संवत् १९११ के लगभग यहाँ पधारे। इन्होंने छतके ऊपर अपनी जगह बना ली। दिन-रात जाड़ा, गरमी, बरसात उसी स्थानपर खुले मैदान पड़े रहते। अपने मनको "दुलार चौधरी" कहते थे। उसी दुलार चौधरीको सम्बोधन करके निरन्तर बड़बड़ाते रहते थे और सैकड़ों बातें भविष्यकी और बड़े महत्त्वकी भी बकते रहते थे। अपने पास किसीको आने नहीं देते थे। कोई मतलबसे आता और छतके नीचे खड़ा-खड़ा सुनता, तो अपने कामकी बातें भी सुन लेता था। ये दो बरस बाद कहीं चले गये और फिर छः मास पीछे लौट आये और वहीं डट गये। कुछ काल पीछे वहीं शरीर छोड़ा। उनकी गति पुजारीजीके ही हाथों हुई।

पुजारीजी यहाँ चौवन बरसतक अत्यन्त नियमित जीवनसे रहे। नैष्ठिक बालब्रह्मचारी थे। दस बजे रातको सोते और दो बजे उठ जाते। शौचादिके लिये उसी समय गोमती-किनारे जाते। वहाँसे स्नानादिसे निबटकर सन्ध्या-पूजन करते। फिर अपने हाथसे रोटियाँ सेंकते और आलू भून लेते। यही भगवान्‌को भोग लगाकर सवेरे छः बजे प्रसाद पा लेते। नमक, मसाला, शक्कर, दूध, दही आदि व्यञ्जनोंसे सरोकार न था। चौबीस घंटोंके लिये यही स्वल्पाहार काफी था। मन्दिरमें बहुत कुछ व्यञ्जन भोग लगता था। वह सब प्रसाद बँट जाता था। प्रसाद पाकर वह पहले गउओंको खिलाते थ फिर एक छपरेके नीचे मन्दिरसे अलग तबतक विश्राम करते जबतक स्त्रियोंका आना-जाना बंद न हो जाता। फिर मन्दिरमें जाकर आठ बजेसे दो बजे दिनतक एक निश्चित स्थानपर पद्मासनसे बैठे रहते और विष्णुसहस्रनाम, गीता, आलवन्दारस्तोत्र, अर्थपञ्चक, अष्टादशरहस्य, मुमुक्षुपल्ली आदिका, जो सभी कण्ठ थे, पाठ करते रहते थे। इसके बाद फिर शौचको जाते, स्नान करते और तदुपरान्त भजन-पूजन और आरती करते। अन्तिम आरती रातको आठ बजे होती थी। उसके बाद मन्दिरके बाहर चबूतरेपर बैठते और दस बजे रात-तक भक्तजन सत्संगका लाभ उठाते। रहस्यकी बातें और गूढ़ार्थ उसी समय बताते थे, तत्त्वनिरूपण करते थे। ठीक दस बजे उठ खड़े होते थे। कभी-कभी ऐसा देखा गया कि वह उठ खड़े हुए और घड़ीमें उनके खड़े होते ही दसका टनटन बजा। उनके नित्यका जीवन स्वयं घड़ीके पुरजोंकी तरह नियमित था। यह नियम ऐसा सधा हुआ और दृढ़ था कि वह समयके अनुगामी न थे, समय स्वयं उनका अनुगमन करता था। वह ठीक दस बजे सोते थे और दो बजे उठ जाते थे। इस क्रममें तभी अन्तर पड़ता था जब भण्डारा हुआ करता था।

भण्डारा जब कभी होता था, तब मिठाई मालपुए आदि स्वयं बनाते थे। नमक और मीठा जिस अन्दाजसे देते थे वह अद्‌भुत था। जितने पक्वान्न बनाते थे ऐसे अच्छे बनते थे कि कुशल पाकशास्त्री उन्हें देखकर और चखकर लज्जित होता, यद्यपि स्वयं उन्हीं सूखी रोटियों और भुने आलुओंपर बसर करते थे। उनकी तपस्या आजीवन थी। आरम्भमें यहीं जौनपुरमें उन्होंने कृच्छ्रचान्द्रायण किया था। एकाहार तो उनका आजीवन व्रत रहा। इस व्रत और तपस्याका ही प्रभाव था कि सत्तर बरसकी उम्रतक उनके दाँत मोतीसरीखे बने रहे। और यद्यपि कभी कोई पुस्तक नहीं पढ़ते थे तथापि एकादशी आदि देखने-को जब पञ्चाङ्ग देखते तो भी कभी उन्हें ऐनककी आवश्यकता नहीं पड़ती थी। ऐनक उनके पास थी ही नहीं और न कभी जरूरत पड़ी। अन्तिम अवस्थातक उनकी आँखोंकी ज्योति ज्यों-की-त्यों बनी रही। वह झुक-कर कभी खड़े नहीं होते थे। शरीरमें केवल हड्डियाँ ही थीं, परन्तु कण्ठका स्वर निर्बलतासूचक न था। उन्हें कभी क्रोध करते नहीं देखा गया। बाढ़ आयी। जल जब मन्दिरमें ऐसा आ गया कि बैठना असम्भव था, तब 'भगतजी'के यहाँ गये थे। भोग लगनेपर प्रसाद मुक्त-हस्त हो बाँट देते थे। अपने इस्तेमालमें साधारण कम्बल आदि रखते थे। दुशाला मिला, तो वह किसी जाड़ेके

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सबके दुखियाको दान हो गया। रुपये-पैसे भी इसी तरह दानमें चले जाते थे। उन्हें इनकी आवश्यकता क्या थी! उनका अपने इस्तेमालका खास कोई बरतन-भाँड़ा न था। जो कुछ था, सरकारका था, सरकारका प्रसाद ही उनका आधार था। बदनपर एक कौपीनके सिवा कभी कुछ न देखा गया। दयाकी तो मूर्ति थे। किसी भक्तको दुखी देखना सह्य न था।

एक दिनकी बात है कि 'भगतजी' मन्दिरमें किसी बहाने आये। आँखें डबडबायी थीं। पुजारीजीने पूछा क्या बात है। मुश्किलोंसे उत्तर दिया कि "अमुक बच्चेका बुरा हाल है। उसका रोग घातक हो रहा है।" कई भक्त बैठे थे। गोपालदासजी भी थे। पुजारीजीने भगतजीको टहलना दी और बोले "जाओ, गोपालदासजी, देखो तो बच्चा कैसा है?" गोपालदासजी भगतजीके साथ गये। बच्चेके पास खड़े हुए। मुस्कुराते हुए नाम लेकर पुकारा। बच्चा हँसता हुआ उनकी ओर देखने लगा, 'बोले' कुछ नहीं हुआ है। अच्छा तो है, व्यर्थ क्यों घबराते हो।" पुजारीजीकी इसमें कृपा तो थी ही, गोपालदासजी भी एक विभूति थे। कभी-कभी पुजारीजी स्वयं इस युवककी समझकी प्रशंसा करते थे।

एक बार एक भक्त जो विद्वान् ब्राह्मण थे, संस्कृतमें कुछ रचना करते थे, पुजारीजीकी प्रशंसामें कुछ रचना कर लाये थे। सुनाना चाहा। पुजारीजीने सुननेसे इनकार किया। कई दिनों बराबर कई भक्तोंके आग्रह और सिफारिशपर मन्दिरके हातेसे बाहर जाकर सुना। फिर उसे सलाह दी कि केवल भगवान्‌की स्तुति किया करो।

उनकी धारणा अद्‌भुत थी। एक दिन मैंने प्रसंगवश निवेदन किया कि "ईसाइयोंने बाइबिलका भी संस्कृतमें अनुवाद किया है। मेरे घर संस्कृतकी बैबिल है, जो मेरे पिताजीको उनकी छात्रावस्थामें इनाममें मिली थी।" पुजारीजी बोले "हाँ, मैंने भी देखी है। जब मैं उन्नीस वर्षका था और लाहौरमें पढ़ता था, तो ऊर्ध्वपुण्ड्र भी कुछ स्पष्ट लगाता था। एक दिन बाजारमें ईसाई उपदेशकने मेरा तिलक दूरसे देखकर इशारेसे बुलाया और संस्कृत-बैबिल भेंट की। इसके प्रत्येक अध्यायके आरम्भमें दो श्लोक भी दिये हुए थे। जैसे—इतना कहकर उसमें कई श्लोक कह डाले। और कहा कि "व्याकरणसे यह संस्कृत शुद्ध नहीं है और न इनमें कोई काव्यका आनन्द आता है।" पुजारीजीने साठ बरसके भीतर इन श्लोकोंकी आवृत्ति क्यों की होगी। यह उनकी अद्‌भुत धारणा-शक्तिका ही प्रमाण है।

उनके सत्संगमें सद्‌विचारका ही नहीं, एक ही प्रकारके विचारका भी, वातावरण बन जाता था। मण्डली-की-मण्डली एक ही विचारसे ओतप्रोत होती थी। मण्डली चुपचाप बैठी हुई है, कोई बात छेड़नेकी देर है। इतनेमें कभी पं० दीनानाथजी और कभी स्वयं पुजारीजी कोई बात छेड़ते तो सभी कह उठते कि यही मैं भी कहना या पूछना चाहता था। यह कोई मुँह देखी बात न थी। मैं स्वयं उस मण्डलीमें रहता था और मेरा व्यक्तिगत अनुभव भी ऐसा ही है। सहज नास्तिक भी इस मण्डलीमें बिना प्रयास आस्तिक बन जाता। विवेकानन्द-सा घोर नास्तिक भी श्रीरामकृष्ण परमहंसके सान्निध्यमात्रसे आस्तिक हो सकता है, उसका कारण वही पवित्र भागवत वातावरण है।

पुजारीजीके अनेक प्रेमी भक्त थे, परन्तु किसीको उन्होंने दीक्षा नहीं दी। 'भगतजी' को वह उनकी बाल्यावस्थासे चाहते थे। आलवन्दारस्तोत्र अर्थसहित पढ़ाया था। उन्होंने बहुत अनुरोध किया, बड़ा आग्रह किया। परन्तु दीक्षा देनेको राजी न हुए। उन्होंने दीक्षा देनेयोग्य और अधिकारी गुरु भले ही बतला दिया। परन्तु स्वयं दीक्षा न दी, न दी। महन्त गदाधरदासजी दीक्षा देते थे। उनके बाद महन्त भगवान्‌दासजी भी दीक्षा देते थे। जो कोई दीक्षाका इच्छुक आता पहले वह महन्तजीके पास ही भेजते। जब उनसे वह राजी न होता तब वह कहीं और भेज देते थे। वह स्वयं किसीसे कभी यह न पूछते थे कि तुम समाश्रित हुए हो या नहीं। कोई उनके दर्शनोंको आता तो पहले तो वह बात ही कम करते थे, और की भी तो उसके घरका हालचाल कुशल मंगल पूछते, रोजगार-हालकी बात कहते और ऐसी बातें करते मानो गृहस्थीके जंजालमें फँसे हुए कोई दुनियादार आदमी हैं। भक्ति, उपासना या तत्त्वज्ञान-सम्बन्धी कोई बात न करते। जब बारंबार आता और स्वयं कोई बात पूछता और पुजारीजीको निश्चय हो जाता कि यह अधिकारी है, तभी वह भगवच्चर्चा करते। अनधिकारीसे कभी वह पारलौकिक बात ही नहीं करते थे। बातचीत करनेमें भी वह अधिकारका विचार कर लेते थे।

पुजारीजी मनोमय, वाङ्मय और कायिक तपस्यामें

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आजीवन संलग्न रहे। वह जपयोगी थे। अपने जीवनके पग-पगपर निरन्तर सतर्क रहा करते थे। अपने तपोबलको तनिक-तनिकसी बातोंमें बिखेरना नहीं चाहते थे। संसारसे विरत तो थे ही। वह संसारमें रहते थे क्योंकि शरीर-धर्म लाचार करता था। फिर भी इतने दयार्द्रचित्त थे कि अपने भक्तोंके लिये उन्हें अपने तपोबलका उपयोग करना ही पड़ता था।

भगतजी मुंशी बालगोविन्दप्रसादकी भांजी श्रीरामसुन्दर-देवीको संवत् १९५७ में प्लेग हो गया। कनपटीमें दो गिलटियाँ निकल आयी थीं। उन दिनों एक रामायणी वैष्णव श्रीहृषीकेशजी मौजूद थे। पुजारीजीके आदेशसे श्रीहृषीकेश स्वामी सुन्दरकाण्डका नित्य पाठ करने लगे। परन्तु बीचमें किसी कारणवश पाठ बन्द हो गया। इसके बन्द करते ही लड़कीकी मृत्यु हो गयी। पिट्टस पड़ गयी। कुहराम मच गया। पुजारीजीको खबर मिली। उन्होंने शोकातुरोंको धीरज दिलाया और अपने रहस्यमय उपचार-से उसे पुनरुज्जीवित कर दिया।

पुजारीजी महन्त गदाधरदासजीकी स्नेहरज्जुमें बँधकर जौनपुरमें रह गये थे। उनके जीवनमें ही श्रीभगवानदासजी उनकी सेवा करते थे। महन्त गदाधरदासजीके देहान्तके बाद श्रीभगवानदासजी महन्त हुए। महन्ती मिल जानेपर भी पुजारीजीकी सेवामें त्रुटि न हुई, प्रत्युत उसकी मात्रा और श्रद्धा बढ़ी ही रही। पुजारीजी उनकी सेवावश वैसे ही बने रहे। परन्तु पिछले काटे महन्तजीके अनेक शिष्य ऐसे हुए जिन्होंने जमीन और जायदादका दान किया। इस जायदादके पीछे मुकदमेबाजी होने लगी। मायाकी उलझनें बढ़ीं। यह झगड़े संवत् १९५५ से प्रायः आरम्भ हुए। यद्यपि इन झगड़ोंसे पुजारीजीका कोई सरोकार न था, तथापि मन्दिरके वातावरणमें दुनियादारी-का धुआँ-सा गौंज गया। पुजारीजीकी अन्तर्दृष्टिको यह खलने लगा। उनका जी उचट गया। कई बार वहाँसे कहीं चले जानेका विचार हुआ परन्तु महन्त भगवानदासकी सेवाका बन्धन फिर भी ऐसा दृढ़ रहा कि पुजारीजी समझते थे कि कहीं जाऊँगा, महन्तजीका स्नेह-बन्धन खलेगा। चुपचाप सहते रहे और निश्चय रक्खा कि इनका परमपद हो और हम चल दें। महात्माओंकी इच्छा भगवदिच्छा ही होती है। ऐसा कुछ संयोग हुआ कि भक्तोंकी मण्डली धीरे-धीरे बिखर गयी। संवत् १९५७ में एन्ट्रेंसकी परीक्षा देकर मैं पढ़नेको काशी आया। गोपालदासजीका परमपद हो गया। पण्डित दीनानाथजी रुग्ण होकर गाँव चले और कुछ काल पीछे उनका भी वैकुण्ठवास हो गया। मुंशी बालगोविन्दप्रसादजीकी बदली गाजीपुरको हो गयी। ९ जून, १९०३ को उन्होंने गाजीपुरमें अपने नये पदका चार्ज लिया और यहाँ ११ जूनको महन्त भगवानदासजीने ४-५ बजे सायंकालमें शरीर छोड़ा। उनके शिष्य मोहन-दासजीने दाह-क्रिया की। पुजारीजीने उन्हें चाभी दी और ११ बजे रातको प्रचण्ड आँधी-पानीके बीच चल दिये। राह भी ऐसी ली कि किसीको पता न था। गोमतीके किनारे-किनारे निकल गये। केवल कौपीन धारण किये नंगे बदन निःसंग चले। लोटा या सोंटा कुछ भी साथ न था। इसी रंगरूपमें टहलते-टहलते आप सवेरा होते-होते गद्दोपुरमें रामनिरञ्जनदासके तालाबपर पहुँचे। उसके किनारे मन्दिर है, उसीमें रहने लगे। मानो सब कुछ पहलेसे सुनिश्चित था। यह स्थान केशवपुर स्टेशनसे कोस-भरपर था। यहाँ पुजारीजीका सवेरे दर्शन न हुआ तो बिजलीकी तरह सारे शहरमें बात फैल गयी कि पुजारीजी कहीं चले गये। जो तपस्वी ५४ बरससे मन्दिरकी परिधिके २०० गजके बाहर कदम न रक्खे, वह एकाएकी चल दे। यह मन्दिरके लिये भारी बदनामीकी बात थी। परन्तु 'अब पछताये होत का'। मोहनदासजी बड़े पछताये, भक्तलोग अपनेको दोष देने लगे कि हमारे कर्तव्यसे पुजारीजीके भजनमें भंग पड़ा और वे कहीं चल दिये। लोग खोजमें दौड़-धूप करने लगे। उनका ब्रह्मवर्चस गद्दोपुरके एकान्तवासके परदेमें छिपनेवाला न था। रेलवालोंका भला हुआ। लोग गद्दोपुरमें झुंड-के-झुंड पहुँचने लगे। सनीचरकी शामकी गाड़ीसे विशेषतः भीड़-की-भीड़ जाने लगी। वहाँ भी सत्संगका लाभ मिलने लगा। यहाँतक कि दुखी भक्तलोगोंने भी पीछा न छोड़ा।

गद्दोपुरमें पुजारीजी चार बरस रहे। वहाँ बड़ी भीड़ होने लगी। पुजारीजीका मन वहाँसे भी उचटने लगा। इन्हीं दिनों आनेवालोंमें पं० रामचन्द्रजी उपाध्याय पिलकिछाके जमींदार और पण्डित लूना पाण्डे भी थे। इन लोगोंने अवसर पाकर उनसे यह बात छेड़ी कि पिल-किछामें भगवान्‌का मन्दिर है, एकान्त स्थान है, भजनका सब तरहका सुभीता है, वहीं चलें। इसपर पहले तो पुजारी-जीने कुछ नहीं कहा। फिर बारंबारके आग्रहपर वे राजी हो गये और गद्दोपुर छोड़कर पिलकिछा गये। भक्तोंने

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नकटाघाटका भी पता लगा लिया और वहाँ भी भीड़ जमने लगी। पुजारीजीके पास जो कुछ आता, सब मुक्त-हस्तसे दुखियोंमें बँट जाता। इस प्रकार यहाँ तीन बरस रहे। एक दिन बातों-बातोंमें यह अवगत हुआ कि जमींदारको पुजारीजीका यह दान-भाव खलता है, वह चाहता था कि आमदनीका कुछ भाग जमा कर लिया जाय। पुजारीजी-को यह दूकानदारीका भाव असह्य था। वह तुरन्त वहाँसे चलकर जानेको इच्छुक हुए। उसी समय संयोगवश उनके दर्शनोंके लिये भगतजी गाजीपुरसे आये। उन्हींके रथपर सवार हो उन्हींके साथ पुजारीजी तुरन्त स्टेशन पहुँचे और गाजीपुर रवाना हो गये। जमींदारके पक्षवाले देखते ही दौड़े और उन्हें लौटानेको स्टेशनतक आये, परन्तु हाथ-पैर पटकेपर पुजारीजी कब माननेवाले थे।

गाजीपुरमें कोट मुहल्लेमें गंगाजीके किनारे नकटा ब्रह्म वरदाचारी स्वामीका स्थान प्रसिद्ध है। पुजारीजी वहीं आकर ठहर गये। [आजकल सुना है कि उसीमें सनातनधर्म संस्कृतपाठशाला है।] नकटाघाट पक्का घाट है। उस समय गंगाजीने घाट छोड़ दिया था और दूर चली गयी थीं। पुजारीजी गंगाजीके लिये ही गाजीपुर पधारे थे। यहाँ देखा कि फिर भी दूर हैं। बोले "हम इतनी दूरसे इन्हींके लिये आये। क्या वह इतनी भी कृपा न करेंगी।" बढ़नेके दिन निकट थे। गंगाजी घाटपर आकर लग गयीं। फिर तबसे अबतक उन्होंने नकटा घाट न छोड़ा। इस चमत्कारको देख यहाँ भी दुनियाँ-परस्तों-की भीड़ लगने लगी। यहाँकी भीड़ और सभी जगहोंसे भारी थी। पुजारीजी एक ही बरस रहकर भीड़से घबरा गये। बाबू बृजनाथदास अगरवालेने एकान्तमें एक कुटी बनवा दी। वहीं जाकर रहने लगे। यह कुटी नन्दगंज स्टेशनसे डेढ़ कोसपर थी।

इस कुटीमें भी आप बहुत दिन नहीं रहे। अन्त-समय 'भगतजीको अपने महाप्रस्थानका रहस्य बतलाया। संवत् १९६९ में फागुन बदी छठ मंगलवारको ठीक आधी रातके समय शरीर छोड़ा और भगतजीने उनके आदेशा-नुसार बुधवारको दश बजे दिनमें उनके शरीरको गंगाजीको सौंपा। वह लगभग सौ बरसके होकर परमपदको प्राप्त हुए।

निधिरसनवचन्द्रे वैक्रमे वत्सरान्ते
असितदलनिशीथे फाल्गुने मासि षष्ठ्याम्।
शिवमयकुजवारे जाह्नवीवारितीरे
हरिपदमगमच्छ्रीकृष्णदासो महात्मा ॥

सरकार तुम्हारे चरणोंमें

* विनय *

मैं सादर सीस नवाता हूँ सरकार तुम्हारे चरणोंमें।
कुछ अपना विनय सुनाता हूँ सरकार तुम्हारे चरणोंमें ॥ १ ॥

जिस-जिस योनीमें भ्रमण करूँ
जो-जो शरीर मैं ग्रहण करूँ
तहँ कमलभृंगवत् रमण करूँ सरकार तुम्हारे चरणोंमें ॥ २ ॥

घरमें या वनमें देह रहे
मनका पदपंकज गेह रहे
बढ़ता अनुदिन नवनेह रहे सरकार तुम्हारे चरणोंमें ॥ ३ ॥

तेरे गुणका होवे कीर्तन
भूले न कभी निशिदिन पल छन
तन मन धन मेरा हो अर्पन सरकार तुम्हारे चरणोंमें ॥ ४ ॥

सुख संपतिकी है चाह नहीं
परिवार छुटे परवाह नहीं
होवे मेरा निर्वाह यहीं सरकार तुम्हारे चरणोंमें ॥ ५ ॥

है दीन हीन जन रामेश्वर
तेरी ही करुणापर निर्भर
हो जाय किसी भी भाँति गुज़र सरकार तुम्हारे चरणोंमें ॥ ६ ॥ —रामेश्वरप्रसादसिंह

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अक्रूरजीका भावुक हृदय

(लेखक—पं० श्रीमथुरानाथजी शर्मा शास्त्री भट्ट)

(गतांकसे आगे)

ब चरण-चिह्नोंके दर्शनसे ही उनकी यह दशा होती है तब भगवान्‌के प्रत्यक्ष मिलनेपर तो उनकी क्या हालत होगी ? जैसे ही वे भगवान्‌के सम्मुख पहुँचते हैं और उनको दूरसे ही देखते हैं, वैसे ही उनको आत्मानुसन्धान नहीं रहता। हृदयका धैर्य-बन्धन टूट जाता है। शुकदेवजी कहते हैं—'रथात्तूर्णमवप्लुत्य स्नेहविह्वलः' रथसे बहुत जल्दी कूदकर। 'अवप्लुत्य' और 'तूर्णम्'। भारतवर्षके एकमात्र शासक कंसके प्रतिष्ठित सामन्त तो न सही, एक आदरणीय आश्रित थे। वे अपनी पद-मर्यादाके अनुसार गम्भीरतासे उतरते, सो नहीं। 'अवप्लुत्य' उछलकर। उछलना कब होता है जब हर्षावेग रुकता नहीं। उसपर भी विशेषण है—'तूर्णम्' जल्दी। अर्थात् कूदकर उतरते-उतरते भी आपको जल्दी पड़ी है। आहा, ठीक है, जिनके विरहमें भावना करते-करते इतना समय बीता और वे सम्मुख हैं, अब धैर्य रह सकता है ? बस, अपनी वंश-मर्यादा, उमरमें बड़प्पन जिसे लोगोंके अनुरोधसे उन्हें अभिनय करना चाहिये था, बहुत कुछ सँभलते-सँभलते भी वह भूल जाते हैं। भक्तिवश गद्‌गद होकर 'पपात चरणोपान्ते दण्डवद्रामकृष्णयोः' श्रीराम और कृष्णके चरणोंके आगे 'दण्डवत् पपात' काष्ठ-दण्डकी तरह निश्चेष्ट गिर जाते हैं।

भगवान्‌के दर्शनोंके हर्षके कारण आँखोंमें आँसुओंका प्रवाह उमड़ आता है। इसीलिये 'परि' सब तरह और सब तरफ 'आकुलेक्षणः' भर उठी हैं आँखें जिनकी। सब शरीरमें रोमाञ्च हो उठा। और तो था सो था, जिस कार्यके लिये इतनी दूर आये थे, जिसके लिये एक क्रूर खामीने अक्रूरको अपनी खास आज्ञा देकर भेजा था वह कामतक रुक जाता है। 'खास्यानं नाशकन्नृप' अपने वक्तव्यको कहनेमें वह समर्थ नहीं हो सके। अथवा 'सु सुष्ठु यथा स्यात्तथा आख्यानं' जिस तरह कहना चाहिये उस तरह नहीं कह सके।

बस, भक्तवत्सल भगवान् भावुक भक्तका हृदय जान गये। भला, जिन्हें अक्रूरने जन्मसे हृदयमें स्थान दे रक्खा था, यह भी न सही, कम-से-कम मथुरासे अक्रूर जबसे चले हैं तबसे तो निरन्तर केवल भगवान्‌का ही ध्यान रहा है। ऐसी अवस्थामें अन्तर्यामी भगवान् क्या बिल्कुल तटस्थ रह सकते थे ? नहीं, 'भगवांस्तमभिप्रेत्य' भगवान्‌ने उनका अभिप्राय जान लिया। कहना चाहिये था 'तस्याभिप्रायं ज्ञात्वा' 'अक्रूरके अभिप्रायको जानकर'। किन्तु कहते हैं 'तस्य अभिप्रेत्य, उन अक्रूरको 'अभितः' अच्छी तरह जानकर'। तात्पर्य यह कि भगवान् उनके अभिप्रायपर ही क्या विचार करेंगे जब समूचे अक्रूरको ही आप परख चुके, पहचान चुके। परख स्नेहाकुल अक्रूर मेरे विरहमें व्याकुल हो रहे हैं। मेरे मिलनेके पहले जो इतने मनसूबे बाँध रहे थे, वे इस समय समेटे नहीं सिमटते, हृदय धड़क रहा है। आन्तरिक विरहाग्नि भड़क उठी है। हृदयकी दशा इस समय साधारण नहीं। इसे अन्तर्यामी या भुक्तभोगी ही जानते हैं। इस हालतमें राजनीतिके पेचोंसे भरे हुए संदेशको कह डालनेकी क्या कथा ? यह काम

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अक्रूरसे असाध्य होगा। उनका हृदय तो भगवान्‌के लिये तड़प रहा है, अतएव अन्तर्यामी हृदयका स्वागत हृदयसे करनेके लिये ही अक्रूरको हृदयसे लगा लेते हैं। शुकदेवजीके अक्षर हैं—'परिरेभेऽभ्युपाकृष्य' बड़ी प्रेम-सेहड़बड़ाहटसे उन्हें खींचकर हृदयसे आलिङ्गन करके।

और तो क्या, श्रीबलरामजी भी यह जान जाते हैं। 'गृहीत्वा पाणिना पाणिमनयत्सानुजो गृहम्' 'दोनों भाई बड़े प्रेमसे अक्रूरके एक-एक हाथ पकड़े हुए विश्राम-कक्षके भीतर ले जाते हैं'। वहाँ सब सत्कार हो जाता है। स्मृतिप्रोक्त आचारतक पूरा कर दिया जाता है 'तेनैव गां चातिथये' अपने आगन्तुक अतिथिके लिये शास्त्रोक्त गोदान करके। इसके अनन्तर भोजन होता है। भोजनादिसे निवृत्त हुए अक्रूरको श्रीबलभद्र सुखवास गन्ध-माल्यादिसे प्रसन्न करते हैं। तो भी आनेकी बात नहीं पूछी जाती। जिसके लिये अक्रूर इतनी दूर चलकर आये हैं उस संदेशका जिक्र भी शुरू नहीं किया जाता। भगवान् जानते हैं अक्रूरका हृदय अभी भी इस योग्य नहीं हुआ है। इसीलिये भगवान् वेदव्यासने पहले नन्दजीसे अक्रूरका वार्तालाप कराया है। नन्दराय अक्रूरसे उनका कुशल-क्षेम तथा कंसके जुल्मकी बातें पूछते हैं जिससे अक्रूर-का हृदय यहाँतक हलका हो जाता है कि वह रास्तेके परिश्रम और पाये हुए क्लेशोंतकको भरपाई कर देते हैं।

जब यह सब कुछ हो चुकता है तब भगवान् श्रीकृष्ण 'सायंतनाशनं कृत्वा' व्यालूसे निपट चुकने-के बाद, अक्रूरके हृदयकी वास्तविक हालत समझकर उचितके समय कंस-सम्बन्धी सब वृत्तान्त पूछना शुरू करते हैं। यहाँ शंका हो सकती है कि व्यासजीके ही अक्षर हैं 'कंसस्य पप्रच्छान्यचिकीर्षितम्' 'कंसका अनुचित चिकीर्षित (करनेके लिये चाहा हुआ काम) क्यों' तुम लिखते हो पूछनेके लिये प्रसंग चलाया।' ठीक है। यह पूछनेका उपक्रम ही है, कंसके सम्बन्धके साक्षात् प्रश्न नहीं। क्योंकि 'पप्रच्छ' के आगे कंस-सम्बन्धी कोई प्रश्न नहीं। भगवान् तो कहते हैं 'तात सौम्यागतः कच्चित्स्वागतं भद्रमस्तु वः' 'आपका आना अच्छी तरहसे तो हुआ न, मैं आपका स्वागत करता हूँ।' वाह वाह! यह स्वागत कैसा? पहले-पहल, मिलते ही, कुशल-प्रश्नादिके भी पहले, अतिथिसे चौनजर होते ही स्वागत किया जाता है। अर्थात् अतिथिके आनेपर सबसे पहला वचन 'स्वागतम्' होता है। कालिदास भी यक्षके द्वारा मेघके लिये 'स्वागतम्' सबसे पहले कहलवाते हैं—'प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं 'स्वागतं' व्याजहार।' बल्कि आजकलकी सभ्यतामें तो बोलना कैसा, दरवाजेपर ही 'स्वागतम्' (वेलकम्) लिख दिया जाता है। फिर यहाँ तो दिनभर बीत गया। व्यालू हो गयी। नन्दजीने सब शिष्टाचार कर दिया। प्रश्न, अनामय सब कुछ पूछ लिया गया, अब इस समय 'स्वागतम्' कैसा?

ठीक है। यह वही भक्तवत्सलका प्रेमसे पूर्ण स्वागत है। प्रेमीके हृदयको आरपार देखनेवाले भक्तवत्सल भगवान्‌ने अक्रूरके हृदयको टटोलकर जाँच लिया कि अब वे स्वस्थ हुए हैं। अब उनका प्रेम-संरम्भ ठिकाने आया है। विरहानन्तर मिलनेपर जो यकायक प्रेमकी बाढ़ उमड़ आयी थी वह अब ठंढी पड़ी है। अक्रूरका हृदय समझने-बूझने लायक अब हुआ है। उस समय तो वह इतने विह्वल हो रहे थे कि प्रश्न-उत्तरकी बात तो दूर रही उन्हें अपनीतक अच्छी तरह खबर नहीं थी। उस समय स्वागत या दुरागत क्या पूछा जाता? इस समय वह यथावस्थित होकर भगवान्‌के अभिमुख हुए हैं। अतएव वास्तविक मिलन—यानी हृदयकी अवस्थाके अनुसार मिलना यही है। इसीलिये मिलनेके अनन्तरका सर्वप्रथम वचन 'स्वागत' आप करते हैं। इसीसे श्रीशुकदेव-जीने कहा है कि—'स्वागतं भद्रमस्तु वः'।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अक्रूरजीने जिस समय मथुरा पधारनेके लिये भगवान्‌को रथमें बैठा लिया उस समय तो उनके हर्षकी सीमा न रही। भगवान्‌के सारथि, सेवक बनकर वे रथ हाँक रहे हैं। वे हाथोंसे रथके घोड़ों-की लगाम रोके हुए थे किन्तु मनोरथके घोड़े बे-लगाम हृदयमें दौड़ रहे थे। भगवान्‌की अनन्य भावना हृदयमें चल रही थी। आहा! आज मेरा अहोभाग्य है। केवल भगवान्‌के दर्शन ही नहीं, मैं उनके साथ-साथ चल रहा हूँ। उनकी सेवा कर रहा हूँ। हृदयके चारों तरफ, कोने-कोनेसे भगवान्‌के ध्यानकी ध्वनि आ रही थी। जैसे ही वह सायं-सन्ध्या करनेके लिये मार्गमें यमुनाके हृदमें उतरते हैं वैसे ही वहाँ भी उन्हें भगवान् दिखायी देते हैं। भगवान्‌ने देखा कि अक्रूरकी प्रीति या भक्तिमें कुछ लौकिक आवेग प्रतीत हो रहा है। अक्रूर मुझे जानते जरूर हैं कि मैं कौन हूँ। किस कामके लिये पृथिवीमें अवतीर्ण हुआ हूँ। किन्तु प्रेमके प्रथम आवेगमें मेरी मायासे वह अभिभूत-से हैं। मुझे जानते हुए भी वे अजान-से हो गये हैं। उनके प्रेमभावमें लौकिक वा साधारण स्नेहानुबन्धकी-सी गन्ध आ रही है। अतएव आपने यहाँ अपनी कुछ विभूति दिखायी। अक्रूरको दर्शन हुए कि भगवान् चतुर्भुज—शंखचक्रादि धारण किये हुए हैं। सब पार्षद चारों ओर यथास्थान खड़े हैं। प्रह्लाद, नारद, वसु प्रभृति दिव्य गण स्तुति कर रहे हैं। और तो क्या, ब्रह्मा, शिव, इन्द्र आदि मूर्द्धन्य देवतातक भगवान्‌के अनुग्रहकी लालसामें स्तुतिपाठ कर रहे हैं। भगवान्‌ने अक्रूरको अपना वैकुण्ठवैभव दिखाकर सावधान किया कि यहाँ विह्वलता या व्यामोहका काम नहीं। सर्वेश्वर, सर्वा-तिशायी माहात्म्य-संपन्न भगवान्‌को संमुख पाकर संयम-पूर्वक उनकी शरणमें जाना चाहिये। वहाँ प्रारम्भिक व्याकुलता छूट जानी चाहिये। तभी यह असामान्य स्नेह 'भक्ति' नाम पानेके उपयुक्त होगा। स्पष्ट ही तो भक्तिके लक्षणमें कहा है—

'माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः।
रागो भक्तिरिति प्रोक्तः.....'

'भगवान्‌के माहात्म्यको जान लेनेके अनन्तर, सब सांसारिक विषयोंसे बढ़ा हुआ जो भगवान्‌में सुदृढ़ अनुराग होता है वही भक्ति कहा जाता है।'

श्रीशुकदेवजी भी भक्तिकी अलौकिक मर्यादाको व्यङ्ग्यमर्यादासे ही सूचित करते हैं कि भक्तभावज्ञ भगवान्‌ने अक्रूरके असामान्य और विषयातिशायी स्नेहको देखकर उन्हें भक्तिमार्गकी मर्यादा समझायी। भक्तिके रास्तेकी झलक दिखायी। अक्रूर भगवदनुगृहीत तो थे ही। भगवान्‌का इङ्गित समझ गये। उनके हृदयमें भगवान्‌का माहात्म्य सौगुना जाग उठा। उनके स्नेहमें जो साधारण व्याकुलता थी उसपर बाँध पड़ गया। ब्रह्मादिवन्द्य सर्वशक्त्यधीश्वर भगवान्‌के सम्मुख भला मेरी क्या बिसात है। बस, भगवान्‌की अपने प्रति यह असामान्य दयालुता देखकर वे गद्गद् हो उठे। 'भक्ति' भावसे उनका हृदय भर उठा। इसीलिये यहाँ व्यासजीने कहा है कि—'विलोक्य सुभृशं प्रीतो भक्त्या परमया युतः' 'यमुनाहृदमें भगवान्‌का दिव्य वैभव देखकर अक्रूर प्रीतियुक्त जरूर हुए' किन्तु 'भक्त्या परमया युतः' भगवन्माहात्म्य प्रत्यक्ष देखकर उनको बड़ी भारी भक्ति हो गयी।

स्मरण रहे, जिस समय अक्रूर पहले-पहल गोदोहनके लिये पधारे हुए श्रीकृष्ण भगवान्‌के पास पहुँचे थे उस समय स्नेहका प्रवाह कुछ कम न था, प्रत्युत आवेगमें इस समयसे सौगुना था किन्तु वह 'स्नेह' स्नेह ही था। इसीलिये व्यासजीके अक्षर हैं—'स्नेहविह्वलः पपात चरणोपान्ते दण्डवत्' 'स्नेहविह्वल होकर दण्डकी तरह चरणोंके सामने गिर गये'। वहाँ असामान्य प्रणयबन्धके कारण

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अक्रूरको विह्वलता जरूर थी किन्तु वह राग स्नेह-शब्दवाच्य ही था, अभी 'भक्ति' नहीं कहा जा सकता था। परन्तु जब अक्रूरका हृदय भगवन्माहात्म्यको जानकर, नहीं नहीं, जानकर ही क्या, जानते तो पहले भी थे, प्रत्यक्ष संमुख देखकर, असामान्यप्रणय-भावसे, शरणलिप्साकी भावनासे भगवान्‌के अभिमुख हुआ तब उसमेंसे सामान्य स्नेहका गन्ध जाता रहा। जरा यहाँ गीताकी घटनापर भी ध्यान देना होगा। वहाँ भी भगवत्प्रिय अर्जुनको भगवान्‌में स्नेह जरूर था, स्नेह भी साधारण नहीं असाधारण। किन्तु उसमें भी पहले कुछ लौकिकता पायी जाती थी। भगवान्‌का उपदेश, विभूतियोग सुनकर भी कुछ सन्देहकी रेखा बनी रही। इसीलिये तो अर्जुनने स्पष्ट ही भगवान्‌के आगे अपनी इच्छा प्रकाशित कर दी कि—मैं आपका रूप देखना चाहता हूँ। चतुर्थ अध्यायमें तो 'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्' 'यह अक्षय योग पहले मैंने सूर्यको कहा था' यह भगवान्‌के कहनेपर अर्जुनने स्पष्ट शङ्का ही कर दी थी कि—'अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः' 'आपका जन्म पीछे हुआ है किन्तु सूर्यका जन्म पहले है'। परन्तु जब भगवान्‌ने अपना माहात्म्य अच्छी तरह समझा दिया, अपना विराट् रूप प्रत्यक्ष दिखा दिया, तब अर्जुनके स्नेहमें दूसरे भावका संमिश्रण हो गया। वह भक्तिमें परिणत हो गया। उस समय पहलेका-सा बराबरीका भाव जाता रहा, उसके लिये अर्जुनको बड़ा पश्चात्ताप भी हुआ। उसने प्रत्यक्ष ही भगवान्‌से क्षमा माँगी कि—

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं
हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
.....
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि
विहारशय्यासनभोजनेषु ॥
.....
तत्क्षामये।

'मित्र समझकर जो कुछ मैंने बोलाचालीमें धृष्टता की हो, किंवा परिहासमें, क्रीडा, शयन-भोजनादिमें भी जो कुछ मुझसे अपराध बन गया हो उसकी मैं क्षमा चाहता हूँ।' अन्तमें तो स्पष्ट ही उसने कह दिया कि—'स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।' 'मुझे अब कोई संदेह नहीं रहा, मैं अब आपकी आज्ञाके अनुसार ही करूँगा।' इसी तरह अक्रूरका भी मथुरासे आते समय भगवान्‌में जो प्रणय था, मथुरा जाते समय उसमें दूसरा ही भाव उत्पन्न हो गया। उसमें भगवान्‌के प्रति परात्पर बुद्धि उत्पन्न हो गयी थी। पहले असाधारण स्नेह था तो अब वह 'सर्वतोऽधिकः' होकर भक्तिके रूपमें दृढ़ हो गया था। इसीलिये भगवान् वेदव्यासने मथुरा जाते समय अक्रूरजीके विषयमें कहा है कि—'भक्त्या परमया युतः'।

यही नहीं, अक्रूर यहाँ अपने स्वरूपको समझते हैं। कहते हैं कि—'हे भगवन्!*मैं अपने शरीर, पुत्र, गृह, स्त्री, धन, स्वजनादि झूठे पदार्थोंमें सत्य भावनासे फँसा हुआ हूँ, तभी तो कंसकी तरफ़ मेरी सभय दृष्टि है। अन्यथा मुझे प्रकटरूपसे आपकी शरण आनेमें भय किंवा सङ्कोच क्यों हो? अस्तु, हे भगवन्! मेरे हृदयकी भावनाको परखिये। मेरी कमज़ोरी अथवा दोषोंपर मत जाइये। मुझे शरणमें लीजिये। मैं आपकी शरण आया हूँ। और तो मेरे पास क्या है। प्रणाम करता हूँ।'

अक्रूरके पहले स्नेहानुबन्धमें लौकिक सम्बन्ध था। विषय तथा नातोंका गन्ध था। इसीलिये यह भगवान्‌की भावना तो जरूर करते थे, उनमें एकतान जरूर

* अहं चात्मात्मजागारदारार्थस्वजनादिषु।
भ्रमामि स्वप्नकल्पेषु मूढः सत्यधिया विभो॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होते थे, किन्तु सोचते थे—'भगवान् मुझे 'तात अक्रूर' कहेंगे। मैं भगवान्का ज्ञाति हूँ।' अर्थात् अपने और भगवान्में लौकिक नातेका सम्बन्ध सोचते थे। किन्तु अब भगवान्को परात्पर समझकर अपना बड़ापन तो क्या बराबरी भी नहीं समझते। वह कहते हैं मैं मूढ़ हूँ, विषयासक्त हूँ। मेरी मूढताको न देखकर मेरे ऊपर कृपा कीजिये।

हे भगवन्! मेरी पहुँच आपके चरणतक हो यह भी आपका ही अनुग्रह है। अन्यथा मेरी तो बात ही क्या है, बड़े-बड़े प्रभावशालिम्मन्य भी आपके चरणोपान्ततक भी नहीं पहुँच पाते। क्योंकि आपका चरण 'असतां दुरापम्' असज्जनोंके लिये दुष्प्राप्य है। भला फिर अक्रूरकी ही गति वहाँ कैसे हो पायी? वह तो कंसके भेजे हुए आये हैं। उसीके आदेशानुसार भगवान्को मथुरा ले जाना उनका ध्येय है। जिसमें कंसकी स्पष्ट दुरभिसन्धि है कि मथुरा लाकर भगवान्का अनिष्ट किया जाय। फिर ऐसे दुष्टके संसर्गीकी चरणतक पहुँच क्योंकर हुई। इस आशयको सोचकर ही अक्रूर प्रार्थना करते हैं कि—

'तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं
तच्चाप्यहं भवदनुग्रहमीश मन्ये।'

'मैं जो आपके चरणोंतक आ पाया हूँ इसको भी मैं आपकी ही कृपा मानता हूँ।' कदाचित् यह शङ्का की जाय कि असत्-संसर्गीपर भगवान्ने कैसे अनुग्रह किया, तो इस शङ्काको भी यहाँ स्थान नहीं। भगवान् 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' हैं। वह स्वाभाविक दयालुतावश अपने खास सामर्थ्यसे अक्रूर-सरीखेको दुष्ट संसर्गी समझते हुए भी आदर दे सकते हैं। इसी आशयसे यहाँ सम्बोधन है 'ईश'। आप सर्वसमर्थ हैं। आप चाहें तो सब कुछ हो सकता है। इसीलिये मुझ-सरीखे दोषी, तुच्छ, अकिञ्चित्करको भी आपने चरणदर्शनका अधिकार दिया है।

भगवान्को तो अक्रूरको कुछ अपने वैभवका खेलमात्र दिखाना था। इसलिये जब अक्रूरका हृदय शुद्ध कर चुके तो—

'भूयः समाहरत्कृष्णो नटो नाट्यमिवात्मनः'

'जैसे नट अपने खेलको समेट लेता है वैसे ही आपने भी वह वैभवलीला सब संहार कर ली।' अक्रूर जैसे ही रथके पास आकर भगवान्को देखते हैं, आप जानते हुए भी प्रश्न करते हैं कि आपके आकार-प्रकारसे विचित्र भाव प्रतीत हो रहा है, क्या-'भूमौ वियति तोये वा किं ते अद्भुतं दृष्टम्?' 'भूमि, आकाश अथवा यमुनाके जलमें आपको कोई अद्भुत घटना नजर आयी?' भगवान् अक्रूरको टटोल रहे थे कि देखें मेरे असली स्वरूपका आभास पाकर अब अक्रूरका क्या भाव है। भगवान्ने जिस पर्देसे यह व्यङ्ग्य प्रश्न किया था, अक्रूरने भी उसी प्रकार उत्तर दिया कि—

'अद्भुतानीह यावन्ति भूमौ वियति वा जले।
त्वयि विश्वात्मके तानि किं मऽदृष्टं विपश्यतः॥'

'इस ब्रह्माण्डमें, भूमि, आकाश अथवा जलमें जितने भी अद्भुत हैं उन्हें विश्वरूप आपके अन्दर देखते हुए मेरे लिये क्या अद्भुत अदृष्ट (बिना देखा) रह गया?' अक्रूरने भगवान्की विश्वव्यापकता इतने मात्रसे सब कुछ सूचित कर दी। यों उत्तर-प्रत्युत्तरके अनन्तर भगवद्विभूति देखनेके कारण भाग्यवान् अक्रूरने बिना कुछ कहे-सुने रथको मथुराके लिये हाँक दिया। भगवान् वेदव्यास यहाँ भी अक्रूरके भाग्यकी सराहना करते हुए उसकी माताको बधाई देते हैं कि वह माता धन्य है जिसके अक्रूर-सदृश पुत्र हुआ, जिस पुत्रपर भगवान्की यों कृपा हुई। अतएव यहाँ 'अक्रूर' इत्यादि न कहकर व्यासजी उसकी माताको स्मरण करते हुए कहते हैं—'इत्युक्त्वा चोदयामास स्यन्दनं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गान्दिनीसुतः' 'इस तरह कहकर गान्दिनीके पुत्र (अक्रूर) ने रथको रवाना कर दिया।'

जैसे ही आप मथुराके समीप पहुँचते हैं अक्रूरको विसर्जन करना चाहते हैं। किन्तु अक्रूर अब अपनी इच्छासे भगवान्‌को कैसे छोड़ सकते हैं। जिसने भगवदनुग्रहके अमृतकी मिठास एक बार चख ली, भला वह अपनी इच्छासे अलग हो सकता है? अक्रूर कहते हैं—'नाहं भवद्भ्यां रहितः प्रवेक्ष्ये मथुरां प्रभो' 'मैं आप दोनोंके बिना मथुरामें किसी तरह भी नहीं जा सकता।' मेरे घरपर पधारकर उसे पवित्र कीजिये, वहाँके रहनेवाले जीवोंका भी उद्धार कीजिये।

यहाँ अक्रूरके चरित्रकी पूर्वापर घटनाओंपर जरा गौरसे नजर डालनी होगी। अक्रूर जिस समय कंसके बुलाने हुए मथुरासे आ रहे थे उस समय भगवदीय प्रेमके कारण भगवद्दर्शनकी चटपटी थी, भगवान्‌में रुचि भी पूर्ण हो थी। किन्तु भगवान्‌के साथ लौकिक सम्बन्धका प्रतिबन्ध जरूर लग रहा था। वे सोच रहे थे 'आहा मैं भगवान्‌का दर्शन आज बड़ी उत्कण्ठाके अनन्तर पाऊँगा। भगवान् मुझे यों दीखेंगे। भगवान् मुझसे यों बोलेंगे। क्योंकि मैं भगवान्‌का सजातीय हूँ, कुटुम्बसम्बन्धी हूँ। भगवान् ही मेरे आश्रय हैं। वह जरूर मुझे अपनी लंबी भुजाओंसे आलिङ्गन करेंगे'—'सुहृत्तमं ज्ञातिमनन्यदैवतं दोर्भ्यां बृहद्भ्यां परिरप्स्यतेऽस्थ माम्'] अर्थात् भगवान्‌के साथ सजातीय होनेके अभिमानकी कुछ मलिन रेखा-सी थी। किन्तु यमुना-ह्रदमें जबसे भगवान्‌ने अक्रूरको अपने स्वरूपका दिग्दर्शन कराया है तबसे उनके भावोंमें बहुत कुछ अन्तर देखा जाता है। वहाँ जैसे 'सुहृत्तमं ज्ञातिम्' आदि पद अपने और भगवान्‌के सम्बन्धमें दिये हैं वैसे ही यहाँ भगवान्‌के लिये अक्रूरने जितने भी सम्बोधन दिये हैं सबमें भगवान्‌की परात्पर ऐश्वर्य विभूति सूचित की है—'देवदेव जगन्नाथ पुण्य-श्रवणकीर्तन' इत्यादि।

अस्तु, भगवान् उन्हें कंसके दौरात्म्यके कारण राज-नैतिक अभिसन्धि सुझाते हुए फिर आनेका आश्वासन देकर विदा करते हैं। अक्रूर भी 'विमना इव पुरीं प्रविष्टः' 'उदासकी तरह, नहीं-नहीं, बिना मन पुरीमें चले।' मन तो भगवान्‌में लग चुका था। उसपर अब उनका कब्जा कहाँ था। शरीर जरूर कंसके अधीन था क्योंकि उसके दिये हुए अन्नसे पुष्ट हुआ था, पर मनको रोकना तो असम्भव था। वह तो भगवान्‌के चरणोंपर लोट रहा था, उसका लौटना कहाँ? उसे हटाकर नगरीमें ले जाना न कंसके ही अधीन था न अक्रूरके ही। अतएव मनको वहीं छोड़कर अक्रूर चले। इसी आशयसे भगवान् व्यासने कहा है कि—'विमना इव'।

मेरा उलाहना

को जानें राम—पराये मनकी?
ऊधो! सब कुल कान गँवाई, तजी लालसा धनकी॥
तन-मन-प्रान और जीवनसे, चाह बढ़ाई जिनकी?
'सीखो योग—भुला दो मुझको'-यह पाती है उनकी?
को जानें राम—पराये मनकी?

—नयनजी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

योगवासिष्ठसार

निर्वाण-प्रकरण (पूर्वार्द्ध)

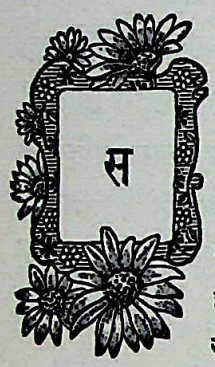

म्यक्‌दर्शी पुरुषकी भावना जब अनन्त चेतनतत्त्वमय हो जाती है तथा जब वह दृश्यको त्यागकर आत्मस्वरूपमें स्थित हो जाता है; तब उसको सम्पूर्ण जगत् आत्मस्वरूप-सा प्रतीत होता है और उसका चित्त नष्ट हो जाता है। ज्ञानवान् इस जगत्‌को लीलामात्र जानते हैं। उनका हृदय शान्त और नित्यतृप्त होता है। उनको सदा-सर्वदा आत्मज्योति ही भासती है। विवेकद्वारा उनके चित्तसे जगत्‌की सत्ता मिट जाती है। तृष्णारूपी विषूचिका रोगको नाश करनेवाला अध्यात्मशास्त्र है। आत्मा और शरीरमें कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि शरीर जड, असत्, तमोमय, साकार और स्थूल-रूप है। तथा आत्मा चेतन, सत्, प्रकाशस्वरूप, निराकार और सूक्ष्मरूप है। शरीरके सुख-दुःखके आधारपर आत्मामें भी सुख-दुःखका अनुभव करना भ्रममात्र है।

आत्मामें जरा-मरण, सुख-दुःख और भाव-अभावकी कुछ भी स्थिति नहीं है। वह सदा निर्लेप है। जिस प्रकार लुहारकी धौंकनी श्वास लेती और त्यागती है, उसी प्रकार अज्ञानी जीव इस शरीरमें व्यर्थ चेष्टाएँ करते हैं। अज्ञानियोंको स्त्री, पुत्र और धनादिमें—जो नरकके मूल-कारण हैं, प्रीति होती है एवं उन्हींसे वे प्रसन्न होते हैं। हृदयमें जब अज्ञानरूपी चन्द्रमाका पूर्णोदय होता है, तब कामनारूपी क्षीरसागरमें लहरें उछलती हैं और काम, क्रोध, लोभ, मोह तथा तृष्णारूपी चकोर उसको देखकर प्रसन्न होते हैं। परन्तु देहाभिमानरूपी रात्रिका अन्त और विवेकरूपी सूर्यका उदय हो जानेपर सबकी निवृत्ति हो जाती है। लक्ष्मी भी अनर्थ, पाप और दुःखका कारण है। ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त जो कुछ भी देखनेमें आता है, वह सब अविद्याकी ही महिमा है। जो इस दृश्य-जालसे रहित है, उसको आत्मलाभ हुआ जानना चाहिये। आत्म-विचारकी उत्पत्तिसे अज्ञानका निवारण हो जाता है और केवल ब्रह्मपद भासता है। जिस तरह चुम्बक पत्थरके स्पर्शसे जड लोहा चेष्टा तो करता है, परन्तु वास्तवमें चुम्बक उस चेष्टाका कर्ता नहीं है, उसी तरह आत्माकी सत्तासे जगत् या देहादि चेष्टाएँ करते हैं, चैतन्य लाभ करते हैं, परन्तु आत्मा सदा अकर्ता ही है। यदि शुद्ध चेतनमें चित्तका सम्बन्ध हो जाय तो उसीका नाम अविद्या है। मनीषिगण असम्यक् दृष्टिको ही अविद्या कहते हैं। यही अविद्या जगत्‌का कारण है और इसीसे जगत्‌का विस्तार है।

सबसे प्रथम यह विचार करना चाहिये कि रक्त, मांस और अस्थिका यन्त्र जो यह शरीर है, उसमें मैं क्या हूँ और सत्यासत्य क्या है? इस विचारसे अविद्या अवश्य ही नष्ट हो जायगी। अविद्याके रूप दो हैं—एक प्रधान और दूसरा निकृष्ट। विद्या अविद्यासे ही उपजकर उसका नाश कर देती है, और फिर आप भी नष्ट हो जाती है, जो अविद्या अन्तर्मुख है वह प्रधान है और जो बहिर्मुख है वह निकृष्ट है। ज्ञानीके निश्चयमें सर्वत्र ब्रह्म ही है, उससे भिन्न उसे कुछ नहीं भासता। जिस पुरुषको ब्रह्मकी भावनाका अभ्यास है वह उसी अभ्यासके बलसे शीघ्र ही ब्रह्म हो जाता है। जिसमें सबकी स्थिति है और जो सबमें है—ऐसा चिदात्मा मैं ही हूँ—यह ज्ञानियोंका निश्चय है। उनके निश्चयमें सत्यरूप केवल आत्मतत्त्व है। इस तरहके ज्ञानी विष्णु भगवान्‌के स्वरूप हैं। वे उन्हींकी तरह अभेद और अचल हैं। अहङ्कारसे रहित होकर जो कुछ इच्छा हो उसे करना चाहिये तथा बन्धनहीन होकर संसारमें विचरना चाहिये। संसार-सागरके संतरणके दो ही उपाय हैं—एक सम्यक्‌ज्ञान और दूसरा प्राणावरोध। इन दोनोंको ज्ञान और योग भी कहते हैं। इनमें ज्ञान सुगम है, क्योंकि उसकी प्राप्तिमें यत्न और कष्टकी मात्रा थोड़ी है। जो प्राण-अपानके रथपर आरूढ़ है तथा हृदयरूपी गुफामें स्थित है ऐसे ज्ञेयको भलीभाँति जाननेका नाम ही ज्ञान है। संतोंकी संगति सबसे अच्छी है। उससे आत्मानन्दकी प्राप्ति होती है। संत वही हैं जिनकी आपातरमणीय सभी इच्छाएँ निवृत्त हो गयी हैं। जो जगत्‌के सम्पूर्ण पदार्थोंको तुच्छ समझते हैं और सदा आत्मानन्दमें ही तृप्त रहते हैं। ऐसे संतोंद्वारा सब तरहके दुःखोंका नाश हो जाता है।

वासनारूपी धागेमें पिरोयी गयी दुःखरूपी मोतीकी माला जिनके गलेमें पड़ी है, जो रागद्वेषरूपी विषसे भरे हुए चित्तरूपी सर्पद्वारा कष्ट पा रहे हैं, जिनमें काम,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

क्रोध, लोभ, मोह, तृष्णा और अभिमानादिकी दुःखपूर्ण व्याधियाँ भरी पड़ी हैं, उन्हें ही मृत्यु मारती है; परन्तु जो इनसे रहित है; जिनका मन परम पावन तथा निर्मल पदमें स्थित होकर विश्राम कर रहा है, जो मूढ़ होकर चल पदार्थोंमें आसक्त नहीं होते, जिनको यह जीवन प्यारा नहीं है, जिन्होंने प्राण-अपानकी गति प्राप्त कर ली है, उनको मृत्युका कोई भी भय नहीं होता। वे सदा शान्त-मन होकर सुखी बने रहते हैं।

प्राण हृदयसे निकलकर बारह अंगुलतक बाहर जाकर स्थित हो जाता है और फिर अपानरूपमें अपना बल जमा लेता है। प्राण भीतरसे बाहर निकलनेवाला सूर्यरूप है और अपान बाहरसे भीतर जानेवाला चन्द्रमारूप है। प्राणवायुसे हृदयाकाश तपता है और उससे अन्न पचता है। अपानद्वारा हृदय शीतल होता है। अपानरूपी चन्द्रमा जब प्राणरूपी सूर्यमें लीन होता है, तब उस अवस्थामें स्थित हुए मनको शोक नहीं होता। इसी प्रकार जब प्राणरूपी सूर्य अपानरूपी चन्द्रमामें लीन हो जाता है, तब उस अवस्थामें स्थित मनको जन्मादिका बन्धन नहीं होता। प्राणापानरूपी सूर्य-चन्द्रके प्रकाशसे हृदयकी गुहामें स्थित ज्ञेयको जो देखता है, वही सच्चा द्रष्टा है। प्राणके अस्त होनेपर अपान और अपानके अस्त होनेपर प्राणका उदय होता है। हृदयकोटसे जब प्राणोदय होता है, तब प्राणका रेचक और अपानका पूरक होने लगता है। जब प्राण अपानमें स्थित हो तब अपानका कुम्भक होता है। उस कुम्भकमें स्थिति हो जानेपर तीनों तापोंका कोई असर नहीं होता। प्राण और अपानके भीतर जो शान्तरूप सत्यतत्त्व है, उसमें जब स्थिति होती है, तब मन तपायमान नहीं होता। यदि अपान प्राणमें स्थित हो जाय और प्राणका उदय न हो, उस कुम्भकमें जो शान्त तत्त्व होगा, वही आत्माका स्वरूप और शुद्ध तथा परम चैतन्य है। जो उसको प्राप्त कर लेता है, वह फिर शोकवान् नहीं होगा। प्राण-अपानके भीतर जो अनुभवतत्त्व है, उसीसे सम्बन्ध है। उनके मध्यमें जो चिदात्मा है, उसीकी उपासना करनी चाहिये। इस प्रकार प्राण-समाधिको प्राप्त कर लेनेपर वह एक निमेषके लिये भी चलायमान नहीं हो सकता।

जो मनुष्य अपने आपको सर्वात्मा जानता है, उसको कहीं दुःख नहीं होता। इस जगत्को तथा अस्थि रक्त मज्जा और मांसके पुतले शरीरको आभासमात्र जानना चाहिये। यह जगत् मानो दीर्घकालका स्वप्न, दीर्घ चित्तका भ्रम या दीर्घ मनोराज्य है। सम्यक्दर्शी सत्यको सत्य और असत्य-को असत्य जानता है। इसी कारण वह दुःख नहीं पाता। परन्तु असम्यक्दर्शी अज्ञानवश दुःख पाता है। 'मैं सब कुछ हूँ' अथवा 'मैं कुछ भी नहीं हूँ' इन दो पक्षोंमेंसे जिसमें रुचि हो, उसे ही ग्रहण कर लेना चाहिये। वही सिद्धिका कारण होगा। इस अपवित्र शरीरमें अहङ्काररूपी पिशाचका निवास है, परन्तु सन्तोष, विचार, अभ्यास और सत्सङ्गका व्यासङ्ग होनेपर वह भाग जाता है। सङ्कल्पद्वारा इस शरीरका निर्माण हुआ है, प्राणद्वारा चेष्टाएँ होती हैं और अहङ्काररूपी पिशाचका गर्जन होता है। यह आश्चर्यकी बात है कि मनकी वृत्ति तो दुःख-सुखको ग्रहण करती है, परन्तु उसका परिणाम भोगता है जीव। अतः शरीरसे ममताका त्याग करके नित्य शुद्ध सर्वगत आत्मस्वरूपमें स्थित हो जाना चाहिये।

केवल एक अकृतिम, अनादि, अनन्त और चेतनरूप ही देव है। उसीकी पूजा, पूजा है। जो उस आनन्द और अनन्तरूप देवकी उपासना करता है, उसीको परमात्मरूपी फलकी प्राप्ति होती है। बोध, साम्य और सम ये तीन फूल हैं। बोध सम्यक्ज्ञानका नाम है। सबमें पूरी तरह देखने-का नाम साम्य है और चित्तको निवृत्त करना तथा उसमें आत्मतत्त्वसे भिन्न किसी पदार्थका स्फुरण न होने देना 'सम' है। इन्हीं तीनों फूलोंसे शिव, चिन्मात्र शुद्ध देवकी पूजा होती है। ज्ञानी पुरुष आत्मध्यानसे भिन्न किसी पूजाको बालकोंका खेल समझते हैं। उनके लिये आत्मदेव ही एकमात्र देव हैं। वही शिव तथा परमकारणस्वरूप हैं। ज्ञानद्वारा उनकी जो पूजा-अर्चा होती है, वही वास्तविक पूजा-अर्चा है। चेतन आकाश प्रसिद्ध है—वह सम्पूर्ण प्रकृतिसे रहित और महाकल्पमें शेष रहनेवाला है। वह स्वयं किञ्चनरूप होता है और उसी किञ्चनसे इस जगत्की उत्पत्ति होती है। अकेला चिन्मात्र ही सम्पूर्ण जगत्, आकाश, जीवों और भूतोंमें है, उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। परमात्माकाश ब्रह्मरूपी एक देवके पूजनसे ही सब फलोंकी प्राप्ति होती है। वह सर्वज्ञ है, और उसमें सबकी स्थिति है। वह अज, परमानन्द और अखण्डरूप है, उसको साधनाद्वारा प्राप्त करना चाहिये। उसीसे सुख प्राप्त होता है। वह पदातीत है। उसका निवास सत्य

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

और असत्यके मध्यमें है। वह सम्पूर्ण जगत्का सारभूत, सबके शरीरमें स्थित और सबका आत्मा है। ज्ञानियोंने शास्त्र, बुद्धि, उपदेश तथा व्यवहारके लिये उसकी एकदेव, चिन्मात्र सूक्ष्म, सर्वव्यापी, निरञ्जन, आत्मा, ब्रह्म इत्यादि संज्ञाएँ रखी हैं।

सम्पूर्ण जगत् आत्माका चमत्कार है और आत्मतत्त्वमें स्थित है। इस शरीरमें दो चेतन स्थित हैं—एक तो चैत्योन्मुख और दूसरा निर्विकल्प आत्मा। जो चेतन चैत्योन्मुख यानी दृश्यसे मिला हुआ है, वह सङ्कल्पके स्फुरणसे अन्यकी नाईं हो गया है, परन्तु वास्तवमें अन्य नहीं हुआ है—वह स्वरूपसे गिरकर भटकता फिरता है, कभी भी स्थिर नहीं होता। एक चित्तसत्ता ही स्पन्दभावसे अनेक भावको प्राप्त कर लेती है। चित्त-शक्ति अनेक रूपोंको धारण करती है, परन्तु चेतनसे भिन्न नहीं होती। यह जीव जैसा सङ्कल्प करता है, उसी प्रकारकी कर्म-गति प्राप्त करता है। स्वरूपके विस्मरण कर देनेसे आशारूपी फाँसीसे बँधा हुआ चित्त जीवको नीचयोनिमें पहुँचा देता है। यदि मनमें जगत्को असत् और आत्माको सत् जाननेकी भावना दृढ़ हो जाय तो सभी अनर्थ निवृत्त हो जाते हैं। अनात्मके सहवाससे ही यह जीव दुःखी होता है और जब अभ्यासद्वारा अपने शुद्धरूपकी प्राप्ति कर लेता है, तब तद्रूप हो जाता है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इन पाँचों विषयोंको श्रोत्र, नेत्र, त्वचा, रसना और नासिका पाँचों इन्द्रियोंसे मिलकर जाननेवाला साक्षीभूत परम चेतन आत्मतत्त्व है। वही आत्मतत्त्व सुख, संवित् एवं परम चेतन भी कहलाता है। किन्तु जो इसके विपरीत बहिर्मुख स्फुरित होकर दृश्यसे मिल गया है, वह मलिन चित्त है। उसकी शुद्धि अपने शुद्धरूपमें जानेपर ही होती है।

आत्मसत्ता सर्वत्र है, परन्तु वह प्रतीत वहीं होती है जहाँ प्राणकलारूप पुर्यष्टक* होता है, और स्थानोंमें नहीं। अपने स्वरूपके प्रमादसे जीव दीन होकर स्वयं कष्ट भोगता है। परन्तु स्वरूपका वास्तविक ज्ञान प्राप्त करते ही उसके अभ्याससे वह उसीका रूप बन जाता है। जीव जब दीनता पैदा करनेवाले सङ्कल्प-विकल्प भूल जाता है, तो उसका चित्त अचित्त हो जाता है, और वह ऊँचे पदपर विराजमान हो जाता है। जिसने विवेकरूपी वायुकी सहायतासे अपने हृदयाकाशके सङ्कल्परूपी मेघको दूर कर दिया है, उसने परम निर्मलताकी प्राप्ति कर ली है। सङ्कल्पकी निवृत्तिके बाद जो शेष रहता है, वही सत्य परमानन्द-स्वरूप है। यदि मनुष्यमें ऐसी भावना हो जाय कि 'मैं एक आत्मा और द्वैतसे रहित हूँ' तो वह उसीका रूप बन जाता है। उसके हृदयसे द्वैतका सर्वथा अभाव हो जाता है। 'मैं हूँ' की भावनासे ही मनुष्य बन्धनयुक्त होता और उसके अभावसे ही मुक्त होकर सुख-दुःखसे परे हो जाता है। और वही फिर शुद्ध, निरञ्जन, एकसत्ता, सर्वात्मा तथा आकाशवत् व्यापक ब्रह्म भी बन जाता है।

मनको जब उपशमकी प्राप्ति हो जाती है, तब उसमेंसे जगत्की सत्ता मिट जाती है। फिर चेतनसत्ता चित्त-सत्ताको भक्षण कर लेती है और जब चित्तकी चपलता मिट जाती है, तब परम पावन निर्मल चिन्मात्र तत्त्व प्राप्त हो जाता है। संसार-समुद्रसे पार लगानेवाला सर्वव्यापक जो समसत्तारूप तत्त्व है, उसकी भी प्राप्ति हो जाती है। फिर वह निर्भय बोध और शान्तिमय आत्माको पाकर शान्त हो जाता है। जब चित्त-शक्ति मनके मननसे मुक्त होती है तो मन चन्द्रमाके समान शीतल और प्रकाशवान् हो जाता है। उस समय वह आकाशवत् विस्तृतरूप, अपने-आप भासनेवाला तथा घन सुषुप्तरूप भी बन जाता है। उसीको तुरीय पद कहते हैं। वह पद सम्पूर्ण दुःखों और कलङ्कोंसे रहित है। जब वृत्ति आत्मतत्त्वमें अत्यन्त परिणत हो जाती है, तब उसके ब्रह्म, आत्मा आदि नाम भी नहीं रह जाते। उसमें भावाभावकी कलनाका स्फुरण नहीं होता। और वह स्थाणुकी तरह अचलवृत्ति होकर परम शान्त, निष्कलंक तथा सबसे उल्लंघित तुरीयातीत पदको प्राप्त हो जाता है।

केवल आत्मसत्ता ही विष्णु, शिव और ब्रह्मादि जगत्का आदि वपु है। वही शुद्ध, चेतनरूप एक देव सब देवोंका देव है। वही सबका परम पिता और मूल बीज है। उसीसे सबकी उत्पत्ति हुई है। वही शिवतत्त्व है। सम्पूर्ण जीवोंका भी जीव, सम्पूर्ण पदोंका पद, सम्पूर्ण सारोंका सार, सम्पूर्ण कर्मोंका कर्म, सम्पूर्ण कारणोंका कारण, सम्पूर्ण भावाभावोंका प्रकाशक और सम्पूर्ण चेतनका चेतन है। उसीको असत्से रहित महासत्रूप, सम्पूर्ण सत्ताओंकी सत्ता और चिन्मात्र तत्त्व कहते हैं।

* मन, बुद्धि, अहङ्कार और पञ्चतन्मात्रा—इनका नाम पुर्यष्टक है। इसे आतिवाहिक देह भी कहते हैं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उसके आवाहनके लिये मन्त्र, आसन आदि साधनोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि वह अनुभवसे सर्वदा प्राप्त है। वह सब प्रकार सब जगह विद्यमान है। वह सबका पूज्य, नमस्कार्य तथा जानने योग्य है। वह मृत्यु, व्याधि, जरा और भयका नाशक है। उसके साक्षात्कारसे संसारकी अवस्था भुने हुए बीजके समान हो जाती है। उसमें फिर पनपनेकी शक्ति नहीं रहती।

जिस प्रकार आगसे उसकी उष्णता अलग नहीं है, उसी प्रकार आत्मासे यह जगत् भिन्न नहीं है। सुमेरु पर्वत भी उसके आगे परमाणुरूप है। तीनों काल उसके भीतर ओतप्रोत हैं। पृथ्वीसहित सातों महासागर उसके भीतर अणुके अग्रभाग सदृश हैं। संसार-रचना उसके द्वारा नहीं होती परन्तु कर्तृत्वभावको वह प्राप्त होता है। वह शरीरवान् न होकर भी देहवान् है। सम्पूर्ण सत्तारूपी रत्नों-का भाण्डार वही है। वही नाना प्रकारके आकारमें स्फुरित होता है। वृक्षादिमें फल और गुच्छोंके रूपमें वही स्थित है। वही उनमें सुगन्ध भी बन जाता है। इन्द्रियोंके रूपमें वही सबका रस ले रहा है। उसीके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थोंकी सत्ता है। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र सभी उसीके स्वरूप हैं। उसमें शक्ति नृत्य करती है। वही साक्षीरूप होकर सबका द्रष्टा बना हुआ है।

उसका ध्यान यह है—परमाकाश उसकी ग्रीवा है, अतल पाताल उसके चरण हैं, अनन्त दिशाएँ उसकी भुजाएँ हैं, सम्पूर्ण प्रकाश उसके शस्त्र हैं, वही ब्रह्माण्ड-समूहको परम्परासे प्रकाशित करता है। त्रिलोकीके देहादि कोषोंमें वही इच्छा-शक्ति होकर निवास करता है। उसका स्वरूप सत्तामात्र है। जगत्-जाल उसका विवर्त्त है। आकाश उसका द्वारपाल है। यह पर्वतादिपूर्ण ब्रह्माण्ड उसके नेत्रोंके किसी कोणमें स्थित हैं। उसके सहस्रों चरण और सहस्रों भुजाएँ हैं। उसका मन सर्वत्र है, परन्तु वह कल्पकलातीत है। सम्पूर्ण भूतोंके अंदर उसकी स्थिति है और वही सम्पूर्ण साधनोंका सिद्धिकर्ता है।

यही ध्यान उसका परम पूजन है। इस प्रकार एक मानसिक भी उसका पूजन करना राजसूययज्ञका फल देता है। उसकी प्राप्तिके लिये यही परम योग और विधि है। अतएव इस प्रकारसे जगत्के अन्य व्यवहारोंको करते हुए भी उसका पूजन करना चाहिये।

उस परमदेवकी उपासनाके लिये इन बातोंपर ध्यान देना चाहिये—किसी भी पदार्थके ग्रहण या त्यागसे रहित होकर सबमें तुल्यदृष्टि रखना, भेदभावको न आने देना, जो कुछ प्रारब्धसे मिल जाय उसीसे आत्माका अर्चन करना, इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिके समय रागद्वेषसे रहित होकर उनका उपभोग करना और भीतरसे आकाशवत् असंग रहकर प्रकृत आचारमें लीन रहना। इन क्रियाओंसे वह शीघ्र ही प्रसन्न होकर दर्शन देता है।

शुद्ध चिन्मात्रसे प्रमादी न होना ही वास्तविक आत्मार्चन है। जब सम्पूर्ण अनात्मवर्गका बाध हो जाता है तब अनादि, अनन्त, अनाभास, सत्तामात्र शेष रह जाती है, जो किसी भी इन्द्रियका विषय नहीं है। उसको निष्किञ्चन पद कहते हैं। जिन मुमुक्षुओंकी वृत्तियाँ वेदानुकूल आचरणसे सात्त्विक हो जाती हैं और जिनकी अविद्या नष्ट हो जाती है उनके हृदयसे द्वैतका भ्रम मिट जाता है। आत्मतत्त्वका प्रकाश उन्हें प्रत्यक्ष दिखायी देता है। जगत्के आदिमें भी आत्मसत्ता है और अन्तमें भी, तथा जो कुछ मध्यमें भासता है वह भी वही है। ब्रह्म ही जगत् है और जगत् ही ब्रह्म है। सूक्ष्म दृष्टिसे देखा जाय तो सारे जगत्में आत्मसत्ता ही व्याप्त है। 'मैं-तू' आदि सम्पूर्ण प्रपञ्च आत्मतत्त्वमें अनुदित हुआ ही उदित-सा भास रहा है। यह आत्मसत्ता अशब्द पद है। उसमें जो अनिर्वचनीय आनन्द है वह सर्वथा अकथनीय है। जिस समय संवित्में संवेदनका स्फुरण निवृत्त हो जाता है उस समय किसी प्रकारका दृश्य नहीं रहता और न उस अवस्थामें कोई कर्म ही रहता है। उसके प्राण भी निस्पन्द हो जाते हैं और चित्त चेतनके सम्बन्धसे रहित होकर मूर्तिवत् स्थित हो जाता है। इस प्रकार उसे पूर्ण शान्ति मिल जाती है।

जब हृदयमें कल्पनारूपी बीज पड़ता है, तब चित्तरूपी अंकुरकी उत्पत्ति होती है। उसीसे भावरूप संसार उपजता है। परन्तु आत्मज्ञानद्वारा कल्पनारूपी बीज जल जाता है और इसीसे चित्तरूपी अंकुर भी नष्ट हो जाता है।

जाग्रत् अवस्था दो प्रकारकी है—एक जीवन्मुक्ति और दूसरी विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति तुरीयारूप है और विदेह-मुक्ति तुरीयातीतरूप। जीव घनवासना और मोहद्वारा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्थावर अवस्था प्राप्त करता है, मध्यवासनासे तिर्यक्‌योनि पाता है, तनुवासनासे मनुष्यादि योनिमें जाता है और नष्टवासनासे मोक्ष प्राप्त करता है। जो पुरुष निर्मल, निरहंकार, सुख-दुःखमें सम और क्षमावान् है, वह कैसा भी कर्म करे; उसको किसी प्रकारके कर्मका स्पर्श नहीं होता। अतः वह ब्रह्मरूप होकर ब्रह्ममय कर्म करनेसे शीघ्र ही ब्रह्मरूप हो जाता है। जो कुछ आचरण या कर्म किया जाय, उसे ब्रह्मार्पण कर देना चाहिये। संन्यास अथवा योगयुक्त होकर कर्म करनेसे भी मुक्ति-लाभ किया जा सकता है। जहाँ सम्पूर्ण संकल्प शान्त हो जाते हैं और केवल अचैत्यचिन्मात्रकी सत्ता रहती है वही ब्राह्मीस्थिति है। ऐसा जानकर उसको पानेका प्रयत्न करना ही 'ज्ञान' है और उसमें स्थित होनेका नाम 'योग' है। यदि मनमें यह निश्चय हो जाय कि सब कुछ ब्रह्म ही है, मैं भी ब्रह्म ही हूँ और यह जगत् मेरा ही रूप है, तो इसीका नाम ब्रह्मार्पण है। समस्त संकल्पजालके त्यागको ही 'असंगता' कहते हैं। सम्पूर्ण कलनाओंको भी ईश्वरसे भिन्न न जाननेसे द्वैत-भाव गलित हो जाता है और यही सच्चा 'ईश्वरार्पण' है। कर्तृत्वका अभिमान और फलकी वाञ्छाको त्यागकर कर्म करना चाहिये। जो पुरुष आत्मामें समस्थित, सम्पूर्ण अर्थोंसे निस्पृह, निर्द्वन्द्व सत्तामें स्थित, और जो कुछ प्राप्त हो जाय उसीमें तुष्ट है, वह इस पृथ्वीका भूषण, समुद्रकी तरह अचल और अपने-आपमें तृप्त है।

अपने स्वरूपके प्रमादसे ही इस जीवने संकल्पका शरीर बनाया है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश-में मन, बुद्धि और अहंकारद्वारा जीव प्रकाशित होता है। उनसे मिलकर जिस-जिस प्रकारकी भावनाएँ करता है, उसी प्रकारके भोग भोगता है। वासनाएँ तीन तरह-की हैं—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। सात्त्विकी वासनासे स्वर्ग बनता है, और शेष दोनोंसे नरकादिकी सृष्टि होती है। स्वर्ग और नरक केवल वासनामात्र हैं, इनका कोई अस्तित्व नहीं। एक आत्मा ही सब कालमें ज्यों-का-त्यों स्थित है। यह जगत् तो भास-भ्रमसे भासित होता है अतः आत्मविचारद्वारा स्वप्नकी तरह दिखायी देता है। उस समय वासनाका भी क्षय हो जाता है। तत्त्वबोध होनेपर जीवको वासनारूपी जालसे मुक्ति मिल जाती है। सर्वधर्मपरायण, सर्वज्ञ और सर्वशास्त्रपारंगत होनेपर भी यदि वासना न मिटी तो उसके लिये चारों ओर बन्धन-ही-बन्धन समझना चाहिये। इसीलिये जीवन्मुक्त पुरुष यथाप्राप्तवर्ती, प्रबुद्ध और सुषुप्तकी तरह स्थिर हो वासनाहीन होकर कार्य करते हैं।

वस्तुतः आकाशरूपी चितेरेने आकाशमें आकाशरूपी पुतलियोंकी रचना की है जो आकाशमें ही लीन हो जाती हैं। आकाश आकाशहीको (अपने रूपहीको) देखता है। वही यह सृष्टि है। आकाशरूपी आकाश ही आत्मामें आकाशरूप होकर स्थित है। मनकी पाँच वृत्तियाँ हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा (अभाव) और स्मृति। जब हृदयसे इन पाँचोंकी भलीभाँति निवृत्ति हो जाती है तब चित्तको शान्ति मिलती है। जो प्राणी वासनारूपी विषूचिका रोगका परित्यागकर आत्मस्वभावमें स्थित हुआ पृथ्वीमें विचरता है, वह त्रिलोकीका नाथ है। चित्तमें जो चेतनभाव है, उसके स्फुरणका नाम संसार है और स्फुरण-से रहित जो शुद्ध चिन्मात्र है उसका नाम परमपद है। जो पुरुष एक क्षणके लिये भी अप्रमादी होकर आत्माका वास्तविक रूप जान लेता है, वह संसारकी कलनाका परित्याग करके मुक्त हो जाता है। आत्मा ही सर्वत्र, सब पदार्थोंमें स्थित है। चित्त-वृत्तिके बहिर्मुख होनेपर संसारका सृजन होता है, और पञ्चभूत दृष्टिमें आते हैं, किन्तु जब चित्त-वृत्ति अन्तर्मुख हो जाती है, तो केवल ज्ञानस्वरूप आत्मतत्त्व ही भासने लगता है। अतः संसारके सार आत्मतत्त्वमें सुषुप्तकी तरह स्थिर होकर मौन हो जाओ।

मौन पाँच प्रकारके हैं—पहला वाणीका मौन (कुछ न बोलना), दूसरा समाधि-मौन (आँखोंको मूँद लेना और कुछ न देखना), तीसरा काष्ठ-मौन (हठ करके मन और इन्द्रियोंको वशमें कर लेना), चौथा सुषुप्त मौन (वाणी और इन्द्रियों द्वारा तो चेष्टाएँ करना किन्तु किसी पदार्थको आत्मासे भिन्न न समझना अर्थात् या तो ऐसा समझना कि न मैं हूँ और न यह जगत् है या यह मानना कि जो कुछ है मैं ही हूँ) और पाँचवाँ मौन है आत्मामें ही जागरण करना (ऐसा देखना कि मुझमें न जाग्रत् है, न स्वप्न है और न सुषुप्ति है—इसको तुरीयातीत भी कहते हैं)। ऊपरके तीन मौन तपस्वियोंके और शेष दो ज्ञानियोंके हैं। ज्ञानी न तो इन्द्रियोंको रोकनेकी ही चेष्टा करते हैं और न भोगोंमें विचरनेकी ही। स्वभावतः वे जिस

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दशामें पड़ जाते हैं, उसीमें स्थित रहते हैं। यही परम गति है।

ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र तीनों एकरूप हैं। इनकी क्रियाएँ स्वाभाविक होती हैं। जो कुछ वे करते हैं, उसमें उनका राग नहीं है और न वे द्वेषवश अपने कर्मोंका त्याग ही चाहते हैं। उनकी ये संज्ञाएँ भी अन्य लोगोंकी दृष्टिमें हैं। उनका जाग्रत् बोधमें है, अतएव वे अपनी दृष्टिसे कुछ नहीं करते-धरते। बोधमें दो प्रकारसे जाग्रत् होता है—एक सांख्य-मार्गसे और दूसरा योग-मार्गसे। सांख्य-सत्य तत्त्व और मिथ्याके विवेकको कहते हैं। जैसे यह समझना कि 'मैं तथा मेरा आत्मा चेतन और सत् है, शेष समस्त दृश्य मिथ्या और जड हैं। अज्ञान मुझमें कल्पित है, वस्तुतः मैं अद्वैत आत्मा हूँ।' इसी प्रकार योग-मार्ग प्राणोंको स्थिर करनेको कहते हैं। (जीव जब पुर्यष्टकमें बद्ध होकर शरीर त्यागता और अपनी वासनाके अनुसार लोकमें स्थित हो जाता है, तब उसको प्राण कहते हैं) आकाशरूपी वासनासे ही संसारका पुनः भान होता है, योग-द्वारा प्राण-वायु स्थिर होता है और इससे वासनाका क्षय हो जाता है तथा वासनाका क्षय होते ही मुक्ति मिल जाती है। ज्ञानद्वारा चित्त शान्त होकर सत्पदको प्राप्त करता है। चित्तके उदयका नाम बन्धन और शान्तिका नाम मोक्ष है। यदि चित्त एक क्षणके लिये भी शान्त हो जाय तो आत्मपदकी प्राप्ति हो जायगी। यह सारा ब्रह्माण्ड चित्तमें अणुकी तरह स्थित है, इसलिये उस निर्विकल्प चित्तमें स्थित होकर बाहरसे इन्द्रियोंका संकोचन करना चाहिये।

केवल एक ज्ञान ही ऐसी चीज़ है जिसके पैदा होनेपर मनुष्यको कोई दुःख नहीं रहता और वह सर्वात्मरूपसे स्थित हो जाता है तथा उसका जीवभाव भी नष्ट हो जाता है। ज्ञानका बाह्यरूप यह है—शरीर तथा इन्द्रियोंकी आसक्ति और अभिमान छोड़कर पुत्र, स्त्री और कुटुम्बादि-से होनेवाले दुःखसे अपनेको दुःखी न मानना। नित्य ही समचित्त रहकर इष्ट-अनिष्टकी प्राप्तिमें एकरस रहना। चित्तको परमात्मकी ओर लगाकर स्थिर कर देना और उसको इधर-उधर न जाने देना। एकान्त प्रदेशमें स्थित होकर कुसंगियोंका संग छोड़ देना और ब्रह्मविद्याका अभ्यास करते रहना। इस प्रकारका तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेका उपाय है—प्राप्त हुए भोगोंमें दोष देखना, तथा उन भोगों-की प्राप्तिका विचार न करके बार-बार अपने स्वरूपको पहचाननेका प्रयत्न करना। तत्त्वज्ञानसे जीवका अहंकार मिट जाता है और उसको परमपदकी प्राप्ति होती है।

जिस प्रकारके योगसे सिद्धि प्राप्त होती है, वह यह है—नाभिके नीचे आधारचक्रमें एक कुण्डलिनी शक्ति है। जितनी नाडियाँ हैं, वे सभी कुण्डलिनीसे पैदा होती हैं। आत्माकी उत्पत्ति भी उसीसे जानी जाती है। यह जीव जब कुण्डलिनीमें स्थित होकर पवनको स्थित करता है, तब भीतर जितनी प्राण-वायु है, सब इसके वशमें हो जाती है। यदि संयोगवशात् उसके वशमें नहीं हुई तो आधि-व्याधियाँ[1] पैदा हो जाती हैं। वासना चार प्रकारकी होती है—सुषुप्त, स्वप्न, जाग्रत् और क्षीण। स्थावर योनि-वालोंको सुषुप्त, तिर्यक् योनिवालोंको स्वप्न और जंगम अर्थात् मनुष्य-देवतादि योनिवालोंको जाग्रत् वासना होती है। यह तीनों वासनाएँ अज्ञानियोंकी हैं। ज्ञानियोंको क्षीण-वासना रहती है, क्योंकि उनकी वासनाकी सत्यता नष्ट हो जाती है। वासनाकी निवृत्तिके बाद संसार नहीं रहता। जब कुण्डलिनी शक्तिसे वासनाका स्फुरण होता है, तब पञ्चतन्मात्राके द्वारा संसारका भान होता है।

व्याधि दो प्रकारकी है—एक लघु और दूसरी दीर्घ। शरीरके दुःखको 'लघु' और जन्म-मरणके दुःखको 'दीर्घ' व्याधि कहते हैं। मनुष्य जब भोजन करता है, तब पेटके भीतरकी कुण्डलिनी जो पुर्यष्टकसे मिली हुई है, उदान-पवनको ऊर्ध्वमुख और अपानपवनको अधोमुख स्फुरित करती है। और उनके क्षोभसे अग्नि उठती और हृदय-कमलमें स्थित होती है, जिससे कि किया हुआ भोजन पचता है और नाडियाँ अपने-अपने भागके अनुसार रस लेती हैं। उसी प्रकार जब राग-द्वेषसे चित्त कुण्डलिनी-शक्तिमें क्षुब्ध होता है, तब नाडियाँ अपने-अपने स्थानोंको छोड़ देती हैं और रोग पैदा हो जाते हैं। परन्तु जब मनुष्यका मन निर्वासनिक और शान्त होता है, तब कोई भी रोग नहीं होता।

जब प्राण और अपान कुण्डलिनी शक्तिमें स्थित होते हैं, तब उनको वशमें करके योगी गम्भीर बन जाता है। फिर पवनको स्थित करके कुण्डलिनी सुषुम्नामें प्रवेश करती

१. मानसिक पीडाका नाम 'आधि' है और शारीरिक क्लेश-का नाम 'व्याधि'।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है और ब्रह्मरन्ध्रमें जाकर स्थित हो जाती है। यदि एक मुहूर्ततक वहाँ कुण्डलिनी स्थित हो जाय तो उस योगीको आकाशमें सिद्धोंके दर्शन होते हैं। सुषुम्नाके भीतर जो ब्रह्मरन्ध्र है, उसमें जब पूरकद्वारा कुण्डलिनी शक्ति स्थित होती है, अथवा रेचक प्राण-वायुके प्रयोगसे द्वादश अंगुल-पर्यन्त मुखसे बाहर, भीतर या ऊपर एक ही बार स्थित होता है, तब आकाशमें सिद्धोंका दर्शन होता है। फिर धीरे-धीरे जब चिर कालतक प्राण स्थिर रहने लगता है, तब वह अन्य पुरियों और दिशाओंमें भी जा सकता है। उदरमें जो मांसमय कमल है, उसके मध्यमें हृदय-कमल है, जिसमें सूर्य तथा चन्द्रमाकी स्थिति है। इस कमलके भीतर दो कमल और हैं, एक ऊपर और दूसरा नीचे। ऊपरवालेमें सूर्य और नीचेवालेमें चन्द्रमाकी स्थिति है। इन दोनोंके बीचमें कुण्डलिनी लक्ष्मी स्थित हैं, जिनका रूप अत्यन्त उज्ज्वल है। उन्हींसे प्रणव शब्द निकलता है। यह जो ऊपरका आकाश और नीचेकी पृथ्वी है, वह भी दो कमलके ही रूपकी हैं। इनके मध्यमें स्पन्दरूपिणी कुण्डलिनी शक्तिका निवास है, जो जीव-कला पुर्यष्टकका अनुभवरूप, सूर्यके समान प्रकाशवाली तथा हृदयरूपी कमलकी भ्रमरी है। वही सबका अधिष्ठान और आदि-शक्ति है।

हृदयाकाशमें जो कुण्डलिनी शक्ति है, उसमेंसे स्वभावतः वायु निकलती रहती है। वह अत्यन्त कोमल और मृदुरूप है। उस वायुके दो रूप हैं—एक प्राण और दूसरा अपान। जब इन दोनोंका परस्पर सम्मिलन होता है, तो ये स्फुरणरूप हो जाते हैं। उनके संघर्षसे आकाशमें एक अग्नि प्रकट होता है और जिससे भीतर चारों ओर प्रकाश फैल जाता है। वह सुवर्णमयी ज्योति हृदय-कमल-के भ्रमरके समान है। वह प्रकाशमय और ज्ञानरूप है। उसके द्वारा योगियोंकी चित्त-वृत्तियाँ एकत्रित हो जाती हैं और इससे उन्हें लक्ष योजनपर्यन्तका पदार्थ भी स्पष्ट-रूपसे दिखायी देने लगता है। वह अग्नि हृदयरूपी तालके शीतलतारूप जलको पचाता है। उससे जो अपान-रूप शीतल वायु निकलता है, उसका नाम 'चन्द्रमा' है, और जो प्राणरूप उष्ण पवन निकलता है, उसे 'सूर्य' कहते हैं। ये दोनों कार्य-कारणरूप एवं तमःप्रकाशस्वरूप हैं। इनके मध्यमें जो सन्धि है, वही आत्मस्वरूप है। जब निर्मल, चेतन तथा सूर्यरूप आत्माका दर्शन होता है तब संसारके दुःखरूपी अन्धकारका नाश हो जाता है। केवल चेतन-पदकी प्राप्तिसे द्वैतरहित निर्वाण-पद प्राप्त होता है। यदि अपान प्राणोंके स्थानमें स्थित हो और प्राणरूप होकर उदय न हो तो वह शान्तभाव है। और यदि प्राणरूप होकर मुखसे द्वादश अंगुलपर्यन्त बाहर निकलकर स्थित हो तो जबतक वह अपानभावको प्राप्त करके फिर उदय न हो तबतक मध्यभावमें स्थित रहता है।

उत्तरायणमार्ग योगियोंका है। उससे वे क्रमसे मुक्त होते हैं। तथा दक्षिणायनमार्ग कर्म करनेवालोंका है, जिससे वे पुनः संसारके भागी बनते हैं। इन दोनों मार्गोंके मध्यमें जो सन्धि है, उसमें स्थित होनेसे परमोत्तम पदकी प्राप्ति होती है। निर्वासनिक होना ही मुक्ति है। सदा ज्ञेयकी भावना करनेवालेको निर्वासनिक कहते हैं। ज्ञेय आत्मस्वरूपका नाम है। उसको जानकर फिर किसी वस्तुकी अभिलाषा नहीं रह जाती। आत्मज्ञानके बिना किसी अन्य वस्तुसे शान्तिकी उपलब्धि नहीं होती है। जिस वस्तुका नाम चित्त-प्राण और देह है उसका परित्याग कर दो। उसका त्याग करते ही अमरता मिल जायगी तथा जरा और मृत्युका थोड़ा भी भय नहीं रहेगा। चित्तका त्याग ही बड़ा भारी त्याग है। इसी त्यागसे मनुष्य सर्वात्मा होकर सारा ब्रह्माण्ड अपनेमें ही देखता है। चित्तका दूसरा नाम 'चिज्जडग्रन्थि'भी है, जब यह ग्रन्थि खुल जाती है, तब आत्मस्वरूपमें ही वासुदेवका दर्शन होता है।

संसारका बीज चित्त और चित्तका बीज अहङ्कार है। अहङ्कारसे ही जीव संसारी बना हुआ है। अतः जब इसका त्याग होगा तभी आत्मपदकी प्राप्ति होगी। संसारके राग-द्वेषसे रहित, शान्तरूप तथा जीवन्मुक्त होकर विचरनेपर कोई उपाधि नहीं लगती। आत्मा सत्तामात्र है और संसार भी सन्मात्र आत्मा ही है, अतः जिसने इस जगत्‌को अपना आप समझा है, उसको दुःख कहाँ? आत्मा एकरस है, वह कभी परिणामको प्राप्त नहीं होता। वह सत्-असत्‌से परे है, यह संवेदन आत्माका चमत्कारमात्र है। जो कुछ दृश्य है उसको आत्माने नहीं, प्रत्युत चित्तने रचा है। आत्मा विश्वके आदि, मध्य और अन्त तीनोंमें है। उसके अतिरिक्त जो कुछ प्रतीत होता है, वह सब भ्रममात्र है। वह चिन्मात्र तथा ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंसे परे है। आत्मा सन्मात्र है, वही ब्रह्म है और वही सारा जगत् है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इस प्रकार जो सम्पूर्ण प्रपञ्चको अपनेसे अभिन्न जानता है उसे किसी प्रकारका दुःख नहीं रह सकता। ऐसा बोध होनेपर उसे पूर्णता प्राप्त हो जायगी। फिर तो उसे सब कुछ अपना ही स्वरूप प्रतीत होगा। वह उस अनिर्वाच्य पदको प्राप्त होगा जहाँ मन और इन्द्रियोंकी गति नहीं है तथा मन और इन्द्रियोंसहित सारा प्रपञ्च भी उसे आत्मासे भिन्न प्रतीत न होगा। इस प्रकार उसके लिये सभी वस्तुएँ समान हो जायँगी।

आत्मा अप्रमेय है, अतएव प्रमाणोंद्वारा वह सिद्ध नहीं किया जा सकता। वह निष्क्रिय, अजन्मा और सबका आदि है। वह नानारूप होते हुए भी अकेला है तथा द्वैतरूप होकर भी अद्वैत है। यदि वेदके 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इस सार वाक्यपर विश्वास हो जाय, तो अवश्य ही उसका ज्ञान हो जायेगा और सारे दुःख भी मिट जायेंगे।

ज्ञानका ही दूसरा नाम आत्यन्तिक प्रलय है। ज्ञान प्राप्त होनेपर इस जगत्का सर्वथा अभाव सिद्ध होता है, फिर तो केवल एकमात्र अखण्ड आत्मा ही रह जाता है। इस प्रकार जब आत्मामें सृष्टिकी भ्रान्ति नहीं रहती तो जगत्के सुखदुःख भी मिट जाते हैं। अभिलाषाएँ जो दुःखका कारण हैं, वे भी मिट जाती हैं। इसीको मुनीश्वर लोग 'निर्वाण' कहते हैं। अहङ्कारका उत्थान ही बन्धन है, और उसका निर्वाण ही मोक्ष है। इसलिये उसका परित्याग करके आत्माका दर्शन करना चाहिये।

मनुष्यको महाकर्ता, महाभोक्ता और महात्यागी होना चाहिये। जो निरभिमान, निःशंक और सुखदुःखसे रहित होकर सब प्रकारके कर्म करता हुआ भी अपनेको सदा अकर्ता मानता है, जिसको अनिच्छासे भी प्राप्त वस्तुके भोग और अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिकी अभिलाषा नहीं है, वह महाकर्ता है। जो प्राप्त हुई वस्तुका राग-द्वेषसे रहित होकर उपभोग करता है, दुःखमें द्वेष और सुखमें हर्ष नहीं मानता, मान, अहंकार और चिन्तनसे दूर रहता है जिसको षट्रस समान हैं, जिसे मृत्युसे भय एवं जीवन-से प्रेम नहीं है और जो उदय-अस्तमें तथा शत्रु-मित्रमें समबुद्धि रखता है वह महाभोक्ता है। इसी प्रकार जो प्रारब्धवश सामने आये हुए सब प्रकारके कर्मोंको अहंकारसे रहित होकर करता है तथा समचित्त, इन्द्रियजित एवं वैराग्यवान् है उसे महात्यागी कहते हैं।

उपर्युक्त गुणोंसे विभूषित पुरुषको केवल 'अहं ब्रह्मास्मि' या 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'के श्रवणसे ही आत्मपदकी प्राप्ति हो जाती है और वह फिर गर्भमें नहीं आता। स्वरूप-दृष्टिसे सत्-असत् दोनों तुल्य हैं। आत्मा शान्तरूप है। शब्द और अर्थ संवेदनमें हैं। अतः जो चिन्मात्र है, जिसमें अहंका उत्थान नहीं है, जो निर्वाणपद है। जहाँ एक और द्वैतकी बात भी नहीं और जो अपने आपमें भी स्थित है, उसमें कलनारूपी धूल कहाँसे लग सकती है? आत्मरूपी सूर्यको अहंकाररूपी बादलने छिपा लिया है, अतः उसकी निवृत्ति होनेपर ही उसका प्रकाश होगा। उसके प्रकाशसे कामनारूपी अन्धकारका नाश हो जायगा। जो दृश्य और अनात्म विषयकी ओरसे मन खींचकर चित्तको अपने आपमें स्थित कर देता है, वह स्वयं अपना मित्र है। आत्मा अनुस्यूतरूपसे सबमें निवास करता है। अतएव जो निर्विकल्परूपसे अपने स्वरूपका दर्शन करते हैं उनको उत्थान-कालमें भी उसका दर्शन होता है। आत्मामें जब स्पन्दन-शक्तिका स्फुरण होता है, तभी नाना प्रकारके जगत् भासते हैं, परन्तु जब वह निस्पन्द हो जाता है, तब अद्वैत-रूप हो जाता है।

आत्माको निस्पन्द करनेके लिये सात भूमिकाएँ (चित्तके ठहरानेके स्थान) हैं। पहली भूमिका संतोंका सहवास और शास्त्रादिका अवलोकन है। दूसरी संतों और शास्त्रोंकी वाणी—'मैं कौन हूँ, संसार क्या है?' पर विचार है। तीसरी 'मैं आत्मा हूँ, संसार मिथ्या है' पर विश्वास और दृढ़ता है। चौथी आत्माका साक्षात्कार है इससे वासनाका अभाव और संसार स्वप्नवत् हो जाता है। पाँचवीं परमानन्दकी प्राप्ति और उसमें बलपूर्वक स्थिति है। छठी तुरीयपदमें प्रवेश और सातवीं तुरीयातीतपद (परमनिर्वाण) पर पहुँच जाना है। प्रथमकी तीन भूमिकाएँ जाग्रद्रूपा हैं—जिनमें मनुष्य श्रवण, मनन और निदिध्यासन करता है; परन्तु संसारकी सत्ता उसके मनमें बनी रहती है। चतुर्थ भूमिका स्वप्नावस्थानरूप है। उसमें संसारकी प्रतीति तो होती है, किन्तु उसका सत्यत्व नहीं रहता। पञ्चम सुषुप्तिरूपा है। छठी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्तिकी साक्षीरूपा है, उसमें केवल ब्रह्म ही प्रकाशित होता है। और सातवीं परम निर्वाण है, जिसमें चित्तका सर्वथा लय हो जाता है।

राग-द्वेष मनमें ही होते हैं; अतः जब वह आत्मपदमें

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्थित हो जाता है तब स्वच्छ हो जाता है। जीवके तीन स्वरूप हैं—एक शुद्धात्मा चिदानन्द ब्रह्म, दूसरा आतिवाहिक देह और तीसरा आधिभौतिक शरीर। ज्ञान होनेपर स्थूल और सूक्ष्म शरीर तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु पहला जो उसका पारमार्थिक स्वरूप है, शेष रह जाता है। जीवन्मुक्तोंकी स्थिति इस शुद्ध स्वरूपमें ही होती है।

इस संसारमें साररूप देह है, देहमें इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंमें प्राण, प्राणोंमें मन, मनमें बुद्धि, बुद्धिमें अहङ्कार, अहंकारमें जीव, जीवमें वासनायुक्त चेतना और उसमें चित्तरहित चेतना साररूप है। चेतनमें संकल्प-विकल्पोंकी स्थिति नहीं है। वह शुद्ध, निर्मल तथा चिन्मात्र है। जब उसमें स्फुरण होता है, तब उसके दो रूप होते हैं, एक विद्या और दूसरा अविद्या। ईश्वर विद्यारूप है और जीव अविद्यारूप। विद्या भी ईश्वरवाद और अनीश्वरवादभेदसे दो प्रकारकी है। जो ईश्वरवादी हैं उनको आत्मपदकी शीघ्र प्राप्ति हो जाती है, परन्तु जो अनीश्वरवादी हैं, उनको जब ईश्वरप्राप्तिकी भावना होती है, तब वे शास्त्र तथा सद्गुरुद्वारा उसे प्राप्त करते हैं।

साधकोंमें कोई प्रवृत्तिमार्गी हैं और कोई निवृत्तिमार्गी। प्रवृत्तिमार्गी वे हैं जो शास्त्राज्ञानुसार अच्छी वस्तुओंका ग्रहण तथा कामनापूर्तिके लिये यज्ञादि शुभकर्म करते रहते हैं। निवृत्तिमार्गी निष्काम होकर शुभकर्मद्वारा अन्तःकरण शुद्ध करते हैं। वे विरक्त होते हैं और फलोंकी इच्छा न करके केवल आत्मपद चाहते हैं। उनमें शम-दम आदि ज्ञानके साधन रहते हैं। उनकी वाणी मर्यादित होती है। वे सत्संग, सच्छास्त्र और ब्रह्मविद्याका अभ्यास करते रहते हैं तथा सब प्राणियोंके साथ उनकी मित्रता होती है।

ज्ञान-प्राप्तिके लिये दैवीसम्पत्तिका उपार्जन अत्यन्त आवश्यक है। जिज्ञासुमें त्यागवृत्तिकी प्रधानता होनी चाहिये। वह अनिच्छासे प्राप्त हुए पदार्थका भी त्याग कर देता है। परस्त्रीको माताके समान, परधनको पत्थरके समान और सम्पूर्ण जीवोंको अपने मित्रके समान समझता है। सुख-दुःखसे सदा असंग रहता है। असंग दो तरहके होते हैं—एक सामान्य और दूसरे विशेष। सामान्य असंग जो कुछ करता है, उसे ईश्वरकृत मानता है। उसमें उसको कर्तृत्वका अभिमान नहीं रहता। विशेष असंग अपनी क्रियाको कुछ भी नहीं मानता। वह समझता है कि 'न मैं कुछ करता हूँ और न कराता हूँ।' वह केवल आकाशकी आत्मामें स्थित रहता है।

जो पुरुष विषयी हैं, उनको ज्ञान प्राप्त होना बड़ा कठिन है। जन्म-मरणका कारण केवल वासना है। मरनेके समय जिस तरहकी वासना मनमें होता है, उसीके अनुसार जीव पुनः शरीर धारण करता है और स्वरूपके प्रमादसे अनेक तरहके कष्ट भोगता है।

धर्मात्मा भी दो प्रकारके हैं—एक सकाम और दूसरे निष्काम। जो कामनारूपी पापसहित धर्म करते हैं वे स्वर्ग भोगकर फिर जन्म-मरणमें आते हैं परन्तु जो निष्कामभावसे ईश्वरार्पण करके धर्माचरण करते हैं, उन्हें ज्ञानद्वारा मोक्ष प्राप्त होता है।

तत्त्वका विस्मरण, पदार्थोंकी भावना और असत् तथा नाशवान् पदार्थोंको सत् जानना जाग्रत् है। पदार्थोंमें भाव-अभावकी सत्यता और जगत्‌को मिथ्या भावनामात्र जानना स्वप्न है। जाग्रत् और स्वप्नका जिस स्थितिमें लय हो जाय, वह सुषुप्ति है। ज्ञानद्वारा भेदाभेदकी शान्ति और उक्त तीनों अवस्थाओंका जब अभाव हो जाय, तो वह तुरीया है और निर्वाणकी प्राप्ति तुरीयातीतपद है।

पहले जिन सात भूमिकाओंका जिक्र आया है, उनमेंसे तीसरी भूमिकाकी प्राप्तितक और कामनाएँ तो मिट जाती हैं, किन्तु आत्मपदकी कामना रह जाती है। अतः उस अवस्थामें यदि देहान्त हो जाय तो पुनर्जन्ममें प्राणी ज्ञान प्राप्त करके उसकी प्राप्ति कर लेता है। यदि चतुर्थ भूमिकामें पहुँचकर शरीरान्त हो तो फिर कभी जन्म नहीं होता क्योंकि उसको आत्मपदकी प्राप्ति हो जानेसे और किसी पदकी अभिलाषा नहीं रह जाती।

तृष्णाको नष्ट करनेका सुगम उपाय मनमें निज अर्थकी भावना करना है। 'निज अर्थके तीन रूप हैं, पहला यह कि 'पाञ्चभौतिक शरीरसे मेरा रूप विलक्षण है', दूसरा यह कि 'यह शरीर जड और तमरूप है, परन्तु मेरा वास्तविक स्वरूप आदित्यवर्णका है' तथा तीसरा यह है कि 'न मैं हूँ और न यह जगत् ही है।'

जो पुरुष गृहस्थ है परन्तु अहंकारसे रहित है, उसको वनवासी तपस्वी ही समझना चाहिये। क्योंकि अहंकारका त्याग कर देनेसे पुरुष आत्मदर्शी हो जाता है। अहंकारका त्याग महात्याग है। 'अहम्' से ही 'मम' होता है और

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इस संसारका नाम ही 'अहं मम' है। इसलिये अहंका नाश हो जानेसे ही इस 'मम' रूप संसारका नाश हो जाता है।

इस पाञ्चभौतिक शरीरमें प्राण स्थित है, प्राणमें चित्त स्थित है और चित्तमें अपना-अपना संसार है। मृत्युके समय वासना और प्राणवायुसे गठित जो यह लिंग-शरीर है, वह आकाशमें उड़ता है। उस समय उसमें विश्वका सूक्ष्मरूपसे भान होता है। आकाशके शून्य और वायुके संसर्गके समान प्राणोंसे संश्लिष्ट आत्मा ही जीव है। वह अपनी वासनाके अनुसार अपनेमें ही सारे विश्वको देखता है। परन्तु यदि वह देश, काल तथा वस्तुके परिच्छेदसे रहित हो जाय तो विश्वको न देखकर निर्विकल्प ब्रह्मका साक्षात्कार कर ले सकता है। वह जो भ्रान्तिवश अपनेको कुछ मानने लगा है इसीसे उसका यह लिंगशरीर हुआ है। यदि वह जड अर्थात् दृश्य संबंधसे रहित हो जाय तो वही चिन्मात्र परब्रह्म है। इसका नाम आत्मसाक्षात्कार है।

चैत्यका अधिष्ठान चिदाकाश, चैत्यसे रहित निर्विकल्प, शुद्ध परमात्मतत्त्व है और चैत्यमें जिस संवित्का स्फुरण हुआ है उसीका नाम जीव है। वही समस्त सूक्ष्म-स्थूल पदार्थोंका मूल बीज है। उसका नाम वैराज है और उसका शरीर मनोमय है। उसका स्फुरण परमात्मतत्त्वसे ही हुआ है। परन्तु इसके कारण परमात्माने किसी अवस्थाको प्राप्त नहीं किया। वह अपनेको सर्वात्मा समझता है। उसका नाम भी विराट है। वह सबको उत्पन्न करता है, परन्तु परमात्मा ही सबका अधिष्ठान है और सभी प्राणियोंके भीतर या बाहर पूर्ण ज्ञानरूपसे विद्यमान है।

जिसने शास्त्रोंद्वारा आत्माके विशेषणोंको सुना है कि वह नित्य, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप और तीनों शरीरोंसे भिन्न है और इसीके अनुसार वह अपनेको मानता भी है, परन्तु फिर भी विषयोंको भोगनेकी तृष्णा रखता है, वह 'अज्ञबन्धु' है। वह अपनी तृष्णाके कारण कष्ट भोगता है, परन्तु जो गुरु और शास्त्रोंद्वारा सुने हुए आत्माके विषयोंमें मन लगाकर स्थित हो गया है, वह 'ज्ञाननिष्ठ' है। इससे वह उच्चपदको प्राप्त कर लेता है।

चैतन्य-सत्ताका निवास सम्पूर्ण शरीरमें है, परन्तु उसका भास हृदयमें ही मिलता है। हृदयमें जो त्रिकोण-रूप निर्मल चक्र है, वहींपर 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्तिका उत्थान होता है। वहींसे वृत्तियाँ फैलकर पाँच इन्द्रियोंके छिद्रोंसे बाहर निकलती हैं और विषयोंको ग्रहण करती हैं। वहीं इष्टानिष्टकी प्राप्ति-अप्राप्तिसे राग-द्वेषादिकी उत्पत्ति होती है और जीव प्रमादवश कष्ट भोगता है।

संवेदन, भावना, वासना और कलना ये चारों अनर्थके मूल कारण हैं, अतएव इनकी निवृत्तिसे ही कल्याण होता है।

इस लोक और परलोकके दो सुख हैं। अज्ञानी जीव अज्ञानवशात् केवल इस लोकके सुखोंको ही प्राप्त करनेका उद्यम करते हैं, परन्तु उनको मिलता है दुःख, क्योंकि उनकी तृष्णा नहीं मिटती। ज्ञानी जीव इस लोकके सम्पूर्ण पदार्थोंको तुच्छ मानकर परलोकके लिये ही उद्यम करते हैं, जिससे उनकी शोभा इस लोकमें भी बढ़ती है और परलोक भी उनके लिये सुखका केन्द्र बन जाता है।

बोध दो तरहके हैं—एक चित्त-बोध, दूसरा ब्रह्मबोध। चित्त-बोध जगत् है और ब्रह्मबोध मोक्ष है। इसीको इस तरह भी कह सकते हैं कि चित्त-बोध अहंताका नाम है और ब्रह्मबोध चित्तके अभावका। जो वृत्ति स्वरूपकी ओर स्फुरित होती है वह मोक्षरूप, और जो दृश्यकी ओर जाती है वह बन्धरूप है। अपनेको मनुष्य जानना भी अधोगतिका कारण होता है। क्योंकि इसीके बाद प्रमादकी उत्पत्ति होती है।

अपनी इच्छाओंको वशमें कर लेनेका नाम परम समाधि है। जो निरिच्छ हैं, उनके लिये भीतर या बाहर सब जगह शान्ति-ही-शान्ति है। उनके लिये कोई कर्तव्य भी शेष नहीं रह जाता है। वे जो कुछ चेष्टाएँ करते हैं, प्रारब्धानुसार और रागद्वेषसे रहित होकर ही करते हैं।

आवरण दो तरहके होते हैं—एक 'असत्त्वापादक' और दूसरा 'अभावनापादक'। असत्त्वापादक आवरण अज्ञानीको होता है और अभावनापादक आवरण जिज्ञासुको। परन्तु ज्ञानीको कोई आवरण नहीं रहता। वह निरावरण, शान्तरूप, आकाशवत् निर्मल और निरावलम्ब हो जाता है।

निर्वाण, निरहंकारिता, वासनाका त्याग और परम उपशम ये चारों भूमिकाएँ परम शान्तिके केन्द्र हैं। इनमें स्थित हो जानेपर द्रष्टा, दृश्य और दर्शनरूप त्रिपुटीका

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अभाव हो जाता है। केवल द्रष्टा रह जाता है। ज्ञानी परमार्थतत्त्वके चिन्तनमें जागते हैं। परन्तु संसारकी दृष्टिमें वे सोते-से प्रतीत होते हैं।

जगत्‌के भीतर या बाहर जो कुछ प्रतीत होता है, वह मन है। इसलिये मनको स्थिर कर लेनेपर जगत्‌की सत्ता नहीं रहती।

वैराग्य दो प्रकारसे होता है। एक कष्ट आ पड़नेसे और दूसरे जगत्‌के पदार्थोंसे निष्काम एवं अनासक्त हो जानेसे।

वैराग्यरूपी बीज जब हृदयकी भूमिमें पड़ता है, तब बड़े बड़े प्रयत्नोंसे उसकी रक्षा हो पाती है और उससे अंकुर निकल पाता है। फिर जब बड़ी सावधानी और सतर्कतासे उसकी सेवा की जाती है तब कहीं जाकर वह विशाल वृक्ष होता है और फल देता है। उस महावृक्षके फलोंको प्राप्तकर जो सुख मिलता है, वह अवर्णनीय है। उस फलको खानेवाले शान्त, निर्मल, अविनाशी परब्रह्मको प्राप्ति कर लेते हैं।

—मास्टर श्रीकन्हैयालालजी

क्या जीवन दुःखान्त है ?

क्या जीवन दुःखान्त है ? नित्यप्रति सुखके निमित्त प्रयत्न करते जाते हैं फिर भी अन्तरात्माकी तृप्ति नहीं होती ! इसके मानी ही यही हैं कि असल सुख पूर्ण सुख है और वह अभी आगे है। उसके लिये अभी और प्रयत्न करना है। वह हमको देर-सबेर प्राप्त होगा ही यदि हम सच्ची लगनसे अपना कर्तव्य करते रहे—अपने मार्गपर डटे रहे। और यह निश्चित ही है कि हम अपनी सामर्थ्यके अनुसार अपना कर्तव्य सदा कर सकते हैं। हमसे उतना बोझ ले जानेको कोई नहीं कहता जितना हम नहीं ले जा सकते। हाँ, इतना अवश्य है कि कम सामर्थ्यके अनुसार कम बोझा ले जानेपर हमें अधिक समय लगेगा पर आखिर एक दिन तो अपने भारसे उऋण हो ही जायँगे जिसे हमने स्वयं ही अपनी गलतीसे मोल लिया है। उस अपनी स्वेच्छासे की हुई गलतीका प्रायश्चित्त करना ही पड़ेगा। इस प्रकार प्रायश्चित्त करनेमें—बोझा ले जानेमें भी एक प्रकारका सन्तोष होता है क्योंकि हम जानते हैं कि हम जान-बूझकर की हुई गलतीका ही फल भोग रहे हैं।

अहा ! कितना आनन्द है कि पूर्ण शान्ति, पूर्ण आनन्द, पूर्ण शक्ति, पूर्ण स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार (birth-right) है। हमसे उसे कोई छीन नहीं सकता। हम सब कुछ खो सकते हैं पर उसे नहीं। वह एक-न-एक दिन हमारा होगा ही। बस, देर इतनी ही है कि उसको प्राप्त करनेके मार्गमें हमारा पैरभर पड़ जाय अर्थात् हम अपने विवेकसे काम लेना शुरू कर दें। हमारा विवेक ही हमारा पथ-प्रदर्शक है। इस मार्गमें निष्फलता है ही नहीं। जितना हमने प्रयत्न किया उतना हमको अवश्य ही मिलेगा और वह हमारे कार्यमें लगे रहनेसे उत्तरोत्तर बढ़ता ही जायगा जबतक हमने पूर्णत्वको प्राप्त नहीं कर लिया।

ऐ मनुष्य ! उठ ! उठ ! तेरे लिये यह खुशखबरी है ! असीम आनन्द, असीम शान्ति, असीम शक्ति तेरी है ! तेरे लिये दुःखका कोई कारण नहीं ! शोकका कोई स्थान नहीं। तू निश्चय ही अमृतका पुत्र है ! मृत्यु तुझे छू भी नहीं सकती। विघ्न-बाधाएँ तुझे सता नहीं सकतीं ! निराशा तुझे विचलित नहीं कर सकती ! तू परम शान्ति है ! परम आनन्द है, परम कल्याण है ! उठ ! उठ ! उठ ! प्यारे, उठ ! उठ !!

—ब्रह्मानन्द

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भक्त तहसीलदारजी

[कहानी]

(लेखक–श्रीसबनाराइन चित्रगुप्त)

इटावा जिलाकी औरइया नामक तहसीलमें लाला जयनारायणजी तहसीलदार थे। इसी तहसीलसे पेंशन लेकर आपने श्रीवृन्दावनका निवास ग्रहण किया था। खेद है कि विगत ११ मई सन् १९३३ ई० के दिन आपने, असली वृन्दावन यानी गोलोककी यात्रा की और इस पीड़ामय संसारको त्याग दिया।

संवत् १९५६ वि० में एक भयानक अकाल पड़ा था। पत्ते और छालको खाकर पब्लिक अपनी रक्षा कर रही थी। एक दिनकी बात है। जमना-पार-के पाँच सौ आदमियोंका एक दल तहसीलदारके पास औरइयाके मुक़ामपर जा पहुँचा। तहसीलदारने देखा कि लगातार कई दिनोंकी क्षुधाके कारण, स्त्री-पुरुष और बालक-बालिकाएँ सभी अर्ध-मूर्च्छित अवस्थामें हैं।

दयालु भगवान्‌की याद करनेसे भक्तके हृदयमें दया निवास करने लगती है। 'याद' को पलटनेसे 'दया' होती है। जिसमें दया देखो, उसीका नाम, भक्तसमाज या रामदलमें लिख दो, और जिसमें दया नहीं, उसको अभक्तसमाज या रावणदलमें लिख दो।

अकालपीड़ितोंकी अवस्था देखकर भक्त तहसीलदारने खज़ांचीको आर्डर दे दिया कि ५०० व्यक्तियोंको ५००) रुपये सरकारी खज़ानेसे निकालकर दे दो। एक-एक रुपया पाकर वह दुखी दल, जी खोलकर तहसीलदारकी सराहना करता हुआ चला गया। जबसे अकाल पड़ा है, तहसीलदार, अपने लिये अपनी तनख्वाहमेंसे केवल दस रुपये मासिक रख लेते थे और बाक़ीका सब रुपया, दीन-दुखियोंकी सेवामें लगा देते थे।

पेशकार था–चंट! उसने देखा कि अब वह समय आ गया कि जब कि तहसीलदारको बरखास्त कराकर, तहसीलदारीके पदपर मैं बैठ सकता हूँ। रातकी गाड़ीसे इटावा जा पहुँचा। कलक्टरसे चुपकेसे कहा कि 'तहसीलदार औरइया, सरकारी खज़ानेको, अपने खज़ानेकी तरह लुटा रहा है। जाँच की जानी चाहिये।'

× × × ×

सोमवारके नौ बजे थे। तहसीलदार स्नान करके पूजाके कमरेमें गये। वह अपने 'गुपालजी' को स्नान करा रहे थे तबतक 'कार खास' के चपरासीने आकर कहा—

चपरासी–हुज़ूर! गज़ब हो गया!

तहसीलदार–क्या हुआ?

चपरासी–कल इतवारकी शामको आपने जो ५००) रुपये गरीबोंमें बँटवा दिये थे, उसकी शिकायत किसीने जाकर साहबसे कर दी!

तहसीलदार–साहब आये हैं क्या?

चपरासी–कलक्टर साहब, खज़ानेके पास, कुर्सी डलवाकर बैठे हैं और आपको अभी बुला रहे हैं।

तहसीलदार–अभी नौ बजे हैं। कचहरीका टाइम दस बजे है। बैठा रहने दो—एक घंटा? तबतक मैं पूजन कर लूँ!

चपरासी–आप क़ानूनके कारण साहबको एक घंटा बैठाल सकते हैं ज़रूर! लेकिन इससे वह और भी ज़्यादा नाराज़ हो जायगा!

तहसीलदार–नाराज़ी 'गुपालजी' की बुरी है! साहबकी नाराज़गी कोई चीज़ नहीं!

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चपरासी—लेकिन वह अफ़सर है !

तहसीलदार—गुपालजीसे बढ़कर ?

चपरासी—अच्छा, अभी एक घंटेका समय है। आप किसी सेठके यहाँसे पाँच सौ रुपये मँगवा लीजिये और खज़ानेमें जमा करा दीजिये।

तहसीलदार—गुपालजीसे बढ़कर कौन सेठ है ?

'नरसीकी हुँडी द्वारिकामें, साँवरा सकरा गया'

चपरासी—सड़कपर सेठ छंगामलसे मेरा सामना हो गया था—अभी। मैंने कहा था कि अगर ज़रूरत पड़े तो आप मदद कर देना। सेठजीने कहा कि 'तहसीलदार साहबका हुक्म होना चाहिये, पाँच सौ क्या चीज़, पाँच हज़ार खज़ानेमें जमा कर दूँगा !'

तहसीलदार—सेठ छंगामलकी दयासे बढ़कर हमारे सेठ 'गुपालजी' में दया है। उसकी दयाका क्या ठिकाना कि जो भक्त सुदामाके लिये तीनों लोकके खज़ानेको लुटा देनेके लिये व्याकुल हो गया था ! मैं किसीसे कुछ नहीं माँगूँगा—

'मोर कहाइ करइ नर आसा।
कहहु तो कहा मोर बिसवासा ?'

तबतक खज़ांची भी आ पहुँचा। उसने कहा—'साहब कहता है कि खज़ाना खोलो, मैं जाँच करूँगा !'

तहसीलदारने खज़ांचीके सामने चाबी फेंककर कहा—'जाओ और जाँच करा दो !'

खज़ांची—मगर खज़ाना कम है। पूरे पाँच सौ कम हैं !

तहसीलदार—एक पैसा कम नहीं है। खज़ाना पूरा है। तुम जाँच कराओ—तबतक मैं भी आता हूँ।

चाबी लेकर खज़ांची चला गया। चपरासी भी चला गया। भक्तने भगवान्‌की पूजा शुरू की। पूजन करते समय यह भी न कहा कि खज़ानेको पूरा कर दीजिये। व्यापक भगवान्‌से कुछ कहो या न कहो, वह खुद ही सब जानते हैं।

पूजा करके भोग लगाया और भोजन किया। पाँच मिनट आराम किया, फिर कपड़े पहिनकर तहसीलदार तहसीलमें जा पहुँचे। खज़ानेके पास कलक्टर साहब बैठे थे और काग़ज़पर गिने हुए रुपयोंको लिख रहे थे। खज़ांची गिन रहा था। तहसीलदार जिस समय पहुँचे जाँच खतम हो चुकी थी।

साहब—वेल् तहसीलदार, अम टुमारे सामने शर्मिन्दा है। खज़ाना पूरा है।

तहसीलदार—'राम राजा, राम परजा, राम साहूकार है।'

साहब—वेल् पेशकार ! टुमने अमसे तहसीलदार साहेबका झूठा शिकायत क्यूँ किया ! क्यूँ अमको परेशान किया। यू मेन् डिसमिस !

तहसीलदार—नहीं हुज़ूर ! पेशकार साहबकी शिकायत बिल्कुल सच थी। कल मैंने ५००) रुपये तकसीम कर दिये थे !

साहब—कुछ हो। अमको टो खज़ाना पूरा मिला।

× × × ×

तहसीलदार—अब मैं अपनी पेंशन चाहता हूँ।

कलक्टर—नहीं, तहसीलदार साहेब ! आपको अम डिपटीसाहब बनाना माँगटा है। पेशकारको बरखास करना माँगटा है।

तहसीलदार—नहीं हुज़ूर ! पेशकारको क्षमा कीजिये, नहीं तो मुझे बड़ा भारी सदमा होगा।

कलक्टर—अच्छा, अच्छा ! पेशकारको माफ़ किया।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

साहब चला गया। पाँच महीनेतक तहसीलदारने और भी नौकरी की। इसके बाद पेंशन लेकर वे श्रीवृन्दावनको चले गये थे। चलते समय आपने तहसीलदारीका चार्ज उसी पेशकारको दिया था और कहा था—'जिस कुरसीके लिये आपने मेरी शिकायत की थी वही कुरसी मैं अपने हाथों आपको देता हूँ।'

सुनते हैं कि उसी रोजसे पेशकार साहबकी सारी कुटिलता दूर हो गयी और ईश्वरमें उनका विश्वास दृढ़ हो गया। चलते-चलते वह पेशकारको भी भक्त बना गये!

पहेली

(लेखक—श्रीनोखेरामजी शर्मा बी० ए०, काव्यतीर्थ)

(१)

अन्धेने कहा,—हाय! मुझे भगवान्‌ने अन्धा बना दिया, नहीं तो मैं संसारका कितना उपकार करता! अपने सुखकी तनिक भी परवा न करके सदा दीन-दुखियोंकी सेवामें लगा रहता।

लँगड़ेने कहा,—मैं क्या करूँ! यदि मेरे पैर दुरुस्त होते तो दौड़-दौड़कर मैं अच्छे-अच्छे कार्य सम्पन्न करता, जीवोंकी भलाई करता। पर करूँ क्या?

निर्धनने कहा,—जब मैं गरीबोंको धनाभावसे पीड़ित देखता हूँ तो मेरा कलेजा फटने लगता है। यदि मेरे पास धन रहता तो मैं निर्धनोंपर धनियोंके अत्याचारका सक्रिय प्रतिरोध करता। अपने सामने किसीको धनाभावसे पीड़ित न देखता, सारा धन परोपकारमें ही लगाता रहता!

मूर्खने कहा,—न मालूम पढ़-लिखकर किस तरह आदमी स्वार्थी हो जाते हैं। मेरे पास तो विद्या नहीं, यदि मैं विद्वान् रहता तो, अपनी विद्याको कभी पैसे लेकर न बेचता, वरं उससे दूसरोंकी भलाई करता, सत्यकी रक्षा करता तथा ज्ञानके अन्वेषणमें उसका उपयोग करता।

निर्बलने कहा,—बलवान् पुरुष अत्याचारी तथा पीड़क किस तरह हो जाते हैं? यदि मैं बलवान् रहता तो केवल पीड़ितोंको बचाता, अत्याचारियोंके विरुद्ध लोहा लेता तथा सदैव दूसरोंके दुःख दूर करनेके लिये कटिबद्ध रहता। जिस तरह लोग मुझे निर्बल जानकर सताया करते हैं वैसा तो मैं कभी न करता!

(२)

समयने पलटा खाया। अन्धेकी आँखोंमें ज्योति आ गयी, लँगड़ेका पाँव सीधा हो गया, निर्धन मितव्ययिता और घोर परिश्रमसे धनी हो गया, मूर्खको विद्या प्राप्त हो गयी और निर्बल बलवान् हो गया।

आँखवाला सुन्दर दृश्योंको देखनेमें दिन बिताने लगा। जीवनभरकी अभिलाषा सञ्चित थी। जिसे देखता घंटों लगा देता, उसके पीछे खाना-पीना भूल जाता। सुन्दर वस्तुएँ पानेके लिये सर्वस्व लगा देता। रूपके आगे उसे कुछ न सुहाता था। वह अपने तनकी सुधि भी भूल गया!

लँगड़ा पाँव पाकर फूला न समाया। जहाँ-जहाँ जानेके लिये सोच रक्खा था वहींको चल पड़ा। उसने धनोपार्जनके लिये दौड़-धूप करना शुरू कर दिया। स्वार्थसिद्धिमें वह अनवरत लीन हो गया।

धनवान्‌ने कहा,—जब मैंने परिश्रमपूर्वक धन कमाया

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है तो इसपर मेरा पूरा अधिकार है। मैं इसे मुफ्त क्यों लुटाऊँ? सब मेरी तरह क्यों नहीं कमा लेते? जो भूखों मरते हैं वे अपने कर्मका फल भोगते हैं। अपव्यय और आलस्यको अपनाकर लोग अब मेरा बोझ बनना चाहते हैं। यह सरासर अन्याय है। इसपर यदि धनवान् पैसे देकर लोगोंसे वाजिब काम लेते हैं तो वे क्या बेजा करते हैं? यदि वे कुछ अत्याचार भी करें तो भी कोई अनुचित नहीं, उन्हें अपनी घोर तपस्याके बदले कुछ तो विशेषाधिकार मिलना ही चाहिये।

विद्वान्‌ने कहा,—यदि मैंने परिश्रमपूर्वक विद्या प्राप्त की है तो इससे दूसरोंको क्या? इसे जिधर चाहें, उपयोग करनेका मेरा पूर्ण अधिकार है। इसके द्वारा मैं धन न कमाऊँ तो अपनी अभिलाषाएँ कैसे पूरी करूँ। सत्यका पता न कभी लगा है न लगेगा; झूठ न रहे तो दुनियाँ उठ जाय। एक तो यों ही लोग दुष्ट और स्वार्थी हैं, यदि मैं उन्हें और भी मदद पहुँचाने लगूँ तो न मालूम वे कब मुझ-जैसोंको हड़प जायँ!

बलवान्‌ने कहा,—बल केवल निर्बलोंपर ही व्यक्त हो सकता है। यदि लोग मेरी मदद चाहते हैं तो उन्हें भी मुझे मदद करनी चाहिये। यहाँ तो सब स्वार्थके पुतले हैं, फिर मैं इतना निःस्वार्थ क्यों बनूँ। कोई निर्बल मर रहा है तो मरा करे। यह उसके दुष्ट कर्मका फल है। वह जीना चाहता हो तो परिश्रम करके बलवान् क्यों नहीं बन जाता?

(३)

समय फिर पलटा! जिसे आँख मिली थी, उसकी आँखें जाती रहीं। पाँववालेका लँगड़ापन फिर आ गया। धनवान्‌का कारोबार नष्ट हो जानेसे दिवाला निकल गया, कर्जदार उसे निर्बल पाकर रुपये हड़प गये। बलवान् फिर कमजोर हो गया। और विद्वान् फिर पहलेकी तरह लोगोंमें तिरस्कृत हो गया!

अब उन्हें अपनी-अपनी पुरानी प्रतिज्ञाएँ याद पड़ीं। पर समय बीत गया था; मौका हाथसे निकल चुका था। अब पछतानेसे क्या हो सकता था। उन्हें अपनी-अपनी भूलपर बहुत ही पश्चात्ताप होता था!

प्रकृति पुजारिन

न्यारा जानि जनको, किनारा न कसो कदापि, हाथ-पाँव मेरे जकड़े हैं सुत-दारामें!
अब तो बचाओ, गया-बीता क्या गजेन्द्रसे भी, कट तो चुका हूँ दुबिधाहीके दुधारामें।
अंग-अंग तडप-तडप गत-प्राण होंगे, फिर न मिलूँगा तुम्हें दूसरे उतारामें।
मेरे नाथ! मेरा मन डगमग नाँवमें है, नाँव है भँवरमें, भँवर बीच धारामें॥१॥

मगन गगन है तुम्हारी भजनावलीमें, कोकिल कपोल कीरके समाज कूजा की!
विशद बजे हैं घने घंट घनराजके ये सुनियत सानी न त्रिलोकमें कहूँ जाकी।
ठाढ़ी निशि-वासरसे आज दीप-धूप लेके, चाँदनीकी आरती ले भोग कंद कूजाकी।
लाइये न नेकौ बार, खोलिये दयाके द्वार, प्रकृति पुजारिनी खड़ी है नाथ! पूजाकी॥२॥

'अनूप'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रेमकी भीख

(लेखक—स्वामी श्रीभोलानाथजी)

नूरे खुदा है कुफ्रकी हरकत पै खन्दः ज़न,
फूँकोंसे यह चिराग़ बुझाया न जायगा।

श्वरकी महिमा नास्तिकतापर हँसती है—उसकी अवहेलना करती है—क्यों? यह (प्रकाशमय) दीपक कहीं फूँक मारनेसे बुझ सकता है?

तात्पर्य यह कि अन्तमें जय सत्यहीकी होती है। क्या हुआ, जो कुछ समयके लिये सांसारिक विचार और भाव मनको वशीभूत कर लें? अन्तमें तो प्रभुत्व उसीका रहेगा जिसका वास्तवमें है। यह बादल हवाकी लहरोंकी भाँति आते हैं और फिर चले जाते हैं। इससे भी यह साफ होता है कि छिपनेके पश्चात् प्रकाशका पुनः प्रकट होना अधिक आनन्दका कारण बन जाता है। बादलोंकी इच्छा कुछ भी हो पर सूर्यके लिये तो उनका आना लाभदायक ही सिद्ध होता है।

फिर जो लोग अपने साहसके बलपर किसी मार्ग-विशेषपर चलते हैं तो उनको केवल अपनी ही शक्तिका उपयोग करना पड़ता है। हाँ सम्भव है कि कोई दूसरा उनकी सहायता कर दे। किन्तु जो लोग आरम्भसे ही किसी समर्थ और सुहृद्‌को अपना आपा सौंप देते हैं, तो फिर उसे आदिसे अन्ततक उनका संरक्षक रहना पड़ता है—

हवाले करके जिस्मो-जाँ किसीके
हुए फ़ारिग हैं शादी दम बदम है।

'आत्मसमर्पण करके बिल्कुल निश्चिन्त हो गये, अब तो हर समय आनन्द-ही-आनन्द है।'

इसमें सन्देह नहीं कि जीवनकी कठिनाइयाँ कभी-कभी इनके हृदयोंको भी कम्पायमान कर देती हैं और ये घबड़ा-से जाते हैं, किन्तु संरक्षक फिर उत्साहवृद्धिकी सामग्री एकत्रित कर देता है।

डाक्टरको आपरेशन भी करना है और रोगीके अधिक-से-अधिक सुखका भी ध्यान रखना है। रोगीकी घबड़ाहटसे डाक्टर न तो अपना आपरेशन ही छोड़ता है और न अपने आलस्य या जल्दबाजीसे रोगीके सुखके साधनोंको ही भुलाता है। अच्छा, यदि कोई रोगी कहे कि डाक्टर साहेब भागिये! मैं आपसे अपनी चिकित्सा नहीं कराता, तो वे डाक्टर तो चले ही जायँगे जो नियमानुसार जानेके लिये बाध्य हैं, किन्तु जो डाक्टर सरकारकी ओरसे केवल सरकारी आदमियोंकी चिकित्साके लिये ही नियुक्त हुए हैं, वे रोगीकी क्यों सुनने लगे? उन्हें तो सरकारी आज्ञाका पालन करना है और वास्तवमें ऐसा करनेहीमें रोगीका भी कल्याण है। हाय री! पराधीनता!!

एक फ़ारसी कविने कहा है कि प्रेम जबतक हमको भस्म न कर डालेगा हमारा पीछा न छोड़ेगा। यह प्रेम तो हमारे पीछे आगकी तरह लग गया है।

एक हिन्दी कवि कहते हैं—

प्रेम-पयोनिधिमें धँसिके
हँसिके कढ़िबो पुनि खेल नहीं है।

लेकिन प्रेमके कीड़े (germs) प्रेमकी आगसे क्यों डरने लगे? उनका तो जीवन ही इस आगपर निर्भर है। किन्तु प्रेम जलावेगा किसको? उसी वस्तुको जो प्रेम न होकर और कुछ है। प्रेमेतर वस्तुको, दूसरे शब्दोंमें कहिये कि अहंकारको जलाकर भस्म कर देना प्रेमका काम है। यह अहंकाररूपी लंका सुनहरी तो है, पर प्रेमकी अग्निमें जलायी जायगी ज़रूर। सारे स्वार्थमय भाव कुचल दिये जायँगे, फिर जो शेष रहेगा वही प्रेम या स्वयं परमात्मा होगा।

यदि यही बात है तो भड़क उठे यह आग। जले यह लंका और इसकी सुनहरी सजावट, जो हमें वास्तविक रामसे विमुख करती है। इसके पश्चात् तो राम और लंका दोनों मिल ही जायँगे। हा, खेद! अगर उससे किसी प्रकार अपना आपा (जो कि मिथ्या है) बचाकर निकल भी गये तो वह लूट लिया जायेगा।

विचारना यह है कि श्रेयस्कर क्या है? भागते हुए मरना या अपने आपेको पहलेसे किसीके अर्पण कर देना? हाँ, उसको यदि यह पता चला कि ये लोग अपना आपा बिना बलप्रयोग किये अर्पण न करेंगे और मौतके ही शिकार बनेंगे, तो वह दयालु पिता अपने पुत्रोंके इस कष्टको कैसे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

देख सकेगा ? फल यह होगा कि हारकर वह ज़बर्दस्तीपर तुल जायगा, उस कठोरताके परदेमें भी छिपी होगी अपार दया ही ! हाँ, हम अज्ञानवश ज़रूर रोवेंगे !

ओ प्रेमके पुजारी ! क्यों भागते हो ? क्यों डरते हो ? यह काली सूरतवाला कृष्ण दिलका काला नहीं है। कालिमाके अन्दर अजब सफ़ेदी विराजती है।

इसीसे तो कहा है—

'ज्यों-ज्यों डूबै स्यामरँग त्यों-त्यों उज्ज्वल होय।'

उसकी भेजी हुई कठिनाइयोंमें सिवा प्रेमके और कुछ नहीं है। जब वह तुम्हारी मटकियाँ फोड़ता है, माखन चुराता है, दही खाता है, तुम समझते हो कि लुट गये परन्तु वह इन विपत्तियोंके बदलेमें अपना मधुर स्मरण और अपना पावन नाम दे देता है। क्या इन कठिनाइयोंके बदलेमें भगवन्नाम और भगवद्भक्ति प्राप्त करना मँहगा सौदा है ? यदि तुम इस रगड़से घबड़ा उठते हो तो तुम्हारा मन बहलानेको वह मधुर मुरलीकी सुर सुनाता है, जिससे इस लोक और परलोक दोनोंके सारे झगड़े समाप्त हो जाते हैं और द्वैतका आभास भी मिट जाता है। एक फ़ारसी कविने कहा है—

कुर्बान निगाहे तु शवं बाज़ निगाहे।

अर्थात् मैं तेरी इस मधुर दृष्टिपर बलि-बलि जाता हूँ। एक दफा फिर इधर नज़र कर।

अनोखी शानसे बाँके बिहारी, हुए हैं चुप मधुर मुरली बजाकर।
ज़मींसे ताफ़लक है वज्द तारी, अलग बैठे हैं यह फ़ितना उठाकर॥

देखिये ! उस एक रूपवालेके ही अनेक रूप हैं। वह निर्गुण ही सब गुणोंका स्वामी है। वही तो आपके हृदयोंमें प्रेम, आँखोंमें आँसू और कलेजेमें दर्द बनकर आता है। वही हर स्थानपर हरेक रूपमें आकर, अपना पुनः-पुनः स्मरण दिलाता है। जब आप समझते हैं कि वह अलग है उस समय वह प्रेमरूपमें आपके हृदयमें होता है। आप रोते हैं कि वह अलग है। वह हँसता है कि अगर मैं अलग हूँ तो मेरा स्मरण आपके हृदयमें कैसे है ? आपको विरह प्रतीत होता है, वह स्वयं निकट होता है।

जब ग्वाले और गोपियाँ भगवान्‌को अलग समझकर रोते हैं तो वह इनका प्रेम देखनेके लिये किसी वृक्षके पीछे छिपे खड़े हो जाते हैं और इन प्रेमियोंको अपने हृदयमें बिठाते चले जाते हैं। घबड़ाइये नहीं ! जिससे आप प्रेम करते हैं उसको आपसे अधिक आपके साथ प्रेम है। उसका छिपना इसलिये है कि आपकी प्रेमाग्नि जोरसे भड़के और फलतः वह उसमें फँस जाय। वाह ! वह कैसा प्यारा है जो स्वयं अपने बँधनेकी सामग्री एकत्रित करता है। वह सदा स्वतन्त्र है अतः बन्दी होना उसके लिये नवीन वस्तु है और इसीसे वह बन्दी होनेको तरसता है। जब कोई और वस्तु उसको नहीं बाँध सकी तो अपने दिये हुए प्रेमसे ही वह अपने प्रेमियोंके हाथों स्वयं आकर बँध जाता है !

जब पिता और बालक कुश्ती करने लगते हैं; पिता ज़ोर लगानेके पश्चात् स्वयं ही गिर जाता है। बालक समझता है कि मैंने ही गिराया है। कहता है, देखिये कैसा गिराया ? मुझमें बहुत बल है। किन्तु यदि पिता स्वयं न गिरता तो पुत्र कैसे गिराता ? पिता-पुत्रके मल्लयुद्धमें पिता हार गया—पुत्रकी प्रसन्नताके लिये। वह प्रेमका देवता स्वयं अपना प्रेम देकर उसमें बँधता है और कहता है कि देखो उसने मुझे कैसा बाँधा, अब मैं उसका हूँ।

आइये ! उसके सामने सिर झुकाइये। कहिये ये धन-तन और प्राण तुम्हारे दिये हुए हैं, नश्वर हैं, नष्ट हो जायँगे, इनपर अपनी छाप लगा दो और हमारे मनको अपने प्रेममें सदाके लिये बाँध दो। यह चञ्चल मन और किस तरह पकड़ा जायगा ? हे स्वामिन् ! अपना प्रेम दो ! हम बालक हैं, आप पिता हैं; हम भिखारी हैं, आप दाता हैं। या हम अच्छे-बुरे जो कुछ हैं, तुम्हारे हैं अगर तुम्हीं निकाल दोगे तो फिर हमें कौन अपनावेगा ! कौन हमें भीख देगा ?

ओ प्रेम ! ओ प्यारे !! अब हमें अपनेसे अलग न रक्खो। विरहाग्निमें जल रहे हैं, बेचैनी बढ़ रही है, विश्वास हिला जाता है, भयानक सूरतें डरा रही हैं, अगर मारना मंजूर है तो अपने ही हाथोंसे मारो। किसी दूसरेसे क्यों मरवाते हो ? कहीं भूकम्प, कहीं रोग, कहीं दरिद्रता ये भयानक जन्तु डरा रहे हैं। हम पुकारते हैं तुम चुप हो। क्या मंजूर है तुमको ? आओ ! आओ ! जल्दी करो, हाथ पकड़ लो, दया करो। क्या हमारे पाप अभी इतने नहीं हुए कि हम तुम्हें बुला सकें ? क्या अभी हम इतने नहीं गिड़गिड़ाये कि तुम आकर हमारा हाथ पकड़ लो!

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हम, हम जो कर सकते थे कर चुके। हमसे सिवा पापोंके और क्या हो सकता था? वही किया, अब तुम्हारी बारी है। पापोंकी कालिमापर दयाकी वर्षा कर दो और फिर जीवन दान दो। हमें अपना बना लो। मनकी गुलामीसे छुड़ाकर, अपना दास बना लो। अब सहा नहीं जाता। तुम हृदयमें हो इससे सन्तोष नहीं होता। तुम साथ हो, फिर नज़र क्यों नहीं आते? आओ! जल्दी करो, ऐसी सूरतमें आओ कि हम भी पहचान सकें, या वह दृष्टि दे दो जिससे हम हर स्थानमें तुम्हें देख सकें। इस उलहनेसे नाराज न होना। अपनी निर्बलता हम स्वीकार करते हैं। यह तुमसे मुँह मोड़नेका फल है। हम पापी थे, हैं और जबतक तुम न अपनालोगे पापी ही रहेंगे। तुम दयालु थे, हो और दयालु ही रहोगे। दोनोंकी लड़ाई है कौन जीतेगा?

मेरी बंदगीसे मेरे जुर्म अफ़ज़ूँ
तेरे क़हरसे तेरी रहमत ज़ियादा।

'मेरी साधनासे मेरे पाप कहीं अधिक हैं, तेरे क्रोधसे तेरी दयालुता बहुत बढ़ीचढ़ी है।' तुम्हारी दुनिया देख ली! अब तो तुम्हें देखनेको जी चाहता है। आओ, फिर तुम्हारे ही साथ तुम्हारी दुनियामें रहा जाय। वर्षाका ज़ोरदार जल नालियोंको साफ़ कर देता है। फिर उनमें पवित्र जल बहने लगता है। मेहतरकी झाड़ूसे ये नालियाँ साफ़ नहीं हो सकतीं। दयाके घने बादल! इधर देखो, जल्दी करो। बरस पड़ो जोरसे!

हमको मालूम है तुम सब कुछ जानते हो परन्तु यह प्रार्थना भी तो स्वयं तुम्हीं हमारे मुँहसे निकलवा रहे हो। जिससे कोई कह सके कि प्रार्थना की थी, स्वीकृत हो गयी, किन्तु हाँ, कोई यह तो बतलाये कि यह प्रार्थना सिखलायी किसने?

मुझमें कहाँ था शौक़ यह सोज़ो गुदाज़की,
अय सोज़े शमआ तूने ही परवाना कर दिया।

'मुझमें जलनेकी लालसा कहाँ थी? ओ दीपक! तुझने ही जलकर मुझे परवाना बना दिया।'

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

प्रभु-विनय

दरस अपना हमें प्रीतम! दिखा दोगे तो क्या होगा।
प्याला प्रेमका भरकर पिला दोगे तो क्या होगा?
तुम्हारे नामपर हमने मिटाया नाम है अपना।
निशां अपना हमें स्वामिन्! बता दोगे तो क्या होगा?
जहाँके रोने धोनेमें तुम्हारी याद भूले हैं।
कृपाकर नाद अनहद फिर सुना दोगे तो क्या होगा?
हम आलस नींद सोते हैं इसीसे रोते धोते हैं।
हमारी बाँह पकड़कर तुम हिला दोगे तो क्या होगा?
यह मन पापी वृथा जंजाल रचकर आय फँस बैठा।
दया करके इसे उससे छुड़ा दोगे तो क्या होगा?
यह मन ही मोक्षका कारण, यही बन्धनका हेतु है।
प्रभो! हालत इसे अपनी जता दोगे तो क्या होगा?
जगतका दास यह मन तुम बिना स्वामिन्! बना है जो।
दया कर उसको शाहन्शाह बना दोगे तो क्या होगा?

—महात्मा शाहन्शाहजी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पाप-पुण्यकी परिभाषा

(लेखक—श्रीरामावतारजी शास्त्री विद्याभास्कर)

प-पुण्यकी कसौटी मालूम करनेके लिये, यह आवश्यक है, कि उससे प्रथम ही अपने स्वरूपका निरूपण कर लिया जाय। अपने स्वरूपको इस प्रकार समझना चाहिये कि हम विराट् देही ही हैं। हमने जैसे वस्त्र पहन रक्खे हैं, ऐसे ही इस देहको भी पहन रक्खा है। विराट् देहीके पहननेके इन देह नामके वस्त्रोंको गिन सकना शक्तिसे बाहरकी बात है। ये तो अनगिनित है। ये हो भी रहे हैं मर भी रहे हैं। फिर होंगे और फिर टूट-फूट जायँगे। इन वस्त्रोंका यह क्रम सदासे चल रहा है और सदा चलता ही रहेगा। होते जाते रहनेवाले ये जो अगणित देह हैं, इनमेंसे किसी भी देहके बन्धनमें न रहना ही, हमारा स्वरूप है। अपने इस स्वरूपको कदापि न भूलना ही, हमारा स्वधर्म है या यों कहें कि हमारे देहधारण-का अभिप्राय है। जब कोई आचरण इस धर्मके अनुकूल किया जाता है, तब उसीको 'पुण्य' कहा जाता है। इस स्वधर्मके विरुद्ध आचरण कर बैठना ही 'पाप' कहलाता है। आत्मस्वरूपको भुला देना ही पाप है। इस देहमें रहकर भी इसके और संसारभरके भौतिक रूप-रस आदि विषयोंके प्रभावमें न आ जाना ही पुण्य है। तथा इनके प्रभावमें आ जाना ही 'पाप' है।

रूप, रस, स्पर्श आदि विषयोंके साथ हमारे मन-के बन्धनका भी सम्बन्ध है और मुक्तिका भी सम्बन्ध है। जहाँ बन्धन रहता है, वहीं बन्धनको तोड़ डालनेका सम्बन्ध भी तो रहता ही है। बन्धनोंको तोड़कर बन्धनातीत बन जाना ही मुक्ति या छुटकारे-की अवस्था है। यदि बन्धन न रहते तो मुक्तिका दर्शन करना असम्भव कल्पना रह जाती। क्योंकि बन्धन है, इसीसे मनुष्यको मुक्तिका दर्शन करना मिल जाता है। बन्धनोंको तोड़े बिना, बन्धनोंको ज्यों-का-त्यों बने रहने देकर, बन्धनोंसे आँखमिचौनी करके, मुक्तिका दर्शन करना जो मनुष्य चाहता है, वह तो मुक्तिसे अलग रहकर बन्धनोंमें ही जकड़ा रह जाता है। मुक्ति तो छिन्न-भिन्न किये हुए बन्धनों-की छातीपर ही आसन जमाकर बैठा करती है। बन्धनोंको देखते ही वहाँसे भाग खड़ी होकर एकान्त-में जाकर दम लेनेवाली मुक्ति नामकी और बन्धनोंके पास रहना ही पड़ जाय तो दम घोटकर मर जानेवाली कोई भी स्थिति नहीं है। वह स्थिति धोका है। वह स्थिति धोकेमें रहकर बन्धनोंमें और भी अधिक गाँठें लगाकर अपनेको जकड़ डालना ही है। अमृत या अमरभाव बाहर कहींसे भी आनेवाला नहीं है। यह तो अपने अन्दर ही है। मनमें पैदा होते रहनेवाले विषयवासना नामके विषको त्यागते रहनेका नाम ही तो अमृत है। मन विषयवासनापर विजय प्राप्तकर ले यही तो 'अमृत' है। इसके अतिरिक्त अमृत-भरा कटोरा कहीं भी नहीं रक्खा हुआ है, जिसे बाहरसे ढूँढ़कर पिया जा सकता हो और अमर बना जा सकता हो। मनुष्य-देह धारण करके विषयवासना-रूपी मायाके साथ ही मनुष्यको रहना पड़ता है। परन्तु जब मनुष्य इस विषयवासनारूपी अपनी माया-को पछाड़कर निर्विकार और इससे अप्रभावित बना रह जाता है। तब ही इस जगत्के सर्जनहारकी सृष्टि-रचना और उस सृष्टिके ही अन्तर्गत इस देहको

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

धारण करनेका जो अभिप्राय है वह पूरा हो जाता है; नहीं तो वह अभिप्राय अधूरा ही पड़ा रह जाता है इस भागवत अभिप्रायको पूरा करना ही मनुष्य-जीवन-का लक्ष्य है। यही जीवन्मुक्ति है यही अमरभावको प्राप्त कर लेना है। मनकी ऐसी अप्रभावित स्थितिकी रक्षा करते रहना ही तपश्चर्या या सत्यमयी स्थिति है। इस सत्यकी रक्षा कर लेनेकी मनुष्यमें जो शक्ति है उसका कुछ भी अन्त नहीं है। संसारके जितने भी कर्म करने पड़ें उन सबमें अपनी इस मानसिक अवस्थाको सुरक्षित रखते रहोगे तो समझ लेना कि तुम लक्ष्यारूढ़ हैं, हमने अपने सत्य स्वरूपको नहीं भुलाया है, हम पापसे बच रहे हैं और हम पुण्य कर रहे हैं। जब कर्म करना पड़े या कर्मसे बचकर रहना पड़ जाय दोनों ही समय अपने उस स्पष्ट कर्मको भी और अपने नैष्कर्म्य दीखनेवाले कर्मको भी इस कसौटीपर परखते ही रहना चाहिये। यदि उस कर्म-में अपनी मानसिक अप्रभावित स्थितिकी रक्षा होती है, या हो सकती हो, तब तो उसे करना चाहिये, नहीं तो उसे छोड़ देना चाहिये। यही सत्य है। यही पुण्य भी है। यदि उस कामसे मन प्रभावित होता हो या आत्मविस्मृतिमें डूबने लगता हो तो वह पाप है। वह आत्मविस्मृति है। वह असत्य है। वह त्याज्य है। ऐसे कामको कभी भी हाथ न लगाओ। यदि साहस करके जीवनके किसी भी क्षण इस सत्य-में आरूढ़ हो जाओगे तो फिर तुम्हारा असत्यके बन्धनमें आ जाना असम्भव हो जायगा। जीवनमें कुछ (आत्म-विस्मृतिरूप) पाप और कुछ (आत्मस्थिति-रूप) पुण्य, ऐसी मिली-जुली अवस्थाका होना ही असम्भव है। जबतक (आत्म-विस्मृतिरूप) पापको पूरा-पूरा नहीं छोड़ दिया जायगा तबतक (आत्म-स्थितिरूप) पुण्य असम्भव ही बना रहेगा। जबतक पुण्यको पूरा-पूरा नहीं छोड़ दिया जायगा तबतक किसीसे पाप हो ही नहीं सकेगा। इन दोनोंमेंसे जब एकको त्याग दिया जायगा तभी दूसरेका ग्रहण हो सकेगा। इनमेंसे एकको पकड़े रहा जाय तो दूसरेका ग्रहण हो ही नहीं सकता। पापी बने रहनेकी अवस्था-में जब कि पुण्य किया हुआ समझा जाता है, तब उस पुण्य समझे हुए कर्ममें किसी-न-किसी ढंगकी स्वार्थ-भावनाका दूषण लगा रहनेसे वह पुण्य भी पाप ही होता है। वह पुण्य, पापोंका ही उत्पन्न करने-वाला; पापोंके लिये उत्तेजित करनेवाला ही होता है। जिस पुण्यमें थोड़े-से भी पापकी सम्भावना हो सकती है, वह पाप ही है। इसी क्षण यदि पापमय जीवन बिताते रहोगे, तो समझ लो कि तुमने अबतक-का सब पिछला समय पापमें, या पापकी आशारूपी पापमें या पापके अवसरकी प्रतीक्षारूपी पापमें ही काटा है। पापकी आशा, प्रतीक्षा और तैयारी भी पाप करते रहनेसे भिन्न* भविष्यत्‌में तुम्हारे पुण्यशाली होनेकी कोई भी निश्चित सम्भावना नहीं है। यदि तुम इसी क्षण पुण्यकी स्थितिमें अर्थात् मनकी अप्रभावित स्थितिमें—आत्मस्थितिमें आरूढ हो सको तो समझ लो कि तुमने अपना समग्र जीवन सत्यारूढ पवित्र स्थितिमें अटल रहकर ही बिताया है। यही तो पाप-पुण्यकी विश्लेषण है। जहाँ पाप है वहाँ पुण्यका होना ही असम्भव है। जहाँ पुण्य विराज रहा है वहाँ पापका रहना असम्भव है।

* पापरहित निष्पाप स्थिति नहीं है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कौन गली गये श्याम ?

(लेखक—श्री 'माधव')

कबका सुना हुआ वह गीत आज भी प्राणोंमें गूँज रहा है। जगत्‌के कोलाहलमें अथवा इससे हटकर एकान्तमें जहाँ कहीं, जब कभी अपने अन्तरकी ध्वनि सुननेकी चेष्टा करता हूँ तो वहाँ बस एक ही रागिनी छिड़ी रहती है और हृदयके रेशे-रेशेको अपने आनन्द-विह्वल उन्मादमें भिगोये रखती है। हृदयमें वह कैसे आ बसी यह कहना कठिन है; उस बेहोशीमें, आत्मार्पणकी उस मधुर बेलामें कोई अपरिचित, परन्तु चिर-परिचित खिलाड़ी अचानक हृदयका द्वार खोलकर अन्तःपुरमें जा घुसा और प्राणोंके साथ खेलने लगा। प्राण उसके मधुपाशमें बँधे बेसुध थे। आँखें जब खुलीं, प्राणोंमें नवचेतना आयी तो देखता हूँ बस एक झङ्कारमात्र रह गयी है मानो भीतर कोई गा रहा है—

कौन गली गये श्याम ?
बता दे सखि ! कौन गली गये श्याम ?

इस प्रश्नको, वेदनामथित हृदयकी इस कातर पुकारको सुनकर भी वह अनसुनी कर देता है। भीतर जा छिपा है वह छलिया और द्वार बन्द कर लिये हैं। मेरा अपना हृदय ही आज अपना न रहा। उसे मैंने कब बुलाया था ? आज इतनी निठुरताके साथ मुझे ही मेरे घरसे निकालकर वह मालिक बन बैठा है और मेरी बेवशीपर मुसका रहा है। कहता हूँ, रोता हूँ, गिड़गिड़ाता हूँ—जरा-सा द्वार खोल दो मैं भीतर आ जाऊँ और फिर सदाके लिये भीतरसे द्वार बन्द कर लेना ! हृदयकी गुफामें वह जा छिपा है और वहीं बैठा-बैठा कभी मुसकाता है, कभी अपने सुकोमल चरणोंमें बँधी पैंजनी बजा-बजाकर नाचता है और कभी तिरछे खड़े होकर शरारतभरी नजरसे देखता हुआ अपनी वेणुमें न जाने क्या-क्या जादू गाने लगता है।

मैं बाहर खड़ा-खड़ा ज्वालामें, जगत्‌की भीषण ज्वालामें जल रहा हूँ, लूकी लपटोंमें झुलस रहा हूँ और उस निठुर सुन्दरसे बार-बार अभ्यर्थना कर रहा हूँ ओ मेरे हृदयके भीतर बसनेवाले जादूगर ! आज एक बार तो द्वार खोल दो और मुझे भीतर ले लो। परन्तु वह क्यों सुनने लगा ? वह तो स्वयं अपनी वेणुपर लट्टू हो रहा है—क्या गाता है वही समझे। कभी-कभी अपनी विजयपर इतराकर जब वह प्राणोंके सघन कुञ्जमें नाचने लगता है, एक साथ ही पैंजनी, करधनी और मुरली एक दिव्य लास्यमें बज उठती हैं, कुञ्चित केशराशि हवाके झोंकेमें लहराकर कभी कुण्डलको ढक लेती है और कभी वंशीको छू लेती है—उस समय, उस समय तो ऐसी इच्छा होती है कि वज्रके किवाड़ तोड़कर भीतर समा जाऊँ और रोम-रोमसे, प्राण-प्राणसे उसकी इस दिव्य लीलाको पीऊँ। परन्तु वह कपट—कितना निठुर, उफ् कितना निठुर है। हृदयमें बैठा हुआ है और एक बार भेंट नहीं हो पाती—यह कैसी दारुण यातना, कितना कठोर अत्याचार है !

कैसे, किस राहसे, कबसे वह भीतर जा पैठा है यह कुछ समझ नहीं पाता। अपने आकर्षणका मधु पिलाकर, मेरी समग्र चेतनाको अपने नूपुरोंके रुनझुनमें घुलाकर, मेरे रोम-रोमको अपने रूपके अमृतमें नहलाकर, मेरे अनजानमें, सर्वथा अनजानमें वह भीतर जा बैठा है, अर्धचेतनाको अर्धविस्मृत दशामें जब मैं अपने भीतर उसके मधुर-मधुर स्पर्शका अनुभव कर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रहा था—उसके स्निग्ध चरणतल मेरे अन्तरतमको अपने स्पर्शका दान देकर जब कृतकृत्य कर रहे थे—उस समय उसके चरणोंके चुम्बनका वरदान पाकर मैं उसके हाथ बेमोल बिक गया। मैंने कहा ओ मेरे जन्म-जन्मके अतिथि! तुम बाहर क्यों भींग रहे हो, भीतर आओ, मेरे हृदयके सिंहासनपर विराजो—मैं तुम्हारे लिये अपनी कुटिया खाली कर दूँगा। वह मेरी अल्हड़तापर मुसकाया, दोनों चरण जब भीतर रखे तो मैंने बड़ी आतुरतासे कहा—यह सब कुछ तुम्हारा है, तुम अपना सँभालो! वह फिर मुसकाया! हृदयके द्वारपर खड़ा होकर मैंने कहा—तुम्हारे स्वच्छन्द विहारमें मैं बाधा नहीं डालना चाहता—तुम-हीं-तुम रह जाओ, यह मेरा सारा लोक-परलोक तुम्हारे चरणोंमें निछावर है तुम इसमें सुखसे बसो!

आज वह भीतरका एकछत्र सम्राट बना बैठा है और अपनी विजयपर स्वयं हँस रहा है। चर-अचर सबका हृदय छिनकर वह स्वयं हृदयहीन-सा निठुर कठोर बन गया है। एक पलके लिये भी द्वार नहीं खोलता—कहीं उसे कोई देख न ले! ऐसा पर्दा? ऐसा घना अवगुण्ठन? हृदयके बाहर, द्वारपर खड़े-खड़े भींगते हुए जब भीतर आनेकी याचना कर रहे थे—और बार-बार मेरी नाँ-नाँ सुनकर कुण्ठित—लज्जित हो रहे थे उस समय क्यों न कठोर बने? आज मेरे प्राणोंको अपनी मायाके जादूसे संज्ञाहीन करके भीतर जा बैठे हो; एक बार तुम्हें भर आँख देखनेके लिये प्राण तड़फड़ा रहे हैं और तुम पत्थरका हृदय लिये निठुर बने बैठे हो? तुम्हारी यह कैसी छलना है ओ सुन्दर!

सब कुछ देखूँ पर अपने ही हृदयके भीतर न झाँक सकूँ यह कितनी बेबसी है। आप ही अपना भेद न खोल पाऊँ यह कितनी दीनता है! कितना झीना आवरण है जिससे छन-छनकर उसकी आभा लोक-लोकान्तरमें छा रही है। परन्तु वह दीख नहीं पाता—ऐसी ही उसकी माया है। कभी सुकोमल चरणोंके तलवोंकी प्यारी-प्यारी लाली प्राणोंको चुरा ले जाती है, कभी पीतपटकी फहरान। वह भीतर छिप-कर अन्तःपुरसे इतना प्रबल आकर्षणभरा, जादूभरा संकेत क्यों कर रहा है—बीन बजाकर चर-अचर सबको मोहे हुए है, सबको बुला रहा है—सभी समस्त लोक-परलोक उसके चरणोंमें निछावर होनेके लिये विह्वल, उत्कण्ठ उसके द्वारपर खड़े हैं—सबके प्राण छटपटा रहे हैं! सबको अपने चरणोंमें खींचकर वह छलिया कह रहा है—अभी नहीं, अभी नहीं, अभी द्वार नहीं खुलता! चराचरका हाहाकार उसकी एक मृदुल मुसकानके लिये ही तो है।

वह, देखो न, भीतर बैठा-बैठा मुसका रहा है, कभी आँखोंसे इशारा करता है, कभी वेणुसे। कह रहा है, संकेत दे रहा है—भीतर चले आओ, अपने एक स्पर्शसे तुम्हारे जन्म-जन्मान्तरकी तपन बुझा दूँगा, तुम्हारे युग-युगकी प्यास बुझा दूँगा—जो कहोगे वही करूँगा, बाहर-भीतर केवल मैं-ही-मैं रहकर तुम्हारे हृदयको जुड़ा दूँगा—तुम मुझमें और मैं तुममें समा जाऊँगा, तुम्हारे कहनेपर अपना गीत सुनाऊँगा, तुम्हारे संकेतपर नाचूँगा! आओ, भीतर चले आओ, हम दो ही इस एकान्त कुञ्जमें विचरें, अपनी मनमानी करें। तुम्हारे मस्तकको मैं सूँघूँ, तुम्हारे भूखे-प्यासे प्राणोंको अपने आलिङ्गनका दान देकर सदाके लिये अपनेमें मिला लूँ!

ऐसे हैं उसके छल-भरे, प्रलोभन-भरे, आकर्षण-भरे, जादू-भरे वचन! कौन है जो इसपर त्रिक न जाय; कौन है जो अपना लोक-परलोक भूलकर इसपर लुट न जाय। कैसी-कैसी मीठी बातें बनाकर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वह अपने निकट बुलाता है, कैसे-कैसे संकेत देकर वह प्राणोंको अपना किंकर बनाकर मनमानी नाच नचाता है। कभी कुछ कर देगा, कभी कुछ। कभी गावेगा तो कभी नाचेगा। कभी राजा बनकर रूठ बैठेगा; मानो उसकी मुझसे कभीकी मुलाकात ही नहीं है, मानो उसको मुझसे कुछ मतलब ही नहीं है—ऐसा मानो उसका मुझसे परिचय ही नहीं है, मानो उसने पहले किसी औरके लिये वंशी छेड़ी थी, मन्द-मन्द मुसकाकर किसी औरको आमन्त्रित किया था! कैसी निराली है उसकी छलना! बुलाता भी है, न आनेपर बार-बार छेड़ता भी है और लोकका लाज, कुलशीलका भय, अपने प्राणोंका मान छोड़कर जब पागल-से दौड़े-दौड़े हम उसके चरणतलमें अपने हृदयकी भेंट चढ़ाने आते हैं तो वह पता नहीं किस गुफेमें जा छिपता है और भीतरसे बोलता है—तुझे कब बुलाया था, यों आनेके लिये कब संकेत किया था। तुम लौट जाओ, अपने पहलेके संसारमें लौट जाओ।

यह है उसका प्यार और दुतकार, दुतकार और फिर आमन्त्रण। एक साथ ही निमन्त्रण और तिरस्कार; तिरस्कार और फिर जादूभरा संकेत! आओ पर मिल न पाओगे। देखो पर छू न पाओगे। कैसा सुन्दर कितना झीना घूँघट काढ़े बैठा है कि एक क्षणके लिये भी जिसकी दृष्टि गयी वही अपना सर्वस्व बेंचकर आ गया। घूँघट हिलता-डुलता है मानो अभी वह हटानेहीवाला है, मानो एक बार वह हमारी ओर प्यारभरी दृष्टि डालेगा ही पर..... पर.....!!!

यही उसकी नित्यकी लीला है। बड़ा कौतुकी है न! देखता रहता है भीतर-ही-भीतर। कहीं सर्वथा निराश न हो जाऊँ इसलिये कभी-कभी एक क्षणके लिये अपनी झिलमिल-झिलमिल रूप-श्रीकी आभा बिखेरकर प्राणोंमें सम्मोहन तान छेड़ देता है—गाने लगता है, आओ हम दोनों—केवल हम दोनों सदाके लिये एक साथ बस जायँ। तुम मुझे देखो, मैं तुम्हें देखूँ! तुम्हारे लिये मैं और मेरे लिये केवल तुम ही रह जाओ—सब कुछ, और सब कुछ बीचका लोप हो जाय। आओ, देखो मैं अपना आवरण हटा रहा हूँ, केवल तुम्हारे लिये हटा रहा हूँ—देखो, देखो; जी भरकर मुझे देख लो, निराश होकर लौट न जाओ!

सोचता हूँ जिसे इतना निठुर-कठोर मान रखा था वह कितना सदय है; मेरी कितनी चिन्ता रखता है, कितना प्यार करता है, कितना अधिक मुझे चाहता है। मान एक पल भी टिक नहीं पाता, सारी खीझ, सारी निराशा, सारा रूठना भूलकर हाहाकार करते हुए प्राण उसके चरणोंमें जा दौड़ते हैं—परन्तु वह अपनी चाल, अपनी पुरानी चाल क्यों छोड़ने लगा। मुझे अपने संकेतपर लुटा हुआ दौड़े आते देख फिर वही आवरण, वही घूँघट सरका-कर जोरसे हँस पड़ता है और कहता है अरे मैंने तुम्हें कब बुलाया था, तुम्हें इस एकान्तमें आनेके लिये कब संकेत दिया था, कब कहा था कि सब कुछ छोड़कर मेरी ओर भागे-भागे आओ। लौट जा रे भोले प्राणी! यहाँ तो लेनेके देने पड़ते हैं। मुझे छू लेना सरल नहीं है, मुझे पा जाना खिलवाड़ नहीं है!!

यही है उसका सबके साथ, समस्त चर-अचर, लोक-लोकान्तरके सभी प्राणियोंके साथ रसरंग! बुलाता है और नट जाता है; 'ना' कहकर फिर वंशी फूँकता है कि चले आओ! उसे देखते हुए भी हम छू नहीं पाते, छूकर भी पकड़ नहीं पाते, पकड़ कर भी अपना नहीं पाते, अपनाकर भी केवल एकमात्र अपना नहीं बना पाते; वह एकमात्र अपना होकर भी, हमारे प्राणोंका बन्दी होकर भी, जीवनका

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सर्वस्व, प्राणोंका आधार, हृदयका सर्वेश्वर होते हुए भी इतना पास होते हुए भी कितनी दूर, कितनी दूर, उफ़ कितनी दूर है ! देख रहे हैं वह वहाँ, दूर सुदूर हृदयके करीलकुञ्जमें प्राणोंकी यमुनापर खड़ा-खड़ा मुसका रहा है, बुला रहा है, संकेत दे रहा है, परन्तु अपने ही अन्तःपुरमें प्रवेश करनेका साहस नहीं होता। इसीलिये तो हम सभीके प्राणोंकी एक ही प्रकार है—एक ही विह्वल प्रश्न है—

कौन गली गये श्याम,
बता दे सखि ! कौन गली गये श्याम ?

इसका उत्तर उस भीतर बसनेवाले कौतुकीके सिवा कौन दे ?

वर्त्तमान शिक्षा

[गतांकसे आगे]

नम्र निवेदन

उपर्युक्त विवेचनमें वर्त्तमान शिक्षाके कुफलका दिग्दर्शनमात्र कराया गया है। ऐसे और भी बहुत-से दोष इस शिक्षासे पैदा हुए हैं, जिनका उल्लेख नहीं हो सका है। उदाहरणार्थ उनमें एक दोष भेदभाव और परस्पर वैमनस्यकी वृद्धि है। इस शिक्षाके प्रतापसे खानपान और विवाह-शादी आदिमें उचित भेदको मिटानेवाली हमारी राष्ट्रीयता तो बढ़ी है, परन्तु पारस्परिक प्रेम और सहानुभूति बुरी तरहसे घट गया है। जैसे यूरोपकी देशभक्ति (Patriotism) में विश्वहितकी तो बात ही क्या, पड़ोसी राष्ट्रके हितकी भी परवा नहीं है, वैसी ही विश्वहित-कारिणी संकुचित देशभक्तिका प्रचार यहाँ भी हो रहा है। आज जातिभेद मिटानेकी तो बातें हो रही हैं परन्तु प्रत्येक जाति-उपजातिका भेद मजबूतीसे कायम रखनेके लिये प्रतिद्वन्द्वताके भावोंसे पूर्ण जातीय-कौन्फरेंसोंकी बाढ़-सी आ गयी है और सभी अपना-अपना अलग स्वत्व स्थापन करना चाहते हैं। समस्त भारतवासियोंके एक-सदृश होनेकी बात तो दूर रही, आज हिन्दू-हिन्दूमें, मुसल्मान-मुसल्मानमें भी वस्तुतः एकस्वार्थकी भावना नहीं रही है। हिन्दुओंमें तो जैन, सिख, आर्यसमाज, ब्राह्मसमाज आदि अनेक नये-नये भेद हो गये हैं और उनकी संख्या क्रमशः बढ़ती जा रही है। इन सभी जातियों-उपजातियोंमेंसे एक-एक उपजातिके अलग-अलग अनेकों भेद हो गये हैं और सबकी स्वार्थदृष्टि अलग-अलग हो गयी है। अग्रवाल-सभा, अग्रवाल-पंचायत, अग्रवाल-पुस्तक-मंडल, माहेश्वरी-डीडूपंचायत, माहेश्वरी-सभा आदि-जैसी सैकड़ों विभिन्न संस्थाएँ इसका प्रमाण है। पहले एक वैश्य-सभा थी, अब वैश्य वर्णके अन्तर्गत विभिन्न उपजातियोंकी न मालूम कितनी सभाएँ हैं। अधिक क्या, किसी दिन 'वसुधैव कुटुम्बकम्' या 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' के आदर्शको माननेवाली जातिके महान् आदर्शको नष्ट करके आजकी इस शिक्षा-प्रणालीने स्त्री-पुरुष (दम्पति) में भी पृथक्-पृथक् स्वार्थकी भावना उत्पन्न करके उन्हें लड़ाईके मैदानमें लाकर खड़ा कर दिया है ! अभेदके नामपर ऐसा विनाशकारी भेद फैल गया है कि आज हम अपने अकेले व्यक्तित्वकी रक्षा और उसीके पोषणमें जीवन बिताना कर्त्तव्यकी चरम सीमा समझने लगे हैं !!

सभी विचारशील पुरुष इन दोषोंको जानते और अनुभव करते हैं, और यथासाध्य इन्हें दूर करनेका प्रयत्न भी कर रहे हैं; तथापि मैं एक बार पुनः सभी शिक्षाप्रचारक और शिक्षाप्रेमी महानुभावोंसे विनयपूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि वे इस विषयपर और भी गम्भीरतासे विचार करें और शिक्षाप्रणालीमें यथासाध्य तुरन्त परिवर्त्तन करने-करानेका प्रयत्न करें। मेरी तुच्छ सम्मतिमें नीचे लिखी बातोंपर ध्यान देनेसे शिक्षाप्रणालीके बहुत-से दोष नष्ट हो सकते हैं और शिक्षाके असली उद्देश्यकी किसी अंशमें पूर्ति हो सकती है।

१—पाठ्य पुस्तकोंमें हमारी प्राचीन आर्यसंस्कृतिका सच्चा महत्त्व बतलाया जाय, पौराणिक और ऐतिहासिक महापुरुषोंके जीवनकी प्रभावोत्पादक और शिक्षाप्रद घटनाओंका सच्चा वर्णन रहे और प्राचीन संस्कृत ग्रन्थोंके उपयोगी अंशोंका समावेश किया जाय।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

[याद रखना चाहिये कि जिस जातिकी अपनी संस्कृति, अपने महापुरुष और अपने सत्-साहित्यपर अश्रद्धा हो जाती है, वह जाति प्रायः नष्ट हो जाती है। बर्त्तमान शिक्षाने ऐसे विलक्षण ढंगसे यह काम किया है कि हम उसे उन्नति समझ रहे हैं और हो रहा है हमारा सर्वनाश ! इस शिक्षाके प्रभावसे आज अपनी संस्कृतिमें, अपने पूर्व-पुरुषोंमें, और अपने प्राचीन साहित्यमें हमारी श्रद्धा नहीं रही है। और इसके बदले पाश्चात्य सभ्यता, यूरोपके महापुरुष और उनके साहित्यपर हमारी श्रद्धा हो गयी है। मेरे कहनेका यह अभिप्राय नहीं कि कहींकी भी अच्छी चीज़का आदर न किया जाय। आदर तो अवश्य करना चाहिये परन्तु इतनी आत्मिक गुलामी तो नहीं होनी चाहिये कि हमारे घरकी चीज़की ओर हम देखें ही नहीं, कभी देखें तो उपेक्षासे या घृणाकी दृष्टिसे; और वही चीज़ विदेशी विद्वानोंकी लेखनीसे प्रशंसित होकर उनके द्वारा विकृत रूपमें हमारे सामने आवे तब हम उसीको सिर चढ़ाने लगें।]

२–ईश्वर और धर्मके ठोस संस्कार बालकोंके हृदयोंमें जमें, ऐसी बातें पाठ्य पुस्तकोंमें अवश्य रहे। गीता-जैसे सर्वमान्य ग्रन्थको उच्च शिक्षामें रक्खा जाना चाहिये।

३–सदाचार और दैवी सम्पत्तिको बढ़ानेवाले उपदेश, सदाचारी और दैवी सम्पत्तिसम्पन्न पुरुषोंके चरित्रसहित पाठ्य पुस्तकोंमें रहें और उनका विशेषरूपसे महत्त्व बतलाया जाय।

४–धार्मिक शिक्षाकी स्वतन्त्र व्यवस्था भी हो जिसमें, १ ईश्वरभक्ति, २ माता-पिताकी भक्ति, ३ शास्त्रभक्ति, ४ सत्य, ५ प्रेम, ६ ब्रह्मचर्य, ७ अहिंसा, ८ निर्भयता, ९ दानशीलता, १० निष्कपट व्यवहार, ११ परस्त्रीको मा-बहिन समझना, १२ किसीकी निन्दा न करना, १३ किसी भी दूसरे धर्म या धर्माचार्यको नीची निगाहसे न देखना, १४ आजीविका आदिके कार्योंमें छल, कपट और चोरीका त्याग, १५ शारीरिक श्रम या मेहनतकी कमाईका महत्त्व, और १६ सबसे प्रीति करना—इन १६ गुणोंपर विशेष जोर दिया जाय। और बालकोंके हृदयमें इनके विकास और विस्तार करनेकी चेष्टा की जाय। प्रतिदिन पढ़ाई आरम्भ होनेके समय सब अध्यापक और विद्यार्थी मिलकर ऐसी ईश्वरप्रार्थना करें, जिसके करनेमें किसी भी धर्मके बालकको आपत्ति न हो।

५–अवतारों और महापुरुषोंकी जन्मतिथियोंपर उत्सव मनाये जायँ और उनके जीवनकी महत्त्वपूर्ण बातोंपर प्रकाश डाला जाय।

६–खान-पानकी शुद्धि और संयमके महान् लाभ बालकोंको समझाये जायँ।

७–किसी भी पाठ्य पुस्तकमें खुले शृंगारका वर्णन न हो। ऐसा कोई काव्य या नाटक पढ़ाना आवश्यक हो तो उसमेंसे उतना अंश पढ़ाईके क्रमसे निकाल दिया जाय। [मैंने सुना है कि कई पाठ्य पुस्तकोंके ऐसे पाठ अच्छे अध्यापक अपने विद्यार्थियोंको नहीं पढ़ा सकते; और बालिकाओंको तो, वैसा पाठ आ जानेपर विचारशील प्रोफेसर जितने दिनोंतक वह पाठ चलता है, उतने दिनोंके लिये उस पीरियडमें अनुपस्थित रहनेकी अनुमति देनेको बाध्य होते हैं। अतएव ऐसी बातें तरलमति बालकोंके पाठमें नहीं आनी चाहिये।]

८–साम्प्रदायिक विद्वेष बढ़ानेवाली बातें किसी भी पाठ्य पुस्तकमें नहीं रहनी चाहिये।

९–विलासिता और फिजूलखर्चीके दोष पाठ्य पुस्तकोंमें बतलाये जायँ। जहाँतक हो विद्यार्थियोंका जीवन अधिक-से-अधिक सादा और निर्मल रहे, ऐसी चेष्टा हो।

१०–अध्यापक और छात्रावासके व्यवस्थापक ऐसे सज्जन हों जो स्वयं सदाचारी, धार्मिक, ईश्वरमें विश्वासी, विलासिताके विरोधी, और मितव्ययी हों। (याद रहे, अध्यापकों और व्यवस्थापकोंके चरित्रका प्रभाव बालकोंपर सबसे अधिक पड़ता है।)

११–सभी शिक्षालयोंमें कुछ-न-कुछ हाथकी कारीगरी-का काम जरूर सिखाया जाय, जिससे कालेजोंसे निकले हुए विद्यार्थी शारीरिक परिश्रम तथा कारीगरीका काम हाथसे करनेमें सकुचावें नहीं, वरं सम्मानका अनुभव करें।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

१२-छात्रावास बहुत सादे और संयमके नियमोंसे पूर्ण हों। वहाँ विद्यार्थीगण यथासाध्य सभी काम हाथसे करें, जिससे घर आनेपर हाथसे काम करनेमें बुरा न मालूम हो। तन-मनसे पवित्र रहनेकी आदत डाली जाय। शरीरकी लम्बाई देशी तरीकेसे की जाय। अवकाशके समय कथा आदिकी व्यवस्था हो।

१३-जहाँतक हो, स्कूल-कालेज प्राकृतिक शोभायुक्त स्थानोंमें हों, खास करके पवित्र नदीके तटपर; उनमें यथासाध्य खर्चीला सामान, विदेशी फैशनका फरनीचर आदि न रहे।

१४-माता-पिता-गुरुके प्रति आदर-बुद्धि हो, उनका पालन और पोषण करना कर्त्तव्य समझा जाय, किसीका भी अनादर न हो, किसीका मखौल न उड़ाया जाय। ऐसी शिक्षा बालकोंको दी जाय।

१५-लड़के-लड़कियोंको एक साथ बिल्कुल न पढ़ाया जाय।

१६-लड़कियोंके पढ़ानेके लिये सदाचारिणी और सद्गृहस्था अध्यापिका ही रहें, और कन्यापाठशालाओं-की पढ़ाई स्वतन्त्र रहे तथा पढ़ाईका समय भी गृहस्थके अनुकूल हो।

१७-लड़कियोंकी शिक्षामें इस बातका प्रधानरूपसे ध्यान रक्खा जाय कि बड़ी होनेपर उनके सतीत्व, मातृत्व और सद्गृहिणीपनका नाश न होकर पूर्ण विकास हो।

मैं जानता हूँ कि शिक्षाक्षेत्रके पूज्य पुरुष और मनीषी-गण इनसे भी अच्छी-अच्छी बातोंको सोचते-विचारते हैं, और उन्हें कार्यरूपमें परिणत करनेकी चेष्टा भी करते हैं। कहना सहज है, परन्तु परिस्थितिका सामना करते हुए वैसा करना बहुत ही कठिन है। इस बातका भी मैं अनुभव करता हूँ। तथापि अपनी ओरसे बालककी भाँति पूज्य पुरुषोंके चरणोंमें नम्रताके साथ विचारार्थ उपर्युक्त बातें रखता हूँ। आशा है वे मेरी इस अनधिकारचेष्टा और धृष्टतापर क्षमा करेंगे।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

विदा

विदा ! विदा ! बस आज विदा !
ओ कल्पने अरे प्रलोभन ओ सारे सुख साज विदा !!!
विदा ! विदा ! हो ओ आशाओ,
छोड़ चला अब मत ललचाओ।
जाओ इप्सित गतिको पावो,
ओ रसके पद विमुख हीन मति संशय शील समाज विदा !
सब संगसे साथी मेरे,
गृह कुटुम्ब धन जन सब तेरे।
ले तेरे ही पास पुनः ले,
थके रहा हूँ बस बस बस अब मायामय संसार विदा !
क्या चिन्ता जो घन छायेगा,
रुक्ष देहपर वर्षायेगा।
भीषण झंझानिल आयेगा,
पर स्वतन्त्र पक्षीके रक्षक प्यारे कारागार विदा !!!
आने दो कण्टकमय पथको,
दुर्गम वनको गिरि-शृंगोंको।
निकल पड़ी मिलने अनन्तको,
नदी वेगसे तुच्छ सरोवर तेरी व्यर्थ पुकार विदा !
अरुणोदय होनेवाला है,
दिनकर तम खोनेवाला है,
अब उलूक रोनेवाला है,
अंधकारमें रहनेवाले निशिचर भ्रम मोहादि विदा !!
बीत रहा वर्षों-सा प्रति पल,
चित्त हो रहा व्याकुल चंचल।
बहुत हो चुका बस अब मत छल,
छल न चलेगा उससे मिलनेमें ओ मायाजाल विदा !!

—'सुदर्शन'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

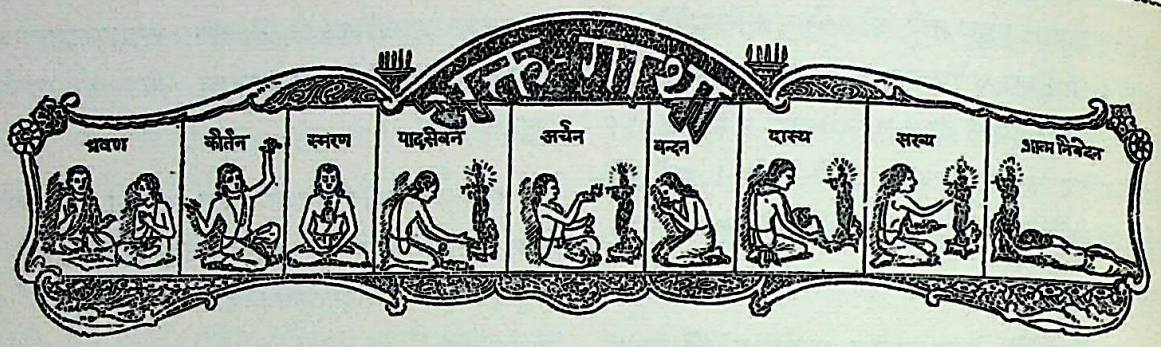

ब्राह्मण देवमाली

लुब्धा व्यसनिनोऽज्ञाश्च न यजन्ति जगत्पतिम् ।
अजरामरवन्मूढास्तिष्ठन्ति नरकीटकाः ॥
तडिल्लोलश्रिया मत्ता वृथाहङ्कारदूषिताः ।
न यजन्ति जगन्नाथं सर्वश्रेयोविधायकम् ॥
कर्मणा मनसा वाचा यो यजेद्भक्तितो हरिम् ।
स याति परमस्थानं सर्वलोकोत्तमोत्तमम् ॥

'विषयोंके लोभी, व्यसनी अज्ञानी मनुष्य ही जगत्पति श्रीहरिकी अर्चना नहीं करते हैं, वे नरकीट मूढ समझते हैं कि हम सदा अजर-अमर रहेंगे । वृथा अहंकारसे दूषित मनुष्य ही बिजलीकी चमकके समान क्षणस्थायी ऐश्वर्यके मदमें मतवाले होकर सर्व कल्याण-प्रद जगन्नाथ श्रीहरिकी पूजा नहीं करते हैं । जो मनुष्य शरीर, मन और वाणीसे भक्तिपूर्वक श्रीहरिकी पूजा करता है, वह सब लोकोंसे उत्तमोत्तम परम-धामको प्राप्त करता है ।'

रैवतदेशमें देवमाली नामक एक ब्राह्मण निवास करता था । वह वेदवेदाङ्गका ज्ञाता, सब जीवोंके प्रति दयालु और भक्तिपूर्वक भगवान्‌की पूजा करनेवाला था । परन्तु घरमें तथा धनमें उसकी बड़ी आसक्ति थी । इस आसक्तिके वश होकर वह धनकी कामनासे रसादिका विक्रय करता था तथा चाण्डाल आदिसे भी प्रतिग्रह ले लेता था । वह अपने तप, व्रत और धर्मको भी धनके लिये बेच दिया करता था । कुछ समय बाद उसके यज्ञमाली और सुमाली नामक दो सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुए । पुत्रोंके बड़े होनेपर देवमाली अत्यन्त स्नेहके साथ उन्हें भी धन कमानेके भाँति-भाँतिके उपाय बतलाने लगा । इसी उधेड़बुनमें जीवन बीतते-बीतते बुढ़ापा आ गया । तब एक दिन उसने नाना उपायोंसे कमाये हुए धनको गिनना शुरू किया । करोड़ों सोनेकी मुहरें गिनकर वह मन-ही-मन अत्यन्त आनन्दित होते हुए बड़े अचरजके साथ कहने लगा कि 'ओहो ! नाना प्रकारके अच्छे-बुरे उपायोंसे मैंने इतना धन इकट्ठा कर लिया, तब भी मेरी धनकी तृष्णा अभीतक शान्त नहीं हुई ! आज भी मैं उस तृष्णाके वशमें होकर घरमें सोनेका पहाड़ देखना चाहता हूँ । इतना धन होनेपर भी तृष्णाके कारण मेरे मनमें क्षणभरके लिये शान्ति नहीं है । मैं रातदिन जला करता हूँ । बाहरसे किसीको मुझमें कोई कष्ट नहीं दीखता परन्तु मैं रातदिन अपनेको कष्टों और दुःखोंसे घिरा हुआ देखता हूँ । मैं अब समझा । यह धनतृष्णा ही मेरे समस्त क्लेशोंका कारण है । जिसके धनकी तृष्णा है वह सब कुछ पा जानेपर भी और कुछ पानेके लिये सदा ललचाता रहता है । बुढ़ापेमें मनुष्यके आँख, कान, दाँत और केश सभी जीर्ण हो जाते हैं परन्तु यह धनकी लालसा तो उस समय और भी तरुण दिखायी देती है । इसीसे, आज बुढ़ापेके कारण मेरी सारी इन्द्रियोंका बल नष्ट हो जानेपर भी मैं धनकी लालसाको और भी बढ़ी हुई

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

देखता हूँ। जिसके धनकी लालसा लगी है, वह बुद्धिमान् होते हुए भी मूढ़ है; शान्त होनेपर भी क्रोधी है और विद्वान् होनेपर भी सबके सामने मूर्ख बनता है। धनकी कामना मनुष्यके लिये अजेय बुढ़ापेके समान है। इसीके कारण पाप-तापकी प्राप्ति और स्वस्थताका विच्छेद होता है। बल, तेज, यश, विद्या शूरता, वृद्धता, कुलीनता और मान, सभीको यह धनकी तृष्णा तुरन्त हर लेती है। जो धनकी लालसामें पड़े हैं उनका हृदय निरन्तर शोकसे व्याकुल और महान् मोहसे ढका रहता है। धनका लोभी किसी भी अपको पाप नहीं समझता; अपमान-क्लेश सब कुछ सहकर भी वह धनके लिये पापपूर्ण प्रयत्न करता रहता है। हा! मैंने अपनी सारी उम्र धनकी लालसामें किस तरह खो दी। मैंने न मालूम कितना पाप बटोरा है। अब बुढ़ापा आ गया है, शरीर जीर्ण हो गया है, इन्द्रियोंकी शक्ति नष्ट होने लगी है, अब भी क्या मैं नहीं चेतूँगा।' यों विचार करते-करते पश्चात्तापसे ब्राह्मणका हृदय भर गया; वह अपनी करनीको याद करके पछताने लगा और श्रीभगवान्‌से निस्तारके लिये कातर कण्ठ एवं करुण स्वरसे प्रार्थना करने लगा।

पश्चात्तापकी आगसे पापोंका प्रायश्चित्त होने लगा, और भगवत्-स्मरण एवं भगवत्प्रार्थनासे आध्यात्मिक सम्पत्ति प्राप्ति हुई। इस प्रकार करते-करते कुछ समय बाद एक दिन ब्राह्मणने निश्चय किया, अब शेष जीवन भगवद्भजनमें ही लगाना है। भगवान्‌ने गीतामें प्रतिज्ञा करके कहा है कि 'महान् पापी भी यदि (पापोंको छोड़कर) शेष जीवन मेरे भजनमें लगाने-की भलीभाँति निश्चय करके अनन्य भावसे मुझको भजता है तो वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत (नित्य) परम शान्तिको पाता है। हे अर्जुन! तू सत्य जान कि मेरे भक्तका कभी नाश नहीं होता।' इस सिद्धान्तके अनुसार देवमालीने भी भगवान्‌के भजनमें लगनेका निश्चयकर सबसे पहले धनके चार भाग किये। अपना कमाया हुआ होनेके कारण दो भाग तो अपने लिये रख लिया और शेष दो भाग दोनों पुत्रोंको बाँट दिये। अपने लिये रक्खे हुए धनसे उसने मन्दिर, तालाब, कुएँ, धर्मशाला आदि बनवाये, स्थान-स्थानपर वृक्ष लगाये, और गङ्गातीरपर अन्नदानकी व्यवस्था की। इस प्रकार शीघ्र ही अपनी प्रचुर धनराशिको सत्कार्यमें लगाकर वह तपस्याके लिये श्रीनरनारायणकी लीलाभूमि बद्रिकाश्रमको चला गया।

बद्रिकाश्रममें महान् वनमें देवमालीने मुनियोंका एक सुन्दर आश्रम देखा। आश्रमके चारों ओर पुष्प और फलोंसे सुशोभित वृक्षोंकी कतार खड़ी थी। शास्त्रचिन्तनमें निमग्न, भगवत्सेवा-परायण वृद्ध मुनिगण परब्रह्म भगवान्‌की वैदिक स्तुतियोंसे आश्रमको पवित्र कर रहे थे। देवमालीने देखा, मुनिमण्डलीके बीचमें एक शान्तमूर्ति, रागद्वेषादिरहित और शमादि गुणोंसे युक्त तेजपुञ्ज महात्मा बैठे हुए भगवान्‌की स्तुति गा रहे हैं। उनको देखकर देवमालीने महात्माके चरणोंमें प्रणाम किया। महात्मा मुनिका नाम जानन्ति था, वे बड़े ही तपस्वी थे। केवल सूखे पत्ते खाकर रहते थे। देवमालीको देखकर मुनिवर जानन्तिने उसको अपने पास बैठाया और कन्द-मूल-फलादिके द्वारा नारायणबुद्धिसे उसका अतिथि-सत्कार किया। तदनन्तर देवमालीने अपने जीवनका सारा इतिहास संक्षेपमें सुनाकर बड़े ही नम्र शब्दोंमें मुनिवरसे कहा,—'भगवन्! आज मेरे सारे पाप नष्ट हो गये, आपके दर्शनसे मैं कृतार्थ हो गया। हे महाभाग! अब मुझे ज्ञानदान करके मेरा उद्धार कीजिये।' देवमालीके वचन सुनकर मुनिसत्तम जानन्तिने हँसते हुए बड़े ही स्नेहके साथ कहा,—'हे ब्राह्मण! मैं तुम्हें उद्धारका उपाय बतलाता हूँ, ध्यान देकर सुनो

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

और तदनुसार करो। यदि तुम मेरे कहे अनुसार करोगे तो अवश्य ही तुम्हें दुर्लभ परब्रह्मपदकी प्राप्ति होगी।'

'नित्य-निरन्तर परम प्रभु भगवान् नारायण विष्णु-का स्मरण और भजन करो। किसीके दोषोंका वर्णन और चुगली कभी न करो। सदा परोपकारमें लगे रहो। श्रीहरिकी पूजाके परायण हो जाओ, मूर्खोंका सङ्ग छोड़ दो। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर और मदको त्यागकर सब प्राणियोंको अपने आत्माके समान समझो। कभी किसीको कठोर वचन मत कहो, किसीके साथ निर्दयताका व्यवहार न करो, डाह और परनिन्दा कभी न करो। दम्भ और अहङ्कारका त्याग करके सब भूतोंके प्रति दया करो और सत्पुरुषोंकी सेवा करो; पापियोंको पापोंसे छुड़ानेका प्रयत्न करो, उन्हें धर्मका अनुभूत सच्चा मार्ग बतलाओ, प्रतिदिन अतिथियोंकी आत्मवत् सेवा करो। पत्र-पुष्प-फल-माला इत्यादिके द्वारा निष्कामभावसे जगन्नाथ नारायणकी पूजा करो। देवता, ऋषि और पितृगणोंका यथाविधि तर्पण और अग्निकी यथायोग्य सेवा करो। समाहित चित्तसे भगवान्‌के मन्दिरका सम्मार्जन, लेपन, भग्न मन्दिरोंका जीर्णोद्धार, मन्दिरमें दीपदान आदि करो। कन्द-मूल-फल प्रदक्षिणा, नमस्कार और स्तोत्रपाठद्वारा भगवान् विष्णुकी पूजा, पुराणश्रवण, पुराणपाठ और प्रतिदिन वेदान्तका अध्ययन करो। इन उपायोंके करनेसे शीघ्र ही अत्युत्तम परम ज्ञानकी प्राप्ति होगी, जिससे तुम्हारे दुःखोंका और पापोंका आत्यन्तिक नाश हो जायगा।

गुरुवर मुनि जानन्तिके वचन सुनकर उनकी आज्ञानुसार देवमाली साधनमें लग गया। जब कभी सन्देह होता, तब गुरुसे पूछकर वह अपने सन्देहकी निवृत्ति कर लेता। इस प्रकार साधन करते-करते भगवत्कृपासे देवमालीको भगवान्‌का यथार्थ ज्ञान हो गया। और अन्तमें गुरुकी आज्ञासे भगवान् विश्वनाथ-की वाराणसीपुरीमें आकर देवमालीने भगवान्‌के परमपदको प्राप्त किया!

बोलो भक्त और उनके भगवान्‌की जय!

गीत

(ले०—पं० श्रीमदनगोपालजी गोस्वामी बी० ए० 'अरविन्द')

जीवन है अनमोल रे
यह अमूल्य-धन लुटा रहा तू क्यों माटीके मोल रे!
जीवन है अनमोल रे ॥ १ ॥

जिस गुदड़ेमें छिपा तुम्हारा मानव! रत्न-अमोल रे!
उसे भूल मत इन्द्रिय-सुखके अधम-तुलापर तोल रे!
जीवन है अनमोल रे ॥ २ ॥

मदमाता फिरता है पागल किस बलपर तू बोल रे!
जग बहता प्रवाह तू है लघु-एक-तरंग-विलोल रे!
जीवन है अनमोल रे ॥ ३ ॥

विषम वासना-जाल तोड़ जड़! मनकी घुण्डी खोल रे!
राम-नामके अमृत-रससे भर ले मानस-डोल रे!
जीवन है अनमोल रे! ॥ ४ ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीशङ्कराचार्यकृत चर्पटपञ्जरिका

(अनु०—श्रीविनायकरावजी भट्ट)

दिनमपि रजनी सायं प्रातः
शिशिरवसन्तौ पुनरायातः ।
कालः क्रीडति गच्छत्यायु-
स्तदपि न मुञ्चत्याशावायुः ॥ १ ॥
भज गोविन्दं भज गोविन्दं
भज गोविन्दं मूढमते ।
प्राप्ते सन्निहिते मरणे
नहि नहि रक्षति डुकृञ् करणे (ध्रुवपद)

दिवस और रजनी प्रभात फिर सन्ध्या आती
शिशिर वसन्त आदि ऋतुएँ भी आती-जातीं ।
खेल रहा है काल आयुके दिन जाते हैं
तदपि न आशावायु, मुक्त, नर कर पाते हैं ॥१॥
(भज गोविन्दं०)

प्राण-गमनका काल सन्निकट आवेगा जब
'डुकृञ् करणे' त्राण कर सकेगा न कभी तब ।
(भज गोविन्दं०)

अग्रे वह्निः पृष्ठे भानू
रात्रौ चिबुकसमर्पितजानुः ।
करतलभिक्षा तरुतलवास-
स्तदपि न मुञ्चत्याशापाशः ॥ २ ॥
(भज गोविन्दं०)

अनल सामने और दिवाकर करते पीछे
निशा समय निज जानु लगाते हैं ठोड़ीसे ।
करतल लेते भीख और हैं तरुतल भजते
तदपि आशापाश न तो भी मानव तजते ॥२॥
(भज गोविन्दं०)

यावद्वित्तोपार्जनसक्त-
स्तावन्निजपरिवारो रक्तः ।
पश्चाद्धावति जर्जरदेहे
वार्तां पृच्छति कोऽपि न गेहे ॥ ३ ॥
(भज गोविन्दं०)

मनुज अमित धनराशि कमा सकते हैं जबतक
रह सकते हैं मिले बन्धुओंमें ही तबतक ।
हुए गात्र जब शिथिल दौड़ते इधर उधर हैं
नहीं पूछता बात कोइ भी तब उस घरमें ॥३॥
(भज गोविन्दं०)

जटिलो मुण्डी लुञ्चितकेशः
काषायाम्बरबहुकृतवेषः ।
पश्यन्नपि च न पश्यति मूढ
उदरनिमित्तं बहुकृतवेषः ॥ ४ ॥
(भज गोविन्दं०)

बनते मुण्डी, जटिल, नोचते कभी केश हैं
पहिन गेरुआ वस्त्र बनाते रुचिर वेष हैं ।
अज्ञ, देखते हुए न कुछ भी हैं निहारते
केवल उदर निमित्त अनेकों रूप धारते ॥४॥
(भज गोविन्दं०)

भगवद्गीता किञ्चिदधीता
गङ्गाजललवकणिका पीता ।
सकृदपि यस्य मुरारिसमर्चा
तस्य यमः किं कुरुते चर्चाम् ॥ ५ ॥
(भज गोविन्दं०)

किञ्चित् भी यदि गीताका अध्ययन किया है
बिन्दु मात्र श्रीगङ्गाका जल कभी पिया है ।
एक बार भी की है जिसने हरिकी अर्चा
तो कृतान्तके यहाँ न होगी उसकी चर्चा ॥५॥
(भज गोविन्दं०)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं
दशनविहीनं जातं तुण्डम्।
वृद्धो याति गृहीत्वा दण्डं
तदपि न मुञ्चत्याशापिण्डम् ॥६॥
(भज गोविन्दं०)

हुआ अंग है गलित, पलित भी मुण्ड हुआ है
और जरावश दशनहीन भी तुण्ड हुआ है।
चलते लेकर दण्ड वृद्ध मानव हैं जो भी
पर वे आशापिण्ड नहीं तजते हैं तो भी ॥६॥
(भज गोविन्दं०)

बालस्तावत्क्रीडासक्त-
स्तरुणस्तावत्तरुणीरक्तः।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः
परमे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः ॥७॥
(भज गोविन्दं०)

बालावस्था पाकर रत थे क्रीडाओंमें
हुए तरुण, आसक्त हुए तो रामाओंमें।
होकर फिर अति वृद्ध रहे चिन्ताओंमें रत
शुद्ध ब्रह्ममें लग्न न कोई हुआ भागवत ॥७॥
(भज गोविन्दं०)

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं
पुनरपि जननीजठरे शयनम्।
इह संसारे भवदुस्तारे
कृपयापारे पाहि मुरारे ॥८॥
(भज गोविन्दं०)

फिर फिर लेना जन्म और फिर फिर मरना है
जननी जठर निवास अवश फिर फिर करना है।
यह अपार दुस्तर भव-पीड़ा मेरी हरिये
हे प्रभुवर! मुररिपो! कृपाकर रक्षा करिये ॥८॥
(भज गोविन्दं०)

पुनरपि रजनी पुनरपि दिवसः
पुनरपि पक्षः पुनरपि मासः।
पुनरप्ययनं पुनरपि वर्षं
तदपि न मुञ्चत्याशामर्षम् ॥९॥
(भज गोविन्दं०)

रजनी दिन औ पक्ष मास फिर फिर आते हैं
अयन युग्म फिर वर्ष विगत होते जाते हैं।
होता है आश्चर्य देखकर काल-कलाएँ
इतने पर भी मनुज न तजते हैं आशाएँ ॥९॥
(भज गोविन्दं०)

वयसि गते कः कामविकारः
शुष्के नीरे कः कासारः।
नष्टे द्रव्ये कः परिवारो
ज्ञाते तत्त्वे कः संसारः ॥१०॥
(भज गोविन्दं०)

उठते काम-विकार नहीं वय गत होनेपर
है सलिलाशय व्यर्थ सकल पय गत होनेपर।
किसका क्या परिवार हुआ जब नष्ट सर्वधन
तत्त्वज्ञान मिलनेपर जगका कौन प्रयोजन ॥१०॥
(भज गोविन्दं०)

नारीस्तनभरनाभिनिवेशं
मिथ्या मायामोहावेशम्।
एतन्मांसवसादिविकारं
मनसि विचारय बारम्बारम् ॥११॥
(भज गोविन्दं०)

नारीके कुच युगल और गम्भीर नाभितल
मिथ्या माया और मोहके आवेशस्थल।
चर्बी मांस-विकार जानकर इनमें भाई
सोचो बारंबार चित्तमें तभी भलाई ॥११॥
(भज गोविन्दं०)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कस्त्वं कोऽहं कुत आयातः
का मे जननी को मे तातः ।
इति परिभावय सर्वमसारं
विश्वं त्यक्त्वा स्वप्नविचारम् ॥१२॥
(भज गोविन्दं०)

हूँ मैं कौन, कौन तू किस थलसे आता है
कौन जननि तव तात किसे तू बतलाता है ।
सदा सोचता रहे इसे तू सावधान रह
स्वप्नविचार समान जानकर अखिल विश्व यह ॥१२॥
(भज गोविन्दं०)

गेयं गीतानामसहस्रं
ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम् ।
नेयं सज्जनसङ्गे चित्तं
देयं दीनजनाय च वित्तम् ॥१३॥
(भज गोविन्दं०)

गीता नाम-सहस्र प्रेमसे प्रतिदिन गाओ
श्रीपतिनाम अजस्र चित्तसे निशिदिन ध्याओ ।
सज्जन-संगतिमें निज मनको शीघ्र लगाओ
दीनजनोंके हेतु दानमें वित्त लुटाओ ॥१३॥
(भज गोविन्दं०)

यावज्जीवो निवसति देहे
कुशलं तावत्पृच्छति गेहे ।
गतवति वायौ देहापाये
भार्या बिभ्यति तस्मिन्काये ॥१४॥
(भज गोविन्दं०)

जबतक जबतक वास जीव प्राणीके तनमें
घरमें उसकी कुशल पूछते तबतक जन हैं ।
प्राण निकलने पर होता जब देह नाश है
स्त्री उस तनसे भय खाती जाती न पास है ॥१४॥
(भज गोविन्दं०)

सुखतः क्रियते रामाभोगः
पश्चाद्धन्त शरीरे रोगः ।
यद्यपि लोके मरणं शरणं
तदपि न मुञ्चति पापाचरणम् ॥१५॥
(भज गोविन्दं०)

होता है तू सक्त रमणिजन सुखद भोगमें
फिर पीछे है पड़ा तड़पता कठिन रोगमें ।
यद्यपि जगमें मरण सभीकी एक शरण है
तद्यपि कोई क्यों न छोड़ता दुराचरण है ॥१५॥
(भज गोविन्दं०)

रथ्याचर्पटविरचितकन्थः
पुण्यापुण्यविवर्जितपन्थः ।
नाहं न त्वं नायं लोक-
स्तदपि किमर्थं क्रियते शोकः ॥१६॥
(भज गोविन्दं०)

यह कन्था चौराहेके चिथड़ोंसे विरचित
और हमारा पन्थ पुण्य औ पापविवर्जित ।
न मैं न तुम फिर कहीं नहीं यह सकल लोक है
अहो मनुज! तू क्यों तब भी होता सशोक है ॥१६॥
(भज गोविन्दं०)

कुरुते गङ्गासागरगमनं
व्रतपरिपालनमथवा दानम् ।
ज्ञानविहीनः सर्वमतेन
मुक्तो न भवति जन्मशतेन ॥१७॥
(भज गोविन्दं०)

गंगासागर जाओ चाहे क्यों न निरन्तर
व्रत-परिपालन करो दान दो चाहे जीभर ।
किन्तु ज्ञानके बिना न मिलती मुक्ति किसीको
सौ जन्मोंमें भी; यह मत है मान्य सभीको ॥१७॥
(भज गोविन्दं०)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भगवद्दर्शनकी चाह

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

बहुत-से लोग कहा करते हैं कि यथाशक्ति चेष्टा करनेपर भी भगवान् हमें दर्शन नहीं देते। वे लोग भगवान्‌को 'निष्ठुर कठोर' आदि शब्दोंसे सम्बोधित किया करते हैं तथा ऐसा मान बैठे हैं कि उनका हृदय वज्रका-सा है और वे कभी पिघलते ही नहीं। उन्हें क्या पड़ी है कि वे हमारी सुध लें, हमें दर्शन दें और हमें अपनावें—ऐसी ही शिकायत बहुत-से लोगोंकी रहती है।

परन्तु बात है बिल्कुल उलटी। हमारे ऊपर प्रभुकी अपार दया है। वे देखते रहते हैं कि जरा भी गुंजाइश हो तो मैं प्रकट होऊँ, थोड़ा भी मौका मिले तो भक्तको दर्शन दूँ। साधनाके पथमें वे पद-पदपर हमारी सहायता करते रहते हैं। लोकमें भी यह देखा जाता है कि जहाँ विशेष टान होती है, जिस पुरुषका हमारे प्रति विशेष आकर्षण होता है उसके पास और सब काम छोड़कर भी हमें जाना पड़ता है। जहाँ नहीं जाना होता वहाँ प्रायः यही मानना चाहिये कि प्रेमकी कमी है। जब हम साधारण मनुष्योंकी भी यह हालत है, तब भगवान्, जो प्रम और दयाके अथाह सागर हैं, यदि थोड़ा प्रेम होनेपर भी हमें दर्शन देनेके लिये तैयार रहें इसमें आश्चर्य ही क्या है?

भगवान्‌के प्रकट होनेमें जो विलम्ब हो रहा है उसमें मुख्य कारण हमारी टानकी कमी ही है। प्रभु तो प्रेम और दयाकी मूर्ति ही हैं। फिर वे आनेमें विलम्ब क्यों करते हैं? कारण स्पष्ट है। हम उनके दर्शनके लायक नहीं हैं। हममें अभी श्रद्धा और प्रेमकी बहुत कमी है। यदि हम उसके लायक होते तो भगवान् स्वयं आकर हमें दर्शन देते क्योंकि भगवान् परमदयालु, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सर्वान्तर्यामी हैं। किन्तु हमारे अंदर उनके प्रति श्रद्धा और प्रेमकी बहुत ही कमी है। अतएव श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धिके लिये हमें उनके तत्त्व, रहस्य, गुण और प्रभावको जाननेके लिये प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेम हो जानेपर वे न मिलें, ऐसा कभी हो नहीं सकता। बाध्य होकर भगवान् अपने श्रद्धालु भक्तकी श्रद्धाको फलीभूत करते ही हैं। जबतक उनकी कृपापर पूरा विश्वास नहीं होता तबतक प्रभुका प्रसाद हमें कैसे प्राप्त हो सकता है? यदि हमारा यह विश्वास हो जाय कि भगवान्‌के दर्शन होते हैं और अमुक व्यक्तिने भगवान्‌के दर्शन किये हैं, तो उसके साथ हमारा व्यवहार कैसा होगा, इसका भी हमलोग अनुमान नहीं कर सकते। फिर स्वयं भगवान्‌के मिलनेसे जो दशा होती है, उसका तो अंदाजा लगाना ही असम्भव है। रासलीलाके समय भगवान्‌के अन्तर्धान हो जानेपर गोपियोंकी कैसी दशा हुई? एक क्षणके लिये भी उन्हें भगवान्‌का वियोग असह्य हो गया, अतएव बाध्य होकर भगवान्‌को प्रकट होना पड़ा। दुर्वासाके दस हजार शिष्यों-सहित भोजनके लिये असमयमें उपस्थित होनेपर, उन्हें भोजन करानेका कोई उपाय न दीखनेपर, द्रौपदी व्याकुल होकर भगवान्‌का स्मरण करने लगी और उसके पुकारते ही भगवान् इस प्रकार प्रकट हो गये जैसे मानो वहीं खड़े हों। विश्वास होनेसे प्रायः यही अवस्था सभी भक्तोंकी होती है। नरसीको दृढ़ विश्वास था कि उसकी लड़कीका भात भरनेके लिये हरि आवेंगे ही और वे मगन होकर गाने लगे 'बाई आसी आसी आसी, हरि घणे भरोसे आसी।' हरिके आनेमें उन्हें तनिक भी शंका नहीं थी। अतएव भगवान्‌को समयपर आना ही पड़ा।

भगवान्‌के दर्शनमें जो विलम्ब हो रहा है उसका एकमात्र कारण दृढ़ विश्वासका अभाव ही है। चाहे जिस प्रकार यह निश्चय हो जाय, निश्चय हो जानेपर भगवान् न आवें ऐसा हो नहीं सकता। वे अपने भक्तको निराश नहीं करते, यही उनका बाना है। यह दूसरी बात है कि बीच-बीचमें हमारे मार्गमें ऐसे विघ्न आ खड़े हों जिनके कारण हमारा मन विचलित-सा हो जाय। परन्तु यदि साधक उस समय सम्हलकर प्रभुको दृढ़तापूर्वक पकड़े रहे और विघ्नोंसे न घबरावे तो उसका काम अवश्य ही बन जाता है। प्रभु तो हमारी श्रद्धाको पक्की करनेके लिये ही कभी निष्ठुर और कभी कोमल व्यवस्था किया करते हैं।

वास्तविक श्रद्धा इतनी बलवती होती है कि भगवान्‌को बाध्य होकर उस श्रद्धाको फलीभूत करनेके लिये प्रकट होना पड़ता है। पारस यदि पारस है और लोहा यदि लोहा है तो स्पर्श होनेपर सोना होगा ही। उसी प्रकार श्रद्धावान्

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

को भगवान्‌की प्राप्ति होती है। श्रद्धालु भक्तकी कमीकी पूर्ति करके भगवान् उसके कार्यको सिद्ध कर देते हैं। श्रद्धा होनेपर सारी कमीकी पूर्ति भगवान्‌की कृपासे अपने-आप हो जाती है। हमलोगोंमें श्रद्धा-प्रेमकी कमी मालूम होती है, इसीलिये भगवान् प्रकट नहीं होते। अन्यथा उनके दयालु और प्रेमपूर्ण स्वभावको देखते हुए तो वे दर्शन दिये बिना रह सकें ऐसा हो नहीं सकता। रावणके द्वारा सीताके हरे जानेपर उसके लिये श्रीराम ऐसे व्याकुल होते हैं जैसे कोई कामी पुरुष अपनी प्रेयसीके लिये होता है। इसका कारण क्या था? कारण यही था कि सीता एक क्षणके लिये भी रामके बिना नहीं रह सकती थी। भगवान् कहते हैं जो मेरे लिये जैसे व्याकुल होता है उसके लिये मैं भी वैसा ही व्याकुल होता हूँ।

'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।'

(गीता ४। ११)

भगवान् तो प्रकट होनेके लिये तैयार हैं। वे मानो चाहते हैं कि लोग मुझसे प्रेम करें और मैं प्रकट होऊँ। सीताका जैसा उत्कट प्रेम भगवान् रामचन्द्रमें था वैसा ही प्रेम यदि हमलोगोंका प्रभुमें हो जाय तो प्रभु हमारे लिये भी प्रकट हो सकते हैं। जो हरिके लिये लालायित है उसके लिये हरि भी वैसे ही लालायित रहते हैं।

प्रभुमें श्रद्धा-प्रेम बढ़े, उनका चिन्तन बना रहे—एक पलके लिये भी उनका विस्मरण न हो, ऐसा ही लक्ष्य हमारा सदा बना रहना चाहिये। हमें वे चाहे जैसे रक्खें, और चाहे जहाँ रक्खें उनकी स्मृति अटल बनी रहनी चाहिये। उनकी राजीमें ही अपनी राजी, उनके सुखमें ही अपना सुख मानना चाहिये। प्रभु यदि हमें नरकमें रखना चाहें, तो हमें वैकुण्ठकी ओर भी नहीं ताकना चाहिये और नरकमें वास करनेमें ही परम आनन्द मानना चाहिये। सब प्रकारसे प्रभुकी शरण हो जानेपर फिर उनसे इच्छा या याचना करना नहीं बन सकता। जब प्रभु हमारे और हम प्रभुके हो गये तो फिर बाकी क्या रहा? हम तो प्रभुके बालक हैं। माँ बालकके दोषोंपर ध्यान नहीं देती। उसके हृदय-में बालकके लिये अपार प्यार रहता है। प्रभु यदि हमारे दोषोंका ख्याल करें तो हमारा कहीं पता ही न लगे। प्रभु तो इस बातके लिये सदा उत्सुक रहते हैं कि कोई रास्ता मिले तो मैं प्रकट होऊँ। किन्तु हमी लोग उनके प्रकट होनेमें बाधक हो रहे हैं। देखनेमें तो ऐसी बात नहीं मालूम होती, ऊपरसे हम उनके दर्शनके लिये लालायित-से दीखते हैं; परन्तु भीतरसे उसे पानेकी लालसा कहाँ है? मुँहसे हम भले ही न कहें कि अभी ठहरो, परन्तु हमारी क्रियासे यही सिद्ध होता है। प्रभुके प्रकट होनेमें विलम्ब सहन करना ही उन्हें ठहराना है। प्रभुसे हमारा बिछोह इसीलिये हो रहा है कि उनके वियोगमें, बिछोहमें हमें व्याकुलता नहीं होती। जब हम ही उनका वियोग सहनेके लिये तैयार हैं और कभी उनके वियोगमें हमारे मनमें व्याकुलता या दुःख नहीं होता, तो प्रभुको ही क्यों परवा होने लगी? यदि हमारे भीतर तड़पन होती और इसपर भी वे न आते तो हमें कहनेके लिये गुंजाइश थी। खुशीसे हम उनके बिना जी रहे हैं। इस हालतमें वे यदि न आवें तो इसमें उनका क्या दोष है? प्रकट होनेके लिये तो वे तैयार हैं, पर जबतक हमारे अंदर उत्सुकता नहीं होती तबतक वे आवें भी कैसे? उनका दर्शन प्राप्त करनेके लिये आवश्यकता है प्रबल चाहकी। वह चाह कैसी होनी चाहिये, इस बातको प्रभु ही पहचानते हैं। जिस चाहसे वे प्रकट हो जाते हैं वही चाह असली चाह समझनी चाहिये। अतः जबतक वे न आवें चाह बढ़ाता ही रहे। घड़ा भर जानेपर पानी अपने-आप ऊपरसे बह चलेगा।

भगवत्प्रेमकी अवस्था ही अनोखी होती है। भगवान्‌का प्रसंग चल रहा है, उसकी मधुर चर्चा चल रही है उस समय यदि स्वयं भगवान् भी आ जायँ तो प्रसंग चलाता रहे, भंग न होने दे। प्रियतमकी चर्चामें एक अद्भुत मिठास होती है जिसकी चाट लग जानेपर और कुछ सुहाता ही नहीं। प्रीतिकी रीति अनोखी है। प्रभु-की प्रीतिका रस जिसने पा लिया उसे और पाना ही क्या रहा? प्रभु तो केवल प्रेम देखते हैं। स्वयं प्रभुसे बढ़कर प्रभुका प्रेम है। श्रद्धा-भक्तिपूर्वक प्रभुके गुण, प्रभाव, तत्त्व तथा रहस्यसहित ध्यानमें तन्मय होना प्रभुके प्रेमा-मृतका पान करना है, प्रभुकी प्रीतिका आस्वादन करना है, या हरिके रसमें डूबना है।

दो प्रेमियोंमें यदि न बोलनेकी शर्त लग जाय तो अधिक प्रेमवाला ही हारेगा। पति-पत्नीमें यदि न बोलने-का हठ हो जाय तो वही हारेगा जिसमें अधिक स्नेह होगा। इसी प्रकार जब भक्त और भगवान्‌में होड़ होती है तो भगवान्‌को ही हारना पड़ता है, क्योंकि प्रभुसे बढ़-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कर प्रेमी कोई नहीं है। उसे इतना व्याकुल कर देना चाहिये कि हमारे बिना वह एक क्षण भी न रह सके। फिर उसे हार माननी ही पड़ेगी—आनेके लिये बाध्य होना ही पड़ेगा। हमें व्यवस्था ही ऐसी कर देनी चाहिये, प्रेमसे उन्हें मोहित कर देना चाहिये। फिर तो धक्का देने-पर भी वे नहीं हटेंगे।

प्रभुके साथ हमारा व्यवहार वैसा ही होना चाहिये जैसा स्त्रीका अपने पतिके साथ। जैसे स्त्री अपने प्रेम और हाव-भावसे पतिको मोहित कर लेती है वैसे ही हमें भगवान्‌को अपने प्रेम और आचरणसे मोहित कर लेना चाहिये। उसे अपनेमें आसक्त भी कर ले और खुशामद भी न करे। फिर तो वह एक पलके लिये भी हमारे द्वारपरसे हटनेका नहीं। वह प्रेमका भिखारी प्रेमका बन्दी बना बैठा है, जायगा कहाँ? पति, पत्नीके प्यारको ठुकरा ही कैसे सकता है? इसी प्रकार प्रभु भी अपने भक्तके प्यारका तिरस्कार कैसे कर सकते हैं? ऐसा हो जानेपर उनसे हमारे बिना रहा ही कैसे जायगा? वे तो सदा प्रेमके अधीन रहते हैं। एक बार प्रभुको अपने प्रेम-पाशमें बाँध ले, फिर तो वे सदाके लिये बँध जाते हैं।

प्रभुको वशीभूत करनेका ढंग स्त्रीसे भी सीखना चाहिये। इसी प्रकारका सम्बन्ध उनसे जोड़ना चाहिये। यही माधुर्यभाव है। बाहरका वेष न बदले, भीतर प्रेमकी प्रगाढ़तामें उसीका बन जाय। यही उन्हें प्राप्त करनेका सर्वोत्तम उपाय है।

प्रभु बड़े दयालु और उदारचित्त हैं। इसलिये थोड़े प्रेमसे भी वे प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु हमलोगोंको उपर्युक्त प्रेमको लक्ष्य बनाकर चलना चाहिये। क्योंकि उच्च लक्ष्य बनाकर चलनेसे ही प्रभुसे मिलानेवाले प्रेमकी प्राप्ति होती है। यदि लक्ष्यके अनुसार पूर्ण प्रेम हो जाय तब तो अत्यन्त सौभाग्यकी बात है; ऐसे पुरुष तो आदर्श एवं दर्शनीय समझे जाते हैं, उनके कृपा-कटाक्षसे दूसरे भी कृतकृत्य हो जाते हैं; फिर उनकी तो बात ही क्या!

[कल्याणके प्रेमी गुजराती ग्राहक प्रायः हिन्दीमें लिखकर कविता और लेख भेजा करते हैं, उनकी इस महान् कृपा और प्रेमके लिये कृतज्ञ होते हुए भी भाषा आदिकी त्रुटिके कारण उनको कल्याणमें स्थान नहीं मिलता। ऐसा करते चित्तमें खेद भी होता है, डर लगता है कि कहीं उनके शुद्ध प्रेमका तिरस्कार तो नहीं हो रहा है। आज वैसी ही कविताओंमेंसे एक कविता आवश्यक संशोधन करके यहाँ प्रकाशित की जाती है और गुजराती भाषाभाषी महानुभावों तथा बहिनोंसे अपनी इस परिस्थितिकी विवशताके लिये क्षमा-प्रार्थना की जाती है।]

—सम्पादक

कान्ह सबसे न्यारा

(राग भैरवी तीन ताल)

कान्ह हमारा [सखि, वह] सबसे न्यारा।
नयनोंका तेज हमारा ॥सखि०॥
अंग अंग छबि दिव्य मधुर अति
कोमल तन अति प्यारा ॥सखि०॥
मोर-मुकुट, मकराकृत कुण्डल,
अलक, तिलक सुखसारा ॥सखि०॥
जड चेतनमें व्याप रहा यह
उसका सभी पसारा ॥सखि०॥

पुरुष कहूँ मैं और किसे सखि!
पुरुषोत्तम वह प्यारा ॥सखि०॥
नर-नारी सब प्रकृति जगत्‌में,
पुरुष है नन्ददुलारा ॥सखि०॥
रूपराशि वह नित अविनाशी
इन्दु-नयनका तारा ॥सखि०॥

—अ० सौ० इन्दुमति ह० देसाई

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दयाकर ग्राहकनम्बर नोट करना न भूलें।

प्रत्येक कृपालु प्रेमी पाठक महाशयकी सेवामें हम बार-बार प्रार्थना करते आये हैं कि वे अपना-अपना ग्राहकनम्बर नोट कर लें और पत्र-व्यवहार करते या रुपया भेजते समय अवश्य लिखें परन्तु अब भी कई पत्र और मनीआर्डर बिना ग्राहकनम्बरके आते हैं अतः हमारी पुनः-पुनः विनम्र प्रार्थना है कि सब सज्जन अपना ग्राहकनम्बर जो "कल्याण" के रैपरपर उनके पतेके पास लिखा रहता है अवश्य नोट कर लें और हमसे कोई भी व्यवहार करते समय अवश्य लिखें।

ग्राहक नम्बर

"कल्याण"

श्रीहरिः

कल्याण ज्येष्ठ संवत् १९९३ की

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-सरयूतटपर [कविता] (गो० तुलसीदासजी)	१४४५
२-श्रीश्रीस्वामी हीरानन्दजी महाराजके उपदेश (प्रे०—भक्त श्रीरामशरणदासजी) ...	१४४६
३-सत्संगसे लाभ, कुसंगसे हानि (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	१४४७
४-प्रेम [कविता]	१४५१
५-विषयचिन्तनसे सर्वनाश और भगवच्चिन्तनसे परम शान्ति (हनुमानप्रसाद पोद्दारका एक व्याख्यान)	१४५२
६-प्रार्थना	१४६०
७-परमहंस-विवेकमाला(स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)	१४६१
८-जीवन [कविता] (मोक्षाकर विश्वबन्धु)	१४६६
९-गोस्वामी तुलसीदासजीका एक दार्शनिक दोहा (पं०श्रीकलाधरजी त्रिपाठी) ...	१४६७
१०-एक भक्तके उद्गार (अनु०—श्रीमुरलीधरजी श्रीवास्तव बी०ए०,एल-एल०बी०साहित्यरत्न)	१४७६
११-प्रयाणकी बात [कविता] (श्री'सुदर्शन'जी)	१४७७
१२-प्रज्ञावाणी (साधु श्रीप्रज्ञानाथजी) ...	१४७८
१३-भाषा-नगरी [कविता] (श्रीसत्यव्रतजी शर्मा 'सुजन' बी० ए०, शास्त्री) ...	१४८२
१४-श्रीरासलीलारहस्य (महात्माका उपदेश)	१४८३
१५-श्रीजटायुजीकी भक्ति (श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)	१४९०
१६-श्यामदृगकी चोट [कविता] (श्रीनारायण स्वामीजी)	१४९६
१७-योगवासिष्ठसार (श्रीकन्हैयालालजी मास्टर)	१४९७
१८-मनुष्य-जन्मकी सफलता (पूज्यपाद श्रीब्रह्मचैतन्यपुरीजी महाराजके उपदेश) ...	१५०५
१९-समाधि और संयमतत्त्वसार (श्रीभार्गव श्रीशिवरामकिङ्कर स्वामी श्रीयोगत्रयानन्दजी महाराजके उपदेश)	१५०७
२०-गूँगेका गुड़ [कविता] (श्रीगदाधरजी भट्ट)	१५०८
२१-पर मेरी कौन सुनेगा ? (श्रीरूपरानी श्यामा बी० ए०)	१५०९
२२-अनुष्ठानकी उपयोगिता (श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)	१५११
२३-कृत्रिम सभ्यता (श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम० ए०)	१५१५
२४-मसखरी (मास्टर श्रीपारसचन्दजी) ...	१५२०
२५-आत्मार्पण	१५२३
२६-श्रीभगवन्नाम-जप(नाम-जप-विभाग गोरखपुर)	१५२४

आपका मनिआर्डर

एक अङ्क और निकलनेपर आपका इस वर्षका चंदा समाप्त हो जायगा। पिछले अङ्कमें की गयी प्रार्थनाके अनुसार आगामी वर्षके चंदेके मनिआर्डर आने शुरू हो गये हैं, उसमें लिखे लाभ और सुविधाको विचारकर जिन ग्राहक महाशयोंने अभी मूल्य नहीं भेजा है वे समय रहते ही मनिआर्डरसे भेजनेकी कृपा करें। फार्म उनको मिल ही चुका है।

विनीत—व्यवस्थापक, कल्याण

CC-0. Jangamwadi Math Gollection. Digitized by eGangotri

सूचना

गोरखपुरमें

अखण्ड कीर्तन और परमार्थ-साधन अनुष्ठान

शीघ्र ही आरम्भ होनेवाला है

बहुत-से दूर-दूरके साधकोंके पत्र आये हैं और आ रहे हैं। साधकोंके लिये फूसकी सात्त्विक कुटियाँ बननेकी व्यवस्था हो रही है। जिन साधकोंको छः मास या बारह महीनेके लिये आना हो, वे चैत्रके अंकमें प्रकाशित सूचनाको पढ़कर वैशाखके अंकमें प्रकाशित प्रश्नोंका उत्तर बहुत शीघ्र लिख भेजें।

कुछ लोग अन्य सब नियमोंको भलीभाँति पालन करते हुए फलाहारके बदले अन्नाहार करना चाहते हैं, उनके सुभीतेके लिये भी विचार किया जा रहा है अतएव अन्नाहार करनेकी इच्छावाले साधक भी शीघ्र पत्रव्यवहार करें। इस अंकमें प्रकाशित अनुष्ठानकी उपयोगिता शीर्षक लेखको पढ़ना चाहिये।

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी
व्यवस्थापक संकीर्तनयज्ञ
गीताप्रेस, गोरखपुर

भूल-सुधार

कल्याण योगाङ्क पृष्ठ ८०४ में धर्मदासजी महाराजके सम्बन्धमें एक नोट निकला था। उसमें दिये हुए विवरणको युक्तप्रान्तीय कबीरसम्प्रदाय गलत समझता है। उसका कहना है कि धर्मदासजी जबलपुरके पास बन्धो नामक गाँवमें रहते थे। नारायणदास तथा चूडामणिदास इनके पुत्र थे। ये कबीर-सम्प्रदायके प्रधान शिष्य थे परन्तु ये गृहस्थ थे। काशीकी गद्दीके ये अधिकारी नहीं थे। काशीके गद्दीके अधिकारी श्रीश्रुतगोपालदासजी इनके परम्परागत शिष्य हैं। ये ही काशी कबीरचौरा, मगहर-की समाधि, जगन्नाथजी और द्वारकाजीके मठोंके अधिकारी हैं। हमको जैसा मालूम हुआ था छाप दिया गया था, इसके कारण कबीरसम्प्रदायके महानुभावोंको किसी प्रकारका दुःख पहुँचा हो तो हमें उसके लिये खेद है।

सम्पादक

हमारी पुस्तकें अपने गाँवमें ही खरीदनेसे सस्ती पड़ेंगी

आजकल डाक-महसूल इतना बढ़ा हुआ है कि पुस्तकोंके साधारणसे पारसलपर आठ आना, छः आना, चार आना प्रति रुपया खर्च पड़ जाता है और ग्राहकोंको पुस्तक बहुत मँहगी पड़ती हैं। इससे हमारा निवेदन है कि जो सज्जन पुस्तकें लेना चाहें वे अपने गाँवके बुक्सेलरोंसे लेनेका प्रयत्न करें। इसमें उनको भी कई प्रकारका फायदा होगा।

यदि आपके गाँवमें हमारी पुस्तकें मिलनेकी सुविधा न हो तो आप सीधा हमें आर्डर भेजिये। हम आपका छोटा आर्डर भी पाकर प्रसन्न होंगे।

विनीत—व्यवस्थापक—गीताप्रेस

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सरयूतटपर

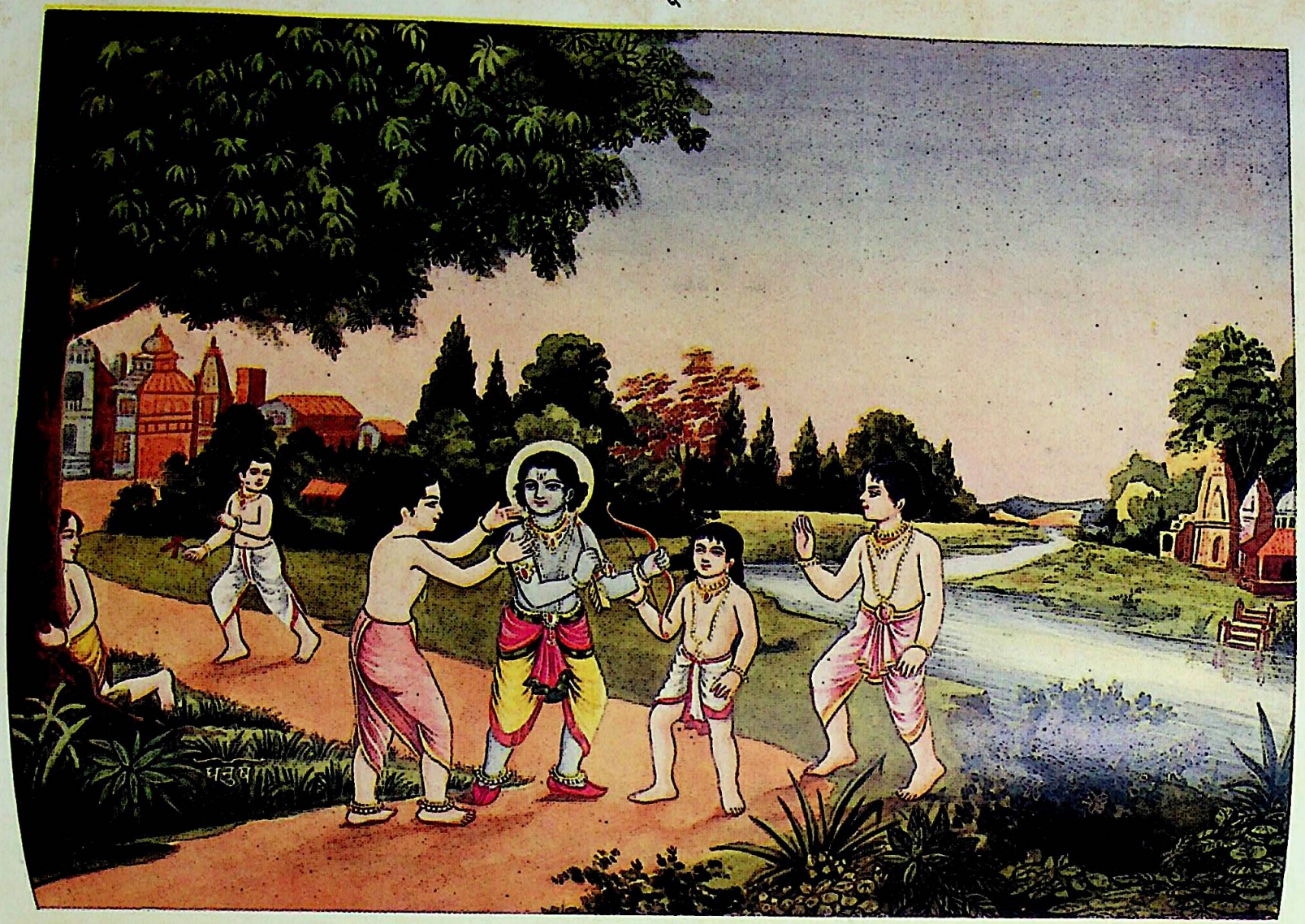

लरिका सँग खेलत डोलत हैं सरजूतट चौहट हाट हिये ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥
(भगवान् श्रीकृष्ण)

वर्ष १० | गोरखपुर, ज्येष्ठ १९९३, जून १९३६ | संख्या ११ पूर्ण संख्या ११९

सरयूतटपर

पदकंजनि मंजु बनी पनहीं धनुहीं सर पंकज पानि लिये ।
लरिका संग खेलत डोलत हैं सरजूतट चौहट हाट हिये ॥
तुलसी अस बालक-सों नहिं नेह कहा जप जोग समाधि किये ।
नर ते खर सूकर स्वान समान कहौ जगमें फल कौन जिये ? ॥

—गो० तुलसीदासजी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीश्रीस्वामी हीरानन्दजी महाराजके उपदेश

(१) ईश्वरमें हमारा प्रेम हुआ कब समझें ? हम ईश्वरके प्रेमी कब हैं ? जब हम ईश्वरकी प्रत्येक आज्ञा-का पालन करें ।

(२) ईश्वरके नाममें कितनी शक्ति है ?

नाम प्रभाव जानि सिव नीके ।
कालकूट फल दीन्ह अमीके ॥

समुद्रसे जब ज़हर निकला तब ज़हरको किसीने नहीं पीया । लेकिन शिवजी उसे रा-म कहकर पी गये । ईश्वरके नाममें वह शक्ति है कि जिससे ज़हर भी अमृत हो जाता है । मीराके लिये ज़हरका प्याला भेजा गया । मीराने उसे पी लिया । नामके प्रतापसे वह ज़हर अमृत हो गया ।

(३) जिसे ईश्वरकी भक्ति करनी है, ईश्वरसे प्रेम करना है, उसे रामायण अवश्य पढ़नी चाहिये । रामायण न होती तो कभीका नाश हो गया होता ।

(४) ईश्वरका खूब चिन्तन करते रहो ।

(५) यदि तुम भगवान्‌के भक्त बनना चाहते हो तो सच्चे भक्त बनो । भक्तके नाम और बानेको लजाओ मत । एक बार एक राजाके महलमें एक चोर चोरी करने आया । वह चोरी कर रहा था, कि यकायक जाग पड़ गयी । चोर जाग देखकर भागा । राजा भी अपने कर्मचारियोंको लेकर चोरकी तलाशमें निकला । जब चोरने दूरसे राजा तथा नौकरोंको आते देखा तो वह डर गया । उसने एक उपाय सोचा, वह जहाँ खड़ा था वहाँ श्मशान था । बहुत-से मुर्दे वहाँ पड़े थे । वह भी उन मुर्दोंमें लेट गया । राजा आया, राजाने कहा देखो चोर यहीं कहींपर होगा । आदमी ढूँढ़ने लगे । उन्होंने एक मुर्दको देखा और उसपर लातें मार-मारकर जाँच की लेकिन चोर नहीं दिखायी दिया । उन्होंने राजासे कहा कि चोर यहाँपर नहीं है । राजाने कहा नहीं, यहीं होगा, फिर देखो, तब एक सिपाही बल्लम लेकर उठा और उसने सब मुर्दोंके बल्लम मारे । चोरके भी बल्लम मारा । चोरके बल्लम लगनेसे खून बहने लगा लेकिन चोर बराबर मुर्देकी तरह पड़ा रहा और चूँतक नहीं की । नौकर होशियार था, जान गया और उसने कहा कि राजासाहब ! चोर यहीं है अगर आप उसे माफ कर दें तो बुलाऊँ । राजाने कहा कि 'बुलाओ उसे कुछ नहीं कहेंगे ।' चोरको बुलाया गया । चोरको देखकर राजा अचरजमें डूब गया । राजाने कहा कि 'जब तेरे शरीरमें बल्लम लगा और खून बहने लगा, तब भी तू न रोया और न कुछ बोला, यह क्या बात है ? चोरने कहा 'मुर्देका स्वाँग । फिर सीका क्या काम ।' यह तो चोरका स्वाँग था । तुम तो भक्त हो । इसी प्रकार तुम भी विपत्ति पड़नेपर यह न समझो कि भगवान्‌के नाममें क्या है । हमारा कष्ट दूर नहीं हुआ ।

(६) धर्म और ईश्वरका नाम मामूली बात नहीं है । जो मनुष्य धर्मका एक लक्षण भी धारण कर लेता है उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं ।

(७) 'सत्यं वद, प्रियं वद' सत्य बोलना चाहिये, प्रिय बोलना चाहिये । सत्य हो, प्रिय हो ।

(८) चाहे पुराण पढ़ो चाहे वेद । जबतक मनके अंदर धारणा न आवेगी तबतक कुछ भी न होगा ।

(९) जीव कौन है ? जो मायाके बसमें है । ईश्वर कौन है ? जिसके माया बसमें है ।

(१०) चारों वेद और अठारहों पुराणोंका सार यह है—

सबकर मत खगनायक एहा । करिय रामपदपंकज नेहा ।

ऋषि, मुनि, महात्मा सबका मत यह है कि छल, कपट छोड़कर भगवान्‌में प्रेम करो । ईश्वरमें विश्वास करो । सब साधन इसीलिये हैं ।

(११) प्राण चले जायँ पर धर्म न जाय ।

(प्रेषक—भक्त रामशरणदास)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सत्संगसे लाभ, कुसंगसे हानि

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

कल्याणपथके पथिकोंके लिये आरम्भसे लेकर अन्ततक सर्वोत्तम साधन सत्संग है, सत्संगसे ही भजन, ध्यान, सेवा, सदाचार आदि सद्गुणोंका ज्ञान और आविर्भाव हो सकता है। सत्संगमें ही भगवान्‌के गुण, प्रभाव और प्रेमकी बातें सुननेको मिलती हैं। जिससे भगवान्‌में श्रद्धा और प्रेमकी वृद्धि होकर भगवान्‌के दर्शन होते हैं। श्रीगोस्वामीजीने भी कहा है—

बिनु सत्संग न हरि कथा, तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गये बिनु रामपद, होइ न दृढ़ अनुराग॥

सत्संग भगवान्‌की कृपासे एवं पूर्वकृत पुण्यपुञ्जके प्रभावसे ही प्राप्त होता है।

पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता। सत संगति संसृतिकर अंता॥
सब मोहि भा भरोस हनुमंता। बिनु हरिकृपा मिलहि नहिं संता॥
जो रघुबीर अनुग्रह कीन्हा। तो तुम्ह मोहिं दरस हठि दीन्हा॥

श्रद्धासे भी सत्संगके यथार्थ फलकी प्राप्ति होती है इसलिये साधकोंको अच्छे पुरुषोंमें श्रद्धा करके उनका संग करनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये। श्रद्धापूर्वक महापुरुषोंका संग करके उनके बतलाये हुए मार्गके अनुसार चलनेसे मूर्ख-से-मूर्ख भी संसार-समुद्रसे पार होकर परमपदको प्राप्त कर सकता है। श्रीभगवान् कहते हैं—

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः॥

(गीता १३। २५)

'दूसरे जो मन्दबुद्धिवाले पुरुष हैं, वे स्वयं इस प्रकार न जानते हुए, दूसरोंसे अर्थात् तत्त्वके जाननेवाले पुरुषोंसे सुनकर ही उपासना करते हैं, अर्थात् उन पुरुषोंके कहनेके अनुसार ही श्रद्धासहित तत्पर हुए साधन करते हैं और वे सुननेके परायण हुए पुरुष भी मृत्युरूप संसारसागरको निःसन्देह तर जाते हैं।' तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌ने अर्जुनके प्रति भी कहा है कि—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥

(गीता ४। ३४)

'तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे, भली प्रकार दण्डवत्-प्रणाम तथा सेवा और निष्कपटभावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान, वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

आजतक जो कोई इस संसारसमुद्रसे पार हुए हैं सभी प्रायः सत्संगके ही प्रभावसे हुए हैं। सत्संगके बिना कोई भी परमपदकी प्राप्ति नहीं कर सकता।

सत्संगसे ही विद्या और बुद्धिकी वृद्धि होकर भगवान्‌के तत्त्वका ज्ञान होता है अतः सभीको तत्परताके साथ सत्संग करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

परमात्माकी प्राप्तिके लिये, एवं परमेश्वरमें प्रेम उत्पन्न करने और बढ़ानेके लिये परमात्माको प्राप्त हुए सत्पुरुषोंका संग और उनके वचनोंका श्रवण श्रद्धा, प्रेम और आदरपूर्वक करना ही सत्संग है।

सत्-शास्त्रोंका श्रद्धापूर्वक अध्ययन और भगवत्प्राप्तिके लिये चेष्टा करनेवाले साधक पुरुषोंका संग भी सत्संगके समान है।

गीता अध्याय १२ श्लोक १३ से २० तक तथा अ० १४ श्लोक २२ से २५ तक जो भगवद्भक्तोंके और गुणातीतके लक्षण बताये गये हैं वे सब गुण जिन पुरुषोंमें हों वे ही सत्पुरुष हैं।

यदि कहा जाय कि ऐसे पुरुष संसारमें हैं ही नहीं तो यह कहना दुराग्रह है। हाँ, यह कहा जा सकता है कि ऐसे पुरुष संसारमें बहुत कम हैं। हमें नहीं मिले। बहुत-से मनुष्य ईश्वरको प्राप्त करनेके लिये चेष्टा करते हैं तथापि उनको ईश्वर नहीं मिलते, पर इतनेसे ही यह कह देना कि ईश्वर नहीं है, सर्वथा भूल है। इसी प्रकार सच्चे संतका संसारमें अभाव मानना भी भूल है।

वस्तुकी खोज करनेपर यदि वस्तु न मिले, इतनेपर ही यह मान लेना कि वस्तु ही नहीं है, निरा बालकपन है। शास्त्रोक्त किसी पदार्थके विषयमें यह कहना कि है ही नहीं, बड़ी भारी गलती है।

अमृत, पारस, चिन्तामणि, कल्पवृक्ष आदि वस्तुओंके नाम शास्त्रोंमें पाये जाते हैं, पर ये सब प्रत्यक्ष नहीं दीखते। इसके लिये भी यह कह देना कि ये सब वस्तुएँ न पहले थीं और न अब हैं; सब कल्पनामात्र ही है, भूल है। क्योंकि संसार अपार है। हमलोग उसके किसी एक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हिस्सेमें रहते हैं। हमारा ज्ञान बहुत ही परिमित है। समुद्रमें एक बूँदके समान भी हमने संसारका अन्वेषण नहीं किया। हम सर्वज्ञ भी नहीं हैं। ऐसी अवस्थामें किसी भी शास्त्रोक्त वस्तुका अभाव बतला देना अपनी बुद्धिकी तुच्छताका परिचय देनेके सिवा और क्या हो सकता है? हाँ, इतना कहा जा सकता है कि हमने अपनी शक्तिके अनुसार प्रयत्न किया तो भी अमुक वस्तु हमें प्राप्त नहीं हुई। अतः अमुक वस्तु संसारमें है या नहीं—हम नहीं कह सकते।

इतनी बात अवश्य है कि परमात्माको प्राप्त कर लेनेवाले मनुष्य संसारमें बहुत ही कम होते हैं। भगवान्‌के कहनेसे भी मालूम होता है कि पहले भी ऐसे मनुष्य बहुत ही कम होते थे। लाखों-करोड़ोंकी संख्यामें किसी एकको ही परमात्माकी प्राप्ति हुआ करती है। इसलिये ऐसे पुरुषोंका मिलना बहुत ही कठिन है। कोई मिल भी जाय तो उसे पहचानना मुश्किल है।

भगवान्‌की विशेष कृपासे ही ऐसे महापुरुष मिला करते हैं। शास्त्रोंमें जो महापुरुषोंके लक्षण बताये गये हैं वे प्रायः स्वसंवेद्य हैं। दूसरा कोई सहज ही नहीं जान सकता। इस कारण महापुरुषोंको पहचानना भी कठिन है। परन्तु जैसे कार्यसे कारणका अनुमान लगाया जाता है वैसे ही उनके उत्तम आचरणोंसे हम अनुमान कर सकते हैं। अवश्य ही बाहरी आचरणोंसे पूरी पहचान नहीं हो सकती।

क्योंकि भगवान्‌को प्राप्त करनेकी इच्छा रखनेवाले साधक पुरुषोंके आचरण भी अच्छे ही हुआ करते हैं और दम्भी मनुष्य भी लोगोंको धोखा देनेके लिये उनके आचरणोंकी नकल कर लिया करते हैं। अवश्य ही दम्भियोंके आचरण सर्वथा शुद्ध नहीं होते। दम्भके कारण उनमें अनेक दोष रहते हैं। महापुरुषोंके आचरण सर्वथा शुद्ध होते हैं। उनमें दम्भ और स्वार्थको स्थान नहीं रहता। जिनके दर्शन, भाषण, स्पर्श और सेवादिसे अपनेमें श्रद्धा, स्वार्थ-त्याग, निरभिमानिता, समता, विवेक, वैराग्य, शान्ति, ईश्वरभक्ति आदि सद्गुण और अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, तप, सेवा, दान आदि सदाचारका आविर्भाव हो, उन्हींको महापुरुष समझना चाहिये। महापुरुषोंके आचरणोंमें किञ्चित्‌मात्र भी दोष नहीं होता। सर्वथा निर्दोष आचरण उन्हींके हो सकते हैं।

कोई-कोई कहते हैं कि परमात्माकी प्राप्ति होनेके बाद भी काम-क्रोधादिका विकार अन्तःकरणमें रह सकता है और झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार आदिकी क्रिया भी प्रारब्धवश महापुरुषद्वारा हो जाया करती है किन्तु ऐसा कहनेवाले मनुष्य लोगोंको धोखा देते हैं। जो दुराचार और दुर्गुणोंके रहते हुए ही स्वयं अपनेको ज्ञानी प्रसिद्ध करना चाहते हैं वे ही ऐसे सिद्धान्तोंकी आड़में अपनी विषयवासनाको पूरी करनेकी चेष्टा किया करते हैं। जो लोग इस प्रकार मानते हैं कि 'ज्ञान होनेके उपरान्त भी प्रारब्धकर्म शेष रहते हैं। अतः ज्ञानीमें लेशमात्र अविद्या रहती है। और प्रारब्धभोगके लिये सुख-दुःखका सम्भोग होना अवश्यम्भावी है। अतः प्रारब्धभोगके लिये उनके द्वारा दुर्गुण और दुराचार घट जाय तो क्या आश्चर्य है, क्योंकि ये सब अन्तःकरण और इन्द्रियोंके धर्म हैं। ज्ञानीका इनसे क्या सम्बन्ध है। जबतक अन्तःकरण रहेगा, काम-क्रोधादि दुर्गुण भी रहेंगे ही। और इनके रहते इनके कार्यरूप झूठ-कपट आदिका सर्वथा अभाव कैसे हो सकता है?' इस प्रकार माननेवाले लोग सर्वथा भूल करते हैं। यह सिद्धान्त शास्त्रसम्मत या युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि गीतादि आर्ष ग्रन्थोंमें जहाँ-जहाँ महापुरुषोंके लक्षण और आचरणोंका वर्णन किया गया है उन-उन स्थलोंमें सब प्रकारके अवगुण और दुराचारोंका सर्वथा अभाव बतलाया गया है।

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम्॥
(गीता ५। २६)

'काम, क्रोधसे रहित, जीते हुए चित्तवाले, परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार किये हुए ज्ञानी पुरुषोंके लिये सब ओरसे शान्त परब्रह्म परमात्मा ही प्राप्त है।'

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्॥
(गीता १५। ५)

'नष्ट हो गया है मान और मोह जिनका तथा जीत लिया है आसक्तिरूप दोष जिनने और परमात्माके स्वरूपमें है निरन्तर स्थिति जिनकी तथा अच्छी प्रकारसे नष्ट हो गयी है कामना जिनकी, ऐसे वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वों

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

से विमुक्त हुए ज्ञानी जन, उस अविनाशी परम पदको प्राप्त होते हैं।'

समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते॥
(गीता १४। २४-२५)

'जो निरन्तर आत्मभावमें स्थित हुआ, दुःख-सुखको समान समझनेवाला है तथा मिट्टी, पत्थर और सुवर्णमें समान भाववाला और धैर्यवान् है तथा जो प्रिय और अप्रियको बराबर समझता है और अपनी निन्दा-स्तुतिमें भी समान भाववाला है। तथा जो मान और अपमानमें सम है एवं मित्र और वैरीके पक्षमें भी सम है, वह सम्पूर्ण आरम्भोंमें कर्तापनके अभिमानसे रहित हुआ पुरुष, गुणातीत कहा जाता है।'

इत्यादि भगवद्-वचनोंसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञानी महात्मा पुरुषोंमें दुर्गुण और दुराचारोंका सर्वथा अभाव होता है। क्योंकि दुर्गुण और दुराचाररूप आसुरी सम्पदाका नाश होकर सद्गुण और सदाचाररूप दैवी सम्पदाकी वृद्धि होनेके उपरान्त परमात्माकी प्राप्ति होती है। गीता अ० १६ श्लोक १ से ३ तक बतायी हुई दैवी सम्पदा मुक्ति देनेवाली, और दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोधादि आसुरी सम्पदा बाँधनेवाली बतायी गयी है।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
(गीता १६। ५)

इतना ही नहीं, आगे चलकर भगवान्‌ने इसी अध्यायके श्लोक २१, २२ में स्पष्ट कर दिया है कि काम, क्रोध और लोभ ये तीनों नरकके द्वार और आत्माका पतन करनेवाले हैं। इनसे रहित हुआ मनुष्य चेष्टा करनेसे परम गतिको प्राप्त कर सकता है।

अतः जिन मनुष्योंमें काम-क्रोधादि दुर्गुण और चोरी, व्यभिचार आदि दुराचार विद्यमान हैं वे नरकके भागी हैं, मुक्तिके नहीं।

ज्ञान होनेके बाद अहन्ता, ममताका सर्वथा अभाव हो जानेके कारण ज्ञानीके प्रारब्ध कर्म भी केवल कथनमात्र ही रह जाते हैं। स्त्री, पुत्र, धन और शरीर आदिका क्षय होनेसे उनको किसी प्रकारका शोक नहीं होता। इन सबकी वृद्धिमें किसी प्रकारका हर्ष नहीं होता। वे हर्ष और शोक दोनोंसे ही पार हो जाते हैं। कहा भी है—'हर्षशोकौ जहाति' 'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः' इत्यादि।

काम-क्रोध, हर्ष-शोक और राग-द्वेषादि अवगुण अन्तःकरणके धर्म नहीं हैं, विकार हैं। (गीता १३। ६) इन सबका मूल कारण अविद्या है अतः अविद्याके अभावके साथ ही इन सबका अभाव हो जाता है, ज्ञानीमें यदि अविद्याका लेश रहे तो वह ज्ञानी ही कैसा? आर्ष ग्रन्थोंमें ज्ञान होनेके उपरान्त अविद्याका सर्वथा अभाव माना गया है। महर्षि पतञ्जलि महाराज कहते हैं कि—

'हेयं दुःखमनागतम्।' (यो० २। १६)
'आनेवाले दोषोंका नाश करना उचित है।'
'द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।' (यो० २। १७)
'द्रष्टा और दृश्यका संयोग ही आनेवाले दुःखोंका कारण है।'
'तस्य हेतुरविद्या।' (यो० २। २४)
'उस संयोगका हेतु अविद्या है।'
'तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।' (यो० २। २५)

'उस अविद्याके अभावसे संयोगका अभाव होता है यही हान है और यही द्रष्टाकी कैवल्यावस्था है।'

इसके सिवा पहले यह भी स्पष्ट बतला दिया गया है कि रागद्वेषादि चारों प्रकारके क्लेशोंका कारण भी अविद्या ही है, अतः कारणके नाश होनेके उपरान्त कार्य कैसे रह सकता है।

गीतामें अ० ५ श्लो० १६ में ज्ञानद्वारा अज्ञानका नाश दिखाया है। अ० १५ श्लो०५ में मान और मोहका अभाव बतलाया गया है।

प्रारब्धभोगके लिये काम-क्रोधादि दुर्गुणोंकी और चोरी, व्यभिचार आदि दुराचारोंकी आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि सुख-दुःखादिका भोग न्यायपूर्वक भी हो सकता है।

चोरी-व्यभिचार आदि नये कर्म हैं, नये कर्मोंमें प्रारब्ध हेतु नहीं हो सकते। प्रारब्धकर्म केवल फलभोगमें ही हेतु होते हैं, नये पाप करानेमें नहीं। अगर नवीन पापकर्ममें प्रारब्धको अवश्यम्भावी हेतु मान लिया जाय तो विधि-निषेधबोधक शास्त्रकी व्यर्थता सिद्ध होगी, और फिर ऐसे पापका दण्ड-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विधान भी न्यायविरुद्ध होगा, ईश्वरमें निर्दयताका दोष आवेगा। पापकर्मका फल किसी प्रकारका दण्डविधान होना ही न्यायसंगत है न कि पुनः पापकर्म कराया जाना।

अगर ज्ञान होनेके उपरान्त भी ज्ञानी दुर्गुण और दुराचारसे मुक्त नहीं हुआ तो फिर ज्ञानका फल ही क्या है? दोषोंसे मुक्त होना ही मुक्ति है। जिनमें लेशमात्र भी अविद्या है वह वास्तवमें ज्ञानी नहीं है क्योंकि परब्रह्म परमात्मामें तो अविद्याका लेश है नहीं, ज्ञानीकी स्थिति परमात्मासे भिन्न रहती नहीं। ऐसी अवस्थामें लेशमात्र अविद्याका धर्मी अज्ञानी ही हो सकता है।

रागद्वेषादि अवगुण अन्तःकरणके धर्म नहीं, विकार हैं। धर्म तो सदैव धर्मीके साथ रहता है परन्तु विकार व्यभिचारी है। उसका नाश हो सकता है, मनका धर्म मनन करना, बुद्धिका धर्म निश्चय करना है, रागद्वेषादि नहीं। राग-द्वेष, सुख-दुःखादि विकार अन्तःकरणमें अज्ञानके कारण उत्पन्न होते रहते हैं। इसी तरह चोरी-व्यभिचार आदि भी इन्द्रियोंके धर्म नहीं हैं, आगन्तुक विकार ही हैं। इन्द्रियोंके धर्म तो जैसे नेत्रोंका 'देखना' कानोंका 'सुनना' है इस तरह सबके अलग-अलग बतलाये गये हैं।

ज्ञानीके मन और इन्द्रियोंकी, मनन करना, देखना, सुनना आदि क्रियाएँ शास्त्रविहित ही हुआ करती हैं, क्योंकि महापुरुषोंके आचरण ही सदाचार माने गये हैं। इसीलिये भगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहा है कि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥ (३। २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस-उसके ही अनुसार बर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, लोग भी उसके अनुसार बर्तते हैं।'

ऐसे महापुरुष वास्तवमें सत्य, धर्म और न्यायकी साक्षात् मूर्ति हैं। वे ही सदा सत्य, धर्म और सदाचारका प्रचार किया करते हैं।

विचार करना चाहिये जब कि ऐसे महापुरुषोंके आचरणोंमें भी दुराचारिताको स्थान दिया जायगा तो फिर सदाचारका आदर्श किनके आचरणोंसे लिया जायगा।

गीतादि आर्ष ग्रन्थोंमें, सदाचार और सद्गुणोंद्वारा ही ज्ञानियोंके ज्ञानित्वकी पहचान बतायी है।

इसलिये परमात्माको प्राप्त हुए महापुरुषोंमें दुराचार और दुर्गुणोंका अपवादरूपसे भी आरोप करना सर्वथा भूल है।

जिन महापुरुषोंका संग करनेवाले पुरुषोंके भी दुराचार और दुर्गुण नष्ट हो जाते हैं, जिनके दर्शन, भाषण, स्पर्श और चिन्तनसे, दूसरोंके दुर्गुण और दुराचारोंका क्षय, मनकी एकाग्रता, शान्ति और आनन्दकी प्राप्ति होती है, उन पुरुषोंमें दुर्गुण-दुराचारोंकी कल्पना करना अपने-आपको दोषोंका शिकार बनाना है।

अतः यही निश्चय रखना चाहिये कि जिनमें दुर्गुण और दुराचार वर्तमान हैं वे संत नहीं हैं। महापुरुष निःसन्देह शुद्ध, सद्गुण और सदाचारके भण्डार होते हैं। ऐसे महापुरुषोंके संगसे दुर्गुण, दुराचार और दुःखोंका नाश होकर सद्गुण-सदाचारकी वृद्धि, परम शान्ति और परमानन्दकी प्राप्ति हो सकती है। इसलिये मनुष्यको श्रद्धापूर्वक सत्पुरुषोंका संग करके उनकी आज्ञानुसार अपना जीवन बनानेके लिये तत्परतासे प्राणपर्यन्त चेष्टा करनी चाहिये। जिनको परमात्माकी प्राप्ति हो चुकी है, जो परमात्मामें नित्य स्थित रहते हैं, जिनमें अहर्निश परमात्माका दिव्य तेज प्रकाशित होता रहता है, श्रद्धापूर्वक प्रेमसहित उनका संग करनेसे और उनकी आज्ञाका पालन करनेसे परमात्माकी प्राप्ति हो जाय इसमें आश्चर्य ही क्या है? महापुरुषोंका संग अमोघ होता है, व्यर्थ नहीं जाता। जो जितनी श्रद्धा-भक्तिसे संग करता है उसको उतना ही लाभ मिलता है। लाभके कम-ज्यादा होनेमें साधकोंकी श्रद्धा, भक्ति और प्रयत्न ही कारण हुआ करते हैं।

संसारमें कल्याणके लिये सबसे बड़ा साधन सत्संग ही है। यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है कि मनुष्य जैसा संग करता है वैसा ही प्रभाव उसपर पड़ता है। यह बात अवश्य है कि बुरे संगका प्रभाव तुरन्त और अधिक पड़ता है। और अच्छे संगका प्रभाव शनैः-शनैः पड़ता है। क्योंकि वर्तमान कालका वातावरण, आरम्भिक सुखका प्रलोभन और स्वभाव यानी प्रकृति कुसंगमें सहायक है। जैसे जल स्वभावसे ही नीचेकी ओर जाता है वैसे ही प्रकृतिस्थ मनुष्यका भी स्वाभाविक पतन होता रहता है। जो मनुष्य अपने-आपको स्वभावपर छोड़ देता है, अपनी उन्नतिके लिये चेष्टा नहीं करता, उसका उत्तरोत्तर पतन ही होता रहता है, इसपर यदि कुसंगकी भी मदद मिल जाय तब तो

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

और भी शीघ्र और अधिक पतन हो जाता है। आत्मकल्याणके मार्गमें शरीरके आरामकी इच्छा, विषयासक्ति और अनन्त जन्मोंके दूषित कर्म और स्वभाव बाधक हैं, इस कारण सत्संगका असर बहुत ही कम पड़ता है। सत्संगमें सुने हुए उपदेशानुसार साधन करनेमें प्रथम कष्ट प्रतीत होता है। इस कारण मन उसे जल्दी स्वीकार नहीं करता। अतः सत्संगसे लाभ उठानेके लिये और कुसंगका त्याग करनेके लिये मनुष्यको विशेष प्रयत्न करना चाहिये।

संसार एक नदी है जिसमें विषयभोगरूपी जल बह रहा है। मनुष्यशरीर उसमें चलनेवाली नौका है। जीवात्मा उस नौकापर बैठकर चलनेवाला है, कुसंग ही उसके प्रवाहके साथ ले जानेवाली हवा है, सत्संग उसके विपरीत, आत्माके गन्तव्य स्थानकी ओर ले जानेवाली हवा है। नीचेको जाना पतन है। ऊपरकी ओर जाना उद्धार है। प्रयत्न करना ही नौकाको चलाना है। सदाचार और सद्गुणोंका सेवन नौकाको ऊपरकी ओर ले जाना है। जलका प्रवाह ही प्रकृति है। यदि नौकाको जलके प्रवाहपर छोड़ दिया जाय तो वह स्वयं नीचेकी ओर चली जायगी। साथ ही अगर उसके अनुकूल वायु और प्रयत्न भी मिल जाय तब तो फिर कहना ही क्या, किन्तु उसे यदि ऊपरकी ओर चलाना हो तो विशेष चेष्टाकी आवश्यकता है। सत्संगरूप अनुकूल वायु मिलनेपर बहुत कुछ सहायता मिल सकती है तथापि प्रयत्नकी आवश्यकता है, बिना प्रयत्नके ऊपरकी ओर नौका नहीं ले जायी जा सकती। जैसे नौकाको नीचेकी ओर ले जानेमें चलानेवालेको आराम प्रतीत होता है वैसे ही प्रकृतिके अनुकूल चलनेमें (पतनकी ओर जानेमें) मनुष्यको आराम-सा प्रतीत होता है और जैसे नौकाको ऊपरकी ओर ले जानेमें चलानेवालेको कठिनताका सामना करना पड़ता है वैसे ही मनुष्यको ऊपरकी ओर उठनेमें (अपना उद्धार करनेमें) कठिनता प्रतीत होती है, यही कारण है कि कुसंगका फल तुरन्त दिखायी देता है और सत्संगका फल उतना शीघ्र नहीं जान पड़ता, तथापि यदि नौका चलानेवालेकी भाँति मनुष्य सत्संगरूप वायुका सहारा लेकर अपनी शरीररूप नौकाको गन्तव्य मार्गकी ओर ले जाना चाहे तो चेष्टा करनेसे सहज ही ले जा सकता है।

अतः साधक मनुष्यको सत्संगके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये और कुसंगसे सदा ही दूर रहना चाहिये। क्योंकि कुसंगसे सदाचार, सद्गुण और ईश्वरभक्तिका नाश हो जाता है। दुराचार और दुर्गुणोंकी वृद्धि होकर लोक-परलोक सब भ्रष्ट हो जाते हैं। कुसंगी मनुष्यका जीवन भी दुःखदायी बन जाता है। इसलिये मनुष्यको कभी भूलकर भी कुसंगति न करनी चाहिये। इसे मृत्युसे भी अधिक भयदायक समझना चाहिये। विषयासक्त, प्रमादी, दुराचारी, पामर, आलसी, नीच प्रकृतिवाले नास्तिक मनुष्योंका संग ही कुसंग है, इसके सिवा ऐसे मनुष्योंके लेखोंका पढ़ना एवं विषयोंका संग भी कुसंगके ही समान है। अतः सावधानीके साथ इससे बचना चाहिये।

प्रेम

प्रेम निबाहैं जनमलौं जैसे चन्द्र चकोर।
चौंच टूटि गरदन नसै चितवै पियकी ओर॥
अगिन आँच सहिबो सुगम सुगम खडगकी धार।
नेह निबाहन एक रस महा कठिन व्यौहार॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विषयचिन्तनसे सर्वनाश और भगवच्चिन्तनसे परम शान्ति

(हनुमानप्रसाद पोद्दारका एक व्याख्यान)

वंशीविभूषितकरान्ननीरदाभा-
त्पीताम्बरादरुणविम्बफलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रा-
त्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ॥
ध्यानाभ्यासवशीकृतेन मनसा तन्निर्गुणं निष्क्रियं
ज्योतिः किञ्चन योगिनो यदि परं पश्यन्ति पश्यन्तु ते।
अस्माकं तु तदेव लोचनचमत्काराय भूयाच्चिरं
कालिन्दीपुलिनेषु यत्किमपि तन्नीलं महो धावति ॥

पूज्य गुरुजनो और बन्धुओ !

अखिल विश्वनायक सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण और समस्त गुरुजनोंके चरणोंमें भक्तिपूर्वक प्रणाम करनेके अनन्तर सेवामें कुछ निवेदन करता हूँ।

माता-पिता आदि गुरुजनोंको अपने बच्चेका खेल कैसा भी हो आनन्दप्रद होता है। मैं समझता हूँ कि मुझे भी यह सौभाग्य प्राप्त है इसीसे आप मुझे कुछ सुनानेकी आज्ञा देते हैं। मैं भी यह आशा करता हूँ कि आप गुरुजन मुझे बच्चा समझकर मेरे उचित-अनुचित कथनपर ध्यान न देकर सब प्रकार अपना स्नेहपात्र ही समझेंगे।

कई सज्जनोंने मुझसे भिन्न-भिन्न कई प्रश्न किये हैं और उन प्रश्नोंके उत्तरमें निवेदन करनेकी आज्ञा दी है। इस समय मैं जो कुछ कहूँगा उसमें उनके प्रश्नोंका उत्तर आ जाय तो वे समझ लेंगे। किसी दार्शनिक विषयपर कुछ कहनेकी न तो मुझमें योग्यता है, न अधिकार है, मैं तो एक बालककी तरह जैसा मेरी वाणीसे निकलेगा कहता जाऊँगा। आपलोग क्षमा तो करेंगे ही।

सबसे पहली बात तो यह कहनी है कि 'विषय-चिन्तनसे हमारा सर्वनाश होता है और भगवच्चिन्तनसे हमें कभी नाश न होनेवाली परम शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है। इसीसे गीतामें एक जगह आता है 'प्रणश्यति' और दूसरी एक जगह आता है 'न प्रणश्यति'। भगवान् कहते हैं—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
(२। ६२-६३)

'विषयोंका चिन्तन करनेवाले पुरुषकी विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, आसक्तिसे कामना उत्पन्न होती है, कामनासे क्रोध पैदा होता है, क्रोधसे भलीभाँति मूढता उत्पन्न हो जाती है, मूढतासे स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है और स्मृतिनाशसे बुद्धिनाश होकर अन्तमें सर्वनाश हो जाता है।' दूसरी जगह श्रीभगवान् घोषणा करते हैं—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(९। ३०-३१)

'अत्यन्त दुराचारी भी यदि अनन्यभावसे मुझको भजता है तो उसे साधु ही मानना चाहिये क्योंकि उसने यथार्थ निश्चय कर लिया है। वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाता है और शाश्वत शान्तिको प्राप्त होता है। हे अर्जुन ! तू निश्चयपूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता।'

समझनेकी बात है। एक अच्छा आदमी है, उसके सञ्चित भी अच्छे हैं, वह भी कुसंगतिमें पड़कर यदि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विषयचिन्तनमें लग जाता है तो क्रमशः सर्वनाशके उपर अग्रसर होता है। और एक महापापी भी अच्छे संगके प्रभावसे यदि मनमें निश्चय करके अनन्यभावसे भगवच्चिन्तन करने लगता है तो सब पापोंसे छूटकर शीघ्र ही परम शान्तिको प्राप्त होता है। इसीलिये सन्तोंने कहा है आगे-पीछेकी चिन्ताको छोड़कर वर्तमानको सुधारो।

कर्म तीन प्रकारके हैं—सञ्चित, प्रारब्ध और क्रियमाण। पिछले असंख्य जन्मोंके और इस क्षणसे पूर्वतकके जितने भी कर्म बिना भोगे हुए जमा हैं उनका नाम 'सञ्चित' है, सञ्चितमेंसे कर्मोंका जितना अंश इस जीवनमें भोग देनेके लिये प्रवृत्त है वह 'प्रारब्ध' है, और जो कुछ सकामभावसे नये कर्म किये जाते हैं वह क्रियमाण है। मनमें होनेवाली स्फुरणाओंमें प्रधान कारण प्रायः 'सञ्चित' है। जैसा अच्छा-बुरा सञ्चित होता है वैसी ही अच्छी-बुरी स्फुरणाएँ होती हैं, परन्तु अधिकतर स्फुरणाएँ उसी सञ्चितकी होती हैं जो नवीन होता है। किसी गोदाममें बहुत-सी चीजें रक्खी हैं। उसमेंसे निकालने जानेपर वही चीज सबसे पहले निकलेगी जो सबके बाद रक्खी गयी है। पुरानी चीजें या तो पीछे पड़ी हैं या नीचे दबी हैं। यद्यपि बीच-बीचमें उनकी भी गन्ध आया करती है। इसी प्रकार हमारे वर्तमान कर्म जैसे होते हैं वैसा ही सञ्चित होता है, और उसीके अनुसार स्फुरणाएँ होती हैं। फिर बार-बार जैसी स्फुरणा होती है वैसे ही कर्ममें प्रवृत्ति होती है। जैसे लड़कपनमें जब हम पढ़ते थे तब पढ़नेके सम्बन्धकी बातें ही अधिक याद आया करती थीं। अब यदि व्यापार करते हैं तो हमें रात-दिन व्यापारसम्बन्धी बातें ही अधिक याद आती हैं, क्योंकि यही वर्तमानका नवीन कर्म है, जो सञ्चित बनता है, और उसीके अनुसार स्फुरणा होकर फिर उसी व्यापारमें ही प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार वर्तमान नवीन कर्मके अनुसार नवीन सञ्चित, नवीन सञ्चितके अनुसार स्फुरणा, स्फुरणाओंके अनुसार फिर वैसा ही नवीन कर्म, कर्मके अनुसार फिर सञ्चित और स्फुरणा। यों वर्तमान कर्मके अनुसार एक चक्र बन जाता है जो उसी प्रकारके सञ्चितको बढ़ाता रहता है। अतएव यदि हमारे सञ्चितकी गोदाममें पहलेके बहुत पुण्य जमा हों परन्तु वर्तमानमें कुसंगमें पड़कर यदि हम बुरे कर्म करने लगते हैं तो उन्हींके अनुसार विषयोंका चिन्तन होता है और उनसे फिर वैसे ही बुरे कर्म बनते हैं और हम सर्वनाशके मुँहमें चले जाते हैं। पाप इतने बढ़ जाते हैं कि उनसे दबे हुए पुण्योंकी गन्ध भी कहीं मुश्किलसे आती है। और एक महापापी अपने पूर्व पापोंको छोड़कर 'गयी सो गयी अब राख रहीको' इस उक्तिके अनुसार अपना शेष जीवन भगवान्‌के समर्पणकर भगवान्‌का अनन्य चिन्तन करने लगता है तो इस चिन्तनरूपी कर्मसे उसका वैसा ही सञ्चित बनता है और वैसी ही स्फुरणा होती है। इस प्रकार भगवच्चिन्तनरूपा कर्मका चक्र बन जानेसे ज्ञानाग्नि पैदा होकर उसके कर्मकी सारी गोदामको जला देती है, और वह परम शान्तिको प्राप्त हो जाता है।

यह बात याद रखनी चाहिये कि पापोंका मूल विषयासक्ति है। कुछ लोग यह कहते हैं कि पाप प्रारब्धसे होते हैं परन्तु यह बात ठीक नहीं। गीताके तीसरे अध्यायमें अर्जुनका प्रश्न है कि 'हे भगवन्! वह क्या वस्तु है जो इच्छा न होनेपर भी मनुष्यको मानो जबरदस्तीसे पापमें प्रवृत्त कर देती है?' इसके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

यहाँ भगवान्‌ने कामको ही पापका हेतु बताया है। कहा है कि यह काम रजोगुणसे उत्पन्न है, रज

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रागात्मक है यानी आसक्ति या संग ही रजोगुण है। यह आसक्ति विषयोंके चिन्तनसे होती है अतएव विषयचिन्तन ही सर्वनाशका प्रधान कारण है। यदि इस सर्वनाशसे बचकर शाश्वती शान्ति प्राप्त करनेकी इच्छा हो तो विषयचिन्तन छोड़कर भगवच्चिन्तन करना चाहिये। उपर्युक्त ९। ३१ के श्लोकमें भगवान् प्रतिज्ञा करके कहते हैं कि मेरे ऐसे भक्तका नाश नहीं होता। यहाँ एक बात और याद आ गयी, उपर्युक्त श्लोकके अन्तिम अर्धांशका यह अर्थ भी किया जाता है कि 'हे अर्जुन! तू प्रतिज्ञा कर कि मेरा भक्त नाशको प्राप्त नहीं होता।' यद्यपि यह अर्थ कुछ असंगत-सा मालूम होता है। बात भगवान् कहें और प्रतिज्ञा अर्जुन करे। परन्तु विचार करनेपर मालूम होता है कि भगवान्ने यहाँ ऐसा कहकर मानो भक्तके साथ अपने एक विलक्षण सम्बन्धका परिचय दिया है। भगवान्की प्रतिज्ञा कभी टलनेवाली नहीं होती परन्तु यदि उस प्रतिज्ञाके विरुद्ध किसी भक्तका प्रण अड़ जाय तो वहाँ भगवान्को अपनी प्रतिज्ञा छोड़ देनी पड़ती है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण कुछ ही दिनों बाद महाभारतयुद्धमें मिलनेवाला था। सर्वज्ञ भगवान् इस बातको जानते थे कि भक्तशिरोमणि भीष्मपितामहकी प्रतिज्ञा पूरी करनेके लिये मुझे अपनी प्रतिज्ञा छोड़नी पड़ेगी। इसी-लिये यहाँ अपने कथनको और भी पुष्ट करनेके लिये भक्तवर अर्जुनसे प्रतिज्ञा करवाते हैं। इस विचारसे यह अर्थ भी ठीक बैठता है। यहाँ कोई यह शंका करे कि बिना भोगे ही पापोंका नाश होना तो कर्म-सिद्धान्तके विपरीत बात है; इसका समाधान यह है कि कर्म-सिद्धान्तकी रचना करनेवाले भगवान्ने ही इस नियमको भी रचा है कि जो पुरुष मेरे शरण होकर मेरा अनन्य चिन्तन करता है उसके पाप-ताप तुरन्त ही नष्ट हो जाते हैं। भगवान्ने श्रीरामके रूपमें भी यही कहा है—

सनमुख होहिं जीव मोहि जबहीं।
कोटि जनम अघ नासौं तबहीं॥

एक सज्जन पूछते हैं कि 'इस समय भजनकी जैसी प्रवृत्ति दिनोंदिन बढ़ रही है यदि यह इसी प्रकार बढ़ती रही और अच्छे-अच्छे सभी लोग इसमें लग गये तो फिर लौकिक कर्तव्यका पालन कौन करेगा?' इसपर मेरा यह निवेदन है कि प्रथम तो ऐसा सम्भव नहीं कि सब लोग भजनमें लग जायँ और यदि सम्भव भी हो तो दूसरी बात यह है कि भगवान्के सच्चे भक्त कर्तव्यकी सीमासे परे पहुँच जाते हैं। वे अपना सर्वस्व भगवान्के चरणोंमें समर्पणकर सर्वथा निश्चिन्त हो जाते हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे अकर्मण्य बन जाते हैं। उनका अपना कोई कर्म नहीं रहता। भगवान् जैसा चाहें वैसा ही उनके द्वारा करवा सकते हैं। भगवान् जो कुछ करायेंगे वही उन्हें प्रसन्नतासे स्वीकृत होगा। वे कर्मके स्वरूपको प्रधानता न देकर भगवान्-की मंगलमयी रुचिको और उनके संकेतको प्रधानता देंगे। न उन्हें सर्वस्व त्यागकर भगवान् बुद्धकी भाँति भिक्षुओंका संघ बनानेमें आपत्ति होगी और न काल-स्वरूप भगवान्की पूजाके लिये रणांगणरूप मन्दिरमें अर्जुनकी भाँति जनसंहार-जैसे क्रूर कर्मके करनेमें किसी प्रकारका संकोच होगा। ऐसी हालतमें इस शंकाको कोई स्थान नहीं। सच्चे भक्तोंके द्वारा जगत्-का अमंगल तभी सम्भव है जब कि वैसा भगवान्से संभव हो। जहाँ जिस लौकिक कर्मको भक्तोंसे करवानेकी भगवान् आवश्यकता समझेंगे, वहाँ करा लेंगे और उसमें भक्तोंको कभी इन्कार नहीं है।

हाँ, जो लोग भजनके नामपर आलस्य और अकर्मण्यताको आश्रय देते हैं, भगवान्के संकेतको न समझकर चुपचाप पड़े रहना चाहते हैं उनकी बात दूसरी है परन्तु जो लोग यथार्थ ही भजनके लिये संसार त्याग-कर वनवासी हो जाते हैं और भगवान्की इच्छासे

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

केवल भजनमें ही रत रहते हैं, वे इनमें शामिल नहीं हैं। ऐसे एकान्तसेवी भजनानन्दी भक्तोंसे जगत्का बड़ा कल्याण होता है। महत्त्व तो भगवत्प्रेममें है काम छोड़ने और न छोड़नेमें नहीं। गोपियाँ वनवासिनी नहीं थीं परन्तु उनका प्रेम इतना बढ़ा हुआ था कि वनवासी त्यागी महात्माओंने भी उन्हें प्रेमपथकी आचार्या माना है। एक कथा प्रसिद्ध है। सम्भव है कि यह सर्वथा काल्पनिक हो, पर सिद्धान्त सर्वथा सत्य है।

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण द्वारकामें सोलह हजार एक सौ आठ रानियोंके साथ रहते थे उस समय वे श्रीरुक्मिणी आदि पट्टमहिषियोंके सामने समय-समयपर गोपियोंके प्रेमकी प्रशंसा कर दिया करते थे। इससे महारानियोंको गोपियोंके प्रति कुछ ईर्षा-सी होने लगी। वे मन-ही-मन गोपियोंके प्रेमका परिचय पानेके लिये उत्सुक हो उठीं। सर्वान्तर्यामी भगवान्-से उनका यह भाव छिपा न रह सका। उन्होंने उनकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये एक लीला रची। वे कुछ रुग्ण हो गये। जिनका एक बार नाम लेनेसे भारी भवरोग जड़के लिये मिट जाता है, उनके रोगकी लीला वस्तुतः ही तार्किकोंके मनमें मोह उत्पन्न करनेवाली है। महलोंमें सब ओर भगवान्की बीमारीका समाचार फैल गया। तरह-तरहके उपचार होने लगे, किन्तु रोगका किसी तरह शमन नहीं हुआ। इसी समय वहाँ नारदजी पधारे। भगवान्को रुग्ण देखकर उन्होंने उनसे उसकी ओषधिके विषयमें पूछा। भगवान्ने कहा नारदजी! इस रोगकी ओषधि तो है किन्तु उसका अनुपान मिलना बहुत कठिन है। श्रीनारदजी-के बहुत आग्रह करनेपर भगवान्ने कहा—'इस औषधिका अनुपान मनुष्यके चरणोंकी धूलि है, यदि वह मिले तो रोग तुरन्त निवृत्त हो सकता है।' यह सुनकर नारदजी महारानी रुक्मिणीके पास गये किन्तु पतिदेवके लिये चरणधूलि देकर पाप कमानेका साहस उनका न हुआ। तत्पश्चात् क्रमशः वे सत्यभामा आदि सभी महिषियोंके पास गये परन्तु यह भीषण पाप किसीने भी मोल न लेना चाहा। रानियोंसे निराश होकर नारदजी पहले द्वारकामें और फिर तमाम विश्व-में घूमे, पर भगवान्की ओषधिके अनुपानके लिये चरणधूलि देनेका साहस किसीको न हुआ। नारद-जी स्वयं भी न दे सके और सब ओरसे निराश होकर भगवान्के पास लौट आये। भगवान्ने उन्हें चिन्तित और हताश देखकर कहा 'नारदजी! एक बार वृन्दावन जाकर तो देखिये। वहाँकी व्रजाङ्गनाओंने अपना सर्वस्व मेरे लिये न्योछावर कर रक्खा है। शायद वहाँसे आप निराश न लौटें।' नारदजीकी इच्छा तो नहीं थी परन्तु वे भगवान्के वचनको टाल नहीं सके।

नारदजी वृन्दावन पहुँचे। वहाँ कुछ गोपियाँ मिलकर श्रीकृष्ण-चर्चा कर रही थीं। उन्हें तो यही एकमात्र प्रिय कार्य था। नारदजीको द्वारकासे आये जान उन सबने उन्हें घेर लिया। समाचार पाकर और भी गोपियाँ आ गयीं और सब उनसे भगवान्का समाचार पूछने लगीं। उनसे भगवान्की अस्वस्थताकी बात सुनकर गोपियोंको बहुत दुःख हुआ। वे बोलीं क्या ऐसी कोई ओषधि नहीं है जिससे हमारे प्यारे श्यामसुन्दर शीघ्र स्वास्थ्य लाभ कर सकें? नारदजीने कहा—ओषधि तो है, परन्तु उसका अनुपान दुर्लभ हो रहा है। वह है सभीके पास, परन्तु उसे कोई देता नहीं।

गो०—क्या वह हमारे पास भी है?

ना०—हाँ, है। परन्तु दोगी तुम भी नहीं।

गो०—नारदजी! आप यह क्या कह रहे हैं? क्या श्रीश्यामसुन्दरके लिये कोई भी वस्तु हमें अदेय है? आप शीघ्र बतलाइये। हमारा तो सब कुछ उन्हीं-का है, उनके लिये हम लोक-परलोक सब कुछ दे सकती हैं।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ना०—उस ओषधिका अनुपान है मनुष्यके चरणकी धूलि। क्या तुम अपनी चरणरज दोगी? यह सुनते ही सब गोपियोंने अपने-अपने पैर फैला दिये और कहा—यह कौन बड़ी चीज है? देवर्षि, जितनी रज चाहिये, उतनी ले जाइये।

ना०—अरी, व्रजबालाओ! क्या तुम्हें नरकका कुछ भी भय नहीं है? तुम सर्वलोकाधीश और सबके वन्दनीय, परम प्रभु परमात्मा श्रीकृष्णके लिये अपनी चरणधूलि देनेका किस प्रकार साहस कर रही हो?

गो०—देवर्षि! हमें न नरकका डर है, न स्वर्गकी इच्छा है। श्यामसुन्दर हमारे प्रियतम हैं। हमारे तन, मन, धन, धर्म, प्राण, लोक, परलोक सब उन्हींके हैं। यदि उन्हें सुख पहुँचे और उसके बदलेमें हमें नरक मिले तो वह नरक हमारे लिये अनन्त स्वर्ग-सुखोंसे भी बढ़कर है। इस प्रकारके नरकवाससे बढ़कर सुखसौभाग्य हमारा और क्या होगा? हम किसी पापसे नहीं डरतीं, हमारे अघासुरको तो भगवान् कभीको मार चुके।

गोपियोंकी अनन्यताको देखकर नारदजी चकित हो गये। अपनी भक्तिपर उन्हें लज्जा होने लगी। उन्होंने गोपियोंकी चरणधूलि लेकर कुछ रजको अपने शरीरमें मल लिया फिर शेष रजकी एक पोटली बाँधी और बड़े आदरसे पोटली सिरपर रखकर द्वारका पहुँचे। भगवान्‌के लिये ओषधिका अनुपान आया सुनकर द्वारकामें आनन्द छा गया। भगवान्‌ने तो ये सारी लीला पटरानियोंके प्रेमाभिमानको दूर करनेके लिये ही की थी, वे उस पगधूलिका सेवन करते ही स्वस्थ हो गये। पटरानियोंका गर्व दूर हो गया और वे प्रेममग्न होकर व्रजाङ्गनाओंके अनन्य प्रेमकी सराहना करने लगीं।

एक सज्जनने मुझसे पूछा है कि 'प्रेममें अद्वैत है या नहीं?' मेरा उत्तर है कि अवश्य 'अद्वैत' है। प्रेम अनिर्वचनीय है और अनिर्वचनीय तत्त्व अद्वैत ही होता है। प्रेमसे ही यथार्थ तत्त्वका रहस्य जाननेमें आता है और प्रेमसे ही प्रेमास्पदके साथ प्रेमीका सहज एकात्म्य होता है। किन्तु यह अद्वैत 'रसाद्वैत' है—आनन्दाद्वैत है।

एक दूसरे सज्जनका कहना है कि भगवान् सर्वव्यापी हैं या किसी देशविशेषके निवासी? यदि सर्वव्यापी हैं तो भक्तोंके इस कथनकी संगति कैसे बैठती है कि—

वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति।

भगवान् वृन्दावनसे बाहर एक पग भी नहीं जाते। और यदि यही ठीक है तो वे सर्वव्यापी कैसे हैं? इसपर मेरा यह निवेदन है कि दोनों ही बातें ठीक हैं। अवश्य ही गोपियोंके भगवान् वृन्दावनको छोड़कर कहीं एक पग भी नहीं जाते। वह निरन्तर उनकी आँखोंके सामने ही रहते हैं। यदि वृन्दावनमें गीताके कालरूप भगवान् आ जायँ तो गोपियाँ उनसे डर जायँ। अर्जुन भी डर गये थे। और वृन्दावनमें 'तोत्रवेत्रैकपाणयः' सारथीरूप भगवान्‌की आवश्यकता भी नहीं है। वृन्दावनके भगवान् तो दिव्य सौन्दर्य और माधुर्यके सागर हैं। वे ललित त्रिभङ्गीलाल हैं। मुरली हाथमें लिये ऐसी मनोहर छटासे नाचते रहते हैं कि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी इस स्वरूपको देखनेकी इच्छा करते हैं और देखते ही सब कुछ भूलकर मोहित हो जाते हैं। ये नटवर मुरलीमनोहर यदि महाभारतकी रणभूमिमें चले जायँ तो रसभंग न हो जायगा? अतएव रसिकशिरोमणि श्रीकुञ्जविहारीका वृन्दावनकी निकुञ्ज वीथियोंसे बाहर न निकलना ठीक ही है। भगवान्‌की जहाँ जैसी लीला होती है, उसीके अनुरूप उनका दिव्य मंगल विग्रह होता है। परन्तु यह ध्यानमें रहे कि भगवान्‌का मंगलमय विग्रह इस मायाका बना हुआ

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नहीं होता। वह सच्चिदानन्दघन होता है। इसीसे वाल्मीकिने भगवान् श्रीरामसे कहा—

चिदानन्दमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥

और इसीसे बड़े-बड़े ब्रह्मनिष्ठ पुरुष भगवान्के दिव्य मंगल विग्रहको देखकर प्रेमकी बाढ़में बह जाते हैं। मिथिलापुरीमें जिस समय ब्रह्मनिष्ठ-शिरोमणि महाराज जनकने पहले-पहल भगवान् श्रीरामको लक्ष्मणके साथ देखा, उस समय उनका प्रेम इतना उमड़ा कि वे अपने आँसुओंको न रोक सके और विश्वामित्रसे पूछने लगे कि 'भगवन्! ये दोनों कौन हैं? मेरा हृदय स्वाभाविक ही वैराग्यरूप है। मुझे वैराग्यके लिये कोई साधना नहीं करनी पड़ती। परन्तु आज इन बालकोंके स्वरूपको देखकर मेरा मन इतना विवश हो गया कि मैं अपने मनको नहीं रोक सकता। इन्हें देखते ही इतना प्रेम बढ़ गया कि बरबस मेरा मन ब्रह्मसुखको त्यागकर इस प्रेमानन्दमें मग्न हो गया—

सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥
इतहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहिं मन त्यागा

भला, भगवान्का यह रूप पाञ्चभौतिक होता तो क्या ब्रह्मविद्वरिष्ठ जनकजीको ऐसा मोह हो सकता था? स्वयं जनक इस बातको स्वीकार करते हैं कि ब्रह्मज्ञानमें मेरा प्रवेश है, परन्तु राम और रामके भक्तोंके प्रेमको समझना मेरे अधिकारकी बात नहीं है। जिस समय चित्रकूटमें भरतजी भगवान्से अयोध्या लौटनेके लिये आग्रह कर रहे थे उसी समय जनकजी भी वहाँ जा पहुँचे थे। माता कौसल्याको भरतकी प्रेमातिशयता देखकर यह सन्देह हुआ कि राम यदि भरतकी बात न स्वीकार करेंगे तो सम्भव है भरत अपने प्राणविसर्जन कर देंगे। इसलिये उन्होंने जनककी पत्नी सुनयनाके द्वारा जनकजीको सन्देशा कहलवाया कि वे रामजीको समझा दें। सुनयनाकी प्रार्थना सुनकर जनकजीने कहा—

धर्म राजनय ब्रह्मबिचारू। इहाँ जथामति मोर प्रचारू॥
सो मति मोर भरत महिमाहीं। कहौं काह छल छुअति न छाहीं॥
देबि परंतु भरत रघुबरकी।
प्रीति प्रतीति जाय नहिं तरकी॥

श्रीमद्भागवतमें आया है कि जिस समय जन्मसे ही सिद्ध ब्रह्मविच्छिरोमणि सनकादि वैकुण्ठमें पहुँचे उस समय भगवान्के चरणोंकी तुलसीगन्धने उनके चित्तको क्षुभित कर दिया। क्या मायारचित पार्थिव गन्ध ऐसे मुनियोंके चित्तको आकर्षित कर सकती थी। भक्तोंके लिये तो भगवान्का दिव्य मङ्गलविग्रह प्रत्यक्ष सिद्ध है। कोई उसे मायिक बतलावे तो उसकी उन्हें चिन्ता नहीं।

प्रसंगवश भगवान्के दिव्य सौन्दर्यमाधुर्यनिधि मङ्गलविग्रहकी बात बीचमें आ गयी। मैं यह कह रहा था कि वृन्दावनके भगवान्का वृन्दावनसे कहीं न जाना ठीक ही है। इसपर एक कथा सुनाता हूँ। बंगालके प्रसिद्ध भक्त और विद्वान् स्वर्गीय शिशिरकुमार घोषका एक बँगला ग्रन्थ है, उसका नाम है 'काला चाँद गीता'। उसमें एक प्रसंग इस प्रकार है—

किसी निकुञ्जमें बैठी पाँच सखियाँ परस्पर श्रीकृष्णकी चर्चा करती हुई हार गूँथ रही थीं। इतनेमें ही उधरसे एक महात्मा आ निकले। महात्मासे सखियोंने पूछा—स्वामीजी! हमारे श्रीकृष्ण कहीं छिप गये हैं, हम वनमें उन्हें ढूँढ़ रही हैं। आप महात्मा हैं, उन्हें कहीं देखा हो तो बतलाइये, वे कहाँ हैं?

महात्मा—तुम भगवान् श्रीकृष्णकी बात पूछती हो?

सखियाँ—हाँ, हम अपने प्यारे भगवान् श्रीकृष्णकी बात पूछती हैं।

म०—अरी, तुम बड़ी पगली हो। क्या भगवान् श्रीकृष्ण इस प्रकार निकुञ्जमें बैठकर फूल गूँथनेसे मिलते हैं? यदि तुम भगवान्को पाना चाहती हो तो इस नखशिख शृङ्गारका त्याग करके तपस्विनी बनो। वेणी बाँधना छोड़ो, पहले अपने केश कटवाओ, व्रत-उपवासादि करके शरीरको कृश करो और फिर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दीर्घकालतक तप और ध्यानमें लगी रहकर उनकी आराधना करो।

स०—(डरकर) 'स्वामीजी! हम वेणी बाँधनेके लिये फूल गूँथ रही हैं। वेणी न बाँधेंगी तो हमारे रसिकशेखरको बड़ा दुःख होगा। उनका स्वभाव हम जानती हैं। हम उपवास करके शरीर सुखाने लगेंगी तो वे कभी प्रसन्न न होंगे। सिरके केश मुँड़वा लेंगी तो आँसुओंकी धारासे धोये हुए प्रियतमके अरुण चरणकमलोंको फिर किस चीजसे पोंछेंगी। हम योग-याग करके उन्हें क्यों भुलाने जायँ? वे तो पराये नहीं हैं। वे हमारे स्वामी हैं। तब हम उनकी सेवा ही क्यों न करें? साधू बाबा! यह तो बताओ, तुम्हारे वे कृष्ण कौन हैं और उनसे तुम्हारा क्या सम्बन्ध है?'

म०—अरी, तुम भी बड़ी बावली हो। श्रीकृष्ण भी क्या दो-चार हैं। वे भगवान् एक ही सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, सर्वेश्वर और सर्वनियन्ता हैं, वे राजराजेश्वर हैं, न्यायकर्ता हैं, वरदाता हैं और दण्डधारी हैं। उनके प्रसन्न होनेपर सम्पत्ति, रूठनेपर विपत्ति मिलती है। हम न मालूम कितना कष्ट उठाते हैं, तब भी उन्हें प्रसन्न नहीं कर पाते। डरते हैं, कहीं उनका कोई नियम भंग न हो जाय।

स०—(प्रसन्न होकर) बड़ी विपदा टली। आपके श्रीकृष्ण दूसरे हैं।

म०—अच्छा बतलाओ, तुमलोगोंके श्रीकृष्ण कैसे हैं?

स०—साधू बाबा! तुम्हारी पहली बात सुनकर तो हमारे प्राण ही निकल-से गये थे। अब तुम्हारी इस बातसे वे मानो लौट आये हैं। तुमने जिनकी बात कही, वे चाहे कोई हों, हमारे प्राणनाथ नहीं हैं। हमारे श्रीकृष्ण तो श्यामसुन्दर हैं। वे हमारे प्रियतम हैं, हमारे स्वामी हैं। वे दण्डधारी नहीं हैं—हमारे निजजन हैं। उनका जो कुछ है, वह सब हमारा ही है फिर उनसे हम क्या चाहें? भण्डारकी चाभी तो हमारे पास है। दण्डकी बात सुनकर तो डर लगता है। जब हम उन्हींकी प्रेयसियाँ हैं तब वे हमें दण्ड क्यों देंगे? बदपरहेजीसे बीमारी हो जानेपर यदि हमारे स्वामी कोई कड़वी दवा खिलावें या कहीं फोड़ा होनेपर उसे चिरवा दें तो क्या इसे दण्ड कहते हैं? क्या स्नेहका नाम ही दण्ड है? यह तो प्राणनाथका परम प्रसाद है। तुमलोग पुरुष हो, राजसभामें जा सकते हो, राजाको कर देते हो, हमपर यदि कोई कर लगता होगा तो उसे प्राणनाथ आप ही भर देंगे। हमें दण्ड और पुरस्कारसे क्या मतलब? हम तो तुम्हारे उस राजेश्वर कृष्णको देखकर डर जायँगी। हमारे श्रीकृष्ण राजा नहीं हैं, वे तो रसिकशेखर हैं। हमने अपने देह, मन, प्राण सब उन्हींके चरणोंमें सौंप दिये हैं। हम सरलहृदया स्त्रियाँ तप और आराधनाकी बात क्या जानें? हमारे प्राणनाथ तो इस निकुञ्जभवनमें ही कहीं छिपे हैं। वे कहीं जाते नहीं, हमसे यों ही खेल किया करते हैं। तुमने कहीं देखा है तो कृपा करके बतलाओ।

सखियोंकी प्रेमभरी सरल बातें सुनकर महात्माका हृदय द्रवित हो गया, उनकी आँखोंमें प्रेमाश्रु भर आये। उन्होंने कहा—अच्छा, तुम अपने श्रीकृष्णके स्वरूपका तो कुछ वर्णन करो।

स्वरूपकी याद दिलाते ही सखियोंके हृदय आनन्दसे भर गये, उनके मुखकमल खिल उठे और भगवान्‌के स्वरूपका वर्णन करते-करते प्रेमातिशयताके कारण देहकी सुधि-बुधि भूलकर वे नाच उठीं। उनके प्रेमसे प्रभावित होकर महात्माजी भी अपने आपको न रोक सके और श्रीकृष्णके नामका कीर्तन करके नाचने लगे।

ऐसे प्रेमी भक्त अपने भगवान्‌को जहाँ रखना चाहते हैं, वहीं उन्हें रहना पड़ता है। इसलिये भक्तोंका यह कहना कि भगवान् वृन्दावनको

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

छोड़कर एक पग भी कहीं नहीं जाते, सर्वथा सत्य ही है।

अब रही, 'सर्वव्यापी' की बात, इसका उत्तर यह है कि भगवान् अवश्य ही सर्वव्यापी भी हैं। ऐसा कौन-सा स्थान है, जहाँ भगवान् नहीं हैं? परन्तु सर्वव्यापी होनेपर भी वे केवल सर्वव्यापी ही नहीं हैं, यदि वे सर्वव्यापी हैं तो फिर यह 'सर्व' क्या है? सर्व भी तो वही हैं। वे ही सर्व हैं, वे ही सर्वव्यापी हैं, वे ही सर्वातीत हैं। भगवान् सभी कुछ हैं। हमें तो उनपर विश्वास करके अपनेको उनके चरणोंमें समर्पण कर देना चाहिये। फिर वे क्या हैं, इसका रहस्य वे स्वयं ही हमें समझा देंगे।

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

एक प्रश्न और आया था कि 'यदि हम भगवान्‌पर दयापर ही विश्वास करें तो क्या हमें प्रयत्न करना चेष्टा छोड़ देना चाहिये?' हाँ, अहंकारसे प्रेरित प्रयत्न अवश्य छोड़ देना चाहिये। अथवा भोग-कामनावश किये जानेवाले निषिद्ध प्रयत्नोंका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये, परन्तु भगवान्‌के अनुकूल कर्म तो अवश्य ही करने पड़ेंगे। दयापर विश्वास करनेका यह अर्थ नहीं है कि हम भगवान्‌के अनुकूल कर्मोंका त्याग करके आलसी बन जायँ। जो यह कहता है कि 'हे भगवन्! मुझको तो आपकी दयामें ही विश्वास है, परन्तु मैं आपकी आज्ञा नहीं मानना चाहता' उसका वास्तवमें भगवान्‌की दयामें विश्वास ही नहीं है। दयामें विश्वासका तो यही आशय है कि हम स्वार्थवश जो बुरे कर्म करते हैं उन्हें छोड़ दें और कर्तृत्वाभिमान त्यागकर भगवान्‌की प्रेरणासे ही कर्म करें। यह भी नहीं समझ लेना चाहिये कि भगवान्‌का स्मरण करते हुए संसारका काम नहीं हो सकता। भगवान्‌ने तो अर्जुनको आज्ञा दी है—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।

निरन्तर मेरा स्मरण करो और युद्ध करते जाओ। युद्धमें तो बहुत सावधान रहनेकी आवश्यकता है। एक ही बाणमें मृत्यु हो सकती है। शारीरिक वेदना भी कम नहीं रहती। यदि भगवान्‌की स्मृति रखते हुए ऐसे संकटमय क्षेत्रमें भी कर्म किया जा सकता है तो भगवान्‌का स्मरण करते हुए संसारके अन्य साधारण कर्म किये जायँ तो इसमें कौन बड़ी बात है?

अतएव यदि हमलोग भगवान्‌की आज्ञा मानकर यथासाध्य विषयचिन्तनका त्याग करके भगवच्चिन्तन करते हुए ही भगवदर्थ संसारके आवश्यक वैध कर्मोंको करें तो हमें भगवान्‌का प्रेम अवश्य प्राप्त होगा और हमारा मनुष्यजन्म सफल हो जायगा।

एक सज्जन पूछते हैं कि मन यदि मुक्ति नहीं चाहता तो क्या चाहता है? मेरा निवेदन है कि वहाँ चाहने-न-चाहनेका प्रश्न ही नहीं रह जाता। भक्त अपने भगवान्‌के चिन्तनमें ही मस्त हुआ रहता है। यह तो सिद्धान्त ही है—

भुक्तिमुक्तिस्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते।
तावद्भक्तिसुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत्॥

जबतक भोग और मोक्षकी पिशाचिनी चाह मनमें वर्तमान है तबतक भक्तिसुख वहाँ कैसे प्रकट हो सकता है। अतएव भक्तको कोई चाह नहीं होती, उसको ऐसी वस्तु मिली रहती है, जिससे सारी चाह समाप्त हो जाती है। उसका जो कुछ कार्य होता है सब अपने प्रियतम भगवान्‌के लिये ही होता है। उसके रोम-रोमसे मानो यही ध्वनि निकलती है—

अब तो भोग-मोक्षकी इच्छा व्याकुल कभी न करती है।
मुखड़ा ही नित नव बंधन है मुक्ति चरणसे झरती है.

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रार्थना

हे प्रभो ! तुम्हारा स्मरण, भजन और ध्यान करना चाहता हूँ, कई बार बुद्धि ऐसा निश्चय-सा करती है कि अब तमाम जीवन तुम्हारे भजन-स्मरण-में ही बिताना चाहिये। इस निश्चयके अनुसार चेष्टा करता हूँ, भजन-स्मरण शुरू करता हूँ, परन्तु थोड़े ही क्षणोंमें देखता हूँ चित्त कहीं-का-कहीं चला गया है। कुछ खेद भी होता है परन्तु उत्साह टूट जाता है, उधर संसारकी वासनाएँ खींचती ही हैं, भजन-स्मरण कुछ नहीं बनता। दीनबन्धो ! तुम्हीं कृपा करके ऐसी शक्ति दो जिससे तुम्हारा भजन-स्मरण ही मेरे जीवनका एकमात्र कार्य हो जाय।

हे भगवन् ! जब किसीके मरनेकी बात सुनता हूँ तो कुछ कालके लिये मनमें वैराग्य-सा आता है, सोचता हूँ, मैं भी ऐसे ही मर जाऊँगा। विषयोंसे निराशा-सी होती है, तुम्हारी ओर बुद्धि जाती है, परन्तु क्या कहूँ मेरे अन्तर्यामी ! तुम तो सब कुछ जानते ही हो, कुछ ही समयके बाद वैराग्यका कहीं नाम भी नहीं रहता, मन पूर्ववत् विषय-सेवनमें लग जाता है। हे नाथ ! तुम कृपा करके ऐसी शक्ति दो जिससे मैं विषयासक्तिसे पिण्ड छुड़ाकर तुम्हारी ओर अपने मनको निरन्तर लगाये रख सकूँ, तुम्हारा चिन्तन ही मेरे जीवनका आधार बन जाय।

हे करुणामय ! तुम जानते हो, मैं कितना दुखी हूँ, दिन-रात अशान्तिकी आगमें जलता हूँ, प्राप्तके विनाशकी चिन्ता, और अप्राप्तको प्राप्त करनेकी अभिलाषा दिन-रात मेरे हृदयमें ज्वाला-सी जलाये रखती है। मैं जब कुछ पाता हूँ तब तो आग उलटी बढ़ जाती है। प्रभो, मेरी इस सदा संताप देनेवाली आग-को बुझाकर मुझे शान्ति दो। आग जले भी तो बस तुम्हारे विरहकी ही। मैं दिन-रात हे मेरे जीवनधन ! तुम्हारे आगमनकी प्रतीक्षामें, तुम्हारे सौन्दर्य-माधुर्य-रसपूर्ण मुखड़ेको निरखनेकी आशामें ही प्रत्येक क्षण तुम्हारा स्मरण करता हुआ जीवन धारण करूँ।

हे मेरे राम ! तुम तो मेरे मनमें भी रम ही रहे हो। खूब जानते हो कि मेरी इस प्रार्थनामें कितनी सचाई है और कितना दम्भ है। सचाई होती तो हे सत्य ! हे सत्यप्रिय ! तुम मुझे दर्शन देनेमें इतना विलम्ब ही क्यों करते ? हे असुरारी ! मेरे हृदयमें निवास करनेवाले इस दम्भासुरका शीघ्र-से-शीघ्र विनाश क्यों नहीं कर देते। फिर तो तुम्हारे लिये मनमें सचाई आवेगी ही, और फिर यह जीवन तुम्हें पाकर कृतार्थ भी हो जायगा।

हे मेरे सर्वस्व ! मैं बस तुम्हें ही जीवनका सर्वस्व मानूँ ! तुम्हें ही अपने आत्माका आत्मा, ईश्वरोंका ईश्वर, गुरुओंका गुरु, धर्मोंका धर्म, सत्यका सत्य, ज्ञानका ज्ञान, वैराग्यका वैराग्य, ऐश्वर्यका ऐश्वर्य, माधुर्यका माधुर्य, सौन्दर्यका सौन्दर्य मानूँ और सब प्रकारसे तुम्हारे ही लिये तरसूँ। अथवा तुम प्राप्त होओ या न होओ, अपना मोहन मुखड़ा दिखलाओ या न दिखलाओ, मैं बिना किसी उकताहटके, बिना किसी शर्तके, बिना किसी आशाके, बिना किसी अधैर्यके तुम्हारा, बस तुम्हारा ही स्मरण करता रहूँ और इस बातकी कभी सुधि ही न आवे कि स्मरण क्यों करता हूँ। बस यही वरदान दो मेरे स्वामी !

तन मन धन अर्पन कियौ सब तुमपै ब्रजराज।
मन भावे सोई करौ हाथ तुम्हारे लाज॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि १०]

विद्या तथा अविद्याका स्वरूप

हे जनक! ब्रह्म देश, काल तथा वस्तुपरिच्छेदसे रहित है, सब जीवोंका आत्मा है, स्वयंप्रकाश सच्चित् आनन्दरूप है तथा अद्वितीय है। जो विद्या अद्वितीय ब्रह्मके विशेष स्वरूपके समीपमें कराभलकके समान अधिकारीको ले जाय अथवा जो विद्या अद्वितीय ब्रह्मके विशेष स्वरूपका आत्मारूपसे अधिकारीको प्रकाश करा दे, उस विद्याको शास्त्रवेत्ता ब्रह्मविद्या कहते हैं। तात्पर्य यह कि महावाक्यके श्रवणसे उत्पन्न हुए जीव-ईश्वरके अभेदको विषय करनेवाली अन्तःकरणकी वृत्तिसे उपलक्षित चैतन्यको विद्या कहते हैं। हे जनक! ब्रह्मसे भिन्न सब जगत् अनात्मा, असत्, जड तथा दुःखरूप है। शास्त्रवेत्ता जिसको अविद्या कहते हैं, वह अविद्या अज्ञानसे भिन्न नहीं है किन्तु ब्रह्मका अज्ञान ही अविद्या है। आनन्दस्वरूप आत्मा वस्तुतः सजातीय, विजातीय तथा स्वगतभेदसे रहित है, मन-वाणीका अविषय है तथा स्वप्रकाश चैतन्यरूप है। ऐसा निर्विकारी आत्मा नानारूपका किस प्रकार हो जाता है और निर्विकारी चैतन्य परमात्मामेंसे असत्, जड़, दुःखरूप यह जगत् कैसे उत्पन्न होता है? ऐसा प्रश्न पूर्वमें किसीने किसीसे किया। यह प्रश्न सुनकर उसने उत्तर दिया 'मैं नहीं जानता।' इस अनुभवका विषय जो अज्ञान है, वही अज्ञान अविद्याका स्वरूप है।

स्वप्नमें अविद्याकी स्पष्टता

हे जनक! अविद्याके प्रभावसे परमात्मादेव स्वप्नावस्थामें शस्त्रादिको देखकर अपनेको छेदन किया हुआ मानता है, दुष्ट पुरुषों और सिंहादिको देखकर भयभीत होकर भागनेसे गहरी खाईमें गिरकर और स्त्री आदि प्रिय पदार्थोंके वियोगसे अपनेको अति दुःखको प्राप्त हुआ देखता है, इस प्रकार स्वप्नमें अविद्याके कारण जीवात्मा अनेक प्रकारके दुःखोंको प्राप्त होता है। हे जनक! श्रुतिने स्वप्नावस्थामें रथादि सर्व पदार्थोंका अभाव कहा है। क्योंकि सुख-दुःखके कारण रथादि पदार्थ महान् हैं और जिस हृदयदेशमें स्वप्न होता है, वह अत्यन्त अल्प है, इसलिये अल्पदेशमें रथादि महान् पदार्थोंकी स्थिति सम्भव नहीं है। जाग्रदवस्थामें रथादि पदार्थोंकी उत्पत्तिमें विशाल स्थान, दीर्घ काल तथा काष्ठादि अनेक कारण होते हैं, इन सबका स्वप्नावस्थामें अभाव है। इसलिये स्वप्नावस्थामें अल्प हृदयप्रदेशमें तथा अल्प कालमें रथादि पदार्थोंकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है। स्वप्नमें रथादि पदार्थोंका अभाव होनेसे रथादि पदार्थोंसे उत्पन्न हुए सुख-दुःखादिका होना भी सम्भव नहीं है तो भी स्वप्नमें सब जीवोंको पुण्य-पापके वशसे सुख-दुःखका अनुभव होता है। कारण बिना कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती, यह बात अनुभवसिद्ध है, इसलिये स्वप्नके पदार्थोंका भी कोई कारण होना चाहिये। लोकप्रसिद्ध देश-कालादि कारण बिना जो पदार्थ उत्पन्न होता है, वह पदार्थ साक्षात् मायाका कार्य होता है। जैसे योग्य देशादि कारण बिना आकाशमें गन्धर्वनगर प्रतीत होता है इसी प्रकार स्वप्नावस्थामें भी लोकप्रसिद्ध देश-कालादि कारण बिना रथादि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इसलिये वे साक्षात् मायाके कार्य हैं। यह माया अज्ञानरूप अविद्यासे भिन्न नहीं है, इसलिये माया, अविद्या और अज्ञान एक ही हैं, इनमें भेद नहीं है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हे जनक ! स्वप्नमें रथादि पदार्थोंको उत्पन्न करनेवाली स्वप्नद्रष्टा आत्माकी शक्ति अविद्यासे भिन्न नहीं है किन्तु उस शक्तिको ही शास्त्रवेत्ता अविद्या कहते हैं, जो शक्तिको अविद्यासे भिन्न मानते हैं, उनसे पूछना चाहिये कि शक्ति क्या कार्य करनेको समर्थ है। तात्पर्य यह है कि शक्तिसे जीवात्मा जाग्रत्के प्रपञ्चको स्वप्नमें अपने चित्तमें लेता है अथवा उस शक्तिसे बाहर जाकर जाग्रत्के रथादि पदार्थोंको देखता है। इन दोनोंमेंसे किसी पक्षसे भी अविद्यासे भिन्न शक्ति सिद्ध नहीं होती, क्योंकि जाग्रदवस्थामें जैसे अत्यन्त सूक्ष्म सर्पको यदि कोई पुरुष अपने कानके छिद्रमें घुसा लेता है, तो वह मायारूप अविद्याके बलसे ही ऐसा करता है। इसी प्रकार स्वप्नमें अंगुष्ठमात्र परिमाणवाले हृदयाकाशमें जड़-चेतनरूप सर्व बाह्य जगत्को स्थापन करनेमें मायारूप अविद्याके सिवा और किसमें सामर्थ्य है? स्वप्नमें बाहरके प्रपञ्चको अंदर ले जानेवाली शक्ति भी मायारूप अविद्यासे भिन्न नहीं है, क्योंकि जैसे जाग्रत्-अवस्थामें कोई पुरुष भूमिलोकमें रहकर क्षणमात्रमें सूर्यलोकमें जाकर फिर मायारूप अविद्याके बलसे भूमिलोकमें आ जावे, इसी प्रकार स्वप्नमें शरीरमें प्राण होते हुए भी जीव क्षणमात्रमें दूसरे द्वीपमें गमन करता है, क्षणमात्रमें स्वर्गलोकको देखकर भूमिलोकमें आ जाता है। इस प्रकारके दुर्घट कार्य मायारूप अविद्याके बल बिना नहीं हो सकते। इस प्रकार स्वप्नमें जाग्रत्के बाह्य पदार्थोंका आना और जीवात्माका बाहर जाना, ये दोनों पक्ष माननेसे शक्तिमें अविद्यारूपता सिद्ध होती है। हे जनक ! स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा पुरुष अपनी मायाशक्तिके प्रभावसे जाग्रत्के बाह्य प्रपञ्चको चित्तमें लाता है अथवा मायाशक्तिके प्रभावसे जीवात्मा बाहर जाकर जाग्रत्के पदार्थोंको देखता है, इन दोनों प्रक्रियाओंमेंसे कोई प्रक्रिया श्रुतिप्रमाणसे सिद्ध नहीं होती, श्रुति तो स्वप्नमें हृदयदेशमें रथादि सर्व पदार्थोंकी उत्पत्ति कहती है इसलिये ये दोनों प्रक्रियाएँ श्रुतिविरुद्ध हैं, यदि स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा पुरुष मायाशक्तिके बलसे जाग्रत्के पदार्थोंको हृदयमें लाता हो, तो जिन स्त्रीपुत्रादि चेतन पदार्थोंको स्वप्नद्रष्टा स्वप्नमें देखता है, उन स्त्री-पुत्रादिसे जाग्रत्-कालमें स्वप्नद्रष्टा पुरुष ऐसा नहीं कहता कि तुम मेरे हृदयमें आये थे और ऐसा कोई मानता भी नहीं है, इसलिये जाग्रत्के पदार्थ स्वप्नमें आते हैं, यह प्रक्रिया सब लोगोंके अनुभवसे विरुद्ध है। यदि स्वप्नमें जीवात्मा बाहर जाकर पदार्थोंको देखता हो, तो स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा जिन स्त्री-पुत्रादि बान्धवोंको देखता है, उनसे जाग्रदवस्थामें ऐसा नहीं कहता कि आज रातको मैं तुम्हारे घर गया था। न तो कोई ऐसा कहता है और न ऐसा कोई मानता है, इसलिये स्वप्नमें जीवात्मा बाहर जाकर जाग्रत्के पदार्थोंको देखता है, यह प्रक्रिया भी अनुभवविरुद्ध है। यदि कोई स्वप्नमें बाहरके पदार्थोंका हृदयमें आना माने, अथवा स्वप्नद्रष्टाका बाहर जाना माने, तो उससे पूछना चाहिये कि स्वप्नद्रष्टाके हृदयमें आनेवाले स्त्री-पुत्रादि चेतन पदार्थ स्वप्नके सूक्ष्म शरीरसे विशिष्ट होकर आते हैं अथवा जाग्रत्के स्थूल शरीरसे विशिष्ट होकर आते हैं? और स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा बाहर जाकर स्वप्नके सूक्ष्म शरीरवाले स्त्रीपुत्रादि चेतन पदार्थोंको देखता है अथवा जाग्रत्के स्थूल शरीरवाले स्त्रीपुत्रादिको देखता है? इन दोनों पक्षोंमें स्वप्नद्रष्टा बाहर जाकर स्वप्नके सूक्ष्म शरीरसे विशिष्ट स्त्रीपुत्रादिको देखता है, यह प्रथम पक्ष सम्भव नहीं है क्योंकि जिस समय स्वप्नद्रष्टाको स्वप्न होता है, उसी समय यदि उन स्त्रीपुत्रादिको भी स्वप्नकी प्राप्ति होती हो तो यह पक्ष सम्भव हो सके परन्तु स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टाके देखे हुए स्त्री-पुत्रादिको उसी समय स्वप्न होना, इस प्रकारका नियम देखनेमें नहीं आता किन्तु जिस समय स्वप्नद्रष्टा जिनको देखता है, उस समय उनमेंसे कोई

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जगता होता है, कोई सोया हुआ होता है अथवा कोई स्वप्न देखता हुआ भी होता है। इस प्रकार सबको एक ही समय स्वप्न नहीं होता, इसलिये स्वप्नके सूक्ष्म शरीरसे विशिष्ट स्त्री-पुत्रादिको स्वप्नद्रष्टा स्वप्नमें बाहर जाकर देखता है अथवा उनको अपने हृदयमें देखता है, यह प्रथम पक्ष सम्भव नहीं है, इसी प्रकार जाग्रत्के स्थूल शरीरसे विशिष्ट स्त्रीपुत्रादि पदार्थोंको स्वप्नद्रष्टा बाहर जाकर देखता है अथवा उनको अपने हृदयमें देखता है, यह दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है क्योंकि स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा हृदयप्रदेशके अंदर अथवा बाहर जाकर देखे हुए स्त्रीपुत्रादि पदार्थोंको जाग्रदवस्थाको प्राप्त होकर देखता है तो जाग्रत्में जिन भूषणादिवाले स्त्रीपुत्रादिको देखता है, उन्हीं भूषणादिवाले स्त्री-पुत्रादि पदार्थोंको स्वप्नमें नहीं देखता किन्तु विलक्षण देखता है, इसलिये जाग्रत्के स्थूल शरीरसे विशिष्ट स्त्रीपुत्रादिका स्वप्नमें दर्शन होता हो, यह भी सम्भव नहीं है। और स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा स्वप्नके सूक्ष्मशरीरविशिष्ट स्त्री-पुत्रादिको अपने हृदयमें देखता है अथवा बाहर जाकर देखता है, इस प्रथम पक्षमें दूसरा और भी एक दोष है, वह यह कि जब देवदत्तको स्वप्नमें यज्ञदत्तका दर्शन होता है तब यज्ञदत्तको भी दैवयोगसे स्वप्नमें देवदत्तका दर्शन होता है। पीछे जाग्रत्में उन दोनोंमें यह विवाद होना चाहिये कि हे यज्ञदत्त! रात्रिको तू मरे हृदयमें आया था, यह सुनकर हे देवदत्त! तू झूठ कहता है, क्योंकि रात्रिको तू मेरे हृदयदेशमें आया था, इस प्रकारका विवाद दोनोंमें नहीं होता, इसलिये स्वप्नमें जाग्रत्के पदार्थ स्वप्नद्रष्टा पुरुषके हृदयमें आते हैं अथवा स्वप्नद्रष्टा पुरुष शरीरसे बाहर जाकर जाग्रत्के पदार्थोंको देखता है, ये दोनों प्रकारकी प्रक्रिया श्रुतिप्रमाणसे तथा लोकानुभवसे विरुद्ध है, इसलिये इन दोनोंका त्याग करना चाहिये।

जनक—हे भगवन्! ये दोनों प्रक्रियाएँ त्याज्य हैं, तो कौन-सी प्रक्रिया ग्राह्य है?

याज्ञवल्क्य—हे जनक! स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टा पुरुष चेतन-अचेतन सब पदार्थोंको अपने हृदयमें देखता है, इसलिये शरीरके अंदर मायाशक्तिसे उत्पन्न हुए सब पदार्थ मायामय हैं। हे जनक! स्वप्नद्रष्टा स्वप्नमें दूसरे स्थानपर रहनेवाले राजाके महलको अपनी छोटी-सी कोठरीमें देखता है, महान् विस्तारवाले समुद्रको अपने घरके द्वारपर देखता है, और खाँची जानकर उसको लाँघ जाता है। इस प्रकार अनेक प्रकारके मिथ्या पदार्थोंको स्वप्नद्रष्टा स्वप्नमें देखता है। प्रत्येक स्वप्नद्रष्टाके शरीरसे लेकर सुख-दुःख देनेवाले स्वप्नके जड-चेतन सब पदार्थ मायामय हैं।

जनक—हे भगवन्! मायामय स्वप्नके पदार्थोंका उपादानकारण और आश्रय कौन है?

याज्ञवल्क्य—हे जनक! 'स हि सर्वस्य कर्ता' स्वप्नद्रष्टा ही स्वप्नके पदार्थोंका कर्ता है, इस श्रुतिके वचनसे मायामय स्वप्नपदार्थोंका मायाविशिष्ट स्वप्नद्रष्टा ही उपादानकारण तथा आश्रय है, यह श्रुति और युक्तिसे सिद्ध है। स्वप्नप्रपञ्चकी उत्पत्ति, स्थिति तथा लय करनेवाले स्वप्नद्रष्टाके इस अज्ञानको ही माया तथा अविद्या कहते हैं। जैसे स्वप्नमें यह पुरुष जड-चेतनरूप जगत्को देखता है, इसी प्रकार जाग्रत्में भी आत्मा अविद्यासे जड-चेतनरूप जगत्को देखता है, इसलिये जाग्रत् तथा स्वप्नमें द्रष्टारूप आत्माका भेद नहीं है और दृश्यरूप अनात्म पदार्थोंका भी भेद नहीं है, इसलिये विचारकर देखा जाय तो जाग्रत् और स्वप्न दोनों समान है, दोनों अवस्थाओंमें अद्वितीय आत्मा अविद्यासे अपनेमें सुख-दुःख और भय मानता है।

सुषुप्तिमें आत्माका स्वरूप

हे जनक! जीवात्मा नाड़ियोंरूप मार्गद्वारा स्वप्न तथा सुषुप्तिको प्राप्त होता है, यह बात मैंने

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तुझसे कही और नाड़ियोंरूप मार्गसे प्राप्त होने योग्य स्वप्नका भी विस्तारसे वर्णन किया। अब वही आत्मा उन नाड़ियोंरूप मार्गद्वारा जिस संप्रमाद नामकी सुषुप्तिको प्राप्त होता है, उसका स्वरूप मैं तुझसे कहता हूँ, चित्त देकर सुन! हृदयाकाशमें इन्द्ररूप आत्मा नाड़ियोंरूप मार्गसे जाता है। वहाँ जाकर आत्मा अपने स्वरूपसे स्वप्रकाशरूप बोधको प्राप्त होता है। इसलिये श्रुति भगवती इन्द्ररूप आत्माको देव शब्दसे कहती है। यह आत्मादेव दूसरे प्रकाशकी अपेक्षा बिना अपने स्वयंज्योतिरूपसे प्रकाशता है, इसलिये श्रुति आत्माको राजा कहती है। परमात्मादेव नाड़ियों-रूप मार्गसे सुषुप्तिको प्राप्त होता है, यह ऊपर कहा है। सुषुप्तिमें जाग्रत् तथा स्वप्नके पदार्थ लयभावको प्राप्त हो जाते हैं, अन्धकारके समान आवरण करनेवाला अज्ञान सुषुप्तिमें स्पष्ट प्रतीत नहीं होता। यद्यपि अज्ञान तथा सुखका विषय करनेसे अज्ञानकी वृत्ति सुषुप्तिमें वेदवेत्ताओंने मानी है, तो भी उस अज्ञानकी सूक्ष्म वृत्तिमें अज्ञानका स्पष्टरूपसे भान नहीं होता। इस प्रकार-की सुषुप्ति-अवस्थाको जीवात्मा नाड़ीरूप मार्गसे प्राप्त होता है। हृदयाकाशमें स्थित सत्यस्वरूप परमात्माके साथ जब जीवात्मा अभेदभावको प्राप्त होता है, तब यह जीवात्मा मुक्त पुरुषके समान हो जाता है क्योंकि जो पुरुष सब जगत्को आत्मारूप जानता है, उसको शास्त्रवेत्ता पुरुष मुक्त कहते हैं, इस प्रकारके मुक्त पुरुषका लक्षण सुषुप्त जीवात्मामें घटता है, क्योंकि सब जगत्के आत्मारूप परमात्माके साथ अभेदभावको प्राप्त होकर जीवात्मा भी सब जगत्को आत्मारूप जानता है, इसलिये सुषुप्तिवाला जीवात्मा मुक्त पुरुषके समान है।

जनक—हे भगवन्! सुषुप्तिको प्राप्त हुआ जीवात्मा मुक्त पुरुषके समान कैसे हो सकता है? क्योंकि मुक्त पुरुषका अज्ञान तथा अज्ञानका कार्य-प्रपञ्च ज्ञानरूप अग्निसे नष्ट हो जाता है और सुषुप्त जीवका कार्यप्रपञ्च यद्यपि नष्ट हो जाता है, तो भी कारणरूप अज्ञान नष्ट नहीं होता, इसलिये मुक्त पुरुषके साथ सुषुप्त जीवात्माकी समानता सम्भव नहीं है।

याज्ञवल्क्य—हे जनक! मुक्त पुरुष और सुषुप्त पुरुषकी समानता सब अंशोंमें शास्त्रवेत्ता नहीं मानते किन्तु जैसे सब दुःखसे रहित भूमारूप आनन्दमें मुक्त पुरुषकी नित्य स्थिति होती है, इसी प्रकार उस भूमारूप आनन्दमें सुषुप्तिवाले पुरुषकी भी अल्पकाल स्थिति होती है, इतने ही अंशमें मुक्त और सुषुप्त पुरुषकी समानता है। अर्थात् सुषुप्तिमें अज्ञान विद्यमान होनेपर भी वहाँ सब कार्यप्रपञ्चका अभाव होता है, इसलिये कार्यप्रपञ्च आत्माका स्वभाव नहीं है। यदि कार्यप्रपञ्च आत्माका स्वभाव हो, तो सुषुप्तिमें भी आत्माके सच्चित् तथा आनन्दस्वभावके समान कार्यप्रपञ्च भी आत्मामें रहे, परन्तु सुषुप्तिमें कार्यप्रपञ्चकी प्रतीति नहीं होती, इसलिये कार्यप्रपञ्च आत्माका स्वभाव नहीं है, इसी प्रकार मुक्त अवस्थामें आत्मा विद्यमान होनेपर भी कारण-अज्ञान नहीं रहता, इसलिये कारण-अज्ञान भी आत्माका स्वभाव नहीं है। यदि कारण-अज्ञान आत्माका स्वभाव हो तो जैसे मुक्त अवस्थामें सच्चित् तथा आनन्दादि आत्मा-का स्वभाव प्रतीत होता है, इसी प्रकार कारण-अज्ञान भी प्रतीत हो, परन्तु मुक्तावस्थामें कारण-अज्ञान प्रतीत नहीं होता, इसलिये कारण-अज्ञान भी आत्माका स्वभाव नहीं है। हे जनक! मुक्त तथा सुषुप्त पुरुषसे प्राप्त होनेयोग्य आनन्द-स्वरूप परमात्मादेव स्वर्गादि सब अनात्मलोकोंसे उत्कृष्ट है, इसलिये श्रुति परमात्मादेवको परम-लोक कहती है।

सुषुप्तिमें विशेष ज्ञानका अभाव

हे जनक! गुरु-शास्त्रके उपदेशसे अधिकारी पुरुष जिस पदार्थको जानता है, उसका नाम

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लोक है, इस प्रकारका लोक शब्दका अर्थ आनन्द-स्वरूप आत्मामें घटता है क्योंकि विषय-वासना-रहित उत्तम अधिकारी इस लोकमें गुरु-शास्त्रके उपदेशसे आनन्दस्वरूप आत्माको जानता है तथा उपासक पुरुष ब्रह्मलोकमें जाकर आनन्द-स्वरूप आत्माको जानता है, इसलिये यह आनन्द-स्वरूप आत्मा परमलोक है और आत्माके सिवा स्वर्गादि लोक मिथ्या हैं, अतएव स्वर्गादि लोकोंका गुरु-शास्त्र बोधन नहीं करते। आनन्द-स्वरूप आत्मा जाति, गुण, क्रिया तथा संबन्ध आदि सर्व धर्मोंसे रहित है, इसलिये वेदके गायत्री आदि छन्दोंका परमात्मा विषय न होनेसे श्रुति परमात्मादेवको 'अतिछन्द' कहती है। परमात्मामें भूत, भविष्य तथा वर्तमान तीनों कालके पापकर्मका सम्बन्ध नहीं है, इसलिये श्रुति परमात्माको 'अपहतपाप्मा' कहती है। सुषुप्तिमें परमात्मादेव सर्व भेदोंसे रहित है और भेदरहित होनेसे उसमें किञ्चित् मात्र भी भय नहीं है, इसलिये श्रुति परमात्मादेवको 'अभय' कहती है। सुषुप्तिमें परमात्माको भय न होनेका कारण इतना ही है कि भेदज्ञानरूप विशेष ज्ञान भयका कारण सुषुप्तिमें नहीं होता। श्रुतिमें कहा है कि 'द्वितीयाद्वै भयं भवति'—द्वितीय पदार्थसे जीवको भय होता है। अपनेसे भिन्न पदार्थ भयका कारण होता है, अपना स्वरूप भयका कारण नहीं होता किन्तु अपनेसे भिन्न जाना हुआ दुःखका कारण-रूप पदार्थ भयका कारण होता है। जैसे कि दुःखके कारणरूप जाने हुए सिंहसर्पादि पदार्थोंसे लोगोंको भय होता है, इसलिये दुःख ही भयका कारण है, भयका कारणरूप दुःख स्वप्रकाश परमात्मामें है नहीं, इसलिये दुःखरूप कारणके अभावसे परमात्मामें भयकी प्राप्ति सम्भव नहीं है, सुषुप्तिमें दुःख न होनेका कारण यह है कि देहधारीको जो दुःख होता है, वह अप्रिय पदार्थ-के विशेष ज्ञानसे होता है। जाग्रत्में सिंहसर्पादि अप्रिय पदार्थोंके विशेष ज्ञानसे जीवको दुःख होता है, अप्रिय पदार्थका विशेष ज्ञान जो जीवके दुःख-का कारण है, वह विशेष ज्ञान सुषुप्तिमें नहीं होता, इसलिये विशेष ज्ञानरूप कारणके अभावसे कार्य-रूप दुःख भी परमात्मामें सम्भव नहीं है। हे जनक! जैसे अत्यन्त प्रिय स्त्रीको आलिंगन करनेसे कामी पुरुष उस समय सब विशेष ज्ञानसे रहित होता है क्योंकि उस समय कामी पुरुष धन-पुत्रादि बाह्य पदार्थोंको नहीं जानता, अन्तरके पदार्थोंको भी नहीं जानता, और अपने और अपनी प्रिय स्त्रीको भी विशेष करके नहीं जानता, इस-लिये उस समय सब दुःखका अभाव होता है, यह लोगोंके अनुभवसिद्ध है, इसी प्रकार सुषुप्तिमें भी जीवात्मा परमात्माके साथ अभेदभावको प्राप्त होकर सर्व विशेष ज्ञानसे रहित होता है क्योंकि उस समय यह जीवात्मा बाहरके भूत-भौतिक पदार्थोंको नहीं जानता, अन्तरके इन्द्रियादि पदार्थोंको नहीं जानता, सुषुप्तिमें विद्यमान माया-रूप अज्ञानको भी नहीं जानता और बुद्धिरूप इन्द्राणीसहित आत्मारूप इन्द्र हृदयाकाशको प्राप्त होकर जिस सुखको प्राप्त होता है, उस सुखको भी विशेषरूपसे नहीं जानता, इसलिये सुषुप्तिमें सब विशेष ज्ञानका अभाव होता है। इस कारणसे वहाँ किञ्चित् भी जीवको दुःखकी प्राप्ति नहीं होती। हे जनक! मुक्त अवस्था-में प्राप्त होनेयोग्य आनन्दस्वरूप आत्मा ही सर्व जगत्का उपादानकारणरूप है, इस लोकमें उपादानकारणकी प्राप्तिसे उसके कार्यकी भी अवश्य प्राप्ति होती है। जैसे सुवर्ण प्राप्त होनेसे सुवर्णके कार्य कुण्डलादि भूषणोंकी अवश्य प्राप्ति होती है, इसी प्रकार सर्व जगत्के उपादान-कारणरूप परमात्माकी प्राप्ति होनेसे सब धन-पुत्रादिकी भी प्राप्ति होती है, इसलिये श्रुतिमें परमात्माको 'आप्तकाम' कहा है। हे जनक! जैसे सुवर्णकी प्राप्ति होनेसे कुण्डलादि भूषणोंकी कामना

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नहीं रहती, इसी प्रकार आनन्दस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति होनेसे जीवको धन-पुत्रादि अनात्म पदार्थोंकी कामना नहीं रहती, इसलिये श्रुतिने परमात्माको आप्तकाम कहा है। वस्तुतः आत्मामें कामना संभव नहीं है क्योंकि अप्राप्त पदार्थमें जीवकी कामना होती है, प्राप्त पदार्थमें किसी जीवकी कामना नहीं होती। और आनन्दस्वरूप परमात्मा सब जीवोंका आत्मा है, इसलिये वह नित्यप्राप्त है। नित्यप्राप्त परमात्मामें कामना नहीं हो सकती, अतः श्रुतिने परमात्माको अकाम कहा है। सब दुःखोंका कारण कामना है, कामनासे ही पुरुषमें शोकादि विकार उत्पन्न होते हैं। कामनारहित पुरुषमें शोकादि विकार उत्पन्न नहीं होते। सुषुप्तिमें आत्मामें कोई कामना नहीं होती। शोकादि सब कामनाओंसे रहित होनेसे श्रुतिने परमात्माको 'अशोक' कहा है।

(क्रमशः)

जीवन

जीवन-प्राण ! सुनो मम उरकी, जीवनके मम जीवन हो ?
जीवन-सरिताके तुम सागर, गुण-आगर मम जीवन हो ?
जीवन-धन हो जीवन-तन हो, जीवन-मन हो जीवन हो ?
जीवन-सागर जीवन-नैया, जीवन-नाविक-जीवन हो ?
जीवन तुमपर है न्योछावर, जीवनके अवलम्बन हो ?
जीवन बनिकाके तुम जीवन, कुसुमकुञ्जके जीवन हो ?
जीवन शशिकी शुभ्र चन्द्रिका, जीवन रसके जीवन हो ?
जीवन सर जीवन-मरालके मुक्ताफल तुम जीवन हो ?
जीवन चातकके जीवन घन-जीवनके तुम जीवन हो ?
जीवन-तरु जीवन-वल्लीके, आलिंगनमय जीवन हो ?
जीवन-जगमें जीवन पाकर, जीवन क्यों निर्जीवन हो ?
जीवन अमर मिले जब ही तब, जीवन-प्राण सजीवन हो ?
जीवनको जीवनकी चिन्ता, लगी रात दिन जीवन हो ?
जीवन-प्रम मिला है इससे, शुद्ध प्रेममय जीवन हो ?
जीवनमय सब जगत् भासता, ब्रह्म एक जग-जीवन हो ?
जीवन हरि, हर, जीवन ब्रह्मा, सकल सुरासुर-जीवन हो ?
जीवन आदि-अनादि आदिके, प्रलयकालके जीवन हो ?
जीवनकी अभिलाषाके तुम, दिव्य ज्योतिमय जीवन हो ?
जीवनहीन हुआ यह जीवन, सो अब नाथ ! सजीवन हो ?

—मोक्षाकर विश्वबन्धु

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गोस्वामी तुलसीदासजीका एक दार्शनिक दोहा

(१)

ब्रह्म निरूपन धर्म बिधि, बरनहिं तत्त्व-बिभाग। कहहिं भगति भगवंतकी, संयुत ग्यानबिराग॥

(बालकाण्ड ४४)

आनन्दकन्द श्रीदशरथ-नन्दनके पादारविन्द-मकरन्दके लुब्ध-मधुकर भक्त-प्रवर सुकविकुल कुमुद-कलाधर गोस्वामी तुलसीदासजीके भक्तमनरञ्जन रामचरितमानस ग्रन्थका उपर्युक्त दोहा छहों दर्शनोंके सिद्धान्तका निदर्शक है। यथा—

दोहेका विषय	दर्शन	दर्शनान्तर्गत प्रमाण
१-ब्रह्मनिरूपण	वेदान्तदर्शन	अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (१।१।१)
२-धर्मविधि	मीमांसादर्शन	अथातो धर्मजिज्ञासा (१।१।१)
३-बरनहिं तत्त्व-बिभाग	न्यायदर्शन	प्रमाणप्रमेयसंशय-प्रयोजननिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः (१।१।१)
४- ,,	सांख्यदर्शन	तत्त्वाभ्यासान्नेति नेतीति त्यागाद्विवेकसिद्धिः (३।७५)
५- ,,	वैशेषिकदर्शन	ब्रह्मविशेषप्रसूताद्द्रव्य-गुणकर्मसामान्यविशेष-समवायानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसम् (१।४)
६-(क) कहहिं भगति भगवंतकी	योगदर्शन	समाधिसिद्धिरीश्वर-प्रणिधानात् (२।४५) तज्जपस्तदर्थभावनम् (१।८) ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च (२।९)
(ख) संयुतग्यान-बिराग	,,	तद्वैराग्यादपि दोष-बीजक्षये कैवल्यम् (३।५०) तारकं सर्वविषयं चेति विवेकजं ज्ञानम् (३।५५)

श्रीगोस्वामीजीने रामायणकी वन्दनामें इस बातका सङ्कल्प-सा कर दिया है कि वह नाना पुराण-निगमागम-सम्मत है। अतएव यह दोहा भी मत्स्यपुराणके निम्न-लिखित श्लोकका अनुवाद ही जान पड़ता है।

कुर्वन्ति ते ब्रह्मनिरूपणं विधिं
धर्मस्य तत्त्वस्य तथा विभागम्।
वदन्ति भक्तिं मुरमर्दनस्य
सुज्ञानवैराग्यसमन्वितां मुदम्॥

किन्तु इस रघुनाथगाथामय भाषानिबन्धको अति मञ्जुल बनानेके लिये उपरिलिखित दोहेमें जो—'मुर-मर्दनस्य' के स्थानपर 'भगवन्त' शब्दका प्रयोग किया गया है उससे तो मानो 'अर्थ अमित अति आखर थोरे' की सूक्तिके अनुसार भक्तिका व्यापकत्व एवं महत्त्व ही बढ़ाया गया है। गोस्वामीजीने जिस प्रकार 'स्वान्तःसुखाय रघुनाथगाथा' लिखनेमें अपनी अनुपम प्रतिभाका परिचय दिया है उसी तरह अपने विमल मानसमें समय-समयपर विज्ञानके विषयोंका विविधरूपसे निरूपण करके अपने अगाध पाण्डित्यका भी दिव्य उदाहरण प्रस्तुत किया है।

इस दोहेके प्रमुख विषयोंका विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है—

(१) ब्रह्मनिरूपण

(निर्गुण ब्रह्म)

श्रीगोसाईंजीने ज्ञानकी सात भूमिकाओंको प्रदर्शित करनेके लिये भिन्न ऋषियोंका वर्णन करते समय उनमें उनके लक्षण प्रदर्शित किये हैं। उनका विभाग इस प्रकार किया जा सकता है—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भूमिका	ऋषि
१–शुभेच्छा	अगस्त्यजी
२–विचारणा	सुतीक्ष्णजी
३–तनुमानसा	शरभंग मुनि
४–सत्त्वापत्ति	अत्रिजी
५–असंसक्ति	वाल्मीकिजी
६–पदार्थाभाविनी	भरद्वाजजी
७–तुरीया	वसिष्ठजी

(सगुण ब्रह्म—तथा अवतार)

(१) ईश्वरके नररूपमें अवतार लेनेकी लीलाका वर्णन करते हुए उन्होंने 'घाट मनोहर चार' अर्थात् चार प्रमुख संवादोंद्वारा भगवान्‌के नाम, रूप, लीला और धामके तत्त्वका निरूपण किया है। उनमेंसे किस संवादमें किसके तत्त्वकी प्रधानता है यह इस प्रकार समझना चाहिये—

१–नामकी प्रधानता ··· भरद्वाज-याज्ञवल्क्यसंवादमें
२–रूप ,, ··· श्रीतुलसीदासजीकी उक्तिमें
३–लीला ,, ··· श्रीगरुड तथा काकभुशुण्डिजीके संवादमें
४–धाम ,, ··· श्रीपार्वती-शङ्करसंवादमें

(२) दूसरी बात सगुण ब्रह्मके षडैश्वर्यका वर्णन है। उनमेंसे प्रत्येक ऐश्वर्यका उन्होंने जिस-जिस ऐश्वर्यवान् अधिपतिमें प्रदर्शन किया है वह इस प्रकार है—

ऐश्वर्य		ऐश्वर्यवान् अधिपति
१–धर्म	=	अवधपति दशरथ
२–वैराग्य	=	मिथिलापति जनक
३–यश	=	निषादपति गुह
४–श्री	=	कपिपति सुग्रीव
५–ज्ञान	=	गृध्रपति जटायु
६–ऐश्वर्य	=	लङ्कापति रावण

(३) तीसरी बात यह है कि उन्होंने वेदोक्त स्वयम्भू-मण्डलादिका ऐश्वर्य अयोध्यादि पुरियोंमें प्रदर्शित किया है। उनका क्रम इस प्रकार है—

१–स्वयम्भूमण्डल (जिसमें ब्रह्मका प्रथम अवतार होता है) = अयोध्या
२–परमेष्ठिमण्डल = चित्रकूट
३–इन्द्र अथवा सूर्य-मण्डल = किष्किन्धा
४–पृथ्वीमण्डल = लङ्का
५–सोममण्डल = मिथिला

यहाँ एक बात ध्यान देनेकी है; वह यह कि यह दोहा उस समयका है जब कि माघमकरस्नानके परमपुनीत पर्वपर तीर्थराज प्रयागमें मुनिसमाज एकत्रित हुआ था। उस समय निवृत्तिमार्गीय मुमुक्षु जन ब्रह्मनिरूपण कर रहे थे, भावुक भक्तजन 'कहहिं भगति भगवंतकी' इस उक्तिके अनुसार भगवच्चर्चामें निमग्न होकर अति उत्साहपूर्वक सप्रेम हरिस्मरण, नामसङ्कीर्तन एवं अर्चन-वन्दनादिका आनन्द लूट रहे थे और 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' इस सिद्धान्तके अनुयायी धर्मज्ञ जन धर्मविधि एवं तत्त्वविभागका विचार करते हुए शास्त्र-चर्चामें अपने समयका सदुपयोग कर रहे थे। इस प्रकार उस समय त्रिवेणीतटपर जो ज्ञान, भक्ति और कर्मरूप सरिताओंका एक अनुपम संगम दिखायी देता था वही इस दोहेका प्रतिपाद्य विषय है। इस अद्भुत संगममें ही साधुसमाज निमज्जन किया करता है। अब ऐसे साधुसमाजकी वन्दना कर हम क्रमशः उपर्युक्त विषयोंकी व्याख्या करते हैं—

निर्गुण ब्रह्म

श्रीगोस्वामीजी निर्गुण ब्रह्मका निरूपण इस प्रकार करते हैं—

अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥
मन-गोतीत अमल अबिनासी। निर्बिकार निरवधि सुखरासी॥

इसके सिवा उन्होंने उसका 'तटस्थ' और 'स्वरूप' दोनों लक्षणोंसे भी पृथक्-पृथक् वर्णन किया है। तटस्थ लक्षणसे भी जीव और जगत्‌के साथ उसका अभेद करते हुए उन्होंने मुख्य समानाधिकरण और बाध समानाधिकरण दोनोंसेही काम लिया है। यथा—

(१) मुख्य समानाधिकरण—

सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि-बीचि जिमि गावहिं बेदा॥

(२) बाध समानाधिकरण—(तटस्थ)

झूँठहु सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥

ब्रह्मका स्वरूपलक्षण निम्नलिखित चौपाईमें दिया है—

व्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँदरासी॥

ब्रह्मका बोध करानेके लिये 'तत्त्वमसि' आदि चार महावाक्योंसे उपदेश किया जाता है। शिष्य गुरु-मुख

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

से 'तत्त्वमसि' श्रवणकर 'सोऽहम्' रूपसे मनन करता है। तदुपरान्त 'अयमात्मा ब्रह्म' इस वाक्यका निदिध्यासनकर 'ज्ञानमानन्दं ब्रह्म' द्वारा प्रतिपादित अनुभवगम्य परम पद अर्थात् परमभावको प्राप्त होता है। सारांश यह है कि इस अवस्थामें वह ब्रह्मके साथ अपना अभेद अनुभव करने लगता है। गीतामें भी 'जीवभूतां महाबाहो' 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः' आदि वाक्योंद्वारा प्रतिपादित जीवको 'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा' 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' इत्यादि वाक्योंद्वारा ब्रह्मभावकी प्राप्ति दिखलायी है।

जिस प्रकार जीव ब्रह्मभावको प्राप्त होता है, उसी प्रकार ब्रह्म भी मनुष्यरूपमें अवतरित होकर नर-लीला करता है और इस लीलामें भी कृपापात्र ज्ञानी भक्त उस पुरुषोत्तमको ब्रह्मरूप ही देखता हुआ कहता है कि—

सो जानहि जेहि देहु जनाई।

इस प्रकारके वर्णनकी पुनीत परिपाटी प्रेम-पथपर चलनेवाले परमात्माके प्रेमी पथिकोंकी है। श्रीशंकर भगवान्, वेद भगवान्, महर्षि वशिष्ठ, देवर्षि नारद, ब्रह्मा और सनकादिके भी ऐसे वचन प्रचुर मात्रामें मिलते हैं।†

श्रीरामचन्द्रजीके स्नेह-भाजन गोस्वामीजीने भी अपने रामचरितमानसमें उन्हें साक्षात् ब्रह्म माना है—'ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा' तथा अनेक स्थानोंपर परब्रह्म, सच्चिदानन्द, परमात्मा इत्यादि शब्दोंका उपयुक्त प्रयोग किया है।* और वशिष्ठादि सप्तर्षियोंके राम-मिलनके अवसरपर ज्ञानकी सप्त भूमिकाओंके गुह्य आध्यात्मिक रहस्यका अद्भुत वर्णन किया है। ऊपर हम दिखा चुके हैं कि वशिष्ठजीकी तुरीया नामक सातवीं भूमिका है। इस भूमिकाके ज्ञानीको शास्त्रोंने ब्रह्मविद्वरिष्ठ बतलाया है। इस भूमिकाका लक्षण इस प्रकार है—

भावाभाव न तहाँ कछु, सप्तम तुरिया माहिं।
मैं तू तहाँ न सम्भवे, कहा अहै कह नाहिं॥†

(विचारमाल)

रामचरितमानसमें वनगमनके समय भगवान् रामचन्द्र अपने गुरु श्रीवशिष्ठजीके पादपद्मको हर्षपूर्वक शिर नवानेके पश्चात् गणपति, गौरी और गिरीश शिवजीको मनाकर आशीर्वाद पाकर चले।‡ यहाँ केवल श्रीरामचन्द्रजीका वर्णन है। श्रीसीताजी और श्रीलक्ष्मणजीकी न तो विद्यमानता पायी जाती है और न उनका प्रणामादि करना ही।

श्रीवशिष्ठजी इस स्थलपर अपने मुखसे एक शब्द भी नहीं कहते, और न अन्य ऋषियोंके समान वर-याचना ही करते हैं। इससे उनकी आत्मसन्तुष्टि एवं अनिर्वाच्य दशाका स्पष्ट पता लगता है। इस स्थानपर मानसकारने भी बड़े कौशलके साथ 'आशीर्वाद' शब्दको 'गनपति गौरि गिरीस मनाई' के पीछे लिखकर आशीर्वादको रहस्यात्मक बना दिया है; और इस प्रकार उसकी अनिर्वाच्य दशाको स्थिर रक्खा है।

इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि 'वरिष्ठ' और 'वशिष्ठ' दोनों शब्द पर्यायवाची हैं। अतः ब्रह्मविद्वरिष्ठ

---

* गोस्वामीजीने अपने श्रवण, मनन और निदिध्यासन का इस प्रकार वर्णन किया है—(१) श्रवण—मैं पुनि निज गुरु सन सुनी, कथा सुसूकर खेत।

(२) मनन—

तेहि कही गुरु बारहि बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा।

(३) निदिध्यासन—

मायाबद्ध करब मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जिहि होई॥

और परमभाव-प्राप्तिके सम्बन्धमें यह कहा है—

पायहु परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।

† परमपुरुषो रामो दाशरथिर्बभूव (अथर्वणोत्तरार्ध)

परमात्मा श्रीरामो दाशरथिः स्वराट्। (नारदपञ्चरात्र)

रमन्ते योगिनो यत्र सत्यानन्दे चिदात्मके।
इति रामपदेनासौ परब्रह्माभिधीयते॥

(योगवाशिष्ठ)

तत्त्वस्वरूपं पुरुषं पुराणं स्वतेजसा पूरितविश्वमेकम्।
राजाधिराजं रविमण्डलस्थं विश्वेश्वरं राममहं भजामि॥

(सनत्कुमारसंहिता)

अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघवः।

(वाल्मीकीयरामायण)

रामान्नास्ति परो देवः (पद्मपुराण) इत्यादि।

* (१) राम सच्चिदानन्द दिनेसा। नहिं तहँ मोहनिसा लवलेसा।
राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानन्द परेस पुराना॥
सबकर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥
जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान-गुन धामू॥

(२) परमातमा ब्रह्म नर-रूपा। होइहिं रघुकुलभूषन भूपा॥

† इसीको गीतामें आत्मसंतुष्ट कहा गया है, जिसका वर्णन २। ५५ अर्थात् स्थितप्रज्ञकी परिभाषामें है।

‡ एहि बिधि राम सबहिं समुझावा। गुरु-पद-पद्म हरषि सिर नावा।
गनपति गौरि गिरीस मनाई। चले असीस पाइ रघुराई॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अर्थात् तुरीया अवस्था शब्दार्थतः भी वशिष्ठजीमें चरितार्थ है।

छठी भूमिकाके लक्षण मुनिवर भरद्वाजजीमें पाये जाते हैं। इस कोटिका ज्ञानी ब्रह्मविद्वरीयान् कहा जाता है। उसका लक्षण इस प्रकार है—

कहै पदारथ बुद्धि लौं, सब कर होइ अभाव।
यह पदारथाभाविनी, षष्ठी भूमि लखाव॥*
(विचारमाल ३। १५)

भरद्वाजजी अपने आश्रममें फल-मूलद्वारा सत्कार करनेके उपरान्त, भगवान् रामसे मृदु वचनोंमें कहते हैं—

लाभ अवधि सुख अवधि न दूजी। तुम्हरे दरस आस सब पूजी॥†
अब करि कृपा देहु वर एहू। निज-पद-सरसिज-सहज-सनेहू॥

इस प्रकार—

मुनि रघुबीर परस्पर नवहीं। वचन अगोचर सुख अनुभवहीं॥

यहाँ 'वचन अगोचर सुख अनुभवहीं' से सम्पूर्ण पदार्थोंके अभावका भाव स्पष्ट है; और 'आस सब पूजी' से मुनिकी 'आत्मतृप्ति‡' का आभास मिलता है।

पाँचवीं भूमिका असंसक्ति है। इसके लक्षण श्री-वाल्मीकिजीके चरित्रमें मिलते हैं। इस कोटिका ज्ञानी ब्रह्मविद्वर कहा जाता है। इस भूमिकाका लक्षण इस प्रकार है—

छूट्यो तन अभिमान जब, निश्चय कियो स्वरूप।
असंसक्ति यह भूमिका, पंचम महा अनूप*॥
(विचारमाल ३। १४)

कहते हैं, एक बार श्रीवाल्मीकिजी ध्यानमें निमग्न थे। उनके शरीरपर वल्मीक (दीमक) चढ़ गयी, परंतु इस अवस्थामें उनको अपनी देहका कुछ भी भान नहीं था। अतः 'छूट्यो तन अभिमान' का लक्षण उनपर भली भाँति घटता है। और उनके कथन—

राम स्वरूप तुम्हार, वचन अगोचर बुद्धिपर।
अविगत अकथ अपार, नेति-नेति नित निगम कह॥

इत्यादिसे 'निश्चय कियो स्वरूप' यह लक्षण भी सिद्ध होता है। और—

जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम सन सहज सनेह।
बसहु निरन्तर तासु उर, सो राउर निज गेह॥

इस कथनमें उनका 'आत्म-रति' का भाव भी निहित है। पीछे भी निरन्तर हृदयमें बसनेकी याचनाको सत्य करनेके लिये ही वाल्मीकिजीसे श्रीरामचन्द्रजीका विदा होना नहीं लिखा है। इन सब बातोंसे उनमें पञ्चम भूमिकाके लक्षण सिद्ध होते हैं।

चौथी भूमिका सत्त्वापत्ति है। यह अत्रि मुनिमें पायी जाती है। इस कोटिका ज्ञानी 'ब्रह्मविद्' कहा जाता है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

चतुर्थी सत्त्वापत्ति यह, अनुभव उदय अभंग।
आत्मा जग दरस्यो भलै, ज्यों मघ सिन्धु† तरंग॥
(विचारमाल ३। १३)

रामचरितमानसमें अत्रिजी 'नमामि भक्तवत्सलम्' इत्यादि स्तुति करके यह विनती करते हैं—

चरनसरोरुह नाथ जनि, कबहुँ तजै मति मोर।

---

* इसीको गीतामें 'आत्मतृप्तश्च मानवः' कहा है। भरतभरद्वाजसंवादसे मुनि भरद्वाजजीका स्थितबुद्धि होना स्पष्ट है; जो कि गीताके इस वचनके अनुसार है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥
(२। ५६)

भरद्वाजजीके कथन—

सुनहु भरत हम झूँठ न कहहीं। उदासीन बन तापस रहहीं॥

—से उनका 'वीतरागभयक्रोधः' होना झलकता है।

† यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
(गीता ६। २२)

‡ 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' से भगवान् भी आत्मतृप्त होते हैं। इसीके पुष्टीकरणमें यह वचन भी है—

भाव भगति आनन्द अघाने।

* यह भूमिका गीताकी 'आत्मरति' अवस्था है। और इसका स्वरूप गीता (२। ५७) के अनुसार है। उक्त श्लोकके 'सर्वत्रानभिस्नेहः' के आदर्शको ही वाल्मीकिजी इस कथनद्वारा प्रकट करते हैं—

'जहँ न होहु तहँ देहु कहि, तुमहिं दिखावहुँ ठाउँ।'

† इस भूमिकाका लक्षण गीता (२। ५८, ५९) में देखिये। और उसकी साधना यह है—

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

और अन्तमें—

जब जानी मैं श्री चतुराई। भजिय तुमहिं सब देव बिहाई॥

—कहते हैं। 'सब देव बिहाई' इसलिये कहा है कि गीताके सिद्धान्तानुसार देवताओंसे लेकर समस्त प्राणिपर्यन्त प्रकृतिके वशीभूत हैं। अतएव सबको त्यागकर भगवान्‌को ब्रह्म समझते हुए, उनका भजन करना ही इस भूमिकाका मुख्य उद्देश्य है। अत्रि मुनिने प्रकृतिके समस्त कार्योंको आत्मसमुद्रमें तृणवत् देखा है, यही ब्रह्मविद्‌का लक्षण है। इसीलिये 'जब जानी मैं श्री चतुराई' से अत्रिजीकी 'ब्रह्मविद्' की निष्ठा ज्ञात होती है। यह प्रेम और ज्ञानकी साम्यावस्था है।

तीसरी भूमिका तनुमानसा है। इसके लक्षण शरभंग मुनिके प्रसंगमें देखे गये हैं। विचारमालमें इसका लक्षण इस प्रकार किया गया है—

तनुमानसा सु तीसरी, मनकौ प्रत्याहार।
स्थिर है शुद्ध स्वरूपकी, राखे नित्य सँभार*॥
(विचारमाल ३। १२)

रामचरितमानसमें यह अवस्था शरभंग ऋषिके चरित्रमें पायी जाती है। यथा—

'मनकौ प्रत्याहार'—

जात रहेउँ बिरंचिके धामा। सुनेउँ स्रवन बन अइहैं रामा॥
चितवत पंथ रहेउँ दिन राती। अब प्रभु देखि जुड़ानी छाती॥
नाथ बहु जप तप ब्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देहि भगति वर लीन्हा॥
सो बिधि सर रचि मुनि सरभंगा। बैठे हृदय छाँड़ि सब संगा§॥

इनके सिवा—

स्थिर है शुद्ध स्वरूपकी, राखे नित्य सँभार।
'सीता अनुज समेत प्रभु, नील जलद तनु स्याम।
मम हिय बसहु निरंतर, सगुन रूप श्रीराम॥'

इन दोनोंमें 'नित्य सँभार' 'बसहु निरंतर' तथा 'सगुण रूप' पर भी विशेष ध्यान देना चाहिये।

तदुपरान्त—

अस कहि जोग-अगिनि तनु जारा। रामकृपा बैकुंठ सिधारा॥
ताते मुनि हरि लीन न भयऊ। प्रथमहिं भेद भगति वर लयऊ*॥

इस कथनसे भी यह बात भलीभाँति समझमें आ जाती है कि कर्म-बन्धनसे मुक्त होकर निर्गुण ब्रह्मकी अवस्थाको न चाहते हुए सगुण ब्रह्मका निरन्तर चिन्तन करनेवाले पुरुषको वैकुण्ठ ही प्राप्त होता है। इसलिये शरभंग मुनि भी रामकृपासे वैकुण्ठ ही सिधारे थे।

दूसरी भूमिकाके लक्षण सुतीक्ष्णजीके चरित्रमें मिलते हैं। इसका नाम 'विचारणा' है। इसका लक्षण इस प्रकार है—

दूजी कही बिचारना, उपज्यो तत्त्व-बिचार।
एकान्त है शोधन लग्यो, कोऽहं को संसार॥
(विचारमाल ३। ११)

सुतीक्ष्ण मुनिमें इसके लक्षण इस प्रकार मिलते हैं—

मुनि अगस्त्यकर सिष्य सुजाना। नाम सुतीच्छन रति भगवाना॥

(१) 'उपज्यो तत्त्व-बिचार'—

मन क्रम बचन रामपद सेवक। सपनेहु आन भरोस न देवक॥
प्रभु आगमन स्रवन सुन पावा। करत मनोरथ आतुर धावा॥
(मानस)

---

* देखिये गीता (२। ६०-६१)

गीता २। ५५ से २। ५८ तक पूर्वोक्त चार अवस्थाओंका वर्णन है। इन भूमिकाओंमें स्थित ब्रह्मविद्, ब्रह्मविदर, ब्रह्मविदरीयान् और ब्रह्मविद्वरिष्ठका ध्येय निर्गुण निराकार ब्रह्म होता है परन्तु शुभेच्छा, विचारणा तथा तनुमानसामें सगुण ब्रह्म ही ध्येय है। इसीलिये गीतामें ऐसे स्थलोंपर 'मत्परः' शब्दका प्रयोग किया गया है। इससे भगवान् श्रीकृष्ण अपने सगुण स्वरूपको स्पष्ट कराते हैं। इसी प्रकार रामचरितमानसमें भी शरभंगादि तीन ऋषियोंके सम्मिलनमें सगुण ब्रह्मकी ही आराधनाका वर्णन है।

§ इस भूमिकाके भावको भगवान् कृष्णने गीताके तीसरे अध्यायमें स्पष्ट किया है। (देखिये ३। ३०-३१) उसका आशय यही है कि समस्त कर्मोंको भगवान्‌के समर्पण करके निरन्तर उनका ध्यान करना ही तीसरी भूमिकाका साधन है।

इसके सिवा गीतामें जो कहा है 'मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः' वह भी शरभंग मुनिके 'जात रहेउँ बिरंचिके धामा' इस कथनसे स्पष्ट है, क्योंकि कर्मका त्याग न होनेसे वे विरंचिके धाममें जाते थे, परन्तु जब उन्होंने अपना सब योग, यज्ञ, जप, तप प्रभुको दे दिया अर्थात् 'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य' के अनुसार जब सब कर्म भगवान्‌को समर्पण कर दिया अथवा जब—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।

समस्त इन्द्रियोंका संयमकर समाहितचित्तसे मेरेमें तत्पर हो गये, तब विरञ्चिके धाम जानेके लिये कर्मरूप बन्धन नहीं रहा।

* यहाँ यह स्पष्ट है कि मत्परयुक्त अथवा अध्यात्मचेता होनेसे भी सगुण ब्रह्मके भक्त मुनिजन परब्रह्ममें लीन नहीं होते।

भक्तजन तो मुक्तिका निरादर कर भक्तिमें लुभाये रहते हैं। इसीसे गीतामें 'मत्परः' 'युक्तः' इन शब्दोंका प्रयोग हुआ है। और यही आशय 'ताते मुनि हरि लीन न भयऊ' से निकलता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(२) 'एकान्त ह्वै शोधन लग्यो'—

हे बिधि, दीनबन्धु रघुराया। मोसे सठपर करिहहिं दाया॥
निर्भर प्रेममगन मुनि ग्यानी। कहि न जाय सो दसा भवानी॥
(मानस)

और (३) 'कोऽहं को संसार'—

दिसि अरु बिदिस पंथ नहिं सूझा। को मैं कहाँ चलौं नहिं बूझा॥
भूपरूप तब राम दुरावा। हृदय चतुर्भुज रूप दिखावा॥
अनुज जानकी सहित प्रभु, चाप बान धरि राम।
मम हिय-गगन इन्दु इव, बसहु सदा निष्काम॥*
(मानस)

सुतीक्ष्ण मुनि अपनी ज्ञान-भूमिकाके अनुसार सगुण ब्रह्मके उपासक थे। इसीसे भगवान् रामने उनको चतुर्भुज रूपके दर्शन कराये; और उनकी आराधनाके अनुकूल ही वर प्रदान किया।

प्रथम भूमिका शुभेच्छा है। उसके लक्षण अगस्त्य मुनिके चरित्रमें मिलते हैं। विचारमालमें इसका लक्षण इस प्रकार है—

बिषय बिषै भइ द्वेषता, गुरु तीरथ अनुराग।
तातैं शुभ इच्छा कही, कथा-श्रवण मन लाग॥*
भगवत रति गति आन मति, प्रेमयुक्त नित चित्त।
गुन गावत पुलकति हृदय, दिन दिन सरस सुहित्त॥
(विचारमाला ३। ९-१०)

इसके लक्षण अगस्त्य मुनिमें पाये जाते हैं। यथा—

(१) 'विषय विषै भइ द्वेषता'—

अगस्त्यजीने जो समुद्र सोख लिया था, वह विषय-वासनारूपी समुद्रका ही शोषण था।†

(२) 'कथा श्रवण मन लाग' तथा 'भगत रति' का भाव उनके जीवनमें इस प्रकार मिलता है—

(क) शिवजीसे, सत्सङ्गमें, कथा-वार्त्ता करना। यथा—

एक बार त्रेता जुग माहीं। संभु गये कुंभज ऋषि पाहीं॥
रामकथा मुनिवर्य बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी॥
ऋषि पूछी हरि भगति सुहाई। कही संभु अधिकारी पाई॥

इसीमें 'गुरु तीरथ अनुराग' भी आ जाता है।

(ख) सनकादिको कथा सुनाना—

तहाँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घटसंभव मुनिवर ग्यानी॥
रामकथा मुनि बहुबिधि बरनी। ग्यान योनि पावक जिमि अरनी॥

उपर्युक्त उद्धरणोंसे अगस्त्यजीके जीवनमें 'कथा श्रवण मन लाग' की बात स्पष्ट है।* यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि कथा सुनानेकी बात केवल अगस्त्यजीके चरित्रमें ही पायी जाती है, अन्य किसी ऋषिके चरित्रमें नहीं।

इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने जो लीला की है, उसमें उनके परम भक्त वशिष्ठ, भरद्वाज, वाल्मीकि आदि सप्त महर्षियोंने ज्ञानकी सात भूमिकाओंका अभिनय किया है।

(३)

सगुण ब्रह्म-अवतार

रामचरितमानसके 'ब्रह्मनिरूपण' विषयके प्रसङ्गमें निर्गुण ब्रह्म एवं ज्ञानकी सात भूमिकाओंका कुछ विवरण कर, अब 'कल्याण' के प्रेमी पाठकोंको श्रीगोस्वामीजी-

---

* इसी भावके लिये गीताके २। ६४, ६५ श्लोक देखिये।

गीताके इन श्लोकोंके भावकी झलक निम्नलिखित चौपाइयोंमें विद्यमान है—

कबहुँ कि मुनि पाछे फिर जाई। कबहुँ कि नृत्य करै गुन गाई॥
अविरल प्रेम भगति मुनि पाई। प्रभु देखहिं तरु ओट लुकाई॥
मुनि मग माँझ अचल ह्वै बैसा। पुलकि सरीर पनसफल जैसा॥
मुनिहिं राम बहु भाँति जगावा। जाग न ध्यान जनित सुख पावा॥

'जाग न ध्यानजनित सुख पावा' और—

प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।
(२। ६५)

दोनोंहीका भाव एक है।

† इसके लिये देखिये गीता २। ६८

इसीको गीतामें 'इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे हटाना' कहा है, और 'भगवत्-रति' में प्रेमयुक्त रहने तथा भगवान्‌में चित्त लगानेको ही प्रज्ञा प्रतिष्ठा कही जाती है। इस प्रकार गीताका सिद्धान्त इससे मिलता है।

* गीतामें जो—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।

—की बात आयी है वह अगस्त्य मुनिके चरित्रमें इस प्रकार मिलती है—

तब रघुबीर कहा मुनि पाहीं। तुम सन मुनि दुराव कछु नाहीं॥
तुम जानव जिहि कारन आवहु। ताते तात न कहि समुझावहु॥

तब अगस्त्यजी इसी बातको स्वीकार करते हुए कहते हैं—

अस तव रूप बखानहुँ जानहुँ। फिर फिर सगुन ब्रह्मरति मानहुँ॥
तुम्हरे भजन प्रभाव अघारी। जानहुँ महिमा कछुक तुम्हारी॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

द्वारा प्रतिपादित सगुण ब्रह्मके रहस्यका दिग्दर्शन करानेका प्रयत्न किया जाता है।

ऐतरेय उपनिषद्में कहा है कि निर्गुण निरञ्जन ब्रह्मने सृष्टिकी इच्छा* की। निर्गुण निरञ्जन निर्विकारमें सृष्टिकी इच्छा कैसी! इस शङ्काका समाधान करते हुए जगज्जननी आदिशक्ति श्रीजानकीजीने अपने प्रिय पुत्र पवनकुमारके प्रति ऐसा उपदेश किया है—

रामं विद्धि परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम्।
सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं सत्तामात्रमगोचरम्॥
मां विद्धि मूलप्रकृतिं सर्गस्थित्यन्तकारिणीम्।
तस्य सन्निधिमात्रेण सृजामीदमतन्द्रिता॥
एवमादीनि कर्माणि मयैवाचरितान्यपि।
आरोपयन्ति रामेऽस्मिन्निर्विकारेऽखिलात्मनि॥

अर्थात् सच्चिदानन्द परब्रह्म रामके सान्निध्यसे आदिशक्ति जगज्जननी श्रीसीताजी सृष्टि आदि करती हैं। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी अपनी वन्दनामें श्रीजगन्माताको उद्भवस्थितिसंहारकारिणी सर्वश्रेयस्करी कहा है; अर्थात् जिस तरह आदिशक्तिके भृकुटि-विलाससे सृष्टि होती है, उसी तरह महामायाके कृपाकटाक्षसे अल्पज्ञ अणु आर्त्त जीव ब्रह्मभावको प्राप्त होता है।

इस सच्चिदानन्द ब्रह्मकी झलक गीतोक्त सत्त्वगुणके प्रकाश ज्ञान और सुखमें दिखलायी देती है।

'सत्'† में उसका धाम है। 'चित्' शक्तिसे 'नामरूप'‡ तथा 'आनन्द'* से यज्ञ, अन्न एवं कर्म (लीला) की उत्पत्ति होती है। पौराणिक शब्दोंमें 'नाम रूप लीला धाम' को उस सच्चिदानन्दका विग्रह कहते हैं।† ये ही रामचरितमानसके चार मनोहर घाट हैं और उनका रहस्य मानसकारने चार संवादोंद्वारा वर्णन किया है, जिसका उल्लेख नीचे किया जाता है।

(१) नामकी विशेषता—यह भरद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवादमें पायी जाती है।

महर्षि भरद्वाजजी याज्ञवल्क्यजीसे पूछते हैं‡—

नाम—

राम नामकर अमित प्रभावा। संत पुरान् उपनिषद गावा×॥

---

* आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति॥ (ऐतरेय उपनिषद्)

१ रामोत्तरतापिन्युपनिषद्में भी ऐसे ही वचन मिलते हैं।(१-२)

२ मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
(गीता ९। १०)

और रामायणमें भी कहा है—

सृति सेतु पालक राम तुम जगदीस माया जानकी।
जो सृजत पालत हरत जग रुख पाय कृपानिधानकी॥

† सन्मूलाः सौम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।
(छान्दो० ६। ८। ४)

‡ यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥
(मुण्डको० १। १। ९)

* आनन्दसे सृष्टि होती है—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
(तै० ३। ३। ६)

† रामस्य नामरूपलीलाधाम परात्परम्।
एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम्॥
(वशिष्ठसंहिता)

‡ ब्रह्मका नाम ॐ है। यथा—'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म।' 'तस्य वाचकः प्रणवः' इत्यादि वाक्योंसे प्रमाणित होता है।

इसीसे वशिष्ठजीने श्रीराम एवं भरतादिके नामकरणके समय कहा है—'वेद तत्त्व नृप तव सुत चारी' वेदतत्त्व ॐकार ही है।

§ रामपूर्वतापिन्युपनिषद्में इसका वचन इस प्रकार है—

नमो वेदादिरूपाय ओङ्काराय नमो नमः।
रमाधराय रामाय श्रीरामायात्ममूर्त्तये॥१३॥

× श्रीनृसिंहपुराणमें रामनामके माहात्म्यमें निम्नलिखित वचन मिलते हैं—

रामनाम जपतां कुतो भयं सर्वतापशमनैकभेषजम्।
पश्य तात मम गात्रसन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना॥
परमेश्वरनामानि सन्त्यनेकानि पार्वति।
परन्तु रामनामैतत् सर्वेषामुत्तमोत्तमम्॥

श्रीमद्भगवद्गीताके १५ वें अध्यायमें नामरूपलीलाधामका वर्णन है। नामके सम्बन्धमें यह कथन है—

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः॥
(गीता १५। १८)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
(गीता १५। १७)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सन्तत जपत संभु अबिनासी । सिव भगवान ग्यानगुनरासी ॥

धाम—

आकर चार जीव जग अहहीं । कासी मरत परमपद लहहीं ॥

रूप—

राम कौन प्रभु पूछहुँ तोही । कहहु बुझाइ कृपानिधि मोही ॥
एक राम अवधेस कुमारा । तिनकर चरित बिदित संसारा ॥

लीला—

नारि बिरह दुख लहेउ अपारा । भयेउ रोष रन रावन मारा ॥

नाम—

प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि ।

इस प्रश्नमें नामरूपलीलाधाम चारोंका ही कथन है। परन्तु विशेषता नामकी ही है, जो कि—'राम नामकर अमित प्रभावा' 'सन्तत जपत संभु अबिनासी' और 'प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ, जाहि जपत त्रिपुरारि' आदि वाक्योंसे स्पष्ट है ।

(२) रूप*की विशेषता गोस्वामी तुलसीदासजीकी उक्तिमें पायी जाती है ।

तुलसीदासजीकी अन्तिम निष्ठा 'रूप' में होनेसे उनके घाटमें 'रूप' की ही प्रधानता है । यथा—

नाम—

रामहि सुमिरिय गाइय रामहि ।

लीला—

रघुबंस भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं ।

धाम—

कलिमल मनोमल धोय बिनु स्रम राम धाम सिधावहीं ॥

रूप—

सुन्दर सुजान कृपानिधान अनाथपर कर प्रीति जो ।
सो एक राम अकामहित निरवानप्रद सम आनको ॥
जाकी कृपा लवलेस ते मतिमन्द तुलसीदास हूँ ।
पायहु परम बिस्राम, राम समान प्रभु नाहीं कहूँ ॥

यहाँ केवल 'राम' शब्द ही दिया है, परन्तु वह सगुण रूपधारी राम कौन है, उसीको अब स्पष्ट करते हैं—

मो सम दीन न दीनहित, तुम समान रघुबीर ।
अस बिचारि रघुबंसमनि, हरहु बिषम भवपीर ॥

इसके अनन्तर उसका और भी पुष्टीकरण करते हैं—

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम ।
तिमि रघुबंस निरंतर, प्रिय लागहु मोहि राम ॥

(मानस उत्तरकाण्ड)

उपर्युक्त उद्धरणोंसे यह भलीभाँति समझा जा सकता है कि तुलसीदासजीके घाटमें 'रूप' की ही विशेषता है।

(३) लीला*की प्रधानता गरुड़-काकभुशुण्डि-संवादमें है ।

गरुड़जीको भगवान्‌की रणक्रीडासे ही मोह हुआ था; और भुशुण्डिजी भी लीलामें ही मोहग्रस्त हुए थे । यथा—

मो सन करहिं बिबिध बिधि क्रीड़ा । बरनत चरित होत मोहि ब्रीड़ा ॥
'प्राकृत सिसु इव लीला, देखि भयो मोहि मोह ।'
'सुमिरत प्रभु लीला सोइ, पुलकित भयो सरीर ॥'
अस रघुपति लीला उरगारी । दनुज बिमोहन जन सुखकारी ॥

इत्यादि ।

(४) धाम†का प्राधान्य श्रीपार्वती-शंकर-संवादमें है। रामचरितमानसकी कथाके आरम्भमें भगवान् शिव वन्दना करते हुए कहते हैं—

---

* रूप—वेदके पुरुषसूक्तमें 'सहस्रशीर्षा पुरुषः' कहकर उस पुरुषके विराट्‌रूपमें सहस्र हाथ-पैर वर्णन किये हैं । पुनः उस पुरुषका एक शिर, दो नेत्र, दो भुजा, दो पद इत्यादिका वर्णन है । रामचरितमानसमें भी द्विभुजी रामचन्द्रजी तथा उनके विराट रूपका उल्लेख है । इसीलिये हमारे पुरुषाकार पिण्ड और परमात्माके पुरुषाकार ब्रह्माण्डकी समानतामें 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' की लोकोक्ति चरितार्थ होती है और गीतामें भी भगवान्‌ने अपने सौम्य तथा घोर रूपके दर्शन अर्जुनको कराये हैं । तथा यह वचन है—

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् । (१५।१९)

तथैव—

दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम् ॥

* 'लीला' के विषयमें गीताके ये वचन हैं—

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा ।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः ॥ (१५।१३)

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः इत्यादि (१५।१५)

अतः सृष्टिरचना ही परमात्माकी लीला है ।

† गीतामें भी भगवान् कृष्णने कहा है—

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥ (१५।६)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यही बालरूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिहि नामू॥
संकर-भवन अमंगल हारी। द्रवहु सो दसरथ अजिर बिहारी॥

इन चौपाइयोंमें नाम, रूप, लीला और धामका संक्षेपसे वर्णन है। इसका कारण यह है कि श्रीपार्वतीजीने भगवान् रामके सम्बन्धमें ये चारों ही बातें पूछी हैं। यथा—

नाम—

तुम्ह जो मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहँ ब्रह्म अनादी॥
पुनि राम राम दिन-राती। सादर जपहु अनंग अराती॥

रूप—

सब सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपुधारी॥

लीला—

अंस दीख राम प्रभुताई। अतिभय बिकल न तुमहिं सुनाई॥
तहँ बैठे कीन्हीं बहु लीला। सकल कहहु संकर सुखसीला॥

धाम—

बहुरि कहहु करुनायतन, कीन्ह जो अचरज राम।
प्रजासहित रघुबंसमनि, किमि गमने निज धाम॥

यद्यपि इस संवादमें नाम, रूप, लीला और धाम चारोंहीका कथन है; परन्तु अन्य संवादोंकी अपेक्षा पार्वतीजीके प्रश्नमें 'धाम' की जिज्ञासाकी ही विशेषता है।

इस प्रकार जिन सगुण भगवान्‌के नाम, रूप, लीला और धामका ऊपर वर्णन किया गया है, उनके अवतारका रहस्य इस प्रकार है—

(१) वेदान्तमें सृष्टि-रचनाके विषयमें यह सिद्धान्त माना गया है कि जीवोंके कर्मवश सृष्टि उत्पन्न होती है; अर्थात् अपना-अपना कर्मफल भोगनेके लिये ही जीव पुनः-पुनः सृष्टिके प्रारम्भका हेतु बनते हैं।

(२) इसी बातको सांख्य इस प्रकार कहता है कि जब अदृष्ट यानी जीवके धर्माधर्मद्वारा प्रकृति तथा पुरुषका संयोजन होता है, तब सृष्टि होती है।

(३) इसी सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमद्भगवद्गीता चतुर्थ अध्यायमें कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया॥ ६॥

अर्थात् मैं अजन्मा और अविनाशी होनेपर भी लीलासे ही अपनी प्रकृतिका आश्रय लेकर प्रकट होता हूँ। किन्तु ऐसा होता कब है? इसका उत्तर गीताके इन श्लोकोंसे मिलता है—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

इससे सिद्ध होता है कि भगवान्‌के अवतारका प्रधान प्रयोजन साधुजनोंकी रक्षा और धर्मोद्धार ही है।

ऊपर कहा जा चुका है कि निर्गुण ब्रह्म श्रीरामके सान्निध्यसे आदिशक्ति जानकीजी ही सृष्टि करती हैं, यही बात यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अपनी मायाके विषयमें कहते हैं। श्रीसीताजीके लिये 'उद्भवस्थितिसंहारकारिणी क्लेशहारिणी और सर्वश्रेयस्करी' कहा गया है। उद्भव, स्थिति और संहारका अर्थ भी सृजन, परित्राण एवं विनाश ही होता है। अर्थात् जो तीन काम जगन्माता श्रीजानकीजी करती हैं, वे ही काम भगवान् कृष्णकी आत्ममाया करती है। तथा गीतामें भगवान्‌ने अपने अवतारका जो हेतु बतलाया है वही अर्थात् भक्तोंके निमित्त लीला करना ही रामायणमें भी बतलाया गया है।

इस सबका तात्पर्य यही है कि निर्गुण निराकार ब्रह्म ही सगुण साकार भगवान् राम हैं और उनके नाम, रूप, लीला एवं धामके रहस्यको ही गोस्वामी तुलसीदासजीने चार घाटोंके रूपमें वर्णन किया है। (अपूर्ण)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

एक भक्तके उद्गार

(अनुवादक—श्रीमुरलीधरजी श्रीवास्तव बी० ए० एल०-एल० बी० साहित्यरत्न)

केवल भगवान्‌में ही हमारी आशा और विश्वास केन्द्रित होना चाहिये।

प्रभो ! इस जीवनमें मेरे विश्वासकी वस्तु क्या है? अथवा संसारमें मैं किस वस्तुसे सर्वाधिक सुख प्राप्त कर सकता हूँ ?

हे नाथ ! हे प्रभो ! क्या वह अपार करुणासागर तू ही नहीं है ?

तेरे बिना मेरे लिये कहीं भी रहना कब शुभ हुआ है ? और तेरे रहनेपर मेरे लिये कब बुरा हो सकता है ?

तेरे लिये रंक हो जाऊँ तो अच्छा है, किन्तु तुझे छोड़कर धनी नहीं !

तेरे साथ पृथ्वीका यात्री बनकर रहना पसंद करता हूँ किन्तु तुझे छोड़कर स्वर्गकी प्राप्ति नहीं ! जहाँ तू है, वहीं स्वर्ग है, और जहाँ तू नहीं है वहीं मृत्यु और नरक है !

तू ही मेरी सारी कामनाओंका लक्ष्य है, अतः मैं सदैव तुझीको आर्त स्वरमें टेरता और तेरी प्रार्थना करता रहता हूँ।

संक्षेपमें, प्रभो ! केवल तुझे छोड़कर यहाँ अन्य कौन है, जिसपर मैं पूर्ण विश्वास कर सकूँ और जो मेरी आवश्यकताओंमें सदा सहायता दे सके ?

तू ही मेरी आशा है, तू ही मेरा विश्वास है। तू ही मेरा सुखदाता है और मेरा सबसे बड़ा सुहृद् है।

सब अपना लाभ ढूँढ़ते हैं। परन्तु तूने मेरे सम्मुख मेरी मुक्ति और मेरा ही लाभ रक्खा है और सब वस्तुओंको मेरा लाभदायक बना दिया है।

यद्यपि तूने मुझे अनेक प्रलोभन और कठिनाइयोंके बीच डाल रक्खा है तथापि तूने मेरे हितके लिये उन्हें आज्ञा दे दी है जो सदैव सहस्रों प्रकारसे तेरे भक्तोंकी परीक्षा लिया करते हैं।

इन परीक्षाओंमें भी तुझसे प्रेम करना और तेरी प्रशंसा करना उचित है—उससे भी अधिक रूपमें—यदि तूने मुझे दिव्य सन्तोषोंसे पूर्ण कर दिया होता!

हे नाथ ! भगवन् ! इसलिये मैं तुझमें अपनी सारी आशा और त्राण स्थापित करता हूँ। तुझपर ही सारे दुःखों और वेदनाओंको आलम्बित करता हूँ—क्योंकि तेरे अतिरिक्त मैं जो कुछ देखता हूँ उसे दुर्बल और अस्थिर पाता हूँ।

क्योंकि, अनेक मित्र लाभ नहीं पहुँचा सकते, शक्तिमान् सहायक सहायता नहीं दे सकते और बुद्धिमान् सलाहकार हितपूर्ण उत्तर नहीं दे सकते। न विद्वानोंके ग्रन्थ शान्ति दे सकते हैं, न मूल्यवान् वस्तु रक्षा कर सकती है, और न कोई स्थान—चाहे वह कैसा भी सुन्दर और एकान्त क्यों न हो—कदापि शरण दे सकता है—जबतक तू स्वयं हमारी सहायता और रक्षा न करे तथा बल, सान्त्वना और उपदेश प्रदान न करे।

जिन वस्तुओंको हम शान्ति और आनन्दकी प्राप्ति-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ये शाश्वत समझते हैं, वे तेरे बिना कुछ भी नहीं हैं और सत्यतः कोई आनन्द नहीं देतीं।

अतः तू कल्याणका निर्झर है, जीवनकी उच्चता है और समस्त वर्णनीय विषयोंकी गहराई है। तेरे सेवकोंके लिये सबसे अधिक तुझपर आशा रखना ही परम शक्तिशाली सुख है।

ऐ दिव्य धामके निवासी प्रभो! मैं तेरी ही ओर आँखें उठाये हूँ। हे करुणापूर्ण पिता! मैं तुझमें ही विश्वास रखता हूँ।

तू अपने दिव्य आशीर्वादोंसे मेरे हृदयको पवित्र और धन्य कर दे जिससे तेरा वह पवित्र भवन तेरे सन्त गौरवका स्थान बन सके, तेरे इस दिव्य मन्दिरमें ऐसी कोई वस्तु न मिल सके जो तेरे नेत्रोंको पीड़ा दे।

अपनी अपार करुणा और सत्‌की महानताके कारण तू मेरी ओर देख, और अपने इस अकिञ्चन दासकी प्रार्थना सुन, जो तुझसे दूर बिछुड़कर मृत्युकी छाया-वाले प्रदेशमें पड़ा है।

नाथ! अपने क्षुद्रतम सेवककी रक्षा, इस पाप-पूर्ण जीवनके ख़तरोंसे कर, शान्ति-पथपर निर्देश करते हुए, इसे मेरे साथ अपने चिर-उज्ज्वल सदनपर पहुँचा दे!

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

प्रयाणकी बात

मत जा ओ! प्राणोंके प्राण!
प्यारे सुना न इन कर्णोंको अपना कहीं प्रयाण॥

देख जानता ही तो तू है;
चपलहृदय वशसे बाहर है
युगल नेत्र भी मनमाने हो
जरा पड़ेंगे कोमल! क्या तू है अब भी अनजान॥

ये कोमलपद भला चलेंगे
निष्ठुर मगमें, छाले युत हो
जलज नयन ये भर आयेंगे
चाहे शीत होगी या आतप अति कठोर अनुमान॥

हाँ सुख-ही-सुख तुझे मिलेगा
कौन बंक हो देख सकेगा
सुन्दर श्याम द्रवित होंगे सब
है उनकी क्या शक्ति सकें जो कर अनिष्ट भी ध्यान॥

किंतु करूँ क्या कैसे मानूँ
नहीं नहीं बस कहीं न जा तू
मुझे देख मैं तुझको देखूँ
खेल यहीं, कौतुक-मय बस अब इतना कहना मान॥

रो दूँगा मैं रूठ पड़ूँगा
बैठूँगा एकान्त देखकर
दौड़ोगे आँसू पोंछोगे
तब न कहोगे फिर 'जाता हूँ' है क्या इसका ज्ञान॥

बस अब बहुत हो चुका आओ
फिर न कभी यह श्रवण सुनाओ
नित्य-नित्य प्यारे नव नागर
चंचल नटखट खेल संग बस यह आनन्द महान।

—'सुदर्शन'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रज्ञावाणी

(लेखक—साधु श्रीप्रज्ञानाथजी)

१—सत्य और न्यायनिष्ठाको त्यागकर केवल उदारतापर कोई मत स्थायी नहीं हो सकता।

२—जो शास्त्र और सामान्य विचारसे विरुद्ध है वह कल्याणका हेतु नहीं हो सकता।

३—धर्मको शरीरी कहा जावे तो सत्य उसके प्राण हैं, दया और दान उसके दोनों पैर हैं, श्रद्धा उसका धड़ (मध्य भाग) है और ज्ञान उसका मस्तक है।

४—भक्तिहीन ज्ञान और फलहीन वृक्ष दोनों ही शोभारहित हैं अर्थात् भक्तिके बिना ज्ञान ऐसा ही है जैसा कि फलसे हीन वृक्ष। भक्तिके बिना ज्ञान लाभदायक नहीं है।

५—जिस बोध-ज्ञानके साथ वैराग्य नहीं है वह एक दिखावेकी चीज है—उससे मुक्ति नहीं हो सकती।

६—धर्मध्वजीसे तो, जो धर्म-धर्म चिल्लाता है, परन्तु धर्मपर आचरण नहीं करता, मूर्ख ही अच्छा है।

७—बुरे संगका सर्वदा त्याग ही करना उचित है।

८—कुछ नहीं बनना ही उत्तम है, मैं विद्वान् हूँ, धनी हूँ, ब्राह्मण हूँ, महात्मा हूँ इत्यादि प्रकारसे कुछ बनना, अभिमान करना अच्छा नहीं है, क्योंकि अभिमान मिथ्या ज्ञानकी निशानी है।

९—जो लोग भोगों और ऋद्धि-सिद्धियोंके पीछे मारे-मारे फिरते हैं, वह ऐसे ही हैं जैसे छायाके पीछे भागनेवाले लोग। छायाके पीछे भागनेसे छाया पकड़ी नहीं जायगी अपि तु वह आगे-ही-आगे भागेगी। इसी प्रकार भोगोंके पीछे भागनेसे भी भोग भागते जाते हैं—प्राप्त नहीं हो सकते। हाँ, जब भोगोंकी तरफ पीठ कर दोगे तो छायाके समान वे आपके पीछे-पीछे आवेंगे। अतः भोग, ऋद्धि और सिद्धि आदिमें वैराग्य ही करना उचित है, आसक्ति नहीं।

१०—जहाँ गोला-बारूदकी आवश्यकता है वहाँ यदि लकड़ी ही लेकर लड़ने जावें तो निश्चयसे हार होगी। इसी प्रकार साधनहीन होकर केवल जिज्ञासासे मनोरथ पूर्ण नहीं हो सकता।

११—कुसंगसे सदा बचना चाहिये, क्योंकि थोड़ा-सा कुसंग भी बड़े भारी सत्संगके प्रभावको नष्ट कर डालता है।

१२—अज्ञानसे काम-क्रोधादि उत्पन्न होते हैं अतः अज्ञानके नाश करनेसे काम-क्रोधादि नष्ट हो जाते हैं, अज्ञानके रहते हुए काम-क्रोधादिको सर्वथा नष्ट नहीं किया जा सकता। क्योंकि यह नियम है कि कारणके नाशसे ही उसके कार्यका नाश होता है।

१३—पूर्ण होनेके लिये श्रद्धाको धारण करना आवश्यक है। और जितनी जिसकी श्रद्धा होगी उतना ही वह पूर्ण लाभ उठा सकता है—जितना गुड़ उतना मीठा।

१४—भगवन्निष्ठा बड़ी आकर्षक वस्तु है, बिना भजनके उसका पता नहीं लगता, गुड़का स्वाद कल्पनासे नहीं—खाने या चखनेसे आता है, इसी प्रकार भगवत्प्रेम भी करनेकी चीज है—कल्पनाकी नहीं, इसीलिये जो जितने प्रेमसे भगवान्‌की भक्ति करेगा वह उतना ही अधिक आकर्षणका अनुभव करेगा।

१५—जिसने यह अनुभव कर लिया है कि भगवान् ही सब पदार्थोंसे उत्तम वस्तु—प्राप्त करने

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

देव हैं, वह मनुष्य क्षणभरके लिये भी उनका ध्यान नहीं छोड़ सकता। जैसे मछली पानीके बिना तड़पती है वैसे ही वह भी भगवान्‌के बिना नहीं ठहर सकता। जो ज्ञानके गपोड़े मारता है और साधन आदि कुछ भी नहीं करता, ऐसे व्यक्तिको भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो सकती।

१६—भगवत्प्राप्तिके मार्गमें विषयासक्ति बड़ा भारी विघ्न है। विषयासक्त पुरुष यदि भगवान्‌का नाम भी लेगा तो विषयोंकी प्राप्तिके लिये ही लेगा; बस, भगवान्‌के साथ यह दूकानदारी करना उचित नहीं है।

१७—भगवान्‌के साक्षात्कार करनेके लिये वैराग्य और उपरामता मुख्य साधन हैं।

१८—यदि अपने दोषोंपर दृष्टि रक्खी जाय तो दोष शीघ्र दूर हो जाते हैं।

१९—दोषोंको नष्ट करनेके लिये निरन्तर अभ्यास करनेकी आवश्यकता है—क्योंकि जब दीर्घ-काल, बहुत समयतक तथा श्रद्धा और तपके साथ दृढ़ निश्चयके साथ अभ्यास किया जाता है तो दोषों-से छुटकारा हो जाता है और फिर किसी भी प्रति-कूल स्थितिमें गिरनेकी सम्भावना नहीं रहती। अभ्यास-के बिना केवल विचार करनेसे अथवा कल्पनामात्रके दृढ़निश्चयसे मनोरथ सफल नहीं होता। जिस प्रकार बिना मन्त्र पकड़नेकी विधि जाननेसे सर्प नहीं काबूमें आता, यदि आवे भी तो डंक मारता है, इसी प्रकार आसक्तिसे रहित होकर यदि विषयसङ्ग किया जाये तो विषयका विष अवश्य चढ़ेगा। बल्कि सत्य तो यह है कि विषय विषसे भी खराब है। विषसे तो एक ही जन्म नष्ट होता है परन्तु विषयसे तो अनेकों जन्म नष्ट होते हैं।

२०—गौके शरीरमें घी व्याप्त है, परन्तु उस घी-से गौके शरीरकी पुष्टि नहीं होती—शरीर पुष्ट करनेके लिये दूधसे घी निकालकर गौको खिलाना पड़ता है। इसी प्रकार ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है परन्तु उससे लाभ वही उठा सकता है जो उपासनाद्वारा तीनों शरीरोंसे उसे पृथक् जानकर नित्य-निरन्तर उसका ध्यान करता है। क्योंकि इस प्रकार ब्रह्मामृतका पान करनेसे ही आनन्दकी प्राप्ति और दुःखोंकी निवृत्ति होती है।

२१—स्वतन्त्रता और परतन्त्रता सर्वथा एक दूसरेके विरुद्ध है। स्वतन्त्रता अपनी इच्छासे सम्बन्ध रखती है और परतन्त्रता दूसरेकी इच्छाके अधीन रहनेको कहते हैं। मनको अपने अधीन करना स्वतन्त्रता और स्वयं मनके अधीन होना परतन्त्रता है। स्वतन्त्र होने अथवा मनको अपने अधीन रखनेके लिये शास्त्र और महान् पुरुषोंके वचनोंके अनुसार चलना पड़ता है, क्योंकि ऐसा किये बिना मनकी मनोमुखी वृत्ति दूर नहीं हो सकती, फिर स्वतन्त्रता कैसी?

२२—साधु और विरक्त बननेके लिये जिह्वा और उपस्थ इन दोनों इन्द्रियोंका संयम करना परमावश्यक है, क्योंकि इनके विषयका त्याग किये बिना तथा मनसे भी इनका चिन्तन छोड़े बिना पूरी-पूरी साधना और वैराग्य नहीं होता और यदि हो तो वह केवल मिथ्या-चार या ढोंग ही कहा जायगा। क्योंकि इससे न तो प्रकृतिका बन्धन ही छूट सकता है, न यह सच्चा वैराग्य कहा जा सकता है तथा न इससे मनमें सच्ची शान्ति ही आती है।

२३—माया बड़ी विचित्र है, उसके काम भी बड़े विचित्र हैं, इसपर जो प्रतीत हो सो थोड़ा है। विचारकर देखो, आकाश तत्त्वसे उत्पन्न शब्दमात्रको ग्रहण करता है, परन्तु उस शब्दमें कठोरता और मृदुता कहाँसे आ गयी? वायुसे उत्पन्न त्वचा स्पर्श-मात्रका ग्रहण करती है, परन्तु उस स्पर्शमें कोमलतादि कहाँसे आ गयी? अग्निसे उत्पन्न चक्षु-इन्द्रिय रूप-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मात्रको ग्रहण करती है, परन्तु उस रूपमें लाल, पीला, हरा आदि वर्ण कहाँसे आ गये ? इसी प्रकार जलसे उत्पन्न रसना-इन्द्रिय रसको ग्रहण करती है पर उस रसमें भी खट्टा, मीठा, तिक्त आदि स्वाद कहाँसे आ गये और पृथिवी तत्त्वसे उत्पन्न नासिकासे गन्ध-मात्रका ग्रहण होता है, परन्तु उस गन्धमें भी सुगन्धि, दुर्गन्धि कहाँसे आ गयी ? विचारसे प्रतीत होता है कि सामान्यमें ही विशेषकी कल्पना होती है और ये दोनों मायाके अन्तर्गत हैं। माया वह विचित्र वस्तु है जो बिना कारणके प्रतीत होती है और विचार करनेसे भी जिसका स्वरूप समझमें नहीं आता। इसी मायाको अविद्या कहते हैं। माया या अविद्या चार प्रकारकी है—लौकिक, ऐन्द्रियिक, मानसिक और तात्त्विक। इसी प्रकार विद्या भी चार प्रकारकी है। लौकिक विद्यासे लौकिक अविद्याकी, ऐन्द्रियिक विद्यासे ऐन्द्रियिक अविद्याकी, मानसिक विद्यासे मानसिक अविद्याकी और तात्त्विक विद्यासे तात्त्विक अविद्याकी निवृत्ति होती है; शुक्ति-रजत, रज्जु-सर्प आदिको लौकिक अविद्या कहते हैं अर्थात् शुक्तिमें जो रजत—चाँदीकी भ्रान्ति तथा रज्जुमें जो सर्पकी भ्रान्ति होती है उस भ्रान्तिको लौकिक अविद्या कहते हैं। लौकिक विद्या शुक्ति, रज्जु आदिके जाननेको कहते हैं। इस लौकिक विद्या—रज्जु-शुक्ति आदिके ज्ञानसे लौकिक अविद्याकी निवृत्ति होती है। गौ-घटादि जितने यह पिण्ड हैं, सब लौकिक विद्या ही है। उक्त पिण्ड-को पाँच भागोंमें बाँटा जा सकता है, क्योंकि वह पञ्चभौतिक माया है। ब्रह्माण्डसे लेकर तृणतक सब पदार्थ पञ्चभूतका ही कार्य है, और पञ्चभूतात्मक है। उक्त पञ्चभूत पञ्चतन्मात्राकी विशेष मात्रा है। अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धको छोड़कर पञ्चभूत किसी स्थानमें दिखायी नहीं देता। सामान्य और विशेष-भाव परस्परसापेक्ष है। विशेष भावको छोड़कर सामान्य भाव ठहर नहीं सकता, क्योंकि सामान्य-में ही विशेषभाव कल्पित है और विशेषभावमें सामान्यभाव सूक्ष्मरूपसे अनुगत रहता है। उस सामान्य रूपके अज्ञान करके अर्थात् तन्मात्राका ग्रहण नहीं करके जो पिण्डग्रहण है वह रज्जु-सर्प आदिकी नाईं अन्यथाग्रहण है और जो लौकिक विद्या है वही ऐन्द्रियिक अविद्या है, अर्थात् यह दृश्यप्रपञ्च ज्ञान-इन्द्रियके विषय शब्दादि स्वरूप ही है। वही घटादि रूप होकर प्रतीत हो हो रहा है। वस्तुतः घट नामसे इन्द्रियके ग्रहण करनेयोग्य कोई पदार्थ नहीं है। इन्द्रिय अपने-अपने विषयको छोड़कर दूसरेके विषयको ग्रहण नहीं कर सकती। क्योंकि सजातीय ही सजातीयका ग्रहण कर सकता है—विजातीय नहीं कर सकता। रूप और चक्षु तैजस होनेसे चक्षु रूपमात्रको ही ग्रहण कर सकता है—शब्द, स्पर्श आदि ग्रहण करनेकी शक्ति चक्षुकी नहीं है। हरेक इन्द्रिय यदि दूसरेके विषयको ग्रहण कर ले तो इन्द्रियका प्रमाण ही असिद्ध हो जायेगा, और प्रमाणज्ञान असम्भव हो जायेगा। अतः एक इन्द्रियसे एक ही विषयका ग्रहण हो सकता है। जैसे चक्षु रूपमात्रको ही ग्रहण कर सकता है, रूपमात्रमें कल्पित जो लाल-नीला आदि विशेष रूप है वह चक्षु ग्राह्य नहीं है। दूसरे इन्द्रियसे भी इसका ग्रहण नहीं होता। मन भी पञ्चभूतात्मक होनेसे उसका आकाशांश शब्दमात्रको ही ग्रहण करेगा, और-और अंश अपने विषयको ही ग्रहण करेंगे। छठी कोई इन्द्रिय भी नहीं है जो लाल-नीलादिको ग्रहण करे। इससे मालूम पड़ता है अविद्यासहित चक्षु ही लाल-नीलादिको ग्रहण करता है। ऐसा मानना पड़ेगा। इसलिये यह जो लौकिक विद्या है वही ऐन्द्रियिक अविद्या है। घटादि पिण्डकी ग्राहक कोई इन्द्रिय नहीं है। घटका आकार लाल-नीलादिकी नाईं इन्द्रियग्राह्य नहीं है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इन्द्रियके अन्यथाग्रहणसे ही ग्रसित है। अस्तु, वह रज्जुसर्पकी नाईं भ्रान्तिरूप है। और दृश्यप्रपञ्च जिसको लौकिक विद्या कहते हैं वही ऐन्द्रियिक अविद्या है। इस ऐन्द्रियिक अविद्याकी निवृत्ति ऐन्द्रियिक विद्यासे ही होती है। अर्थात् दृश्यप्रपञ्च ज्ञानेन्द्रियका विषय शब्दादिरूप ही है। वह शब्दादि-से पृथक् नहीं है। ऐसे ज्ञानसे घटादि जितने पदार्थ हैं वह रूपादि सामान्यमें कल्पित हैं ऐसे जाना जाता है। इन्द्रियका विषयमात्र जाननेसे ऐन्द्रियिक अविद्या रज्जु-शुक्ति आदिकी निवृत्ति होती है। जिसको ऐन्द्रियिक विद्या कहा है वही फिर मानसिक अविद्या है। अर्थात् सब प्रपञ्च मनोमात्र ही है, बाहरमें इन्द्रियका विषय किञ्चिन्मात्र भी नहीं है। इस मनोमात्रके अज्ञान करके इन्द्रियमात्र प्रतीत होती है। वह भ्रान्ति मानसिक अविद्या है। मनके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध न हो तो जो पदार्थ बहुत निकट है वह भी इन्द्रिय-गोचर नहीं होता, मन कोई शब्द सुननेमें लग जाय तो चक्षु उस कालमें बहुत निकट सुन्दर प्रकाशमान पदार्थ भी नहीं देखता। इसी प्रकार जिस इन्द्रियसे मनका सम्बन्ध होता है वही इन्द्रिय अपने विषयको जान सकती है। दूसरी इन्द्रिय और उसका विषय वर्तमान होनेसे भी ग्रहण नहीं कर सकती। इसलिये रूपमात्र दर्शन भी मनोमात्र ही है। इस मनोमात्रता-को नहीं जानकर इन्द्रियमें जो विषयग्रहणता कल्पित है वह मानसिक अविद्या है। मानसिक विद्यासे मानसिक अविद्याकी निवृत्ति होती है। सब प्रपञ्च मनोमात्र ही है—मन फिरनेके साथ उसका अन्वय-व्यतिरेक है अर्थात् मन देखनेसे ही चक्षु देखता है, मनके न देखनेसे चक्षु नहीं देखता। अब सारा प्रपञ्च मनोमात्र ही शेष रह गया।

घोर अन्धकारयुक्त रात्रिमें जैसे कोई चलनेवाला नेत्री अन्धकारके सिवा कुछ और नहीं देखता, उस वक्त जुगनूके चमकनेसे अन्धकार थोड़ा हट जाता है, फिर जुगनूकी चमक दूर होनेसे साथ-साथ ही अन्धकार फिर घेर लेता है, ऐसे ही अज्ञानरूपी अँधेरेमें सब पदार्थ अज्ञात हो रहे हैं। परन्तु इस समय भी वह स्वयं प्रकाशसे अज्ञातरूपमें प्रकाशित है। यदि ऐसा न होता तो उस पदार्थका ज्ञान कभी नहीं होता। बुद्धिके साथ जिस पदार्थका संयोग होता है वही पदार्थ बुद्धिगोचर हो जाता है। अन्यान्य पदार्थ उस कालमें अज्ञात ही रहते हैं। इसलिये पदार्थकी ज्ञातसत्ता और अज्ञातसत्ता बुद्धिके साथ सम्बन्ध और असम्बन्धके ऊपर ही निर्भर करती है। बुद्धि और मन एक ही पदार्थ है। वृत्तिके भेदसे ही उसका नाम-भेद होता है। दार्ष्टान्तिक स्थलमें भी आत्मा स्वयंज्योति द्रष्टा और साक्षी अपनेको भी जानता है और अज्ञानको भी जानता है। बुद्धिकी क्षण-क्षणमें उत्पत्ति और विनाश हो रहा है। इसलिये यह जुगनूके प्रकाशकी तरह क्षण-क्षणमें नाशवान् है। बाहरके पदार्थ भी बुद्धिके साथ-ही-साथ उत्पन्न और लीन हो रहे हैं। बुद्धिके ग्रहणको छोड़कर उसका ग्रहण होना असम्भव है। इसलिये वे बुद्धिसे भिन्न नहीं हैं। जिसकी सत्तासे जो होता है वही उसका स्वरूप होता है। बाह्य पदार्थकी सत्ता मनके ऊपर निर्भर करती है, इस हेतुसे बाह्य पदार्थ मनोमात्र है। बाहरमें जब कोई पदार्थ नहीं रहता, उस वक्त मन स्वप्नमें नाना पदार्थ बाहरमें देखता है—उस समय वह अपनी कल्पनासे ही सब पदार्थ रचकर जाग्रत् अवस्थाकी नाईं बाहरमें प्रत्यक्ष करता है। मनके इस प्रकार बनाने और नाश करनेको स्वप्नमें नित्य-प्रति सब लोग अनुभव कर रहे हैं परन्तु इसमें किसीकी भी सद्बुद्धि नहीं होती। भ्रान्तिस्थानमें भी जैसे मरुभूमिमें जलभ्रान्ति और रज्जुमें सर्पभ्रान्ति-स्थानमें सबकी मिथ्याबुद्धि होती है, स्मृतिस्थानमें

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भी पदार्थ नहीं होते हुए भी पूर्वानुभूत पदार्थका मानसिक प्रत्यक्ष होता है। मनोराज्यमें भी सबको मनकी असत्कल्पनाका अनुभव होता है। वह वासना-मय है, इसमें किसीको भी संशय नहीं होता, परन्तु दृश्यप्रपञ्चको कल्पना माननेमें लोगोंको भय मालूम होता है। एक मन चावल किसी बर्तनमें पकनेके लिये दिया गया, उसमेंसे एक चावल देखनेसे ही मालूम हो जाता है कि सब चावल पक गये हैं कि नहीं; बत्तीस सेर देखनेपर शेष आठ सेरमें कोई शङ्का नहीं रहती, इस प्रकार मनकी भ्रान्ति, स्मृति, मनोराज्य और स्वप्न आदि मिथ्या जानकर बाहरके पदार्थ भी मनकी कल्पना हैं, इसमें संशय नहीं करना चाहिये। यह मानसिक अविद्या पदार्थके यथार्थ स्वरूपके अज्ञानके द्वारा ही उत्पन्न होती है इसलिये जो मानसिक विद्या है वही तात्त्विक अविद्या है।

माया-नगरी

(रचयिता—पं० श्रीसत्यव्रतजी शर्मा 'सुजन' बी० ए०, शास्त्री)

जादूगरकी नगरीमें रुक-रुककर पैर बढ़ाना रे!
आँखोंका है जाल बिछा, खुद जाकर मत फँस जाना रे!!
लौट न सके, यहाँ जो आये, लाखों पड़े तड़पते हैं!
सावधान, क्षणभरके परिचयमें मत दिल खो आना रे!!

चक्करदार यहाँकी गलियाँ, देख नहीं घबराना रे!
सोच-समझकर पथ चुनना, पीछे फिर मत पछताना रे!!
कूआँ इधर, उधर खाई है, चलना सँभल-सँभल प्रतिपल!
पैर छिदें, परवाह नहीं, कंटक पाकर मुसकाना रे!!

साथ मिलेंगे पांथ साधु-ठग शत, मत धोखा खाना रे!
चिरसंगी है असल न कोई, सुन यह तत्त्व पुराना रे!!
दुखमें दुनिया दूर रहेगी, वहाँ अकेला ही जाना!
दो दिनका बस नाता, कैसा अपना और बिराना रे!!

महल-अटारी धन-वैभवपर उचित नहीं इतराना रे!
यह सब वसुधाका वैभव है, फिर क्यों पाप कमाना रे!!
पहुँच हाटमें मुग्ध-मुग्ध हो लक्ष्य भूलनेका भय है!
सौदोंकी कर अवहेला, जा निकल, तभी मरदाना रे!!

काजलके कमरेसे बच बेदाग़ कठिन है पाना रे!
मालिकके सामने चलेगा तेरा कौन बहाना रे!!
अस्थि चबाकर दंतरुधिरको पीनेमें मस्ताना रे!
कर कुछ बंदे, कौन कहे, कब आवेगा परवाना रे!!

रजत शुक्तिको समझ रहा, अज्ञान बना दीवाना रे!
युग-युगके कैदी! प्रिय लगता तुझको बंदीखाना रे!!
विस्मृति कैसी घोर! सोच टुक, तेरा कहाँ ठिकाना रे!
तू असीम, तू अमर, धरे है मुर्देका-सा बाना रे!!

कर अपनेको प्यार, प्रेम जगका अलीक है माना रे!
सब कुछ जान गया वह, जिसने अपनेको पहचाना रे!!
आकर यहाँ भूल जाता है सबसे बड़ा सयाना रे!
समझ-बूझकर मायाकी नगरीमें कदम उठाना रे!!

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीरासलीलारहस्य

(महात्माका उपदेश)

[गतांकसे आगे]

यद्यपि 'भगवान्' शब्दका अर्थ आगे किया जाता है तथापि यह श्रवणमात्रसे मंगलकारक है, इसलिये यहाँ मंगलके लिये भी है। जैसे दूसरे प्रयोजनके लिये लाया हुआ भी जलपूर्ण घट अपने दर्शनमात्रसे यात्रीके लिये मंगलप्रद होता है उसी प्रकार जिसमें नित्य-ऐश्वर्यका योग हो उसे 'भगवान्' कहते हैं। ऐश्वर्य छः हैं—

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीङ्गना॥

अर्थात् समग्र ऐश्वर्य, समग्र धर्म, समग्र यश, समग्र श्री, समग्र ज्ञान और समग्र वैराग्य—इन छः गुणोंका नाम 'भग' है। ये छः जिसमें हों वही भगवान् है। ये सब-के-सब जीवमें तो अल्प मात्रामें हुआ करते हैं किन्तु भगवान्में निरतिशय होते हैं। यहाँ 'भगवान्' शब्दमें जो मतुप् प्रत्यय है वह नित्ययोग या अतिशायनमें है।* तात्पर्य यह है कि भगवान्में जो भग है वह आगन्तुक नहीं है, बल्कि उसका नित्ययोग है और वह निरतिशय है।

अच्छा यदि भगवान्में नित्य निरतिशय ऐश्वर्य हो भी तो तुम्हें क्या लाभ? इसपर हमें यही कहना है कि यह हमारे ही काम तो आवेगा, और इसका प्रयोजन ही क्या हो सकता है? वस्तुतः भगवान्को तो इसकी कोई अपेक्षा है नहीं, क्योंकि वे तो आप्तकाम हैं। ऐश्वर्यका काम क्या होता है? यही न कि वह अपने आश्रयमें महत्त्वातिशय या सौख्यातिशयका आधान करे। जितने गुण हैं उनकी सफलता तभी होती है जब वे अपने आश्रयमें सौख्यातिशय या महत्त्वातिशयका आधान करें; अतः भगवान्का ऐश्वर्य भी यदि उनमें इस प्रकारके किसी अतिशयका आधान नहीं करते तो वे भले ही अप्राकृत हों, व्यर्थ हैं। ये गुणगण शेष हैं और भगवान् उनके शेषी हैं; तथा शेष शेषीके लिये हुआ ही करता है।

अतः अब यह देखना है कि जिसमें ये गुण हैं वह निरतिशय है या सातिशय? यदि सातिशय है तब तो ऐश्वर्यादि गुण उसमें कुछ अतिशयताका आधान कर सकते हैं और यदि निरतिशय ज्ञान और आनन्द ही भगवान्का स्वरूप हैं तो किसी अतिशयताका आधान करनेमें असमर्थ होनेके कारण इन गुणोंका कोई प्रयोजन ही नहीं हो सकता। वेदान्तप्रक्रियाके अनुसार तो वह ब्रह्म ही है। 'ब्रह्म' शब्दकी व्युत्पत्ति है 'बृहत्त्वाद्ब्रह्म'—बड़ा होनेके कारण वह ब्रह्म है! बृहत्, अनल्प, भूमा ये सब एक ही अर्थके वाचक हैं। जहाँ कोई संकोचक प्रमाण होता है वहाँ तो अनल्पत्व सातिशय होता है। जैसे 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्याः' इस वाक्यके अनुसार समस्त ब्राह्मणोंको भोजन कराना सम्भव न होनेके कारण 'सर्व' शब्दका संकोच करके केवल समस्त निमन्त्रित ब्राह्मणोंको भोजन कराना ही समझा जाता है। यहाँ ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे ब्रह्मका अनल्पत्व सातिशय निश्चय किया जाय। अतः संकोचप्रमाणका अभाव होनेके कारण यहाँ वही अर्थ करना चाहिये कि जो निरतिशय बृहत् है अर्थात् जिससे बड़ा और कोई नहीं है वह भूमा ब्रह्म है। जो देश, काल या वस्तुसे परिच्छिन्न हो, अर्थात् अन्योन्याभावादि चार प्रकारके अभावोंमेंसे किसीका प्रतियोगी हो वह अपरिच्छिन्न (निरतिशय) अनल्प नहीं हो सकता। अतः सब प्रकारके परिच्छेदसे रहित सच्चिदानन्दतत्त्व ही ब्रह्म है। ऐसा अपरिच्छिन्न तत्त्व सब प्रकारके बाधका अधिष्ठान होनेके कारण अबाध्य सत् है। यदि वह अबाध्य जड हो तो उसके भानके लिये किसी दूसरी वस्तुकी अपेक्षा होगी और ऐसा होनेपर द्वैत होनेके कारण वस्तुपरिच्छेद अनिवार्य होगा। इसके सिवा अभिज्ञोंकी दृष्टिमें जड वस्तु निरतिशय बृहत् हो भी नहीं सकती! अतः ब्रह्म सत् और स्वयंप्रकाश है अर्थात् वह अपनेसे भिन्न किसी प्रकाशान्तरकी अपेक्षासे रहित निरपेक्ष प्रकाशस्वरूप है। इस प्रकार अपनेसे भिन्न द्वैतादि उपद्रवशून्य होनेके कारण वह निरुपद्रुत परमानन्दस्वरूप है और अनन्त भी है। इससे भी ब्रह्मकी निरतिशयता सिद्ध होती है। श्रीमद्भागवतमें भी ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्—ये एक ही तत्त्वके नाम बतलाये हैं। 'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते।' श्रीश्रीधर

* भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने।
सम्बन्धेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्वामीका भी यही मत है। किन्तु वैष्णवाचार्योंका इससे मतभेद है। श्रीजीवगोस्वामीने तत्त्वसन्दर्भका आरम्भ इसी श्लोकसे किया है। उन्होंने ब्रह्मसे परमात्माको और परमात्मासे भगवान्‌को उत्कृष्ट माना है। उनका अभिप्राय कविवर माघके इस श्लोकसे स्फुट होता है—

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा
ततः शरीरीति विभावितकृतिम्।
विभुं विभक्तावयवं पुमानिति
क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥

अर्थात् दूरसे नारदजी आ रहे थे। पहले तो समझा कोई तेजःपुञ्ज आ रहा है; फिर आकृतिका भान होनेपर मालूम हुआ कोई शरीरी है। उसके पश्चात् अवयवविभागकी प्रतीति होनेपर जाना कि कोई पुरुष है और फिर क्रमशः निश्चय हुआ कि नारदजी हैं। अतः श्रीजीवगोस्वामी कहते हैं कि जबतक ब्रह्म दूर रहता है तबतक उसे निर्गुण निर्विशेष समझते हैं। फिर उसका विशेष अनुभव होनेपर उसे परमात्मरूपसे जाना जाता है, किन्तु जो उसकी नित्यसन्निधिमें रहते हैं उन्हें वह अचिन्त्यानन्दकल्याणगुणगणोपेत जान पड़ता है। इस प्रकार अनुभवके उत्कर्षके साथ उत्तरोत्तर ब्रह्मके निर्विशेष, सविशेष और साकार स्वरूपका साक्षात्कार होता है।

यहाँ अपने सिद्धान्तका पोषण करनेके लिये उन्होंने यह भी कहा है कि ये ब्रह्म परमात्मा और भगवान् क्रमशः ज्ञानी, योगी और भक्तोंकी अपेक्षासे हैं तथा इनमें उत्तरोत्तर उत्कृष्ट है। परन्तु इससे पूर्व प्रथम स्कन्धमें तत्त्वका लक्षण करते हुए यह कहा गया है कि 'तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।' अर्थात् जो सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदशून्य अद्वय ज्ञान है वही तत्त्व है। अतः यह बतलाना चाहिये कि वैष्णवाचार्य जो विशेषता दिखलाते हैं वह तत्त्वमें है या केवल नामोंमें ही। यदि तत्त्वमें कोई भेद न हो तो नामान्तर होनेसे ही उसके लक्षणमें क्या अन्तर आ सकता है? जिस प्रकार यदि घटका यह लक्षण कर दिया कि 'कम्बुग्रीवावान् घटः' तो 'कलश' कहनेसे भी उसमें क्या अन्तर आ सकता है? अतः यदि तत्त्वका लक्षण 'तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्' ऐसा है तो नामके भेदसे उसमें क्या भेद हो सकता है?

कोई लोग 'अद्वय' शब्दका अर्थ उपमारहित करते हैं। अतः उनके मतमें उपमारहित ज्ञान ही अद्वय ज्ञान है। किन्तु 'अद्वय' शब्दका ऐसा अर्थ करना किसी प्रकार ठीक नहीं है। अद्वयका अर्थ तो देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्य ही है।

अब यदि युक्तिसे विचार किया जाय तो भगवान्‌को अचिन्त्यानन्दकल्याणगुणगणसम्पन्न माननेपर उन गुणोंके कारण उनके शेषीमें कोई उपकार होना भी अवश्य मानना पड़ेगा। यदि आप शेषीको सातिशय मानते हैं तब तो सिद्धान्तविरुद्ध होगा—ब्रह्मको सातिशयत्व तो किसी भी आस्तिकको मान्य नहीं हो सकता। आप जो कहते हैं कि उत्तरोत्तर सान्निध्यके बढ़नेपर भगवान्‌के उत्तरोत्तर विशेष रूपोंका अनुभव होता है उन विशेषताओंका यही तात्पर्य है न कि वे अपने आश्रयमें किसी अतिशयका आधान करें। किन्तु यदि परब्रह्म स्वरूपसे ही निरतिशय है तो सान्निध्यसे उसमें क्या अन्तर पड़ेगा? यदि सान्निध्यको केवल उसकी विशेषताओंकी अभिव्यक्तिका कारण मानोगे तो यह बतलाओ कि तुम्हारा वह सान्निध्य क्रियाकृत है या ज्ञानाज्ञानकृत। यदि क्रियाकृत है तो ब्रह्ममें परिच्छिन्नता आ जायगी और यदि ज्ञानाज्ञानकृत है तो मायावादका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। और यह आपको अभीष्ट नहीं है।

ब्रह्म निरतिशय बृहत् है। बृहत्ताकी कल्पना करते-करते जहाँ तुम शान्त हो जाओ वह ब्रह्म है। और सान्निध्यके द्वारा तुम जिस अतिशयताका आधान करना चाहते हो उसे तो हम सर्वदेशी मानते हैं। यदि कहो कि जिस प्रकार 'सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्याः'—समस्त ब्राह्मणोंको भोजन कराना चाहिये इत्यादि वाक्योंमें समस्त पदसे केवल निमन्त्रित ब्राह्मण ही ग्रहण किये जाते हैं उसी प्रकार यहाँ भी कुछ संकोच कर लिया जायगा, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वहाँ संसारके सम्पूर्ण ब्राह्मणोंको भोजन कराना अभिप्रेत ही नहीं है; अतः संकोच तो केवल वहीं किया जाता है जहाँ कोई संकोचक प्रमाण होता है। जो वस्तु देशपरिच्छिन्न, कालपरिच्छिन्न अथवा वस्तुपरिच्छिन्न होती है उसीमें संकोच किया जाना सम्भव है। निरतिशय वस्तुमें कोई परिच्छेद नहीं होता, इसलिये उसमें संकोच भी नहीं किया जा सकता—

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्।

अतः ये भग निरतिशय भगवान्‌में किसी सौख्यातिशय

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

या महत्त्वातिशयका आधान नहीं कर सकते। भगवान्ने यह ऐश्वर्य भक्तोंके लिये ही धारण किया है। उनकी यह कामविजयलीला भी भक्तोंके ही लिये थी। इसलिये भगवान् जो अचिन्त्यानन्दकल्याणगुणगण धारण करते हैं वे उपासकोंके लिये ही हैं, जिससे कि उनकी उपासनाद्वारा वे उन गुणोंको प्राप्त कर सकें।

हमने यह विचार इसीलिये किया है कि जो लोग भगवान्को निरतिशय बृहत् आनन्दस्वरूप नहीं मानते उनके मतमें वह ब्रह्म भी नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म, भूमा इन शब्दोंका एक ही अर्थ है। इनका तात्पर्य एक ही वस्तुमें है। अतः भूमा कौन है?—'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति' जहाँ न कोई और देखता है, न सुनता है और न जानता है, जहाँ कोई अन्य है वह तो अल्प ही है 'यदल्पं तन्मर्त्यम्'। इसलिये जहाँ भूमा है वहाँ द्वैत नहीं क्योंकि द्वैत तो वस्तुकृत परिच्छेदमें ही हो सकता है। इस प्रकार जहाँ द्वैतका अभाव है वहीं अद्वैत है, इसीसे कहा है—

'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्र केन कं जिघ्रेत्केन कं विजानीयात्' इत्यादि।

अब यदि आप ब्रह्मको अनल्प मानते हैं तो गुणगण कैसे? और यदि गुणगण हैं तो गुणगण और उनके आश्रयका तथा गुणोंका स्वगतभेद है या नहीं। यदि उनमें भेद है तो ब्रह्म परिच्छिन्न सिद्ध होगा और इससे उसका ब्रह्मत्व ही बाधित हो जायगा।

यदि कहो कि हम ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्में भेद मानते हैं; हमारे मतमें भगवान् परम अन्तरंग सात्वतों-के प्राप्य हैं; परमात्मा योगियोंके प्राप्तव्य है तथा ब्रह्म अत्यन्त बहिरंग ज्ञानियोंका ध्येय है। इसीसे भगवान्ने भी योगीको ज्ञानियोंसे भी बड़ा माना है 'ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः' और भक्तोंको समस्त योगियोंसे उत्कृष्ट माना है।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

—तो ऐसा माननेसे भी उनकी अल्पता सिद्ध होती है क्योंकि तीन होनेके कारण उनमें वस्तुकृत परिच्छेद तो है ही। इसलिये ऐसा मानना उचित नहीं।

हम यह तो पहले कह ही चुके हैं कि लक्ष्यका भेद लक्षण-भेदसे होता है, नामसे नहीं होता। जैसा कम्बु-ग्रीवादि और पृथुबुध्नोदरत्वादि लक्षण एक होनेसे घट, कलश—इन नामोंका भेद होते हुए भी वस्तुका भेद नहीं होता, ठीक वैसे ही जब लक्षणमें भेद नहीं है तो ब्रह्म या भगवान् आदि नामोंके भेदसे लक्ष्यका भेद कैसे होगा। यहाँ तत्त्वका लक्षण 'तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्' ऐसा किया है। इसलिये उसमें किसी भी प्रकारका भेद नहीं हो सकता। अतः आश्रय, जो कि तत्त्व है, अनन्त है, निरतिशय है और अद्वय है; गुणगण उसमें किसी प्रकारके अतिशयका आधान नहीं कर सकते। वे तो अपनी सिद्धिके लिये ही भगवान्का आश्रय लिये हुए हैं। भगवान् कहते हैं—

निर्गुणं मां गुणगणा भजन्ते निरपेक्षकम्।

इस प्रकार गुणोंने यद्यपि अपनी सिद्धिके लिये ही भगवान्का आश्रय लिया है और भगवान्ने भी उनपर कृपा करके उन्हें स्वीकार कर लिया है तथापि इसका कोई अन्तरंग प्रयोजन भी होना ही चाहिये। वह प्रयोजन यही है कि जो लोग उन अचिन्त्य गुणगणविशिष्ट भगवान्की आराधना करेंगे उन्हें उन गुणोंकी प्राप्ति होगी।

इसीसे श्रीशुकदेवजीने इस लीलाके विघ्नोंकी निवृत्तिके लिये 'भगवान्' शब्दसे मंगलोंका भी मंगल किया है। इसके सिवा उन्होंने यह भी सोचा होगा कि यह लीला अत्यन्त दुरवगाह्य है, हम इसका अवगाहन करनेमें समर्थ नहीं हैं; परन्तु भगवान्का स्मरण करनेसे हम इस दुरव-गाह्यका भी अवगाहन कर सकेंगे। भगवत्स्मरणसे हमें भगवदैश्वर्यकी प्राप्ति होगी और उससे हमें इसके वर्णनका सामर्थ्य प्राप्त होगा तथा लोकमें यह भी देखा जाता है कि वक्ताकी रूक्षताके कारण एक अत्यन्त मधुर प्रसंग भी रूखा जान पड़ता है और वक्ताके माधुर्यसे ही किसी रूखी बातमें भी सरसता आ जाती है। इसीसे कहा है—'कवीनां रसवद्वचः।'

हम पहले कह चुके हैं कि भगवान् शुकदेवजीको स्वयं श्रीवृषभानुदुलारी और भगवान् श्यामसुन्दरने अपने अधर-सुधाका पान कराकर पढ़ाया था। उस युगलमूर्तिके अधरामृतपानसे उनकी वाणीमें कितना माधुर्य आ गया था—इसका कौन वर्णन कर सकता है? फिर भी इस प्रसंगको दुरवगाह्य समझकर उन्होंने भगवान्का स्मरण किया।

इस प्रकार 'भगवान्' शब्दसे यह तो मंगल और वक्ताका तात्पर्य-सूचन हुआ। परन्तु 'भगवान्' शब्दका

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

यह अर्थ तो ऐसा है जैसे किसी अन्य कार्यके लिये लाये हुए जलके घड़ेको देखकर उसे शुभ शकुनका सूचक मानकर देखनेवालेको आनन्द होता है। इसका मुख्य प्रयोजन तो दूसरा ही है। अब हम रासपञ्चाध्यायीके प्रथम श्लोककी व्याख्या आरम्भ करते हैं—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥१॥

सरलार्थ—उन रात्रियोंमें शरत्कालीन मल्लिकाको विकसित हुई देखकर भगवान्‌ने भी योगमायाका आश्रय ले रमण करनेके लिये मन किया।

विचार करनेपर मालूम होता है कि इस श्लोकका तात्पर्य विरोधद्योतनमें है। रमण करनेकी इच्छा तो अनाप्तकामोंको हुआ करती है। किन्तु जब कि भगवान्‌के चरणारविन्द-मकरन्दका रसास्वादन करनेवाले तत्त्वज्ञ भी आत्माराम हुआ करते हैं अर्थात् वे भी रमणके लिये आत्मातिरिक्त साधनकी अपेक्षा नहीं करते तो भगवान्‌को रमण करनेकी इच्छा होना तो किसी प्रकार सम्भव नहीं है। यदि भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा की तो अवश्य यह बहुत विरुद्ध बात है। रमणकर्ताकी भगवत्ता और भगवान्‌का रमण करना—दोनों ही सर्वथा अनुपपन्न हैं।

यदि कहो कि स्वरूपसे तो सभी जीव आप्तकाम हैं—वेदान्तसिद्धान्तानुसार तो जितना भोक्तृभोग्यवर्ग है सब ब्रह्म ही है। परन्तु जीव तो रमण करनेकी इच्छा करता ही है। परमात्मासे विमुख होनेके कारण इसका ऐश्वर्य तिरोहित हो रहा है, भगवदुन्मुख होनेपर उसका ऐश्वर्य अभिव्यक्त हो जाता है। ब्रह्मादि भी तो वस्तुतः जीव ही हैं।* अतः यदि भगवान्‌ने भी रमणकी इच्छा की तो क्या आश्चर्य है?—तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उनमें 'भग' है। उनमें समग्र ऐश्वर्य है, समग्र ज्ञान है, समग्र वैराग्य है और समग्र श्री है। जिनमें ऐश्वर्य एवं ज्ञानादिकी कमी होती है उन्हींमें वासना होनी सम्भव है। किन्तु जिसमें इनकी पूर्णता है उसमें किसी प्रकारकी वासना-का प्रादुर्भूत होना सम्भव नहीं मालूम होता। इसके सिवा 'भगवान्' का एक दूसरा लक्षण भी है—

उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥

अर्थात् जो जीवोंकी उत्पत्ति, नाश, आना, जाना तथा ज्ञान और अज्ञानको जानता है उसे 'भगवान्' ऐसा कहना चाहिये।

अतः जीव और भगवान्‌में तो बड़ा अन्तर है। इसी-से ऐसा माना गया है कि जीव ब्रह्म तो हो जाता है परन्तु भगवान्* नहीं हो सकता, क्योंकि स्वरूपतः निर्विशेष ब्रह्मसे तो उसका अभेद है ही किन्तु निरतिशय ऐश्वर्य तो केवल ईश्वरमें ही है, यह उसमें नहीं हो सकता। संसारमें दो ईश्वर नहीं हो सकते, अतः भगवान्‌ने रमण करनेकी इच्छा क्यों की यह प्रश्न तो खड़ा ही रहता है।

देखो, एक ही पदार्थके लिये पंकज, जलज, अरविन्द एवं कमल आदि कई शब्दोंका प्रयोग होता है। उसके ये नाम गुणविशेषोंकी अपेक्षासे हैं। जैसे तापापनोदक-रूपसे उसे 'जलज' कहेंगे तथा उद्भवस्थानसे वैलक्षण्य प्रदर्शित करना होगा तो पंकज कहेंगे। इसी प्रकार अन्य शब्दोंके प्रयोगके विषयमें समझो। यही बात भ्रमर, मधुप, मधुकर, अलि एवं षट्पद आदि शब्दोंके विषयमें भी कही जा सकती है। ये भी यद्यपि एक ही व्यक्तिके वाचक हैं तथापि 'भ्रमर' शब्दसे उसकी अस्थिरताका द्योतन होता है और 'मधुप' शब्दसे मिष्टप्रियताका। इसी तरह यद्यपि भगवान् ब्रह्म एवं परमात्मा स्वरूपतः तो एक ही हैं, परन्तु इन शब्दोंसे उसके विशेष-विशेष पक्षोंका द्योतन होता है। यहाँ 'भगवान्' शब्द अवश्य रमणके साथ विरोध प्रदर्शनके लिये ही है।

'भगवानपि रन्तुं मनश्चक्रे'—भगवान्‌ने भी रमण करनेके लिये मन किया—यह बात उनके औत्सुक्यातिशय-का द्योतन करती है। अर्थात् भगवान्‌को रमण करनेकी

* नियन्ता और अभिमानी भेदसे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रके दो-दो रूप हैं। नियन्ता तो एक ही है। जिस प्रकार खेती बोनेवाला, सींचनेवाला और काटनेवाला किसान एक ही होता है उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्‌की रचना, पालन और संहार करनेवाले भी एक ही भगवान् हैं, वे ही इन भिन्न-भिन्न कार्योंकी अपेक्षासे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र कहे जाते हैं। इनके सिवा भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्डोंमें उनकी उत्पत्ति आदि करनेवाले देवकोटिके अन्तर्गत भिन्न त्रिदेव भी हैं। वे कार्य ब्रह्म हैं।

* यहाँ 'भगवान्' शब्द परम ऐश्वर्यशाली परमेश्वरका बोधक है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ऐसी उत्सुकता हुई कि उन्होंने मन बना डाला; वस्तुतः तो वे 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' ही थे।

किन्तु रमण तो बिना मनके हो ही नहीं सकता। भगवान्‌का रमण क्या था? यही न कि, अपने सौन्दर्य-माधुर्यको गोपांगनाओंकी इन्द्रियोंसे उपभोग कराना और गोपांगनाओंके सौन्दर्य-माधुर्यातिशयको अपनी इन्द्रियोंसे भोगना। परन्तु यदि भगवान् सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेदसे रहित हों तो यह भोग कैसे बन सकता है? उसका मुख्य साधन तो मन है। इसीसे गोपांगनाओंके सौन्दर्य-माधुर्यादि गुणोंका समास्वादन करनेके लिये भगवान्‌ने मन बनाया।

यदि कहो कि उन्होंने भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही मन बनाया था तो यह ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ 'चक्रे' इस क्रियामें आत्मनेपद है। आत्मनेपद वहीं हुआ करता है जहाँ क्रियाका फल अपने लिये होता है। जहाँ क्रियाफल दूसरेके लिये होता है वहाँ परस्मैपद हुआ करता है। इसलिये यदि भगवान्‌का यह कर्म भक्तोंके लिये होता तो यहाँ 'चक्रे' के स्थानमें 'चकार' होता।

परन्तु भगवान्‌को रमणकी उत्सुकता होना तो सर्वथा असम्भव है। क्योंकि 'भगवान्' तो कहते ही उसे हैं जिसमें ऐश्वर्य, ज्ञान एवं वैराग्यादिकी निरतिशयता हो। इस प्रकार जिसमें नित्य और निरतिशय ऐश्वर्यादि हैं और जो अपने नित्यस्वरूपमें सर्वथा तृप्त है उसे ऐसी रमणेच्छा होनी तो अनुपपन्न ही है। तथा इस अनुपपत्तिको सूचित करनेके लिये ही यहाँ 'अपि' शब्द दिया है। अर्थात् यद्यपि ऐसा करना था तो अयुक्त ही परन्तु ऐसा हो ही गया। इसका अनौचित्य हम भी स्वीकार करते हैं। यह गोपांगनाओंके सौभाग्यातिशयकी ही महिमा है।

यदि कहो कि इसका हेतु क्या है तो हमारा यही कथन है कि हेतु कुछ भी नहीं है। यह देखा ही जाता है कि आत्माराम मुनिजन भी भगवान्‌की माधुरीपर आकर्षित हो जाया करते हैं। वास्तवमें तो उन्हें भी कोई कर्त्तव्य नहीं हुआ करता।

ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कृतकृत्यस्य योगिनः।
नैवास्ति किञ्चित्कर्त्तव्यमस्ति चेन्न स तत्त्ववित्॥

तथापि वे भगवच्चर्चामें लगे ही रहते हैं। उन्हें स्वयं भी इस बातका पता नहीं लगता कि हमारा चित्त उसमें क्यों आसक्त है। बहुत हुआ तो कह देंगे—इत्थंभूतगुणो हरिः'—भाई, भगवान् हैं ही ऐसे गुणवाले। किन्तु युक्तियुक्त विचारसे तो यही सिद्ध होता है कि आत्मारामको किसी भी गुणसे आकर्षित नहीं होना चाहिये। यदि कहो कि वे इसलिये भजन-ध्यानमें लगे रहते होंगे जिससे कोई ग्रन्थि न रह जाय तो ऐसा कहना भी उचित नहीं, क्योंकि वे निर्ग्रन्थ होते हैं। 'निर्ग्रन्था अपि'। यद्यपि लोकमें ऐसा देखा जाता है कि बिना प्रयोजनके कोई भी प्रवृत्ति नहीं होती, तथापि इनका कोई प्रयोजन भी नहीं होता। वस्तुतः भगवान्‌में यह गुण ही है। जिस प्रकार लोहेको आकर्षित करनेका अयस्कान्तमणिका स्वभाव है उसी प्रकार भगवान् भी आत्मारामोंके चित्तोंको अपनी ओर खींच लिया करते हैं। अयस्कान्तमणि यद्यपि सभी प्रकारके लोहेको खींच लेता है तथापि जो लोहा जितना निर्दोष होता है उतना शीघ्र आकृष्ट होता है। इसी प्रकार भगवान् भी तत्त्ववेत्ताओंके निर्मल चित्तोंको अधिक आकर्षित करते हैं। यह भगवान्‌के सौन्दर्य-माधुर्यका महत्त्वातिशय है।

इसी प्रकार यद्यपि भगवान् आप्तकाम हैं, पूर्ण हैं, निरतिशय हैं; तथापि यह गोपांगनाओंका प्रेमातिशय ही था कि जिसने भगवान्‌को भी आकर्षित कर लिया, इससे भगवान्‌के माधुर्य एवं सौन्दर्यातिशयकी अपेक्षा भी व्रजांगनाओंके प्रेमातिशयकी उत्कृष्टता सिद्ध होती है। सनकादि और शुकादि भी आत्मरत थे और भगवान् भी आत्मरत हैं; परन्तु भगवान्‌की आत्मरतिमें और उनकी आत्मरतिमें अन्तर है। क्योंकि समग्र ज्ञान, समग्र वैराग्य और समग्र ऐश्वर्य तो एकमात्र भगवान्‌में ही है और किसीमें नहीं है तथापि भगवान्‌ने तो अपने सौन्दर्यातिशयसे असमग्र ज्ञान-वैराग्यपूर्ण सनकादिको ही मोहित किया परन्तु गोपांगनाओंने अपने प्रेमातिशयसे समग्रज्ञान-वैराग्य-सम्पन्न भगवान्‌को भी मोहित कर लिया। इसीसे यहाँ 'अपि' शब्दका प्रयोग किया गया है।

अब 'चक्रे' में आत्मनेपद और अपि तथा भगवान् पदका स्वारस्य प्रदर्शित करनेके लिये ही 'ताः रात्रीः वीक्ष्य' ऐसा कहा गया है। 'तद्' पद प्रायः प्रसिद्ध अर्थका द्योतक हुआ करता है। यहाँ 'ताः' ऐसा विशेषण देनेसे मालूम होता है कि वे रात्रियाँ कोई विलक्षण ही थीं। ये वे रात्रियाँ थीं जिन्हें गोपांगनाओंने 'मयेमाः रंस्यथः क्षपाः' इस वरदानसे प्राप्त किया था जिन्हें उन्होंने व्रताचरण-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

द्वारा कात्यायनी देवीको प्रसन्न करके और फिर उनकी कृपासे श्रीकृष्णचन्द्रकी प्रसन्नता प्राप्त करके उनसे वरदान-रूपमें प्राप्त किया था। इस प्रकार भगवान् और कात्यायनी देवी इन दोनोंकी प्रसन्नतासे प्राप्त हुई वे रात्रियाँ अवश्य कुछ विलक्षण ही होनी चाहिये थीं।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि भगवान्‌की यह लीला कामवश नहीं थी, क्योंकि यदि भगवान् कामुक होते तो इतने दिन पीछेकी रात्रियोंका निर्देश क्यों करते? कामुकों-को तो एक-एक क्षण युगके समान बीता करता है, वे तो दैवकृत कालव्यवधानको भी सहन करनेमें असमर्थ होते हैं फिर स्वयं अपनी इच्छासे ही एक वर्षकी अवधि बढ़ाना तो उनके लिये सम्भव ही कैसे हो सकता है?

किन्तु भगवान्‌ने ऐसा किया क्यों? इसका उत्तर यही है कि उनका यह अवधिनिर्देश व्रजांगनाओंकी निष्ठाके परिपाकके लिये था। अभीतक तो उन्हें भगवान्‌की प्राप्ति ही बहुत दुर्लभ जान पड़ती थी, क्योंकि यदि वे भगवान्‌को सुलभ समझतीं तो कात्यायनीपूजन और व्रतादि तपस्या-का कष्ट क्यों सहन करतीं। तपस्या तो सर्वदा दुर्लभ वस्तुके लिये ही की जाती है और जो वस्तु दुर्लभ होती है उसके प्रति विशेष प्रेम नहीं हुआ करता। देखो, साधारण मनुष्योंको मोक्ष और साम्राज्यादिकी प्राप्तिके लिये भी इतनी इच्छा नहीं होती जितनी दस-बीस रुपये और स्त्री-रमणादि प्राकृत भोगोंकी हुआ करती है, क्योंकि वे तो उन्हें अपनी सामर्थ्यसे बाहर जान पड़ती हैं। जिस वस्तुके मिलनेकी सम्भावना नहीं होती उसके लिये उत्कट इच्छा भी नहीं हुआ करती। अतः जबतक उन्हें भगवान् दुर्लभ प्रतीत होते थे तबतक उनके प्रति उनका उत्कट प्रेम नहीं था। और भगवत्प्राप्तिका साधन एकमात्र उत्कट प्रेम ही है। अब, जब भगवान्‌ने प्रकट होकर उन्हें वरदान दिया तो उनको भगवद्दर्शनकी योग्यता तो प्राप्त हो गयी थी परन्तु रमणकी योग्यता नहीं थी। रमणकी योग्यता तो तभी होगी जब भगवान्‌को सुलभ समझकर उनके प्रति उत्कट प्रेम हो। अतः भगवान्‌ने उन्हें वही साधन दिया जिससे कि वे उन्हें सुलभ समझने लगें। भगवान्‌के वर देनेसे उन्हें उनकी सुलभता अनुभव होने लगी और उन्हें विश्वास हो गया कि अब तो भगवान् अवश्य रमण करेंगे। जब किसी इष्ट वस्तुकी प्राप्तिकी सम्भावना हो जाती है तो उसकी प्रतीक्षा असह्य हो जाया करती है। अतः भगवान्‌के इस वरदानसे उनका प्रेम इतना उत्कट हो गया जितना कि अबतक कभी न हुआ था। इसीलिये भगवान्‌ने एक वर्षका व्यवधान रक्खा था।

इसका एक और भी कारण है। यह सिद्धान्त है कि प्राकृत गुणमय शरीर भगवान्‌के साथ रमण करनेकी योग्यता नहीं रखता। इसके लिये अप्राकृत रसमय शरीर होना चाहिये। किन्तु इसकी प्राप्ति कैसे होती है? उसका प्रकार यह है। जिस दिनसे प्राणी करुणासिन्धु श्रीभगवान्‌की कृपाका अनुसंधान करता है उसी दिनसे उसका अप्राकृत रसमय शरीर बनना आरम्भ हो जाता है। इसे स्पष्टतया समझनेके लिये एक बातपर ध्यान देना चाहिये। लोकमें यह देखा जाता है कि ग्राह्य-ग्राहक भावोंमें साजात्य रहा करता है। तैजस नेत्रसे तैजस रूपका ज्ञान होता है तथा आकाशीय श्रोत्रसे ही आकाशीय शब्दका ज्ञान होता है। मन पाँचों भूतोंके सात्त्विक अंशका कार्य है इसीलिये उससे पाँचों भूतोंके गुणोंका ग्रहण हो सकता है। इसी प्रकार यहाँ भी देखना चाहिये। भगवान् प्राकृत हैं या अप्राकृत? वे तो सत्यज्ञानानन्तानन्दमूर्ति ही हैं।

सत्यज्ञानानन्तमानन्दमात्रैकरसमूर्तयः।
अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम्॥

उनके महान् माहात्म्यको समझनेमें तो वेदान्तविद् भी असमर्थ हैं। उनमें प्राकृत भावका लेश भी नहीं है। दीपकलिका क्या है? वह शुद्ध अग्निमात्र ही तो है। जिस प्रकार बत्ती और तैलको निमित्त बनाकर अग्नि ही दाहकत्व-प्रकाशकत्वरूपमें परिणत हुआ करता है उसी प्रकार परमान्तरङ्ग अचिन्त्य-दिव्यातिदिव्य लीलाशक्तिको ही निमित्त बनाकर वह शुद्ध परमानन्दघन परब्रह्म ही भगवान् कृष्णरूपमें प्रकट होता है।

जिस समय भगवान् ऊखलमें बँध गये थे उस समय ऐसा कहा गया है—'बबन्ध प्राकृतं यथा' यहाँ 'प्राकृतं यथा' इस उक्तिका क्या तात्पर्य है। इसका यही रहस्य है कि भगवान् प्राकृतभिन्न हैं। गीतामें भगवान्‌ने कहा है—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन॥

इस प्रकार जब स्वयं भगवान् ही कह रहे हैं कि जो पुरुष यह जानता है कि मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं वह पुनर्जन्मको प्राप्त नहीं होता तो भगवान्‌की अप्राकृतताके

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

विषयमें किसी सन्देहका अवकाश ही कहाँ है ? वामन-पुराणका वचन है—

सर्वे देहा शाश्वताश्च नित्यास्तस्य महात्मनः ।
हानोपादानरहिता नैव प्रकृतिजाः क्वचित् ॥

इसी प्रकारकी और भी बहुत-सी उक्तियोंसे सिद्ध होता है कि भगवान्‌का दिव्यमङ्गलविग्रह अप्राकृत ही है। जो लोग युक्तिवादसे उसे अनित्य या भौतिक सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं उन्हींसे श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती कहते हैं—'ये तु भगवतो विग्रहं लक्ष्यीकृत्य युक्तिशरानादित्सवस्ते घोरे नरके निपतिष्यन्ति अलं तैः सहालापेन ।' अर्थात् जो लोग भगवान्‌की दिव्यमंगलमयी मूर्तिको लक्ष्य करके युक्तिरूप बाणोंको ग्रहण करना चाहते हैं वे घोर नरकमें गिरेंगे, उनके साथ बात करनेकी भी आवश्यकता नहीं है।

ऐसा क्यों है ? जिस प्रकार 'परदारान्नाभिगच्छेत्' इत्यादि निषेधवाक्योंका अतिलङ्घन करनेसे जीव नरकगामी होता है उसी प्रकार भगवदीय रहस्यके विषयमें कुछ भी वाद-विवाद करनेवाले पुरुषको अवश्य उसका दुष्परिणाम भोगना पड़ता है क्योंकि भगवान्‌की गति अचिन्त्य है और अचिन्त्य विषयोंके सम्बन्धमें तर्क करना सर्वथा निन्दनीय है—'अचिन्त्याः खलु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत् ।' अतः भगवद्विग्रहके अप्राकृतत्वके विषयमें किसी प्रकारकी शंका न करनी चाहिये । उसमें, उसका अनित्यत्व सिद्ध करने-वाले, सावयवत्वादि हेतुओंका अभाव है, क्योंकि वह प्राकृतत्व आदि दोषोंसे रहित है ।

इस क्रमसे देखें तो भगवान् अप्राकृत होनेके कारण नित्य हैं । यदि कहो कि भगवद्विग्रहको अप्राकृत और नित्य माननेपर तो अद्वैतवाद भी सिद्ध न हो सकेगा, तो ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि प्रकृतिकी सत्ता वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार नहीं बल्कि सांख्यमतसम्मत है । वेदान्तियोंने तो 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इत्यादि सूत्रोंसे उसका खण्डन किया है ।

यहाँ सांख्यवादी यह आपत्ति करता है कि 'सत्त्वा-ज्जायते ज्ञानम्' इस उक्तिके अनुसार जब कि चेतनको भी सत्त्वगुणके संसर्गसे ही ज्ञान होता है तो सत्त्वगुणवाली प्रकृतिको भी हो ही सकता है; अतः 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' इस सूत्रके अनुसार भी वही जगत्‌का उपादान कारण होनी चाहिये । यदि कहो कि सत्त्वकी अपेक्षासे रहित चेतनमें ही ज्ञान (ईक्षण) होता है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि यहाँ यह प्रश्न होता है कि चेतनमें नित्य ज्ञान है या अनित्य ? यदि नित्य कहें तब तो पुरुषकी स्वतन्त्रताका व्याघात होगा । कारण, नित्य वस्तुका कर्ताके अधीन होना असम्भव है और तुम्हारे कथनानुसार ज्ञान चेतन पुरुषके अधीन ठहरता है; इसके विपरीत यदि उसमें अनित्य ज्ञान माना जाय तो वह सहेतुक ही होना चाहिये । ऐसी अवस्थामें हेतुके सम्बन्धमें भी ऐसा विकल्प होगा कि वह नित्य है या अनित्य । यदि हेतु नित्य है तो उससे नित्य ज्ञान होना चाहिये और यदि अनित्य है तो उसका भी कोई अन्य हेतु होना चाहिये, इससे अनवस्था दोष उपस्थित होगा ।

इन सब आपत्तियोंका वेदान्ती इस प्रकार उत्तर देते हैं । प्रकृतिमें ज्ञान (ईक्षण) नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें जिस प्रकार ज्ञानका हेतु सत्त्वगुण है उसी प्रकार उसका निरोध करनेवाला तमोगुण भी है । अतः केवल चेतनमें ही ईक्षण हो सकता है, क्योंकि वह ज्ञानस्वरूप है । इस प्रकार यद्यपि उसमें नित्यज्ञान ही सिद्ध होता है तथापि आगन्तुक विषयके संसर्गसे उसका आगन्तुक होना भी सम्भव है ही जैसे नित्य प्रकाशस्वरूप सूर्यमें आगन्तुक प्रकाश्यके संसर्गसे सूर्य प्रकाशित करता है, इस प्रकार आगन्तुक प्रकाशनका व्यपदेश होता है । यहाँ जो प्रकाश्य है वह अनादि और अनिर्वाच्य तत्त्व है । सांख्यवादीकी गुणमयी प्रकृति भी उसीके अन्तर्गत है । परन्तु भगवच्छक्ति परम दिव्य और शुद्ध है तथा मूला प्रकृति त्रिगुणमयी एवं जड है । देखो एक वृक्षके बीजमें कितनी शक्तियाँ रहती हैं ? उसमें अति कठोर कण्टकजननकी भी शक्ति है और अत्यन्त मनोज्ञ सौन्दर्य-माधुर्यमय पुष्प उत्पन्न करनेकी भी । इन दोनों प्रकारकी शक्तियोंमें कोई विलक्षणता है या नहीं ? जिस प्रकार इन दोनों शक्तियोंमें महान् अन्तर है उसी प्रकार सुखदुःख-मोहात्मक जगत्‌की उत्पत्ति करनेवाली गुणमयी शक्ति और अति अलौकिक दिव्यमंगलविग्रहको उत्पन्न करने-वाली लीलाशक्तिमें भी बहुत बड़ा अन्तर है । यदि उनमें अन्तर नहीं था तो जिन सनकादिको प्रपञ्चकी कारणभूता कोई भी शक्ति मोहित नहीं कर सकती थी उन्हें भगवान्‌के चरणकमलोंसे लगी हुई तुलसीकी दिव्य गन्धने क्यों मोहित कर दिया ? अतः सिद्ध यह हुआ कि दिव्य भगवद्विग्रहको प्रकट करनेवाली लीलाशक्ति परा है और जगदुत्पादिनी गुणमयी शक्ति अपरा है । (क्रमशः)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीजटायुजीकी भक्ति

(लेखक—श्रीजयरामदासजी 'दीन' रामायणी)

श्रीतुलसीकृत रामचरितमानसके वनकाण्डान्तर्गत श्रीसीतान्वेषण-प्रसंगमें गीधराज श्रीजटायुका मिलना इस प्रकार वर्णित है—

पूरनकाम राम सुखरासी। मनुज चरित कर अज अबिनासी॥
आगे परा गीधपति देखा। सुमिरत राम चरन जिन्ह रेखा॥

कर सरोज सिर परसेउ, कृपासिंधु रघुबीर।
निरखि राम छबिधाम मुख, बिगत भई सब पीर॥

आप्तकाम सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीरघुनाथजी मनुष्य-लीलाकी मर्यादामें श्रीसीताजीको खोजते हुए पञ्चवटी-से दक्षिणके वनोंमें प्रवेश करते चले जा रहे थे कि उन्होंने आगे श्रीजटायुजीको पंख कटी हुई अवस्थामें पृथ्वीपर पड़े हुए और निज-(राम) चरणोंकी रेखाओं (अड़तालिसों चिह्नों) को स्मरण करते हुए देखा। देखते ही कृपाके समुद्र दयावीर श्रीरघुवीरने अपने करकमलोंको गीधराजजीके सौभाग्यशाली सिर-पर फेर दिया। बस, श्रीकर-कमलोंका स्पर्श होते ही और श्रीरामजीके छबिधाम मनोजमनहर मुखारविन्दका दर्शन मिलते ही श्रीजटायुजीकी सारी व्यथा मिट गयी!

श्रीरामचरितमानसमें यों तो श्रीरघुनाथजीके चरणाश्रित बहुत-से भक्तोंका उल्लेख मिलता है, परन्तु चरणों-की रेखाका स्मरण (ध्यान) केवल जटायुजीके ही सम्बन्धमें दिया गया है। प्रमाणके लिये मानसप्रेमी-जन सातों काण्ड (समग्र ग्रन्थ) विचारकर देख लें। अतः इस रहस्यकी खोज आवश्यक हुई कि गीधराज-जीको रेखाओंके ध्यानका संस्कार किस सद्गुरुके द्वारा और कब प्राप्त हुआ था—जिसको वे इस मरणा-सन्न अवस्थामें भी पड़े-पड़े स्मरण कर रहे थे? इसके अलावा वह संस्कारकर्ता सद्गुरु भी ऐसा ही सिद्ध होना चाहिये, जो श्रीरामजीके चरणोंकी रेखाओंको ही इष्ट और अवलम्ब मानकर स्वयं भी उनका ध्यान-निष्ठ रहा हो!

श्रीसीता-हरण-प्रसंगका विचार करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि श्रीसीता-अम्बाजीके इष्ट उनके उस वियोगकालमें श्रीरघुनाथजीके चरण-चिह्न ही थे क्योंकि अशोकवाटिकामें आपके ध्यानके सम्बन्धमें निम्नांकित दोहे ग्रन्थमें मौजूद हैं—

जेहि बिधि कपट कुरंग सँग, धाइ चले श्रीराम।
सो छबि सीता राखि उर, रटति रहति हरिनाम॥
निजपद नयन दिये मन, रामचरन महँ लीन।
परम दुखी भा पवनसुत, देखि जानकी दीन॥

अर्थात् जिस प्रकार कपट-मृगके पीछे श्रीरघुनाथ-जी 'धाइ' (दौड़कर) चले, 'सो छबि' (उसी छबिको) श्रीसीताजीने हृदयमें धारण किया। वह छबि क्या थी? वह श्रीरामजीके चरण-तलवोंकी रेखाओंका साक्षात्कार था। क्योंकि जब श्रीरामजी मृगके पीछे-पीछे कुटियासे 'धाइ' (दौड़कर) चले तब तो सरकारका मुख मारीचकी ओर और पृष्ठ-भाग कुटिया अथवा श्रीसीताजीकी ओर था। यहाँपर यदि 'सो छबि' का अर्थ मुखारविन्दका ध्यान किया जाय, तो वह तो उस 'धाइ' चलनेके समय श्रीजानकी-जीके सामने ही नहीं था। इधर तो पृष्ठका ही दर्शन हो रहा था। हाँ, प्रभुके पदकमल ज्यों-ज्यों ऊपर उठते थे, त्यों-त्यों पीछेकी ओरसे उनके तलवोंकी छबि भलीभाँति दिखायी देती थी—जिसमें अड़तालीस*

* ध्यानप्रेमियोंके आनन्दार्थ श्रीरामपदाम्बुजकी अड़तालिसों रेखाओंका पूर्वाल्वारोंद्वारा रचित श्लोकपद्धक तथा अपने ध्यान और स्मरणार्थ टूटीफूटी भाषामें जोड़ी हुई तुकबंदियोंमें लिख रहा हूँ—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अनुपम शुभ रेखाएँ (चौबीस दायें और चौबीस बायेंमें) विराजमान थीं। उसी चरण-रेख-छबिको, जिसका वियोग होनेके अन्तिम समयमें सामना और लक्ष्य करनेका संयोग मिला था, श्रीसीताजी अपने 'उर' में दृढ़रूपसे धारण करके रामनामका रटन कर रही थीं—

सो छबि सीता राखि उर रटति रहति हरिनाम ॥

इसी अर्थकी पुष्टि उपर्युक्त दूसरे दोहेके इस प्रथम चरणसे भी हो रही है—'निजपद नयन दिये मन रामचरन महँ लीन।' अर्थात् श्रीसीताजीकी आँखें योगदृष्टिकी भाँति नीचे उनके पगोंकी ही ओर लगी थीं ('दिशश्चानवलोकयन्'—गीता) और 'मन' श्रीरामजीके चरणोंमें लीन था। तात्पर्य यह कि उन सम्पूर्ण चरणचिह्नोंको जिनका कि मृगके पीछे दौड़ते समय तलवोंके उठनेसे साक्षात्कार हुआ था; हृदयसे स्मरण कर रही थीं।

टिप्पणीमें दिये गये श्लोकपञ्चकके पाँचवें श्लोकद्वारा इस बातका स्पष्ट प्रमाण मिल रहा है कि जो

श्रारामदक्षिणपदस्थमथोर्ध्वरेखास्वस्त्यष्टकोणकमलाहलमूसलं च ।
शेषं शराम्बरसरोजरथं च वज्रं ध्यायेद्यवं सुरतरुं जनकामपूरम् ॥ १ ॥
भूयोऽङ्कुशध्वजकिरीटयुतं सचक्रं सिंहासनं च ललितं यमदण्डचिह्नम् ।
छत्रं च चामर नरं जयमालमेतत् वेदाक्षिसौख्यमनिशं मनसा स्मरामि ॥ २ ॥
वामे पदे स्थितमहं सरयूसुतीर्थं, गोपादभूमिघटशोभितमुत्पताकम् ।
जम्बूफलार्धशशिशंखषडस्त्रयुक्तं त्रैकोणकं च गदया सह जीवमीडे ॥ ३ ॥
विन्दुं च ऊर्ध्वऽमृतकुण्डबलित्रयं च मीनं सपूर्णशशिवीणमहं भजामि ।
वंशीशरासनयुतं युधि राजहंसं सीतापतेः श्रुतिनुतं च सचन्द्रिकं च ॥ ४ ॥
सीताङ्घ्रिपङ्कजमिदं हि विपर्ययेन वामेतरं च सुधियः परिभावयन्ति ।
चिह्नानि चाष्टजलधिप्रमितानि नित्यं ध्यायेज्जनो रघुपतेर्लभते सुधाम ॥ ५ ॥
यः श्लोकपञ्चकमिदं मनुजः पठेत ध्यात्वा हृदि प्रतिदिनं रघुनन्दनाङ्घ्रिम् ।
हित्वा बहूनि दुरितानि पुरार्जितानि प्राप्नोत्यभीष्टधनधर्ममथापवर्गम् ॥ ६ ॥

पुरुष माल अरु छत्रशुभ, सिंहासन यमदण्ड ।
चवर, चक्र, अंकुश मुकुट, सुरतरु केतुप्रचण्ड ॥१॥
स्वस्तिचिह्न अठकोण श्री, शर हल मूसल शेष ।
पटुक पदुम रथ वज्र जौ, ऊर्ध दाहिने रेष ॥२॥
हंस चन्द्रिका त्रोण धनु, बंशी बीन निशेष ।
मीन त्रिबलि पीयूषह्रद, गोखुर महि कलशेष ॥३॥
ध्वजा जम्बुफल शशिकला, दर षटकोण त्रिकोण ।
गदा जीव सरयूसरित, ऊर्ध विन्दु सुठि लोन ॥४॥
भूषित अड़तालीस वर, चिह्न युगलपद ध्यान ।
गीधराज अन्तिम समय, किये जिन्हें जलयान ॥५॥
सोई दृढ़ विश्वास हिय, धरेउ 'दास जयराम' ।
कबहुँ कृपा करि ढरैंगे, ढरनि आपनी राम ॥६॥

पदाम्बुज रामजीमें रेख अड़तालिस बिराजे हैं।

पुरुष माला छत्र यमदण्ड सिंहासन चँवर वो चक्र ।
मुकुट अंकुश पताका कल्पवृक्ष वो स्वस्ति साजे हैं ॥१॥
अष्टकोण वो स्वयंश्री वाण हल मूसल सर्प अम्बर ।
पदुम रथ वज्र जव वो ऊर्ध दाँये पदमें भ्राजे हैं ॥२॥
चन्द्रिका हंस भाथा धनुष वंशी बीन पूरणचन्द्र ।
मीन त्रिबली सुधाके कुण्ड गोखुर भूमि राजे हैं ॥३॥
कलश ध्वज जम्बुफल अर्धेन्दु दर षटकोण तिरकोना ।
गदा जीव बिन्दु श्रीसरयू ऊर्ध बाँयेमें छाजे हैं ॥४॥
दास जयराम निसिबासर है इन चिह्नोंके शरणागत ।
प्रणतपालक बिरद जिनके सकल श्रुतियोंमें गाजे हैं ॥५॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चौबीस चिह्न श्रीरामजीके दायें पगतलमें थे वे ही श्रीसीताजीके बायें और जो चौबीस चिह्न श्रीरामजीके बायें पगतलमें थे, वे ही श्रीसीताजीके दायें पगतलमें विराजमान थे। अतएव उन्हीं अड़तालीसों चिह्नोंको श्रीसीताजी अपने चरणोंमें ठीक-ठीक देख रही थीं और फिर उन्हीं चिह्नोंका श्रीरामजीके चरणोंमें ध्यान करके मनसे उनका स्मरण कर रही थीं। इसीसे दोहेमें 'निजपद नयन दिये मन, रामचरन महँ लीन' लाया गया है। 'निजपद' पर 'नयन' देनेसे उन चिह्नोंके रूपका दर्शन हो रहा था इससे 'कायिक भक्ति', 'मन' रामचरण-चिह्नोंमें लीन हो रहा था—इससे 'मानसिक भक्ति' तथा 'वचन' राम-नामकी रटनमें लगा हुआ था—इससे 'वाचिक भक्ति' सिद्ध होनेके साथ-साथ मन, कर्म और वचन तीनों श्रीप्रभुमें ही लग रहे थे, जैसा कि स्वयं श्रीसीताजीने भी हनुमान्‌जीसे कहा था—

मन क्रम बचन चरन अनुरागी।
केहि अपराध नाथ हौं त्यागी॥

इसी सम्बन्धमें श्रीमुखवचन भी है—

बचन काय मन मम गति जाही।
सपनेहु बिपति कि बूझिय ताही॥

श्रीअम्बाजीके सच्चे सेवक श्रीजटायुजीकी भी ठीक वही स्थिति हो रही थी। सेवामें शरीर अर्पण करके पंख कटी हुई अवस्थामें पड़े हुए थे—(कायिक भक्ति), मनसे श्रीरामचरण-रेखाका स्मरण कर रहे थे—(मानसिक भक्ति), और वाणीसे श्रीरामनामका रटन हो रहा था—(वाचिक भक्ति)। इस प्रकार इनके भी मन, वचन और शरीर तीनों ही श्रीरामजीमें लगे थे।

रटनि अकनि पहिचानि गीध फिरे, करुनामय रघुराई।
'तुलसी' रामहि प्रिया बिसरि गई सुमिरि सनेह सगाई॥
(गीतावली)

तात्पर्य यह कि श्रीसीताजी जिस तरह रामनामका रटन (विलाप) करती हुई जा रही थीं ('बिलपति अति कुररीकी नाईं' तथा 'राम राम हा राम पुकारी'), उसी नामरटको गीधराजने भी अपना गुरुमन्त्र बना लिया। यह भी उसी महामन्त्रको जप रहे थे। साथ ही श्रीरामजीकी चरण-रेखाओंका ध्यान जिस प्रकार श्रीअम्बाजीको हो रहा था, उसी प्रकार गीधराजजीके हृदयमें भी हो रहा था—'सुमिरत रामचरन जिन्ह रेखा॥'

वास्तवमें निष्ठावान् शिष्य-सेवकोंके शुद्ध हृदयमें सद्‌गुरुओं और कृपालु स्वामियोंकी दयाके प्रभावसे ऐसे ही अनुपम प्रदान होनेका प्रमाण नियमितरूपसे देखा जाता है। देखिये—शृंगबेरपुरमें श्रीरामजीके प्रथम दिनके 'महि-सयन-समय' में ('बोले लषन मधुर मृदुबानी' से 'सिय रघुबीर चरन रति होऊ' तक) उपदेश पानेसे श्रीलषनलालजी और निषादराज दोनोंकी अवस्था एक-सी हो गयी। दोनों ही हृदयोंकी एक धारणा, दोनोंहीके वाक्यादि और स्वभावोंकी एक दशा और दोनोंहीके कार्यादि प्रभावोंकी एक स्थिति देखी जाती है। अर्थात् जिस प्रकार श्रीलषनलालजीको भरतजीके सैन्य साजकर लड़ने आनेका सन्देह हुआ था—

जो जिय होति न कपट कुचाली।
केहि सोहात रथ बाजि गजाली॥

ठीक उसी प्रकार उनके शिष्य निषादराजका भी अनुमान था—

जो पै जिय न होति कुटिलाई। तौ कत लीन्ह संग कटकाई।

फिर जिस तरह श्रीलषनलालजी समरके लिये तैयार हुए—

बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा। साजि सरासन सायक हाथा।
आजु राम सेवक जस लेऊँ। भरतहि समर सिखावन देऊँ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ठीक उसी तरह निषादराजने भी अपने सह-योगियोंको सावधान किया—

एहु सँजोइल रोकहु घाटा। ठाटहु सकल मरइ कर ठाटा॥
सुसुख लोह भरत सन लेहूँ। जिअत न सुरसरि उतरन देहूँ॥

मन और वचनकी ऐसी एकता थी और कायकी भी यह दशा थी कि जो अवधवासी श्रीनिषादराजसे मिल रहे थे, उन्हें ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो हम लक्ष्मणलालजीसे ही मिल रहे हैं। यथा—

भरत दंडवत देखि तेहि, भरत लीन्ह उर लाय।
मनहुँ लषन सन भेंट भइ, प्रेम न हृदय समाय॥

माताएँ—

देखि लषन सम देहि असीसा। जियहु सुखी सय लाख बरीसा॥

पुरवासी लोग—

देखि निषाद नगर नर नारी। होहिं सुखी जनु लषन निहारी॥

इस प्रकार गुरु और शिष्य दोनों ही मन, वचन और शरीरमें तदाकार पाये जाते हैं। सच्ची लगन और निष्कपट सेवाका फल भी यही है। अतः खगराज श्रीजटायुजीको भी उनकी निःस्वार्थ और निष्कपट सेवाके प्रतापसे जो श्रीसीता स्वामिनीकी अनुकूलता प्राप्त थी, उसके कारण इन्हें भी चरण-सेवका ध्यान प्राप्त हुआ था—जो उन्हींके प्रति कहते हुए स्वयं श्रीमुखवचनोंद्वारा प्रमाणित हो रहे हैं—

मन क्रम बचन नयन कहत रघुराई। तात करम निजते गति पाई॥
परहित बस जिनके मनमाहीं। तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥
तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम पूरन कामा॥

आदि।

यहाँपर एक बात यह जान लेनेकी है कि गोस्वामीजीने गीधराजजीके सम्बन्धमें रावणसे तीन भिन्न-भिन्न समयके प्रसंगमें तीन बार 'धावा' शब्दका प्रयोग किया है और तीनोंके साथ 'क्रोध' का भिन्न-भिन्न रूपमें सम्बन्ध है। जैसे—

(१) गीधराज सुनि आरत बानी।
रघुकुल तिलक नारि पहिचानी॥
× × × ×
धावा क्रोधवंत खग कैसे।
छूटै पबि परबतपर जैसे॥

(२) जाना जरठ जटायू एहा। मम कर तीरथ छाँडिहि देहा॥
सुनत गीध क्रोधातुर धावा। कह सुनु रावन मोर सिखावा

(३) राम रोष पावक अति घोरा। होइहि सकल सलभ कुल तोरा
उतर न देत दसानन जोधा। तबहिं गीध धावा करि क्रोधा॥
धरि कच बिरथ कीन्ह महि गिरा।
सीतहिं राखि गीध पुनि फिरा॥

इस प्रसङ्गके रहस्यका ठीक-ठीक बोध न होनेके कारण प्रायः लोग शङ्का किया करते हैं कि 'धावा' का तीन बार प्रयोग होनेके कारण पुनरुक्ति-सी दिखायी देती है। परन्तु वस्तुतः यह पुनरुक्ति नहीं बल्कि यह श्रीगोस्वामिपादकी मर्मज्ञता और काव्य-कुशलताका परिचायक है और इसे समझ लेनेपर हृदय आनन्दपूर्ण हो जाता है। सचमुच इस ग्रन्थकी इतनी गम्भीर रचना हुई है कि उसका कोई भी प्रसङ्ग सामने आनेपर प्रत्यक्षवत् खड़ा हो जाता है और उसका सारा दृश्य नेत्रोंके समक्ष नाचने-सा लगता है। बात यह है कि जिस समय रावण श्रीसीताजीको लेकर गगनपथसे चला, उस समय श्रीजटायुजी उसके बहुत ऊपर आकाशमें मँडरा रहे थे, जैसा कि गीधयोनिका स्वभावानुसार अभ्यास है। जिस गीधकी जितनी ही अधिक शक्ति होती है, वह उतने ही ऊँचे आकाशमें उड़कर अपने आहारको पृथ्वीके विस्तृत फैलावमें देख सकता है। क्योंकि—'गीधहिं दृष्टि अपार।' चाहे कितना भी फासिला क्यों न हो, वे स्पष्ट देख सकते हैं। इनकी दृष्टिका कोई भी हद नहीं। यहाँ अमित शक्तिमान् श्रीजटायुजी तो 'रबि निकट' तक उड़नेवाले थे, जैसा कि सम्पातिका वचन है—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हम दोउ बंधु प्रथम तरुनाई। गगन गये रबि निकट उड़ाई॥

अतः जब उन्होंने अत्यन्त ऊँचाईपर श्रीसीताजी-की 'आरत बानी' सुनी तो दृष्टि डालकर पहचान लिया और देखा कि उनको—

अधम निसाचर लीन्हे जाई। जिमि मलेच्छ बस कपिला गाई॥

बस, उसी जगहसे यह कहते हुए कि—

सीते पुत्रि करसि जनि त्रासा। करिहौं जातुधानकर नासा॥

इस प्रकार क्रोधपूर्वक दौड़े, जैसे किसी पर्वतपर 'पबि' (वज्र-बिजुली) गिरती हो। 'पबि' की उपमासे स्पष्टतः सूचना मिलती है कि श्रीगीधराजजीने आकाश-की अत्यधिक ऊँचाईपरसे रावणपर 'धावा' किया।

जिन महानुभावोंको यह देखनेका संयोग मिला होगा कि गीध, चील या अन्य मँड़रानेवाले पक्षी आकाशसे पृथ्वीपर किस भाँति उतरा करते हैं, वे भलीभाँति जानते होंगे कि बिना चक्कर दिये उनका उतरना सम्भव ही नहीं होता। हवाईजहाज तकके लिये उतरते समय चक्कर अनिवार्य होनेके कारण विस्तृत भूमिकी आवश्यकता पड़ा करती है। अतः इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये कि श्रीगीधराजजी केवल तीन ही चक्करमें वज्रकी भाँति शीघ्रतासे रावणके ऊपर आ टूटे (यह उनके अमित पुरुषार्थकी महिमा थी), तीन बार 'धावा' शब्दका प्रयोग हुआ है। फिर सबमें 'क्रोध' की स्थिति तो एक-सी ही थी, इसलिये तीनों 'धावा' के साथ क्रोधका एक-सा वर्णन आया है। यदि किसी कारणसे उनका रुकना और फिर चलना बतलाया गया होता तो उनके क्रोधावेशमें अवश्य कमी-बेशी दिखलायी गयी होती अथवा उनके 'धावने' में ही अन्तर बतलाया गया होता। जैसे, बालि जब सुग्रीवका गर्जन सुनकर दौड़ा, तो उस समय उसके 'धावने' का वर्णन इस तरह आया है—'सुनत बालि क्रोधातुर धावा' परन्तु जब 'गहिकर चरन नारि समुझावा'—ताराने समझाया कि जिनसे सुग्रीव मिल गया है, वे 'कालहु जीति सकैं संग्रामा', तब बालिका पूर्व वेग कम हो गया और ताराके उत्तरमें 'जौ कदाचि मोहिं मारिहैं, तौ पुनि होहुँ सनाथ' 'अस कहि चला महा अभिमानी।' यहाँपर वेगकी कमीके सूचनार्थ 'धावा' शब्द न देकर 'चला' दिया गया है। परन्तु श्रीगीधराजजीके सम्बन्ध-में तीन बार 'धावा' कहकर उनके तीन चक्कर (मँड़राने) में उतरनेकी चालका ही नकशा खींचा गया है, तीन बार आक्रमणका नहीं। इसीलिये दूसरे चक्करके सूचक 'क्रोधातुर धावा' के साथ वही पहले-की आरत गिराके 'सुनत' शब्दको दोहराकर 'सुनत गीध' कहा गया है और इसके द्वारा एकाक्रमणकी ही सूचना दी गयी है। नहीं तो रावणके अनुमानके सम्बन्धमें 'सुनना' शब्द क्यों लाया जाता? 'अनुमान' सुननेकी चीज नहीं, वह तो हृदयकी बात है। अतएव यह निश्चय है कि 'धावा' शब्दके तीन बार आनेसे न तो पुनरुक्ति दोष है और न तीन बार आक्रमणका ही अर्थ निकलता है, बल्कि उससे तीन बारके चक्कर (मँड़राने) की सूचना देकर रावणके रथपर उतरने-की चाल बतलायी गयी है। और उनका इस उत्तमता-से प्रयोग हुआ है कि उनके बीच-बीचमें गीधराजके वे वाक्य भी पिरो दिये गये हैं जिनका उच्चारण करते हुए वे धाये थे। यहाँपर रावणके उत्तर-प्रत्युत्तरका प्रसंग नहीं है—'उतर न देत दसानन जोधा।' केवल गीधराजजीके ही वाक्य हैं और यह भी एक विशेषता है। अस्तु,

श्रीगीधराजजीने श्रीरघुनाथजीसे भेंट होनेपर स्पष्टरूपसे बतला दिया कि—

नाथ दसानन यह गति कीन्ही।
तेइ खल जनकसुता हरि लीन्ही॥
लै दच्छिन दिसि गयउ गोसाईं।
बिलपति अति कुररीकी नाईं॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दरस लागि प्रभु राखेउँ प्राना।
चलन चहत अब कृपानिधाना॥

यहाँ भी लोग शंका किया करते हैं कि 'जब जटायुने यह स्पष्ट बतला ही दिया कि रावण श्रीसीताजीको हरकर दक्षिणकी ओर ले गया है, तब श्रीरामजीने वानरी सेनाके द्वारा इतनी खोज क्यों करायी?' इसका समाधान यही है कि केवल चोरकी पहचान तथा उसके माल लेकर किसी दिशामें भाग जानेका समाचार पाकर ही कैसे काम निकल सकता है, जबतक उसकी पूरी खोज करके उसे गिरफ्तार न कर लिया जाय और माल बरामद करके उसे उचित दण्ड न दे दिया जाय? अतएव इस बातकी खोज आवश्यक थी कि श्रीजानकीजी कहाँ और किस दशामें हैं तथा उन्हें चुराकर रावण कहाँ छिपा हुआ है। इत्यादि।

श्रीरघुनाथजीने चाहा कि जटायुजी अभी अपने अनुपम जीवनसे लोकको कृतार्थ करें, शरीर न छोड़ें; परन्तु उनका उत्तर कैसा अद्भुत और प्रगाढ़ भक्ति-भाव, विशुद्ध विज्ञान तथा असार संसारके प्रति वैराग्य-का द्योतक हुआ—

राम कहा तनु राखहु ताता।
मुख मुसकाइ कही तेहि बाता॥
जाकर नाम मरत मुख आवा।
अधमौ मुक्त होइ श्रुति गावा॥
सो मम लोचन गोचर आगे।
राखौं देह नाथ केहि खाँगे॥

यद्यपि यह लोकप्रसिद्ध नीति है कि—'देह त्यागते प्रिय कछु नाहीं,' परन्तु जिन महाभागोंको श्रीरामचरणकमलोंकी लगन है, उनकी यही दृढ़ धारणा रहती है—

गुनागार संसार-सुख रहित, बिगत संदेह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय, तिन्ह कहँ देह न गेह॥

फिर श्रीजटायुजी तो रामभक्तोंमें एक स्तम्भ हैं, इन्हें 'देह-गेह'की ममता कैसी? इनकी निष्ठा तो इनके अनुपम कर्तव्यसे ही स्पष्ट हो रही है—

प्रान प्रानके, जीवके जिय, सुखके सुख राम।
तुम्ह तजि तात सोहात गृह, जिनहिं तिनहिं बिधि बाम॥

उनके इसी संवादको श्रीगोस्वामीजीने श्रीरामगीतावलीमें यों लिखा है—

राघौ गीध गोद करि लीन्हौं।
नयन सरोज सनेह सलिल सुचि मनहुँ अरघजल दीन्हौं॥
बहु बिधि राम कह्यो तन राखन परम धीर नहिं डोल्यौ।
रोकि प्रेम अवलोकि बदन बिधु बचन मनोहर बोल्यौ॥
'तुलसी' प्रभु झूठे जीवन लगि समय न धोखो लैहौं।
जाको नाम मरत मुख दुर्लभ तुमहि कहाँ पुनि पैहौं?
(अरण्यकाण्ड पद १४)

मेरे जान तात कछुक दिन जीजै।
देखिय आपु सुवन सेवा सुख मोहिं पितुको सुख दीजै॥
दिव्य देह इच्छा जीवन जग विधि मनाइ मँगि लीजै।
हरिहर सुजस सुनाइ दरस दै लोग कृतारथ कीजै॥
देखि बदन सुनि बचन अमिय तन राम नयन जल भीजै।
बोल्यो बिहँसि बिहँग रघुबर बलि कहौं सुभाय पतीजै॥
मेरे मरिबे सम न चारि फल होंहि तौ क्यों न कहीजै?
'तुलसी' प्रभु दियो उतरु मौन ही परी मानो प्रेम सहीजै॥
(अरण्यकाण्ड पद १५)

सुनि प्रभु बचन राखि उर मूरति चरन कमल सिर नाई।
चल्यो नभ सुनत राम कल कीरति अरु निज भाग बड़ाई॥
पितु ज्यौं गीध कृपा करि रघुपति अपने धाम पठायो।
ऐसो प्रभु बिसारि तुलसी सठ तू चाहत सुख पायो॥

जब श्रीरघुनाथजीने श्रीजटायुजीको यह आज्ञा दी कि 'दिव्य देह इच्छा जीवन जग विधि मनाइ मँगि लीजै,' तब उन्होंने निवेदन किया कि 'मेरे मरिबे सम न चारि फल होंहि तो क्यों न कहीजै'। अर्थात् यदि मेरी इस मृत्युके बराबर (जैसे मैं साक्षात् श्रीभगवान्‌की गोदमें लेटकर उन्हींके कमल-नेत्रोंके करुणाश्रुसे स्नान और उनके ही श्रीमुखारविन्दका दर्शन करता हुआ तथा उनके ही श्रीमुखसे अमृत वचन

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सुनता हुआ शरीर त्याग रहा हूँ—इसके सदृश) चारों फल (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) तुलते हों तो सरकार ही बतलावें कि मैं जीवन धारण करूँ? श्रीरघुनाथजी इस कथनको यथार्थ मानकर कि सचमुच जटायुकी इस मृत्युकी समता चारों फलोंसे नहीं की जा सकती और ऐसी अनुपम योगिजनदुर्लभ मृत्यु न तो किसीकी हुई न आगे ही होगी, मौन हो गये और गीधराजका कथन स्वीकार कर लिया—'मौनं सम्मतिलक्षणम्' इसी मृत्युकी सराहना श्रीगोस्वामिपादने श्रीरामदोहावलीमें इन शब्दोंद्वारा की है—

प्रभुहि बिलोकत गोद गत, सियहित घायल नीच।
तुलसी पाई गीधपति, मुकुति मनोहर मीच॥२२२॥
बिरत करमरत, भगत मुनि, सिद्ध, ऊँच अरु नीच।
तुलसी सकल सिहात सुनि, गीधराजकी मीच॥२२३॥
मुये, मरत, मरिहैं सकल, घरी-पहरके बीच।
लही न काहू आजु लौं; गीधराजकी मीच॥२२४॥
मुये मुकुत जीवत मुकुत, मुकुत मुकुत हूँ बीच।
तुलसी सबहीं ते अधिक, गीधराजकी मीच॥२२५॥

'गीधराज जटायुको धन्य है जो सीताजीके छुड़ानेके लिये घायल हुए और नीच शरीर होनेपर भी प्रभुकी गोदमें उनके मधुर मुखारविन्दको निरखते हुए ही मुक्तिमयी मनोहर मृत्यु प्राप्त की। गीधराजकी ऐसी मृत्युका समाचार सुनकर विरक्त, कर्मकाण्डी, भक्त, ज्ञानी, मुनि, सिद्ध, ऊँच और नीच सभी उनको ईर्षा करने लगे (मानो सबने चाहा कि हमारी ऐसी मृत्यु क्यों न हुई)। आजतक कितने मर गये, कितने मर रहे हैं और आगे घड़ी-पहरके अन्तरसे कितने मरेंगे परन्तु जटायुकी-सी मौत आजतक किसीकी नहीं हुई। कोई मरनेपर मुक्त होता है, कोई जीते ही मुक्त (जीवन्मुक्त) हो जाता है। मुक्त मुक्तमें भी भेद होता है। परन्तु इन सारी मुक्तियोंसे भी जटायुकी मृत्यु सबसे बढ़कर है।'

इस प्रकार परमधामकी यात्राका निश्चय होते ही श्रीसरकारकी कृपासे गीधराज श्रीजटायुजीने तत्काल ही भगवत्-स्वरूपताको प्राप्त कर लिया और 'सजल नयन'से श्रीसरकारकी स्तुति करके श्रीवैकुण्ठधामके नित्य किङ्करोंमें जाकर निवास किया। पश्चात् श्रीप्रभुने अपने हाथोंसे ही उनका यथोचित संस्कार करके अपनी भक्तवत्सलताका परिचय दिया—

गीध देह तजि धरि हरिरूपा। भूषन बहु पट पीत अनूपा॥
स्याम गात बिसाल भुजचारी। अस्तुति करत नयन भरि बारी॥
अबिरल भगति माँगि बर, गीध गयो हरिधाम।
तेहिकी क्रिया जथोचित, निज कर कीन्हीं राम॥

सियावर रामचन्द्रकी जय।

श्यामदृगकी चोट

स्याम-दृगनकी चोट बुरी री।
ज्यों-ज्यों नाम लेति तू वाको मो घायलपै नौन पुरी री॥
ना जानौं अब सुधबुध मेरी, कौन बिपिनमें जाय दुरी री।
नारायन नहिं छूटत सजनी जाकी जासों प्रीति जुरी री॥

—नारायण स्वामी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

योगवासिष्ठसार

निर्वाण-प्रकरण (उत्तरार्द्ध)

(लेखक—श्रीकन्हैयालालजी मास्टर)

पुरुष संकल्प-विकल्पसे रहित होकर चेष्टाएँ करता है वह मुक्त-स्वरूप है। उसको इस प्रकारकी कोई भी क्रिया बाँध नहीं सकती। क्योंकि उस स्थितिमें क्रिया और साधनाका अभाव हो जाता है। जब मनुष्य अपने स्वभावको पहचान लेता है, तब वह उस परम निर्वाणपदको प्राप्त करता है जो आदि और अन्तसे रहित है। उस परमपदकी प्राप्तिका उपाय यह है कि मनुष्य सबसे पहले स्वाध्याय और प्रणवका जप करे। जब इस क्रियासे थकावट आ जाय तो समाधिस्थ हो जाय और जब इससे भी मन ऊब उठे तो वहीं शान्तचित्त होकर जप या पाठ करे। इस तरह दृढ़ अभ्यास कर लेनेपर उस परमपदकी प्राप्ति हो जायगी जो संसार-सागरके सन्तरणकी परमावधि है। वहाँ पहुँचते ही मनुष्यको परम शान्ति मिलती है और वह स्वच्छ तथा निर्मल स्वभावमें स्थित हो जाता है। संत और महात्माओंका सत्संग प्राप्त होनेसे जगत्के सम्पूर्ण राग-द्वेषरूपी अन्धकारका सर्वनाश हो जाता है। तृष्णाका त्याग करते ही जीव आत्मामें स्थित हो जाता है। और उसको निर्मलता प्राप्त हो जाती है। भोगोंसे वैराग्य होनेपर दो पदार्थ मिलते हैं—एक संत-महात्माओंका संग और दूसरा सच्छास्त्रोंका विचार। और जब इस प्रकार प्राप्त हुए इन दो पदार्थोंमें विश्वास होता है तब अभ्यासद्वारा वही पुरुष परमानन्दरूप हो जाता है जिसका वर्णन वाणीद्वारा नहीं हो सकता।

जो मनुष्य सब तरह सन्तोषी है, वही महात्मा है। वैराग्य, सत्संग और सच्छास्त्रोंके अर्थोंपर विश्वास करके उसके अनुसार आचरण करनेसे यह सारा संसार विरस मालूम होने लगता है। उसका मन अमन हो जाता है। अर्थोंकी तृष्णा उसको बिल्कुल नहीं सताती। यहाँतक कि उसके पास जो कुछ होता है उसको भी वह रखनेकी इच्छा नहीं रखता। उसके लिये त्याग सहज हो जाता है। पुत्र-धन और स्त्री आदि सभी उसके मन फीके पड़ जाते हैं। उस प्राणीको उपशमका अनुपम सुख मिलता है, उस सुख-तक वाणी तो क्या कल्पना भी नहीं पहुँच सकती। उसका नाम निर्वाणपद है। जब ईश्वरकी कृपा होती है तब उनका विवेकरूपी दूत हृदयरूपी गुफामें घुसता है और चित्तरूपी शत्रुको परास्त करके वासनारूपी मैलको साफ करता है और भगवान्के पास पहुँचा देता है।

भगवान्की कृपासे जीव अन्तर्मुख होकर शुद्ध निर्मल हो जाता है। और जब हृदय शुद्ध हो जाता है तब आत्मपदकी ओर भावना जाती है इसीका नाम भक्ति है। इसी तरह जब जीव शुद्ध चैतन्या-वस्थामें होता है तब मनोमात्र शरीर होता है जिसको आतिवाहिक देह कहते हैं। जब वासनाकी दृढ़ता होती है तब आधिभौतिकता प्रतीत होती है इसलिये अहंतारूपी चेतनतासे शून्य होकर ज्ञानमें स्थित हो जाना चाहिये। जबतक चित्तका दृश्यके साथ सम्बन्ध रहेगा तबतक कर्मसे विराग नहीं होगा और जन्म-मरणका बन्धन लगा रहेगा। परन्तु सम्बन्ध टूटते ही वह अद्वैतपदको प्राप्त हो जाता है। शुद्ध चिन्मात्रमें उत्थान होनेपर चैत्योन्मुखत्व प्राप्त होता है। अहन्ता

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दृश्यकी ओर ले जाकर प्रमाद और जडता पैदा करती है। पूर्ण ज्ञान हो जानेपर 'द्वैत' और 'एक' ये संज्ञाएँ भी जाती रहती हैं। केवल आत्ममात्र शुद्ध चैतन्य रहता है। ईश्वरसे एकता होती है। जगत्का आभास मिट जाता है।

सभी जीव वासनासे लिप्त हैं, अतएव वासनाका क्षय हुए बिना ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती। एक ही उपायसे पुरुष परमपदको प्राप्त करता है। वह है तृष्णाका त्याग करके ध्यानस्थित हो ज्ञानका अभ्यास करना। जिसको वेद-शास्त्रोंमें नित्य, शुद्ध, बोधरूप, अद्वैत, निर्विकल्प इत्यादि कहा गया है, उसीको ठीक-ठीक जाननेका नाम 'ज्ञान' है। अहंकारका त्याग ही सर्वस्वका त्याग है। इस त्यागका परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपने स्वरूपको कभी भी नहीं भूलता। किसी प्रकारका क्षोभ उसको कष्ट नहीं पहुँचाता। उसको भीतर और बाहर सब जगह ब्रह्मकी ही सत्ता प्रतीत होती है तथा द्वैतका भ्रम भलीभाँति जाता रहता है।

सम्पूर्ण संसारमें सात प्रकारकी सृष्टि है और सात ही प्रकारके जीव भी हैं। यथा—स्वप्न-जाग्रत्, संकल्प-जाग्रत्, केवल-जाग्रत्, चिर-जाग्रत्, दृढ़-जाग्रत्, जाग्रत्-स्वप्न और क्षीण-जाग्रत्। स्वप्नमें जो जाग्रत् है, उसका नाम स्वप्न-जाग्रत् है। पुरुष कहीं बैठा हो और उसकी चित्त-वृत्ति कहींपर ठहर जाय तो अनिद्रित दशामें जो आधिभौतिक दृढ़ता हो जायगी उसे 'संकल्प-जाग्रत्' कहेंगे। आदिपरमात्मतत्त्व-से स्फुरित निश्चयात्मपदमें जो जगत् भासित हो उसको संकल्पमात्र जानना 'केवल-जाग्रत्' है। आदि-परमात्मतत्त्वसे स्फुरित सृष्टिको सत् जानकर ग्रहण कर लेना फिर स्वरूपके प्रमादसे जन्मान्तरको प्राप्त होनेका नाम 'चिर-जाग्रत्' है। दृढ़तर वासना और पाप-कर्मके द्वारा स्थावरयोनि प्राप्त हो तो उसका नाम 'दृढ़-जाग्रत्' है। संतोंकी संगति और सच्छास्त्रोंके विचारसे बोध प्राप्त हो जाय तो 'जाग्रत्-स्वप्न' होता है। बोध (ज्ञान) में स्थिति हो जानेका नाम 'तुरीयपद' है और इसीका नाम 'क्षीण-जाग्रत्' भी है। इस अन्तिम पदको प्राप्त करनेपर ही परमानन्दकी प्राप्ति होती है।

जब मनका निर्वाण हो जाता है तब उस पुरुषकी दृष्टिमें जगत् और अहंकारका सर्वथा अभाव हो जाता है। ऐसे पुरुष रागद्वेषसे रहित होकर परम शान्तिको प्राप्त करते हैं। साथ ही उस अनिर्वाच्यपदकी भी प्राप्ति हो जाती है, जहाँसे फिर कोई उत्थान नहीं है। जिसके मनने उपशम प्राप्त कर लिया है वही पुरुष मौनी है। वह निरोधको पा चुका है तथा संसार-समुद्रसे पार होकर कर्मोंके अन्ततक पहुँच चुका है। जब महाप्रलय होता है तब सभी पदार्थ नष्ट हो जाते हैं, केवल बोध तथा बोधसे भी सूक्ष्म चेतन शेष रहता है। वहाँतक वाणी तथा मनकी गति नहीं है। वहाँपर केवल अचैत्य-चिन्मात्रकी ही सत्ता है उसीको तत्त्ववेत्ता-लोग अनुभव कहते हैं। जीव अपने संकल्पसे ही बन्धन युक्त होता है। इसलिये संकल्प मिटजानेपर वह बन्धन मुक्त हो परमानन्दको प्राप्त होकर परम शान्ति लाभ करता है।

इस जगत्को स्वप्नवत् जानकर प्रकृतिके अनुसार आचरण करना चाहिये। हृदयको पत्थरकी नाईं मजबूत कर लेना चाहिये ताकि वह विकारोंकी ओर पिछल न जाय। ब्रह्म और इस जगत्में थोड़ा भी भेद नहीं है। अपि तु ब्रह्म ही जगत् और जगत् ही ब्रह्म है। मनकी स्फूर्तिसे जगत्का ज्ञान होता है और स्फुरणके अभावसे सब कुछ ब्रह्ममय ही प्रतीत होता है। जब संकल्पका लय हो जाता है तब जगत्का भ्रम भी मिट जाता है। ब्रह्म अपने आपमें स्थित है और उसमें जो चैत्योन्मुखत्व है, उसको मुनीश्वर लोग चिदाकाश कहते हैं। उसके मनमें संकल्प-विकल्पके

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

क्षणसे जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड बन गये हैं उनका नाम भूताकाश है। ये भी संकल्पमात्र हैं तथा आत्मासे भिन्न नहीं। यह जगत् जो दृष्टिमें आता है, ब्रह्मका हृदय है। अपनी जो स्वभावसत्ता है और जिसका नाम हृदय है, वह और जगत् ब्रह्मका वपु है। सम्पूर्ण विचार आत्मामें अज्ञानसे उत्पन्न होते हैं। एकाग्र चित्त होकर देखनेसे जगत्का भ्रम अवश्य मिट जायगा।

साकार और निराकारका भेद भी जान लेना चाहिये। इन्हींको चित्त और चैत्य भी कहते हैं। चित्त शुद्ध चिन्मात्रका नाम है और चैत्य दृश्य-स्फुरणका। जिस चित्तका दृश्यके साथ सम्बन्ध है और जो अनात्मामें आत्माभिमान करता है, वह आकारवान् है। उसके स्वप्नकी सृष्टि आकाश है जो अचैत्य-चिन्मात्रकी निराकार सत्ता है।

अभ्यास एक ऐसी चीज है कि उसके द्वारा सब कुछ प्राप्त हो सकता है। यदि अज्ञानी भी ब्रह्मका अभ्यास करे तो वह ज्ञानी हो जायगा। वही यदि किसी पदार्थको आत्मारूपी चिन्तामणिमें देखनेका अभ्यास करे तो सिद्ध हो जायगा। बाल्यावस्थासे जो अभ्यास होता है वह वृद्धावस्थातक रह सकता है। पुण्यके अभ्याससे पाप और पापके अभ्याससे उसका नाश होता है। परन्तु अभ्यासका नाश कभी नहीं होता। जिसको अभ्यासका भी अभ्यास है उसको शीघ्र ही आत्मपदकी प्राप्ति हो जायगी। निरन्तर चिन्तन करनेका नाम ही अभ्यास है। इससे इष्ट पदार्थकी प्राप्ति होती है। अपरोक्ष वस्तु आत्माको छोड़ और शरीरादि परोक्ष वस्तुओंको अपरोक्ष मानना ही माया है। जितने जीव हैं उनका वास्तविक रूप क्या है यह बात सभी नहीं जानते।

सब जीवोंका आदि शरीर, जो आतिवाहिक है, जीवात्माका केवल संकल्पमय विग्रह है। आतिवाहिक शरीर अविनाशी है। जो अपने संकल्पका निवारण कर देता है, उसकी इच्छाका भी निवारण हो जाता है और उस अवस्थामें स्वाभाविक रूपसे ही जगत्का अभाव हो जाता है। जो जगत्को संकल्पमात्र जानते हैं, उनकी वासनाका नाश हो जाता है और उन्हींको आत्माका वास्तविक दर्शन होता है। शब्दोंके अभावकी स्थितिमें परम चिदाकाश अनुभवसत्ता ही शेष रहती है। उसीको 'मोक्ष' कहते हैं। जो यह स्थावर या जंगम जगत् देशकालसंयुक्त दिखायी देता है, उसके नाशका नाम महाप्रलय है। महाप्रलयके बाद जो शेष रहता है वह स्वच्छ, अज, अनादि केवल आत्मतत्त्व है, वहाँतक वाणीकी गति ही नहीं है, वह इतना सूक्ष्म है कि आकाश भी उसकी अपेक्षा बहुत स्थूल है।

आत्मा सदा निर्विकल्प और समुद्रके समान है। वह देश-कालके भ्रमसे रहित और अपने-आपमें स्थित है। परन्तु ऐसा होनेपर भी संकल्प-सम्भूत-सा प्रतीत होता है। जहाँपर चिद्अणुकी प्रतीति हो वह 'देश' है, जिस समय प्रतीति हो वह काल है, और प्रतीतिका नाम 'क्रिया' है। मानका ग्रहण ही 'द्रव्य' है और उसको प्रत्यक्ष करनेको जो वृत्ति दौड़ती है वही नेत्र होकर स्थित हुई है। द्रष्टा और दृश्य दोनों ही शून्य हैं, असत् हैं। अनादि सत्-स्वरूप चिद्-अणु इन्द्रियोंके संयोगसे पदार्थोंको ग्रहण करता है। स्पन्दनरूप जो वृत्ति है, उसीका नाम मन है। जब बुद्धि निश्चयात्मिका होकर स्थित होती है तब चिद्-अणुमें निश्चय होता है कि मैं द्रष्टा हूँ, इसीका नाम अहंकार है। जब अहंकारसे चिद्-अणुका संयोग होता है तब अपनेमें देश-कालका परिच्छेद देखना विषम अहंकार है। आदि स्फुरणसे चिद्-अणुमें प्रथम आतिवाहिक शरीर बनता है, फिर संकल्पके दृढ़ अभ्याससे वही आधिभौतिक प्रतीत

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

होने लगता है। जो अप्रमादी हैं वे सदा आनन्दरूप ईश्वर हैं और जो प्रमादी हैं वे तुच्छ तथा सर्वदा दुःखी हैं।

जब मनका स्फुरण होता है तब वह विराट्रूप होकर स्थित होता है और जब वही स्फुरणसे रहित हो जाता है तब अद्वैतसत्ता प्रतीत होती है। परन्तु अद्वैत और विराट्स्वरूपमें कोई भेद भी नहीं है। आकाशादि सम्पूर्ण जगत् चिदाकाशरूप हैं और अपने-आपहीमें स्थित हैं। जो आदि विराट् है उसका नाम ब्रह्म है, उसका आदि-अन्त कुछ भी नहीं है। यह सारा जगत् उसका छोटा-सा वपु है। स्थावर-जंगम सभी प्राणी उसके अङ्गमात्र हैं। विराट् और आत्मामें भी कोई भेद नहीं है। महाप्रलयका लक्षण जैसा कि पहले बतलाया गया है यही है कि जिसमें सबका लय हो जाय और सबका लय (अभाव) तभी होता है जब वासनाका भी अभाव हो। इसलिये वासानाके क्षयका नाम ही ज्ञानी लोग 'निर्वाण' कहते हैं। स्वभावसे उत्थान होनेका नाम बन्धन है और उत्थानके मिटनेका नाम मोक्ष है।

अहङ्कार और उत्थानसे रहित हो जानेपर निर्वाणपद मिलता है। जहाँ एक और दोकी कोई कल्पना नहीं है वहीं निर्विकल्प और परम शान्त-पद प्राप्त हो जाता है। महाप्रलयके समय भैरव और भैरवी विशाल वपुधारी दृष्टिगोचर होते हैं। यह नित्य-शक्ति सर्वात्मा है जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्डको अपनेमें स्थित जानती है। सारे संसारमें जितनी भी क्रियाएँ होती हैं सब उसी शक्तिकी प्रेरणा अथवा आश्रयमें होती हैं। चेतनस्वरूप होनेके कारण वह परमदेव चिदाकाश इस प्रकार प्रतीत होता है। चेतनसत्ता अपने स्वरूप-को नहीं छोड़ती। वह साकार प्रतीत होती है। जो कुछ भासता है वह आत्माका ही स्वरूप है। आत्म-सत्ता सब अवस्थाओंमें एक-सी रहती है। यदि ब्रह्म-सत्ता स्फुरणका त्याग करके अपनेमें स्थित हो जाय तो वह अनामय है। अर्थात् दुःखोंसे रहित परम शान्ति-स्वरूप अनन्त और निर्विकार है। इस प्रकारके ज्ञानसे ब्रह्मसत्ता मिल सकती है।

जीव जब अपने जीवत्वभावका त्याग कर देता है तब आत्मारूपी समुद्रको प्राप्त कर लेता है। मतलब यह है कि दृश्य-जगत्से सम्बन्ध त्याग देनेपर उसको आत्माकी उपाधि मिलती है। शुद्ध चिदा-काश रुद्ररूप होकर नृत्य करता है और वही चेतना-द्वारा जगत् बनकर प्रतीत होता है। वास्तवमें न तो कोई चैत्य है और न कोई चेतनता है केवल आत्म-सत्ता ही सर्वत्र विराजती है। जो चेतना परम निर्मल और शान्तरूप है उसको शिवतत्त्व भी कहते हैं जो रुद्राकार प्रतीत होता है। शास्त्रका सबसे बड़ा सिद्धान्त यही है कि चैत्यके अभाववाली अचैत्य चिन्मात्र आत्मसत्ता निर्विकल्परूपसे स्थित है। निर्विकल्प होकर चेतनासे रहित प्रत्यक्ष आचारके पालनद्वारा आत्म-निश्चय रखनेका नाम मौन है। मौनीका कर्तव्य है कि शास्त्रविहित कर्मोंको करते हुए अपने निर्गुण तथा निष्क्रियरूपसे च्युत न होकर अद्वैतरूपमें स्थित रहे।

काली परमात्माकी क्रियाशक्तिका नाम है। वह प्रकृतिका कारणस्वरूप है। उसीसे सम्पूर्ण जगत्की सृष्टि है। उसीका नाम प्रकृति है, अर्थात् वह स्वनिर्मित है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ, पाँचों प्राण और एक मन सभी कार्यरूप हैं। जो परमात्मा है वह अद्वैत, अचित्त और चिन्मात्र है। वह न तो किसीका कार्य है और न किसीका कारण। कारण और कार्यमें जितनी द्वैतकी कल्पना है वह सब चित्तशक्तिमें स्थित है। जब यह स्पन्दनरहित होती है तब तत्त्वरूप शिवपदमें निर्वाण हो जाता है। उस समय कारण और कार्यका भ्रम जाता रहता है और आकाशवत् एक अखण्ड तत्त्व शेष रहता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जो शुद्ध, अद्वैत, अचैत्य-चिन्मात्र और सदा अपने आपमें स्थित है। उसकी स्पन्दनरूप क्रियाशक्तिकी ही ये सारी संज्ञाएँ हैं।

जगत्की कारणरूपा होते हुए भी प्रकृति उसकी शोषक है। सिद्धोंद्वारा सेवित होनेके कारण वह 'सिद्धि' है। उसकी सर्वत्र विजय है इसलिये वही 'जयन्ती' है। उसके कोपसे जगत्का सर्वनाश हो जाता है अतः वह 'चण्डिका' है। दुर्बोधरूपा होनेके कारण 'दुर्गा' है। उसके पाठसे संसार-सागरसे रक्षा होती है इसलिये वह 'गायत्री' है। जगत्की पालिका होनेसे वह 'सावित्री' है। उसका कोमल स्वभाव है अतः 'कुमारी' है। गौर अंग है अतएव 'गौरी' है। शिवशङ्करके बायें अंगमें उसका निवास है एतदर्थ वह 'शिवा' है। इसी प्रकार जगत्को जीतनेके कारण 'विजया' और अद्वैत आत्मामें विलास रचनेके कारण 'सुशक्ति' है। वह इन्द्रसारा भी है क्योंकि जो उकार इन्द्रात्मामें है उसका सार अर्द्धमात्रा है और उकार, अकार तथा मकार तीनों उसके अधिष्ठान हैं। राजसी, तामसी और सात्त्विकी क्रियाएँ भी इसीके द्वारा होती हैं। अतः वह सर्वरूपा है।

शिव परम शुद्ध, निर्मल और अच्युत है। उसकी क्रियाशक्तिके स्फुरणसे यह जगत् दृष्टिगोचर होता है—आत्माका स्वभाव चित्तशक्ति है। जिस प्रकार आकाश निराकार है और उसमें नीलिमा प्रतीत होती है उसी प्रकार काली भी निराकार और श्यामा हैं। जब इस शक्तिका स्फुरण होता है तब जगत् साकार हो जाता है और जब शिवकी ओर यह शक्ति आती है तब शिवरूप बन जाती है। उसमें जगत्का कोई भी भाव नहीं रहता। यदि पुरुषकी चित्तशक्ति उसकी ओर आ जाय तो उसको जगत्का भ्रम ही मिट जाय। शिव और शक्तिका भेद भी जान लेने योग्य है। सभी जीव शिवरूप हैं और उनमें जो चित्तका स्फुरण है वही शक्ति है। जबतक इच्छासे चित्तशक्तिका अलग स्फुरण होता है तबतक भ्रमका अन्त नहीं होता तथा नाना प्रकारके विकारोंका सामना करना पड़ता है, कभी भी शान्ति नहीं मिलती। किन्तु चित्तशक्ति जब उलटकर अधिष्ठानको देखती है तब जगत्का भ्रम भलीभाँति मिट जाता है और परम शान्ति भी मिलती है।

परमात्माकी इच्छाशक्तिका नाम ही देवी है, उसीको जगन्माता कहते हैं। जबतक यह शिवतत्त्वसे अलग है तभीतक इसके द्वारा सृष्टि होती है किन्तु अधिष्ठानपर आते ही यह अनामय, निर्विकार और द्वैतभावसे रहित होकर परम शान्त हो जाती है। चित्तसंवित्का जब आत्मपदसे सम्मिलन होता है तब वह अद्वैतरूप हो जाती है। इसी प्रकार जब जीवको आत्मानन्दकी प्राप्ति होती है तब वह विषयके सुखका परित्याग कर देता है। किसी पदार्थकी इच्छा नहीं करता तथा निर्विकल्प पदको प्राप्त करता है। जिस पुरुषमें देश, काल और वस्तुके परिच्छेदसे रहित अखण्ड सत्ताका उदय हुआ है उसको 'ज्ञानी' कहते हैं। जब यह पुरुष परमात्माका अवलोकन करता है उस समय सम्पूर्ण जगत् उसको आत्ममय भासता है। जिस पुरुषको स्वप्नकी सृष्टिमें अपने पूर्व रूपका विस्मरण न हो, उसको आतिवाहिक कहते हैं। उसको पत्थर, जल और अग्नितकमें प्रवेश करनेसे किसी प्रकारका क्लेश नहीं होता।

यह संसृति तीव्र प्रवाहशालिनी एक नदीके समान है जो चित्तरूपी झीलसे निकलती है। जन्म-मरण इसके किनारे, राग-द्वेष इसके तरंग और भोगकी तृष्णा इसकी भँवर है। अन्य नदियोंसे तो लोकको सुख मिलता है परन्तु इससे कष्ट-ही-कष्ट है। स्त्री, पुत्र-कलत्रादि सभी कष्टकर हैं। इनके मायाजालमें फँसकर मनुष्य अपने स्वरूपको भूल जाता है। शरीर भी एक सरोवरके समान है जिसमें बुद्धिरूपी मछली

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

निवास करती है परन्तु जब वह बाहर अपना सिर निकालती है तब भोगरूपी बगुला इसको चट कर जाता है। अर्थात् आत्ममार्गसे च्युत कर देता है। जीवको झटकर उसको निधन कर देता है। मनुष्य-की आयु बिजलीकी चमकके सदृश है अतः इस क्षण-भङ्गुर अवस्थामें जो भोगोंकी इच्छा रखते हैं वे अन्तमें अत्यधिक दुःख भोगते हैं इसलिये आत्मज्ञानके प्रकाश-से अज्ञानान्धकारका सर्वनाश करके शान्ति लाभ करना चाहिये।

ब्रह्मा और जगत् दोनों ही अज हैं, ब्रह्मस्वरूप हैं। ब्रह्मसे भिन्न जो कुछ भी प्रतीत होता है वह भ्रम है। पाँच भूत और छठे मनका नाम ही जगत् है। जबतक ये भूत उसमें प्रतीत होते हैं तबतक भ्रान्ति है। चैतन्यकी प्रतीतिका नाम परमपद है। यह जगत् निराकार और संकल्पमात्र है। संकल्पकी दृढ़तासे आकाशमें स्थूल भूत दृष्टिमें आते हैं। अज्ञानकी दशा-में जीवको जगत्का ज्ञान रहता है। अज्ञानका अभाव होकर जब ज्ञानकी उत्पत्ति हो जाती है तब सारा जगत् चिदाकाशमात्र दिखायी देता है। अज्ञानकी निवृत्तिका उपाय यह है कि मनुष्य महारामायणका विचार करे उसीसे उसका निवारण होगा। जो लोग इस वासनामय जगत्को सत्य मानकर इसकी तरफ दौड़ते हैं वे परमार्थसे शून्य और मूढ़ हैं। जिनकी भोगोंमें ही आसक्ति रहती है, उनमें और पशुओंमें कोई अन्तर नहीं, क्योंकि भोगकी तृष्णासे उनका हृदय जलता रहता है परन्तु उसके निवारणका उपाय वे नहीं जानते। इसी बन्धन या अज्ञानको मिटाकर ज्ञानवान् सदा ही आत्मामें तृप्त रहते हैं और इस कारण उनको सर्वथा शान्ति मिलती रहती है।

जिसको आत्मपद-प्राप्तिकी अभिलाषा हो उसको चाहिये कि वह सदा संतोंका संग और सच्छास्त्रोंका परिशीलन या श्रवण करे। ज्ञानवान्की दृष्टिमें सदा अद्वैत ही प्रतीत होता है। आत्मसत्ता ही जगत् होकर भासती है और ब्रह्म भी चेतनासे जगत् बनकर दृष्टि-पथमें आता है। उत्पत्ति और प्रलयादिका क्षोभ आत्मसत्ताको स्पर्श नहीं करता क्योंकि वह क्षोभादिसे रहित अनुभवरूप है। जिसने ऐसे अनुभवको, जिससे सब कुछ सिद्ध होता है, नहीं पहचाना उसको मूर्खके अतिरिक्त और कोई संज्ञा नहीं दी जा सकती है। उसको यदि आत्महत्यारा भी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं। जिसने अपने स्वरूपको भलीभाँति जानकर अहंकारको निकाल बाहर किया है, उसको मानसिक क्लेशोंसे कोई सम्पर्क नहीं है। यहाँतक कि वह जन्म-मरणके बन्धनसे भी छुटकारा पा जाता है। वह निराकार अविनाशी और चिदाकाशरूप हो जाता है। संसारके जितने प्राणी हैं वे सभी विषयोंसे लिप्त होकर आत्मपदसे विमुख हैं।

जो विवेकी पुरुष हैं और जिनकी स्थिति आत्म-स्वरूपमें हो गयी है उनके काम, क्रोध और रागद्वेषादि सम्पूर्ण विकार स्वाभाविकरूपसे मिट जाते हैं। विवेकी पुरुष किसीपर क्रोध नहीं करते। उनका हृदय दया और शान्तिमय होता है। वे शास्त्रविहित चेष्टाएँ करते हैं। उनमें दानादि शुभ-भावनाएँ सदा निवास करती हैं। धैर्य, शम-दम और वैराग्यादि गुणोंसे वे संयुक्त रहते हैं। अतः ऐसे विवेकी पुरुष संसार-सागरको पार कर जानेकी शक्ति रखते हैं। जिनका पूर्ण-रूपसे संतस्वभाव नहीं, केवल संतोंकी संगति ही जिन्हें प्राप्त है, वे भी संत ही हैं। अतः संसार-भ्रमको त्यागकर संतोंकी संगति करो, इससे यह भ्रम निवृत्त हो जायगा। वास्तविक सत्ता ब्रह्म ही है, वह अखण्ड तथा अद्वैत है। उसमें जो किञ्चित् स्फुरण होता है वही जगज्जाल-सा भासित होता है, वास्तवमें वह कुछ है नहीं।

जाग्रत् सृष्टि वास्तवमें कुछ नहीं है। वह जीव-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्राणियोंको अज्ञानवश प्रतीत होती है। अनात्म प्राणी देहादिमें आत्माभिमान करके जैसा निश्चय करते हैं, वैसी ही गति पाते हैं। देश, काल, क्रिया और द्रव्यका जैसा सङ्कल्प अनुभवसत्तामें दृढ़ होता है उसी प्रकार भासित भी होता है। उसमें चार अवस्थाएँ होती हैं—घन सुषुप्ति, क्षीण सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत्। पर्वत और पाषाण घन सुषुप्ति हैं, क्योंकि इनमें कुछ भी स्फुरण नहीं होता। वृक्षादि क्षीण सुषुप्तिमें हैं, क्योंकि इनमें कुछ-कुछ स्फुरण होता है। पक्षिक् अर्थात् पक्षी, कीट और पतंगादि स्वप्नावस्थामें हैं, क्योंकि इनको सूक्ष्म ज्ञान रहता है और मनुष्य तथा देवता जाग्रत् हैं क्योंकि यह पूर्णज्ञान रखते हैं। ये चारों अवस्थाएँ आत्मसत्तामें ही स्थित कही गयी हैं। स्वरूपतः सबकी आत्मसत्ता एक ही है परन्तु वे भिन्न-भिन्न भावनाओंके कारण भिन्न-भिन्न रूपमें प्रतिभासित होती हैं।

जीवधारी अपने स्वरूपके प्रमादसे ही अपनेको काम, क्रोध, लोभ, मोह, जरा, मृत्यु, क्षुधा, तृष्णा, राग, द्वेष, हर्ष, शोक और इच्छादि विकारोंसे ग्रसते हैं। इन्हीं कारणोंसे वे कभी आत्मानन्दको नहीं प्राप्त कर पाते और घड़ीकी सूईकी तरह वासना-के चक्करमें भटकते रहते हैं। वे नहीं जान पाते कि जिनकी दृढ़ वासनावाले प्राणी जन्मान्तरमें पाषाण या वृक्षयोनि, क्षीण वासनावाले तामसी प्रकृतिके होकर पक्षिक् पक्षी, सर्प या अन्य कीटादि योनि, राजसी वासनावाले मनुष्ययोनि, और सात्त्विक वासनावाले देवयोनि प्राप्त करते हैं। इसलिये आवश्यक है कि मनुष्यशरीर धारण करके निर्वासनिक बने और मुक्ति-लाभ करे। आत्मसत्ता आकाशकी तरह अखण्ड है। सर्वत्र पूर्ण है। जबतक इस ज्ञानका बीज हृदयमें नहीं जमता तबतक मनकी जलन नहीं मिटती। जिसने अखण्ड निश्चय अङ्गीकार कर लिया है उसको दुःखादि स्पर्श भी नहीं करते। वह ब्रह्मदर्शी बन जाता है। उसके लिये शब्दोंका अभाव हो जाता है और उसका हृदय महाज्ञानके दिव्य प्रकाशसे प्रकाशित हो जाता है।

यह जगत् आत्माका किञ्चनरूप है। अज्ञानीको ही यह सत्य प्रतीत होता है, ज्ञानीके लिये यह कुछ भी नहीं है। आत्मसत्तामें जिस निश्चयका स्फुरण होता है वह अहंकी भावनासे प्रेरित होकर उसी प्रकार प्रतीत होता है। जिस प्राणीको अपने स्वरूप-का ज्ञान है, वह शास्त्रोंके दण्डसे रहित है। स्फुरणरूपी जीवको उसके निश्चयके अनुसार ही भासित होता है। जिसकी आस्था केवल आत्मामें है वह जन्म-मरणादि विकारोंसे रहित है किन्तु जो जगत्के नाना रूपोंमें उलझ रहा है उसको इस जन्म-मरणसे छुटकारा मिल ही नहीं सकता। चैतन्य संवित् पुरुषरूप है, जिसको ऐसा निश्चय है, वही ज्ञानी है। ऐसे ज्ञानीमें द्वैतकी कलना नहीं स्फुरित होती। आत्मसत्ताका साक्षात्कार होनेपर सब तरहके भ्रमोंका निवारण हो जाता है। जिसने निश्चित-रूपसे आत्मामें अहम्-भावनाको देख लिया है तथा अनात्मका त्याग कर दिया है, वह महापुरुष है। जिसको आत्मसत्ताका अनुभव है उसका जगत्के राग-द्वेष और शब्द-अर्थसे कोई सरोकार नहीं। पुण्य और पापके फलसे कोई वास्ता नहीं। वह परम शुद्ध और शान्त होकर मानमोहादि विकारोंसे रहित हो जाता है।

चित्तके स्फुरणसे जगत्की उत्पत्ति और उसके शान्त होनेसे जगत्का नाश होता है। इसलिये जगत्को मनमें ही स्थित समझना चाहिये। आत्म-ज्ञानसे सब जगत् आत्मवत् भासता है। मैं जन्मा हूँ, मैं जीता हूँ और मैं मरूँगा, यही तीन बातें हैं जिनकी उलझन नहीं सुलझती। यह

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तीनों विकार हैं और केवल शरीरके लिये हैं, आत्माके लिये नहीं। उसका न तो जन्म होता है और न वह मरता है। वह अजन्मा और अविनाशी है। दुःखोंसे मुक्ति पानेका सबसे सुलभ और अच्छा उपाय यही है कि वासनाओंका परित्याग करके अपने-आपको अविनाशी समझे और आत्मामें स्थित रहे। इस तरहका ज्ञान रखनेपर शरीरका त्याग अथवा जन्म होते समय जो क्लेश और परिताप होता है उसका तिलमात्र भी अनुभव नहीं होगा। उस प्राणीको सर्वत्र ब्रह्मानन्दकी ही ज्योति दिखायी देगी। वह सर्वदा आनन्दमें मग्न होकर अपने प्रकृत आचारोंको करता रहेगा। उसमें इष्ट-अनिष्टकी चिन्ता न होकर गम्भीरता बनी रहेगी।

जिस महाभागको आत्मारूपी परमात्माका साक्षात्कार हुआ है, उसकी कैसी चेष्टाएँ होती हैं—यह भी जानने योग्य है। वह सबका मित्र होता है। उसकी दृष्टिमें स्वजन, परजन सभी समान हैं। वास्तवमें तो वह इनकी ओरसे उदासीन होकर अपने परम लक्ष्यकी ओर लगा रहता है। उसकी चित्तवृत्ति आकाशवत् हो जाती है, इसीलिये किसी भी वस्तुका वह आसक्तिके साथ स्पर्श नहीं करती। उसके लिये जगत्‌के सभी मनमोहक रस विरस हैं। उसका हृदय शिलाखण्डकी तरह मजबूत हो जाता है और किसी भी तरहके व्यवहारका उसपर कोई असर नहीं पड़ता। एक तरहसे उसको हम समाधिमें स्थित कहें तो कोई हर्ज नहीं। सुख-दुःखकी प्राप्तिमें उसकी समबुद्धि रहती है। वह अपने रूपसे कभी विचलित नहीं होता। संसारके साधारण प्राणी उसकी इस गतिविधिको देखकर उसको अज्ञानी ही कहेंगे परन्तु वास्तवमें वह ज्ञानका अनुपम भण्डार है।

वायुकी दृष्टिमें सुगन्ध और दुर्गन्ध दोनों बराबर हैं। उसके पथमें चाहे जो हो उसका उसे खयाल भी नहीं होता। उसी प्रकार ज्ञानवान्‌को समझना चाहिये। ज्ञानवान् तो जगत् अथवा इसमें निवास करनेवाले रागद्वेषादिको भ्रान्ति समझकर केवल ब्रह्मको पहचानता है। वह कर्म करता हुआ भी कर्महीन है। जीता हुआ भी मृतक है। उसको सर्वत्र सब पदार्थोंमें मृगतृष्णा-सी प्रतीत होती है। विषयोंसे अनासक्ति और आत्माको परम इष्ट जानकर उसको ठीक-ठीक पहचाननेका नाम ही ज्ञान है। इसकी प्राप्ति हो जानेपर अष्ट सिद्धियों और नव निधियोंकी ओर जरा भी आसक्ति नहीं रह जाती। वे सभी तृणवत् हो जाती हैं। जिसको पुरुष कहते हैं वह शरीर, इन्द्रियों और अन्तःकरणसे हीन चिदाकाशरूप है। ज्ञानी व्यवहार करते हैं परन्तु वे अपनेको सर्वथा अकर्ता और असङ्ग समझते हैं। वे परम निर्मल, अजर, अमर और शिवस्वरूप हैं।

भाव, भास और भासित—ये तीन तरहके बोध हैं। 'भाव' चैतन्यको कहते हैं। चैतन्यमें जो चैत्योन्मुखत्व अथवा अहङ्कारका उदय होता है उसको 'भास' कहते हैं तथा उसमें जो जगत्‌की कल्पना होती है उसका नाम 'भासित' है। कल्पना अथवा कल्पितके नष्ट होनेपर उसके अधिष्ठानका लोप नहीं होता। चेतनाकी उपजसे जगत्‌की प्रतीति होती है और उसके मिट जानेपर आत्मा ही शेष रह जाता है। ब्रह्मचैतन्यका विनाश कभी नहीं होता। महारामायण जो मोक्षका सुन्दर साधन है, उसमें चार वेद, छः शास्त्र और सम्पूर्ण पुराणोंके सिद्धान्त भरे पड़े हैं। उस ग्रन्थरत्नके कथनानुसार अभ्यास करनेसे शीघ्र ही आत्मपदकी प्राप्ति हो जाती है। अतएव अज्ञानरूपी विषूचिकाके भयङ्कर रोगसे सावधान होकर महा-रामायणरूपी ब्रह्मविद्याका जो उपदेश है, उसका मनन करना चाहिये। उससे भ्रान्ति मिटकर आत्म-पदकी अवश्य प्राप्ति होती है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दुःखका एकमात्र कारण वासना है। अतएव इसके निवारणका उपाय अवश्य होना चाहिये। इसके बिना आत्मस्वरूपका साक्षात्कार कदापि नहीं होगा। जागृति और स्वप्नके बीचमें जो अचैत्य-चिन्मात्र सत्ता हृदयमें रहती है उसीका नाम स्वरूप है। उसमें ज्ञानवान् और देवताओंका निश्चय रहता है परन्तु अज्ञानवश उसका भान नहीं होता। और इसी अज्ञानके कारण जगत्का भान होता है। ऐसे आत्म-स्वरूपको जाननेका प्रयत्न करना चाहिये। वह नित्यशुद्ध और परमानन्दरूप है।

मनुष्य-जन्मकी सफलता

(पूज्यपाद श्रीब्रह्मचैतन्यपुरीजी महाराजके उपदेश)

चौरासी लाख योनियोंमें मनुष्यके सिवा किसीको भी अपने जीवनके उद्देश्यका पता नहीं है। मनुष्य और पशु समानरूपसे आहार, निद्रा, भय और मैथुनमें प्रवृत्त होते हैं। पशुको केवल एक ही वस्तु नहीं मिली है और वह है विवेक। मनुष्यको पशुओंकी अपेक्षा केवल विवेक ही अधिक मिला है। प्रभुने मनुष्यको विवेक इसीलिये दिया कि हम इसका उपयोग करें और इसके द्वारा अपने सच्चे उद्देश्यकी ओर बढ़ें।

ईश्वर क्या है, गुरु क्या है, हम कौन हैं, कहाँसे आये हैं, कहाँ जाना है और अपने ध्येय स्थानतक पहुँचनेके लिये हमें क्या करना चाहिये इसका ज्ञान केवल मनुष्यको प्राप्त होता है। ऐसा सुन्दर शरीर और निर्मल विवेक पाकर विषयोंके चिन्तनमें ही समय बिताना मूर्खता है। पशुके समान विषयोंमें रच-पचकर मरना कहाँकी बुद्धिमानी है ?

सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी॥

मनुष्यका शरीर बड़े भाग्यसे मिला है। 'बड़े भाग मानुष तन पावा !' ऐसे दुर्लभ शरीरको पाकर विषयों-का चिन्तन करना अपने जन्मसिद्ध अधिकार मोक्ष-को जान-बूझकर खोना है। ये विषय नित्य नहीं हैं। यदि सौ वर्षकी आयु मानी जाय तो उसमेंसे पचास वर्ष तो हम सोकर नष्ट कर डालते हैं। शेष पचास वर्षमें बचपनका समय खेलकूदमें, जवानीका भोग-विलासमें, और उसके आगे विषय-प्रपञ्चमें, घर-गृहस्थी सँभालनेमें नष्ट हो जाता है। गुरुकृपासे कुछ काल ही हरि-चिन्तनमें लगता है। यह सौभाग्य भी कुछ ही पुरुषोंको प्राप्त होता है। विषाद, व्याधि, रोग, शोक, परिताप आदिमें जीवनका बहुमूल्य समय नष्ट होता है। श्वास आवे या न आवे इसका क्या भरोसा? महात्माओंने विचार करके देखा है कि यह सब अनित्य है, अन्तमें सब साथ छोड़नेवाले ही हैं—हम इन्हें अभी भले न छोड़ें—

अन्तहुँ तोहि तजैंगे पामर तू न तजै अबही ते।

इस सारी अनित्यतामें एक ही नित्य वस्तु है और वह है हरिकी शरणमें जाना, हरिको पहचानना और पहचानकर सर्वतोभावसे उसीको अपनाना—सच्चे सुखका बस यही एक साधन है—

सुखी मीन जहँ नीर अगाधा। जिमि हरि सरन न एकौ बाधा॥

परमात्माकी शरणमें जाकर उनका अनन्य भजन करना ही परम साधन है—वही एकमात्र नित्यवस्तु है—

उमा कहौं मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना॥

परमात्माकी शरण ही परम गति है। तीनों काल-में वहाँ एक रस है। उस भगवच्चरणकमलकी प्राप्ति-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

के लिये यज्ञ, तप, दान, पूजा आदि अनेक साधन बतलाये गये हैं—इस युगमें यज्ञ, तप आदि सहज ही सम्भव नहीं। यज्ञ सफल होनेके लिये यह आवश्यक है कि देश, काल, द्रव्य शुद्ध हो। कर्मकाण्ड प्रायः लोप-सा हो गया। द्विजातिमात्र प्रायः सन्ध्या-पूजन-तक छोड़ बैठी है। यज्ञ तथा कर्मकाण्डमें ज़रा-सी चूक हो जानेपर पुण्यके स्थानमें पाप होना भी सम्भव है। यदि हम धर्मकी रक्षा करना चाहें तो गोस्वामी तुलसीदासजीकी नानापुराणनिगमागमसम्मत पवित्र श्रीरामायणजीका पाठ करें और तदनुकूल आचरण बनावें। सबसे सरल साधन नाम-स्मरण और नाम-संकीर्तन ही आजकलके लिये है। इसमें कोई भेदभाव नहीं है। ब्राह्मण और चाण्डाल समानरूपसे भगवान्-का नाम ले सकता है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि इससे भी वही वस्तु प्राप्त होती है जो योग-यज्ञ आदिसे। अन्तःकरणकी शुद्धि, ब्रह्मविद्या-की प्राप्ति सब कुछ नाम-स्मरणसे सुलभ हो जाता है। श्रद्धा विश्वासपूर्वक नामकी रट लगानी चाहिये तब उसका आनन्द मिलेगा। चित्तरूपी दर्पणको स्वच्छ करनेवाला केवल श्रीहरि-नाम ही है। वियोग-विषाद-के भयङ्कर हाहाकारभरे जगत्‌में दुःखसे छूटनेका कोई उपाय है तो बस भगवन्नामका संकीर्तन ही है। ब्रह्मविद्याका आधार भी नाम है। नामका स्मरण और संकीर्तन श्रद्धापूर्वक होना चाहिये। यों तो भाव, कुभाव, अनख, आलस्य चाहे जिस प्रकार भगवान्-का नाम लिया जाय उससे दसों दिशाओंमें मंगल ही है। नाम लेते ही संसार-सागर सूख जाता है; मल, विक्षेप और आवरणसे दूषित अन्तःकरणमें नामके द्वारा एक दिव्य प्रकाशका आविर्भाव होता है और सारा कल्मष सदाके लिये मिट जाता है।

विश्वास करके भगवन्नामका आधार पकड़े। पूर्ण श्रद्धाके साथ नामका आश्रय ले। श्रद्धासे ही ज्ञान प्राप्त होता है। हरिनामकी रट लगाते ही आनन्दका समुद्र उमड़ आता है। भगवान्‌के जितने असंख्य नाम हैं उतनी ही सबमें अपार शक्ति है। किसी भी नामका आधार लेकर मनुष्य अपने अन्तःकरणको शुद्ध कर सकता है।

नामका जप हर समय होता रहे। रात-दिन जो हम अपने मनको विषयोंके चिन्तनमें लगा रहे हैं उसे वहाँसे बलपूर्वक हटाकर भगवत्-चिन्तन और भगवत्-स्मरणमें लगावें। इस युगमें सबसे सरल और सबसे अधिक फल देनेवाला साधन भगवन्नामका स्मरण तथा कीर्तन ही है। अभ्यास बढ़नेपर सब काम करते हुए ही हम अहर्निश सोते-जागते भगवन्नाम स्मरण कर सकते हैं। उपनिषदोंमें प्रणव ॐकारके स्मरणकी बड़ी महिमा है। उससे जीवमात्रका कल्याण होता है।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

शुद्ध आचारसे ही विचारोंमें शुद्धता आती है और शुद्ध विचारोंसे ही जीवन शुद्ध होता है। आहार और व्यवहारकी शुद्धि करके नामका चिन्तन करनेसे शीघ्र लाभ होता है। सात्त्विक अन्न भी यदि न्यायपूर्वक कमाईका नहीं है तो उससे हानि ही होती है और भजन-साधनमें विघ्न ही पहुँचता है। इसलिये यह ध्यान रहे कि जो पैसा हम कमाते हैं वह न्यायपूर्वक अर्जित हो। न्यायपूर्वक अर्जन किये हुए धनसे जो सात्त्विक भोजन होता है उससे बहुत शीघ्र लाभ होता है। आहारानुसार ही मन बनता है। मन शुद्ध हुए बिना भक्तिका रस प्राप्त नहीं होता। शुद्ध अन्तः-करणमें ही भगवद्भक्ति ठहरती है और आचरण शुद्ध हुए बिना अन्तःकरण शुद्ध हो नहीं सकता। इसलिये इन्द्रियोंके संयमके साथ-साथ नामस्मरण हो तो शीघ्र ही भगवत्-चरणोंमें अनुराग होता है। और सब साधनोंका परम फल श्रीहरिचरणोंमें अनुराग ही है। और इसीमें मनुष्य-जन्मकी सफलता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

समाधि और संयमतत्त्वसार

(श्रीमार्गेश श्रीशिवरामकिङ्कर स्वामी श्रीयोगत्रयानन्दजी महाराजके उपदेश)

[पूर्वप्रकाशितसे आगे]

अष्टम प्रकाश

मुक्तिप्राप्ति या भगवान्‌को देखनेके लिये नेत्रोन्मीलनका उपाय; ज्योतिष्मती प्रवृत्ति या विशोका ज्योतिः; ज्ञानोत्पत्तितत्त्व; समाधिद्वारा किस प्रकार सर्वज्ञताकी प्राप्ति होती है; चित्तसत्त्व-का स्वरूप; गुरुकृपासे ज्ञानप्राप्ति और ईश्वरप्रणि-धानद्वारा समाधिकी प्राप्ति।

जिज्ञासु—इतना विज्ञान जाननेके बाद जब भगवान्‌को देखनेवाला नेत्र खुल जाता है तब हम लोगोंको क्या होता है?

वक्ता—तुम्हें और कुछ नहीं करना होगा। तुम केवल भगवान्‌के रूपमें—मन स्थिर करके ध्यान करते रहो; फिर क्रमशः सर्वज्ञानविज्ञानमय भगवान् ही तुम्हारे हृदयमें उस ज्ञानका आविर्भाव कर देंगे जिसके द्वारा तुम उन्हें देख सकोगे। हाँ, एक काम करना होगा, तुम अन्य किसी ओर मनको नहीं ले जा सकते। यदि कहो, 'मन तो नाना दिशाओंमें जाता है, क्या करूँ?' तो इसका उत्तर यही है कि पहले गुरुसे यह सीखो कि किस तरह मनको सब ओरसे फिराकर ध्यानमें लगाया जाता है। उसके अनुसार बार-बार मनको फेरते-फेरते क्रमशः इस प्रकारकी एक अवस्था आ जायेगी जब तुम्हारा मन ध्येय विषयको छोड़कर फिर किसी दूसरे विषयमें नहीं जायगा। उस समय, कुछ कालतक यदि वह ध्येयरूपमें स्थित रह जायगा तो फिर हृदयसे ऐसा एक आलोक निकलकर विश्वभरको व्याप्त कर लेगा कि उस आलोकके द्वारा तुम विश्वमें जहाँ जो कुछ है, सब देख सकोगे, सब तत्त्वोंको जान सकोगे। इसका नाम ज्योति-ष्मती प्रवृत्ति—विशोका ज्योतिः है*।

जिज्ञासु—उस समय ठीक किस प्रकारकी अवस्था होती है? किसी उदाहरणके द्वारा क्या उसे समझा जा सकता है?

वक्ता—ठीक किस प्रकारकी अवस्था होती है, यह उदाहरणके द्वारा नहीं समझा जा सकता; हाँ, कुछ अंशमें उसकी धारणा अवश्य हो सकती है। मान लो, एक तालाबमें वारिपर्णी (सेवार आदिकी तरहकी चीज) है। वहाँके स्वच्छ जलको उसके ऊपर स्थित वारिपर्णीने ढक रक्खा है। तुम हाथके द्वारा जब वारिपर्णीको हटा दोगे तो कुछ परिमाणमें स्वच्छ जल अनावृत हो जायगा, और उसमें पड़े हुए अपने मुँहके प्रतिबिम्बको तुम देख सकोगे। हम लोगोंका चित्त अत्यन्त स्वच्छ वस्तु है, उसे तुम उपर्युक्त पुष्करिणीके निर्मल जलके स्थानमें मान लो। हम लोगोंके वर्तमान और पूर्वजन्मोंके नाना कर्मोंसे उत्पन्न संस्काररूप जो जाल है, उससे हमारा चित्त ढका रहता है, उसे वारिपर्णी समझ लो। चित्तनिरोध-रूप क्रियाके द्वारा तुम इस वारिपर्णी या जालको कुछ समयके लिये हटा सकते हो। उस समय, साधारणतः जिन बातों-को तुम अपनी स्थूल इन्द्रियोंके द्वारा नहीं जान सकते, वे अनावृत निर्मल चित्तमें प्रतिबिम्बित होती हैं और तुम उन्हें जान सकते हो। तुम्हारा एकाग्रचित्तताका अभ्यास यदि दृढ़ नहीं हुआ है तो पुनः कुछ समय बाद तुम्हारा चित्त चञ्चल हो उठेगा, दूसरे विषयमें चला जायगा, पुनः वारिपर्णी आकर निर्मल जलको आवृत कर लेगी। तब करना क्या चाहिये? यदि तुम्हें यथार्थ ज्ञानकी अभिलाषा है तो एक हाथसे वारिपर्णीको हटाते रहो और नेत्रको सदा उससे लगाये रखो† इस प्रकार करनेपर सर्वदा वस्तुतत्त्वको जान सकोगे। तुम्हारी ऐसी अवस्था एक दिन-में ही नहीं हो जायगी, ऐसी अवस्था प्राप्त करनेके लिये तुम्हें बहुत दिनोंतक अभ्यास करना होगा। ज्ञानका विचार और प्राणसंयम इन दोनों उपायोंका एक साथ अनुष्ठान करनेसे यह कार्य शीघ्र सिद्ध होता है। हाँ, लगे रहना (निष्ठा) आवश्यक है, गुरुकृपा आवश्यक है। कपट-रहित गुरु-भक्तिके द्वारा ही यह सिद्ध हो सकता है।

रजोगुणका कार्य है आवरणको दूर करना। जिस समय तुम प्राणायाम करते हो, उस समय इस रजोगुणकी

* (विशोका ज्योतिः) के विषयमें अन्यान्य उपदेश पाठकोंको कहीं मिलेंगे।

† अर्थात् ध्येय विषयमें लगाये रखो।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ही क्रिया होती है; जिस समय तुम एकाग्रचित्त होकर विचार करते हो, उस समय भी इस रजोगुणकी ही क्रिया होती है। रजोगुणकी क्रियाके द्वारा तमोरूपी आवरणको हटानेपर ही सत्त्वगुणका आविर्भाव होता है। सत्त्वका धर्म है प्रकाश करना। सत्त्व वहाँ सर्वदा ही है, परन्तु तमके द्वारा आच्छादित है। रजके द्वारा तमके दूर होनेपर ही वह प्रकाशित होता है और सब वस्तुओंको प्रकट करता है। वास्तवमें यह चित्त व्यापक वस्तु है। जिस परिमाणमें रजस्तमका आवरण दूर होता है, उसी परिमाणमें यह भी प्रकाशित होता है और उसी परिमाणमें यह प्रतिविम्बित वस्तुसमूहको प्रकट करनेमें समर्थ होता है। मान लो, तुमने पहले थोड़ी मात्रामें वारिपर्णीको हटाया। जितने परिमाण-में निर्मल जल आवरणरहित हुआ, उतनेमें तुम्हें केवल अपना मुखमण्डलभर दिखायी पड़ा। यदि और भी पर्णी हटा दो तो और भी अधिक परिमाणमें निर्मल जल अनावृत हो जायगा तथा उस समय सम्भवतः तुम अपने हाथ-पैर भी देख सकोगे। क्रमशः तुम अपने शरीरके अतिरिक्त अपने पार्श्वस्थ सब वस्तुओंको भी उस जलमें प्रतिविम्बित देखोगे। इसी तरह यदि पर्णी या तमःको एकदम दूर कर सको, यदि चित्तको पूर्णरूपसे आवरणरहित कर सको तो उसमें सारे विश्वकी समस्त वस्तुओंको प्रति-विम्बित देखोगे, तुम्हें विश्वकी समस्त चीजोंका ज्ञान हो जायगा; क्योंकि चित्तसरोवर वास्तवमें इस दृष्टान्तकी पुष्करिणीकी तरह क्षुद्र या परिच्छिन्न जलाशय नहीं, यह वास्तवमें विभु, अनन्त, अपरिच्छिन्न, सर्वव्यापी सागर-स्वरूप है; अतएव यह सर्वदा सब वस्तुओंका प्रतिविम्ब ग्रहण करनेमें समर्थ है; केवल ऊपर उस पर्णीके रहनेसे अर्थात् तुम्हारे इस कर्मसंस्कारजनित जालका आवरण रहनेसे उन्हें प्रकट नहीं कर पाता। इस जालका विनाश करना होगा, इसका उपाय है प्राणायाम और तत्त्वविचार।

तुमने अभीतक जो कुछ किया है, वह सब विद्या या अर्थ उपार्जन किया है, तुम अमुकके पुत्र, भाई, स्वामी या पिता हो, इस प्रकारका जो ज्ञान या संस्कार तुम्हें है, एवं तुम्हारे पूर्वजन्मके भी इस प्रकारके जितने ज्ञान या संस्कार हैं,—ये ही इसके तन्तु-स्थानीय हैं। जिस समय तुम्हें यह मालूम होगा कि ये सब संस्कार अनादिकालसे तुम्हारे चित्तके ऊपर पड़ रहे हैं, उस समय तुम्हारे मनमें आयेगा—इस जालमें न मालूम कितने ही तन्तु हैं, न मालूम कितनी बार एक स्तर या लेपके ऊपर और एक स्तर या लेप लगा है और क्रमशः जाल न मालूम कितना घन और दुर्भेद्य हो गया है। तुम्हें इस जालको नष्ट करना होगा। कार्य कठिन है, इसमें सन्देह नहीं।

जिज्ञासु—देखता हूँ, कोई विषय यदि एकाग्रचित्त होकर कुछ क्षण सोचता हूँ तो पहले जो बात नहीं समझमें आती थी, वह समझमें आ जाती है; जैसे दर्शनविज्ञान आदिका कोई तत्त्व। इसका क्या कारण है?

वक्ता—इन सब स्थानोंमें तुम किसी विशिष्ट (Parti-cular) स्थानकी पर्णी हटाते हो, इसीसे केवल उस विषयको जान जाते हो; परन्तु सब विषय नहीं जान पाते हो।

गूँगेका गुड़

सखी! हौं स्यामरंग रँगी।
देखि बिकाइ गई वा मूरति सूरति माहिं पगी॥
संग हुतो अपनो सपनो सो सोइ रही रस खोई।
जागेहु आगे दृष्टि परै सखि! नेकु न न्यारो होई॥
एक जु मेरी अँखियनिमें निसिद्योस रह्यो करि भौन।
गाइ चरावन जात सुन्यो सखि! सो धौं कन्हैया कौन?
कासों कहौं कौन पतियावै कौन करै बकवाद।
कैसे कै कहि जात गदाधर गूँगेको गुड़ स्वाद॥

—गदाधर भट्ट

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पर मेरी कौन सुनेगा ?

(लेखिका—श्रीरूपरानी 'श्यामा' बी० ए०)

पुरुषमें शरीरका बल होता है, स्त्रीमें शीलका। पुरुष जब ठोकर खाता है, सँभलकर खड़ा भी हो जाता है। अपनी ओर हँसनेवालोंको वह दण्ड देनेमें भी सामर्थ्य रखता है। किन्तु स्त्री जब ठोकर खाती है तो गिर ही पड़ती है। वह कोमल होती है, अपनेको सँभाल नहीं सकती। जब गिर जाती है तब अपनी ओर हँसनेवालोंका भी वह कुछ नहीं कर सकती। इसीलिये उसे सँभल-सँभलकर, सोच-सोचकर, आगे देखकर और नीची दृष्टि करके चलना पड़ता है। न गिरनेका अवसर होगा न दूसरोंको अपनी ओर उठाकर हँसनेका अवसर मिलेगा। इसीलिये ऊपर देखकर चलना कभी भयङ्कर सिद्ध हो जाता है। जो नीचे देखकर सँभलकर चलती हैं, लोग उनके चरणोंका दर्शन करते हैं, जो ऊपर देखकर चलती हैं, लोग उनके मुखपर दृष्टि डालते हैं। लोगोंकी दृष्टियें जो गिर जाती हैं वे गिर ही जाती हैं। स्त्री-जाति अपना शील खोकर सब कुछ खो बैठती है।

हम आदर्शकी बातें सुनते-सुनते ऊब उठी हैं। पतिव्रता सीता-सावित्रीका नाम सुनते-सुनते कान पक गये हैं। क्यों ! इसीलिये न, कि सीताजीने अपने निर्वासित पतिके साथ भयंकर वनमें रूखा-सूखा खाकर, हल्का-मोटा पहनकर और जाड़ा-गर्मी सहकर चौदह वर्ष बिता दिये थे। इसीलिये न, कि सावित्रीने सत्यवान्‌के प्राणहारी यमके पीछे-पीछे जंगलों-पहाड़ों, झाड़-झंखाड़ोंमेंसे चल-चलकर अपने पतिके प्राण वापिस ले लिये थे। ये सब बातें कितनी पुरानी जान पड़ती हैं। उस समय स्त्रियाँ एक बातको जानती थीं, जिसे एक बार अपना शरीर अग्निमें कर चुकीं वह शरीर अग्निप्रवेशतक और किसी-के नहीं हो सकता।

इस अधिकारके युगमें माता-पिताके द्वारा विवाह-सम्बन्धका निर्णय भी कुछ बहिनोंको नहीं जँचता। उनका कहना है कि हमें जिसके साथ जीवन व्यतीत करना है वह हमारी सम्मतिके बिना क्यों हमारा जीवनसंगी बना दिया जाय ? यह सचमुच अन्याय-सा दिखलायी देता है। किन्तु मैं पूछती हूँ कि यदि चुनावका भार हमपर ही छोड़ दिया जाय तो हम किस यन्त्रसे अपने भावी पतिके गुणोंको और उसकी दीर्घायुको जान सकेंगी ? जब पिता विवाह निश्चय करता है तो वह गुण, शील, स्वभाव, कुल, मान, मर्यादा, सम्पत्ति आदि सभी बातोंका पता लगाकर विवाह करता है। किन्तु स्त्री केवल रूपपर अपना बलिदान कर डालती है। वर्षाऋतुमें जैसे पतंगे दीपककी लौके प्रकाशसे आकर्षित होकर अपने प्राण दे डालते हैं इसी प्रकार स्वेच्छा वरण करनेवाली स्त्रियाँ भी कूद पड़ती हैं। उसका फल वही होगा जो विलायतमें हो रहा है—असन्तोष, गृहकलह, अपकीर्ति और परित्याग। अतः जो हमारे जन्मदाता हैं, जिन्हें हमसे अधिक हमारे सुखका ध्यान है वे हमारे लिये अच्छा साथी ढूँढ़ सकते हैं। हाँ, जान-बूझकर धनके लोभसे यदि माता-पिता अपनी बालिकाओंको वृद्ध, रोगी, पागल अथवा मूर्खसे बाँध दें तो ऐसी स्थितिमें विरोध करना परम धर्म है। किन्तु विवाहके उपरान्त परित्याग करना अथवा विरोध करना तो ऐसा ही है जैसे जान-बूझकर साँपकी पिटारीमें हाथ देना और डसे जानेपर सपेरेको दोष देना। इस प्रकारके विवाहोंको होने ही नहीं देना चाहिये। यही बात बाल और वृद्धविवाहके विषयमें है। बालविवाह-वृद्धविवाहमें यदि कन्या विधवा हो जाय तब क्या होगा ? यह जटिल प्रश्न है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

किन्तु मैं तो कुछ बहुत पीछे पड़ी हुई हूँ। मैं तो विषवृक्षके बीजको अंकुरित होनेसे पूर्व ही नष्ट कर देना अधिक श्रेयस्कर समझती हूँ। हाँ, यदि कोई अपना आचार शुद्ध रखनेकी सामर्थ्य नहीं रखती वह आचरण शुद्ध रखनेका दूसरा उपाय सोच सकती है।

आजकल एक नये तलाक़ कानून (डाइवोर्स-बिल) बनानेकी चर्चा चल रही है। उसके अनुसार खाली बैठे वकीलों और दुर्व्यसनी समाजको कुछ काम मिल जायगा। जिस पुरुषको अपनी स्त्री अच्छी नहीं लगेगी अथवा जिस स्त्रीको अपना पति नहीं रुचेगा वे कचहरीमें परित्यागपत्र देकर अपना विवाह-बन्धन तोड़ सकेंगे। पुरुष जब स्त्रीको दण्डित करता है अथवा जब कोई भी किसीको दण्ड देता है तो केवल दो अपराधोंके कारण। एक तो कार्य-दोष और दूसरे चरित्र-दोषके कारण। यह दण्ड-विधान केवल पुरुष और स्त्रीके व्यवहारमें ही नहीं वरं सारे संसारमें होता है। जो अधिकारी गुणी अथवा चतुर होता है वह चतुरता और बुद्धिमानीसे अपने सहायक-को कार्य-दोष समझा देता है किन्तु जो स्वभावतः चिड़चिड़े अथवा क्रोधी होते हैं वे शारीरिक दण्डका आश्रय लेते हैं। यह चिड़चिड़ापन और क्रोध केवल पुरुषोंमें ही नहीं, बहुत-सी स्त्रियोंमें भी होता है। अतः दोनों दलोंको सन्तुष्ट रखनेका उपाय एकमात्र यही है कि पुरुषोंको पुरुषोचित और स्त्रियोंको स्त्रियोचित शिक्षा देनी चाहिये। ऐसा न हो कि दालमें नमक डालनेके लिये, तरकारी छीलनेके लिये, फटी धोती सीनेके लिये पतिदेवकी आवश्यकता पड़े और दफ्तरके कागजको धर्मपत्नीजी सँभालती फिरें। अंग्रेजी शिक्षाक्रमसे मुझे यह अत्यन्त कटु अनुभव हुआ है कि चाहे कन्याओंका आचार भले ही शुद्ध रहता हो पर विचार तो भ्रष्ट हो ही जाते हैं। यदि विश्वास न होता हो तो भारतीय विश्वविद्यालयोंके पाठ्यक्रमोंको उठाकर देखनेसे यह भ्रम दूर हो जायगा। अतः हमारी प्रधान आवश्यकता तो उचित शिक्षा है। मैंने सुना है कि आजकलके पढ़े-लिखे युवक यह चाहते हैं कि उनकी स्त्रियाँ इतनी अंग्रेजी अवश्य पढ़ी हों कि यदि उनसे अंग्रेजीमें पानी माँगा जाय तो वह वॉटरके स्थानपर मटर न ला रक्खें। ऐसे युवकोंको सुबुद्धि प्रदान करनेके लिये मैं केवल ईश्वरसे प्रार्थना कर सकती हूँ। और क्या कहूँ ? मेरे कहनेका सारांश यह है कि जहाँ दोनों योग्य होंगे वहाँ कलहकी बात आ ही नहीं सकती और तुलसीदासजीकी जिस चौपाईको लोग इस दण्ड-विधानका कारण समझते हैं उन्हें भी सन्तोष हो जायगा।

किसीको आगमें कूदते देखकर स्वयं भी कूद पड़ना बुद्धिमानी नहीं है। यदि पति वेश्यागामी हो अथवा दस विवाह करता हो तो स्त्री भी वैसा ही करे यह तर्क मुझे नहीं जँचता। मित्र और साथीका धर्म यह नहीं है कि यदि हम कुमार्गमें जाते हों तो वह भी कुमार्गका अनुसरण करे। स्त्री भी एक मित्र है, साथी है। यदि पति कुमार्गकी ओर जाता है तो स्त्रीका धर्म है कि उसकी रक्षा करे। जो स्त्री गुणवती होगी उसका पति कुमार्ग-में जानेका साहस हो नहीं कर सकता। जो लोग इस प्रकार स्त्रियोंको पापकर्मकी ओर उकसा रहे हैं वे स्वयं स्वार्थी और अज्ञानी हैं। वे विचार-बुद्धिका प्रयोग नहीं करते हैं। आजकल समाचारपत्रों और पत्रिकाओं-में ऐसी बहुत-सी बातें निकलती हैं कि मैं अमुक जातिकी कन्या हूँ और मेरा अमुक व्यक्तिसे स्नेह हो गया है और वे सम्पादक महोदयसे राय माँगती हैं। हमारे यहाँकी एक पत्रिका इस प्रकारकी सम्मति देनेमें बड़ी उदार है किन्तु इस प्रकारका स्नेह अपवित्र, गंदा और कलंकित होता है। जिस प्रेममें स्वार्थ

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पवित्रता नहीं, जिसमें हृदयका नहीं, आत्माका नहीं केवल अस्थि-चर्ममय देहका आकर्षण है और वह भी दुर्भावना-प्रेरित—उस प्रेमको प्रेम न कहकर वासना कहनी चाहिये। इस गुलाम देशमें बहुत-सी व्याधियाँ आ चुकी हैं। इस विलायती व्याधिको अभी वहीं रहने दो, कहीं ऐसा न हो कि हिन्दुओंके धर्मग्रन्थ पृथ्वीमें समा जायँ और चित्तौड़की चमत्कारी चिता समुद्रके गर्भमें डूब जाय! अब भी भारतको यदि देखना हो तो स्त्रियोंका हृदय टटोलो। दीन भारतको उन्हींका भरोसा है। पुरुष तो उसे बेंच चुके हैं। उसका बचाखुचा गौरव अब भी भारतीय स्त्रियोंके मुखमण्डल-पर देखनेको मिलता है। स्त्रियोंकी सभाएँ हो रही हैं। पर्दा फाड़कर बाहर लेक्चर झाड़ने और प्रस्ताव पास करनेपर बधाइयाँ मिल रही हैं। सारा संसार सुधारकों-की ओर कान लगाये खड़ा है। उनकी विलक्षण युक्तियों और तर्कोंको सुन-सुनकर स्त्रियाँ अपनी दशा-पर खीझ उठी हैं। मैं भी बहुत कुछ कहनेको चली थी, पर मेरी कौन सुनेगा? (सनातनधर्म)

अनुष्ठानकी उपयोगिता

(लेखक—श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

स्वेच्छया स्वीकृतो बन्धो निर्बन्धायोपकल्पते।
परेच्छया कृतो बन्धो बन्ध इत्यभिधीयते॥*

(शां० प्र० वे०)

यह ध्रुव सत्य है कि संसारका बन्धन या संसार-का बन्धन हमने अपने-आप ही स्वीकार कर लिया है। अद्वैत वेदान्तका सिद्धान्त है कि यह दृश्यमान जगत् है ही नहीं। हमें जो ये वृक्ष, पेड़, पत्ते, घोड़ा, मनुष्य, शान्तनु, वेदबन्धु आदि दिखायी देते हैं ये वास्तवमें कुछ हैं नहीं। इनकी त्रिकालमें भी न सत्ता थी, न है, न होगी। जब यह जगत् ही नहीं तब बन्धन कैसा? और जब बन्धन नहीं तब मुक्तिका अस्तित्व कहाँ? जब मुक्ति कोई वस्तुसंज्ञा ही नहीं तब उसके लिये साधन भी नहीं, अतः जितना भी कुछ प्रपञ्च है, साधन है, कर्म है, सभी भ्रममात्र हैं। यह तो सिद्धान्तकी बात हुई। इतना सब मानते हुए भी वे साधनकी आवश्यकता स्वीकार करते हैं। उन्होंने दो हिस्से किये हैं, परमार्थ और व्यवहार। यह ठीक है कि परमार्थमें साधन-साध्य-साधक कुछ भी नहीं, फिर भी व्यवहारमें इनकी आवश्यकता होती ही है। भ्रम ही सही, एक बार तो जीवको ब्रह्मसे पृथक् होने-का भान हो ही गया। इस भ्रम-मूलक भावनाको उसके विपरीत भावनासे हटाना होगा। कोई आदमी आदमी है, अब वह बार-बार कहे कि मैं आदमी हूँ, मैं आदमी हूँ तो यह उसकी अज्ञता ही मानी जायगी। हाँ, किसी बच्चेको भेड़ियोंमें रहते-रहते यह प्रतीति हो गयी हो, कि मैं भेड़िया हूँ और फिर सद्गुरुद्वारा उसकी इस मिथ्या भावनाको हटाना पड़े तो वह बार-बार कहेगा मैं भेड़िया नहीं आदमी हूँ, आदमी हूँ तब यह भावना उपयुक्त कही जायगी। इसीलिये कहा गया है—'कण्टकेनैव कण्टकम्।' काँटेसे ही काँटा निकाला जाता है। जबतक पैरमें काँटा नहीं लगा

* अपनी इच्छासे किया हुआ बन्धन मुक्तिका हेतु होता है। जिन नियमोंको हम स्वेच्छासे स्वीकार करके उनका दृढ़तासे पालन करते हैं, उनके फलस्वरूप हम निर्बन्ध हो जाते हैं, स्वाराज्यके अधिकारी बनते हैं। जबरदस्ती बलपूर्वक जो बन्धन हमारे सिर लाद दिया जाता है उसीका नाम बन्धन है, वह दुःखका हेतु है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

था, तबतक दूसरे काँटेकी भी अपेक्षा नहीं थी। हमारे प्रमादसे, असावधानीसे, पूर्वसंस्कारोंसे काँटा लग ही गया तो वह काँटेसे ही निकाला जा सकता है। काँटा लगनेपर कहें कि एक काँटा तो लगा ही हुआ है, दूसरे काँटेको उसमें क्यों छेदते हो, तो यह मूर्खता ही कही जायगी। पहला काँटा तो स्वतः ही लग गया। उसकी न तो इच्छा की थी और न उसके लिये प्रयत्न ही किया गया। यदि वह न लगता तब इस दूसरे काँटेकी भी जरूरत नहीं थी। पर जब यह लग ही गया तब तो दूसरे काँटेके बिना छेदे निकलनेका नहीं। जब निकल जाय तब दोनों ही बेकार हो जाते हैं, दोनों ही फेंक दिये जाते हैं। ठीक इसी तरह यह संसारका बन्धन है। भाई! स्त्री-पुत्र हमेशा हमारे साथ थोड़े ही लगे डोलते हैं। लखपती अपने लाखों रुपयोंको साथ थोड़े ही बाँधे फिरता है, किन्तु मनने इन्हें अपना स्वीकार कर लिया है। मनने इनके साथ अपनेपनका सम्बन्ध मान लिया है, इसीसे इनके दुःखमें दुखी और इनके सुखमें सुखी होना पड़ता है। इससे यही सिद्ध हुआ कि सुख-दुःख, बन्ध और मोक्षका हेतु मन ही है। मनने जिसे अपना मान लिया वह अपना है, मनने जिसे दुःख मान लिया वह दुःख है। मनने जिसे बन्ध मान लिया वह बन्ध है। मोक्ष मानना मनके अधीन नहीं है। क्योंकि मोक्ष तो मनसे परेकी चीज है। मनुष्य अपने पुत्र-पौत्रकी बातें कह सकता है, किन्तु अपने पिता-पितामहकी बातें वह देखी हुई नहीं कह सकता क्योंकि वे इससे परे हैं।

मनका स्वभाव है बँधे रहना। जबतक मन किसी सम्बन्धमें बँधेगा नहीं तबतक काम करेगा नहीं। यदि माताका मन पुत्रके ममत्वमें बँधे नहीं तो वह उसका मल-मूत्र उठाना, उसे दुग्धादि पिलाना आदि काम न करे। पुरुषका मन स्त्रीके अपनेपनमें कसकर यदि न बँधता तो वह उसके भरण-पोषणके लिये प्राणपणसे चेष्टा कभी न करता। मन हमेशा बन्धनके वशीभूत होकर ही काम करता है।

हमारा मन हमेशा लोकधर्मोंमें बँधा हुआ है। इच्छा न रहनेपर भी हम झूठ बोल जाते हैं, स्वतः ही मनके विरुद्ध काम होनेपर क्रोधावेशमें पागल हो जाते हैं, क्योंकि हमारा मन बुद्धिके वशवर्ती नहीं है, वह लोकधर्मोंमें स्वभावतः बँधा हुआ है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर ये ही इसके लिये ढालू मार्ग हैं और स्वभावतः इन्हींकी ओर यह आता है। ये सभी परमार्थमें बाधक हैं, संसारमें और भी जकड़कर बाँधनेवाले हैं। अतः जिन्हें संसारमें अधिकाधिक बँधना हो, इन संसारी बन्धनोंकी शृङ्खलाओंको और भी जोरसे कसना हो वे मनके वशमें रहें और लोकधर्मोंमें प्रवृत्त होकर मनरूपी रथपर चढ़कर निरन्तर घूमते रहें। किन्तु जो इस संसारी बन्धनसे ऊब गये हैं, इस मोहपाशको तोड़कर परमार्थकी ओर बढ़ना चाहते हैं, उनको मुमुक्षु कहते हैं, उन्हें इसके विपरीत काम करना होगा।

बद्ध जीव तो विषयवृत्तियोंमें बँधा ही है किन्तु जो इन शृङ्खलाओंको तोड़कर इनसे मुक्त होना चाहते हैं उन्हें भी पहले-पहल बन्धनोंमें बँधना होगा। परन्तु उनका वह बन्धन मनका बन्धन न होगा। वह बुद्धियुक्त बन्धन होगा। मनके अधीन होनेसे संसारकी प्राप्ति होती है और बुद्धिकी शरण जानेसे परमार्थकी उपलब्धि होती है। तभी तो भगवान्‌ने कहा है—'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' बुद्धिकी शरणमें जाओ 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' सूक्ष्मदर्शी पुरुष उस आत्माको अत्यन्त सूक्ष्म कुशाग्र-बुद्धिकी सहायतासे ही देख सकते हैं।

हाँ, तो मनकृत बन्धनको संसारी बन्धन कहते

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हैं और सद्-असद्-विवेकिनी बुद्धिकी सहायतासे किये हुए बन्धको परमार्थ-अनुष्ठान कहते हैं। 'परमार्थ-अनुष्ठान' प्रभुकी प्राप्तिका मुख्य कारण है और 'संसारी बन्धन' पतनका प्रधान कारण है।

जो परमार्थ-पथकी ओर अग्रसर होना चाहते हैं, जो इन प्रपञ्चोंसे परे होकर प्रभु प्राप्तिके लिये उत्सुक हैं उन्हें सबसे प्रथम पारमार्थिक अनुष्ठानोंकी शरण लेनी होगी। प्राचीन कालमें जिन द्विजातियोंका एक-मात्र प्रधान उद्देश्य परमार्थकी प्राप्ति ही था उन्हें बाल्यकालसे ही अनुष्ठानके बन्धनोंमें बँधना पड़ता था। त्रिकालदर्शी महर्षियोंने द्विजातियोंके लिये पाँच वर्षकी अवस्थासे लेकर मरणपर्यन्त जो-जो बन्धन बनाये हैं वे सभी परमार्थके अनुष्ठान ही हैं। चार वर्षकी अवस्थातक बच्चा स्वतन्त्र माना गया है, चार वर्षतक उसे न पुण्य लगता है न पाप। इसके बाद यदि वह मनके अधीन होकर स्वेच्छापूर्वक आचरण करता है तो वह संसारी बन्धनोंमें अधिकाधिक अपने-को बाँधता जाता है, यदि यज्ञोपवीत होते ही ब्रह्मचर्य-के बन्धनोंमें बँधकर बुद्धिपूर्वक अनुष्ठान करता है तो वह परमार्थकी ओर अधिकाधिक बढ़ता जाता है। इसीलिये उस व्रतको मौंजीबन्धन या व्रतबन्ध संस्कार कहते हैं। इसके बाद वेदारम्भ और गृहस्थ-धर्म, फिर वानप्रस्थके नियमोंमें बँधता है। यद्यपि संन्यासीको नियमोंसे परे माना गया है तो भी उसके लिये बहुतसे बन्धन हैं। स्त्रीका स्पर्श न करे, भिक्षा माँगकर खाय, गाँवमें न रहे, आजीविका न करे, व्याख्यान न दे, वाद-विवाद न करे आदि। क्योंकि बिना बन्धनमें बँधे मुक्ति हो ही नहीं सकती।

समयके प्रभावसे वे सभी बन्धन ढीले हो गये। नामके ब्रह्मचारी शायद सुनायी भी पड़ें, किन्तु ब्रह्मचर्यके नियमोंमें बँधे हुए ब्रह्मचारी कहाँ दिखायी देते हैं? गृहस्थके यथार्थ बन्धनोंको माननेवाले गृहस्थी कितने हैं। वानप्रस्थोंका तो अभाव ही हो गया है, काषाय-वस्त्रोंके बन्धनको छोड़कर संन्यासी और किस संन्यास-बन्धनको मानते हैं? पहले प्रत्येक गृहस्थी ब्राह्मण दार्श-पौर्णमासादि यज्ञोंके बन्धनमें बँधे रहते थे। ऋतु-ऋतुके यज्ञोंको वे बड़े कष्ट सहकर भी करते थे। क्षत्रिय हजार हजार वर्षके दीर्घ यज्ञोंका अनुष्ठान करते थे, उनमें वे मृगचर्मको ओढ़कर भूमिशायी, एकाहारी और ब्रह्मचर्यव्रतसे रहकर यज्ञके अनुष्ठानको सम्पन्न करते थे। ऐसे राजाको कोई राजा माननेको तैयार ही नहीं होता था जिसने ऐसे अनेकों यज्ञानु-ष्ठान न किये हों। बहुत-से तपस्वी गायत्रीका अनुष्ठान करते थे, बहुतसे चातुर्मासका अनुष्ठान। ये सभी अनुष्ठान उन्हें ऊँचे उठानेवाले होते थे, इनसे उन्हें सांसारिक दिव्यशक्तियाँ तथा परमार्थकी प्राप्ति होती थी।

आज वे प्राचीन गुरुकुल कहाँ हैं? भिक्षाजीवी ब्रह्मचारियोंको रोज बनी-बनायी भिक्षा कौन देगा? ब्रह्मचारी तो एक दिन भी भिक्षा न माँगे तो उसे दोषका भागी बनना पड़ता है। वेतन लेकर पाठशाला और हाई स्कूलोंमें पढ़ानेवाले तथा रसोई बनाकर और स्टेशनों पर पानीपाँड़ेकी नौकरी करनेवाले ब्राह्मणोंसे दार्श-पौर्णमासादि यज्ञोंके अनुष्ठानमें प्रवृत्त करानेकी बातें कहना हास्यास्पद ही होगा। वे क्षत्रिय तो इस देशमें रहे ही नहीं जो अश्वमेधादि यज्ञोंके दीक्षित होकर उनके नियमोंका पालन करते। अब तो घोर कलिकाल है, जिसमें न मन्त्रशुद्धि है, न क्रियाशुद्धि है, न वर्णशुद्धि है और न आश्रमशुद्धि। सम्पूर्ण वर्ण और आश्रम एकाकार-से हो रहे हैं। सभीकी प्रवृत्ति पैसोंकी ओर बढ़ रही है। पेट पालना ही परमार्थसे बढ़कर परम पुरुषार्थ हो रहा है। पेट कैसे भी भरा जाय, इसका अब किसी वर्णमें तनिक भी विचार नहीं रहा। दूध और रस बेचना जिन ब्राह्मणों-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

के लिये महापाप कहा गया था आज उनमेंसे कई ब्राह्मण रस ही नहीं सुरा बेचकर जीवननिर्वाह कर रहे हैं !! कलियुगकी महिमा है, इसमें किसको दोष दिया जाय ? इसीलिये श्रीमद्भागवतके माहात्म्यमें कहा है—

एकाकारं कलिं दृष्ट्वा सारवत् सारनीरसम्।
विष्णुरातः स्थापितवान् कलिजानां सुखाय च॥

यद्यपि यह कलियुग निस्सार है किन्तु इसमें एक ही बड़ा भारी गुण है कि केवल कीर्तन करनेसे परमपद-की प्राप्ति होती है, इसी गुणके कारण कलियुगी जीवों-के हितके लिये महाराज परीक्षितने इसे अपने राज्यमें स्थान दिया। महाराज परीक्षित कलियुगके इसी गुणपर रीझ गये, कि—

यत्फलं नास्ति तपसा न योगेन समाधिना।
तत्फलं लभते सम्यक् कलौ केशवकीर्तनात्॥

अन्य युगोंमें जो फल घोर तपस्या, योग-समाधि आदिसे प्राप्त नहीं होता था, वह कलियुगमें केवल भगवन्नामकीर्तनसे ही प्राप्त हो जाता है।

इससे यही सिद्ध हुआ कि इस युगका धर्म 'भगवन्नाम-कीर्तन' ही है। नामकीर्तन, गुणकीर्तन, लीलाकीर्तन आदि कैसे भी कीर्तन हो और जहाँतक हो ये सभी कीर्तन साथ-ही-साथ हों तो उत्तम। भगवन्नाम-महिमा और भगवद्गुणानुवाद सुननेको मिले, भगवान्‌के नामोंका भक्तोंके समूहके साथ कीर्तन करनेको मिले और भगवान्‌के प्यारे भक्तोंके संसर्गमें रहकर उनके नामोंके जप करनेका सुयोग प्राप्त हो ऐसा अनुष्ठान ही कलिकालमें सर्वोपयोगी और इस युगके अनुकूल हो सकता है।

भगवान्‌के नामका तो कैसे भी जप-कीर्तन किया जाय उत्तम ही है, किन्तु विधिपूर्वक नियमसे अनुष्ठान-पूर्वक जो नाम-जप-कीर्तन किया जाता है, उससे चित्तपर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। मन तो है बदमास। यह उद्दण्ड घोड़ा है, जबतक इसके मुँहमें बन्धनरूपी लगाम न लगायी जाय और इसकी पीठपर नियमरूपी चाबुक रोज तड़ातड़ न मारे जायँ, तब-तक यह आगे बढ़ता ही नहीं। इसलिये नामजापकोंके लिये यह परमावश्यक है कि कहीं ऐसी भक्तमण्डलीमें जाकर नामका अनुष्ठान करें जहाँ सत्संग, नामजप, भगवन्नाम-कीर्तन और भगवत्-कथा-श्रवणके सभी सुयोग साथ ही हों। जबतक मनके ऊपर कोई बन्धन नहीं रहता तबतक यह मनमानी करता है। अनुष्ठानमें नियुक्त होते ही मन परवश हो जाता है, उसकी स्वेच्छाचारिणी वृत्ति एक नियममें बँध जाती है, इसीलिये राजर्षि जनकने अनुष्ठानके सम्बन्धमें कहा है—

अनुष्ठाने नियुक्तत्वं स्वातन्त्र्यमपकर्षति।

अनुष्ठानमें नियुक्त होते ही स्वतन्त्रता अपहरण हो जाती है। तब मनके अधीन न रहकर नियमोंके अधीन रहना पड़ता है। और विधिवत् नियमोंका पालन हमें परमार्थकी ओर अग्रसर करता है। यदि भगवन्नामका संख्यापूर्वक जप और नियम-संयमसे रहकर कीर्तन किया जाय तब तो सोनेमें सुगन्ध ही है। नामजप तो श्रद्धा अश्रद्धा हेलासे कैसे भी किया जाय उत्तम है किन्तु नियम-संयमसे रहकर अनुष्ठानके रूपमें किया जाय तो इस युगमें वह अनेकों अश्वमेध राजसूय यज्ञोंसे बढ़कर है।

झूसीमें एक सालतक जिन साधकोंने मौनी-फलाहारी रहकर नियम-संयमसे जो भगवन्नामजप-कीर्तन—अनुष्ठान किया, उनमेंसे अधिकांश साधक भगवन्नामानुरागी हो गये हैं। भगवान्‌के नामोंमें अनुराग हो जाय इससे बढ़कर सकलसुमंगलसिद्धि और क्या हो सकती है। यह बड़े हर्षकी बात है, **कि ऐसा ही एक अनुष्ठान गोरखपुरमें होनेवाला है।** परमार्थपथमें अग्रसर होनेवाले साधकोंसे मेरी विनम्र

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रार्थना है कि वे इस अनुष्ठानमें सम्मिलित होकर और विधिवत् नियमोंका पालन करते हुए अपनेको भगवत्-प्रेमाभिमुख बनावें। इस तरहके सम्मिलित अनुष्ठान देशमें जितने भी अधिक हो सकेंगे उतने ही उत्तम हैं। ऐसे अनुष्ठानोंके आयोजन करनेवाले महानुभावोंसे तथा इनमें प्रविष्ट होनेवाले साधकोंसे मेरी यही विनम्र प्रार्थना है कि इनमें दम्भ या दिखावेकी भावना बिल्कुल ही न होनी चाहिये और इस बातकी प्रतिक्षण चिन्ता रखनी चाहिये कि हमारा कोई क्षण नाम-जप-कीर्तन, भगवत्-चिन्तनके बिना तो नहीं बीत रहा है। अनुष्ठानका पूरा समय भगवत्-गुण-कीर्तन, चिन्तन, स्मरण, कथाश्रवणमें ही बीते तभी ऐसी अनुष्ठानोंकी सार्थकता है। और तभी ये अनुष्ठान उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

कृत्रिम सभ्यता

(लेखक—श्रीभगवतीप्रसादसिंहजी एम० ए०)

'जो कुछ है, सब अच्छा है' 'ऐसा कुछ भी नहीं है जो अच्छा न हो' इत्यादि बातें वेदान्तकी दृष्टिसे सर्वथा सत्य हैं; क्योंकि वेदान्त किसी तंग दृष्टिकोणसे पदार्थोंका विचार नहीं करता, बल्कि सनातन और विश्व-कल्याणकी दृष्टिसे विचारता है। फिर भी अन्तःकरणकी दो विशिष्ट अवस्थाएँ हैं जिनसे प्रस्तुत विषयका विचार किया जा सकता है। एक अवस्था नैराश्यकी अर्थात् दैवाधीनताकी है और दूसरी आशाकी, आत्मविश्वासकी। इन्हीं दो विचार-दृष्टियोंसे यहाँ हमलोग वर्तमानकालीन उन्नतिशील कहानेवाली सभ्यताका विचार करें।

अधिकांश लोग वर्तमान अवस्थाके बाह्य रूप और चमक-दमकसे मानो इतने मुग्ध हैं कि उनको यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि वर्तमान सभ्यता सचमुच ही कोई बहुत बड़ी चीज है। उनके चित्तमें सभ्यता-सम्बन्धी कोई प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु इन श्रेणीमें जो लोग धैर्य और शान्तिपूर्वक अभीकी सब बातोंके वास्तविक स्वरूपको विचारते हैं वे इस बातको स्वीकार करते हैं कि साम्प्रतिक सभ्यताके मूलमें ही कोई प्रमाद है। साथ ही वे यह भी सोचते हैं कि यह जो कुछ हो इसमें सरपच्ची करनेसे कोई मतलब नहीं निकल सकता। कारण, यह जमाना ही ऐसा है और इसे पलटना असम्भव है। इस हालतमें सबसे अच्छी बात, उनके विचारमें यही है कि इसकी तरफसे अपनी आँखें बंद कर लो और काल-प्रवाहमें बह चलो। ये ही लोग हैं जिन्हें मैं नैराश्यवादी या दैववादी कहता हूँ। इनके विपरीत, कुछ ऐसे लोग हैं जो यह समझते हैं कि अभी जैसी भी हालत हो, इसे अपनी सारी शक्ति लगाकर सुधारना चाहिये। इसमें सन्देह नहीं कि अभीका रवैया बदलकर सन्मार्गके चलानेमें बहुत समय लगेगा, पर इसका यह मतलब नहीं कि हिम्मत हारकर हाथ-पर-हाथ धरके बैठे रहो। अभीकी जो मानव-मनो भूमिका है तथा इस समय जैसी दरिद्रता बढ़ रही है और सामान्य जनसमूहकी जो दुर्गति हो रही है उससे अभीकी दुरवस्थाके सम्बन्धमें जो उपेक्षा है उसका परदा फाड़नेमें सबसे बड़ी मदद मिलनेवाली है। यह सम्प्रदाय आशावादियोंका है। मैं इसी आशावादकी दृष्टिसे वर्तमान अवस्थाके कुछ स्वरूपोंका यहाँ विचार करना चाहता हूँ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वर्तमान सभ्यतामें जो मूलगत दोष है वह यह है कि यह सभ्यता मनुष्यके सुख और शुद्ध जीवनकी सामग्री नहीं जुटाकर देती बल्कि व्यापारको फैलाती है। इस जमानेका ईश्वर मानो धन ही है और इस धनके लिये मनुष्यके साथ ऐसा बर्ताव किया जाता है जैसे वह कोई औजार या यन्त्र हो। शहरोंमें आ-आकर लोगोंका ठसाठस भरना और देहातोंसे सादगीका नष्ट होना, ये इसके स्वाभाविक परिणाम हैं और मैं समझता हूँ कि प्रत्येक विचारशील शान्त पुरुष ऑलिवर गोल्डस्मिथके 'ट्रैवेलर' (बटोही) और 'डेज़र्टेड विलेज' (ऊजड़ ग्राम) नामक नामी काव्यों-में प्रदर्शित विचारोंकी यथार्थता अवश्य स्वीकार करेगा। नगरोंमें नागरिकोंका जीवन इतना कृत्रिम हो चुका है कि इससे अधिक और क्या होगा, और इसीका यह फल है कि लोगोंकी जीवनीशक्ति घट गयी है, कद घट गया है, रोगोंकी वृद्धि हुई है, धनके रहते भी वास्तविक सुख कहीं रही नहीं गया है, और कितनी ही ऐसी अन्य आपदाएँ घेरे हुए हैं। इसलिये प्रत्येक दयालु और उदार पुरुषका यह कर्तव्य है कि वह लोगोंका ध्यान उस दुःखघरकी ओर दिलानेका यत्न करे जिसकी मायामें ये लोग फँसे हुए हैं, और कोई ऐसा उपाय निकालें जिससे जीवनका अधिक स्वाभाविक ढंग लोग फिर इख्तियार करें।

नगरोंमें प्रकृतिप्रदत्त प्रायः सभी सुखसाधनोंकी नकलें मौजूद हैं जो प्राकृतिक साधनोंके स्थानमें आकर बैठ गयी हैं और सर्वसाधारण लोग इन नकलोंसे ऐसे मुग्ध हैं कि बड़े सुख और सन्तोषके साथ इन्हें अपने छातीसे लगाये हुए हैं; तथापि इन अस्वाभाविक नकली साधनोंका अन्तमें बुरा परिणाम होता ही है। कारण, प्रकृतिके नियमोंके उल्लंघनको प्रकृति कभी क्षमा नहीं करती। उदाहरणार्थ, जीवनके प्रायः सभी अत्या-वश्यक साधन—हवा, जल, प्रकाश, उष्णता, खाद्य पदार्थ, चलना-फिरना इत्यादि—अप्राकृतिक और अवैज्ञानिक रूपको प्राप्त हुए हैं। इनमेंसे कुछका यहाँ विचार करें।

भिन्न-भिन्न ऋतुओंका होना किसी हेतुसे है और इनकी मर्यादा उल्लंघन करनेका कोई प्रयास अन्तमें दुःखका ही कारण होता है। देहातोंका जीवन ऐसा है कि उसमें सर्दी और गरमी दोनोंकी ही कड़ाईका हमें अभ्यास हो जाता है और दोनोंके कार्योंको हम सुख-पूर्वक बर्दाश्त कर लेते हैं। परन्तु नगरोंमें सर्दी और गरमी दोनोंकी ही मर्यादा लाँघनेका प्रयत्न किया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि सिरमें सर्दी लग जाना, गलेका सूजना, फेफड़ोंका सूजना, लकवा लगना तथा ऐसे ही और केस बहुत होने लगे हैं। बात यह है कि नसें इतनी ढीली हो जाती हैं कि वे ऋतु-परिवर्तनके प्रभावोंको बर्दाश्त नहीं कर सकतीं और जरा भी गड़बड़ होनेसे ये विवश हो जाती हैं। जो लोग बिजली या तेलके पंखेके अभ्यस्त हैं और सदा इन्हीं पंखोंसे काम लेते हैं, उन्हें इन पंखोंके बिना यदि कहीं कुछ काल रहना पड़े तो एक क्षण भी चैन न मिले। आयुर्वेदशास्त्रके अध्ययनसे यह मालूम होता है कि विविध धातुओंके पत्रों और काठके तख्तोंके योगसे निकलनेवाली हवा भिन्न-भिन्न प्रकारकी होती है। ताडपत्रके योगसे निकलनेवाली हवा और पंखेके लौहपत्रसे होकर निकलनेवाली हवामें आकाश-पातालका अन्तर है। पर इस सूक्ष्म भेदको जिसका परिणाम अवश्य ही बहुत दूरतक पहुँचता है, कौन सोचने लगा? गरमीको तुच्छ करानेवाली हवा उन्हें दो, जिसमें वे अधिक काम करें, पीछे उसका चाहे जो परिणाम होता रहे! ऐसी ही बात पेयके सम्बन्धमें है। मैं ऐसे लोगोंको जानता हूँ जिन्होंने बरसोंसे शुद्ध जलका एक घूँट भी कभी नहीं पिया। मादक पेयोंकी बात छोड़ दीजिये, चाय,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कॉफी, कोको ये उनके गरम पेय हैं और सोडा, लेमनेड आदि ठंडे पेय। इन गरम पेयोंके दौर्बल्य-कारक परिणाम और इनके मादक गुण अब लोगोंपर प्रकट हो रहे हैं, पर अभ्यास एक ऐसी चीज है कि ये इनके पंजोंसे छूटते नहीं हैं। जरा सोचिये, हिन्दुस्थानका कोई अधिवासी उत्तर हिन्दुस्थानमें, जूनके महीनेमें जिसमें गरमी सबसे अधिक पड़ती है, नाश्तेके समय गरम-गरम चाय पीता है, इसके क्या मानी? क्या आप समझते हैं कि इससे उसको कुछ फायदा हो सकता है? परन्तु आप रेलवे स्टेशनों और अन्य स्थानोंमें देखिये, हर रोज हजारों आदमी ऐसा काम कर रहे हैं। जब कि मारे गरमी और प्यासके आपकी जीभ सूख रही हो, ऐसे समय आपके जीभपर जरा-सा तारकोल छोड़ दिया जाय तो इसकी क्या हालत होगी? मैं समझता हूँ कि इस कल्पनाको सुन-कर ही आप हँसेंगे। परन्तु आज लाखों आदमी, सचमुच ही, रोज-रोज यही लज्जत ले रहे हैं। गैसभरे हुए सोडा, लेमनेड आदि पेयोंमें चीनी या साकराइन जगहकी जो चीज प्रायः डाली जाती है वह सचमुच ही एक दूसरे प्रकारका कोयला (या उससे निकला हुआ तारकोल) ही है। और ये जो तरह-तरहके सेंट और कलर(रंग) हैं ये भी प्रायः इसी मनहूस चीजसे बनाये जाते हैं। पर लोग तो बड़े शौकसे इन सब चीजोंका उपयोग कर रहे हैं।

नयी रोशनीवाले ये लोग दँतवनके लिये पेड़के ताजा कटे दँतवनका उपयोग करनेको हँसते हैं, इसे वे 'डारको चबाना' कहते हैं। पर वह टूथ-ब्रश इस्तेमाल करनेमें इन्हें जरा भी हिचक नहीं होती जो रोगके कीटाणुओंका घर है। भैषज्य-शास्त्र यह बतलाता है कि एक बार इस्तेमाल किया हुआ टूथ-ब्रश जबतक अच्छी तरह रोगनिवारक ओषधियोंके उकालेसे धो न लिया जाय या उसके कीटाणु नष्ट न किये जायँ तबतक दुबारा उससे काम न लेना चाहिये। और कुछ डाक्टर यह कहते हैं कि ऐसे टूथ-ब्रशोंको २४ घंटे कारबोलिक लोशनमें डुबोकर रखना चाहिये पर इन सब बातोंकी कौन परवा करता है? परिणाम यह होता है कि पायरिया तथा दाँतोंकी और दूसरी-दूसरी बीमारियाँ बढ़ती जा रही हैं। ब्रशसे एक बार मलकर दाँतोंको इन लोगोंमें सभी अच्छी तरहसे धोते भी हैं या नहीं, इसमें सन्देह है।

यह कृत्रिम बिजलीकी रोशनी न केवल आँखोंको चकाचौंध करती है बल्कि इनसे आँखें खराब हो जाती हैं; इससे नगरोंमें ऋतुमान भी विपर्यस्त हो जाता है। लोहेके नलोंसे लोगोंके घर-घर जल पहुँचाना, देखनेमें तो बड़े सुभीतेका मालूम होता है, पर स्वास्थ्यके लिये क्या यह अच्छा है? कदापि नहीं। नलोंके इस जलकी टंकी या टंकियाँ कभी अपनी जिंदगीमें धोकर अंदरसे साफ भी की जाती हैं? शायद कभी नहीं। और क्या क्लोराइन या अन्य ओषधियोंसे मिला हुआ यह जल शुद्ध झरने या नदीके जलका काम दे सकता है? और बरफकी जो इतनी भयंकर खपत है, इसको क्या कहा जाय? गलेकी जितनी बीमारियाँ हैं उनमेंसे अधिकांश बरफका पानी पीनेकी आदतसे पैदा होती हैं! बरफ बनानेके लिये जो जल इन फैक्टरियोंमें भरा जाता है वह अधिकांशमें न तो छाना जाता है न अन्य किसी प्रकारसे शुद्ध ही किया जाता है।

तारकोल-जैसी चीजोंका सत् डालकर बने हुए सेंटवाले तेल, क्रीम, वैसेलिन और साबुन, ये तो ऐसी चीजें हैं कि अनेक अंशोंमें ये सर्वथा अवैज्ञानिक हैं, यह बतलानेके लिये विज्ञानके विशेष ज्ञानकी आवश्यकता नहीं। नये ढंगके इस शृंगारकी अधिकांश चीजें कोयलेसे, कोयलेसे बने अन्य पदार्थोंसे या ऐसे ही अन्य अशुद्ध पदार्थोंसे बनी हुई होती हैं। ऐसे तेलोंका व्यवहार क्या आँखोंको रोशनी दे सकता है

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

या मगज़को ठंडा रख सकता है ? हमारे पुराने देशी तेलोंको लोग हँसेंगे, पर मुझे यह निश्चय है कि ये देशी तेल इनसे बहुत अधिक प्राकृतिक, वैज्ञानिक और साथ-साथ इनसे बहुत ही सस्ते हैं।

आजकल हमारी रोटीके लिये हमें जो आटा मिलता है वह मशीनवाली चक्कीके कारण न केवल बहुत महीन होता है बल्कि और तरहसे भी यह बहुत हानिकर है। चक्कीकी झिरीसे जो आटा बाहर निकलता है वह बहुत ही गरम होता है और वह वैसा ही तुरंत बोरोंमें भरा जाता और बोरे सी दिये जाते हैं। इतना भी अवकाश इस आटेको नहीं मिलता कि इसमेंसे गरमी निकल जाय। यह आटेके भीतर रही हुई गरमी हमारे स्वादको बिगाड़ती है और आटेके गुणको भी नष्ट करती है। नगरों और नगरोंके रहन-सहनके सम्पर्कसे बहुत दूर जो गाँव हमारे हैं वहाँ हमें जो आटा मिलता है उसके स्वाद और गुणका क्या कहना है ! इसी प्रकारसे जो चीनी हमें आजकल बाजारोंमें मिलती है वह देखनेमें बड़ी साफ लगती है, पर क्या यह पुष्टिकारक या स्वास्थ्यकर है ? मेरा तो यह निश्चय है कि नील, फिटकरी, चूना तथा अन्य रासायनिक द्रव्योंके प्रयोगसे ईखके रसका वास्तविक उपयोगी अंश तो नष्ट ही हो जाता है और बाकीके अंशसे यह चीनी बनती है। इसमें भी बहुत सन्देह है कि अभीका कोयंब्रतूर या जावाका ईखका रस उतना लाभकारी भी है या नहीं जितना कि हमारे देशी ईखका रस। यह जो साफ की हुई चीनी बाजारोंमें मिलती है, इसको लोग पहलेसे बुरा ही समझते आये हैं और यह समझ सर्वथा निःसार तो नहीं है।

आजकल अतिशीघ्र आने-जानेके जो साधन हैं वे देखनेमें बड़े अच्छे और उपयोगी मालूम होते हैं; क्या ये वास्तवमें अच्छे हैं ? ऐसे भी लोग हैं जो इनके लाभकारी और उपयोगी होनेके विषयमें साशंक रहते हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि शीघ्र आवागमनके ये साधन नसोंको खराब करते हैं और इन वाहनोंमें सब प्रकारके लोगोंसे बारंबार जो संसर्ग होता है तथा उतावली और घबराहट जो इन वाहनोंके उपयोगका एक अभिन्न अंग ही है, इन सबका जो कुछ परिणाम शरीर और अन्तःकरणपर होता है सो अलग। और इन भापके इंजनोंसे, जहाजोंसे, पेट्रोलके द्वारा चलनेवाली गाड़ियोंसे और इन करोड़ों मिट्टीके तेलवाले लालटेनोंसे जो भयंकर धुएँ और गैस निकला करते हैं इनसे शान्त स्वाभाविक वातावरण कितना क्षुब्ध होता है इसका हिसाब कौन लगावे ? एक समय था जब इस वातावरणको घर-घर होनेवाले हवन और यज्ञसे विशुद्ध आज्य-धूम प्राप्त होता था। कहते हैं कि सेरेब्रो स्पाइनल नामसे जो एक नये प्रकारके ज्वरका प्रादुर्भाव हुआ है इसका कारण क्या नगर और क्या देहातमें मोटरकारों और बसोंसे लगातार उड़नेवाली धूल है।

नयी रोशनीके आदमी पुराने ढंगके हुक्केको देखकर हँसेंगे, यह हुक्का अब उठ ही चला है; पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि आजकलके सिगारों और सिगरेटोंसे वह अधिक फायदेमंद और कम हानिकर था। कुछ लोगोंका यह विश्वास है कि हुक्का यूनानी वैद्यकसे निकला है। इसमें जरा भी सन्देह नहीं हो सकता कि यूनानी दवाएँ अत्युग्र एलोपैथीकी दवाओंसे अधिक सौम्य होती और बहुत अधिक अनुकूल पड़ती हैं। होमियोपैथीकी चिकित्सा-प्रणालीका प्रचार जो बढ़ रहा है इससे एलोपैथिक दवाओंके गुणोंकी वास्तविकतापर सन्देह भी होने लगा है और यह ठीक ही हो रहा है। एलोपैथीकी चिकित्सा-प्रणाली चलानेवाले डाक्टरोंका जैसा तीव्र उपहास फ्रेंच नाटककार मोलियेरने अपने नाटकोंमें किया है वह

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कभी-कभी सवासोलह आने यथार्थ मालूम होता है। अवश्य ही यह बात चीर-फाड़की विद्या (सर्जरी) के विषयमें नहीं कही जा सकती; परन्तु इसका खर्च ही इतना लंबा-चौड़ा है कि गरीबोंको इससे क्या लाभ हो सकता है? इस विद्याका उपयोग तो सर्व-साधारणको होना चाहिये, केवल कुछ थोड़े-से अमीरोंको ही नहीं। हालमें एलोपैथीके एक बड़े नामी डाक्टरने आयुर्वेदोक्त चिकित्सा-प्रणालीकी बड़ी निन्दा की है? पर क्या इन्होंने कभी विद्यार्थी बनकर इस आयुर्वेद-विद्याका अध्ययन भी किया है? ज्वरमें तत्काल गुण करनेवाली दवा क्विनाइन हो सकती है, पर इसकी मात्रा अधिक हो जानेसे जो अन्य विकार उत्पन्न होते हैं उनकी सुध कौन लेगा?

हारमोनियम, ग्रामोफोन, सिनेमा और टाकी, इन सबने तो संसारकी कई उत्तम ललित कलाओंके मूलपर ही आघात किया है। अब गायन या नाट्यकलाके विषयमें सच्छास्त्राध्ययन और सद्रुचिसंवर्द्धन करनेवाले और इनकी बारीकियोंको समझनेवाले लोगोंका मिलना दिन-दिन कठिन ही होता जायगा। राग-रागिनियों और उनके तत्तत्कालमें वातावरणपर होनेवाले परिणामोंकी कोई कल्पना भी किसीकी बुद्धिमें न रह जायगी (अभीसे ही यह हालत हो रही है), पर स्वरशास्त्रका गंभीर ज्ञान रखनेवाले विद्वान् यह भी बता सकेंगे कि यह अवस्था काल पाकर इस परिणामको पहुँचेगी कि हमारे इस जगत्में भी कोई सामञ्जस्य नहीं रह जायगा।

भिन्न-भिन्न ऋतुओंमें होनेवाली साग-सब्जी और फल तत्तदृतुओंमें ही सेवन करना अति लाभदायक होता है, परन्तु आजकल इस ओर किसीका ध्यान ही नहीं है। सालमें बारहों महीने आम मिला करे, यह चीजोंकी नीलामीका चोचला है; पर इससे कुछ लाभ भी है? साग-सब्जी और फलोंका ऋतु और जलवायुसे घनिष्ठ सम्बन्ध है; जिस ऋतुमें जो रोग उत्पन्न होते हैं उन रोगोंको दूर करनेवाले फल और साग-सब्जियाँ उस ऋतुमें प्रकृतिकी दूरदृष्टि उत्पन्न किया करती हैं। इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि इनका तत्तदृतुमें ठीक तरहसे सेवन किया जाय तो मनुष्यका जो आयुर्मान हमारे ग्रन्थोंमें लिखा है वह अवश्य प्राप्त हो। ये चीजें केवल आस्वादनके लिये नहीं हैं, इनके अन्य उपयोग भी हैं। आलू, गोभी और ऐसी ही अन्य तरकारियाँ जिनमें गंदे-से-गंदा खाद पड़ता है, मनुष्यके दिमाग या सात्त्विक वृत्तियोंके लिये उपयोगी नहीं हैं।

वैज्ञानिक नामधारी भले आदमी भोजनके पहले और बाद हाथ-पैर धोनेको वाहियात समझते हैं। पर वैद्यकसे यह साबित किया जा सकता है कि इस प्रक्षालनसे, तनी हुई नसें, भोजनके समय ठीक हो जाती हैं। भोजनके बाद अच्छी तरहसे कुल्ला करने और मुँह धोनेकी रीति बड़ी तेजीसे उठती जा रही है, और इसका यह फल हो रहा है कि अन्न ठीक तरहसे हजम नहीं होता, दाँत खराब होते हैं और गंदे रहनेकी आदत पड़ जाती है मांसाहारकी अपेक्षा शाकाहार कितना उत्तम है। इस विषयमें मैं कुछ नहीं कहना चाहता, क्योंकि यह बात अब प्रायः निर्विवाद है।

संततिनिग्रह आपाततः जनसंख्याकी अतिरिक्त वृद्धिको रोकनेके उपायके तौरपर पेश किया गया है, पर यथार्थतः यह समझा जाता है कि यह व्यभिचार और दुराचारको निर्द्वन्द्व होकर खेलनेकी और भी अधिक ताकत देने आया है।

वर्तमान सभ्यताकी ये कुछ खास बातें हैं। इनकी उपेक्षा करनेवाली अयथार्थ वेदान्तदृष्टिको हमलोग त्याग दें और जीवनके जो सही रास्ते हैं उनपर लोगोंका पुनः ले आनेका अपने भरसक पूरा प्रयत्न करें। इनसे सर्वसाधारणको केवल सुख-शान्ति और समृद्धि ही नहीं प्राप्त होगी, प्रत्युत इनसे आर्थिक कारणोंसे उत्पन्न हुए अनेक जटिल प्रश्न भी हल हो जायँगे।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मसखरी

(कहानी)

(लेखक—मास्टर श्रीपारसचन्दजी)

त्रिचनापल्लीके प्रसिद्ध माधवजीके मन्दिरमें मूर्तिके ऊपर जो मुकुट है वह एक वेश्याने साढ़े तीन लाखकी क़ीमतसे बनवाकर कैसे चढ़ाया था—यह कहानी उसी ऐतिहासिक घटनापर लिखी जाती है। उस समय बादशाह अकबर भारतसम्राट् थे।

उस शहरकी प्रसिद्ध वेश्या रेणुबाईने मरते समय ग्यारह सालकी ललितबाई नाम्नी एक लड़की और चार लाख रुपये नकद जवाहरात सहित छोड़े थे। उसका पक्का मकान, चार मंज़िलकी हवेली थी। रेणुबाई—शाही रण्डी थी। सालमें तीन मरतबा उसको बादशाह-के दरबारमें नाचना पड़ता था। एक लाख रुपये सालाना उसकी तनखाह थी। जिस समय रेणुबाई—जिस समयका राग गाती—उपस्थित प्रकृतिमें वही दृश्य—सामने आकर उपस्थित हो जाता था। एक गीत गाते हुए वह दो नागिनोंको पकड़ लेती थी कि जो 'शाही सपेरा' द्वारा 'बिना विषदन्त तोड़े' मँगायी जाती थीं। एक गीत-द्वारा वह मेघोंको बुलाती थी। एक गीत ऐसा गाती थी कि सुन्दर और सुनहले कबूतर आ-आकर—उसके अङ्गोंपर बैठ जाते थे। रेणुके गीतोंपर—कई बार—कोइलें बोली थीं और मोर नाचे थे। अव्वल नम्बरकी रण्डी 'विशुद्ध गायिका' होती हैं। कई रण्डियाँ—आजन्म ब्रह्मचर्य रखकर मर गयी हैं। रेणु-बाईका एक बार, बादशाहसे संयोग हुआ था। ललिता उसीकी स्मृति थी।

× × ×

उस दिन, शामका समय था। दिनके साथ रातकी सन्धि हो रही थी। ललिता दूसरी मंज़िलवाले अपने कमरेमें गद्दी लगाये बैठी थी। उमर उसकी थी चौदह सालकी। रंग श्याम परन्तु छविशील। उस कमरेमें सब तरहके बाजे रक्खे थे! अलमारियों-में सुकवियोंके कविता-ग्रन्थ रक्खे थे। उस समय वह अकेली थी।

सहसा सामने कमरेके द्वारपर एक ब्रह्मचारी नवयुवक साधकको देख ललिता अचकचा गयी।

ललिता—नीचे मेरा सिपाही नहीं था?

ब्रह्मचारी—नहीं था।

ललिता—आप यहाँ किस विचारसे आये?

ब्रह्मचारी—सड़कपर मैंने एक आदमीसे यह पूछा था कि मुझे किसी 'सत्संगप्रिय सज्जन' का मकान बताओ। रातको ठहरना भी हो और 'सत्संगका आनन्द' भी प्राप्त हो! उस आदमीने मुझे तुम्हारे मकानकी तरफ इशारेसे बता दिया और चला गया।

ललिता—वह आदमी मुँहसे नहीं बोला था?

ब्रह्मचारी—नहीं बोला था।

ललिता—अच्छा फिर क्या हुआ?

ब्रह्मचारी—फिर यही हुआ कि मैं आपके सामने आ गया!

ललिता—और सिपाही?

ब्रह्मचारी—कैसा सिपाही?

ललिता—दरवाज़ेपर कोई नहीं था?

ब्रह्मचारी—कोई नहीं। मैं आपको कोई सेठजी मानकर चला आया। आपको तकलीफ़ हुई—इसके लिये क्षमा चाहता हूँ।

ललिता—आप यों ही मत जाइये। भोजन लेकर जाइये। इस घरसे आपको एक रुपया भोजनके लिये दिया जायगा। मगर आप नीचे जाकर जो दरवाजे-पर हो उसे बुला लाइये।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

थोड़ी देर बाद ब्रह्मचारीजी एक १५ सालके लड़केसहित फिर आये। लड़का नीचा सिर किये और दोनों हाथ जोड़कर सामने खड़ा हो रहा।

ललिता—महमूद ?

महमूद—जी सरकार !

ललिता—जब यह बाबाजी आये तब तुम कहाँ थे ?

महमूद—पेशाब करने गया था हुजूर !

ललिता—कितनी दूर गये थे ?

महमूद—पासहीकी गलीमें।

ललिता—तुमने बाबाजीको ऊपर आते देखा था ?

महमूद—देखा था गरीबपरवर !

ललिता—रोका क्यों नहीं ?

महमूद—पेशाब कर रहा था।

ललिता—बोला क्यों नहीं।

महमूद—पेशाब करते वक्त बोलना शरअसे मना है।

ललिता—अच्छा, फिर तुम ऊपर क्यों नहीं आये।

महमूद—मैंने सोचा कि आप ही उतर आयगा !

ललिता—क्यों बाबाजी महाराज ! जब आप इस हवेलीके दरवाज़ेपर आये थे तब यह लड़का वहाँ था या नहीं ?

ब्रह्मचारी—थाके क्या मानी ! अरे, इसी लड़केने तो मुझे 'सत्सङ्गी सेठका मकान' बताया था।

ललिता—क्यों रे ? चुप क्यों हो गया—बदमाश ! अच्छा, जाओ तुम बरखास्त हुए बेटा ! मेरे साथ धोखा ? यह मसखरी ? और खड़ा कैसा है—मुँहझौंसा जैसे मानो कुछ जानता ही नहीं !

ब्रह्मचारी—नहीं बाईजी, मुझे इतनी ही भीख दो कि मेरे कारण इसपर कोई अत्याचार न हो। मैं तुम्हारा रुपया नहीं चाहता। मुझे मालूम हो गया कि मैं इस लड़केकी मसखरीसे भूलकर एक वेश्याके मकानमें आ गया हूँ। मैं ब्रह्मचारी और त्यागी हूँ। मेरे लिये भी शरअ मना करती है। मैं कदापि तुमसे रुपया नहीं ले सकता। हाँ, इतनी भिक्षा अवश्य माँगता हूँ कि इस लड़केको क्षमा कर दो।

ललिता—बाबाजी ! आप जिन तीन बातोंकी आशा लेकर इस मकानमें आये, मैं उन तीनोंको पूरा करूँगी।

ब्रह्मचारी—कौन-सी तीन बातें ?

ललिता—प्रथम रात्रि विश्राम, द्वितीय भोजन और तृतीय सत्संग ! मगर इस मालिकसे मसखरी करनेवालेको नहीं रक्खूँगी।

ब्रह्मचारी—यहाँ तीनमेंसे एक भी मैं ग्रहण नहीं कर सकता। लड़केने मसखरी जरूर की मगर उसकी यह मसखरी कीमती कितनी है ?

ललिता—आप तीनों पदार्थ ग्रहण करनेपर मजबूर हैं। आप मुझे एक लड़की क्यों देख रहे हैं ? मुझे एक 'सत्संगी सेठ' के रूपमें देखनेसे आपकी क्या हानि है ? यही आपका ज्ञान है ? आत्माको देखते फिरते हैं या रूपको ? देह नहीं, ध्येय देखो बाबा !

× × ×

ललितकुमारीकी तबीयत फकीराना थी। उसने ब्रह्मचारीको एक सप्ताहतक अपने मकानमें रोक लिया। सबसे ऊपरकी चौथी मंज़िल उनके लिये खाली कर दी। और एक ब्राह्मण लड़का भोजन-सेवाके लिये रख दिया। सातवें दिन उन दोनोंमें यों बातचीत हुई—

ब्रह्मचारी—आज मैं रातमें ही उठकर चला जाऊँगा।

ललिता—क्यों ?

ब्रह्मचारी—साधकको एक स्थानपर अधिक रहना फकीरी कानूनसे मना है।

ललिता—मैं भी तपस्या करने चलूँगी—आपके साथ।

ब्रह्मचारी—और तुम्हारी यह सम्पत्ति ?

ललिता—साढ़े तीन लाखका मुकुट बनवाकर माधवजीको चढ़ाऊँगी।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ब्र०—और बाकी रुपये ?

ल०—खैरात कर दूँगी।

ब्र०—फिर—

ल०—आपके साथ चित्रकूटके जंगलमें मंगल गाऊँगी !

ब्र०—स्त्रियोंसे ब्रह्मचर्य रक्खा जा सकता है ?

ल०—जरूर !

ब्र०—इस बार भी मेरी हार हुई। अच्छा एक सप्ताहतक और रुकूँगा।

× × ×

उस दिन बृहस्पतिवार था। शहरभरके बाजे और शहरभरकी रण्डियाँ ललिताके द्वारपर जमा हुईं। सोनेके थालमें ३॥ लाखके जवाहरातसे जाज्वल्यमान कञ्चन-मुकुट रक्खा था। सफेद साड़ी पहने और फूलोंका शृंगार किये ललिताने थाल उठाया। गेरुआ वस्त्र पहने ब्रह्मचारीजी साथ चले। यह दल गाजे-बाजे-सहित मन्दिरके द्वारपर जा पहुँचा। साथमें जनताकी भीड़ भी काफी थी। पुलिस भी इन्तजाम कर रही थी। सब रण्डियाँ नाच रही थीं। बीचमें ब्रह्मचारीसहित ललिता चली आ रही थी। नाच और गानके साथ फूलोंकी वर्षा हो रही थी। मानो जमीनपर एक नयी घटना उतर आयी थी। इस कारण शहरमें इस खबरका काफी शोर हो गया था।

मन्दिरके पुजारीसमुदायने कहा कि एक वेश्याके धनद्वारा बनाया गया मुकुट हमारे माधवजी पसंद नहीं कर सकते।

इस दलीलपर सब चुप हो रहे। ब्रह्मचारीने आगे बढ़कर कहा—'माधवजीके सामने नाच-गान होगा। बादको ललिता अपने हाथोंपर मुकुट उठावेगी। उस समय अगर श्रीठाकुरजी अपना मस्तक झुका दें तो पहनाने देना, नहीं तो नहीं !

'पुजारीपार्टी' ने इस 'सत्याग्रह' को मान लिया और मन्दिरका सदर फाटक खोल दिया।

एक घंटेतक ठाकुरजीके सामने नाच-गान होता रहा। ललिता और ब्रह्मचारी बीचमें खड़े थे। इसके बाद वे दोनों मूर्तिके सामने गये। ज्यों ही ललिताने थालीमेंसे मुकुट उठाकर हाथ बढ़ाया त्यों ही 'व्यापक ठाकुरजी' ने वह 'मूर्तिमस्तक' झुका दिया। ठाकुरजीके लिये यह काम कठिन नहीं था। सारे पुजारी चुप ! पबलिकने ललिताका जयघोष किया। ठाकुरजीके मस्तकपर एक वेश्याने मुकुट रख दिया। भक्तिके दरबारमें यह कितनी बड़ी घटना है !

× × ×

ल०—अब चलिये ?

ब्र०—तुम्हारे साथ मेरी तपस्या न होगी ?

ल०—क्यों ?

ब्र०—औरत-मर्दका साथ-साथ तप करना मना है यदि दोनों युवक हों तो—फ़क़ीरी कानूनसे।

ल०—तब ?

ब्र०—इसी शहरमें रहकर तप करो। चार रोटियाँ माँग खाया करो और मन्दिरके उत्तरी बुरजमें रात बिताया करो।

ल०—अच्छा यही सही।

× × ×

बारह साल बाद वह ब्रह्मचारी उस शहरमें फिर आया। मन्दिरके पास जाकर तलाश किया तो मालूम हुआ कि सालभर हुआ—ललिताने शरीर त्याग दिया। बाबाजी उसकी समाधिपर गये। उस समाधिका दर्शन महमूद रोजाना किया करता था। वह भी आ गया। दोनोंमें जान-पहचान हुई।

महमूद बोला—'देखी मेरी मसखरी ?'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आत्मार्पण

मैं वृक्ष-लताओंसे भी अधिक बुद्धिहीन हुआ न ! भला मैं उनसे भी हीन होकर जी रहा हूँ ! हे प्रभो ! लताएँ उगती हैं, पेड़पर बढ़ती हैं, फूलती हैं और मिट्टीकी सुगन्धको परिपक्व बनाकर चारों ओर फैलाती हैं। क्या लताएँ उन पुष्पोंका आनन्द स्वयं उपभोग करती हैं ? क्या उन लताओंको आश्रय देनेवाले पेड़ उन फूलोंका सुख स्वयं लूटते हैं ? नहीं, कहाँ तो सुगन्धरूपी मुखसे निमन्त्रण देकर मधुमक्खियोंको बुला-बुलाकर भूसुधाका पान करानेवाली लताएँ, और कहाँ उपवास-वनवाससे पीड़ित मानव-समुदायोंके दुःखकी ओर कुछ भी ध्यान न दे अपना पेट भरकर चैन करनेवाला मैं ! कितनी असमानता है ? क्या परमात्माको यह स्वार्थाचार मंजूर है ? हे स्वामी ! मुझे भी उन वनलताओंमेंसे ही एक बनाकर मेरी रक्षा करो।

× × ×

हे देव ! मैं कैसे समझूँ तुझे ? किससे समझूँ ? तेरे बिना तेरी कृपाके बिना तुझे समझना असम्भव है। तूने जो काया दी है वह तो जड है, प्राण अन्धस्वार्थसे पूर्ण हैं, मन चञ्चल है, बुद्धि सिवा भेद-भावके और कुछ देखती ही नहीं। अब रहा भाव, सो मेरे भावको तो 'अहं' के भूतने घेर रक्खा है। 'जैसा भाव वैसा देव', ऐसी कहावत है। मैं ऐसा क्यों न कहूँ ? मैं तो भावसे ही देव कहूँगा। बिना भावके तू नहीं, मैं नहीं, कोई भी नहीं। भावरहित राज्यमें प्रचण्ड, प्रचण्ड नियमसे पूर्ण निसर्ग-यन्त्रसे चालित अनन्त शून्यमालाके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। माँ ! उस 'अहं' पिशाचसे मुझे मुक्त कर, विषयोंसे ऊपर उठाकर अपने ही अंदर रख ले।

× × ×

अन्तरात्मा ! दुःखसे विमुख होते ही मुझे धिक्कार दे, माँ, दुःख ही पावन है, दुःख ही पावक है, दुःख ही अहं-नाशक है, दुःख ही मेरी ओषधि है। दुःख ही सच्चा दिखानेवाला दीपक है। मुझे सोनेकी तरह आगमें तपा दे। फेंक दे सङ्कटोंके कण्टकोंमें। परन्तु माँ ! तेरे चरणोंमें एक विनती है, तू अपना कृपा-कवच पहना दे। हजारों हाथियोंकी शक्ति इसमें है। अधिक क्या ? तेरेका विष पीकर मैं अमर हो सकता हूँ, मैं चिन्ताकी चितामें भी शान्त रह सकता हूँ। अपनी करुणाका बल दे माँ ! तूने जो भार दिया है, उसे मेरे सिरसे तेरे बिना दूसरा कौन भला उतारेगा ?

× × ×

हे प्रभो ! कहाँ है मेरी अन्तःस्फूर्ति ! किसमें है ? बिना सोचे ही घरसे इस चक्रमें घुमा दिया न ? मेरी इस दीन दशाको देखकर तुझे दया नहीं आती ? अब बस कर, थक गया ! हार गया !! बिना तेरे आधारके मैं एक पैर भी आगे नहीं बढ़ूँगा। दिखा, दिखा, जल्दी दिखा अपने प्रेमप्रकाशकी ज्योति। अन्धेको हाथ पकड़कर रास्ता बता। मेरा आर्त्तनाद सुन, कहाँ है मेरी अन्तःस्फूर्ति, किसमें है ? माँ ! माँ !! अपनी प्रेमज्योति दिखा। मेरा उद्धार कर, मुझ भवसागरमें डूबते हुएको उबारकर नवजीवन प्रदान कर। माँ ! माँ !! तुझे कितना पुकारूँ ? क्या कहकर पुकारूँ ? किस तरह अपना दुःख बतलाऊँ ? तेरे सिवा मेरी और क्या गति है ?

× × ×

किसे अर्पण करूँ, किसे चढ़ाऊँ यह जीवनपुष्प ? अन्तरात्मा ! बता मेरे इष्टदेवको। दर्शन दे। माता-पिताने इस शरीरको खिला-पिलाकर बड़ा किया है, पोसा-पाला है। अनेक संस्कारोंसे यह मन संस्कृत हुआ है। यह बुद्धि विवेक-विकाससे प्रकाशित हुई है। मेरे भाव स्थिर और सुमधुर बने हैं। अरे ! इस फूले हुए पुष्पको तोड़कर इसे धन्य कर, कृतकृत्य कर। यह हृदय 'बसीव' गायकी तरह, भूखे बच्चेकी तरह, वियोगिनी विरहिणीकी तरह, स्फूर्त्त कविकी तरह व्याकुल हो उठा है। कबसे इस पुष्पाञ्जलिको लेकर खड़ा हूँ; परन्तु इष्टदेवको न पानेके कारण यह इतना भारस्वरूप मालूम हो रही है कि जी चाहता है कि इसे फेंक दूँ। बता मेरे अन्तरात्मा ! इसे मैं क्या करूँ ? क्या इन शक्तियोंको इन्द्रियसुखके लिये खर्च करूँ ? ना, आत्मसुखकी गन्ध आनेपर ऐसा करना असम्भव है ? तो क्या दारा-सुत, बन्धु-बान्धवोंको पारिवारिक सुख पहुँचानेमें इन्हें लगाऊँ ? ना, यह तो अत्यन्त संकुचित दृष्टि है। तो क्या वदनपर खाक मलकर अपने अन्तःसुखको सिद्ध करनेके लिये हिमालयमें जा बसूँ ? छिः यह भी ठीक नहीं जँचता, क्योंकि यह तो घोर स्वार्थ है। तो क्या यह पुष्पाञ्जलि अर्पण करनेयोग्य कोई देवता नहीं है ? क्या

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इस जीवनपुष्पका मधु निचोड़कर उसका स्वाद लेनेवाला कोई नहीं है ? बता, बता, तू ही बता मेरे अन्तरात्मा ! बहारे बाग़ ख़त्म हो रहा है, फूल मुरझाकर सूख रहा है, बता, हाथ पसारकर भीख माँग रहा हूँ, यह जीवनपुष्प चढ़ानेके लिये योग्य स्थान बता ।

× × ×

पागलपनकी हद हो गयी । 'तेरा' 'सब मेरा' कहकर अपनेपनके अहङ्कारमें तड़फड़ानेवालेको देखकर तू हँसता है न ? ले, यह किसे अर्पण करूँ ? जिसपर अपना स्वत्व नहीं है, उसे किस देवतापर चढ़ाऊँ ? 'मेरा लक्ष्य क्या है' यह तुझसे पूछकर मैंने अपना उपहास करा लिया । तेरी कृपाके बिना भला मैं यह कलङ्क किस प्रकार धोऊँ ? तेरा दिया हुआ शरीर, तेरा दिया हुआ मन, तेरी दी हुई बुद्धि तेरी ही सेवामें अर्पण करके मैं क्यों न सन्तुष्ट होऊँ ? जनता-जनार्दन, प्रजा-परमेश्वर, दरिद्र-नारायण—क्या वे ही मेरे देवता नहीं हैं ? हे प्रभो ! तेरा यह धन, तेरी यह सम्पत्ति, तेरे इस कार्यमें व्यय करनेसे मैं 'मुक्त' हूँ । और 'तेरा सब मेरा' कहकर अहंभावमें डूबनेसे ही मैं 'बद्ध' हूँ । माँ ! मुक्तजीवनका मार्ग बताकर मुझे वहींपर स्थिर कर ।*

श्रीभगवन्नाम-जप

इस बार भी पौषसे होलीतक दस करोड़ मन्त्रजपके लिये प्रार्थना की गयी थी । आनन्दकी बात है कि अबतक २१२४८१३०० मन्त्रजपकी सूचनाएँ निम्नलिखित २६५ स्थानोंसे आ चुकी हैं । अभी सूचनाएँ आ रही हैं । जिन संस्थाओं, संतजनों तथा प्रेमियोंने स्वयं जप किया तथा अन्य लोगोंको प्रेरणा करके उनसे नाम-जप कराया, उन सबके हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं ।

नाम-जप-विभाग

अनूपगढ़, अगवानपुर, अमेठी, अमरावती, अहमदाबाद, अरमोड़ी, अलीगढ़, अल्मोड़ा, असौआ, अमई, आलन्दी, आवढण, आष्टी, आरोग्यवरम्, आजमगढ़, आगरा, इन्दौर, इन्दरीथाना, इलाहाबाद, इलकल, इटावा, उरई, एरच, एतमादपुर, एकसम्बा, एटा, ओका, औवा, कलकत्ता, कोकनाडा, केलोद, काजी नोंगरा, कनवारी, कटनी, कराची, कहानी, कालियावाडी, कानपुर, कोंच, काठमांडू, कुलामडी, कचोरा, कुचेरा, काकूपुर, काँकन, खरगपुर, खातौली, खेरिया, खैराबाद, खम्भात, गोरखपुर, गाजना, गुलाबगंज, गोपालगंज, गुजरांवाला, गया, गोंडल, घाटकोपर, घमना, चूरू, चिकाकोड़, चुनियान, चन्दौसी, चीभली, चौमू, चरखारी स्टेट, छपरा, जौनपुर, जालना, जबलपुर, जेडुवापट्टी, जेवरगी, जांजगीर, जगदीशपुर, जूनागढ़, जहानाबाद, जाफराबाद, जिहुली, जोशीमठ, झाँसी, टनकपुरमडी, टिकारी, टेरटा, टाइगर कैम्प, डेहरी, डभोई, डिलमानी, तुरकौलिया, तलवंडी खुर्द, दुवास, दिलीपनगर स्टेट, दहिण, दतिया, दामोदरपुर, दातागंज, दलसिंगसराय, धरौली, धर्मज, धमना, धर्मशाला, धनकुटा, नादूर, नरसिंहपुर, नौशहरोफिरोज, नागपुर, नामटू, नडियाद, नैहाटी, नौगढबाजार, नवसारी, नयागाँव, नई दिल्ली, नरसिंहगढ़, नियाजीपुर, नवादा, नगरिया, नान्देपुर, पूना, पकड़ी बाजार, पिपलौदा, पटना, पौडैयाहाट, पाटण, पहासू, पिण्डीधेव, पसान, पिनाण, पोरबन्दर, पीसलरावा, पुसद, पिपरिया, पानोद, पकौली, पिस्टा, पिहली, फिरोजपुरसिटी, फतेहगढ़, बरहज, बीकानेर, बस्ती, बड़वा, बखतगढ़, ब्यावरा, बड़ागूढ़ा, बाँकीपुर, बेतुल, बिलासपुर, बड़ौदा, बिनेका, बागेश्वर, बरीवाला, बिहार सरीफ, बम्बई, बघरा, बुड़ाकोट, बौलिवालस्यूँ, बालाघाट, बान्द्रा, बाम्बर्ड, बंडोल, बड़ुआ, बड़का राजपुर, बेलखरियापुरा, बालापुर, बरोरा, बेलगाँव, बाँद, भावनगर, भटपुरा, भवानीपटना, भारामऊ, भटनी, भिवानी, मटकुली, मंद्रास, मधुबनी, मायंग, मंसूरनगर, मैसूर, मिरजागंज, मुर्तिजापुर, महताई, मकसूदनगढ़, मण्डला, मालाड, मलसीसर, मारवाड़ जंकशन, मैनपुरी, मंघना, मियाँगंज, मलेपुर, रायपुर, रावलपिण्डी, रतलाम, रतनगढ़, रजीपुर, रामबाड़े, रायगढ़ स्टेट, रमरिवरिया, रेहलू, रसूलाबाद, राजापुर, राजकोट, रामगढ़, रामबाग, रन्तोद, रतनपुर, लसूरी, ललितपुर, लालपुर, लुणावड़ा, ललौर, लखनऊ, लतीफपुर कोटला, लासुर, वीरमगाम, वायड़ा, वालौद, शृङ्गीरामपुर, शिकारपुर, शाहजहाँपुर, साँडवा, सेंढवा, सीतलगंज, सरदारशहर, सम्बलपुर, सिद्धी, सावर, सारनगढ़, सोनपुर, सरमालिया, सतना, सीकर, सामोज, सम्भुरनीया, सातोदड़, सतशाला, सांगाखेड़ा खुर्द, सबरा, सबहद, सीहाणी, समो, सुनाम, साँवेद, सतजडा, सुमानपुर, सूरत, सूरसँड, सहावन, सिमगा, सिवसागर, हिम्मतपुर, हरीया, होशियारपुर, हँडिया, हैद्राबाद (सिन्ध), हेराल्ड (न्यासालैंड), हुबली, हेठचकाई, हूसर, हिरनपुर, हरदोई, हैदरगढ़, हिम्मतपुर, हसुआ, त्रैवरगी ।

* कर्नाटकके सुप्रसिद्ध देशभक्त, ईश्वरभक्त, दार्शनिक और विद्वान् श्रीरंगरावजी दिवाकरके कन्नड़ भाषामें व्यक्त किये गये कुछ विचारोंका भावार्थ ।—अनुवादक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

॥ श्रीहरिः ॥

माननीय लेखकों और कवियोंसे प्रार्थना

वेदान्ताङ्कके लिये अब भी कृपालु लेखक और कवि अपनी-अपनी रचनाएँ भेज रहे हैं। वेदान्ताङ्ककी बहुत-सी सामग्री प्रेसमें दी जा चुकी है। इस अवस्थामें अब आये हुए लेख और कविताओंका छपना बहुत ही कठिन है। स्थानाभावके कारण पहलेके आये हुए लेख और कविताएँ भी सब नहीं छप सकीं। अतएव कृपालु लेखकों और कवियोंसे सादर निवेदन है कि वे वेदान्ताङ्कके लिये अब कोई रचना भेजनेका कष्ट न करें।

विनीत—सम्पादक

कल्याण आषाढ़ संवत् १९९३ की

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या
१-गीताकी गोदमें [कविता] (गोस्वामी तुलसीदासजी)	१५२५
२-काशीके प्रसिद्ध महात्मा श्रीहरिहरबाबाजी महाराजके उपदेश (प्रे०—भक्त श्रीरामशरण-दासजी, पिलखुवा)	१५२६
३-भगवान् अवतार कब लेते हैं ? (श्रीजयदयाल-जी गोयन्दका)	१५२६
४-कल्याण ('शिव')	१५३४
५-गीतोक्त दिव्यदृष्टि (श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	१५३५
६-मृत्युका चिन्तन (अनुवादक—श्रीमुरलीधर-जी श्रीवास्तव, बी० ए०, एल-एल० बी०, साहित्यरत्न)	१५३९
७-परमहंस-विवेकमाला(स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)	१५४१
८-भगवन्नाम ही सुलभ साधन है (कानपुर-सङ्कीर्तनमहोत्सवमें ब्रह्मचारी श्रीप्रभुदत्त-जीका लिखित भाषण)	१५४७
९-गोस्वामी तुलसीदासजीका एक दार्शनिक दोहा (पं० श्रीकलाधरजी त्रिपाठी) ...	१५५२
१०-श्रीरासलीला-रहस्य (महात्माका उपदेश) ...	१५६१
११-कामना (श्रीदेवीलालजी सामर, बी० ए०)	१५६५
१२-विश्वगुरु श्रीकृष्ण (श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय)	१५६५
१३-ईश्वरविषयक चार प्रश्न (श्रीरामदासजी गौड़ एम० ए०)	१५७३
१४-कृष्ण कन्हैया ! (श्रीदिनेशनन्दिनी चौरड्या)	१५८२
१५-भक्त-गाथा (तदीयैकशेष यशोदानन्दन अखौरी)	१५८३
१६-मनोनिग्रहकी आवश्यकता और उसके साधन (श्रीस्वामी समाधिनाथ ब्रह्मर्षि श्रीरामबहालजी)	१५८८
१७-ईश्वरमें विश्वास (श्रीसवनाराइन चित्रगुप्त)	१५९०
१८-योगवाशिष्ठसार (मास्टर श्रीकन्हैयालालजी)	१५९३
१९-भक्त रहीम (मास्टर श्रीपारसचन्दजी) ...	१६००

गोरखपुरमें अखण्ड कीर्तन और परमार्थ साधन अनुष्ठान

आगामी आषाढ़ शुक्ला १५ सं० १९९३ से सालभरके लिये आरम्भ होगा।

उत्सव आषाढ़ शु० १० ता० २९-६-३६ से आरम्भ होना निश्चित हुआ है। बाहरसे बहुत अच्छे-अच्छे कीर्तनकार और महात्मा पधारनेवाले हैं। साधक भी बहुतसे आ रहे हैं। जिन साधकोंको अनुष्ठानमें शामिल होना हो उन्हें चैत्र, वैशाख और ज्येष्ठमें प्रकाशित सूचनाओंको पढ़कर तुरन्त ही पत्रव्यवहार करना चाहिये।

व्यवस्थापक—प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

॥ श्रीहरिः ॥

पुराने और नये ग्राहकोंकी सेवामें निवेदन

(१) यह दशवें वर्षकी १२ वीं यानी अन्तिम संख्या है, इस अंकमें सभी पुराने ग्राहकोंका सालाना चन्दा पूरा हो गया है।

(२) ११ वें वर्षका पहला अंक वेदान्ताङ्क होगा। वेदान्ताङ्क परिशिष्ट भाद्रपदके अंकसहित एक प्रतिका मूल्य ३) होगा, परन्तु पुराने और नये ग्राहकोंको अधिक कीमत नहीं देनी पड़ेगी, उन्हें सहजमें न मिलनेवाली बड़ी सुन्दर चीज सालाना चन्दा ४=) देनेपर यों ही मिल जायगी।

(३) पुराने और नये ग्राहकोंको चन्देके (लवाजमके) रुपये ४=) मनीआर्डरद्वारा जल्दी भेज देने चाहिये। नहीं तो वी० पी० जानेमें बहुत देर हो जायगी। मनीआर्डर-फार्म भेजा जा चुका है। सुविधाके लिये इस महीने फिर भेज रहे हैं।

(४) जिन महानुभावोंने कल्याणके ग्राहक बनाये हैं और बना रहे हैं, उनके हम हृदयसे कृतज्ञ हैं। कल्याणके प्रचारद्वारा भगवान्‌के कार्यमें सहायता देकर वे सज्जन बड़ा ही उपकार कर रहे हैं। इस बार उन सबको विशेष चेष्टा करके नये सालके लिये ग्राहक बनाने चाहिये।

(५) इस बार वेदान्ताङ्क भी बहुत ही शिक्षाप्रद, मनोहर, संग्रहणीय और दुर्लभ सामग्रियोंसे भरा हुआ होगा। ग्राहक बननेवालोंको बहुत जल्दी करनी चाहिये।

(६) ग्राहकोंको चाहिये कि अपने मनीआर्डरके कूपनमें पूरा नाम, पता, गाँव, डाकघर और जिलेका नाम साफ अक्षरोंमें लिखें। पुराने ग्राहक अपने ग्राहक-नम्बर जरूर लिखें। नये ग्राहक 'नया' शब्द लिखें, नहीं तो कल्याण देरसे पहुँचेगा।

(७) कल्याणके साथ पुस्तकों और चित्रोंकी माँग न लिखें और न कल्याणके मूल्यके साथ पैसे ही भेजें। 'कल्याण'के साथ डाकके नियमानुसार और चीजें नहीं भेजी जा सकतीं। पुस्तक और चित्रोंके लिये मैनेजर गीताप्रेसको लिखें।

(८) सभी प्रेमी ग्राहक-अनुग्राहकोंसे प्रार्थना है कि प्रत्येक सज्जन और प्रत्येक बहिन कम-से-कम दो-दो नये ग्राहक बना देनेकी चेष्टा अवश्य करें।

(९) 'कल्याण' का नया वर्ष श्रावण कृष्ण ११ से शुरू होता है। पूरे सालके ही ग्राहक बनाये जाते हैं। बीचसे ग्राहक नहीं बनाये जाते।

(१०) सजिल्द वेदान्ताङ्क लगभग प्रकाशित होनेके एक महीने बाद भेजा जा सकेगा, अतएव सजिल्द लेनेवाले ग्राहक धैर्य रक्खें।

(११) जिन सज्जनोंको ग्राहक नहीं रहना हो वे कृपापूर्वक पहलेसे एक कार्ड लिखकर हमें जरूर सूचना दे दें ताकि व्यर्थ वी० पी० भेजकर नुकसान नहीं उठाना पड़े। आपके तीन पैसेके खर्चसे कल्याण-कार्यालयके कम-से-कम छः आने पैसे बच जायँगे।

व्यवस्थापक—कल्याण, गोरखपुर

CC-0. Mumukshu Bhawan Varanasi Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

पिताकी गोदमें

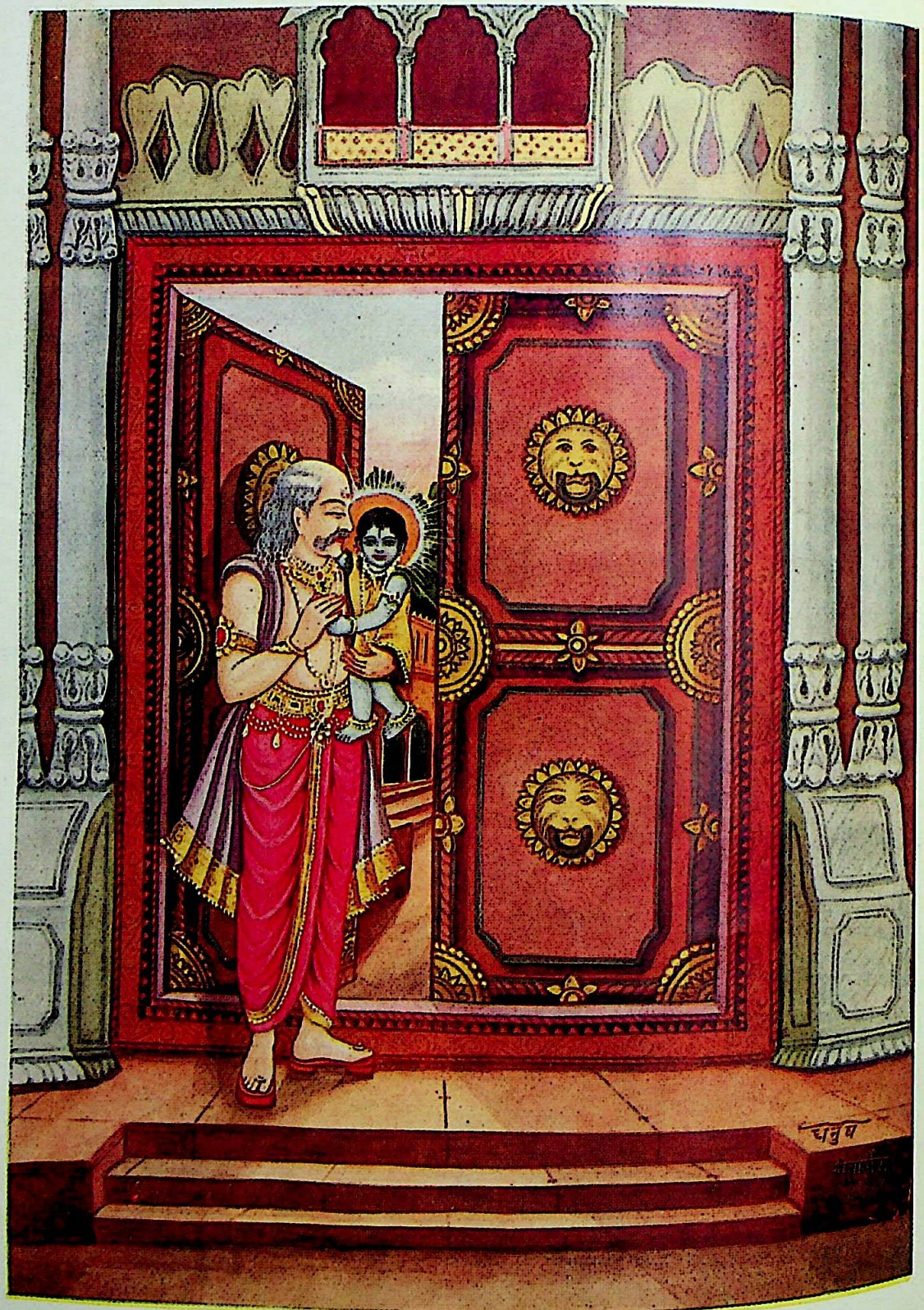

नव नील कलेवर पीत झँगा झलकैं पुलकैं नृप गोद लिये।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

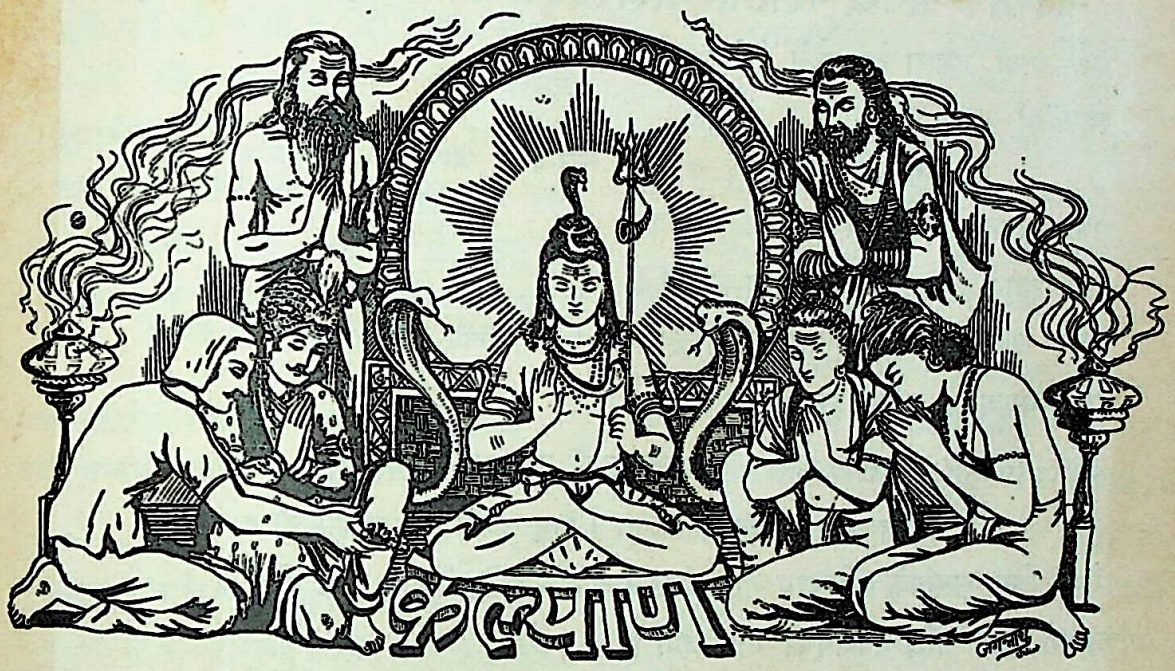

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥

(भगवान् श्रीकृष्ण)

वर्ष १० | गोरखपुर, आषाढ़ १९९३, जुलाई १९३६ | संख्या १२ पूर्ण संख्या १२०

पिताकी गोदमें

पग नूपुर औ पहुँची करकंजनि, मंजु बनी मनिमालु हिये ।
नवनीलु कलेवर पीत झँगा झलकैं पुलकैं नृप गोद लिये ॥
अरबिंद सो आनन रूप मरंद अनंदित लोचन भृंग पिये ।
मनमें न बस्यो अस बालक जो तुलसी जगमें फलु कौन जिये ॥

—गोस्वामी तुलसीदासजी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

काशीके प्रसिद्ध महात्मा श्रीहरिहरबाबाजी महाराजके उपदेश

प्रश्न—बाबा, हमारा क्लेश कैसे मिटेगा ?

स्वामीजी—राम राम जपो।

राम-नाम बिनु सुनहु खगेसा। मिटहिं न जीवनकेर कलेसा॥

राम-नाम जपनेसे सब क्लेश मिट जायगा।

प्रश्न—महाराजजी, हमें क्या करना चाहिये ?

उत्तर—सबेरे-शाम भगवान्‌का नाम खूब जपो। भागवतका श्रवण करो, श्रद्धा करो।

प्रश्न—भगवान्‌के नाममें प्रेम कैसे हो ?

उत्तर—निरन्तर सत्संग करो। तुलसीदासजी महाराज कहते हैं—

भगति स्वतन्त्र सकल गुन खानी। बिनु सत्संग न पावहिं प्रानी॥

भैया, बिना सत्संगके भक्तिलाभ नहीं होता। और भक्तिसे ही सब लाभ होता है। भक्ति करो, भाव करो, भगवान्‌का नाम जपो।

प्रे०—भक्त रामशरणदास पिलखुवा

भगवान् अवतार कब लेते हैं ?

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

वर्तमानके भीषण समयमें अनेक प्रकारके अत्याचारोंको फैलते देखकर धार्मिक-जगत्‌में एक प्रकारकी हलचल-सी हो रही है। इस प्रकार पापोंका प्रसार देखकर सहज ही सहृदय मनुष्यके हृदयमें एक प्रश्न उठ जाता है।

प्रश्न—भगवान् अवतार कब लेते हैं ? वर्तमानमें इतने अत्याचारोंके होते हुए भी भगवान् प्रकट क्यों नहीं होते ? क्या गीतामें की हुई प्रतिज्ञा ठीक नहीं है ?

उत्तर—गीतामें भगवान्‌ने जो प्रतिज्ञा की है वह निश्चय ही ठीक है। अभी अवतार लेनेका समय नहीं आया। नहीं तो भगवान् अवश्य ही अवतार ले लेते। भगवान् स्वयं कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥
(गीता ४। ७-८)

'हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है तब-तब मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् प्रकट करता हूँ। क्योंकि साधुपुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दूषित कर्म करनेवालोंका नाश करनेके लिये तथा धर्मस्थापन करनेके लिये युग-युगमें प्रकट होता हूँ।'

जब-जब पूर्वकालमें भगवान्‌ने अवतार लिया है उस समयकी परिस्थितिका आप जरा-सा विचार करें तो पता लग सकता है कि उस समय कितना पापपूर्ण और भीषण समय था। सत्ययुगमें हिरण्यकशिपुके

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

राज्यमें ऐसी राजाज्ञा थी कि जो धर्माचरण और हरिकी भक्ति करे उसे फाँसी दे दो, हरिका नाम भी कोई न लेने पावे। इस प्रकारकी आज्ञा राजाके सुपुत्र प्रह्लादने न मानी तो उसे भी घोर दण्ड दिया गया। एक दिन हिरण्यकशिपुने प्रह्लादको गोदमें बैठाकर पूछा—बेटा ! तूने क्या पढ़ा है, जरा मुझे सुना। प्रह्लादने कहा—पिताजी ! मैंने जो पढ़ा है वह सुनिये—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

(श्रीमद्भा० ७। ५। २३)

'भगवान् विष्णुके नाम और गुणोंका श्रवण एवं कीर्तन करना, भगवान्के गुण, प्रभाव, लीला और स्वरूपका स्मरण करना, भगवान्के चरणोंकी सेवा करनी, भगवान्के विग्रहका पूजन करना और उनको नमस्कार करना, दासभावसे आज्ञाका पालन करना, सखाभावसे प्रेम करना और सर्वस्वसहित अपने-आपको समर्पण करना।'

ऐसी बात सुनकर हिरण्यकशिपु चौंक पड़ा और उसने पूछा—यह बात तुझे किसने सिखायी ? मेरे राज्यमें मेरे परम शत्रु विष्णुकी भक्तिका उपदेश देकर मेरे हाथसे कौन मृत्युमुखमें जाना चाहता है ? प्रह्लाद बोला कि हे पिताजी !

शास्ता विष्णुरशेषस्य जगतो यो हृदि स्थितः।
तमृते परमात्मानं तात कः केन शास्यते॥

(विष्णु० १। १७। २०)

'हृदयमें स्थित भगवान् विष्णु ही तो सम्पूर्ण जगत्के उपदेशक हैं। उन परमात्माको छोड़कर और कौन किसको कुछ सिखा सकता है।'

न केवलं मद्धृदयं स विष्णु-
राक्रम्य लोकानखिलानवस्थितः।
स मां त्वदार्दींश्च पितस्समस्तान्
समस्तचेष्टासु युनक्ति सर्वगः॥

(विष्णु० १। १७। २६)

'पिताजी ! वे विष्णुभगवान् केवल मेरे ही हृदयमें नहीं, बल्कि सम्पूर्ण लोकोंमें स्थित हैं। वे सर्वगामी तो मुझको, आप सबको और समस्त प्राणियोंको अपनी-अपनी चेष्टाओंमें प्रवृत्त करते हैं।'

ऐसी बातें सुनकर तो राक्षसराजका क्रोध अत्यन्त भड़क गया और वह भक्त प्रह्लादको भयानक त्रास देने लगा। हरिनाम लेनेवाले प्रह्लादको विष पिलाया गया, पर्वतसे गिराया गया, सर्पोंसे डसाया गया, आगमें जलाया गया इत्यादि अनेक प्रकारसे राक्षसोंने जबरदस्ती जोर-जुल्म ढहाये किन्तु उसका कुछ भी अनिष्ट न कर सके—

जाको राखै साइयाँ, मारि सकै नहिं कोय।
बार न बाँका करि सकै, जो जग बैरी होय॥
कहा करै बैरी प्रबल, जो सहाय रघुबीर।
दस हजार गजबल घट्यो, घट्यो न दस गज चीर॥

प्रबल शत्रु सामने हो तो भी सारे संसारका वार खाली चला जाता है, उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता। भक्तपर अत्यन्त अत्याचार होनेपर अन्तमें खंभमेंसे प्रह्लादके प्यारे परम प्रभुको प्रकट होना ही पड़ा।

प्रेम बड़ो पहलादहिको जिन पाहनतें परमेसुर काढ़ो॥

यद्यपि उस समय लोग तो धर्मका पालन करना चाहते थे परन्तु धर्मकार्योंमें अनेक प्रकारसे बलात्कार बाधाएँ डाली जाती थीं। वर्तमान समयमें लोग स्वतः ही धर्मका त्याग कर रहे हैं। यदि कोई धर्मपालन करे तो उसमें जबरन् बाधा नहीं दी जाती है।

त्रेतामें देखिये—सुबाहु और मारीच यज्ञोंको ध्वंस कर देते थे। मुनियोंको खा जाते थे। इतना ही नहीं, अनेक राक्षस घोर अत्याचार करने लगे थे।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आजकल जहाँ-तहाँ पशुओंकी हड्डियोंके ढेर देखे जाते हैं परन्तु रामायणको देखनेसे मालूम होता है कि उस समय तो फलमूलाहारी तपस्वी ऋषि-मुनियों-के मांस-मज्जाको राक्षसोंने भक्षण करके उनकी हड्डियोंका ढेर लगा दिया था।

अस्थिसमूह देखि रघुराया। पूछा मुनिन्ह लागि अति दाया॥

निसिचर हीन करौं महि, भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिनके आश्रमन, जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

(रामचरितमानस)

तब उस समय मनुष्यके रूपमें श्रीरामचन्द्रका अवतार हुआ। वैसा घोर समय अब नहीं है। जब-जब धर्मकी हानि और पापकी वृद्धि होती है, तब-तब भगवान् प्रकट होते हैं। (सत्य, न्याय आदि सब धर्मके ही नाम हैं।) धर्म परमेश्वरका स्वरूप है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च॥

(गीता १४। २७)

'हे अर्जुन! उस अविनाशी परब्रह्मका और अमृत-का तथा नित्यधर्मका और अखण्ड एकरस आनन्दका मैं ही आश्रय हूँ अर्थात् उपरोक्त ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वतधर्म तथा ऐकान्तिक सुख, यह सब मेरे ही नाम हैं, इसलिये इनका मैं परम आश्रय हूँ।'

लोकको स्थिति धर्मकी भित्तिपर ही ठहरी हुई है—

धर्मेण धार्यते पृथ्वी धर्मेण तपते रविः।
धर्मेण वहति वायुः सर्वं धर्मे प्रतिष्ठितम्॥

'धर्मसे ही पृथ्वी ठहरी हुई है, धर्मसे ही सूर्य तप रहा है, धर्मसे ही वायु चल रहा है—सारा संसार धर्मसे ही प्रतिष्ठित है अर्थात् सबका आधार धर्म ही है।'

वेद भी अनादि है—इसका यह अर्थ नहीं कि वेदकी पुस्तकें अनादि हैं परन्तु उसकी शिक्षा यानी उपदेश अनादि है। जैसे 'सत्यं वद' 'धर्मं चर'—'सत्य बोलो', 'धर्माचरण करो' इत्यादि यह शिक्षा अनादि, सर्वव्यापक और सर्वमान्य है।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान इत्यादि श्रुतिस्मृतिप्रतिपादित विधिवाक्य धर्म हैं। धर्मका त्याग करके अनीति करनेवाला अन्तमें नष्ट हो ही जाता है। कंस, रावणादि अनीतिके कारण अन्तमें नष्ट हो गये।

वर्तमान काल अवतार लेने लायक है या नहीं, इसका निर्णय तो प्रभु ही कर सकते हैं। यह बुद्धिसे अतीत विषय है। तथापि मनुष्य अपनी-अपनी बुद्धि-के अनुसार कुछ अनुमान लगा ही लिया करते हैं सो मेरी साधारण बुद्धिके अनुसार तो यह समझमें आता है कि वर्तमान कालमें पापोंकी वृद्धि और धर्म-का क्षय स्वाभाविक होते हुए भी ऐसा घोर समय अभी नहीं आया है कि जिसके कारण भगवान्को अवतार लेना पड़े। इस समय कलियुगके कारण पापाचार बढ़ रहा है तो भी मनुष्य प्रयत्न करनेसे भगवान्को उनकी कृपासे प्राप्त कर सकता है।

भगवान्के दो स्वरूप हैं—निर्गुण और सगुण। जिस प्रकार सर्वत्र फैले हुए तारमें बिजलीका प्रवाह सदा सर्वव्यापक रहता है वैसे ही भगवान् न दीखने-पर भी सदा सर्वत्र विराजमान हैं। उनका वह निर्गुण स्वरूप बुद्धि और इन्द्रियोंसे अतीत है। सगुण स्वरूप बुद्धि और नेत्रोंका भी विषय है उसे हम देख सकते हैं। सगुणके भी दो भेद हैं—साकार और निराकार। जो सच्चिदानन्दस्वरूपसे सर्वत्र व्यापक है वह सगुण निराकार स्वरूप है उसे सूक्ष्म-दर्शी पुरुष अपनी तीक्ष्ण निर्मल बुद्धिद्वारा अनुभव करते हैं—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥
(कठ० १ । ३ । १२)

'यह आत्मा सूक्ष्मदर्शी पुरुषोंद्वारा अपनी तीव्र और सूक्ष्म बुद्धिसे ही देखा जाता है ।'

परन्तु सगुण साकारको तो हम अपने नेत्रोंके सामने प्रकट भी देख सकते हैं ।

निर्गुणकी उपासनासे गुणातीत ब्रह्मकी प्राप्ति होती है । यों तो गुणातीतका वर्णन नित्य, ज्ञान, अनन्त आदि शब्दोंसे किया गया है पर वास्तवमें उसका स्वरूप वाणीद्वारा नहीं बताया जा सकता, वह तो अचिन्त्य और अनिर्वचनीय है । अन्तमें वेद भी 'नेति-नेति' कहकर ही बतलाता है । वह अनुमान-प्रमाणसे भी नहीं जाना जा सकता, केवल अनुभव-रूप ही है । क्योंकि समस्त प्रमाण उस ब्रह्मके सकाशसे ही सिद्ध होते हैं । श्रुति कहती है—

यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥
इत्यादि ।
(केन० १ । ४-५)

'जिसे वाणी प्रकाशित नहीं कर सकती, किन्तु जिसके सकाशसे वाणी प्रकाशित होती है, उसे ही तू ब्रह्म जान; यह नामरूपात्मक दृश्य जो वाणीद्वारा व्यक्त किया जाता है वह ब्रह्म नहीं है । जिसे मन मनन नहीं कर सकता, किन्तु जिसके सकाशसे मन मनन करता है उसे ही तू ब्रह्म जान; यह नाम-रूपात्मक दृश्य जो मनद्वारा मनन किया जाता है वह ब्रह्म नहीं है ।'

अतएव वह ब्रह्म स्वतःसिद्ध है । ब्रह्म ही जब शुद्धसत्त्वविशिष्ट होता है, तभी वह बुद्धिद्वारा समझने-में आ सकता है और साकाररूपसे प्रकट होनेपर नेत्रोंद्वारा भी देखा जा सकता है । भगवान् अपना साकाररूपसे प्रकट होना इस प्रकार बतलाते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
(गीता ४ । ६)

'हे अर्जुन ! मेरा जन्म प्राकृत मनुष्योंके सदृश नहीं है । मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा सम्पूर्ण भूतप्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ ।'

ऐसा कहनेपर भी जो सगुण भगवान्के तत्त्वको नहीं जानते अर्थात् भगवान् कृष्णको ईश्वर नहीं मानते उनके लिये भगवान् कहते हैं—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम् ।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥
(गीता ९ । ११)

'मेरे परम भावको न जाननेवाले मूढलोग मनुष्य-का शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं अर्थात् अपनी योगमायासे संसारके उद्धार-के लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुएको साधारण मनुष्य मानते हैं ।'

इसलिये भगवान्के साकारतत्त्वको भी जानना चाहिये । जो भगवान्के साकारतत्त्वको जानता है उसके लिये भगवान् कहते हैं—

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
(गीता ४ । ९)

'हे अर्जुन ! मेरा वह जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्वसे जानता है वह शरीरको त्यागकर फिर जन्म-को प्राप्त नहीं होता है किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है ।'

प्रश्न—यहाँ तत्त्वसे जानना क्या है ?

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

उत्तर—भगवान्‌का जन्म असाधारण है, स्वतन्त्र है, वे मायाके स्वामी बनकर आते हैं—

प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥
(गीता ४ । ६)

'अपनी प्रकृतिको अधीन करके योगमायासे प्रकट होता हूँ ।'

प्रभुका शरीर अनामय है अर्थात् सारे विकारोंसे रहित दिव्य है । हमारा जन्म सुख-दुःख भोगनेके लिये हुआ करता है परन्तु प्रभु साधुओंकी रक्षा, दुष्टोंका नाश और धर्मकी स्थापना करनेके लिये प्रकट होते हैं । वे अपनी दिव्य विभूतियोंके सहित योग-मायासे अवतरित होते हैं । ऐसे प्रभु भक्तिके द्वारा देखे और जाने जाते हैं । अब भी भक्तिद्वारा भगवान् प्रकट हो सकते हैं । भगवान्‌ने कहा भी है—

भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥
(गीता ११ । ५४)

'हे श्रेष्ठ तपवाले अर्जुन ! अनन्यभक्तिद्वारा तो इस प्रकार मैं प्रत्यक्ष देखे जानेके लिये और तत्त्वसे जाननेके लिये तथा प्रवेश करनेके लिये अर्थात् एकी-भावसे प्राप्त होनेके लिये भी शक्य हूँ ।'

भक्तिके द्वारा सब कुछ हो सकता है । साकार भगवान् नेत्रोंसे देखे जाते हैं, सगुण निराकार बुद्धि-द्वारा समझे जाते हैं और निर्गुण निराकार अनुभवसे प्राप्त किये जाते हैं । ज्ञानरूप नेत्रोंवाले ज्ञानीजन ही भगवान्‌को तत्त्वसे जान सकते हैं । कृष्णावतारके समय उनका साक्षात् दर्शन बहुतोंने किया था परन्तु उन्हें तत्त्वसे जाननेवाले थोड़े ही थे । भगवान् जन्मते-मरते हुए-से प्रतीत होते हैं पर वास्तवमें वह उनका अवतरण और तिरोभाव है, जन्मना-मरना नहीं है । जैसे अग्नि सर्वत्र व्याप्त है पर चेष्टा करनेसे चाहे जहाँ प्रज्वलित हो जाती है और अन्तमें विलीन हो जाती है, परन्तु न दीखनेपर भी वहाँ वस्तुतः अग्नि-का अभाव नहीं होता । उसी प्रकार भगवान् भी सर्वत्र व्याप्त होते हुए प्रकट और अन्तर्धान हो जाते हैं । भगवान्‌की शारीरिक धातु चिन्मय और दिव्य है, प्राकृतिक नहीं है । देखनेमें नरवपु धारणकर नरलीला करते हुए प्राकृतिककी ज्यों दीख पड़ते हैं ।

प्रश्न—उनके कर्मोंमें क्या दिव्यता है ?

उत्तर—भगवान्‌के कर्म अहंकार और स्वार्थके बिना केवल लोकहितके लिये ही होते हैं । भगवान् स्वयं कहते हैं—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥
(गीता ३ । २२)

'हे अर्जुन ! यद्यपि मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है तथा किञ्चित् भी प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है तो भी मैं कर्ममें ही बर्तता हूँ ।'

किन्तु—

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा ।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥
(गीता ४ । १४)

'कर्मोंके फलमें मेरी स्पृहा नहीं है इसलिये मेरेको कर्म लिपायमान नहीं करते । इस प्रकार जो मेरेको तत्त्वसे जानता है वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता है ।'

भगवान्‌के सारे कर्म लीलामय होते हैं । उनके कर्मोंसे लोगोंको नीति, धर्म और प्रेमका उपदेश मिलता रहता है, जिनका भगवान्‌में प्रेम और श्रद्धा है वे भगवान्‌की प्रत्येक लीलामय क्रियाओंसे शिक्षा ग्रहण किया करते हैं और प्रेममें मुग्ध हुआ करते हैं । उनको आदर्श मानकर उनका अनुकरण करनेकी चेष्टा किया करते हैं, इस प्रकार भगवान्‌के लीलामय कर्मोंसे शिक्षा ग्रहण करके जो उनका अनुकरण करते

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हैं वे भी कर्मोंसे लिपायमान न होकर परमेश्वरको प्राप्त हो जाते हैं और उनके कर्म भी दिव्य हो जाते हैं ।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥
(गीता ४ । १९)

'जिसके सम्पूर्ण कार्य कामना और संकल्पसे रहित हैं, ऐसे उस ज्ञानरूप अग्निद्वारा भस्म हुए कर्मोंवाले पुरुषको ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं ।'

फलकामना, आसक्ति और कर्त्तापनके अभिमानसे रहित होकर केवल लोकहितार्थ ही जो कर्मोंका करना है यही वास्तवमें भगवान्‌के कर्मोंको दिव्य समझना है, जिनके कर्म ऐसे नहीं होते, जो भगवान्‌का अनुकरण नहीं करते, उन्होंने भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यताको वास्तवमें नहीं समझा क्योंकि जो भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यताका तत्त्व समझ लेते हैं उनके भी कर्म दिव्य हो जाते हैं ।

पहले भी मोक्षकी इच्छावाले साधकोंने ऐसा समझकर ही कर्मोंका आचरण किया था, उसी प्रकार आसक्ति, फलेच्छा और अभिमान छोड़कर कर्म करनेके लिये भगवान् अर्जुनको आज्ञा देते हुए कर्मोंका तत्त्व इस प्रकार समझाते हैं—

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः ।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः ।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः ।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥
(गीता ४ । १६—१८)

'कर्म क्या है और अकर्म क्या है ऐसे इस विषयमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हैं इसलिये मैं वह कर्म अर्थात् कर्मोंका तत्त्व अच्छी प्रकार कहूँगा कि जिसको जानकर तू अशुभसे अर्थात् संसारबन्धनसे छूट जायगा । शास्त्रविहित कर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये और अकर्मका अर्थात् कर्माभावका स्वरूप भी जानना चाहिये तथा निषिद्धकर्मका स्वरूप भी जानना चाहिये, क्योंकि कर्मकी गति गहन है । जो पुरुष कर्ममें अर्थात् अहंकाररहित की हुई सम्पूर्ण चेष्टाओंमें अकर्म अर्थात् वास्तवमें उनका न होनापना देखे और जो पुरुष अकर्ममें अर्थात् अज्ञानी पुरुषद्वारा किये हुए सम्पूर्ण क्रियाओंके त्यागमें भी कर्मको अर्थात् त्यागरूप क्रियाको देखे, वह पुरुष मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, वह योगी और सम्पूर्ण कर्मोंका करनेवाला है ।'

यहाँ कर्म और अकर्म अर्थात् कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म देखना किस प्रकार देखता है इसपर विचार करना चाहिये—

(क) कर्म अर्थात् क्रियमाणकर्म, विकर्म अर्थात् विविध प्रकारके सञ्चितकर्म, अकर्म अर्थात् प्रारब्धकर्म । (क्योंकि प्रारब्धकर्म केवल भोगरूप हो रहे हैं उनमें अब कोई क्रियारूपत्व नहीं है इसलिये उसकी संज्ञा अकर्म है ।)

प्रारब्धरूप फलभोगके समय उस भोगको अपने पूर्व किये हुए क्रियमाणकर्मोंका ही फल समझना, यह अकर्ममें कर्मका देखना है । और क्रियमाणकर्म करते समय यह देखना कि भविष्यमें यही प्रारब्धकर्म होकर फलभोगके रूपमें उपस्थित होंगे, यह कर्ममें अकर्मका देखना है अर्थात् इस भावसे पापकर्मोंको छोड़कर केवल शास्त्रविहित कर्मोंका करना ही इसका तत्त्व समझना है । उपर्युक्त अर्थ मान लेनेसे बुद्धिमानी तो सिद्ध होती है पर इतने मात्रसे 'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्' 'जिसे जानकर संसारबन्धनसे छूट जायगा' और 'स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्' 'वह योगी और सम्पूर्ण कर्मोंका करनेवाला है' इन वाक्योंकी संगति नहीं बैठती । इसलिये यह अर्थ ठीक नहीं ।

(ख) कर्म अर्थात् सन्ध्या, तर्पण, बलिवैश्व आदि शास्त्रविहित नित्यकर्म, अकर्म अर्थात् उपर्युक्त नित्य (विहित) कर्मोंका न करना, विकर्म अर्थात् काम्यकर्म ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

नित्यकर्मोंके न करनेमें प्रत्यवायरूप पापकर्म होता है, यह देखना अकर्ममें कर्मका देखना है और नित्य कर्मोंके करनेमें अन्य कोई नवीन फल नहीं मिलता, यह देखना कर्ममें अकर्मका देखना है। ऐसा अर्थ माननेमें भी बुद्धिमानी हो सकती है, पर 'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्' और 'स युक्तःकृत्स्नकर्मकृत्' की संगति नहीं बैठती। इसलिये यह अर्थ भी ठीक नहीं।

(ग) कर्म अर्थात् पुण्यकर्म, अकर्म अर्थात् पापकर्म। यज्ञ, तप, दान, सेवा, सत्यभाषणादि पुण्यकर्मोंका प्रयोग यदि देश, काल और पात्रका अच्छी प्रकार विचार किये बिना ही किया जाय तो पापकी प्राप्ति हो सकती है। इस प्रकार पुण्यमें पापका देखना कर्ममें अकर्मका देखना है। इसी प्रकार स्वरूपसे दीखनेवाले पापकर्ममें भी कभी-कभी पुण्य हो जाया करता है, यह देखना अकर्ममें कर्मका देखना है।

इसके लिये महाभारतके कर्णपर्वका प्रमाण है कि एक सत्यवादी मुनि अपने आश्रममें तप कर रहे थे। दैवयोगसे कुछ धनी व्यापारी दौड़ते हुए उधरसे निकले और पास ही एक जंगलमें छिप गये। कुछ देर बाद उनका पीछा करनेवाले डाकू उन्हें खोजते हुए आये और सत्यवक्ता मुनिजीसे उन व्यापारियोंके बारेमें पूछताछ की। सत्यवादी मुनिने जो कुछ भी देखा था, जिस वनमें जाकर वे छिपे थे सारी बात सत्य-सत्य उन्हें बतला दी। डाकुओंने जङ्गलमें घुसकर उन व्यापारियोंका सब धन लूट लिया और उन्हें जानसे मार डाला। इस प्रकारके सत्यभाषणसे उस सत्यवादी मुनिको नरककी प्राप्ति हुई। इस तरह पुण्यमें भी पाप हो जाया करता है।

इसी तरह सर्वदा हिंसा करनेवाला एक बलाक नामक व्याध था। एक समय उसने घोर वनमें घूमते-घूमते एक बड़े भयानक पशुको मार डाला। यह भयानक पशु उस जंगलके अन्य पशुओंसे बहुत बलवान् था और इसलिये उन्हें बहुत ही त्रास देता था और उन्हें मारकर खा जाता था। सारे वनका पशुसमुदाय उससे अत्यन्त भयभीत हो रहा था। इसके मरनेकी खबर पाकर जंगलके सब प्राणी सुखी हुए। इस क्रियाके फलरूप वह व्याध स्वर्गमें गया। इस प्रकार पापमें भी पुण्य हो जाया करता है।

उपर्युक्त अर्थ मानना भी बुद्धिमानी है पर इतने मात्रके ज्ञानसे न वह योगी हो सकता है और न मुक्त ही हो सकता है।

(घ) कर्म अर्थात् गृहस्थ (क्योंकि उसमें कर्मका विधान है), अकर्म अर्थात् संन्यास (क्योंकि उसमें कर्मोंका अभाव है)। गृहस्थमें रहते हुए भी त्यागपूर्ण जीवन बिताना संन्यास ही है। इस प्रकार गृहस्थमें संन्यास देखना कर्ममें अकर्म देखना है। संन्यासमें भी अनेक प्रकारके कर्मोंका आरम्भ करके प्रपञ्चमें फँस जाना गृहस्थपना ही है। ऐसे प्रपञ्चमय संन्यासमें गृहस्थको देखना अकर्ममें कर्म देखना है। यह भी बुद्धिमानी है पर इतना मात्र जान लेनेसे मुक्ति नहीं हो सकती। इसलिये यह अर्थ भी ठीक नहीं है।

(ङ) अकर्म अर्थात् अक्रिय ब्रह्म और कर्म अर्थात् कार्यरूप प्रकृति यानी दृश्य जडवर्ग। अक्रिय ब्रह्ममें क्रियाशील जडवर्ग संसारको अध्यारोपित देखना ही अकर्ममें कर्मका देखना है और क्रियाशील दृश्यमान जगत्में अधिष्ठानरूप ब्रह्मको आत्मरूपसे परिपूर्ण देखना कर्ममें अकर्मका देखना है। ऐसा अर्थ माननेवाला बुद्धिमान् और योगी हो सकता है, उसकी मुक्ति भी हो सकती है पर 'कृत्स्नकर्मकृत्' की संगति नहीं बैठती। क्योंकि कर्मयोगी ही सम्पूर्ण कर्मोंका कर्त्ता हो सकता है। सांख्ययोगमें कर्मोंका अभाव बताया गया है।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥
(गीता ५। १३)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

'वशमें है अन्तःकरण जिसके ऐसा सांख्ययोगका आचरण करनेवाला पुरुष तो निःसन्देह न करता हुआ और न करवाता हुआ नव द्वारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मनसे त्यागकर अर्थात् इन्द्रियाँ इन्द्रियोंके अर्थोंमें बर्तती हैं ऐसा मानता हुआ आनन्द-पूर्वक सच्चिदानन्द परमात्माके स्वरूपमें स्थित रहता है।' इसलिये उन सब कर्मोंका कर्त्ता उसे नहीं कहा जा सकता। अतः इस प्रकरणका अर्थ सांख्य-योगपरक करना प्रकरणके अनुकूल नहीं है। चौथे अध्यायके आरम्भमें ही भगवान् कहते हैं—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप॥
(गीता ४। १-२)

'मैंने इस अविनाशी योगको कल्पके आदिमें सूर्यके प्रति कहा था और सूर्यने अपने पुत्र मनुके प्रति कहा और मनुने अपने पुत्र इक्ष्वाकुके प्रति कहा। इस प्रकार परम्परासे प्राप्त हुए इस योगको राजर्षियोंने जाना परन्तु हे अर्जुन! वह योग बहुत कालसे इस पृथ्वीलोकमें लोपप्राय हो गया था।'

तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्॥
(गीता ४। १६)

'वह कर्म और कर्मोंका तत्त्व मैं तुमसे कहूँगा जिसको जानकर तू अशुभ अर्थात् संसारबन्धनसे छूट जायगा।'

इसलिये उपर्युक्त प्रकरणको देखते हुए इस श्लोक-का कर्मयोगपरक अर्थ ही होना चाहिये और जिसको जान लेनेके बाद 'मोक्ष्यसेऽशुभात्' 'स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्' आदि सब लक्षण घट सकें—ऐसा अर्थ होना चाहिये। इसलिये उपर्युक्त अर्थ भी ठीक नहीं है।

(च) कर्म अर्थात् अहंकार और फलासक्तिरहित की हुई सम्पूर्ण चेष्टाओंमें अकर्म अर्थात् वास्तवमें उनका न होनापना देखना यानी संकल्प, फलेच्छा, आसक्ति और कर्तृत्वाभिमानसे रहित होकर किये हुए कर्म, भूँजे हुए बीजकी तरह फलोत्पादनशक्तिसे रहित होनेके कारण अकर्म ही है, यह देखना कर्ममें अकर्म देखना है। भगवान् स्वयं कहते हैं—

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥
(गीता ४। २०)

'जो पुरुष सांसारिक आश्रयसे रहित सदा परमानन्द परमात्मामें तृप्त है वह कर्मोंके फल और संग अर्थात् कर्तृत्वाभिमानको त्यागकर कर्ममें अच्छी प्रकार बर्तता हुआ भी कुछ भी नहीं करता है।'

इसी तरह अकर्ममें अर्थात् अज्ञानी पुरुषद्वारा किये हुए सम्पूर्ण क्रियाओंके त्यागमें भी कर्मको अर्थात् त्यागरूप क्रियाको देखना यानी अहंकार और फलासक्तिपूर्वक किया हुआ सम्पूर्ण क्रियाओंका त्याग भी वास्तवमें कर्म ही है यह देखना अकर्ममें कर्म देखना है।

उपर्युक्त प्रकारसे कर्मयोगके तत्त्वको जाननेवाला ही मनुष्योंमें बुद्धिमान् है, योगी है और सम्पूर्ण कर्मोंका करनेवाला है इसलिये वह इस कर्मरहस्यको समझकर संसारबन्धनसे मुक्त हो जाता है।

अतएव यह अन्तिम अर्थ ही इस प्रसङ्गके अनुकूल सर्वमान्य और उत्तम है। उपर्युक्त प्रकारसे कर्मोंका तत्त्व समझकर फल, कामना, आसक्ति और अहंकार-को छोड़कर समस्त कर्मोंका करना ही भगवान्‌के कर्मोंकी दिव्यताको समझना है।

ऊपर बतलाये हुए भगवान्‌के जन्म और कर्मोंकी दिव्यताके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष सारे कर्म और दुःखोंसे छूटकर, परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कल्याण

साधकोंको धनमें ममत्व नहीं रखना चाहिये। धनमें बड़ी मादकता होती है। धनी पुरुषका वास्तविक विनयी होना कठिन हो जाता है। धनके साथ ही कई तरहके दोष और आ जाते हैं जो साधनमें प्रतिबन्धकस्वरूप होते हैं। धनकी प्राप्तिमें लोभ बढ़ता है, और अप्राप्तिमें शोक। धनकी चिन्ता तो भगवच्चिन्तनमें बड़ा ही विघ्न करनेवाली होती है। जो कुछ प्राप्त हो उसीमें सन्तोष करो, अधिक आवश्यकता हो तो न्याय और सत्यका पालन करते हुए प्रयत्न करो। धन पास हो तो उसे भगवान्‌का समझो और यथोचित रूपसे उसे भगवान्‌के काममें लगाओ। यही सदुपयोग है। प्रमाद और परपीड़नमें धनका कभी उपयोग न करो। धनको महत्त्व मत दो। धनका अभिमान मनमें मत आने दो। धनका लोभ न बढ़ाओ। याद रक्खो धनका लोभी मनुष्य कभी परमार्थसाधनामें अग्रसर नहीं हो सकता।

साधकोंको स्त्रीसंगसे सदा बचना चाहिये। यहाँ बहादुरी दिखानेकी जरूरत नहीं। जो लोग स्त्रियोंसे मिलते-जुलते हैं, स्त्रियोंमें उपदेश देते हैं, स्त्रियोंकी सभाओंमें जाते हैं, स्त्रियोंके साथ रहते हैं, वे यदि अपने हृदयकी सच्ची स्थिति देखना चाहें और जरा गहराईकी नजरसे देखें तो उन्हें पता लगेगा कि ऊपरसे कोई दोष नजर न आनेपर भी अंदर एक प्रकारकी कालिमा मौजूद है, जो बाह्य शुद्ध विचारोंसे ढकी है। एक स्वाभाविक-सा आकर्षण है, जो युक्तिवादके सहारेसे, किसी भी सदुद्देश्यके बहानेसे स्त्रियोंकी—युवती स्त्रियोंकी ओर चित्तको खींच रहा है। यही आकर्षण जब निरन्तरके संगके प्रभावसे या अन्य किसी कारणवश बढ़ जाता है तब सदुद्देश्य प्रकाशरूपमें सहसा नष्ट हुआ-सा दीखता है और चित्तके क्षेत्रमें दुर्वासनाओंका नग्न नृत्य आरम्भ हो जाता है। एकनिश्चयहीन बुद्धि निर्बल होकर मनपर शासन करनेमें असमर्थ हो जाती है। फिर बुद्धिकी संरक्षकतासे वञ्चित और दुर्वासनाओंसे प्रताड़ित मनको इन्द्रियाँ सहज ही खींच लेती हैं। मनुष्यका बाह्य पतन हो जाता है। इसी प्रकार स्त्रियोंको भी परपुरुषोंसे सदा बचते रहना उचित है। पुरुष-स्त्रीका स्वच्छन्द मिलन कदापि हितकर नहीं है। यह बात शास्त्र और अनुभव दोनोंसे सिद्ध है। फिर, जो आत्मकल्याणके साधनमें लगे हैं उनको तो विशेषरूपसे सावधान रहना चाहिये।

साधकोंको मानका मोह छोड़ देना चाहिये। जहाँ मान-बड़ाई मिलनेकी सम्भावना हो और जिस कार्यसे मान-बड़ाई मिलती हो वहाँ भरसक उस कामसे अलग रहो या उसे छिपकर करो, जिससे तुम्हें मान-बड़ाई न मिले। मान-बड़ाई मिले तो उसे मनसे कभी स्वीकार न करो। मान-बड़ाईसे मनमें जो आनन्द उत्पन्न होता है वही मान-बड़ाईका स्वीकार है। ऊपरसे अस्वीकार करना ही अस्वीकार नहीं है। मान-बड़ाई मीठा विष है जो साधकके साधनशरीरको सर्वथा जर्जर कर डालता है। अतएव मान-बड़ाईसे सदा बचो।

'शिव'

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गीतोक्त दिव्यदृष्टि

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

किसी भाईका प्रश्न है कि श्रीमद्-भगवद्गीता अध्याय ११ में विश्वरूप दर्शनके लिये अर्जुनको दिव्यदृष्टि प्रदान करनेका प्रसंग आता है, यह दिव्यदृष्टि क्या थी ? उसके द्वारा अर्जुनने किस प्रकार विश्वरूपके दर्शन किये ? और भगवान्‌ने जो अपना विराट्स्वरूप अर्जुनको दिखाया वह कैसा था ?

वास्तवमें इस प्रश्नका पूरा उत्तर वे ही महापुरुष दे सकते हैं, जिनको भगवान्‌की कृपासे कभी ऐसी दिव्यदृष्टिके द्वारा भगवान्‌के दिव्य विराट् रूपके दर्शन करनेका सौभाग्य प्राप्त हुआ हो, मेरे द्वारा इस विषयमें जो कुछ निवेदन किया जाता है, वह तो केवल श्रीमद्भगवद्गीता और दूसरे-दूसरे शास्त्रोंपर विवेचन करनेसे अपनी साधारण बुद्धिसे जो कुछ समझमें आ सका है उसीका प्रदर्शन है ।

इस विषयमें लोगोंके भिन्न-भिन्न विचार हैं । कोई कहते हैं कि भगवान्‌ने उपदेशद्वारा अर्जुनको ऐसा ज्ञान प्रदान कर दिया, जिससे इस सारे विश्वको अर्जुन भगवान्‌का स्वरूप समझने लगा था, अतः यहाँ ज्ञानका ही नाम दिव्यदृष्टि है; किसीका कहना है कि भगवान्‌ने अर्जुनको दूरबीनके जैसी कोई दृष्टि दे दी होगी, जिससे अर्जुन वहीं खड़ा-खड़ा सारे विश्वको देख सका होगा; किसीका कहना है कि जैसे आज-कल रेडियोद्वारा बहुत दूर देशका गाना सुनाया जाता है, ऐसे ही भगवान्‌ने कोई यन्त्र अर्जुनको दिया होगा कि जिससे अर्जुन व्यवधानयुक्त दूर देशमें स्थित वस्तुओंको भी देख सके; इसी तरह अपनी-अपनी समझके अनुसार लोग कल्पना किया करते हैं ।

हमें इस विषयको समझनेके लिये श्रीमद्भगवद्गीता-में कहे हुए भगवान्, अर्जुन और सञ्जयके वचनोंपर विशेष ध्यान देना चाहिये, उनपर विचार करनेसे ही यह विषय प्रायः स्पष्ट हो सकता है ।

दशवें अध्यायमें अपनी विभूतियोंका वर्णन करने-के बाद, अन्तमें भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि तुझे यह सब विस्तार समझनेकी क्या आवश्यकता है, यह सारा विश्व मेरी योगमायाके द्वारा किसी एक अंश-में धारण किया हुआ है (१० । ४२) इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञानद्वारा सारे विश्व-को भगवान्‌के किसी एक अंशमें स्थित देखनेकी बात तो भगवान् पहले ही कह चुके और उसे सुनकर अर्जुनने भी स्वीकार कर लिया कि आप जो कुछ कह रहे हैं, वह सर्वथा ठीक है, इसमें कुछ भी संशय नहीं है । किन्तु उसके बाद भी अर्जुन प्रार्थना करता है कि हे पुरुषोत्तम ! मैं आपके उस ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजयुक्त दिव्य स्वरूपको प्रत्यक्ष देखना चाहता हूँ (११ । ३), अतः यदि आप मेरेद्वारा वह रूप देखा जाना शक्य समझते हों, तो मुझे उसका दर्शन करावें (११ । ४) । इससे यह पाया जाता है कि अर्जुनने भगवान्‌के ऐश्वर्यमय साकार अद्भुत रूपके दर्शन करनेकी प्रार्थना की थी और भगवान्‌ने भी अपने योगबलसे वैसे ही रूपका अर्जुनको दर्शन कराया था । भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि मेरे इस शरीरमें तू एक ही जगह स्थित, चराचर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जीवोंके सहित सारे जगत्‌को देख और अन्य भी जो कुछ देखनेकी तेरी इच्छा है, वह भी देख (११।७)। भगवान्‌ने अर्जुनको जिस अद्‌भुत रूपका दर्शन कराया था, वह इस दृश्य जगत्‌से भिन्न था, अलौकिक था, भगवान्‌के शुद्ध सत्त्वसे बना हुआ तेजस्वरूप था, उसके समस्त वस्त्र, आभूषण और शस्त्रादि एवं पुष्पमाला और गन्धलेपन आदि भी दिव्य और अलौकिक थे (११।१०-११)। उस रूपका तेज अपार था, हजारों सूर्य एक साथ उदय होनेपर भी उस रूपके तेजकी बराबरी कर सकें या नहीं, इसमें भी सन्देह था (११।१२)। ऐसा अलौकिक रूप साधारण नेत्रोंद्वारा कैसे देखा जा सके, इसी लिये भगवान्‌ने अर्जुनको दिव्यदृष्टि प्रदान की (११।८) और उसके द्वारा अर्जुनने भगवान्‌के रूपका दर्शन किया।

इसलिये यह कहना नहीं बन सकता कि इस दृश्य जगत्‌को ज्ञानद्वारा भगवान्‌का स्वरूप समझ लेना ही विश्वरूपका देखना है और ऐसा ज्ञान ही यहाँ दिव्यदृष्टि है।

भगवान्‌के विराट् रूपको देखकर अर्जुन कहता है कि स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका यह सारा आकाश और सब दिशाएँ एकमात्र आपके ही रूपसे व्याप्त हो रहे हैं (गीता ११।२०)। आपके शरीरमें मैं समस्त देवोंको, ब्रह्माको और महादेवको भी देख रहा हूँ (११।१५)। आप अपने तेजसे इस सारे विश्वको तपा रहे हैं, आपकी सामर्थ्य अनन्त है, आपका आदि, मध्य और अन्त नहीं है (११।१९)। कितने ही देवोंके झुंड आपमें प्रवेश कर रहे हैं, कितने ही भयभीत होकर हाथ जोड़े हुए स्तुति करते हैं, महर्षि और सिद्धोंके समुदाय भी आपकी स्तुति कर रहे हैं (गीता ११।२१)। रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य और अश्विनीकुमार आदि सब देव एवं गन्धर्व, यक्ष, राक्षसगण आपको विस्मित होकर देख रहे हैं (११।२२)। आकाशसे संलग्न हुए आपके विकराल रूपको देखकर मेरा धैर्य छूट रहा है, मुझे शान्ति नहीं मिलती है, मैं व्यथित हो रहा हूँ (११।२४)। ये सब राजाओंके सहित धृतराष्ट्रके पुत्र एवं भीष्म, द्रोण और कर्ण तथा हमारी सेनाके भी सब शूरवीर, आपके भयानक मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं, और उनमेंसे कितने ही आपके दाँतोंमें चिपके हुए दिखलायी दे रहे हैं, आप उन सबको निगल रहे हैं, आपका उग्र प्रकाश अपने तेजसे सारे जगत्‌को परिपूर्ण करके तपा रहा है (११।२६, २७, ३०)।

इस वर्णनसे यह पाया जाता है कि अर्जुनने भगवान्‌का विराट् रूप अपने सामने इस दृश्य जगत्‌के अनुसार ही देखा था एवं उस रूपके अंदर भी उसको सारा ब्रह्माण्ड और भविष्यमें होनेवाली युद्ध-विषयक घटना तथा उसका परिणाम दिखलायी दे रहा था। जिस विश्वमें अर्जुन अपनेको खड़ा देख रहा था, वह भगवान्‌के शरीरमें दिखलायी देनेवाले ब्रह्माण्डसे भिन्न था, क्योंकि उस विराट् रूपसे दृश्य जगत्‌के स्वर्गलोकसे लेकर पृथ्वीके बीचके आकाशको और सब दिशाओंको व्याप्त देखना, महर्षि और सिद्धोंके समुदायोंको भगवान्‌के स्वरूपसे बाहर खड़े हुए स्तुति करते देखना, उनके तेजसे सारे विश्वको तपायमान होते देखना, धृतराष्ट्रके पुत्रोंको, द्रोण, भीष्मादि शूरवीरोंको और अपनी सेनाके शूरवीरोंको (जो कि दृश्य जगत्‌में प्रत्यक्ष जीवित स्वस्थ खड़े थे) भगवान्‌के रूपमें मरते हुए देखना ये सभी बातें तभी सम्भव हो सकती हैं।

भगवान्‌के विराट् रूपका दर्शन करते हुए अर्जुनको हर्ष, आश्चर्य, मोह, व्यथा और भय एवं दिग्भ्रम

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भी एक साथ ही हुए। भगवान्‌की अनन्त और अलौकिक सामर्थ्यको देखकर, उनको परब्रह्म परमेश्वर समझकर, हर्ष और आश्चर्य हुआ, एवं भयानक रूप-दर्शनसे मोहके कारण भय, व्यथा और दिग्भ्रमादि हुए। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भगवान्‌ने उपदेशद्वारा इस दृश्य जगत्‌को ही ईश्वरका रूप समझाया हो, सो नहीं, क्योंकि ऐसा होनेसे अर्जुनको भय, व्यथा और दिग्भ्रमादि होनेका कोई कारण नहीं रह जाता।

भगवान्‌के शरीरमें दीखनेवाला विश्व, इस दृश्य जगत्‌का प्रतिबिम्ब भी नहीं था। क्योंकि भगवान्‌के शरीरमें तो भीष्म, द्रोण आदि शूरवीरोंको और अपनी सेनाके शूरवीरोंको प्रवेश होते हुए अर्जुन देख रहा है और इस दृश्य जगत्‌में वे सब जीवित हैं, उनके साथ युद्ध करनेके लिये भगवान् अर्जुनको आज्ञा दे रहे हैं।

इससे यही सिद्ध होता है कि भगवान्‌ने जिस रूपका अर्जुनको दर्शन कराया था, वह भगवान्‌का अलौकिक स्वरूप था, भविष्यमें होनेवाली घटनाका परिणाम और अपना ऐश्वर्य दिखलाकर भगवान्‌ने अर्जुनके विश्वासको दृढ़ किया था।

दूरबीन और रेडियोके सदृश किसी यन्त्रद्वारा दूर देशमें स्थित केवल जड़ दृश्य, जो दूर देशमें वर्तमान हों, वे ही दिखलाये जा सकते हैं। लोगोंके मनकी बातें और भविष्यमें होनेवाली घटना नहीं दिखलायी जा सकती अतः इस प्रसंगमें किसी यन्त्रद्वारा विश्व-रूप दिखलाये जानेकी कल्पना करना या किसी यन्त्र-विशेषको दिव्यदृष्टि समझना भूल है।

किसी प्रकारके उपदेशद्वारा अर्जुनको ऐसा समझाया गया हो कि यह दृश्य जगत् भगवान्‌का ही रूप है, एवं ऐसे ज्ञानका ही नाम यहाँ दिव्यदृष्टि है, यह मानना भी युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि ऐसा होनेसे अर्जुनको भय, व्यथा और मोह होनेका कोई कारण नहीं रहता। तथा अर्जुनका यह पूछना भी नहीं बन सकता कि विकराल रूपधारी आप कौन हैं? (११। ३१)। उस समय अर्जुन अपने सामने भगवान्‌का बहुत लंबा-चौड़ा शरीर और उसीमें समस्त जगत्‌को विचित्र ढंगसे देखकर घबरा गया (११। २४, २५) और उस रूपका उपसंहार करनेके लिये भगवान्‌से प्रार्थना करने लगा। किसी प्रकारके ज्ञानद्वारा दृश्य जगत्‌को भगवान्‌का रूप समझाया जानेपर समझनेवालेका यह कहना नहीं बन सकता कि इसका उपसंहार करके, आपका किरीट, गदा और चक्र आदि भूषण और शस्त्रोंसे युक्त चतुर्भुज-रूप दिखलाइये (११। ४६) एवं भगवान्‌का चतुर्भुजरूप दिखलाकर फिर मानुषरूपमें स्थित होकर अर्जुनको आश्वासन देना और उस सौम्यरूपको देखकर अर्जुनका यह कहना भी नहीं बन सकता कि अब आपके इस सौम्य मानुषरूपको देखकर, मैं शान्त-चित्त और स्वस्थ हो गया हूँ।

इस प्रकार विवेचन करनेसे यही समझमें आता है कि अर्जुनके प्रार्थना करनेपर भगवान्‌ने अपने प्यारे भक्त अर्जुनको, उसपर प्रसन्न होकर उसकी श्रद्धा और प्रेम बढ़ानेके लिये एवं अपना प्रभाव, तत्त्व और रहस्य उसको समझानेके लिये अपने योगबलसे वैसा ऐश्वर्यमय रूप दिखाया था, भगवान्‌का वह विश्वरूप अलौकिक, दिव्य और तेजोमय था, साधारण जगत्‌की भाँति पाञ्चभौतिक पदार्थोंसे बना हुआ नहीं था। यदि पाञ्चभौतिक पदार्थोंसे बना हुआ होता तो वहीं खड़े हुए दूसरे लोगोंको भी दिखलायी देता, किन्तु बिना दिव्यदृष्टिके उसके दर्शन किसीको नहीं हुए।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भगवान् अपना प्रभाव और तत्त्व समझानेके लिये जिस-जिसपर कृपा करके अपने दिव्य अलौकिक आश्चर्यमय विश्वरूपका दर्शन कराना चाहते हैं, वही उसको देख सकता है। बिना भगवान्‌की कृपाके कोई योगी योगबलसे ऐसे रूपको नहीं देख सकता, तथा वेदविद्या-अध्ययनसे या यज्ञ, दान और तप आदि पुण्यकर्मोंसे भगवान्‌के इस प्रकारके रूपको कोई नहीं देख सकता, भगवान्‌से अतिरिक्त दूसरा कोई योगी या सिद्ध पुरुष ऐसे रूपकी रचना करके दूसरोंको दिखा भी नहीं सकता। जिस समय भगवान् अपने भक्तपर दया करके उसको अपना तत्त्व और रहस्य समझानेके लिये ऐसे रूपको प्रकट करते हैं उस समय भी उसके दर्शन वही मनुष्य कर सकता है कि—जिनको वैसे रूपका दर्शन करनेकी सामर्थ्य (दिव्यदृष्टि) पहलेसे प्राप्त होती है, जो भगवान्‌का परमभक्त होता है और जिसको भगवान् वैसा रूप दिखाना चाहते हैं—दूसरा कोई किसी भी उपायसे नहीं देख सकता।

संजयको भगवान् वेदव्यासजीने दिव्यदृष्टि प्रदान की थी। वह भगवान्‌का परम प्रेमी, भक्त और विश्वासपात्र था, इसीसे भगवान्‌के अद्भुत रूपको देखनेका सौभाग्य उसे भी प्राप्त हो गया, वह स्वयं कहता है कि मैंने भगवान् वेदव्यासजीकी कृपासे ही आज भगवान्‌के इस अद्भुत रूपके दर्शन किये और श्रीकृष्ण-अर्जुनके गुह्य संवादको सुना (१८। ७५—७७)।

भगवान्‌ने अपने योगबलसे अर्जुनको विश्वरूपदर्शन-के लिये एक प्रकारकी योगशक्ति प्रदान की थी, जिसके प्रभावसे अर्जुनकी समस्त इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि दिव्य हो गये, उनकी सामर्थ्य अलौकिक हो गयी, उसमें दिव्यरूपका दर्शन करनेकी योग्यता आ गयी, इसी योगशक्तिका नाम 'दिव्यदृष्टि' है। ऐसी ही दिव्य-दृष्टि वेदव्यासजीने संजयको भी दी थी, इस दिव्यदृष्टिसे मनुष्य दूर देशकी बातें सुन सकता है, सब प्रकारके दृश्य देख सकता है और दूसरेके मनके भावोंको भी जान सकता है, यही कारण था कि संजय समस्त महाभारतके युद्धका प्रसंग एक जगह बैठे हुए भी देख-सुनकर और समझकर, सब धृतराष्ट्रको सुना दिया करता था, यहाँ तक कि लोगोंके मनके विचार भी धृतराष्ट्रके सामने प्रकट कर दिया करता था।

ऐसी दिव्य शक्तिका साधारण प्रकरण पातञ्जल-योगमें भी आया है, वहाँ जिन शक्तियोंका वर्णन है वे परिमित हैं। भगवान्‌ने अर्जुनको जो दिव्यशक्ति प्रदान की थी वह अपरिमित थी, उसके लिये अर्जुनको किसी प्रकारकी साधना नहीं करनी पड़ी थी, भगवान्‌ने स्वयं ही उसपर कृपा करके वह शक्ति प्रदान की थी।

मनुष्यमात्रको उचित है कि इस प्रकार भगवान्‌की अनन्त और अलौकिक शक्तिको उनके दिव्य विराट् रूपको रहस्यसहित उनके प्रभाव, तत्त्व, लीला और गुणोंको बारंबार याद करके भगवान्‌में अनन्य प्रेम करें और उनके दर्शन करनेके पात्र बनें।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मृत्युका चिन्तन

(अ०—श्रीमुरलीधरजी श्रीवास्तव, बी० ए०, एल-एल० बी०, साहित्यरत्न)

(१)

बहुत शीघ्र यहाँपर तुम्हारा अन्त हो जावेगा, परलोकमें तुम्हारी क्या गति होगी, इसपर विचार करते रहो !

मानव आज यहाँ है, कल वह अन्तर्धान हो जायगा ।

और दृष्टिसे दूर रहनेपर वह ध्यानसे भी दूर हो जायगा !

हाय री मानवहृदयकी कठोरता और मूर्खता ! वह केवल मानव वर्तमानका चिन्तन करता है और भविष्यकी परवा नहीं करता ।

अपने विचारों और कार्योंमें तुम्हें इस प्रकार रहना चाहिये—मानो तुम्हें आज ही मरना है ।

यदि तुम्हारा अन्तःकरण पवित्र है—तब तुम मृत्युसे—विशेष भयभीत नहीं हो सकते ।

मृत्युसे दूर रहनेकी अपेक्षा, पापसे दूर रहना बेहतर है।

यदि तुम आज तैयार नहीं हो तो तुम कल कैसे तैयार हो सकते हो ?

'कल' अनिश्चित है । तुम कैसे जानते हो कि तुम कलतक जीते रहोगे ।

दीर्घजीवनसे क्या लाभ, यदि तुम्हारे व्यवहारमें कोई भी संशोधन भी न हो ।

(२)

हाय ! प्रायः दीर्घजीवन हमारे पापोंकी वृद्धि ही करता है—जीवनका सुधार नहीं ।

आह ! यदि हम संसारमें एक दिन भी पूर्णोत्तम-रूपसे व्यतीत कर सकते !

कितने यह गिना करते हैं कि धर्मप्रवेश किये कितना समय बीता किन्तु प्रायः उनकी पवित्रता-की उपलब्धि कितनी थोड़ी रहती है ।

यदि मृत्यु भयङ्कर है, तो दीर्घजीवन, सम्भवतः उससे खतरनाक है ।

वही सुखी है, जिसके नेत्रोंके सम्मुख सदैव मृत्यु-की घड़ी नाचती रहती है एवं जो नित्य मरनेकी तैयारी करता रहता है ।

यदि तुम किसीको मरते हुए देखो तो विचारो कि तुम्हें भी मरना है ।

(३)

यदि प्रभात हो तो सोचो कि तुम रात्रिके पूर्व मर सकते हो !

जब सन्ध्या आवे तो दूसरे प्रभाततक जीनेपर विश्वास न करो ।

अतः सदैव तैयार रहो तथा इस प्रकार जीवन-यापन करो ताकि तुम्हें मृत्यु बेतैयारकी दशामें उठा न ले जावे ।

कितने अचानक मर जाते हैं—जब वे मृत्युकी प्रतीक्षा नहीं करते रहते ।

उस अन्तिम घड़ीमें, तुम अपने अतीत जीवनपर सर्वथा भिन्न सम्मति रखने लगोगे और अपनेको दोषी और लापरवा देखकर बहुत पछताओगे ।

(४)

अहा ! वह कैसा बुद्धिमान् और सुखी है जो अपने जीवनको वैसा बनानेमें परिश्रम करता है जैसा वह मृत्युकी घड़ीमें अपने जीवनको देखनेकी अभिलाषा रखता है ।

विषयोंसे पूर्ण घृणा, सदाचारमें उन्नति करनेकी गहरी प्रवृत्ति, संयमसे प्रेम, पश्चात्तापमें श्रम, आज्ञा-पालनमें तत्परता एवं भगवद्भक्तिके लिये कष्टसहन, ये हमें अधिक विश्वास देंगे जिससे हम सुखसे मर सकेंगे ।

जब तुम स्वस्थ हो तब तुम अधिक कल्याण कर सकते हो, किन्तु जब तुम बीमार हो तब तुम क्या करनेके योग्य हो सकते हो यह मैं नहीं देखता ।

कुछ लोग ज्वरसे अच्छे, अधिक सुधरे हो जाते

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हैं। जो बहुत बाहर यात्रा करते हैं, वे उसके द्वारा बहुत कम पवित्र होते हैं।

(५)

अपने मित्रों तथा सम्बन्धियोंके उदाहरणपर विश्वास न करो और आत्मकल्याणका ध्यान भविष्यके लिये मत छोड़ बैठो, क्योंकि जैसा तुम समझते हो, उससे अधिक शीघ्रतासे लोग तुमको भूल जावेंगे।

समय रहते इस ओर ध्यान देना और पहलेसे कुछ सत्कर्म करना, अन्य पुरुषोंकी सहायतापर भरोसा करनेसे बहुत अच्छा है।

यदि तुम अभी स्वयं अपनेपर ध्यान नहीं रक्खोगे तो तुम्हारे लिये यहाँके बाद कौन परवा रक्खेगा?

वर्तमान बड़ा बहुमूल्य है। यही सर्वोत्कृष्ट समय है तथा मुक्तिका दिवस है।

किन्तु हाय! तुम अपने समयको आलस्यमें गँवा रहे हो, जब तुम अनन्त जीवन अपने लिये मोल ले सकते हो।

वह दिन आवेगा जब तुम पश्चात्तापके लिये एक घंटे या एक मिनटके लिये तरस जाओगे और मैं नहीं कह सकता कि वह समय भी तुमको मिलेगा।

(६)

प्यारे, यदि तुम सदैव मृत्युका चिन्तनकर डरते रहोगे तो तुम अपनेको कितने बड़े ख़तरे और कैसे महान् भयसे बचा सकते हो!

ऐसा जीवन बितानेका काम करो ताकि तुम मृत्युकी घड़ीमें भयभीत होनेके बजाय आनन्द लूट सको।

संसारके लिये मरना सीखो, ताकि तुम प्रभुके साथ जीवनका आरम्भ कर सको।

तपस्या और आत्मत्यागसे अपने शरीरको अधीन करो—जिससे तुम्हें पूर्ण विश्वास प्राप्त हो।

(७)

ऐ मूर्ख! जब तू एक दिन भी जीनेका वादा नहीं कर सकता तब तू दीर्घकालतक जीनेका चिन्तन क्यों करता है?

कितने धोखा खाकर अचानक खींचे जा चुके हैं।

कितनी ही बार तूने ऐसी खबरें सुनी है। अमुक पुरुष डूब गया, अमुक पुरुष मार डाला गया। एक गिरकर गला टूटनेसे, दूसरा खाते-खाते, और तीसरा खेलते-खेलते मर गया।

कोई आगसे, कोई तलवारसे, कोई बीमारीसे और कोई डाकुओंसे मार डाला गया।

इस प्रकार मृत्यु ही सबका अन्त है और मानव-जीवन छायाकी तरह अचानक समाप्त हो जाता है।

(८)

मरनेपर तेरी याद कौन करेगा? और कौन अपनी प्रार्थनाओंमें तुझे याद करेगा?

मेरे प्यारे! तुमसे जो कुछ हो सके अब भी करते जाओ, क्योंकि तुम नहीं जानते कि तुम्हें कब मरना है और मृत्युके बाद तुम्हारी क्या गति होगी?

इस समय, जब तुम्हारे पास समय है तुम अक्षय सम्पत्तिका सञ्चय कर लो।

अपनी आत्माकी मुक्तिके अतिरिक्त कुछ मत सोचो और केवल ईश्वरीय वस्तुओंपर विचार करो।

परमेश्वरके नवजीवनप्राप्त गौरववान् भक्तोंसे मित्रता करो और उनके कार्योंका अनुकरण करो जिससे इस अल्प जीवनमें असफल भी हो जाओ तो वे चिरस्थायी निवासस्थानोंमें तुम्हारा स्वागत करें।

इस पृथ्वीपर अपनेको अपरिचित और यात्रीके समान रक्खो, और अपनेको ऐसा बनाओ कि तुम्हें संसारके व्यवहारोंसे कोई वास्ता न हो।

अपने हृदयको स्वतन्त्र और ईश्वरोन्मुख रक्खो, क्योंकि यहाँ तुम्हारा स्थायी नगर नहीं है।

अपनी दैनिक प्रार्थनाएँ और अश्रुपूर्ण आहें वहीं भेजो ताकि मृत्युके पश्चात् तुम्हारी आत्मा सानन्द प्रभुके समीप जानेके योग्य समझी जाय।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

परमहंस-विवेकमाला

(लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी)

(गतांकसे आगे)

[मणि १०]

परमात्मामें अध्यासका अभाव

हे जनक ! सुषुप्तिको प्राप्त हुआ परमात्मा 'अहं' तथा 'मम' अध्याससे तथा पुण्य-पापरूप धर्मसे रहित होता है, इसलिये सुषुप्तिमें परमात्मामें स्थूल शरीरको उत्पन्न करनेवाले पिता, माता तथा स्त्री-पुत्रादि बान्धव अपिता, अमाता तथा अबान्धव भावको प्राप्त होते हैं, तात्पर्य यह है कि सुषुप्तिमें 'यह मेरा पिता है यह मेरी माता है, ये मेरे बान्धव हैं,' इस प्रकारकी ममताका अध्यास नहीं होता। हे जनक ! सुषुप्तिमें परमात्मामें शब्द-स्पर्शादि विषय अविषयभावको प्राप्त होते हैं, वाक् आदि इन्द्रियाँ अनिन्द्रियभावको प्राप्त होती हैं, अग्नि आदि देवता अदेवताभावको प्राप्त होते हैं और ऋग्वेदादि चारों वेद अवेदभावको प्राप्त होते हैं। इस प्रकार सुषुप्तिमें ममत्व अध्यासका अभाव होता है।

हे जनक ! सुषुप्तिमें अहंतारूप अध्यास भी नहीं होता। सुवर्णकी चोरी करनेवाले चोरको 'मैं चोर हूँ' ऐसा अध्यास सुषुप्तिमें नहीं होता। यज्ञ, यज्ञ करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य, शास्त्र-वेत्ता ब्राह्मण तथा ब्राह्मणभावको प्राप्त होनेवाला धर्म, इन चारोंको शास्त्रमें भ्रूण कहते हैं और इनको मारनेवालेको भ्रूणहा कहते हैं। ऐसा भ्रूणहा पुरुष सुषुप्तिमें भ्रूणहाभावसे रहित होता है। ब्राह्मणकी स्त्रीमें शूद्र पुरुषसे उत्पन्न होनेवाले पुत्रको चाण्डाल कहते हैं। यह चाण्डाल भी सुषुप्तिमें चाण्डालभावसे रहित होता है। क्षत्रियाणीमें शूद्रसे उत्पन्न हुए पुत्रको अथवा किसी नीच जातिवाले पुरुषको पुल्कस कहते हैं। इस पुल्कसपनेका सुषुप्तिमें अभाव होता है। सुषुप्तिमें संन्यासी संन्यासभावसे तथा वानप्रस्थाश्रमी वानप्रस्थाश्रमभावसे रहित होता है अर्थात् 'ये मेरे माता-पिता' इत्यादि ममताको विषय करनेवाले सर्व अध्यास तथा 'मैं ब्राह्मण, चोर, संन्यासी हूँ' इत्यादि अहंताको विषय करनेवाले ये सब अहं-मम अध्यास सुषुप्तिमें आत्मामें नहीं होते।

हे जनक ! सुषुप्तिमें परमात्माके साथ अभेद-भावको प्राप्त हुए जीवात्मामें जैसे अहं अध्यास तथा मम अध्यास ये दोनों प्रकारके अध्यास नहीं होते इसी प्रकार पुण्य-पापरूप कर्म भी सुषुप्तिमें नहीं होते, इसलिये सुषुप्तिमें परमात्मा अन्तःकरण-के शोकादि सर्व धर्मोंसे रहित होता है। और जाग्रत् तथा स्वप्नमें जीवात्मामें अहं-मम अध्यास विद्यमान होता है, और पुण्य-पापरूप कर्म भी विद्यमान होते हैं, इसलिये जाग्रत् तथा स्वप्नमें जीवात्मा पुत्रादि प्रिय पदार्थोंके वियोगसे तथा सिंह, सर्पादि अप्रिय पदार्थोंके संयोगसे अनेक प्रकारके शोकको प्राप्त होता है। ऐसे अग्निसमान दाह करनेवाले शोकरूप समुद्रको जीवात्मा जाग्रत् तथा स्वप्नमें तर नहीं सकता, किन्तु सुषुप्तिमें सर्व विशेष ज्ञानसे रहित होनेसे जीवात्मा शोकरूप समुद्रको तर जाता है।

जनक—हे भगवन् ! सुषुप्तिमें आत्मा सर्व विशेष ज्ञानसे रहित होता है, यह आपका कथन सम्भव नहीं है; क्योंकि ज्ञानरहित पदार्थ घट-पटादिके समान जड होता है, इसलिये सुषुप्तिमें ज्ञानसे रहित होनेसे आत्मा जड क्यों नहीं कहा जाय ?

याज्ञवल्क्य—हे जनक ! सुषुप्तिमें आत्मा यद्यपि अपने स्वरूपसे उत्पन्न हुए ज्ञानसे युक्त होता है,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तो भी अपनेसे भिन्न किसी द्वैतप्रपञ्चको नहीं देखता। इस अभिप्रायसे सुषुप्तिमें सर्व विशेष ज्ञानका अभाव कहा है। जैसे आकाश सर्व पदार्थोंमें व्यापक है, इसी प्रकार श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण, इन पाँच ज्ञानेन्द्रियोंसे उत्पन्न हुई अन्तःकरणकी वृत्तिमें प्रतिबिम्बरूपसे आत्माकी चैतन्यशक्ति व्यापक है और वाक् आदि कर्मेन्द्रियोंके व्यापारमें भी चैतन्य-शक्ति व्यापक है। इस प्रकारकी आत्माकी चैतन्य-शक्ति सुषुप्तिमें भी विद्यमान है, इसलिये सुषुप्तिमें स्वप्रकाश आत्मा घटादिके समान अज्ञानरूप, जड-रूप अथवा असद्रूप नहीं हो सकता। जाग्रत्में आत्मा श्रोत्र इन्द्रियसे शब्दको जानता है, त्वक्से स्पर्शको, चक्षुसे रूपको, रसन इन्द्रियसे रसको और घ्राण इन्द्रियसे गन्धजालको जानता है। वाक् इन्द्रियसे आत्मा शब्दका उच्चारण करता है, हस्त इन्द्रियसे पदार्थोंका ग्रहण करता है, पाद इन्द्रियसे गमनागमन करता है, उपस्थ इन्द्रियसे आनन्दको प्राप्त होता है और पायु इन्द्रियसे मलादि-का त्याग करता है। मनसे संकल्प-विकल्प करता है, बुद्धिसे निश्चय करता है, चित्तसे स्मरण करता है और अहंकारसे अभिमान करता है। इस प्रकार-के अनेक व्यापार जाग्रत्में आत्मा करता है, सुषुप्ति-को प्राप्त होकर इन व्यापारोंको नहीं करता। इसका कारण इतना ही है कि सुषुप्तिमें श्रोत्रादि इन्द्रियाँ तथा शब्दादि विषयोंसे लेकर सर्व द्वैतप्रपञ्चका अभाव होता है। इसलिये सुषुप्तिमें कोई व्यापार नहीं होता। सुषुप्तिमें आत्माको ज्ञान न होनेसे, उसमें कोई व्यापार न होता हो, ऐसे अर्थमें श्रुतिका तात्पर्य नहीं है, किन्तु जैसे काष्ठरूप उपाधिवाला अग्नि दाह करता है, अन्नादिको पकाता है तथा प्रकाश करता है किन्तु काष्ठरूप उपाधिसे रहित तथा राखसे दबा हुआ अग्नि दाहादि कार्य नहीं करता, इसी प्रकार जाग्रत्में इन्द्रियादि उपाधि-वाला जीवात्मा नाना प्रकारके व्यापार करता है। सुषुप्तिमें श्रोत्रादि इन्द्रियों तथा शब्दादि विषयोंका कारण अज्ञानमें लय हो जाता है, इसलिये सुषुप्तिमें विद्यमान आत्मा किसी व्यापारको नहीं करता। जैसे अग्निके स्वरूपसे होनेवाला प्रकाश काष्ठके नाश होनेसे नाश नहीं होता, इसी प्रकार सुषुप्तिमें विषय-इन्द्रियरूप उपाधिका लय होनेपर भी आत्माके स्वरूपसे होनेवाला ज्ञान नाश नहीं होता, क्योंकि पदार्थका स्वरूप पदार्थ विद्यमान होते हुए कभी नाश नहीं होता किन्तु पदार्थका नाश होनेसे ही उसके स्वरूपका नाश हो जाता है। जैसे अग्निके स्वरूपसे हुई उष्णता तथा प्रकाशरूपता अग्निके नाश हुए बिना किसी उपायसे नष्ट नहीं हो सकती किन्तु अग्निके नाशसे ही अग्निका स्वरूप नष्ट होता है, इसी प्रकार सुषुप्तिमें द्रष्टा आत्मा अविनाशी होनेसे द्रष्टा आत्माका नाश नहीं होता और द्रष्टा आत्माके नष्ट न होनेसे द्रष्टाके स्वरूपभूत स्वप्रकाश-ज्ञानरूप दृष्टिका भी नाश नहीं होता।

हे जनक! जो वादी आत्माके नाशको माने, उससे पूछना चाहिये कि द्रष्टा आत्माका किसी कारणसे नाश होता है अथवा किसी कारण बिना ही नाश होता है? आत्माका नाश किसी कारणसे होता है, यह प्रथम पक्ष माने तो उससे पूछना चाहिये कि आत्माका नाश आत्मासे भिन्न है अथवा आत्मास्वरूप ही है। इनमेंसे आत्माका नाश आत्मा-स्वरूप ही है, यह दूसरा पक्ष सम्भव नहीं है क्योंकि आत्माका नाश आत्मारूप है, ऐसा कहनेसे सिद्ध होता है कि जिस आनन्दस्वरूप आत्माको वादी आत्माका नाश कहता है, उस चेतन आत्माको हम आत्मा कहते हैं, इसलिये वादीका और हमारा आत्मा-के नाममात्रमें ही विवाद सिद्ध होता है, नामके अर्थमें विवाद सिद्ध नहीं होता और ऐसे नाममात्रके विवादसे अर्थकी हानि नहीं होती। जैसे कि एक घटको कोई घट कहता है और दूसरा कलश कहता है, इसमें घट तथा कलश, इन दोनों नामोंका भेद होनेपर भी घटव्यक्तिका भेद नहीं होता। इसी प्रकार आत्माका नाश और आत्मा, इन दोनों

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

धर्मोंका भेद होनेपर भी आत्मारूप व्यक्तिका भेद सम्भव नहीं है। और आत्माका नाश आत्मासे भिन्न है, यह प्रथम पक्ष वादी माने, तो यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' अर्थात् ब्रह्मरूप आत्मा सत्यरूप, ज्ञानरूप तथा अनन्तरूप है, इस श्रुतिमें आत्माको सत्य कहा है, सत्यरूप आत्मासे आत्माका नाश तथा आत्माके नाशका कारण भिन्न हो तो वन्ध्यापुत्रके समान आत्माका नाश और उस नाशका कारण है। असत्य पदार्थकी किसी प्रमाणसे सिद्धि नहीं होती, जैसे असत् वन्ध्यापुत्रकी किसी प्रमाणसे सिद्धि नहीं होती, इसी प्रकार असत्यरूप आत्माके नाश और उस नाशके कारणकी किसी प्रमाणसे सिद्धि नहीं हो सकती। और सजातीय, विजातीय तथा स्वगत-भेदसे रहित अद्वितीय परमात्मासे भिन्न आत्माका नाश असत्य ही है। आत्माका नाश असत्य होनेसे नाशरूप कार्यसे अनुमान करने योग्य नाशका कारण भी असत्य होगा और आत्माका नाश और नाशका कारण असत्य होनेसे उन दोनोंका प्रमाण भी असत्य होता जायगा क्योंकि प्रमाणकी सत्ता प्रमेय वस्तुकी सत्ताके अधीन होती है। जैसे वन्ध्यापुत्र असत्य होनेसे उसका प्रमाण भी असत्य है, इसलिये प्रमेय असत्य होनेसे प्रमाण भी असत्य ही है। वादीका माना हुआ आत्माका नाश या तो भावरूप अथवा अभावरूप होना चाहिये। यदि आत्माका नाश वादी भावरूप माने तो वह भावरूप आत्माका नाश घटादि पदार्थोंके समान अनित्य है अथवा आत्माके समान नित्य है? इनमेंसे अनित्य है, यह पक्ष सम्भव नहीं है क्योंकि यदि आत्माका नाश नाशरूप हो तो वह नाश नित्य आत्माकी हानि नहीं कर सकता। इसी प्रकार आत्माका नाश आत्माके समान नित्य है, यह पक्ष भी सम्भव नहीं है क्योंकि जैसे आत्मा भावरूप, चैतन्यरूप तथा नित्य है, इसी प्रकार आत्माका नाश भी भावरूप, चैतन्यरूप तथा नित्य है, इसलिये चैतन्यरूप नाशसे चैतन्यरूप आत्माकी हानि नहीं हो सकती। और आत्माके समान चैतन्यरूप आत्माका नाश यदि कदापि चैतन्यरूप आत्माका नाश करे तो चैतन्यरूपसे नाशके समान आत्मा भी नाशका नाश अवश्य करेगा परन्तु आत्माके समान चैतन्यरूप नाश आत्माका नाश करता है और चैतन्यरूप आत्मा नाशका नाश नहीं करता, इस अर्थकी सिद्धि करनेवाली कोई युक्ति नहीं है, इसलिये आत्माके नाशको भावरूप कहना अत्यन्त असंगत है। और दूसरे पक्षके अनुसार आत्माके अभावरूप नाशका अनात्म पदार्थ प्रतियोगी है अथवा इस अभावरूप नाशका आत्मा पदार्थ प्रतियोगी है? इनमेंसे अभावरूप नाशका अनात्म पदार्थ प्रतियोगी है, यह प्रथम पक्ष नहीं बनता, क्योंकि जैसे घटके अभाववाला भूतल है, ऐसा कहनेसे भूतलमें रहे हुए घटाभावकी सिद्धि होती है। उस घटाभावका प्रतियोगी घट है, पटादि पदार्थ उस अभावका प्रतियोगी नहीं है, इसलिये घटाभाववाली भूतलकी प्रतीतिसे भूतलमें घटाभाव सिद्ध होनेपर भी उस प्रतीतिसे पटादिका अभाव सिद्ध नहीं होता, इसी प्रकार आत्मासे भिन्न सर्व अनात्म पदार्थका अभाव सिद्ध होनेपर भी आत्माका अभाव सिद्ध नहीं होता, इसलिये अभावरूप नाशका अनात्म पदार्थ प्रतियोगी है, यह वादीका कहना अत्यन्त असंगत है। और अभावरूप नाशका आत्मा प्रतियोगी है, इस दूसरे पक्षमें भी शङ्का उठती है कि आत्मा एक है अथवा अनेक है? इनमेंसे प्रतियोगी आत्मा एक है, यह प्रथम पक्ष नहीं बनता क्योंकि जो आत्मा अभावरूप नाशका प्रतियोगी है, वही आत्मा अभावरूप नाशका भी आत्मा है, इसलिये अपने आत्माके साथ अभावरूप नाश विरोध नहीं कर सकता, क्योंकि इस लोकमें कोई भी पुरुष अपने आत्माके साथ विरोध नहीं करता, अपनेसे भिन्न सर्व प्रतिकूल पदार्थोंके साथ सब लोग विरोध करते हैं। इसलिये प्रतियोगी आत्मा एक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है, यह पक्ष नहीं बनता, इसी प्रकार अभावरूप नाशका प्रतियोगी आत्मा अनेक है, यह दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है। क्योंकि अभावरूप नाशके आत्माको अभावरूप नाश भी कभी निवृत्त नहीं करता, इसलिये आत्माका नाश करनेके लिये कोई दूसरा अभावरूप नाश मानना पड़ेगा। और दूसरा अभावरूप नाश भी अपने आत्माका नाश नहीं कर सकता, इसलिये उस दूसरे अभावरूप नाशके आत्माके नाशके लिये तीसरा अभावरूप नाश मानना पड़ेगा। इस प्रकार उत्तरोत्तर अभावरूप नाशकी कल्पना करनेसे अनवस्थादोष प्राप्त होता है। और यदि वादी अनवस्थादोषके निवारणके लिये उत्तरोत्तर अभावरूप नाशकी कल्पना न करे तो आत्माका अभावरूप नाश सिद्ध न हो, क्योंकि काले-पीले रंगवाले अनेक घड़ोंमें एक घट भी जिस भूमिपर होता है, उस भूतलमें घटाभाववाला भूतल, ऐसी सामान्य प्रतीति नहीं कराता किन्तु नील घटके अभाववाला भूतल तथा पीत घटके अभाववाला भूतल, इसी प्रकारकी विशेष प्रतीति कराता है। जब भूतलमें सम्पूर्ण घटोंका अभाव होता है, तब घटाभाववाला भूतल, ऐसी सामान्य प्रतीति कराता है। एक आत्मा विद्यमान होनेसे सामान्यतः आत्माका अभावरूप नाश सम्भव नहीं है।

अभावका खण्डन

जो वादी आत्माके नाशको अभावरूप मानता है, उससे पूछना चाहिये कि अभावरूप आत्माका नाश प्रागभावरूप है, अन्योन्याभावरूप है, अत्यन्ताभावरूप है अथवा प्रध्वंसाभावरूप है? प्रागभावरूप प्रथम पक्ष माने तो पूछना चाहिये कि जब आत्माका प्रागभावरूप नाश विद्यमान है, तब आत्मा विद्यमान है या नहीं? इनमेंसे प्रथम पक्ष सम्भव नहीं है क्योंकि यदि प्रागभाव कालमें आत्माका स्वरूप विद्यमान है, तो वह आत्मा अपने प्रागभावरूप नाशको निवृत्त कर देगा, इसलिये प्रागभावरूप नाशसे आत्माकी कुछ भी हानि नहीं है। और प्रागभावरूप नाशके समय आत्मा विद्यमान नहीं है, यह दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है क्योंकि जैसे लोकमें पीठ पीछे गाली देनेसे किसीकी हानि नहीं होती इसी प्रकार भिन्न कालमें रहनेवाले प्रागभावसे आत्माकी कोई हानि नहीं है। भाव यह है कि एक कालमें तथा एक देशमें वर्तमान पदार्थोंका परस्पर साधकबाधकभाव होता है, भिन्न काल और भिन्न देशमें वर्तमान पदार्थोंका परस्पर साधकबाधकभाव नहीं होता, जैसे भिन्न देश तथा भिन्न कालमें रहनेवाले कुलाल दण्ड चक्रादि कारणोंसे भिन्न देश-कालमें रहे हुए घटकी उत्पत्ति नहीं होती तथा भिन्न देश-कालमें रहनेवाले अग्निसे भिन्न देश-कालमें रहनेवाले तृणादिका दाह नहीं होता, इसी प्रकार भिन्न कालमें रहनेवाले प्रागभावरूप नाशसे भिन्न कालमें रहनेवाले आत्माकी हानि नहीं होती। और जो वादी कार्यकी उत्पत्तिसे पहिले कार्यके उपादान कारणमें प्रागभाव मानता है, वह वादी भी प्रागभावको कार्यकी उत्पत्तिमें कारण मानता है किन्तु प्रागभावकी कार्यमें नाशरूपता नहीं मानता परन्तु उलटा कार्यसे प्रागभावका नाश मानता है। जैसे पटकी उत्पत्तिसे पहिले तन्तुरूप कारणमें पटका प्रागभाव रहता है तथा तन्तुके समान प्रागभाव भी पटका कारण होता है। और जब पटरूप कार्यकी उत्पत्ति होती है तब प्रागभाव नष्ट हो जाता है, इसलिये कार्यकी उत्पत्तिका कारण प्रागभाव कार्यका विरोधी नहीं होता किन्तु कार्य ही प्रागभावका विरोधी होता है। और जिस-जिस पदार्थका प्रागभाव होता है, उस-उस पदार्थकी उत्पत्ति होती है, इसलिये जिसकी उत्पत्ति नहीं होती, उसका प्रागभाव भी नहीं होता, आनन्दस्वरूप आत्मा अजन्मा है, इसलिये आत्माका प्रागभाव सम्भव नहीं है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

इसी प्रकार जिस पदार्थका नाश होता है, उसका जन्म भी होता है। इसलिये जैसे दिनमें भोजन न करनेवाले स्थूल पुरुषकी स्थूलता भोजन बिना सम्भव नहीं है, इसलिये वह पुरुष रात्रिमें भोजन करता होगा, ऐसी कल्पना होती है, इसी प्रकार पदार्थका नाश भी पदार्थके जन्म बिना सम्भव न होनेसे, उस पदार्थके जन्मकी कल्पना कराता है। और आत्माका नाश किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, इसलिये नाशसे आत्माके जन्मकी कल्पना नहीं हो सकती, इसलिये आत्माका नाश प्रागभावरूप नहीं है।

आत्माका अभाव अन्यान्याभावरूप है, यह दूसरा पक्ष यदि वादी माने तो यह भी सम्भव नहीं है क्योंकि यदि आत्माका नाश अन्योन्याभावरूप हो तो वह अन्योन्याभाव आत्माका विरोधी नहीं हो सकता। जैसे घट पटरूप नहीं है और पट घटरूप नहीं है, ऐसी प्रतीतिका विषय अन्योन्याभाव घटपटरूप प्रतियोगी अनुयोगीके आश्रय रहता है, घटपटरूप आश्रयके अविद्यमान होनेपर अन्योन्याभावकी स्थिति सम्भव नहीं है, इसलिये अन्योन्याभावरूप आत्माका नाश आत्माकी कुछ भी हानि नहीं कर सकता।

आत्माका नाश अत्यन्ताभावरूप है, यह तीसरा पक्ष भी सम्भव नहीं है, क्योंकि यदि आत्माका नाश अत्यन्ताभावरूप हो, तो नरशृङ्गके समान आत्मा भी नास्तिरूपसे प्रतीत हो। और नरशृङ्गसमान नास्तिरूपसे आत्माकी प्रतीति नहीं होती किन्तु 'मैं हूँ' इस प्रकार अस्तिरूपसे आत्माका भाव सब जीवोंको होता है, इसलिये आत्माका नाश अत्यन्ताभावरूप नहीं है।

आत्माका नाश प्रध्वंसाभावरूप है, यह चौथा पक्ष भी सम्भव नहीं है क्योंकि आत्माकी सत्ता बिना नाशकी सत्ताके दुर्लभ है, इसलिये इसके समान सब दूषण यहाँ प्राप्त होंगे।

जनक—हे भगवन्! आत्माका नाश अभावरूप है, इस पक्षमें पूर्वके दूषण चौथे पक्षमें सम्भव हैं, किन्तु आत्माका नाश भावरूप है, इस पक्षमें पूर्वके दूषण चौथे पक्षमें कैसे हो सकते हैं?

याज्ञवल्क्य—हे राजन्! आत्माका नाश भावरूप है, इस पक्षमें कहे हुए पूर्वके सब दूषण चौथे पक्षमें सम्भव हैं क्योंकि भाव पदार्थसे भिन्न कोई अभाव पदार्थ नहीं होता, किन्तु अभाव पदार्थ भाव पदार्थरूप ही होता है, यह बात पूर्वमें विस्तारसे कही है। जैसे घटका प्रध्वंसाभाव घटके उपादान कारणरूप कपालसे भिन्न नहीं है किन्तु घटका नाश कपालरूप ही है, इसी प्रकार उन कपालोंका ध्वंस भी कपालोंके उपादान कारणरूप कपालिकासे भिन्न नहीं है किंतु कपालिकारूप ही है। यह बात केवल युक्तिसे ही सिद्ध नहीं है। विष्णुपुराणमें व्यासभगवान्ने कहा है—

मही घटत्वं घटतः कपालिका
कपालिका चूर्णरजस्ततोऽणुः।

अर्थात् 'मृत्तिकाका प्रध्वंसाभाव घटरूप है, घटका प्रध्वंसाभाव कपालरूप है, कपालका प्रध्वंसाभाव कपालिकारूप है, कपालिकाका प्रध्वंसाभाव चूर्णरूप है, चूर्णका प्रध्वंसाभाव रजरूप है और रजका प्रध्वंसाभाव अणुरूप है।' इसलिये आत्माका नाश भावरूप होनेसे पूर्वके सर्व दोष चौथे पक्षमें प्राप्त होते हैं।

आत्माका नाश किसी कारणसे नहीं होता, इस पक्षका खण्डन इस प्रकार है—इस लोकमें जिस-जिस घटादि पदार्थका नाश होता है, वह मुद्गरप्रहारादि किसी कारणसे ही होता है, कारण बिना किसी कार्यका नाश नहीं होता, इसलिये आत्माका नाश किसी कारणसे नहीं होता, किन्तु कारण बिना ही होता है, यह कहना अत्यन्त विरुद्ध है। और आत्माका नाश किसी कारणसे होता है,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ऐसा मानें, तो आत्माका नाश आत्मासे भिन्न है अथवा अभिन्न ? इत्यादि पूर्वके विकल्प तथा पूर्वोक्त सर्व दोष इस दूसरे पक्षमें प्राप्त होते हैं, इसलिये दूसरा पक्ष भी असंगत है। सिंह मृगको मारनेके बाद दूर जाकर मृगकी तरफ देखता है कि यदि दूसरा मृग आया हो, तो उसको भी मारूँ, इस प्रकारके न्यायका नाम सिंहावलोकन है। इस न्यायसे प्रथम पक्षमें दूषणोंको फिर दिखलानेमें आता है, आत्माका नाश जिस कारणसे उत्पन्न होता है, वह कारण किसी दूसरे कारणसे जन्य है अथवा अजन्य है ? इनमेंसे आत्माके नाशका कारण दूसरे कारणसे जन्य है, यह प्रथम पक्ष सम्भव नहीं है, क्योंकि जैसे आत्माके नाशका कारण दूसरे कारणसे जन्य है, इसी प्रकार दूसरा कारण तीसरे कारणसे जन्य होगा और तीसरा चौथेसे, इस प्रकार कारणोंकी परम्परा माननेसे अनवस्थादोष प्राप्त होगा। आत्माका नाश किसी कारणजन्य नहीं है, यह पक्ष भी असम्भव है क्योंकि आत्माके नाशका कारण किसी कारणसे जन्य न हो तो वह नाशका कारण नित्य होगा परन्तु आत्मासे भिन्न कोई पदार्थ नित्य है नहीं, इसलिये आत्माके नाशका कारण भी आत्मास्वरूप ही है। और इस लोकमें कोई जीव अपने आत्माका नाश नहीं करता, इसलिये आत्माके नाशका कारण अपने आत्माका नाश नहीं करेगा, इसलिये आत्माके नाशका कारण अजन्य है, यह वादीका कहना अत्यन्त असंगत है। पूर्वोक्त युक्तियोंसे यद्यपि आत्माका नाश सम्भव नहीं हैं, तो भी जो पदार्थ सत् होता है, वह क्षणिक होता है, जैसे कि विद्युत् सत् पदार्थ होनेसे क्षणिक है, इसी प्रकार आत्मा भी सत् होनेसे क्षणिक है, इस अनुमानप्रमाणसे आत्माके नाशकी सिद्धि क्यों नहीं होती ? ऐसा कोई कहे तो उसका यही समाधान है कि आत्माके नाशको सिद्ध करनेवाला जो अनुमानप्रमाण है, उसकी प्रमाणताका लाभ तभी सिद्ध हो, जब आत्माका नाश और नाशका कारण सत्य हो, क्योंकि प्रमेयकी सत्ताके बिना प्रमाणकी सिद्धि नहीं होती, इसलिये अनुमानप्रमाणकी सिद्धिके लिये आत्माका नाश और नाशका कारण अवश्य सत्य मानना पड़ेगा। अनुमानप्रमाणकी प्रवृत्तिसे पूर्व कालमें आत्माका नाशरूप प्रमेय अविद्यमान है। यदि प्रमेयके अविद्यमान होनेपर भी प्रमाणमें प्रमाणताका व्यवहार होता है अथवा प्रमेय विद्यमान होनेपर व्यवहार होता है, यह कहना चाहिये। प्रमेय अविद्यमान होनेपर तो प्रमाणमें प्रमाणताका व्यवहार होगा नहीं क्योंकि प्रमेय पदार्थ विना यदि प्रमाणमें प्रमाणताकी सिद्धि होती हो तो प्रमेय पदार्थ मानना ही व्यर्थ है। और प्रमेय पदार्थ विद्यमान होनेपर प्रमाणमें प्रमाणताव्यवहार मानें तो उस प्रमेय पदार्थकी सत्ता प्रमेय पदार्थके स्वभावसे सिद्ध है अथवा प्रमाणके बलसे सिद्ध है? यह प्रश्न उठे। प्रमेयकी सत्ता स्वभावसे सिद्ध हो नहीं सकती, क्योंकि प्रमाण बिना प्रमेयकी सत्ता स्वभावसे सिद्ध हो तो प्रथम मतानुसार प्रमाण मानना निष्फल है क्योंकि प्रमेय पदार्थकी सिद्धिके लिये प्रमाण माना जाता है और प्रमेय पदार्थ तो स्वभावसे सिद्ध है, इसलिये प्रमेयकी सिद्धिके लिये प्रमाण मानना निष्फल ही है। और प्रमाणके बलसे प्रमेय पदार्थकी सत्ता सिद्ध हो, तो वह भी सम्भव नहीं है क्योंकि यदि प्रमाणके बलसे प्रमेय पदार्थकी सिद्धि होती हो, तो मिथिलापुरीमें वन्ध्याका पुत्र जनकके दौहित्रके समान राज्य करेगा, ऐसा कहनेमें जनकके दौहित्रके समान अनुमानरूप प्रमाणसे वन्ध्यापुत्रकी सिद्धि होनी चाहिये। (क्रमशः)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भगवन्नाम ही सुलभ साधन है

(कानपुर-संकीर्तनमहोत्सवमें ब्रह्मचारी श्रीप्रमुदत्तजीका लिखित भाषण)

मधुरमधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां
सकलनिगमवल्लीसत्फलं चित्स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा
भृगुवर! नरमात्रं तारयेद् रामनाम॥

महानुभावो! इस प्रभुकी मोहमयी मायाकी महिमा बड़ी ही विचित्र है, इसके विषयमें किसी प्रकारका अभ्रान्त अनुमान लगा लेना अत्यन्त ही कठिन है। कहावत तो यह है, कि उद्यमसे धनसम्पत्ति प्राप्त होती है, किन्तु बहुत-से अनुद्यमी धनवान् देखे गये हैं। बहुत-से उद्यमी भोजनोंको तरसते हैं। शुद्ध सदाचारी गृहस्थ सन्तान-विहीन देखे जाते हैं, इसके विपरीत सदाचाररहित पुरुषोंके बहुत सन्तानें होती हैं। अतः हमें हारकर कहना पड़ता है, कि यह प्रारब्धका खेल है। प्रत्येक पुरुषका प्रारब्ध पृथक्-पृथक् है। जिस प्रकार धन-परिवार प्रारब्धसे प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार कलाओंका भी हाल है। मैंने ऐसे-ऐसे चित्रकार देखे हैं कि जो श्रीभगवान्‌के इतने सुन्दर चित्र बना लेते हैं जिन्हें भगवद्भक्तिप्रधान हृदयवाले पुरुष देखकर तन्मुग्धकी भाँति आत्मविस्मृत हो जाते हैं, किन्तु उन चित्रकारोंका निजी जीवन पवित्र नहीं है। वे सदाचारसे दूर हैं। इससे पता चला कि सुन्दर चित्र बना लेना, अच्छी-अच्छी भावपूर्ण कविताएँ कर लेना, मनोहर-ओजस्वी लेख लिख लेना ये एक-एक प्रकारकी कलाएँ हैं, इनसे और भगवत्पथसे कोई विशेष सम्बन्ध नहीं। यह तो जैसे कोई सुन्दर गलीचा बनानेकी कलामें निपुण है, कोई सुन्दर नाटककी रचना कर सकता है, तो कोई सुन्दर गाना गा लेता है, ये सब 'भुक्तये न तु मुक्तये'। इनका फल केवल दुनियाकी वाहवाही है। धन, सम्पत्ति, कला, पूजा, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि इन सबका प्रारब्धसे सम्बन्ध है। जिनका बहुत प्रेम हो, अधिक लोग जिनके चरण छूते हों वे सब महात्मा ही हों, यह जरूरी नहीं है। उनमेंसे महात्मा भी कोई-न-कोई हो सकते हैं, किन्तु ये सब पूजा, प्रतिष्ठा, प्रसिद्धि अधमात्माओंको भी प्राप्त हो सकती हैं।

मैं एक अत्यन्त ही अल्पात्मा पुरुष हूँ, यह शिष्टाचार-की बातें नहीं, सत्य-सत्य कह रहा हूँ, मेरा मन उतना ही चंचल और चारों ओर घूमनेवाला है जितना और सभी लोगोंका। श्रीभगवान्‌के प्रेममें जीव कैसे मुग्ध होता है इन बातोंका अनुभव तो मुझे नहीं है, किन्तु प्रेमियोंकी दशा-के वर्णन मैंने पढ़े हैं। उन्हें जब अपने जीवनसे मिलाता हूँ, तब मैं आपसे शपथपूर्वक कहता हूँ, मेरी स्थिति ऐसी कभी नहीं होती। दयाबाईने एक जगह लिखा है—

हँसि गावत रोवत उठत, गिरि गिरि परत अधीर।
पै हरिरस चाख्यो दया, सहत कठिन तनपीर॥
प्रेमदिवाने जे भये, कहें अटपटे बैन।
सहजो मुख हाँसी छुटे, कबहूँ टपकैं नैन॥

ये प्रेमियोंकी दशाएँ हैं। उनका चित्त एक क्षणके लिये भी संसारी मान-प्रतिष्ठा और मोहक पदार्थोंकी ओर नहीं जाता। उनके मनके विचरण करनेके लिये दूसरा ही लोक बताया गया है। उन्हें तो शरीरका भान भी नहीं रहता। उनकी दशा तो ऐसी बतायी गयी है—

कहूँ धरत पग परत कहुँ, डिगिमिगात सब देह।
प्रेममगन राते रहें, दिन दिन अधिक सनेह॥

श्रीमद्भागवतमें भी स्थान-स्थानपर आया है—

हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥

प्रेमीकी दशा पागलोंकी-सी होती है, उसमें चतुराई, वाक्पटुता, व्यवहार आदि तो प्रायः रहते ही नहीं।

अपने आपको मनुष्य स्वयं ही समझ सकता है। इस भारतवर्षके करोड़ों जीवोंमेंसे मैं भी एक सामान्य जीव हूँ। मेरी न कोई प्रसिद्धि है, न कोई बड़ा भारी नाम; फिर भी कुछ पुस्तकें लिखनेसे, महापुरुषोंकी नकल करनेसे कुछ भाई मेरे नामको जानने लगे हैं। किन्तु मेरे मनकी क्या दशा है, इसे बहुत कम भाई जानते हैं। उसका पूरा पता मुझे ही है। आज प्रातः बहुत कुछ सोचता रहा, कहाँ जाना, क्या करना, अभीतक कुछ निश्चय ही नहीं हो पाया था। रास्तेमें आते-आते एक शेर याद आ गया। वह ठीक याद तो नहीं, शायद यों है—

न हम कुछ हँसके सीखे हैं, न कुछ रो करके सीखे हैं।
जो कुछ थोड़ा-सा सीखे हैं, किसीके होके सीखे हैं॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मनुष्यके लिये स्वार्थ-परमार्थके निर्णयके दो साधन हैं, या तो अपनी बुद्धिके ऊपर विश्वास करके जो भी सत्य मालूम पड़े उसे बिना हिचकिचाहटके करे, या किसीके ऊपर अपनेको छोड़ दे। वह जैसी भी आज्ञा दे वही करे।

यही सब सोचकर मैं प्रातः पूज्यपाद महात्मा रामदासजी महाराजके पास पहुँचा और उन्हें लिखकर दिया कि 'अब आप जो भी आज्ञा देंगे उधर ही चलूँगा, अपने मनकी कुछ भी न करूँगा।' संयोगकी बात कि इतनेमें ही श्रीमञ्जुलजी और श्रीजगतसिंह आदि कई भाई आ पहुँचे कि तुम्हें कुछ लिखकर देना होगा। मैंने बार-बार अपनी असमर्थता प्रकट की। इतनी भीड़में इतने गुरुजनोंके सामने मेरे लिखेका भला क्या महत्त्व होगा, किन्तु उनका आग्रह बना ही रहा। बाबा रामदासजी महाराजने भी आज्ञा दी कि 'हम तुम्हें यही आज्ञा देते हैं, कुछ लिख दो जरूर।' फिर तो मजबूरी थी 'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।' उसीका परिणाम है कि ये कुछ पंक्तियाँ मौनी होते हुए भी मैंने लिखकर आप सब महानुभावोंके सम्मुख उपस्थित करनेकी धृष्टता की है। यदि ऐसी आज्ञा न होती तो आप विश्वास मानिये मेरा इस सभामें कुछ लिखकर सुनवानेका साहस न होता।

मनुष्य जो भी कुछ लिखता है, या बोलता है उसमें उसके निजी भाव और विचार रहते हैं। यह दूसरी बात है, कि उन विचारोंको वह चाहे अपने जीवनमें कार्यरूपमें परिणत न कर सके। मैं आपसे सत्य कहता हूँ मेरा कुछ ऐसा विचार है कि यह प्रेममार्ग बाजारकी चीज नहीं है। इसे जब हम बाजारमें लावेंगे, तो इसके स्वरूपसे इसे बहुत ही नीचे उतारकर लावेंगे। मेरा मतलब यह नहीं कि हमें समूहमें संकीर्तन, पदगायन आदि करने ही न चाहिये। इस तरह करना भी लोकदृष्टिसे ठीक है। किन्तु इसे ही भक्तिमार्ग समझ लेना यह बड़ी भारी भूल है। प्रेमका मार्ग प्रचारकी अपेक्षा नहीं रखता। प्रेमीके तो श्वास-प्रश्वाससे प्रेमकी गन्ध उड़कर प्राणियोंको मुग्ध करती है। उसकी तो स्वाभाविक चेष्टाएँ ही संसारको प्रेमका पाठ पढ़ाती हैं। इस मार्गमें तो ऐकान्तिक रुदन ही सर्वश्रेष्ठ साधन बताया गया है। मैंने कुछ प्रेमी संतोंके जीवन-चरित्रोंका संग्रह किया है, उनके चरित्रोंसे मुझे पता चला है कि वे लोग किस तरह लोक और वेदसे परे होते हैं। वे संसारी कुलाचार-की कुछ भी परवा नहीं करते। भगवतरसिक श्रीव्यासजी-ने पुकारकर कहा है—

ब्यासहिं बामन मत गिनौ, हरिदासनको दास।
राधावल्लभ कारने, सह्यौ जगत उपहास॥

भाइयो! इस मार्गमें तो लोक-वेद, कुल-मर्यादा किसी-की भी परवा नहीं रहती। इन सबको ये जानकर नहीं छोड़ते, इस मार्गमें वे स्वतः ही छूट जाते हैं। प्रेममार्गमें जाति-पाँति, कुलधर्म किसीका निबाह नहीं। एक प्रेमी मुसलमान भक्तने कहा है—

कहाँका रोज़ा नमाज कैसी किसीके मैं इंतजारमें हूँ।
तूँ ने मय जो पिला दी साकी, उसीके अबतक खुमारमें हूँ॥

प्रेमके खुमारके सामने रोजा-नमाज कैसी!

इधर भक्तिमती मीराबाईका चरित्र लिखनेका मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उसमें उसकी मस्तीको देखकर मैं तो आश्चर्यचकित रह गया। उस प्रेमकी पगलीने प्रेमका जैसा सजीव वर्णन किया है, उसे यदि वज्रहृदय पुरुष भी पढ़ने लगे तो वह भी एक बार क्षणभरके लिये ही सही, मुग्ध हुए बिना न रहेगा। वह पैरमें घुँघरू बाँधकर लोकलाज त्यागकर नाचती हुई गाने लगी—

पग घुँघरूँ बाँध मीरा नाची रे। पग घुँघरूँ०
लोग कहें मीरा भई रे दिवानी
बाप कहै कुल नासी रे। पग घुँघरूँ०
जहरका प्याला राणाजी भेज्या
पीवत मीरा हाँसी रे। पग घुँघरूँ०
मैं तो अपने नारायणकी
हो गई आप ही दासी रे। पग घुँघरूँ०
मीराके प्रभु गिरधरनागर, बेग मिलो अबिनासी रे॥ पग०॥

मीराने प्रेमके सामने राणाके कोपका, राजपाटका, उच्च कुलका कुछ भी ध्यान नहीं किया। वह प्रेमकी पगली रोती थी और गाती थी—

हेरी मैं तो प्रेम दिवानी मेरा दरद न जाणै कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी किस बिध सोवण होय।
गँगन मँडलपर सेज पियाकी किस बिध मिलणो होय॥

सचमुच प्रेमीकी सेज सदा सूलीपर ही होती है। रसिक रसखानने कहा है—

सीस उतारै भुँइ धरै तापर राखै पाउँ।
इश्कचमन मैदानमें ऐसा होय तो आउँ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अपनापन मिटाकर इस मार्गमें आना होता है। प्रेममें दिखावा नहीं। कोई हमें देख न ले इसकी भी परवा नहीं और लोग हमारी दशाको देखें ही यह भी इच्छा नहीं। जहाँ हम जगत्‌की परवा करते हैं वहाँ हम परमार्थसे च्युत हो जाते हैं। प्रेमी तो अपने प्रभुको रिझाते हैं। उस रिझावनको देखकर संसारी लोग भी रीझ जायँ तो भी वाह वाह, न रीझें गाली दें, बुरा-भला कहें तो भी वाह वाह।

मुझे है काम ईश्वरसे जगत रूठे तो रूठन दे।

अपने उस प्रियतमको रिझाना ही प्रेमियोंका परम-पुरुषार्थ है। परन्तु वह भी रीझेगा या नहीं। कब रीझेगा, कैसे रीझेगा, कबतक रीझेगा। प्रेममार्गमें ये प्रश्न ही नहीं उठते वहाँ तो बस,

तुम हमें देखो न देखो, हम तुम्हें देखा करें।

उस मार्गके पथिकोंका कहना है कि प्रेमके बदलेमें प्रेम चाहना यह तो वणिक्‌वृत्ति है। प्रेमास्पद चाहे जैसा व्यवहार करे, प्रेमीका कर्तव्य है वह उसीकी चाहमें तड़पता रहे। हम साधनोंसे उनकी कृपा या प्रेमको प्राप्त नहीं कर सकते।

यह गुन साधन ते नहिं होई। तुमरी कृपा जानि कोइ कोई॥

भगवदनुराग, प्रभुकृपा तो तभी हो सकती है जब वे चाहें। हमारा तो एकमात्र साधन है—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्ष्यमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

'हे प्राणनाथ! आपकी कब कृपा होगी' बस, इसीको स्मरण करते हुए, मनसे, वचनसे, शरीरसे उन्हींको प्रणाम करते हुए, सब चेष्टाएँ उन्हींके लिये करते हुए जो जीते हैं, उनपर वे प्रेमास्पद प्रभु अवश्य ही कृपा करते हैं।

प्रेमीकी चेष्टाएँ प्रभुके निमित्त होती हैं। लोगोंको हँसाना और रुलाना तो नाटक-सिनेमाओंमें काम करने-वाली वेश्याएँतक जानती हैं। दिखावेके लिये रोते हुए तो गरुड़पिया भी देखे गये हैं। हृदयमें सच्ची तड़पन हो, उसके लिये विकलता हो, उन्हें पानेकी सच्ची लगन हो इसीका नाम प्रेमपथ है।

मैं यह सब इतनी बड़ी-बड़ी बातें आपके सामने कह रहा हूँ, यह सब मैंने उन प्रेमी पागलोंकी अमर वाणियों-मेंसे सुनी है और सुनकर मैं इसी नतीजेपर पहुँचा हूँ, जैसा कि कबीरसाहबने कहा है—

प्रेमपियाला जो पिये, सीस दच्छिना देय।
लोभी सीस न दै सके, नाम प्रेमका लेय॥

आप इसको समझिये, डरिये नहीं। हमारी जो सबसे प्यारी चीज होती है उसके लिये हम उससे कम प्यारी चीज-का बलिदान कर सकते हैं। जैसे अपनी स्त्री, अपने बच्चे, अपने सगे-सम्बन्धी सभीको प्यारे होते हैं, किन्तु जो कृपण है, सूम है, उसका अधिक स्नेह धनमें होता है। वह धनके प्रेममें अपने पुत्र, परिवारतककी परवा नहीं करता। उस धनसे भी अधिक उसे अपने प्राण प्यारे हैं। प्राणोंके पीछे वह जीवनभरके धनको भी स्वाहा कर देता है। तो वे प्रभु तो प्राणोंके भी प्राण हैं, धनोंके भी धन हैं, फिर उनके किये कौन-सी चीज अदेय हो सकती है? हमारे विश्वासकी कमी है, हमारा प्रभुके प्रति विश्वास हो जाय, हम अनुभव करने लगें कि प्रभु हमारे साथ हैं, वे अपने हैं, वे सर्वशक्तिमान् हैं फिर हमें दुःखोंकी चिन्ता रहेगी ही कैसे? मान लो एक हमारा अत्यन्त स्नेही है, उसके पास यथेष्ट धन है। हम किसी विपत्तिमें फँसे हैं तो क्या हमारा स्नेही हमें उस विपत्तिमें देख सकेगा? अरे, वे प्रभु तो सर्वान्तर्यामी हैं, चराचरके स्वामी हैं, विश्वम्भर हैं, उनके ऊपर हम अपनेको नहीं छोड़ना चाहते यह हमारा अज्ञान है। अपने अहंभावपर तो विश्वास है, किन्तु जो जगत्‌का भरण-पोषण करते हैं उनपर विश्वास नहीं। हम उनके प्रति सर्वात्मभाव-से अपनेको समर्पण करनेमें डरते हैं, यही हमारी अश्रद्धा है, यही दुःखका मूल है। यदि एक बार हम आँख मूँद-कर, जी कड़ा करके सच्चे हृदयसे उन्हें अपनेको सौंप दें तो फिर दुःख कैसा, घबराहट कैसी? भाइयो! विश्वास करो वेद और गुरुवाक्योंपर। अपनेको उन्हें समर्पित करते ही तुम सभी दुःखोंसे छूट जाओगे। भगवान् ताल ठोंककर डंकेकी चोट कहते हैं—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥

'तुम मेरी शरणमें आओ तो सही, धर्माधर्मके विचारोंको मेरे सुपुर्द करके तो देखो, मैं प्रतिज्ञापूर्वक हाथ उठाकर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सच्चे हृदयसे कहता हूँ मैं तुम्हें सब पापोंसे छुड़ा दूँगा। शोक और चिन्तासे रहित कर दूँगा।'

इन वाक्योंपर भी हम विश्वास नहीं करते क्योंकि हमारा 'अहं' हमें प्रभुकी ओर बढ़ने नहीं देता। उनके ऊपर अपनेको छोड़ देनेपर सब बातोंकी चिन्ता उन्हें स्वयं ही हो जाती है। राजर्षि अम्बरीषने यही तो किया था। हे प्रभु! सब तुम्हारा है, मेरा कुछ भी नहीं। महर्षि दुर्वासाने कहा—सब मेरा है, तेरा कुछ नहीं। देख, मैं अभी तुझे भस्म करता हूँ, यह कहते ही उन्होंने तपःप्रभावसे कृत्या उत्पन्न की। भगवान्‌का चक्रसुदर्शन तो अम्बरीषके रक्षार्थ वहाँ सदा मँडराता ही रहता था। उसने कृत्याका काम तमाम कर ऋषिका पीछा किया। ब्रह्मलोक, शिवलोक, इन्द्रलोक सभी लोकोंमें घूमते हुए देवर्षि नारदके उपदेशसे वे विष्णुलोकमें पहुँचे। जब भगवान्‌से प्रार्थना की तो प्रभु बड़े ही उत्तेजित स्वरमें बोले—

अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज।
साधुभिर्ग्रस्तहृदयो भक्तैर्भक्तजनप्रियः॥
ये दारागारपुत्राप्तान् प्राणान् वित्तमिमं परम्।
हित्वा मां शरणं याताः कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे॥

'महर्षे! मैं भक्तके पराधीन हूँ, अस्वतन्त्र-सा हूँ, साधुओंने मेरा हृदय ग्रस लिया है, जो भक्त अपनी स्त्री, बच्चे, धन, प्राण सभीको छोड़कर एकमात्र मेरी शरणमें आते हैं उनको मैं कैसे छोड़ सकता हूँ? नहीं, कभी नहीं।' मैं तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता। तुम उसी अम्बरीषके पास जाओ।

बस, यही हमारे प्रभुकी बान है। जो उन्हें अपना मान लेता है, उसकी वे स्वयं ही परवा करते हैं। उन्हें अपना माना था गोपियोंने। अहा! उन पगलियोंने उन्हें अपना कैसे माना था, इसे मत पूछिये। यह कुछ बतानेकी बात नहीं है। वे थीं वृन्दावनमें और प्रभु दिखानेके लिये आ गये थे मथुराजीमें। तीन-चार कोसका ही अन्तर था। गोपियाँ वहाँ प्रायः दूध बेचने आया करती थीं, किन्तु वे उग्रसेनके महलोंमें कभी नहीं गयीं। क्यों जातीं? उन्हें मतलब ही क्या था, जिसे चिन्ता करनी हो, वह स्वयं करे। अब सूत्रपात भगवान्‌की ही ओरसे होता है। अभी बताया गया है कि जो सब कुछ छोड़कर प्रभुकी शरणमें जाता है उसकी वे स्वयं चिन्ता करते हैं। गोपियोंने सन्देशतक नहीं भेजा, पत्र भी नहीं पठाया, किन्तु प्रभु कहते हैं—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्॥

'भैया उद्धव! प्यारे! मित्र! तुम गोकुल चले जाओ और गोपियोंको मेरा सुन्दर सन्देश सुना आओ।' उद्धवने कहा—'महाराज! गोपियोंको ही क्यों सुना आऊँ! आप तो जगत्पति हो, सभीके लिये आपके सन्देशकी जरूरत है।' प्रभु बोले—'भैया उद्धव! यह बात नहीं है। उनका मन मेरेमें रम रहा है, उनके प्राण मेरे प्राणोंके साथ मिलकर स्पन्दन कर रहे हैं। मेरे लिये उन्होंने देहसम्बन्धी सभी सुखोंपर लात मार दी है। जिन्होंने मेरे लिये लोकलाजको तिलाञ्जलि दे दी है, ऐसी उन सबका मैं स्वयं भरण-पोषण करता हूँ अर्थात् उनकी प्रत्येक आवश्यकताओंकी मैं चिन्ता रखता हूँ।'

उद्धव गये, और वहाँ उन्होंने गोपियोंसे खूब खरी-खोटी सुनी। अन्तमें उनपर प्रेमका रंग चढ़ गया और वे रोते हुए बोले—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्॥

अहा! यदि मैं इस वृन्दावनभूमिकी कोई ओषधि, वृक्षकी डाली भी बन जाता तो इन महाभाग्या गोपिकाओंकी चरणधूलि तो उड़-उड़कर मेरे शरीरपर पड़ती रहती, जिससे मैं कृतार्थ हो जाता। इसीलिये तो रसिक रसखानने कहा है—

नंद जसोदा गोप अरु, ब्रजके सब ही धन्य।
पै या रसको चाखकर, गोपी भईं अनन्य॥

गोपियोंके प्रेमका क्या कहना! उद्धवजीने आकर भगवान्‌को खूब उलटी-सीधी सुनायी कि, वे तो तुम्हारे ऊपर सब कुछ त्यागकर बैठी हैं। तुम उनकी कुछ भी परवा नहीं करते। तब भगवान्‌ने उन्हें अपना असली रूप दिखाया, जिसमें कि नन्द, यशोदा, गोपियाँ नित्य ही उनके साथ थीं। भगवान्‌ने कहा—'वे तो मेरे प्राण हैं, प्राण भला कभी प्राणीसे पृथक् हो सकते हैं!'

भगवान् बड़े ही रिझवार हैं। आप उनसे तनिक प्रेम करके देखें। भगवान् तो प्रेमके लिये व्याकुल ही रहते हैं, क्योंकि उनका आहार ही प्रेम है। प्रेमको पाकर ही वे जीते हैं। यदि कोई एक पग उनकी ओर बढ़ता है, तो वे उसकी ओर ९९ पग बढ़कर उसे छातीसे चिपटा लेते हैं। हम बच्चेका मुख चूमकर प्रसन्न हो जाते हैं, कामिनीके

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कमनीय कटाक्षपर मुग्ध हो जाते हैं, मीठे रसगुल्ले खाकर आत्मविस्मृत होते हैं, उस माधुरी सूरतकी ओर चित्त एक क्षणके लिये भी लग जाय तो मैं सत्य कहता हूँ, ये सभी बातें फीकी, अत्यन्त ही फीकी प्रतीत होने लगेंगी। ये सभी सुख दुःखस्वरूप मालूम पड़ेंगे। उस बाँकी चितवनके सामने यहाँका कोई भी कमनीय कटाक्ष कुछ नहीं है। आप विश्वास करें वे आनन्दकी निधि हैं, प्रेमके खजाने हैं। मीराको सब सुख थे, वह राजपुत्री थी, राजरानी थी, भोगकी सभी सामग्रियाँ उसे प्राप्त थीं। फिर भी वह उस गिरधरनागरके ऊपर पगली हो गयी। उस रूपमाधुरीके रसमें भीग गयी। उसे घर-द्वार, कुटुम्ब-परिवार किसीकी परवा न रही। वह उस साँवरियेके हाथों बिना मोल बिक गयी। बिना दामोंकी चेरी हो गयी। उसने उसके रूपको हृदयमें धर लिया और नाचती हुई गाने लगी—

ऐसे पिय जान न दीजै हो।
चलो री सखी मिलि राखिके नैना रस पीजै हो।
स्याम सलोनो साँवरो, मुख देखे जीजै हो॥
जोइ जोइ भेषसों हरि मिलैं सोइ सोइ कीजै हो।
मीराके प्रभु गिरधर नागर, बड़ भागन रीझै हो॥

सचमुच वही बड़भागी हैं जो उनके चरणोंके अनुरागी हैं—

सोइ गुनग्य सोई बड़भागी। रामपदारविंद अनुरागी॥

अनुराग तो हमारा संसारी पदार्थोंमें भी यत्किञ्चित् होता है, किन्तु वह अस्थायी, अशाश्वत और दुःखमूलक है। प्रभुकी शरणमें जानेपर सुख-ही-सुख है। मनका स्वभाव है, वह बिना किसीमें लगे रह नहीं सकता। शरीरसे कुछ-न-कुछ काम होता ही रहेगा। यदि उनका सम्बन्ध श्रीहरिसे हो तो हमारा सभी कर्म शुद्ध है। सच्चा है।

प्रेमप्राप्ति साधनोंसे नहीं होती, यह हम पहले ही कह चुके हैं। वह तो भगवत्-कृपापर ही अवलम्बित है। पर कृपा होनेतक फिर करें क्या? उसके दरवाजेपर प्रतीक्षा करते रहें और कोई काम भी तो बताया जाय, इसके लिये शास्त्रकारोंने अनेक मार्ग बताये हैं। इस बातमें तो सभी एकमत हैं कि बिना भगवत्-कृपाके कुछ होनेका नहीं। किन्तु जबतक प्रतीक्षा है तबतक कुछ होना भी तो चाहिये।

इसके लिये कोई कहते हैं, इस संसारी सत्यता-असत्यता-पर विचार करते रहो, कोई कहते हैं प्राणायाम करो, कोई कहते हैं तबतक निष्काम होकर यज्ञयाग करते रहो, किन्तु इस युगमें ये सभी कार्य असम्भव नहीं तो दुरूह अवश्य हैं। देश, काल और पात्र सभी इन साधनोंके विपरीत हैं। कलिकालके प्रभावसे सभीको बुद्धिभ्रम हो रहा है। अधर्म-को ही धर्म माने बैठे हैं। ये सभी साधन देश-काल-पात्रकी शुद्धताकी अपेक्षा रखते हैं। इसीलिये शास्त्रकारोंने स्थान-स्थानपर बार-बार जोर दे-देकर प्रतिज्ञापूर्वक गर्जनाके साथ कहा है—

हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा॥

कलिजुग केवल नाम अधारा। सुमिरि सुमिरि नर उतरहिं पारा॥
यहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप व्रत पूजा॥

इस युगमें तो एक भगवन्नाम ही आधार है। इसमें शुचि, अशुचि, देश, काल, पात्रकी उतनी अपेक्षा नहीं। यदि अपात्र है तो नामजपके प्रभावसे वह भी पात्र बन जायगा। यदि बुरा देश है, तो नाम, जप, कीर्तनके प्रभावसे वह भी तीर्थ बन जायगा। यदि दुष्काल है तो नामनरेशके प्रभावसे वह भी सुकाल बन जायगा। लगन हो, रटन हो और नामपर विश्वास हो, इसीकी आवश्यकता है। नामके प्रभावसे सब कुछ हो सकता है। नाम लेत भवसिन्धु सुखाहीं। सुजन बिचार करहु मन माहीं॥

यह कविकी कल्पना नहीं। सभी शास्त्र एक स्वरसे कह रहे हैं, नामके प्रभावसे क्या नहीं होता। ऐसे अनेक दृष्टान्त इस युगमें भी देखे गये हैं, कि नामके प्रभावसे असम्भव कही जानेवाली बातें भी सम्भव हो गयी हैं। रोज ही आप सुनते हैं। सुनकर विश्वास हो या न हो, नाममें रटन लगी रहे तो उसका फल तुम्हें मिल ही जायगा।

नामकी महिमाके सम्बन्धमें जो भी कुछ कहा जाय थोड़ा ही है और इसपर आप बहुत-से व्याख्यान, प्रवचन सुन चुके होंगे। उन्हीं बातोंको दुहरानेकी यहाँ आवश्यकता नहीं। यदि जीवनको हम सफल बनानेके लिये लालायित हैं तो हमारे लिये भगवत्-शरणके सिवा दूसरा कोई भी साधन नहीं।

इसलिये भाइयो! जो भगवत्-शरणमें जानेको लालायित हैं उनके लिये भगवत्-अनुकम्पाकी प्रतीक्षा

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

करनेके साथ साथ उन कृपालु प्रभुके नामोंकी अहर्निश रटन लगाते रहना ही एकमात्र साधन है।

इसीलिये कहा है—

राम राम रटते रहो, जब लग घटमें प्रान।
कबहूँ दीनदयालके, भनक परैगी कान॥

आप सब महानुभाव ऐसा आशीर्वाद दें कि मेरे मुखसे हमेशा सोते-जागते भगवन्नामोंका उच्चारण होता रहे और नामप्रेमी भक्तोंके चरणोंमें अनुराग बढ़ता रहे।

वाञ्छाकल्पतरुभ्यश्च कृपासिन्धुभ्य एव च।
पतितानां पावनेभ्यो वैष्णवेभ्यो नमो नमः॥

जो वाञ्छाकल्पतरु हैं, जिनके चरणोंकी शीतल छायामें पहुँचकर सभी प्रकारकी मनोकामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, जो कृपाके सागर हैं, अनुकम्पाके भण्डार हैं और हम-जैसे पतितोंको पावन करनेवाले हैं, उन वैष्णवोंके, भक्तोंके चरणोंमें बार-बार नमस्कार है।

गोस्वामी तुलसीदासजीका एक दार्शनिक दोहा

(लेखक—पं० श्रीकलाधरजी त्रिपाठी)

(गतांकसे आगे)

सगुण ब्रह्म—भगवान्

अब हम श्रीगोसाईंजीद्वारा प्रतिपादित भगवान्‌के ऐश्वर्यके विषयमें विचार करते हैं। उपर्युक्त दोहेमें 'कहहिं भगति भगवंतकी' यह पद आया है। अतएव मानसकारने भगवान् रामके षडैश्वर्यका जो यत्र-तत्र वर्णन किया है, उसका दिग्दर्शन कराना अप्रासंगिक न होगा। मनीषियोंने 'भगवान्' शब्दके अर्थका कई प्रकारसे निरूपण किया है।

(१) परमात्माके लिये—

श्रुतिवाक्योदितं सूक्ष्मं तद्विष्णोः परमं पदम्।
तदेव भगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः॥

(२) परमात्माके अवतारोंके लिये—

'रामस्तु भगवान् स्वयम्'
'कृष्णस्तु भगवान्* स्वयम्'

रामचरितमानसमें वसिष्ठजी कहते हैं—

महिमा अमित वेद नहिं जाना। मैं किहि हेतु कहा भगवाना॥

तथा यही बात शिवजीने भी कही है—

सोइ दशरथ सुत भगतहित, कोसलपति भगवान।

(३) देवोंके लिये—

संभु बिरंचि बिष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥

(४) ऋषिमुनियोंके लिये—

नारदजीने सनत्कुमारके लिये भी इस शब्दका प्रयोग किया है—

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु। इत्यादि। (छान्दोग्योपनिषद् ७। १। ३)

रामचरितमानसमें लोमश मुनिके लिये भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है—

सगुन ब्रह्म आराधना, मोहि कहहु भगवान।

पुराणोंमें इस शब्दकी व्याख्या भी अनेक प्रकारसे मिलती है। यथा—

(१) उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥
(विष्णुपुराण ६। ५। ७८)

(२) ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः
भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥
(विष्णुपुराण ६। ५। ७९)

---

* कलिसन्तरणोपनिषद्का वचन है—

नारदः पुनः पप्रच्छ तन्नाम किमिति स होवाच हिरण्यगर्भः।

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।
हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

राम और कृष्ण दोनों नामोंमें अभेद है। और जिस प्रकार राम-कृष्णके नाममें अभेद है, उसी प्रकार रूपमें भी सादृश्य कहा गया है। भक्तशिरोमणि श्रीनारायण स्वामीजी कहते हैं—

नारायण दोउ एक हैं, रंग रूप तिल रेख।
इनके दृग गंभीर अति, उनके चपल विशेष॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

(१) भरणः पोषणाधारः शरण्यः सर्वव्यापकः ।
कृष्णः षड्गुणैः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम् ॥
(महारामायण)

(२) ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा ॥
(विष्णुपुराण ६ । ५ । ७४)

इन श्लोकोंकी व्याख्या क्रमशः नीचे की जाती है ।

(१) संसारकी उत्पत्ति, प्रलय, जीवोंकी गति-आगति अर्थात् आवागमन और विद्या तथा अविद्याके ज्ञाताको भगवान्* कहते हैं, रामचरितमानसमें इस श्लोकके लक्षण इस रूपमें मिलते हैं । लक्ष्मणजीके प्रति भगवान् रामका उपदेश—

एक रचै जग गुन बस जाके । प्रभु प्रेरित नहिं निजबल ताके ।
(उत्पत्ति)

ब्रह्म-मोक्षप्रद सर्व पर, माया प्रेरक सीव ।
(गति-आगति)

जो चेतन जहँ लगि मन जाई । सो सब माया जानहु भाई ॥
कहँ कर भेद सुनहु तुम सोऊ । विद्या अपर अविद्या दोऊ ॥
एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा । जा बस जीव परा भवकूपा ॥
(विद्या-अविद्या) इत्यादि ।

(२) उपर्युक्त श्लोकमें 'भगवान्' में केवल जीव और जगत्सम्बन्धी ज्ञान ही बतलाया गया है; परन्तु द्वितीय श्लोकके अनुसार जिसमें 'ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, वीर्य और तेज' ये छहों पूर्णरूपसे विद्यमान हों, वही भगवान् है ।

रामचरितमानसमें ऋषिवर विश्वामित्रजी तथा श्रीकाकभुशुण्डिजीकी उक्तियोंमें श्रीरामचन्द्रजीमें ये समस्त लक्षण‡ पाये जाते हैं । जिस समय भगवान् राम और लक्ष्मण अयोध्यासे विदा होकर श्रीविश्वामित्रजीके साथ चलते हैं उस समयका वर्णन करते हुए श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

पुरुष-सिंह[1] दोउ बीर[2], हरषि चले मुनि भयहरण[3] ।
कृपासिन्धु मति धीर[4], अखिल विश्व कारन करन[5] ॥

आगे चलकर श्रीविश्वामित्रजी कहते हैं—

प्रभु ब्रह्मण्य देव[6] मैं जाना । मोहि हित पिता तजे 'भगवाना' ॥

इसी प्रकार श्रीभुशुण्डिजीकी उक्तिमें भी उपर्युक्त लक्षण पाये जाते हैं—

ऐश्वर्य—सो माया सब जगत नचावा ।
जासु चरित लखि काहु न पावा ॥
सो प्रभु-भ्रू-विलास खगराजा । नाच नटी इव सहित समाजा ॥
ज्ञान तथा बल—सोइ सच्चिदानंदघन रामा ।
अज विज्ञानरूप बलधामा ॥

---

* गीता अध्याय ९ के श्लोक २ से १२ तक भगवान्‌ने इन छः ऐश्वर्योंका संकेत किया है ।

वहाँ 'राजविद्या' से विद्या, 'अश्रद्दधानाः पुरुषाः' तथा 'अजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्' से अविद्या, 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' से उत्पत्ति, 'कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्' से प्रलय एवं आगति तथा 'सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्', और 'अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि' से गतिका कथन है ।

† शतपथब्राह्मणमें इन सबका वर्णन इस प्रकार है—

सविता प्रसविता सरस्वत्या व्याचा त्वष्ट्रा रूपैः पूष्णा रयिभिरिन्द्रेणास्मे बृहस्पतिना ब्रह्मणा वरुणेनौजसाग्निना तेजसा सोमेन राज्ञा विष्णुनैव दशम्या देवतयान्वविन्दत् ।
(ब्रा० ५ प्र० ४ ब्रा० २)

तथा वीर्यके लिये—

इन्द्रियेणैव तद्वीर्येण (५ । ४ । २)

यहाँ 'सरस्वत्या ... ... बृहस्पतिना' से ज्ञान, 'वरुणेनौजसा' से बल, 'तेजसा अग्निना' से तेज, 'राज्ञा सोमेन' से ऐश्वर्य, 'विष्णुनैव दशम्या देवतयान्वविन्दत्' से शक्ति और 'इन्द्रियेणैव तद्वीर्येण' से वीर्यका अर्थ स्पष्ट है ।

‡ श्रीमद्भगवद्गीताके सप्तम अध्यायके श्लोक ८ से ११ तक इनका उल्लेख इस प्रकार है—वहाँ 'बुद्धि' से ज्ञान, 'पौरुषम्' से शक्ति, 'बलम्' से बल, 'जीवनं सर्वभूतेषु कामोऽस्मि' और 'तप' से ऐश्वर्य, 'बीजं मां सर्वभूतानाम्' से वीर्य और 'तेजस्तेजस्विनाम्' से तेज—ये सब भगवान् कृष्णमें विद्यमान हैं ।

इसके सिवा १५ वें अध्यायमें तो इनका पृथक्-पृथक् वर्णन भी मिलता है । यथा—

(१) ज्ञान—'मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च' (१५ । १५)

(२) शक्ति—'पचाम्यन्नं चतुर्विधम्' (१५ । १४)

(३) बल—'गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा' (१५ । १३)

(४) ऐश्वर्य—'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः' (१५ । १७)

(५) वीर्य—'पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः' (१५ । १३)

(६) तेज—'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्' (१५।१२)

१—बल २—शक्ति ३—वीर्य ४—ज्ञान ५—ऐश्वर्य ६—तेज ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शक्ति-व्यापक व्याप्य अखंड अनंता।
आखिल अमोघशक्ति 'भगवंता॥
वीर्य-समदरसी अनवद्य अजीता।
तेज-रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाई।

इत्यादि।

(३) परन्तु भगवान्‌के भक्तोंको ऐसे नीरस लक्षणोंसे सन्तोष नहीं होता। उनके लिये उपर्युक्त तीसरा श्लोक ही उपयुक्त जान पड़ता है। उसका अर्थ यह है—

'जो सबका भरण, पोषण और आधार है, सर्वव्यापक है, सबको शरण देनेवाला है और करुणामय है;* इन छः गुणोंसे युक्त राम तो स्वयं भगवान् हैं।

भगवान्‌का यह लक्षण अति सरस और भक्तोंके मनोनुकूल है। रामचरितमानसमें धनुषयज्ञके अवसरपर भगवती श्रीसीताजी इसका इस प्रकार प्रदर्शन करती हैं—

१ सर्वव्यापकत्व-सो 'भगवान्' सकल उरबासी।
२ शरण-करिहहिं मोहिं रघुबरकी दासी।
३ कारुण्य-चितई सीय कृपायतन, जानी बिकल बिसेखि।
४ भरण-तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा।
५ पोषण-का बरषा जब कृषी सुखानी।
६ आधार-अति लाघव उठाय धनु लीन्हा।

यहाँ 'भगवान्' शब्दका प्रयोग बहुत ही उपयुक्त है। मूल श्लोकमें जो 'रामस्तु भगवान् स्वयम्' कहा है, उसका निष्कर्ष यह है कि मनुष्य प्रायः सभी गुणोंको योग, तप, स्वाध्याय एवं सदुपदेशादिसे प्राप्त कर सकता है; परन्तु सब पूर्णरूपसे नहीं। और ईश्वरमें-सगुण ब्रह्म भगवान् राममें-ये सब स्वतः समग्ररूपसे विद्यमान हैं, यही 'स्वयं' शब्दका तात्पर्य है।

(४) चतुर्थ श्लोकमें 'भगवान्' शब्दका लक्षण बतलाया गया है, वह बहुत प्रसिद्ध है—

समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छः गुणोंको 'भग' कहते हैं। अतः जो इनसे युक्त हो वह भगवान् है।

रामचरितमानसके निम्नलिखित राजाओंमें उनकी प्रधान वासनाके अनुसार उपर्युक्त छः लक्षणोंमेंसे जिस-जिसकी विशेषता है उसका उल्लेख नीचे किया जाता है।†

१-ऐश्वर्य लङ्कापति रावणमें—
ब्रह्म सृष्टि जहँ लगि तनुधारी। दसमुख बसबरती नर-नारी॥

२-धर्म-अवधपति दशरथमें—
धर्म धुरंधर गुननिधि ज्ञानी। हृदय भगति मति सारँग पानी॥
'धर्म धुरंधर धीर धरि' इत्यादि।

३-यश-निषादपतिमें—
जस धवलिहउँ भुवन † दस चारी।

---

* श्रीगीताके १५ वें अध्यायमें ये लक्षण इस तरहसे वर्णित हैं—

१ भरण-यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः। (१५। १७)
२ पोषण-पुष्णामि चौषधीः सर्वाः। (१५। १३)
३ आधार-गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा। (१५। १३)
४ शरण्य—तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये। (१५। ४)
५ व्यापकत्व-सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः। (१५। १५)
६ कारुण्य-विमूढा नानुपश्यन्ति। (१५। १०)

श्रीमच्छङ्कराचार्यजीने इसका भाष्य इस प्रकार किया है-'मूढा नानुपश्यन्ति-अहो कष्टं वर्तते इति अनुक्रोशति च भगवान्।' अमरकोशके अनुसार कारुण्य, करुणा, कृपा, दया और अनुक्रोश पर्यायवाचक है।

* श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् श्रीकृष्णमें इन गुणोंका उल्लेख इस रूपमें पाया जाता है—

१ ऐश्वर्य-दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्। (११। ९)
२ धर्म-धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे। (४। ८)
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता। (११। १८)
३ यश-स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसंघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः। स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या। (११। ३६, ११। २१)
४ श्री-यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥ (१०।४१)
५ ज्ञान-वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन। भविष्याणि च भूतानि इत्यादि (७। २६)
तथा—
बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन। तान्यहं वेद सर्वाणि मां तु वेद न कश्चन॥ (४। ५)
६ वैराग्य-न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।

यदि वास्तवमें देखा जाय तो वेदान्तदर्शनका ज्ञान, सांख्यका वैराग्य, योगका ऐश्वर्य, मीमांसाका धर्म, यश तथा श्री-ये ही सब इस श्लोकके प्रतिपाद्य हैं।

† निषादपतिको यशकी वासना थी। इसी कारण उसने भरतजीसे युद्ध करनेकी तैयारी करते समय उक्त वाक्य कहा था।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

४-श्री-कपिपति सुग्रीवमें—

पावा राज कोषपुर‡ नारी।

५-ज्ञान-गृध्रपति जटायुमें* यथा—

वे स्वयं भगवान् रामसे कहते हैं—

रहत लागि प्रभु राखेउँ प्राना। चलन चहत अब कृपानिधाना॥

इसके उत्तरमें—

राम कहा तनु राखहु ताता।

तब जटायुने—

मुख मुसकाइ कही तिहिं बाता।

हर नाम मरत मुख आवा। अधमौ मुक्त† होइ श्रुति गावा॥

लोचन गोचर आगे। राखौं देह नाथ केहि लागे॥

ज्ञानी भक्त जटायुकी यह बात सुननेके पश्चात्—

न धीर नयन कहा रघुराई। तात कर्म निज ते गति पाई॥

देह बस जिनके मन माहीं। तिन्ह कहँ जग दुरलभ कछु नाहीं॥

तुम्ह जाहु तात जहु मम धामा। देउँ कहा तुम पूरनकामा॥

फिर क्या हुआ?

तुरंत देह तजि धरि हरिरूपा। भूषन बहुपट पीत अनूपा॥

और—

अबिरल भगति माँगि बर, गृद्ध गयउ हरिधाम।

तेहिकी क्रिया जथोचित, निज कर कीन्ही राम॥

जो गृध्रराज रामके कहनेपर भी शरीर-धारणकी इच्छा नहीं करते और मुसकाते हुए कहते हैं—'राखौं देह केहि लागे'। मृत्युके समय जिनके समीप स्वयं भगवान् उपस्थित हैं, जो परोपकारके लिये प्राणत्याग करते हैं, जिनको भगवान् 'पूर्णकाम§' कहकर अपने धामको जाने-की आज्ञा देते हैं, जो विष्णुरूप धारण करके तथा अविरल भक्ति माँगकर हरिके धामको जाते हैं; और जिनकी अन्त्येष्टिक्रिया स्वयं भगवान् राम अपने हाथोंसे करते हैं उन गृध्रराजके ज्ञानी भक्त होनेमें क्या सन्देह हो सकता है?

६ वैराग्य—

मिथिलाधिपति महाराज जनकमें—

'रहे कहावत परम बिरागी।' 'सहज बिराग रूप मन मोरा।'

उपर्युक्त छः राजाओंमें एक-एक गुणकी प्रधानता दिखलायी गयी। इस प्रकार उनके द्वारा ऐश्वर्यके वैभवका विकास प्रदर्शित किया गया। किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि ये छः भक्त परंब्रह्म परमात्माके अंशों तथा कलाओंसे सम्पन्न थे। ये सब जिनके आश्रित थे वे भगवान् राम सम्पूर्ण जगत्के आधार परब्रह्म परमात्मा हैं। जैसा कि गोस्वामीजीने अनेक स्थानोंपर लिखा है—

परमात्मा ब्रह्म नररूपा। होइहि रघुकुल भूषन भूपा॥
संभु बिरंचि बिष्णु भगवाना। उपजहिं जासु अंसते नाना॥

यद्यपि उन सर्वाधिष्ठान परब्रह्मके विषयोंमें कुछ भी कहना उनकी महत्ताको संकुचित करना ही है तथापि जिनका विकास लीलामयकी लीलाके ही लिये होता है, ऐसे इन छहों गुणोंका महर्षि वशिष्ठजीने नररूप सगुण ब्रह्मावतार भगवान् राममें दिग्दर्शन कराया ही है। यथा—

धर्म-धर्म धुरीन भानुकुल भानू। राजा राम स्वबस भगवानू॥*
सत्यसंध पालक श्रुतिसेतू।'
श्री-रामजन्म जगमंगल हेतू।
वैराग्य-गुरु पितु मातु बचन अनुसारी।†
यश-खलदल-दलन देव हितकारी॥
ऐश्वर्य-बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला।
माया जीव करम कुल काला॥
अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥
करि बिचार जिमि देखउँ नीके। राम रजाय सीस सबहीके॥
ज्ञान-नीति प्रीति परमारथ स्वारथ।
कोउ न राम सम जान जथारथ॥

---

‡ श्रीका अर्थ शोभा, सम्पत्ति, अधिकार और विभूति है, अतः सुग्रीवको प्राप्त हुआ ही था।

* इसके सम्बन्धमें 'रामचरितमानसमें आगमरहस्य' शीर्षक एक पृथक् लेख लिखनेका विचार है।

जटायुका तन्त्रशास्त्रसे विशेष सम्बन्ध है; क्योंकि इसने अपनी देह आदिशक्ति श्रीजानकीजीके लिये अर्पण की थी।

† 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' 'अधमौ मुक्त होइ श्रुति गावहिं।' यही ज्ञानीकी निष्ठा है।

§ 'पूर्णकाम' शब्दका प्रयोग ब्रह्मावतार भगवान् रामके लिये भी तुलसीदासजीने इसी स्थलपर किया है। यथा—

पूरन काम राम सुखरासी। मनुज चरित कर अज अबिनासी॥

* राजा राम स्वतन्त्र भगवान् हैं। यहाँ 'भगवानू' शब्दका प्रयोग सहेतुक है।

† माता-पिताके आज्ञानुसार अयोध्याके राजसुखोंको त्यागकर वनोंमें गये।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके लीलाप्रसंगमें षडैश्वर्यका पूर्ण विकास निम्नलिखित रूपमें हुआ है।

१ ऐश्वर्य–

श्रीरामचन्द्रजीके पवित्र चरित्रमें ऐश्वर्यका पूर्णतः विकास विराट् दर्शन, चतुर्भुजरूप दिखलाना तथा अहल्योद्धारके प्रसंगमें है।

२ धर्म–

उनकी धर्मनिष्ठा प्रजापालनसे व्यक्त होती है; इसीसे आजतक रामराज्यकी प्रशंसा हो रही है—

चारहु चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं॥
श्रुतिपथपालक धरम-धुरंधर। गुनातीत अरु भोग पुरंदर॥

इत्यादि वर्णनसे यह सर्वथा स्पष्ट है कि उनके राज्यमें धर्मका पूर्ण विकास था।

३ यश–

शिव, ब्रह्मा, नारद और सनकादि भी जिनके विमल यशका गान किया करते थ और जिनके यशोगानके लिये ही महर्षि वाल्मीकिजीने अपने आदिकाव्य 'श्रीरामायण' का निर्माण किया। अथवा यों कहो कि जिनके यशोगानके लिये ही सरस्वतीजीका काव्यद्वारा प्रथम विकास हुआ, उनके पूर्ण यशकी समता किससे की जा सकती है?

४ वैराग्य–

वैराग्यका दिव्य उदाहरण उनके वनगमनके समय मिलता है—

यथा—

प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्लौ वनवासदुःखतः।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमङ्गलप्रदा॥

५ श्री—

उनकी सदा एकरस रहनेवाली मुखश्री सांसारिक सुख-दुःखके आतपसे मलिन नहीं हुई।

६ ज्ञान—

भगवान्‌की ज्ञानगरिमाके विषयमें इतना लिखना ही पर्याप्त होगा कि जिनके चरित्रोंमें ज्ञानकी सातों भूमिकाओंके लक्षण पाये गये हैं, वे सप्तर्षि जिन्हें अपना आराध्यदेव मानते हैं, उन परब्रह्म रामके ज्ञान-पारावारकी थाह पानेकी चेष्टा करना, वामनके चन्द्रस्पर्शके व्यर्थ प्रयासके ही समान है। श्रीरामचन्द्रजीके राज्याभिषेकोत्सवकी शोभा तो षडैश्वर्यसे भी बढ़कर थी। उसमें समृद्धयानन्दका वर्णन किया गया है। उसीको कविशिरोमणि श्रीतुलसीदासजीने एक ही छन्दमें सुन्दररूपसे लिखकर मानो गागरमें सागर भर देने-की लोकोक्तिको चरितार्थ किया है। यथा—

नभ दुन्दभी बाजहिं बिपुल गन्धर्ब किन्नर गावहीं।
नाचहिं अप्सरावृंद परमानंद सुर-मुनि पावहीं॥

जिसमें माधुर्य एवं आनन्द पूर्णरूपमें हो, उस षडैश्वर्यातीत आनन्दको ही परमानन्द, ब्रह्मानन्द अथवा चिदानन्द कहते हैं। उस अवसरपर इसका विकास भी पूर्णरूपसे हुआ था। यह आनन्द षडैश्वर्यकी प्रतिष्ठा है। यथा—

यह सोभा समाज सुख, कहत न बने खगेस।
बरनहिं सारद सेष श्रुति, सो रस जान महेस॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीगोसाईंजीने भगवत्पद-वाच्य छहों गुणोंमेंसे एक-एकका विकास भिन्न-भिन्न अधिपतियोंमें प्रदर्शित करते हुए उन सभीका पूर्ण विकास भगवान् राममें दिखलाया है। ऐसा करके उन्होंने 'रामस्तु भगवान् स्वयम्' इस उक्तिकी चरितार्थता की है। इस विवरणसे, उपर्युक्त दोहोंमें प्रयुक्त 'भगवंत' शब्दकी भी सार्थकता सिद्ध होती है। अब हम यह दिखलानेकी चेष्टा करेंगे कि उन्होंने किस प्रकार वेदोक्त ब्रह्ममण्डलादिका रामचरितमानसके अवधमण्डलादिमें समावेश किया है।

रामचरितमानसमें वेदोक्त मण्डल

ब्रह्म—'धाम'

यहाँतक रामचरितमानसोक्त निर्गुण ब्रह्म, सगुण ब्रह्म एवं षड्गुणसम्पन्न भगवान्‌के निरूपणका जो प्रयास किया गया है, वह सब उन्हीं परब्रह्म परमात्माके अप्रतिम प्रकाश-की एक स्वल्प आभामात्र है। अब उन्हीं परमेश्वरकी प्रेरणासे प्रेरित होकर यह लेखनी वेदोक्त मण्डलोंके साथ भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके विविध लीलारहस्यकी तुलना-त्मक विवेचना करनेके निमित्त प्रस्तुत होती है।

'कल्याण' के मर्मज्ञ पाठक सम्भवतः इन वेदोक्त मण्डलों-से अनभिज्ञ नहीं होंगे। उन्होंने 'कल्याण' के विविध विशेषाङ्कोंमें कुछ ऐसे पाण्डित्यपूर्ण एवं प्रमाणयुक्त सुन्दर निबन्ध पढ़े होंगे, जिनमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र,* भगवान् शङ्कर† तथा भगवती‡ शक्तिके निरूपणके सम्बन्धमें

* देखिये कृष्णांकका 'श्रीकृष्णावतारपर वैज्ञानिक दृष्टि' शीर्षक लेख।

† देखिये शिवाङ्कका 'शिव-महिमा' शीर्षक लेख।

‡ देखिये शक्ति-अंकका 'दश महाविद्या' शीर्षक लेख।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वेदोक्त मण्डलोंका मनोहर विवेचन किया गया है। श्रीगोस्वामीजीका रामचरितमानस भी इस मण्डलात्मक रहस्यसे रिक्त नहीं है। उसमें क्रमशः आया हुआ मण्डलोंका विवरण रामभक्तोंके हृदयको आनन्दप्रद है। मण्डलोंकी विभिन्न रूप-रेखासे तो पाठकवृन्द विज्ञ ही हैं; अतः यहाँ उनका विस्तार करके व्यर्थ पिष्ट-पेषण करनेकी आवश्यकता नहीं है। अब हम एक-एक मण्डलको लेकर यह दिखलायेंगे कि किस वेदोक्त मण्डलमें किस देवताकी प्रधानता है। तथा गीता और रामायणमें उसका स्थानापन्न कौन है?

(१)

वेदोक्त मण्डल	प्रधानता	गीता	रामायणोक्त मण्डल
स्वयम्भूमण्डल	ब्रह्मा, सत्य, प्राण	अवतार-विषयक 'अक्षरं ब्रह्म परमम्'	अयोध्या

स्वयम्भूमण्डलमें ही सर्वप्रथम षोडशकलासम्पन्न ब्रह्मका अवतार होता है। इस मण्डलमें ब्रह्मा देवताका प्राधान्य है; और यह सत्य एवं प्राण प्रधान है।

रामचरितमानसमें यही अयोध्या है। इस पुरीके विषयमें आदिकवि महर्षि वाल्मीकिजी कहते हैं—

अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्॥

भगवान् राम भी इसके सम्बन्धमें कहते हैं—'अवधपुरी सम पुरी सुहावनि।' स्वयम्भूमण्डलकी सब बातें इस पुरीमें पायी जाती हैं। यथा—गोस्वामीजी नारदमोहके प्रसंगके पश्चात् स्वायम्भुव मनु तथा शतरूपाके तपकी कथा प्रारम्भ करनेके पूर्व लिखते हैं—

जासु हेतु सुन सैलकुमारी। कहौं बिचित्र कथा बिस्तारी॥
जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा॥

जैसे वैदिक स्वयम्भूमण्डलमें ब्रह्मका प्रथम अवतार होता है, वैसे ही मुनिनिर्मिता अयोध्यामें स्वायम्भुव मनुकी अर्चनासे परब्रह्म श्रीरामचन्द्रजीका अवतार हुआ है। इसीलिये गीताके 'अक्षरं ब्रह्म परमम्' से इसकी तुलना की गयी है। बालकाण्डमें १४४ वें दोहेसे १५२ वें दोहेतक इसका सविस्तर वर्णन है, और जिस प्रकार 'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे' के अनुसार समस्त ब्रह्माण्डकी लीलाएँ एक देहमें होती हैं, उसी प्रकार भगवान्‌ने अपने अवतारमें निजके मण्डलोंमें होनेवाली लीलाओंको अयोध्यादि पुरीमें करके दिखलाया है। अब इसपर विचार करनेका प्रयत्न करते हैं—

अयोध्यापुरीमें 'आत्मा वै जायते पुत्रः' इस उक्तिके अनुसार ब्रह्माजीके स्थानापन्न ब्रह्मपुत्र वशिष्ठजी हैं। वहाँ उन्हींका आधिपत्य है। गुरु वशिष्ठजीकी अनुमतिके बिना वहाँ कोई धर्मकार्य नहीं हो सकता। इसके सिवा स्वयम्भूमण्डलके समान यहाँ भी सत्य एवं प्राणकी प्रधानता है। यथा—

सत्य—

सत्यमूल सब सुकृत सुहाई।
जानहु तात तरनिकुल-रीती। सत्यसिंधु पितु कीरति प्रीती॥
राखी राय सत्य मोहि त्यागी।
सत्यसिंधु रघुबर बचन··· (रा० च० मा०)

इत्यादि

सत्यके लिये ही दशरथजीने अपने प्राणाधिक प्रिय पुत्र रामचन्द्रजीका त्याग किया था।

प्राण—

हा रघुनंदन। प्रान पिरीते।
सब सुत मोहि प्रिय प्रानकी नाईं।
मुनिधन जन सरबस सिव प्राना।
मेरे प्राननाथ सुत दोऊ।
कुसल प्रानप्रिय बंधु दोउ।

इत्यादि

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीको प्राणात्मा मानकर कविवर गोस्वामीजीने अयोध्याकी प्राणप्रधानताका भी कई बार उल्लेख किया है।

(२)

वेदोक्त मण्डल	प्रधानता	गीता	रामायणोक्त मण्डल
परमेष्ठीमण्डल	१ विष्णु स्वभावोऽध्यात्म		चित्रकूट
	२ अत्रि भृगु मुच्यते अंगिरादि मुनि ज्ञान		
	३ आपः		

१—रामायणके परमेष्ठीमण्डलमें उपर्युक्त तीनकी प्रधानता है, जिनका क्रमशः वर्णन किया जाता है। चित्रकूटमें भगवान् विष्णु भरतजीके रूपमें लीला कर रहे हैं।

बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

–के अनुसार विष्णु तथा भरत दोनोंका धर्म एक है। चित्रकूटमें ही भरतजी अयोध्याके राजा बनाये गये थे; अतः—

पितु आयसु पालिय दोउ भाई। लोक बेद भल भूप भलाई॥
पालहु अवध अवधि लगि जाई।

–इत्यादि उद्धरणोंसे यहाँ उन्हींकी प्रधानता सिद्ध होती है।

२–अत्रि, भृगु आदि मुनियोंकी प्रधानता तो वहाँ स्पष्ट ही है। यथा—

अत्रि आदि मुनिबर बहु बसहीं। करहिं योग जप तप तनु कसहीं॥
चलहु सफल श्रम सबकर करहू। अवसि अत्रि आयसु सिर धरहू॥
इत्यादि

किसी-किसीके मतसे वाल्मीकिजी भृगुसत्तम हैं। और चित्रकूटमें वाल्मीकिजीकी प्रधानता है ही।

३–इसके सिवा परमेष्ठीमण्डलके समान यह आपः-प्रधान भी है। यथा—

(१)

सिय सुरसरिय कहेउ कर जोरी। मातु मनोरथ पुरवहु मोरी॥
पति देवर सँग कुसल बहोरी। आय करहुँ जिहिं पूजा तोरी॥

(२)

नदी पुनीत पुरान बखानी। अत्रिप्रिया निज तप बल आनी॥
सुरसरि धारि नाम मंदाकिनि। जो सब पातक-पोतक-डाकिनि॥

(३)

अत्रि कहेउ तब भरत सन, सैल समीप सुकूपं।
राखिय तीरथ तोय यह, पावन अमिय अनूप॥
मरत-कूप अब कहिहैं लोगा। अति पावन तीरथ जल जोगा॥
प्रेम समेत निमज्जहिं प्रानी। होइ हैं बिमल कर्म मन बानी॥
—इत्यादि

श्रीगीतामें इस मण्डलको अध्यात्म कहा है। इसकी तुलना चित्रकूटकी ज्ञानसभासे है। यथा—

लसत मंजु मुनि मंडली, मध्य सीय रघुचंद।
ज्ञान सभा जनु तनु धरे, भगति सच्चिदानंद॥

यही भाव गीताके निम्न श्लोकसे व्यक्त होता है—

अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा॥
(गीता १३। ११)

(३)

वेदोक्त मण्डल प्रधानता गीता रामायणोक्त मण्डल
सूर्य (इन्द्र) इन्द्र 'पुरुषश्चाधिदैवतम्' किष्किन्धा मण्डल वाक्

रामचरितमानसके (सूर्य अथवा इन्द्रमण्डल) किष्किन्धामें क्रमशः इन्द्रके पुत्र बालि तथा सूर्यके पुत्र सुग्रीवकी प्रधानता है। इन्हीं दोनोंका यहाँ आधिपत्य रहा है, और इनमें भी मुख्यरूपसे इन्द्रके पुत्र बालिका।

यह मण्डल वाक्प्रधान भी है, जैसा कि निम्नाङ्कित चौपाइयोंसे जाना जाता है—

१ बालि—

हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा।
सुनत राम अति कोमल बानी।
जन्म-जन्म मुनि जतन कराहीं। अन्त राम कहि आवत नाहीं॥

२ अंगद बृहस्पतिके पुत्र हैं। बृहस्पतिजीको वाक्पति भी कहते हैं। अंगदकी वाक्कला भगवान् रामके इन वचनोंसे प्रकट होती है—

बहुत बुझाय तुम्हहिं का कहहूँ। परम चतुर मैं जानत अहहूँ॥
काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करहु बतकही सोई॥

३ सुग्रीव—

सुनि बिराग संयुत कपिबानी। बोले बिहँसि राम धनु पानी॥
जो कछु कहहु सत्य सब सोई। सखा बचन मम मृषा न होई॥

ब्रह्माजीकी 'बानर तनुधरि धरनिमें हरिपद सेवहु जाइ' इस आज्ञाके अनुसार देवतालोग ही वानरशरीर धारणकर भगवान्के चरणोंकी सेवा कर रहे थे। इसीसे गीताके 'अधिदेव' के साथ किष्किन्धाके अधिदैवत वानरसमूहकी तुलना हो सकती है।

(४)

वेदोक्त मण्डल प्रधानता गीता रामायणोक्त मण्डल
पृथ्वीमण्डल अग्नि 'अधिभूतं क्षरो लंका
अन्नाद भावः'

भगवान्का अवतार निशिचरविनाशके लिये हुआ था, यह गीताके 'अधिभूतं क्षरो भावः' का द्योतक है। यह निशिचरविनाश रामचरितमानसके पृथ्वीमण्डल लङ्कापुरीमें हुआ था। पृथ्वीमण्डलमें अग्नि और अन्नादकी प्रधानता होती है। लङ्कामें अग्निकी कई लीलाएँ हुई हैं—

१–श्रीहनुमान्जीका लङ्का-दहन।
२–श्रीसीताजीकी अग्निपरीक्षा।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तथा—

'पावक प्रगट करहु तुम बेगी।'
'पावक प्रगटि काठ बहु लाये।'
'पावक प्रबल देखि बैदेही।'
'श्री-खंड-सम पावक प्रवेस कियो सुमिरि प्रभु मैथिली।'
'प्रचंड पावक मह जरे।'

इत्यादि

३-जानकीजीका बारंबार अशोकसे अग्नि माँगना—

नूतन किसलय अनल समाना। देहि अगिनि जनु करहिं निदाना॥

और ४—त्रिजटाद्वारा अग्नि-अनुसन्धान। इसके अतिरिक्त रावणकी मृत्यु भी अग्निवाणसे ही हुई है; क्योंकि जब विभीषणने भगवान्‌से कहा—

'नाभी सिंधु सुधा बस जाके। नाथ जियत रावन बस ताके॥'

तब तुरंत ही भगवान्‌ने अग्निवाण छोड़कर उस सुधासरोवरको सुखा दिया। 'पावक एक नाभिसर सोखा' और इसीसे रावणकी मृत्यु हुई। इस प्रकार लंकामें अग्नि-की प्रधानता स्पष्टतः प्रकट होती है।

अन्नादप्रधान होनेके सम्बन्धमें भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा—

(१) रावण प्रायः कहा करता था—

'नर कपि भालु अहार हमारा।'
'घरि घरि भालु कीस सब खाऊँ।'

(२) राक्षसोंका वर्णन करते हुए श्रीहनुमान्‌जी भी कहते हैं—

'कहिं महिष मानुष धेनु खर अज खल निसाचर भच्छहीं।'

(५)

वेदोक्त मण्डल	प्रधानता	गीतामें	रामायणोक्त मण्डल
सोममण्डल	सोम	अधियज्ञ	मिथिला
	अन्न		

सोम-बृहज्जाबालोपनिषद्‌में 'सोम'के सम्बन्धमें 'सोमः शक्त्यमृतमयः शक्तिकरी तनूः' लिखा है। इसके अनुसार महाशक्ति श्रीजानकीजीका जन्मस्थान होनेके कारण मिथिलापुरी ही सोममण्डल है। विद्वान् लोग 'सोम' शब्दका अर्थ 'उमया सह सोमः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार उमासहित भी करते हैं। यह अर्थ भी ठीक ही है क्योंकि सोममण्डलस्थानीय मिथिलापुरीमें ही श्रीजानकीजीने जगज्जननी उमाकी पूजा की है। इसके सिवा पितृलोक भी सोममण्डलके ही अन्तर्गत है और 'जनक' शब्द भी पितृवाची है। अतः मिथिला या जनकपुरीको सोममण्डल मानना उचित ही है।

बृहज्जाबालोपनिषद्‌में सोमका ही नीचे आकर अग्नि-रूपमें परिणत होना लिखा है—

ऊर्ध्वशक्तिमयं (यः) सोम अधो (धः) शक्तिमयोऽनलः।
ताभ्यां सम्पुटितस्तस्माच्छश्वद्विश्वमिदं जगत्॥५॥

अतः भगवान्‌ने जो श्रीसीताजीको अग्निप्रवेशकी आज्ञा दी थी, उससे भी उन्हें इस उपनिषद्‌रहस्यका उद्घाटन ही अभिमत जान पड़ता है।

श्रीरामचन्द्रजीका अग्निके चरुसे उत्पन्न होना प्रसिद्ध ही है। तथा स्वयम्भूमण्डल भी आग्नेय कहलाता है। अग्नि पुरुषरूप है और सोम स्त्रीरूप। अतएव आग्नेय स्वयम्भूमण्डल अर्थात् अयोध्यामें पुरुषोत्तम रामका अवतार हुआ और सोममण्डल (मिथिला) में शक्तिरूपा जानकी-जीका। सोममण्डलमें उत्पन्न अमृतस्वरूपा सोमरस शक्ति जगज्जननी श्रीजानकीजीका विवाह आग्नेय स्वयम्भू-मण्डलमें अवतरित परम पिता श्रीरामचन्द्रजीके साथ हुआ। यही भगवान्‌की विश्वव्यापिनी यज्ञमयी 'अग्नी-षोमात्मक*' लीलाका सूक्ष्मरूपसे दिग्दर्शन है। मिथिलाके धनुषयज्ञमें भगवान् विद्यमान थे। अतः गीताके 'अधि-यज्ञोऽहमेवात्र' से इसकी समानता सिद्ध होती है।

मिथिलामें सोममण्डलके समान ही सोमकी प्रधानता है। गोस्वामी तुलसीदासजीने इस पुरीमें अनेकों स्थलोंपर सोम तथा उससे झरनेवाली सुधाकी उपमा दी है जिससे इस नगरीका सोमसादृश्य भलीभाँति सिद्ध होता है। श्रीराम, लक्ष्मण और विश्वामित्रजीके जनकपुरप्रवेशके समय वे कहते हैं—

वापी कूप सरित सर नाना। सलिल सुधासम मनि सोपाना॥

---

* इस सम्बन्धमें उपनिषदोंमें ये वचन मिलते हैं—

अत्र रामोऽनन्तरूपस्तेजसा वह्निना समः॥
सत्त्वनुष्णगुविश्वश्चेदग्नीषोमात्मकं जगत्।
उत्पन्नः सीतया भाति चन्द्रश्चन्द्रिकया यथा॥
(राम० पूर्व० ४।५-६)

तथा—

अतएव हविः क्लृप्तमग्नीषोमात्मकं जगत्।
(बृह० जाबा० ४)

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जनक-राम-मिलनके सुअवसरपर कहा गया है—

सहज बिराग रूप मन मोरा। थकित होत जिमि चन्द्र चकोरा॥

इसके पश्चात् जनकपुरवासियोंने भी भगवान्‌को इस रूपमें देखा—

सुभग सोन-सरसीरुह लोचन। बदनमयंक तापत्रयमोचन॥

सीतादर्शनके समय भगवान्‌की क्या दशा हुई, उसकी ओर संकेत करते हुए श्रीगोसाईंजी कहते हैं—

अस कहि फिर चितये तिहिं ओरा। सिय मुख ससि भये नयन चकोरा॥

और जब सीताजीने रामचन्द्रजीके दर्शन किये तब भी—

अधिक सनेह देह भइ भोरी। सरद-ससिहिं जिमि चितव चकोरी॥

जिस समय श्रीरामचन्द्रजी सन्ध्याकाल जानकर गुरुजीके पास चले, उस समय भी चन्द्रवर्णनके व्याजसे जगदम्बा श्रीजानकीजीका इस प्रकार वर्णन किया गया है—

प्राची दिसि ससि उगेउ सुहावा। सिय मुख सरिस देख सुख पावा॥
सिय मुख छवि बिधु ब्याज बखानी। गुरु पहँ चले निसा बड़ि जानी॥

श्रीसीताजी रामचन्द्रजीको विजयमाला पहनाती हैं, उस समय भी—

सोहत जनु जुग जलज सनाला। ससिहिं सभीत देत जयमाला॥

सिन्दूरदानके सौभाग्यमय सुअवसरपर भी श्रीगोसाईंजी शशिको नहीं भूलते—

अरुन पराग जलज भरि नीके। ससिहिं भूख अहिलोभ अमीके॥

तथा जिस समय जयमाल डालनेके लिये श्रीसीताजी प्रभुके सामने आती हैं, उस समयकी सलज्ज मुखाकृतिका वर्णन करते हुए भी वे यही कहते हैं—

प्रमुहि चितै पुनि चितै महि, राजत लोचन लोल।
खेलत मनसिज मीन जुग, जनु बिधुमंडल* डोल॥

इस प्रकार कविवर तुलसीदासजीने सोममण्डलमें सोमकी उपमा देकर, सोममण्डलकी सार्थकताका स्पष्टीकरण खूब सुचारुरूपसे किया है।

(२) चन्द्रमाके सिवा सोममण्डल अन्नप्रधान भी है। अन्न † और सीताजीमें बड़ा सादृश्य है। अन्न क्षेत्रमें उत्पन्न होता है और सीताजीकी उत्पत्ति भी क्षेत्रमें ही हुई है। अतः जिस प्रकार सोममण्डलरूपा मिथिलापुरी सोमप्रधाना है, उसी प्रकार वह अन्नप्रधाना भी है।

इस प्रकार इस दोहेके आध्यात्मिक रहस्यका संक्षिप्त विवरण दिया गया। कविकुलगुरु श्रीगोसाईंजीकी रचना ऐसी ही भावपूर्ण है। उसका जितना मनन किया जाय उतना ही भावगाम्भीर्य दिखायी देता है। उनका रामचरितमानस भावुक भक्तोंका परम धन है। उसमें श्रीगोसाईंजीने साकार ब्रह्म भगवान् रामके यशोगानके व्याजसे जिस प्रकार नूतनभव्यभावभूषित भक्तिलसित भाषामें निगम (वेद) के निगूढ़ रहस्यका चमत्कारपूर्ण दिग्दर्शन कराकर रामरसलोलुप रामभक्तोंपर अपार अनुग्रह किया है, उसी प्रकार भूतभावन भूतेश्वर भगवान् भवानीपतिके आगमाचारकी तथ्यताको स्वीकारकर उसी सिद्धान्तको अपने मानसमें सन्निविष्ट करके यह दिखलाया है कि निगमागम (वैदिक और तान्त्रिक) दोनों विचार एक ही निर्विकार श्रुतिपथपर अवलम्बित हैं। परन्तु वे रुचिवैचित्र्यके अनुसार अधिकारिभेदसे दो भिन्न-भिन्न मार्गोंका प्रचार करनेके लिये आदेश दे रहे हैं। गोसाईंजीने रामचरितमानसमें उन दोनों ही मार्गोंका समावेश किया है, जैसा कि उनके इस कथनसे सिद्ध होता है—

नानापुराणनिगमागमसम्मतं य-
द्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।

अतः श्रीगोसाईंजीके परमपुनीत पादपद्मोंमें सविनय प्रणामकर उनसे यह प्रार्थना है कि वे अपने कृपालेशसे लेखकको ऐसी बुद्धि प्रदान करें जिससे वह पुनः श्रीरामचरितमानसके किसी गुह्यातिगुह्य आगमरहस्यको लेकर 'कल्याण'के प्रेमी पाठकोंके सम्मुख उपस्थित हो सके।

---

* विधु=सोममण्डल।

† अन्नका दूसरा नाम अमृत है—'यज्ञशिष्टामृतभुजः' इसको चरु तथा सोम भी कहते हैं। यथा—

'एष सोमो राजा तद्देवानामन्नं तं देवा भक्षयन्ति।
(छा० ५।१०।४)

जिस प्रकार सृष्टिकी उद्भव-स्थिति श्रीजगन्माता जानकीजीके आश्रित है उसी प्रकार प्राणीकी स्थिति अन्नपर अवलम्बित है। श्रीगीताजीमें भी कहा है—

पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।

उपनिषदोंमें 'अन्नं वै ब्रह्मा' इत्यादि वाक्यसे अन्नको ब्रह्म भी कहा है—

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीरासलीलारहस्य

(महात्माका उपदेश)

[गतांकसे आगे]

इससे अद्वैतवादमें भी कोई भेद नहीं आता। जिस प्रकार ब्रह्ममें तरंगें रहती हैं और उनका जलसे अभेद रहता है उसी प्रकार ब्रह्ममें भी पराशक्ति अभिन्नरूपसे रहती है। यह बात शुद्धाद्वैतियोंको भी अभिमत है। जब उनसे पूछते हैं कि भला शुद्ध ब्रह्मसे जगत्‌की उत्पत्ति कैसे हुई, तो वे कहते हैं कि भगवान्‌में एक अघटितघटनापटीयान् आत्मयोग है, उसीसे प्रपञ्चकी उत्पत्ति होती है। इस बातको सिद्ध करनेके लिये वे श्रीयशोदाजीके इस वाक्यका प्रमाण देते हैं। जिस समय माताको यह दिखानेके लिये कि मैंने मिट्टी नहीं खायी, भगवान्‌ने अपना मुँह खोलकर दिखलाया तो उसमें नन्दरानीको सारा ब्रह्माण्ड दिखायी दिया। यह देखकर वे बड़ी आश्चर्यचकित हुईं और सोचने लगीं कि यह क्या भेद है। क्या मुझे ही कोई भ्रम हो गया है, अथवा कोई राक्षसोंका उपद्रव है? ऐसी कोई बात तो है नहीं; अतः मालूम होता है यह मेरे इस बालकका ही कोई विलक्षण आत्मयोग है। उस जगह उन्होंने कहा है—

अतो ह्यमुष्यैव ममार्भकस्य
यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः।

यहाँ जो 'यः कश्चन' पद है वह उस आत्मयोगकी अनिर्वचनीयता द्योतित करनेके लिये है।

ठीक यही बात अद्वैतवादी भी मानते हैं। यहाँ 'यः कश्चन' कहनेका क्या तात्पर्य है? हम पूछते हैं कि यह आत्मयोग भगवान्‌से भिन्न है या अभिन्न। यदि भिन्न है तब तो अद्वैत न रहा और यदि अभिन्न है तो भगवान्‌की तरह यह भी कूटस्थ होगा। और कूटस्थ होनेपर प्रपञ्चोत्पादनमें समर्थ नहीं होगा। इसलिये इसे न भिन्न कह सकते हैं और न अभिन्न ही। अतः वह भगवान्‌से अव्यतिरिक्त होनेपर भी भगवान्‌के दिव्यातिदिव्य विग्रहके आदुर्भावका कारण है। इसलिये इस विषयमें अद्वैतवाद और शुद्धाद्वैतवादका कोई मतभेद नहीं है।

इससे सिद्ध हुआ कि भगवान्‌ने जो उसी समय रमण करनेकी अनुमति न देकर एक वर्षका व्यवधान किया, उसका यही तात्पर्य था कि वे एक साल मेरी प्रतीक्षामें रहकर रसमय विग्रह प्राप्त करें। भगवान्‌के सौन्दर्य-माधुर्यादि अप्राकृत हैं; अतः प्राकृत इन्द्रियाँ उन्हें ग्रहण नहीं कर सकतीं। उन्हें ग्रहण करनेके लिये तो अप्राकृत देह और इन्द्रियोंकी आवश्यकता है।

किन्तु उस अप्राकृत रसमय शरीरकी क्रमशः अभिवृद्धि होती है। प्राणी जितनी ही मात्रामें भगवदनुसन्धानमें तत्पर होता है उतनी ही उसके रसमय शरीरकी पुष्टि होती जाती है और प्राकृत शरीरका क्षय होता जाता है। जिस समय वह पूर्णतया भगवन्निष्ठ हो जाता है उस समय उसे पूर्णतः रसमय शरीरकी प्राप्ति हो जाती है और भौतिक शरीर नष्ट हो जाता है। कात्यायिनीपूजनसे गोपांगनाओंके रसमय शरीरका आरम्भ तो हुआ, किन्तु उसकी ठीक पूर्णता नहीं हुई थी। इसीलिये भगवान्‌ने ऐसा नियम किया। जिस समय इष्ट वस्तु सुलभ मालूम होने लगती है उसी समय उसकी प्राप्तिकी उत्सुकता बढ़ती है। कात्यायनी-पूजनके समय उन्हें भगवान् सुलभ नहीं जान पड़ते थे; इसीसे उनके प्रति उनका उत्कट प्रेम भी नहीं था।

यह नियम है कि पहले जिस वस्तुका संयोग होता है उसीके वियोगमें दुःख हुआ करता है। बिना संयोगके तो प्रेम ही नहीं होता, फिर उसके अभावमें दुःख ही क्या होगा। मनुष्यका जितना जिसके प्रति अधिक प्रेम होगा उतना ही उसके वियोगमें अधिक दुःख होगा।

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥

अतः जब गोपांगनाओंको भगवान्‌का संयोग हो गया तो उसीने उनका वियोग होनेपर उनके हृदयमें विरहाग्नि प्रज्वलित कर दी। वे जब कभी उनकी झाँकी करती थीं तो उनके हृदयमें परमानन्दकी बाढ़ आ जाती थी और उनके आँखोंसे ओझल होते ही विरहानल धधक उठता था।

गोपीनां परमानन्द आसीद्गोविन्ददर्शने।
क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत्॥

जिस प्रकार सुवर्णादिके शोधनके लिये अग्निसंयोगकी आवश्यकता होती है उसी प्रकार गोपाङ्गनाओंका रसमय

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शरीर भी तभी पुष्ट होगा जब वह भगवद्विरहाग्निमें सन्तप्त हो लेगा। इसीसे जबसे भगवान्‌ने यह वर दिया कि 'मयेमा रंस्यथ क्षपाः' तबसे उनके प्रति उनका जो प्रेमातिशय हुआ उसके कारण उनकी वियोगाग्निसे उनका रसमय शरीर पुष्ट होने लगा। तथा उनका जो प्राकृत शरीर था वह उस वियोगकृत सन्तापसे दग्ध हो गया। इस प्रकार एक वर्षमें वे पूर्णतया परिपक्व हो गयीं।

किन्तु ये सभी गोपाङ्गनाएँ एक-सी अधिकारिणी नहीं थीं। उनमें जो भगवान्‌की आह्लादिनी शक्तिरूपा श्रीवृषभानु-नन्दिनी और उनकी सहचरी ललिता-विशाखा आदि हैं वे तो नित्यसिद्धा हैं। वे तो भगवान्‌की नित्य सहचरी हैं। जिस प्रकार अमृतमय समुद्रमें माधुर्य होता है उसी प्रकार भगवान्‌के साथ उनका अभेद ही है। यह बात श्रुतिरूपा मुनिचरी और देवकन्या आदि अन्य गोपाङ्गनाओंके विषयमें समझनी चाहिये, जो कि साधनसिद्धा थीं। वे ही इस प्रकार भगवद्विप्रयोगरूप अग्निसे रसमय शरीरका सम्पादन करती थीं। नित्यसिद्धा तो केवल लोकसंग्रहके लिये ही ऐसा करती थीं। उन्हें स्वयं इसकी कोई अपेक्षा नहीं थी। किन्तु उनमें कोई-कोई गोपाङ्गनाएँ ऐसी भी थीं जो सालभरमें भी सिद्धा नहीं हुईं; उन्हींके विषयमें ऐसा कहा गया है—

अन्तर्गृहगताः काश्चिद्‌गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः॥

जिस समय भगवान्‌ने अपने मधुमय वेणुका वादन किया उस समय उस वेणुनादरूप उद्दीपन विभावद्वारा जब रससिन्धु भगवान् कृष्ण उन व्रजांगनाओंके अन्तःकरणोंमें प्रस्फुरित हुए तो उनका मनोमल सर्वथा नष्ट हो गया और उन्हें भगवान्‌के वियोगमें एक-एक पल असह्य हो गया। किन्तु उस समय उनके पतियोंने उन्हें घरमें बन्द कर दिया था। इससे उनके हृदयमें जो सन्ताप हुआ उसे देखकर संसारके सारे अशुभ काँप उठे; उन सबने मिलकर भी किसीको उतना कष्ट पहुँचानेमें अपनेको असमर्थ पाया। किन्तु साथ ही उन्होंने जो ध्यानयोगद्वारा भगवान्‌का एक क्षणके लिये आश्लेष किया उससे उनके हृदयमें जो परमानन्दका उद्रेक हुआ उसे देखकर भी अनन्त ब्रह्माण्डान्तर्गत प्राणियोंके समस्त पुण्यार्जित सुख क्षीण हो गये। उन्होंने किसीको इतना सुख पहुँचानेमें अपनेको असमर्थ पाया। इस प्रकार जिन गोपाङ्गनाओंके अप्राकृत रसमय शरीरकी पुष्टि अभी नहीं हुई थी वह अब हो गयी। भगवान्‌के विप्रयोग-जनित संतापसे उनका गुणमय शरीर दग्ध हो गया, इसीसे कहा है—'जहुर्गुणमयं देहम्'।

इससे सिद्ध हुआ कि गुणमय शरीरका त्याग किये बिना भगवदाश्लेष प्राप्त नहीं हो सकता। यही वेदान्तका भी सिद्धान्त है। वहाँ भी गुणमय शरीरमें अनासक्त होनेपर ही ब्रह्मसंस्पर्शकी प्राप्ति होती है और उसीसे परमानन्दका अनुभव होता है। श्रीमद्भगवद्गीताका वचन है—

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते॥

पुरुषका ब्रह्मसंस्पर्श प्राप्त करना क्या है? जिस समय श्रवण, मनन और निदिध्यासनके द्वारा जीव अन्नमयादि कोशोंसे मुक्त होकर स्वरूपस्थ होता है, उसी समय उसे ब्रह्मके साथ अपनी अभिन्नताका अनुभव होता है। इसी लिये महावाक्यके 'तत्' और 'त्वम्' पदका लक्ष्यार्थ लिया जाता है, वाच्यार्थ नहीं लिया जाता। यदि अवच्छेदवादकी दृष्टिसे देखें तो उपाधिपरिच्छिन्न चेतन ही जीव है और उपाधिनिर्मुक्त ही ब्रह्म है तथा उपाधिके रहते हुए उनकी एकताका अनुभव नहीं हो सकता। प्रतिबिम्बवादमें भी जलमें प्रतिबिम्बित आकाशके समान बुद्धिरूप उपाधिमें प्रतिबिम्बित चेतन ही जीव है। उसका महाकाशरूप ब्रह्मसे जलरूप उपाधिके कारण ही भेद है और उपाधिकी निवृत्ति होते ही दोनोंकी एकता हो जाती है। इस प्रकार उपाधिकृत परिच्छिन्नता आदि दोषोंका आरोप करनेसे ही एक अनन्त पूर्ण तत्त्व दोषवान्-सा प्रतीत होता है। इसीसे कहा है—

'एकमपि सन्तमनेकमिव मन्यते।'

अतः जबतक जीव गुणमय शरीरसे संसक्त है, तबतक वह ब्रह्मसंस्पर्शका अधिकारी कभी नहीं हो सकता। जिसने उपाधिका बाध करके त्वंपदार्थका शोधन कर लिया है वही तत्पदार्थसे अपना अभेद अनुभव करनेमें समर्थ हो सकता है। इसी प्रकार यहाँ गोपाङ्गनाओंको भी अपने प्राकृत शरीरका अपनोदन कर शुद्ध रसमय शरीर प्राप्त करनेके लिये भगवान्‌ने एक वर्षका व्यवधान रखा।

उस समय भगवान्‌ने जो कहा था कि 'मयेमा रंस्यथ क्षपाः' अर्थात् तुम इन्हीं रात्रियोंमें मेरे साथ रमण करोगी —इसमें भी एक संदेह होता है। वह यह कि चीरहरण-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

लीला तो दिनके समय हुई थी और 'इमाः' (इन) शब्द प्रस्तुत अर्थका द्योतक है; फिर भगवान्‌ने 'इमाः क्षपाः' इन रात्रियोंमें ऐसा निर्देश कैसे किया। यदि कहो कि वे रात्रियाँ भगवान्‌की बुद्धिमें स्थित थीं, इसलिये यह उक्ति अयुक्त नहीं है तो ठीक है, परन्तु गोपियोंको तो इनका प्रत्यक्ष नहीं था। इससे मालूम होता है कि गोपियोंको वर देनेकी इच्छा करनेपर भगवान्‌की सत्यसंकल्पता शक्तिसे प्रेरित योगमायाने इन रात्रियोंको भगवान्‌के सामने उपस्थित कर दिया था। जैसे यदि कोई सम्राट् किसीको कोई वस्तु देना चाहता है तो उसका भाव समझनेवाले सेवकगण उस वस्तुको लाकर सामने उपस्थित कर देते हैं।

इसके सिवा एक शंका यह भी होती है कि रासलीला तो केवल एक रात्रिमें ही हुई थी, फिर यहाँ तथा चीरहरण-लीलाके अनन्तर वर प्रदान करते समय भी बहुवचनका प्रयोग क्यों किया गया?

उत्तर—भगवान् अनन्त गुणमय हैं, उनके अचिन्त्य और अनन्त गुणोंका आस्वादन अल्प कालमें नहीं हो सकता। व्रजाङ्गनाओंने भी किसी क्षुद्र फलके लिये कात्यायिनीपूजन आदि कठोर तपस्याका अनुष्ठान नहीं किया था। अतः यदि उन्हें थोड़े समयके लिये ही भगवत्-सुखास्वादनका अवसर प्राप्त होता तो यह उनकी तपस्याका पूरा फल हुआ न समझा जाता। भगवान्‌के स्वरूप-रसास्वादनके विषयमें ही श्रीवृषभानुनन्दिनीका कथन था कि अरी सखियो! भगवान्‌के समग्र सौन्दर्य-माधुर्य-रसास्वादनकी बात तो दूर है, यदि हमें उसके एक कणका भी आस्वादन करना हो तो हमारे प्रत्येक रोमकूपमें कोटि-कोटि नेत्र होनेपर भी हम उसका सम्यक् आस्वादन करनेमें असमर्थ हैं। जिस समय ये नेत्र भगवान्‌के एक अंगमें लग जायँगे उस समय इनकी सामर्थ्य नहीं कि वहाँसे आगे बढ़ सकें।

इस विषयमें ऐसी ही बात अन्यत्र कही गयी है। जिस समय भगवान् रामचन्द्रका विवाहोत्सव हुआ उस समय उस अपूर्व शोभाको निहारनेके लिये ब्रह्मा, शिव, षडानन एवं इन्द्रादि सभी देवगण वहाँ उपस्थित हो गये। भगवान्‌का वर-वेष देखकर वे अपनेको अत्यन्त बड़भागी मानने लगे। उस रूपमाधुरीका पान करनेके लिये उन्हें अपने नेत्र पर्याप्त न जान पड़े; उस समय जिसके जितने अधिक नेत्र थे उसने अपनेको उतना ही अधिक भाग्यशाली समझा। ब्रह्मादि सभी देवताओंकी अपेक्षा अधिक नेत्र होनेके कारण देवराज इन्द्रको सबसे अधिक आनन्द हुआ और उन्होंने गौतम ऋषिके शापको, जिसके कारण उन्हें सहस्र भग प्राप्त हुए थे, जो कि पीछे मुनिके प्रसन्न होनेपर सहस्र नेत्र हो गये थे, उन्होंने परम हितकर माना। उनकी मनोवृत्तिको व्यक्त करते हुए श्रीगोसाईंजी महाराजने कहा है—

रामहि चितव सुरेस सुजाना। गौतम साप परम हित माना॥

यह बात तो इन्द्रादि देवताओंकी है। परन्तु गोपाङ्गनाएँ तो प्रेममार्गकी आचार्या हैं, उनमें भी श्रीराधिकाजी तो साक्षात् भगवान्‌की आह्लादिनी शक्ति ही हैं; उनके प्रेमकी देवताओंके साथ क्या तुलना की जा सकती है! इसीसे इन्द्रादि तो भगवान्‌की रूपमाधुरीका अधिकसे अधिक सहस्र नेत्रोंसे ही पान करके तृप्त हो गये, किन्तु श्रीवृषभानुनन्दिनी तो कहती हैं कि हमारे प्रत्येक रोमकूपमें कोटि-कोटि नेत्र हों तब भी हम श्रीश्यामसुन्दरके सौन्दर्यके एक कणका भी यथेष्ट रसास्वादन नहीं कर सकतीं। भला प्रेममें कभी तृप्ति होती है!

यह नियम है कि वस्तु चाहे एक ही हो; किन्तु उसका जो जितना अधिक रसज्ञ होगा उसे वह उतनी ही अधिक सरस प्रतीत होगी। अरसिकोंको रसमय पदार्थ भी उतना सरस प्रतीत नहीं होता। देखो, ब्रह्म सर्वत्र ही है, तथापि उसके परमानन्दकी सबको समान अनुभूति नहीं होती। उसकी स्फुट प्रतीति तो भावुक भक्तगण तथा आत्माराम मुनिजनको ही होती है।

एक चित्रकारने एक चित्र तैयार किया और उसे किसी राजाके यहाँ ले गया। परन्तु राजाने उसका कोई विशेष रहस्य नहीं समझा; केवल उदासीनभावसे उसका १०००० मूल्य देनेको कहा। किन्तु चित्रकारने इस मूल्यमें चित्र देना स्वीकार न किया। जिस समय वह उसे लौटाकर ले जा रहा था, बीचमें उसे एक राजसेवक मिला। उसने आग्रहपूर्वक वह चित्र दिखानेको कहा। जब चित्रकारने उसे खोलकर दिखलाया तो वह राजसेवक उसका हस्त-कौशल देखकर दंग रह गया। किन्तु उसके पास उस चित्रको मोल लेनेयोग्य द्रव्य नहीं था। उस समय वह केवल एक धोती बाँधे हुए था। उसने उसमेंसे लँगोटीभर फाड़कर वह धोती उस चित्रकारको दे दी। चित्रकारने भी उस धोतीके बदलेमें ही वह चित्र उसे दे दिया।

धीरे-धीरे यह समाचार राजाके कानोंतक पहुँची। राजाने उसे बुलाकर पूछा कि तुमने जो चित्र हमें १०००० में भी नहीं दिया वही हमारे एक साधारण सेवकको केवल उसकी धोती लेकर ही कैसे दे दिया? तब चित्रकारने कहा—राजन्! आपने उसका महत्त्व नहीं समझा था; इसलिये

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आप जो कुछ देते थे वह भी इसका पर्याप्त मूल्य नहीं था; किन्तु आपके सेवकने उसका महत्त्व जाना और जो कुछ अधिक-से-अधिक वह दे सकता था वही दे भी दिया। इसलिये मैंने आपके १००००) की अपेक्षा भी उसकी घोती-का अधिक मूल्य समझा था।

एक दिन हमने भी एक चित्र देखा था। उसमें बिल्कुल एक ही रूपकी दो स्त्रियाँ बनायी गयी थीं। उन दोनोंके आकार-प्रकार एवं वेश-भूषामें कोई भी अन्तर नहीं था। दोनों ही आमने-सामने शोकमुद्रामें बैठी थीं। उस चित्रको देखकर समझमें नहीं आता था कि इसका क्या रहस्य है। बहुत विचार करनेपर मालूम हुआ कि इसका प्रसङ्ग इस प्रकार है—एक दिन श्रीवृषभानुनन्दिनी अपने मणिमय प्राङ्गणमें बैठी थीं; उस समय उन्हें अपना ही प्रतिबिम्ब दिखायी दिया। उसे कोई अन्य नायिका समझकर उन्हें बड़ा डाह हुआ और उसका रूप-लावण्य देखकर वे सोचने लगीं कि यदि श्रीश्यामसुन्दरने इस नायिकाको देख लिया तो वे हमसे क्यों प्रीति करेंगे। वस्तुतः यह बात जो कही जाती है ठीक ही है कि श्रीभगवान् और वृषभानुदुलारी परस्पर एक-दूसरेके सौन्दर्या-तिशयका तो समास्वादन कर सकते हैं परन्तु वे अपने-अपने सौन्दर्यका भोग करनेमें असमर्थ हैं। 'विस्मापनं स्वस्य च सौभगर्द्धेः' उनका सौन्दर्य स्वयं उन्हींको विस्मयमें डाल देनेवाला है। यही भाव उस चित्रमें व्यक्त किया गया था। किन्तु जिस प्रकार इस रहस्यको समझनेसे पूर्व हमें यह चित्र विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं जान पड़ता था उसी प्रकार उस राजाको भी उस चित्रकारके लाये हुए चित्रमें कोई विशेषता नहीं जान पड़ी।

तात्पर्य यह है कि वस्तु तो एक ही होती है; किन्तु जो रसज्ञ हैं उन्हें उसकी विशेष रसानुभूति होती है; अरसिकोंको तो आपातदृष्टिसे उसका कोई विशेष महत्त्व दिखायी नहीं देता। इसी प्रकार गोपाङ्गनाएँ भगवान्‌के सौन्दर्यमाधुर्यातिशयकी सबसे बड़ी रसज्ञा थीं; इसलिये उससे दीर्घकालमें भी उनकी तृप्ति नहीं हो सकती थी। वे कात्यायिनीपूजन और विविधविध व्रताचरणरूप तपस्या करके योगारूढ हुई थीं। उससे यदि उन्हें एक रात्रिके लिये ही भगवत्सान्निध्यकी प्राप्ति होती तो वह उन्हें किसी प्रकार सन्तुष्ट न कर सकता। उन्हें जो महान् फल प्राप्त होनेवाला था वह तो पूर्ण ब्रह्मसंस्पर्श था और ब्रह्म-संस्पर्श ही पूर्ण योगारोहण है। किन्तु यदि यह अल्प कालके लिये होता तो उससे कैसे तृप्ति हो सकती थी? अतः उन्हें उनकी तपस्याका पूर्ण फल प्रदान करनेके लिये भगवान्‌की योगमायाने एक ही रात्रिमें अनन्तकोटि ब्राह्म रात्रियोंका समावेश किया था। इसीसे 'इमाः क्षपाः' और 'ताः रात्रीः' इन बहुवचनोंका प्रयोग किया गया है। वेदान्तका यह सिद्धान्त है कि अल्प कालमें अनन्त कालका और अल्प देशमें अनन्त देशका समावेश किया जा सकता है। स्वप्नमें हम देखते ही हैं कि एक क्षणमें ही वर्षोंके प्रसङ्गका अनुभव हो जाता है। योगवासिष्ठमें पाषाणोपाख्यानमें एक शिलाके भीतर ही अनन्त ब्रह्माण्डका प्रदर्शन कराया गया है तथा राजा लवणके उपाख्यानमें भी दो-ढाई घड़ीके भीतर ही वर्षोंके प्रसङ्गका अनुभव कराया गया है। इसी प्रकार यहाँ भी प्रहरचतुष्टयवती एक ही रात्रिमें अनन्तकोटि ब्राह्म रात्रियोंका समावेश किया गया है, जिससे उनकी चिरकालीन भगवत्सम्भोगलालसाकी पूर्णतया पूर्ति हो।

भगवान्‌के आलिङ्गनका कितना महत्त्व है? इसका वर्णन हम कहाँतक कर सकते हैं। हनुमान्‌जीकी अद्भुत सेवाओंसे सन्तुष्ट होकर भगवान्‌ने कहा था—

एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते कपे।
शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥

अर्थात् हे कपे! मैं तुम्हारे एक-एक उपकारके बदले अपने प्राणोंका समर्पण कर सकता हूँ; फिर भी वे बचे ही रहेंगे और उनके लिये हमें ऋणी रहना पड़ेगा। उन्हीं हनुमान्‌जीको उन्होंने अपना अद्भुत आश्लेष प्रदान करते हुए कहा था—

एष सर्वस्वभूतस्तु परिष्वङ्गोऽयमद्भुतः।
मया कालमिमं प्राप्य दत्तो ह्यस्य महात्मनः॥

भक्तोंका सर्वस्वभूत यह भगवदाश्लेष वस्तुतः अत्यन्त दुर्लभ है। यह तो शिव, ब्रह्मा एवं सनकादिको भी प्राप्त होना कठिन है। इसीको ब्रह्म-संस्पर्श भी कहते हैं।

किन्तु यदि यह ब्रह्मसंस्पर्श बाह्यस्पर्शोंके समान क्षणिक ही हुआ तो इसमें विशेषता ही क्या हुई। भगवत्सम्मिलन कभी अस्थायी नहीं हुआ करता; भगवान्‌की प्राप्ति हो जानेपर तो फिर पुनरावृत्ति ही नहीं होती 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।' इसी दृष्टिसे भगवान्‌ने एक रात्रिमें ही अनन्त ब्राह्म रात्रियोंका समावेश करके उन्हें अगणित रात्रियोंका अनुभव कराया।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कामना

(लेखक—श्रीदेवीलालजी सामर, बी० ए०)

मेरे श्याम ! तुमने यह कैसी मुरली बजायी ?

मैंने अपना शृङ्गार छोड़ा, वैभव छोड़ा और अपनी सुध-बुध भूलकर इस झिलमिल तारोंकी धुँधली रातमें मैं तुम्हें ढूँढ़ने निकली हूँ ।

तुम किस झुरमुटमें छिपकर यह मनमोहिनी तान छेड़ रहे हो मेरे श्याम ?

मुझे गर्व था, मैं अपनी मधुर तान सुनाकर तुम्हें इस ओर आकर्षित कर लूँगी और रजनीके इस निर्जन पथपर आँसुओंके मोती बिछाकर तुम्हारा आह्वान करूँगी ।

मेरे मोहन ! तुमने यह कैसी मुरली बजायी ?

मेरे ओंठतक नहीं खुलते । मैं अपनी ही राग भूल गयी । मुझे एक स्वर भी साधना न आया । मैंने जितना अबतक गाया वह सब भूल गयी । मेरे अन्तस्तलके स्निग्ध, तप्त उद्गार आज अकर्मण्य खड़े हैं । मेरा शृंगार बिखरा हुआ है । मेरे शरीरपर कोई सजावट नहीं है । मेरे यौवनका यह शुद्ध सूनापन, श्याम !! अपनी बाँसुरीकी सुरीली तानसे भर दो । मैं सदाके लिये अपनी तान भूल जाऊँ । मेरे वैभवके सब शृंगार एक ओर पड़े रहें और तुम अपना यही स्वर मेरे जीवनकी रिक्त प्यालीमें भरते रहो ।

विश्वगुरु श्रीकृष्ण

(लेखक—श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय)

श्री

मद्भगवद्गीताके उपदेष्टा श्रीकृष्णने 'अहं', 'मम' , 'मां', 'मे', 'मयि' आदि 'अस्मद्' शब्दके एक वचनान्त सभी पदोंका प्रयोग गीताके अनेक स्थानोंमें अनेक प्रकारसे किया है तथा सर्वत्र उन्होंने अपनेको ही परमाराध्य, परमागति और परमतत्त्व बतलाया है । यह 'अहं' किसका है ? भारतीय ऐतिहासिकोंकी दृष्टिमें महाभारतवर्णित वृष्णिवंशप्रदीप यदुकुलपति पार्थसारथी वासुदेव श्रीकृष्ण उस समयमें शौर्य-वीर्यमें, विद्या-बुद्धिमें, प्रभाव-प्रतिष्ठामें, यश-मानमें भारतवर्षके अथवा जगत्के श्रेष्ठतम व्यक्ति थे । उनके समान दूसरा कोई व्यक्ति नहीं था । ऐतिहासिक दृष्टिसे इन्हीं श्रेष्ठतम मानव पुरुषने अर्जुनको गीताका उपदेश दिया था । तो क्या गीताके उपदेष्टा श्रीकृष्णका यह 'अहं' पद तत्त्वतः उसी केवल मानव पुरुषको ही सूचित करता है ? क्या इन्हीं विशिष्ट ऐतिहासिक व्यक्तिको गीतामें सब मनुष्योंका उपास्य और निखिलका चरमतत्त्व कहा गया है ? दसवें अध्यायमें वक्ताने इसी श्रेष्ठ मानव वासुदेव श्रीकृष्णका उल्लेख अपनी लौकिक विभूतियोंकी अन्यान्य विभूतियोंमेंसे केवल एक विभूतिके रूपमें किया है—'वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि ।' श्रोता धनंजय भी उसी तरह उनकी एक विभूति हैं—'पाण्डवानां धनंजयः ।' यहाँतक कि विष्णु, शङ्कर, इन्द्र, चन्द्र, वायु, वरुण प्रभृति वैदिक देवताओंको भी उन्होंने अपनी विभूति घोषित किया है । वह सबके मूल हैं । अतएव गीतोपदेष्टा श्रीकृष्णका 'अहं' किसी ऐतिहासिक व्यक्तिमात्रको सूचित नहीं करता, किसी मनुष्यविशेष या देवताविशेषको लक्षित नहीं करता । सब मनुष्योंसे, सब देवताओंसे, सब पदार्थोंसे, जो कुछ ज्ञानगोचर है, बुद्धिका विषय है, उन सबसे अत्यन्त विलक्षण यह 'अहं' है । और ये सब इस 'अहं' के अन्तर्भुक्त हैं, इस 'अहं' द्वारा ओतप्रोतभावसे परिव्याप्त हैं । यह 'अहं' किसका है ? इस अहंपदके वाच्य कौन हैं ? गीताके उपदेशके अन्दर ही उपदेष्टा भगवान् श्रीकृष्णने अपने इस 'अहं' का सविशेष परिचय प्रदान किया है । इस परिचयका अनुसरण करते हुए श्रीकृष्णको पहचाननेसे ही उनकी यथार्थ पहचान हो सकती है, इस परिचयके अनुसार धारणा बनाकर उनकी उपासना करनेसे ही यथार्थ श्रीकृष्णोपासना हो सकती है, और तभी गीतोक्त चरम सार्थकता प्राप्त करके मानव-जीवन धन्य हो सकता है ।

गीताके पहले अध्यायमें श्रीकृष्ण पार्थसारथीमात्र हैं । दूसरा कोई परिचय नहीं है । दूसरे अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णने सांख्यमार्ग और योगमार्गका उपदेश देनेके बाद

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्थितप्रज्ञके लक्षण बतलाते हुए प्रसंगवश हठात् अपना स्वरूप व्यक्त कर डाला है कि इन्द्रियोंका संयम करके योगयुक्त चित्तसे 'मत्परायण' होकर अवस्थान करो—

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः ।

यहींपर उन्होंने पहले-पहल अपनेको जीवोंका परम आराध्य और आश्रय—ज्ञानी और योगीका भी चरम उपास्य बतलाया है और यह भी संकेत किया है कि तत्त्वतः श्रीकृष्णपरायण होनेसे प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है और ब्राह्मी स्थिति प्राप्त होती है ।

तीसरे अध्यायमें कर्मयोगकी व्याख्या करते हुए उन्होंने अपनेको लोक-समाजके शिक्षक और आदर्शके रूपमें उपस्थित किया है । त्रिभुवनमें उनका कोई कर्तव्य नहीं है, कुछ भी अप्राप्त या प्राप्तव्य नहीं है, फिर भी वह लोकशिक्षाके लिये सतर्कताके साथ विधिपूर्वक कर्म करते हैं । क्योंकि मनुष्य उन्हींके पथका अनुसरण करते हैं (३ । २२-२३) । यहाँपर वह आदर्श पुरुष हैं । यदि व्यक्तिविशेष श्रीकृष्ण पूर्ण ज्ञानी जीवन्मुक्त महापुरुष माने जायँ तो उनके सम्बन्धमें भी यह वर्णन लागू हो सकता है । क्योंकि मुक्त पुरुषको अपने लिये कुछ भी प्राप्तव्य या कर्तव्य नहीं है, लोकशिक्षा और लोककल्याणके लिये ही उनके समस्त लोक-व्यवहार होते हैं । दूसरी ओर विश्वके स्रष्टा और नियन्ता भगवान्‌के सम्बन्धमें भी यह बात घटती है । क्योंकि वह नित्यपूर्ण, प्रयोजनविहीन होनेपर भी सर्वदा कर्ममें संलग्न रहते हैं । अतएव यहाँपर गीतोपदेष्टाने अपने तात्त्विक स्वरूपको स्पष्टरूपमें व्यक्त नहीं किया है ।

वह केवल एक आदर्श लोकशिक्षक नहीं हैं, वह मानव-जातिके आदिगुरु और युग-युगमें जगत्‌में धर्म-संस्थापना करनेवाले हैं—यह बात अधिक स्पष्ट रूपमें उन्होंने चौथे अध्यायके आरम्भमें कही है । तीसरे अध्यायमें कर्मयोगके रहस्यकी व्याख्या करके चौथे अध्यायके प्रारम्भमें उन्होंने अर्जुनको बतलाया है कि मैं विश्वजनीन सनातन योगधर्मका प्रथम प्रवर्तक हूँ, आदिम उपदेष्टा हूँ । राजर्षिकुलके आदिपुरुष विवस्वान् या सूर्यको मैंने ही इस धर्मका उपदेश दिया था, सूर्यने मनुको इसकी शिक्षा दी थी और मनुसे वंश-परम्परानुसार और आचार्य-शिष्य-परम्परा-क्रमसे परवर्ती राजर्षियोंको यह धर्म प्राप्त हुआ था । कालक्रमसे लोकसमाजने उस विश्वजनीन धर्मके तत्त्वको खो दिया था । फिर पार्थ-सारथिरूपमें भक्त और सखा पार्थके सामने उन्होंने उसी पुराने योगधर्मको व्यक्त किया । अतएव भगवान् श्रीकृष्ण योगधर्मके आदिगुरु हैं और वह युग-युगमें विशेष-विशेष देह धारण करके लोक-समाजमें अवतीर्ण होकर अवस्थानुसार आचरण, उपदेश और विधि-व्यवस्थाके द्वारा इस धर्मकी शिक्षा दिया करते हैं । पातञ्जलयोगसूत्रमें भी ऐसा वर्णन आया है कि ईश्वर 'पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्'—प्राचीन कालके आचार्योंके भी गुरु हैं, क्योंकि वह कालद्वारा अवच्छिन्न नहीं हैं, अर्थात् ईश्वर ही सनातन गुरु हैं । यहाँपर विश्वगुरु ईश्वरके साथ श्रीकृष्णने अपना ऐक्य प्रदर्शित किया है ।

अर्जुन अपने सम्मुख खड़े हुए समवयस्क सखा और सारथी मनुष्यदेहधारी श्रीकृष्णको भूल न सके । इस कारण स्वभावतः ही उनके चित्तमें यह सन्देह उपस्थित हुआ कि यह कृष्ण उस सुप्राचीन कालके विवस्वान्‌के गुरु कैसे हो सकते हैं ! श्रीकृष्णने उन्हें समझाया कि मैं किसी जन्मके अन्दर आबद्ध नहीं हूँ; मानवसमाजके लिये मैंने अनेक बार विशेष-विशेष शरीर अवश्य धारण किये हैं, परन्तु उनसे मेरी सत्ता, ऐश्वर्य और ज्ञान तनिक भी आवृत या खण्डित नहीं होता । इन सब देहोंके जन्म-कर्म-समूहका अतिक्रम करके मैं नित्य स्व-स्वरूपमें विराजमान रहता हूँ; मेरे जन्म-कर्म दिव्य या अप्राकृत हैं, ये सब जन्म-कर्म मेरे होनेपर भी मुझको स्पर्श नहीं करते; मायाधीन जीवके जन्म-कर्मकी तरह मेरे जन्म-कर्मका विचार करनेसे कोई भी ठीक बात नहीं मालूम हो सकती, तत्त्व-दृष्टिसे, 'तत्त्वतः' इस बातको समझना होगा । प्रसङ्गवशात् भगवान्‌ने अर्जुनको अवतार-तत्त्व भी संक्षेपमें समझा दिया है । (इस अवतारतत्त्वकी आलोचना आगे चलकर विस्तृतरूपमें की जायगी ।) अवतार ग्रहण करनेके मूलमें भी उनका गुरुभाव ही प्रधान है । युग-युगमें मानवसमाज-की धर्मसाधनाकी प्रतिकूल शक्तियोंका नाश करके, अनुकूल शक्तियोंको पुनर्जीवित करके देश-काल-अवस्थाके अनुरूप सनातनधर्मका पुनरुद्बोधन और पुनः प्रतिष्ठा करना ही अवतारका कार्य है । मानवप्राणको उसकी चरम सफलता-की ओर आकर्षित करनेके लिये करुणानिधान भगवान् आदिकालसे युग-युगमें साध्य-साधन-रहस्यका उपदेश देने, देश-काल-अवस्थाकी अनुकूलता स्थापित करने और अपने आचरणद्वारा मनुष्यत्वका आदर्श प्रदर्शित करनेके

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रूपमें पधारते हैं। भगवान्‌ने अपने इस करुणामय गुरु-भावका परिचय चौथे अध्यायमें प्रदान किया है और बहुत अंशोंमें अर्जुनकी भी यह धारणा हो गयी है कि मुझको उपदेश देनेवाले ये श्रीकृष्ण जन्ममृत्युके अधीन कोई पुरुषविशेष नहीं हैं, बल्कि यही अज, अव्ययात्मा और सब भूतोंके अधीश्वर परमपुरुष हैं।

इस प्रसङ्गपर भगवान्‌ने एक और तथ्यको प्रकट किया है। जो कोई मनुष्य जिस किसी पद्धति, नीति या भावके अनुसार, जिस किसी नामसे, जिस किसी रूपमें, जिस किसी उद्देश्यसे, जिस किसी देवताकी आराधना क्यों न करे, प्रत्येक मनुष्य जानमें या अनजानमें, प्रत्यक्ष या परोक्षरूपमें वास्तवमें उसी भगवान् श्रीकृष्णके ही पथका अनुवर्तन करता है, किसी-न-किसी प्रकारसे उन्हींका भजन करता है और जो जिस भावसे उनका भजन करता है, वह उसी भावसे उनके अभीष्टको पूरा करते हैं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

इस तथ्यका और भी स्पष्टीकरण सातवें अध्यायमें किया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि गीताके उपदेष्टा श्रीकृष्ण केवल कोई मनुष्यविशेष नहीं हैं, यही नहीं, बल्कि वह कोई देवताविशेष भी नहीं हैं और किसी मत, किसी पथ, किसी विशेष आचार-पद्धति, किसी नाम, किसी रूप या किसी भावके अन्दर उनकी आराधना आबद्ध नहीं है। वह सर्वदेवातीत और सर्वदेवमय हैं। सब-की-सब पूजाएँ उन्हींके चरणोंमें पहुँचती हैं।

पाँचवें अध्यायमें कर्मयोग और कर्मसंन्यासका तात्पर्य प्रदर्शित करके, योगसंसिद्ध, यथार्थ संन्यासी, ब्रह्मभूत, मुक्त पुरुषके लक्षण बतलाकर उपसंहारमें श्रीकृष्णने अपनी भगवत्ताकी घोषणा इस प्रकार की है—

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥

मैं सब प्रकारके यज्ञों और सब प्रकारकी तपस्याओंका भोक्ता हूँ। मैं अखिल विश्वका महेश्वर, नियन्ता हूँ। और मैं जीवमात्रका सुहृद् हूँ। मेरे इस स्वरूपको जान लेनेसे ही शान्ति प्राप्त होती है। तात्पर्य यह कि विश्वजगत्‌में जो कुछ होता है, उसका यदि भगवान्‌के कार्यके रूपमें अनुभव किया जाय, जिस किसी कर्म या पुरुषार्थका प्रयोग होता है, उसके नियन्ता और भोक्ता एक अद्वितीय परमेश्वर हैं और वह भोक्ता और नियन्ता परम प्रेममय और मंगलमय हैं, इसकी यदि उपलब्धि की जाय तो फिर कर्तृत्वाभिमान, भोक्तृत्वाभिमान और वैषम्यदर्शनके लिये गुंजाइश ही कहाँ रही, कर्मका बन्धन ही कहाँ रहा, दुःख-दैन्य, शोक-तापका हेतु कहाँ रहा! उस समय पराशान्ति प्राप्त होती है, इस जगत्‌में रहनेपर भी जगत्‌का अतिक्रमण कर ब्रह्ममें उसकी स्थिति होती है। इस पराशान्तिके आधार, सब भूतोंके सुहृद्, सब लोकोंके महेश्वर भगवान् ही श्रीकृष्ण हैं।

छठें अध्यायमें श्रीकृष्णने योगके साध्य और साधनाकी विशदरूपसे व्याख्या करके, युक्त योगीके लक्षणका निर्देश करके तथा उसके बाद योगसाधनाकी अमोघ शक्ति और ज्ञान, कर्म, तपस्या आदिकी अपेक्षा योगकी श्रेष्ठताकी घोषणा करके सबसे अन्तमें कहा है—

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

योगियोंके अंदर भी उन्हींको सबसे उत्तम योगी जानना चाहिये जो अपने अन्तरात्माको मद्भावसे भावित करके, श्रद्धावान् होकर निरन्तर मेरा भजन करते हैं। इस प्रकारके भजनमें भगवान्‌को किस प्रकारकी दृष्टिसे देखना चाहिये, यह भी उन्होंने इसी अध्यायके ३० वें और ३१ वें श्लोकमें बतला दिया है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते॥

उनको सबके अंदर और सबको उनके अंदर देखना होगा और उन सर्वभूतस्थितको एक, अखण्ड, अक्रिय परम पुरुष जानकर भजन करना होगा। अतएव भगवान् श्रीकृष्णका 'अहं' सबके 'अहं'के अंदर अनुस्यूत है; उनका 'अहं' ही असंख्य 'अहं' और 'इदं' के रूपमें विभासित है, तथापि उनके इस 'अहं'का एकत्व, अखण्डत्व, असंगत्व और निर्मलत्व विन्दुमात्र भी क्षुण्ण या संकुचित नहीं होता। इस प्रकारके लक्षणोंसे युक्त श्रीकृष्णको ऐसी दृष्टिसे देखते हुए सर्वान्तःकरणसे भजन करनेसे योगसाधनाकी सम्यक् परिपूर्ण सार्थकता प्राप्त होती है। इस प्रकारका भक्त योगी, ज्ञानी, कर्मी और तपस्वी योगियोंमें सर्वश्रेष्ठ है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ॥

गीताके प्रथम षट्कमें भगवान्‌ने प्रसंगवश अपनी बातकी अति संक्षेपमें सूचनामात्र की है। इसमें मुख्यतः सांख्यसम्मत और योगसम्मत साधनसम्बन्धी विचार, ज्ञान और कर्मका समन्वय, कर्मसंन्यास और कर्तव्यपालनविषयक समस्याका समाधान किया गया है। परन्तु इसके अंदर भी खूब स्पष्ट रूपमें यह सूचित किया गया है कि वक्ता श्रीकृष्णके 'अहं' पदवाच्य भगवान् ज्ञानी, योगी, कर्मी, भक्त, सबके परमाराध्य और परमा गति हैं, वही मानव-समाजके गुरु, धर्मसंस्थापक और पथप्रदर्शक हैं, वह जन्म-कर्म आदिसे रहित होनेपर भी जीवोंके प्रति करुणा होनेके कारण जन्म-कर्मादिरूप लीला करते हैं, उनका आश्रय लेकर, उनको सर्वस्व जानकर, तद्भावभावित होकर, कर्म-कर्मफल आदिके साथ मन-प्राण उनको सौंपकर, तन्निष्ठ जीवन यापन करनेपर सब समस्याओंका समाधान हो जाता है, जीवन शान्तिमय और सार्थक हो जाता है।

गीताके पहले छः अध्यायोंमें यह कहा गया है कि श्रीकृष्ण-को ही जीवनका केन्द्र बनाना होगा, जीवनके सब विभागों-को उनके अनुगत करना होगा। यदि यही सिद्धान्त हो तो वह कौन हैं, उनका स्वरूप क्या है, किस प्रकार उनका चिन्तन करना होगा, ये मुख्य प्रश्न उपस्थित होते हैं। इसी कारण सातवें अध्यायसे अपना परिचय देना गीतो-पदेष्टाका प्रधान कार्य हो गया है। इस प्रकरणके प्रारम्भमें ही उन्होंने कहा है—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन् मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु ॥

मद्गतचित्त और मेरे शरणागत होकर योगयुक्त होनेपर मुझे समग्र रूपसे जिस प्रकार जाना जाता है, अब उसे सुनो। मुझे जान लेनेपर और कुछ जानना बाकी नहीं रह जाता और करोड़ों मनुष्योंमेंसे कोई विरले ही मुझे तत्त्वतः जानते हैं, यह भी स्मरण करा दिया गया है। इसके बाद भगवान्‌ने अपना तात्त्विक परिचय देना शुरू किया है।

यहाँपर एक बात स्मरण रखनी चाहिये। भगवान् स्वयं अपना अनुभव जिस रूपमें करते हैं अथवा जो साधक परमा सिद्धि प्राप्त करके, अपरोक्षानुभूतिमें भगवान्‌के साथ एकात्मभाव प्राप्त करके विश्व-संसारको भूल गये हैं, वे भगवान्‌को जैसा अनुभव करते हैं उसे कभी किसीको समझाना सम्भव नहीं। वह अनुभूति बुद्धिके परेकी चीज है। बुद्धि उसका वर्णन नहीं कर सकती, बुद्धिकी भाषामें उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, उसे दूसरेकी बुद्धिके लिये गोचर करनेका कोई उपाय नहीं है। मनुष्यकी बुद्धि जिससे परिचित है, उसीके साथ सम्बन्ध और सादृश्य या असादृश्य स्थापित करके उस बुद्धिसे अतीत, सब सम्बन्धों-से अतीत तत्त्वका आभासमात्र बुद्धिके सम्मुख उपस्थित करनेके सिवा कोई दूसरी गति नहीं है।

हमारी बुद्धिके सामने देश-कालकी सीमासे रहित एक अनन्त जगत् फैला हुआ है। उसमें विचित्र रूप, विचित्र रस, विचित्र गन्ध, विचित्र स्पर्श, विचित्र शब्द हैं। इसकी सीमा, संख्या और परिमाण निश्चित करना असम्भव है। इसके अंदर कितने सूर्य, कितने नक्षत्र, कितने ग्रह-उपग्रह हैं। बुद्धि इसके भीतर कितने ऐश्वर्य, कितने सौन्दर्य, कितने मिलन, कितने विच्छेद, कितने नवीनोंके आविर्भाव, कितने पुरातनोंके ध्वंस, कितने घात-प्रतिघात, कितनी शक्तियोंके खेल नित्यप्रति देखती है। इस जगत्‌के विचित्र तथ्यका परिचय प्राप्त करनेके लिये मानवबुद्धि कितने प्रकारकी चेष्टा करती है, कितने विज्ञान-दर्शनकी सृष्टि करती है। यह जगत् बुद्धिके लिये एक विराट् सत्य है। भगवान्‌के स्वरूपको इस मानवीय बुद्धिका अनुभवगम्य करनेके लिये इस जगत्‌के साथ उनका सम्बन्ध निश्चित करना आवश्यक है।

फिर बाहरसे दृष्टि फिराकर जब अन्तरकी ओर बुद्धि दृष्टिपात करती है, तब वहाँ भी उसे एक दूसरे विशाल और विचित्र जगत्‌का पता लगता है। इस अन्तर्जगत्‌में कितना राग-द्वेष, कितनी हिंसा और प्रेम, कितना भय और आशा, कितना संशय-विपर्यय, कितना ज्ञान-अज्ञान, कितना सङ्कल्प-विकल्प, कितना सुख-दुःख, कितने संस्कार और वासना, कितना बन्धन, यातना और मुक्तिका आनन्द है, इसका भी आदि-अन्त नहीं मिलता। वहाँ एक ऐसी विचार-शक्ति भी विद्यमान है जो इन सब वृत्तियों, भावों और अनुभूतियोंका ज्ञान प्राप्त कर सकती है, उनको परि-चालित कर सकती है, उनके ऊपर अपना आधिपत्य स्थापित कर सकती है। और इन सबको ऐक्यसूत्रमें ग्रथित करके, उनके केन्द्रस्थलमें विराजमान होकर एक 'अहं' वहाँ राज्य कर रहा है। इस अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्‌में

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रतिक्षण आदान-प्रदान और घात-प्रतिघात चल रहा है। इसके अतिरिक्त इन दो जगत्‌को धारण, संजीवित और प्रकाशित करनेवाली एक चैतन्यशक्तिका भी सर्वत्र—विशेषकर जीवदेहमें—अनुभव होता है।

भारतीय ऋषि-मुनियोंने समस्त बहिर्जगत्‌का विश्लेषण करके पाँच मौलिक वस्तुओंको खोज निकाला है—गन्ध-गुणयुक्त भूमि, रसगुणमण्डित जल, रूपगुणान्वित अग्नि, स्पर्शगुणसंयुक्त वायु और शब्दगुणविशिष्ट आकाश। ये पञ्च महाभूत सब जड़ वस्तुओंके उपादान हैं। इनके अनन्त प्रकारके संयोग और वियोगके द्वारा ही अनन्त विचित्रताओंसे पूर्ण बहिर्जगत् बना हुआ है। हमारा शरीर भी पञ्चभूतसे निर्मित हुआ है और इस बहिर्जगत्‌के ही अन्तर्भुक्त है। कहना न होगा कि ये पञ्चभूत या जगत्‌के उपादान पाँच मौलिक वस्तुएँ हमारी स्थूल इन्द्रियोंद्वारा गोचर होनेवाली मिट्टी, जल, अग्नि, हवा और शून्य नहीं हैं। इस लेखमें इनके सूक्ष्म स्वरूपके विषयमें आलोचना करना अप्रासंगिक होगा।

जिस प्रकार यह सिद्धान्त निश्चित हुआ है कि हमारी देहके सहित बहिर्जगत् पाञ्चभौतिक है, उसी तरह अन्तर्जगत्‌का भी विश्लेषण करके यह बात तै हुई है कि सब प्रकारकी चित्तवृत्तियाँ एक तत्त्वके ही नाना प्रकारके परिणाम हैं। इस तत्त्वका नाम है मन। इन वृत्तियोंको जानने, अपने अधीन करने और परिचालित करनेका अधिकार लेकर जो विचारशक्ति या निश्चयात्मिका ज्ञानशक्ति विद्यमान है, उसका नाम बुद्धि है। मन और बुद्धिके भी केन्द्रस्थलमें जो शक्ति विराजमान है, जो शक्ति मनोवृत्तियों और बुद्धिवृत्तियोंको एक सूत्रमें ग्रथित और संघबद्ध करके एकके जीवनका अंग बनाकर रखती है, जिस शक्तिके विद्यमान रहनेसे बहुत प्रकारसे विच्छिन्न वृत्तियाँ और उनके विषय 'मेरे' मालूम होते हैं, उसी केन्द्रीय शक्तिका नाम अहंकार है।

अतएव बुद्धिग्राह्य समस्त बाह्य और अन्तर्जगत् आठ मूल तात्त्विक उपादानोंमें पर्यवसित होता है—भूमि, अप्, अनल, वायु, ख (आकाश), मन, बुद्धि और अहंकार। ये भी स्वतन्त्र तत्त्व नहीं हैं। ये एक अव्यक्त सत्त्व-रजस्तमोमयी प्रकृतिसे क्रमशः अभिव्यक्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त ये सब तत्त्व—बाह्य और आन्तर सब दृश्य-पदार्थ विकारशील, परिणामी, अन्वयप्रकाश और परस्पर संश्लिष्ट होनेपर भी परस्पर भिन्न हैं। इनको प्रकाशित करनेके लिये, क्रियाशील बनानेके लिये, इनके अपने-अपने स्वभावानुसार विकार, परिणाम और क्रियाको सुनियन्त्रित करनेके लिये, इनमें परस्पर सामञ्जस्य स्थापित करते हुए इनकी अपनी-अपनी सत्ताको धारण और विकसित करनेके लिये एक निर्विकार, अपरिणामी, स्वप्रकाश चैतन्यशक्तिकी आवश्यकता है। यह चैतन्य सबमें अनुस्यूत होनेपर भी सबसे परे है। प्राणिदेहके सम्पर्कमें यह चैतन्य भी हमारे अनुभवमें आता है। यदि यह चैतन्य न होता तो जड़ प्रकाशित ही नहीं होता, जगत्‌का विकास ही न होता, विश्वप्रपञ्चकी स्थिति ही न होती। अतएव इस चैतन्यरूप निमित्तकारण और पूर्वोक्त आठ प्रकारके उपादान-कारणके द्वारा विश्वकी रचना, स्थिति और गति होती है।

अब, इस विश्वके साथ सम्बन्धित भगवान्‌के स्वरूप निश्चित करनेकी आवश्यकता है। भगवान् श्रीकृष्णने गीताके सातवें अध्यायमें अपने स्वरूपका परिचय देते समय ठीक यही किया। उन्होंने कहा—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

भूमि, अप्, अनल, वायु और आकाश तथा मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ प्रकारके बहिर्जगत् और अन्तर्जगत्‌के उपादान मेरी ही अष्टधा विभक्त प्रकृति हैं। परन्तु यह प्रकृति अपरा है। मेरी एक और परा (श्रेष्ठ) प्रकृति है, जिसका नाम जीव या चैतन्य है और जिसके द्वारा यह जगत् धृत-से रहा हुआ है।

जीव और जगत्—चेतन और जड़—निर्विकार सत्ता और विकारशील सत्ता दोनोंको भगवान्‌ने अपनी प्रकृतिसे उत्पन्न बतलाया। जिसके द्वारा कोई अपनेको प्रकारयुक्त, बहुधा प्रकटित, विचित्ररूपमें विकसित करता है, वही उसकी प्रकृति है। द्विविधा प्रकृतिके द्वारा भगवान्‌ने अपनेको विश्वरूपमें प्रकट किया है। प्रकृति प्रकृतिमान्‌से भिन्न नहीं है। प्रकृतिकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। प्रकृतिवालेकी सत्तासे ही प्रकृतिकी सत्ता है। प्रकृतिके जितने कार्य हैं, वे सब वास्तवमें प्रकृतिमान्‌के कार्य हैं। ऐसा होनेपर प्रकृतिके कार्योंके द्वारा उनके स्वरूपमें कोई विकृति नहीं होती। प्रकृति और उसके कार्यको अतिक्रम

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

करके वह स्व-स्वरूपमें विराजमान रहते हैं। जीवको अपनी परा या श्रेष्ठा प्रकृति और बाह्यान्तर समग्र विश्वके उपादान-कारणोंको अपनी अपरा या बहिरंगा प्रकृतिका विकार बतलाकर भगवान् श्रीकृष्णने अपना यह परिचय प्रदान किया कि यह दिक्कालान्तप्रसारित अनन्त वैचित्र्यमय चेतनाचेतनात्मक विश्वभुवन उन्हींसे अभिव्यक्त हुआ है और उनसे स्वरूपतः अभिन्न है, परन्तु वह इन सबको अतिक्रम करके भी अपनी महिमाके अंदर नित्य विराजमान हैं। वह सर्वमय और सर्वातीत हैं।

अगले श्लोकोंमें उन्होंने इसी तथ्यका कवित्वपूर्ण भाषामें विस्तार किया है। कहते हैं—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥
मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥

मैं समग्र जगत्‌की उत्पत्ति और प्रलयका स्थान हूँ, मुझसे भिन्न कुछ नहीं है, (एक) सूतमें गुँथी हुई हारकी मणियोंके समान सब मुझमें गुँथे हुए हैं। उन्होंने और कहा—किसी वस्तुका जो कुछ सार है—जिसपर किसी वस्तुका अस्तित्व और विकास अवलम्बित है—उस वस्तुका वह अंश मैं हूँ। मैं जलमें रसरूपसे, चन्द्र-सूर्यमें प्रभारूपसे, सब वेदोंमें प्रणवरूपसे, मनुष्यके अंदर पौरुषरूपसे विद्यमान हूँ; मैं पृथ्वीकी पुण्यगन्ध, अग्निका तेज, जीवका जीवन, तपस्वीकी तपस्या हूँ; मैं बुद्धिमान्‌की बुद्धि, तेजस्वीका तेज, बलवान्‌का बल, मैथुनोत्पन्न प्राणिजगत्‌में धर्माविरुद्ध काम हूँ। सात्त्विक, राजसिक, तामसिक जितने भाव या पदार्थ हैं, सब मुझसे उत्पन्न हुए हैं और मुझमें स्थित हैं। किन्तु मैं उनमें नहीं हूँ। 'न त्वहं तेषु ते मयि।' अनेक जन्म-जन्मान्तरोंकी साधनासे मनुष्य मुझे पहचान सकता है और उस समय समझ जाता है कि 'वासुदेवः सर्वमिति।'

सांख्यदर्शन भारतका एक प्रधान प्रामाणिक विचार-शास्त्र है। इस दर्शनके अनुसार समस्त अस्तित्व दो मूल-तत्त्वोंमें पर्यवसित है—पुरुष और प्रकृति। पुरुष निर्विकार, निष्क्रिय, त्रिगुणातीत और चित्स्वरूप है। प्रकृति विकारशीला, परिणामिनी, सक्रिया और सत्त्वरजस्तमो-गुणमयी है। पुरुष और प्रकृति पूर्णरूपसे विपरीत धर्मवाली दो पृथक् वस्तुएँ होनेपर भी उनके अविवेककृत संयोगके फलस्वरूप अनन्त विचित्र गुणक्रियादिसे युक्त व्यक्त जगत्‌की उत्पत्ति हुई है। उनमें त्रिगुणात्मिका प्रकृति मूल उपादानकारण है, उसीके परिणामसे अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्‌के यावत् पदार्थोंकी अभिव्यक्ति हुई है। परन्तु पुरुषके संयोगके बिना प्रकृतिका परिणाम नहीं होता, अतएव जगत्‌की भी सृष्टि नहीं होती। व्यक्त जगत्‌में प्रकृतिका धर्म पुरुषपर आरोपित होता है। पुरुषका धर्म भी प्रकृतिपर आरोपित होता है। वास्तवमें ये दोनों पूर्णतः पृथक् हैं। उनका संयोग क्यों और किस प्रकार होता है, यह भी निश्चित नहीं किया जा सकता। उनका अविवेकमूलक संयोग अनादि कालसे है, तत्त्व-विचारके द्वारा उनके विवेक या पार्थक्यका अनुभव होनेपर संयोग भङ्ग होता है। परन्तु उससे जगत्‌का ध्वंस नहीं होता। जिस व्यक्तिविशेषके विचारसे इस विवेककी अनुभूति होती है, उसीके लिये जगत् नहीं रहता, वही पुरुष प्रकृतिके साथ सम्बन्धविहीन होनेके कारण अपने नित्ययुक्त स्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है। इसलिये पुरुष अनेक हैं, ऐसा स्वीकार करना पड़ता है। यही सांख्यका सिद्धान्त है। पुरुष और प्रकृतिसे अतीत किसी तत्त्वको यह स्वीकार नहीं करता।

सांख्यकी 'हाँ' गीतामें मोटेरूपमें स्वीकृत की गयी है, परन्तु उनकी 'ना' को स्वीकार नहीं किया गया है। समस्त जगत्‌के मूलमें प्रकृति-पुरुष तत्त्व है, इसे गीताने अस्वीकार नहीं किया है। विश्व-ब्रह्माण्डके अंदर इनके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यह ठीक है। परन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि इनके अतिरिक्त कोई तत्त्व है ही नहीं या ये ही चरमतत्त्व हैं। ये दो तत्त्व मूलतः पूर्णरूपसे पृथक् हैं—एकदम सम्पर्कहीन हैं—यह गीता स्वीकार नहीं करती। गीतामें श्रीकृष्णने घोषणा की कि पुरुषतत्त्व और प्रकृतितत्त्वके परे एक परमतत्त्व हैं और ये दोनों तत्त्व उन्हींकी मानो दो मूर्तियाँ हैं, द्विविध विकास हैं। उनका अचिन्त्य स्वरूप परस्पर संयुक्त पुरुष और प्रकृतिके रूपमें अपनेको बहुधा व्यक्त करता है। अतएव पुरुष भी उनकी प्रकृति है और प्रकृति भी उनकी प्रकृति है; भगवान्‌के सम्पर्कमें दोनों उनकी प्रकृति या शक्ति या आत्मविकासके क्षेत्र हैं। पुरुष और प्रकृतिके बीच जो अनादि अविवेकमूलक सम्बन्ध है, उसके भी समीचीन हेतुका निश्चय इसके द्वारा हो जाता है। पुरुषको या जीवको पराप्रकृति कहा गया है, क्योंकि

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भगवान्‌का अक्षरभाव, उनका निर्विकार, असंग, प्रकाशशील चित्स्वभाव इसमें सुरक्षित है, यद्यपि पूर्णरूपसे प्रकट नहीं हुआ है; परन्तु जड़ा अपरा प्रकृतिमें वह पूर्णरूपसे आवृत है। पुरुष या जीवको अन्यत्र भगवान्‌का अंश कहा गया है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

नित्य परिवर्तनशील, असंख्य शक्तियों और पदार्थोंके संयोग-वियोगसे युक्त यह प्राकृत जगत् उसी भगवदंशरूप चैतन्यकी सत्ता और शक्तिद्वारा विधृत है। अतएव सांख्योक्त पुरुष या प्रकाशरूपा चैतन्यशक्ति या भगवान्‌की अंशरूपा अपरिणामिनी परा प्रकृति जगत्‌का निमित्त कारण है और सांख्योक्त प्रकृति या आवरण-विक्षेपात्मिका परिणामिनी मायाशक्ति अथवा भगवान्‌की अपराप्रकृति जगत्‌का उपादान कारण है। भगवान्‌ने इन दोनोंके रूपमें अपनेको व्यक्त करके जगत्‌की सृष्टि की है और इन दोनोंके परे अपने अखण्ड सच्चिदानन्द स्वरूपमें विराजमान हैं। जीव-जगत्‌में अभिव्यक्त और जीव-जगत्‌से अतीत यह चरम परमतत्त्व भगवान् ही गीताके उपदेष्टा स्वयं श्रीकृष्ण हैं, वह कोई व्यक्तिविशेष या अवतारविशेष नहीं हैं। 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'

सातवें अध्यायके अन्तमें और आठवें अध्यायमें भगवान्‌ने दूसरे ढंगसे भी अपने सर्वमयत्व, सर्वातीतत्व और सर्वोत्कृष्टत्वको सूचित किया है। लोकसमाज और जगत्‌के चरम तत्त्व तथा मनुष्यके आराध्यके सम्बन्धमें अनेक प्रकारके मतवाद प्रचलित हैं। ब्रह्मवादी कहते हैं कि सब कारणोंके कारण, सब प्रकारकी उपाधियोंसे रहित, नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, सत्यस्वरूप, चित्स्वरूप, आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व हैं और सब कुछ छोड़कर उनके स्वरूपको जानना ही परम पुरुषार्थ है। अध्यात्मवादी आत्मानात्माके विचारके द्वारा स्थूल-सूक्ष्म-कारण-शरीर-विहीन अक्षर आत्माकी ही एकमात्र तत्त्वके रूपमें उपलब्धि करते हैं। कर्मवादी कहते हैं कि कर्म ही जगत्‌का मूलतत्त्व है, कर्मके द्वारा ही सब नियन्त्रित होता है, यज्ञरूप कर्मका सुचारुरूपसे सम्पादन करनेसे ही जीवन सार्थक होता है तथा सब प्रकारके अनभीष्टसे मुक्ति प्राप्त होती है। आधिभौतिक लोग समझते हैं कि चैतन्य जड़का एक धर्ममात्र है, जड़ ही वस्तु है, जड़ जगत्‌के अतिरिक्त चित्सत्ताका कोई प्रमाण नहीं है, इसलिये जगत्‌की उन्नति करना, शरीरका उत्कर्ष सिद्ध करना, भोगैश्वर्यका विराट् आयोजन करना इत्यादि मनुष्यका कर्तव्य है। आधिदैविक लोग समझते हैं कि जड़ जगत्‌की आड़में अधिष्ठात्री देवता हैं, वे ही जगत्‌के विभिन्न विभागोंके नियन्ता हैं, मन, बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियोंके अनुग्राहक कर्मनियन्ता और भोगविधाता हैं तथा उन्हींको उपासना और यज्ञ-यागादिके द्वारा संतुष्ट करनेकी आवश्यकता है। उन सबमें सूक्ष्मदर्शी यह अनुभव करते हैं कि समग्र विश्व-ब्रह्माण्डके अभिमानी एक परम देवता हैं; उन्हें हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा, नारायण इत्यादि विभिन्न नामोंसे विभिन्न सम्प्रदायके लोग पुकारते हैं। याज्ञिक यज्ञ-सम्पादनको ही प्रधान धर्म मानते हैं, परन्तु वे यज्ञके अधिष्ठात्री देवताओंका अस्तित्व स्वीकार करते हैं और भिन्न-भिन्न प्रकारके यज्ञोंद्वारा वे उन-उन यज्ञोंके अधीश्वर देवताओंकी आराधना करते हैं। कोई-कोई सर्वोपरि एक परमेश्वरके विषयमें अवगत होनेपर भी भिन्न-भिन्न उद्देश्योंकी सिद्धिके लिये विभिन्न देवताओंका विहित नियमोंके अनुसार भजन करना आवश्यक समझते हैं। इस प्रकार नानाप्रकारके मत-मतान्तर प्रचलित हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने आत्मपरिचयके प्रसंगमें इन सब मतोंका समन्वय किया। उन्होंने बतलाया कि कोई चाहे जिस देवताकी पूजा क्यों न करे, वास्तवमें वह अनजानमें परोक्षरूपमें उसी एक मुझ परमेश्वरकी पूजा करता है, क्योंकि सब देवता मेरी ही विभूति हैं; उन सब देवमूर्त्तियोंमें लोगोंको श्रद्धा भी मैं ही दिया करता हूँ और उन सब मूर्त्तियोंके द्वारा लोगोंको अभीष्ट फल भी मैं ही प्रदान किया करता हूँ—

लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्।

परन्तु वे मायामोहित हैं और मैं 'योगमायासमावृत' हूँ, इसी कारण वे सर्वत्र विराजमान मुझ भगवान्‌को नहीं देख पाते और न जान ही पाते हैं—

मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।

वे जो फल प्राप्त करते हैं, वह थोड़े समयतक ठहरनेवाला होता है। परन्तु जो लोग गुरुकृपासे मेरा पता पा जाते हैं और एकनिष्ठ होकर मेरा भजन करते हैं, वे अनन्त फल प्राप्त करते हैं या अनन्त फलके घनीभूत विग्रहरूप

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

स्वयं मुझको ही प्राप्त होते हैं। यज्ञ, दान, तपस्याप्रभृति शुभ कर्मोंके द्वारा जिनके पाप नष्ट हो जाते हैं, राग-द्वेष आदि द्वन्द्व तिरोहित हो जाते हैं, ज्ञान-दृष्टि खुल जाती है। तुच्छ विषयवासना और अज्ञानताका प्रभाव नष्ट हो जाता है, उन्हींके सामने सर्वान्तर्यामी, सब जीवोंके सुहृद्, एक, अद्वितीय भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप प्रकट होता है और वे ही दृढ़व्रत होकर श्रीकृष्णके भजनमें अपनेको लगा देते हैं। इस प्रकार श्रीकृष्णतत्त्वको जानकर जन्म-जरा-मृत्यु आदि दुःखोंसे आत्यन्तिक मुक्ति प्राप्त करनेके उद्देश्यसे द्वन्द्व-मोह-विमुक्त होकर जो लोग अनन्य मनसे आत्मसमर्पण करते हुए भगवान् श्रीकृष्णकी आराधना करते हैं, वे ब्रह्म, अध्यात्म और कर्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ, सबको सम्यक् रूपसे जान जाते हैं, वे इन सबकी उपलब्धि उन्हीं पूर्ण भगवान्‌के विभिन्न भावके प्रकाशके रूपमें करते हैं, वे उनकी प्राप्तिके अन्तर्गत उन सबके सब प्रकारके पुरुषार्थको पूर्ण सार्थकताके साथ वर्तमान देखते हैं। मृत्युकालमें जब विचारशक्ति एकदम दुर्बल हो जाती है, उस समय भी तद्भावभावित होने, अपने स्वभावके परिणत होनेके कारण वे अचला भक्तिके साथ उनमें चित्त विलीन करके परमा गतिको प्राप्त होते हैं। ब्रह्म उन्हीं भगवान्‌के परम अक्षर भाव हैं, जिनसे व्यक्त जगत्‌के समस्त क्षर और अक्षर भाव उत्पन्न हुए हैं। इस जगत्‌में ब्रह्मका जो स्वभाव या अक्षर-भाव है, भगवान्‌की अपरा प्रकृतिके साथ संलग्न अथ च निर्विकार जो परा प्रकृति है, जीवात्मा-रूपमें जडके अन्दर जो ब्रह्म अनुस्यूत है वही अध्यात्म है। उनकी अपरा प्रकृति और उसके परिणामसे उत्पन्न समस्त भूतरूप जो उनका क्षरभाव है, वही अधिभूत है। भूत-समूहका उद्भव और अभ्युदय जिस विसर्ग या यज्ञसे होता है, जो यज्ञ सृष्टि-स्थितिका आधार है, जिस यज्ञका मूल ऋग्वेदके पुरुषसूक्तमें वर्णित सर्वहुत यज्ञमें है—जिससे विचित्र सृष्टि उत्पन्न हुई है और जिसके आदर्शसे जगत्‌में यज्ञ ही धर्मरूपमें प्रवर्त्तित हुआ है—वह विसर्ग या यज्ञ ही यथार्थमें कर्मशब्दवाच्य है तथा वह भगवान्‌का एक विशेष विकास है। पुरुषसूक्तोक्त वह विराट् ब्रह्माण्डाभिमानी पुरुष ही अधिदैवत है, प्रत्येक देवता उनके एक-एक अंग हैं, चेतनाचेतनात्मक निखिल ब्रह्माण्डके वह प्राणपुरुष हैं। भगवान्‌की यह पुरुषभावकी अभिव्यक्ति ही अधिदैवत है। भगवान् ही सब यज्ञोंके भोक्ता और प्रभु हैं, इस कारण वही अधियज्ञ हैं एवं वह दूर नहीं हैं, इस देहमें ही अन्तर्यामीके रूपमें विराजमान हैं।

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर॥

उनको जान लेनेसे ही सब कुछ मालूम हो जाता है, उनकी आराधना करनेसे ही सब-के-सब देवताओंकी आराधना पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित हो जाती है। उनको प्राप्त कर लेनेसे ही परा गति प्राप्त होती है, सब उद्देश्य सिद्ध हो जाते हैं। श्रीकृष्णतत्त्वके अंदर सब तत्त्व अनुस्यूत हैं।

साक्षात् उन्हींका भजन करनेका और भी विशेष फल यह है कि उनके विशेष भावकी अभिव्यक्तिरूप जो कुछ भी और है सो सब कालाधीन है, 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः' सभी पुनरावर्तनशील हैं, एकमात्र वही कालातीत हैं, उनको प्राप्त करनेपर ही फिर पुनरावर्त्तनके अधीन नहीं होना पड़ता। श्रीकृष्णतत्त्वको सम्यक्‌रूपसे जानकर उनकी उपासना करनेसे सब उपासना उसीके अन्तर्भुक्त हो जाती है, सब उपासनाओंका फल उसीमें अन्तर्निहित रहता है और सबसे बड़ी बात यह है कि उपासक कालके प्रभावको लाँघकर नित्य वैकुण्ठधाममें प्रतिष्ठित हो जाता है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

ईश्वरविषयक चार प्रश्न

(लेखक—श्रीरामदासजी गौड़ एम० ए०)

१-ईश्वरको क्यों मानना चाहिये ?

(१) क्योंकि इसीमें मनुष्यता है ।

मनुष्य-योनिके धर्म और कर्त्तव्य इतर योनियोंसे भिन्न हैं। मनुष्य आग बनाता है, भोजन पकाता है, भोजनकी सामग्री उपजाता है, कपड़े बनाता है और पहनता है, पशुओंसे हर तरहकी सहायता और काम लेता है, घर बनाकर उसमें रहता है, फिर बस्तियोंका निर्माण करता है, समाजका संगठन करता है, समूहोंका नियमन, शासन और न्याय करता है। ये सभी काम वह पशुओंसे भिन्न करता है। पशु इनमेंसे एक भी नहीं करता। वह जैसे समाजके धर्मों और कर्तव्योंतक विकास किये हुए है उसी तरह लिखना-पढ़ना, यजन-याजन, वेदाध्ययन भी वह करता है जो पशु नहीं करता। इसी तरह वह परलोकका विचार और अपनी भावी सद्गतिके लिये भी चिन्ता करता है। अब जो दोनों लोकोंका नियमन और स्वामित्व करता है उसे मानना और जानना भी मनुष्यताका एक लक्षण हुआ। कोई पशु न तो पढ़ता-लिखता है, न यजन-याजन करता है और न ईश्वरको जानता-मानता है। इसीलिये कि हम मनुष्य हैं, हमें ईश्वरको मानना चाहिये।

परन्तु इसपर यह कहा जा सकता है कि कपड़े पहनने, खाना पकाने आदिकी तो आवश्यकता है। बिना इनके हमारा जीवन नहीं चल सकता। परन्तु पढ़ना-लिखना, यजन-याजन, परलोकका विचार, ईश्वरको मानना यह हमारे जीवनके लिये अनिवार्य नहीं है। बहुतसे मनुष्य इनके बिना भी जीते हैं। इसका उत्तर यह है कि मनुष्य बिना पकाये और बिना कपड़ा पहने भी उसी तरह जी सकता है जैसे पशु, परन्तु उसने जैसे पकाना-खाना, पहनना और घरोंमें रहना अपने लिये आवश्यक बना लिया है, वैसे ही पढ़ना-लिखना, यजन-याजन, ईश्वरोपासना आदिको भी मानसिक और आध्यात्मिक भोजनाच्छादन बना लिया है और इनके बिना भी उसका काम नहीं चल सकता या कम-से-कम इनके बिना उससे रहा नहीं जाता। इस तरह सहज मानवविकासके कारण उसे ईश्वरको भी मानना पड़ता है, चाहे वह उसे किसी नाम या किसी रूपसे माने।

यह कह सकते हैं कि नास्तिक या अनीश्वरवादी तो ईश्वरको नहीं मानता।

यह तो सच है कि वह ईश्वर नामक किसी विभु या प्रभुकी सत्ता नहीं मानता। परन्तु वह सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, बड़प्पन, तेज, शक्ति आदिको अलग-अलग अवश्य मानता है, और ईश्वरवादी जानते हैं कि यह सभी गुण या धर्म ईश्वरके ही हैं। जो सत्य आदिको मानता है वह वास्तवमें ईश्वरके ही विविध अंगोंको मानता है। यह सच है कि वह पान-फूल लेकर इनकी पूजा नहीं करता, परन्तु वह तो अपने अच्छे आचरणोंसे ही इनकी अर्चा करता है। ईश्वर तो 'स्वकर्मणा' ही अपनी अर्चा चाहता भी है। पान-फूल तो आवश्यक नहीं है। और निकम्मे आचरणवाले तो अनीश्वरवादी और ईश्वरवादी बराबर ही हैं, क्योंकि ईश्वरवादित्व तो अनाचार और दुराचारका विरोधी है।

अतः तथोक्त अनीश्वरवादी भी जो सदाचारको मानता है, ईश्वरको सदाचारके रूपमें मानता ही है। और सदाचारको मानना मनुष्यताका एक विशेष लक्षण है।

(२) क्योंकि विकासतः माने बिना रह नहीं सकता ।

आहार, निद्रा, भय, मैथुनादिमें मनुष्य और पशुमें कोई अन्तर नहीं है। विकासमार्गमें मनुष्य पशुओंसे ऊँचा उठता है और देवत्वकी स्पर्धा करता है। उसके आचार, उच्चार और विचारमें जितनी ही उच्चता आती है उतना ही वह मनुष्यताकी ओर बढ़ा समझा जाता है। अपना होना और अपने सजातीयोंका होना तो पशु भी जानता और मानता है। उन विजातीयोंको भी मानता है जिनका अस्तित्व वह अपनी इन्द्रियोंसे अनुभव करता है। उसकी बाहरी इन्द्रियोंका विकास तो बहुत कुछ हुआ है परन्तु भीतरी इन्द्रियाँ अर्थात् अन्तःकरण अभी विकसित नहीं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हुए हैं। मनुष्यके अन्तःकरणोंका विकास हुआ है। वह उनका पूरा-पूरा व्यवहार करनेका अभ्यास करता है। वह बाह्य इन्द्रियोंसे अतीत वस्तुओंको जानता और मानता है। उनकी खोज करता है। वह इसी खोजमें अनेक शक्तियोंका परिचय पाता है जो बाह्यकरणोंसे अगोचर हैं। इसी मार्गसे चलते हुए वह ऐसे शक्तिमान्‌का अनुमान करता है जिसमें प्रभुत्व सम्भव है। वह अनेक ऐसे अनुभव करता है जिनका कारण नहीं जान सकता, फिर भी अनुमान करता है, परन्तु कारणोंके परम कारणको वह मनसे भी अतीत पाता है, उसे वह ईश्वर या अन्य किसी नामसे मानने लगता है। मनुष्यके विकासमार्गमें यह आवश्यक और अनिवार्य अवस्था है। इस अवस्थाको अनीश्वरवादी चाहे भूल भले ही कहें, परन्तु इस अवस्थाका आना अनिवार्य है। ऐसी दशामें वह बरबस ईश्वरको किसी-न-किसी रूपमें मानता है। 'चाहिये' वाला नैतिक प्रश्न उसके लिये नहीं रह जाता, वह तो मायाके चक्करमें पड़कर लाचार हो मानता ही है।

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

संसारमें ईश्वरके माननेवालोंकी बहुत भारी संख्या है। अनीश्वरवादी तो संख्यामें अत्यन्त कम हैं। वैज्ञानिक देखता है कि मानवसमाजमें ईश्वरवाद एक महान् तथ्य है और विकासमार्गमें आगे बढ़े हुए मीलके पत्थरोंमेंसे है।

(३) क्योंकि रक्षार्थ उसे मानना पड़ता है।

ईश्वरको माननेका एक जीववैज्ञानिक प्राकृतिक कारण भी है। सृष्टिमात्रमें योग्यतमावशेषका नियम चलता है। बलवान् कम बलवालेका नाश कर देता है। अतः प्राणिमात्र अपने शत्रुओंसे घिरा हुआ है। मनुष्य भी इसी प्राकृतिक नियमका अनुवर्त्ती है। इसीलिये प्राणिमात्रमें भयका भाव व्यापक है। शत्रुसे भय या अपनी हानिका भय प्राणिमात्रके मनमें होता है। इसी भावके कारण जीव अपनी रक्षाका निरन्तर ध्यान रखता है। छुटपनमें शिशुकी रक्षा माता-पिता करते हैं। बड़े होनेपर यद्यपि वह आत्म-रक्षामें समर्थ होता है तथापि माता-पिताके जीते जी बड़ा सहारा रहता है। माता-पिताके होते और मरे पीछे भी, अनेक अवसर ऐसे आते हैं कि जान जोखिममें पड़ जाती है और उबरनेका कोई उपाय नहीं दीखता। प्राणी घबराकर अदृश्य रक्षकका सहारा ढूँढ़ता है। वह बहुत चाहता है कि संकटसे कोई उबारे। ऐसी दशामें वह किसी विभु-प्रभुकी याद करता है। यह साधारण अनुभव भी है कि या तो कोई अदृश्य शक्ति सहायता कर देती है अथवा आत्मबल ही प्रस्फुटित होकर रक्षा कर देता है। भयभीत हो अदृश्य शक्तिकी सहायताकी इच्छा ही ईश्वरकी सत्ताको मनवाती है। आत्मरक्षाके लिये व्यक्ति, और जाति और समाजरक्षाके लिये जाति और समाज, इसीलिये ईश्वरको मनाते और मानते हैं। यह दुर्बलता स्वाभाविक है, इससे अत्यन्त विकसित हृदय और मस्तिष्कवाला मनुष्य भी बचा नहीं है। इस दुर्बलताके कारण ईश्वरका मानना स्वाभाविक है, अतः मानना ही चाहिये। न मानेगा तो—

कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

(४) क्योंकि नीतिरक्षाके लिये उसका मानना लाभकर है।

ईश्वरको जो मानता है वह उसे शक्तिमान्, न्यायी, और सर्वज्ञ जरूर मानता है। वह सर्वज्ञ है, अतः हम यदि दुराचार करें या अनाचार करें तो वह अवश्य जान जायगा और वह शक्तिमान् और न्यायी है अतः दण्ड भी जरूर देगा। यह भावना जो ईश्वरवादीके मनमें दृढ़ रहती है उसकी अनेक अनीतियोंसे रक्षा करती है। एकान्तमें या किसीके न जानते हुए, अनेक पाप हो सकते हैं। परन्तु जिसका ईश्वरमें सच्चा और पक्का विश्वास है वह एकान्तमें भी ईश्वरकी विद्यमानताका अनुभव करता है और मनुष्यके न जानते हुए भी ईश्वरका जानते रहना निश्चित समझता है। इसीलिये उसके शरीरसे कहीं भी हो पाप नहीं हो पाता और अगर किसी दुर्बलतासे हो भी जाता है तो उसका उसके मनमें सच्चा पछतावा हुआ करता है। इससे फलतः अनीति या दुर्नीति कर बैठनेपर भी उसके मनका कलुष धुल जाता है।

परन्तु ईश्वरके इस दरजेके विश्वासी कम ही होते हैं। अधिकांश तो ईश्वरके विश्वासका दम भरते हैं, परन्तु उनके मनमें विश्वास होता नहीं। ऐसे लोग एकान्तमें दुर्नीतिसे नहीं बच सकते। वह ईश्वरके न्यायमें और शक्तिमत्तामें तो शायद विश्वास करते हैं परन्तु सर्वज्ञतामें उन्हें विश्वास नहीं होता। फलतः जब ईश्वरके नामसे शपथ लेनी पड़ती है तो वे हिचकते हैं और झूठी शपथ नहीं खा सकते। परन्तु जो ईश्वरकी सत्तामें ही भीतर-भीतर विश्वास नहीं

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

करते वे ईश्वरके माननेवाले बनते हुए भी किसी कदाचारसे नहीं हिचकते। उनकी ईश्वरवादिता भी खासा दम्भ ही है।

इससे यह स्पष्ट है कि ईश्वरके भयसे मनुष्य नीति-मार्गपर आरूढ़ रहता है, इसीलिये नीतिमार्गकी रक्षाके लिये ईश्वरको अवश्य मानना चाहिये।

(५) क्योंकि जीवकी उन्नति ईश्वरके माननेसे निश्चित है।

हम दो प्रकारके ईश्वरवादियोंका अभी उल्लेख कर चुके हैं; एक तो सच्चे दूसरे दम्भी। सच्चे ईश्वरवादीको हमने ईश्वरसे डरनेवाला दिखाया है। परन्तु एक और प्रकारके सच्चे ईश्वरवादी होते हैं। इन्हें हम भक्त कहेंगे। गीता और रामचरितमानसमें ये चार तरहके बताये गये हैं और भक्तमालमें रसों और भावोंकी दृष्टिसे पाँच प्रकारके। आर्त्त भक्त संकटसे उद्धार चाहता है, जिज्ञासु ज्ञान चाहता है, अर्थार्थी किसी कामनाकी पूर्ति चाहता है, ज्ञानी केवल प्रेमसान्निध्य या मुक्ति चाहता है। इन चारोंमेंसे एक भी ईश्वरके भयसे, पापसे विरत नहीं होते, वरं उसकी प्रीतिके कारण कदाचारसे बचते रहते हैं। भक्तमालके पाँचों प्रकारोंमें एक बात अवश्य पायी जाती है, वह है, भगवद्गुणोंका अनुकरण। अतः ईश्वरके भक्तोंमें दो तत्त्व मुख्य हैं, एक तो भगवत्से प्रेम और दूसरे उसके गुणोंका अनुकरण। श्रद्धा-भक्ति-प्रेम-अनुकरण साथ-ही-साथ चलते हैं। ये मनुष्यको केवल आचारमें ही नहीं बल्कि जीवकी आध्यात्मिक उन्नतिमें ऊँचा उठाते हैं। ईश्वरका आदर्श इस प्रकार मनुष्यकी भीतरी उन्नतिका विधायक है, और भीतरी उन्नति होनेसे बाहरी उन्नति अपने-आप होती रहती है। उन्नति सभी चाहते हैं और सबको होनी चाहिये इसीलिये सबको सच्चे मनसे ईश्वरको मानना चाहिये और उसकी भक्ति करनी चाहिये।

इस प्रकार (१) मनुष्यताके लिये, (२) स्वाभाविकताके लिये, (३) अपनी रक्षाके लिये, (४) नीति-रक्षाके लिये और (५) आध्यात्मिक उन्नतिके लिये, इन पाँचों उद्देश्योंके लिये ईश्वरको मानना चाहिये।

२-ईश्वरको न माननेमें कौन-कौन-सी हानियाँ हैं?

जब हम इस प्रश्नका कि, 'ईश्वरको क्यों मानना चाहिये' उत्तर दे चुके तब इस दूसरे प्रश्नका उत्तर सरल हो गया। यदि मनुष्य ईश्वरको न माने तो उसका अर्थ यह है कि वह आत्माको एवं गुणोंके आदर्शको भी नहीं मानता, जो किसी पुरुषमें इकट्ठे हो सकते हैं और वह आध्यात्मिक भोजनाच्छादन भी नहीं चाहता। दूसरे शब्दोंमें वह मनुष्यताके उस दरजेपर पहुँचनेसे इनकार करता है जिसे आध्यात्मिकता कहते हैं। वह आहार, निद्रा, भय, मैथुनमें लिप्त पशु-मनुष्य रहना चाहता है। इसपर यह कहा जा सकता है कि वह तुम्हारी तरह आध्यात्मिकताके आदर्शको ऊँची अवस्था नहीं मानता। परन्तु मनका विश्वास भी वैज्ञानिकोंने विकासकी ऊँचाईका लक्षण माना है। और ईश्वर या परलोक या आत्मा एवं सदाचारका आदर्श जीवन इत्यादिका मानना-जानना मनके ऊँचे विकासपर ही निर्भर है। अतः वह आध्यात्मिकताके आदर्शको ऊँची अवस्था न भी माने तब भी मनोविकासमार्गमें उसकी गति तो रुक ही जाती है। इस तरह अपनी अनीश्वरवादित्वमें मनुष्यताकी हानि है और स्वाभाविकताका विरोध है।

संकटके समय अनीश्वरवादी भी किसी औरकी सहायता चाहता है। परन्तु जहाँ कोई सहायक नहीं है वहाँ वह निराधार रह जायगा। प्रार्थना या ईश्वरावाहनसे अपने आपेमें जो ढाढ़स, दृढ़ता और शक्ति आती है, वह अनीश्वरवादीको मयस्सर नहीं होती। यह संकटके समय उसकी भारी हानि है। आत्मरक्षा और जातिरक्षा अनीश्वरवादीको भी अपेक्षित है। अतः इन दोनों बातोंमें भी वह ईश्वरको न माननेके कारण घाटेमें ही रहता है।

अनीश्वरवादीका सदाचारी होना कठिन है। काम, क्रोध, लोभ, मान, मद, मत्सर आदि षड्विकार स्वभावसे ही सभी प्राणियोंमें हैं और मनुष्य तो इनका पुतला है। सबके सामने रहते हुए भी मनुष्य इन विकारोंके वशीभूत रहता है, फिर एकान्तमें तो उसे समाजका भी बन्धन नहीं रहता और वह खुलकर खेलता है। जिसे भगवान्का भय है उसे तो एकान्तमें भी रुकावट है। परन्तु अनीश्वरवादीको एकान्तमें तो किसीका भय नहीं। उसकी चोरीको देखनेवाला तो कोई नहीं है। उसकी नीतिशास्त्रमें समाजका एकमात्र अंकुश हो सकता है, परन्तु एकान्तका अपराध न तो समाजमें सिद्ध होगा और न वह दण्ड पावेगा। अतः वह उद्दण्ड और दुराचारी हो ही जायगा। इस तरह अनीश्वरवाद मनुष्यको अपराध करनेमें निरंकुश कर देता है और दुराचारी बना देता है।

और भक्तिका तो अनीश्वरवादीके निकट कोई प्रश्न ही नहीं है। वह उच्छृङ्खल विचारका मनुष्य अपनेसे बड़ा,

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

अपनेसे अच्छा, अपनेसे गुणवान् दूसरेको क्यों मानने लगा ? यदि माने तो वह क्रमशः ईश्वरवादित्वपर पहुँच जायगा। जैसे जैनमत ईश्वर नामसे तो किसीको नहीं मानता, [क्योंकि उसके निकट संसार अनाद्यन्त है, उसके कर्ता माननेकी आवश्यकता नहीं] परन्तु सूरि, मुनि, तीर्थंकर, अर्हत् आदि आदर्श मुक्त पुरुषोंको सदाचार और तपस्या आदिके लिये मानता ही है, जो कि वस्तुतः अनीश्वरवादित्व नहीं कहा जा सकता।

जब वह अपनेको सबसे अच्छा इत्यादि मानता है, तो वह आगे बढ़ने और अधिक समुन्नत होनेकी ओर क्यों प्रवृत्त होगा ? इस तरह अनीश्वरवादीकी उन्नति मारी जाती है।

अनीश्वरवाद गीताके अनुसार आसुरी सम्पत्ति है। आसुरी सम्पत्तिवाले लोग न तो प्रवृत्ति-निवृत्तिको जानते हैं और न उनमें पवित्रता, आचार और सत्य ही रहता है। वे कहते हैं कि जगत् अप्रतिष्ठ, असत्य, ईश्वररहित और केवल स्त्री-पुरुषके संयोगसे ही उत्पन्न है। यह केवल कामहेतुक ही है। इस प्रकारकी दृष्टिका अवलम्बन करनेवाले वे नष्टात्मा, अल्पबुद्धि, सबका अहित करनेवाले क्रूरकर्मा मनुष्य जगत्के नाशके लिये ही उत्पन्न होते हैं। वे दम्भ, मान और मदसे भरे हुए लोग कभी पूरी न होनेवाली कामनाओंका आसरा लेकर मोहवश मिथ्या सिद्धान्तोंको ग्रहण करके भ्रष्टाचारी होकर संसारमें बर्तते हैं। मौतकी शेष घड़ीतक वे अनन्त चिन्ताओंमें डूबे हुए रहते हैं और विषयभोगको ही आनन्द मानकर बस उसीमें लगे रहते हैं। सैकड़ों आशाओंकी फाँसियोंसे बँधे हुए काम-क्रोधपरायण वे लोग विषयोंकी प्राप्तिके लिये अन्यायपूर्वक धन इकट्ठा करनेकी चेष्टा करते हैं। इसी उधेड़बुनमें रहते हैं कि आज यह पाया, अब हमारा वह मनोरथ पूरा होगा। मेरे पास इतना धन है। फिर इतना और होगा। आज उस वैरीको मारा, अब दूसरोंको मारूँगा। मैं ही ईश्वर, भोगी, सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ। मैं बड़ा धनी, बड़े कुटुम्बवाला हूँ। मेरे समान दूसरा कौन है। मैं यज्ञ करूँगा, दान दूँगा, मौज करूँगा, इस प्रकारके अज्ञानसे वे मोहित रहते हैं। यों अनेक प्रकारसे भ्रमित चित्तवाले वे आसुरी सम्पदावाले लोग मोहरूप जालमें फँसे हुए विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त होकर अपवित्र नरकोंमें गिरते हैं। (गीता अ० १६ । ७ से १६)

परन्तु अनीश्वरवादी न तो गीताको मानता है और न गंदे नरकमें गिरना ही मानता है। परन्तु मानने या न माननेसे कुछ होता जाता नहीं। कर्मानुसार फल तो मिलेगा ही।

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

अतः उसकी तो भारी हानि यह है कि वह आगे बढ़नेके बदले पीछे हटता है, ऊपर उठनेके बदले निरन्तर नीचे गिरता जाता है। इस भारी हानिका कोई प्रतीकार नहीं है।

३—ईश्वरके होनेके कौन-कौनसे प्रबल प्रमाण हैं ?

(१) वैज्ञानिक कल्पनाकी सीमा

कारण और कार्यवाला तर्क तो पुराना है। सभी जानते हैं। कारण कई प्रकारके होते हैं, परन्तु मिट्टी भी वही हो, कुम्हार भी वही हो और घट भी वही हो, तो कार्य-कारण-सम्बन्धका झगड़ा नहीं रहता, 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' सब कुछ ब्रह्म ही है। फिर उसके लिये प्रमाणकी खोज ही व्यर्थ है। सत्तामात्र ईश्वर है तो उसे सिद्ध करनेका प्रश्न ही क्या ? सत्तामें व्यक्त, अव्यक्त, जड़ और चेतन चारों प्रकारोंकी सत्ताओंका सन्निवेश है। जिस प्रकार हम आत्मा-मनस् और इन्द्रियोंसे बने हुए सम्पूर्ण व्यक्तिको ही देवदत्त नामका एक पुरुष मानते हैं, उसी तरह व्यक्ताव्यक्त जड़चेतनमय सम्पूर्ण विश्व और विश्वात्माकी कल्पना करके इस सम्पूर्ण सत्ताको ही ईश्वर नामका एक पुरुष मानते हैं। अनीश्वरवादी विश्वात्माको नहीं मानता, परन्तु वह विज्ञानके एकतावाले निष्कर्षपर तो अन्तको पहुँचता ही है, चाहे उसे वह ईश्वर नाम भले ही न दे।

अखिल सत्तामें एक ही जीवनकी अभिव्यक्ति आचार्य वसुने जो प्रमाणित किया है वह जीववैज्ञानिक विचारकी पराकाष्ठा है।

अखिल सत्तामें एक ही जीवनकी अभिव्यक्ति आचार्य टामसनने जो प्रमाणित किया है वह भौतिक-विज्ञानके विचारकी पराकाष्ठा है।

अखिल सत्तामें एक ही सत्ताकी अभिव्यक्ति जो रासायनिक खोजोंका अन्त है वह रसायनविज्ञानके विचारकी पराकाष्ठा है।

अखिल सत्ता अनादि, अनन्त और निरन्तर परिवर्तनशील, अनन्त देश और अनन्त कालमय है, ज्योतिर्विज्ञानका यह अन्तिम निष्कर्ष और महतो महीयान्का स्वरूप है।

अखिल सत्तामें सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवन और सत्ता है जो अणुवीक्षकसे भी अभेद्य और अगोचर है जो अणोरणीयान्का दूरसे पता देता है, यह जीवाणुविज्ञानसे सिद्ध है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जीवविज्ञान, भौतिक विज्ञान, रसायनविज्ञान, ज्योतिर्विज्ञान और जीवाणुविज्ञान, ये क्रमशः जीव, शक्ति और सत्ताकी एकता प्रतिपादित करते हैं और 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' को व्यक्त करते हैं। एक विज्ञानकी ये पाँच शाखाएँ हैं। इनका मूल 'विज्ञान' है जहाँ पाँचों एकत्र होते हैं और जिनके अलग-अलग निष्कर्षोंको एकत्र करनेसे दार्शनिकोंके ईश्वरकी सिद्धि होती है। इसे अनीश्वरवादी सहजमें ही क्लिष्ट कल्पना कह सकता है, क्योंकि वह यदि चार्वाकके अनुसार प्रत्यक्षेतर प्रमाण नहीं मानता, तो वह ईश्वरको तभी मानेगा जब वह उसके लिये प्रत्यक्ष हो जाय। ईश्वर यदि देहधारी भी हो तो भी यह आवश्यक नहीं है कि वह प्रत्यक्ष हो ही जाय। प्रत्यक्षका न हो सकना सभी दशाओंमें अभावका प्रमाण नहीं है। एक चींटी हाथीके सम्पूर्ण शरीरको देख नहीं सकती। हमारे शरीरके किसी सेलको हमारे शरीरके अत्यन्त सूक्ष्मांशसे अधिक दिखायी नहीं दे सकता। यदि वह सेल प्रत्यक्षको ही माननेवाली हो तो वह कह सकती है कि नरदेह-जैसी कोई वस्तु नहीं होती। ईश्वर यदि हमारे लिये उतना ही महान् हो जितने कि हम सेलके लिये हैं, तो वह हमें कदापि दीख नहीं सकता। अतः चार्वाकानुयायीका यह कहना कि इन्द्रियातीत सत्ता मान्य नहीं है, बुद्धिके विरुद्ध है।

यह भी विचारणीय है कि हम किसीको कैसे पहचानते हैं। देवदत्तको हम देवदत्त करके इसीलिये जानते हैं कि एक मुद्दतसे हम इसी नामसे पुकारते आये हैं। उसके व्यक्तिगत गुणोंको जानते हैं। देवदत्तका शरीर बराबर बदलता रहता है। रूपान्तर होता रहता है। बाल्यावस्थाका रूप और है। युवावस्थाका और। बुढ़ापेमें उसका रूप भिन्न हो जाता है। फिर भी हम देवदत्त ही पुकारते हैं। उसके शरीरके साथ नामकी रूढ़ि है। जब वह शरीर छोड़ देता है, तब कहते हैं 'देवदत्त मर गया।' देवदत्त हम किसे कहते थे? निश्चय ही उसके उस चेतनाको कहते थे जो उक्त नामधारी शरीरमें थी, अन्यथा, यदि शरीरको कहते तो शरीरके बदलते रहनेसे नाम भी बदलता जाता। चेतना वही रही अतः नाम भी वही रहा। चेतना चली गयी, नाम भी चला गया। परन्तु चेतना हमारी स्थूल इन्द्रियोंसे अतीत है। सूक्ष्म इन्द्रियाँ उसके अस्तित्वसे परिचित थीं। नाम चेतनाका ही था। व्यक्तिभेद समझनेके लिये ही रूपकी अपेक्षा थी। अतः नामका सम्बन्ध केवल चेतनासे था, वही नामी था। आत्माको चाहे कोई मरणशील माने चाहे अमर, परन्तु व्यक्तिमें आत्मा ही नामी है। ईसाई-जगत्में फ्रांसका प्रसिद्ध दार्शनिक वाल्टेअर अनीश्वरवादी था। फिर भी वह आत्माका अस्तित्व मानता था। 'अयमात्मा ब्रह्म' यह आत्मा ब्रह्म है, इस महावाक्यके माननेवाले आत्माको ही ब्रह्म मानते हैं। आत्मा ही ईश्वर है। परन्तु जो आत्माका मृत्युके साथ विनाश मानते हैं, वह इस तरह ईश्वरका भी विनाश मानेंगे। परन्तु आत्माकी मरणान्तर अवस्थिति हजारों प्रयोगोंसे सिद्ध हो चुकी है। लंडनकी परान्वेषण-परिषद्ने एवं संसारके अनेक वैज्ञानिकोंने सिद्ध कर दिखाया है कि स्थूल शरीरके छूटनेसे व्यक्तिका नाश नहीं होता। व्यक्ति बहुत कालतक परलोकमें सूक्ष्म शरीरमें बना रहता है। जन्मान्तरके भी अनेक प्रमाण मिले हैं। अतः व्यक्तिकी या आत्माकी अमरता साधारणतया सिद्ध है। अब इस अमर आत्माको ही ब्रह्म मानें तो ईश्वर या ब्रह्मकी संख्या अनन्त हो जाती है, यह तो स्पष्ट है। दर्शनोंके इस सम्बन्धमें क्या मत हैं, यहाँ देनेकी आवश्यकता मैं नहीं समझता। मैं तो वैज्ञानिक कल्पना यहाँ रखना चाहता हूँ।

(२) 'अयमात्मा ब्रह्म' की कल्पना

हमारा शरीर असंख्य जीवित अणुओंका बना हुआ है जिन्हें 'सेल' कहते हैं। ये जीविताणु बहुत सूक्ष्म हैं, परन्तु अणुवीक्षणयन्त्रद्वारा देखे जा सकते हैं। ये भोजन करते हैं, बढ़ते हैं, एकसे अनेक होते हैं, अपना व्यक्तिगत जीवन रखते हैं, उनके व्यक्तिगत कर्तव्य हैं, उनकी अलग-अलग जातियाँ हैं। इन्हीं सेलोंसे जीवनका विकास आरम्भ होता है। इनमें जैसे और सब अवयव सूक्ष्मरूपसे हैं उसी तरह चेतनाका भी सूक्ष्म रूप है। यह सम्पूर्ण सेल-समूह इस प्रकार सूक्ष्म चेतनासमूह है जो हमारे शरीरके अविज्ञात कर्मोंका अविज्ञातरूपसे नियमन करता रहता है। इसीका बहुत विकसित रूप वह चेतना है जो सम्पूर्ण शरीराभिमानी आत्माके रूपको व्यक्त कराता है। विकासवाद इस प्रकार मानवचेतनाको चेतनाके विकासकी पराकाष्ठा समझता है। परन्तु परलोकविज्ञानसे पता चलता है कि चेतनाके विकासकी अन्तिम अवस्था मानवयोनि नहीं है। मानवयोनिसे कहीं अधिक विकसित योनियाँ भी सम्भव हैं जो हमारी इन्द्रियोंसे परे हैं। जर्मन दार्शनिक नीटशेके परमानवकी तो कल्पनामात्र है, परन्तु परान्वेषणसे तो सिद्ध

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

है कि परमानवसे भी अधिक विकासमार्गमें ऊँची श्रेणीके प्राणी मौजूद हैं, जो पता देते हैं कि चेतनाके विकासकी इति वहीं नहीं है। चेतनाके उस दरजेके विकासकी भी कल्पना हो सकती है जिसे 'इति' कह सकते हैं। यदि 'अयमात्मा ब्रह्म' वाले सूत्रके अनुसार आत्माको ब्रह्म मानें तो उस विकसित रूपको जहाँ चेतनाके विकासकी इति हो सकती है, हम 'परब्रह्म' कहें तो अनुचित न होगा। ऐसा व्यक्ति एक ही हो सकता है। शक्तिविज्ञानकी सर्वशक्तिमत्ता एक ही व्यक्तिमें सम्भव है। सम्पूर्ण सत्ताका एक मूल एक ही व्यक्तिमें सम्भव है। एक ही व्यक्ति मूलसत्तावान् सर्वशक्तिमान् परब्रह्म हो सकता है। यह अनुमान और तर्कसे परिपुष्ट कल्पना है। विज्ञान इसका समर्थन करता है।

प्रत्यक्षवादी कह सकता है कि परब्रह्मकी सत्ताका क्या प्रत्यक्षीकरण हो सकता है, क्या इन्द्रियोंद्वारा तुम उसका अनुभव करा सकते हो? उससे यह प्रश्न करना समुचित होगा कि क्या तुम इन्द्रियोंके द्वारा आत्माका अनुभव करा सकते हो। अनुभव करनेवाला कौन है? द्रष्टा कौन है? ज्ञाता कौन है? वह तो वही अहंता है न, जो अन्तरात्माका बाहरी प्रतीक है? उसी अन्तरात्माको जानना है जो स्वयं ज्ञाता है उसी अन्तरात्माको देखना है जो स्वयं द्रष्टा है, उसीका अनुभव करना है जो स्वयं अनुभव करता है। ज्ञातव्य वा द्रष्टव्य वस्तु जब ज्ञाता और द्रष्टासे भिन्न हो तभी तो जानना या देखना सम्भव है! इन्द्रियोंकी शक्तिका स्रोत तो वही है। चीमटा पकड़नेवाले हाथको ही कैसे पकड़ सकता है? अपनी आँखोंसे अपनी आँखोंका ही प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? कोई अपने ही कन्धोंपर कैसे बैठ सकता है? आत्माका जानना या देखना आत्माके ही लिये जैसे असम्भव है, परमात्माका जानना या देखना भी आत्मा या उसके हथियारोंके लिये असम्भव है, तो इसलिये कि इस विश्वशरीरमें वह सेलकी तरह इतना सूक्ष्म है और इतना छोटा अंश है कि उसकी इन्द्रियाँ परमात्माकी महतो महीयान् सत्ताको छू भी नहीं सकतीं उसके पास भी नहीं फटक सकतीं।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।

या, यदि आत्माको पूर्ण और परमात्मासे अभिन्न मानें तो अखिलात्माको जाननेका प्रयत्न आत्माके लिये असम्भव हो जाता है। एक ओरसे अणोरणीयान्, और दूसरी ओरसे महतो महीयान् प्रत्यक्ष ज्ञानका बाधक है।

(३) 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'की कल्पना

यहाँतक हमने अद्वैतेतर कल्पनापर विचार किया है। अद्वैतवादीकी एक विशेष शाखा सत्तामात्रको—जड-चेतन, व्यक्ताव्यक्त समस्त सत्ताको,—ब्रह्म कहती है, जिससे स्वयं कहनेवाला भी अलग नहीं है। अनेक अनीश्वरवादी इस पक्षको मानते हैं और कहते हैं कि सत्तामात्रको ब्रह्म मानना और प्रकृतिमात्रको मानना एक ही बात है। ईश्वरवादी इस जगत्के कर्त्ता या परम कारणको ईश्वर मानते हैं, परन्तु यह अद्वैतवादी जगत्को ही ईश्वर मानता है, उससे विलग कोई कारण नहीं मानता। कारणवादी कहता है कि हम विश्वमें प्रतिक्षण निरन्तर परिवर्तन देखते रहते हैं और इन परिवर्तनोंका कारण होता ही है, अतः यह अनुमान समीचीन है कि जगत्का कोई परम कारण अवश्य होगा। जडवादी कहता है कि प्रकृतिके नियमसे अपने-आप निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, इनका कारण स्वभाव ही है जो प्रकृतिसे अभिन्न है, अतः प्रकृति या जगत् स्वयं अपना कारण है। यदि यह जड प्रकृति ही ईश्वर है तो उसकी उपासना मूर्खता है, क्योंकि जड़को न तो उपासनाका ही पता है और न वह उपासकसे प्रसन्न होकर कोई पुरस्कार ही दे सकता है। इस तरह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के माननेवाले चेतनवादी और जड़वादी दोनों ही हैं। चेतनवादी 'तज्जलानिति शान्तमुपासीत' को भी मानता है। जडवादी नहीं मानता। कुछ भी हो, सम्पूर्ण सत्ताको ईश्वर माननेवालेको प्रमाणकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि सत्ताका जो अंश प्रत्यक्ष है उससे ही पूर्णका अनुमान हो जाता है। यह सबसे प्रबल प्रमाण है।

(४) अनुभूत ज्ञान

ईश्वरवादी सगुण और निर्गुण दो प्रकारकी ईश्वरोपासना करते हैं। सगुण उपासनाका सिद्धान्त समझमें आना अत्यन्त कठिन है परन्तु विधि अधिक सुगम है। निर्गुण उपासनाका सिद्धान्त समझमें आना कठिन नहीं है परन्तु विधि अत्यन्त कठिन है। निर्गुण उपासक भी परमात्मसत्ताका अनुभव अन्तमें करता ही है, परन्तु—

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।

सगुण उपासनाके सुगम मार्गमें भी जो अनुभूति दुर्लभ है, वह निर्गुण उपासनाके कठिन मार्गमें तो और भी दुर्लभ है, और समाधि अवस्थाकी अनुभूति भी क्या, जो

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वर्णनीय और अनिर्वचनीय होती है। फिर भी जिसने एक बार ऐसी अनुभूति कर ली उसे तो अपने लिये कुछ करना बाकी नहीं रहा।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥

सगुण उपासक अनेक प्रकारकी उपासनाएँ करता है। साकार उपासना करनेवाला भगवान्‌के किसी एक आकार-की कल्पना करके उसके ध्यानमें रहता है, और जिसकी श्रद्धा एक हदतक पहुँच जाती है, वह दर्शनलाभ भी करता है। इस तरहके प्रत्यक्ष दर्शन करनेवाले अनेक भक्त हैं। इस तरहके अनुभवजनित ज्ञान प्राप्त किये हुए भक्त इस बातके गवाह हैं कि ईश्वर है। इस प्रत्यक्षसे अधिक और कोई प्रमाण ही नहीं हो सकता।

इस प्रमाणके विरुद्ध कई आपत्तियाँ हो सकती हैं। एक भारी आपत्ति तो यह है कि अनुभव करनेवाला स्वयं धोखा खा सकता है। उसे दृष्टिकी भ्रान्ति हो सकती है, वह मायाका रूप देख सकता है। रावणने मायासे सीता-को राम-लक्ष्मणके कटे सिर दिखा दिये थे। सेनामें वानरोंको राक्षसोंके बदले सर्वत्र राम-लक्ष्मण ही दीखते थे। स्वयं भगवान् रामचन्द्रने मायाकी सीताका हरण कराया था। अतः बहुत सम्भव है कि जिन्हें विष्णुभगवान्‌के, भगवान् रामचन्द्रजीके, भगवान् शङ्करके अथवा भगवतीके दर्शन हुए हैं, वह मायारचित रूप रहे हों, किसी दैत्य, राक्षस, पिशाच आदिने पूजा लेते रहनेके लिये वह रूप धारण कर लिया हो।

यह आपत्ति वस्तुतः महत्त्वकी है। दर्शन उतना आसान नहीं है जितना कि आम तौरसे समझा जाता है। जो लोग भगवद्दर्शनके लिये विशेषरूपसे तपस्या करते हैं, वे इन मायाकृत प्रपञ्चोंसे अनभिज्ञ नहीं होते। वह उससे बचनेके उपाय करते हैं और भगवान् ठगों और धूर्तोंकी मायासे अपने भक्तोंकी रक्षा करते हैं। परन्तु शर्त यह है कि शुद्ध मनसे प्रपन्न हो। हठी भक्त मायाकृत रूपसे कभी सन्तुष्ट नहीं होते। स्वायम्भुव मनु और शतरूपाने जिस प्रभुके दर्शनोंके लिये घोर तप किया था, उसके बदले—

बिधि हरि हर तप देखि अपारा। मनु समीप आये बहु बारा॥
माँगहु बर बहु भाँति लुभाये।

परन्तु तपस्वी लोग त्रिमूर्तिसे भी सन्तुष्ट न हुए। उनकी तपस्या ऐसी थी कि जब त्रिमूर्ति उन्हें अपने व्रतसे डिगा न सकी तो आसुरी माया क्या करती। बहुत-से अनुभवी धोखा खा सकते हैं, यह बात मानी जा सकती है, पर सभी अनुभवी धोखा नहीं खा सकते। फिर, माया-का रूप दिखलाकर सन्तुष्ट करनेका प्रयत्न ही इस अनुमान-को पुष्ट करता है कि भगवान्‌का सगुण रूप असम्भव नहीं है।

दूसरी आपत्ति यह हो सकती है कि अनुभवका नाम लेकर अनुभवी जगत्‌को ठगना चाहता है। यह आपत्ति समीचीन है। परन्तु भगवद्दर्शनका अनुभव अत्यन्त गोप्य है, वह किसीसे बतलानेका विषय नहीं है, रोजगारकी वस्तु नहीं है। यह ऐसी बात नहीं कि अनुभवी किसी दूसरेको अनुभव करा सके। यदि कोई ऐसा रोजगार करता है तो उसकी गवाहीका हमारे सामने कोई मूल्य नहीं है। हम उसीकी गवाही मानते हैं जो निःस्वार्थ हैं और ऐसे निःस्वार्थ अनुभवशील महात्माओंका साक्ष्य नितान्त दुर्लभ नहीं है। स्वामी विवेकानन्द पहले घोर नास्तिक थे। रामकृष्ण परमहंससे शास्त्रार्थ करने आये तो अन्तमें ललकारा कि तुमने ईश्वरको देखा है? और देखा है तो हमें भी दिखाओ तो हम विश्वास करें। परमहंसजीने मुसकुराकर कहा 'अच्छा, आया करो, हम दिखा देंगे।' स्वामी विवेकानन्द कैसे आस्तिक बन गये, दुनिया जानती है।

तीसरी आपत्ति यह हो सकती है कि यदि ईश्वर है तो उसका अनुभव हर एकको होना सम्भव होना चाहिये, फिर हम दूसरेके अनुभवका अवलम्बन क्यों करें। इस आपत्तिमें समझकी भारी भूल है। जितनी वस्तुएँ हैं सबका अनुभव सबको सम्भव नहीं है। हमारी देहमें रोगाणु प्रवेश करते हैं, उनके प्रवेशको हम अनुभव नहीं करते। अनुभव कर सकना सम्भव भी नहीं। फिर हर एक यदि शिकागो नहीं जा सकता तो जो हो आये हैं, उनके कथनपर विश्वास करके शिकागो नगरके अस्तित्वपर सभी विश्वास कर सकते और करते हैं। विज्ञानमें हजारों प्रयोग इस तरहके हैं कि हर वैज्ञानिकको सुलभ नहीं हैं, फिर भी जिन थोड़े-से विद्वानोंको सुलभ हैं, उनके प्रयोगोंपर सभी विश्वास करते हैं। रेडियम आदिपर परीक्षा करनेके लिये बहुत धन चाहिये। कम ही लोग उसपर प्रयोग करते हैं, परन्तु संसार उनपर विश्वास करता है। इसी तरह यदि थोड़े-से तपोधन ईश्वरका साक्षात् कर चुके हैं, तो उनकी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

गवाही, उनका आप्तवाक्य, हमारे लिये सर्वथा मान्य होना चाहिये।

इन तीनों आपत्तियोंपर विचार करके, अनुभवसे बढ़कर प्रबल कोई प्रमाण नहीं ठहरता।

(५) वैज्ञानिक अनुभवसे निष्कर्ष

लंडनकी परान्वेषण-परिषद् एवं अन्य देशोंकी परान्वेषण संस्थाओंने परलोकविद्यासम्बन्धी खोजें की हैं। इनसे यह मालूम हुआ है कि मरनेके अनन्तर भी मनुष्यका व्यक्तित्व बना रहता है और मरा व्यक्ति किसी अदृश्य लोकमें रहता है जो हमारे संसारसे दूर या अलग नहीं है किन्तु निकटतम है। इन लोकोंसे भी अदृश्य और सूक्ष्म लोक और प्राणी हैं। इन अनुभवोंसे कम-से-कम इतना तो सिद्ध ही है कि हमारी अदृश्य चेतना अदृश्य शरीरमें रहती है और उसके लिये जगत् भी है जो हमारे लिये अदृश्य है। ईश्वरका पता उन्हें भी नहीं है। फिर भी अदृश्य जगत्, अदृश्य सृष्टि, अदृश्य व्यक्तित्व और अदृश्य वस्तुकी सत्ताका तो हमें प्रमाण मिलता ही है। दृश्य-अदृश्य सभीमें हमें सत्ता ही नहीं मिलती बल्कि हमें बुद्धिपुरस्सर संगठन और सञ्चालन मिलता है, विवेकपूर्ण नियम मिलते हैं, पद-पदपर अत्यन्त ऊँची विवेकशीला परमशक्तिशालिनी बुद्धिमती चेतनाकी सत्ताका परिचय मिलता है। राईसे ब्रह्माण्डतक, परमाणुसे विश्वतक, अत्यन्त स्थिररूपसे गणितके काँटेपर तुले बावन तोले पाव रत्तीतक ठीक-ठीक व्यापक नियमोंका पालन और सञ्चालन मिलता है। यह सृष्टिके बड़े-से-बड़े दिमागको नगण्य बना देता है और सर्वशक्तिमान् परमात्माका पता देता है। बुद्धिग्राह्यता इतनी ही है। इसीलिये ज्ञेयको 'बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्' कहा है।

(४) उसकी सत्ता और दयामें विश्वास बढ़ानेवाले स्वानुभव

(१) अनुभवोंका निष्कर्ष

अपने अनुभव कहनेमें बड़ा संकोच होता है और उसका विस्तार यहाँ इसलिये भी अभीष्ट नहीं है कि सिवा इसके कि पाठक मेरी सदसद्विवेकवती बुद्धि और कथनपर विश्वास कर लें और कोई प्रमाण नहीं है। वह यह मान लें कि मैं सत्य कहता हूँ, दम्भ नहीं करता, और अपने अनुभवोंमें एक वैज्ञानिककी हैसियतसे मैंने धोखा नहीं खाया है, और मेरे निष्कर्ष ठीक ही होंगे, तो मुझे विस्तारकी आवश्यकता भी नहीं रहती। इसीलिये मैं अपने अनुभूत निष्कर्ष यहाँ दे देना चाहता हूँ।

(१) अदृश्य लोकोंकी, अदृश्य प्राणियोंकी और समस्त विश्वके उद्भव-स्थिति-संहारकर्त्ताकी सत्ता सत्य है। ईश्वर है। सगुण उपासकोंको उनकी श्रद्धाके अनुसार उनके उपासित नामरूपसे अपना अनुभव करा देता है। उसके नाम और रूप सभी हैं।

(२) सृष्टि उसकी लीला है और वह अपनी सृष्टिमें स्वयं सर्वत्र अवतरित होकर भाँति-भाँतिके अभिनय करता रहता है।

(३) सब तरहकी वैध उपासनाओंसे वह प्राप्य है, और यदि वैध उपासना सम्भव न हो तो वह केवल नामजपसे भी प्राप्य है।

(४) संसारके सभी आस्तिक अपने-अपने मार्गसे वैध उपासनाद्वारा उसे पाते हैं और संसारके सभी देशोंमें ही नहीं, विश्वके सभी देशोंमें वह अवतरित होकर लीला करता और भक्तोंका उद्धार करता रहता है। 'न मे भक्तः प्रणश्यति' समस्त विश्वोंके लिये है। उसकी दया अखिल विश्वपर है, परन्तु जो भजता है उससे विशेष ममता है। और जो जैसे भजता है, वैसे ही उसे भगवान् भी भजते हैं।

(२) कुछ अनुभवोंकी चर्चा

फिर भी मैं अपने कुछ अनुभव संक्षेपसे इस दृष्टिसे देना चाहता हूँ कि पाठकोंको यह मालूम हो जाय कि मुझे भगवान्‌की कृपाओंका कितना कृतज्ञ होना चाहिये और मैं वस्तुतः किस दरजेका कृतघ्न हूँ।

पल-पलके उपकार रावरे जानि बूझि सुनि नीके।
भिदयो न कुलिसहुँ ते कठोर चित कबहुँ प्रेम सियपीके॥

(१) तीन चार वर्षकी अवस्थामें पड़ोसके सूने घरमें घुस गया। आग लगा दी और स्वयं उसमें जल मरता, परन्तु रक्षा की गयी। घर जल गया।

(२) लड़कपनमें भिन्न अवसरोंपर तीन बार गोमती-नदीमें डूबा। तीनों बार रक्षा की गयी। तैरना इन घटनाओंके पीछे सीखा।

(३) युवावस्थामें तीन बार इक्का टूटा, और लोगोंको चोट आयी, मेरी पूरी रक्षा की गयी। यह

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

घटनाएँ तीन भिन्न-भिन्न अवसरोंकी हैं।

(४) युवावस्थामें एक बार जंगलमें राह भूल गया। रातभर भटकता रहा। रक्षा की गयी और ठीक राहपर लगाया गया। घटना संवत् १९५६की है।

(५) आषाढ़की सरयूमें चालीस मीलकी यात्रापर चले। आधीरातमें बड़ी भयानक आँधीमें बीच नदीकी अथाह जलराशिमें ऊँचे मेड़ोंके बीच डगमगाती छोटी पतवारहीन डोंगीपर सात जने यात्री थे, मुख्यतः उसमें मैं ही था, मेरी प्रेरणासे ही वे छः सहयात्री बने थे। रामनामके घोर निनादके साथ हम सभी डूबनेवाले थे, परन्तु इस नामघोषके प्रतापसे बीचमें थाह मिल गयी। घुटनोंतक जल हो गया। असंख्य घड़ियालोंके बीच देरतक खड़े रहे। चाँदनी निकल आयी। दोनों किनारे नहीं दीखते थे, परन्तु पास ही लगभग ३० गज लम्बा दस गज चौड़ा टापू दीखा। उसपर शेष रात बितायी। रातभर घड़ियालोंके डरसे 'राम-राम' का घोर निनाद करते रहे। बीस गजपर घड़ियालोंका झुंड टापूपर लेटा था। सबकी रक्षा हुई। सबेरे किनारेपर गये। यह घटना संवत् १९७२ की है।

(६) मेरी एक लड़की जो मौजूद है तीन बरसकी अवस्थामें मर गयी थी। भगवत्कृपासे उसे पुनरुज्जीवन प्राप्त हुआ। यह घटना संवत् १९७७ की है।

(७) तुलसीजयन्तीके लिये बस्ती जानेको सामान बँधा था कि तीन बरसकी लड़की कमला खेलते-खेलते गिरी, साँस रुक गयी, धुकधुकी बंद हो गयी, तुरन्त ही प्रसाद और रामनामके प्रभावसे पुनरुज्जीवन हुआ। जब पुनरुज्जीवनका आरम्भ हो रहा था उसी समय पड़ोसी डाक्टर अब्दुल करीमने आकर देखा तो कहा 'अफ़सोस, यह तो मर रही है!' मैंने कहा 'नहीं! अब तो जीवित हो रही है, मर गयी थी।' वस्तुतः मरनेकी उलटी क्रियाको डाक्टरने स्वभावतः मरना समझा था। प्रभुने जिलाकर मेरी यात्रा निर्विघ्न कर दी। यह घटना श्रावण शुक्ला ५ संवत् १९९० की है।

(३) असंख्य अपराधोंकी अपने-आप क्षमा

मेरे जीवनमें बहुत ही विचित्र घटनाएँ हुई हैं। एक बार पितृपक्षमें मुझे जो-जो अनुभव हुए वे आशातीत थे और एक अत्यन्त अयोग्य अकिञ्चन किङ्करपर लोकातीत कृपाके परिचायक थे। उसी पक्षमें दीक्षा पायी। मेरी उपासनाका रूप जो अनेक जन्मोंसे चला आ रहा था बतलाया गया। मुझे अभिमान था कि मैं मानसिक पूजा और उपासनाका अधिकारी हूँ, मुझे पता लगा कि अभी मूर्तिपूजाके वर्गसे मैं ऊपर नहीं उठा हूँ, मुझे वही करना चाहिये। इस कठिन मार्गमें मैं विधिवत् लगाया गया। संवत् १९८२के आश्विन शुक्ला एकादशीको भगवद्विग्रहोंकी वेदविधिसे प्राणप्रतिष्ठापूर्वक स्थापना हुई। प्रतिष्ठाके समय संगमरमरकी मूर्तियाँ बड़े जोरसे काँपने लगीं। उनमें विशेष प्रकारका ओजस्, तेजस् आ गया, दीक्षाके बाद शिक्षा दी जाने लगी। वह आज भी समय-समयपर मिलती है, शङ्काओंका निवारण होता रहता है। तबसे अबतक कृपाओंकी अनवरत वर्षा होती आयी है। 'पल-पलके उपकार' वाली उक्ति अक्षरशः चरितार्थ होती रहती है। कितनी ऊँची अभिलाषाएँ पूर्ण की गयी हैं। उनका वर्णन करना असम्भव है। भगवान्ने ऐसे पतितको इतना कभी अपनाया है? मुझे तो विश्वास नहीं होता। मुझे इस बातका भारी गर्व है।

मूर्तिपूजा अत्यन्त कठिन प्रकारकी उपासना है। नित्यके विहित शौचाचारका पालन कहाँ हो सकता है? ठीक-ठीक सामग्री कब प्रस्तुत होती है? बेलपत्र कैसा हो, कितना हो, कौन फूल हो, कौन न हो, माला कैसे पहनायी जाय, कैसी मूर्तिसे पूजाके समय कैसा व्यवहार हो, घण्टा, शङ्ख, कलशादि पार्षदोंकी कैसे पूजा हो, इनका स्थान कहाँ-कहाँ कब-कब है, किसे क्या गन्ध चाहिये, किसे क्या अक्षत चाहिये, धूप कैसा हो, दीप कैसा हो, कैसे अर्पण हो, बालभोग-राजभोगके क्या नियम हैं, स्नानादिकी क्या विधि है, आरती कैसे हो, आसन, शयनादि सबकी विधियाँ और नियम, चरणामृत और प्रसादके ग्रहणतककी विधियाँ और नियम सभी ऐसे बारीक और विस्तृत हैं कि पुजारीको अन्तमें यह प्रार्थना करनी आवश्यक नहीं बल्कि बिल्कुल सत्य और ठीक ही है कि हमसे पूजा ठीक नहीं बनती है, जो कुछ अपराध हों वह क्षमा किये जायँ।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

मैं तो पूजाकी विधि जानता ही न था। बतलाया भी गया तो बहुत आवश्यक अंग। विस्तारके लिये पुस्तकें देखीं, तो अपने दोषोंका पता लगा। परन्तु देखा कि सब नियमोंको कण्ठाग्र कर लेनेपर भी नित्य भारी-भारी भूलें होती ही रहती हैं और कोई-न-कोई न्यूनता होती ही है। इतनेपर भी दोषोंको स्वीकारकर क्षमाप्रार्थना तक करना मैं भूल जाता था। निवेदन करनेपर मालूम हुआ कि 'दोषोंपर कहीं ध्यान दिया जाता है? चुपचाप उसी मार्गसे चले चलो।' सच है—

रहति न प्रभु चित चूक कियेकी। करत सुरति सय बार हियेकी॥

इस अपरिमित दयाका भी कहीं वर्णन सम्भव है! भगवान्‌की सत्ता तो मेरे लिये इतना अखण्ड सत्य है जितनी कि मेरी अपनी सत्ता मेरे लिये नहीं हो सकती, और भगवान्‌की दया तो मेरे लिये उतना ही अमिट तथ्य है जितनी कि मेरी भारी अयोग्यता, जिसका हाल मेरे सिवा भगवान् ही जानते हैं।

कृष्ण कन्हैया !

(गद्यगीत)

कृष्ण कन्हैया ! मुझे बाँसुरी बजाकर बुलाना।
मुझसे छिप-छिपकर मिलने आना !
जबसे मैंने तुम्हारी प्यारी प्यारी साँवरी सूरत देखी है, मेरा जियरा बेचैन है।
मैं गवाक्ष और झरोखोंसे बार-बार अधीर होकर झाँकती हूँ।
अपने नयन गोकुलकी राहपर बिछाती हूँ।
और कल्पनाके कानसे तेरे दिलके धड़कनेसे जो आती है हरदम
राधे-राधेकी प्रेम-प्रीत-भरी आवाज, सदा उसे सुनती हूँ।
कृष्ण कन्हैया ! मुझे बाँसुरी बजाकर बुलाना, मुझसे छिप-छिपकर
मिलने आना !!
दधि बेचते वृषभानुपुरीकी वीथियोंमें,
गोकुल ग्रामके हाट-बाट चौहट्टोंमें, वृन्दावनकी कुञ्जगलिनमें
अथवा यमुना-तटपर नंदजूकी धेनु मँझारन, यदि तेरी-मेरी देखा-देखी
हो जाय तो तू बरजोरी मेरा मार्ग रोककर दानलीलाका
अभिनय न करना, मेरे पाससे ऐसे निकल जाना जैसे अपरिचित
हो, मेरी तरफ़ देखते हुए भी न देखना।
परन्तु
मेरी चुलबली सखी-सहेलियों और तेरे संगी नटवर गोपोंकी निगाह बचाकर
अपनी हिरन-सी नशीली आँखोंसे मेरी ओर प्रेमकी सैन करना न भूलना।
कृष्ण कन्हैया ! बाँसुरी बजाकर बुलाना, मुझसे छिप-छिपकर मिलने आना !
ग्वाल-बालोंमें मेरे निष्कलंक रूपकी निन्दा करना।
रसिक-मण्डलीमें तेरे-मेरे प्रेमको लेकर कोई व्यंग करे तो तू मुझे
जी भरकर कोसना, मुकर जाना, पर—
देख, हँसी-दिल्लगीमें भी तू किसी किशोरी गोप-
ललीसे नेहका नाता न जोड़ना, कहीं उसका जादू
तुझपर न चल जाय और वह—तेरा हृदय मुझसे न फेर ले !
कृष्ण कन्हैया ! बाँसुरी बजाकर बुलाना।
मुझसे छिप-छिपकर मिलने आना !!!

—दिनेशनन्दिनी चौरड्या

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

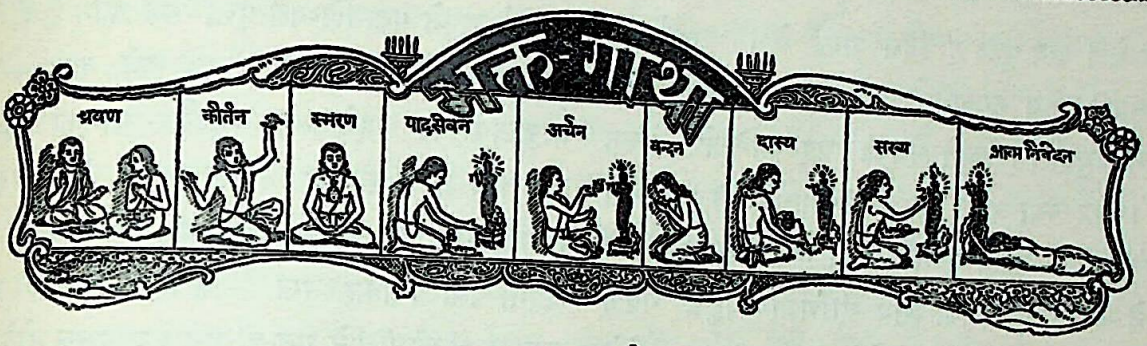

भक्त धनुर्दास

(लेखक—तदीयैकशेष यशोदानन्दन अखौरी)

भक्तिमार्गके सुगम और सुलभ साधनोंमें कुछ ऐसे हैं जिनके द्वारा इन्द्रियजन्य विषयोंमें लिप्त और भगवद्विमुख व्यक्ति भी सहजमें भगवद्भक्त हो जा सकता है। जैसे गाना सुनने, विचित्र आख्यानोंके कहने-सुनने एवं सुन्दर रूपके देखने आदिके ऐसे इन्द्रियजन्य विषय हैं जिनकी धाराएँ भगवान्‌की ओर फिरायी जा सकती हैं। कहीं-कहीं तो उक्त विषय-लोलुपताकी बदौलत लोग स्वभावतः अकस्मात् भगवत्-कृपाके प्रभावसे भगवद्भक्त होते देखे गये हैं और कहीं-कहीं विशेष महात्माओं और संतोंके प्रयास और प्रसादसे। इस विषयके अनेक उदाहरण पौराणिक इतिहासों एवं भक्तमाल आदि भगवद्भक्तोंके चरित्र-ग्रन्थोंमें मिलते हैं। बहुधा प्रत्येक पहुँचे हुए संत-महात्माके जीवनचरित्रमें ऐसी घटनाका एकाध उदाहरण अवश्य मिल जाया करता है। श्रीसम्प्रदायके प्रधान प्रवर्तक भगवान् श्रीरामानुजाचार्यजीके जीवनमें भी ऐसी कई घटनाओंके उदाहरण मिलते हैं जिनमेंसे एकका उल्लेख यहाँ किया जाता है।

मद्रासप्रान्तके त्रिचनापल्ली नामक नगरके पास उरयूर नामकी एक बस्ती है। इसका प्राचीन नाम निचुलापुरी है, यह श्रीवैष्णवोंका एक पवित्र स्थल है। यहीं आजसे कोई हजार वर्ष पहले धनुर्दास नामका एक नामी पहलवान रहता था। इसकी धाक सर्वत्र जम गयी थी, इसके एक परम सुन्दरी स्त्री थी। वह पहले तो वेश्या थी, पर पीछे वह धनुर्दासकी प्रेयसी बनकर घरमें ही रहने लगी। धनुर्दास अपनी उस प्रेयसीके रूप-माधुर्य और सौन्दर्यपर लट्टू हो रहा था। यहाँतक कि वह जहाँ जाता वहाँ अपनी उस प्रेयसी-को भी अवश्य साथ लिये जाता। साथ भी सामान्य रीतिसे नहीं बल्कि वह जहाँ बैठता उस स्त्रीको सामने बैठाकर एकटक उसके सौन्दर्यको निहारा करता। रास्तेमें चलनेपर उसे सामने करके, चाहे सवारीपर हो अथवा पैदल, आप अपने पीठकी रुख चलता था। उसका ऐसा व्यवहार देखनेवालोंके लिये एक तरहका कौतूहलजनक हो जाया करता था।

पाठकोंने दक्षिणके श्रीरंगक्षेत्र नामक प्रधान तीर्थ-का नाम सम्भवतः सुना होगा। यह श्रीरंगमके नामसे प्रसिद्ध है। त्रिचनापल्लीके पास ही है। यहाँ प्रसिद्ध अर्चावतार भगवान् श्रीरंगनाथजीका मन्दिर है। यहाँ सालमें कई बार भगवान्‌का महोत्सव बड़े समारोह-से हुआ करता है। उत्सवोंमें लाखों दर्शनार्थियोंकी भीड़ हुआ करती है। आसपासके ही नहीं, दूर-दूरके दर्शनार्थी यात्री भी आया करते हैं। एक बारकी बात है। श्रीरंगनाथ भगवान्‌का वासन्ती महोत्सव (चैत्रोत्सव) चल रहा था। उत्सव आरम्भ हुए कई दिन बीत

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

चुके थे। अब कुछ ही दिन बाकी थे। धनुर्दासकी प्रेयसीकी इच्छा भगवान्‌का यह उत्सव देखनेकी हुई। उसने धनुर्दाससे अपने मनकी यह अभिलाषा प्रकट की। फिर क्या था! बात-की-बातमें निचुलापुरीसे श्रीरंगधामको चलनेकी तैयारी हो गयी। दोनों दम्पति अपने नौकर-चाकरोंके साथ श्रीरंगजीमें पहुँच गये। पहुँचनेपर भगवान्‌के दर्शनोंकी ठहरी। दोनोंने भगवान्‌के मन्दिरकी ओर प्रस्थान किया। कोई साढ़े नौ-दस बजे दिनका समय था। धनुर्दास अपनी प्रेयसीको सामने किये हुए पीठके रुख आगे बढ़ रहा था। गरमीका दिन था। धनुर्दास अपने हाथमें एक छाता लिये हुए उस प्रेयसीको कड़ी धूपसे बचानेकी धुनमें भी था। दक्षिणमें एक तो यों ही गरमी पड़ती है, फिर गरमियोंके दिनकी तो बात ही क्या। फिर चढ़ते सूर्यकी गरमी और जनताकी भीड़की गरमी। भला इतनी गरमीमें अपने शरीरकी सँभाल रखना उस देह कुचलनेवाली लाखोंकी भीड़में कोई हँसी-खेल न था। किन्तु उस कड़ी धूपमें धनुर्दास अपनी प्रेयसीके प्रेम और सौन्दर्यपानमें मस्त मधुपानमत्त भ्रमरकी भाँति हाथमें छाता लिये अपनी पीठकी रुख चल रहा था। पीछे ऊँचा है या नीचा इसकी भी स्मृति उसके मनमें नहीं थी। स्वयं पसीनेसे लथपथ था। देहतककी सुध नहीं। उस महोत्सवके अवसरपर श्रीरामानुजाचार्य स्वामीजी श्रीरंगधाममें ही निवास कर रहे थे। अपने कुछ अन्तरंग शिष्योंके संग वह भी एक ओर भीड़में मन्दिरकी ओर ही जा रहे थे। धनुर्दासकी इस कौतूहलोत्पादक करतूतपर बहुधा कितने ही दर्शकोंकी दृष्टि पड़ती थी। पर वे इस दृश्यके देखनेमें अभ्यस्त थे। उनके लिये यह नया नहीं था। इसलिये सब कोई इसे देखकर नीचो नजर किये अपनी राह चले जाते थे। किन्तु श्रीरामानुज स्वामीजीके लिये यह दृश्य बिल्कुल नया था। उनकी दृष्टि पड़ते ही उन्होंने अपने एक शिष्यसे पूछा 'यह कौन है जो ऐसी निर्लज्जता दिखा रहा है?' शिष्यने कहा—'यह निचुलापुरीका रहनेवाला धनुर्दास नामका प्रसिद्ध पहलवान है और वह उसकी भार्या है। इसका नाम हेमाम्बा है। वह पहले वेश्या थी, पर धनुर्दासने उसे अपनी पत्नी बनाकर रख लिया है।' शिष्यकी बात सुनकर श्रीस्वामीजीने मन-ही-मन कुछ प्रसन्न होते हुए उस शिष्यसे फिर कहा—'तीसरे पहर उसे हमारे पास मठपर बुला लाना। बन पड़े तो अभी उससे जाकर कह आओ, जिसमें वह उस समय चलनेके लिये तैयार रहे।' बस मुँह खोलनेभरकी देर थी। शिष्य धनुर्दासके पास यह आदेश सुनानेको दौड़ गया और जाकर श्रीस्वामीजीका यह सन्देश भी सुना दिया। धनुर्दास तो सुनते ही काँप गया। काटो तो बदनमें लहू नहीं। वह अपने मनमें समझ गया—'श्रीआचार्यस्वामी हमारी इस निर्लज्जतापर बड़े बिगड़े होंगे। सम्भव है, उन्होंने हमारी भर्त्सना करनेके लिये ही मठपर बुलाया है। भला बिगड़नेकी तो बात ही है। जहाँ भगवान्‌का महान् उत्सव हो रहा है, देश-देशसे लाखोंकी संख्यामें लोग भगवान्‌के दर्शनोंकी लौ लगाये श्रद्धाके साथ आ रहे हैं, सबके भाव पवित्र हैं, सभी अपने कलुषित भावोंको घरपर छोड़कर यहाँ आये हैं, इस भीड़में हमसे बढ़कर विषयी और पापकर्ममें लिप्त लोग भी होंगे, पर वे भी इस अवसरपर अपने सभी बुरे भावोंपर मिट्टी डालकर यहाँ शुद्ध हो भगवान्‌के दर्शनोंकी अभिलाषासे तन्मनस्क हो रहे हैं। एक मैं ही इस अपार भीड़में ऐसा हूँ जो स्त्रीके सौन्दर्यमें यहाँ भी गोते लगा रहा हूँ। धिक्कार है इस विषयलोलुपता और निर्लज्जतापर।' धनुर्दास यही सब बातें सोच रहा था। मठमें जाने और न जानेके बारेमें भी छः पाँचमें पड़ा था। मनमें कहने लगा—जानेमें बड़ी झिड़की सहनी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रहेंगे और न जानेमें भी श्रीआचार्यस्वामीकी अवज्ञा होगी, अन्तमें उसने जाना ही निश्चित किया और उस शिष्यसे कहा—'अच्छा, महाराज ! मैं प्रसाद पानेके बाद अवश्य श्रीचरणोंमें उपस्थित होऊँगा। आप श्रीस्वामीजी महाराजसे कह दें।' शिष्यने जाकर श्रीरामानुज स्वामीजीसे सब बातें कह दीं। श्रीरामानुज स्वामी मन्दिरमें गये। आरतीके समय भगवान्‌से उन्होंने बड़ी करुणामें आकर प्रार्थना की—'भगवन् ! दयामय ! एक विमुख जीवको अपने सौन्दर्यसे सम्मुख कीजिये।' आरती हो जानेपर श्रीरामानुज स्वामी अपने मठमें आये।

भोजनके बाद अपने वचनके अनुसार ठीक समयपर धनुर्दास मठमें पहुँच गया। श्रीरामानुज स्वामीको खबर भेजी गयी। उन्होंने कहा—'अच्छा मेरे पास उसे बुला लाओ।' जिस व्यक्तिको बुलानेके लिये कहा गया था उसने निवेदन किया—'स्वामिन्! यह भला मठके भीतर कैसे आवेगा ? पहलवान तो अधिकतर हीनजातिके ही होते हैं।' श्रीस्वामीजीने कहा—'इसमें शंका-समाधान करनेका काम नहीं। हम जो कहते हैं सो करो।' धनुर्दासने पहुँचकर साष्टाङ्ग किया और कुछ दूरपर हाथ जोड़े नीची नजर किये खड़ा रहा। उसके इस बर्तावपर श्रीरामानुज स्वामीने बड़े स्नेहसे कहा—'क्यों ! हाथ जोड़े क्यों खड़े हो ? आओ, हमारे पास बैठो। तुमसे कुछ पूछना है। डरो मत। हम कुछ दण्ड तुम्हें नहीं देंगे।' श्रीस्वामीजीके इस स्नेहयुक्त बातचीतसे धनुर्दासको ढाढ़स हुआ। साहसकर थोड़ी दूर आगे सरककर बैठ गया। श्रीस्वामीजीने पूछा—'भला यह तो बताओ, उस स्त्रीको साथ लेकर इतनी निर्लज्जता और इस अनोखे ढंगसे रास्तेमें इतनी जनताकी भीड़में चलनेका क्या कारण ? स्पष्ट कहो, छिपाना नहीं।' धनुर्दासका साहस और भी बढ़ा। वह निस्सङ्कोच होकर बोला—'महाराज ! उसकी सुन्दरतापर मेरा मन मुग्ध रहता है। मेरे मनमें कामवासना विशेष कुछ नहीं। यों तो वह अब स्त्रीके स्थान है ही। पर मेरा उसका साथ कामुकतासे नहीं, केवल उसकी अनूठी सुन्दरताके कारण है। उसका सुन्दर मुख और आँखें देखे बिना मैं बेचैन हो जाता हूँ। बस, यही यथार्थ बात है। महाराज जो चाहें, करें। पर उसका साथ न छुड़ावें।' श्रीस्वामीजीने कहा—'सो न होगा। हम तुमको उसे बिल्कुल छोड़नेको नहीं कहते। वह भार्याकी तरह तुम्हारे साथ रहे पर तुम जो उसकी सुन्दरतापर इतने लट्टू हो रहे हो, सो न हो। अगर हम तुम्हें उससे भी कहीं बढ़कर सुन्दर मुख दिखलावें तो क्या तुम हमारी बात मानना मंजूर करते हो ?' धनुर्दासने कहा—'क्यों नहीं। उससे सुन्दर मुखड़ा अगर देखनेको मिले तो मैं उसका बिल्कुल परित्याग करनेको तैयार हूँ।' श्रीस्वामीजीने कहा—'हम तुम्हें उसका पूर्ण परित्याग करनेको नहीं कहते। ऐसा करनेसे अच्छा न होगा। क्योंकि वह वेश्यावृत्ति छोड़कर अब तुम्हारी स्त्री होकर वर्त्तमान है, इससे एक प्रकारसे उसका सुधार ही हुआ। अब अगर तुम उसको छोड़ दोगे तो वह फिर वेश्यावृत्ति करने लगेगी। सो तो अच्छा न होगा। हम चाहते हैं, वह स्त्रीके रूपमें तुम्हारे ही यहाँ रहे, कोई आपत्ति नहीं, पर तुम इस निर्लज्जतासे उसपर मुग्ध न हो। तुम्हारा साथ रहनेसे उसका भी धीरे-धीरे सुधार हो जायगा। बोलो, मंजूर है न।' धनुर्दासने हाँ कहते हुए सहर्ष स्वीकार किया। श्रीस्वामीजीने कहा—'अच्छा, अभी जाओ। सन्ध्याको भगवान्‌की आरतीके समय मन्दिरमें हमसे मिलना। अकेले आना। हम वहीं रहेंगे। कोई रोकटोक न करेगा। हम तुम्हारी प्रतीक्षामें अमुक स्थानपर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

रहेंगे।' धनुर्दासने साष्टाङ्गकर घरका रास्ता लिया। राहमें मन-ही-मन कहने लगा—'समझा था, श्रीआचार्यस्वामी मुझे झिड़की देंगे, भला-बुरा कहेंगे, मेरी भर्त्सना और अपमान करेंगे। पर देखता हूँ, यहाँ तो दूसरा ही रंग-ढंग है। अच्छा, सन्ध्याको देखा जायगा।'

धनुर्दास घर पहुँचा। वहाँ अपनी भार्या हेमाम्बासे केवल इतना ही कहा कि 'श्रीआचार्य स्वामीने भगवान्‌के मन्दिरमें मुझे सन्ध्याको आरतीके समय दर्शनोंके लिये बुलाया है। हम अकेले ही जायँगे।'

सन्ध्याको आरतीके अवसरपर धनुर्दास मन्दिरमें पहुँचा। श्रीरामानुजाचार्यजीके दर्शन हुए। वह पहलेसे ही इसकी बाट देख रहे थे। आरतीका समय हुआ। बाजा बजने लगा, श्रीरामानुज स्वामीने धनुर्दाससे कहा—'खूब जी लगाकर भगवान्‌की झाँकीके दर्शन करना।' आरती होने लगी। धनुर्दास श्रीस्वामीजीके आदेशानुसार जी लगाकर भगवान्‌के दर्शन करने लगा। भगवान्‌के श्रीविग्रहके अनुपम सौन्दर्यपर उसकी आँखें ऐसी गड़ गयीं कि उसकी पलकें निर्जीव-सी निश्चल हो गयीं। वह भगवान्‌के रूपमाधुर्यमें ऐसा तन्मय होकर खड़ा था, मानो कोई चित्र खड़ा किया गया हो। आरती समाप्त होनेपर वह श्रीरामानुज स्वामीके चरणोंपर गिर पड़ा। साथ ही बहुत ही विह्वल स्वरसे कहने भी लगा—'स्वामिन्! इस अलौकिक सौन्दर्यके आगे उस स्त्रीका सौन्दर्य बिल्कुल कौड़ीका तीन है। अब आप जैसा कहें करनेको तैयार हूँ। किन्तु अब ऐसा ही प्रबन्ध करें जिसमें यह सौन्दर्य नित्य देखनेको मिले।' श्रीस्वामीजीने कहा, 'यह सब हो जायगा। इस समय घर जाकर अपनी स्त्रीसे सब बातें कह दो।' धनुर्दास घर आया। अपनी पत्नीसे उसने सब वृत्तान्त कह डाला। कुछ ही दिनों बाद दोनों दम्पति कुछ काल आगे-पीछे श्रीरामानुज स्वामीके चरणोंमें समाश्रित हो गये। निचुलापुरीका रहना छोड़ श्रीरंगधाममें श्रीस्वामीजीके मठके पास मकान लेकर दोनों बड़े आनन्दसे दिन बिताने लगे। श्रीस्वामीजीने दोनोंको अपने साम्प्रदायिक ज्ञानविषयोंमें बहुज्ञ बना दिया और दोनोंका आचरण भी आदर्श हो गया। धनुर्दासके गुणोंके कारण श्रीरामानुजाचार्यजीने ज्ञानकी कोई बात उसे बतानेमें कोर-कसर न की। धीरे-धीरे वह श्रीआचार्य स्वामीका परम अनुरक्त और विश्वस्त भक्त बन गया। उसका जीवन परम पवित्र बन गया। श्रीस्वामीजीका वात्सल्यस्नेह उसपर इतना बढ़ गया कि अपनी वृद्धावस्थामें वह कावेरीसे स्नान करके लौटनेके समय उसीको टेककर मठतक या मन्दिरतक आते थे। इधरसे वह किसी ब्राह्मण शिष्यके सहारे जाते थे, पर लौटती बार धनुर्दासके सहारे आते थे। यही उनका नित्यका व्यवहार था। मठके ब्राह्मण शिष्यप्रभृति श्रीआचार्य स्वामीका यह व्यवहार देखकर मन-ही-मन कुढ़ने लगे। श्रीस्वामीजीके सङ्कोचके मारे उन्हें खुलकर इस विषयमें उनसे कहनेका साहस नहीं होता था। जब उन लोगोंसे रहा न गया, तब ढाढ़स बाँधकर एक दिन उस मण्डलीमेंसे एकने अगुआ बनकर श्रीस्वामीजीसे दबी जबानसे पूछा भी—'श्रीमहाराज! ऐसा क्यों करते हैं? आप स्नान करनेके उपरान्त धनुर्दासका स्पर्श क्यों करते हैं? आपके कैंकर्यके लिये हम लोग बराबर तैयार ही रहते हैं। तब ऐसा व्यवहार क्यों करते हैं?' श्रीरामानुज स्वामीने छूटते ही उत्तर दिया 'मैं तुम लोगोंके अभावसे ऐसा नहीं करता, बल्कि अपने हृदयका अभिमान दूर करनेके लिये ऐसा करता हूँ। धनुर्दासका आचरण हमारे यहाँके कतिपय ब्राह्मणोंसे कहीं उत्तम है।' यह मुँहतोड़ उत्तर सुनकर वे लोग चक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हो रहे । पर उनके हृदयकी जलन न बुझी, वे धनुर्दाससे कुछ डाह भी करने लगे । श्रीरामानुज स्वामीजी ताड़ गये, उन्होंने सोचा कि यह ईर्षाका अंकुर बढ़ जानेपर इनका सत्यानाश करेगा । इससे पहले ही इसको निर्मूल कर देना उचित है । यह सोच उन्होंने एक रात अपने एक अन्तरङ्ग व्यक्तिसे चुपकेसे कहा कि आप उन समस्त ब्राह्मणशिष्योंके सूखते हुए कपड़ोंसे लगभग एक बित्ता फाड़कर हमें दे जायँ, पर यह बात किसीपर प्रकट न करें । उस सज्जनने ऐसा ही किया । सबेरे सबने अपने कपड़े थोड़े फाड़े हुए देखकर आपसमें ही झगड़ना आरम्भ किया । झगड़ा यहाँतक बढ़ा कि परस्पर गाली-गलौज-की नौबत आ गयी । श्रीस्वामीजीके पास भी खबर गयी । उन्होंने सबको बुलाकर आश्वासन देते हुए कहा—'तुम्हें नये कपड़े मँगवा देते हैं । अब कृपा कर हमारी ओरसे क्षमा करो ।' श्रीआचार्य स्वामीके समझाने-बुझानेसे झगड़ा तो मिटा, पर यह बात बिल्कुल गुप्त रही । उसके थोड़े ही दिनों बाद उन्हीं शिष्योंमेंसे कुछ लोगोंसे कहा कि 'आज हम धनुर्दासको सन्ध्याके समय बहुत रात बीतेतक सत्सङ्गमें बझा रखेंगे। तुम-लोग खूब सावधानीसे उसके घर जाकर हेमाम्बाके गहने चुरा लाओ और चुपकेसे हमें दे दो ।' उन शिष्योंने भी ऐसा ही किया । जब धनुर्दास श्रीआचार्य स्वामीके पास ज्ञानचर्चामें बझा था, तब वे उसके घर पहुँचे । द्वारके किवाड़ खुले थे । भीतर घरमें अकेली हेमाम्बा सब आभूषण पहने हुए पलंगपर लेटी थी । अपने पतिदेवकी प्रतीक्षामें सोयी न थी । श्रीवैष्णवोंको रातके समय चुपकेसे घरमें घुसते देख वह समझ गयी कि ये लोग कुछ चुरानेकी नीयतसे ही यहाँ आये होंगे । इतना मनमें समझते ही वह नींदमें सोयीकी तरह खर्राटे लेने लगी । उसकी ऐसी बेसुध सोनेकी दशा देख इन लोगोंने उसके अङ्गके एक तरफके गहने उतार लिये । हेमाम्बाने मनमें सोचा 'दूसरी तरफके गहने भी अगर ले लें तो अच्छा ।' यह सोचकर उसने करवट बदली । किन्तु इन शिष्योंने समझा यह नींदसे जग जायगी तो ठीक न होगा । ऐसा सोच ये लोग मठको चले आये । जब श्रीरामानुज स्वामीने इन लोगोंको लौटकर आये जाना तब उन्होंने धनुर्दासको घर विदा किया । फिर उन शिष्योंको बुलाकर उनसे गहने लेकर अलग छिपाकर रखवा दिये और बोले—'तुमलोग अब धनुर्दासके घरके बाहर जाकर इस बातका पता लो कि दोनों स्त्री-पुरुषोंमें क्या बातचीत होती है ?' आदेशानुसार वे लोग गये और छिपकर इस बातकी टोह लेने लगे कि दोनों आपसमें क्या बातें करते हैं ? उन्होंने धनुर्दास-को यह कहते सुना कि—'देखो ! तुच्छ गहनोंके मोहमें तुमने यह क्या किया ? मालूम होता है तुम्हारी धन-दौलतकी ममता अभी गयी नहीं है, इसीसे तुमने उन श्रीवैष्णव महानुभावोंको सब गहने नहीं लेने दिये ।' इसपर हेमाम्बा अपने स्वामीसे बहुत विनती कर कहने लगी कि 'स्वामिन् ! मेरा तो सब कुछ श्रीभगवान्‌का ही है, मैं क्यों मोह करती । मैंने तो करवट इसीलिये फेरी थी कि वे इस तरफके गहने भी उतार लेंगे । पर हमारे दुर्भाग्यसे वे चले गये । कृपाकर मेरा अपराध क्षमा करें, मैं अबसे ऐसी बातों-में सावधान रहा करूँगी ।' इतना सुन लेनेपर शिष्य लोग लौट आये और ज्यों-की-त्यों सब सुनी हुई बातें श्रीआचार्य स्वामीसे कह दीं । फिर सबको श्रीस्वामी-जी महाराजने सोनेके लिये विदा किया । दूसरे दिन सबेरे सन्ध्या-वन्दनादि एवं भगवान्‌की आरतीके बाद सबको (फटे कपड़ेके लिये परस्पर गाली-गलौज करनेवाले लोगोंको) बुलाकर कपड़ेके फटे टुकड़े देते हुए कहा—'यह लो, अपने कपड़ोंके फाड़े हुए टुकड़े । तुमलोगोंने इतने कपड़ेके लिये आपसमें ऐसा दुर्व्यवहार

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

किया जो एक साधारण मनुष्य भी सम्भवतः नहीं कर सकता। पर उस पहलवान धनुर्दासको और उसकी भार्या हेमाम्बाको देखो जिन्होंने उतने गहनेके लिये कैसा आचरण प्रकट किया। अब तुम ही इस बातका न्याय करो कि तुम्हारा आचरण श्रेष्ठ है या उन दम्पतिका। हम जो स्नानकर लौटनेके अवसरपर धनुर्दासको टेककर आते हैं, सो इसीलिये कि जातिमें ऊँचा न होनेपर भी उसका आचरण तुमलोगोंसे अच्छा है। हम विश्वास करते हैं कि अब तुमलोगोंका सन्देह दूर हो जायगा।' श्रीमद्रामानुजाचार्यजीकी बातोंसे पीछे मठके समस्त ईर्षालु श्रीवैष्णवोंके जीमें धनुर्दासका महत्त्व बैठ गया और तबसे वे उसके साथ प्रेम और सहानुभूतिका बर्ताव करने लगे। श्रीस्वामीजीने उसी समय धनुर्दासको बुलाकर सब गहनें यह कहते हुए दे दिये कि हमने तुम्हारी परीक्षाके लिये यह काण्ड रचा था। सो बुरा न मानना। धनुर्दासने उत्तरमें इतना ही कहा, 'दासका सर्वस्व श्रीचरणका ही है। इसमें बुरा माननेकी कौन-सी बात है?' इस प्रकार धनुर्दास भगवत्कृपाकटाक्षसे अपनी विषय-लोलुपताके सदुपयोग और श्रीआचार्य स्वामीके कृपाकटाक्षपातसे क्यासे क्या हो गया। वह अपने आदर्श आचरणोंसे श्रीवैष्णव-सम्प्रदायके इतिहासमें अपना नाम अमर कर गया। आज भी श्रीवैष्णवलोग उसका नाम सम्मानके साथ लेते हैं। उसके साथसे हेमाम्बा भी तर गयी।

शम्भवतु।

मनोनिग्रहकी आवश्यकता और उसके साधन

(लेखक—श्रीस्वामी समाधिनाथ ब्रह्मर्षि श्रीरामबहालजी)

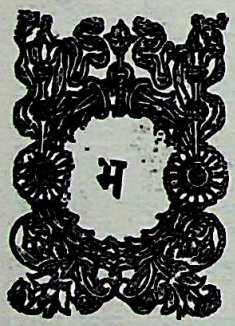

भलीभाँति विचार करनेपर यही निश्चय होता है कि ज्ञानके विरोधी दोषोंकी निवृत्तिके लिये मनोनिग्रह ही सर्वोत्तम उपाय है। किन्तु यह सबके लिये सुलभ नहीं है। इसीसे मनको 'जेय' (जीतने योग्य) कहा जाता है 'जय्य' (सुगमतासे जीत लिया जानेवाला) नहीं कहा जाता, क्योंकि इसका वशीभूत होना बड़ा ही कष्टसाध्य है। भगवती श्रुति भी कहती है—

मनसो वशे सर्वमिदं बभूव। नान्यस्य मनो वशमन्वियाय। भीष्मो हि देवः सहसः सहीयानिति।

अर्थात् यह सब मनके वशीभूत है, किन्तु मन किसी दूसरेके अधीन नहीं है। यह मनरूप देव बड़ा ही भयंकर और प्रबलसे भी प्रबल है। अथवा यों समझो कि मन बड़ा प्रबल है, इसलिये अत्यन्त भयंकर है। श्रीमद्भगवद्गीतामें अर्जुन कहते हैं—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥

अर्थात् हे कृष्ण! मन तो बड़ा ही चञ्चल और बलवान् है उसका निग्रह तो मुझे वायुके समान अत्यन्त दुष्कर जान पड़ता है। श्रीमद्भागवत चतुर्थ स्कन्धमें देवर्षि नारदजी कहते हैं—

मन एव मनुष्यस्य पूर्वरूपाणि शंसति।
भविष्यतश्च भद्रं ते तथैव न भविष्यतः॥

मनुष्यका मन ही उसके भविष्यमें होनेवाले अभ्युदय अथवा अधोगतिके पूर्वरूपोंकी सूचना दे देता है। यहाँ श्रीधरस्वामीने 'न भविष्यतः' इस पदकी व्याख्या 'नीचत्वं प्राप्स्यतः'—नीचताको प्राप्त होनेवाले—ऐसा किया है। श्रुतिका भी यह घोष है ही कि—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं स्मृतम्॥

अर्थात् मनुष्यका मन ही उनके बन्धन और मोक्षका कारण है। जो चित्त विषयासक्त होता है वह बन्धनका हेतु होता है और निर्विषय चित्त मुक्तिका द्वार माना गया है।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

महाराज जनक कहते हैं—

सहस्राङ्कुरशाखाग्रफलपल्लवशालिनः ।
अस्य संसारवृक्षस्य मनो मूलमिति स्थितम् ॥
सङ्कल्पमेव तन्मन्ये सङ्कल्पोपशमेन तत् ।
शोषयामि यथा शोषमेति संसारपादपः ॥
प्रबुद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि दृष्टश्चौरो मयात्मनः ।
मनो नाम निहन्म्येनं मनसास्मि चिरं हतः ॥

'यह जो सहस्रों अंकुर, शाखा, फल और पल्लवोंसे पूर्ण संसाररूप वृक्ष है उसका मूल मन ही माना गया है। मेरा विचार है कि वह मन संकल्पमात्र ही है; अतः संकल्पशान्तिके द्वारा मैं उसे सुखा डालूँगा, जिससे कि यह संसार वृक्ष भी सूख जायगा। अब मैं जग उठा हूँ, जग उठा हूँ। मुझे 'मन' नामक अपना चोर मिल गया है। अब मैं इसे मार डालूँगा, इस मनके कारण मैं चिर-कालसे कष्ट भोगता रहा हूँ।'

महर्षि देवस्थान कहते हैं—

मनो यस्य वशे तस्य भवेत्सर्वं जगद्वशे ।
मनसस्तु वशे योऽस्ति स सर्वजगतो वशे ॥

'जिसने मनको स्वाधीन कर लिया है उसके अधीन सारा संसार हो जाता है, और जो मनके वशीभूत है वह तो सारे संसारके वशमें है।'

इस विषयमें कुछ प्राचीन आचार्योंका ऐसा कथन है—

आत्मभूपतिरयं पुरातनः पीतमोहमदिरामदाकुलः ।
किङ्करस्य मनसोऽपि किङ्करैरिन्द्रियैरहह किङ्करीकृतः ॥

अर्थात् यह आत्मारूपी सनातन सम्राट् मोहमयी मदिराका पान करके उन्मत्त हो जानेसे अपने दास मनकी भी दासी इन्द्रियोंका गुलाम हो गया है। जबतक यह सावधान रहा तबतक अपनी प्रजा मन-इन्द्रियादिपर इसका अधिकार रहा; किन्तु ज्यों ही मोहमयी मदिराका पान करनेसे इसके होश-हवास उड़े त्यों ही यह अपने दासोंका दास हो गया। इन्द्रियोंने इसे अपना आज्ञाकारी सेवक बना डाला; सबका स्वामी होनेपर भी इसे अपने दासोंकी अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। अतः सत्पुरुषों-को चाहिये कि बुद्धिकी सहायतासे अभ्यासद्वारा इन्द्रियोंको अपने अधीन करें और विषयवासनाओंसे अत्यन्त दूषित अपने चञ्चल और प्रबल चित्तरूपी अश्वको, उसके अविद्यादि दुर्दान्त क्लेशोंकी निवृत्तिके साधक तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति करानेके लिये, विषयोंकी ओर न जाने दें। श्रीवशिष्ठजी कहते हैं—

अस्य संसारवृक्षस्य नानोपद्रवदायिनः ।
उपाय एक एवास्ति मनसः स्वस्य निग्रहः ॥
मनसोऽभ्युदये नाशो मनोनाशे महोदयः ।

अनेक प्रकारके उपद्रव उपस्थित करनेवाले इस संसाररूप वृक्षको निर्मूल करनेका एकमात्र उपाय अपने मनका संयम करना ही है। मनका अभ्युदय होनेपर तो हानि ही है, परम लाभ तो मनका नाश होनेमें ही है।

इस प्रकार प्रायः सभी महापुरुष इस विषयमें एक स्वरसे सहमत हैं कि परमकल्याणका मूल मनोनिग्रह ही है। वह मनोनिग्रह यद्यपि अत्यन्त दुष्कर है; यहाँतक कि भरतश्रेष्ठ अर्जुन-जैसे वीर और भागवताग्रगण्यको भी उसका विजय बड़ा दुर्घट जान पड़ता था तथापि वह सर्वथा असम्भव नहीं है। अर्जुनको उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

हे वीरवर! निःसन्देह मन बड़ा ही दुर्जय और चञ्चल है, तथापि हे कुन्तीनन्दन! अभ्यास और वैराग्यद्वारा उसका निग्रह किया ही जा सकता है। इसके लिये गीता अध्याय तेरहके श्लोक ७ से ११ तक बतलाये हुए अमा-नित्व, अदम्भित्वादि ज्ञानके साधनोंका उपार्जन करना चाहिये। इस प्रकारकी साधनसम्पत्तिसे सम्पन्न होनेपर उसे सहजहीमें स्वाधीन किया जा सकता है। हमने 'रामबहालप्रकाश' नामकी अपनी एक पुस्तकमें मनोनिग्रहके साधनोंका उल्लेख करनेके लिये एक पद लिखा है; उसे यहाँ उद्धृत किया जाता है—

संतो कैसे मरै यह मनवाँ ।
होत न ठीक बिना मन मारै कोटिन करौ जतनवाँ ॥
बिनु मन मारै नर्कभोग करि लक्ष चौरासी नमवाँ ।
अंतिम पायौ जनम मनुजको न तनु आइहै कमवाँ ॥
तुरत जाहु गुरुचरन-सरन महँ देहिं तुमहिं निज धमवाँ ॥
आसन थिर करि बैठहु संतो खींचहु पान-अपनवाँ ॥
इंगल पिंगल पवन झकोरै जाय त्रिबेनी धमवाँ ।
रामबहाल पैठि अन्हवावहु फेरि न पइहो तनवाँ ॥

मन, प्राण, शरीर और नेत्रोंकी स्थिरताका पारस्परिक

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सम्बन्ध बतलाते हुए योगशास्त्रोंमें कहा है कि जैसे-जैसे अभ्यासके द्वारा मनकी स्थिरता होगी वैसे-वैसे ही प्राण, वाणी, शरीर और नेत्र भी स्थिर होते चले जायँगे।* मनोनिग्रहकी आवश्यकता और उसकी साधनसम्पत्तिका वर्णन करते हुए श्रीवशिष्ठजी कहते हैं—

हस्तं हस्तेन सम्पीड्य दन्तैर्दन्तान्विचूर्ण्य च ।
अङ्गान्यङ्गैः समाक्रम्य जयेदादौ स्वकं मनः ॥
अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च ।
वासनानां परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ।

'हाथसे हाथ मलकर, दाँतोंसे दाँतोंको पीसकर और अङ्गोंसे अङ्गोंको दबाकर सबसे पहले अपने मनको जीते। अध्यात्मविद्याकी प्राप्ति, सत्संग, वासनाओंका त्याग और प्राणस्पन्दको रोक देना—ये ही चित्तजयकी प्रबल युक्तियाँ हैं।'

जिस प्रकार नित्यप्रति एक-एक दो-दो श्लोक पढ़ते रहनेसे बालक कालान्तरमें अध्यापक हो जाता है तथा जैसे कोई दरिद्र भी कौड़ी-कौड़ी जोड़ते रहनेसे कुछ वर्षोंमें लक्षाधीश हो सकता है उसी प्रकार नित्यप्रति घड़ी-दो-घड़ी अभ्यास करते रहनेसे गुरुकृपा होनेपर कुछ ही वर्षोंमें साधकको समाधि लाभ हो सकता है। हाँ, इसके लिये उसका संकल्प दृढ़ अवश्य होना चाहिये। क्योंकि दृढ़ संकल्प होनेपर ही साधनमें तत्परता होती है और तत्परता ही सफलताकी कुंजी है।

ईश्वरमें विश्वास

(कहानी)

(लेखक—श्रीसबनाराइन चित्रगुप्त)

(१)

उरईके राजा माहिलकी तीन बहिनें थीं। एक दिन राजाने तीनोंसे पूछा कि तुम किसके भाग्यसे खाती हो? बड़ी और मझली बहिनने कहा कि मैं आपके भाग्यसे खाती हूँ। छोटीने उत्तर दिया कि मैं अपने भाग्यसे खाती हूँ और ईश्वरके सिवा कोई किसीको भोजन नहीं देता है। माहिलने कहा—'मैं देखूँगा तेरे ईश्वरको!'

माहिलने अपनी बड़ी बहिन अगमाका विवाह महाराज पृथ्वीराजसे कर दिया। मँझली बहिनका विवाह कन्नौजके राजा जयचन्दके साथ कर दिया। और मलनाके लिये एक गरीब और बूढ़ा किसान ठीक किया। जहाँ इस समय महोबा है, वहाँपर उस समय तीन-चार झोंपड़ियाँ थीं। एक झोंपड़ीमें परिमाल नामक ठाकुर रहता था। सात बीघा ज़मीन थी। एक बैल और एक भैंसासे हल जोतता था। पढ़ा-लिखा न था। घरमें अकेला था। उम्र थी—४५ साल। इतना ही नहीं, पेटमें जलंधर रोग भी था। परिमालका शरीर काला, बदन पतला और पेट मटकाकी तरह! माहिल राजाने उसी किसानके साथ मलनाका विवाह कर दिया!

(२)

ससुराल पहुँचकर मलनाने खाना-पीना सब छोड़ दिया। प्रार्थना करना और रोना यही दो काम थे।

* यथा यथा सदाभ्यासान्मनसः स्थिरता भवेत्। वायुवाक्कायदृष्टीनां स्थिरता च तथा तथा ॥

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

एक दिन सोमवार आया। सोमवारका व्रत मलना हमेशा करती थी। वह शिवकी उपासना करती थी। प्रतिदिन तीन हजार 'नमः शिवाय' महामन्त्रका जाप करती थी। परन्तु सोमवारके दिन व्रत रखकर पचास हजार मन्त्रका जाप करती थी। उस दिन गाँवके लड़कों और लड़कियोंको भोजन कराती थी। आज भी सोमवार है। घरमें भूँजी भाँग नहीं। भाईने क्रोध-के कारण कुछ दिया नहीं। आज बालकभोजन कैसे हो? 'बन्दिय बालरूप सोइ रामू' कहकर मलना फूट-फूटकर रोने लगी। मलनाने कहा—हे शिव! हे मालिक! ईश्वरका पक्ष लेनेसे क जीवने मेरी यह दुर्दशा कर डाली। मुझ राजकुमारीको बूढ़ा, रोगी और गरीब किसान पति दिया? सुना है कि परमात्मा पहाड़को राई और राई-को पहाड़ कर देता है। मुझ राईको पहाड़ कर दो तो मैं जानूँ। और उस पहाड़को राई कर दो तो मैं जानूँ। आज माहिलरूपी पहाड़ और मलनारूपी राईमें द्वन्द्व छिड़ गया है। हे अन्तर्यामी शिव! आपको अपने विरदका विचार नहीं रहता है? या तो मेरी दशा सुधारो या मुझे मौत दो। मुझे यह वर्तमान जीवन असह्य है।' प्रार्थना करते-करते मलना मूर्च्छित हो गयी। उसने सपना-सा देखा कि भगवान् शिवजीने हुक्म दिया—

'आज रातभर जागना!'

(३)

सोमवारकी रात थी। दिनभरकी भूखी-प्यासी और दिनभरकी रोती हुई मलना, रात्रि-जागरणके लिये बैठी थी। मलना अपने हाथमें सुई लिये थी। नींद्स आया नहीं और उसने सुई अपने शरीरमें चुभोई नहीं। अन्तरके आदेशको पूरा करनेके लिये आज वह रातभर जागेगी। धीरे-धीरे आधी रात-का समय आया। सारा संसार सो रहा था, पर दुःख-की मारी मलना जाग रही थी। पशु, पक्षी और वृक्ष-तक सो रहे थे, पर मलनाको सोना भी नसीब न था। सच बात कहनेके अपराधपर भाईने बहिनको नरकमें ढकेल दिया था। खुशामद न करनेके कारण एक भाईने अपनी बहिनको वह दुःख दिया कि जो दुश्मन भी दुश्मनको नहीं दे सकता था।

झोंपड़ीके पास एक आमका वृक्ष था। चाँदनी रात थी। वृक्षकी चोटीपर एक काग बैठा था और वृक्षकी जड़पर एक काला साँप बैठा था। दोनोंमें बातचीत शुरू हुई। मलनाके हृदयमें साक्षात् शिवजी प्रकट हुए। मानो किसीने भीतर कहा—

'साँप और कागकी बातचीत सुनना!'

मलनाने उत्तर दिया—'मैं उनकी भाषा नहीं समझती।'

अन्तर्वाणीने कहा—'उन दोनोंकी बातोंका अर्थ मैं तुमको बतलाऊँगा। अगर इस बातचीतके अनुसार काम करोगी तो तुम्हारा समस्त क्लेश दूर हो जायगा।'

मलना सावधान होकर बैठ गयी। साँपने कागसे जो बात कही और साँपसे कागने जो बात कही उसका अर्थ भगवान् भोलानाथने इस प्रकारसे मलनाको समझाया—

साँपने कागसे कहा—'सारा संसार सो रहा है। तुम्हारा गुणगान सुननेवाला कोई नहीं है। तुमने कई बार हमला करके मुझको जख़मी किया है। इसलिये तुम्हारी पोल खोलता हूँ। अगर कोई इस कागको पकड़ ले और सरसोंके तैलमें भून डाले, फिर उस तैलको ठंडाकर परिमालके शरीरपर मल दे तो परिमालका काया-कल्प हो जावे। उसके समस्त रोग नष्ट हो जायँ। उसकी उम्र बीस सालके जवान-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

जैसी हो जावे। वह इस समय जितना बदसूरत है उस समय वह उतना ही खूबसूरत हो जाय। इस काग-कल्पसे वह किसान, राजकुमार-जैसा दीप्तिमान् हो जायगा।'

कागने साँपसे कहा—'सारा संसार सो रहा है। तेरा गुणगान सुननेवाला कोई नहीं है। तूने हमारे सब अण्डे खा लिये, इसीलिये मैंने हमले किये। मेरी-तेरी पुरानी दुश्मनी है, इसलिये आज तेरी पोल खोलता हूँ। अगर कोई गरम तैलसे इस साँपकी बामी भर दे तो यह मरकर बाहर निकल आवेगा। इसके बाद इसके घरको पाँच हाथ गहरा खुदवा डाले। तो उसको 'पारस' मिल जायगा। जब वह पारस पा जायगा तब खुद ही सम्राट् हो जावेगा।'

(४)

सुबह होते ही मलनाने चिड़ीमारोंको बुलाया। आमके वृक्षपर जाल लगाया गया और वह काग पकड़ा गया। गरम तैलमें उस कागको भूना गया और वह तैल परिमालके अंगपर लगाया गया। सचमुच काया-कल्प हो गया। परिमाल इतने सुन्दर हो गये कि दूसरे इन्द्र-से लगने लगे।

इसके बाद दस मन तैल औटाया गया और साँप-की बामीमें भरा गया। जल भुनकर साँप बाहर निकला और मर गया। उस जगह खुदाई की गयी तो एक श्वेत शिवमूर्ति निकली। मलनाने स्नान किया और उस पत्थरको ठाकुरजीके पास रख दिया। एक लोहेकी कील उस पत्थरसे छुआई तो वह सोनेकी कील हो गयी। वही 'पारस' था।

(५)

अब क्या था। सारा रंग पलट गया। कल जो मजदूर था आज उसके दरवाजेपर हजारों मजदूर काम करनेके लिये खड़े हैं। कल जो झोंपड़ीमें रहता था आज वही महल बनवा रहा है। परिमालने कहा—'मेरे घरमें साक्षात् लक्ष्मीजीने प्रवेश किया है।' खुद अपने हाथसे मलनाने महोबा नगरको नींव रक्खी। एक सालके अंदर विशाल महोबा बस गया कि जिसमें एक भी घर कच्चा न था। समस्त नगरमें बहादुर क्षत्रियलोग बसाये गये। किलेमें महारानी मलना और महाराज परिमाल रहने लगे। सेना भरती की गयी। नगरके उत्तरमें शिवमन्दिर बनाया गया। शारदा देवी और मनियाँ देवके मन्दिर बनाये गये। जंगलमें मंगल हो गया। महोबाके बसनेका और पारस-की प्राप्तिका यही आदिम इतिहास है। कीरत सागर नामक तालके किनारेपर महात्मा लोगोंने धूनी लगा दी।

(६)

मलना रानीके हुक्मसे सेनापति दस्सराज और बच्छराजने सेना सजायी। उरई-नरेश माहिलके ५० ग्रामोंपर जबरदस्ती कब्जा कर लिया गया। माहिल प्रतिबीघा पाँच रुपया लगान लेता था, मलना-ने फी बीघा चार आना लगान कर दिया। पब्लिकने कहा—'महारानी मलनाका राज्य अटल रहे।' सेनापतियोंने उरईके मैदानमें माहिलके पुत्र राजकुमार उभईको हराया। इसके बाद माहिल गिरफ्तार हुए और मलनाके सामने लाये गये।

मलना—आज राईको पहाड़ कर दिया गया और पहाड़को राई कर दिया गया। मालिककी भुजाएँ बहुत बड़ी हैं। मालिकके खेल बड़े विचित्र हैं।

राखनहार जो चार भुजा, तो कहा करिहैं दो हाथ बिचारे!

क्यों राजन्! मलनाको भोजन माहिल देता है या ईश्वर?

माहिल—ईश्वर ही सबको भोजन देता है।

मलना—तुम तो कहते थे कि मैं तुम्हारे ईश्वरको देखूँगा। सो तुमने मेरे ईश्वरको देख लिया या नहीं?

माहिल—देख लिया। खूब देख लिया।

मलना रानीने भाई माहिलकी हथकड़ी खुला दी और उनको उरई भेज दिया। इसके बाद महारानी मलनाने बावन किले फ़तह किये और अपने पुत्र ब्रह्माका विवाह भारतसम्राट् पृथ्वीराजकी लड़की बेलाके साथ किया।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

योगवाशिष्ठसार

निर्वाणप्रकरण उत्तरार्द्ध

(लेखक—मा० श्रीकन्हैयालालजी)

जीवकी जो अपनी कल्पना है, वही उसको जगत्के रूपमें प्रतीत होती है। परन्तु ज्ञानवान् इस जगत्को चिदाकाश निश्चय करता है। ज्ञानवान्की दृष्टिमें जो भासित होता है वही सत्य है। अतः इस जगत्में जितने भी पदार्थ दिखायी देते हैं, उनकी ओरसे अनासक्त होकर आत्माकी ओर ही देखना चाहिये। थोड़े-से अभ्याससे ही यह भासित हो जायगा कि यह सारा विश्व आत्मरूप ही है। वृत्तियाँ जो स्फुरित होकर देश-देशान्तरोंमें जाती हैं, उनके मध्यमें जो ज्ञानस्वरूप है, उसका नाम संवित् है और जिसके आश्रयमें वृत्तियोंका स्फुरण होता है, उसका नाम चिदाकाश-संवित् है। जिसकी सभी इच्छाएँ निवृत्त हो गयी हैं और जो राग-द्वेषादिसे रहित हो गया है, वह शुद्ध संवित् है। जगत्का अन्त हो जानेपर भी यदि जड़ता न आवे और उसके मध्यमें अद्वैतकी सत्ता विराजित रहे तो वही चिदाकाश है। चिदाकाशसे ही सबकी सृष्टि होती है। यह सबमें और सब इसमें निवास करते हैं। चिदाकाशकी परिभाषा इस तरह भी हो सकती है कि 'नेति-नेति' के पीछे जो 'अनादिपद' शेष रहता है, उसीका नाम चिदाकाश है। चिदाकाशके दृढ़ निश्चयसे अज्ञानमयी जो विरोधी भावनाएँ हैं, उनका अन्त हो जाता है। जिसका मन निर्वासनिक होकर शान्त हो गया है वह बोलता, चलता, खाता और पीता हुआ भी पाषाणकी तरह स्थिर हो जाता है।

यह सारा जगत् अदृश्यरूप है। इसका जो आदि कारण है वही दृश्यमें प्रतीत होता है। द्रष्टा, दर्शन और दृश्य सभी परमात्मस्वरूप हैं। आत्मसत्तामें जिस प्रकारकी भावना होती है उसी प्रकार सांसारिक वस्तुएँ जान पड़ती हैं। शुद्ध चिन्मात्रमें जब अहंका स्फुरण होता है तब वह जगत् होकर प्रतीत होता है। अहंरूपी जीव ही जगत्में फैला हुआ दृष्टिमें आता है। परन्तु वह वास्तवमें है नहीं। सांसारिक सुखोंकी अभिलाषा रखनेवाले मृगतृष्णा-जलके समान हैं। न तो यह जगत् ही कुछ है और न इस जगत्में निवास करनेवाले सुख-दुःख ही कोई हस्ती रखते हैं। इसलिये इस जगत्को सच और साकार माननेकी अनन्त अविद्यामें कभी भूलकर भी नहीं फँसना चाहिये।

लक्ष्मी, स्वास्थ्य और यौवन यह तीन पदार्थ ऐसे हैं जिनका सदुपयोग किया जाय तो परमपदकी प्राप्तिके कारण बन जाते हैं। परन्तु ऐसा होता बहुत कम है। विरले ही ऐसे हैं जो इनके द्वारा धर्मार्थकी साधना करते हैं अथवा इन तीनों पदार्थोंकी प्राप्तिके समय उनकी बुद्धि ठिकाने रहती है। ज्ञानी और महात्माओंका मन आकाशकी तरह व्यापक हो जाता है। उसीकी तरह उसमें निर्लेपता और सबका आधार बननेकी शक्ति आ जाती है। आकाशको जो शून्य मानते हैं, उनको मूर्ख ही समझना चाहिये। सब जगह दिनमें प्रकाश, सन्ध्या-कालमें लाली और रात्रिमें अँधेरा दिखायी देता है, परन्तु ज्ञानियोंका आत्मारूपी जो आकाश है, उसमें यह परिवर्तन नहीं होता। उसमें तामसी, राजसी और सात्त्विकी प्रवृत्तियाँ अवश्य हैं, परन्तु उनसे वह प्रभावित नहीं होता। वह सदा एकरस ज्यों-का-त्यों है। उसमें अनन्त जगत् आये और लीन हो गये। फिर अभी अनन्त कालतक यह क्रम लगा भी रहेगा। उसमें जो नाना प्रकारके तरङ्ग दीखते हैं, वही माया हैं।

देहाभिमान परम अनर्थका कारण होता है। इसके कारण जीवको अनेक प्रकारकी आपत्तियाँ सहनी पड़ती हैं। और यह होता है केवल आत्मज्ञानके अभावमें। आत्मज्ञानके बिना मनुष्यकी बुद्धि, चाहे वह कितनी ही प्रखर क्यों न हो, शोभा नहीं पाती। उसके बिना मनुष्य माया-मोह और जन्म-मरणके बन्धनोंसे कभी विमुक्त नहीं होता। ज्ञानी और अज्ञानीमें अन्तर इतना ही है कि एकका हृदय शीतल और दूसरेका सन्तप्त होता है। एक सांसारिक पचड़ोंसे सर्वथा दूर रहकर अपने परम लक्ष्यका ध्यान लगाये रहता है और दूसरा जगत्के व्यामोहमें फँसकर उलझता रहता है। एक प्रस्तरकी तरह दृढ़ और दूसरा काँचकी तरह कमजोर होता है। एककी दृष्टिमें यह जगत् कुछ भी नहीं प्रत्युत ब्रह्माकाश है और दूसरेकी नजरोंमें चिरस्थायी और सुख-सम्पत्तिका केन्द्र है। एक परमानन्द-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

में मग्न रहता है और दूसरा क्षणिक सुखोंकी टोहमें व्यथित और भ्रान्त बना रहता है। बस, यही भेद है। इस भेदको जानकर चाहिये कि हम अज्ञानान्धकारको हृदयसे सदाके लिये निकाल बाहर करें और अपने स्वरूपको, जो वास्तविक है, समझनेकी चेष्टा करें।

मनको एकाग्र करनेका नाम 'शम' और इन्द्रियोंको रोककर अपने अधीन करनेका नाम 'दम' है। इन दो गुणोंको धारण करनेवाले मौनी हैं। मौनियोंका अन्तःकरण शुद्ध होता है। और अन्तःकरणकी शुद्धताद्वारा आत्मज्ञानकी स्फूर्ति होती है। जाग्रत् और स्वप्नमें कोई विशेष अन्तर नहीं यह सुनकर आपको सम्भवतः आश्चर्य होगा। परन्तु इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं, क्योंकि चिरकालीन प्रतीतिका नाम जाग्रत् और अल्पकालीन प्रतीतिका नाम स्वप्न है। रूपतः दोनों समान हैं। स्वप्न जाग्रत्कालमें ही स्वप्न है स्वप्नावस्थामें तो वह जाग्रत् ही है। इसी प्रकार जाग्रति भी जाग्रत्कालमें ही जाग्रति है, अन्यथा वह भी स्वप्नरूपा ही है। जाग्रतिमें जो सत्त्वत्वका भाव है उसीका नाम प्रमाद है। जाग्रत् और स्वप्न दोनोंके अधिष्ठान चैतन्यसत्ता परब्रह्म ही है। उसीके प्रमादसे जीवका प्राणके साथ सम्बन्ध है।

जब प्राणसे चित्तका संवेदन मिलता है और उसका बाह्यरूप होकर स्फुरण होता है तब यह जगत् जाग्रत्रूप होकर प्रतीत होता है। उस समय पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँचों कर्मेन्द्रियाँ और अन्तःकरणचतुष्टय अपने-अपने विषयको ग्रहण करते हैं। उसी स्थितिका नाम जाग्रति है। जब चित्तका स्पन्दन निद्रादोषसे अन्तर्मुख होकर स्फुरित होता है तब उसको अनेकों तरहकी स्वप्न-सृष्टियाँ देखनेमें आती हैं और उस कालमें वही प्रतीत होता है। आत्मसत्तारूपी अधिष्ठानकी ओर जब संवेदनका स्फुरण होता है और बाह्य विषयोंके स्फुरणसे रहित अस्फुरणा होती है, उस समय न तो जाग्रत् प्रतीत होता है और न स्वप्न। उस समय केवल आत्मसत्ता, जो निर्विकल्प है, शेष रहती है। वास्तवमें चिन्मात्र ही है, न कि जगत्। वह तो मिथ्या और कल्पनामात्र है। प्रलयका नाम सुषुप्ति है जिसमें द्रष्टा, दर्शन और दृश्य तीनोंका लोप हो जाता है। चित्तकी वृत्तियाँ जब स्फुरणसे रहित हो जाती हैं, तो उसीको सुषुप्ति कहते हैं। सुषुप्तिको इस प्रकार भी समझा जा सकता है कि जब चित्तका संकल्प अस्फुरित, निर्विकल्प और सम्यग्बोधसे रहित हो जाता है, उस अभाववृत्तिका नाम सुषुप्ति है। तुरीया साक्षीभूत वृत्तिको कहते हैं। वह सम्यक् ज्ञानसे पैदा होती है। वह जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाकी साक्षीभूत है। उसमें ब्रह्मका सम्यग्बोध होता है। सुषुप्ति और तुरीयामें इतना भेद है कि सुषुप्ति जडता और अन्धकारयुक्त अविद्या है और तुरीयामें जडता नहीं होती। उसमें सम्यग्बोध होता है।

मनःशान्तिके दो उपाय हैं। एक मनकी वृत्तियोंका निरोध और दूसरा प्राणस्पन्दनको रोकना। मनकी स्थिति भी दो प्रकारकी होती है। एक ज्ञानकी स्थिति और दूसरी अज्ञानकी। यदि वासनाके साथ-साथ वे नाड़ियाँ जिनके द्वारा जाग्रत् अवस्थामें प्राण सञ्चरित होते हैं, रोक ली जायँ तो मन भी सुषुप्त हो जायगा। किन्तु यह अज्ञानकी स्थिति होगी, क्योंकि इसमें जडता है। ज्ञानवान् और सम्यक्दर्शी वही कहा जायगा जिसका चित्त चेतनत्वके लिये स्थित हो। चेतनत्व भी दो प्रकारका है। एक तो वह जो योगियोंको होता है। उसके द्वारा योगी लोग समाधिमें मनको स्थिर करते हैं। दूसरा जीवन्मुक्त ज्ञानियोंको होता है, उसके द्वारा वे अपनी चित्तवृत्तिको निर्वासनिक करते हैं। इस प्रकारकी स्थितिवालोंको ही शान्ति मिल सकती है।

जितने सुन्दर स्थान और संवाद हैं, उन सबका सार चिन्मात्र है। उसीका चमत्कार और आभास सम्पूर्ण जगतमें व्याप्त है। उससे कोई वस्तु पृथक् अथवा भिन्न नहीं है। साधकोंको चाहिये कि एकमात्र उसीकी सत्ताको ग्रहण करें। वही परमानन्दस्वरूप और सबका अनुभव है। कारणयुक्त वस्तु सत्य और कारणविहीन पदार्थ असत्य होता है। कारण दो प्रकारका है। एक निमित्त, और दूसरा समवाय। आत्मा दोनोंमेंसे किसी भी प्रकारका जगत्का कारण नहीं हो सकता। यह जगत् अकारण ही प्रतीत होता है, इसीलिये इसको असत्य कहते हैं। आत्माका आभास जगत्में अवश्य होता है। इसीसे ज्ञानियोंको जगत्में केवल आत्मा ही प्रतीत होता है। आत्माकी सत्ता अच्युत अमर और सर्वदा शुद्ध है।

ब्रह्मादिका स्फुरण परमात्मासे ही हुआ है। परन्तु वे जन्म और कर्मसे रहित हैं और ब्रह्मस्वरूप हैं। उनको सर्वदा सर्वाधिष्ठानभूत आत्मामें ही अहंप्रतीति होती है। अविद्यासे उनका स्पर्श भी नहीं हुआ। अन्य साधारण जीव अविद्याके कारण प्रमाद करके परतन्त्र बने हुए हैं और

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

कर्मके वश होकर उसके अनुसार शरीर धारण करते हैं। अतः जब उनको आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है, तभी कर्मके बन्धनसे मुक्ति पाते हैं। सबसे आरम्भमें जो सृष्टि हुई थी, वही कर्मके विना हुई थी। पीछे अज्ञानवश कर्मानुसार जन्म-मरणका बन्धन लगा। जिसको जबतक यह जगत् सत्य प्रतीत होता है, तबतक वह अज्ञानी है और कर्मके बन्धनकी फाँसी उसके गलेमें लगी हुई है। तभीतक उसको दुःख भी है परन्तु जब वह अपने स्वरूपमें स्थित हो जायगा तब कर्मके बन्धनसे बिल्कुल मुक्त हो जायगा। जबतक यह संवित् बहिर्मुख है तबतक जगत् प्रतीत है और कर्म भी दृष्टिमें आते हैं परन्तु जब यह अन्तर्मुख हो जाती है, तब न कोई जगत् दृष्टिमें आता है और न कर्म ही रहते हैं। उस समय केवल आत्मसत्ताकी ही प्रतीति होती है।

जिस पुरुषमें सत्यासत्यका विचार हो जाता है, वह अविद्यासे रहित हो जाता है। वह संसार-चक्रमें नहीं फँसता और परमपदको प्राप्त कर लेता है। उसको उस परमानन्दकी प्राप्ति हो जाती है जिसके सामने इन्द्रियोंका आनन्द सूखे तृणके समान तुच्छ है। वैसा सुख पृथ्वी क्या, तीनों लोकोंमें कहीं भी नहीं मिल सकता। उस आत्मानन्दकी प्राप्ति आत्माभ्यासद्वारा ही हो सकती है। अपने स्वरूपमें स्थित हो जानेपर सर्वत्र ब्रह्म-ही-ब्रह्म भासित होता है। उस समय ज्ञानके कारण इस जगत्का—जो संकल्पमात्र और अनुभवरूप है—अभाव हो जाता है। क्योंकि आत्मसत्ता अद्वैत है। यह जगत् उससे भिन्न नहीं है, उसीका रूप है। केवल नामका भेद है, जैसे 'जल' और 'पानी'। मगर अज्ञानवश प्राणियोंको यही भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। जब संवित्का स्फुरण होता है तब तो नाना प्रकारका जगत् भासित होने लगता है और जब वह अस्फुरित होती है तो जगत्का प्रलय हो जाता है। एक आत्मसत्तासे भिन्न किसी अन्य पदार्थका न रहना ही 'प्रलय' है। उस आत्मसत्ताकी प्राप्ति एकाग्रचित्त होकर अभ्यास करनेसे हो सकती है; अन्यथा नहीं।

मनुष्य जिस तरहकी भावना करता है, वैसा ही स्वरूप उसके सामने आता है। अतएव अविद्याके कारण यह भ्रमपूर्ण जगत् भासित होता है—ऐसा समझकर आत्मपदका अभ्यास करना चाहिये। तभी दुःख मिटेंगे। जिनको आत्माका साक्षात्कार हो गया है उनको यह जगत् कारणविहीन ब्रह्मस्वरूप प्रतीत होता है। परन्तु जिनको आत्माकी ओरसे प्रमाद है उनको भ्रमवश यह जगत् सकारण जान पड़ता है। आत्मा या ब्रह्म निराकार एवं अकारण है। संवेदनके स्फुरणसे वह अन्यथा प्रतीत होता है। इसीसे निराकारमें आकार और अकारणमें कारणकी प्रतीति होती है। जब जीव आत्मसत्तामें जागता है तब इस कार्य-कारणात्मक जगत्की कुछ भी प्रतीति नहीं होती फिर तो यह आत्मस्वरूप ही भासित होता है। वस्तुतः चित्तके स्फुरणका नाम ही जगत् है और उसके स्थित होनेको ही ब्रह्म कहते हैं।

यह जगत् आत्मस्वरूप है तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया उसके वपु हैं। जाग्रत् स्थूल शरीरकी समष्टि है, उसका नाम विराट् है। स्वप्न लिङ्गशरीरकी समष्टि है, उसका नाम हिरण्यगर्भ है। सुषुप्ति कारणशरीरकी समष्टि है, उसका नाम अव्याकृत माया है। और तुरीय सम्पूर्ण शरीरोंकी समष्टि है, उसका नाम चेतनरूप आत्मा है। तुरीय साक्षी चेतनको भी कहते हैं। वही समष्टि चिद्वपु है। चारों शरीर उसीके हैं, और वह सदा निराकार अचैत्य-चिन्मात्र है। उसमें जो आकार भासित होता है, वह उसीका रूप है। आकार कल्पनामात्र है। आत्मा सब कल्पनाओंसे रहित है, इस कारण यह जगत् चिदाकाशरूप है।

जीवोंके इतने भेद हैं—१ सात्त्विक-सात्त्विक, २ केवल सात्त्विक, ३ राजस-राजस, ४ केवल राजस, ५ तामस-तामस और ६ केवल तामस। अब इनकी परिभाषा देखिये। निर्विकल्प और अचैत्य चिन्मात्र सत्तासे जिनकी संवित्का स्फुरण हुआ है, जिनके अहंकी प्रतीति अधिष्ठानमें है, जिन्हें व्यष्टित्वका अभिमान नहीं है, और अनात्मभावका भी जिनको स्पर्श नहीं है, ऐसे जो ब्रह्मादि जीव हैं वे सात्त्विक-सात्त्विक हैं। जिन्हें सात्त्विक पदार्थकी विभूति भासित होती है, जिनको अपने स्वरूपका प्रमाद है चाहे उसका बुद्धिसे स्पर्श हुआ हो अथवा न हुआ हो, वे केवल सात्त्विक हैं। जिनकी संवित्का बुद्धिसे सम्बन्ध है, जिनको नाना प्रकारके राजसी पदार्थोंमें सत्यत्व-बुद्धि होती है, राजस कर्मोंमें जिनका दृढ़ अभ्यास है और इसलिये जो निरन्तर शरीर धारण करते रहे हैं परन्तु अपने स्वरूपकी ओर न देखकर वैसे ही बने हुए हैं, वे जीव राजस-राजस हैं। जिनको बोध (ज्ञान) में तो अहंकी प्रतीति होती है, परन्तु स्वरूपका प्रमाद है, जिन्हें जगत्

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

सत्य भासता है, राजसी पदार्थोंमें अधिक प्रीति है तथा जिनको राजसी कर्मोंका अभ्यास है एवं उसीके द्वारा जो जन्म पाते रहते हैं परन्तु शीघ्र ही अपने स्वरूपकी ओर आ जाते हैं ऐसे जीव केवल राजस हैं। जिनको अपने स्वरूपका प्रमाद है और जगत्‌में सत्यत्वकी प्रतीति होती है, जगत्‌के तामस पदार्थोंमें जिनका दृढ़ अभ्यास है, और जो उसमें लगातार जन्म पाते चले जाते हैं। यदि दैव-संयोगसे मोक्षका अवसर आया तो उसे भी जो महामूढ़ बनकर खो देते हैं, वे जीव तामस-तामस हैं। जिनको अपने स्वरूपका प्रमाद है और जो तामसिक कार्योंकी रुचिके अनुसार जन्म पाते जाते हैं परन्तु अन्तमें तामस कर्मोंको त्यागकर मोक्ष-परायण बन जाते हैं, वे केवल तामस हैं।

मनुष्यको शरीर और इन्द्रियोंका दृढ़ अभ्यास है इसलिये वह पुनः-पुनः शरीर और इन्द्रियोंको ही प्राप्त करता है। यदि वह इनकी ओरसे चित्त हटाकर आत्माका अभ्यास करे तो उसको आत्मपदकी प्राप्ति हो तथा शरीर और इन्द्रियोंसे भी उसका पल्ला छूट जाय। सब तरहके अर्थोंसे मनको हटाकर अपने स्वरूपमें स्थित होनेपर परमानन्द निर्वाणपदकी प्राप्ति होती है। आत्माकी ओर आनेसे जीवकी अविद्या नष्ट हो जाती है। क्योंकि आत्मतत्त्वको यथार्थ रूपसे नहीं जाननेका नाम ही अविद्या है। अविद्यारूपी नदीमें तृष्णारूपी जल भरा हुआ है, उसमें इन्द्रियोंके अर्थ-रूपी भँवर हैं, रागरूपी घड़ियाल हैं। इस अविद्यारूपी नदीका कहीं अन्त नहीं। अतः जो इस नदीके किनारे-की ओर होकर वैराग्य और अभ्यासरूपी नावपर चढ़कर पार करते हैं, उनको कोई कष्ट नहीं होता। परमात्मारूपी समुद्रमें जगत्‌रूपी तरंग अविद्यारूपी वायुके संयोगसे उठता है और फिर मिट भी जाता है। आत्मचिन्तन करने-से अविद्यामय जगत्‌के विलासका अभाव हो जाता है। यह जगत् निराकार परमेश्वरमें आकाशरूप है। सब कुछ ब्रह्मस्वरूप है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं। इस तरहके विचारका नाम परमबोध है। जब मनमें इस बोधकी दृढ़ता हो जाती है, तब अवश्य मोक्ष हो जाता है।

जिसकी बुद्धि शास्त्रोंके द्वारा तीक्ष्ण होकर वैराग्यके अभ्याससे सम्पन्न और निर्मल है, उसको आत्मपदकी प्राप्ति होती है। मनुष्यको चाहिये कि वह अन्य सब कार्योंको करनेके साथ-साथ परमपद पानेका प्रयत्न अवश्य करता रहे। उसकी प्राप्तिका उपाय यह है कि पहले 'नेति-नेति' द्वारा सब प्रकारके दृश्यका बाध किया जाय और फिर अभावका भी अभाव किया जाय। उसके बाद जो कुछ शेष रहेगा वही परम निर्वाणरूप आत्मसत्ता है। उसीमें स्थित हो जाना चाहिये। जो पुरुष सत्यमार्गमें विचरता है और अपने प्रयत्नसे स्वयं ही अपना उद्धार करता है, वह स्वयं ही अपना मित्र है, परन्तु जो ऐसा नहीं करता वह इस संसारके जन्म-मरणमें अपनेको डालकर स्वयं ही अपना शत्रु बना हुआ है।

अब हम इन्द्रियोंको जीतने और आत्मपदकी प्राप्तिके उपायका विचार करते हैं—अचिन्त्य चिन्मात्र पुरुषमें जिस संवित्‌का स्फुरण हुआ है, उस ज्ञानसंवित्‌का अन्तः-करण और दृश्य जगत्‌से सम्बन्ध है। उसीका नाम जीव भी है। अस्तु, जहाँसे चित्तका स्फुरण होता है, वहींपर चित्तको स्थित करना चाहिये। ऐसा करनेसे इन्द्रियोंका अभाव हो जायगा। इन्द्रियोंका नायक मन है। इसलिये मनरूपी मतवाले हाथीको वैराग्य और अभ्यासरूपी जंजीरसे वशमें करनेपर ही जय होगी। मन और वासना-का अभाव हो जानेपर शुद्ध निर्मल आत्मसत्ता ही भासेगी। मनको स्थित करनेका सबसे अच्छा उपाय सत्संग और दिनरात सच्छास्त्रोंका अनुशीलन है। सब कालमें इसी उपायसे मन वशमें होता आया है। मनको वशमें करनेसे ही आत्मपदका अनुभव होता है। जो प्राणका स्पन्दन रोककर आत्माकी ओर अपना चित्त लगाते हैं—परस्पर तत्त्वज्ञानसम्बन्धी चर्चा तथा कथा-कीर्तन करते हैं और प्रीतिपूर्वक भजन करते हैं, उन नित्य जाग्रत् पुरुषोंमें आत्मविषयिणी बुद्धि उत्पन्न होती है और वे उसके द्वारा परम शान्ति लाभ करते हैं।

एक आख्यान है जो श्रवणेन्द्रियका भूषण, द्वैत-दृष्टिको मिटानेवाला और ज्ञानरूपी कमलका विकास करनेके लिये सूर्यके समान है; उस परम पावन आख्यानको सुनिये—एक ऐसी शिलाकी कल्पना कीजिये जिसका कोटि योजन-पर्यन्त विस्तार है। वह अनन्त शुद्ध और अपनी सत्तासे पूर्ण है। अत्यन्त सुन्दर है। उसको मैलका स्पर्श भी कभी नहीं होता। वह आदि, मध्य और अन्तसे विहीन है। बस, यह शिला ही ब्रह्म है। पृथ्वी, पर्वत, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा कर्म आदि जितने भी सांसारिक पदार्थ भासित होते हैं, वे सभी उस ब्रह्मरूपी

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

शिलाकी ही रेखाएँ हैं। उसमें जो सबसे बड़ी रेखा है, वही आकाश है। ये रेखाएँ उस ब्रह्मशिलासे भिन्न नहीं हैं, प्रत्युत उसीका अंश हैं। अस्तु ब्रह्मसत्ता ही सब कुछ है। वह चिन्मात्रघन ही सबमें व्याप्त है। इसलिये संकल्परूपी कल्पनाका परित्याग करके उसीमें स्थित हो जाना चाहिये। उसमें स्थित हो जानेपर उसी शिलाके समान मौनकी उपलब्धि हो जायगी। सभी कर्मोंको करते रहनेपर भी निश्चयमें किसी वस्तुका स्फुरण न होगा। क्रियाएँ होंगी परन्तु उनका अभिमान नहीं होगा। केवल स्वभावसत्तामें स्थिति रहेगी।

यह जगत् मानो चैतन्यरूपी रत्नका चमत्कार है। जब आत्माका किञ्चित् स्फुरण होता है, तब चैतन्य ही जगत्रूप होकर भासता है। जागनेपर सब अपना ही स्वरूप मालूम होगा, इसलिये मिथ्या भ्रमको अंगीकार करके कोई भिन्न वस्तु क्यों देखते हो? चित्तको आत्मामें लीन करनेसे ही उसका निर्वाण हो सकेगा। और जब चित्तका निर्वाण हो जायगा तो आप-से-आप यह जगत् शान्त हो जायगा। द्वैतकी सभी कल्पनाएँ मिट जायँगी। जगत्का आदि कारण आप-से-आप अकस्मात् स्फुरित हुआ है। पीछेसे कारण-कार्यरूपमें भासित होता है। सारा जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है। जो पुरुष इन्द्रियोंके इष्टानिष्ट विषयोंको पाकर सुख और दुःख नहीं मानता, बड़े-बड़े भोगोंकी प्राप्तिके समय भी उनकी ओर अपने चित्तको चलायमान नहीं करता उसको जीवन्मुक्त समझना चाहिये। जो अपने स्वभावमें स्थित हैं वे सब कुछ करते-धरते हैं परन्तु अपने स्वरूपमें उनको कर्तव्यका उत्थान नहीं होता। उनका निश्चय सदा ही अद्वैतमें रहता है। जहाँ जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति कुछ भी नहीं है वही उनका विश्रामस्थल है। संसारके दुर्गम पथको पार करके वे अद्वैतकी शय्यापर विश्राम करते हैं।

मनरूपी मृग संसाररूपी जालमें आ पड़ा है। वह इन्द्रियोंके विषयरूपी जलाभासको सत्य मानकर अपनी शान्तिके लिये तृष्णारूपी मार्गपर दौड़ता है। परन्तु उसमें शान्ति कहाँ? अतः जब दौड़ता-दौड़ता वृद्धावस्थाको प्राप्त होता है, तब जड़ हो जाता है। उस समय उसको बड़ा ही कष्ट होता है। परन्तु ज्ञानीका विचाररूपी मित्र उसको तृष्णासे छुड़ाकर आत्माकी ओर प्रवृत्त करता है। उसको रागद्वेषरूपी अग्निसे निकालकर समतारूपी शीतलताकी ओर ले जाता है। इस तरह वह उसको सम्पूर्ण दुःखोंसे मुक्त कर देता है। विचाररूपी आग रागद्वेषरूपी मलको जला देती है। वह एक शूरमाकी तरह है, उसको अज्ञानरूपी शत्रुका नाश करते देर नहीं लगती। दीप-शिखाकी भाँति वह प्रकाश देकर अन्धकारको दूर कर देता है। विचारशील व्यक्ति शुभ आचार जैसे दान, यज्ञ, तप आदि स्वयं करता है और दूसरोंसे भी कराता है।

जब अन्तःकरणमें विवेकरूपी मन्त्री आता है, तो अपने परिवारको भी साथ ले आता है। स्नान, दान, तपस्या और ध्यान उसके पुत्र हैं। स्नानसे पवित्रता, दानसे पुण्य, तपसे वृत्तियोंका स्थिरीकरण और ध्यानसे आत्माकी वृत्तिमें चित्त लगता है। मुदिता उसकी स्त्री है, जिससे प्रसन्नता स्थिर होकर रहती है। उसके साथ करुणा और दया नामकी दो सहेलियाँ भी हैं। समतारूपी द्वारपालिनी भी साथ ही रहती है। उसके धैर्य तथा धर्म दो पुत्र और भी हैं। इस प्रकार जब पुरुष विवेकरूपी मन्त्रीकी सहायता पाकर विषयरूपी पाँचों शत्रुओंसे युद्ध करता है, तब धैर्य और सन्तोषरूपी मन्त्री उसे मन्त्र देते हैं और वह विचाररूपी बाणसे उन शत्रुओंको नष्ट कर देता है।

जिसकी दृष्टिमें सम्यक् बोध-जनित निर्विकल्पतासे जगत्का अत्यन्ताभाव हो गया है, वह जीवन्मुक्त है। वही निर्विकल्प कहलाता है और वही परम जडता है। जहाँ जगत् अत्यन्त असम्भव है, जहाँ अनुभवरूप चिदाकाशसे कभी उत्थान नहीं होता, उसीका नाम सुषुप्तिवत् आत्यन्तिक निर्विकल्पता है। इस तरहका होकर चेष्टा करनेपर कर्तृत्व और भोक्तृत्वका अभिमान नहीं होगा। आत्माको अद्वैत और जगत्के अत्यन्ताभावका ज्ञान ही बोध है। यही बोध जब दृढ़ हो जाता है, तब उसका नाम परमपद होता है। उसीको निर्वाण या मोक्ष भी कहते हैं। अध्यात्मशास्त्रके अभ्याससे ही मोक्षकी प्राप्ति होती है। परमात्मामें जगत्की उत्पत्ति उसी प्रकार होती है, जैसे नेत्रका खोलना और मूँदना। संवित्के स्फुरणसे जगत्की प्रतीति होती है और उसके स्थिर हो जानेसे अच्युत पदका साक्षात्कार होता है। जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों आत्माके आभास हैं उसमें आस्था नहीं करनी चाहिये। यही परम सिद्धान्त है।

इस जगत्की उत्पत्तिका क्रम इस प्रकार है—सबसे पहले ब्रह्मरूपी चिदाकाशमें 'अहमस्मि'का स्फुरण हुआ। उसने अपनेको जीव समझा। फिर उसमें जो निश्चयात्मिका

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

वृत्ति हुई वही 'बुद्धि' हुई। पुनः उसमें संकल्प-विकल्पका स्फुरण हुआ जिसका नाम 'मन' पड़ा। मनके साथ मिलकर चिद्अणुने शरीरका चिन्तन किया। अतः उसमें शरीर और इन्द्रियाँ प्रतीत होने लगीं। इस प्रकार एक स्थूल शरीर बन गया। बस फिर देश-कालकी भी कल्पना हुई और नाना प्रकारके स्थावर-जंगम प्राणी भासने लगे। परन्तु वास्तवमें हुआ कुछ भी नहीं। चित्त संवित्के बहिर्मुख स्फुरणसे ही नाना प्रकारके जगत् भासते हैं। जब उसका स्फुरण अन्तर्मुख होता है, तब वह अवाच्यरूप हो जाती है। संसरणका नाम ही संसार है। अपने स्वरूपमें स्थित हो जानेपर सारा जगत् ब्रह्मरूप हो जाता है। उसको जगत् कहिये या ब्रह्म, दोनों एक ही हैं। आदि सृष्टि अकारण है। जिसको अपना वास्तविक रूप स्मरण है, उसको यह जगत् अकारण ही भासता है। वास्तवमें अनुभवरूप एक ही आत्मसत्ता है परन्तु जैसा संकल्प अनुभवमें दृढ़ होता है उसीकी सिद्धि होती है।

महाप्रलयमें जगत् कुछ भी शेष नहीं रहता। इसलिये यह आभासमात्र जाना जाता है। वेदान्तशास्त्रोंका यही सिद्धान्त है कि वासनासे रहित हो जाओ, इसीका नाम मोक्ष है। वासना बन्धन है। आत्मसत्ता अद्वैत और शुद्ध है। इस जगत्में जितने पदार्थ प्रतीत होते हैं, सभी भ्रमस्वरूप हैं। जिस प्रकार मनुष्य स्वप्नमें अनेक और सुषुप्तिमें अनेकसे एक हो जाता है, उसी प्रकार इस जगत्को समझना चाहिये। आत्मासे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जगत्के पदार्थोंकी जितनी प्रतिभा मनमें है, वह उसी आत्मसत्ताका किञ्चनरूप है। वह सदा-सर्वदा अपने आपमें स्थित है और परम मौनरूप है। उसमें विकल्प प्रवेश भी नहीं कर सकता। केवल अज्ञानियोंको भिन्न-भिन्न जगत् दृष्टिमें आते हैं, ज्ञानीके लिये सब निराकार और आकाशरूप हैं। आत्मसत्ता निराकार, शान्त, अनन्त और चिन्मात्र है।

जिज्ञासुको चाहिये कि वह अपनेको अनन्त आत्मा, नित्य शुद्ध अच्युत परमानन्दस्वरूप और इस जगत्का मूल निश्चय करे। ऐसा समझनेपर उसको सब आत्ममय ही प्रतीत होगा। जब जाग्रत् अवस्थाका अभाव हो जाता है और सुषुप्ति आ जाती है, तब शुभाशुभकी कोई कल्पना नहीं रह जाती। उस समय उदय और अस्तकी कल्पनासे रहित केवल अद्वैतसत्ता ही शेष रहती है। परन्तु जब उसमें चैतन्यका स्फुरण होता है तब स्वप्नकी सृष्टि प्रतीत होती है। सृष्टिके आदिमें सुषुप्तिकी सत्ता थी। जब उसमें संवेदनका स्फुरण हुआ तब जगत्का आभास मिला। अतएव यह जगत् संवेदनरूप है। इसका जिस आत्मामें स्फुरण हुआ है, वही इसका वास्तविक रूप है। ब्रह्म ही सृष्टि और सृष्टि ही ब्रह्म है। इनमें कुछ भी भेद नहीं है। केवल अज्ञानरूपी निद्रासे अलग-अलग नाना रूपोंमें प्रतीत होता है। चिन्मात्र परम शून्य है, उसमें शून्य भी शून्य हो जाता है। यह जगत् सत्यासत्यसे विलक्षण है। आत्मा ही सब कुछ है। उसीका प्रकाश यह जगत् है। प्रमादकी स्थिति जबतक रहती है तबतक जगत्का आदि और अन्त प्रतीत नहीं होता परन्तु जब उसकी स्थिति मिट जाती है तब सारी कल्पनाएँ दूर हो जाती हैं।

यह विश्व आत्माका स्वभाव ही है। निराकार जगत् संकल्पकी दृढ़तासे साकार प्रतीत होता है। संवेदनमें जिस संकल्पका स्फुरण होता है, वही अन्तःकरणचतुष्टय होकर प्रतीत होता है। पदार्थोंका चिन्तन करनेके कारण 'चित्त' संकल्प-विकल्पके संसरणसे 'मन', ज्यों-का-त्यों निश्चय करनेसे 'बुद्धि' और वासनाके समूहके सम्मिलनसे पुर्यष्टका ये संज्ञाएँ पड़ी हैं। परन्तु सभी संकल्पमात्र हैं। जिससे जगत्की उत्पत्ति हुई वह भी संकल्परूप है। निराकार तथा अद्वैत ब्रह्मसत्ता संवेदनके द्वारा जगत्रूप होकर भासती है। शुद्ध चिन्मात्रमें संवेदनके स्फुरणसे जगत्का आभास स्फुरित होता है। वस्तुतः सब ब्रह्ममय है।

यह बात निश्चित है कि यह जगत् अविचारसिद्ध है। अतएव यह विचार करनेसे ही शान्त हो सकता है। विचार करनेपर सब कुछ आत्मा ही प्रतीत होगा। सम्यक् ज्ञानका उदय होनेपर सारा प्रपञ्चभ्रम दूर हो जाता है। दृश्यसे रहित जो चिन्मात्र है उसीको केवल बोध जानना चाहिये। वहाँतक वाणीकी गति नहीं है। अचैत्य-चिन्मात्रकी सत्ताको ज्यों-का-त्यों जानना ही ज्ञान है। ज्ञानका दृश्य भ्रमसे सम्बन्ध होना ही बन्धन है। यदि इस बन्धनका अभाव हो जाय, तो वही मोक्ष होगा। जब जीव जगत्को सङ्कल्परूप जानता है, तो उसकी वासनाका निर्वाण हो जाता है। पञ्चतत्त्वोंकी सृष्टि और विनाशका भी लय हो जाता है। उस समय केवल परम तत्त्व ही प्रतीत होता है तथा यह सब आकाशरूप हो जाता है। पिण्डग्रहणका भ्रम निवृत्त हो जानेपर जीव निर्मल होकर क्षोभरहित हो जाता है। जगत्की

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आस्थाका कारण जो दृश्य है, उसकी भी शान्ति हो जाती है। चित्त परम तत्त्वकी प्राप्ति कर लेता है। चित्तने ही आत्मामें जगत्के पदार्थोंकी रचना की है। वह जैसी-जैसी भावना करता है, उसी-उसी प्रकारकी उसे प्रतीति होती है। परन्तु वास्तवमें न जगत्की कोई स्थिति है, और न आगे ही होगी। ब्रह्मसत्ता जो अपने-आपमें स्थित है, वह स्वच्छ, अद्वैत, परम मौनस्वरूप तथा मुनीश्वरोंकी सेवाके योग्य है। वह सम्पूर्ण दुःखोंसे रहित है। आत्मपदमें जागरण करनेसे ज्ञान और अज्ञान दोनोंका अभाव हो जाता है और द्वैतकी कल्पना मिट जाती है।

निर्वाणरूप, निराकार, निरिच्छा और स्वभावसत्तामें स्थित हो जानेपर मनुष्यको किसी प्रकारका भी क्लेश नहीं रह जाता। ज्ञानवान् सदैव ही अपनी समाधिमें स्थित रहते हैं। उनको अपने स्वरूपसे भिन्न कुछ भी प्रतीत नहीं होता। वे व्यवहारशील होकर भी व्यवहाररहितकी तरह प्रतीत होते हैं। उन्हें किसी भी वस्तुकी अभिलाषा नहीं रहती। उनके हृदयमें कर्तृत्वका अभिमान कुछ भी स्फुरित नहीं होता। उनकी सारी तृष्णा मिट जाती है। सम्पूर्ण पदार्थ उनके लिये विरस हो जाते हैं। उनको परमानन्दस्वरूप और तृष्णारहित आत्मपदकी प्राप्ति हो जाती है। उसी आत्मपदको निर्वाण या मोक्ष कहते हैं। संसारके सभी जीव अज्ञानरूपी आपत्तिसे घिरे हुए हैं। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक ताप उन्हें जला रहे हैं। अतएव जो शास्त्रादिका अनुशीलन करते हैं, उनको इनसे शान्ति मिलती है। सत्कर्मोंकी प्राप्ति होती है। नरककी विभीषिका जाती रहती है और स्वर्गकी प्राप्ति हो जाती है। इष्टदेवका सेवन करनेपर मनुष्यको स्वर्गसुख मिलता है। शास्त्रका मन्थन करनेपर विचाररूपी रत्न निकलते हैं। सत्यासत्यका ज्ञान हो जाता है और जगत्के सारे क्लेश नष्ट हो जाते हैं।

शास्त्रोंमें धर्म, अर्थ और काम ये तीन तो प्रकट हैं, परन्तु ज्ञानरूपी चिन्तामणि गुप्त है। वह वैराग्याभ्याससे ही मिलती है। गुरु और शास्त्रोंके वचनोंका पूर्णतया पालन करनेसे स्वयं ही चिन्तामणिवत् आत्मप्रकाश हो जाता है। अन्तःकरण परम निर्मल हो जाता है। अतः आत्मपदकी प्राप्तिके लिये गुरु तथा शास्त्रोंके वचनोंका पालन आवश्यक है। आत्मपदकी प्राप्तिसे समदृष्टि तथा सुषुप्तिकी तरह स्थिति हो जाती है। अर्थात् द्वैत और एक कल्पनाकी शान्ति हो जाती है। अनुभवमें अद्वैतका जागरण हो जाता है। गुरु और शास्त्रोंद्वारा अनात्मधर्मका निषेध और आत्मतत्त्वका बोध हो जाता है। कुछ भी जाननेकी जिज्ञासा नहीं रहती। अज्ञान तथा अहङ्कारका आवरण दूर हो जाता है। आत्माका सुप्रकाश चमक उठता है। गुणोंका अभाव हो जाता है। परम अनुभव ज्योतिःस्वरूप आत्माका प्रकाश हो जाता है तथा द्वैतरूपी संसारकी कल्पना भी मिट जाती है।

आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सबसे पहले सत्सङ्ग करना चाहिये, और फिर सच्छास्त्रोंका अनुशीलन। आत्मसत्ताकी प्राप्तिसे समता, मुदिता और सुहृदताकी प्राप्ति हो जाती है। वह पुरुष सदा प्रसन्न रहता है। जो इस जगत्को सत्य मानते हैं, वे सम्यग्दर्शी नहीं हैं। अतः इस जगत्को भ्रमरूप समझो। आत्मा सदा ही अपने आपमें स्थित है। जब शुद्ध चिदाकाशमें किञ्चन संवेदनका स्फुरण होता है, तो वही जगत्रूप दिखायी देता है। अतः इसका रूप भी चिदाकाश ही है। चिदाकाशसे भिन्न कुछ भी नहीं है। सृष्टि और प्रलय दोनों उसीके रूप हैं। ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त जो कुछ है, सब आत्मस्वरूप है। कर्ता-भोक्ता सब कुछ ईश्वर ही है और वह विज्ञानमात्र है। शुद्ध दृष्टिसे सब कुछ चिदाकाश ही प्रतीत होता है। वह अनुभवसे भिन्न नहीं है। आत्मज्ञानके सदृश कोई सम्पत्ति नहीं है। उसको पा लेनेपर फिर किसी वस्तुकी अभिलाषा नहीं रहती। ज्ञान-जैसा कोई सुख और अज्ञान-जैसा कोई दुःख नहीं है। यह मोक्षका परम पावन उपाय है। संसारसागरका पार इसीसे मिलता है!

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भक्त रहीम

(कहानी)

(लेखक—मास्टर श्रीपारसचन्दजी)

(१)

परमात्मा श्रीकृष्णके अनन्य उपासक रहीमजीकी गणना भगतोंमें की जाती है। शाहजादा दारा, वज़ीर रहीम और रसखान यह तीन मुसलमान, भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके पक्के पुजारी हुए हैं। यहाँपर केवल रहीमजीकी विचित्र और शिक्षाप्रद जीवनी लिखी जाती है। रहीमके पिता बैरामखाँ ईरानसे बादशाह बाबरके साथ भारतवर्षमें आये थे। बाबर और हुमायूँ बादशाहकी सेवा बैरामखाँने बड़ी नेकनीयतीके साथ की थी। शेरशाह-से हारकर जब हुमायूँ बादशाह ईरानकी ओर भागे थे तब काबुल और कंधारके हाकिमोंने बादशाहको पकड़नेकी कोशिश की थी। उस समय स्वामिभक्त बैरामखाँने ही उनके प्राण बचाये थे। एक सिपाहीके दरजेसे उन्नति करके बैरामखाँने सेनापतिका दरजा प्राप्त किया था। ईरानसे लौटकर जब बादशाह हुमायूँने शेरशाहको हराया और दिल्लीका तख़्त दुबारा अपने अधिकारमें कर लिया था, तब रहीमजी-का जन्म हुआ था। आपका जन्मसमय सं० १६१३ वि० मार्गशीर्ष शु० १४ माना जाता है। बादशाह हुमायूँने आपका नाम 'अब्दुर्रहीम' रक्खा था।

जब रहीमजी कुछ बड़े हुए तब बादशाह हुमायूँने उनका विवाह अपनी धायमाता अंगाकी लड़की माहबानूके साथ कर दिया। गुजरातकी लड़ाईमें जब रहीमजीके पिता सेनापति बैरामखाँ मारे गये तब इनकी आयु केवल पाँच सालकी थी। बादशाह हुमायूँने इनको होनहार समझ, सर्वदा अपने पास रक्खा और शिक्षाका समुचित प्रबन्ध किया। इनकी कुशाग्रबुद्धि देखकर बादशाहने इनको अपना मन्त्री बना लिया और खानखानाकी पदवीसे भूषित किया। रहीमजीने ७२ सालकी आयुमें समाधि ली थी। इसलिये इन्होंने हुमायूँ, अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ चार बादशाहोंके ज़माने देखे थे और बराबर मन्त्रीके पदपर काम करते रहे थे। रहीमजीपर सरखती और लक्ष्मीकी समान कृपा थी। आप भक्त भी थे और कवि भी। बहुधा भक्तलोग कवि बन जाते हैं। और कवि भक्त बन जाते हैं। परन्तु रहीमजीमें भक्ति और कवित्व दोनोंके सागर लहरा रहे थे। यों तो रहीमजीने फ़ारसी और संस्कृतमें भी कविताएँ लिखी हैं परन्तु हिन्दीकी कविता लिखकर तो आप अमर हो गये हैं। वृन्द और विहारीकी तरह पबलिकने रहीमजीको भी 'दोहामास्टर' की पदवी प्रदान की है। चौपाईमास्टर तुलसीजीकी तरह दोहामास्टर रहीमजी भी पबलिक-

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

की जीभपर नाचा करते हैं। दोनों महाकवियोंकी अनुभवपूर्ण वाणी दृष्टान्तके काममें लायी जाती है। हिन्दी-प्रेमी लोग रहीमजीके आभारी हैं। क्योंकि उन्होंने उस समय हिन्दीकी सेवा की थी कि जब वह नवजात शिशुके रूपमें थी—उसको विद्वान्लोग हेय दृष्टिसे देखते थे। रहीमजीके समयमें गंगके सिवा अन्य कोई हिन्दीका प्रसिद्ध कवि न था। रहीमकृत फ़ारसीमें 'मुआसिर रहीमी' नामक एक पुस्तक है। उनकी बनायी हुई संस्कृत कवितापुस्तकका नाम 'रहीम-काव्य' है। रहीमजीकी बनायी हुई हिन्दी पुस्तकका नाम है—'रहीमशतक।' इसमें १२५ दोहे हैं। रहीमजी केवल कलमबहादुर ही न थे। आप तलवार-बहादुर भी थे। कई युद्धोंमें बादशाहोंने आपको सेनापति बनाकर मुहिमपर भेजा था। रामकृपासे आपको प्रत्येक संग्राममें विजय प्राप्त हुई थी। गुजरातके युद्धमें जब शरीररक्षकने पूछा कि युद्ध समाप्त होनेपर मैं आपको कहाँ खोजूँ, तब आपने उत्तर दिया था—'अगर जीत हो तो सबसे आगेके घोड़ेपर मुझे खोजना और अगर हार हो तो सबसे पीछेकी लाशोंमें मुझे खोजना।' रहीमजीको इमारतका भी शौक था। आपने एक हवेली दिल्लीमें, एक आगरेमें और एक अहमदाबादमें बनवायी थी। साबरमतीके किनारेपर सरखेच नामक गाँवकी सीमामें रहीमजीका बनवाया हुआ 'फतहबाग' उस समयके बागोंमें सरनाम था। उस समय गुजरातमें उसके मुकाबिलेका कोई बाग नहीं था। यह बाग १२० जरीबमें बना, और दो लाख रुपया खर्च किया गया था। बागका कोट पत्थर-से बना है। बागमें एक आलीशान हवेली भी थी।

(२)

रहीमजीके हृदयमें भक्ति, कविता, युद्धकला, उदारता, दानशीलता और निर्माणकलाने निवास किया था। रहीमजी बाहरसे मुसल्मान थे और भीतर-से हिन्दू थे। जब जहाँगीर बादशाहने काबुल फतह किया तब भरे दरबारमें रहीमजीसे कहा कि—

'जो जीमें आवे एक बात माँग लो!'

तब रहीमजीने खड़े होकर हाथ जोड़े और कहा—

'जहाँपनाहकी बादशाहतमें गौकुशी न हो!'

कोई दूसरा होता तो धन, दौलत, पदवी और जागीर आदि माँगता परन्तु रहीमजीने गौरक्षाकी भीख माँगी। जहाँगीरके पिता बादशाह अकबरके जमानेमें भी गो-वध बंद था। उसके कारण भी रहीमजी थे। रहीम और वीरबलकी कोशिशसे गंग कविकी कविता सुनकर अकबरने गो-वध बंद किया था।

(३)

रहीमजी खूबसूरत भी अव्वल नम्बरके थे। बादशाह हुमायूँके खजांचीकी स्त्री आपपर मोहित हो गयी थी। उसका नाम था राधा। एक दिन उसने रहीमजीको अपने मकानपर बुलाया और कहा—'मैं तुमसे तुम्हारे-जैसा एक पुत्र चाहती हूँ।' नवयौवना और परम सुन्दरी एक रमणीकी ऐसी बात सुनकर बड़े-बड़े योगी और त्यागी भी विचलित हो जाते हैं। परन्तु भक्त रहीम हिमालयकी तरह अचल रहे। उन्होंने कहा—'मुमकिन है कि मेरा बेटा मुझ-सा पैदा न हो। इसके सिवा आपका नाम वही है जो मेरी माताका नाम है। राधा और कृष्ण ही मेरे माँ-बाप

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

हैं। मेरे इस मिट्टीके शरीरके माँ-बाप चाहे जो हों, परन्तु मेरी आत्माके माँ-बाप तो वही हैं। अगर आप मुझ-सा पुत्र चाहती हैं तो आजसे मुझीको अपना पुत्र मान लीजिये।' इतना कहकर रहीमजीने उस स्त्रीके चरण छुए और उसकी गोदमें अपना सिर रखकर रोने लगे। वह स्त्री अत्यन्त लज्जित हुई और अपने मैले विचारपर पछताने लगी। उस दिनसे उन दोनों-का माँ और बेटेका सम्बन्ध बराबर चला आया था। इस घटनासे साफ प्रमाणित होता है कि रहीमजीकी भक्ति कितनी चढ़ी-बढ़ी थी? रहीमजीको श्रीराधा-कृष्णका उपासक न मानना घोर पक्षपात माना जायगा, क्योंकि रहीमजीकी भक्तिका संयोग, संयमसे भी था।

(४)

एक दिन रहीमजी पालकीपर बैठकर दरबारसे अपने मकानको जा रहे थे। रास्तेमें हीरा नामक एक कुम्हारने एक लोहेकी पंसेरी फेंककर मारी। उसने अपनी गरीबीसे उकताकर ऐसा किया था। उसने सोचा था कि प्रधान मन्त्रीपर प्रहार करनेसे मुझको अवश्य फाँसी हो जायगी। 'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं' के कारण उसने मर जानेमें ही आराम देखा। अकबर बादशाहके शासनकालमें यह घटना घटी थी। रहीमजीके शरीररक्षक सवार लोग हीराको पकड़नेके लिये दौड़े। परन्तु आपने सबको रोका और उस पंसेरीको बड़े प्रेमसे अपने पास रख लिया। मकान-पर पहुँचकर रहीमजीने उसी पंसेरीको तौलकर उतना ही सोना उस कुम्हारके पास भेज दिया। एक सिपाहीने कहा—'हीराने तो फाँसीका काम किया था—सोना कैसा?' रहीमजीने उत्तर दिया—'तुम समझे नहीं। हीराने मुझे पारस समझकर लोहेका एक टुकड़ा स्पर्श कराया था।' इस घटनासे साबित होता है कि प्रवीण भक्तोंकी तरह रहीमजी भी 'गलित अभिमान' थे। पबलिक कहती है कि सर्वसाधारणकी मतिसे भक्तोंकी मति उलटी हुआ करती है। इस घटनामें रहीमजीने पबलिकके उक्त विचारकी कैसी सुन्दर पुष्टि की है?

(५)

एक बार मक्केके शरीफ़ने बादशाह अकबरके पास एक खत भेजा। उस पत्रमें लेखकने अरबीके कठिन-कठिन शब्द भर दिये थे। अकबर बादशाहने वह पत्र अपनी पारलामेन्टके सामने रख दिया कि जिसमें ९ मेम्बर थे। किसीने वह पत्र न समझ पाया। अबुलफ़ज़लने बादशाहसे कहा कि यह पत्र चौबीस घंटेके वास्ते मुझे दे दिया जाय तो कोषोंकी सहायतासे इसका मतलब निकालनेकी कोशिश की जाय। परन्तु रहीमजीने उस पत्रको दीपकके सामने किया और उसे पढ़ते भी गये एवं साथ-ही-साथ अनुवाद भी करते गये। मौलाना शिबलीने अपनी किताबमें रहीमजीके लिये लिखा है—

'खानखाना रहीम कई इल्मोंके आलिम थे। उनकी अरबी, फारसी और तुरकी कविताका नमूना मैंने अपनी किताबमें दिया है। लेकिन उनकी संस्कृत, हिन्दी और राजपूती कविता मैं नहीं समझा इसलिये नमूना नहीं दे सका। तुरकी और फ़ारसी तो रहीम साहबकी मादरी जबान थी, मगर अरबीकी शायरी भी फ़ारसीकी शायरीसे कम नहीं है।' इससे साबित होता है कि रहीमजीको विद्यासागर भी कह सकते हैं। आप संसारकी तीस भाषाओंमें बातचीत कर सकते थे।

(६)

एक बार बादशाह अकबरने रहीमको महावत खाँ-पर चढ़ाई करनेका हुक्म दिया कि जिसने दक्षिणमें

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

भगावत फैला रक्खी थी। सेना लेकर रहीमजी बीजापुर जा पहुँचे। महावत खाँने छलकी चाल चली। ऊपरी दिलसे रहीमकी खुशामद की और सुलहका संवाद भेजकर अपने क़िलेमें निमन्त्रण दिया। सरल हृदयके रहीमजी उसके चकमेमें आ गये। कुछ सिपाही साथ लेकर रहीमजी क़िलेके फाटकपर जा पहुँचे। उसी समय आकाशपर भगवान् श्रीकृष्णजीकी दिव्य मूर्ति प्रकट हुई। भगवान्ने रहीमजीको भीतर जानेसे मना किया। इष्टदेवकी आज्ञानुसार रहीमजी तुरन्त पीछे लौट गये। बादमें उनको मालूम हुआ कि अगर वह क़िलेमें जाते तो जानसे मार डाले जाते। विश्वासघाती महावत खाँको युद्धमें परास्त करके और गिरफ़्तार करके रहीमजी उसको अकबरके सामने ले गये। यह घटना बतलाती है कि भक्त रहीमजीने अपने इष्टदेवके कई बार दर्शन किये थे!

(७)

एक दिन शाहजहाँका मुँहलगा सुन्दरलाल नामक एक ब्राह्मण रहीमजीके सामने कहने लगा—'ब्राह्मणका दर्जा विष्णु भगवान्से भी बड़ा है! क्योंकि भृगुजीने विष्णु भगवान्की छातीमें लात मार दी थी और विष्णु भगवान्ने उलटी खुशामद की थी।' यह बात सुनकर रहीमजीसे चुप न रहा गया। भृगुजीकी धृष्टतापर विष्णुजीने जो नम्रता दिखलायी उसका कारण रहीमजीने बड़ी मार्मिकताके साथ इस दोहेमें प्रकट किया—

छिमा बड़ेन कहँ चाहिये छोटन कहँ उतपात।
का 'रहीम' प्रभुकर घटेउ, जो भृगु मारी लात॥

—रहीमजी

इस दोहेको सुनकर सुन्दरलाल लज्जित हो गया और तो हो गया, रहीमका जानी दुश्मन भी हो गया था। उसीके कहनेसे रहीमजीको बुढ़ापेमें शाहजहाँने क़ैद कर दिया था। शाहज़ादा दाराने उनको छुड़ाया था।

(८)

जब शाहजहाँ बादशाह हुए तो उन्होंने रहीमजीको दीवानपदसे हटा दिया और उनको दाराका मास्टर बनाया। दीवानपद मिला उसी सुन्दरलालको। उसकी अनीतिसे सारी बादशाहत अकुला उठी थी। वह बड़ा धूर्त और स्वार्थी था। उसके ऊपर रहीमजीने यह दोहा कसा।

जौ 'रहीम' छोटो बढ़ै, तौ अति ही इतराइ।
प्यादे सों फ़रज़ी भयो, तिरछो तिरछो जाइ॥

—रहीमजी

रहीमजीके इसी दोहेपर नाराज़ होकर सुन्दरलालने बादशाह शाहजहाँसे कहा था—'जहाँपनाह! शाहजादा दाराको रहीमने बिगाड़ दिया है। वह दोनों रात-दिन गीता पढ़ा करते हैं। आजकल उपनिषदोंका अनुवाद फ़ारसीमें कराया जा रहा है। कई लाख रुपये इस काममें खर्च किये जायँगे। रहीमने दाराको पूरा हिन्दू बना दिया है। ख़ुदावंदके बाद इसलामी बादशाहत खत्म हो जायगी। क्योंकि युवराज दारा ही बादशाह होंगे कि जिनको रहीमने हिन्दू बना दिया है। हुज़ूरने वाक़ई ग़लती की कि जो उस पागलको शाहजादेका उस्ताद बनाया।' इस स्थलपर यदि पाठक कुछ विचार करेंगे तो एक विचित्र दृश्य देखेंगे। सुन्दरलालका शरीर हिन्दू था परन्तु मन मुसल्मान था। रहीमजीका शरीर मुसल्मान था परन्तु मन हिन्दू था। सचमुच ही रहीमने दाराको दूसरा रहीम बना दिया था। इसी घटनापर बादशाहने रहीमजीको क़ैद किया था। उस समय आपने यह दोहा कहा था—

'रहिमन' चुप ह्वै बैठिये देखि दिननकर फेर।
जब दिन नीके आइहैं बनत न लगिहैं बेर॥

छः महीने जेलमें रहनेके बाद एक दिन आधी रातके समय दाराने कमन्दके द्वारा रहीमजीको मुक्त किया।

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

आँसू भरकर शाहज़ादेने कहा—'उस्ताद ! कहीं रहो—भेष छिपाकर रहना। खर्चकी ज़रूरत पड़े तो मुझसे मँगा लिया करना।' रहीमजीने बाहर निकलकर फ़क़ीरी भेष बनाया। दिल्लीमें ही एक तकियापर रहने लगे। जो लोग रहीमजीकी दानशीलतासे परिचित हो चुके थे वे वहाँ भी पहुँचने लगे। तब रहीमजीने कहा था—

धरती ऊपर सयन करि, माँगि मधूकरि खाहिं।
यारो यारी छोड़ि दो, वे रहीम अब नाहिं॥

जब देखा कि फ़क़ीरी भेषमें पहचान लिये जायँगे तब भगत रहीमजीने मज़दूरी भेष बनाया और एक मुरजीका भाड़ झोंकने लगे। एक दिन एक मित्रने पहचाना और कहा—'हाय ! आप यह क्या करते हैं ?' तब रहीमजी बोले—

मालिककी मरजी भई, पलटि दियो संसार।
भार झोंकि कै भारमें, 'रहिमन' उतरे पार॥

(९)

रहीमजीने जो कुछ कमाया था, सब दान दे दिया था, भक्तों और कवियोंके तो आप कल्पतरु थे। हिन्दीके प्रसिद्ध कवि गंगपर इतने प्रसन्न हुए कि कई बारमें लाखों रुपये दे दिये थे। जैसे राजा भोजने संस्कृतकी नयी कवितापर ख़ज़ाना खोल दिया था। उसी तरह रहीमजीने हिन्दीकी नयी कविताके लिये अपना ख़ज़ाना खोल दिया था। रहीमजी हिन्दीके एक जनक थे। जिस समय रहीमने बीजापुर विजय किया था उस समय शत्रुपक्षसे तीस लाख रुपया नज़राना मिला था। रहीमजीने वह सब रुपया गरीबोंमें बाँट दिया था। स्त्रीके मरनेके बाद आपने विवाह नहीं किया और जीवनको राम-भजनमें लगा दिया था। [illegible] पार कर गयी थी। एक दिन एक नवयुवक हिन्दू रहीमजीके पास गया और कहने लगा—'मैं एक रमणीपर मोहित हूँ। परन्तु वह एक लाख रुपया लेकर विवाह करना चाहती है। मैं उसके बिना जिंदा नहीं रहूँगा।' रहीमजीने उसे दो लाख रुपये दिये और कहा—'एक लाख अपनी स्त्रीको देना और एक लाख तुम अपने पास रखना। नहीं तो धनवान् स्त्री निर्धन पतिसे अनुराग नहीं रक्खेगी।' रहीमजीकी दानशीलतापर कवि गंगजीने यह दोहा बनाया था—

विक्रम गंगा तुल्य जग, भोज जमुन अनुराग।
प्रकट खानखाना भयो, कामद बदन प्रयाग॥
—गंगजी

यानी दानशीलतामें महाराजा विक्रमादित्यजी गंगाजीके समान शोभा दे रहे हैं और महाराजा भोजका दीन-प्रेम यमुनाजीके समान लहर मार रहा है। इन दोनों गंगा और यमुनाके मध्यमें रहीमजी प्रयागकी तरह शोभा दे रहे हैं।

(१०)

रहीमजीकी प्रगाढ़ और हार्दिक भक्तिका दर्शन इन दोहोंमें कीजिये—

अमरबेलि बिनु मूलके प्रतिपालत जो ताहि।
'रहिमन' ऐसे प्रभुहिं तजि खोजत फिरिये काहि॥
रन बन व्याधि बिपत्तिमें 'रहिमन' मरउ न रोय।
जो रच्छक जननी जठर सो हरि गये न सोय॥
तैं 'रहीम' मन आपुनो, कीन्हों चारु चकोर।
निसि बासर निरखत रहै, कृष्णचन्द्रकी ओर॥
'रहिमन' कोऊ का करै ज्वारी चोर लबार।
जो पत-राखनहार है माखन-चाखनहार॥

इस प्रकार ७२ सालकी आयुमें आपने समाधि ली। दिल्लीमें आपका मकबरा है।

SRI JAGADGURU MURUGARAJENDRA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY
Jangamawadi Math, Varanasi
Acc. No. .....
CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

श्रीहरिः

सबके लिये अनूठी वस्तु

कल्याण

का

अगले सालका विशेषाङ्क

श्रीवेदान्ताङ्क

बहुत ही मनोहर, सुन्दर, सुपाठ्य सामग्रियोंसे पूर्ण होगा। बड़े-बड़े अनुभवी, संत, महात्माओंके लेख और सैकड़ों रंगीन, सादे चित्र होंगे।

☞ वेदान्त-जैसे गहन विषयको कथा-वार्त्ता, भगवच्चर्चा, सुन्दर-सुन्दर नये चित्र आदि द्वारा सरलतासे समझानेका प्रयत्न सैकड़ों लेखकोंकी सहायतासे किया जा रहा है। अंक बड़ा रोचक हो सकता है।

कुछ रंगीन चित्रोंके नाम

ब्रह्माकृत भगवत्स्तुति
ध्रुव
कपिल-देवहूति
नचिन
अश्विनीकुमारोंको उपदेश
महात्मा श्रीशुकदेवजी
व्यासस्तुति
याज्ञवल्क्य और गार्गी
इन्द्र और विरोचनको उपदेश
शिष्योंको सदुपदेश
मुरलीका असर
'द' 'द' 'द'
आत्मज्ञानका अधिकारी नचिकेता
सतीका आश्चर्य
उपकोशल और सत्यकाम जाबाल
यज्ञमण्डपमें राजा और उपस्ति

कुछ लेखोंके नाम

ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य
वेदान्तका महान् वैलक्षण्य
वेदान्तसाधन और उसका फल
वेदान्तविद्याका स्वरूप और माहात्म्य
ऋग्वेदमें अद्वैतवाद
गीतान्तर्गत वेदान्तमार्ग
ज्ञानका साधन
बादरायणका ब्रह्मसूत्र
वेदान्त-मीमांसा
ब्रह्मज्ञानका अधिकारी
साधारण लोगोंके लिये वेदान्त
ब्रह्मसूत्रके अनुसार मुक्तात्माका स्वरूप
व्यवहारक्षेत्रमें अद्वैतज्ञानकी उपयोगिता
ऐक्यका सिद्धान्त
शाङ्कर वेदान्तके जागरित और स्वप्नमय जगत्
अश्विनीकुमारोंको उपदेश
श्रीमच्छङ्कराचार्यका अनुभव-विश्लेषण
अवस्थात्रय अथवा वेदान्तकी अप्रतिम प्रक्रिया
वेदान्त या ब्रह्मसाक्षात्कार
ब्रह्मानुसन्धान
वैदिक और वैदान्तिक साधना
भगवान् श्रीरामका लक्ष्मणको उपदेश
वेदान्तके सम्बन्धमें विपरीत धारणा
वेदान्तका अर्थ और उसकी लोक-मान्यता
ईश्वर सब है
दर्शनोंका वैज्ञानिक समन्वय
साधनचतुष्टय
वेदान्तसे मोक्षप्राप्ति
विद्या-अविद्या, सम्भूति-असम्भूतिका तत्त्व
अनिर्वचनीयवाद
तत्त्वमसि और गुरुभक्तिसे ब्रह्मज्ञान
आपद्धर्म और अग्निदेवकी कृपा
ब्रह्म परिणामवाद
श्रीमध्वाचार्य और महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव
शक्तिविशिष्टाद्वैतसिद्धान्त-निरूपण

नये और पुराने ग्राहकोंकी सेवामें निवेदन है कि शीघ्र ही मनीआर्डरद्वारा अपना वार्षिक चन्दा भेजनेकी कृपा करें।

कल्याण, गोरखपुर

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

प्रियतमकी प्राप्ति

१ जबतक ज्ञानरूपी आराके तले तेरा सिर (अहंकार) रखकर कंघी न बना लिया जाय, तबतक अपने प्यारेके बालोंतक पहुँचना असम्भव है।

२ जबतक ज्ञानरूपी पत्थरके नीचे पिसकर तू (तेरा तुच्छ अहं वा अहंकार) सुरमेके समान न हो जाय, तबतक तेरी पहुँच अपने प्यारेके नेत्रोंतक भी नहीं हो सकती।

३ जबतक मोतीके समान तू ज्ञानरूपी तारसे न पिरोया जाय, तबतक प्यारेके कानतक भी तू कभी नहीं पहुँच सकता।

४ जबतक ज्ञानवान्‌रूपी कुम्हार तेरी मिट्टीको कूट-कूटकर प्याला नहीं बना लेते, तबतक तू प्यारेके होंठतक भी कभी नहीं पहुँच सकता।

५ जबतक ज्ञानरूपी चक्कीके तले तू पिसकर मेंहदी नहीं हो लेता, तबतक प्यारेके पाँव भी तुझे नसीब नहीं होते।

६ जबतक ज्ञानरूपी छुरेके नीचे तू अपने अहंकाररूपी सिरको रखकर कलम (लेखनी) नहीं बना लेता, तबतक तू अपने प्यारेकी उँगलियोंतक भी नहीं पहुँच सकता।

—रामतीर्थ

SRI JAGADGURU VISHWARADHYA
JNANA SIMHASAN JNANAMANDIR
LIBRARY
Jangamwadi Math, VARANASI,
Acc No. 3513 2 ... 158

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri

CC-0. Jangamwadi Math Collection. Digitized by eGangotri